अर्थशास्त्र का दिग्दर्शन

(भारतीय अर्थशास्त्र सहित)

इण्टरमीडियेट, हायर सेकेण्डरी तथा प्रिपैरेटरी या प्री-युनिवर्सिटी आर्ट्स एवं एग्रीकल्चर परीक्षाओं के लिये उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, अजमेर, पश्चिमी बंगाल आदि परीक्षा बोर्डों, राजस्थान, सागर, नागपुर, जबलपुर, बिहार-पटना आदि विश्वविद्यालयों के नवीनतम पाठ्यक्रमानुसार

लेखक

प्रो० जी० एल० जोशी एम० ए०, एम० काम०

एफ० आर० ई० एस० (लन्दन)

अध्यक्ष

स्नातकोत्तर वाणिज्य विभाग,

दयानन्द कॉलेज, अजमेर

तृतीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

आगरा बुक स्टोर

प्रकाशक, विक्रेता एवं मुद्रक

आगरा अजमेर इलाहाबाद कानपुर नागपुर

मेरठ दिल्ली लखनऊ वाराणसी पटना

तृतीय संस्करण की भूमिका

पाठकों के समक्ष 'अर्थशास्त्र का दिग्दर्शन' का यह नवीन संस्करण प्रस्तुत करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता है। इस संस्करण में कई अध्याय नये सिरे से लिखे गये हैं। शेष सामग्री को पूर्णतया सशोधित एवं परिवर्द्धित कर नवीनतम तथ्यों एवं आंकड़ों से सुसज्जित कर दिया है। इस संस्करण में अनेक नवीन चित्र, चार्ट, नक्शे आदि जोड़ दिये गये हैं जिससे विषय सरल एवं बोधगम्य हो गया है।

आशा है यह नवीन संस्करण विद्यार्थियों एवं अध्यापकों को अधिक लाभप्रद एवं उपादेय सिद्ध होगा।

अजमेर
३१ जनवरी, १९६१

जी० एल० जोशी
लेखक

प्रथम संस्करण की भूमिका

देश की चतुर्मुखी उन्नति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि भावी सन्तति का विकास भी बहुविधि हो। जहाँ उसके शारीरिक गठन और चरित्र निर्माण की आवश्यकता है वहाँ उसके मस्तिष्क के विकास के लिए अनेक प्रकार की शिक्षाएँ भी आवश्यक हैं। इन शिक्षाओं में अर्थशास्त्र की शिक्षा का महत्त्व कहीं अधिक उपयोगी है। आज जो देश इस शिक्षा से परिपूर्ण है उनका राष्ट्र उतना ही उन्नत और अग्रणी बन रहा है। इंगलैंड ने इसी के आधार पर संसार के एक बड़े भू भाग पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। अमेरिका ने भी इसी के बल से संसार में अपनी महत्ता स्थापित कर रखी है। अत. यह परमावश्यक है कि स्वतन्त्र भारत के भावी नागरिक भी इस शिक्षा से पूर्ण लाभ उठाकर अपने देश को एशिया का ही नहीं, संसार का नेता बनाएँ।

भारतवर्ष एक निर्धन देश है। यहाँ करोड़ों देशवासियों को कठिन परिश्रम करने पर भी भर-पेट भोजन नहीं मिल पाता और न उनको पर्याप्त वस्त्र ही मिल पाते हैं। यहाँ समय-समय पर दुर्भिक्षों का आक्रमण होता रहता है। सिंचाई की व्यापक व्यवस्था के अभाव से यहाँ का कृषि-उद्योग 'वर्षा का जुआ' बना हुआ है। औद्योगिक दृष्टि से देश कितना पिछड़ा हुआ है यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है। देश व्यापी निर्धनता ही इस पतित अवस्था का मुख्य कारण है। अस्तु, देश की निर्धनता दूर करने के लिए, देशवासियों को आर्थिक दशा सुधारने के लिए तथा देश के आर्थिक विकास के लिए, जनता में अर्थशास्त्र के ज्ञान के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु यह कार्य हो कैसे? अर्थशास्त्र की उत्तम पुस्तकों का भंडार अंग्रेजी में है। भारतवर्ष में अंग्रेजी जानने वालों की संख्या बहुत कम है तथा और भी कम हो रही है। अतः अंग्रेजी में

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ संख्या

विषय-प्रवेश

उपभोग

उत्पत्ति

वितरण

राजस्व

आर्थिक नियोजन

अध्याय १

विषय परिचय
(INTRODUCTION)

अर्थशास्त्र का परिचय

किसी नवीन विषय को प्रारम्भ करने से पूर्व उसके विषय म परिचयात्मक ज्ञान प्राप्त करने की उत्सुकता एव इच्छा पाठकों में प्राय देखी जाती है। अत. यही उत्सुकता अर्थशास्त्र के विषय म परिचय प्राप्त करने के लिये भी होना स्वाभाविक है। विषय परिचय के पूर्व इस बात को जानने की उत्कठा सहज उत्पन्न हो जाती है कि यह क्या विषय है और इसमे किन किन समस्याओ का अध्ययन किया जाता है? इसका उत्तर ढूँढ निकालने के लिए यदि हम अपनी दृष्टि मनुष्य के दैनिक कार्यों पर डाल तो हमे सरलता से ज्ञात होगा कि वह प्रात काल मे सायकाल पर्यन्त धार्मिक, सामाजिक, नागरिक, राजनैतिक, परोपकार और धनोपार्जन सम्बन्धी व्यवसाय आदि विविध कार्यों में सलग्न रहता है। अर्थात् जब वह मन्दिर जाता है तो धार्मिक कार्य करता है, म्यूनिसिपल बोर्ड के अधिवेशनों मे उनकी कार्यवाही मे रुचिपूर्वक भाग ले, तब नागरिक अथवा राजनैतिक कार्य सम्पादित करता हुआ समझा जाता है। इसी प्रकार जब वह उद्योग-शाला, कार्यालय अथवा किसी व्यापारिक स्थान मे जाकर जीवन यापन करता है, तो आर्थिक कार्यों में व्यस्त समझा जाता है। भूकम्प, बाढ, दुर्भिक्ष आदि आपत्तियो मे जन-समाज की रक्षा करने, मद्य, धूम्र पान आदि व्यसनों से होने वाली हानियों के प्रति मनुष्यो को सतर्क करने मे जब साहसी, धीर-वीर नर अपना साधन और समय लगाते हैं, तब वे सामाजिक कार्य करते हुए कहे जाते है।

उपर्युक्त नाना प्रकार के कार्यों का विवेचन एक विशिष्ट प्रकार के शास्त्र मे किया जाता है, जैसे धर्म सम्बन्धी बातों का विवेचन धर्म शास्त्र (Theology) मे और राजनीति सम्बन्धी कार्यों का राजनीति शास्त्र (Political Science) मे उल्लेख होता है। ठीक इसी प्रकार जीवन-यापन सम्बन्धी समस्त क्रियाओं, व्यवहारो और उनके साधनो का विवेचन एक विशिष्ट प्रकार के शास्त्र मे जिसको 'अर्थशास्त्र' (Economics) के नाम से सम्बोधित करते है, किया जाता है। दूसरे शब्दो मे या कहना चाहिए कि अर्थ-शास्त्र के अन्तर्गत मनुष्य के धन-सम्बन्धी प्रयत्नों और सिद्धान्तो का विवेचन होता है। मनुष्य भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए किस प्रकार से धनोपार्जन मे प्रयत्नशील रहता है और फिर उस उपार्जित धन का किस प्रकार उपभोग करता है, इन बातो का ज्ञान अर्थ-शास्त्र का अध्ययन कराता है।

सक्षेप मे, अर्थशास्त्र मनुष्य जीवन का सर्वांगीण अध्ययन न होकर केवल उसके एक अग मात्र का अध्ययन है, अर्थात् यह उसकी केवल आर्थिक क्रियाओ पर ही प्रकाश डालता है। उसके दैनिक जीवन की अन्य प्रकार की क्रियाओ का विवेचन अन्य विशिष्ट प्रकार के शास्त्रो मे किया जाता है।

आर्थिक जीवन का मूल आधार (Basis of Economic Life)

आर्थिक जीवन का आधार मनुष्य की विविध आवश्यकताएँ और उनकी पूर्ति के लिए साधनों का संग्रह ही है। उदाहरणार्थ, उसकी भोजन की आवश्यकता उसे इस बात के लिये बाध्य करती है कि वह अन्न पैदा करे। अतः यह स्पष्ट है कि आर्थिक क्रियाओं का अस्तित्व मनुष्य की आवश्यकताओं पर ही निर्भर है। यदि मनुष्य आवश्यकता शून्य हो जाय, तो निःसन्देह उसका जीवन भी क्रिया शून्य हो जायगा। समस्त मानव-जगत् को निरन्तर क्रिया शील रखने वाली वस्तु 'आवश्यकता' (Wants) है। इस प्रकार अर्थशास्त्र का सम्पूर्ण ढाँचा आवश्यकताओं पर ही स्थिर है।

आर्थिक प्रयत्न (Economic Activities)—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कुछ न कुछ प्रयत्न अवश्य करने पड़ते है, और प्रयत्नों को मुचारु रूप से क्रियात्मक बनाने के लिए उसे सभी साधन सुलभ हो जाते है। भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न धनोपार्जन कराने मे समर्थ हैं तथा जिन साधनों के द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, अर्थशास्त्र में उन्हें 'आर्थिक प्रयत्न' (Economic Activities) कहते हैं। उदाहरण के लिए, चित्रकार यदि मनोरंजन के उद्देश्य से रहित होकर अर्थ प्राप्ति के लिए चित्र बनाता है तो वह उसकी 'आर्थिक क्रिया' (Economic Activity) है। इसी प्रकार अन्य प्रयत्नों मे भी यह भेद प्रकट किया जा सकता है।

आर्थिक प्रयोजन (Economic Motive)—प्रत्येक कार्य किसी न किसी प्रयोजन से सम्पन्न किया जाता है। विद्यार्थी खेल कूद मे भाग आनन्द-प्रमोद के लिए लेते हैं। श्रमिक दिन भर उद्योगशाला (Workshop) मे जीवन यात्रा के साधन धन की प्राप्ति के लिए व्यस्त रहता है। इसी प्रकार कृषक बड़े परिश्रम के साथ अन्न उपजाने मे संलग्न रहता है। प्रथम उदाहरण मे आमोद प्रमोद एव मनोरंजन कार्य सम्पन्नता का मुख्य कारण है और शेष दो मे अर्थोपार्जन मुख्य उद्देश्य है। अतः अर्थोपार्जन उद्देश्य वाली क्रियाओं की सम्पन्नता 'आर्थिक प्रयोजन' (Economic Motive) कहलाती है और जिन कार्यों के पीछे 'आर्थिक-प्रयोजन' होता है उनको हम 'आर्थिक-प्रयत्न' कहते हैं।

आवश्यकताओं और प्रयत्नों का पारस्परिक सम्बन्ध

आवश्यकताओं और प्रयत्नों के मध्य एक घनिष्ट सम्बन्ध है। अन्य जीव-धारियों की भाँति ही मनुष्य की भी कुछ आवश्यकताएँ होती है जिन्हें पूरा किये बिना वह जीवित नहीं रह सकता। उदाहरणार्थ, मनुष्य को खाने के लिए भोजन, शरीर रक्षा के लिये वस्त्र, साँस लेने के लिए वायु, पीने के लिए पानी और रहन के लिए मकान चाहिए। इन आवश्यकताओं पर मनुष्य का जीवन स्थिर है, अतः इन्हें 'प्राथमिक आवश्यकताएँ' (Primary Wants) अथवा 'अनिवार्य आवश्यकताएँ' (Necessaries of Life) कहते है। किन्तु मानवीय प्रयत्न इन आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तक ही सीमित नहीं हैं। वह आगे बढ़ता है और 'सुख-वस्तुओं' (Comforts) को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इसके पश्चात् 'विलास-वस्तुओं' (Luxuries) की प्राप्ति में प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार आवश्यकताएँ उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है, यहाँ तक कि उनकी पूर्ति के साधन पिछड़ जाते है।

स्वल्प साधन और असीमित आवश्यकताएं (Scarce Means and Unlimited Wants)—हम देखते हैं कि हमारी आवश्यकताएं बहुत है और उनमें प्रतिदिन वृद्धि ही होती जाती है। उनकी पूर्ति के लिए हमारे पास साधन समय और शक्ति पूर्ण अथवा पर्याप्त नहीं है। मनुष्य इन असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है वे उसे प्रकृति से प्राप्त होती हैं। प्रकृति-दत्त कुछ वस्तुएं तो ससार में इतनी प्रचुरता मे दृष्टिगोचर होती है कि उनके प्राप्त करने के लिए न तो कोई प्रयत्न करना पडता है और न कुछ व्यय ही उदाहरणार्थ वायु, जल, धूप, और प्रकाश आदि ऐसी वस्तुओं को 'नि शुल्क प्रकृति-दत्त पदार्थ' (Free Gifts of Nature) कहते है। प्रकृति की यह उदारता केवल कुछ ही वस्तुओं तक सीमित है। अन्य वस्तुओं को प्रकृति उस समय तक नहीं देती जब तक मनुष्य उनके लिए प्रयत्न नहीं करता। ऐसी श्रम साध्य वस्तुएं मूल्यवान होने के कारण 'धन', 'अर्थ' या 'सम्पत्ति' के (wealth) नाम से कही जाती है। मानव जीवन को स्थिर रखने और सुखी बनाने के लिए धन की आवश्यकता होती है और उसी के ही प्रभाव से आज समस्त भूमडल क्रियाशील है।

अर्थशास्त्र का प्रादुर्भाव एव विकास—अर्थशास्त्र बहुत प्राचीन है। इसका प्रादुर्भाव सब से प्रथम भारतवर्ष में हुआ। लगभग दो हजार तीन सौ वर्ष पूर्व भारत मे चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल मे आचार्य कौटिल्य ने इस विषय पर ससार के सन्मुख सर्व प्रथम एक क्रमबद्ध अर्थशास्त्र प्रस्तुत किया जो अब भी कौटिल्य अर्थशास्त्र के नाम से सुविख्यात है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इससे पूर्व भारतवर्ष मे अर्थशास्त्र का अस्तित्व नहीं था। आचार्य वृहस्पति, शुक्र, उशनस, अगिरस, बाहुदन्तिपुत्र आदि अनेक अर्थशास्त्र के प्रकान्ड विद्वान प्राचीन भारत मे इनसे भी पूर्व हो चुके है। अर्थ सम्बन्धी मानवीय भौतिक सुख के निमित्त जो विवेचन वेद, स्मृतियों आदि ग्रन्थों मे मिलता है वह इस बात को घोषित करता है कि अर्थशास्त्र का विषय इस देश मे अति प्राचीन काल से विद्यमान है, जबकि वर्तमान उन्नत देशों मे सभ्यता का प्रारम्भ भी न हुआ था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में अर्थ सम्बन्धी विषयो के अतिरिक्त कतिपय अन्य विषयों पर भी जैसे शासन तथा सेना-व्यवस्था, गुप्तचर तथा पुलिस प्रबन्ध राजाओं के कर्त्तव्य, न्यायालयों का प्रबन्ध, नगर-व्यवस्था, दड-विधि, गांवो की बसावट, कृषि, पशुपालन, विविध शैलियों के दुर्गों के निर्माण आदि आदि विषयों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। अत इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में अर्थशास्त्र विषय बडा व्यापक था। वह इतना सकुचित नहीं था जितना आधुनिक अर्थशास्त्र। इसी आधार पर प्राचीन तथा मध्यकालीन पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों ने भी इसे 'राजनीति-अर्थशास्त्र' अथवा 'राष्ट्रीय मितव्ययता शास्त्र' (Political Economy) कह कर पुकारा है। आज जिस रूप में हम अर्थशास्त्र प्राप्त है उसका विकास सबसे पहले पाश्चात्य देशों मे, विशेषतया, इंग्लैंड मे हुआ।

अर्थशास्त्र की कुछ वर्तमान प्रचलित परिभाषाएं

(१) प्रो० मार्शल की परिभाषा—इगलैंड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्र विशेषज्ञ प्रोफेसर अल्फ्रेड मार्शल (A. Marshall) की परिभाषा अत्यन्त लोकप्रिय है। वे अर्थशास्त्र को निम्न प्रकार परिभाषित करते है :—

"अर्थशास्त्र मनुष्य के साधारण जीवन मे व्यापार सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन है, यह इस बात का विवेचन करता है कि वह किस प्रकार धनोपार्जन करता

है और किस प्रकार उसका उपभोग करता है " " " । इस प्रकार यह एक ओर धन का अध्ययन है और दूसरी ओर जो इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।[1]

(२) प्रो० एली की परिभाषा—"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के धन की आगम और निर्गम सम्बन्धी क्रियाओं का सामाजिक घटनाओं की दृष्टि से वर्णन करता है।"[2]

(३) डा० फेयरचाइल्ड की परिभाषा—"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जिसके द्वारा भौतिक साधन सम्पन्न मनुष्य सचेष्ट होकर अपनी इच्छाओं की पूर्ति के निमित्त ज्ञान प्राप्त करता है।"[3]

(४) डा० केनन की परिभाषा—"अर्थशास्त्र भौतिक सुख अर्थात् मनुष्य की भौतिक समृद्धि के कारण का अध्ययन है।"[4]

(५) डा० सीगर की परिभाषा—"अर्थशास्त्र वह सामाजिक विज्ञान है जिसमे मानवीय प्रयत्नों के उस भाग का विवेचन होता है जिसका जीविकोपार्जन से सम्बन्ध है।"[5]

(६) प्रो० चैपमैन की परिभाषा—"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो धन के कमाने और खर्च करने की क्रियाओं का अध्ययन करता है।"[6]

(७) डा० रिचार्ड की परिभाषा—"अर्थशास्त्र हमारी आवश्यकताओं, क्रियाओं तथा सन्तुष्टि का अर्थात् जीवन की व्यापार सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन करता है।"[7]

1—"Economics is the study of man's actions in the ordinary business of life, it enquires how he get his income and how he uses it . . Thus it is on the one side a study of wealth and on the other, and more important side, a part of the study of man "—

—Marshall

2—"Economics is the science which treats of those social phenomena that are due to the wealth getting and spending activities,"

—Ely

3—"Economics is the science of man's activities devoted to obtaining the material means for the satisfaction of his wants "

—Fairchild

4—"Economics is a study of the causes of material welfare.

—Cannan

5—"Economics is the social science which treats of that portion of human activity which is concerned with making a living "

—Seager

6—"Economics is the science which studies the wealth-earning and wealth spending activities of human beings

—Chapman

7—"Economics deals with our wants, our efforts and our satisfactions—with our activities in the business of life "

—Richard

(८) प्रो० पेन्सन की परिभाषा—"अर्थशास्त्र भौतिक सुख का विज्ञान है।"[8]

(९) प्रो० पीगू की परिभाषा—"अर्थशास्त्र आर्थिक कल्याण का अध्ययन है और आर्थिक कल्याण का वह भाग है जिसका मुद्रा के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष मापदण्ड से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।"[9]

परिभाषाओं की व्याख्या—उपर्युक्त विविध परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र मानव जीवन की अर्थ सम्बन्धी क्रियाओं का सामाजिक दृष्टि से अध्ययन है।

इन परिभाषाओं का विश्लेषण करने से निम्नांकित तथ्य प्रकट होते हैं —

(१) अर्थशास्त्र मनुष्य जीवन के साधारण व्यवसाय से सम्बन्ध रखता है न कि असाधारण व्यवसाय से, यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि असाधारण व्यवसाय से क्या तात्पर्य है?

(२) इसके अन्तर्गत केवल आर्थिक क्रियाओं का ही विवेचन होता है न कि अनार्थिक क्रियाओं का।

(३) यह मनुष्य के सामाजिक जीवन को प्रकट करता है, अर्थात् इसमें मनुष्य का अध्ययन व्यक्तिगत रूप में न होकर सामाजिक दृष्टि से होता है।

(४) अर्थशास्त्र मनुष्य और धन दोनों का ही अध्ययन है परन्तु इसमें प्रमुखता मनुष्य को ही दी गई है न कि धन को। धन का अध्ययन मनुष्य के आर्थिक कल्याण का एक मात्र साधन होने के कारण ही किया जाता है। इसलिए अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य मानव का आर्थिक कल्याण है।

इन आधुनिक अर्थ शास्त्रियों ने प्रधानता मनुष्य को दी है और धन को गौण रखा है। प्रो० पेन्सन के शब्दों में अर्थशास्त्र का आरम्भ और अन्त मनुष्य ही है न कि अर्थ या धन जो कि प्रारम्भ और अन्त के मध्य में आने वाले मनुष्य के पास उद्देश्य की पूर्ति का साधन मात्र है।

प्रो० मार्शल की परिभाषा की आलोचना—प्रो० मार्शल द्वारा प्रतिपादित अर्थशास्त्र की परिभाषा का काफी समय तक बोलबाला रहा। यह परिभाषा पूर्ण तथा वैज्ञानिक मानी जाने लगी। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि अर्थशास्त्र की परिभाषा के विषय में कोई मतभेद भविष्य में भी पैदा न होगा। इस तथ्य के अनुसार कि, अर्थशास्त्र की परिभाषा समय और परिस्थिति के साथ बदलती रही है, कुछ अर्थ शास्त्रियों ने इस परिभाषा पर भी असन्तोष प्रकट किया और इसके विपरीत अपने विचार प्रकट किए। इन आलोचकों में से लन्दन अर्थशास्त्र विचारधारा (London School of Economics) के प्रोफेसर रॉबिन्स अग्रगण्य हैं। इन्होंने मार्शल की परिभाषा पर सीधा आक्रमण किया और उनकी अनेक त्रुटियों की ओर संकेत किया जो निम्नलिखित हैं :—

8—"Economics is the science of material welfare" —*Penson*

9—"Economics is a study of economic welfare, economic welfare being described as that part of welfare which can be brought directly or indirectly into relation with the measuring rod of money" —*Pigou*

(६) प्रो० मार्शल ने साधारण जीवन में व्यापार सम्बन्धी क्रियाओं को तो अर्थशास्त्र के अध्ययन में महत्व दिया है, परन्तु असाधारण व्यवसाय सम्बन्धी क्रियाओं का ध्यान न देने में भूल की है। क्या युद्ध-सम्बन्धी असाधारण क्रियाओं का इसमें समावेश नहीं होता ?

(७) यह परिभाषा भौतिकता के जाल में फँसी हुई है। क्या इस शास्त्र में अभौतिक वस्तुएँ जैसे व्यापार की ख्याति (Goodwill), सेवाएँ आदि का अध्ययन नहीं होता ?

(८) इसमें मानवीय क्रियाओं को आर्थिक और अनार्थिक भागों में विभक्त कर भूल की है। क्या दान, धर्म की क्रिया अनार्थिक होते हुये भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में धन से सम्बन्धित नहीं है ?

(९) प्रो० मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य मानव जाति का अधिकतम कल्याण है। किन्तु अर्थशास्त्र तो विज्ञान है जिसे हित-अहित और नैतिक अनैतिक बातों से कोई सम्बन्ध नहीं। इसमें तो हितकर वस्तुओं जैसे दूध, घी, कपड़ा आदि तथा हानिकारक वस्तुओं जैसे अफीम, मदिरा आदि दोनों प्रकार की वस्तुओं का अध्ययन किया जाता है।

(१०) प्रो० रॉबिन्स की परिभाषा—अब हम प्रो० रॉबिन्स की उस परिभाषा का विवेचन करते हैं जिसने वर्तमान अर्थशास्त्र के पंडितों की धारणाओं में उथल-पुथल सा कर दिया है और जिसके अधिकाधिक अर्थशास्त्री अनुयायी भी होते जा रहे हैं। वे अर्थशास्त्र का निम्न प्रकार परिभाषित करते हैं :—

"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है, जो साध्य और स्वल्प साधनों का वैकल्पिक उपयोगों की दृष्टि से मनुष्य के आचरण का अध्ययन करता है।"[10]

उपर्युक्त परिभाषा में प्रो० रॉबिन्स कहते हैं कि अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानवीय व्यवहारों का अध्ययन करता है, जिसमें लक्ष्य, सीमित समय और साधनों के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हुए, यह बताया जाता है कि अधिकाधिक लाभ की दृष्टि से सीमित समय और स्वल्प-साधनों का उपयोग कितनी मात्रा में करना चाहिए। इसे एक उदाहरण से समझ लेना चाहिये। मनुष्य अपनी इच्छा से २४ घण्टों में पढ़ना-लिखना, खेलना-कूदना, धनोपार्जन करना, सिनेमा जाना आदि कार्य करता है। इसी प्रकार वह अपनी आय का उपयोग भोजन वस्त्र, गृह, दान-पुण्य बचत आदि कामों में करता है, परन्तु मनुष्य की शक्ति उसका समय और उसकी आय सीमित है, इसलिए वह उन कामों में से जो अधिकाधिक लाभकारी और अत्यावश्यक है, उनका सर्वप्रथम उपयोग करता है। जितना जितना अनुपात में उसका लाभ और आवश्यकता जिन कामों में कम है, उनका उपयोग उतना ही उत्तरोत्तर पीछे करता पाया जाता है।

प्रो० रॉबिन्स की परिभाषा के तथ्य

(१) असीमित आवश्यकताएँ (Unlimited Wants)—अर्थशास्त्र की समस्याएँ इसलिए उत्पन्न होती हैं कि मनुष्य की आवश्यकताएँ (साध्य) अनेक और असीमित हैं और उनकी पूर्ति के साधन सीमित हैं। इन सबकी पूर्ति होना सम्भव नहीं क्योंकि इनकी वृद्धि उत्तरोत्तर होती रहती है।

10—'Economics studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses

—*Robbins*

(२) स्वल्प साधन (Scarce Means)—हमारी असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमारे साधन स्वल्प और सीमित है। यदि समस्त इच्छित वस्तुएँ यथेष्ट परिमाण में मिल सके, तो हमारी समस्त आर्थिक समस्याएँ सरल हो जायेंगी।

(३) स्वल्प साधनो का वैकल्पिक उपयोग (Alternative Uses)—स्वल्प साधनो का अनेक प्रकार से उपयोग होने के कारण उनकी न्यूनता की ओर भी अधिक अनुभव होता है। यदि किसी वस्तु या सेवा का बिल्कुल सीमित उपयोग हो तो ये आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न ही न होगी।

प्रो० मार्शल और प्रो० रॉबिन्स की परिभाषाओं पर तुलनात्मक दृष्टि

मार्शल और रॉबिन्स की परिभाषा मे विशेष अन्तर नही है। 'स्वल्प-साधन' (Scarce Means) का अर्थ धन या सम्पत्ति से है और साध्य (Ends) मानवीय समृद्धि अर्थात् आवश्यकताओं की पूर्ति का द्योतक है।

(१) प्रो० मार्शल की परिभाषा व्यावहारिक दृष्टि से उपयुक्त है और प्रो० राबिन्स की परिभाषा सैद्धान्तिक दृष्टि से।

(२) प्रो० मार्शल ने मनुष्य की क्रियाओं को आर्थिक व अनार्थिक क्रियाओं में विभक्त कर दिया है, परन्तु प्रो० रॉबिन्स ने इस प्रकार का भेद नही किया है।

(३) प्रो० मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र मे केवल आर्थिक क्रियाओं का ही अध्ययन किया जाता है, परन्तु प्रो० राबिन्स के अनुसार प्रत्येक क्रिया के आर्थिक पहलू (Economic Aspect) का अध्ययन किया जाता है।

(४) प्रो० मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र मे केवल सामाजिक, सामान्य तथा वास्तविक व्यक्तियों का ही अध्ययन किया जाता है, परन्तु राबिन्स के अनुसार मनुष्य मात्र का अध्ययन किया जाता है।

(५) मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र मे मनुष्य के केवल सामान्य आचरण का अध्ययन किया जाता है, परन्तु रॉबिन्स के अनुसार मनुष्य के उन सभी आचरणों का अध्ययन किया जाता है जिनका उद्देश्य सीमित साधनो का असीमित साध्यो पर प्रयोग करना होता है।

(६) प्रो० मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र न केवल एक वास्तविक विज्ञान ही है, वरन् यह एक नीति प्रधान विज्ञान तथा कला भी है। इस शास्त्र का अध्ययन केवल ज्ञान-वृद्धि के लिए ही नही अपितु लाभ प्राप्ति के लिये भी किया जाता है। प्रो० राबिन्स के मतानुसार अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है और केवल ज्ञान-वृद्धि ही इसके अध्ययन का उद्देश्य है।

रॉबिन्स की परिभाषा पर आलोचनात्मक दृष्टि—(१) राबिन्स की परिभाषा के अन्तर्गत सभी कार्य आ जाते है जिससे इसका क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जाता है। यह परिभाषा इतनी व्यापक है कि इसके अनुसार मनुष्य के प्रत्येक कार्य का विवेचन चाहे वह धार्मिक, राजनैतिक या सामाजिक क्यो न हो अर्थशास्त्र मे समाविष्ट हो जाता है।

(२) इस परिभाषा ने धन को जो सभी आर्थिक कार्यों का माप दंड है, पृथक कर दिया है। स्वल्प साधन धन का स्थान नही ले सकते। वे व्यक्तिगत हो सकते हैं और इसलिये वे अविनिमेय है। अत अर्थ विज्ञान का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। परन्तु हम अपने आपको इस विस्तृत क्षेत्र मे लीन नही कर सकते। हम किसी भी अवस्था मे अपने माप-दण्ड को त्यागने के लिये तैयार नही।

(३) इसमें यह स्पष्ट नहीं है कि साध्य का अर्थ तात्कालिक साध्य से है या अन्तिम साध्य से।

(४) रॉबिन्स की परिभाषा की एक बात और ध्यान देने योग्य है कि अर्थशास्त्र को केवल विज्ञान माना है। उसमें केवल उन्हीं परिस्थितियों का विवेचन होता है जो कार्य कारण का सम्बन्ध प्रकट करती हैं। उन परिस्थितियों में क्या परिवर्तन होना चाहिये और इसकी क्या नीतियाँ हैं, इन गम्भीर विषयों पर विचार उसमें नहीं किया जा सकता क्योंकि वे सब कार्य विज्ञान के क्षेत्र से परे हैं।

(५) प्रत्येक शास्त्र में 'मार्ग प्रदर्शन' उसका एक महत्वपूर्ण भाग माना जाता है और इसी भाग का रॉबिन्स की परिभाषा में अभाव होना उसकी एक भारी अपूर्णता सिद्ध करता है। इसी न्यूनता के कारण रॉबिन्स की दृष्टि में अर्थशास्त्र का अध्ययन जनता के लिये लाभकारी भी नहीं हो सकता।

(११) प्रो० जे० के० महता की परिभाषा—भारत के प्रयाग विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफेसर जे० के० महता ने हाल ही में अर्थशास्त्र की परिभाषा एक नये ढंग से दी है जो इस प्रकार है :

'अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानव-व्यवहारों का अध्ययन करता है जो आवश्यकता-विहीनता की अवस्था की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं।'[11]

प्रो० महता का यह मत भारत के प्राचीन विचारों और संस्कृति का द्योतक है। उनका कहना है कि मनुष्य अपने जीवन में अधिकतम संतोष (Maximum Satisfaction) तभी प्राप्त कर सकता है जब वह अपनी आवश्यकताओं पर नियन्त्रण कर उन्हें कम से कम करे, क्योंकि मनुष्य की नित्य बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति आधुनिक समाज में एक गहन समस्या हो गई है। अतः मनुष्य का अधिकतम संतोष अर्थात् वास्तविक सुख और शांति आवश्यकता विहीनता (Wantlessness) की अवस्था में ही सम्भव है न कि आवश्यकताओं की अधिकता की अवस्था में।

प्रो० महता के मत का समर्थन—'सादा जीवन उच्च विचार' (Simple living and high thinking) की विचारधारा भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से ही प्रचलित है। वर्तमान युग में भी महात्मा गाँधी, आचार्य विनोबा भावे आदि इसी दृष्टिकोण के समर्थक हैं। प्रो० महता व समर्थकों का कहना है कि मनुष्य जब अपनी बढ़ती हुई भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में अपने-आपको असमर्थ पाता है, तो वह दुःख चिन्ता और असंतोष का अनुभव करता है। अतः आवश्यकताएँ ही हमारे दुःख चिन्ता और असंतोष का कारण हैं। ऐसी दशा में हमें अपनी आवश्यकताओं को एक उचित सीमा तक ही सीमित रखना चाहिये। आवश्यकताओं की उचित सीमा क्या हो, यह देश विशेष के आर्थिक विकास पर निर्भर होगा। उनके अनुसार आवश्यकताओं को निर्धारित उचित सीमा से भी परे बढ़ाया जा सकता है, परन्तु तभी जब कि यह देख लिया जाय कि सभी देशवासियों की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति हो गई है। ऐसा कार्यक्रम यदि कार्यरूप में परिणत हो जाय, तो निस्सन्देह समाज का वातावरण आदर्श और सुखमय हो जायगा जहाँ मनुष्य तो क्या देवतागण भी निवास के लिये लालायित रहेंगे।

11—"Economics is a science that studies human behaviour as an attempt to reach the state of wantlessness —J K Mehta

प्रो० महता के मत की आलोचना—प्रो० महता के दृष्टिकोण में दार्शनिकता एवं आदर्शवाद का तत्व अधिक है और व्यावहारिकता बहुत कम पाई जाती है। आलोचकों के मतानुसार आवश्यकताएँ आर्थिक प्रयत्नों का आधार है। इसलिये आवश्यकताओं में कमी करने का अर्थ आर्थिक जीवन में शिथिलता पैदा करना होगा। चूंकि आवश्यकताएँ भौतिक सभ्यता का मापदण्ड माना जाता है, इसलिए आवश्यकताओं को सीमित रखने का कोई भी प्रयास आधुनिक सभ्यता की प्रगति में बाधक सिद्ध होगा जिसके फलस्वरूप आज का सभ्य मानव समाज पुनः सभ्यता के पूर्वकाल को प्राप्त कर लेगा।

निष्कर्ष—प्रो० महता का दार्शनिक (Philosophical) दृष्टिकोण भौतिकवादी दृष्टिकोण में मेल नहीं खाता। इसलिए दोनों विचारधाराओं के बीच का मार्ग अपनाना ही वाछनीय है। आवश्यकताओं में अत्यधिक वृद्धि तथा अत्यधिक कमी दोनों ही उचित नहीं। आवश्यकताओं की वृद्धि की एक सीमा होनी चाहिये और यह सीमा देश की आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर है।

अर्थशास्त्र की प्राचीन परिभाषाएँ

प्राचीन आग्ल अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को 'धनशास्त्र' या 'सम्पत्ति विज्ञान' के नाम से पुकारा है। अर्थशास्त्र के जनक आदम-स्मिथ (Adam Smith) ने कहा है कि "अर्थशास्त्र जातियों की सम्पत्ति का विश्लेषण है।"[1] जे० बी० से (J. B. Say) कहते है कि "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो धन या सम्पत्ति का विवेचन करता है।"[2] वाकर (Walker) ने कहा है कि अर्थशास्त्र "ज्ञान की वह शाखा है जो धन से सम्बन्धित है।"[3] इन प्राचीन परिभाषाओं ने 'धन' को अनुचित प्रधानता दी है और इसके प्रधान अग धन से सम्बन्ध रखने वाले 'मानव' की ओर उदासीन रहे है। इन लेखकों ने अनुभव नहीं किया कि मानव अपनी इच्छाओं की पूर्ति एवं मानवीय स्तर को ऊँचा करने के लिए प्रयत्न करता है। इसलिए *मानव-अध्ययन ही प्रमुख और सम्पत्ति का अध्ययन गौण है।*

प्राचीन परिभाषाओं की आलोचना—धन की इस अनुचित प्रधानता का दुष्परिणाम यह हुआ कि १९ वी शताब्दी के कुछ विद्वानों ने जिनमें कार्लाईल (Carlyle), रस्किन (Ruskin), विलियम मोरिस (William Morris) और चार्ल्स डिकिन्स (Charles Dickens) आदि प्रमुख है, इस विषय की कड़ी आलोचना की, और इसे 'कुबेर का सन्देश' (Gospel of Mammon), 'घृणित' या 'शोकयुक्त विज्ञान' (Dismal Science), रोटी दाल का शास्त्र (Bread and butter Science) आदि कौतूहलोत्पादक नाम रखे है।

मनुष्य और धन का सापेक्षिक महत्व

इस आलोचना का अर्वाचीन अर्थशास्त्रियों पर इतना उत्तम प्रभाव पड़ा कि

1—'Economics is concerned with the enquiry into causes of the wealth of nations." —*Adam Smith*

2—"Economics is a science which treats of wealth." —*J. B. Say*

3—"Economics is that body of knowledge which relates to wealth." —*Walker*

उन्होंने तुरन्त धन की अपेक्षा मनुष्य पर अधिक बल देकर अपने पूर्वगामियों की भूल को सुधार दिया। वर्तमान सब अर्थशास्त्री इस बात पर एक-मत हैं कि हमारा लक्ष्य धन या सम्पत्ति नहीं, अपितु मनुष्य का आर्थिक कल्याण है। अर्थशास्त्र में धन या सम्पत्ति का केवल इसलिए अध्ययन होता है कि धन मनुष्य के भौतिक सुख और आवश्यकताओं की पूर्ति का एक प्रमुख साधन है। यदि मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन या सम्पत्ति की तनिक भी आवश्यकता न हो, तो धन या सम्पत्ति का अर्थशास्त्र में कदापि उल्लेख न होगा। धन की उत्पत्ति स्वयं अपने लिए नहीं होती। वह मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए है और वहीं तक इसका महत्व सीमित है। अतः यह स्पष्ट है कि धन या सम्पत्ति मनुष्य के लिए है, मनुष्य धन या सम्पत्ति के लिए नहीं है। अर्थं जनाय न जनोऽर्थाय—'विष्णु गुप्त'। इस भ्रम का निवारण करने की दृष्टि से इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री **प्रो० मार्शल** ने भी अपनी परिभाषा में कहा है कि "अर्थशास्त्र एक ओर तो धन का अध्ययन है, और दूसरी ओर जो अधिक महत्वपूर्ण है, मनुष्य के अध्ययन का एक अंग है।"

एक पूर्ण परिभाषा के मूल तत्व

इस प्रकार हमने अर्थशास्त्र की भिन्न भिन्न परिभाषाओं का अध्ययन किया और उनके गुणों व दोषों पर प्रकाश डाला। अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि अर्थशास्त्र की कौन सी परिभाषा दी जाय। हमें चाहिए कि हम ऐसी परिभाषा दें जिसमें उपरोक्त दोषों का अभाव हो। अतः अर्थशास्त्र की परिभाषा में निम्नलिखित तत्व होने चाहिए:—

(१) अर्थशास्त्र मनुष्य की अनन्त आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के स्वल्प साधनों का नियमित विश्लेषण करता है।

(२) अर्थशास्त्र के अन्तर्गत केवल सामाजिक, वास्तविक व सामान्य व्यक्तियों का अध्ययन होता है।

(३) अर्थशास्त्र केवल उन्हीं मानवीय क्रियाओं का अध्ययन करता है जिनका सम्बन्ध धन की प्राप्ति एवं उसके उपभोग में है।

(४) अर्थशास्त्र विज्ञान व कला दोनों ही है।

(५) अर्थशास्त्र के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य मानव का कल्याण करना है।

अतः अब हम अर्थशास्त्र को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं.

अर्थशास्त्र वह कला तथा विज्ञान है जिसके अन्तर्गत सामाजिक, वास्तविक तथा सामान्य व्यक्तियों की धन-सम्बन्धी उन क्रियाओं का अध्ययन ... जाता है जिनका उद्देश्य मानव-कल्याण है।

अर्थशास्त्र की विषय सामग्री

(Subject Matter of Economics)

(१) अर्थशास्त्र मनुष्य की केवल आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन है—यह विज्ञान निश्चय रूप से निर्देश (प्रकट) करता है कि समाज में चारों ओर क्या हो रहा है? हम देखते हैं कि स्त्री पुरुष ही नहीं, बालक-बालिकाएँ भी अपने जीवन यापन के लिए किसी न किसी कार्य में प्रयत्नशील हैं। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक मनुष्य अपना पेट भरने के लिए अपने रोजगार या व्यवसाय धन्धे में संलग्न है। एक

किसान खेत जोतता है, बढ़ई लकड़ी का सामान बनाता है, दर्जी कपड़े सीता है, अध्यापक छात्रों को पढ़ाता है, डाक्टर अस्पताल में रोगियों की चिकित्सा करता है, कारीगर फैक्ट्री में कार्य करता है। इन सबका कारण यही है कि उन्हें अपनी-अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन प्राप्त करना है जिसके लिए वे विविध व्यवसाय एवं धन्धों में व्यस्त हैं। यदि वे इन कार्यों में प्रयत्नशील न हों, तो यह निश्चय है कि उनकी इच्छाओं की पूर्ति सम्भव नहीं। ये प्रयत्न जिनके द्वारा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, 'आर्थिक प्रयत्न' (Economic Activities) कहलाते हैं, और ऐसे प्रयत्नों के कारण, स्वभाव तथा परिणामों का अध्ययन ही अर्थशास्त्र की विषय सामग्री है।

अन्य शब्दों में, अर्थशास्त्र का विवेचनीय विषय मनुष्य ही है। वह सूर्योदय से सूर्यास्त तक विभिन्न प्रकार की क्रियाओं में संलग्न रहता है। ये क्रियाएँ धार्मिक, नैतिक राजनैतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक विविध कोटियों में बाँटी जा सकती हैं। परन्तु ये समस्त क्रियाएँ अर्थशास्त्र में सम्मिलित नहीं। अर्थशास्त्र का तो सम्बन्ध मनुष्य की केवल आर्थिक क्रियाओं से ही है। आर्थिक क्रियाओं का तात्पर्य उन मानवीय प्रयत्नों से है जो अर्थ के उत्पादन, संचय तथा उपभोग के लिए मार्ग प्रदर्शन करती हैं। अतः अर्थ-प्राप्ति एवं अर्थ-व्यय की क्रियाएँ अर्थशास्त्र का विवेचनीय विषय है। जब मनुष्य जीवन-यापन के अतिरिक्त अनार्थिक क्रियाओं (Uneconomic Activities) में प्रयत्न प्रसक्त देखा जाता है, तो उसका जीवन 'अनार्थिक जीवन' कहलाता है। उदाहरणार्थ, एक पर्यटन करने वाला यात्री (Tourist) जो पर्वत-श्रेणियों का भ्रमण केवल आमोद-प्रमोद के लिये करता है, वह 'आर्थिक प्रयत्न' में संलग्न नहीं कहा जा सकता, परन्तु यदि इस यात्री की सहायता के लिए कोई पथ प्रदर्शक (Guide) कुछ अर्थ-प्राप्ति की आशा से सहयोग देता है तो उसकी यह यात्रा आर्थिक क्रिया कहलावेगी। इस प्रकार बड़े-बड़े देश-नेताओं की अमूल्य सेवाएँ अपने देश के प्रति और माताओं की बच्चों के प्रति की गई सेवाएँ अनार्थिक हैं, क्योंकि उनका उद्देश्य धनोपार्जन नहीं है। वे देश प्रेम तथा स्वाभाविक सुत-स्नेह से प्रेरित होकर ही उक्त सेवाएँ करते हैं। इसी प्रकार बालकों के खेल-कूद व व्यायाम सम्बन्धी क्रियाएँ जो मनोरंजन तथा स्वास्थ्य-वृद्धि के लिए की जाती हैं, अनार्थिक क्रियाएँ हैं, परन्तु सरकस वालों के द्वारा इस प्रकार की गई क्रियाएँ जीवनो-

ये आर्थिक क्रियाएँ हैं। ये आर्थिक क्रियाएँ नहीं हैं।
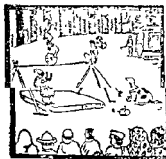
पार्जन के उद्देश्य से प्रेरित होने के कारण आर्थिक क्रियाएँ हैं। अतः यह स्पष्ट है कि आर्थिक क्रियाओं का 'मापदण्ड' अर्थ या धन है जो आर्थिक और अनार्थिक क्रियाओं में भेद प्रकट करता है।

संक्षेप में, केवल अर्थ-प्राप्ति एवं अर्थ-व्यय सम्बन्धी क्रियाएँ **अर्थशास्त्र का विषय है।**

(२) **अर्थशास्त्र मनुष्य के अतिरिक्त अन्य जीवधारियों का अध्ययन नहीं है**—यह स्मरण रखना चाहिये कि अर्थशास्त्र केवल मनुष्यों की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन है। अन्य जीवधारियों की क्रियाओं का इसमें कोई विचार नहीं किया जाता, चाहे वे धनोपार्जन से सम्बन्ध रखती हों, जैसे बैलगाड़ी को खींचकर अपने स्वामी के लिए धन प्राप्ति कराता है।

(३) **अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है**—अर्थशास्त्र में मनुष्य का अध्ययन समाज के एक सदस्य के रूप में किया जाता है न कि व्यक्तिगत रूप में। इसमें उन्हीं प्रयत्नों का विवेचन होता है जिनका एक मनुष्य की क्रिया का प्रभाव अपने बन्धुवर्ग की क्रियाओं पर पड़ता है। परिणामतः उन साधु-सन्यासियों अथवा रॉबिन्सन क्रूसो के समान विरक्त सांसारिक या भौतिक कोलाहल से कहीं दूर विजन निर्जन एकान्त में पड़े रहने वाले व्यक्तियों की क्रियाओं का अर्थशास्त्र में कोई स्थान नहीं।

(४) **अर्थशास्त्र वास्तविक मनुष्य का अध्ययन है**—अर्थशास्त्र केवल वास्तविक मनुष्यों का अध्ययन है न कि काल्पनिक या अवास्तविक मनुष्यों का। प्राचीन अर्थशास्त्री यह मानकर चलते थे कि मनुष्य केवल आर्थिक लाभ और हानि को दृष्टि में रखकर कार्य करता है, उस पर दया, धर्म, नीति आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा मनुष्य 'अर्थपरायण मनुष्य' (Economic Man) कहा जाता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों की दृष्टि से इस प्रकार के मनुष्य का विवेचन अर्थशास्त्र का अंग नहीं है। वे मनुष्य जैसा है, उसका विवेचन करते हैं—काल्पनिक या अर्थपरायण मनुष्य का नहीं, परन्तु वास्तव में रक्त तथा मांस के बने हुए जीवित मनुष्य का।

(५) **अर्थशास्त्र सामान्य और सर्वसाधारण मनुष्य का अध्ययन है**—अतः असन्त (पागल), मदोन्मत्त (Drunkard) एवं अत्यन्त कृपण व्यक्तियों की क्रियाएँ सामान्य और औसत प्रकार की न होने के कारण इस विज्ञान की विषय-सामग्री [illegible] है। इसी प्रकार एक उत्तम विलक्षण बुद्धि वाले अथवा द्रव्य ज्ञान वाले असाधारण [illegible] की क्रियाएँ भी अर्थशास्त्र का विषय नहीं बनती।

(६) **अर्थशास्त्र का विज्ञानात्मक और कलात्मक रूप**—अर्थशास्त्र के विषय में इसका विज्ञानात्मक तथा कलात्मक—दोनों ही रूप सम्मिलित हैं। यह केवल वास्तविक विज्ञान ही नहीं है, किन्तु नीति-प्रधान विज्ञान भी है, क्योंकि वर्तमान दशाओं के अध्ययन के अतिरिक्त यह आदर्शों का भी निर्णय करता है। यह अर्थशास्त्र कला के रूप में आदर्श प्राप्ति के हेतु कुछ नियमों को भी निर्धारित करता है।

उदाहरणार्थ किसी उद्योगशाला के श्रमिकों के आर्थिक जीवन का वास्तविक अध्ययन इस शास्त्र का यथार्थ विज्ञान रूप समझना चाहिए और उसका उच्च आदर्शों की दृष्टि से जो अध्ययन किया जाता है वह इसका नीति-प्रधान विज्ञान रूप समझना चाहिए। श्रमिक व्यक्ति अपनी भृति (मजदूरी) में कैसे वृद्धि कर सकते हैं और किस

प्रकार के अर्थ के सदुपयोग से वे अपने जीवन को सुखमय बना सकते हैं, इस प्रकार के अभीष्ट आदर्श किस प्रकार प्राप्त किये जाते हैं—ये सब बातें अर्थशास्त्र की कलात्मकता द्वारा प्रकट की जाती हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्‌स परीक्षाएं

१—"अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है।" इस परिभाषा की विवेचना कीजिए।
(उ० प्र० १९६०)

२—अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री की पूर्ण विवेचना कीजिए। (उ० प्र० १९५५)

३—"अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है।" यह परिभाषा दोषपूर्ण क्यों मानी जाती है? जो परिभाषा आप उचित समझते हैं वह लिखिए।
(रा० बो० १९५७, जबलपुर १९५९)

४—आपका एक चतुर मित्र जिसको विषय का पूर्ण ज्ञान नहीं है, आपसे अर्थ विज्ञान का अर्थ, विषय-सामग्री तथा महत्व की विवेचना करने के लिए निवेदन करता है। समझाइए आप उसे किस प्रकार अनुग्रहीत कर सकते हैं? (रा० बो० १९५५)

५—आर्थिक क्रियाओं का क्या तात्पर्य है? क्या अर्थशास्त्र में सब मनुष्यों की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है? (रा० बो० १९५३)

६—"अर्थशास्त्र मनुष्य के साधारण जीवन में व्यापार सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन है।" तथा "अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है।" इन दोनों में से कौन-सी परिभाषा आपको मान्य है और क्यों? (अ० बो० १९५३, नागपुर १९५५)

७—"अर्थशास्त्र मनुष्य के साधारण व्यावहारिक जीवन का अध्ययन है।" इसका अर्थ समझाइए। (म० भा० १९५६)

८—अर्थशास्त्र की परिभाषा लिखिए। उसका विस्तार तथा प्रतिपाद्य विषय बताइए।
(म० भा० १९५४)

९—अर्थशास्त्र की उपयुक्त परिभाषा दीजिए और उसके विषय व क्षेत्र की चर्चा कीजिए। (रा० बो० १९५६, सागर १९५४)

१०—अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री की संक्षेप में व्याख्या कीजिए।
(नागपुर, प्रिपैरेटरी आर्ट्‌स १९५६)

११—अर्थशास्त्र की परिभाषा कीजिए। अर्थशास्त्र के प्रमुख विभागों को बताते हुए उनके पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए। (सागर, प्रिपैरेटरी आर्ट्‌स १९५६)

१२—एक विज्ञान के रूप में अर्थशास्त्र की विषय सामग्री क्या है? संक्षेप में अर्थशास्त्र के लाभ बताइए। (दिल्ली हा० सैकेण्डरी १९५८)

इण्टर एग्रीकल्चर

१३—अर्थशास्त्र की परिभाषा दीजिए और उसकी विषय-सामग्री का विवेचन कीजिए।
(अ० बो० १९५७, रा० बो० १९५६)

अध्याय २

अर्थशास्त्र का विज्ञानात्मक एवं कलात्मक रूप

(Science & Art of Economics)

यह निर्णय करने के पूर्व कि अर्थशास्त्र विज्ञान है या कला अथवा दोनों ही, 'विज्ञान' तथा 'कला' शब्दों के महत्त्व को भली प्रकार समझ लेना चाहिए।

विज्ञान (Science)—किसी घटना का क्रमबद्ध ज्ञान-समूह, जो किन्हीं सिद्धान्तों पर अवलम्बित हो, 'विज्ञान' कहलाता है। इसको अधिक स्पष्ट करते हुए यह कह सकते हैं कि विज्ञान वस्तुस्थिति का सुव्यवस्थित विवरण है, अर्थात् उसमें कारण (Cause) और परिणाम (Effect) के बीच में सम्बन्ध स्थापित करता है।
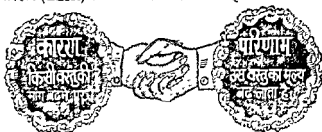
कारण और परिणाम का सम्बन्ध

कला (Art)—किसी क्रमबद्ध ज्ञानसमूह को जिसका उद्देश्य प्रयोगात्मक हो 'कला' कहते हैं। कला इस बात को प्रकट करती है कि किन उपायों द्वारा अपने लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है।

विज्ञान और कला में भेद

विज्ञान वस्तु-स्थिति का विवेचन करते हुए कारण और परिणाम में सम्बन्ध स्थापित करता है, परन्तु कला उद्देश्य प्राप्ति के साधनों को प्रयोगात्मक रूप में प्रस्तुत करती है। उदाहरणार्थ, खगोलशास्त्र (Astronomy) आकाशीय घटनाओं का विवेचन करता है, अत: यह विज्ञान है, नौविद्या (Navigation) प्रयोगात्मक होने के कारण कला है। इसलिए कला को कभी-कभी प्रयोगात्मक विज्ञान (Practical Science) भी कहा जाता है।

खगोलशास्त्र विज्ञान है ।   नौविद्या कला है ।

विज्ञान और कला का वर्गीकरण (Classification of Science and Art)—ज्ञान-समूह विज्ञान भी हो सकता है अथवा कला भी। विज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) वास्तविक या यथार्थ विज्ञान (Positive Science) और (२) आदर्श या नीति-प्रधान विज्ञान (Normative Science)। यह वर्गीकरण निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा भली-भांति व्यक्त किया गया है :—
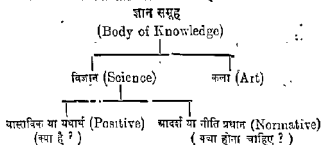
(१) विज्ञान के प्रकार (Kinds of Science)

(अ) वास्तविक या यथार्थ विज्ञान (Positive Science)—यह वर्तमान या वास्तविक वस्तुस्थिति का विवेचन करता है। यह इस प्रश्न का उत्तर देता है कि 'यह या वह क्या है ?' यह इस बात को नही दर्शाता कि अमुक वस्तु उचित है या अनुचित। इसका उद्देश्य तो केवल कार्यों के कारण और परिणाम को ही प्रकट करना है न कि उनकी सम्पन्नता के लिए उपाय बताना। उदाहरणार्थ, वास्तविक, वैज्ञानिक (*Positive Scientist*) *यह नहीं बतलाएगा कि विष-पान उचित है या नहीं।* वह तो यह बतलायेगा कि विष-पान से मनुष्य के शरीर पर क्या प्रभाव पड़ेगा और वह किस प्रकार मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा।

(ब) आदर्श या नीति प्रधान विज्ञान (Normative Science)—यह इस बात का विवेचन करता है कि अमुक आदर्श हितकर होने के कारण वाञ्छनीय है और अमुक अहितकर होने के कारण अवाञ्छनीय है। अवाञ्छनीय आदर्शों को कार्य रूप में परिणत करना चाहिए और अवाञ्छनीय वस्तुओं का निषेध करना चाहिए।

अन्य शब्दों में यह इस प्रश्न का उत्तर देता है कि "यह या वह क्या होना चाहिए ?" पूर्व उद्धृत उदाहरण को लेते हुए आदर्श वैज्ञानिक (Normative Scientist) विषपान के विषय में यह कहेगा कि मनुष्य जीवन बहुमूल्य है, अतः इसको इस प्रकार समाप्त कर देना उचित नहीं। मनुष्य को अपना जीवन सार्थक बनाने के लिए ऊँचे जीवन का आदर्श सम्मुख रखना चाहिए।

(२) कला (Art)

आदर्श और लक्ष्य प्राप्ति के साधनों को प्रकट करने वाले ज्ञान का नाम कला है। यह बात की ओर हमारा ध्यान केन्द्रित करता है कि किस प्रकार मनुष्य वाञ्छनीय आदर्शों को वास्तविक रूप में परिणत कर सकता है और किस प्रकार अवाञ्छनीय बातों से बच सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि कला ऐसी रीतियाँ तथा विधियाँ को प्रस्तुत करती है जिनसे उत्तम आदर्शों की प्राप्ति और अवाञ्छनीय बातों से रक्षा हो सके। उदाहरणार्थ, विषपान के सम्बन्ध में कलाकार अर्थात् वैद्य या डाक्टर यह सम्मति देगा कि विषपान न करें क्योंकि इससे उसके शरीर में विकार उत्पन्न होने के अतिरिक्त मृत्यु भी हो सकती है।

वास्तविक विज्ञान, आदर्श विज्ञान और कला में पारस्परिक सम्बन्ध

ऊपर के उदाहरण में वास्तविक वैज्ञानिक विषपान का प्रभाव बतलाया है। आदर्श वैज्ञानिक विषपान को उच्च आदर्शों की दृष्टि से अनुचित बतलाया है और कलाकार विषपान के विषय में अपनी सम्मति प्रकट करता है। यही वास्तविक तथा आदर्श विज्ञान और कला में भेद है। वास्तव में कला वास्तविक विज्ञान से आदर्श विज्ञान तक पहुँचने का सोपान है। ज्ञान की उपर्युक्त तीनों शाखाओं का परस्पर भेद बिल्कुल स्पष्ट है। यथार्थ विज्ञान वस्तुओं का वास्तविक रूप प्रकट करता है और आदर्श विज्ञान वस्तुओं का आदर्श रूप निर्धारित करता है कला इन आदर्शों तक पहुँचने का साधन बताती है। यह सम्बन्ध निम्न रेखा चित्र से इस प्रकार समझिए —

अर्थशास्त्र विज्ञान है या कला अथवा दोनों ही—दोनों विभिन्न प्रकार के विज्ञानों और कला का विवेचन करने के पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि क्या अर्थशास्त्र विज्ञान है या कला अथवा दोनों ही ? और यदि यह विज्ञान भी है तो यह वास्तविक विज्ञान है या आदर्श विज्ञान अथवा दोनों ही ?

(१) अर्थशास्त्र का विज्ञान रूप

(अ) अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान के रूप में (Economics as a Positive Science)—वास्तविक विज्ञान उस विज्ञान को कहते हैं जिसमें वस्तु-स्थिति का अध्ययन करते हुए कार्य और कारण का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। अर्थशास्त्र भी एक वास्तविक विज्ञान है, क्योंकि इसमें मनुष्य के आर्थिक कार्यों का

विवेचन करके इसके प्रत्येक भाग में कार्य और कारण के सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं। उपभोग (Consumption) के क्षेत्र में अर्थशास्त्र हमको यह बतलाता है कि यदि उपभोक्ता के पास किसी वस्तु की मात्रा बढ़ने लगती है, तो प्रत्येक अगली इकाई की उपयोगिता गिरती जाती है। उत्पादन (Production) के क्षेत्र में यह हमको बतलाता है कि यदि किसी भूमि पर अधिकाधिक श्रम और पूँजी लगाई जाय, तो किसी विशेष अवस्था के पश्चात् प्रत्येक अगली इकाई की उत्पत्ति गिरती जाती है। विनिमय (Exchange) के क्षेत्र में यह बताया जाता है किसी वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती है, तो माँग घट जाती है। वितरण (Distribution) के क्षेत्र में यह बतलाता है कि यदि पूँजी की पूर्ति में न्यूनता आजाती है, तो ब्याज की दर में एक दम वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार अर्थशास्त्र में अनेकों लाभदायक नियम पाये जाते हैं जो *कार्य और कारण* में सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अत: यह सिद्ध हुआ कि अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है।

(ब) अर्थशास्त्र आदर्श या नीति प्रधान विज्ञान के रूप में (Economics as a Normative Science) —आदर्श विज्ञान मानव व्यवहार के लिए आदर्श उपस्थित करता है। इसमें वाञ्छनीय व्यवहार और परिस्थितियों के प्रश्न पर ध्यान दिया जाता है। उदाहरणार्थ, जैसे **नीतिशास्त्र** (Ethics) आदर्श विज्ञान है क्योंकि मनुष्य के व्यवहारों के लिए आदर्श प्रस्तुत करता है, जैसे मनुष्य को सदा सत्य बोलना चाहिए, दीन-दुखियों की सहायता करनी चाहिए इत्यादि। इसी प्रकार अर्थशास्त्र में केवल यही जान लेना पर्याप्त नहीं है कि समाज में रहने वाले मनुष्य किस प्रकार धनोपार्जन करते हैं और कैसे उसका उपभोग करते हैं, बल्कि यह भी देखना आवश्यक है कि धनोपार्जन के साधन मानव-जीवन की आर्थिक उन्नति के लिए उपयुक्त रूप में है या नहीं। उनमें और क्या-क्या परिवर्तन होने चाहिए जिनमें धन की उत्पत्ति में वृद्धि हो और धन का वितरण भी विधि पूर्वक हो, जिससे मानव-जीवन अधिक सुसमय हो जाय। अर्थात् समाज को आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक समृद्धिशाली बनाने का उद्देश्य यह विज्ञान हमारे सामने रखता है। इस रूप में अर्थशास्त्र एक आदर्श या नीति-प्रधान विज्ञान है। परन्तु यह धारणा अभी शैशव काल में ही है, व्यवहारोपयोगी नहीं बनी है।

अर्थशास्त्र के आदर्श विज्ञान होने में मतभेद— इस विषय पर पर्याप्त मतभेद है कि अर्थशास्त्र को आदर्श या नीतिप्रधान विज्ञान माना जाय या नहीं। कुछ विद्वानों का विशेषतः प्रो० रॉबिन्स का कहना है कि अर्थशास्त्र केवल एक वास्तविक विज्ञान है। इसका आदर्शों से कोई सम्बन्ध नहीं। किसी प्रकार की सम्मति देना अर्थशास्त्र का काम नहीं। पर अर्थशास्त्र को यह रूप देना इसका महत्व घटाना है। अर्थशास्त्र मनुष्य के प्रतिदिन के साधारण कार्यों का अध्ययन है। यह अध्ययन उसी समय लाभप्रद सिद्ध हो सकता है जबकि अर्थशास्त्र व्यावहारिक आदर्शों पर यथोचित प्रकाश डाल सकें। इसीलिए यूरोप, अमेरिका और भारतवर्ष के अधिकतर अर्थशास्त्रियों का मत है कि अर्थशास्त्र *स्वयं हमारे सम्मुख अधिकतम आर्थिक कल्याण का आदर्श* प्रस्तुत करता है। अस्तु अर्थशास्त्र को आदर्श विज्ञान मानना अनुचित नहीं है।

(२) अर्थशास्त्र का कलात्मक रूप

अर्थशास्त्र कला के रूप में (Economics as an Art)—वैसे कला शब्द का अर्थ है किसी कार्य को करने का सर्वोत्तम ढंग। अर्थशास्त्र कला के रूप में

धन की अधिकतम उत्पत्ति एवं संग्रह करने के ऐसे उपाय बताता है कि जिनके द्वारा समाज की आर्थिक समृद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। यह अब स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान के रूप में वर्तमान परिस्थिति का यह ज्ञान कराता है और आदर्श विज्ञान के रूप में हमारे सामने आदर्श प्रस्तुत करता है और कला के रूप में आदर्श को प्राप्त करने के उपायों को प्रकट करता है।

समाज में अनेक आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं। अर्थशास्त्र इन समस्याओं को सुलझाने का मार्ग तथा साधन बताता है। उदाहरण स्वरूप, बेकारी की ही समस्या ले लीजिए, अर्थशास्त्र बेकारी के कारण और परिणाम पर ही विचार नहीं करता बल्कि इस जटिल आपत्ति से मुक्त होने का मार्ग भी बतलाता है। यह हमें उन व्यावहारिक साधनों से परिचित कराता है जिनके द्वारा अत्यधिक आर्थिक समृद्धि (Economic Welfare) के लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। कला का यही कार्य है। अस्तु अर्थशास्त्र को कला भी मान सकते हैं।

अर्थशास्त्र के कला होने पर मतभेद

अर्थशास्त्र को कला कहलाने का अधिकार है या नहीं, इस पर कोई निश्चित तथा स्थायी मत नहीं है, पर अधिकांश अर्थशास्त्र के विद्वानों का कहना है कि यह कला भी है। इंगलैंड के अधिकांश अर्थशास्त्रियों का मत है कि अर्थशास्त्र केवल वास्तविक विज्ञान ही है, कला नहीं किन्तु संसार के दूसरे देशों के अर्थशास्त्रियों का कहना है कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का व्यावहारिक लाभ उठाया जाना चाहिए। अर्थशास्त्र में वर्तमान आर्थिक स्थिति के स्थान पर आदर्श आर्थिक स्थिति स्थापित करने के उपायों का विवेचन भी होना चाहिए। अस्तु आधुनिक अर्थशास्त्र मानव जाति की आर्थिक उन्नति की वृद्धि के उपाय बताना अपना कर्त्तव्य समझता है।

उपर्युक्त विवरण से अर्थशास्त्र का क्षेत्र भली भाँति जाना जा सकता है। इसके अन्तर्गत अर्थशास्त्र का न केवल यथार्थ और आदर्श विज्ञान के ही रूप में समावेश है, अपितु एक कला के रूप में भी। अस्तु आधुनिक अर्थशास्त्र इसे न केवल विज्ञान ही मानता है बल्कि एक कला भी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—अर्थशास्त्र को विज्ञान और कला दोनों ही क्यों कहते हैं? (दिल्ली १९३५)

२—अर्थशास्त्र के विज्ञान एवं कला होने के प्रतियोगी अधिकार पर विवेचन कीजिए। (कलकत्ता १९३८)

३—(अ) यथार्थ विज्ञान, (आ) आदर्श विज्ञान और (इ) कला के रूप में अर्थशास्त्र के क्षेत्र को परिभाषित कीजिए। (बम्बई १९३९)

४—अर्थशास्त्र के आदर्श विज्ञान होने में जो मतभेद है उसके दोनों पक्षों पर विवेचन कीजिए। (कलकत्ता १९४२)

इण्टर एग्रीकल्चर

५—'अर्थशास्त्र कला के रूप में' पर टिप्पणी लिखिए। (उ० प्र० १९५१)

अध्याय ३

अर्थशास्त्र का क्षेत्र
(Scope of Economics)

अर्थशास्त्र की परिभाषा और विषय आदि के सम्बन्ध में सुनिपुण ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् अर्थशास्त्र का क्षेत्र जानने की उत्कण्ठा होती है अतः इस अध्याय मे अर्थशास्त्र के क्षेत्र के बारे मे विवेचन किया जायगा।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र का तात्पर्य—क्या अर्थशास्त्र कला है या विज्ञान अथवा दोनों ही ? यदि विज्ञान है तो कौनसा विज्ञान ? इसका युक्तिपूर्वक जान लेना अर्थशास्त्र का क्षेत्र है। इस क्षेत्र मे पाठक को इसका भी ज्ञान हो जाता है कि कहाँ किन आर्थिक घटनाओं का विवेचन हो सकता है।

अर्थशास्त्र विज्ञान है (किस प्रकार का) या कला या दोनों ही—अर्थशास्त्र का क्षेत्र प्रकट करते हुए सबसे प्रथम इस बात को बतलाना आवश्यक है कि अर्थशास्त्र विज्ञान है या कला अथवा दोनों ही। अर्थशास्त्र न केवल विज्ञान ही है अपितु कला भी, इसका पिछले अध्याय मे कुछ विचार किया गया है।

अर्थशास्त्र एक विज्ञान है यह जानने पर उसके भेद जानने की आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है। इस जिज्ञासा का उत्तर सरल शब्दों मे दिया जा सकता है कि यह वास्तविक तथा आदर्श दोनों प्रकार का विज्ञान है। प्रत्यक्ष उपस्थित वस्तु स्थिति का ज्ञान प्राप्त करते हुए कार्य और कारण मे अविच्छिन्न (अटूट) सम्बन्ध स्थापित करना इसको वास्तविक विज्ञान की कोटि मे रखता है। इसके अतिरिक्त कुछ आदर्श सामने रखकर मानवीय जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने का कार्य सम्पन्न करने के कारण अर्थशास्त्रियों ने इसे कुछ समय मे 'आदर्श' इस विशेषण से भी भूषित किया है, अतः यह आदर्श नीतिप्रधान शास्त्र भी समझा जाता है। इस प्रकार के उच्च आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के जो साधन जुटाये जाते है, उनका सामूहिक रूप अर्थशास्त्र की कला का रूप है। उदाहरणार्थ, देश मे निर्धनता व्यापक रूप मे है। इसका यथार्थ विवेचन करते हुए कार्य और कारण के मध्य सम्बन्ध स्थापित करना ही वास्तविक विज्ञान का कार्य है। इस सम्बन्ध मे आर्थिक समृद्धि का उच्च आदर्श प्रस्तुत करना ही आदर्श विज्ञान का कार्य है। इस प्रकार के आदर्शों की पूर्ति अर्थात् मानव-दीनता को दूर करने के लिए क्रियात्मक उपाय बतलाना अर्थशास्त्र की कला का कार्य है।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र के विषय में प्रो० मार्शल का दृष्टिकोण—प्रो० मार्शल ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे इस बात का बड़े विस्तार से विवेचन किया है। वे लिखते है कि अर्थशास्त्र को कला या विज्ञान अथवा दोनों ही केवल इतना ही वर्णन करना उचित नहीं, अपितु यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे केवल

इस बात का ही विवेचन होना चाहिए कि इसके अन्तर्गत कौनसी घटनायें, किस प्रकार के मनुष्य एवं कौनसी मानव क्रियाएँ आती है। अर्थशास्त्र की परिधि के अन्दर समाने वाला कुछ ऐसा ही संसार है।

(१) अर्थशास्त्र वास्तविक और सच्चे मनुष्य का अध्ययन है—प्रो० मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र का क्षेत्र इस ओर ध्यान आकर्षित करता है कि इसके अन्तर्गत चलते-फिरते हुए वास्तविक मनुष्य जो हड्डी मांस से बना हो उसकी क्रियाओं का अध्ययन आता है, न कि प्राचीन अर्थशास्त्रियों द्वारा निर्मित कल्पित 'अर्थ-परायण मनुष्य' (Economic Man) का जो वास्तव में आज विद्यमान नहीं है।

(२) अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है—साधारणतया मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में ही रहना पसन्द करता है और समाज के अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित किए बिना उसके जीवन की आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं हो सकतीं। उसके कार्य का प्रभाव दूसरों पर और दूसरों के कार्य का प्रभाव उस पर सदा निर्भर रहता है। अर्थशास्त्र सामाजिक व्यक्तियों के ही धन सम्बन्धी कार्यों का विवेचन है। यहाँ मानव जीवन का अध्ययन व्यक्तिगत रूप से नहीं प्रत्युत सामाजिक दृष्टिकोण से होता है। वे व्यक्ति, जो समाज से अपना सम्बन्ध तोड़ चुके हैं अथवा समाज से अलग रहते हैं—जैसे साधु संत एवं रॉबिन्सन क्रूसो आदि के सदृश व्यक्ति, अर्थशास्त्र के क्षेत्र के विषय नहीं है। उनके कार्यों का विवेचन अर्थशास्त्र नहीं करता है, क्योंकि अर्थशास्त्र एक 'सामाजिक विद्या' माना जाता है।

(३) अर्थशास्त्र आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन है—अर्थशास्त्र उन्हीं कार्यों का विवेचन करता है जिनका सम्बन्ध धन से होता है। ऐसे कार्यों को 'आर्थिक प्रयत्न' कहते है। जो कार्य मनुष्य धन के लिए नहीं वरन् दया, प्रेम, मनोरंजन, देश-भक्ति आदि के लिए करते है, उन्हें 'अनार्थिक क्रियाएँ' या प्रयत्न कहते हैं। इनका अध्ययन अर्थशास्त्र में नहीं किया जाता है। उदाहरणस्वरूप, धान्यादि वस्तुओं का व्यवस्थित संरक्षण एवं सदुपयोग तथा निवास स्थान का 'परिमार्जन (साफ सुथरा रखना) एक गृहलक्ष्मी का गृह कार्य, कर्त्तव्यपरायण माता की अपनी सन्तान के प्रति स्वाभाविक देख रेख और खिलाड़ी का आमोद प्रमोद व स्वास्थ्य की वृद्धि के लिए खेल-कूद आदि कार्य अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आते, क्योंकि इन क्रियाओं का अर्थ प्राप्ति से सम्बन्ध नहीं है। ऐसी क्रियाएँ यहाँ अनार्थिक क्रियाएँ कही जाती है।

(४) अर्थशास्त्र नीति उपदेश नहीं देता है—यद्यपि मानव क्रियाएँ धार्मिक एवं नीति-सम्बन्धी बातों से प्रभावित होती हैं, किन्तु आर्थिक क्रियाएँ धार्मिक उपदेश एवं नैतिक नियमों से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। एक अर्थशास्त्री यह नहीं कह सकता कि अमुक कार्य उचित है और अमुक कार्य अनुचित।

(५) अर्थशास्त्र न तो किसी घटना या वस्तु की प्रशंसा करता है और न आलोचना ही—अर्थशास्त्र का कार्य केवल वर्तमान वस्तुस्थिति के अध्ययन तक ही सीमित है। किसी वस्तु का अन्वेषण कर उसका यथार्थ रूप प्रस्तुत करना ही इस विज्ञान का प्रमुख अध्ययन क्षेत्र है। उसकी सराहना अथवा उसकी आलोचना करना उसके क्षेत्र से बाहर की वस्तु है।

(६) अवैध कार्य और किसी वस्तु पर बलपूर्वक अधिकार करना अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सम्मिलित नहीं है—उदाहरण के लिए, चोर चोरी करके

अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, जुआरी जुए में अनेक छल-कपट करके धनाहरण करता है, राजा शत्रु पर आक्रमण कर बहुमूल्य रत्नादि लूटता है—ये क्रियाएँ अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं आती। इसी प्रकार धनोपार्जन के अनैतिक ढंग जो अवैध घोषित कर दिए गये है, अर्थशास्त्र के अध्ययन की वस्तु नहीं है।

(७) **अर्थशास्त्र सामान्य स्थिति और औसत दर्जे के मनुष्य का अध्ययन है**—साधारण स्थिति और औसत दर्जे के मनुष्य ही इस शास्त्र का अध्ययन-विषय है। वे मनुष्य जिनका मस्तिष्क विकृत हो गया है जैसे पागल एवं मदोन्मत्त पुरुष (Drunkard) या जो सर्व साधारण मानव की योग्यता के स्तर से ऊँचे (Genius) है, निर्विवाद रूप से अर्थशास्त्र की परिधि से बहिष्कृत है, क्योंकि इनके अध्ययन से अर्थशास्त्र का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

(८) **आर्थिक क्रियाएँ विकासशील है**—अर्थशास्त्र मनुष्य का अध्ययन विकासात्मक दृष्टि से करता है। कोई अर्थशास्त्र का सिद्धान्त सार्वकालीन सत्य सिद्ध नहीं हो सकता। जो सिद्धान्त वर्तमान युग के लिए यथार्थ सिद्ध होता है वह, सम्भव है, भावी युग के लिये अव्यवहार्य सिद्ध हो। इसी प्रकार जो आर्थिक नियम एक देश के लिए लागू हो, वे दूसरे देश के लिए अनुपयुक्त सिद्ध हो सकते है। संक्षेप में, अर्थशास्त्र गतिशील घटनाओं का अध्ययन करता है न कि ध्रुव-स्थिर सिद्धान्तों का।

अर्थशास्त्र का स्वभाव
(Nature of Economics)

अर्थशास्त्र के स्वभाव से यह तात्पर्य है कि अर्थशास्त्र विज्ञान है या कला अथवा दोनो ही। बस इतना ही जान लेना अर्थशास्त्र का स्वभाव समझना चाहिये।

अर्थशास्त्र विज्ञान एवं कला दोनो ही है। विज्ञानात्मक रूप से वास्तविक तथा आदर्श दोनो ही रूप सम्मिलित है। इसका विशद विवेचन पिछले अध्याय में किया जा चुका है।

अर्थशास्त्र की मर्यादाएँ (Limitations of Economics)—कई अर्थशास्त्र के लेखक अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे इसकी मर्यादाएँ भी प्रकट करना उचित समझते हैं। वे निम्नलिखित है :—

(१) **अर्थशास्त्र मे केवल मानवीय आवश्यकताओ, प्रयत्नों और** उनकी पूर्ति पर ही विचार होता है।

(२) **अर्थशास्त्र सम्पूर्ण मानवीय क्रियाओ का अध्ययन नहीं है**—इसमे केवल अर्थ सम्बन्धी क्रियाओ का ही अध्ययन होता है। अन्य प्रकार की क्रियाएँ इसकी सीमा से बाहर हैं।

(३) **'मुद्रा' अर्थशास्त्र का मापदण्ड है**—अर्थशास्त्र के अन्तर्गत केवल वे इच्छाएँ, प्रयत्न तथा क्रियाएँ सम्मिलित हैं, जो मुद्रा द्वारा मापी जा सकें। अन्य क्रियाएँ जिनका मापदण्ड 'मुद्रा' सम्भव नहीं, इसकी सीमा से परे है।

(४) **अर्थशास्त्र मे केवल सामाजिक, वास्तविक और साधारण** प्रकृति के मनुष्यों का ही विचार किया जाता है, अर्थात् एकान्तवासी, काल्पनिक और असाधारण प्रकृति के मनुष्यों की आवश्यकताएँ और प्रयत्न इसकी सीमा के अन्तर्गत नहीं आते।

(५) अर्थशास्त्र के विज्ञानात्मक (वास्तविक और आदर्श) तथा कलात्मक रूप अर्थशास्त्र की सीमा के द्योतक है। अर्थशास्त्रियों का बहुमत इस ओर झुका है कि अर्थशास्त्र केवल यथार्थ विज्ञान ही नहीं अपितु आदर्श विज्ञान और कला भी है।

प्रो० रॉबिन्स का दृष्टिकोण—मार्शल और रॉबिन्स दोनों ही इस बात को मानते है कि अर्थशास्त्र में केवल मानवीय क्रियाओं का ही अध्ययन किया जाता है, परन्तु अन्य बातों में दोनों एक दूसरे के विपरीत है। प्रो० रॉबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र की मर्यादाएँ निम्नलिखित हैं —

(१) मार्शल के विचारों के विपरीत रॉबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र सामाजिक तथा असामाजिक दोनों प्रकार के व्यक्तियों का अध्ययन है। इसलिए उसने अर्थशास्त्र को 'सामाजिक विज्ञान' न कहकर 'मानव विज्ञान' कहा है।

(२) रॉबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र में सभी प्रकार के मानव-व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है चाहे उनका धन से सम्बन्ध हो या नहीं। मार्शल के अनुसार इसमें मानव-क्रियाओं के केवल आर्थिक पहलू का ही अध्ययन किया जाता है।

(३) रॉबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र केवल एक वास्तविक विज्ञान ही है। यह विचारधारा भी मार्शल से बिल्कुल विपरीत है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र केवल वास्तविक विज्ञान ही नहीं है, अपितु आदर्श विज्ञान एवं कला भी है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—अर्थशास्त्र के क्षेत्र को भली-भाँति समझाइए।
(उ० प्र० १९५२, रा० बो० १९५५, ५४, ५२, म० भा० १९५४)

२—अर्थशास्त्र की विषय सामग्री की व्याख्या कीजिए। (अ० बो० १९५४)

३—समझाकर लिखिए कि अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री और क्षेत्र क्या है?
(म० भा० १९५७)

४—अर्थशास्त्र का अर्थ समझाइए और क्षेत्र की विवेचना कीजिए।
(पटना-बिहार १९५२)

५—अर्थशास्त्र के क्षेत्र को स्पष्टतः समझाइए और इसके ज्ञान का महत्व भी वर्णन करिए। (पंजाब, १९५०)

अध्याय ४

अर्थशास्त्र के विभाग और उनका पारस्परिक सम्बन्ध

(Divisions of Economics & their Inter-relations)

अर्थशास्त्र के विभाजन का उद्देश्य—अर्थशास्त्र का विषय इतना विस्तृत है कि इसका वैज्ञानिक अध्ययन बिना इसे विविध विभागों में बाँटे हुए सम्भव नहीं। इसके विविध विभागों में बँट जाने से इसके अध्ययन में अत्यन्त सुविधा हो जाने के अतिरिक्त प्रत्येक प्रकार की समस्याओं का सविस्तार तथा गहन अध्ययन किया जा सकता है। अस्तु, इसी उद्देश्य की पूर्ति के हेतु अर्थशास्त्र मुख्यतः चार विभागों (Departments) या शाखाओं (Branches) में विभक्त किया गया है—**उपभोग** (Consumption), **उत्पत्ति** (Production), **विनिमय** (Exchange) और **वितरण** (Distribution)। आजकल अमरबेल की भांति बड़े वेग से बढ़ते हुए सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन के विविध प्रयोजनों की सिद्धि के लिए सरकार को पहले की अपेक्षा अधिक कार्यों को सम्पादित करना आवश्यक हो गया है, अतः आधुनिक अर्थशास्त्र का पाँचवाँ **राजस्व विभाग** (Public Finance) का अध्ययन भी उतना ही महत्वपूर्ण समझा जाता है जितना अन्य विभागों का। संक्षेप में, अर्थशास्त्र के पांच विभाग है—उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय, वितरण और राजस्व।

अर्थशास्त्र के विभाग

(Divisions of Economics)

१—**उपभोग** (Consumption)—उपभोग अर्थशास्त्र का नया विभाग है, इसका प्रयोग सबसे प्रथम प्रो० मार्शल द्वारा किया गया। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने तो इसकी उपेक्षा ही की। इस विभाग का मुख्य उद्देश्य है मनुष्य की आवश्यकताओं को ज्ञात करना और यह मालूम करना कि धन के प्रयोग से उनका तुष्टिकरण किस प्रकार

उपभोग

का होता है। अधिक स्पष्ट करने के लिये यों कहना चाहिये कि इस विभाग के अन्तर्गत यह विचार किया जाता है कि मनुष्य की क्या-क्या आवश्यकताएँ हैं और उनकी क्या-क्या विशेषताएँ है। आवश्यकताओं का वर्गीकरण तथा उपभोग के नियम इसके अन्य विवेचनीय विषय है। इसमें इस बात पर भी पूर्ण प्रकाश डाला जाता है कि किस प्रकार सीमित साधनों द्वारा अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार उपभोग सम्बन्धी कई महत्वपूर्ण समस्याओं का विवेचन इस विभाग का कार्य क्षेत्र है।

२—उत्पत्ति (Production)—आवश्यकताओं की पूर्ति ही धन की उत्पत्ति का मूल कारण है। यह अर्थशास्त्र का दूसरा विभाग है जिसके अंतर्गत मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन—धन—की उत्पत्ति कैसे होती है, उत्पत्ति के कौन-कौन से साधन है, उत्पत्ति के नियम और ढंग क्या-क्या हैं, आदि समस्याओं पर विचार करते हुए उनका समाधान प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ इस बात पर पूर्ण रूप से प्रकाश डाला जाता है कि किसी देश के उपलब्ध साधनों के द्वारा किस प्रकार अधिकतम धन उत्पन्न हो सकता है।

उत्पत्ति

३—विनिमय (Exchange)—किस प्रकार वस्तुएँ उत्पादकों के हाथ से उपभोक्ताओं के पास उपभोग के लिए आती हैं कैसे वस्तुओं का मूल्य निर्धारित किया जाता है और कौन-कौन सी भिन्न भिन्न संस्थाओं के द्वारा इस कार्य में सहायता मिलती है। इस प्रकार की गुत्थियों को यह विभाग सुलझाता है।

विनिमय

४—वितरण (Distribution)—इस विभाग के अन्तर्गत यह विचार किया जाता है कि उत्पत्ति के साधनों का प्रतिफल किस प्रकार और किन सिद्धान्तों के अनुसार निर्धारित होता है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य समस्याओं पर भी, जैसे आधुनिक जातियों में धन के वितरण में इतनी असमानता क्यों है; और इस असमानता के क्या कारण और परिणाम हैं, भली-भाँति विवेचन होता है।
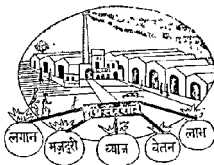
वितरण

५—राजस्व (Public Finance)—इसमें सरकार की आय और व्यय का विवेचन होता है। सरकार की आय के नाना प्रकार के साधनों पर जैसे नदी के पुल, दुर्ग, पर्वत आदि के मार्ग शुल्क (Toll Tax) एवं विविध व्यापारिक साधनों में 'कर' लेना आदि व्यवस्थाओं पर पूर्ण प्रकाश डाला जाता है और इस बात पर विचार किया जाता है कि सरकार (केन्द्रीय, प्रान्तीय या स्थानीय) इस आय को किस समुचित विधि से व्यय करती है जिससे समाज को अधिकाधिक लाभ पहुँचे।

राजस्व

विभागों का पारस्परिक सम्बन्ध

अर्थशास्त्र के उपर्युक्त विभाग प्राकृतिक पदार्थों की भाँति निरपेक्ष नहीं हैं। वे एक दूसरे पर आश्रित हैं, अर्थात् इनमें पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की तालिका निम्नलिखित विधि से समझनी चाहिए :—

(१) उपभोग और उत्पत्ति—उपभोग उत्पत्ति का मूल कारण है, अर्थात् बिना उपभोग के उत्पत्ति सम्भव ही नहीं। उपभोग उत्पत्ति का स्वभाव निर्धारित करता है। उदाहरणार्थ, बुशशर्ट के लिए विभिन्न प्रकार के कपड़ों की खपत अधिक है तो इनके उत्पादन में भी वृद्धि होगी, इसी प्रकार उपभोग भी उत्पत्ति पर निर्भर है जिन वस्तुओं का उत्पादन होता है केवल वे ही उपभोग में लाई जा सकती हैं। वनस्पति घी के उत्पादन किये जाने पर परिमित आय वाले गृहपति ही नहीं, सेठ साहूकार भी प्रचुर मात्रा में इसका प्रयोग करने लगे हैं। उत्पत्ति की मात्रा पर उपभोग की न्यूनाधिकता निर्भर है। विगत विश्वव्यापी युद्ध के बाद ऊन का उत्पादन कम हो गया, अतः सर्व-साधारण ऊनी कोट, पेंट नहीं पहन पाते। यदि उत्पत्ति नहीं हो तो उपभोग भी नहीं।

वह मुर्शिदाबादी रेशम की कोमल साड़ियाँ, जिनके निर्माण कौशल पर औरंगजेब बादशाह भी मुग्ध होता था और जो प्रचुर मात्रा में राजघराने की स्त्रियों का मनोनीत अलंकार वस्त्र माना जाता था, अब देखने को भी नहीं मिलती। अस्तु, उपभोग और उत्पत्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(२) उपभोग और विनिमय—आजकल उपभोग के बिना विनिमय सम्भव नहीं। यदि मनुष्य किसी वस्तु का उपभोग करना छोड़ दे या सर्वथा स्वावलम्बी हो जाय तो विनिमय का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरी ओर देखते हैं तो यह प्रकट होता है कि उपभोग स्वयं विनिमय पर अवलम्बित है। किसान अन्न, चारा, तिल, कपास आदि वस्तुएँ पैदा करता है, जुलाहा आवश्यकीय वस्त्र बुनता है, कुम्हार उपभोग के साधन मिट्टी के बर्तन, खिलौने बनाता है, वह ईंटें भी बनाता है जिनसे भवन, प्रासाद तथा अट्टालिकाएँ बनाई जाती हैं, वैद्य विविध प्रकार की जड़ी-बूटियाँ संचय कर शारीरिक व्याधियों का दमन करने के लिये सुन्दर औषधियाँ बनाता है। अब किसान, जुलाहा, कुम्हार और वैद्य आदि यदि स्वोत्पादित वस्तुओं पर ही निर्भर रहें तो उनका सामाजिक जीवन चल ही नहीं सकता। अतः लोकयात्रा का समुचित निर्वाह करने के लिए वे परस्पर अपनी-अपनी वस्तुओं का विनिमय करते हैं। हमारी आवश्यकताएँ इतनी बढ़ गई हैं कि अब यह सम्भव नहीं है कि अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ स्वयं उत्पन्न करें। हम उनमें से केवल कुछ ही वस्तुओं के उत्पादन में अपना समय और शक्ति लगा सकते हैं। अपनी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमें दूसरों के द्वारा उत्पादित वस्तुओं का प्रयोग करना पड़ेगा। यह कार्य विनिमय द्वारा ही सम्भव हो सकता है। अस्तु, यह सिद्ध है कि वर्तमान काल में उपभोग के लिए विनिमय कितना आवश्यक है।

(३) उपभोग और वितरण—वर्तमान धनोत्पत्ति व्यक्तिगत न होकर सामूहिक रूप से होने के कारण वितरण समस्या प्रस्तुत होती है। समूह के प्रत्येक व्यक्ति की अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने देने के पूर्व उत्पादित धन राशि का उनके मध्य वितरण होना आवश्यक है, अन्यथा उपभोग बिल्कुल सम्भव नहीं होगा। अतः यह स्पष्ट है कि उपभोग के लिए वितरण आवश्यक है। इसके अतिरिक्त वितरण का स्वभाव तथा मात्रा उपभोग को निर्धारित करते हैं। जिस देश में धन का वितरण उपयुक्त रूप में है तो निःसन्देह उस देश का उपभोग भी उसके उच्च जीवन स्तर का द्योतक होगा। इसी प्रकार वितरण भी उपभोग से प्रभावित है। यदि उपभोक्ताओं की सब आवश्यकताएँ यथाविधि पूर्ण होती हों तो निश्चय रूप से सामूहिक उत्पादन में भाग लेने वाले व्यक्ति अधिक कुशलता के साथ कार्य करने में समर्थ हो जाने के कारण अधिक धन उत्पत्ति करेंगे और वितरण में भी धन अधिक प्राप्त करेंगे।

(४) उपभोग और राजस्व—सामाजिक समृद्धि का मापदण्ड ऊँचा करने के उद्देश्य से सरकार प्रायः उपभोग के क्षेत्र में पर्याप्त हस्तक्षेप करती देखी गई है। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनके उपभोग का मनुष्यों की कार्यकुशलता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। सरकार उनके उपभोग पर प्रतिबन्ध लगाती है। चरस, गाँजा, अफीम और मद्य आदि मादक वस्तुओं पर प्रतिबन्ध उसका उज्ज्वल उदाहरण है। इसीलिए इस प्रकार की निषिद्ध वस्तुओं पर सरकार भारी कर आदि लगाकर उनके उपभोग को नियन्त्रित करती है। दूसरी ओर उपभोग का भी राजस्व पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। यदि लोग ऐसी वस्तुओं का उपभोग त्याग दें तो सरकार की आय में बड़ी क्षति

पहुँचेगी, क्योंकि यह सरकार की आय का मुख्य साधन है। आय मे न्यूनता हो जाने के कारण सरकार अपने उचित कार्यों का संपादन करने में असमर्थ सिद्ध होगी।

(५) उत्पत्ति और विनिमय—विनिमय के अभाव मे उत्पादन अपूर्ण समझा जायगा। उत्पादित वस्तुएँ उपभोक्ताओं के हाथों मे पहुँचनी चाहिये और यह विनिमय के द्वारा ही सम्भव है। वस्तुओं का क्रय विक्रय और मंडियो का अस्तित्व उत्पादन कार्य की वृद्धि करते है। अस्तु, उत्पत्ति विनिमय से सबद्ध है। इसी प्रकार विनिमय का भी उत्पत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अर्थात् यदि वस्तुओं का उत्पादन ही नही, तो विनिमय का प्रश्न ही नहीं उठता।

(६) उत्पत्ति और वितरण—उत्पत्ति का प्रभाव वितरण पर पर्याप्त पड़ता है। यदि उत्पत्ति न हो तो वितरण भी न होगा जितनी न्यूनाधिक उत्पत्ति होगी, उतना ही अधिक या कम वितरण हो सकेगा। दूसरी ओर वितरण और उत्पत्ति मे भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि वितरण का ढग उचित और न्याय सगत है तो उत्पत्ति मे वृद्धि होना स्वाभाविक है, क्योंकि ऐसा होने से उत्पादकों को सम्पूर्ण शक्ति और मन लगाकर कार्य करने का प्रोत्साहन मिलेगा। परन्तु यदि वितरण का ढग ठीक नही है तो इसका प्रभाव उत्पत्ति पर विपरीत पड़गा जिसके कारण उत्पत्ति म न्यूनता होने लगेगी और उत्पादक सस्था की आर्थिक दशा शोचनीय अवस्था पर पहुँच जायगी।

(७) उत्पत्ति और राजस्व—उत्पत्ति का राजस्व पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। सरकार की आय देश निवासियों की आय अथवा आर्थिक सपन्नता पर निर्भर है। आर्थिक सम्पन्नता वहाँ की उत्पत्ति पर निर्भर है। यदि धनोत्पादन उचित रूप से हो रहा है, तो वहाँ के निवासी धनी होगे और इसके फल-स्वरूप उस देश की सरकार की भी आर्थिक परिस्थिति सुसम्पन्न होगी। इसके विपरीत धनोत्पादक कम होने पर सरकार की आय पर विपरीत प्रभाव पडना स्वाभाविक है। राजस्व का भी उत्पत्ति पर प्रभाव पड़ता है। यदि देश मे शान्ति और सुव्यवस्था है तो लोग धन का सदुपयोग करते हुए अच्छी मात्रा मे अपनी पूँजी बचा सकेगे और बड़े उत्साह के साथ उत्पादन के कार्य मे सलग्न रहेंगे जिससे देश की उत्पत्ति मे वृद्धि होगी। देश मे शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करना अथवा दूसरे शब्दों मे लोगो की सम्पत्ति और जीवन रक्षा का भार सरकार पर ही है।

(८) विनिमय और वितरण—विनिमय वितरण का सहायक है। आजकल सामूहिक उत्पादन मे मनुष्य अपना भाग मुद्रा के रूप मे प्राप्त करता है और इस मुद्रा से विविध वस्तुओं को खरीद कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। यह विनिमय द्वारा ही सम्भव हो सकता है। विनिमय स्वय वितरण से प्रभावित होता है। यदि वितरण की मात्रा अधिक हो तो प्रति व्यक्ति की आय भी अधिक होगी, और लोग अधिक वस्तुओं का क्रय करेंगे जिससे विनिमय अधिक होगा।

(९) विनिमय और राजस्व—विनिमय सम्बन्धी सभी कार्यों का कुशलता-पूर्वक संचालन सरकार द्वारा बनाये हुए कानून और उसकी शासन-व्यवस्था पर निर्भर है। धातुज एव पत्र मुद्रा का प्रचलन, बैंकिंग प्रणाली एव वस्तुओं की प्रामाणिकता तथा उनका वर्गीकरण आदि बातो की सरकार द्वारा देख-रेख से देश की आर्थिक उन्नति मे बड़ी सहायता मिलती है। यदि सरकार इन महत्वपूर्ण बातो की उपेक्षा करे तो विनिमय-प्रणाली पर बुरा प्रभाव पड़गा। वह भी इस उपेक्षा से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों से किसी प्रकार मुक्ति नही पा सकती।

(१०) वितरण और राजस्व—इन दोनों का भी निकट सम्बन्ध है। वितरण का कार्य स्वयं सरकार लेकर देश में वितरण की विषमता को दूर कर सकती है। साम्यवादी देशों (Communistic Countries) में तो वितरण की विषमता लुप्त सी हो गई है, क्योंकि सरकार स्वयं उत्पादित धन लोगों में बाँट देती है। अन्य देशों में सरकार अपनी नीति द्वारा इस विषमता को दूर करने का प्रयत्न करती है। उदाहरणार्थ, धनाढ्यों के धन तथा सुख और विलास की वस्तुओं पर भारी कर लगा और श्रमिकों के लिए न्यूनतम भृति (Minimum Wages) निर्धारित कर तथा सामाजिक बीमा (Social Insurance) की प्रथा को लागू कर सरकार धन-वितरण की समस्या को दूर करने का प्रयत्न करती है।

अर्थशास्त्र के विभिन्न विभाग

निष्कर्ष—यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन की सुविधा के लिये ही इसे उपर्युक्त विभागों में विभक्त किया गया है। ये सब भाग एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इनमें से कोई भी भाग ऐसा नहीं है जो दूसरों से निरपेक्ष या स्वतन्त्र हो। एक भाग के अध्ययन की पूर्णता दूसरे भाग के विस्तृत अध्ययन पर ही निर्भर रहेगी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—अर्थशास्त्र क्या है ? इसके मुख्य विभाग कौन-से हैं और इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है ?　　(सागर प्रिपेरैटरी १९५६, नागपुर १९५३, सागर १९५६)

२—अर्थशास्त्र को कितने भागों में बाँटा जाता है और वे एक-दूसरे से किस प्रकार सम्बन्धित हैं ? समझाइए।　　(उ० प्र० १९६०,५३, ५०, ७, ४०, ३४; रा० बो० १९५३, ४६, म० भा० १९५१, म० भा० १९५१)

३—अर्थशास्त्र के मुख्य विभागों की व्याख्या कीजिए (अ) उत्पत्ति और उपभोग (आ) विनिमय और वितरण का पारस्परिक सम्बन्ध समझाइए।　　(उ० प्र० १९५७, ५३, अ० बो० १९५६, ४७, ४५)

४—धन के उपभोग उत्पत्ति तथा वितरण के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए। क्या अकेले धन के उचित वितरण से देश की निर्धनता का हल हो सकता है ?　　(पंजाब, १९४६)

अध्याय ५

अर्थशास्त्र का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध
(Relation of Economics with other Sciences)

अर्थशास्त्र पर अन्य शास्त्रों का प्रभाव

अर्थशास्त्र का अस्तित्व पृथक होते हुए भी अन्य शास्त्रों से पूर्ण प्रभावित है। पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है, जिसमें मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन समाज के एक सदस्य के रूप में किया जाता है। समाज में मनुष्य अनेक बातों से प्रभावित होता है और आर्थिक क्रियाएँ उनमें से एक पहलू है। समस्त सामाजिक शास्त्रों में 'मनुष्य' ही अध्ययन का लक्ष्य है, यद्यपि उससे सम्बद्ध क्रियाएँ प्रत्येक शास्त्र में भिन्न भिन्न होती है। अतः सब सामाजिक शास्त्र एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जैसे अर्थशास्त्र में धन के वितरण पर विचार करते हुए नीतिशास्त्र का प्रभाव देखा जाता है कि देश में धन का वितरण ठीक है या नहीं। यदि ठीक नहीं, तो कैसा होना चाहिए। अतः यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का अन्य शास्त्रों से निकटतम सम्बन्ध रहा है, और यह इसके विकास और उन्नति में सहायक सिद्ध हुए है। इसका भौतिक विज्ञानों की अपेक्षा सामाजिक विज्ञानों से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि इनमें भी अर्थशास्त्र की भाँति 'मनुष्य' ही अध्ययन का विषय है।

अर्थशास्त्र एक पृथक् शास्त्र है—यद्यपि अर्थशास्त्र अन्य शास्त्रों से पूर्ण प्रभावित है, तथापि यह इनसे पृथक् अपना अस्तित्व रखता है। यह सामाजिक विज्ञान होते हुए भी मनुष्य के केवल एक अंग का (आर्थिक क्रियाओं का ही) अध्ययन करता है। अतः इसका विवेचनीय विषय तथा क्षेत्र सर्वथा भिन्न है। फिर भी यह अन्य शास्त्रों से किसी न किसी रूप में प्रभावित एवं सम्बन्धित है।

विज्ञानों के प्रकार (Kinds of Sciences)—विज्ञानों को दो बड़े भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

[१] **भौतिक विज्ञान (Physical Sciences)**—भौतिक वस्तु क्या है? कहाँ उपलब्ध होती है? क्या वे उत्पन्न होती है या व्यक्त होती है? वे कितने प्रकार की होती है? उनके गुण, कार्य और स्वभाव क्या हैं? उनका स्वजाती और विजातीय वस्तुओं पर कैसा प्रभाव पड़ता है—आदि विषयों का अध्ययन करने वाला भौतिक विज्ञान कहलाता है। भौतिक शास्त्र (Physics), रसायन शास्त्र (Chemistry), जीवशास्त्र (Biology), प्राणिशास्त्र (Zoology), वनस्पति विज्ञान (Botany), भूगर्भ शास्त्र (Geology), खगोल शास्त्र (Astronomy), भूगोल (Geography), गणित (Mathematics), अंकशास्त्र (Statistics), आदि भौतिक विज्ञान कहे जाते हैं।

[२] मानव विज्ञान (Human Sciences)—मनुष्य क्या है, शरीर, इन्द्रिय और मन क्या है ? इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? इनकी विविध क्रियाएँ एक दूसरे पर क्या प्रभाव डालती हैं ? मनुष्य का व्यष्टि और समष्टि में क्या महत्व है ? आदि-आदि बातों का विवेचन करने वाला 'मानव-विज्ञान' है।

(अ) व्यक्तिगत विज्ञान (Individual Sciences)—ये हैं जो मनुष्य का अध्ययन व्यक्तिगत रूप में करते हैं, जैसे—मनोविज्ञान (Psychology) और शारीरिक विज्ञान (Physiology) आदि।

(ब) सामाजिक विज्ञान (Social Sciences)—वे विज्ञान, जो मनुष्य का अध्ययन समाज के एक सदस्य के रूप में कराते हैं, 'सामाजिक विज्ञान' हैं, जैसे—अर्थशास्त्र (Economics), नीतिशास्त्र (Ethics), राजनीति-शास्त्र (Politics), न्यायशास्त्र (Jurisprudence or Law) और इतिहास (History) इत्यादि।

उपर्युक्त विज्ञानों के भेद निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा भली-भाँति व्यक्त किए गए हैं :—

विज्ञान (Science)

भौतिक-विज्ञान (Physical Sciences) मानव-विज्ञान (Human Sciences)

भौतिक शास्त्र, रसायनशास्त्र, जीवशास्त्र, प्राणिशास्त्र, वनस्पति विज्ञान, भूगर्भशास्त्र
(Physics) (Chemistry) (Biology) (Zoology) (Botany) (Geology)

व्यक्तिगत विज्ञान (Individual Sciences) सामाजिक शास्त्र (Social Sciences)

मनोविज्ञान (Psychology) शारीरिक विज्ञान (Physiology)

अर्थशास्त्र नीति शास्त्र राजनीति शास्त्र न्याय शास्त्र इतिहास
(Economics) (Ethics) (Politics) (Jurisprudence or Law) (History)

अर्थशास्त्र और अन्य सामाजिक शास्त्र—अर्थशास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों से अधिक निकट या घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण सर्वप्रथम इन्हीं का उल्लेख करना उचित है।

अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र (Sociology) का सम्बन्ध—समाजशास्त्र वह विज्ञान है, जो मनुष्यों के सामाजिक कार्यों के सब पहलुओं का विवेचन करता है, अर्थात् समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य जो भी कार्य करता है उन सबका समावेश समाजशास्त्र में होता है। अर्थशास्त्र में हम मनुष्य के सामाजिक कार्यों के एक विशेष पहलू (आर्थिक क्रियाओं) पर विचार करते हैं। इसके अतिरिक्त, दोनों का लक्ष्य 'मनुष्य' है। अस्तु, अर्थशास्त्र समाजशास्त्र का एक अंग-सा है।

प्रो० कॉम्टे (Comte) कहते हैं—'अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान का जो मानव समाज और उसके सम्बन्धी का साधारण विज्ञान है एक अंग है।' यद्यपि समस्त सामाजिक विषय परस्पर सम्बद्ध हैं, तथापि अर्थशास्त्र को सामाजिक विज्ञान की एक शाखा कहना वाञ्छनीय नहीं, क्योंकि केवल एक विज्ञान समस्त मानव जगत् के सामाजिक कार्यों का विश्लेषण पूर्वक यथार्थ विवेचन नहीं कर सकता। अर्थशास्त्र को एक पृथक् ही विज्ञान मानना उत्तम है। हां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि अर्थशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों में कुछ सम्बन्ध अवश्य है। समाजशास्त्र सब सामाजिक विज्ञानों (अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र नीतिशास्त्र आदि) का जनक है। इतिहास भी इसका एक अंग माना जाता है। समाजशास्त्र के ये विविध अंग निम्नांकित पटल पर समझे जा सकते हैं —

समाजशास्त्र (Sociology)

अर्थशास्त्र, (Economics)	राजनीतिशास्त्र, (Politics)	नीतिशास्त्र, (Ethics)	न्यायशास्त्र, (Jurisprudence or Law)	इतिहास (H
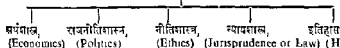
अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र (Politics)—ये दोनों सामाजिक विज्ञान हैं, अतः इन दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। मनुष्य का राज्य के साथ जो सम्बन्ध रहता है उसका अध्ययन राजनीति शास्त्र में किया जाता है। अर्थशास्त्र में मनुष्य के धनोत्पादन एवं धनोपभोग सम्बन्धी क्रियाओं का विवेचन होता है। दोनों का विवेचनीय विषय 'मनुष्य' है। केवल यही अन्तर है कि उसकी राज्य सम्बन्धी क्रियाओं का वर्णन राजनीति शास्त्र में किया जाता है और उसकी आर्थिक क्रियाओं का विवेचन अर्थशास्त्र के अन्तर्गत होता है। राजनीति का अर्थशास्त्र पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। सम्पत्ति का उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण और वाणिज्य व्यवसाय आदि सभी कार्य राज्य-शासन की नीति-रीति पर बहुत कुछ निर्भर रहते हैं। यदि उत्तम राज्य व्यवस्था के कारण राज्य में शान्ति और सुरक्षा है, तो आर्थिक जीवन की बड़ी उन्नति होगी। आर्थिक स्थिति का भी शासन व्यवस्था पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। राज्य की शक्ति और कार्य कुशलता उसकी आय पर निर्भर है और आय देश की आर्थिक दशा पर निर्भर है। कोई राज्य बिना प्रचुर आर्थिक बल के उन्नति नहीं कर सकता।

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र (Ethics)—इन शास्त्रों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में एक विस्तृत विवाद और विषमता अभी तक बनी हुई थी। कुछ लोगों का मत है—'अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है, और नीति शास्त्र अन्तःकरण का विज्ञान है', अतः शास्त्रविक विरोध (Natural Antipathy) है। रस्किन (Ruskin) ने तो इसे बहुधा दूषित शब्दों में पुकारा है। वह कभी कहता है—'यह अन्धकारमय अवैध विज्ञान है।' (Bastard Service of Darkness)। कभी कहता है कि यह 'अवगुणों का न कि धन का पुतला है' (Dismal science of illth rather than wealth)। यह बाग्बाण कदाचित् उस स्वार्थपरायण सामन्तशाही भावना के युग में उचित ही प्रतीत हुआ, क्योंकि उस समय के शासक पूँजीपतियों के कार्यों, व्यवहारों तथा विनियोगों में कुछ हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। पर १८ वीं शताब्दी में जब उद्योग विधान (Factory Law) का निर्माण हुआ, ऐसी दुर्भावनाओं का अन्त हो गया है। रस्किन का आक्षेप भी अनुचित विधि से प्राप्त धन को लक्ष्य कर ही उठा होगा। हम प्रथम ही बता चुके हैं कि अर्थशास्त्र 'धन की तृष्णा' को अपना लक्ष्य नहीं बनाता। वह तो केवल

यही कहता है कि किस प्रकार मनुष्य धनेच्छा से प्रभावित होता है और किस प्रकार जीवन के आवश्यक साधनों का संग्रह करने में प्रवृत्त रहता है। अर्थशास्त्र को हम 'अचारानपेक्ष' (Unmoral) तो कहते है पर 'कदाचारात्मक' (Immoral) नही।

यह सत्य है कि दोनों विज्ञानों मे एक समन्वय या मैत्री भावना देखी जाती है। अनिवार्य रूप से समाज का हितचिन्तन करने के कारण हम दोनो विज्ञानो को कृष्णार्जुन साहचर्य की भाँति सबद्ध रखना चाहते हैं, किसी का किसी से विच्छेद न हो यह सभी अर्थशास्त्रियो का अभीष्ट है। 'जो अर्थशास्त्र की दृष्टि से लाभकर है, वह कालान्तर मे नैतिक औचित्य है—और—जो नैतिक दृष्टि से सुस्थिर सत्य है, वह व्यवसायिक जगत् के लिए भी कालान्तर मे लाभकर है।'[1]

इस प्रकार 'सरल जीवन मे प्रभु-वास है' (Honesty is the best policy) यह आदर्श जिस प्रकार व्यवसायिक जगत् के लिए मान्य है वैसे ही नैतिक जगत के लिए भी।

इतना होने पर भी दोनो विज्ञानों को हम सर्वथा सम्बद्ध नही कहेगे, क्योंकि नैतिक शास्त्र 'विज्ञान' और 'कला' दोनो है। इसका प्रधान कार्य है 'नैतिक आदर्शों के नियमों का अनुसधान करना और चरित्र शुद्धि की विधि अथवा नियम आदि का निर्माण करना।' अत यह स्पष्ट है कि नीतिविज्ञान का क्षेत्र अधिक व्यापक है।[2] दोनों विज्ञानो मे एक अन्तर और है - अर्थशास्त्र यथार्थ विज्ञान है जो आर्थिक साधना, तत्वो, वातावरणों और समस्याओं को, वे जिस रूप मे हैं, समझाता है, परन्तु उनके औचित्य तथा अनौचित्य का विवेक साक्षात् नीतिशास्त्र की भाँति नहीं करता।

अर्थशास्त्र मनुष्य की धन सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन है। नीतिशास्त्र हमारे सामने आदर्श प्रस्तुत करता है, यह इस बात का विवेचन करता है कि कौनसा साधन वाछनीय है और कौनसा अवाछनीय, मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नही। कुछ लोगों मे भ्रमात्मक विचार फैला हुआ है कि ये दोनों शास्त्र एक दूसरे के विरोधी है। किन्तु ऐसा नही। यद्यपि अर्थशास्त्र मे अधिकाश वास्तविक स्थिति का विचार होता है और नीतिशास्त्र का सम्बन्ध आदर्श व्यवहार से है, तथापि दोनों विज्ञानों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अर्थशास्त्र मे आर्थिक समस्या के नैतिक पहलू पर विचार किया जाता है और नीतिशास्त्र मे आर्थिक समस्या के पहलू पर ध्यान देना होता है। उदाहरण के लिए वास्तविक विज्ञान के रूप मे लगान भृति (Wages), ब्याज और मूल्य-निर्धारण आदि के नियमो का इसमे विवेचन करना पडता है। और आदर्श विज्ञान के रूप मे उचित लगान, भृति (मजदूरी), ब्याज, मूल्य आदि आर्थिक समस्याओं को निर्धारित करने समय नीतिशास्त्र द्वारा बताए गए आदर्शों को सामने रखना पडता है। इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र कला के रूप मे आर्थिक साधन जुटाने के कार्यों को सम्पन्न करते हुए नैतिक आदर्शों की उपेक्षा नही कर सकता। इसी उद्देश्य की पूर्ति के हेतु प्रान्तीय सरकार मद्यनिषेध नीति को कार्यान्वित कर रही है तथा भारत सरकार ने भी अफीम के उत्पादन को अत्यन्त सीमित तथा नियन्त्रित कर दिया है। वास्तव मे, मनुष्य की आर्थिक स्थिति का बहुत कुछ प्रभाव उसकी आचार नीति पर पडता है। यह बात एक साधारण उदाहरण से समझी जा सकती है। पर्वतीय प्रदेश के निवासियो के लिये मांस भक्षण उचित ही नही आवश्यक समझा जाता है।

1—Seligman—Principles of Economics P 35
2—Economics and Ethics P 10, by Sir John Marrot.

किन्तु समतल उर्वरा भूमि के अधिकांश निवासी, जो खेती से भली प्रकार जीवन निर्वाह कर सकते है, मांस भक्षण नीति-विरुद्ध समझते हैं।

अर्थशास्त्र और न्यायशास्त्र (Jurisprudence)—अर्थशास्त्र मे मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन होता है। न्यायशास्त्र में मनुष्य की विधान सम्बन्धी क्रियाओं पर विचार किया जाता है। न्यायशास्त्र यह बतलाता है कि मनुष्य क्या करे और क्या नहीं करे। यदि देश में कानून का पालन होता है तो अवश्य शान्ति और सुव्यवस्था प्रचलित होगी और देशवासियों का आर्थिक जीवन प्रगतिशील होगा, अन्यथा इसके विपरीत परिस्थिति होगी। नि सन्देह किसी देश के कानूनों का वहाँ के आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है, जैसे इंग्लैंड मे ज्येष्ठाधिकार के कानून के फलस्वरूप बड़-बड़े खेत हैं, परन्तु इसके विपरीत भारतवर्ष मे समानाधिकार के कारण छोटे छोटे खेत (Small Holdings) है जो आर्थिक उन्नति के अवरोधक है। आर्थिक परिस्थितियों का कानून पर भी प्रभाव पड़ता है। देश के आर्थिक विकास के साथ-साथ देश मे प्रचलित कानूनों मे भी परिवर्त्तन तथा संशोधन होते रहते है, जैसे भारतवर्ष मे औद्योगीकरण के फलस्वरूप वर्तमान फैक्ट्री मे अनेक संशोधन हो गए है। इसी प्रकार वाणिज्य व्यवसाय की उन्नति के साथ साथ बैंकों ने बड़ी उन्नति की जिसका फल यह हुआ कि अब बैंकिंग कानून एक पृथक विधान बन गया है।

अर्थशास्त्र और इतिहास (History)—अर्थशास्त्र और इतिहास में घनिष्ठ सम्बन्ध है। अर्थशास्त्र के अध्ययन मे ऐतिहासिक घटनाओं को समझने मे बड़ी सहायता मिलती है, क्योंकि समाज का विकास और उसकी व्यवस्था बहुत कुछ आर्थिक कारणों पर अवलम्बित है। इसी प्रकार इतिहास के अध्ययन से भी अर्थशास्त्र के अध्ययन मे बड़ी सहायता मिलती है। कृषि, औद्योगिक, राजकोषीय, करेंसी तथा यातायात सम्बन्धी समस्याओं का हल निकालने के लिए भारतीय इतिहास से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का विवरण और पुष्टीकरण आर्थिक इतिहास द्वारा किया जाता है। कई आर्थिक सिद्धान्त केवल इसी आधार पर रद्द कर दिए गए है जो ऐतिहासिक दृष्टि से प्रतिकूल सिद्ध हुए है। इसी आधार पर माल्थस के जनसंख्या के सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की गई है।

अर्थशास्त्र वेत्ताओं ने इतिहास को इतना महत्व दिया है कि उन्होंने आर्थिक इतिहास को दो शाखाओं मे विभक्त कर इसका अध्ययन करना लाभकारी समझा है। वे निम्नलिखित है :—

(१) आर्थिक विकास का इतिहास अर्थात् आर्थिक इतिहास (२) आर्थिक विचारों का इतिहास अर्थात् आर्थिक सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव तथा विकास।

आर्थिक इतिहास—यहाँ हमको ज्ञात होता है कि समय-समय पर देश मे आर्थिक घटनाचक्र किस प्रकार चला और इसका क्या परिणाम रहा। उदाहरण के लिए, देश मे दुर्भिक्ष और व्यापारिक उतार-चढ़ाव आदि कब-कब और क्यों आए और उन्हें दूर करने के लिए किन उपायों को प्रयुक्त किया गया था तथा राज्य की व्यापार नीति और मुद्रा नीति क्या थी इत्यादि। यह सामग्री अर्थशास्त्र मे दुर्भिक्ष, व्यापार, मुद्रा नीति आदि समस्याओं पर विवेचन करने मे बड़ी सहायक सिद्ध होती है। इन्हीं ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर अर्थशास्त्र मे नवीन सिद्धान्तों को जन्म मिलता है तथा प्रचलित सिद्धान्तों की आलोचना, संशोधन या पुष्टि की जाती है।

आर्थिक विचारों का इतिहास—इसका भी अर्थशास्त्र में बड़ा महत्व है। वर्तमान प्रचलित अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को भली प्रकार समझने के लिये उनके जन्म और विकास के ज्ञान से पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ, लगान (Rent) के सिद्धान्त का जन्मदाता डेविड रिकार्डो था, जिसने अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लगान का सिद्धान्त प्रथम बार प्रस्तुत किया। इसके पश्चात् इसमें कई परिवर्तन होते रहे। यह ज्ञान हम भूतकाल की त्रुटियों से भी सतर्क एवं सचेष्ट करता है, और भविष्य के लिए उन्नति के पथ पर आरूढ़ करता है। इससे हमको सापेक्षिकता के सिद्धान्त का ज्ञान होता है।

सर जान सीले (Sir John Seeley) के अनुसार—

"Economics without Economic History has no root
Economic History without Economics has no fruit."

अर्थशास्त्र का मूल है अर्थशास्त्र इतिहास।
अर्थशास्त्र फल के बिना व्यर्थ-अर्थ इतिहास॥

अर्थशास्त्र और व्यक्तिगत विज्ञान—अर्थशास्त्र न केवल सामाजिक शास्त्रों से ही सम्बन्धित है अपितु व्यक्तिगत मानव विज्ञानों से भी। व्यक्तिगत विज्ञानों में मनोविज्ञान प्रमुख है जिसका वर्णन यहाँ किया जाता है :—

अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान (Psychology)—मनुष्य की अभिलाषाएँ, प्रयत्न और सन्तोष—ये कतिपय मौलिक तत्व दोनों में समान रूप से पाए जाते हैं। आजकल औद्योगिक मनोविज्ञान तो इन तत्वों के अधिकाधिक गम्भीर सम्बन्ध पर आश्रित होता जा रहा है। जिस प्रकार अर्थशास्त्र मनुष्य की अर्थ सम्बन्धी क्रियाओं का विवेचन है, उसी प्रकार मनोविज्ञान उसकी मानसिक अवस्थाओं का अध्ययन है। अर्थशास्त्र सम्पूर्ण मानवीय आवश्यकताओं और उनकी तृप्ति पर आश्रित है और इन तत्वों का मानसिक प्रवृत्तियों से समान सम्बन्ध है। उदाहरण के लिये, सीमान्त उपयोगिता-ह्रास-नियम, माँग का नियम, पूर्ति का नियम, व्यापार के उतार चढ़ाव के नियम आदि मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर अवलम्बित हैं। इसी प्रकार श्रमिक की थकावट विरसता, उदासीनता, विश्राम, मनोरंजन की आवश्यकता आदि समस्याओं के समझने में मनोविज्ञान से पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है।

अर्थशास्त्र और भौतिक विज्ञान—अर्थशास्त्र का भौतिक विज्ञानों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अर्थशास्त्र में जब कृषि खनिज तथा उद्योग सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया जाता है, तो भौतिक (Physics), रसायन (Chemistry), भूगर्भ (Geology), और जीव शास्त्र (Biology) आदि शास्त्रों से बड़ी सहायता मिलती है। अर्थशास्त्र के कई सिद्धान्त भौतिक रसायन एवं भूगर्भ शास्त्रों पर अवलम्बित हैं। उदाहरणार्थ, क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) कृषि रसायन शास्त्र से विशेष सम्बन्धित है। इसी प्रकार रसायनशास्त्र के मतानुसार पदार्थ नाशवान् नहीं है केवल रूपान्तर होता रहता है। इसी के आधार पर अर्थशास्त्र में उत्पत्ति को उपयोगिता उत्पन्न करना और उपभोग को उपयोगिता का विनाश कह कर परिभाषित किया है क्योंकि इस संसार में न तो कोई नवीन वस्तु बन सकती है और न नष्ट ही हो सकती है केवल उपयोगिता का परिवर्तन होता रहता है।

नासतो विद्यते भावो न भावो विद्यते सतः[1] (अभाव का कभी भाव नहीं होता और विद्यमान वस्तु का कभी अभाव नहीं होता)—श्री भगवद्गीता के

१—श्री भगवद्गीता अध्याय २, श्लोक ११

इस कथन की सत्यता आर्थिक दृष्टि से भी सिद्ध होती है। इसी प्रकार ज्योतिष द्वारा व्यापारिक चक्रों (Trade cycles) तथा आर्थिक संकटों पर प्रकाश डाला जा सकता है। जेवन्स का 'सूर्य के धब्बे का सिद्धान्त' जैसे तात्विक नियमों के बनाने में खगोल शास्त्र (Astronomy) से अपूर्व सहायता प्राप्त हुई है।

इस प्रकार संक्षेप में अर्थशास्त्र और विभिन्न भौतिक शास्त्रों का सम्बन्ध जान लेने पर यह भी समझ लेना चाहिए कि कुछ भौतिक शास्त्रों का अर्थशास्त्र से सम्बन्ध अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ है, इसका विवेचन किया जाता है।

अर्थशास्त्र और भौतिक शास्त्र (Physics)—आधुनिक आविष्कार जैसे रेडियो, टेलिविजन, तार, टेलीफोन, मोटर, रेल, वायुयान, भाप और तेल के एंजिन और विद्युत से चलने वाले यन्त्र आदि की उत्पत्ति, विकास, उपयोगिता आदि महत्व पूर्ण तथ्यों की विवेचना पूर्ण चर्चा भौतिकशास्त्र में होती है। इनके तथ्यों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के कारण आर्थिक क्षेत्र में आशातीत उन्नति हुई है। अतः अर्थशास्त्र और भौतिक शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध कोई रहस्यमय बात नहीं है।

अर्थशास्त्र और रसायन शास्त्र (Chemistry)—रसायनशास्त्र की उन्नति ने अनेक उद्योगों तथा व्यवसायों को उन्नत कर मानवसुख की वृद्धि की है, यह बात निर्विवाद है। प्रत्येक उद्योग-धन्धे में इसकी अनिवार्य आवश्यकता अनुभूत होती है। कपड़ा चीनी शक्कर, रबर, तेल-साबुन, गोला-बारूद आदि उद्योग-धन्धे इसी के आधार पर स्थिर हैं। अस्तु, रसायन शास्त्र आर्थिक जीवन का एक प्रकार से आधारभूत है।

अर्थशास्त्र और जीवशास्त्र (Biology) तथा वनस्पतिशास्त्र (Botany)—जीवशास्त्र और वनस्पतिशास्त्र से अर्थशास्त्र बड़ा प्रभावित है, अर्थात् मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ वनस्पति एवं पशु संसार से पूर्ण की जाती हैं। अनेक उद्योग-धन्धों को क्रियाशील रखने के लिए खाद्य तथा अखाद्य वनस्पति परम आवश्यक है। गेहूँ आदि की खेती में पौधा के रोगों की चिकित्सा तथा पशु-चिकित्सा आदि महत्वपूर्ण चर्चाएँ इसी शास्त्र में की जाती है।

अर्थशास्त्र और भूगोल (Geography)—अर्थशास्त्र मनुष्य के धनोपार्जन तथा धनोपभोग सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन है। भूगोल में मनुष्य और उसके वातावरण का विवेचन किया जाता है। देश की स्थिति, नदी-पहाड़, समतल भूमि, जलवायु और वनस्पति तथा मनुष्यों का आर्थिक जीवन आदि बातों पर भूगोल स्पष्ट प्रकाश डालता है। किसी देश की बनावट, समुद्र-तट, जलवायु, वनस्पति, खनिज पदार्थ और प्राकृतिक शक्तियों का वहाँ के निवासियों के आर्थिक जीवन पर पूरा प्रभाव पड़ता है। पर्वतीय भागों में जहाँ किसी प्रकार की खेती सम्भव नहीं, भेड़ बकरी पालना ही जीविकोपार्जन का मुख्य साधन होगा। यह स्पष्ट है कि किसी देश के निवासियों की सम्पूर्ण आर्थिक क्रियाएँ भौगोलिक वातावरण से नियन्त्रित होती है। इसी कारण अर्थिक भूगोल अर्थशास्त्र का एक विभिन्न अङ्ग है। इसके बिना इसका अध्ययन प्रायः अपूर्ण सा समझा जायगा।

अर्थशास्त्र और गणित (Mathematics)—कई वर्षों के विवाद के पश्चात् अर्थशास्त्र ने गणित की उपयोगिता स्वीकार कर ली है। जेवन्स ने तो यहाँ तक घोषित कर दिया था कि अर्थशास्त्र को यदि विज्ञान की कोटि में रखना है तो इस शास्त्र का गणितात्मक होना परम आवश्यक है, क्योंकि इसमें उपभोग वस्तुओं के परिणाम या उनके मात्रा-सम्बन्धी तथ्यों की विवेचना अधिक होती है। यद्यपि मानवीय इच्छाओं तथा क्रियाओं का यथोचित माप नहीं हो सकता, फिर भी मानचित्र, रेखाचित्र एवं

तालिका आदि गणित सम्बन्धी नियमों तथा सूत्रों की सहायता से अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का भली-भांति विवेचन किया जा सकता है। 'मुद्रा मात्रा सिद्धान्त' (Quantity Theory of Money) जैसे अनेकों सिद्धान्त गणित की सहायता से भली-भांति समझे जा सकते हैं।

अर्थशास्त्र और अंकशास्त्र (Statistics)—अंकशास्त्र वह विज्ञान है जो किसी समस्या से सम्बन्धित अंकों का संकलन, वर्गीकरण सारणीकरण कर उनकी व्याख्या करता है। महाशय सेलिगमैन (Seligman) ने कहा है—'अंकशास्त्र अथवा गणितशास्त्र की विधियां बड़ी गहन और गम्भीर है। वे मनुष्य के मस्तिष्क की सूक्ष्मता की चरमावस्था तक पहुँचा देती हैं। दूसरी बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वह जीवन के एक ही अंग की उपासना कराता है। मानवीय उत्साहपूर्ण आकांक्षाएँ और आवश्यकताएँ गणितशास्त्र और अंकशास्त्र के सीमित क्षेत्र में बंध जाने से पीड़ित हो जायेंगी।'

परन्तु बिना अंकशास्त्र की सहायता लिए हुए अर्थशास्त्र का तर्क एवं निष्कर्ष अपूर्ण माना जायगा। आर्थिक तथ्यों को पूर्णतया स्पष्ट तथा प्रभावशाली बनाने के लिए अंकशास्त्र का अवलंबन वांछनीय है। उदाहरण के लिये, यह कहना कि भारतीय श्रमिकों की भृत्ति बहुत कम है, यह बात सहसा समझ में नहीं आती जब तक कुछ अंक इस सम्बन्ध में नहीं उद्धृत कर दिये जायें। अंकों के सतर्क अध्ययन से पुराने सिद्धान्तों की आलोचना और नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जा सकता है। अंक विज्ञान की सहायता से अनेक आर्थिक विषयों का बड़ी सुगमता से वर्णन हो सकता है, जैसे विदेशी व्यापार, आयात-निर्यात और बैंक के विविध व्यवहार इत्यादि। माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त आङ्किक तथ्यों पर ही अवलंबित था। समय-समय पर आर्थिक समस्याओं के लिये होने वाले कमीशन और कमेटियाँ अपनी योजनाएँ, आङ्किक तथ्यों के अध्ययन के पश्चात् ही, प्रस्तुत करती है। अत: यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र को अंकशास्त्र से पृथक् नहीं रखा जा सकता है। वास्तव में, अंकशास्त्र का एक विभाग ऐसा है जो आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करता है। इसको आर्थिक अंकशास्त्र कहते है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—अर्थशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों से किस प्रकार सम्बन्धित है ?
(रा० बो० १९५५, उ० प्र० १९ ६,४८)

२—क्या अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है ? इसका दूसरे विज्ञानों से क्या सम्बन्ध है ?
(म० भा० १९५६)

३—अर्थशास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों से क्या सम्बन्ध है ? भली भांति समझाइए।
(म० भा० १९५५)

४—अर्थशास्त्र क्या है ? इसका अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
(उ० प्र० १९५१, अ० बो० १९५०)

५—'अर्थशास्त्र' का विषय समझाइए। अर्थशास्त्र का राजनीति-शास्त्र और न्याय शास्त्र से क्या सम्बन्ध है ?
(उ० प्र० १९५२)

६—क्या अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है ? इसका सम्बन्ध राजनीतिशास्त्र से बताइए।
(सागर १९५७)

अध्याय ६

अर्थशास्त्र के नियम

(Laws of Economics)

नियमों के भेद—'नियम' शब्द भिन्न भिन्न अर्थों तथा व्यवहारों में प्रयुक्त होता है। नियमों को मुख्यतः निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है :

(१) वैधानिक नियम (Statutory Laws)—वैधानिक नियम वे हैं जो देश की सरकार द्वारा बनाये जाते है। वे यह बताते है कि अमुक काम वहाँ के निवासी कर सकते है और अमुक काम नही। प्रत्येक देशनिवासी के लिये उनका पालन करना अनिवार्य होता है। इन नियमों के उल्लंघन करने वालों को राज्य की ओर से उचित दंड दिया जाता है। यह स्थायी नही होते। उनमे आवश्यकतानुसार परिवर्तन एवं संशोधन होते रहते है। कभी-कभी उनका लोप भी हो जाता है। ऐसे नियमों या कानूनों को राजनियम या वैधानिक नियम कहते है। उदाहरण के लिए, 'भारतीय दंड विधान' में यह लिखा है कि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति को किसी प्रकार शारीरिक कष्ट न पहुँचावे। इस नियम का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को कारावास या धन दंड अथवा दोनों ही दंड दिये जाते है। इसी प्रकार कोई मोटर ड्राइवर बिना लाइसेंस मोटर न चलावे। इस विधान का उल्लंघन करने वाला ५० रु० या इससे भी अधिक दंड भोगता है।

(२) नैतिक नियम (Moral Laws)—इनका सम्बन्ध नीति, आदर्श तथा धर्म से है। ये नियम बताते हैं कि मनुष्य को क्या करना चाहिये और क्या नही जैसे—मनुष्य को सदैव अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और सतोषपूर्वक जीवन बिताना चाहिए, स्वाध्याय परायणता, कर्तव्य-निष्ठा, सदाचार, पवित्रता आदि आदर्शों का पालन करना चाहिए; दूसरों को अपने समान समझना चाहिए और आत्मा के प्रतिकूल कोई कार्य नही करना चाहिए। इन नियमों को भंग करने वाले को इस लोक और परलोक में ईश्वरीय दंड मिलता है, ऐसा नीति-परायण व्यक्तियों का विश्वास है।

(३) व्यावहारिक नियम (Customary Laws)—वे है जो किसी जाति की सामाजिक रीति अथवा परम्परागत रिवाजों और रुढियों द्वारा निर्धारित होते है। उदाहरण के लिये, हिन्दू समाज मे कई ऐसी रीतियाँ परम्परा से प्रचलित है जिन्हे लोग जन्म, विवाह, मृत्यु आदि अवसरों पर पालन करते हैं। इन रिवाजों के पालन न करने वालों को सामाजिक दंड मिलता है, अर्थात् वे समाज की दृष्टि में नीचे गिर जाते है।

(४) वैधानिक नियम (Scientific Laws)—वे नियम है, जो कारण (Cause) और उसके परिणाम (Effect) में सम्बन्ध स्थापित करते है। इनके

द्वारा यह प्रकट होता है कि अमुक परिस्थिति में अमुक वस्तु उत्पन्न होगी और अमुक कार्य का अमुक परिणाम होगा, जैसे रसायन शास्त्र के नियम। ये नियम सर्वभौम मान्यता रखते है। ये नियम अपरिवर्तनशील है और न इनका कभी लोप होता है। इनके उल्लंघन से कोई दंड का भागी नही होता।

(५) **अर्थशास्त्र के नियम (Laws of Economics)**—अन्य वैज्ञानिक नियमों की भांति अर्थशास्त्र के नियम भी कारण और परिणाम का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वे बतलाते है कि अमुक आर्थिक स्थिति में इन कारणों का अमुक परिणाम होगा। अर्थशास्त्र हमारे प्रतिदिन के साधारण आर्थिक कार्यों का विवेचन है। यह उन कार्यों के परस्पर कारण और परिणाम के सम्बन्ध के विषय में प्रकाश डालता है। यह इस बात का अन्वेषण करता है कि मनुष्य विशेष दशाओं मे किस प्रकार बर्ताव करते है। यदि किसी विशेष आर्थिक स्थिति मे एक ही प्रकार का बर्ताव या सम्बन्ध देखने में आता है तो उसे एक निश्चित रूप देकर अर्थशास्त्र का नियम कहने लगते है। हम यह प्रतिदिन देखते है कि जब किसी वस्तु का मूल्य बढता है तो साधारणतया उस वस्तु की माग घट जाती है, और मूल्य के कम होने पर मांग बढ जाती है। इस प्रकार का सम्बन्ध सदैव सत्य सिद्ध हो सकता है यदि अन्य बातो से प्रभावित न हो। इस प्रवृत्ति (Tendency) को अर्थशास्त्र मे मांग का नियम (Law of Demand) कहते है। अर्थशास्त्रियों ने इसी प्रकार के कई नियम बनाये है जो आर्थिक प्रवृत्ति की ओर संकेत करते है कि अमुक स्थिति मे अमुक परिणाम होने की सम्भावना है। यह प्रवृत्ति सामान्य धारणाओं (General Statements) का सूचक है। ऐसी सामान्य धारणाओं को ही 'आर्थिक नियम' कहते है। संक्षेप मे, **धन सम्बन्धी मानवीय प्रवृत्तियों की सामान्य धारणाओं को ही आर्थिक नियम कहते हैं।** प्रो० मार्शल के कथनानुसार आर्थिक नियम या आर्थिक प्रवृत्तियो के कथन वे सामाजिक नियम है, जो आचरण की उन शाखाओं से सम्बद्ध है, जिनमे आपेक्षित प्रवृत्तियों की शक्ति मुद्रा मूल्य मे नापी जा सके।
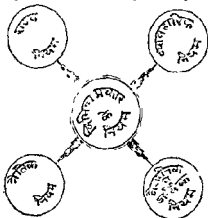
विविध प्रकार के नियम

आर्थिक नियमो की विशेषताएं—उपर्युक्त परिभाषा का अध्ययन करने से आर्थिक नियमो की दो मुख्य विशेषताएं ज्ञात होती है, वे निम्नलिखित है —

(१) ये नियम सामाजिक होते है क्योंकि ये यह बतलाते है कि विशेष परिस्थितियो मे मनुष्य सामाजिक रूप से किस प्रकार बर्ताव करते है।

(२) आर्थिक नियमों का सम्बन्ध मनुष्य की प्रवृत्तियों से है, जिनका माप मुद्रा से सम्भव हो सके।

अर्थशास्त्र के नियम और अन्य विविध प्रकार के नियम—उपर्युक्त विवरण से यह निर्विवाद स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के नियम वैज्ञानिक नियम है, क्योंकि वे उनकी भाँति कारण और परिणाम मे सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वे अन्य प्रकार के नियमों से बिल्कुल भिन्न है। जैसे—राजनियमों की भाँति आर्थिक नियम किसी राष्ट्र या सरकार द्वारा नहीं बनाये जाते और न उनके भङ्ग करने वाले किसी प्रकार के दड के भागी होते है। आर्थिक नियमों का एकमात्र कार्य अर्थ सम्बन्धी क्रियाओं मे कारण और परिणाम के सम्बन्ध को स्पष्ट करना है। 'ऐसा करो' या 'ऐसा नही करो' इस प्रकार की वे आज्ञाएँ नहीं देते है। अतः यह धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र के नियमों के अनुसार रूढ़ियों पर अवलम्बित नही है। यदि कोई मनुष्य राजनियमों की अवहेलना करता पाया जाता है, तो उसे दण्ड सहना पड़ता है।

क्या आर्थिक नियम प्राकृतिक नियम है? (Are Economic Laws, Natural Laws)

इस विषय मे दो धारणाएँ प्रचलित है :—

(१) आर्थिक नियम प्राकृतिक नियम नहीं हैं—एक धारणा वाले अर्थ-शास्त्र के नियमों को प्राकृतिक नियम नहीं मानते, क्योंकि इसमे भौतिक, रसायन आदि शास्त्रों की भाँति अपरिवर्तनशील तथा सर्वव्यापी नियमों का पूर्ण अभाव है। अर्थशास्त्र के नियमों का सम्बन्ध 'मनुष्य' से है जो बुद्धिमान् प्राणी होने के नाते अपने विचारों मे पूर्ण स्वतन्त्र है और अपनी इच्छा से उनमे परिवर्तन कर सकता है, अतः वे सर्वव्यापी होने मे असमर्थ है।

(२) आर्थिक नियम प्राकृतिक नियम है—दूसरी धारणा वालों का मत है कि अर्थशास्त्र के नियम प्राकृतिक नियम है। इसके लिए वे प्राकृतिक नियमों को दो विभागों मे बाँटते है, एक तो वे प्राकृतिक नियम जो सर्वव्यापी एव अपरिवर्तनशील हैं और दूसरी कोटि मे वे सम्मिलित है जो दी हुई परिस्थितियों मे ही सर्वव्यापी सिद्ध हो सकते हैं, जैसे—किसी निश्चित तापक्रम तथा दबाव मे यदि हाइड्रोजन और ऑक्सीजन एक निश्चित परिमाण मे मिलाये जायँ तो वे जल मे परिवर्तित हो जाते है। अर्थशास्त्र के नियमों को वे दूसरी कोटि मे सम्मिलित कर प्राकृतिक नियम मानते हैं, अर्थात् आर्थिक नियम किसी निश्चित परिस्थिति मे सर्वव्यापी सिद्ध हो सकते है। जैसे—यदि किसी वस्तु की माँग (Demand) बढ़ती है और पूर्ति (Supply) वैसी ही रहती है, तो निश्चित रूप से उस वस्तु के मूल्य मे वृद्धि होती है। यह नियम सब जगह लागू होगा। अतः वे ऐसी परिस्थितियों मे अर्थशास्त्र के नियमों को प्राकृतिक नियम घोषित करने हुए तनिक भी सकुचित नहीं होते।

आर्थिक नियमों और प्राकृतिक या भौतिक नियमों की तुलना

आर्थिक और प्राकृतिक नियमों मे समानता—इन दोनों प्रकार के नियमों मे बड़ी समानता है, क्योंकि दोनों ही मे कार्य और कारण का सम्बन्ध किन्हीं निश्चित परिस्थितियों मे स्थापित होता है। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्र मे माँग का नियम यह प्रकट करता है कि यदि किसी वस्तु की माँग बढ़ जाय, तो उस वस्तु का मूल्य बढ़ जायगा। इस नियम के यथार्थ सिद्ध होने मे अन्य परिस्थितियों का तनिक भी हस्तक्षेप न होना चाहिये; अन्यथा यह नियम लागू नहीं होगा। जैसे, माँग के साथ-साथ उस वस्तु की पूर्ति मे भी वृद्धि होती है, तो फिर मूल्य मे वृद्धि होना सम्भव नहीं है। इसके

विपरीत अमुक वस्तु का फैशन या प्रयोग परिवर्तित हो जाने से यदि मूल्य भी गिर जाय तो उस वस्तु की माँग कम रहेगी।

इसी प्रकार प्राकृतिक नियमों में भी यही बात बताई जाती है। उदाहरण के लिये आकर्षण शक्ति नियम (Law of Gravitation) यह प्रकट करता है कि प्रत्येक वस्तु पृथ्वी की ओर आकर्षित होती है परन्तु यह नियम भी इस बात पर आश्रित है कि अन्य कोई कारण ऐसा उपस्थित नहीं होगा जो उसके रास्ते में अवरोध पैदा कर दे। यदि बाधा डालने वाला कारण इससे अधिक प्रबलता से उपस्थित हो जाय तो इस नियम की वास्तविकता नष्ट हो जायगी।

आर्थिक और प्राकृतिक नियमों में असमानता—इनमें इतनी समानता होते हुए भी कुछ भेद है, जो निम्नलिखित है :—

प्राकृतिक या भौतिक नियम अटल और अनिवार्य होते हैं, परन्तु इसका सर्वथा अभाव आर्थिक नियम में देखा जाता है। उदाहरण के लिये रसायन शास्त्र के अनुसार दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग आक्सीजन के संयोग से जल उत्पन्न हो जाता है। यह नियम अटल और सर्वव्यापी है—कोई भी बाधा इसको इस लाभ से वंचित नहीं कर सकती। परन्तु अर्थशास्त्र में क्रय विक्रय के नियमों में इस अनिवार्यता तथा स्थिरता का सर्वथा अभाव है। उदाहरणार्थ बहुत से मनुष्य देश प्रेम से इतने प्रभावित होते हैं कि वे विदेशी सस्ती वस्तुओं की अपेक्षा स्वदेशी मँहगी वस्तुओं का खरीदना पसन्द करते हैं।

(२) प्राकृतिक या भौतिक नियम पूर्ण होते हैं परन्तु आर्थिक नियमों का अनुमान इतना पूर्ण सिद्ध नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ यदि दो भाग हाइड्रोजन और एक भाग आक्सीजन के संयोग को क्रम में इसी अनुपात में बढ़ाया जावे तो जल की मात्रा उसी अनुपात से बढ़ती जायगी। यदि दुगुना किया जावे तो जल भी दुगना बन जावेगा और तिगुना किया जावे तो तिगुना हो जावेगा। परन्तु अर्थशास्त्र के पूर्व उद्धृत माँग के नियम में मूल्य के न्यूनाधिक्य से उसी अनुपात में माँग तथा पूर्ति में वृद्धि नहीं होगी।

(३) भौतिक नियमों को प्रयोगशाला (Laboratory) में प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर उनकी यथार्थता की परीक्षा की जा सकती है परन्तु आर्थिक नियमों में प्रयोगशाला की साध्यता का पूर्ण अभाव है।

अर्थशास्त्र के नियमों की निश्चितता—(१) साधारणतया देखा जाय तो सारे अर्थशास्त्र के नियम अनिश्चित नहीं हैं। अर्थशास्त्र के कुछ नियम ऐसे भी हैं जो प्रकृति पर अवलम्बित होने के कारण निश्चित हैं। जैसे—क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Return) यह एक सार्वभौमिक नियम है। यह प्रवृत्ति कृषि की उत्तम रीतियों तथा नवीन आविष्कृत मशीनों के द्वारा कुछ समय के लिए रोकी जा सकती है परन्तु परिस्थितियों के स्थिर हो जाने पर पुनः इसका प्रभाव प्रारम्भ हो जाता है।

(२) अर्थशास्त्र के कुछ नियम तो ऐसे हैं जो स्वयं सिद्ध हैं और जिनको यथार्थता सिद्ध करने के लिये किसी प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। जैसे—'पूँजी का संचय तभी हो सकता है जब व्यय से आय अधिक हो अथवा जीवन-स्तर का नियम कुशलतापूर्वक धन की उत्पत्ति पर निर्भर है' आदि नियम सर्वत्र तथा सब समय एक से ही सिद्ध होते हैं।

अर्थशास्त्र के नियम अन्य सामाजिक शास्त्रों के नियमों की अपेक्षा अधिक निश्चित है; परन्तु वे भौतिक शास्त्रों के नियमों की अपेक्षा कम निश्चित हैं।

अर्थशास्त्र के नियम अन्य सामाजिक नियमों की अपेक्षा कम निश्चित हैं—यह प्रथम अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि अर्थशास्त्र भी एक सामाजिक विज्ञान है। अब यह सिद्ध करना है कि अर्थशास्त्र के नियम अन्य सामाजिक शास्त्रों के नियमों की अपेक्षा अधिक निश्चित है। अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य की उन इच्छाओं तथा कार्यों से है जो मुद्रा में आंके जा सकते है। उदाहरणार्थ यदि एक श्रमिक को दिन भर उद्योगशाला में कार्य करने का पारिश्रमिक दो रुपये प्रतिदिन के हिसाब से मिलता है, तो यह उसके परिश्रम का आर्थिक माप है। इसी प्रकार डाक्टर को चिकित्सालय में कार्य करने के फलस्वरूप यदि वेतन मिलता है, तो यह उसकी क्रियाओं का आर्थिक माप है। यदि वह वहाँ निःशुल्क कार्य करता है, तो उसका कोई आर्थिक माप न होने के कारण आर्थिक क्रिया सम्पन्न करना नहीं कहा जा सकता। यह माप अर्थशास्त्र को ही उपलब्ध है, अन्य सामाजिक शास्त्रों में इस प्रकार के मापों का पूर्ण अभाव है, अतः उनके नियमों में अर्थशास्त्र के नियमों की अपेक्षा अधिक अनिश्चितता होना स्वाभाविक है। जिस प्रकार रसायनशास्त्र की 'सूक्ष्म तुला' (Fine Balance) ने उसके नियमों को अन्य भौतिक शास्त्रों के नियमों की अपेक्षा अधिक निश्चित बना दिया है, उसी प्रकार 'मुद्रा' (Money) के माप दण्ड ने, यद्यपि वह इतना सुनिश्चित नहीं है, फिर भी अर्थशास्त्र को अन्य विविध सामाजिक शास्त्रों की अपेक्षा अधिक दृढ एवं निश्चित बना दिया है, क्योंकि इस प्रकार के माप दण्ड का अन्य सामाजिक विज्ञानों में पूर्ण अभाव है। अतः यह स्पष्ट हुआ कि अर्थशास्त्र के नियम अथवा सिद्धान्त नीतिशास्त्र, न्यायशास्त्र, राजनीति आदि शास्त्रों से अधिक दृढ एवं सुनिश्चित है।

अर्थशास्त्र के नियम भौतिक विज्ञानों के नियमों की अपेक्षा कम निश्चित हैं।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि अर्थशास्त्र के नियम कारण और कार्य में सम्बन्ध स्थापित करने के कारण वैज्ञानिक नियम कहे जाते है, परन्तु ये प्राकृतिक या भौतिक विज्ञानों के नियमों की अपेक्षा कम निश्चित है। वे पूर्ण रूप से इस बात को प्रकट करने में असमर्थ है कि अमुक कारण का अमुक परिणाम अवश्य होगा। अर्थशास्त्र में माँग का नियम इस बात को स्पष्ट कर देता है। इस नियम के अनुसार मूल्य के कम हो जाने से माँग बढ जाती है और मूल्य के बढ जाने से माँग कम हो जाती है। साधारणतया ऐसा ही होता है। परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि मूल्य के घटने से माँग में कितनी वृद्धि होगी। कभी कभी ऐसा भी दृष्टिगोचर होता है कि किसी वस्तु का फैशन या चलन उठ जाने से उस वस्तु के मूल्य के गिर जाने पर भी माँग में वृद्धि नहीं होती। अर्थशास्त्र के नियम केवल इस बात के प्रकट करने में समर्थ हैं कि अमुक परिस्थिति में अमुक परिणाम का होना सम्भव है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि वे केवल प्रवृत्ति अथवा रुख (Tendency) की ओर संकेत करते हैं, वे दृढता से यह नहीं घोषित कर सकते कि अमुक परिस्थिति में अमुक परिणाम होना अनिवार्य है। इस अनिश्चितता के कई कारण हैं, जो नीचे दिये जाते हैं।

(१) अर्थशास्त्र मनुष्य की आर्थिक इच्छाओं तथा कार्यों का अध्ययन है। मनुष्य के स्वेच्छाचारी होने के कारण उसके स्वभाव को नियमबद्ध नहीं

किया जा सकता, और न यह आशा ही की जा सकती है कि वह सदैव उसी प्रकार व्यवहार करता रहेगा। उसकी इच्छाएँ निरन्तर परिवर्तनशील होने के कारण अत्यन्त अनिश्चित हैं। अतः इन्हीं पर अवलम्बित नियमों का अनिश्चित होना भी स्वाभाविक है।

(२) मनुष्य का आर्थिक जीवन भी धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं से प्रभावित होता रहता है, अतः अर्थशास्त्र के नियम जिनका सम्बन्ध केवल आर्थिक प्रवृत्तियों से ही है पूर्ण रूप से निश्चित नहीं हो पाते।

(३) अर्थशास्त्र का एक सामाजिक विज्ञान के रूप में मनुष्य का अध्ययन करने के कारण उसे मानव जीवन की जटिल घटनाओं का विवेचन करना पड़ता है। उसका न तो भौतिक विज्ञानों की सरल घटनाओं की भाँति स्पष्ट एवं सुनिश्चित विवेचन किया जा सकता है और न उसके नियमों को साधारण एवं अपरिवर्तनशील रूप ही दिया जा सकता। अतः अर्थशास्त्र के नियमों का भौतिक शास्त्रों के नियमों की अपेक्षा अधिक अनिश्चित होना सिद्ध हुआ।

(४) अर्थशास्त्र में प्रत्यक्ष प्रयोग सर्वथा सम्भव नहीं, क्योंकि इसका सम्बन्ध मनुष्य या स्त्री से है जो एक जीवित तथा स्वतन्त्र प्राणी है। वह स्वेच्छा से काम करना चाहता है। उसे पकड़ कर प्रयोगशाला की परिस्थिति में सीमित कर कुछ प्रयोग तो किया नहीं जा सकता, जो अर्थशास्त्र के नियमों को स्थिर कह सकें। भौतिक पदार्थ तो जड़ है, उनका प्रयोगशाला की बाहिन दशा में रखना कभी दुःसाध्य नहीं। अतः भौतिक विज्ञान के तथ्यों की भाँति ये कभी स्थिर नहीं होते। अतः मानव जीवन सम्बन्धी क्रियाएँ परिवर्तनशील होने के कारण नियम बद्ध नहीं की जा सकती।

भौतिक नियमों की अधिक स्थिरता—भौतिक विज्ञानों के नियम पूर्णरूप से निश्चित सम्बन्ध स्थापित करते हैं तथा वे सर्वत्र लागू होते हैं। इसके मुख्य कारण निम्नांकित हैं :—

(१) भौतिक विज्ञानों का सम्बन्ध मनुष्य की प्रवृत्तियों से न होकर भौतिक पदार्थों से है। जो निश्चित और अपरिवर्तनशील हैं। अतः उनके नियमों की निश्चितता एवं दृढ़ता भी स्वाभाविक है।

(२) भौतिक विज्ञानों का विवेचनीय विषय भौतिक पदार्थ हैं, जो स्वभाव से सरल एवं अपरिवर्तनीय है। सरल घटनाओं से सम्बद्ध नियमों का अध्ययन होने के कारण भौतिक नियमों का स्वतः निश्चित एवं अपरिवर्तनीय होना सिद्ध होता है।

(३) भौतिक विज्ञानों में प्रत्यक्ष प्रयोग पूर्ण रूप से इच्छानुसार प्रयोगशालाओं में सम्भव होने के कारण सम्बद्ध घटनाएँ स्मरण की जा सकती है। यही कारण है कि भौतिक नियम अत्यन्त स्थिर है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हुआ कि अर्थशास्त्र के नियम उतने निश्चित नहीं है जितने भौतिक विज्ञानों के नियम। उनकी तुलना भौतिक विज्ञानों के नियमों से नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, आकर्षण शक्ति का नियम (Law of Gravitation) स्थिर नियम है, इस बात को प्रकट करता है कि कोई भी वस्तु आकाश में उछाली जाय तो वह पृथ्वी की ओर अवश्य खिचेगी। बच्चे खेल में पैसा ऊँचा उछालते हैं। उनके हाथ की शक्ति के अनुरूप ऊँचाई तक वह पैसा जाता है—पर उस शक्ति के क्षीण होते ही पृथ्वी उसे अपनी ओर खींचना प्रारम्भ कर देती है। 'चुम्बक के पास लोहे का आकर चिपक जाना'—भी इसी आकर्षण सिद्धान्त का समझाता है। इस नियम की सत्यता में तनिक भी सन्देह उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि इसका सर्वत्र होना अनिवार्य या निश्चित है।

इसी आधार पर प्रो० मार्शल कहते है कि आर्थिक नियमों की तुलना 'माकर्षणशक्ति' जैसे सरल और निश्चित भौतिक नियमों की अपेक्षा 'ज्वार-भाटा (Law of Tides) के नियमों' से करना चाहिये। ज्वार-भाटा के नियम यह प्रकट करते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा के प्रभाव में एक दिन में दो बार ज्वार-भाटा उठता है और गिरता है और किस प्रकार पूर्ण चन्द्रमा के उदय होने पर ज्वार-भाटा मे प्रबलता आ जाती है, इत्यादि। परन्तु ये निश्चित रूप से नहीं बता सकते कि किस समय ज्वार-भाटा तीव्र वेग से आएगा, क्योंकि तीव्र वायु तथा अधिक जल-वृष्टि आदि ऋतु-परिवर्तन के प्रभाव से ज्वार-भाटा की गति स्थिरता में पर्याप्त अन्तर पड़ जाता है। ज्वार-भाटा के नियम केवल इस बात को बता सकते है कि अमुक स्थान अथवा समय पर इस प्रकार के ज्वार-भाटा की संभावना है। संभव है तीव्र वायु और अति जल वृष्टि उनकी यथार्थता मे बाधक हो जायँ। यही दशा अर्थशास्त्र के नियमों की है। वे मनुष्य की प्रवृत्तियों की ओर संकेत करते है जिनमें प्राकृतिक और आकस्मिक परिवर्तन होता रहता है। यही कारण है कि आर्थिक नियम सर्वकालीन, सुनिश्चित, या स्थिर नहीं हो पाते। वे ज्वार-भाटा के नियमों की भांति इस बात को घोषित करते है कि अमुक आर्थिक परिस्थिति मे अमुक परिणाम होने की संभावना है।

अर्थशास्त्र की धारणाएँ (Assumptions)

समस्त विज्ञानों के नियम काल्पनिक या सांकेतिक होते है। वे किन्हीं परिस्थितियों या दशाओं का कुछ परिणाम बताने वाले होते हैं। अर्थशास्त्र के भी नियम इसी प्रकार सांकेतिक है। यदि अवस्थाएँ और परिस्थितियाँ विद्यमान हैं, तो वांछित परिणाम सुलभ है। सांकेतिक परिणाम पर पहुँचने के लिये कतिपय नियमों की कल्पना की गई है। अर्थशास्त्र मे यह बात माननीय समझी जायगी कि मनुष्य सुख की ओर झुकता है और दुःख या कष्ट से बचना चाहता है। उसके लिये धन की प्राप्ति सुख है। वह अपनी इच्छा के अनुकूल एक स्थान से दूसरे स्थान पर एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय मे प्रवृत्त हो जाता है। कतिपय अति परिचित सत्य इन्हीं धारणाओं के बल पर सुने जाते है। यथा :—

'पूँजी उसी व्यवसाय मे लगाई जायगी जहां अधिकाधिक ब्याज उपलब्ध हो सके।' 'श्रमिक व्यक्ति उसी व्यवसाय और स्थान पर जावेंगे जहाँ वे उत्तम पारिश्रमिक प्राप्त कर सकेंगे।'

'एक समय और एक पण्यस्थान (Market) मे एक वस्तु का मूल्य एक ही होगा।'

ये धारणाएँ सर्वथा सत्य नहीं है। इन नियमों के अन्तर्गत प्राय 'अन्य परिस्थितियाँ समान रहें' (Other things being equal) या 'अन्य अवस्थाएँ स्थिर रहें' आदि प्रतिबन्ध-सूचक विशिष्ट शब्दों (Qualifying Words) का प्रयोग देखा जाता है, जिनका तात्पर्य यह है कि आर्थिक नियम विशिष्ट परिस्थितियों मे ही यथार्थ सिद्ध होते है। एक उदाहरण से इसे समझ लेना चाहिए। यदि वस्तुओं का मूल्य बढ़ेगा, तो माँग मे कमी हो जायगी। क्या यह नियम सर्वांश मे सत्य है ? अनेक समय ऐसे आते हैं जब मूल्य बढ़ता है तो वस्तुओं की माँग वैसी ही रहती है, यही नहीं, पहले की अपेक्षा माँग अधिक बढ़ जाती है। यह माँग मूल्य बढ़ जाने के कारण ही बढ़ी है। लोग समझते है कि मूल्य इसलिए बढ़ा है कि अमुक वस्तु अब पण्यस्थान (बाजार) मे न आ सकेगी. अतः उसे यथासंभव शीघ्र और पर्याप्त मात्रा मे संग्रह कर रखना चाहते हैं। आजकल मेकिन ओ' क्लॉक ब्लेड्स के पैकेट का

मूल्य बढ़ा तो माँग पहले की अपेक्षा दुगनी बढ़ गयी। अतः उक्त नियम को हम तभी समझेंगे जब इसके साथ दूसरा सम्बन्ध नियम—'जब माँग बढ़ेगी मूल्य भी बढ़ेगा' काम में लाया जायगा। हम देखते हैं—एक छात्र एक डेस्क को सरकाने के लिये बल लगाता है। उसी समय दूसरा छात्र उसे रोकने की चेष्टा करता है। परिणाम क्या होता है? डेस्क वहीं रहती है लेश मात्र भी इधर उधर नहीं सरकती। यदि एक ही समय में दो विरुद्ध शक्तियाँ डेस्क के सरकाने और रोकने की चेष्टा में न लगतीं तो बल के अनुरूप या तो वह आगे सरका दी जाती या दूसरी ओर पीछे हटा दी जाती। अतः परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ ही साथ नियमों में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। अस्तु आर्थिक नियम किन्हीं परिवर्तनशील कल्पनाओं पर आश्रित होने के कारण काल्पनिक एवं सांकेतिक समझे जाते हैं।

प्रो० मार्शल का दृष्टिकोण—प्रो० मार्शल का इस सम्बन्ध में यह कथन है कि इस प्रकार के प्रतिबन्ध-सूचक शब्द भौतिक विज्ञानों के नियमों में भी देखे जाते हैं, जैसे निर्दिष्ट तापक्रम तथा दबाव (Pressure) पर हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के एक निश्चित अनुपात के परिणाम में मिल जाने से जल का रूप धारण कर लेते हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि सभी भौतिक विज्ञानों के नियम काल्पनिक हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। अर्थशास्त्र में ये धारणाएँ अधिक महत्व रखती हैं, क्योंकि इनका विवेचनीय विषय मनुष्य है, जिसकी इच्छाएँ, क्रियाएँ आदि परिवर्तनशील हैं। परन्तु भौतिक विज्ञानों के विवेचनीय विषय जड़ पदार्थ होते हैं, जो निर्दिष्ट परिस्थितियों में सर्वत्र यथार्थ सिद्ध होते हैं। अस्तु भौतिक विज्ञानों के नियमों को अर्थशास्त्र की कोटि में सम्मिलित करना भारी भूल है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—अर्थशास्त्र से आप क्या समझते हैं? आर्थिक नियमों के लक्षण बताइए।
(उ० प्र० १९५७)

२—'नियम' से आप क्या समझते हैं? "आर्थिक नियम प्रवृत्तियों का कथन है।" इस बारे में आपका क्या कहना है? (म० भा० १९५७)

३—आर्थिक नियमों से क्या तात्पर्य है? इनका स्वभाव क्या है? आर्थिक नियमों और प्राकृतिक नियमों में क्या अन्तर है? क्या आर्थिक नियम कल्पित हैं?
(अ० बो०, रा० बो० १९४९, उ० प्र० १९५०, दिल्ली हा० से० १९५०)

४—अर्थशास्त्र के नियमों की तुलना आकर्षण शक्ति के नियम की अपेक्षा ज्वार भाटा के नियम से की जाती है। क्यों? (पटना १९४५)

५—अर्थशास्त्र के नियमों का स्वभाव तथा महत्व बताइए। (पंजाब १९५३)

६—आर्थिक नियम पर टिप्पणी लिखिए। (सागर, १९५०)

अध्याय ७

अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्व
(Importance of the Study of Economics)

अर्थशास्त्र का महत्व—समाज के वर्तमान सगठन मे अर्थशास्त्र का बडा महत्व है। प्रत्येक नागरिक के लिए अर्थशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। यद्यपि मानव-जीवन अन्यान्य प्रकार से प्रभावित होता रहता है परन्तु सबसे अधिक प्रभाव उस पर धन का पडता है। अर्थशास्त्र मनुष्य के जीवन के अन्यन्त महत्वपूर्ण अग धन का अध्ययन करता है। मनुष्य के व्यक्तित्व को बनाने और बिगाडने मे इस अग पर अधिक प्रभाव पडता है। उसकी आर्थिक स्थिति और वातावरण उसके विचारो पर बडा प्रभाव डालते है। धन की प्रचुरता अथवा न्यूनता मनुष्य और समाज दोनो पर अपना प्रभाव दिखाती है। आज का प्रत्येक राष्ट्र इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि वह उसे अधिक सुखी एव समृद्धिशाली बनाये। आध्यात्मिक दृष्टि से धन चाहे सब दोषो का मूल कारण हो, परन्तु मनुष्य और उसके सामाजिक जीवन मे धनोपार्जन तथा धनोपभोग का इतना महत्व है कि कोई विचारशील पुरुष तथा राष्ट्र इसकी उपेक्षा नही कर सकता है। अर्थशास्त्र के अध्ययन से पता चलता है कि राष्ट्र के जीवन मे आर्थिक बातो का कितना बडा स्थान है। इसके अध्ययन से राष्ट्र की आर्थिक सम्पन्नता या असम्पन्नता का कारण सहज मे ज्ञात हो जाता है। आजकल बहुत सी समस्याओ का हल उनके आर्थिक पहलू पर निर्भर रहता है। देश की दरिद्रता एव तत्वसम्बन्धी अनेक समस्याओ का हल तो अर्थशास्त्र का अध्ययन ही निकालता है। सक्षेप मे, अर्थशास्त्र सब आवश्यक वस्तुओ के उत्पादन, उपभोग, विनिमय और वितरण आदि का अध्ययन होने से इसका महत्व स्वय सिद्ध है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन के उद्देश्य (Objects)—किसी भी विषय का अध्ययन दो मुख्य उद्देश्यो से किया जाता है। एक तो केवल ज्ञानोपार्जन के हेतु और दूसरे व्यवहारिक जीवन के लाभ के हेतु। प्रत्येक विषय के अध्ययन मे ये दोनो बातें न्यूनाधिक मात्रा मे पाई जाती है। किसी विषय मे एक उद्देश्य का अधिक महत्व होता है और किसी मे दूसरे का। उदाहरण के लिये,'दर्शनशास्त्र' (Philosophy) और 'मनोविज्ञान' (Phychology) मे ज्ञानोपार्जन ही का उद्देश्य होता है। इसके विपरीत चिकित्साशास्त्र एव इन्जीनियरिग आदि कुछ ऐसे विषय है जिनमे व्यावहारिक लाभ का अश विशेष होता है। जिन शास्त्रो का अध्ययन मुख्यतः चित्त की प्रसन्नता एव मानसिक विकास है वे ज्ञानोपार्जक एव विकासात्मक (Light-bearing) अथवा सैद्धान्तिक (Theoretical) कहलाते है और जिन शास्त्रो के उद्देश्य प्रधानतया व्यावहारिक जीवन मे लाभ उठाना है व फलदायक (Fruit bearing) अथवा व्यावहारिक (Practical) कहलाते हैं।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से हमे उपर्युक्त दोनों प्रकार के लाभ प्राप्त होते है। इससे हमारे ज्ञान-कोष की वृद्धि होकर मानसिक विकास होता है और व्यावहारिक क्षेत्र मे भी

अनेक लाभ इससे प्राप्त होते है। इस दृष्टि से यह दर्शन आदि शास्त्रों से अधिक उपयोगी है, क्योंकि उनसे केवल ज्ञानोपार्जन ही उद्देश्य रहता है, परन्तु अर्थशास्त्र के अध्ययन से दोनों प्रकार के लाभ सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक उपलब्ध होते हैं।

प्रो० मार्शल कहते हैं कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य प्रथम तो केवल ज्ञान के लिये ज्ञान प्राप्त करना है और द्वितीय व्यावहारिक जीवन, विशेषतः सामाजिक जीवन में मार्ग प्रदर्शन करना है।"[1]

नीचे इन्ही दोनों दृष्टिकोणों से अर्थशास्त्र के महत्व का निरूपण किया जाता है:—

(अ) सैद्धान्तिक महत्व (Theoretical Importance)

ज्ञानोपार्जन की दृष्टि से अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्त्व बड़ा विस्तृत है। इसमें हमें निम्नलिखित सैद्धान्तिक लाभ प्राप्त होते है।—

(१) यह सत्यानुसंधान का एक साधन है जिससे हमें मनुष्य और सम्पत्ति का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है। इसकी प्राप्ति के लिये निगमन प्रणाली का उपयोग एक उत्तम साधन है।

(२) इसकी आगमन प्रणाली द्वारा आर्थिक घटनाओं का संकलन, वर्गीकरण और विश्लेषण करने के पश्चात् कार्य और कारण में सम्बन्ध स्थापित करते हुए साधारण नियम स्थिर किए जाते है। इस क्रिया में सतर्क निरीक्षण और धैर्ययुक्त विश्लेषण के लिये अभ्यस्त हो जाता है। यह हितकर गुण जिसको अमान्य हो सकता है।

(३) इसमें अनेक घटनाओं का अध्ययन विविध दृष्टिकोणों से होने के कारण तुलनात्मक विवेचन सम्भव है। अत: इसके द्वारा मनुष्य की निर्णय शक्ति पुष्ट होती है।

(४) इसका अध्ययन मनुष्य के दृष्टिकोण को विस्तृत बनाता हुआ उसे उदार बनाने में सहायक सिद्ध होता है।

(५) इस प्रकार अर्थशास्त्र का अध्ययन मानसिक व्यायाम का कार्य करता है। इससे मनुष्य के मस्तिष्क की सब प्रकार की शक्तियों को पूर्ण अभ्यास मिलता है जिससे वे बलवती बनती हैं।

(६) अर्थशास्त्र के अध्ययन से मनुष्य के ज्ञान-कोष की वृद्धि होती है। धन की उत्पत्ति के क्या-क्या साधन हैं, किस प्रकार धन के उपभोग से मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, कैसे धन का विनिमय एवं वितरण होता है आदि समस्याओं का विवेचन यह शास्त्र करता है, अथवा यों कहा जाय कि समाज के आर्थिक ढाँचे का पूर्ण विवरण उपस्थित करता है। यही ही नहीं, अर्थशास्त्र मनुष्य की राष्ट्रीय तथा ... व्यवस्था का पूर्ण ज्ञान देता है और यह बताता है कि उनमें उसका क्या स्थान है। आधुनिक समाज की अनेक जटिल आर्थिक समस्याओं को समझने और सुलझाने के लिये अर्थशास्त्र का ज्ञान अत्यावश्यक है।

1—"The aims of the study are to gain knowledge for its sake and to obtain guidance in the practical conduct of life and especially of social life"—Marshall Principles of Economics, Book I, chapter IV.

(७) अर्थशास्त्र उत्पत्ति, उपभोग, विनिमय तथा वितरण की आदर्श रीतियों को प्रस्तुत कर मार्ग-प्रदर्शन का कार्य भी करता है। जैसे, धनोत्पत्ति एवं उपभोग के लिये कौनसे आदर्श सम्मुख रखना चाहिये।

अस्तु, यह निर्विवाद स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का अध्ययन ज्ञान की वृद्धि एवं मनुष्य के मस्तिष्क की शक्तियों के विकास के लिये अनुपम साधन है, इसीलिये यह एक लोकप्रिय तथा आनन्दपूर्ण विषय है।

(ब) व्यावहारिक महत्व (Practical Importance)

व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक उपयोगिता की दृष्टि से अर्थशास्त्र का अध्ययन अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। अर्थशास्त्र प्रवीणों का कहना है कि अर्थशास्त्र व्यावहारिक दृष्टि से बड़ा लाभदायक एवं उपयोगी विज्ञान है जिसके अध्ययन से मनुष्य के सामाजिक जीवन की अनेक आर्थिक जटिल समस्याएँ सरलता पूर्वक सुलझाई जा सकती हैं। चाहे जिस दृष्टिकोण से हम देखें अर्थशास्त्र का ज्ञान व्यावहारिक जीवन के लिये अत्यन्त उपयोगी है। प्रो० पीगू तो यहाँ तक कहते हैं कि "अर्थशास्त्र का प्रमुख महत्व न केवल मानसिक व्यायाम है और न केवल सत्य का ज्ञान प्राप्त करना है, अपितु यह नीतिशास्त्र का दास और व्यवहार का सेवक है।"[1] अर्थशास्त्र के अध्ययन से उपभोक्ता या गृहस्वामी, उत्पादक, व्यापारी, पूँजीपति, समाज सुधारक, नागरिक आदि सभी मनुष्य लाभ उठाते हैं। अब इसका क्रमश: विवेचन करना चाहिए :—

(१) उपभोक्ता (Consumer) या गृह स्वामी (Householder) को लाभ—हम अपने घरों में ही इस शास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता सर्व प्रथम क्यों न देख लें। कुछ सतर्क दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि इस शास्त्र का ज्ञान गृहस्वामी के लिये अनुपेक्षणीय लाभकर है। इसके नियमों के पालन करने से वह परिवार की सीमित आय को इस प्रकार व्यय कर सकता है कि कुटुम्ब की अधिक से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति होकर गृहस्थ-जीवन सुखमय बन सके। उदाहरण के लिए, वह 'सम-सीमान्त उपयोगिता नियम' (Law of Equi marginal Utility) के अनुसार अपनी सीमित आय को इस प्रकार विविध भागों पर व्यय कर सकता है जिससे प्रत्येक भाग पर व्यय की गई आय की सीमान्त उपयोगिता समान हो और समस्त उपयोगिता अधिकतम हो। इसी प्रकार पारिवारिक बजट की सहायता से वह यह ज्ञात कर सकता है कि प्रत्येक मद के व्यय का क्या अनुपात है। इससे वह अनावश्यक वस्तुओं पर व्यय घटा करके आवश्यक वस्तुओं पर बढ़ा सकता है। मान लीजिए, एक गृहपति स्वेच्छापूर्वक मद्य, अफीम और चित्रपट (सिनेमा) आदि में आय अर्पित करता है और ऐसा करने से उसको अन्य आवश्यक वस्तुओं (भोजन, वस्त्र, आवास) की पूर्ति में अनुपात से रुपये की कमी दीखती है तो प्रथम व्यय की रेखा अनुमति देगी कि इनमें कुछ कमी करने से उसका जीवन पहले की अपेक्षा अधिक सम्पन्न और प्रसन्न बन सकेगा। जिस गृहपति ने अर्थशास्त्र का अध्ययन किया है वह अपने उत्तरदायित्व की रक्षा दूसरों की अपेक्षा अधिक सफलतापूर्वक कर सकता है अस्तु अर्थशास्त्र का अध्ययन पारिवारिक सुख और सन्तोष के लिये लाभदायक है।

1—"Economic Science is chiefly valuable neither as an intellectual gymnastics nor even as a means of winning truth for its own sake, but as a handmaid of Ethics and a servant of practice." Pigou.

(२) उत्पादकों (Producers) और (Manufacturers) निर्माताओं को लाभ—घर की सीमा से बाहर निकल कर व्यावसायिक क्षेत्र में अपनी दृष्टि का प्रसार करें तो ज्ञान होगा कि उत्पादकों तथा निर्माताओं को अर्थशास्त्र के ज्ञान से बड़ा भारी लाभ पहुँचा है। वास्तविक दृष्टि से उनका अस्तित्व इसी के आधार पर है। जैसे उत्पत्ति के नियमों (Laws of Production) एवं प्रतिस्थापन के सिद्धान्तों (Principles of Substitution) के अध्ययन से वे उत्पादन कारकों (Factors of Production) में कार्य कुशलता ला सकते हैं। जिस कारक में कार्य कुशलता की न्यूनता रहती है उसके स्थान पर अधिक कार्यकुशल कारक प्रतिस्थापित कर दिया जाता है। आधुनिक उत्पत्ति प्रणाली बहुत ही जटिल है। सदैव बड़ी-बड़ी समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं। इनको सुलझाने के लिये अर्थशास्त्र का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। यह उत्पत्ति सम्बन्धी सभी बातों पर उचित प्रकार से प्रकाश डालता है। यह बतलाता है कि उत्पत्ति के क्या-क्या साधन हैं, किन-किन उपायों से उत्पत्ति की जा सकती है तथा इस क्षेत्र में कौनसी मुख्य कठिनाइयाँ आती रहती हैं और कैसे उनका सामना किया जा सकता है। इसी प्रकार उत्पादन-प्रसार, श्रम-विभाजन वैज्ञानिक-प्रबन्ध, भृति (मजदूरी) प्रदान करने की रीतियाँ, सरकारी कर, मंडियों का संगठन, व्यापारिक मार्ग और सम्बन्ध, यातायात के साधन, बैंकों, बीमा कम्पनियों के संगठन का ज्ञान अर्थशास्त्र द्वारा मिल सकता है।

(३) व्यापारियों (Businessmen) को लाभ—व्यापार अर्थशास्त्र का कलात्मक रूप है। जिस प्रकार डाक्टर के लिए औषधियों का ज्ञान और वकील के लिये कानून का ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार व्यापारी के लिये अर्थशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। व्यापारियों के लिये बाजार-भाव की गतिविधि, उत्पादन प्रणाली, वस्तुओं की घटा-बढ़ी, और माँग के नियमों का जानना आवश्यक है। तभी वे अपने व्यवसाय का सफलता-पूर्वक प्रबन्ध कर सकते हैं। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय और विनिमय मुद्रा, बैंक आदि बातों को समझना परम आवश्यक है।

(४) बैंकरों (Bankers), प्रबन्धकों (Managers) तथा सचालकों (Directors) को लाभ—प्रबन्धकों और सचालकों तथा बैंकर्स के कार्यों में अर्थशास्त्र का ज्ञान मार्ग-प्रदर्शन का काम करता है। इसके सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने में ये व्यक्ति अपना कार्य विशेष दक्षता एवं कुशलता से कर सकते हैं।

(५) श्रमिकों (Labourers) को लाभ—अर्थशास्त्र का ज्ञान श्रमिकों को भी लाभकर सिद्ध होता है। इसके अध्ययन से उसे यह भली भाँति ज्ञात हो जाता है कि धनोत्पत्ति में उनका क्या स्थान है। उसे कितनी ही (न अधिक न न्यून) पारिश्रमिक या भृति क्या मिलती है, उसमें वह किस प्रकार वृद्धि कर सकता है, इन सब बातों को वह जान सकता है। इसके अध्ययन से उन्हें अपने अधिकारों और उत्तरदायित्वों का पूर्ण बोध हो जाता है। उसे यह भी ज्ञान हो जाता है कि श्रम और पूँजी किस प्रकार एक दूसरे पर आश्रित हैं। कब उसे अपने अधिकारों के लिये बुद्धिमत्ता से लड़ना चाहिए, कब उसे हड़ताल करनी चाहिए और कब नहीं करनी चाहिए समाज का उस पर क्या अधिकार है और विविध प्रकार के संगठनों से उसे क्या लाभ है आदि बातों का ज्ञान अर्थशास्त्र का अध्ययन करा देता है।

(६) राजनीतिज्ञों (Statesmen) और वित्त मन्त्रियों (Financial Ministers) को लाभ—जन साधारण व्यक्ति इस शास्त्र के अध्ययन से लाभ उठाते हैं तो राजनीतिज्ञों और अर्थ-मन्त्रियों के लिये क्या यह कम उपयोगी सिद्ध होगा ? कौटिल्य के अनुसार प्राचीन भारत में राजनीति अर्थशास्त्र का ही अंग था। आधुनिक काल में शासन की राजस्व व्यवस्था (Public Finance) अर्थशास्त्र का ही अंग है। बिना उचित कर-व्यवस्था के सरकारी व्यवस्था सम्भव नहीं। अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह बोध हो जाता है कि किस प्रकार कर आदि लगाना चाहिए और किस प्रकार उस आय को व्यय करना चाहिए जिससे अधिकतम सामाजिक लाभ (Maximum Social Advantage) प्राप्त हो सके। आर्थिक औद्योगिक योजनाएँ, फैक्ट्री-विधान और श्रमिकों के विधान, लगान और जमींदारी के विधान, समाजवाद, प्रमुख उद्योगों का राष्ट्रीयकरण आदि राजनीति के समान अर्थशास्त्र के भी विषय हैं। वास्तव में, राजनीति और शासन-व्यवस्था अर्थशास्त्र का क्रियात्मक रूप है।

(७) समाज सुधारक (Social Reformer) को लाभ—अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है जो समाज की आर्थिक समृद्धि का विवेचन करता है, सामाजिक समृद्धि समाज सुधारक का मुख्य लक्ष्य है। अतः अर्थशास्त्र का अध्ययन समाज सुधारक को बड़ा सहायक सिद्ध होता है। इसके अध्ययन से जाति-व्यवस्था, संयुक्त-परिवार-व्यवस्था आदि कई सामाजिक संस्थाओं और रीतियों पर आर्थिक दृष्टिकोण से विचार किया जाता है और उसमें आवश्यक सुधार करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। समाज-सुधारक बिना अर्थशास्त्र के ज्ञान के कई सामाजिक समस्याओं को जैसे दुर्भिक्ष, निर्धनता, अत्यधिक जन-संख्या, अबला-बाल-मृत्यु संख्या आदि को सरल नहीं कर सकता। इस प्रकार की समस्याएँ अर्थशास्त्र और समाज-सुधारक के अध्ययन की विषय-सामग्री है। अस्तु अर्थशास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न समाज सुधारक अपने सुधार के कार्यों में पर्याप्त सफलता प्राप्त कर सकता है।

(८) समाज (Society) को लाभ—अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य व्यक्ति और समाज दोनों के *आर्थिक कल्याण की वृद्धि करता है। मनुष्य सामाजिक* प्राणी है, उसके प्रत्येक कार्य का प्रभाव समाज पर पड़ता है। अतः अर्थशास्त्र का ज्ञान व्यक्तिगत दृष्टिकोण से ही नहीं, बल्कि सामाजिक दृष्टिकोण से भी अत्यन्त हितकर है। समाज को हानि पहुँचाने वाली व्यक्तिगत समस्याओं पर विवेचन करता हुआ उनके परित्याग का उपाय सुझाता है। विलासिता या मद्य-पान व्यक्ति को ही भ्रष्ट नहीं कर देते, वे समाज को भी विपत्ति के गर्भ में गिरा देते हैं। अतः अर्थशास्त्र इस प्रकार की हमारी हानिप्रद प्रवृत्तियों को सर्वप्रथम परित्याज्य वस्तु बताता है। प्रारम्भिक समस्याएँ आर्थिक कारणों से ही उत्पन्न होती हैं। सामाजिक उन्नति इन्हीं समस्याओं के सफलतापूर्वक सुलझाने पर आश्रित है। इन आर्थिक समस्याओं का निष्पक्ष समाधान अर्थशास्त्र के ही ज्ञान से मिल जाता है। उदाहरण के लिये, बेकारी, निर्धनता, धन वितरण में विषमता आदि समस्याएँ सामाजिक अशान्ति के प्रमुख कारण हैं। सामाजिक उन्नति तथा सुख के लिए इनसे छुटकारा पाना अति आवश्यक है। अर्थशास्त्र इन सब समस्याओं को सुलझाने में बड़ा सहायक है। अस्तु अर्थशास्त्र का अध्ययन उन्नति तथा सुख के दृष्टिकोण से अत्यन्त उपयोगी है।

गम्भीर सामाजिक समस्याएँ—संक्षेप में, अर्थशास्त्र द्वारा निम्नांकित गम्भीर सामाजिक समस्याओं को समझा और सुलझाया जा सकता है :—

शान दुलभ हो जाते हैं। एक धर्म एक भावना एक परिवार की रमणीयता यहा नहो तक बराबर रहती है। अपर्याप्त भोजन और वस्त्र मिलने के कारण बेचारे नवयुवक शिक्षा से वंचित रह जाते है उनकी जीवन कली उद्योग शालाओं में निरन्तर कठिन परिश्रम करने के कारण विकसित नहीं हो पाती। ऐसी भयकर अवस्था मे यदि कदाचित् व्याधि भी आगई तो बस विपत्ति का द्वार खुल जाता है। इस निधनता की समस्या का क्या कुछ समाधान है या नहो इसका उपयुक्त उत्तर अर्थशास्त्र का विद्यार्थी दे सकता है।

२—सामयिक दुर्भिक्ष (Periodical Famines)—भारतवर्ष की दरिद्रता मे सामयिक दुर्भिक्षो मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है। मुफलिसी में आटा गीला यह कहावत इस देश के लिये पूर्ण चरितार्थ होती है। दुर्भिक्ष को रोकने के उपायो का अर्थशास्त्र म पूर्ण विवेचन होता है इस दृष्टि से भी अर्थशास्त्र का अध्ययन महत्त्व पूर्ण है।

३—कृषि की अवनति—भारत एक कृषि प्रधान देश है तथापि इसकी कृषि सम्बन्धी अवस्था शोचनीय है। वह भारत जो विविध खाद्य सामग्रिया विदेशो को निर्यात करता था आज उसी के लिए वह दूसरे देशों का मुँह ताक रहा है। आधुनिक भारत अन्न-सकट-ग्रस्त है अत अर्थशास्त्र द्वारा निर्दिष्ट उपायो को अपनाने से इसकी विपत्तियाँ दूर हो सकती हैं।

४—उद्योग धन्धो की हीन दशा बेकारी की वृद्धि न्यून जीवन स्तर आदि समस्याएँ—उद्योग धन्धों की हीन अवस्था बेकारी की उत्तरोत्तर वृद्धि जन सख्या की वृद्धि विपद अवस्था तक पहुँचना जीवन स्तर का न्यूनतम होना धन वितरण की विषमता आदि अनेक समस्याओं के हल के लिये अर्थशास्त्र की शरण लेनी चाहिए। उद्योग धन्धों म उचित रूप म उन्नति हो जाने से बेकारी और अधिक जन सख्या की समस्याओं का स्वय ही सरल हो जाना स्वाभाविक है।

५—प्रान्तव घ हीन व्यापार मद्य निषेध आदि नीतियो का ज्ञान—प्रतिबन्धीय व्यापार मद्य निषेध आदि नीतियों का ज्ञान तथा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण आदि बातो के हानि-लाभ का ज्ञान अर्थशास्त्र के द्वारा हो सकता है। अत इसका अध्ययन इस दृष्टि से भी आवश्यक है।

६—धर्म मे अन्ध विश्वास—भारतवासियो के जीवन मे धर्म का एक विशिष्ट स्थान है। प्रत्येक बात मे धार्मिकता का पुट मिला होता है। अत्यधिक धर्म परायणता के कारण कई दिशाओं मे तो अन्ध विश्वास पैदा हो गया है। धार्मिक अन्ध विश्वास के कारण तथ्यो की व्याख्या और आदर्शों के निर्धारण म भूल हो जाना सम्भव है। उदाहरण के लिये जन्म या मृत्यु दरिद्रता अमीरी आदि बात अधिकांश भारतवासी प्रारब्ध ही के कारण या प्रकृतिदत्त अथवा ईश्वर दत्त मानते हैं परन्तु वास्तव मे ये आर्थिक एव सामाजिक कारणों से उत्पन्न होती है। इस प्रकार

1—The problem of poverty weighs heavily upon the modern social conscience Mr George Bernard Shaw one of the keenest thinkers of the present generation has put this very powerfully in his characteristic manner

के अंधविश्वास को हटाने और नैतिक जीवन को ऊँचा उठाने के लिए अर्थशास्त्र का अध्ययन अभीष्ट है।

७—साम्प्रदायिक अशांति—देश में साम्प्रदायिक शान्ति स्थापित करने में अर्थशास्त्र के अध्ययन से बड़ी सहायता मिल सकती है, क्योंकि हमारी आर्थिक कठिनाइयों की वास्तविकता देश के विभाजन व अन्य साम्प्रदायिक दावों में हल नहीं की जा सकती।

८—आदर्शों की पूर्ति—अर्थशास्त्र के अध्ययन से हम यह ज्ञान कर सकते हैं कि हमारा आर्थिक विकास आदर्शों से कितना न्यून है और इन आदर्शों की प्राप्ति के लिए हम क्या क्या उपाय कार्य रूप में लाने चाहिए, जिससे देश समृद्धि शाली हो सके।

धन-वितरण की विषमता को सरल करने में आधुनिक अर्थशास्त्र की सफलता—धन के वितरण की असीम विषमता अभी तक अर्थशास्त्र द्वारा हल नहीं हो सकी है। आजकल की उत्पत्ति प्रणाली में पूँजी की प्रधानता होने के कारण इसको 'पूँजीवाद प्रणाली' (Capitalistic System) कहना अत्युक्ति न होगा। इस प्रणाली में लाभ (Profit) की प्रधानता रहती है और अन्य उत्पादनकारकों (Factors of Production) का पारिश्रमिक इसके अन्तर्गत होता है जिससे पारस्परिक असंतोष रहने के कारण संघर्ष रहता है। श्रमिकों का उद्योगपतियों (Industrialists) द्वारा शोषण (Exploitation) होने की प्रवृत्ति ही औद्योगिक अशांति का मुख्य कारण है। आधुनिक उत्पत्ति प्रणाली में पूँजीपतियों का पूर्ण प्रभुत्व होता है और श्रमिक वर्ग उनकी तुलना में कहीं अधिक निर्बल होने के कारण उनसे अनुचित लाभ उठाया जाता है। यही कारण है कि पूँजीवाद के विरुद्ध अन्याय वाद, जैसे समाजवाद (Socialism) और साम्यवाद (Communism) आदि विविध वादों की उत्पत्ति हो गई है।

पूँजीपतियों की इस शोषण नीति के कारण सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा और श्रमिकों के रक्षार्थ फैक्ट्री विधान आदि कई कानून बना दिये गये हैं। श्रमिक स्वयं अपनी निर्बलता का अनुभव करने लग गए हैं और वे अपने आपको संगठित करने लगे हैं। अस्तु स्थान-स्थान पर व्यापार एवं श्रम संघों (Trade and Labour Unions) की स्थापना होती देखी जाती है।

देखा जाय तो धन वितरण की विषमता का पूँजीवाद प्रणाली ही मूल कारण है जिसके द्वारा धनी अधिक धनी होता जा रहा है और निर्धन अधिक दरिद्र बनता चला जा रहा है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि देश का धन परिमित धनाढ्यों या पूँजीपतियों के हाथों में ही सीमित है और अधिकांश जन-संख्या भुखमरी का शिकार हो रही है। यह भारी विषमता देश की शासन नीति पर पूर्णतया आश्रित है, अतः वही इसको दूर करने के समुचित साधनों का निर्माण करने में समर्थ है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—अर्थशास्त्र के अध्ययन में व्यावहारिक लाभ क्या हैं? इसका अध्ययन ग्रामीण जीवन के सुधार में किस प्रकार सहायक हो सकता है? (उ० प्र० १९५८)

२—अर्थशास्त्र की परिभाषा दीजिए और बताइये कि आधुनिक काल में इस विषय के अध्ययन का क्या महत्व है? (उ० प्र० १९५५)

३—अर्थशास्त्र की परिभाषा लिखिये और उसके अध्ययन से सैद्धान्तिक व व्यावहारिक लाभों का उल्लेख कीजिये। (उ० प्र० १९५३, ४०, ३९, ३२)

४—अर्थशास्त्र के अध्ययन की व्यावहारिक उपयोगिता का वर्णन कीजिये। (रा० बो० १९५३)

५—अर्थशास्त्र के अध्ययन से क्रियात्मक क्या लाभ है? (अ० बो० १९६०)

६—अर्थशास्त्र की परिभाषा लिखिए और अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य व महत्व स्पष्ट कीजिए। (नागपुर १९५०)

७—अर्थशास्त्र की परिभाषा लिखिए और बताइए कि व्यावहारिक समस्याओं के हल में इसके ज्ञान की क्या उपयोगिता है? (सागर १९५०)

८—अर्थशास्त्र का विषय क्या है? यह व्यावहारिक जीवन में किस हद तक उपयोगी है? (बनारस १९५३)

९—भारतीय परिस्थितियों में अर्थशास्त्र के अध्ययन का महत्व व्यक्त कीजिए। (म० भा० १९५२)

१०—अर्थशास्त्र के महत्व के बारे में अपने विचार प्रकट कीजिए। (उस्मानिया १९५०)

११—अर्थशास्त्र का अध्ययन इतना लोकप्रिय क्यों हो रहा है? (पंजाब १९४९)

इण्टर एग्रीकल्चर परीक्षा

१२—अर्थशास्त्र के अध्ययन से क्या-क्या लाभ है। (उ० प्र० १९५३)

अध्याय ८

आर्थिक जीवन का विकास
(Evolution of Economic Life)

अर्थशास्त्र मनुष्य की सामाजिक दृष्टि से आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन है, इस बात का विशद विवेचन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। आज के मनुष्य का जीवन बड़ा जटिल है। हमारी अधिकांश आवश्यकताएँ उन वस्तुओं से पूर्ण होती हैं जिनका उत्पादन या निर्माण दूसरे प्राणियों के द्वारा हुआ है या जो दूर स्थित स्थानों से आई हैं। हमारी आर्थिक क्रियाएँ दूसरों की आर्थिक क्रियाओं से सम्बन्धित हैं और हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति दूसरों की आवश्यकताओं पर आश्रित है। एक देश की आवश्यकताएँ तथा वहाँ के मनुष्यों का जीवन-स्तर अन्य देशों को प्रभावित करता है। इस प्रकार का आधुनिक आर्थिक ढाँचा बना है कि कोई वस्तु दूसरों को प्रभावित किए बिना स्वतन्त्र रूप से स्थिर नहीं रह सकती। यह मनुष्य का आधुनिक जटिल आर्थिक जीवन कुछ अचिर परिवर्तित वस्तु नहीं है।

संसार की प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य एक जंगली तथा असभ्य था और उसकी कुछ ही परिमित आवश्यकताओं में से भोजन की आवश्यकता मुख्य थी और उसकी पूर्ति वह स्वयं जानवर मारकर उनका माँस खाकर, मछली पकड़ कर अथवा कंद मूल फल खाकर पूर्ण करता था। शनैः शनैः इस असभ्य अवस्था में से निकल कर मनुष्य कई अवस्थाओं में, जैसे पशु पालन, कृषि, हस्तशिल्प अवस्था में, जीवन व्यतीत करता हुआ अनेक सहस्रों वर्षों के पश्चात् आज की अवस्था में आया है।

विभिन्न अवस्थाओं का विकास किसी विशेष क्रम से अवश्य हुआ पर कभी कभी एक से अधिक अवस्थाओं को एक ही समय में होता हुआ देखा जाता है। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न देशों में इसकी विकास अवस्थाओं में भी कुछ अन्तर पाया जाता है। उदाहरण के लिए, कई स्थानों में हस्तशिल्पकला का विकास कृषि अवस्था के साथ-साथ अथवा पूर्व ही हो गया और अनेक स्थानों में उसके बाद। इस विकास में मनुष्य कई बातों से प्रभावित हुआ पर हम यहाँ उसके केवल आर्थिक विकास का ही वर्णन करेंगे। समाज के आर्थिक विकास का अध्ययन मुख्यतः दो प्रकार से किया जा सकता है :—

१—मनुष्य की आवश्यकताएँ और उनकी पूर्ति करने वाली क्रियाओं का सृष्टि के आरम्भ से अब तक का ऐतिहासिक विकास।

२—समाज के आर्थिक संगठन का विकास।

इन दोनों तथ्यों का क्रम से नीचे वर्णन किया जाता है :—

१—आर्थिक क्रियाओं का विकास

(१) प्रत्यक्ष प्रयत्नों की अवस्था (Stage of Direct Efforts)—आधुनिक सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में आवश्यकता, प्रयत्नों और संतुष्टि से अत्यन्त घनिष्ठ एवं प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। किसी आवश्यकता की प्रेरणा होने ही प्रयत्न किया जाता था और उस प्रयत्न के फलस्वरूप सन्तुष्टि प्रत्यक्ष हो जाती थी। उदाहरण के लिये, किसी व्यक्ति को भूख लगती थी तो कन्द-मूल-फल और मांस मछली प्राप्त करने का प्रयत्न करता था और इन वस्तुओं को खाकर अपनी इच्छाओं की तृप्ति करता था। यदि किसी व्यक्ति को अपनी रक्षार्थ मकान जैसी वस्तु की आवश्यकता होती थी, तो वृक्षों की टहनियों और पत्तों आदि से झोपड़ी बनाता था या पर्वतों की कन्दराओं में प्रवेश करता था। वृक्षों के पत्ते, छाल और जानवरों की खाल से अपने शरीर की रक्षा करते थे। इस प्रकार इस अवस्था में प्रत्येक मनुष्य स्वावलम्बी था और अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करता था। अतः यह स्पष्ट हो गया कि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रयत्न करने पड़ते थे और प्रयत्नों के फलस्वरूप प्रत्यक्ष रूप से आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। इसी कारण इसे प्रत्यक्ष 'प्रयत्नों की अवस्था' कहते हैं। इसके पश्चात् यह सम्बन्ध अप्रत्यक्ष होता गया।

प्रत्यक्ष प्रयत्नों का क्रम निम्न प्रकार समझिये :—

आवश्यकताएं → प्रयत्न → संतुष्टि

(Wants)→(Efforts)→(Satisfaction)

(२) अप्रत्यक्ष प्रयत्नों की अवस्था (Stage of Indirect Efforts) सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकताओं में वृद्धि हुई और अब उसको अपने प्रयत्नों के द्वारा उसकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति में कठिनाई उपस्थित होने लगी। उसने तुरन्त इस बात का अनुभव किया कि वह अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। यदि वह केवल उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनके लिये वह सर्वथा योग्य और कुशल है और अन्य आवश्यक वस्तुएँ वह दूसरों से बदल कर अपनी तृप्ति कर सकता है। प्रत्यक्ष प्रयत्न केवल उसकी सीमित आवश्यकताओं के लिये ही सुलभ थे। बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति की प्रेरणा ने अप्रत्यक्ष प्रयत्नों अर्थात् विशिष्टीकरण और श्रम-विभाजन को जन्म दिया।

इस परिस्थिति के कारण प्रयत्नों और सन्तुष्टि के मध्य अन्तर पड़ गया जो अदला-बदली अर्थात् वस्तु-विनिमय (Barter) द्वारा पूरा किया जाने लगा। इस प्रकार कुछ मनुष्य कृषि का कार्य करने लग गये, कुछ कपड़े बुनने का, कुछ दर्जी का और कुछ सेना का कार्य करने लग गए। इस प्रकार विभिन्न प्रकार का कार्य विभिन्न मनुष्यों द्वारा सम्पन्न होने लगा। *हिन्दुओं की जाति-प्रथा का प्रादुर्भाव इसी अवस्था में* हुआ प्रगट होता है। वस्तु-विनिमय कैसे प्रयोग में लाया जाता था, यह इस प्रकार समझा जा सकता है कि यदि जुलाहे को अन्न की आवश्यकता होती थी तो वह अपने अतिरिक्त कपड़े को अन्न से बदल लेता था। इसी प्रकार अन्य वस्तुएँ भी एक दूसरे से आवश्यकतानुसार बदली जा सकती थी। यह बात अधोलिखित रेखाचित्र द्वारा और भी स्पष्ट कर दी गयी है :—

वस्तु-विनिमय

(३) औद्योगिक दलबन्दी की अवस्था (Stage of Industrial Grouping)—सभ्यता की उत्तरोत्तर उन्नति के कारण मनुष्यों की आवश्यकताओं और जनसंख्या में भी वृद्धि होती गई जिसके कारण आवश्यकताओं, प्रयत्नों और सन्तुष्टि के सम्बन्ध में और भी जटिलता आगई, जैसा कि आजकल हम अनुभव करते है। छोटी से छोटी वस्तु के लिए भी कोई यह नहीं कह सकता कि यह किसी व्यक्ति विशेष के उत्पादन का फल है। उसके उत्पादन में भी कई एक व्यक्तियों अथवा कारकों ने भाग लिया है। उदाहरणार्थ, एक जुलाहा यह नहीं कह सकता कि कपड़ा उसकी ही क्रियाओं का फल है। इसका कारण स्पष्ट है कि कपास का उत्पादन कृषक के द्वारा हुआ। उसकी ढुलाई और गाठों में बांधने का कार्य किन्हीं दूसरों के हाथ हुआ। सूत कातने का कार्य भी किन्हीं दूसरे व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न हुआ। जुलाहे ने तो केवल सूत की सहायता से कपड़ा बुना। इस प्रकार आजकल का आधुनिक उत्पादन कई व्यक्तियों के प्रयत्नों का परिणाम है। सहकारिता और सामूहिकता आजकल की उत्पादन-क्रियाओं का सार है। यह संयुक्त प्रयत्न औद्योगिक दल की आवश्यकताओं की पूर्ति वस्तु-विनिमय द्वारा करते है। फिर इस दल के प्रत्येक सदस्य की आवश्यकताओं की पूर्ति दल की आय के वितरण द्वारा होती है। बिना वितरण के, प्रत्येक व्यक्ति जिसने संयुक्त या सहकारिता उत्पादन प्रणाली मे भाग लिया है, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। इस प्रकार प्रयत्न और संतुष्टि के मध्य मे विनिमय वाले अन्तर के अतिरिक्त वितरण के रूप मे एक और अन्तर पैदा हो गया। आवश्यकताओं के बाद और प्रयत्नों के पश्चात् विनिमय होता है और फिर वितरण और अन्त मे सन्तुष्टि होती है। अब स्थिति निम्न प्रकार हो गई :—

वस्तु-विनिमय वितरण

आवश्यकताऐं→प्रयत्न ⁀ सन्तुष्टि ⁀ सन्तुष्टि
(व्यक्तिगत) (दल के सदस्य (दल की) (व्यक्तिगत आवश्यकताओं की)
के रूप मे)

(४) मुद्रा के प्रयोग की अवस्था (Stage of the Use of Money)—यह वह अवस्था है जिसमे हम रह रहे है। अब तक वस्तु-विनिमय प्रणाली प्रचलित थी। इसके द्वारा कई एक कठिनाइयां उपस्थित होने लगी और बढ़ती हुई मनुष्य की आवश्यकताओं के लिए वस्तु-विनिमय सर्वथा अयोग्य सिद्ध होने के कारण मुद्रा-विनिमय (Money Exchange) का आविष्कार हुआ। सच है—"आवश्यकता आविष्कारो की जननी है।" आजकल दल द्वारा उत्पादित वस्तुऐं मुद्रा के बदले बेची जाने के कारण दल को आय होने लगी है। दल की आय दल के सदस्यो मे वितरित होने के कारण दल के प्रत्येक सदस्य को व्यक्तिगत आय होती है और वह सेवाऐं प्राप्त कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। वर्तमान अवस्था इससे पूर्व वाली अवस्था से भिन्न है, क्योंकि उसमे दल की उत्पत्ति वस्तु-विनिमय द्वारा होती थी न कि मुद्रा-विनिमय द्वारा और औद्योगिक जटिलता भी बढ़ गई है।

वर्तमान प्रचलित प्रणाली की विशेषताएं

यह युग निम्नलिखित दो परिवर्तनों के कारण विशेषता रखता है। प्रथम कोई एक वस्तु कई दलों के परिश्रम का फल है। दूसरे विनिमय-प्रणाली में परिवर्तन हुआ है।

[अ] प्रथम बात का स्पष्टीकरण एक उदाहरण देकर किया जा सकता है। ऊनी वस्त्रों के निर्माण में जिसे हम पहनते हैं कई एक दलों ने भाग लिया है उनका उल्लेख नीचे किया जाता है —

१. भेड़ों को पालने वाले जो ऊन उतार कर एकत्रित करते हैं।

२. विविध दलों के लोग जो ऊन को चरागाहों से मण्डियों में पहुँचाते हैं। इसमें सब प्रकार के यातायात साधन भी देश, काल और परिस्थिति के अनुसार सम्मिलित हैं।

३. ऊन के विविध कोटि के व्यापारी।

४. वे क्रियाएँ जहाँ ऊन की सफाई होकर गाँठों का रूप धारण करती है।

५. ऊन के कातने वाले।

६. ऊन का कपड़ा बनाने वाले।

७. ऊनी कपड़े के व्यापारी।

८. दर्जी।

९. बैंक और अन्य आर्थिक सहायता प्रदान करने वाले दल।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि ऊनी वस्त्र जो जाड़े से हमारे शरीर को शीत से बचाता है उस रूप में आने के पूर्व कई एक दलों की सेवाओं और परिश्रम का फल है। प्रत्येक उत्पादक-दल को संयुक्त उत्पत्ति के विक्रय से संयुक्त भुगतान मुद्रा के रूप में प्राप्त होता है और वह दल के सदस्यों में वितरित कर दिया जाता है। प्रत्येक सदस्य अपनी आय से इच्छित वस्तुओं का क्रय कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

[ब] द्वितीय परिवर्तन है विनिमय प्रणाली जो इसी युग की एक मुख्य विशेषता है। आजकल विनिमय मुद्रा अथवा साख से होता है। मुद्रा-विनिमय द्वारा दल का प्रत्येक सदस्य अपनी आवश्यकता की पूर्ति सुविधा पूर्वक कर सकता है। इस प्रथा ने सदस्यों को पारस्परिक अधिक आश्रित बना दिया है और आवश्यकताओं, प्रयत्नों तथा सन्तुष्टि के सम्बन्ध को अधिक अप्रत्यक्ष एवं जटिल बना दिया है। यह सम्बन्ध नीचे दिये हुए पटल द्वारा अधिक बोधगम्य हो गया है—

विनिमय | वितरण | विनिमय

आवश्यकता → प्रयत्न ⁀ आय ⁀ आय ⁀ सन्तुष्टि
(व्यक्तिगत) (दल के सदस्य के रूप में) (दल की) (व्यक्तिगत) (व्यक्तिगत आवश्यकताओं की)
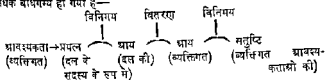
२—समाज का आर्थिक संगठन

ऊपर हमने मनुष्यों की व्यक्तिगत आर्थिक क्रियाओं का विवेचन ऐतिहासिक दृष्टि से किया है। अब हम उन अवस्थाओं का वर्णन करेंगे जो सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक विकासशील रहीं, समाज के आर्थिक संगठन का विकास कही जाती हैं।

समाज के आर्थिक संगठन का इतिहास साधारणतया निम्नलिखित अवस्थाओं में विभाजित किया जाता है :—

(१) आखेट अवस्था (Hunting Stage)

(२) पशु-पालन अवस्था (Pastoral Stage)

(३) कृषि अवस्था (Agricultural Stage)

(४) हस्तशिल्प कला अवस्था (Handicraft Stage)

(५) औद्योगिक अवस्था (Industrial Stage)

(१) आखेट अवस्था (Hunting & Fishing Stage)

आखेट अवस्था

भोजन—यह मनुष्य के आर्थिक जीवन की प्रथम अवस्था है जिसमे मनुष्य अपने जीवन का निर्वाह जानवरो का आखेट अर्थात् शिकार कर तथा मछली मारकर करता था। वन में प्रकृति-दत्त कन्द-मूल-फल-जड़ से पेट भरता था अतः इसे जड़ खोदकर निर्वाह करने (Root grubbing) की अवस्था भी कहते है। शिकार करने के साधनो के अभाव मे ऐसा करना पड़ता था। मनुष्य की आवश्यकताएँ अत्यधिक सीमित तथा साधारण थी। आवश्यकताओ, प्रयत्नों और सन्तुष्टि मे सम्बन्ध बिल्कुल प्रत्यक्ष था। उदाहरण के लिये, भूख की प्रेरणा जानवर या मछली का शिकार करने के लिये बाध्य करती थी। शिकार द्वारा भोजन बड़ा अनिश्चित था। यदि जानवर मारा गया तो उनको आहार मिल जाया करता था, अन्यथा भूखे रहना पड़ता था। प्रारम्भिक अवस्था मे जब कि हथियारो मे सुधार नही हुआ था वह भूखे मरने हुए मृतक जानवरो का माँस भी खा लेता था। बीमार, घायल अथवा विपद ग्रस्त जानवरों का मारना सरल होता है अत. उनका माँस प्रयोग मे लिया जाता था। यही नही वह पराजित एव बन्दी व्यक्तियो और अस्वस्थ बच्चो, को भी मार कर अपना भोजन का कार्य चलाता था। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय 'मनुष्य माँस भक्षण' (Cannibalism) प्रचलित था।

हथियार—जड़ खोदने की अवस्था का आखेट अवस्था मे परिणत होने पर शिकार सम्बन्धी हथियारो का प्रादुर्भाव हुआ। प्रारम्भिक अवस्था मे शिकार करने के लिये सर्वप्रथम सुलभ हथियार पत्थर था। वह पत्थर और लकड़ी की सहायता से खरगोश, चूहे आदि छोटे छोटे जानवरो को मार लेता था। इसीलिए इसे 'पाषाण काल' कहते हैं। उत्तर पाषाण काल मे इन हथियारो मे सुधार हुआ और इसके पश्चात् उसने धातु का प्रयोग सीखा और कई धातु के हथियार जैसे—तीर, चाकू, हथौड़ा आदि शिकार करने मे प्रयुक्त होने लगे। इसी कारण यह युग 'धातु काल' कहलाता है।

वस्त्र—प्रारम्भ मे इस काल का मनुष्य नग्नावस्था मे जीवन बिताता था। समय और परिस्थितियो ने उसे पेड़ो की छाल या पत्ता अथवा जानवरो की खाल से शरीर को ढकना सिखाया।

रहने की व्यवस्था तथा भ्रमणशील जीवन—रहने के लिए उस काल का मनुष्य स्वय अपनी झोपड़ी तैयार कर लेता था अथवा कहीं गुफा मे या सघन वृक्ष के नीचे शरण लेता था। भोजन के अभाव के कारण मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर शिकार की खोज मे घूमता फिरता था। स्थायी रूप से उसका कोई घर नहीं था। वह प्राय घुमक्कड़ था। एक स्थान के जानवरो और कन्द-मूल फलों की न्यूनता हो जाने पर वह इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये अन्य स्थानो पर चला जाया करता था। शिकार

के लिए पारस्परिक लड़ाइयां बहुत होती थी। पराजित व्यक्तियों के रखने के साधनों के अभाव में वे मार दिये जाते थे और उनका मांस खाने के काम में आता था। परन्तु मछलियों पर निर्वाह करने वाली जातियाँ एक स्थान पर बहुत समय तक स्थित रहती थी। उनमें इतनी पारस्परिक लड़ाई भी नही होती थी। उनका जीवन आखेटक जातियों की अपेक्षा अधिक सरल और सुखमय था।

जनसंख्या—इस युग की जनता भ्रमणशील एवं विरल थी, क्योंकि जीवन निर्वाह के साधन अत्यन्त न्यून, अप्राप्य और अनिश्चित थे, और भ्रमणशीलता का दूसरा कारण यह था कि जानवर शिकारी की निरन्तर आखेट क्रियाओं से सतर्क रहते थे और वे बहुत दूर गहरे वन में भाग जाया करते थे। अतः शिकारी भी उनके साथ दूर तक निकल जाता था। कन्द-मूल-फल, वनस्पति आदि प्रकृति-दत्त पदार्थ यद्यपि प्रचुर थे पर उनके खाद्य योग्य होने में भी समय की आवश्यकता होती थी। कभी कभी दुर्भिक्ष के कारण भी पर्याप्त मात्रा में पैदा नही होते थे। अतः जनता के निर्वाह के के लिये इस अवस्था में विस्तृत वनों की आवश्यकता होती थी। एक शिकारी के निर्वाह के लिए न्यूनातिन्यून ५० हजार एकड़ भूमि अथवा ७० से ८० वर्ग मील भूमि की आवश्यकता होती थी। इसलिये अन्य अवस्थाओं के कारण इस युग की जनसंख्या बहुत कम थी।

सामाजिक एवं आर्थिक दशा—उस समय के निवासी बिलकुल जंगली और असभ्य थे। वस्तुओं के व्यक्तिगत अधिकार का प्रचलन अभी तक नही हुआ था। आखेट और मत्स्य जीवन अवस्था में साधारण हथियारों के अतिरिक्त किसी की कोई विशेष वस्तु नही होती थी। किसी वस्तु की जैसे ही आवश्यकता हुई, अर्जित की गई और उपयुक्त हो गयी। प्रत्येक व्यक्ति अपने में पूर्ण था। बिना किसी सहायता के वह अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति कर लिया करता था। अभी विनिमय का सूत्रपात नही हुआ था। पारस्परिक सहयोग तथा मेल नही था। सदैव आपस में लड़ते रहते थे। शिकारी लोगों की अपेक्षा मछली पर जीवन निर्वाह करने वालों का जीवन अधिक शान्तिमय था और वह एक स्थान पर जमकर भी रहते थे। उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति इन शिकारी लोगों की अपेक्षा अधिक थी। मछली पकड़ने के हथियार, नावें और स्थायी घर बार उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति में सम्मिलित थे। मछली पकड़ने वालों की जनसंख्या शिकारी लोगों की अपेक्षा घनी थी।

(२) पशु-पालन अवस्था (Pastoral Stage)

विशेषतायें—पशु-पालन प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव—आखेट अवस्था में मनुष्य अपना निर्वाह जानवरों का शिकार कर और मछली मारकर करता था। यह साधन अपर्याप्त होने के अतिरिक्त अनिश्चित था। शिकार न मिलने की अवस्था में कई बार बिना आहार के दिन काटने पड़ते थे। शनैः शनैः उसने इस बात का अनु-

पशु-पालन अवस्था

भव करना प्रारम्भ किया कि जानवरो को मारने के स्थान पर उन्हे पालना कही अधिक लाभदायक है। वैसे तो इस जीवन मे उसका जानवरो से सम्पर्क भी बढता गया जिसके कारण उनको मारने की अपेक्षा पालने की प्रवृत्ति उत्पन्न होने लगी। जनसख्या की वृद्धि के साथ साथ मनुष्य को भोजन प्राप्त करने के अधिक सुव्यवस्थित ढग के अभाव का अनुभव होने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि उसने पशुपालन को अपने निर्वाह का साधन बनाया जिसके द्वारा बढती हुई जन सख्या के लिए पर्याप्त मात्रा मे निश्चित रूप मे भोजन मिलने लगा। सबसे प्रथम उसने घोडा, बाद मे कुत्ता उसके पश्चात् गाय, बैल भैस बकरी आदि जानवर पालना प्रारम्भ किया। प्रारम्भ मे घोडो और कुत्तो को भोजन की खोज के लिये अपने साथ ले जाते थे, परन्तु कालान्तर मे वे अधिकाश मे पशुपालन से ही अपना जीवन निर्वाह करने लगा।

भोजन और वस्त्र—गाय, भैस, भेड-बकरी आदि पशुओ के दूध से उनको भोजन की चिन्ता कम हुई और वस्त्रो के लिये ऊन प्राप्त होने लगी।

पशु द्वारा यातायात के साधन—अब जानवर सवारी और भार ढोने के काम भी आने लगे जिससे आने-जाने मे भी अधिक सुविधा मिलने लगी।

पर्यटनशील जीवन—(Nomadic Life)—पशुपालन के लिये चरागाहो की आवश्यकता होने लगी। मनुष्य जगली जानवरो से बचने के लिये जत्थे या टोलियाँ बनाकर रहने लगे और चरागाहो की खोज मे भटकते फिरने लगे। जहाँ भी अच्छे चरागाह मिल जाते, थोडे दिनो के लिये वही ठहर जाते। फिर किसी दूसरे अच्छे चरागाहो की खोज करते थे। इस प्रकार उनका जीवन पर्यटनशील था। वे घुमक्कड कहलाते थे, जो अपने जानवरो के साथ इधर उधर फिरा करते थे। आखेट अवस्था मे अपने भोजन के लिये इधर-उधर फिरते थे, परन्तु अब वह अपने पशुओ के भोजन अर्थात् चारे की खोज मे फिरने लगे।

आवास—पर्यटनशील होने के कारण वे एक स्थान पर मकान बनाकर स्थायी रूप से नही रह सकते थे। अत वे अपने साथ तम्बू रखते थे जो अल्पकालीन निवास के लिए उपयोगी सिद्ध होते थे।

जनसख्या—भोजन की प्रचुरता, निश्चितता और इसके साधनो की सुरक्षा के कारण अब आखेट अवस्था की अपेक्षा जीवन अधिक सुखमय बन गया और जनसंख्या मे वृद्धि होने लगी।

अब मनुष्य भोजन के लिए प्रकृति के अनिश्चित भागार का अवलम्बन छोड कर निजी परिश्रम पर निर्भर रहने लगा।

दासता (Slavery) का जन्म—बहुधा ऐसी घुमक्कड जातियाँ चरागाहो की खोज मे परस्पर निरन्तर लडाई झगडा करती थी। परन्तु इस समय के युद्ध मे आखेट अवस्था की अपेक्षा एक विशेषता यह थी कि युद्ध बन्दियो को मारकर खा जाने के स्थान मे उन्हे दासता की बेडी मे जकड दिया जाता था। विजेता उन्हे अपने दास बनाकर पशुओ की रखवाली तथा अन्य लाभदायक कठिन कार्यों मे नियुक्त कर दिया करता था। इस प्रकार नर भक्षण का स्थान इस अवस्था मे दासता ने ले लिया था। दासत्व प्रथा का जन्म इसी काल मे हुआ।

सामाजिक एव आर्थिक दशा—अभी तक भूमि पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार न था। केवल दास, पशु और हथियार ही व्यक्तिगत सम्पत्ति मे गिने जाते थे। चरागाहो पर एक जाति केवल घास शेष रहने तक अपना अधिकार रखती थी। एक

चरागाह की घास समाप्त होने पर वे लोग अन्य घास वाले चरागाहों की खोज में चल पड़ते थे। इस प्रकार मनुष्य अब अपने लिए नहीं अपने पशुओं के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमने लगा। विनिमय क्रियाओं से अभी तक लोग अनभिज्ञ थे। वे अपनी आवश्यकताओं की स्वयं ही अपने प्रयत्न द्वारा पूर्ति करते थे। आवश्यकता, प्रयत्न तथा पूर्ति इन तीनों का सम्बन्ध पहले की भाँति अब भी वैसे ही प्रत्यक्ष (Direct) था।

(३) कृषि अवस्था (Agricultural Stage)

जानवरों के पालने के साथ-साथ मनुष्य ने जगली पौधों को भी पालना प्रारम्भ किया। जानवरों के लिए घास एकत्रित करने की प्रवृत्ति ने सम्भवतः कृषि को जन्म दिया। ज्ञान और अनुभव की वृद्धि ने कालान्तर में मनुष्य को अनेक लाभ दायक पौधों के उत्पादन की ओर अग्रसर किया।
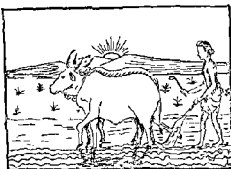
कृषि अवस्था

भोजन और वस्त्र—कृषि द्वारा लोगों को कई प्रकार के खाद्य पदार्थ उपलब्ध होने लगे और कपास आदि वस्तुओं की खेती ने वस्त्र की समस्या को भी हल कर दिया। अब भोजन अधिक पर्याप्त और निश्चित हो गया, अतः इनको अपने शारीरिक एवं मानसिक विकासार्थ समय मिलने लगा।

आवास—अब कृषि की देख भाल के लिए मनुष्य को एक स्थान पर बसना आवश्यक हो गया। लोगों ने अपने खेतों के आस-पास स्थायी मकान बनाकर रहना प्रारम्भ कर दिया। ये मकान प्रारम्भिक अवस्था में कुटीर के रूप में अथवा मिट्टी के बने हुए होते थे। इस प्रकार लोगों के भ्रमणशील जीवन का अन्त होकर स्थायी गाँवों की उत्पत्ति हो गई। शनैः शनैः कई एक छोटे गाँवों ने बड़े नगरों का रूप धारण कर लिया।

जनसख्या—पहले की अपेक्षा मनुष्य के एवं पशुओं के भरण-पोषण के साधन अधिक पर्याप्त तथा निश्चित होने के कारण जनसख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। विभिन्न प्रकार की फसलों की उपज, पशु पालन तथा अधिक शान्तिमय मानव-जीवन के कारण जनसख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। यह अवस्था पूर्व उल्लिखित अवस्था की अपेक्षा अधिक जन-सख्या का भरण पोषण करने में समर्थ थी।

दासत्व प्रथा की अधिक दृढ़ता—कृषि अवस्था की दासत्व प्रथा और भी दृढ़ हो गई। खेती-बाड़ी के कार्य के लिए दासों की सेवा अधिक उपयोगी सिद्ध होने लगी। इसलिए विजेता दासों को अमूल्य सम्पत्ति मानने लगे।

सामाजिक एव आर्थिक विकास—धीरे धीरे मनुष्य परिवार बनाकर रहने लगे। भूमि पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं होता था, किन्तु वह सारी जाति की सम्पत्ति मानी जाती थी। हाँ, मकान तथा अन्य अचल सम्पत्ति पर अलग-

अलग परिवारों का अवश्य अधिकार होता था। इस अवस्था में प्रत्येक परिवार अधिकांश में स्वावलम्बी होता था। बाह्य समाज से इसका सम्पर्क बहुत ही कम रहता था। इस प्रकार के कई कृषक परिवारों के एक समूह से गाँव का जन्म हुआ। गाँवों का जीवन बिल्कुल सादा और स्वावलम्बी होता था। उसके निवासी अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ मिल-जुल कर स्वयं बनाते थे। वे दूसरे गाँव के श्रमिकों की प्रतीक्षा नहीं करते थे। प्रायः गाँव में लोहा और नमक इत्यादि वस्तुओं के अतिरिक्त बहुत कम वस्तुएँ बाहर से आती थी। कई स्थानों के राजनैतिक, धार्मिक, व्यापारिक अथवा और किसी अन्य कारण से महत्वपूर्ण हो जाने से बड़े-बड़े नगरों की स्थापना हो गई।

गाँव में अधिकतर मनुष्य खेती करते थे। गाँव में एक श्रेणी ऐसी होती थी जो खेती न कर अन्य धन्धे करते थे, जैसे कपड़ा बुनना, मिट्टी के बरतन बनाना, तेल पेरना, लकड़ी का काम करना, जूता बनाना इत्यादि। ऐसे लोग कारीगर कहलाते थे। कारीगरों और कृषकों को अपनी अपनी वस्तुओं को बेचने के लिए बाहर नहीं जाना पड़ता था, ग्राम में ही बिक जाती थी। विनिमय वस्तुओं द्वारा ही होता था। मुद्रा का जन्म अभी नहीं हुआ था।

श्रमिकों की भृति (मजदूरी) भी वस्तुओं (Kind) में दी जाती थी। साधारण रूप में श्रम विभाजन का प्रारम्भ इस काल में ही हो चुका था। इस अवस्था में आवश्यकताओं, प्रयत्नों और पूर्ति में कुछ अंश में परोक्ष सम्बन्ध स्थापित होने लग गया था।

सामन्त (Zamindari) प्रथा का प्रादुर्भाव—इस अवस्था के प्रारम्भ काल में जो मनुष्य जितनी भूमि साफ करके उसमें कृषि कार्य कर सकता था वह उसका स्वामी बन बैठता था। ग्राम समाज में कुछ लोग ऐसे भी थे जो कई कारणों से अपने समाज के मुखिया बन बैठे थे। इन लोगों ने दूसरों की भूमि छीनना आरम्भ किया और लोगों से अपना कृषि कार्य कराने लगे अथवा उनकी कृषि में से भाग लेने लगे। इस प्रकार किसानों (Tenants) का जन्म हुआ। यह प्रथा बढ़ते-बढ़ते इतनी बढ़ी कि कृषि युग सामन्त प्रथा में परिणत हो गया। इस सामन्त प्रथा में थोड़े से व्यक्ति सारी भूमि के स्वामी होते थे। ये सामन्त अपने राजा के प्रति स्वामिभक्ति रखते थे और अपनी अपनी भूमि को किसानों में बाँट देते थे जो उसे जोतते-बोते थे और उपज का अधिकांश अपने सामन्तों को देते थे।

व्यापारी वर्ग की उत्पत्ति—वैसे देखा जाय तो मनुष्य जीवन में वणिक वृत्ति का प्रादुर्भाव भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न समय में हुआ। सबसे प्रथम समुद्र तटीय जातियों ने व्यापार आरम्भ किया था। फिर जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकताओं की वृद्धि हुई, आवागमन के साधनों में उन्नति होती गई और श्रम विभाजन बढ़ता गया वैसे-वैसे व्यापार का क्षेत्र भी बढ़ता गया। प्रारम्भ में व्यापार का संकीर्ण क्षेत्र था अर्थात् एक गाँव तक ही सीमित था। धीरे धीरे सामन्त जमींदार वर्ग बहुत धनी हो गया और फलस्वरूप उनकी आवश्यकताएँ भी बढ़ने लगीं। उन्हें नई-नई और उत्तम विलास की वस्तुओं की इच्छा होने लगी। कारीगर भी इन अमीरों की इच्छाओं की पूर्ति के हेतु अच्छी अच्छी वस्तुएँ बनाने लगे। ये वस्तुएँ अब एक स्थान से दूसरे स्थान की आवश्यकतानुसार जाने लगीं। तब एक वर्ग और पैदा हुआ जिसका नाम व्यापारी वर्ग रखा गया। ये व्यापारी लोग एक स्थान से वस्तुएँ खरीद कर दूसरे

स्थान में बेचते थे। अभी तक लोग ग्रामों में अपनी वस्तु देकर उसके बदले में अपनी आवश्यक वस्तु ले लेते थे। रुपये-पैसे की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। परन्तु जब व्यापार में वृद्धि हुई तो व्यापारी लोग वस्तुओं का क्रय विक्रय दूर-दूर तक करने लगे। अब व्यापार एक सकीर्ण क्षेत्र तक ही सीमित न होकर विस्तृत हो गया और इस प्रगति के साथ मुद्रा का भी आविष्कार हुआ, यद्यपि उसका प्रारम्भिक अवस्था में एक अपूर्ण रूप था। इस युग के अन्त में वस्तुओं के निर्माणार्थ छोटे-छोटे कारखाने खुल गये जिनका विस्तृत उल्लेख अगली अवस्था में जो 'हस्तशिल्प अवस्था' कहलाता है, किया जावेगा।

(४) हस्तशिल्प कला अवस्था (Handicraft Stage)

विशेषताएँ—कारीगरों के स्थायी वर्गों की स्थापना—समाज की आर्थिक उन्नति के साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकताओं में भी वृद्धि हुई। इनकी पूर्ति के लिए नई-नई वस्तुएँ तैयार करने के उद्योग किये जाने लगे। धीरे-धीरे स्वावलबी परिवारों की अवस्था का अन्त होने लगा और अलग अलग हस्त शिल्पियों के वर्गों की स्थापना होकर सारा समाज बड़े-बड़े पेशों या धंधों में विभाजित हो गया। उदाहरणार्थ, लुहार, जुलाहे, बढ़ई, तेली, मोची आदि के धंधे। अब वे उन वस्तुओं के बनाने में ही सारा समय और शक्ति लगाने लगे जिन्हें वे उत्तम रीति-नीति से बना सकते थे, क्योंकि इनके बदले में अन्य आवश्यक वस्तुएँ सुगमता से उपलब्ध होने लगीं।
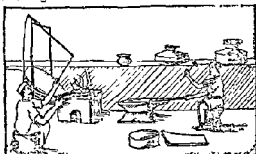
हस्तशिल्प कला अवस्था

दस्तकारी या हस्तकला युग क्यों कहलाता है? इस युग में वस्तुओं का निर्माण हाथ से ही होता था, अभी तक मशीनों का आविष्कार नहीं हुआ था। अतः इस अवस्था को दस्तकारी अथवा हस्तकला युग कहते है।

दास प्रथा का अन्त—पूर्व प्रचलित दास प्रथा का इस समय तक पूर्ण अन्त हो गया था। सब लोग स्वतन्त्रतापूर्वक रहने लगे।

विशिष्टीकरण और श्रम-विभाजन—धीरे-धीरे लोग अलग-अलग वस्तुओं के बनाने में दक्षता प्राप्त करने की चेष्टा करने लगे। फलस्वरूप श्रम-विभाजन प्रारम्भ हुआ। कोई बढ़ई का काम करने लगा, कोई कुम्हार बन बैठा और कोई कपड़ा बुनने लगा। इस प्रकार लोग विविध वस्तुओं के बनाने में निपुण बनने लगे। ये लोग कारीगर अथवा कलाकार के नाम से सम्बोधित किये जाने लगे।

मुद्रा-विनिमय प्रथा—इस कला के प्रारम्भ में वस्तुओं का पारस्परिक विनिमय होने लगा। उदाहरण के लिए, कुम्हार अपने बर्तनों को जुलाहे के कपड़ों से, किसान अपने अन्न को लुहार के औजारों से अदल-बदल करने लगे। कालान्तर में वस्तु-विनिमय में कई कठिनाइयाँ और असुविधाएँ अनुभव होने लगीं। इनको दूर करने के लिये किसी

सर्वमान्य विनिमय माध्यम की खोज होने लगी, भिन्न-भिन्न स्थानों और समय पर भिन्न-भिन्न वस्तुएँ विनिमय का माध्यम बनाई गई। अब वस्तुओं का विनिमय प्रत्यक्ष रूप से न होकर इन वस्तुओं के माध्यम द्वारा किया जाने लगा। ऐसी वस्तु जो विनिमय के माध्यम का काम करती थी 'मुद्रा' कहलाने लगी। धीरे-धीरे मुद्रा ने वस्तुओं के पारस्परिक अदल-बदल का स्थान ले लिया जिसके कारण व्यापार में पर्याप्त उन्नति हुई। मुद्रा का चलन इस युग की एक मुख्य विशेषता है।

पारिवारिक प्रणाली (Domestic System)—आरम्भ में कारीगर स्वतन्त्र रूप में काम करते थे। वे अपने अपने औजार रखते थे और अपनी पूँजी से कच्चा माल आदि आवश्यक वस्तुएँ खरीदते थे। तैयार हुई वस्तुओं की बिक्री का भी स्वयं प्रबन्ध करते थे और जो कुछ लाभ प्राप्त होता था वह सब भाग उन्हीं का ही होता था। इस अवस्था में उत्पत्ति छोटे पैमाने पर की जाती थी। कारीगर उत्पत्ति के कार्य में अधिकतर अपने कुटुम्बियों से ही सहायता लेते थे। क्रमशः उद्योग-धन्धों में उन्नति होने लगी। वस्तुओं की माँग का क्षेत्र विस्तृत होता गया। पूँजी की भी आवश्यकता बढ़ती गई। व्यापारी कारीगरों से अपने कच्चे माल पर मजदूरी देकर माल तैयार करवाने लगे। कारीगरों को माल निश्चित समय पर तैयार कर पूँजीपतियों को देना पड़ता था। बदले में उन्हें मजदूरी मिलती थी। इस प्रकार उत्पादक और उपभोक्ता के बीच में मध्यस्थ का काम व्यापारी वर्ग करने लगे। उत्पत्ति की इस प्रथा को 'पारिवारिक प्रणाली' कहते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे 'पूँजीवाद' की नींव पड़ने लगी।

संघों की स्थापना—इस युग की एक विशेषता यह थी कि प्रत्येक धन्धे के लोगों का अलग अलग संघ था जिसे 'कारीगर संघ' (Craft Guild) कहते थे। इन संघों का कार्य वस्तुओं के मूल्य निर्धारण करना और उनके सम्बन्ध में अन्य आवश्यक नियम बनाना आदि होते थे। इन नियमों का पालन करना प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य था। शनैः शनैः कारीगरी संघों का स्थान 'व्यापारी संघ' (Merchants Guild) ने ले लिया जो कि व्यापार सम्बन्धी समस्त विषयों को उन्नतिशील बनाने के अतिरिक्त राजनैतिक महत्त्व भी रखते थे।

व्यापार में उन्नति—विनिमय-प्रथा द्वारा अधिक सुगमता मिलने से व्यापार में पर्याप्त उन्नति हुई।

बड़े नगरों की स्थापना—औद्योगिक तथा व्यापारिक उन्नति के साथ-साथ नगरों का बसना भी स्वाभाविक था। कारीगर उन स्थानों पर जाकर बसने लगे जहाँ पर काम के लिए कच्चा माल मिल सके और तैयार माल के बेचने में सुविधा हो। इस प्रकार लोगों ने प्रमुख सड़कों, नदी तथा समुद्र तटों पर स्थित नगरों में बसना प्रारम्भ कर दिया।

आवश्यकताओं, प्रयत्नों और सन्तुष्टि में अधिक परोक्षता—अब आवश्यकताओं, प्रयत्नों और तृप्ति के मध्य पूर्ववत् प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रहा। एक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सभी वस्तुएँ स्वयं उत्पन्न न करता था। वह किसी एक विशेष वस्तु बनाने में लग जाता था जिसके विनिमय द्वारा अन्य इच्छित वस्तुएँ वह प्राप्त कर सकता था। इस विशेषता को यों भी कहा जा सकता है कि अब विनिमय द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति की जाने लगी।

(५) औद्योगिक अर्थात् वर्तमान अवस्था (Industrial stage)

औद्योगिक अवस्था
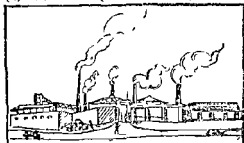
मनुष्य की भौतिक उन्नति के फलस्वरूप उसकी आवश्यकताएँ भी उत्तरोत्तर बढ़ती गईं। अब वस्तुओं की बढ़ती हुई माँगों को हाथ द्वारा बनाई गई वस्तुएँ पूर्ति करने में असमर्थ सिद्ध होने लगीं। सच तो यह है कि 'आवश्यकता आविष्कारों की जननी है'। मनुष्य ने आविष्कारों के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहने के परिणाम स्वरूप कालान्तर में कई एक मशीनों के आविष्कार किए जिनके द्वारा आर्थिक जीवन में बहुत उथल पुथल मच गई। उस समय के प्रारम्भिक आविष्कार में से 'जेम्स वॉट का स्टीम इंजन'। जान के का 'फ्लाइंग शटल' और कार्टराइट का 'पावर लूम' आदि उल्लेखनीय हैं। इन आविष्कारों ने आर्थिक-जीवन की पूर्णतया कायापलट कर दी। उत्पत्ति, व्यापार, यातायात आदि सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति हुई। ये परिवर्तन इतने व्यापक थे कि इन्हें 'औद्योगिक क्रान्ति' (Industrial Revolution) से सम्बोधित करते है। इस औद्योगिक क्रान्ति ने इंगलैंड में १८ वीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पदार्पण किया। भारतवर्ष में कुछ देर से इसका प्रभाव पड़ा।

हस्तकला का स्थान मशीनों ने ले लिया—नई-नई मशीनों के आविष्कारों से उत्पत्ति का ढाँचा बिलकुल बदल गया। अब हस्तकला का स्थान मशीनों ने ले लिया है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का निर्माण कल-कारखानों के द्वारा होने लग गया है। उन्नतिशील देशों में आजकल उत्पत्ति अधिकतर मशीन द्वारा ही होती है।

कारखाना प्रणाली (Factory System) का जन्म—विविध प्रकार की मशीनों के आविष्कारों ने बड़े-बड़े कारखानों को जन्म दिया, जिनमें भाप, पानी अथवा बिजली आदि की शीघ्रता से चलने वाली मशीनों का प्रयोग किया जाता है। मशीनों के प्रयोग से उत्पत्ति की मात्रा में बहुत वृद्धि हो गई है। उत्पादन का व्यय कम हो गया है, और वस्तुएँ सस्ती हो गई है। दस्तकार कारखानों में जाने लग गया है।

इसके फलस्वरूप दस्तकारों के द्वारा बनाई हुई वस्तुएँ कारखानों की प्रतियोगिता (Competition) में नहीं ठहर सकीं और दस्तकारों को अपना धन्धा छोड़ कर मजदूर वर्ग में सम्मिलित होना पड़ा। जो कारीगर अपने घरों में अपनी पूँजी और कुटुम्बियों के साथ स्वच्छन्दता पूर्वक कार्य करते थे वे आज उद्योगपतियों के नौकरों के रूप में श्रमिक होकर काम करते हुए दृष्टिगोचर होते है। सहस्रों की संख्या में एकत्रित होकर 'एक पूँजी वाले व्यक्ति' अथवा संस्था के लिए वस्तुएँ तैयार करते हैं।

पूँजी सचय करना, कच्चे माल को खरीदना अथवा तैयार माल को बेचना अब श्रमिकों का कार्य नहीं रहा। उनका काम तो केवल माल तैयार करना है जिसके

बदले उन्हें एक निश्चित पुरस्कार जिसे, 'भृति या मजदूरी' कहते हैं, मिलता है। इस प्रकार के धनोत्पादन ढंग को 'कारखाना प्रणाली' कहते हैं।

पूँजीपति वर्ग और श्रमिक वर्ग में संघर्ष—आधुनिक कारखाना प्रणाली ने समाज को दो कृत्रिम श्रेणियों में विभक्त कर दिया है। एक तो पूँजीपति वर्ग जो कारखाने के एक प्रकार से पूर्ण स्वामी होते हैं और दूसरे श्रमिक वर्ग जो केवल वेतन के लिए कारखाना में पूँजीपतियों के अधीन काम करते हैं। पहले मालिक और मजदूर में कोई विशेष अन्तर नहीं था। दोनों एक दूसरे से मिल-जुल कर काम करते थे, मालिक मजदूर को मजदूर न समझ कर अपना एक पारिवारिक व्यक्ति समझता था। दोनों में परस्पर मत-भेद और संघर्ष का कोई स्थान न था, किन्तु ये सब बातें हवा हो गई। और इसके फलस्वरूप दोनों के मध्य में सम्बन्ध ने संघर्ष का रूप धारण कर लिया है और पारस्परिक बड़ा मतभेद उत्पन्न हो गया है। कभी मजदूर अपनी माँगों की पूर्ति के हेतु हड़ताल (Strike) कर बैठते हैं और कभी पूँजीपति कारखाने को ताला लगा (Lookout) देते हैं। समाजवाद (Socialism) और साम्यवाद (Communism) की उत्पत्ति भी इसी संघर्ष का एकमात्र कारण है।

पूँजीवाद की दृढ़ता (Capitalism)—इससे पूर्व अवस्था में तो पूँजीवाद की केवल नींव ही पड़ी थी, परन्तु इस अवस्था में इसने अपना सुसंगठित रूप धारण कर लिया है। इस समय संसार के अधिकांश देशों में समाज का आर्थिक संगठन इसी प्रकार है। लगभग सम्पूर्ण शक्ति पूँजीपतियों के हाथ में है। आधुनिक कारखाना प्रणाली में पूँजी का महत्व बढ़ गया है क्योंकि आजकल की विशाल औद्योगिक एवं व्यापारिक व्यवस्था बिना पूँजी प्रणाली के सम्भव नहीं है। आधुनिक उत्पत्ति पर विशेष प्रभुत्व होने के कारण यह 'पूँजीवाद युग' कहा जाता है। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिये कि समाजवाद और साम्यवाद ने भी इससे टक्कर लेने को जन्म पा लिया है। रूस ने तो पूँजीवाद प्रथा का अन्त कर दिया है। वहाँ समाज का आर्थिक संगठन अब साम्यवाद प्रथा के अनुसार है। अभी कुछ दिन पूर्व पूर्वी यूरोप में और एशिया में मुख्यतः चीन ने भी पूँजीवाद प्रथा का अन्त कर दिया है और साम्यवाद प्रथा को अपना लिया है।

प्रतियोगिता और व्यापारिक स्वतन्त्रता (Competition or Free Trade)—प्रतियोगिता और व्यापारिक स्वतन्त्रता इस प्रथा के दो प्रमुख चिन्ह हैं।

शारीरिक नैतिक तथा सामाजिक पतन—कारखाना प्रणाली के अन्तर्गत शारीरिक, नैतिक और सामाजिक विकार उत्पन्न हो गये हैं। अधिक लाभ पूँजीपतियों द्वारा उठाया जाता है और श्रमिक वर्ग को केवल जीवित रहने के लिये ही भृति (मजदूरी) मिलती है जिससे उसका शारीरिक तथा नैतिक पतन स्वाभाविक है।

प्रकृति पर आधिपत्य—मशीनों की सहायता से मनुष्य का आधिपत्य प्रकृति पर बहुत बढ़ गया है। अनेक प्राकृतिक शक्तियों का प्रयोग धनोत्पादन में किया जाने लगा है जिसके कारण उत्पत्ति बड़े परिमाण में होने लग गई है। जलीय, थलीय और आकाशीय यातायात के साधनों की उन्नति से स्थानान्तर कम होकर देश-देशान्तरों में पारस्परिक सम्पर्क स्थापित कर इस विश्व को एक कुटुम्ब के समान बना दिया है। इस युग में कल-कारखानों, यातायात व साम्यवाद के साधनों, बैंकों और बीमा कम्पनियों की उन्नति से आज का व्यापार स्थानीय अथवा राष्ट्रीय न रह कर अन्त-

राष्ट्रीय हो गया है। कृषि में भी मशीनों का प्रचुर प्रयोग होने से व्यापार के लिये खेती होना सम्भव हो गया है।

धात्वीय एवं पत्र-मुद्रा द्वारा विनिमय—बढ़ती हुई आर्थिक जटिलता ने मनुष्य द्वारा अधिक कुशल मुद्रा का आविष्कार करवा दिया है। साथ ही साथ बैंकों द्वारा साख मुद्रा के प्रचार ने भी आर्थिक जीवन को प्रगतिशील बनाने में कम सहायता नहीं दी है।

आवश्यकताओं प्रयत्नों और सन्तुष्टि में अधिक परोक्षता—अब आवश्यकता, प्रयत्न और सतुष्टि के मध्य बहुत ही परोक्ष सम्बन्ध हो गया है। बिना विनिमय और वितरण के सहयोग से आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अब वह काम करता है जिसमें लिए उसमे अधिक योग्यता होती है। कार्य के बदले उसे मुद्रा में वेतन मिलता है जिसकी सहायता से वह अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त कर अपनी इच्छाओं को पूर्ण कर सकता है। नि:सदेह आज का आर्थिक जीवन पहले की अपेक्षा अत्यन्त जटिल बन गया है जिसके फलस्वरूप यह सम्बन्ध अधिक परोक्ष (Indirect) हो गया है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मनुष्य के आर्थिक जीवन में देश व कालानुसार बहुत परिवर्तन होते रहे है। इसी कारण अर्थशास्त्र को एक विकासशील (Evolutionary) विज्ञान माना गया है। अत हमें आधुनिक आर्थिक जीवन के वास्तविक रूप का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए समय-समय के इस प्रकार के परिवर्तनों का अध्ययन करना आवश्यक है। यहाँ भी स्मरण रहे कि परिवर्तनों के मध्य कोई ऐसी भित्ति नहीं है जिसके कारण एक अवस्था पूर्णतया समाप्त होने के पश्चात् ही अगली अवस्था का प्रारम्भ हो तथा दो विभिन्न स्थानों में एक ही समय में अन्य अवस्थाएँ भी देखी जाती है। जैसे वर्तमान औद्योगिक युग में भी कृषि और घरेलू धन्धे भी साथ-साथ आर्थिक जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग बने हुए है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—मनुष्य के आर्थिक जीवन के विकास के विषय में आप क्या जानते है ? कृषि युग तथा औद्योगिक युग में मुख्य अन्तर क्या है ? (उ० प्र० १९५९)

२—आदिकाल से अब तक विभिन्न श्रेणियों के द्वारा आर्थिक जीवन का जो विकास हुआ है। उसका वर्णन कीजिये तथा प्रत्येक के लक्षणों को सक्षिप्त में समझाइए। (रा० बो० १९५४)

३—मानव समाज के आर्थिक विकास के मुख्य सीमा चिन्ह क्या है ? (अ० बो० १९६०)

४—पशुपालन युग में शिकारी अवस्था से घनी और कृषि अवस्था से कम घनी आबादी क्यों होती है ? (अ० बो० १९५८)

५—आर्थिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं की मुख्य विशेषताओं को बताइए। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में विकास के क्या परीक्षण है ? (पंजाब १९५४)

६—आर्थिक जीवन के विकास का सक्षेप में लिखिए। (दिल्ली हा० से० १९५५, ५३)

अध्याय ६

कुछ पारिभाषिक शब्द

(Some Technical Terms)

पारिभाषिक शब्दों के ज्ञान की आवश्यकता

जैसा कि प्रथम अध्याय में व्यक्त किया जा चुका है कि अर्थशास्त्र मनुष्य के साधारण जीवन के कार्यों का अध्ययन है। अतः इसमें साधारण बोलचाल के शब्दों का ही प्रयोग किया जाना स्वाभाविक है। इन शब्दों का साधारण अर्थ अर्थशास्त्रीय अर्थ से बिल्कुल भिन्न होता है। जिस शब्द का अर्थशास्त्र की दृष्टि से हम एक विशेष अर्थ लगाते हैं उसका साधारण बोलचाल की भाषा में अन्य अर्थ लगाया जाता है। इसी कारण इनके अर्थों में भ्रम उत्पन्न हो जाना सम्भव है। अतः ऐसे कतिपय शब्दों की व्याख्या नीचे की जाती है :—

उपयोगिता (Utility)—किसी वस्तु की आवश्यकता-पूरक शक्ति को उपयोगिता कहते हैं। यदि कोई वस्तु हमारी किसी आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है, तो हम कहेंगे कि उस वस्तु में उपयोगिता है। उदाहरण के लिये, गेहूँ, भवन, पुस्तक, मदिरा आदि वस्तुएँ मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ हैं। अतः उनमें उपयोगिता है।

अर्थशास्त्र में उपयोगिता शब्द किसी नैतिक दृष्टि से प्रयुक्त नहीं होता। इसके प्रयोग से लाभ या आनन्द का भाव भी प्रकट नहीं होता है। साधारण बोलचाल में उपयोगिता का अर्थ किसी वस्तु का उपयोगी या लाभप्रद होना है। इसके अनुसार समस्त मादक वस्तुएँ उपयोगी और लाभप्रद नहीं होतीं। चाहे कोई वस्तु नैतिक दृष्टि से बुरी हो या अच्छी, लाभप्रद अथवा हानिकारक, कड़वी या स्वादिष्ट, यदि वह किसी भी आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ है, तो अर्थशास्त्र की दृष्टि से उसमें उपयोगिता है। शराब, अफीम आदि मादक वस्तुएँ, नशीली वस्तुएँ होने से हानिकारक हैं पर मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता रखने के कारण ये उपयोगिता-युक्त वस्तुएँ मानी जाती हैं। किसी वस्तु के उपभोग का क्या परिणाम होगा अथवा वह इच्छा कैसी है, जिसकी पूर्ति की जा रही है, इससे कोई प्रयोजन नहीं है। उपयोगिता के लिये वस्तु का किसी के लिये अभीष्ट होना ही पर्याप्त है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उपयोगिता के कारण ही किसी वस्तु पर प्रत्येक की चाह होती है। जिस वस्तु की जितनी ही अधिक उपयोगिता प्रतीत होगी, उतनी ही अधिक उसकी चाह होगी और उसी के अनुसार अन्य वस्तु का उसके बदले में आदान-प्रदान होगा। इस कारण से विनिमय में उपयोगिता का विचार प्रधान रूप से किया जाता है।

उपयोगिता मनुष्य की आवश्यकता की प्रबलता या तीव्रता पर अवलम्बित है। जितनी अधिक या कम जिस वस्तु की आवश्यकता होगी उतनी ही अधिक या कम उस वस्तु की उपयोगिता होगी। यदि किसी समय बहुत तेज भूख लगी हो तो उस समय रोटी की हमारे लिये बड़ी उपयोगिता होगी। मान लीजिये कोई व्यक्ति जोधपुर कुछदामपुर की मरुस्थली में यात्रा कर रहा है वह प्यास से इतना अधिक विकल हो जाय कि एक गिलास पानी बिना मर जाय। इस दशा में पानी की उसके लिये आवश्यकता अत्यधिक है। अतः पानी की उपयोगिता अपेक्षाकृत अधिक है। किन्तु वही यात्री अपने विश्राम भवन में कुछ ही प्यासा हो, तो पानी की आवश्यकता परमावश्यक नहीं है। इसी कारण पानी की उपयोगिता उसके लिये कुछ नहीं के बराबर रहेगी।

आवश्यकताएं देश, काल और व्यक्ति विशेष के अनुसार भिन्नता रखती है—प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकताएँ एक-सी नहीं होती, और न हर समय वे वैसी ही बनी रहती है अर्थात् आवश्यकता देश, काल और व्यक्ति विशेष के अनुसार भिन्नता रखती है। उदाहरणार्थ, थार मरुस्थल में बालू मिट्टी की तनिक भी उपयोगिता नहीं है, परन्तु नगरों म भवन निर्माण करने वाले व्यक्तियों के लिये इसकी बड़ी उपयोगिता है। ग्रीष्म ऋतु म ऊनी वस्त्रों की लेशमात्र भी उपयोगिता नहीं होती, परन्तु शरद ऋतु मे उनकी बड़ी उपयोगिता होती है। माँसाहारी के लिये माँस उपयोगिता रखता है, परन्तु शाकाहारी के लिये नहीं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु की उपयोगिता उस वस्तु की आवश्यकता के साथ जन्म लेती है और आवश्यकता की तृप्ति के साथ ही अपनी कहानी समाप्त कर देती है। अस्तु उपयोगिता एक वाह्य गुण है जो कि आवश्यकता के कारण किसी वस्तु को प्राप्त होती है। उपयोगिता केवल वस्तु और उसके उपभोक्ता के मध्य सम्बन्ध प्रकट करती है।

अर्हा (Value)—अर्हा एक वस्तु के अन्दर रहने वाली एक शक्ति है, जो दूसरी वस्तुओं के साथ अपना परिवर्तन करने मे आज्ञा प्रदान करती है। आशय यह है कि एक वस्तु की अर्हा परिवर्तनीय वस्तु से सतुलित की जाती है। यदि एक तोला सोना, ६० तोला चाँदी से परिवर्तित किया जाय तो सोना चाँदी की अपेक्षा ६० गुना शक्ति वाला है, अथवा चाँदी की शक्ति सोने की शक्ति की १/६० है।

मार्शल महाशय ने कहा है 'अर्हा (Value) साधारणतया वह वस्तु है जो दूसरी वस्तुओं के परिवर्तन मे माध्यम हो।' यह सापेक्ष शब्द है। एक वस्तु का दूसरी वस्तु से सतुलन कराने का साधन है। यदि ससार मे एक ही वस्तु होती तो अर्हा (Value) का तात्पर्य कुछ न होता, क्योंकि ऐसी अवस्था मे परिवर्तन सम्भव हो नहीं।

इस शब्द का उपयोग दो अर्थों मे किया जाता है :—

(१) प्रयोगार्हा (Value-in Use)—इसका अर्थ उपयोगिता से है। वास्तव में देखा जाय तो किसी वस्तु की उपयोगिता पर उसका मूल्य निर्भर है। जब तक किसी वस्तु मे उपयोगिता न होगी, तब तक कोई पदार्थ उसके बदले मे कुछ भी मूल्य देने के लिये तैयार न होगा। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि एक वस्तु में उपयोगिता है तो उसमें मूल्य का होना आवश्यक है। अथवा जितनी अधिक या कम उपयोगिता होगी उतनी ही अधिक या कम उस वस्तु की अर्हा होगी। संक्षेप में,

मूल्य दो बातों पर निर्भर है—उपयोगिता (Utility) और न्यूनता (Scarcity)। यदि इन दो बातों में से एक भी अनुपस्थित हो, तो वस्तु का मूल्य नहीं होगा। यदि एक वस्तु में उपयोगिता बहुत है पर न्यूनता नहीं है, अर्थात् वह प्रचुर मात्रा में विद्यमान है तो उसका मूल्य कुछ नहीं या बहुत कम होगा। जैसे, सूर्य का प्रकाश, शुद्ध वायु, जल आदि। इसी प्रकार यदि कोई दर्जी एक ऐसी कमीज बनाता है जो किसी के शरीर के लिए समुचित नहीं बैठती तो इसका कुछ भी मूल्य नहीं है, क्योंकि इस कमीज की उपयोगिता नहीं है। प्रयोगाहता का अर्थ 'उपयोगिता' शब्द से पूर्ण रूप से प्रकट नहीं होता, यद्यपि वे एक दूसरे के पर्यायवाची से हैं, तथापि हम अर्हा शब्द को 'उपयोगिता' के अर्थ में उपयुक्त नहीं समझते।

(२) विनिमय अर्हा—(Value-in-Exchange)—किसी वस्तु की क्रय शक्ति को विनिमय-अर्हा कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि किसी वस्तु के बदले में दूसरी वस्तुएँ कितनी मिल सकती हैं। उदाहरण के लिये, यदि एक मेज के बदले में चार कुर्सियाँ प्राप्त हो सकती हैं, तो हम कहेंगे कि एक मेज का मूल्य चार कुर्सियाँ हैं और चार कुर्सियों का मूल्य एक मेज है। विनिमय अर्हा एक सापेक्ष (Relative) शब्द है। यदि मेज की अर्हा में वृद्धि हो जाती है, तो कुर्सियों की अर्हा अवश्य गिर जायगी। अतः सारी वस्तुओं की अर्हा में सामान्य वृद्धि (General Rise) नहीं हो सकती, क्योंकि एक की वृद्धि अन्य वस्तुओं की अर्हा की गिरावट में कारण बन जायगी।
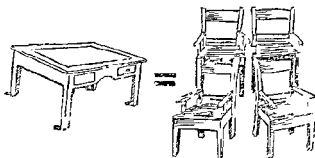
विनिमय अर्हा (Value-in Exchange)

वास्तव में, यह शब्द सापेक्ष होने से केवल दो प्रकार की वस्तुओं में किसी समय या स्थान विशेष पर सम्बन्ध स्थापित करता है। यह सम्बन्ध अस्थायी होता है। समय और स्थान परिवर्तन से सम्बन्ध का परिवर्तन भी स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ, बर्फ शीत-देशों की अपेक्षा उष्ण देशों में अधिक उपयोगी है। इसी प्रकार ग्रीष्मकाल में शीतकाल की अपेक्षा उसकी उपयोगिता अधिक है।

मूल्य (Price)—यदि किसी वस्तु या सेवा का मूल्य मुद्रा (Money) द्वारा प्रकट किया जाता है तो उसे 'मूल्य' कहते हैं। जैसे एक मेज का कीमत ८० रु० है। तो यह उसका मूल्य कहा जायगा। आजकल वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य अधिकतर
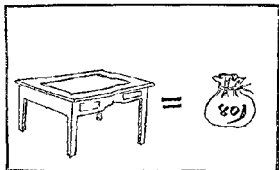
मूल्य (Price)

मुद्रा में ही आँका जाता है। सारी वस्तुओं के मूल्य में साधारण वृद्धि हो सकती है, इसका अर्थ यह है कि मुद्रा की क्रय शक्ति में ह्रास हो गया है।

वस्तु (Goods)—हम चारों ओर कुछ ऐसी वस्तुओं से अपने को घिरा हुआ पाते हैं जिनसे हमारी अभिलाषाएँ या आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती हैं। हल जिससे खेत जोता करते हैं, चरस जिससे पानी खींचा जाता है, पुस्तकें जिनसे चरित्र निर्माण होता है, पगडी, कोट, कमीज जो शरीर रक्षा के साधन हैं और सूर्य रमणीय प्राकृतिक-दृश्य, सान्ध्य गगन जिनसे मन प्रसन्न होता है आदि—सभी हमारी आवश्यकताओं अथवा अभिलाषाओं को पूर्ण करते हैं। अत ये सभी प्राकृतिक या अप्राकृतिक साधन 'वस्तु' से पुकारे जाते हैं। प्रोफेसर मार्शल के मत में 'वस्तु' की परिभाषा यह है : "वे पदार्थ जो मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति करें, 'वस्तु' हैं।"

साधारण बोलचाल में वस्तु का अर्थ उन पदार्थों से है जिन पर किसी समूह का अधिकार हो। परन्तु अर्थशास्त्र में यह शब्द एक विशेष अर्थ रखता है। "कोई भी पदार्थ भौतिक हो अथवा अभौतिक जिसमें मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने की शक्ति हो, अर्थात् उपयोगिता हो, वस्तु कही जाती है।" किसी पदार्थ को 'वस्तु' की कोटि में आने के लिये उसमें उपयोगिता होना आवश्यक है। उदाहरण के लिये, जल, वायु, भवन, मेज, कुर्सी, पुस्तक आदि भौतिक वस्तुएँ और प्रेम, स्नेह, मित्रता आदि अभौतिक पदार्थ वस्तुओं के अन्तर्गत हैं। वस्तुओं के अन्तर्गत डाक्टर, वकील, प्रोफेसर द्वारा सम्पादित सेवा और यातायात के साधन आदि, जो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ हैं, सम्मिलित हैं।

कुछ लोग प्रायः 'वस्तु' शब्द को परिभाषित करते समय यह समझ बैठते हैं कि वस्तु शब्द वाञ्छनीय वस्तुओं के लिये व्यवहृत होता है। किसी चीज की उपयोगिता ही उसे 'वस्तु' की कोटि में लाने के लिये पर्याप्त है। अमुक वस्तु वांछनीय है या अवांछनीय, इससे कोई सम्बन्ध नहीं। उदाहरण के लिये, मदिरा अवांछनीय है किन्तु यदि यह किसी की आवश्यकता या इच्छा को तृप्त करती है तो वह अवश्य 'वस्तु' है।

वस्तुओं का वर्गीकरण (Classification of Goods)—वस्तुएँ अनेक प्रकार की होती हैं जिनका वर्गीकरण निम्न प्रकार समझना चाहिये :—

(१) भौतिक और अभौतिक (Material and Non-Material)

(२) हस्तान्तरणीय और अहस्तान्तरणीय (Transferable and Non-transferable)

(३) प्राकृतिक या स्वत्वहीन और आर्थिक या स्वत्वपूर्ण वस्तुएं (Free and Economic Goods)

(४) उपभोग्य और उत्पादक वस्तुएं (Consumption and Production Goods)

(५) चिरस्थायी और अचिरस्थायी वस्तुएं (Durable and Perishable Goods)

(६) व्यक्तिगत और सार्वजनिक वस्तुएं (Private and Public Goods)

(१) भौतिक और अभौतिक वस्तुएं

भौतिक वस्तुएं (Material Goods) – वे वस्तुएं जिनमें आकार, प्रकार और भार हो तथा जिन्हें कोई व्यक्ति देख सके या छू सके, भौतिक वस्तुएं कहलाती हैं। मटर, चना, गेहूं, ईख कपास तिल आदि कृषिज, लोहा, सोना, तांबा, कोयला, पन्ना, अबरक आदि खनिज, उद्योगशालाओं द्वारा उत्पादित विविध अगणित पदार्थ, मन्त्र, भवन, उपकरण, उपस्कर, (मेज कुर्सी सोफा, स्टूल, सन्दूक, आलमारी) और भोजनीय पदार्थ अर्थशास्त्र में 'वस्तु' कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त जल, वायु, जल-वायु, भूमि, अग्नि आदि लाभप्रद प्राकृतिक पदार्थ और समस्त प्रकार के प्रयोजनीय अथवा व्यवहार्य अधिकार (ग्राम, नगर, जनपद विद्यालय, चिकित्सालय, कार्यालय का आधिपत्य) तथा भौतिक वस्तुओं के संग्रह, संरक्षण और उपभोग में लाने के स्वत्व और अधिकार (कम्पनियों के अंश (Shares), ऋण बन्ध (Debenture Bond), एकस्व अधिकार-पत्र (Patent Right), प्रतिलिप्यधिकार-पत्र (Copy-Right), विविध स्थानों की यात्रा करने तथा रमणीय दृश्यों से आनन्द प्राप्त करने के अधिकार, की गणना भी भौतिक वस्तुओं की कोटि में सम्मिलित है। ये वस्तुएं 'बाह्य' और परिवर्तनीय अथवा हस्तान्तरणीय होती हैं।

भौतिक वस्तुओं की विशेषताएं—भौतिक वस्तुओं की दो मुख्य विशेषताएं हैं जो निम्नलिखित है :—

(१) भौतिक वस्तुएं बाह्य (External) होती है और उनका अस्तित्व व्यक्ति से पृथक् होता है जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है।

(२) वे हस्तान्तरणीय होती हैं अर्थात् उनका एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के लिये हस्तान्तरण सम्भव है।

अभौतिक वस्तुएं (Non-material Goods)—वे वस्तुएं, जिनका आकार, प्रकार या भार न हो और जिन्हें हम देख या छू भी न सकें, उन्हें 'अभौतिक वस्तुएं' कहते हैं। इस प्रकार की वस्तुओं का प्राय व्यक्तिगत रूप होने के कारण वैयक्तिक वस्तु (Personal Goods) के नाम से भी पुकारा जाता है। किसी व्यक्ति की व्यापारिक योग्यता, कार्य-कुशलता, ज्ञान, मित्रता, सुजनता, सुप्रसिद्धि आदि इसके उपर्युक्त उदाहरण हैं।

अभौतिक वस्तुओं के विभाग—अभौतिक वस्तुएं दो प्रकार की होती हैं—(अ) आभ्यान्तरिक (Internal), (ब) बाह्य (External)।

(अ) आन्तरिक अभौतिक वस्तुओं (Internal Non-Material Goods) मे उन सब वैयक्तिक गुणों और शक्तियों का समावेश होता है जो मनुष्य के भीतर पाई जाती है, और वे गुण या शक्तियाँ उससे पृथक नहीं की जा सकती, जैसे-किसी व्यापारी की कार्य कुशलता तथा किसी डाक्टर की योग्यता तथा चतुरता आदि इस श्रेणी की वस्तुएं हैं।

विशेषता—इस प्रकार की वस्तुएँ अहस्तान्तरणीय है, अर्थात् एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित नही की जा सकती। उदाहरण के लिये, किसी डाक्टर की योग्यता तथा चातुर्य का क्रय विक्रय कदापि नही हो सकता। उसकी सेवाओं का लाभ उठाया जा सकता है।

(ब) वाह्य अभौतिक वस्तुएं—(External Non-material Goods)—वाह्य अभौतिक वस्तुओं के अन्तर्गत व्यापार की ख्याति (Good will) व्यापारिक सम्बन्ध आदि इस प्रकार की वस्तुएँ सम्मिलित की जाती है।

विशेषता—इस प्रकार की वस्तुएँ हस्तान्तरणीय होती है क्योंकि वे एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित की जा सकती है। उदाहरण के लिय, व्यापार की ख्याति का क्रय-विक्रय होते देखा जाता है।

(२) हस्तान्तरणीय और अहस्तान्तरणीय वस्तुएं

(अ) हस्तान्तरणीय वस्तुएं (Transferable Goods)—वे वस्तुएँ जिनका हस्तान्तरण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को किया जा सके अर्थात् क्रय विक्रय हो सके, हस्तान्तरणीय वस्तुएँ कहलाती हैं। जैसे अन्न, वस्त्र, मेज, कुर्सी, पुस्तक, कम्पनी के अश, व्यापार की ख्याति आदि। भूमि-भवनादि अचल सम्पत्ति भी विनिमय साध्य होने के कारण इस श्रेणी मे सम्मिलित है, यद्यपि उनका हस्तान्तरण चल रूप मे सम्भव नही है, फिर भी उनका स्वामित्व प्रचलित-विधान के अनुसार हस्तान्तरणीय है।

विनिमय साध्यता के आवश्यक गुण

(१) वस्तु मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का गुण होना चाहिये।

(२) केवल अधिकार-परिवर्तन का गुण भी पर्याप्त हो सकता है।

(ब) अहस्तान्तरणीय वस्तुएं (Non-transferable Goods)—जिन वस्तुओ या उनके स्वामित्व का हस्तान्तरण सभव नही, अर्थात् जिनका क्रय विक्रय नही हो सकता, उन्हे अहस्तान्तरण वस्तुएँ कहते है। जैसे, डाक्टर की योग्यता, वकील की कुशलता, गायक के सुरीले स्वर, अध्यापक का ज्ञान आदि। केवल इनकी सेवाओं का उपयोग दूसरो द्वारा हो सकता है।

प्रोफेसर मार्शल का 'वस्तुओ का वर्गीकरण'[1]—प्रो० मार्शल का 'वस्तु-वर्गीकरण' निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा भली भांति समझाया गया है:—

1—Marshall's Principles of Economics, (P 54-55)

[मटर, चना, ईख, [सूर्य का प्रकाश,
तगारा, (कृषज) सोना, वायु, अग्नि, मोटर-
तांबा, कोयला (खनिज) लाइसेंस, प्रमाण-पत्र,
तथा उद्योगशालाओं द्वारा बीमा आदि]
उत्पादित पदार्थ, आदि]

वैयक्तिक या अहस्तान्तरणीय (Personal or Non-transferable) [कार्य कुशलता, सचाई, स्वास्थ, बुद्धिमत्ता आदि]

हस्तान्तरणीय (Transferable) [व्यापार की ख्याति व व्यापारिक सम्बन्ध आदि।]

अहस्तान्तरणीय (Non-Transferable) [व्यक्तिगत व्यापारिक सम्बन्ध]
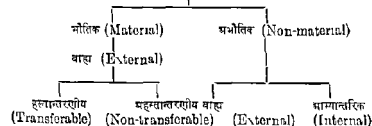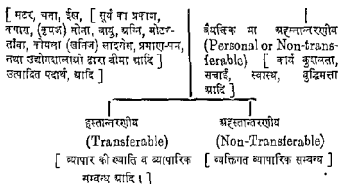
(३) प्राकृतिक या स्वत्वहीन और आर्थिक या स्वत्वपूर्ण वस्तुएं

प्राकृतिक या स्वत्वहीन वस्तुएँ (Natural or Free Goods)—कुछ वस्तुएं ऐसी होती है जिनको प्रकृति मनुष्य के उपभोग के लिये नि:शुल्क इतनी प्रचुर मात्रा में देती है कि मनुष्य को उनके लिये कोई श्रम नहीं करना पडता इसलिये इनको 'नि:शुल्क वस्तुएं' कहते है। इन वस्तुओं के प्रकृति-दत्त होने से इन पर किसी का स्वत्व नहीं होता है। अतः इन्हे स्वत्व-हीन वस्तुएं (Unappropriate Goods) भी कहते है। उदाहरण के लिये, जलवायु, सर्दी, गर्मी, प्रारम्भिक स्थिति में प्राप्त भूमि आदि।

आर्थिक या स्वत्वपूर्ण वस्तुएं (Economic Goods)—जो वस्तुएं सीमित मात्रा में विद्यमान है, जो मनुष्य के प्रयत्न से उत्पन्न होती है, जिस पर किसी का स्वत्व स्थापित हो गया है और जिनके विनिमय मे अन्य वस्तुएं या सेवाएं अथवा मुद्रा (Money) देना पडता हो, उन्हे 'आर्थिक या स्वत्वपूर्ण वस्तुएं' कहते है। जैसे, अन्न, वस्त्र, भवन, मोटर, पुस्तकें, उपस्कर (मेज-कुर्सी, आदि)।

(४) उपभोग और उत्पत्ति की वस्तुएँ

उपयोग की वस्तुएं (Consumption Goods)—जो वस्तुएं मनुष्य के काम आती है अर्थात् जिनमे प्रत्यक्ष और तात्कालिक रूप से मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, उन्हे उपभोग की वस्तुएं कहते है। जैसे, खाद्य सामग्री, वस्त्र, निवास-स्थान, आने-जाने के साधन (साइकिल, मोटर, तांगा आदि) और पढने की पुस्तकें आदि।

उत्पत्ति वस्तुएं (Production Goods)—उपभोग-वस्तु के उत्पन्न करने मे सहायता देने वाली वस्तुएं 'उत्पत्ति वस्तुएं' कहलाती है। जैसे—मशीनरी, कच्चा माल, फैक्ट्री-भवन, औजार व बीज आदि।

(५) चिरस्थायी व अचिरस्थायी वस्तुएं

चिरस्थायी वस्तुएं (Durable Goods)—वे वस्तुएं जो दीर्घकाल-पर्यन्त या अधिक समय तक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे समर्थ है, वे 'चिरस्थायी वस्तुएं' कहलाती हैं। जैसे—भवन, मशीनरी, पुस्तकें तथा उपस्कर आदि।

अचिरस्थायी वस्तुएं (Perishable Goods)—वे वस्तुएँ जो एक ही या अल्पकाल के लिये उत्पत्ति या उपभोग के काम आती है वे 'अचिरस्थायी-वस्तुएँ, कहलाती हैं। जैसे—फल, मांस, अण्डे, कोयले आदि।

(६) व्यक्तिगत और सार्वजनिक वस्तुएं

व्यक्तिगत वस्तुएं (Personal Goods)—वे वस्तुएं जिन पर व्यक्तिगत स्वामित्व हो 'व्यक्तिगत वस्तुएं' कहलाती है। जैसे, भू-भवनादि, अध्यापक का ज्ञान, डाक्टर की चिकित्सा-ज्ञान आदि, जिन पर किसी व्यक्ति विशेष का स्वत्व हो।

सार्वजनिक वस्तुएं (Public Goods)—वे वस्तुएं जिन पर समाज का सामूहिक रूप मे स्वत्व हो 'सार्वजनिक वस्तुएं' कहलाती है। जैसे टाउनहाल, स्कूल, चिकित्सालय व उपवन आदि।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—क्रय-शक्ति (Value), उपयोगिता (Utility) और मूल्य (Price) मे भेद दर्शाइए। इनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कीजिए। (रा० बो० १९५६)

२—उपयोगार्ह (Value in Use) और विनिमय अर्हा (Value in Exchange) में भेद बताइए। यह क्या कारण है कि बहुत ही उपयोगी वस्तु जैसे रोटी, एक कम उपयोगी वस्तु जैसे हीरा, से कम मूल्यवान होती है और बहुत ही अधिक उपयोगी वस्तु जैसे हवा, का कुछ भी मूल्य नही होता है। (रा० बो० १९५५)

३—निम्नलिखित की उचित उदाहरण सहित परिभाषा दीजिए। (अ) उपयोगिता (आ) अर्हा। (अ० बो० १९५४)

४—निम्नलिखित शब्दो की व्याख्या कीजिए :—(अ) उपयोगार्हा, (आ) विनिमय अर्हा, (इ) मूल्य, (ई) क्या किसी वस्तु मे ऐसा होता है कि इसमे (i) उपयोगार्हा हो और विनिमय अर्हा नही हो। (ii) विनिमय अर्हा हो और उपयोगार्हा नही हो। (iii) क्या मूल्य मे सामान्य वृद्धि हो सकती है ? (देहली हायर सैकेन्डरी १९५५)

५—आर्थिक वस्तुओ की क्या मुख्य विशेषताएं हैं ? क्या ये वस्तुओं के अन्तर्गत है—(अ) पुस्तकें, (आ) वायु, (इ) पेड, (ई) कपडे, (उ) भूमि। (पजाब १९५४)

६—टिप्पणी लिखिए :—
आर्थिक वस्तुएं तथा निर्मूल्य वस्तुएं। (उ० प्र० १९६०)

अध्याय १०

धन या सम्पत्ति
(WEALTH)

धन या सम्पत्ति का साधारण अर्थ

धन शब्द के अनेक अर्थ है, अत अर्थशास्त्र के प्रारम्भ कर्त्ता को इस शब्द के प्रयोग में सशय होने लगता है कि इसका वास्तविक प्रतिपाद्य अर्थ क्या है। साधारण वार्तालाप में 'धन' शब्द से 'प्रचुरता' का आशय लेते है जिसके द्वारा द्रव्य (Riches) और सम्पत्ति (Property) आदि अर्थों का बोध होता है। तदनुसार 'धन-सम्पन्न' मनुष्य का तात्पर्य उस धनाढ्य व्यक्ति से होता है जो समृद्धिशाली हो।

अर्थशास्त्रीय अर्थ--अर्थशास्त्र म धन का अर्थ बहुत व्यापक है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह अत्यधिक दीन भी क्यो न हो वह 'निर्धन' या 'धनी' कहा जाता है। अर्थशास्त्र की दृष्टि से धनी मनुष्य के पास अधिक धन या सम्पत्ति होती है और निर्धन मनुष्य के पास कम। इन दोनो के मध्य धन की प्रचुरता तथा न्यूनता ही इस अन्तर का प्रमुख कारण है।

धन और आर्थिक वस्तुएं (Wealth & Economic Goods)--अर्थशास्त्र मे 'धन' और 'आर्थिक वस्तु' समानार्थक शब्द समझे जाते हैं। आर्थिक वस्तुएं परिमित होती हैं तथा उनका क्रय विक्रय भी हो सकता है। परन्तु किसी वस्तु की केवल परिमितता (Scarcity) ही उसको 'धन' या 'अर्थ' की कोटि म सम्मिलित नही कर सकती। यदि वस्तु अनुपयोगी है तो कोई मूल्य देकर उसको नही खरीदेगा। यदि उस वस्तु को मनुष्य चाहता है और उसका उपयोग करता है तभी वह उसका 'धन' होगी। यहाँ तक कि विष, मद्यादि हानिकारक वस्तुओ को अर्थशास्त्र मे 'धन' की श्रेणी मे गणना की जाती है, क्योंकि वे भी किसी न किसी के लिये उपयोगिता रखती हैं। इसके अतिरिक्त 'धन' या 'अर्थ' कहलाने वाली वस्तुओ का 'स्वत्व पूर्ण' होना चाहिये। इसके लिये उनका हस्तान्तरणीय होना अनिवार्य है। अत समस्त वस्तुएं 'धन' नहीं हैं। परन्तु समस्त 'धन' वस्तुएं अवश्य हैं।

सम्पत्ति का विचार करते समय आवश्यकताओ का ध्यान रखना परम आवश्यक है। एक जगली अपढ मनुष्य के हाथ म पडकर एक बढ़िया से बढ़िया पुस्तक सम्पत्ति नही मानी जायगी, क्योंकि उस पुस्तक का उस व्यक्ति को कुछ भी उपयोग न जान पड़ेगा। किन्तु यदि वह उसे बदल कर उसके स्थान म कुछ खाने के पदार्थ या शिकार के सामान प्राप्त कर सके तो वह पुस्तक नि सन्देह उसके लिए सम्पत्ति ठहरेगी।

घन के गुण (Attributes of Wealth)—ऊपर बतलाया जा चुका है कि मूल्य रखने वाली वस्तुओं को धन कहते हैं। किसी वस्तु मे मूल्य होने के लिये निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है :—

(१) उपयोगिता (Utility)—वस्तु में विद्यमान मानवीय आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने की शक्ति का नाम 'उपयोगिता' है। अर्थशास्त्र मे प्रत्येक वस्तु कुछ न कुछ उपयोगिता रखने वाली कही जा सकती है, यदि वह मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने मे समर्थ है। इसमे किसी वस्तु के लाभदायक या हानिकारक होने का विचार नहीं किया जाता, बल्कि उसको इस दृष्टि से देखा जाता है कि वह वस्तु किसी मनुष्य की आवश्यकता को पूर्ण करती है या नहीं ? यदि इसका उत्तर 'हाँ' मे मिलता है तो तुरन्त उसको 'धन' घोषित किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, शराब, अफीम तथा अन्य हानिकारक वस्तुएं हानिकारक होते हुए भी 'धन' की श्रेणी मे आती है, क्योकि वे शराबियो और अफीमचियों की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के कारण उपयोगिता रखती है।

(२) परिमितता (Scarcity)—धन कहलाने के लिये किसी वस्तु मे उपयोगिता के साथ साथ 'परिमितता' या 'न्यूनता' का भी गुण होना आवश्यक है। यदि कोई वस्तु परिमाण मे परिमित न होगी तो कोई भी व्यक्ति उसके बदले मे कोई भी दूसरी वस्तु देने के लिए उद्यत न होगा। वे वस्तुए जो इतनी प्रचुर मात्रा मे नि:शुल्क प्राप्त की जा सकती हैं, 'धन' नही कही जा सकती ; क्योकि उनका अपरिमित भाग मे उपलब्ध होने के कारण क्रय-विक्रय होना सभव नही। जैसे जल, वायु, सूर्य का प्रकाश, जलवायु आदि। 'धन' शब्द से सापेक्षिक (Relative) धारणा का बोध होता है, जो स्थान की दृष्टि से पर्याप्त भिन्नता रखता है। जैसे बर्फ दिल्ली प्रान्त वासियो का धन है परन्तु हिमालय पर्वत पर रहने वालो के लिये नही। वायु खुले स्थान मे रहने वालों के लिये धन नही परन्तु मनुष्यो से भरे हुए एक हॉल मे जहां बिजली के पखे लगे हो, निर्विवाद धन होगी।

(३) हस्तान्तरणीयता या स्वत्वपूर्णता (Transferability or Appropriability)—वे वस्तुए धन की श्रेणी मे तभी गिनी जाती हैं जब उनमे हस्तान्तरणीयता या स्वत्वपूर्णता भी हो। यह एक साधारण समझ की बात है कि जिस वस्तु में एक व्यक्ति का स्वत्व नहीं वह उसकी प्राप्ति के लिये न तो धन व्यय करेगा और न कुछ त्याग करेगा। दूसरे शब्दो मे हस्तान्तरणीय वस्तु मूल्य वाली होने के कारण 'धन' कही जा सकती है। चन्द्रमा या सूर्य के लिये, यद्यपि उनमे उपयोगिता है, कोई व्यक्ति कुछ त्याग नहीं करता, क्योंकि वह हस्तान्तरणीय नही है। मनुष्य के आन्तरिक गुणों का हस्तान्तरणीय न होने के कारण 'धन' की गणना मे नहीं आते। किसी चिकित्सक की दक्षता, गायक का सुरीला स्वर, मल्ल (Wrestler) का सुन्दर स्वास्थ्य आदि अभ्यान्तरिक गुणो का हस्तान्तरणीय न होने के कारण क्रय-विक्रय नहीं होता,

अतः वे 'धन' क्षेत्र से बाहर की वस्तुएँ है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि केवल भौतिक वस्तुयें ही धन मे सम्मिलित की जाती है। यदि कोई अभौतिक वस्तु, इन तीन गुणों से सम्पन्न है तो वह भी अवश्य 'धन' की कोटि मे अपना स्थान पा सकती है। उदाहरणार्थ 'व्यापार की ख्याति' (Goodwill) अभौतिक वस्तु होते हुए भी धन है, क्योंकि इसमे उपयोगिता, परिमितता और हस्तान्तरणीयता तीनो गुण समन्वित हैं।

मनुष्य स्वय धन नहीं है, क्योंकि वह किसी का दास (Slave) नही है। प्राचीन समय मे दासो का क्रय-विक्रय होता था तब उसकी गणना धन मे होती थी।

निष्कर्ष—सक्षेप मे, हम यह कह सकते है कि अर्थशास्त्र मे धन से तात्पर्य उन समस्त भौतिक और अभौतिक वस्तुओ से है जिनमे **उपयोगिता, परिमितता और हस्तान्तरणीयता** के गुण विद्यमान है।

निम्नांकित रेखा-चित्र द्वारा यह स्पष्ट हो जायगा कि कौन कौन सी वस्तुएँ धन मे सम्मिलित हैं। जिन वस्तुओं की गणना धन में की जा सकती है वे (**धन**) शब्द से अंकित है :—
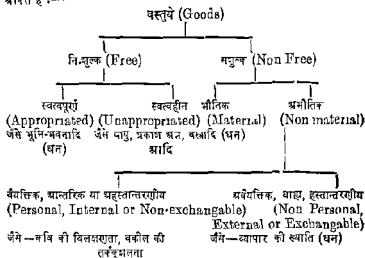
धन के विषय मे रस्किन (Ruskin) का दृष्टिकोण

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने धन को अनुचित प्रधानता दी है जिसका फल यह हुआ कि रस्किन, कार्लाइल आदि विद्वानो ने इसकी बडी आलोचना की। रस्किन ने अर्थशास्त्र के धन प्रधान स्वभाव की बडी आलोचना की। "अर्थशास्त्र मे वे सब वांछनीय वस्तुएँ समाविष्ट हैं जिनमे अर्हा विद्यमान है।" रस्किन अर्थशास्त्र की इस धन-प्रधान परिभाषा के पूर्ण विरोधी थे। उनके कथनानुसार "जीवन के सिवाय धन का कोई अस्तित्व ही नहीं : वह जीवन जिसमे प्रेम प्रसन्नता और गुणग्राहकता विद्यमान हो।" इसको अधिक स्पष्ट करते हुए या कहा जा सकता है कि प्रसन्नता, प्रेम करने की शक्ति और कलात्मक वस्तुओं की प्रशंसा करने की सामर्थ्य, ये ही वास्तविक धन हैं।

रस्किन की इस धारणा पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि जिन गुणों का उन्होंने उल्लेख किया है, वे निश्चय ही वांछनीय है, अस्तु वे वस्तुओं की कोटि मे सम्मिलित है। यद्यपि उनमे उपयोगिता है, परन्तु उनका क्रय-विक्रय न होने के कारण 'धन' या 'आर्थिक वस्तुएँ' नही कही जा सकती। रस्किन का यह मत आज त्रुटिपूर्ण सिद्ध होता है।

इन सब से ऐसा अनुमान होता है कि रस्किन अर्थशास्त्र की परिभाषा मे कुछ परिवर्तन करना चाहता था जिसमे उक्त गुणो का समावेश उसम हो सके। पर ऐसा होना उचित प्रतीत नही होता, क्योकि उनके विशिष्ट गुण 'मुद्रा' नामक अर्थशास्त्र के सुविख्यात मापदड से नापे नही जा सकते, और जो वस्तु मुद्रा (Money) म प्रकट नही की जा सकती, वह अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे प्रविष्ट होने का अधिकार नही रखती।

अर्थशास्त्र एक विकासशील विज्ञान है अत इसकी परिभाषा मे देश-कालानुसार पर्याप्त परिवर्तन हो चुका है। यदि रस्किन इस काल म जीवित होते तो सम्भवत इस विज्ञान की इतनी कडी आलोचना कदापि नही करते।

धन के सम्बन्ध में विविध अर्थशास्त्र के विद्वानो की धारणाएँ

प्रो० मार्शल[1] (Marshall)

प्रो० मार्शल के अनुसार व्यक्तिगत सपत्ति मे निम्नलिखित दो प्रकार की वस्तुएँ सम्मिलित है :—

(१) भौतिक वस्तुएँ—वे भौतिक वस्तुएँ जो सीमित, हस्तान्तरणीय तथा स्वत्वपूर्ण हो। अन्य शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि वस्तुएँ जिन पर किसी व्यक्ति का अधिकार - वैधानिक या परम्परागत हो। जैसे भूमि, भवन, अन्न, वस्त्र, उपस्कर (फर्नीचर), कम्पनियो के अश, अधिकार-प्रलेख आदि।

(२) अभौतिक वस्तुएँ—अभौतिक वस्तुओ को दो विभागो मे विभक्त किया है :—

[अ] वाह्य अभौतिक वस्तुएँ—वे भौतिक वस्तुएँ जो वाह्य हो जैसे व्यापार की ख्याति (Goodwill), कवि की प्रतिभा द्वारा सभूत रचनाएँ आदि।

[ब] आभ्यान्तरिक अभौतिक वस्तुएँ—वे भौतिक वस्तुएँ जो आन्तरिक हो। जैसे डाक्टर की दक्षता, कवि की प्राकृतिक प्रतिभा आदि व्यक्तिगत गुण और योग्यताएँ।

प्रो० मार्शल के अनुसार सम्पत्ति या धन मे सम्मिलित होने वाली वस्तुएँ भौतिक और वाह्य अभौतिक वस्तुएँ है। आभ्यान्तरिक अभौतिक वस्तुएँ धनोपार्जन मे सहायक होती है, परन्तु यह गुण स्वतः सम्पत्ति मे नही है। जो वस्तुएँ सम्पत्ति या धन मे समाविष्ट हो सकती है वे सदैव वाह्य होती है, मनुष्य के भीतर नही।

प्रो० टॉसिग (Taussig)

प्रो० टॉसिग 'धन' का अर्थ केवल आर्थिक वस्तुओं (Economic Goods) से करते है। उनके अनुसार नि शुल्क प्राकृतिक वस्तुएँ 'धन' की कोटि म नही

1—Elements of Economics of Industry, Book II —*Marshall.*

आती। वे कहते हैं कि नि:शुल्क प्राकृतिक वस्तुएँ इतनी प्रचुरता में प्राप्त होती हैं कि मनुष्य को उनके लिये तनिक भी परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं होती। इनके यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध होने के कारण इनके सम्बन्ध में कोई आर्थिक समस्याएँ उपस्थित ही नहीं होतीं। उदाहरण के लिये वायु, सूर्य का प्रकाश, जलवायु आदि। जब तक जल असीमित मात्रा में उपलब्ध होता है तब तक तो यह प्राकृतिक प्रसाद है। जब जल आवश्यकता की अपेक्षा सीमित मात्रा में उपलब्ध हो और उसके उपभोग के लिये कुछ शुल्क देना पड़ता हो (बड़े नगरों में पानी मूल्य में उपलब्ध होता है) तो जल आर्थिक वस्तु कहलायगी।

(अ) संक्षेप में प्रो० टासिग के अनुसार वे सब वस्तुएँ धन हैं जो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ हैं जो परिमित मात्रा में उपलब्ध हैं तथा जिनके लिए मनुष्य को प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

(ब) वे सब नि:शुल्क प्राकृतिक वस्तुएँ भी धन में सम्मिलित हैं जो मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हों जो परिमित मात्रा में उपलब्ध हों तथा जिनके लिये मनुष्य को परिश्रम करने की आवश्यकता न हो।

प्रो० सेलिगमैन[1] (Seligman)

प्रो० सेलिगमैन के अनुसार किसी वस्तु में धन की कोटि में आने के लिये निम्नलिखित गुणों की आवश्यकता है :—

(१) **उपयोगिता**—प्रत्येक वस्तु को धन बनने के लिये उपयोगिता रखनी चाहिये। अनुपयोगी वस्तुएँ धन नहीं कही जा सकतीं। उसे कोई व्यक्ति प्राप्त नहीं करना चाहता।

(२) **स्वत्वपूर्णता**—उसका स्वत्वपूर्ण होना आवश्यक है। यदि वह स्वत्व साध्य न होगी तो उसे कोई न प्राप्त कर सकेगा।

(३) **बाह्यता**—वह वस्तु मनुष्य से बाहर होना चाहिये। यदि वह बाह्य न होगी तो कोई भी व्यक्ति उसे अपने से पृथक करके हस्तान्तरित न कर सकेगा। कोई ... दक्ष हो परन्तु वह धनी नहीं कहा जा सकता जब तक कि वह वास्तविक परिमाण में परिवर्तित न हो जाय।

(४) **परिमितता**—'वस्तु का परिमाण में सीमित होना भी आवश्यक है। यदि वह सबके लिये नि:शुल्क है तो वह उसमें प्रसन्न अवश्य हो जायगा परन्तु जहाँ तक मनुष्य का उस वस्तु से सम्बन्ध है उसके सवमान्य होने के कारण उसमें और अन्य पड़ोसियों में कोई भी अन्तर नहीं होगा।

(५) **विनिमय साध्यता**—आधुनिक समाज वस्तुओं और अधिकारों के पारस्परिक विनिमय (Inter change) पर आश्रित है। वर्तमान समय में वह प्रत्येक वस्तु जो हस्तान्तरित की जा सके धन है।

संक्षेप में यदि कोई वस्तु उपयोगिता नहीं रखती तो उसकी कोई माँग नहीं होगी। यदि वह स्वत्वहीन है तो उसको कोई प्राप्त नहीं कर सकता। यदि वह बाह्य नहीं है तो वह किसी से पृथक नहीं की जा सकती। यदि वह मात्रा में परिमित भी नहीं है, तो उसके बदले में कोई कुछ भी नहीं देगा।

1—Principles of Economics Ch I —*Seligman*

प्रो० महता (Mehta)[1]

आपके मतानुसार केवल वे ही भौतिक वस्तुएं, जो उपयोगी तथा सीमित हों, धन या सम्पत्ति में सम्मिलित की जा सकती है। वे विशेषतया इस बात पर बल देते हैं कि अभौतिक वस्तुओं का अस्तित्व भौतिक वस्तुओं से पृथक नहीं होता। प्रत्येक अभौतिक वस्तु किसी न किसी भौतिक वस्तु के गुण या विशेषता में सम्मिलित होती है। भौतिक वस्तुओं की 'धन' या 'सम्पत्ति' में गणना करने के पश्चात् उनके विशिष्ट गुणों को भी इस कोटि में सम्मिलित करना एक प्रकार से पुनरावृत्ति (उसी वस्तु का दुबारा गिनना) कही जा सकती है। इस तथ्य की पुष्टि में उन्होंने प्रो० फिशर के कथन को उद्धृत करते हुए बतलाया है कि एक रेल की कम्पनी का अंश (Share) और रेल की यात्रा पृथक-पृथक सम्पत्ति की मदें नहीं है। वे क्रमशः सम्पत्ति, उस सम्पत्ति का स्वत्व और उस सम्पति की सेवा है। साधारणतया मनुष्य स्वयं सम्पत्ति या धन में सम्मिलित नहीं किया जाता है। अतः उसकी सेवाओं को सम्पत्ति में गिना जाना चाहिये, यदि वे उपयोगी एवं परिमित हों। परन्तु जहां तक निर्जीव पदार्थों अथवा पशुओं का प्रश्न है, वे सम्पत्ति में सम्मिलित कर लिये जाते है अस्तु उनकी सेवाओं को पृथक सम्पत्ति में गिनना भ्रम मात्र है, क्योंकि उनको गणना 'द्विगणना' दोष उत्पन्न कर देती है।

धन (Wealth) और मुद्रा (Money) में अन्तर

उपयोगिता, परिमितता और हस्तान्तरणीयता आदि गुणों के कारण 'मुद्रा' धन को श्रेणी में आ जाती है। अस्तु समस्त मुद्रा के स्वरूप धन है, पर समस्त धन मुद्रा नहीं है। धन या सम्पत्ति के कई रूप होते हैं, उसमें मुद्रा एक रूप है।

धन (Wealth) और आय (Income) में भेद

धन से मनुष्य को सामयिक प्राप्ति होती है वह 'आय' कहलाती है। आय धन का एक प्रकार से प्रवाह (Flow) है, न कि कोष। आय के साथ समय का सम्बन्ध होता है, जैसे मासिक या वार्षिक आय। आज कल हमारा समस्त आर्थिक जीवन प्रचलित मुद्रा के आधार पर ही चलता है। इसलिये साधारणतया आय रुपये पैसे में ही प्रकट की जाती है। फिर भी यदि हमारी आय अन्य किसी रूप में प्राप्त होती है, तो उसका भी अनुमान लगाना होगा, क्योंकि आय का वास्तविक अर्थ लाभ में है। उदाहरण के रूप में, यदि किसी व्यक्ति के पास एक लाख रुपयों के मूल्य की अचल सम्पत्ति है, तो यह सम्पत्ति 'धन' हुआ और यदि उसे इस सम्पत्ति से पाँच हजार रुपये की प्राप्ति है, तो यह उसकी 'आय' हुई। इसी प्रकार श्रमिक की दैनिक या साप्ताहिक भृति भी 'आय' है न कि धन।

आय (Income) और पूँजी (Capital) में भेद

एक प्रकार से स्थिर वस्तु है जिसका समय से कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु आय गतिशील है और उसका समय से बड़ा सम्बन्ध है।

धन और सामाजिक कल्याण (Wealth & Welfare)

धन साधारणतया व्यक्ति और समाज की समृद्धि तथा कल्याण की वृद्धि करता है। यदि कोई व्यक्ति धनी है तो इसका अर्थ यह है कि वह अपना जीवन भली प्रकार बिताता है और दूसरों को भी सहायता पहुँचाता है। धन की न्यूनाधिक मात्रा में मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति में बड़ा अन्तर पड़ता है। यदि कोई व्यक्ति धनाढ्य है तो वह भली प्रकार आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है जिससे वह अपने जीवन स्तर को ऊँचा रख सकता है। मनुष्य समाज का अंग है अतः समाज का प्रभाव व्यक्ति पर और व्यक्ति का प्रभाव समाज पर पड़ता है। किसी व्यक्ति के जीवन को सुखी बनाने के लिए सारे समाज को सुखी बनाना आवश्यक है। परन्तु प्रत्येक समाज में आजकल ऐसे भी व्यक्ति हैं जो दूसरों का शोषण कर निजी कल्याण चाहते हैं। यही कारण है कि आज समाज के चारों ओर असन्तोष और भ्रान्ति दृष्टिगोचर होता है।

भौतिक सभ्यता पर स्थिर समाज में जितना धन अधिक उत्पन्न होगा उतना ही अधिक वह सुखी होगा। परन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि धन का वितरण इस प्रकार किया जाय कि समाज के प्रत्येक प्राणी को समान धन प्राप्त हो जिससे समाज को अधिकतम लाभ हो सके। आधुनिक धन वितरण व्यवस्था दूषित होने के कारण अनेक व्यक्ति निर्धन हैं और देश का अधिकांश धन कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में है जो धनी कहलाते हैं। इस सारी विषमता को दूर करने से ही समाज का कल्याण हो सकता है।

सामाजिक कल्याण की वृद्धि के लिये जनसंख्या द्वारा उपस्थित समस्याओं पर विचार करना भी हितकर है। यदि समाज की आय जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात में नहीं है तो समाज का दुःखी रहना स्वाभाविक है। समाज की समृद्धि के लिये धन का जनसंख्या की अपेक्षा अधिक बढ़ना आवश्यक है।

समाज के कल्याण की वृद्धि में सहायक सिद्ध होने वाली अन्य बातें भी हैं जैसे —धन की उत्पत्ति की यथोचित रीतियाँ, श्रमिकों के काम करने की अवधि, उनकी भृति तथा उनका स्वास्थ्य, सदाचार आदि बातों की भी पूरी-पूरी व्यवस्था होनी चाहिये। यह भी देखना आवश्यक है कि श्रमिक स्त्रियाँ व बालक प्रतिकूल अवस्था में कार्य करना तो आरम्भ नहीं कर देते हैं। श्रमिक वर्ग के कल्याण का अधिक महत्व है क्योंकि उन पर देश के उत्पादन का परिमाण स्थित है।

संक्षेप में धन कल्याण प्राप्ति का साधन मात्र है और स्वयं कल्याण प्राप्ति इसका लक्ष्य है।

धन का वर्गीकरण (Classification of Wealth)

धन या सम्पत्ति निम्नलिखित भागों में विभक्त की जा सकती है :—

१ व्यक्तिगत या निजी धन (Individual or Private Wealth)
२ वैयक्तिक धन (Personal Wealth)
३ सामाजिक या सामूहिक धन (Social or Collective Wealth)
४ राष्ट्रीय धन (National Wealth)
५ अन्तर्राष्ट्रीय या सार्वभौमिक धन (International or Cosmopolitan Wealth)

६. नास्ति धन (Negative Wealth)
७. प्रतिनिधि धन (Representative Wealth)

प्रो० मार्शल कृत धन का वर्गीकरण

प्रो० मार्शल ने धन या सम्पत्ति को चार वर्गों में विभाजित किया है —

१. व्यक्तिगत या निजी धन,
२. सामाजिक, सामूहिक या सार्वजनिक धन
३. राष्ट्रीय धन,
४. अन्तर्राष्ट्रीय या सार्वभौम धन।

१. *व्यक्तिगत या निजी धन (Individual or Private Wealth)*

व्यक्तिगत सम्पत्ति में निम्नलिखित सम्पत्ति की गणना की जाती है —

(१) वे सब भौतिक वस्तुएँ जिन पर किसी व्यक्ति विशेष का स्वत्व और अधिकार हो, जैसे भूमि, भवन, अन्न, वस्त्र आभूषण उपस्कर (फर्नीचर), मशीनरी आदि। यदि उस व्यक्ति ने कुछ ऋण ले रखा है तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति में से उतना अंश घटा देना चाहिये। इस प्रकार उसकी सम्पत्ति का ठीक-ठीक अनुमान लग सकता है।

(२) वे सब अभौतिक वस्तुएँ, जो बाह्य हों, जैसे व्यापार की ख्याति आदि।

(३) सबकी सामूहिक सम्पत्ति में किसी व्यक्ति विशेष का भाग, जैसे सार्वजनिक सम्पत्ति तथा संस्थाओं से लाभ उठाने का अधिकार, न्यायालय से न्यायाधीश द्वारा न्याय प्राप्ति, शिक्षण संस्थाओं से किसी एक या अनेक शाखा की शिक्षा प्राप्ति करना आदि का अधिकार।
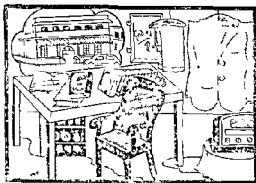
व्यक्तिगत या निजी धन

२. वैयक्तिक धन (Personal Wealth)

इसमें किसी व्यक्ति विशेष के आभ्यान्तरिक गुण, योग्यताएँ तथा दक्षता आदि बातें सम्मिलित होती हैं जो उससे कभी पृथक नहीं की जा सकती। मनुष्य की अभौतिक आभ्यान्तरिक वस्तुएँ जिनका हस्तान्तरण नहीं हो सकता अर्थात् क्रय-विक्रय

सम्भव नहीं। अस्तु ये वस्तुएँ वास्तविक अर्थ में धन कहलाने की अधिकारी नहीं हैं। यदि इनको सम्मानित पद (Honorary Title) दिया भी तो अधिक से अधिक 'वैयक्तिक संपत्ति' कह सकते हैं। कतिपय अर्थशास्त्री उक्त गुणों तथा विशेषताओं को धन या संपत्ति कह कर सम्बोधित करते है। वास्तव में इस प्रकार का धन अर्थशास्त्र के 'धन' की कोटि में नहीं आ सकता।

३ *सामाजिक या सामूहिक धन* (*Social or Collective Wealth*)

इस सम्पत्ति में वे सब भौतिक और अभौतिक वस्तुएँ समाविष्ट हैं, जिन पर किसी व्यक्ति विशेष का व्यक्तिगत अर्थात् निजी अधिकार नहीं होता, परन्तु जिन पर प्रान्तीय, केन्द्रीय सरकारी और अर्द्ध सरकारी तथा सार्वजनिक संस्थाओं का अधिकार होता है। उदाहरणार्थ—सड़क, बाग, स्टेट रेलवे सचिवालय, अजायब घर, टाउन हॉल, सार्वजनिक पुस्तकालय, राजकीय शिक्षण-संस्थाएँ आदि।
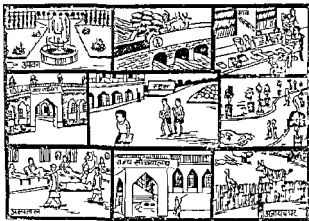
सामाजिक या सामूहिक धन

४. राष्ट्रीय धन (National Wealth)

राष्ट्रीय सम्पत्ति के अन्तर्गत निम्नलिखित वस्तुओं की गणना होती है :—

(१) राष्ट्र के समस्त व्यक्तियों की व्यक्तिगत सम्पत्तियाँ।

(२) राष्ट्र का सामूहिक धन, जैसे—रेल, उद्यान, पुस्तकालय, संसद भवन, सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी भवन, हार्बर, डॉक आदि।

(३) राष्ट्र का समस्त प्रकृतिदत्त प्रसाद, जैसे—देश की स्थिति, नदी, पर्वत, जलवायु, वन, खनिज पदार्थ, प्राकृतिक सौन्दर्य।

(४) राष्ट्र की अभौतिक वस्तुएँ, जैसे—राष्ट्र की सुख्याति, राज्य-प्रबन्ध, अथवा सुव्यवस्था, सज्जन व्यक्तियों के उच्च आदर्श एवं आन्तरिक गुण, योग्यताएँ आदि।

अर्थशास्त्र के पाठक के मन में शंका होना स्वाभाविक है कि प्राकृतिक पदार्थ (देश की जलवायु तथा भौगोलिक परिस्थिति) एवं अभौतिक पदार्थ (सच्चरित्रता, महान् आदर्श, सुशासन आदि) किस प्रकार धन की कोटि में परिगणित हो सकते है। ठीक, उसकी शंका उचित है। पर यहाँ 'सम्पत्ति' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया गया है।

(१) यहाँ के निवासियों का सम्पूर्ण व्यक्तिगत धन भौतिक तथा अभौतिक—यहाँ तक कि मनुष्य की जाति सम्बन्धी (Racial Characteristics) विशेषताएँ भी सम्मलित हैं।

(२) सम्पूर्ण सामाजिक और सामूहिक सम्पत्ति जैसे—म्यूनिसिपल भवन, सार्वजनिक भवन, बाग, सड़कें, पुस्तकालय आदि।

(३) उपर्युक्त दोनों प्रकार की सम्पत्तियों के अतिरिक्त अन्य सब सम्पत्तियों जिन पर स्थानीय, प्रान्तीय अथवा केन्द्रीय सरकारों का स्वत्व हो। जैसे, संसद भवन और सचिवालय, बन्दरगाह आदि।

(४) भारत के प्राकृतिक लाभ, इसकी भौगोलिक स्थिति, जलवायु पैदावार प्राकृतिक साधन, गंगा यमुना आदि नदियाँ, हिमालय, विन्ध्याचल आदि पर्वत, इसकी नई झीलें, वन सम्पत्ति, स्वास्थ्य सम्पादन के स्थान (Health Resorts) रेल, मोटर, वायुयान, समुद्री जहाज, कारखाने, नहरें शिक्षा संस्थाएँ, लोगों का नैतिक जीवन, सुव्यवस्थित बैंकिंग तथा साख प्रणाली आदि। ताजमहल भी राष्ट्रीय सम्पत्ति है, क्योंकि प्रतिवर्ष अनेक विदेशी यात्री इसको देखने के लिये आते रहते है। जो कुछ वे भारत में व्यय करते हैं, उससे राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।

सम्पत्तियों की गणना करते समय इसका ध्यान रखना चाहिये कि इस देश को जितना ऋण अन्य देशों से लेना है उसको उसकी सम्पत्ति में जोड़ देना चाहिये और जितना ऋण दूसरे देश को देना है उसे उसकी सम्पत्ति में से निकाल देना चाहिये।

राष्ट्रीय सम्पत्ति

५. अन्तर्राष्ट्रीय या सार्वभौम धन (International or Cosmopolitan Wealth)
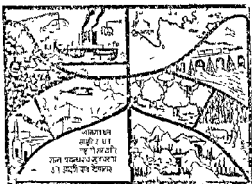
अन्तर्राष्ट्रीय अथवा सार्वभौम धन में निम्नलिखित बातें सम्मिलित है :—

(१) संसार के समस्त राष्ट्रों की सम्पत्तियों का योग।

(२) वे सब वस्तुएँ, जिन पर किसी राष्ट्र विशेष का अधिकार नहीं होता, उन पर समस्त मानव समाज का अधिकार होता है। जैसे—सागर, महासागर आदि।

(३) वैज्ञानिक ज्ञान तथा अन्वेषण, आविष्कार आदि इसमें सम्मिलित हैं। कहीं भी किसी वस्तु का आविष्कार हो शीघ्र ही उसका सभी सभ्य देशों में प्रचार हो जाता है और वो किसी एक देश की सम्पत्ति नहीं मानी जा सकती है।

६—नास्ति धन (Negative Wealth)

इसमें किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र के ऋणों को शामिल समझना चाहिए। जैसे युद्ध बन्ध (War Bond) यह राष्ट्र का नास्ति धन है। राष्ट्र को हानि पहुँचाने वाली वस्तुएँ भी नास्ति धन कहलाती है। जैसे, फसलों को नष्ट करने वाले जंगली सुअर आदि। कुछ समय पूर्व हमारी 'शक्कर की मीलों' को अपनी सीमा में से (Molasses) हटाने के लिए कुछ व्यय करना पड़ता था। उस परिस्थिति में (Molasses) नास्ति धन कहलाता था।
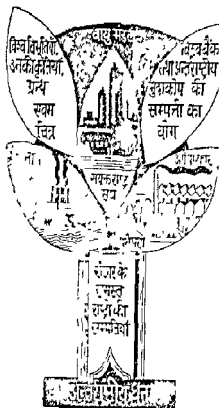
७—प्रतिनिधि धन (Representative Wealth)
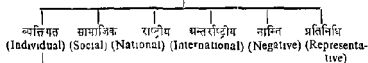
उपभोग की वस्तुएँ उत्पत्ति की वस्तुएँ व्यापार की ख्याति दक्षता, स्वास्थ्य
अन्न, वस्त्र, फर्नीचर मशीनरी, औजार (Goodwill) (Personal wealth)
आदि। आदि।

क्या व्यक्ति के आन्तरिक गुण धन की कोटि में आते है ?

नहीं, किसी डाक्टर की चीरा फाड़ी करने की चतुराई, प्रोफेसर का पाडित्य, बैरिस्टर की तर्क कुशलता, महाकवि की दूरदर्शिनी प्रतिभा, शासन व्यवस्था की योग्यता, गायक का मधुर स्वर, पहलवान की शक्ति, किसी का सुन्दर स्वास्थ्य आदि इस प्रकार के गुण व्यक्ति मे सदा अविच्छिन्न रहने के कारण धन की कोटि के अन्तर्गत नहीं आते। इनमे यद्यपि उपयोगिता है, परन्तु इन अविच्छिन्न, आभ्यान्तरिक वस्तुओं के अहस्तान्तरणीय होने के कारण इनका क्रय विक्रय सम्भव नहीं। अत ये धन की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आती। यद्यपि एक चिकित्सक अपने हस्तलाघव को महत्वपूर्ण वस्तु समझ कर उस पर अभिमान करता है और इसलिये उसकी रक्षा के निमित्त वह अपनी कुशल आँखो और कोमल हाथो का बीमा कराता है। ऐसी वस्तुएँ कतिपय अर्थशास्त्रियों की दृष्टि मे वैयक्तिक सम्पत्ति कहाती है। पर गम्भीरता से परीक्षा की जाय तो य दूषित है।

प्रो० मार्शल इन आभ्यान्तरिक वस्तुओ को 'वैयक्तिक धन' (Personal wealth) के नाम से पुकारते है। प्रो० सैलिगमैन कहते है कि मनुष्य के भीतरी गुण उनके धनोपार्जन म भले ही सहायक सिद्ध होते हो, परन्तु वे गुण यथार्थ मे 'धन' नहीं है। दृढतापूर्वक कहना है कि 'धन' म केवल मनुष्य की बाह्य वस्तुएँ ही सम्मिलित हो सकती हैं न कि आन्तरिक।

व्यक्तिगत सेवाएं (Personal Services)

क्या डाक्टर, वकील, अध्यापक, घरेलू नौकर आदि की सेवाएँ 'धन' की कोटि मे आती है ? हा, इनकी भी गणना 'धन' की कोटि म होती है। कारण स्पष्ट है। इनमे धन के सभी आवश्यक गुण समाविष्ट है, अर्थात् इनम उपयोगिता, परिमितता और हस्तान्तरणीयता पाई जाती है। इनका विनिमय मुद्रा म हो सकता है।

देश के प्राकृतिक साधन (Natural resources of a country)

वे किसी व्यक्ति विशेष के अधिकार की वस्तु नहीं है तथा उनका कोई विनिमय-मूल्य भी नहीं होता, अत व्यक्तिगत धन के अन्तर्गत नहीं आते। परन्तु वे

निर्विवाद रूप से राष्ट्र की सम्पत्ति में गिने जाते है, यद्यपि उनमे धन की विशेषताओं का प्रत्यक्ष अभाव ही क्यों न हो।

सूर्य का प्रकाश (Sun Shine)

वह प्राकृतिक प्रसाद (Free Gift of Nature) है जो नि शुल्क प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होता है। इसका कोई विनिमय मूल्य नही होता है। अत साधारणतया इसे अर्थशास्त्र की 'धन' की परिभाषा के अन्तर्गत नही समझना चाहिये।

प्रतिलिप्यधिकार (Copy Right)

यह निश्चित रूप से धन है। यह धनोपार्जन के साधन के अतिरिक्त हस्तान्तरणीय होने के कारण बेचा और खरीदा जा सकता है। जो व्यक्ति यह अधिकार रखता है, वही अधिकृत वस्तु का मुद्रण और प्रकाशन कर सकता है।

बी० ए० डिग्री और एम० कॉम० डिप्लोमा (B A. Degree & M Com Diploma)

कतिपय अर्थशास्त्रियो के मतानुसार ये वस्तुएँ 'वैयक्तिक धन (Personal Wealth) कहला सकती है क्योकि ये जीवन निर्वाह मे सहायक सिद्ध होती हैं। वास्तव मे देखा जाय तो इनका कोई विनिमय मूल्य नही होता, अर्थात् ये एक दूसरे को हस्तान्तरित नही की जा सकती। अत ये 'धन' के अन्तर्गत नही आती।

वह वस्तु जिसे कोई पसन्द न करे (An object which nobody likes)

सब मनुष्यो की दृष्टि मे अरुचिकर वस्तु धन नही कही जा सकती क्योकि उसमे 'उपयोगिता' का अभाव है। इसी प्रकार 'वह चित्र जिसको कोई नही सराहता (A picture which nobody appreciates) भी इसी आधार पर धन नही है।

डाक्टर की सेवाएँ जो रोगी को रोग से मुक्त करने मे असमर्थ हो

(The services of a doctor who fails to cure the patient)

इस प्रकार की सेवाएँ कोई प्रयोजन सिद्ध नही करती। धन की प्राप्ति के स्थान पर अपयश पैदा करती हैं। उपयोगिता-शून्य होने के कारण ये धन नही कहलाती।

व्यापार की ख्याति (Goodwill)

वाह्य आन्तरिक वस्तु है अर्थात् इसमे उपयोगिता, हस्तान्तरणीयता और विनिमय मूल्य आदि गुण विद्यमान होने के कारण धन कहलाती है। जिस व्यापारी ने इसे बड़े परिश्रम सचाई और सद्व्यवहार से कमाई है वह व्यापार व विक्रय के साथ इसको भी बेचता है और धन प्राप्त करता है अत इसको 'धन' की कोटि मे रखने मे कोई आपत्ति नही है।

गगा नदी (The River Ganges)

यह किसी व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति न होने के कारण 'व्यक्तिगत धन' नही है। यह राष्ट्र की वस्तु है, अत 'राष्ट्रीय धन' है क्योंकि इसके जल को सिचाई, बिजली उत्पादन आदि विविध प्रकार से मानव कल्याण के लिये प्रयुक्त किया जाता है।

सड़कें (The Roads)

जो सड़कें म्युनिसिपैलिटी या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड द्वारा बनवाई गई हो वे 'सामाजिक या सामूहिक धन' के वर्ग मे आती है। कलकत्ता, दिल्ली, बम्बई और मद्रास आदि देश के विभिन्न भागो को मिलाने वाली सड़क 'राष्ट्रीय धन' कहलाती हैं।

एक सोने या चाँदी का सिक्का (A Gold or Silver coin)

व्यक्तिगत दृष्टिकोण से तो यह उसके धन का एक भाग है क्योंकि इससे वह अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएँ खरीद सकता है। परन्तु सामाजिक दृष्टि से यह धन नहीं है क्योंकि इसके लिये तो केवल विनिमय साधन (Medium of Exchange) का ही कार्य सम्पन्न करता है। यदि देश में प्रचलित सिक्कों की संख्या दुगनी तिगुनी कर दी जाय तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वस्तु और सेवा की वृद्धि भी उसी अनुपात में आ जायगी। किसी देश का धनी होना या निर्धन होना उस देश में उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा पर निर्भर है न कि सिक्कों की वृद्धि पर।

खान में स्थित सोना या चाँदी (Gold or Silver in a mine)

इसका कुछ अंश तो 'राष्ट्रीय धन' में और कुछ अंश 'व्यक्तिगत धन' अर्थात् खान के स्वामी का अपना धन कहलाता है। यदि सोने या चाँदी की खान इतनी गहरी चली गई है कि यह धन दुष्प्राप्य हो गया हो और यदि प्राप्य भी है तो उसका व्यय उसके मूल्य से अधिक है तो ऐसी दशा में वह धन नहीं कहा जा सकता।

मंगल नामक ग्रह में स्थित सोना (Gold in Planet Mars)

यह धन नहीं है क्योंकि यह मनुष्यों की पहुँच से परे है। परन्तु यदि भविष्य में यह सम्भव हो जाय कि वहाँ का सोना अपनी भूमि पर लाया जा सके तो अवश्य धन की श्रेणी में आ सकेगा।

रवीन्द्रनाथ टैगोर का स्वहस्त लेख (An Autograph of Rabindra Nath)

यदि कुछ ऐसे भी व्यक्ति हों जो रवीन्द्रनाथ के स्वहस्त-लेख की प्राप्ति के लिये बड़े उत्सुक हों और उसके लिये मूल्य देने को भी तैयार हों तो उनके लिये धन है अन्यथा साधारणतया यह धन में वर्गीकृत नहीं हो सकता

स्वास्थ्यप्रद जलवायु (A Healthful Climate)

यह 'राष्ट्रीय सार्वजनिक' धन है। इसका विनिमय-मूल्य न होने के कारण यह व्यक्तिगत धन नहीं हो सकता।

वह खेत जिसका स्वामित्व विवादास्पद हो
(A farm the owner-ship of which is under dispute)

यह तब तक धन नहीं कहा जा सकता जब तक कि इसके स्वामित्व के विषय में पूर्ण या आंशिक निर्णय नहीं हो जाय।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—धन की परिभाषा कीजिए। धन और कल्याण में जो सम्बन्ध है उसका विवरण दीजिए। (नागपुर १९५८)

२—धन की परिभाषा लिखिए। क्या निम्न वस्तुएँ धन कही जा सकती हैं —
(अ) व्यक्तिगत चतुराई (ब) देश की प्राकृतिक सम्पत्ति (स) बी० ए० डिग्री, (द) कॉपीराइट। (नागपुर १९५४)

३—धन की परिभाषा लिखिए। क्या निम्नलिखित वस्तुएँ धन हैं —(अ) कापीराइट (ब) बी० ए० डिग्री, (स) गवैये का कण्ठ, (द) हिन्द महासागर।
(म० भा० १९५३)

४—सम्पत्ति की परिभाषा बताइए और लिखिए कि निम्नांकित सम्पत्ति है या नहीं —
(क) मातृ स्नेह (ख) [illegible] (ग) प्राकृतिक सौंदर्य (घ) किसी कारखाने का नाम (ङ) धूप   (अ० बो० १९४९)

५—धन की परिभाषा दीजिए और व्यक्तिगत धन व सामूहिक धन का अन्तर स्पष्ट कीजिए।   (रा० बो० १९५३)

६—धन से क्या तात्पर्य है? धन कहलाने के लिए किसी वस्तु में कौन-कौन से गुण होने चाहिए?   (बिहार-पटना १९५१)

७—धन की परिभाषा लिखिए। क्या निम्नलिखित वस्तुएँ धन की कोटि में आती हैं? कारण भी बताइए —(अ) देश की प्राकृतिक सम्पत्ति, (ब) धूप, (स) सुरीली ध्वनि (द) बी० ए० डिग्री (य) कारीगरी।   (अ० बो० १९४८)

८—सम्पत्ति की परिभाषा दीजिए और उसके प्रकार बताइए। सम्पत्ति का कल्याण से क्या सम्बन्ध है?   (पंजाब १९४८)

९—वस्तुएँ और धन पर नोट लिखिए।   (सागर १९४८)

१०—धन से आप क्या समझते हैं? धन के लक्षणों का वर्णन कीजिए। (पटना १९५१)

११—व्यक्तिगत और राष्ट्रीय सम्पत्ति में सादृश्य भेद दर्शाइए। निजी एवं मानसिक गुणों को आप सम्पत्ति में किस प्रकार व्यवहार में लायेंगे?   (आगरा १९५०)

१२—धन के आवश्यक लक्षण क्या हैं? क्या निम्नलिखित वस्तुएँ धन हैं —(अ) अफीम (ब) गान (स) [illegible], (द) ताजमहल, (य) व्यावसायिक योग्यता।   (दिल्ली हा० से० १९५१)

उपभोग
(CONSUMPTION)

"अर्थशास्त्र का सम्पूर्ण सिद्धान्त उपभोग के सही सिद्धान्त पर आश्रित है।"

—जेवन्स

अध्याय ११

उपभोग का अर्थ और महत्त्व

(Meaning and Importance of Consumption)

परिचय (Introduction)— 'मनुष्य आवश्यकताओं का पुतला है ।" उसकी आवश्यकताएँ असीम है । उनकी तृप्ति के लिए वह सतत् प्रयत्नशील देखा जाता है । उसकी कुछ आवश्यकताएँ तो स्वाभाविक होती है, जैसे—जीवन यात्रा का निर्वाह करने के लिए भोजन तथा पेय पदार्थ, शरीर-रक्षा के लिए वस्त्र, रहने के लिए आवास, आखेट के लिए शस्त्र और उत्पादन के लिए उपकरण (औजार) आदि । ये प्रारम्भिक आवश्यकताएँ इतनी अनिवार्य है कि बिना इनके उसकी जीवन यात्रा सम्भव ही नहीं ।

मनुष्य की आवश्यकताएँ सदैव समान नहीं होती जैसे-जैसे मनुष्य सभ्यता की ओर अग्रसर होता जाता है या वह मनुष्य प्रगतिशील और उन्नतिशील होता जाता है । वैसे-वैसे वह इन जीवनोपयोगी आवश्यकताओं से परे पहुंचता जाता है, अर्थात् वह सुख और विलास की वस्तुओं का उपभोग कर अपने जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न करने लगता है । अब वह उत्तम भोजन, वस्त्र तथा भवनादि का उपभोग करने लगता है । मनुष्य की आवश्यकताएँ संख्या में, भिन्नता में और तीव्रता में बढ़ती जाती हैं, क्योंकि समाज की उन्नति और आवश्यकताओं की वृद्धि में एक घनिष्ठ सम्बन्ध है ।

साधारण बोल-चाल में उपभोग का अर्थ—उपभोग शब्द हमारी बोल-चाल के विविध अर्थों का परिचायक है । साधारण बातचीत में उपभोग का तात्पर्य होता है 'खा लेना', 'नष्ट करना' आदि । अर्थशास्त्र में इस शब्द का अर्थ उक्त अर्थों से विशिष्ट है । यहाँ उपभोग, 'खा लेना या 'नष्ट करना' इन अर्थों की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है । जब एक पदार्थ नष्ट हो जाता है वह किसी की आवश्यकता को तृप्त नहीं करता । यदि एक घड़ी, छड़ी, उपस्कर या छप्पर टूट जाय या जलकर नष्ट हो जाय तो टूटते, जलते या नष्ट होते समय मानवीय आवश्यकताओं की तृप्ति नहीं करते पर निरन्तर उपभोग की दशा में रहते हुए ये पदार्थ मनुष्य की विविध मार्मिक आवश्यकताओं को तृप्त करने वाले कहे जाते हैं । इसके अतिरिक्त 'पदार्थ का नष्ट होना' यह कथन भी आक्षेप करने योग्य है, कारण कि 'तत्व या पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता' । वस्तुओं का स्वरूप बदल जाता है । कोयला जल कर राख का रूप धारण कर लेता है जिसके कारण आग जलाने का कार्य सपादित नहीं होता । सवाएँ, वस्तुओं का सेवन या काम में लाया जाना जिससे उपभोक्ता को तात्कालिक तृप्ति अथवा सतोष हो, उपभोग कहा जाता है ।

अस्तु यह कहना न्यायसंगत होगा कि उपभोग से वस्तु नष्ट नहीं होती बल्कि उसकी उपयोगिता नष्ट होती है।

उपभोग का अर्थशास्त्रीय अर्थ—अर्थशास्त्र में उपभोग शब्द एक विशिष्ट अर्थ रखता है। **मानवीय आवश्यकता की प्रत्यक्ष और तात्कालिक पूर्ति के लिए धन के प्रयोग को 'उपभोग' कहते हैं।** वस्तुएँ स्वयं उपभोग से नष्ट नहीं होती हैं, बल्कि उनकी उपयोगिता मात्र ही नष्ट होती है। जैसे—यदि हम प्रकाश के लिए मोमबत्ती का उपभोग करते हैं तो मोमबत्ती का रूप परिवर्तित होकर उसकी उपयोगिता नष्ट हो जाती है, क्योंकि वह अब प्रकाश देने योग्य वस्तु नहीं रही। परन्तु वह पदार्थ जल और कार्बन डाइ-ऑक्साइड गैस (Carbon Dioxide Gas) के रूप में अब भी स्थित है केवल रूप में परिवर्तन हो गया है। उपभोग का तात्पर्य है किसी पदार्थ की उपयोगिता को काम में लाकर इस प्रकार नष्ट कर देना कि उस उपभोग से किसी भी व्यक्ति की आवश्यकता की तृप्ति और पूर्ति हो। एक व्यक्ति को प्यास लगी है, वह मधुर सतरा अथवा लैमोनेड से अपनी प्यास शान्त करता है—इसके सेवन से उसे तृप्ति और सतोष हुआ। यदि वह इन सन्तरों को छील कर फेंक दे और लैमोनेड की बोतल को भूमि पर पटक कर तोड़ डाले तो किसी मनुष्य की तृप्ति या सतोष नहीं होता। "उपभोग तो तभी समझा जायगा जब उनके उपयोग से किसी मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति हो और उसका अभाव दूर होकर उसमें तृप्ति या सन्तोष प्राप्त हो।"[1]

यह स्मरण रखना चाहिये कि उपभोग केवल वस्तुओं में ही नहीं होता है, अपितु सेवाओं से भी। यदि एक रोगी डाक्टर को अपने शरीर-निरीक्षण के निमित्त दस रुपये शुल्क रूप में देता है, तो इसका अर्थ यह है कि वह रुपये देकर डाक्टर की सेवा का उपभोग करता है, इसी प्रकार हम एक निश्चित शुल्क देकर मोटर बस, रेल, डाक, तार व टेलीफोन द्वारा प्रस्तुत सेवाओं का उपभोग करते पाए जाते हैं।
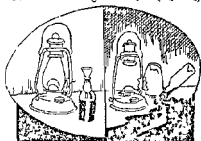
यह उपभोग है।　　　यह उपभोग नहीं है।

मानवीय आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष संतुष्टि के लिए वस्तुओं और सेवाओं की उपयोगिता के प्रयोग को अर्थशास्त्र में 'उपभोग' कह कर पुकारते हैं।

'प्रत्यक्ष' अथवा 'अपरोक्ष' शब्द का महत्व—उपर्युक्त परिभाषाओं में प्रत्यक्ष या अपरोक्ष (Direct) शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका यहाँ महत्व प्रकट करना आवश्यक है। वैसे देखा जाय तो आवश्यकताओं की पूर्ति परोक्ष और

1—*Elementary Economics* P 15-16, by G B. Jathar.

अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में होती रहती है। भूख लगने पर रोटी खाना और प्यास लगने पर जल पीना आदि आवश्यकताओं की पूर्ति अपरोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में होती कही जाती है। इस प्रकार के धन के प्रत्यक्ष प्रयोग को 'उपभोग' कहते हैं। दूसरी ओर जब कारखानों में कच्चे माल का प्रयोग किया जाता है अथवा मशीन चलाने के लिए कोयला या बिजली प्रयोग में लाई जाती है तो हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति प्रत्यक्ष रूप में नहीं होने पाती, कारण, यहाँ धन का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप में नहीं किया गया है। इनके द्वारा वस्तुओं की उत्पत्ति होती है जो आगे चलकर मनुष्य की आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए प्रत्यक्ष रूप में प्रयोग की जाती है। धन का जब अप्रत्यक्ष रूप में प्रयोग किया जाता है तो उसे उपभोग न कहकर 'उत्पत्ति' कहते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि उपभोग धन के उस प्रयोग को कहते हैं जिससे आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष रूप में पूर्ति होती है।

प्राचीन अर्थशास्त्रियों द्वारा 'उपभोग' की उपेक्षा—पुराने अर्थशास्त्रियों की दृष्टि में 'उपभोग' का कोई अधिक महत्व नहीं था। वे इस विभाग की उपेक्षा करते थे और अधिक महत्व 'उत्पत्ति' को देते थे। उनकी धारणा यह थी कि बिना उत्पत्ति के उपभोग सम्भव ही नहीं, अतः वे उत्पत्ति के अध्ययन को अधिक महत्वपूर्ण समझ कर उपभोग की अपेक्षा प्रथम स्थान देते थे। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने यह नहीं समझा कि उत्पत्ति और उपभोग का क्या सम्बन्ध है। उत्पत्ति बीज है और उपभोग फल। मानव समाज की आवश्यकताओं को तृप्त और सन्तुष्ट करने के लिए ही वस्तुओं की उत्पत्ति की जाती है। उत्पत्ति और उपभोग के सापेक्षिक घनिष्ठ सम्बन्ध पर भी उन्होंने कुछ विचार नहीं किया। जितना अधिकाधिक उपभोग बढ़ेगा उतनी ही अधिक उत्पत्ति बढ़ेगी और उतने ही अधिक श्रमिक व्यक्ति कार्यों में लगेंगे। "श्रमी जनों की कार्य सलग्नता, उत्पत्ति की तीव्रता और मात्रा का प्रेरक है उपभोग न कि उत्पत्ति।"[1] आर्थिक उद्यमों का आरम्भ और मूल 'उपभोग' ही है, औद्योगिक शक्तियाँ, योग्यताएँ और सामाजिक उन्नति उपभोग की बढ़ती विभिन्नता पर निर्भर है, सर जॉन मेरीयोट (Sir John Marriot) के इन शब्दों पर ध्यान देना चाहिए। उपभोग के महत्व पर आगे विस्तार से प्रकाश डाला जायगा।

आज सभ्यता की समुन्नत अवस्था है। अर्थशास्त्र विज्ञानशास्त्र, मनोविज्ञान और भौतिकविज्ञान की उपेक्षा करने लगा है, मानव सेवा और मानव हित के उदार विचार जीवन के प्रधान लक्ष्य माने जा रहे हैं, अतः भौतिक और अभौतिक सम्पत्ति के उपभोग द्वारा जन समाज का अधिकाधिक कल्याण किस प्रकार हो सकता है – यह समस्या आज एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। अतः आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस विभाग के महत्व को समझा और उसे उचित स्थान दिया।

उपभोग अर्थशास्त्र के एक विभाग के रूप में (Consumption as a Department of Economics)—उपभोग शब्द का अर्थशास्त्रीय अर्थ उपर्युक्त विवेचन से पूर्ण स्पष्ट किया जा चुका है। यह उपभोग का अर्थ क्रिया के रूप (as an act) में किया गया है। परन्तु उपभोग को अर्थशास्त्र के एक विभाग के रूप में भी जान लेना आवश्यक है। इस विभाग के अन्तर्गत मानवीय आवश्यकताओं, उनके उद्गम, उनकी विशेषताओं तथा उनकी सन्तुष्टि के नियम आदि का विस्तृत अध्ययन किया जाता है।

1—Vide Seligman Op Cit, P. 69-70.

उपभोग के प्रकार (Kinds of Consumption)

१—उत्पादक और अन्तिम उपभोग (*Productive and Final Consumption*)—कुछ प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने उपभोग को दो भागों में विभाजित कर दिया है—उत्पादक और अन्तिम उपभोग। किसी वस्तु का उपभोग किसी अन्य वस्तु के निर्माण के निमित्त किया जाय। इस उपभोग से मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति प्रत्यक्ष रूप में नहीं होती। उसे उत्पादक उपभोग कहते हैं। जैसे—कपड़ा तैयार करने के लिए सूत मशीन व बिजली आदि का प्रयोग। जिस उपभोग से मनुष्य

उत्पादक उपभोग   अन्तिम उपभोग

की आवश्यकताओं की पूर्ति और तृप्ति प्रत्यक्ष रूप से हो, वह **अन्तिम उपभोग** कहलाता है। जैसे—क्षुधा की तृप्ति के लिए अन्न और शरीर की रक्षा के लिए वस्त्रों का प्रयोग अन्तिम उपभोग कहलाता है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्र के पंडितों ने इन पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को छोड़ दिया है। वे इनके प्रयोग को अधिक महत्व नहीं देते।
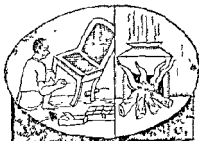
२—मन्द और तीव्र उपभोग (Slow and Quick Consumption)—कुछ वस्तुओं का उपभोग शीघ्र ही समाप्त हो जाता है और कुछ का देर तक चलता रहता है। जब हम भोजन करते हैं पानी पीते हैं अथवा कोयला जलाते हैं, तो इनकी उपयोगिता और प्रयोग दोनों ही शीघ्र समाप्त हो जाते हैं। अतः ऐसे उपभोग को तीव्र उपभोग कहते हैं। ऐसी वस्तुएं शीघ्र नष्ट होने वाली (Perishable Goods) होती हैं। जैसे अन्न, फल, मठ्ठा व शाक आदि।

तीव्र उपभोग   मंद उपभोग

परन्तु जब हम वस्त्र, मशीन, मोटर, भवनादि का प्रयोग करते हैं तो उनका उपभोग दीर्घकाल तक चलता रहता है। अतः ऐसे उपभोग को मंद उपभोग कहते हैं, ऐसी वस्तुओं को चिरस्थायी (Durable Goods) कहते हैं।

उपभोग का महत्व (Importance of Consumption)

उपभोग मानवीय क्रियाओं का उद्गम तथा अन्तिम ध्येय है—जैसा ऊपर व्यक्त किया जा चुका है कि प्राचीन अर्थशास्त्र के विद्वानों ने उपभोग की उपेक्षित दृष्टि से देखा परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस दृष्टिकोण में परिवर्तन कर दिया। जेवन्स (Jevons) ने सबसे प्रथम उपभोग के महत्त्व को साबित किया और यह दर्शाया कि यह आर्थिक जीवन का आधार है।

वास्तव में देखा जाय तो उपभोग समस्त मानवीय क्रियाओं का मुख्य स्रोत (Spring) है। यदि मनुष्य को आवश्यकताएँ नहीं होतीं तो वस्तुओं का उत्पादन कदापि नहीं होता। आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति की प्ररणा से आज सारा भूमण्डल क्रियाशील है। आज के भौतिक संसार में धनोपार्जन बड़ा महत्त्व रखता है क्योंकि इसके बिना मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति होना बिल्कुल सम्भव नहीं। अतः मनुष्य विविध आर्थिक क्रियाओं को सम्पन्न करता हुआ अपने उपभोग के साधनों को जुटाने में व्यस्त देखा जाता है। इसीलिए उपभोग को समस्त मानवीय आर्थिक क्रियाओं का उद्गम स्थान (Starting Point) कहना अत्युक्ति नहीं होगी।

दूसरी ओर देखने से ज्ञात होता है कि मनुष्य अपनी समस्त आर्थिक क्रियाएँ केवल एक ही उद्देश्य की पूर्ति के हेतु सम्पन्न करता है वह उसकी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि है। उत्पत्ति, विनिमय और वितरण का यही एक अन्तिम लक्ष्य है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए आर्थिक क्रियाएँ सम्पन्न करता है और उनके फलस्वरूप विविध वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन होता है जिनके उपभोग से वह उनकी पूर्ति करने में समर्थ होता है। आवश्यकताओं की तृप्ति होने ही उसके आर्थिक प्रयत्नों का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। उपभोग में भी तो इन्हीं बातों का विवेचन किया जाता है। अस्तु उपभोग को आर्थिक क्रियाओं का अन्तिम लक्ष्य कहना अनुचित न होगा।

संक्षेप में उपभोग वह महत्त्वपूर्ण केन्द्र है जिसमें आर्थिक क्रियाओं का चरम का प्रारम्भ एवं अन्त सन्निहित है।

क्या उपभोग शक्ति सचय का साधन है ?

(Is Consumption a means of restoring energy ?)

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए यह कहा जा सकता है कि यह बात पूर्णतया सत्य नहीं कही जा सकती। जिन वस्तुओं का उपभोग उत्पादन कार्य के लिए होता है वे शक्ति प्रदान नहीं करती। यहाँ तक कि सम्पूर्ण वस्तुएँ जो अन्तिम उपभोग के अन्तर्गत आती हैं शक्ति प्रदान के उद्देश्य को पूरा नहीं करतीं। उनमें से केवल जीवनार्थ और दक्षतार्थ आवश्यकताएँ (Necessaries for Life & Efficiency) ही शक्ति का संचार करने में समर्थ है। उदाहरणार्थ, न्यूनतम भोजन वस्त्र आवास आदि के अतिरिक्त पौष्टिक भोजन उत्तम वस्त्र आवास आदि मनुष्य का जीवन तथा चलाने के लिए ही नहीं अपितु उसमें कार्यशक्ति तथा दक्षता की वृद्धि भी करते हैं। विलास वस्तुओं (Luxuries) से उनके उपभोग के पश्चात् तनिक भी शक्ति का संचार नहीं होता। इसके विपरीत उनके अतिव्यय (Extravagance) से यथार्थ शक्ति और दक्षता का ह्रास ही होता है संचार की तो बात ही नहीं। अतः यह कहना कि उपभोग शक्ति के पुनः संचय में सहायक है—भ्रामक सिद्धान्त है क्योंकि इसमें उपभोग के सम्पूर्ण चित्र का दिग्दर्शन नहीं होता। उपभोग से शक्ति प्राप्त करना इसके कतिपय कार्यों में से एक कार्य है। परन्तु मानवीय आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति सम्बद्ध कई एक महत्त्वपूर्ण समस्याएँ इसमें सुलझाई जाती है।

राष्ट्र की समृद्धि के लिये उपभोग का महत्व

राष्ट्रीय कल्याण बहुत कुछ वहाँ के निवासियों के उपभोग के स्वभाव और परिमाण पर निर्भर होता है। अन्य बातें यदि स्थिर रहें जितना अधिक वस्तुओं एवं सेवाओं का उपभोग होगा उतना ही अधिक राष्ट्र की समृद्धि में वृद्धि होगी। व्यक्तिगत रूप में भी उपभोग का यही महत्व है। यदि उपभोग को वस्तुओं का प्रयोग बुद्धिमत्ता से नुन

कर लिया जाय, तो व्यक्तिगत लाभ भी उतना ही निश्चित है जितना कि समष्टिगत। धनोपार्जन से धन का उपभोग अधिक कठिन है। अस्तु धन के सदुपयोग पर ही देश एवं वहाँ के निवासियों की आर्थिक सम्पन्नता अवलम्बित है।

उपभोग के अध्ययन से व्यावहारिक लाभ

(Practical advantages of study of Consumption)

उपभोग के अध्ययन से कई व्यावहारिक लाभ प्राप्त होते हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जाता है :—

(१) गृहस्वामियों या उपभोक्ताओं को लाभ—उपभोक्ताओं (Consumers) अथवा गृहस्वामियों (House-holders) के लिए उपभोग का ज्ञान बड़ा लाभदायक है, क्योंकि इसमें उन सब सिद्धान्तों का विवेचन किया जाता है जिनके प्रयोग से वे अपनी सीमित आय से अधिकतम लाभ उठा सकते हैं। उदाहरणार्थ, सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम (Law of Equi-marginal Utility) और पारिवारिक आय व्ययक (Family Budgets) की सहायता से वह अपनी आय को इस प्रकार व्यय कर सकेगा, जिससे उसको न्यूनतम लाभ पहुँच सके।

(२) व्यापारियों और उद्योगपतियों को लाभ—व्यापारियों एवं उद्योगपतियों के लिए उपभोग का अध्ययन पर्याप्त महत्त्व रखता है। वे अपनी उत्पादन क्रियाएँ मनुष्यों की आवश्यकताओं के आधार पर स्थिर करते हैं। यदि उनका अनुमान भावी आवश्यकताओं के स्वभाव व परिणाम के सम्बन्ध में उचित नहीं निकलता तो यह उनकी असफलता का एक कारण बन जाता है। अस्तु उन्हें अपने व्यापार तथा उद्योग व्यवस्था को सफल बनाने के लिए जन साधारण की आवश्यकताओं के स्वभाव, प्रकार एवं परिमाण आदि सम्बन्धित बातों का पूर्ण रूप से अध्ययन करना पड़ता है।

(३) राजनीतिज्ञों को लाभ—राजनीतिज्ञों तथा शासकों को यह देखना पड़ता है कि उनके देश के नागरिक अपनी आय का सदुपयोग करते हैं या नहीं। कारण यह है कि देश का कल्याण उसके धन पर ही निर्भर नहीं है, वरन् उचित उपभोग पर भी। आधुनिक सरकार इस बात का अनुभव करने लग गई है कि देश को समृद्धिशाली एवं आर्थिक सम्पन्न बनाने के लिए उसके नागरिकों की उपभोग व्यवस्था का नियन्त्रण रखना आवश्यक है। भारतीय सरकार की प्रतिषेध (Prohibition) नीति, जिसके द्वारा शराब आदि मादक वस्तुओं के उपभोग को कम करना सिनेमा आदि पर आमोद प्रमोद कर (Entertainment Tax) लगाना इसी उद्देश्य की पूर्ति के द्योतक हैं। वास्तव में, जो राजनीतिज्ञ 'उपभोग' की उपेक्षा करता है वह कुशल राजनीतिज्ञ नहीं हो सकता।

प्राचीन भारत में उपभोग के अध्ययन का महत्व—मनुस्मृति तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र को देखने से पता चलता है कि भारतवासी 'उपभोग' के महत्व से भली प्रकार परिचित थे। उन्होंने भोजन, वस्त्र, गृह और यज्ञादि सम्बन्धी कितने ही नियम नियन्त्रण पूर्ण बना डाले हैं जिनसे वे स्वस्थ, सहृदय और समाज के योग्य बन सकें। "जिस प्रकार इस विश्व में ईश्वर की सत्ता व्याप्त है उसी प्रकार अर्थशास्त्र पर भी उपभोग का विमल आभास और महत्व भी व्याप्त है।"[1]

१—ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे भासते ननु।
उपभोगो हि वस्तूनां वाप्नोति ननु सुतौ॥
यह 'कामदक मुनि' का वचन उपभोग की महत्ता का प्रतिपादन कर रहा है।

एक भारतीय साधारण कृषक की उपभोग अवस्था और उसके सुधार के साधन

उपभोग की वर्तमान दशा—भारतीय कृषक की निर्धनता कहावत का रूप धारण कर चुकी है। वह अपने सीमित साधनों का जो कुछ उसने अर्जित किए है सदुपयोग नहीं करता है। वह अपनी संचित राशि को आभूषण और नाच-तमाशा में व्यय कर देता है। वह अस्वच्छ छोटे और अँधेरे घर में रहता है जिसमें स्वच्छ वायु के प्रवेश और अस्वच्छ वायु के निर्गत का कोई मार्ग नहीं होता। मदिरा आदि नशीली वस्तुओं का भी प्रयोग उसके लिए बड़ा हानिकारक सिद्ध होता है। मुकद्दमेबाजी से बड़ा प्रेम होने के कारण उसकी आय का अधिकांश भाग इसमें व्यय हो जाता है। जितना अपने खाने पीने में व्यय नहीं करता है उससे कई गुना विवाह और मृतभोज आदि अवसरों पर व्यय कर देता है। परिणाम यह होता है कि वह निरन्तर कठिन परिश्रम करने पर भी अधसाया और अधढ़ँका रह जाता है। ऐसी शोचनीय अवस्था में उसे अपने कार्य में कुशलता प्राप्त करने का अवसर कहाँ है? उसे जीवन यात्रा चलाने भर के लिए आवश्यक वस्तुएँ ही उपयुक्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होती। मिट्टी में रत्न पैदा करने वाला मौन तपस्वी किसान जब भर पेट भोजन पायेगा जब उसे शरीर ढकने को वस्त्र मिलेगा तभी यह देश पुनः अपनी प्राचीन समृद्धि और खोई हुई लक्ष्मी को प्राप्त कर सकेगा। अस्तु उसके उपभोग में कतिपय सुधार होने परमावश्यक है।

उपभोग में आवश्यक सुधार

(१) सबसे प्रथम उसकी कूप मण्डूकता और निरक्षरता दूर करनी चाहिए जिससे वह क्रय विक्रय में ठगा न जाय। अशिक्षा का ही प्रभाव है कि वह मुकद्दमेबाजी और विवाह आदि के अवसरों में अपव्यय करता है। अतः उसकी हानिकारक आवश्यकताओं में व्यय करने की प्रवृत्ति का अवरोध करना चाहिए।

(२) उसे अपनी आय का अधिकांश भाग अपनी कार्यक्षमता की प्राप्ति के लिए अनिवार्य साधनों में व्यय करना चाहिए।

(३) उसके पुराने तथा अनुपयुक्त कृषि सम्बन्धी उपकरणों (Implements) और रीतियों में सुधार होना चाहिए।

(४) उत्तम खाद उत्तम सिंचाई उत्तम बीज और यन्त्र आदि के प्रयोग का उसे सहृदयता से स्वागत करना चाहिए।

(५) उसे अपनी समस्याएँ और आवश्यकताएँ सहकारी समितियों (Co-operative Societies) द्वारा पूर्ण करनी चाहिए।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इन्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—उपभोग के अध्ययन से (अ) एक अर्थशास्त्री (आ) एक राजनीतिज्ञ तथा (इ) एक गृहस्थी को क्या लाभ होता है? (उ० प्र० १९५६)

२—उपभोग क्या है? उपभोग व उत्पत्ति में क्या अन्तर है? उपभोग का क्या महत्व है? (उ० प्र० १९५३ ४१)

३—उत्पादक उपभोग और अंतिम उपभोग पर नोट लिखिए। (उ० प्र० १९३९ ३६)

४—अर्थशास्त्र म उपभोग की क्या परिभाषा दी जा सकती है ? आपके प्रदेश मे रहने वाले किसाना का उपभोग किस प्रकार सुधारा जा सकता है ? (उ० प्र० १९३१)

५—"आर्थिक क्रियाओ का अत उनकी सतुष्टि है।" अर्थशास्त्र म उपभोग के अध्ययन के सदर्भ मे इसका विवेचन कीजिए। (रा० बो० १९५१)

६—उपभोग की परिभाषा दीजिए। व्याख्या कीजिए "उपभोग आर्थिक विज्ञान का आदि और अत है। (सागर १९५८)

७—उपभोग और बर्बादी पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (अ० बो० १९५३)

८—उपभोग की परिभाषा लिखिए। उपभोग को अर्थशास्त्र का आदि व अन्त क्या कहा जाता है ? स्पष्ट कीजिए। (नागपुर १९५४)

९—'उपभोग समस्त आर्थिक क्रियाओ का अन्त है"—क्या आप इस कथन से सहमत है ? आपके मतानुसार उत्पत्ति और उपभोग म क्या सम्बध है ?

(पजाब १९५५)

१०—उपभोग क्या है ? क्या निम्नलिखित उपभोग है ? कारण सहित उत्तर दीजिए —
(अ) सिनेमा देखना (ब) घरेलू नौकर से लेकर एक गिलास पानी पीना (स) घडी की ओर देखना। (दिल्ली हा० से० १९४९)

इण्टर एग्रीकल्चर परीक्षा

११—"उपभोग अर्थशास्त्र का आदि है और अत भी।" स्पष्ट कीजिये।

(उ० प्र० १९४८)

अध्याय १२

आवश्यकताएँ
(Wants)

देखा जाता है कि मनुष्य वस्तुओं के उपभोग या व्यवहार में लाने से तृप्ति अनुभव करता है, यदि वे वस्तुएँ उसे प्राप्त न हों, तो उसे कष्ट होता है। किसी वस्तु के उपभोग द्वारा तृप्ति और सन्तोष दिलाने वाले 'भाव' का नाम आवश्यकता है।

साधारणतया 'आवश्यकता' शब्द के दो अर्थ प्रचलित हैं :—

(१) आवश्यकता का साधारण अर्थ—साधारण बोलचाल की भाषा में आवश्यकता शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है, जैसे इच्छा, चाह, अभिलाषा आदि। दूसरे शब्दों में मनुष्य की किसी भी वस्तु की चाह या इच्छा को आवश्यकता कहा जा सकता है चाहे इच्छित वस्तु की 'चाह' के लिये शक्ति और साधन विद्यमान न हों। कहावती लोमड़ी अंगूर की चाह कर सकती है, चाहे उसके पास उन्हें पाने के लिये शक्ति या साधन न हों।

(२) आवश्यकता का अर्थशास्त्रीय अर्थ—अर्थशास्त्र में आवश्यकता एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होती है। अर्थशास्त्र में आवश्यकता मनुष्य की उस इच्छा को कहते हैं जिसकी पूर्ति के लिये उसके पास पर्याप्त साधन और शक्ति विद्यमान हो और उस इच्छा को पूर्ण करने में मनुष्य उद्यत भी हो। उदाहरणार्थ, एक भिखारी मोटरकार खरीदना चाहता है, परन्तु उसके पास इस इच्छा को पूर्ण करने के लिये पर्याप्त साधन नहीं है, अतः अभिलाषा करते हुए भी उसे पूर्ण नहीं कर सकता क्योंकि उसके पास प्राप्त करने के साधनों का अभाव है। इसी प्रकार एक कृपण एक मोटर खरीदना चाहता है, परन्तु रुपये व्यय करना नहीं चाहता। अतः उसकी यह इच्छा भी अर्थशास्त्र की दृष्टि से आवश्यकता नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह साधनों को प्रयुक्त करने में उद्यत नहीं यद्यपि मोटरकार खरीदने के लिए साधन पर्याप्त है।

इच्छाओं की प्रभावोत्पादकता के साधन—इच्छाओं का प्रभावोत्पादक होने के लिये तीन मुख्य बातों का होना अनिवार्य है :—

(१) किसी वस्तु या सेवा को प्राप्त करने की इच्छा (Desire)।

(२) उसकी प्राप्ति के लिये साधन और शक्ति।

(३) इन साधनों और शक्तियों का उस इच्छा को पूर्ण करने के लिये तत्परता (Willingness)।
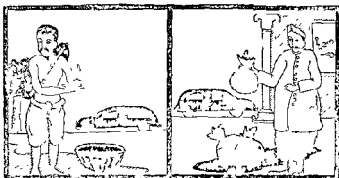
इच्छा (केवल इच्छा) आवश्यकता (इच्छा + साधन + तत्परता)

आवश्यकताओं का उद्गम (Origin of Wants)—आवश्यकताओं के उन्नत होने के मूल कारण निम्नलिखित हैं —

(१) स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ (Natural Instincts)—हमारी प्रारम्भिक आवश्यकताएँ हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियों से उत्पन्न होती हैं। हमारा शरीर इस प्रकार का बना हुआ है कि इसको नियमित रूप से भोजन मिलना चाहिये और शरीर रक्षा के लिए वस्त्र आदि। इसलिए हम जीवन यात्रा को चलाने के लिए यथासम्भव न्यूनातिन्यून आवश्यकताओं की पूर्ति तो करनी ही होगी।

(२) सुख और विलासपूर्ण वस्तुओं की लालसा (Craving for better and higher things)—आवश्यकताएँ केवल इसी निमित्त उत्पन्न नहीं होती कि हम अपने शरीर सम्बन्धी आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त हो जायें बल्कि व आमोद-प्रमोद के लिये भी उत्पन्न होती हैं। मनुष्य की जब न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है तो वह स्वाभाविक रूप में सुख एवं विलास वस्तुओं की लालसा में लीन हो जाता है।

(३) सौन्दर्य की रुचि और परोपकारिता की प्रवृत्ति (Aesthetic Tastes and Altruistic Motives)—इन कारणों से भी अनेक मानवीय आवश्यकताएँ उत्पन्न होती रहती हैं। मनुष्य को सुन्दर वस्तुओं से प्रेम होता है और अपने नैतिक जीवन को ऊँचा उठाने की इच्छा होती है अतः इन इच्छाओं की पूर्ति के मध्य कई इस प्रकार की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है।

(४) सामाजिक बंधन (Social Obligations)—हम अपने रहन सहन और खान पान आदि बातों में सामाजिक सामयिक और स्थानीय परिस्थितियों से बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। हम अन्य व्यक्तियों के विचारों और सम्मतियों से भी प्रभावित होते हैं अतः हमारी आवश्यकताएँ भी लगभग हमारे साथियों की आवश्यकताओं जैसी हो जाती हैं।

(५) विज्ञापन और प्रचार (Advertisement and Propaganda)—हमारी कई आवश्यकताएँ तो उत्पादकों और निर्माताओं के विज्ञापन और प्रचार से बढ़ जाती हैं। बार बार उन वस्तुओं के विज्ञापन देख जाने से उनको प्रयोग में लाने की इच्छा हो जाती है। कुछ समय बाद वे प्रयुक्त होने लगती हैं।

आवश्यकता और प्रयत्न का सम्बन्ध—आवश्यकता और प्रयत्न का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी आवश्यक वस्तु को प्राप्त करने के लिए कुछ न कुछ प्रयत्न करना ही पड़ता है अतः आवश्यकताएँ मानवीय प्रयत्नों की जननी है। यदि आवश्यकता संसार से लोप हो जाय तो यह संसार जो कि आज क्रियाशील दृष्टिगोचर होता है क्रिया शून्य हो जाय। देखा जाय तो यह आवश्यकता की प्रेरणा ही है जिसके कारण मनुष्य कार्य करने के लिए बाध्य हो जाता है। आवश्यकताएँ मानवीय प्रयत्नों का स्रोत (spring) है। आवश्यकताओं से सन्तुष्ट हो ही प्रेरित होकर कृषक कड़ी धूप और मूसलाधार वर्षा में भी काम करते हैं, श्रमिक वर्ग कारखानों में अपना पसीना बहाते हैं, व्यापारी अपने व्यवसाय में और विद्यार्थी अपने विद्याभ्यास में दिन रात एक कर देते हैं।

अस्तु इसमें किंचित मात्र भी सन्देह नहीं कि संसार में जितने भी काम होते हैं वे सब आवश्यकताओं के ही कारण किये जाते हैं। जैसे जैसे मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं वैसे उनकी पूर्ति के निमित्त विविध प्रकार के कार्यों में संलग्न होना पड़ता है। आवश्यकताओं का कोई अन्त नहीं इसी कारण उन प्रयत्नों का भी कोई अन्त नहीं जो उनकी पूर्ति के हेतु सम्पन्न किए जाते हैं।

आवश्यकता की प्रेरणा से प्रयत्नों को किया जाता है जिसके परिणाम स्वरूप उनकी सन्तुष्टि हो जाती है। एक प्रकार की आवश्यकताओं की तृप्ति होते ही दूसरे प्रकार की अर्थात् नवीन आवश्यकताएँ उत्पन्न होती हैं। अतः यह चक्र सनातन रूप से चलता रहता है। यह सम्बन्ध दिए हुए चित्र द्वारा भली भाँति समझा जा सकता है।

आवश्यकता प्रयत्न और तृप्ति का सम्बन्ध (Wants Efforts & Satisfaction)

आवश्यकताओं से प्रयत्नों को प्रेरणा मिलती है और प्रयत्नों से नवीन आवश्यकतायें उत्पन्न होती हैं (Wants give rise to activities and activities give rise to new wants)। प्रारम्भिक अवस्था में *आवश्यकताएँ स्वयं मानव प्रयत्नों का कारण होती हैं*। आर्थिक विकास के प्रारम्भिक काल में मनुष्य की आवश्यकताएँ साधारण और सीमित थीं। जब कभी उसे क्षुधा सताती थी तो तुरन्त वह भोजन की खोज में चल देता था, यदि उसे वहाँ फल प्राप्त हो जाते तो खाकर क्षुधा शान्त कर लेता अथवा किसी जंगली जानवर को मार कर उसके माँस से अपना पेट भर लेता था। इसी प्रकार अपने शरीर की रक्षा के लिये वृक्षों की छाल व पत्ते आदि प्रयोग में लाता था और रहने के लिये झोंपड़ी बनाता था या वहाँ पर्वतों की कन्दराओं में रह कर जीवन व्यतीत करता था। इस प्रकार उस

जिस वस्तु की आवश्यकता ने प्रेरित किया उसने उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। बिना प्रेरणा के मनुष्य काम नहीं करता है, अपनी कतिपय इच्छाओं की पूर्ति करने के पश्चात् अवकाश के समय को वह निरर्थक पड़ रहने में बिताता है। इस प्रकार आर्थिक-जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में आवश्यकताएँ ही प्रयत्नों को प्रेरित करती है, अर्थात् प्रयत्न आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु ही सम्पादित किये जाते हैं।

किन्तु जब मनुष्य उन्नति के पथ पर आरूढ़ होता है तो प्रयत्न द्वारा भी नई-नई आवश्यकताएँ उत्पन्न होने लगती है। जब मनुष्य प्रयत्न करता है तो केवल आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं होती अपितु उसके द्वारा कई अन्यान्य आवश्यकताएँ भी पैदा होने लगती है। सभ्यता के युग में जन समाज को आवश्यकताओं की पूर्ति के अनेक साधन सरलता से उपलब्ध हो जाते है इसका परिणाम यह होता है कि उसे पर्याप्त अवकाश मिलने लगता है जिसका वह सदुपयोग करता है। अपने इस समय का सदुपयोग करने की प्रवृत्ति जिस देश या समाज में पाई जाती है, वह सभ्य और उन्नत कहाता है। कुछ मनुष्य तो अपनी अवकाश की घड़ियों को आलस्य में, कलह में, नाश में, निद्रा में या तन्द्रा में बिताते है पर एक साहित्यिक, सहृदय-कलाकार, वैज्ञानिक या व्यवसायी पुरुष उस अवकाश में कुछ उन्नति के मार्ग का चिन्तन करता है, उस चिन्तन को स्थूल रूप देता है और उसे क्रियान्वित करने में प्रयत्नशील होता है। ऐसे पुरुषों की ये अवकाश की घड़ियाँ निर्माण या आविष्कार की घड़ियाँ है, वह समाज का निर्माणक बन जाता है। सभ्य देश के व्यक्ति अपनी अपनी रुचि या प्रेरणा के अनुरूप भिन्न-भिन्न उन्नति के मार्गों की साधना में लग जाते हैं। वैज्ञानिक ऐसे अवकाश क्षणों का अनुसंधान पूर्ण आविष्कार में लगाता है। आध्यात्मिक व्यक्ति परमार्थ कार्यों अथवा आत्मिक-चिंतन में इस समय का सदुपयोग करता है।

इस प्रकार की क्रियाएँ किसी धनोपार्जन के उद्देश्य से न होकर स्वयं आत्म-विकास (Activities for their own sake) के कारण तथा अवकाश का सदुपयोग करने के निमित्त की जाती हैं जिसके फलस्वरूप बड़े-बड़े आविष्कार होते है। इतिहास में इस प्रकार के अनेकों उदाहरण मिलते है जिनसे पता चलता है कि आवश्यकता से ही प्रयत्नों का जन्म नहीं होता, अपितु प्रयत्नों के कारण भी नवीन आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती है। यह एक स्थिर नियम-सा है कि जिस समाज में उन्नति और सभ्यता का वेग होगा उसकी आवश्यकताएँ भी अधिक और तीव्र होगी। सभ्यता और आवश्यकता की वृद्धि में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। इस समय मनुष्य की प्रवृत्ति तड़क-भड़क और दिखावे की ओर झुकने लगती है और भाँति भाँति के वस्त्र, भोजन, भवन, उपस्कर (Furniture) अलंकारों की आवश्यकता उत्पन्न होती जाती है।

उदाहरण के लिए इङ्गलैंड के इतिहास पर ही दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि वहाँ लगभग दो सौ वर्ष पूर्व औद्योगिक-क्रान्ति (Industrial Revolution) के फलस्वरूप विविध प्रकार की मशीनों का आविष्कार हुआ, जिससे उत्पत्ति पुष्कल मात्रा में होने लगी। मशीन के प्रयोग से जब उत्पत्ति में अधिक वृद्धि हो गई तो इस बात की आवश्यकता हुई कि वस्तुओं को सुदूर स्थानों में भेजा जाय जिससे उपभोग बढ़े। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए अच्छे और सस्ते यातायात के साधनों की आवश्यकता का अनुभव हुआ। फलस्वरूप पक्की सड़कें और नहरें बनाईं, किन्तु जब इससे भी कार्य न चल सका तो रेल का प्रादुर्भाव हुआ। वस्तुएँ सुगमता और शीघ्रता से एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने जाने लगीं। इस प्रकार जब व्यापार और उद्योग-

धन्धों में उन्नति हुई तो सुदूर स्थानों में व्यापार सम्बन्धी सन्देश भेजने व वहाँ से प्रति सन्देश प्राप्त करने और प्रेषित करने की आवश्यकता पड़ी जिसके परिणामस्वरूप डाक, तार टेलीफोन, रेडियो आदि का आविष्कार हुआ।

इसको अधिक स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि मनुष्य इस उन्नत अवस्था में अपने अवकाश में कुछ न कुछ लाभप्रद कार्य करता है। वह आविष्कार करने की शक्ति व प्रबल इच्छा से प्रेरित होकर विविध वस्तुओं का आविष्कार करता है। जैसे साइकिल, मोटरगाड़ी, टेलीविजन आदि। इससे पूर्व वह इन वस्तुओं को इस रूप में जानता हीन था, अतः इनकी उपयोगिता और अन्य गुणों के कारण साइकिल, मोटरगाड़ी, टेलीविजन आदि वस्तुओं की नई आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती है। निस्सदेह नई आवश्यकताएँ प्रयत्नों द्वारा ही उत्पन्न हुई है।

इस प्रकार यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। आवश्यकताओं के कारण मनुष्य प्रयत्नशील रहता है और मानव-प्रयत्नों द्वारा अनेक नवीन आवश्यकताओं की उत्पत्ति होती है। ये दोनों एक दूसरे के जन्म के कारण है। मानव-जाति की उन्नति का यह एक प्रमुख कारण है।

मानवीय आवश्यकताओं के ज्ञान का महत्व (Importance of the Knowledge of Human Wants)— अर्थशास्त्र में आवश्यकताओं के अध्ययन का बड़ा महत्व है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि आवश्यकताएँ मनुष्य की आर्थिक-क्रियाओं की जननी है। मनुष्य अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धनोपार्जन में प्रयत्नशील रहता है, क्योंकि वह समझता है कि बिना धन के आवश्यकताओं की पूर्ति असम्भव है। देखा जाय तो अर्थशास्त्र की उत्पत्ति, विनिमय और वितरण आदि विविध क्रियाएँ आवश्यकताओं पर ही निर्भर है। समस्त आर्थिक क्रियाओं का लक्ष्य उनकी पूर्ति है। अस्तु आवश्यकताएँ मानवीय आर्थिक-प्रयत्नों का मूल है तथा उनकी संतुष्टि ही उनका अन्तिम लक्ष्य है।

आवश्यकताएँ मानवीय जीवन-स्तर और कार्य कुशलता की प्रतीक हैं— आवश्यकताओं का महत्त्व इसलिये भी है कि प्रत्येक व्यक्ति और समाज का जीवन-स्तर तथा कार्यकुशलता इन्हीं पर अवलम्बित है। यह बात निर्विवाद सत्य है कि अन्य बातों के स्थिर होते हुए यदि व्यक्ति की आवश्यकताएँ अधिक मात्रा में और पूर्णतया सन्तुष्ट होती हैं, तो उसकी कार्य-कुशलता भी अधिक होगी। किसी देश के निवासियों की आवश्यकताओं की संख्या, मात्रा, तीव्रता और विभिन्नता अधिकतर उस देश की भौतिक समृद्धि का प्रतीक होता है।

अस्तु, अर्थशास्त्र में मनुष्य की आवश्यकताओं का अध्ययन बड़ा महत्त्व रखता है।

आवश्यकताओं की विभिन्नता के कारण
(Factors determining wants)

प्राय, यह देखा जाता है कि आवश्यकताओं में देश-काल और परिस्थिति के कारण पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। यह भिन्नता निम्नलिखित कारणों से उत्पन्न होती है :—

(१) भौतिक कारण (Physical Factors)—किसी देश की भौगोलिक स्थिति और जलवायु वहाँ के निवासियों को बड़ा प्रभावित करती है। जलवायु की विभिन्नता मनुष्यों की आवश्यकताओं में बड़ा अन्तर पैदा कर देती है। उदाहरण के

लिए नार्वे और इंगलैंड जैसे शीत प्रदेशों के निवासियों को तीन सौ पैंसठ दिन जीवन यात्रा चलाने के हेतु पौष्टिक भोजन, गर्म वस्त्र, अधिक ईंधन और अधिक सुरक्षित एवं निवात (वायु रहित) भवनों की आवश्यकता होती है, परन्तु भारत जैसे उष्ण प्रदेशों के निवासियों के लिए शीतल वायु, भोजन, वस्त्र तथा अन्य जीवनोपयोगी उपस्कर, भवन आदि की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि यूरोप वासियों की और भारतवासियों की आवश्यकताओं में पर्याप्त भिन्नता है। इसी प्रकार वर्षा प्रधान देशों के निवासियों के लिए ढालू छतदार भवनों की आवश्यकता के साथ मच्छरियों को रोकने के लिए कुनैन आदि औषधियों की आवश्यकता होगी।

(२) शारीरिक कारण (Physiological Factors)—मनुष्य के शरीर को स्वस्थ रखने के लिए प्रोटीन, विटामिन, क्षार आदि विभिन्न पौष्टिक तत्वों की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार शारीरिक व्यवस्था के अनुकूल भी आवश्यकताएँ व्यक्तिगत रूप में पर्याप्त भिन्नता रखती हैं, जैसे पतले दुबले व्यक्तियों के लिए दूध और घी स्वास्थ्य रक्षा में लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं, परन्तु ये ही वस्तुएँ एक स्थूल शरीर वाले व्यक्ति के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती हैं, क्योंकि वे वस्तुएँ उसके शरीर को और भी अधिक स्थूल बनाने वाली हैं। अस्वस्थ व्यक्ति के लिए निरन्तर औषधियों और डाक्टर की सेवाओं का उपभोग आवश्यक होता है, परन्तु एक स्वस्थ व्यक्ति के लिए ये वस्तुएँ अनावश्यक हैं।

(३) नैतिक कारण (Ethical Factors)—मनुष्य के नैतिक विचार और आदर्श पर उसकी आवश्यकताएँ आश्रित होती हैं। यदि वह आत्मिक समुन्नति के लिए सादा जीवन और उच्च विचार के इस आदर्श में विश्वास रखता है तो उसकी आवश्यकताएँ भी अवश्य साधारण और परिमित होंगी। जो उच्च जीवन और उच्च विचारों को उन्नति का मूल समझता है उसकी इच्छाएँ अनंत और अपरिमित होंगी।

(४) धार्मिक कारण (Religious Factors)—धार्मिक विचारों और विश्वासों का मनुष्य के दैनिक-जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। किन्हीं सम्प्रदायों के धार्मिक विचारों में मनुष्य को आर्थिक उन्नति के लिए पूर्ण प्रोत्साहन मिलता है और किन्हीं में विपरीत प्रेरणा मिलती है। इन्हीं विचारों का प्रभाव भोजन, वस्त्र, भवन निर्माण एवं संस्कार और पारस्परिक व्यवहार आदि बातों पर पड़ता है। उदाहरणार्थ, हिन्दू समाज में प्रायः भोजन सात्त्विक और वनस्पतिक होता है, इसके विपरीत अन्य धर्मावलम्बियों के भोजन तथा भाषा आदि में तामसिक प्रवृत्ति की प्रधानता दी गई है।

(५) सामाजिक कारण (Social Factors)—समाज के सदस्य समाज द्वारा निर्मित नियमों या परम्पराओं का बिना किसी संकोच के पालन करते हैं। सामाजिक रूढ़ियों में भी आवश्यकताओं में पर्याप्त भिन्नता मिलती है। इस भिन्नता का मुसलमानों, ईसाइयों और हिन्दुओं के मध्य पाया जाना तो स्वाभाविक ही है पर हिन्दू-समाज के उपविभागों में भी पर्याप्त अन्तर देखा जाता है। प्रत्येक के जन्म, विवाह और मृत्यु के समय होने वाले रीति रिवाज भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। जैसे हिन्दू-समाज में मृतक के शरीर का दाह संस्कार होना चाहिए ऐसा नियम है परन्तु ईसाइयों और मुसलमानों के शव भूमि में गाड़े जाते हैं।

(६) आर्थिक कारण (Economic Factors)—आर्थिक परिस्थितियों का मानव की आवश्यकताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इनकी भिन्नता के कारण मुख्यतः

तीन वर्ग के लोग देखने में आते हैं जैसे धनाढ्य, मध्य वर्गीय और निर्धन। एक निर्धन भारतीय कृषक या श्रमिक की आवश्यकताएँ सादी और सीमित होती हैं। वह केवल उन्हीं आवश्यकताओं को तृप्त करता है जो जीवन के लिए अनिवार्य हैं। वह विलास और विलास वस्तुओं को बड़ी कठिनता से प्राप्त कर सकता है। किन्तु एक अमरीकन अथवा सम्पन्न कृषक या श्रमिक की आवश्यकताएँ आरामदायक और असीमित होती हैं। एक धनाढ्य व्यक्ति एक निर्धन व्यक्ति की अपेक्षा अधिक आवश्यकताएँ रखता है और उनके तृप्त करने में प्रयत्नशील देखा जाता है।

(७) प्रकृति, रुचि और फैशन (Habit, Taste and Fashion)—आवश्यकताओं में प्रकृति, रुचि और फैशन के कारण पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। किसी व्यक्ति के लिए धूम्रपान करने की आदत हो जाने से सिगरेट आवश्यक है, परन्तु जो व्यक्ति धूम्रपान नहीं करता उसके लिए वह अनावश्यक है। जिस पोशाक का राजस्थान में प्रचलन है वह पंजाब में प्रचलित नहीं हो सकती है। आसाम प्रदेश के लिए खद्दर के वस्त्र और गांधी-टोपी अनिवार्य है। एक विद्यार्थी को कालेज में प्रविष्ट होने के लिए सूट, टाई, टूथपेस्ट, फाउन्टेन पेन, नोटबुक की आवश्यकता होने लगता है। सिनेमा जाना भी उसके लिए एक फैशन होने लगता है। कालान्तर में यह उसका स्वभाव बन जाता है वह इसके बिना कष्ट अनुभव करता है। जो विद्यार्थी इन परम्परागत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करते वे प्रायः आज के नवीन समाज में बड़ा ही तिरस्कृत बन जाते हैं।

आवश्यकताओं की विशेषताएँ (Characteristics of Wants)

मानवीय आवश्यकताएँ इस भौतिक संसार में तीव्र गति से बढ़ती जा रही हैं। इनकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं —

(१) आवश्यकताएँ अनन्त, अपरिमित और असंख्य हैं (Wants are unlimited in number)—ज्यों-ज्यों मनुष्य सौविक सभ्यता की ओर अग्रसर होता है त्यों-त्यों उसकी आवश्यकताओं में वृद्धि होती जाती है। सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य केवल जीवन की आवश्यकताओं से ही तृप्त रहता है परन्तु उनसे निश्चित होने के पश्चात् उसमें सुख और विलास वस्तुओं की इच्छा अनुभव कर उनकी प्राप्ति में प्रयत्नशील रहने लगता है। ऐसे स्वभाव में आवश्यकताएँ एक के बाद दूसरी उत्पन्न होती रहती हैं। मूरलैण्ड (Moreland) इस बात को सिद्ध करते हैं कि किस प्रकार आवश्यकताएँ बढ़ती हैं। उदाहरणार्थ, भूखे मनुष्य को जब सारे अन्न की सूखी रोटी पूर्ण रूप में मिलने लग जाती है तो वह गेहूँ की रोटी, चावल, घी, शाक, मसाले आदि वस्तुओं की इच्छा करता है और मिट्टी के बर्तनों के स्थान पर धातु के बर्तनों के उपभोग की इच्छा करने लगता है। इसी प्रकार एक नया वकील सर्वप्रथम साधारण इक्के या तांगे में जाता है परन्तु ज्यों-ज्यों उसकी आय में वृद्धि होती है उसी के अनुसार वह अपने निजी घोड़े या बग्घी या तांगा रखने की इच्छा करता है और उसके पश्चात् सम्भवतः उसमें मोटरगाड़ी के उपभोग की प्रबल इच्छा हो जाती है। मूरलैण्ड इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि देश उन्नति की उस अवस्था को प्राप्त करेगा जब कि अधिकांश लोगों की आवश्यकताएँ आज की अपेक्षा अधिक सन्तुष्ट होने लगेंगी। यद्यपि अधिकांश मनुष्यों की आवश्यकताओं की तृप्ति होने लगेगी परन्तु वह अवस्था कभी नहीं आवेगी जब कि सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके क्योंकि एक आवश्यकता की पूर्ति होते ही दूसरी आवश्यकता तुरन्त उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार आवश्यकताएँ सदैव अतृप्त ही रहेंगी।

वास्तव में देखा जाय तो शिक्षा, यातायात और संवाद के साधनों, व्यापार, वैज्ञानिक आविष्कारों से जो ज्ञान की वृद्धि होती है उससे हमारी आवश्यकताएँ बढ़ती हैं। हमारी आधुनिक सभ्यता का आधारभूत आवश्यकताएँ और उनकी वृद्धि ही है। जो समाज जितना ही अधिक सभ्य और उन्नत होगा उतनी अधिक संख्या, विभिन्नता और तीव्रता उसकी आवश्यकताओं की होगी।

(२) प्रत्येक आवश्यकता किसी एक समय के लिए पूर्णतया तृप्त हो सकती है (Each want is satiable)—यद्यपि आवश्यकताएँ अगणित हैं तथापि प्रत्येक आवश्यकता किसी एक समय पूर्णतया तृप्त हो सकती है। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति भूखा है तो इच्छित रोटियों के खाने से सभी उस समय तृप्ति हो जायगी। इसी प्रकार एक प्यासे व्यक्ति की प्यास इच्छित मात्रा में पानी पीने से पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाती है। जैसे-जैसे एक व्यक्ति भोजन करता जायगा वैसे वैसे उसकी भूख की तीव्रता कम होती जायगी और कुछ दशा में बिल्कुल शान्त हो जायगी। यदि फिर भी भोजन करता ही जाय तो इस (बाद के) भोजन की कोई भी उपयोगिता न होगी। इसी विशेषता पर उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility) अवलम्बित है।

(३) आवश्यकताएँ आवर्त्तक होती हैं (Wants are recurrent)—यद्यपि यह सत्य है कि प्रत्येक आवश्यकता किसी एक समय के लिये पूर्णतया सन्तुष्ट की जा सकती है परन्तु कुछ समय के पश्चात् उसका अनुभव पुनः होने लगता है। जैसे दोपहर में भोजन करने से क्षुधा पूर्णतया शान्त हो जाती है परन्तु सायंकाल को उसका पुनः अनुभव होने लगता है और फिर उसकी तृप्ति के लिये भोजन करना पड़ता है। इस प्रकार आवश्यकताएँ आवर्तक होती हैं।

(४) आवश्यकताओं में पारस्परिक स्पर्धा होती है (Wants are Competitive)—मनुष्य अपने सीमित साधनों से असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति करने में प्रयत्नशील रहता है। अतः उसकी आवश्यकताएँ सर्वप्रथम तृप्ति के लिये प्रतियोगिता करती हुई सी पाई जाती हैं। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति कुछ रुपए लेकर बाजार जाता है और उनसे एक पुस्तक, एक फाउन्टेनपेन, एक जूता का जोड़ा और एक सिनेमा टिकट खरीदना चाहता है। ये सब इच्छाएँ परस्पर स्पर्धा करेंगी कि पहले कौनसी तृप्त हो। यह सब करने वाले व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है कि वह अपनी

सीमित आय जिस प्रकार इन इच्छाओं की पूर्ति के लिए व्यय करता है। वह उपयोगिता के अनुसार इन वस्तुओं का क्रय करता है। इस विशेषता पर अर्थशास्त्र का प्रसिद्ध सिद्धान्त 'सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम' (law of Equi-marginal Utility) आश्रित है।

(५) आवश्यकताएँ एक दूसरे के पूरक है (Wants are complementary)—मनुष्य की कुछ इच्छाएँ ऐसी हैं जिनकी पूर्ति अन्य वस्तुओं के द्वारा होती है। जैसे फाउन्टेनपेन के प्रयोग के लिये उसके उपयोग में आने वाली स्याही और कागज अवश्य होना चाहिये। इसी प्रकार मोटर-गाड़ी की इच्छा पूर्ति के लिये पेट्रोल आदि वस्तुओं का एक साथ उपस्थित होना आवश्यक है।
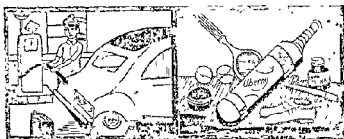
आवश्यकताएँ पूरक होती है।

(६) तीव्रता आवश्यकताओं का भेदक है (Wants vary in intensity)—आवश्यकताओं में पारस्परिक स्पर्धा होते हुये भी उनकी तीव्रता मे पर्याप्त अन्तर है। आवश्यकताओं की तीव्रता मे व्यक्ति विशेष और समय के अनुसार भिन्नता पाई जाती है। जैसे एक प्यासे व्यक्ति के लिये भोजन की अपेक्षा जल अधिक आवश्यक है।

(७) वर्तमान आवश्यकताएँ भविष्य की आवश्यकताओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होती है (Present wants appear more important than future wants)—लोग तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति को भावी आवश्यकताओं की पूर्ति की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं। इसका कारण स्पष्ट है। *भविष्य अनिश्चित और अन्धकार पूर्ण होता है। 'जितने सुधारा वर्तमान को वही* महान् है' यह सूक्ति इसी विशेषता पर आधारित है। सीगर महाशय कहते है कि उपभोक्ता को भावी वस्तुओं की उपयोगिता वर्तमान वस्तुओं की अपेक्षा कम प्रतीत होती है। व्याज के कई नियम इसी पर अवलंबित हैं।

(८) आवश्यकताएँ स्वभाव या प्रकृति मे परिणत हो जाती हैं (Wants become a matter of habit)—अधिकाश मे आवश्यकताएँ

निरन्तर प्रयोग से मनुष्य के स्वभाव में परिणत हो जाती है और स्वभाव (Habit) मनुष्य का दूसरी प्रकृति कहलाता है अत यह प्राप्त (Acquired) और कृत्रिम (Artificial) होता हैं जो जन्म से प्राप्त नहीं होता है। उदाहरणार्थ कोई भी व्यक्ति बाल्यावस्था में मद्यपान धूम्रपान करने वाला नहीं होता है किन्तु इनके निरन्तर प्रयोग से इसका आदी बन जाता है। किसी वस्तु का आदत पड़ जाने पर बिना उस वस्तु के प्रयोग के उसकी शक्ति योग्यता और क्षमता में अन्तर पड़ने लगता है, उसके बिना उसे कष्ट होता है। वह वस्तु उसके लिये अनिवार्य हो जाती है। जैसे अफीम पान करने वाले के लिये अफीम अति आवश्यक है, उसके अभाव में उसकी शोचनीय दशा हो जाती है।
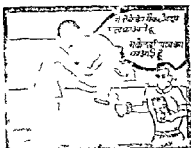
(९) आवश्यकताएँ सामाजिक स्तर पर निर्भर हैं (Wants depend on the social standard)—कुछ आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं जो किसी व्यक्ति से निर्धारित नहीं होती प्रत्युत उसके समाज से सम्बद्ध होती है। वस्त्र जो हम पहनते हैं भवन जिसमें हम रहते हैं खेल जो हम खेलते हैं और आमोद प्रमोद के साधन जिनके हम अभ्यस्त है सबका हमारे सामाजिक जीवन के अनुसार व्यवहार में आना अनिवार्य है। जिस व्यक्ति का सामाजिक स्तर जितना ऊँचा या नीचा (उत्कृष्ट या अपकृष्ट) होता है उसकी आवश्यकताएँ भी उतनी ही ऊँची या साधारण होती है। एक उच्च पदाधिकारी या धन सम्पन्न मनुष्य की आवश्यकताएँ एक निम्न वर्गीय व्यक्ति की अपेक्षा सर्वथा भिन्न होगी। राजदूत राजमन्त्री या प्रधान आयुक्त (Chief Commissioner) के लिए मोटर भव्य भवन मूल्यवान वस्त्र और उपस्कर (फर्नीचर) आवश्यक है पर सब साधारण प्रजाजन के लिए ये वस्तुएं आवश्यक नहीं।

(१०) आवश्यकताएं परस्पर परिवर्तनीय होती हैं (Wants are interchangeable)—प्राय देखा जाता है कि एक वस्तु उसी प्रकार की अधिक उपयोगी वस्तु में परिवर्तित हो जाती है। ज्यों ज्यों भौतिक उन्नति होती है त्यों-त्यों नई-नई वस्तुओं का निर्माण या आविष्कार होता रहता है और इसके फलस्वरूप नवीन अधिक साधक वस्तु प्राचीन वस्तु का स्थान ले लेती है। जैसे मिट्टी के तेल का लम्प बिजली के लम्प में और साधारण घोड़ा गाड़ी साईकिल और मोटर गाड़ी में परिवर्तित होते देखे जाते है।

(११) आवश्यकताएँ ज्ञान की वृद्धि के साथ बढ़ती है (Wants increase with the advance of knowledge)—मनुष्य के ज्ञान में शिक्षा यातायात व शीघ्र-सवाद आदि साधनों में वृद्धि होती रहती है और व साथ-साथ
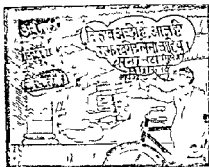
संख्या व तीव्रता में भी बढ़ती जाती हैं। ग्रामीण व्यक्तियों का ज्ञान नागरिकों के ज्ञान की अपेक्षा सीमित होता है, अतः उनकी आवश्यकताएँ भी परिमित होती हैं। इसी प्रकार हमारे पूर्वजों का ज्ञान आजकल के मानव की अपेक्षा कम था इसलिये उनकी आवश्यकताएँ भी सीमित ही थीं, क्योंकि आधुनिक समय में अनेक आविष्कार होते चले जा रहे हैं, जो वस्तुओं के उत्पादन की वृद्धि करने में सहायक हैं। मनुष्य नई-नई वस्तुओं के विज्ञापन आदि को देखता है और उनके उपभोग की इच्छा को पूरी करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार उसका जीवन-स्तर ऊँचा उठ जाता है और परिणाम स्वरूप आवश्यकताएँ भी बढ़ती जाती हैं।

(१२) आवश्यकताएँ वैकल्पिक होती हैं (Wants are alternative)—किसी एक आवश्यकता की पूर्ति के कई साधन होते हैं जैसे ग्रीष्म काल में प्यास पानी के अतिरिक्त सोडा, लेमोनेड, शबर्त अथवा लस्सी आदि से शान्त की जा सकती है और शीत काल में गर्म दूध, चाय या कॉफी आदि प्रयोग में लाए जाते हैं। अन्तिम चुनौती इनके मूल्य और उपभोक्ता के पास उपलब्ध मुद्रा पर निर्भर है।

(१३) आवश्यकताएँ समय, स्थान और व्यक्ति के अनुसार परिवर्तनशील हैं (Wants vary with time place and person)—आवश्यकताएँ सदैव एक सी नहीं रहती। इनमें समय, स्थान और व्यक्ति विशेष के अनुसार पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। शीत और उष्ण प्रदेशों के निवासियों की आवश्यकताओं में बड़ा भेद है। इसी प्रकार जो आवश्यकताएँ हमारे पूर्वजों की थीं, वे अब हमारी नहीं हैं। अस्तु मनुष्यों की आवश्यकताएँ विभिन्न हैं, और एक ही मनुष्य की आवश्यकताएँ विभिन्न समय और स्थान पर भिन्न-भिन्न होंगी।

कतिपय अवास्तविक अपवाद (Some Apparent Exceptions)—आवश्यकताओं की विशेषताएँ, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, अपवाद शून्य नहीं हैं। उनके कतिपय अपवाद निम्नलिखित हैं :—

(१) ऊपर यह उल्लेख किया जा चुका है कि प्रत्येक आवश्यकता किसी एक समय के लिए पूर्णतया सन्तुष्ट की जा सकती है, किन्तु कुछ आवश्यकताएँ ऐसी भी हैं जो कभी पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं की जा सकती। वे आवश्यकताएँ निम्नांकित हैं—

(अ) कृपण की मृगतृष्णा (Miser's love for wealth)—कृपण धन के लिए इतना प्रेमासक्त होता है कि वह उसका सचय सचय करने के उद्देश्य से करता है न कि उपभोग के लिए। वह नित्य अपने कोष में चांदी सोने के आभूषण जवाहरात और मुद्रा आदि विविध प्रकार का धन देखना रुचिकर समझता है और उन्हें देखकर अत्यधिक प्रसन्न होता है। वह इस बात के लिए सदा सतर्क रहता है कि कभी सपत्ति कम न हो। अत वह उसमें से न्यूनतम मात्रा का उपभोग करता है। ऐसे व्यक्ति असाधारण होते है। इसलिये अर्थशास्त्र इनका अध्ययन नहीं करता।

(ब) प्रदर्शन प्रियता (Love of Display)—कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिन्हें अपने धन या सम्पत्ति के दिखाने की प्रबल इच्छा होती है। वे भोजन वस्त्र भवन उपस्कर आभूषण रत्नादि में अन्य व्यक्तियों से अधिक सम्पन्न होना चाहते हैं और इन बातों की अधिकाधिक वृद्धि करके दूसरों को प्रभावित करना चाहते हैं। ऐसे व्यक्तियों की इच्छाओं की कदापि पूर्ति नहीं होती अपितु वे इच्छित वस्तुओं के सग्रह में निरन्तर प्रयत्नशील देखे जाते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो यह कोई अपवाद नहीं है। यह तो हमारी इच्छाओं के अनन्त तथा असीमित होने के लक्षण का एक उदाहरण है ज्योंही एक आवश्यकता तृप्त होती है दूसरी आवश्यकता तुरन्त उत्पन्न हो जाती है। जैसे मनुष्य को साधारण वस्त्र मिलने लगता है तो वह उत्तम वस्त्र की इच्छा करते हुए देखा जाता है। इसी प्रकार इच्छाएँ एक के बाद दूसरी बढ़ती ही जाती हैं।

(स) शक्ति प्रियता (Love for Power)—कुछ मनुष्यों में शक्ति बढ़ाने की इच्छा इतनी प्रबल होती है कि वह निरन्तर अपनी शक्ति बढ़ाने में सलग्न रहते हैं। जैसे किसी राजा ने एक देश जीत लिया तो वह अनेक ऐसे देश जीतने का प्रयत्न करता है और इसके पश्चात् विश्व विजयी होने की इच्छा को पूर्ण करने के उपायों को जुटाता है। मनुष्य की अपने प्रभाव, तेज बल बलादि को बढ़ाने की इच्छा कभी तृप्त नहीं होती।

वास्तव में देखा जाय तो ऐसी इच्छाएँ साधारण मनुष्य में कम पाई जाती हैं। ऐसी इच्छाएँ असाधारण मनुष्यों की ही होती हैं इसीलिये इनका अध्ययन अर्थशास्त्र के क्षेत्र की वस्तु नहीं है।

(द) मुद्रा प्रियता (Love of Money)—मुद्रा की आवश्यकता कभी भी तृप्त नहीं होती जितनी अधिक मात्रा मुद्रा की हम प्राप्त करेंगे उतनी ही अधिक उसकी इच्छा बढ़ती जायगी। हम मुद्रा को सचय करने के विचार से अधिकाधिक प्राप्त नहीं करेंगे अपितु इसकी क्रय शक्ति के कारण इसको अधिकाधिक प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे।

जैसे ऊपर बतलाया जा चुका है कि आवश्यकताएँ असीमित और अनन्त हैं और उनकी पूर्ति अधिकाधिक मुद्रा से हो सकती है अत मुद्रा को प्राप्त करने की इच्छा मनुष्य में प्रबल रहती है। कभी पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं हो पाती।

(२) आवश्यकताओं की कई एक विशेषताओं में से उनकी अनन्तता और अपरिमितता अन्यतम लक्षण है परन्तु यह सर्वथा सत्य नहीं है। इसका अपवाद निम्न प्रकार है —

साधु और सन्यासियों की आवश्यकताएँ—ऐसे महापुरुषों की आवश्यकताएँ बिल्कुल सीमित होती हैं। उनका भोजन सात्विक तथा साधारण

होता है। सिंह या मृगचर्म के अतिरिक्त विशेष वस्त्रों की आवश्यकता नहीं होती। वे भौतिक संसार में विरक्त होकर अपनी इच्छाओं और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर 'मुक्ति' (Salvation) प्राप्ति के लिये प्रसक्त देखे जाते हैं। इस बात का विवेचन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है कि ऐसे व्यक्तियों का अर्थशास्त्र में अध्ययन नहीं किया जाता क्योंकि उनकी गणना जन-साधारण में नहीं की जाती।

आवश्यकताओं की वृद्धि (Multiplication of wants)—बहुधा यह चिन्तनीय विषय हो जाता है कि आवश्यकताओं की वृद्धि वाञ्छनीय है या नहीं। यह एक विवादास्पद विषय है, अतः उनकी वृद्धि वाञ्छनीय है अथवा अवाञ्छनीय यह सहसा कह देना उचित प्रतीत नहीं होता। इस विषय में विद्वानों की विविध धारणाएँ नीचे दी जाती हैं।

आवश्यकताओं की वृद्धि वाञ्छनीय है
(Multiplication of wants desirable)

(१) इस पक्ष के पण्डितों की यह धारणा है कि आवश्यकता की तृप्ति से कुछ संतुष्टि अवश्य हो जाती है। इसके फलस्वरूप जितनी अधिक आवश्यकताएँ हमें तृप्त करेंगी, उतनी ही अधिक सन्तुष्टि का परिमाण भी उसी ही अनुपात में बढ़ता जायगा। यह धारणा भौतिक अथवा अर्थशास्त्रीय दृष्टि से नितान्त समुचित है।

(२) आधुनिक सभ्यता आवश्यकताओं की वृद्धि पर अवलम्बित है, अतः इनकी वृद्धि नितान्त वाञ्छनीय है।

(३) यदि हम आवश्यकताओं की न्यूनता में विश्वास करने लग जायेंगे तो यह विचारधारा हमारी आर्थिक उन्नति, राष्ट्रीय-व्यक्तित्व प्राप्त करने और संसार में उन्नति के लिये अग्रसर होने में बाधक सिद्ध होगी।

(४) यदि हम इस भौतिक संसार की आवश्यकताओं में कमी कर देंगे तो हम आर्थिक-दृष्टि से इतने निर्बल हो जायेंगे कि संसार का कोई भी देश हम पर विजय प्राप्त कर हमें अपने आधीन कर लेगा। यदि भारतवर्ष के निवासियों का जीवन स्तर उच्च हो जाता है, तो उसमें उन्नति की भावना भी बनी रहेगी। यह आर्थिक-उन्नति की ओर अग्रसर होने के लिये अनुपम प्रोत्साहन है।

आवश्यकताओं की वृद्धि अवाञ्छनीय है (Multiplication of wants is not desirable)—इस विचारधारा वाले अधिकतर धार्मिक वृत्ति वाले व्यक्ति हैं जो मनुष्य की वास्तविक उन्नति उसके 'आत्म-विकास' में ही समझते हैं। वे इसके लिये भौतिकता में फँसना उचित नहीं समझते। इनका तर्क निम्नलिखित बातों पर निर्भर है :—

(१) वास्तविक उन्नति आत्म-कल्याण है न कि भौतिक समृद्धि।

(२) यदि कोई व्यक्ति या समाज अधिक आवश्यकताओं की तृप्ति के चक्कर में पड़ जायगा तो आध्यात्मिक उन्नति के लिये, जो मानव जीवन का चरम लक्ष्य है, उसे बहुत कम समय मिल सकेगा।

(३) आवश्यकताओं की संख्या बढ़ाने और फिर उनकी पूर्ति के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहने से मनुष्य का भौतिकवादी हो जाना स्वाभाविक है जो आध्यात्मिक उन्नति के लिये सर्वथा उसे अयोग्य कर देता है।

(४) यदि आवश्यकताओं में असीमित वृद्धि होती है और उन सबकी पूर्ति होने में आर्थिक आपत्तियाँ उपस्थित हो जाती हैं तो जिन आवश्यकताओं की पूर्ति न हो सकेगी उनसे महान कष्ट पैदा हो जायगा। अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि मनुष्य अपनी न्यूनतम आवश्यकताएँ रखे। इसी आधार पर स्वर्गीय गान्धी ने आजकल की खाद्य और वस्त्रादि की न्यूनता का सामना करने के लिए भारतवासियों को अपनी आवश्यकताएँ कम करने की शिक्षा दी थी।

उचित दृष्टिकोण (Right View)—उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोण अतिशयोक्ति (Extreme) हैं। उचित तथ्य इन दोनों अतिशयोक्तियों के मध्य में स्थित है। इस भौतिक संसार में आवश्यकताओं की मात्रा इतनी कम भी न होनी चाहिये कि उन्नति करने के लिये प्रोत्साहन ही न रहे और इतनी अधिक भी नहीं होनी चाहिये जिससे उनकी पूर्ति न होने पर दुःख का अनुभव होने लगे।

सारांश यह है कि हमारी आवश्यकताएँ न अधिक और न कम होनी चाहिए। सीमित साधनों के अनुरूप ही उनकी वृद्धि वाञ्छनीय है।

क्या आवश्यकताएँ आय की अपेक्षा अधिक तीव्र वेग से बढ़ती हैं ?

भौतिक सभ्यता के युग में आवश्यकताओं की वृद्धि ने बड़ी तीव्र गति प्राप्त कर ली है। यहाँ तक कि एक साधु को भी छाता, नोट और सिगरेट आदि चाहिये। जो लोग अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं वे अधिक सभ्य और उन्नत समझे जाते हैं। इस दौड़ में आवश्यकताएँ इतनी बढ़ जाती हैं कि उनकी पूर्ति के साधन पिछड़ जाते हैं। हमारी अनिवार्य आवश्यकताएँ (Necessaries of life) और सुख व विलास की वस्तुओं का उपभोग तीव्र गति से बढ़ रहा है। विविध प्रकार के नवीन आविष्कारों और विलास की वस्तुओं से हम प्रभावित होते जा रहे हैं जिसका फल यह है कि प्रतिदिन आवश्यकताओं में वृद्धि होती रहती है।

दूसरी ओर हम देखते हैं कि हमारी आय एक सीमित मात्रा में होती है। वह आवश्यकताओं की भाँति बढ़ती नहीं। आय में वृद्धि करना किसी व्यक्ति विशेष के हाथ की बात नहीं है, यह समाज की इच्छा पर और सुअवसरों पर निर्भर है। अस्तु इस दौड़ को बराबर रखने के लिये मनुष्य को अपने सुख और विलास वस्तुओं में कमी करनी चाहिये। मनुष्य को कभी आवश्यक इच्छाओं की पूर्ति करने के लिये कर्जदार नहीं बनना चाहिये अन्यथा उसका जीवन नष्ट हो जायगा।

आवश्यकताओं और आय में सन्तुलन करने के उपाय

(१) उत्पादन में वृद्धि होना आवश्यक है जिससे आय में वृद्धि हो।

(२) किसी देश या राष्ट्र के आर्थिक साधनों का पूर्ण उपयोग करने के लिये पर्याप्त प्रोत्साहन मिलना चाहिये।

(३) जन संख्या की वृद्धि में उचित नियन्त्रण होना चाहिये।

भारतीय कृषक की आवश्यकताएँ (Wants of an Indian farmer)

भारतीय कृषक की आवश्यकताओं पर प्रभाव डालने वाले निम्नलिखित कारण हैं —

(१) रीति या व्यवहार (Custom) से निर्धारित होने वाली आवश्यकताएँ—एक भारतीय कृषक की आवश्यकताएँ आय वृद्धि की अपेक्षा रीति या व्यवहार और प्रकृति से अधिक प्रभावित होती हैं। ये दो विभागों में विभक्त हो सकती

हैं—एक तो अनिवार्य आवश्यकताएँ और दूसरी रचनात्मक (जो अनिवार्य न हों) आवश्यकताएँ :—

(अ) अनिवार्य आवश्यकताएँ—भोजन, वस्त्र और आवास आदि उसकी आवश्यकताएँ अधिकतर रीति या व्यवहार से निर्धारित होती है। उसका भोजन एक विशेष प्रकार का होता है और उसकी वेष भूषा भी उसके पूर्वजों की भाँति अंगरखा, पगड़ी और धोती होती है। उसकी अनिवार्य आवश्यकताएँ बिल्कुल व्यावहारिक रीतियों से प्रभावित होती हैं।

(ब) अजीवनोपयोगी या रचनात्मक आवश्यकताएँ—कुछ ऐसी आवश्यकताएँ हैं, जो अनिवार्य नहीं है अपितु वे सामाजिक व धार्मिक प्रभाव से प्रचलित हैं, जन्म, मृत्यु और विवाह व पर्व आदि के अवसरों पर होने वाले व्यय इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति का उदाहरण है।

(२) प्रकृति (Habit) द्वारा निर्धारित होने वाली आवश्यकताएँ—कृषक की ऐसी आवश्यकताएँ, जो न तो अनिवार्य हों और न रीति-व्यवहार के दृष्टिकोण से परम्परागत हों, अपितु स्वभाव में प्रचलित हों, प्रकृति निर्धारित आवश्यकताएँ है, जैसे धूम्रपान (चिलम, हुक्का आदि)।

(३) बुद्धि (Reason) से निर्धारित होने वाली आवश्यकताएँ—भारतीय कृषक प्रायः अपढ़ और रूढ़िवादी होता है अतः बुद्धि से निर्धारित होने वाली उसकी आवश्यकताएँ बहुत कम हैं। जिन वस्तुओं का उपभोग वह परम्परा से करता आ रहा है उनमें वह कोई परिवर्तन नहीं करना चाहेगा, यद्यपि किसी वस्तु के उपभोग से हानियाँ भी क्यों न उसे बतलाई जायें। उदाहरण के लिये, उसे टोपी की अपेक्षा टोप की उपयोगिता बतलाई जाय तो भी वह टोपी ही पहनना पसन्द करेगा। अस्तु, उसकी आवश्यकताओं में बुद्धि का हस्तक्षेप बहुत कम है।

भारतीय श्रमिक की साधारण आवश्यकताएँ
(Ordinary Wants of an Indian labour)

(१) भोजन (Food)—एक भारतीय श्रमिक का भोजन अंशतः रीति-रिवाज (Custom) और अंशतः प्रकृति (Habit) से निर्धारित होता है। वह वही भोजन करता है जो उसके पूर्वज करते थे। यदि उसकी आय भी बढ़ जाय, तब भी वह परम्परागत खाद्य-पदार्थ ही उपभोग में लावेगा। जैसे एक हिन्दू श्रमिक अंडे सस्ते हो जाने पर भी अथवा खाद्य-योग्य पदार्थ घोषित होने पर भी (यदि वह पहले इनका उपभोग नहीं करता था) कदापि प्रयोग में नहीं लावेगा।

(२) वस्त्र (Clothing)—उष्ण जलवायु और अत्यन्त निर्धनता के कारण वह प्राय. केवल अपनी कमर को ही ढाँकता है। विशेष अवसरों पर प्राचीन शैली और फैशन के वस्त्र उपयोग में लाता है। इस मामले में वह अपनी बुद्धि से काम लेता है। वह पुराने फैशन के वस्त्रों को छोड़ कर नए ढंग के सस्ते और टिकाऊ वस्त्रों को भी प्रयोग में ला सकता है, यदि उसको अमुक प्रकार के वस्त्रों की उपयोगिता से सन्तुष्ट कर दिया जाय।

(३) आवास (Housing)—इस विषय में भारतीय श्रमिक प्रकृति और रीति-रिवाज से प्रभावित है। बुद्धि और विवेक इसमें कोई स्थान नहीं रखते। एक अँगरेज श्रमिक जो कि उच्च जीवन-स्तर का अभ्यस्त है तुरन्त गन्दे, वायु-रहित गृह

को उपेक्षा कर साफ-सुथरे मकान में रहना पसन्द करेगा। परन्तु भारतीय श्रमिक मलिन और प्राणघातक (Stuffy) वातावरण में भी रहने का अभ्यस्त होता है।

(४) तम्बाकू मदिरा, सिनेमा और जुआ (Tobacco, Alcohol, Cinema & Gambling)—भारत के औद्योगिक क्षेत्रों में श्रमिक व्यक्ति प्रायः इस प्रकार के दुर्गुणों में फँस जाते हैं। ये व्यसन पारस्परिक व्यवहार और अपनी रुचि से सजीव प्रेरणा पाते हैं। श्रमिक तम्बाकू और शराब इसलिए पीता है, क्योंकि उसके समाज के अन्य व्यक्ति भी पीते हैं।

(५) औषधि द्वारा उपचार (Medicines)—भारत का प्रायः प्रत्येक व्यक्ति वैद्य होता है। यहाँ साधारण व्याधियों में परम्परागत नुस्खे प्रयोग में लाये जाते हैं। यद्यपि रिवाज का पूर्ण प्रभाव है, फिर भी इस विषय में बुद्धि से काम लेता है।

(६) शिक्षा (Education)—शिक्षा-सम्बन्धी विषयों में बुद्धि और विवेक से अधिक काम नहीं लिया जाता, बल्कि वंश परम्परा के अनुसार जितनी शिक्षा उन्हें अभीष्ट है, उतनी ही वे प्राप्त करते हैं।

(७) मुकदमाबाजी (Litigation)—मुकदमबाजी में अधोवर्गीय भारतीय व्यक्ति बड़े अभ्यस्त हैं।

(८) आमोद प्रमोद, भोज आदि (Entertainments & Feasts)—गाँव और कस्बों के श्रमिकों को जाति-रिवाज के अनुसार विवाह एवं मृत्यु के अवसर पर सहभोज देने पड़ते हैं।

(९) आभूषण, विवाह, दाह-संस्कार—इन मदों पर रीति-रिवाज के अनुसार व्यय किया जाता है।

(१०) सजावट की वस्तुएँ (Articles of Finery)—सजावट या आडम्बर की वस्तुओं पर कम व्यय किया जाता है। रीति-रिवाज के अनुसार अन्य बातों पर पर्याप्त व्यय किया जाता है परन्तु ऐसी विलास की वस्तुओं पर कम व्यय किया जाता है।

एक कालेज के विद्यार्थी की आवश्यकताएँ—कॉलेज के विद्यार्थी की आवश्यकताएँ रीति-रिवाज और फैशन से निर्धारित होती हैं। जब एक छोर से गस्त का विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए किसी उच्च नगर के कॉलेज में प्रविष्ट होता है तो उसे एक दम अपनी वेष-भूषा आदि में परिवर्तन कर देना पड़ता है। उसे अपने साथियों से आदर प्राप्त करने हेतु साइकिल, फाउण्टन पेन, हाथ की घड़ी, सूट, टाई, कॉलर आदि का

प्रयोग करना पड़ता है अन्यथा वह 'बुद्धू' समझा जायगा। उस फैशन और रीति से प्रभावित होकर धूम्रपान करना पड़ता है तथा अपने साथियों से मिलता-जुलता रहने के लिये सिगरेट-केस भी रखना पड़ता है। वह चाय पीता है और अपने मित्रों को भी चाय के लिए आमन्त्रित करता है। इसी प्रकार उसे बहुमूल्य सुगंधित तेल, साबुन, सेन्ट, क्रीम, स्नो, टूथपेस्ट और फर्नीचर आदि वस्तुओं पर भी व्यय करना पड़ता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इन्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—'आवश्यकताओं के मुख्य लक्षणों' पर नोट लिखिए।
(उ० प्र० १६५८, सागर १६५१ ४६)

२—'आवश्यकता' की परिभाषा दीजिए। आवश्यकताओं के निर्धारण पर परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट कीजिए। (उ० प्र० १६५३)

३—बढ़ती हुई आवश्यकताएँ वाञ्छनीय आर्थिक ध्येय क्या है? क्या बढ़ती हुई आवश्यकताओं और उत्पादन में कार्यक्षमता का कोई परस्पर सम्बन्ध है?
(अ० वो० १६६०)

४—अर्थशास्त्र का अर्थ स्पष्ट कीजिए। एक भारतीय कृषक की आवश्यकताओं के निर्धारण पर रीति रिवाज, आदत और तर्क का प्रभाव व्यक्त करते हुए उनका उल्लेख कीजिए। (अ० वो० १६३८)

५—अर्थशास्त्र के अध्ययन में आवश्यकताओं का महत्व व्यक्त कीजिए।
(उ० प्र० १६४८, ४५)

६—आवश्यकताओं का संख्या वर्द्धन वाञ्छनीय है या नहीं? (उ० प्र० १६४२)
(रा० बो० १६४८)

७—"आवश्यकताएँ-प्रयत्न सन्तुष्टि ही अर्थ व्यवस्था का चक्र है।"—बैनहिमट के इस कथन की व्याख्या कीजिए। (रा० बो० १६५०)

८—'आवश्यकताएँ आर्थिक क्रियाओं का जन्म देती है और आर्थिक क्रियाएँ आवश्यकताओं को जन्म देती है।'—स्पष्टतया व्याख्या कीजिए। आवश्यकताओं का संख्या वर्द्धन किस सीमा तक वाञ्छनीय है? (अ० बो १६४३)

६—आवश्यकताओं से क्या समझते है? आवश्यकताओं की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। (उ० प्र० १६५५,५३ ५२,४८,४६)

१०—मानवीय आवश्यकताओं की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए। क्या आवश्यकताएँ पूर्णत सन्तुष्ट की जा सकती हैं? (बनारस १६४४)

११—मानवीय आवश्यकताओं के मुख्य लक्षणों का वर्णन कीजिए। (रा० बो० १६४८-५०,
(अ० बो० १६४६,३८, म० भा० १६५४ बनारस १६५३, ५१)

१२—आवश्यकताओं के क्या मुख्य लक्षण हैं? कौन सी आवश्यकताएँ तीव्र होती है और क्यों? (सागर १६४८)

१३—आवश्यकताओं के क्या मुख्य लक्षण है? क्या आवश्यकताओं का संख्या वर्धन उचित है? (सागर १६५६, उ० प्र० १६४२, नागपुर १६५४)

इण्टर एग्रीकल्चर परीक्षाएँ

१४—मानवीय आवश्यकताओं के लक्षणों पर टिप्पणी लिखिए। (रा० बो० १६४६)

१५—'आवश्यकताओं में प्रतिस्पर्द्धा होती है।—स्पष्ट समझाइए। (उ० प्र० १६५०)

१६—'प्रत्येक आवश्यकता तोषणीय होती है।'—स्पष्ट कीजिए। (उ० प्र० १६४८)

१७—आवश्यकता का अर्थ बताइए और मानवीय आवश्यकताओं के प्रमुख लक्षणों का विवेचना कीजिए। (अ० बो० १६५३, ५२)

अध्याय १३

आवश्यकताओं का वर्गीकरण
(Classification of Wants)

आवश्यकताओं के वर्गीकरण का कारण

मनुष्य अपने साधारण जीवन में अनेक आवश्यकताओं का अनुभव करता है। वे समान रूप में आवश्यक नहीं होतीं। उनमें से कुछ अधिक आवश्यक होती हैं और कुछ कम। हमारी कुछ आवश्यकताएँ तो ऐसी हैं जिनकी पूर्ति के बिना मनुष्य जीवन स्थिर नहीं रह सकता। उन्हें अनिवार्य आवश्यकताएँ कहते हैं। अर्थशास्त्र में तृप्ति के लिए अमुक वस्तु की अनिवार्यता उसे आवश्यक बनाती है। अतः जो वस्तुएँ हमारी प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं उन्हें अनिवार्य या आवश्यक पदार्थ (Articles of Necessity) कहते हैं। शेष सब आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुओं को 'सुख और विलास वस्तुएँ' (Artic es of Comforts and Luxuries) कहते हैं।

दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि मनुष्य सब आवश्यकताओं की तृप्ति एक साथ नहीं कर सकता क्योंकि आवश्यकताएँ तीव्रता (Intensity) में पर्याप्त भिन्नता रखती हैं, कुछ आवश्यकताएँ अधिक तीव्रता रखती हैं और कुछ कम। अधिक तीव्र आवश्यकताओं की तृप्ति के लिये विविध उपयुक्त साधन जुटाने में पूर्व सोचा जाता है कि तृप्ति किस व्यक्ति के लिये कितनी मात्रा में आवश्यक है। इस दृष्टि से मानवीय आवश्यकताएँ मुख्यतः तीन भागों में विभाजित की गई हैं—(१) अनिवार्य आवश्यकताएँ, (२) सुखकर आवश्यकताएँ और (३) विलासिताएँ। इन्हें स्पष्ट करने के लिये नीचे चित्र दिया जाता है —

- आवश्यकताएँ (Wants)
  - अनिवार्य आवश्यकताएँ (Necessaries of Life)
    - जीवनीय आवश्यकताएँ (Neces aries for Existence)
    - दक्षीय आवश्यकताएँ (Necessaries for Efficiency)
    - रूढ़ आवश्यकताएँ (Convent onal Necessaries)
  - सुखकर आवश्यकताएँ (Comforts)
  - विलासिताएँ (Luxuries)
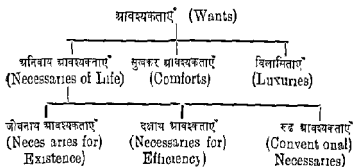
(१) अनिवार्य आवश्यकताएँ (Necessaries of Life)—मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ अनिवार्य आवश्यकताएँ कहलाती हैं। इनकी अनिवार्यता

का अनुभव इसके द्वारा किसी इच्छा की तृप्ति के अभाव में उठ खड़ी होने वाली पीड़ा में किया जा सकता है। इन इच्छाओं की पूर्ति तीन भागों में विभक्त की जाती है—जीवन रक्षा, दक्षता और लोकाचार।

अनिवार्य आवश्यकताओं का उप विभाजन—अनिवार्य आवश्यकताएँ भिन्न भिन्न कारणों से उत्पन्न होने के कारण निम्नलिखित तीन विभागों में बाँटी जाती हैं —

(अ) जीवनार्थ आवश्यकताएँ (Necessaries for Existence)—जिन आवश्यकताओं की पूर्ति मनुष्य जीवन को स्थिर रखने के लिये की जाती है वे जीवनार्थ आवश्यकताएँ कहलाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न्यूनतम भोजन, पेय और वस्त्र आदि चाहिये जिससे वह अपनी जीवन शक्ति और स्वास्थ्य को स्थिर रख सके। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना मनुष्य का स्वास्थ्य बिगड़ने के कारण जीवन का अस्तित्व विपद् ग्रस्त हो सकता है।

जीवनार्थ न्यूनतम आवश्यकताएँ देश, काल और जलवायु के अनुसार पर्याप्त भिन्नता रखती हैं। उदाहरणार्थ ठंडे देशों में आवश्यक मात्रा में भोजन, पेय (Drink) आदि के अतिरिक्त पर्याप्त वस्त्र विशेष प्रकार का आवास (Shelter) भी होना चाहिए। परन्तु भारत के समस्त स्थानों के लिये वस्त्र और आवास अधिक मात्रा में आवश्यक नहीं। शीत काल में सम्भवतः साधारण आवास और एक कम्बल ही पर्याप्त है। ऐसे देशों में जीवनार्थ आवश्यकता शब्द का संकेत कुछ अन्न जल की ओर है जो देह को स्थिर रखने में समर्थ है।

जीवनार्थ आवश्यक पदार्थों के उपभोग के प्रभाव—इनकी प्राप्ति के लिये मनुष्य को निरन्तर उद्योगरत रहना पड़ता है। अतः ये मनुष्य को परिश्रमी बनाती हैं।
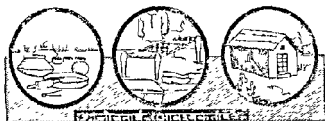
(ब) दक्षतार्थ आवश्यकताएँ (Necessaries for Efficiency)—जीवनार्थ आवश्यकताओं के अतिरिक्त कुछ आवश्यकताएँ ऐसी हैं जिनकी पूर्ति मनुष्य की धनोपार्जन की शक्ति एवं निपुणता बनाए रखने के लिये आवश्यक है। ऐसी आवश्यकताएँ दक्षतार्थ आवश्यकताएँ कही जाती हैं। जैसे पौष्टिक भोजन, स्वच्छ और उत्तम वस्त्र, औषधि उपचार के साधन, बच्चों की शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ, वृद्धावस्था के लिये समुचित प्रबन्ध और हवादार मकान आदि।

दक्षतार्थ आवश्यक पदार्थों के उपभोग का प्रभाव—इन वस्तुओं के उपभोग से मनुष्य की योग्यता अथवा दक्षता में वृद्धि होती है। इन आवश्यकताओं

की पूर्ति न होने से मनुष्य की निपुणता और धनोपार्जन शक्ति पर विपरीत प्रभाव पड़ने की सम्भावना है।

(ग) रूढ़ि आवश्यकताएं (Conventional Necessaries)—रूढ़ि आवश्यकताएं वे हैं जिनकी पूर्ति मनुष्य अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाए रखने के उद्देश्य से करता है। समाज के एक सदस्य के रूप में ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति उसे अवश्य करनी पड़ती है अन्यथा वह सामाजिक दृष्टि में गिर जाता है और अन्य व्यक्तियों के उपहास का पात्र बन जाता है। इन वस्तुओं का जो रीति रिवाज, आचार विचार तथा आदत पड़ जाने से आवश्यक बन जाती हैं कृत्रिम या रूढ़ि आवश्यकताओं की वस्तुएं कहते हैं

मनुष्य सामाजिक प्राणी है समाज का अंग होने के कारण उसे समाज के आचार विचार रीति रिवाज रहन सहन आदि का पालन करना पड़ता है। अतिथि सत्कार में पान सुपारी इलायची चाय तम्बाकू, सामाजिक तथा धार्मिक उत्सवों के अवसर पर प्रयोग में आने वाली वस्तुएं जन्म मृत्यु विवाह आदि अवसरों पर अपने मित्रों और सम्बन्धियों को रीति रिवाज के अनुसार आमंत्रित कर भोजन कराना और उत्सव के अवसर पर विशेष प्रकार का भोजन करना और वस्त्र धारण करना आदि बातें भी रूढ़ि आवश्यकताओं के अन्तर्गत हैं क्योंकि इनकी तृप्ति व्यावहारिक रीति रिवाजों के कारण आवश्यक समझी जाती है। इस प्रकार के विविध व्ययों में मनुष्य अपनी सामाजिक सुख्याति और प्रतिष्ठा का महत्व समझता है। सूरदत्त एक स्थान पर लिखते हैं — बहुत से व्यक्ति केवल समाज के अपमान से बचने के लिये अपनी सर्वथा अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति को कम कर विवाह, मृत्यु और अन्य धार्मिक या सामाजिक उत्सवों पर व्यय करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

भारतवर्ष में रूढ़ियों का प्रभाव अधिक होने से साधारण स्थिति का मनुष्य भी अपनी जीवनार्थ एवं दक्षतार्थ आवश्यकताओं में कमी कर रूढ़ आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता है। चाहे कुछ भी हो, वह विवाह भोज अथवा मृत भोज अवश्य करेगा।

इनके उपभोग का प्रभाव—इनके उपभोग से मनुष्य रूढ़िवादी हो जाता है, इसका परिणाम यह देखा गया है कि उसका मानसिक विकास सकीर्ण हो जाता है।

अनिवार्य आवश्यकताओं में मूल्य और माँग का सम्बन्ध—अनिवार्य आवश्यकताओं की माँग में मूल्य के अनुपात से कम परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए, नमक का मूल्य अधिक गिर जाने पर भी नमक आवश्यकता के अनुसार ही खरीदा जायगा।

(२) सुखकर आवश्यकताएँ (Comforts)—जिन वस्तुओं की पूर्ति अनिवार्य आवश्यकताओं के उपरान्त जीवन को सुखी और प्रसन्न बनाने के लिए की जाय सुखकर आवश्यकताएँ कहलाती हैं। उदाहरण के लिए स्वादिष्ट भोजन, भव्य भवन, चित्रपट आदि मनोरंजन के साधन, बिजली का पंखा, रेशम या मलमल का कुर्ता और एक उत्तम चिकनी पतली धोती, ओवर कोट, एक रुईदार गद्दे की रजाई—ये सब पदार्थ सुखकर कहे जाते हैं। इसी प्रकार एक विद्यार्थी के लिए एक पुस्तक 'अनिवार्य आवश्यकता' है, एक मेज और कुर्सी उसके लिए दक्षतार्थ आवश्यकता है, परन्तु गद्देदार कुर्सी उसके लिए सुखकर वस्तु है। सुखकर वस्तुएँ जीवन को प्रसन्न और सुखी बनाती हैं। इनके अभाव में मनुष्य को कुछ दुःख नहीं होता। इनसे क्षमता और निपुणता में भी अवश्य वृद्धि होती है परन्तु इन पर किए व्यय के अनुपात में नहीं। इनके अभाव में मौलिक निपुणता की क्षति ही नहीं होती प्रत्युत इनकी पूर्ति से होने वाले लाभों से भी अवश्य वंचित रहना पड़ता है।

सुखकर एवं दक्षतार्थ आवश्यकताओं में भेद—इन दोनों का अन्तर समझना इसलिए आवश्यक है कि कभी-कभी विद्यार्थीगण दोनों को एक ही वस्तु समझ जाते हैं। वास्तव में दोनों में पर्याप्त अन्तर है। सुखकर वस्तुओं पर जितना व्यय किया जाता है उसका अपेक्षा लाभ कम होता है। परन्तु दक्षतार्थ वस्तुओं के उपभोग में स्वास्थ्य और दक्षता में निस्सन्देह अधिक लाभ पहुँचता है।

सुखकर पदार्थों के उपभोग का प्रभाव—निरन्तर सुख का जीवन मनुष्य को कोमल और निकम्मा बना देता है जिससे वह श्रमपूर्ण जीवन के लिए अयोग्य सिद्ध होने लगता है।

मूल्य और माँग का सम्बन्ध—माँग और मूल्य में मूल्य की न्यूनाधिकता से समानुपात में कम परिवर्तन होने के कारण सकल लाभ प्रभाव शून्य रहता है।

(३) **विलासिताएँ** (Luxuries)—जिन आवश्यकताओं की तृप्ति जीवन को अत्यधिक सुखी और विषयासक्त बनाने के हेतु की जाय वे विलासिताएँ कहलाती हैं। जो वस्तुएँ या सेवाएँ ऐसी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करती हैं वे विलास वस्तुएँ या सेवाएँ कहलाती हैं। इन पर जो व्यय किया जाता है वह आवश्यकता से कहीं अधिक होता है। इन आवश्यकताओं की तृप्ति जीवन-स्तर को केवल ऐश्वर्य भोगमय रखने के उद्देश्य से की जाती है। विलास-वस्तुएँ अनावश्यक होती हैं। इनके बिना भी मनुष्य का काम भली प्रकार चल सकता है। इसी कारण प्रो० जीड ने इन्हें अनावश्यक आवश्यकताएँ (Superfluous Wants) कह कर पुकारा है। प्रो० टेलर ने इन्हें अत्यधिक व्यक्तिगत उपभोग (Excessive Personal Consumption) कहा है। रस्किन ने इन्हें अनपेक्षित अपेक्षा (Undesired Desires) लिखा है। अर्थशास्त्र निष्णात चाणक्य ने 'अतिरिक्त श्रम' (मात्रा में अधिक सन्तोष प्राप्त करने की इच्छा) लिखा है। नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन, बहुमूल्य वस्त्र, भव्य भवन, हाथी, बहुमूल्य मोटर, उपस्कर (फर्नीचर), चित्र आदि वस्तुएँ इनके कुछ उदाहरण हैं। इन आवश्यकताओं की तृप्ति से अत्यधिक आनन्द अवश्य प्राप्त होता है पर वह क्षणिक होने के अतिरिक्त कार्य कुशलता एवं निपुणता में तनमात्र भी वृद्धि नहीं करता। कभी कभी तो इनका उपभोग हानिकारक सिद्ध होता है। ऐसे विलास वस्तुओं का प्रयोग हानिकारक उपभोग भी कहलाता है। इनके अभाव में किसी व्यक्ति को वेदना नहीं होती।

विलासिताएँ

विलास वस्तुओं के उपभोग का प्रभाव—विलास वस्तुओं के अधिकाधिक उपभोग से मनुष्य अपने भावना की सीमा में बाहर रहने लगता है। परिणामतः वह अपने जीवन को व्यसनीन बना लेता है जिसके कारण कभी कभी भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हो जाने की सम्भावना हो सकती है। इसके अतिरिक्त मनुष्य आलसी और दीर्घसूत्री हो जाता है और परिश्रम से जी चुराने लगता है।

मूल्य और माँग का सम्बन्ध—इन वस्तुओं के मूल्य में तनिक परिवर्तन होने पर ही माँग में अधिक परिवर्तन हो जाता है। अंगूर का भाव चार आने पाव से गिर कर तीन आने पाव होने ही निर्धन व्यक्तियों को उसका अंगूर की दुकान पर देखा जाता है। इसके विपरीत यदि वस्तुओं के मूल्यों में क्रमशः वृद्धि होती है तो मनुष्य की उन वस्तुओं पर व्यय करने की भावना नितान्त कम हो जाती है।

सुख और विलास वस्तुओं में भेद—सुखकर वस्तुओं पर जो कुछ व्यय किया जाता है। उसका थोड़ा-बहुत लाभ अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु विलास वस्तुओं पर किया गया व्यय सार्थक सिद्ध नहीं होता।

अनिवार्य, सुखकर आवश्यकताएं और विलासिताएं सापेक्षिक शब्द (Relative Terms) हैं—उपभोग की वस्तुओं को उपर्युक्त तीन श्रेणियों में विभक्त तो अवश्य कर दिया है, पर कौनसी वस्तुएँ किस श्रेणी में आती है इसे निश्चित रूप से कहना बहुत कठिन है। हम यह नहीं कह सकते कि अमुक वस्तु सबके लिए 'अनिवार्य पदार्थ है' अथवा 'सुखकर वस्तु' है। सहसा यह घोषित कर देना भूल है कि अमुक वस्तु अनिवार्य है और अमुक सुख या विलास-वस्तु है। जैसे, गेहूँ को अनिवार्य वस्तु, मोटर को सुख वस्तु और जवाहरात को विलास-वस्तु घोषित करना त्रुटिपूर्ण होगा। वास्तव में, देखा जाय तो वस्तुओं का वर्गीकरण अनेक बातों पर निर्भर है। व्यक्ति विशेष, उसका जीवन-स्तर, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति उसका स्वभाव, विचार और देश या जलवायु रीति-रिवाज तथा फैशन, समय, मूल्य, वस्तु का परिमाण आदि दृष्टिकोणों से अमुक वस्तु अनिवार्य, सुखकर या विलासिता समझी जावेगी। ये सब बातें प्रत्येक स्थान और समय पर समान नहीं होतीं। इनके परिवर्तन होने से भिन्न-भिन्न वस्तुएँ एक श्रेणी से हटकर दूसरी श्रेणी में आ जाती हैं। इस कारण किसी वस्तु को बिना किसी ऊपर कही गयी कसौटियों पर कसे हुये किसी वर्ग विशेष में गिन लेना न्यायसंगत नहीं है।

आवश्यकताओं की भेद-सूचक तालिका

आवश्यकताओं का वर्गीकरण	उद्देश्य	जीवन स्तर	दक्षता पर प्रभाव		सुख दुःख की वेदना		मूल्य और माँग का सम्बन्ध
			पूर्ति	अभाव	पूर्ति	अभाव	
अनिवार्य आवश्यकताएं	केवल जीवनार्थ	न्यूनतम	स्थिर रहना	भारी ह्रास	कुछ सुख	तीव्र दुःख	माँग में मूल्य के अनुपात से कम परिवर्तन
सुखकर आवश्यकताएं	अधिक सुखी जीवनार्थ	शिष्ट (Decent)	कुछ वृद्धि	मौलिक दक्षता में कोई ह्रास नहीं वल्कि पूर्ति के होते थोड़े लाभ से वंचित	पर्याप्त सुख	कुछ दुःख	माँग और मूल्य में समानुपात से कम परिवर्तन
विलासिताएं	अधिक वैभवपूर्ण जीवनार्थ	उच्च और व्ययी	कोई वृद्धि नहीं	कोई ह्रास नहीं	अधिक सुख	कोई दुःख नहीं	माँग में मूल्य के अनुपात से अधिक परिवर्तन

व्यक्ति विशेष और उसका जीवन पर प्रभाव—वस्तुओं का वर्गीकरण व्यक्ति विशेष के साथ साथ भिन्नता रखता है। कोई एक वस्तु किसी व्यक्ति के लिए अनिवार्य दूसरे के लिए सुखकर और तीसरे के लिए विलास-वस्तु सिद्ध हो सकती है। उदाहरण के लिए एक मोटर कार किसी अधिक कार्य-व्यस्त डाक्टर के लिए अनिवार्य वस्तु है क्योंकि वह उसकी सहायता से अल्प समय में बहुत से रोगियों को देख सकता है। एक कालेज के प्रोफेसर के लिए यह एक सुख वस्तु है क्योंकि इसके प्रयोग से उसे आने जाने के कारण थकान पैदा नहीं होगी और उसके कार्य में कुशलता की वृद्धि करने में कुछ सहायक सिद्ध होगी है परन्तु यही एक साधारण अध्यापक के लिए विलास वस्तु सिद्ध होगी। हाँ सुदूर स्थान से आने वाले अध्यापक के लिए वह मोटर अनिवार्य हो सकती है। आक्सफोर्ड की एम० ए० बी० या बैरिस्टरी (Bar at law) या उच्चतम ज्ञानकक्षा के छात्र को यार्कशायर (Yorkshire) में आने जाने के लिए मोटर रखना अनिवार्य समझा जाता है। इसी प्रकार एक टेलीफोन किसी पत्र के सम्पादक के लिए एक अनिवार्य वस्तु है एक कालेज के प्रोफेसर के लिए यह एक सुख वस्तु है और एक जमींदार के के लिए यह एक विलास की वस्तु है।

अनिवार्य वस्तु   सुख वस्तु   विलास वस्तु

सामाजिक स्थिति—सामाजिक स्थिति की भिन्नता वस्तुओं के वर्गीकरण में विषमता पैदा कर देता है। अंग्रेजी के बने राजा महाराजाओं के लिए अनिवार्य हैं पर निर्धनों के लिए विलास वस्तुएं होंगी और मध्य वर्गीय व्यक्तियों के लिए सम्भवतः सुख वस्तुएं सिद्ध हो सकती हैं। इस प्रकार जवाहरात, मोटर, धन राजाओं के लिए इन आवश्यकताओं में सम्मिलित है पर साधारण व्यक्तियों के लिए ये विलास वस्तुएं हैं।

आर्थिक स्थिति—मनुष्य की आय भी इन विविध कोटियों की भिन्नता का कारण बन जाती है। बिजली के पंखे जैसी एक साधारण वस्तु पर इस तथ्य की परीक्षा करें। यदि कोई मध्य श्रेणी का व्यक्ति पर्याप्त साधन सम्पन्न है तो यह अनिवार्य वस्तु है परन्तु वही वस्तु कृषक के लिए सुख-वस्तु है और न्यून आय वाले साधारण श्रमिक के लिए विलासिता है।

स्वभाव या प्रकृति—मनुष्य की प्रकृति से भी यह वर्गीकरण प्रभावित होता रहता है। जैसे किसी चाय पीने की प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए चाय एक अनिवार्य वस्तु हो जाती है परन्तु एक ऐसे के लिए जो केवल स्वाद के लिए चाय पान को होटल

में प्रवेश करता है, यह निस्सन्देह विलास-वस्तु है, यद्यपि यह एक उद्योगशाला के श्रमिक के लिये सुख वस्तु है, यदि वह उस दिन भर कार्य करने के पश्चात् अपनी थकान को दूर करने के प्रयोजन से सेवन करता है।

विचार—मनुष्य के विचारों का भी वस्तुओं के विभाजन में कम महत्व नहीं है। जो मनुष्य 'साधारण जीवन और उच्च विचार' में विश्वास रखते हैं उनके लिए साधारण भोजन, वस्त्र, आवास आदि ही अनिवार्य वस्तुएँ हैं। शेष वैभव प्रदर्शन वस्तुएँ उनके लिए विलास-वस्तुएँ हैं।

देश—स्थान परिवर्तन के साथ साथ वस्तुओं के वर्गीकरण में भिन्नता आ जाती है। जो वस्तु एक स्थान पर आवश्यक मानी जाती है वही दूसरे स्थान पर सुख या विलास वस्तु की कोटि में गिनी जाती है। कारण स्पष्ट है, भिन्न-भिन्न स्थान पर जलवायु, रीति रिवाज, फैशन आदि में पर्याप्त भिन्नता होती है। उदाहरण के लिए, इंगलैंड जैसे देश में ऊनी वस्त्र अनिवार्य वस्तु है क्योंकि इनके बिना मनुष्य अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सकता, किन्तु ये ही लंका जैसे देश में आवश्यक नहीं समझे जाते। ज्येष्ठ मास की धूप में काला ऊनी कोट पहने गोरिंग गैन ही नहीं, कितने ही सिंहाली साहब (लंका के सभ्य नागरिक) भी गर्म ऊनी कलाबत्तूदार कोट पहने मिलते हैं। आखिर उन बेचारों के लिये यदि प्रकृति ने जाड़ा नहीं दिया, तो क्या वे ऊनी कपड़ों को पहनने का शौक न करें? कितने ही सिंहाली साहबों को उबलती चाय और कॉफी पीते देखकर भी असह्य मालूम होगा, पर समझना चाहिये कि लंका और उसकी राजधानी कोलम्बो सुख विलास में भारत से सदियों आगे बढ़ आए हैं। भारतीय नारियों के गहने रूढ़ आवश्यकता है, परन्तु पाश्चात्य नारियों के लिए 'विलासिता' है।

मूल्य—किसी वस्तु के मूल्य में न्यूनाधिकता से उस वस्तु के श्रेणी विभाजन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जैसे किसी एक कपड़े का मूल्य ७ रु० प्रति गज हो, तो वह विलास वस्तु के अन्तर्गत आता है। उसका मूल्य ३ रु० गज हो जाने पर सुख-वस्तु हो जाता है और वह आठ आने गज मिलने लग जाय, तो अनिवार्य वस्तु का रूप धारण कर लेगा।

वस्तु का परिमाण—एक साधारण व्यक्ति के लिये एक जोड़ा जूता अनिवार्य वस्तु है, दूसरा जोड़ा सुख-वस्तु है और तीसरा जोड़ा विलास-वस्तु। इस प्रकार वस्तु की संख्या और मात्रा से भी वस्तुओं के वर्गीकरण में अन्तर हो जाता है।

समय—समय के हेर फेर से बहुत-सी भोग्य वस्तुएँ एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में परिवर्तित हो जाती हैं। कुछ वर्ष पूर्व 'टोप' एक विलास वस्तु समझा जाता था पर आजकल यह ग्रीष्म ऋतु में निर्विवाद रूप से एक अनिवार्य वस्तु हो गया है और शीतकाल में तो यही सुख-वस्तु समझा जाता है।

वर्गीकरण का आधार (Basis of Classification)—अब यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि क्या वस्तुओं का वर्गीकरण किसी साधारण आधार पर अवलम्बित है अथवा इन सब तथ्यों के मूल में दक्षता या निपुणता नामक कोई तत्व निहित रहता है। इसको अधिक स्पष्ट करते हुए यों कहा जा सकता है कि अमुक वस्तु को किसी विशिष्ट कोटि में रखने के लिए उस वस्तु के उपभोग का कार्य-कुशलता अथवा दक्षता (Efficiency) पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह देखना पड़ेगा। यदि

किसी वस्तु के उपभोग से उपभोक्ता की कार्य कुशलता में आनुपातिक वृद्धि होती है अथवा स्थिरता बनी रहती है अथवा उसका उपभोग न करने में दक्षता बहुत गिर जाती है, तो उस वस्तु को अनिवार्य वस्तु (Article of Necessity) की श्रेणी में रखेंगे। यदि उसके उपभोग से उपभोक्ता की कार्य कुशलता में वृद्धि घटते हुए अनुपात में होती है तथा उसके अभाव से या ह्रास अनुपात में अधिक हो तो ऐसी वस्तु सुख वस्तु (Article of Comfort) की कोटि में रखी जावेगी। इसी प्रकार यदि किसी वस्तु के उपभोग से न तो दक्षता में वृद्धि होती हो और न उसके अभाव में ह्रास होता हो, तो उसे विलास वस्तु (Article of Luxury) कहेंगे।

वर्गीकरण आधार सूचक तालिका—निम्नलिखित तालिका में वस्तुओं के वर्गीकरण का आधार भली भांति प्रकट होता है :—

विभाग	उपभोग का प्रभाव	उपभोग के अभाव का प्रभाव
अनिवार्य वस्तुएं	कार्य-कुशलता में पर्याप्त वृद्धि	कार्य-कुशलता में पर्याप्त ह्रास
सुख वस्तुएं	कार्य-कुशलता में आंशिक वृद्धि	कार्य-कुशलता में भी कुछ ह्रास
विलास वस्तुएं	कार्य-कुशलता में शून्य वृद्धि	कार्य-कुशलता में कोई ह्रास नहीं

उपभोग का क्रम (Order of Consumption)—वस्तुओं के उपभोग के क्रम का कोई स्थिर नियम नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य सबसे प्रथम अनिवार्य वस्तुओं पर व्यय करे फिर सुख वस्तुओं और अन्त में विलास वस्तुओं पर। यह तो उसकी प्रकृति अथवा स्वभाव और इच्छा पर निर्भर है कि वह किस क्रम से वस्तुओं का उपभोग करता है। बुद्धिमान व्यक्ति अपनी आय का अधिकांश भाग अनिवार्य आवश्यकताओं पर व्यय करेगा तत्पश्चात् सुख वस्तुओं पर अन्त में विलास वस्तुओं पर। वह अपनी परिमित आय का अधिकतम लाभ इसी प्रकार प्राप्त कर सकता है। अनेक व्यक्ति इतने दूरदर्शी नहीं होते कि वे भविष्य का पूरा-पूरा ध्यान रख सकें। वे तो 'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' में विश्वास करने वाले होते हैं जो अपनी सारी आय वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति में व्यय कर देते हैं। मनुष्य अज्ञानवश या फैशन के वशीभूत होकर अथवा सामाजिक रूढ़ियों के दास बन कर इस क्रम के अनुसार नहीं चलते। एक श्रमिकजन उत्तम भोजन या बच्चों की शिक्षा की उपेक्षा कर आनन्द प्रमोद या विवाहोत्सव तथा मृत्युभोजों में व्यय कर देता है। जो उपयुक्त उपभोग क्रम का पालन नहीं करते वे निश्चय रूप से तृप्ति तथा सुख के अभावों का अनुभव करते हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—आवश्यकताओं का वर्गीकरण कीजिए। क्या विभिन्न आवश्यकताएँ सापेक्षिक होती हैं ? स्पष्ट कीजिए। (उ० प्र० १९५७)

२—'आवश्यकताएँ पारस्परिक हैं।" इस सदर्भ में आवश्यकताओं का वर्गीकरण करते हुए आप जो जानते है, लिखिए। (म० भा० १९५७)

३—क्या एक ही वस्तु जैसे मोटर-कार या फाउण्टेन-पैन भिन्न भिन्न परिस्थितियों में अनिवार्य, सुखकर अथवा विलास की वस्तु समझी जा सकती है ? विस्तारपूर्वक समझाकर लिखिए। (रा० बो० १९५८, उ० प्र० १९५२)

४—अनिवार्यताओं, सुविधाओं और विलासिताओं का अन्तर भारत के उदाहरण देकर समझाइए। (रा० बो० १९५६,५३,५१)

५—अनिवार्य, सुखकर तथा विलास की वस्तुओं का अन्तर स्पष्ट कीजिए। क्या कोई एक वस्तु किसी एक व्यक्ति के लिए विभिन्न परिस्थितियों में अनिवार्य, सुखकर अथवा विलास की वस्तु हो सकती है ? उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करिए। वर्गीकरण का आधार भी स्पष्टतया समझाइए। (रा० बो० १९५४)

६—अनिवार्यताएँ, सुखकर आवश्यकताएँ तथा विलासिताओं का अन्तर स्पष्ट कीजिए। क्या आर्थिक दृष्टि से विलासिताओं का उपभोग करना उचित है ? (अ० बो० १९५५)

७—अनिवार्य सुखकर तथा विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताओं का अन्तर स्पष्ट कीजिए। क्या ये सापेक्षिक हैं ? उदाहरणों द्वारा समझाइए। (नागपुर १९५१)

८—"उपभोग का अनुक्रम (Order) नियम या नियन्त्रण का विषय नहीं है। वह निजी आदतें (Person Habits), व्यक्तिगत रुचि (Individual Taste) तथा इच्छाओं (Desires) का विषय है।"—समझाइए। (सागर १९५४)

९—अनिवार्य, सुखकर व विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताओं पर टिप्पणी लिखिए। (सागर १९५१)

१०—आवश्यकताओं के अनिवार्य, सुखकर व विलासिता सम्बन्धी भेदों की व्याख्या कीजिए। (पंजाब १९५३)

११—आवश्यकताओं का वर्गीकरण कीजिए। रूढ़ आवश्यकताओं से क्या तात्पर्य है ? (उत्कल १९५१)

१२—अनिवार्य, सुखकर व विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताओं की व्याख्या कीजिए और इनके अन्तर को भारतीय उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कीजिए। (दिल्ली हा० से० १९४८)

अध्याय १४

उपभोग के नियम

(Laws of Consumption)

उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility)

उपयोगिता (Utility)—किसी वस्तु की आवश्यकता पूरक शक्ति का नाम 'उपयोगिता' है। पुस्तक, मेज, अन्न, वस्त्र आदि वस्तुएँ 'उपयोगिता' रखती हैं, क्योंकि इनमे मानवीय आवश्यकताओं की तृप्ति करने की शक्ति विद्यमान है।

उपयोगिता की विभिन्नता के कारण—उपयोगिता आवश्यकता की तीव्रता पर निर्भर है। जितनी अधिक तीव्रता किसी वस्तु की आवश्यकता मे होगी उतनी ही अधिक तीव्र उस वस्तु की उपयोगिता होगी। किसी एक वस्तु की उपयोगिता सभी मनुष्यों को एक सी नहीं हो सकती। मनुष्यों के स्वभाव तथा परिस्थिति के अनुसार उनमे भिन्नता आया करती है। एक ही वस्तु की उपयोगिता भिन्न-भिन्न मनुष्यो के लिए भिन्न-भिन्न होती है। जैसे, शिक्षित मनुष्य के लिए पुस्तक की उपयोगिता है क्योंकि इससे उसकी तृप्ति होती है किन्तु उसी पुस्तक की अनपढ के लिए कोई उपयोगिता नहीं है। प्यासे मनुष्य के लिए पानी की उपयोगिता है, परन्तु उस व्यक्ति के लिए जो प्यासा नहीं है, इसकी उपयोगिता नहीं।

उपयोगिता की माप और तुलना (Measurement and Comparison of Utility)—हम अपने साधारण जीवन मे अनेक वस्तुओं की माप और तुलना करते है, जैसे कपडा गज से मापा जाता है, अन्न मन-सेर मे तोला जाता है। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं का माप करने के लिए विविध-साधन देख जाते है। किन्तु 'उपयोगिता' को इस प्रकार मापने के लिए कोई 'माप-दण्ड' नहीं है। उपयोगिता का माप प्रत्यक्ष रूप मे नहीं हो सकता, क्योंकि उपयोगिता इच्छा की तृप्ति रूप एक भावना मात्र है जिसका सम्बन्ध मनुष्य के मन से है। अस्तु, मानसिक भावनाओं और वृत्तियों का प्रत्यक्ष रूप मे माप अथवा तुलना नहीं कर सकते।

उपयोगिता माप की रीतियाँ—जो कुछ भी उपयोगिता का माप सम्भव है वह परोक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे किया जा सकता है। प्राय इस प्रकार का माप दो प्रकार से किया जाता है—(अ) मुद्रा द्वारा और (ब) आँकडा द्वारा।

(अ) मुद्रा द्वारा (By Money)—जो मूल्य किसी वस्तु या सेवा का कोई व्यक्ति देना चाहता है वह उसकी उपयोगिता का माप दण्ड है। मान लीजिए कोई व्यक्ति किसी वस्तु का मूल्य ५ रु० देने के लिए उद्यत है। वह ५ रु० देने को तभी उद्यत होगा जब उसके विचार मे उस वस्तु की उपयोगिता ५ रु० के बराबर

होगी। इस प्रकार हम किसी मनुष्य की उपयोगिता का अनुमान मूल्य द्वारा लगा सकते हैं।

(ब) आंकड़े द्वारा (Numerically)—उपयोगिता का अनुमान आंकड़ों से भी हो सकता है। यदि हम कल्पना करें कि हमें पुस्तक और टोप दोनों की आवश्यकता है। तब सर्वप्रथम हमें यह निश्चय कर लेना पड़ेगा कि पुस्तक से प्राप्त होने वाली उपयोगिता X के बराबर है। इसे निश्चय करने के उपरान्त अन्य वस्तुओं की कितनी उपयोगिता है यह हम मालूम कर सकते हैं। अब यदि एक पुस्तक का उपयोगिता टोप की उपयोगिता की अपेक्षा दुगनी है, तो ऐसी अवस्था में हम उनकी उपयोगिता को आंकड़ों के (२ : १) अनुपात में रखकर प्रकट कर सकते है। प्रो० मार्शल कहते हैं कि "यदि कोई व्यक्ति कुछ पैसे व्यय करते समय इस विचार में भूले कि उसे वह पैसे सिगरेट पीने में या चाय का प्याला न पीकर घर पैदल जाने के स्थान में तांगे में जाने के लिए व्यय करना चाहिये, तो हम कहेंगे कि वह इन सब वस्तुओं में समान उपयोगिता रखता है" अस्तु इन सब वस्तुओं की उपयोगिता उसके लिए समान है।

उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility)

परिचय (Introduction)—मानवीय आवश्यकताएँ अनन्त होते हुए भी एक विशिष्ट समय में पूर्णतया तृप्त की जा सकती हैं। इस विशिष्टता पर 'उपयोगिता ह्रास नियम' अवलम्बित है। इसको 'तृप्ति-योग्य नियम' (Law of satiable want) भी कहते हैं। 'उपयोगिता ह्रास नियम' ये शब्द स्वयं अपना अर्थ प्रकट करते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु की उपयोगिता उसके अधिकाधिक परिमाण में प्राप्त होने पर कम होती जायगी और अन्त में परिस्थिति के अपरिवर्तित होने पर पूरी हो जायगी।

जैसे एक मनुष्य प्यासा है वह पानी पीता है। पानी का पहला गिलास उसके लिए अधिक उपयोगिता रखता है, परन्तु दूसरा गिलास उतनी उपयोगिता नहीं रखता, क्योंकि उसकी प्यास की तीव्रता पहला गिलास पानी पीने के पश्चात् कुछ कम हो गई, और तीसरे गिलास की उपयोगिता उसके लिए बहुत ही कम होगी। सम्भवतः उसका वह उपभोग भी न करे। अस्तु, यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु की उपयोगिता उसकी वृद्धि के साथ क्रमशः कम होती जाती है और अन्त में वह बिल्कुल ही कम हो जाती है। अतः इसी आधार पर यह उपभोग का सिद्धान्त 'उपयोगिता ह्रास नियम' कहलाता है।

नियम का सैद्धान्तिक रूप (Enunciation of law)—प्रो० मार्शल की परिभाषा —"किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु की मात्रा में वृद्धि होने से जो अधिकतर लाभ उसको प्राप्त होता है, वह वस्तु की मात्रा की वृद्धि के साथ-साथ घटता जाता है।"[1]

नियम के अन्य रूप

(१) कोई वस्तु जितनी *अधिक प्राप्त की जाय, उसकी अधिकता* की उतनी ही कम आवश्यकता प्रतीत होती जाती है।

1—The additional benefit which a person derives from a given increase of his stock of a thing, diminishes with every increase in the stock that he already has —*Marshall.*

(The more we have a thing, the less we want still more of that thing.)

(२) किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु की मात्रा में वृद्धि होने के साथ-साथ उसकी अतिरिक्त वृद्धि की उपयोगिता में ह्रास होता जाता है, यदि अन्य परिस्थितियाँ समान हों।

(With every increase of his stock of that commodity the additional unit of the commodity diminishes, other things being equal.)

(३) किसी विशिष्ट समय में एक मनुष्य के पास जो वस्तु है उसकी मात्रा में वृद्धि होने पर, अतिरिक्त इकाई की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है, यदि अन्य परिस्थितियाँ अपरिवर्तित रहें।

(At any one time, every addition to the stock of a thing a man possesses, results in a decrease of the marginal utility of the thing other things remaining the same.)

व्याख्या (Explanation)—उपर्युक्त विविध परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य अपनी किसी वस्तु में वृद्धि करता है त्यों-त्यों उसको बढ़ाई हुई इकाई से कम लाभ प्राप्त होता है, अर्थात् उसकी उपयोगिता घटती जाती है। यह प्रवृत्ति अर्थशास्त्र में 'उपयोगिता-ह्रास-नियम' कहलाती है। इस प्रवृत्ति का अनुभव सब प्रकार की वस्तुओं के उपभोग में देखा जाता है। हाँ, इतना अवश्य है कि किन्हीं वस्तुओं के साथ यह प्रवृत्ति शीघ्र लागू हो जाती है और किन्हीं के साथ देर में। यह नियम मानव प्रकृति के बिल्कुल अनुकूल सिद्ध होता है और इसकी यथार्थता सर्वथा देखी जाती है।

उदाहरण (Illustration)—इसे एक क्षुधा से आतुर व्यक्ति के उदाहरण से इस प्रकार समझिए। जब वह पहली रोटी खाता है, तो उसे बड़ा आनन्द प्राप्त होता है। उसकी तृप्ति या उपयोगिता मानलो २० है। अतः पहली रोटी की उपयोगिता अधिकतम है अथवा २० है। अब यदि वह दूसरी रोटी पा लेता है, तो उसकी क्षुधा की तीव्रता पहली रोटी की प्राप्ति की अपेक्षा कुछ कम हो जाती है, अर्थात् दूसरी रोटी से उसकी तृप्ति या उपयोगिता १८ है। अब यदि वह तीसरी रोटी पा लेता है तो उसकी क्षुधा की तीव्रता दूसरी रोटी की प्राप्ति की अपेक्षा और भी कम हो जाती है। अतः तीसरी रोटी से १५ उपयोगिता प्राप्त हुई। तीसरी रोटी की उपयोगिता उसके लिए दूसरी रोटी से भी कम हो जाती है। इसी प्रकार चौथी रोटी की इच्छा और भी कम हो जाती है। यदि उसने पाँचवी और छठी रोटियाँ और पायीं, तो उनकी उपयोगिता बहुत ही कम हो जाती है, यहाँ तक कि छठी रोटी की उपयोगिता शून्य (०) हो जाती है। पाँच रोटियाँ तक उसकी क्षुधा बिल्कुल शान्त हो जाती है, अब छठी रोटी पर वह विचार करेगा कि उसे इसका उपभोग अभीष्ट है या नहीं, क्योंकि उसकी उपयोगिता उसके लिए तनिक भी नहीं है। उसे पाँचवी रोटी के पश्चात् ही रोटियों का उपभोग बन्द कर देना चाहिए। यदि वह फिर भी रोटियाँ लेना जारी रखता है, तो उपयोगिता के स्थान में 'अनुपयोगिता' (Disutility) आरम्भ हो जाती है। अतः यह निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रत्येक

विवेकशील व्यक्ति का किसी वस्तु का उपभोग उसकी उपयोगिता तक ही सीमित रहता है। ज्योंही उसमे उपयोगिता का अभाव हुआ, त्योंही वह उसके उपयोग को प्रायः समाप्त कर देता है।

नियम का सारणीकरण (Arithmetical Representation of Law)—उपर्युक्त उदाहरण को निम्नलिखित सारणी में इस प्रकार समझिए :—

रोटियों की संख्या (No. of Breads)	सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility)	समस्त उपयोगिता (Total Utility)
१	२०	२०
२	१८	२० + १८ = ३८
३	१५	२० + १८ + १५ = ५३
४	११	२० + १८ + १५ + ११ = ६४
५	६	२० + १८ + १५ + ११ + ६ = ७०
६	०	२० + १८ + १५ + ११ + ६ + ० = ७०
७	–२	–२ अनुपयोगिता (Disutility)
८	–४	–२ – ४ = – ६
९	–६	–२ – ४ – ६ = – १५

नियम का रेखा-चित्रण (Graphical Representation of the Law)—उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि ज्यों-ज्यों रोटियों के उपभोग में वृद्धि होती गई, त्यों-त्यों रोटियों की उपयोगिता कम होती गई है। यह तथ्य नीचे के रेखा-चित्र से भली-भाँति समझाया गया है :—
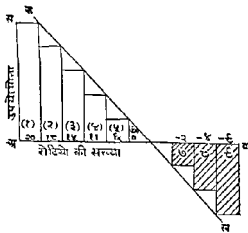
उपयोगिता ह्रास नियम
(Law of Diminishing Utility)

चित्र का स्पष्टीकरण—उपरोक्त उदाहरण में आड़ी रेखा अ-ब रोटियों की संख्या और अ-स उपयोगिता प्रकट करती है। जब क्षुधातुर व्यक्ति पहिली रोटी खाता है तो उसकी उपयोगिता अधिकतम है, क्योंकि उसकी रोटी की इच्छा प्रबल है। समझने की सुविधा की दृष्टि से यह उपयोगिता अङ्क २० से प्रकट की गई है। ऊपर के चित्र में आयत (१) बनता है। जब वह दूसरी रोटी लेता है, तो उसे उसकी उपयोगिता पहली

रोटी से कम प्राप्त होती है। यह अङ्क १८ से आयत (२) मे प्रकट है। इस प्रकार आगे की सब रोटियो की उपयोगिता क्रमश अक १५, ११ और ६ से प्रदर्शित की गई है। इनसे आयत (३), (४) और (५) बनते हैं। छठवीं रोटी से कोई उपयोगिता प्राप्त न होने के कारण शून्य (०) मे प्रकट की गई है। सातवीं, आठवीं और नवमी रोटियो से अनुपयोगिता (Disutility) – २, – ४,—६ अंकों के रूप मे छायादार (Shaded) आयतों मे प्रकट है। क ख वक्र रेखा उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility) का प्रदर्शन करती है।

उपयोगिता ह्रास नियम के अन्तर्गत मान्यताएँ

(Assumptions underlying the Law of Diminishing Utility)

अन्य बातें समान हों अर्थात परिस्थिति का पूर्ववत् होना (Other thing remaining the same) – ये शब्द नियम को व्यापक बनाने के लिए बड़ा महत्त्व रखते है। इससे यह तात्पर्य है कि उपयोगिता ह्रास नियम के लागू होने के लिए कुछ बात आवश्यक है। यदि उनमें कुछ परिवर्तन हो जाय तो इस नियम की यथार्थता सिद्ध होने मे आशका उत्पन्न हो जाती है। ये बातें निम्नांकित है —

(१) वस्तु की सब इकाइयों की मात्रा और प्रकार समान होना चाहिये—उपभोग मे लाई जाने वाली वस्तु की इकाई वैसी हो और उतनी ही होनी चाहिये जितनी कि पहले की। उदाहरणार्थ, यदि बाद की रोटियाँ अधिक उत्तम और भारी हो तो उपभोक्ता को पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगिता प्राप्त होने के कारण इस नियम की व्यापकता नष्ट हो जायगी।

(२) उपभोग के समय मे अन्तर नही होना चाहिये—यदि वस्तु के उपभोग का समय लगातार नही अर्थात् बीच मे कुछ समय बीत जाय, तो यह नियम प्रभाव शून्य हो जाता है। दोनो समय पृथक-पृथक भोजन करने पर यह नियम प्रत्येक बार लागू होगा, परन्तु भोजन करते समय सब रोटियाँ एक साथ खाने मे, बाद वाली रोटियो की उपयोगिता पहले की अपेक्षा गिरती जायगी। यदि उसने कुछ रोटिया खाकर बीच मे कुछ समय बिता दिया तो बाद वाली रोटिया की उपयोगिता प्रारम्भ मे घटने के स्थान पर बढ़ेगी। यदि कोई मनुष्य एक आम प्रात काल खावे, दूसरा मध्याह्न मे, तीसरा सायंकाल को और चौथा रात्रि को, तो यह आवश्यक नही कि दूसरे आम्रफल से उत्पन्न होने वाली उपयोगिता पहले की अपेक्षा तीसरे से प्राप्त होने वाली उपयोगिता दूसरे से और चौथे से प्राप्त होने वाली उपयोगिता तीसरे से प्राप्त होने वाली उपयोगिता से क्रमश॰ कम हो, क्योंकि चारो आमो के खाने मे इतना समय का अन्तर पड गया है कि ह्रास नियम लागू न होगा। यह नियम एक ही साथ बैठ कर खाने या पीने या अन्य आवश्यकताओं को तृप्त करने मे लागू होता है अन्यथा नही।

(३) उपभोक्ता का मानसिक दृष्टिकोण (Mental outlook) समान हो—यदि उपभोक्ता ने भाग आदि मादक वस्तु का प्रयोग किया है, तो वह उस रोटी को भी लेने की इच्छा कर सकता है जिसकी उपयोगिता शून्य है, क्योंकि मादक वस्तु मे तृप्ति की सीमा का पूर्ण अनुभव नही होता किन्तु आवश्यकता से अधिक खाने की प्रवृत्ति हो जाती है। रुचि मे यदि भेद हो जाय तो भी यह नियम (ह्रास नियम) चरितार्थ न होगा, क्योंकि इस परिवर्तन के कारण वस्तु के उपभोग से होने वाले सतोष और उससे प्राप्त होने वाली उपयोगिता मे अन्तर पड जायगा।

(४) यदि उपभोग का समय लम्बा हो तो फैशन, प्रकृति और आय पूर्ववत ही रहना चाहिये—चिरस्थायी वस्तुओं के उपभोग में फैशन, प्रकृति और आय के परिवर्तन से नियम में बाधा उपस्थित हो जायगी। यदि कोई विशेष प्रकार की कमीज फैशन में नहीं हो, तो उसकी उपयोगिता कम हो जायगी। यदि वह कुछ समय बाद पुन. फैशन में आ जाय तो उसकी उपयोगिता में वृद्धि हो जायगी। इसी प्रकार किसी व्यक्ति की सिगरेट पीने की प्रकृति नहीं है तो उसके लिए उसकी उपयोगिता कम होगी, परन्तु यदि कभी वह उसका व्यसनी हो जाता है, तो उसकी उपयोगिता उस व्यक्ति के लिए बढ़ जायगी। यदि कोई व्यक्ति सहसा धनाढ्य हो जाता है, तो उल्लिखित बातें भी बदल जायेगी। एक ही वस्तु की पश्चात् प्राप्त होने वाली उपयोगिताएँ ही न रह जायेंगी जो उसके धनवान् होने के पूर्व प्रतीत होती थी। मान लीजिए किसी व्यक्ति की आय १०० रु० से ३०० रु० हो जाय तो वह उन वस्तुओं को भी अधिक मात्रा में खरीद लेता है जिनका पर्याप्त स्टॉक पहले ही से उसके पास है।

(५) वस्तु के मूल्य में परिवर्तन नहीं होना चाहिए—यदि किसी वस्तु का मूल्य गिर जाता है, तो लोग उस वस्तु को अधिक मात्रा में खरीदने लग जायेंगे, यद्यपि उनके पास उस वस्तु का पर्याप्त स्टाक हो। इस प्रकार उस वस्तु की बाद की इकाइयों की उपयोगिता घटने के स्थान में बढ़ने लग जाती है।

उपयोगिता ह्रास नियम की सीमाएँ

(Limitations of the Law Diminishing Utility)

उपयोगिता ह्रास नियम के कतिपय अपवाद है जो अवास्तविक (Apparent) और वास्तविक (Real) दो भागों में बाँटे जा सकते है। ये अधोलिखित है—

अवास्तविक (Apparent)

(१) मुद्रा-शक्ति और प्रदर्शनप्रियता (Love of Money Power and Display)—उपर्युक्त बातों से प्रभावित मनुष्य के लिए प्रत्येक अतिरिक्त इकाई की उपयोगिता बढ़ती जायगी। उदाहरण के लिए, कृपण को मुद्रा की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई की अधिक उपयोगिता प्रतीत होती है, क्योंकि उसका अधिक 'मुद्रा सचय' में आनन्द मिलता है। यही दशा उन व्यक्तियों की है जो शक्ति और प्रदर्शन प्रियता से प्रेरित होकर निरन्तर शक्तिवर्धन तथा प्रदर्शनीय वस्तुओं के संग्रह में लगे रहते है। यदि किसी व्यक्ति के पास एक मुक्तामणि हो तो वह उसकी जोडी के दूसरे मोती का मूल्य पहले की अपेक्षा अधिक अर्पण करने को उद्यत हो जायगा। कारण यह है कि दूसरे मोती की प्राप्ति में उसको अधिक तृप्ति प्रतीत होती है क्योंकि समान आकार और कान्ति वाले दो मुक्तामणि देखने में उसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ जायगी। यह अपवाद 'अवास्तविक' (Apparent or Unreal) है, क्योंकि इन व्यक्तियों की गणना जन-साधारण में नहीं होती। एक बात का ध्यान रखना उचित है कि किसी वस्तु के संग्रह की अति भी विरक्ति का कारण बन जाती है। सुवर्ण के प्रति नृपति राजा मिडास —इस तथ्य का सुन्दर निदर्शन है। वह स्वर्ण सचय के पीछे पागल था पर जब आवश्यकता से अधिक मात्रा सुवर्ण की उसे मिली, तो वह शीघ्र ही थक सा गया और उसकी उपयोगिता सुवर्ण के लिए शून्य-सी हो गयी।

(२) विचित्र तथा दुष्प्राप्य वस्तुओं का संग्रह (Collection of curious and rare things)—यह नियम प्रायः विचित्र और दुष्प्राप्य वस्तुओं के संग्रह की प्रवृत्ति पर लागू नहीं होता, क्योंकि इन वस्तुओं के संग्रहकर्त्ता को अधिकाधिक आनन्द प्राप्त होता है। जैसे, पुराने टिकट और सिक्के संग्रह-कर्त्ता के लिए बाद वाली इकाइयों की अधिक उपयोगिता होती है। अतः वह निरन्तर इन्हीं के संग्रह में प्रयत्नशील रहता है। यह अपवाद अवास्तविक प्रतीत होता है। यदि कोई वस्तु दो-तीन वस्तुओं से मिलकर बनती है, तो सब वस्तुएँ उसी का ही अंग मानी जानी चाहिए। जैसे एक अंगूठी में दो मोती है और वे दोनों मिलकर एक ही वस्तु के प्रतीक हैं। यदि एक ही वस्तु के कई अंग हों और एक की उपयोगिता दूसरे की अपेक्षा अधिक हो, तो इससे नियम की सत्यता में तनिक भी सन्देह उत्पन्न नहीं हो सकता।

(३) इकाइयों की अति-लघुता (Very small units)—यदि उपभोग्य वस्तु कम मात्रा में ली जाय तो निस्सन्देह अतिरिक्त इकाइयों से अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी। उदाहरण के लिए, यदि एक प्यासे व्यक्ति को कुछ देर तक बूँद-बूँद पानी दिया जाय, तो प्रत्येक अतिरिक्त पानी की बूँद की इच्छा अधिक प्रबल रहेगी जिसके फलस्वरूप उसकी उपयोगिता भी बढ़ती जायगी।

(४) प्रतिकूल मानसिक अवस्था के व्यक्ति (*Persons in abnormal state of mind*)—ऐसे व्यक्तियों के लिए प्रत्येक अतिरिक्त इकाई की अधिक उपयोगिता होती है। उदाहरणार्थ, एक मदिरा-व्यसनी व्यक्ति एक बोतल मदिरा पी चुकने के पश्चात् दूसरी बोतल की इच्छा करता है क्योंकि दूसरी बोतल पहली बोतल की अपेक्षा उसके लिए अधिक उपयोगिता रखती है। यह अपवाद दो कारणों से अपवाद समझा गया है : प्रथम तो ऐसे मदोन्मत्त व्यक्ति अर्थशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र की सामग्री नहीं हैं। दूसरे अन्ततोगत्वा (Ultimately) यह नियम लागू हो जाता है, क्योंकि वह एक के पश्चात् दूसरी बोतल लेने में असमर्थ हो जाता है।

(५) सुविधाओं का विस्तार (Extension of Facilities)—चिकित्सा सम्बन्धी तथा यातायात और संवाद के साधन की वृद्धि से उपभोक्ताओं को अधिक लाभ पहुँचता है जिसके फलस्वरूप इन वस्तुओं का जितना अधिक विस्तार होगा उतनी अधिक उपयोगिता बढ़ेगी। जैसे नगर में पहले की अपेक्षा अब टेलीफोन सम्बन्धों में वृद्धि हो जाती है तो उस व्यक्ति के लिए, जिसके पास पहले से ही टेलीफून है, अधिक उपयोगिता हो जायगी, क्योंकि वह अब पहले की अपेक्षा कई एक व्यक्तियों से टेलीफोन पर वार्तालाप कर सकता है। 'उपयोगिता ह्रास नियम' इस बात पर बल देता है कि वस्तुओं की वृद्धि उसी व्यक्ति के पास होनी चाहिए न कि पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के पास। इस उदाहरण में अतिरिक्त इकाई का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि टेलीफून का विस्तार कई व्यक्तियों में हुआ है। अतः यह अपवाद भी असत्य सिद्ध होता है। परन्तु यदि एक ही व्यक्ति अपने घर या दुकान में एक से अधिक टेलीफोन लेता है तो निश्चय रूप से अतिरिक्त सम्बन्धों की उपयोगिता पहले की अपेक्षा कम हो जाती है।

निष्कर्ष—इन अनेक सीमाओं के होते भी यह नियम लगभग व्यापकता रखता है। प्रो० टॉसिग के अनुसार "उपयोगिता ह्रास नियम की प्रवृत्ति इतने कम अपवादों के साथ इतनी विस्तृत प्रतीत होती है कि इसे 'सार्वदेशिक' कहने में कोई महत्त्वपूर्ण त्रुटि नहीं।"

वास्तविक अपवाद (Real Exceptions)

(१) रसीली कविता या मधुर गायन—प्रो० टासिग कहते हैं कि 'किसी रसीली कविता के दुबारा और तिबारा पढ़ने या किसी मधुर गायन के दुबारा या तिबारा सुनने से पहली बार की अपेक्षा अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। दैनिक जीवन में इस प्रकार के अनुभव प्राय होते रहते हैं। अस्तु यह एक वास्तविक अपवाद माना जाता है। परन्तु इस अपवाद में भी शीघ्र या देर में एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब कि बार बार कविता पठन या गायन-श्रवण से आनन्द प्राप्त नहीं होता अर्थात् उपयोगिता ह्रास नियम लागू हो जाता है क्योंकि श्रवण शक्ति के सीमित होने से उसमें थकावट हो जाना स्वाभाविक है और जिसकी पुन प्राप्ति में पर्याप्त समय की आवश्यकता होती है।

(२) तृप्ति की अधिकतम अवस्था (Point of optimum satisfaction)—कतिपय अर्थशास्त्रियों का विश्वास है कि किसी वस्तु के उपभोग की प्रारम्भिक अवस्था में तो प्रत्येक क्रमानुगत (Successive) इकाई से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है केवल उपभोग किसी विशेष अवस्था पर पहुँचने के पश्चात् ही अर्थात् तृप्ति की अधिकतम् अवस्था (Point of optimum Satisfaction) के प्राप्त हो जाने पर उपयोगिता में ह्रास होना आरम्भ होता है। अभीष्ट वस्तु के निकट आ जाने से सुप्त आवश्यकता भी जागृत हो जाती है। इसको उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है कि किसी व्यक्ति को प्यास की वेदना नहीं है। किन्तु मधुर नारंगी की एक फाक मुँह में रखने की तो बात क्या किसी सन्निकटस्थ व्यक्ति के उसे चूसने पर सहसा मुँह में पानी आ जाता है और नारंगी खाने की इच्छा हो उठती है। यदि इसी प्रकार नारंगी की एक फाक क्रमानुगत इकाइयां म ली जाय तो प्रारम्भ की इकाइयां की उपयोगिता में वृद्धि होगी, और यह एक 'आदर्श अधिकतम् तृप्ति अवस्था तक पहुँचेगी और इसके पश्चात् उपयोगिता में ह्रास होना आरम्भ होगा। यदि इस मनोवैज्ञानिक मान्यता को यथार्थ माना जाय, तो इसे भी वास्तविक अपवाद मानने में कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु इस तर्क के पक्ष में यथार्थ प्रमाण न होने से इस कथन की सत्यता निश्चय पूर्वक घोषित नहीं की जा सकती।

उपर्युक्त अपवादों का निराकरण करने के लिए उपयोगिता ह्रास नियम की परिभाषा को निम्न प्रकार संशोधित किया जा सकता है —

"उपभोग को विशेष अवस्था पर पहुँचने के पश्चात्—अन्य वस्तुओं के समान रहने पर किसी वस्तु के उपभोग की क्रमानुगत इकाइयों म उपयोगिता का ह्रास होता जाता है।'

(After a certain stage in consumption is reached each successive unit gives diminishing utility, other things remaining the same)

सीमान्त और समस्त उपयोगिता (Marginal and Total utility)

सीमान्त उपयोगिता (Marginal utility)—किसी वस्तु के क्रमानुगत तथा निरन्तर उपभोग के कारण उसकी अन्तिम इकाई की उपयोगिता को 'सीमान्त उपयोगिता' कहते है। अन्य शब्दों में यह वह उपयोगिता है जो किसी वस्तु की उस इकाई में प्राप्त होती है जिसे उपभोक्ता उपभोग में लाने के लिए आकृष्ट होता है।

प्रो० मार्शल के अनुसार "किसी वस्तु का वह भाग जिसको खरीदने के लिए उपभोक्ता आकृष्ट होता है, वह 'सीमान्त क्रय' (Marginal Purchase) कहलाता है, क्योंकि वह उसकी उपयोगिता न्यूनतम हो जाने के कारण इस संशय में पड़ जाता है कि उसे अब खरीदने के लिये व्यय करना उचित है या नहीं।" इस 'सीमान्त क्रय' की उपयोगिता को 'सीमान्त उपयोगिता' (Marginal Utility) कहते हैं।

प्रो० बेनहम (Benham)—'सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम' (Law of Diminishing Marginal Utility) के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह नियम सीमान्त उपयोगिता की दृष्टि से निम्न प्रकार परिभाषित किया जा सकता है— "किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उस वस्तु की मात्रा की वृद्धि के साथ घटती जाती है।" सीमान्त उपयोगिता का भाव केवल एक ही वस्तु के उपभोग से प्रकट नहीं होता। जब एक वस्तु अधिकाधिक मात्रा में प्रयुक्त की जाती है तब अन्तिम वस्तु की उपयोगिता से ही इसका यथार्थ अर्थ प्रकट होता है।

उदाहरण—मान लीजिये कि कोई व्यक्ति कुछ सेब (Apples) खरीदता है। उनकी उपयोगिता नीचे दी हुई तालिका में दिखाई गई है :—

सेब	सीमान्त उपयोगिता (इकाइयाँ)	
१	१०	अनुकूल सीमान्त उपयोगिता (Positive Utility)
२	८	
३	६	
४	४	
५	२	
६	१	
७	०	शून्य उपयोगिता (Zero Utility)
८	–२	प्रतिकूल उपयोगिता (Negative Utility)

ऊपर के उदाहरण में ज्यों ज्यों सेब की मात्रा में वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों सीमान्त उपयोगिता में ह्रास देखा जाता है। वह अधिक से अधिक पाँच सेब खरीदेगा। छठे सेब की उपयोगिता शून्य होने से वह उसे खरीदना उचित नहीं समझता। पाँचवें सेब के पश्चात् वह इस संशय में झूलने लगता है कि छठा सेब खरीदा जाय या नहीं। यदि वह बुद्धि से काम लेता है, तो पाँचवें सेब के बाद ही उसको खरीदना बन्द कर देना चाहिए। पाँचवें सेब की उपयोगिता 'सीमान्त उपयोगिता' कहलायेगी।

मूल्य और सीमान्त उपयोगिता (Price and Marginal Utility)

हमारा उपर्युक्त उपभोक्ता कहाँ ठहरेगा, यह सेब के मूल्य पर निर्भर है। यदि प्रति सेब का मूल्य ४ आना है, तो वह चौथे सेब के पश्चात् ही रुक जावेगा, क्योंकि उसकी उपयोगिता उतनी ही है जितना कि मूल्य (सीमान्त उपयोगिता को आनों की इकाइयों में मान लिया गया है)। यदि प्रति सेब का मूल्य १ आना है तो वह छठे

सेब तक खरीद कर सकेगा। यदि वे नि शुल्क उपलब्ध हैं तो वह सातों सेबों को उपभोग में ला सकेगा। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि कोई व्यक्ति किसी वस्तु का उपभोग उस बिन्दु तक जारी रखता है जहाँ मूल्य और उपयोगिता समान होती हैं।

उपभोक्ता किसी वस्तु को खरीदते समय भी सीमान्त-उपयोगिता से सहायता प्राप्त करता है। यदि सब सेब सब प्रकार से समान हैं, तो वह पहले सेब के १० आने, दूसरे के ८ आने, तीसरे के ६ आने, चौथे के ४ आने और पाँचवें के २ आने नहीं देगा। वह अंतिम सेब की उपयोगिता के बराबर सब सेबों का मूल्य देगा, अर्थात् इन सब सेबों का मूल्य २ आने के हिसाब से देगा। कारण स्पष्ट है कि यह सब सेब आकार, प्रकार, स्वाद तथा रंग आदि बातों में समानता रखते हैं। अतः इनके मूल्य में इस प्रकार भिन्नता नहीं हो सकती। अस्तु, यह निष्कर्ष निकला कि किसी वस्तु की अंतिम इकाई की उपयोगिता ही उपभोक्ता को उस वस्तु का मूल्य देने में मार्ग प्रदर्शन करती है। वह उसमें अधिक कदापि नहीं देगा, क्योंकि उससे अग्रिम इकाई की उसके लिए कोई उपयोगिता ही नहीं होती।

रुपये की सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility of Money)—आय की वृद्धि से उपयोगिता में ह्रास होना तथा आय में ह्रास होने से सीमान्त उपयोगिता में वृद्धि होना, यह भी एक ध्यान में रखने योग्य बात है। किसी व्यक्ति के पास जैसे जैसे सम्पत्ति बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उसकी सीमान्त उपयोगिता कम होती जायगी। यदि किसी मनुष्य की आय ७० रु० मासिक से १५० रु० मासिक हो जाय तो उसके लिए इस वेतन-वृद्धि के पूर्व अंतिम रुपये की जो उपयोगिता थी अब उसकी अपेक्षा उस उपयोगिता में ह्रास या न्यूनता दिखाई देने लगेगी। इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण इस बात से मिल जायगा कि ७० रु० मासिक आय में वह अनिवार्य आवश्यकताओं और विलासिताओं (पान, सुपारी, रेशमी वस्त्र, रेडियो आदि) में जो व्यय करता था अब १५० रु० प्राप्त करने पर बढ़ जायगा। वह उसी मूल्य में उन वस्तुओं को अधिक मात्रा में खरीदने लगेगा। अतः सिद्ध हुआ कि आय बढ़ने पर व्यक्ति के लिए रुपये की सीमान्त उपयोगिता कम हो जाती है। इसके विपरीत आय में न्यूनता हो जाने पर रुपये की सीमान्त उपयोगिता बढ़ जाती है यदि किसी को १५० रु० के स्थान में ७० रु० मासिक मिलने लगे, तो वह उपभोग की अनेक वस्तुओं में कमी कर देगा।

अनुकूल, शून्य और प्रतिकूल सीमान्त उपयोगिताएँ (Positive-Zero and Negative Marginal Utility)—यदि सीमान्त इकाई के उपभोग से तृप्ति या संतोष प्राप्त होता है तो वह सीमान्त उपयोगिता अनुकूल (Positive) होती है। जैसे ऊपर की तालिका में १ से ६ तक की सेब की सीमान्त उपयोगिता अनुकूल है। यदि सीमान्त उपयोगिता के उपभोग से न तो सन्तोष प्राप्त होता हो और न असन्तोष ही, तो सीमान्त उपयोगिता शून्य (Zero) होती है। जैसे ऊपर की तालिका में ७ वें सेब की उपयोगिता शून्य है। जब उपभोग इस सीमा पर पहुँच जाय कि सीमान्त उपयोगिता शून्य हो, तो इस सीमा को 'पूर्ण-तृप्ति' (Satiety) की सीमा कहते हैं। यदि सीमान्त उपयोगिता के उपभोग में असंतोष या अनुपयोगिता (Disutility) होती है, तो सीमान्त उपयोगिता प्रतिकूल (Negative) समझी जायगी। ऊपर के उदाहरण में ८ वाँ सेब इस अवस्था का सूचक है।

साधारणतया ऐसी अवस्था बहुत ही कम पाई जाती है कि मनुष्य किसी वस्तु का उपभोग इतनी मात्रा में करे कि उसकी उपयोगिता 'शून्य' हो जाय, और यहाँ तक कि अनुपयोगिता में परिणत हो जाय, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपनी मुद्रा को किसी एक वस्तु पर उतना ही व्यय करेगा जितनी उसकी उपयोगिता होगी। यदि कोई वस्तु निःशुल्क प्राप्त होती है, तो वह सीमान्त उपयोगिता होने पर भी उपयोग करता रहेगा और यदि स्वास्थ्य का विचार न करे तो सम्भवतः इसके पश्चात् भी उपभोग करे जिसे उपयोगिता न कहकर हम अनुपयोगिता कहेंगे।

समस्त उपयोगिता (Total Utility)

किसी वस्तु की सारी इकाइयों की सीमान्त उपयोगिताओं के योग को 'समस्त उपयोगिता' कहते हैं। कोई व्यक्ति १ दर्जन कापियाँ खरीदता है उसको बारह कॉपियों से जो उपयोगिता उस व्यक्ति को मिलती उसे हम 'समस्त उपयोगिता' कहेंगे।

ऊपर के उदाहरण को लेते हुए यदि हम समस्त उपयोगिता को मालूम करना चाहें, तो निम्न तालिका का अध्ययन करना चाहिये :—

सेब (Apples)	सीमान्त उपयोगिता (इकाइयाँ)	समस्त उपयोगिता (इकाइयाँ)
१	१०	१०
२	८	१० + ८ = १८
३	६	१० + ८ + ६ = २४
४	४	१० + ८ + ६ + ४ = २८
५	२	१० + ८ + ६ + ४ + २ = ३०
६	१	१० + ८ + ६ + ४ + २ + १ = ३१
७	०	१० + ८ + ६ + ४ + २ + १ + ० = ३१
८	−२	१० + ८ + ६ + ४ + २ + १ + ० − २ = २९

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि जैसे-जैसे वस्तु के परिमाण में वृद्धि होती जाती है, पूर्ण तृप्ति की सीमा तक—शून्य-उपयोगिता पहुँचने तक—समस्त उपयोगिता अधिकतम हो जाती है। परन्तु यह समस्त उपयोगिता की वृद्धि क्रमानुगत ह्रास रूप से होती है, दूसरे शब्दों में पश्चात् प्राप्त होने वाली उपयोगिताओं की इकाइयाँ अनुपात से कम होती जाती हैं। इसका कारण यह है कि पूर्ण तृप्ति के पश्चात् जो भी इकाई सेवन की जायगी उससे सन्तोष के स्थान में वेदना, हानि या असन्तोष होगा, जो पूर्वार्जित सन्तोष में से कुछ ले लेगा। फल यह होगा कि पूर्ण तृप्ति के बाद जो भी इकाइयाँ सेवन की जायेंगी उनके कारण सीमान्त उपयोगिता ऋण (−) में दिखाई जायेगी, और समस्त उपयोगिता बढ़ने के स्थान में घटती ही जायगी। ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जब सीमान्त उपयोगिता शून्य है, तो समस्त उपयोगिता ३१ है। इसके उपरान्त समस्त उपयोगिता में ह्रास होता है, अर्थात् आठवें सेब पर समस्त उपयोगिता केवल २९ ही रह जाती है। अस्तु 'पूर्ण तृप्ति बिन्दु' के पश्चात् उपयोगिता गिरती जाती है। सारांश—सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है, और समस्त उपयोगिता बढ़ती जाती है। इस प्रकार जब 'सीमान्त उपयोगिता अधिकतम या शून्य हो, तो समस्त उपयोगिता अधिकतम हो जाती है।

सीमान्त और समस्त उपयोगिता में से कौन अधिक महत्वपूर्ण है ?

व्यावहारिक जीवन में समस्त उपयोगिता की अपेक्षा सीमान्त उपयोगिता अधिक महत्व रखती है। समस्त उपयोगिता की तो उपेक्षा की जा सकती है पर सीमान्त उपयोगिता के बिना कुछ भी काम नहीं चलता। सीमान्त उपयोगिता मूल्य निर्धारण में मार्ग प्रदर्शन करती है। समस्त उपयोगिता में मूल्य का कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह सीमान्त उपयोगिता ही है जो मूल्य का मापदण्ड है। यदि ऐसा न हो तो जल का मूल्य सोने के मूल्य से कहीं अधिक होता।

उपयोगिता ह्रास नियम का व्यावहारिक महत्व

(Practical Importance of the Law of Diminishing Utility)

(१) माँग का नियम (Law of Demand)—परोक्ष या अपरोक्ष रूप से यह नियम इस पर निर्भर है। हम अपने दैनिक जीवन में देखते हैं कि यदि किसी वस्तु का मूल्य गिर जाता है तो हम उसको अधिक मात्रा में खरीदने के लिये ललचा जाते हैं।

(२) सीमित साधनों का उपभोग (Utilization of scarce means)—हम अपनी सीमित आय का सर्व प्रथम उन वस्तुओं के क्रय के लिये व्यय करते हैं जिनकी उपयोगिता हमारे लिये अधिकतम है। जैसे अनिवार्य आवश्यकताएँ (Necessaries) सर्व प्रथम सतुष्ट की जायेंगी उसके बाद सुखकर आवश्यकताएँ (Comforts) और तदनन्तर विलासिताएँ (Luxuries)। मान लिया जाय कि एक साधारण श्रमिक को १५ रु० अन्न, वस्त्र, घी, फल, दूध, पेय पदार्थ आदि में व्यय करने हैं। वह सर्वप्रथम प्रत्येक आवश्यकता की सीमान्त उपयोगिता तथा समस्त उपयोगिता की तुलना सरसरी तौर पर करेगा तत्पश्चात् वह उनके अनुपात से उनमें रुपया लगावेगा।

(३) प्रतिस्थापन नियम (Principle of substitution)—यह नियम भी इससे बड़ी सहायता प्राप्त करता है। हम अपने दैनिक जीवन में प्रायः न्यून उपयोगी वस्तुओं को अधिक उपयोगी वस्तुओं से बदलते हैं। जिस सेवन या उपभोग अथवा वस्तु से कम उपयोगिता प्राप्त होगी उसके स्थान पर ऐसे सेवन, उपभोग या वस्तु का प्रयोग हो, जिसकी अधिक उपयोगिता हो।

(४) कर नियम व व्यवहार का आधार (Basis of Principle and Practice of Taxation)—प्रगतिशील कर प्रणाली (Progressive System of Taxation) का नियम इसी आधार पर आश्रित है। उदाहरणार्थ, धनी व्यक्तियों पर उनकी आय के अनुपात से आय-कर लगा कर उन पर अधिक कर भार रखना इस नियम का व्यवहारिक प्रयोग है।

(५) मुद्रा पर नियम का प्रभाव (Money and the Law)—उपयोगिता ह्रास नियम अन्य वस्तुओं की भाँति मुद्रा पर भी लागू होता है। यदि एक धनी व्यक्ति की आय में से १०० रु० ले लिये जायें तो केवल कुछ विलासिताओं का ही उपभोग कम होवेगा, परन्तु एक निर्धन व्यक्ति की आय में से ५ रु० भी निकालना बड़ा भारी होगा, क्योंकि इसमें कुछ अनिवार्य वस्तुओं का बलिदान हो जायगा।

(६) आय का उत्तम वितरण (Better Distribution of Income)—आय के उत्तम वितरण की दृष्टि से भी यह नियम लाभदायक सिद्ध

होता है। उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार अमुक मुद्रा आय एक अमीर के लिये तनिक उपयोगिता रखती है। पर वही आय एक गरीब के लिए पर्याप्त उपयोगिता रखती है। अमीर १ रु० से सिनेमा देखेगा, परन्तु एक गरीब उससे खाद्य सामग्री खरीदेगा। अस्तु, आय का उत्तम वितरण अमीरों से गरीबों को देश की समस्त आय मे तो वृद्धि नही करेगा, परन्तु समस्त समृद्धि (Total welfare) मे अवश्य वृद्धि करेगा ; क्योंकि उससे गरीब अमीरों की अपेक्षा अधिक उपयोगिता प्राप्त करेंगे और वे अपने जीवन को समृद्धशाली बना सकेंगे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—"जब सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है तो कुल उपयोगिता अधिकतम होती है।" इस कथन को समझाइए तथा कोष्ठक और चित्र द्वारा स्पष्ट कीजिए।
(उ० प्र० १९६०)

२—क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम लिखिए और इसकी पूर्णतया व्याख्या कीजिए। सीमान्त उपयोगिता का अन्तर बताइए। (सागर १९५७ ; उ०प्र० १९५५)

३—किसी वस्तु की प्रारम्भिक, सीमान्त और समस्त उपयोगिता मे भेद बताइए।
(अ० बो० १९५०)

४—क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम समझाइए और इसकी सीमाएँ बताइए।
(अ० बो० १९५१)

५—उपयोगिता का अभिप्राय समझाइए। सीमान्त उपयोगिता के क्रमशः घटने के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। 'अन्य बातें समान रहने पर' (Other things being equal) वाक्यांश से क्या तात्पर्य है ? वे बातें कौनसी है ? (उ० प्र० १९४९)

६—उपयोगिता ह्रास नियम की व्याख्या कीजिए। इसकी मर्यादाएँ क्या है ?
(सागर १९५० ; रा० बो० १९५२ ; पटना १९४९)

७—उपयोगिता ह्रास नियम की स्पष्ट व्याख्या कीजिए। इसके अपवादों पर विचार कीजिए। (रा० बो० १९४६ , पटना १९४५ , नागपुर १९५१,५०)

८—"हम किसी वस्तु की जितनी अधिक मात्रायें प्राप्त होती जाती हैं, उसकी अतिरिक्त मात्रायें प्राप्त करने की इच्छा उतनी ही कम होती जाती है।"—इस कथन को स्पष्ट कीजिए। (म० भा० १९५६ , अ० बो० १९३५)

९—उपयोगिता-ह्रास-नियम की व्याख्या कीजिए। समाज मे रहने वाले व्यक्ति के लिए इसका व्यवहारिक महत्त्व क्या है ? (रा० बो० १९५८)

अध्याय १५

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम
(Law of Equi-marginal Utility)

परिचय (Introduction)

इस ससार मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्रियाओ को इस प्रकार नियन्त्रित करने का प्रयत्न करता है जिससे उसे न्यूनतम वेदना, असुविधा और व्यय के साथ अधिकतम सतोष प्राप्त हो। उसकी एक मात्र इच्छा यह रहती है कि किस प्रकार उसे अधिकतम प्रसन्नता होवे। यूनानी लोग इसे अधिकतम आनन्द का सिद्धान्त (Hedonic Principle) कहते हैं।

मनुष्य की आय सीमित होती है और उसकी आवश्यकताएँ असख्य होती है। अतः उसकी आय कुछ ही आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे समर्थ होती है। उसकी समस्त आवश्यकताएँ उस सीमित आय से पूर्ण नही होती। अस्तु वह स्वाभाविक रूप से इस बात मे प्रयत्नशील रहता है कि किस प्रकार वह उसे व्यय करे जिससे उसे अधिकतम तृप्ति हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु वह वस्तुओं को उपयोगिता की दृष्टि से जमाकर अपनी आय को व्यय करता है, अर्थात् सबसे प्रथम अनिवार्य वस्तुओ पर व्यय करता है, तत्पश्चात् सुख और विलास वस्तुओ पर। यदि वह इस क्रम से अपनी आय को व्यय करता है, तो अन्त मे वह इस बात का अनुभव करता है कि मुद्रा की अन्तिम इकाई की उपयोगिता सब वस्तुओ पर लगभग समान है। इस व्यवस्था को सम-सीमान्त उपयोगिता (Law of Equi-marginal Utility) कहते है।

नियम का सैद्धान्तिक रूप (Enunciation of the Law)—सम सीमान्त नियम निम्न प्रकार परिभाषित किया जा सकता है : "दी हुई राशि से अधिकतम तृप्ति की जा सकती है यदि प्रत्येक वस्तु पर व्यय की गई राशि को अतिम इकाई की उपयोगिता लगभग समान हो।"

(Maximum satisfaction out of expenditure of a given sum can be obtained, if the utility derived from the last unit of money spent on each object of expenditure is more or less the same)

व्याख्या (Explanation)—उपर्युक्त नियम हमको इस बात की ओर सकेत करता है कि किस प्रकार हम अपनी आय को विविध वस्तुओ पर व्यय करें जिससे प्रत्येक व्यय की हुई मुद्रा की इकाई से अधिकतम लाभ प्राप्त हो। इसको यो भी कहा जा सकता है कि एक बुद्धिमान व्यक्ति को किस प्रकार अपनी व्यय-राशि की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे उसकी विविध व्यय की इकाइयो की सीमान्त उपयोगिता समान रहे, अर्थात् आय को प्रत्येक बार व्यय करने मे अधिकतम तृप्ति प्राप्त हो।

प्रो० मार्शल की परिभाषा—मार्शल इस नियम को इस प्रकार परिभाषित करते है "यदि किसी व्यक्ति के पास ऐसी कोई वस्तु है जिसका उपयोग कई प्रकार से हो सकता है तो उसके उपयोग को इस प्रकार बाँटेगा कि सब दशाओं म सीमान्त उपयोगिता समान ही रहे।'

(If a person has a thing which he can put to several uses, he will distribute it between these uses in such a way that it has the same marginal utility in all)[1]

यदि किसी एक उपयोग म उसकी सीमान्त उपयोगिता अधिक है, तो वह उसमे से कुछ लेकर अन्य उपयोग मे लगा देगा। केवल इस प्रकार वह मुद्रा की प्रत्येक इकाई से अधिकतम तृप्ति कर सकता है। उदाहरण के लिए, हमारे पास केवल एक रुपया है, यदि उसे साग सिगार और सन्तरो पर व्यय करना है तो हम अभिन्नता या अनभिन्नता म-प्रत्येक वस्तु की अन्य वस्तु की अपेक्षा उपयोगिता नापेंगे और अपनी राशि इस प्रकार व्यय करेंगे कि रुपये की अन्तिम इकाई की सीमान्त उपयोगिता प्रत्येक वस्तु पर समान रहे।

नियम के विविध नाम - सम सीमान्त उपयोगिता नियम को **प्रतिस्थापन** नियम (Law of Substitution), अधिकतम तृप्ति का नियम (Law of Maximum Satisfaction) अथवा उदासीनता नियम (Law of Indifference) भी कहते हैं। इसे 'प्रतिस्थापन नियम' इसलिए कहते है कि कम उपयोगिता वाली वस्तु के स्थान मे अधिक उपयोगिता वाली वस्तु का प्रयोग कर देते है। प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति अपनी सीमित आय को इस प्रकार व्यय करना चाहता है कि उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो। इस कारण इसे 'अधिकतम तृप्ति का नियम' भी कहते हैं। इसे 'उदासीनता नियम इसलिए कहते हैं कि वस्तु या मुद्रा के विविध उपयोगो से समान उपयोगिता प्राप्त होने के कारण उपभोक्ता वस्तु या उपयोग के चुनने म उदासीन रहता है और असमजस मे पड जाता है कि वह किस वस्तु या उपयोग को स्वीकार करे।

उदाहरण (Illustration)—यह नियम निम्न उदाहरण से भली प्रकार समझा जा सकता है। मान लीजिए कि एक श्रमिक के पास १२ आने हैं। और वह उन्हे आटा, चावल और दाल खरीदने मे व्यय करना चाहता है। वह इन विविध वस्तुओ पर १ आने की इकाई मे व्यय करता है। 'उपयोगिता ह्रास नियम' के अनुसार प्रत्येक क्रमानुगत वस्तु की इकाई की उपयोगिता गिरती जाती है जैसा कि नीचे तालिका मे दिखाया गया है :—

वस्तु का नाम	वस्तु की प्रत्येक इकाई की उपयोगिता					
आटा	२०	१७	१४	१२	१०	६
चावल	१६	१४	११	१०	४	१
दाल	१५	१३	१०	७	४	२

1—*Principles of Economics*—Marshall, Page 119

१ आने का ४ छटांक आटा, ३ छटांक चावल और ३ छटांक दाल उपलब्ध होता है। प्रत्येक क्रमानुगत एक आने को विविध वस्तुओं पर व्यय करने से जो उपयोगिता प्राप्त होती है, वह ऊपर की तालिका मे स्पष्ट है।

ऊपर के उदाहरण मे यह ज्ञात है कि आटे की प्रथम इकाई की उपयोगिता अधिकतम होने मे सबसे प्रथम एक आना इस पर व्यय किया जायगा। जब श्रमिक दूसरा आना व्यय करेगा तो विविध वस्तुओं की उपयोगिताओं की तुलना कर पुनः इसी को आटा खरीदने मे व्यय करेगा, क्योंकि इसकी उपयोगिता ही अभी अधिकतम है। जब तीसरा आना व्यय किया जायगा तब भी वह सब वस्तुओं की तुलना करेगा। हमे ज्ञात है कि आटे की तीसरी इकाई की उपयोगिता १४, चावल की पहली इकाई की उपयोगिता १६ और दाल की पहली इकाई की उपयोगिता १५ है। अतः यह स्वभाविक है कि तीसरा आना चावल की पहली इकाई पर खर्च किया जायगा। अन्य आने भी इसी प्रकार व्यय किए जायेंगे। नीचे एक तालिका दी गई है जिसमे विविध वस्तुओं पर १२ आने व्यय करने का क्रम बतलाया गया है :—

एक आने की इकाइयाँ	वस्तु का नाम	उपयोगिता
१	आटा	२०
२	आटा	१७
३	चावल	१६
४	दाल	१५
५	चावल	१४
६	आटा	१४
७	दाल	१३
८	आटा	१२
९	चावल	११
१०	आटा	१०
११	चावल	१०
१२	दाल	१०
१२ आने	५ आटे की इकाइयाँ ४ चावल की इकाइयाँ ३ दाल की इकाइयाँ	१६२

ऊपर की तालिका से यह विदित होता है कि प्रत्येक वस्तु के अन्तिम आने की उपयोगिता समान है। प्रत्येक दशा मे सीमान्त उपयोगिता १० है जो तालिका मे विशिष्ट चिन्ह द्वारा प्रकट की गई है। वह अपने व्यय को इस प्रकार जमावेगा कि ५ आने तो आटा खरीदने मे, ४ आने चावल मे और ३ आने दाल खरीदने मे व्यय करेगा। यहाँ समस्त उपयोगिता (Total Utility) १६२ इकाइयाँ हैं। इस क्रम से व्यय करने पर ही अधिकतम लाभ प्राप्त हो सकेगा। परन्तु यदि इस क्रम मे कुछ हेर फेर हुआ तो समस्त उपयोगिता गिर जावेगी। अर्थात् आटे की ५, चावल की ४ और दाल की तीन इकाइयाँ क्रय करने के स्थान मे आटे की ४, चावल की ४ और दाल

की ४ इकाइयाँ अथवा ये अन्य परिमाण में खरीदी जायें तो समस्त उपयोगिता मे न्यूनता होना स्वाभाविक होगा।

नियम का रेखा चित्रण (Diagrammatic Illustration)—उपर्युक्त उदाहरण रेखा-चित्र द्वारा निम्न प्रकार प्रकट किया जा सकता है। आटा, चावल और दाल की विविध इकाइयो की उपयोगिताएँ नीचे के तीन चित्रों मे बतलाई गई हैं :—
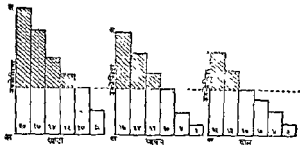
सम-सीमान्त उपयोगिता नियम (Law of Equi-marginal Utility)

चित्र का स्पष्टीकरण—ऊपर के चित्रों मे अ-ब रेखाओ पर इन विविध वस्तुओं की इकाइयाँ नापी गई हैं और अ स रेखाओं पर इनसे प्राप्त उपयोगिताएँ बतलाई गई है। एक रेखा उन आयतों (Rectangles) को जिनकी उपयोगिता प्रत्येक वस्तु मे १० इकाइयां है मिलाती हुई खींची गई है। जितने आयत इस रेखा द्वारा स्पर्श किए गए हैं वे सब इस बात को बतलाते हैं कि प्रत्येक वस्तु की कितनी इकाइयाँ खरीदी गई अथवा प्रत्येक के लिए कितने आने व्यय किये गये। ऊपर के रेखाचित्रों द्वारा यह स्पष्ट है कि आटे की ५, चावल की ४ और दाल की ३ इकाइयाँ खरीदी गई हैं, अर्थात् ५ आने आटे के लिए, ४ आने चावल के लिए और ३ आने दाल के लिए व्यय किये गये है। (१ इकाई १ आने के बराबर मानी गई है)

उपयोगिता क्षेत्र (Scope of the Law)

इस नियम की उपयोगिता का अनुभव हमको अपने दैनिक जीवन मे निरन्तर होता रहता है। इसकी यथार्थता अर्थशास्त्र के अध्ययन की सभी शाखाओं मे प्रकट होती है :—

उपभोग (Consumption)—सम सीमान्त उपयोगिता नियम केवल मुद्रा व्यय पर ही नहीं अपितु उन सब वस्तुओं पर भी लागू होता है जिनका प्रयोग वैकल्पिक होता है। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति के पास दस गज कपड़ा है और यदि वह एक कमीज, पायजामा कुर्ता और बनियान बनाना चाहता है, तो उसे इन विविध प्रयोजनों के लिए इस प्रकार बाँटना चाहिए कि प्रत्येक प्रकार के प्रयोग की अन्तिम इकाई की सीमान्त उपयोगिता समान रहे। इस प्रकार यह अधिकतम तृप्ति प्राप्त कर सकेगा। एक और उदाहरण देना इस विषय को अधिक स्पष्ट कर देगा। मानो कि किसी मरुस्थल में जल की एक बड़ी बाल्टी उपलब्ध हुई, इस परिमित जल को भोजन बनाने, पीने, नहाने, कपड़े धोने आदि कार्यों के लिए इस प्रकार बाँटा जाय कि इन सबकी अन्तिम इकाई की उपयोगिता समान रहे और समस्त उपयोगिता अधिकतम हो।

वर्तमान और भविष्य के उपभोगों की तुलना—इस नियम का उपयोग केवल यही जानने के लिए नहीं होता है किसी वस्तु या मुद्रा के विविध उपयोगों में किस प्रकार बाँटा जाय, अपितु उपयोग किसी वस्तु या मुद्रा के वर्तमान और भविष्य के उपयोगों को निर्धारित करने के लिए भी किया जाता है। उदाहरण के लिए, जैसे प्रत्येक मनुष्य इस बात की तुलना करता है कि अमुक वस्तु को इतनी मात्रा लेने से अधिकाधिक उपयोगिता प्राप्त होती है, उसी प्रकार उसे इस बात को भी तुलना करनी चाहिए कि वर्तमान समय के किये जाने वाले उपभोग के व्यय से उत्पन्न होने वाली समस्त उपयोगिता से भविष्य में किये जाने वाले उपभोग या व्यय से प्राप्त होने वाली उपयोगिता में कितना अन्तर है। दोनों उपयोगिताओं में से किसका पलड़ा अधिक भारी है। प्रत्येक मनुष्य को भविष्य के लिए कुछ न कुछ बचाना ही पड़ता है अतः मनुष्य को अपनी आय का कितना भाग वर्तमान में व्यय करना चाहिए और कितना भविष्य के लिए सुरक्षित रखना चाहिए।

प्रो० मार्शल इस सम्बन्ध में यह कहते हैं, "एक विचारशील पुरुष अपने साधनों को विविध प्रयोगों में—वर्तमान या भविष्य—इस प्रकार वितरण करेगा कि प्रत्येक दशा में वही सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो। परन्तु दूर के साधनों के उपयोगों की वर्तमान में सीमान्त उपयोगिता का अनुमान लगाते समय अनिश्चितता और भविष्य की उपयोगिता की तुलना का ध्यान रखना चाहिए।"

उत्पत्ति (Production)—सम सीमान्त उपयोगिता नियम की उपयोगिता केवल उपभोग तक ही सीमित नहीं है प्रत्युत उत्पत्ति, विनिमय और वितरण में भी यह 'प्रतिस्थापन नियम' के रूप में देखा जाता है। उत्पत्ति के क्षेत्र में इसका बहुत अधिक महत्व देखा जाता है। प्रत्येक व्यापारी या उत्पादक निरन्तर अपने साधनों को विविध उत्पादन-कारकों (Factors of Production) में इस प्रकार वितरण करता रहता है कि उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो। यह निरन्तर अपने मस्तिष्क में प्रत्येक कारक की 'सीमान्त उत्पादकता' (Marginal Productivity) का माप तोल करता रहता है और उनकी उपयोगिता के अनुसार अपने साधनों का विनियोग करता रहता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी वस्तु का उत्पादन श्रमिक द्वारा उत्पन्न किए जाने की अपेक्षा मशीन द्वारा अधिक उत्तम और सस्ता सम्भव है, तो वह श्रमिक के स्थान में मशीन का उपयोग करेगा। बस यही 'प्रतिस्थापन नियम' का महत्व है। इसी प्रकार कृषक भी अपने मस्तिष्क में यह सोचता रहता है कि वह अपने अमुक खेत में गेहूँ बोये या जौ अथवा चना। वह प्रत्येक की सीमान्त उत्पादन-उपयोगिता का तुलनात्मक दृष्टि से जाँच कर वही अन्न उत्पन्न करता है जिसमें न्यूनतम व्यय से अधिकतम लाभ हो।

विनिमय (Exchange)—विनिमय क्षेत्र में भी इसकी उपयोगिता स्पष्ट है। जैसे उपभोक्ता समान मूल्य वाले पदार्थों में सबसे पहले उन वस्तुओं को खरीदता है जिनकी उपयोगिता अधिक हो। समान मूल्य वाली कई वस्तुओं में से उन वस्तुओं को खरीदने का प्रयत्न करता है जिससे वह अधिकतम तृप्ति कर सके।

वितरण (Distribution)—वितरण क्षेत्र में भी इसकी उपयोगिता कम दृष्टिगोचर नहीं होती। एक उत्पादक अपने साधन को कई एक उत्पादन-कारकों पर इस प्रकार लगाना चाहता है कि प्रत्येक कारक की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity) समान रहे। प्रत्येक कारक की सीमान्त उत्पादन शक्ति की सहायता से ही प्रत्येक कारक का पारिश्रमिक (Remuneration) निर्धारित किया जाता

है। अधिकतम अधिकतम सामाजिक लाभ की दृष्टि से इस नियम को ध्यान में रख कर विभिन्न उत्पादन कारकों का वर्ग समान वितरण की माँग करता है।

राजस्व (Public Finance)—इस नियम की सहायता से सरकार द्वारा सार्वजनिक व्यय को इस प्रकार खर्च किया जाता है कि उससे अधिकतम सामाजिक लाभ (Maximum Social Advantage) प्राप्त हो।

नियम की बाधाएँ अथवा मर्यादाएँ
(Hindrances or Limitations of the Law)

यद्यपि मनुष्य स्वभावतः अपनी पूँजी से अधिकतम लाभ की इच्छा करता है और इसीलिए वह इस नियम का अनुसरण करता है तथापि व्यावहारिक जीवन में देखा जाता है कि कुछ परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हो जाती हैं जो इस नियम की पूर्ण प्राप्ति में बाधक बन जाती हैं। ये निम्नांकित हैं :—

(१) अविचारित व्यय—कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो बिना सोचे समझे अपने द्रव्य को व्यय करते रहते हैं। वे कहते हैं कि प्रत्येक व्यय की सीमान्त उपयोगिता का हिसाब लगाना केवल समय का दुरुपयोग है।

(२) दूसरों के निमित्त व्यय—यह भी कहा जाता है कि लोग प्राय: अपने लिए वस्तुएँ नहीं खरीदते। उदाहरण के लिए बच्चों के लिए उनके माता पिता अथवा अभिभावक वस्त्र आदि वस्तुएँ खरीदते हैं। जो वस्तुएँ दूसरों के उपयोग के लिए खरीदी जायेंगी उनकी उपयोगिता का अनुमान किस प्रकार लगाया जा सकता है।

(३) जलवायु-परिवर्तन, स्वास्थ्य की दशा तथा वस्तुओं के विज्ञापन का प्रभाव—उपभोक्ता सर्वत्र सम सीमान्त उपयोगिता नियम द्वारा अपने व्यय का समायोजन नहीं करता है। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य कभी कभी कम उपयोगिता वाली वस्तुएँ खरीदता है। रेल का टिकट इसका सरल उदाहरण है। श्रमजीवी पुरुष अपनी आजीविका के लिए अपने दैनिक जीवन में रेल के टिकट को सुख का अनिवार्य साधन नहीं समझते इसी कारण वे उसे उतना महत्त्व भी नहीं देते परन्तु जलवायु के परिवर्तन के निमित्त इस प्रकार के मदों में व्यय उन्हें करना पड़ता है। इसी प्रकार कभी-कभी मनुष्य को स्वास्थ्य रक्षार्थ नित्य कई कषाय औषध तथा इसी प्रकार के पदार्थ खाने पड़ते हैं उनमें उसको सम सीमान्त उपयोगिता नहीं देखी जाती। इसके अतिरिक्त जिस सीमा तक वस्तुएँ विज्ञापित की गई हैं उनमें भी उसके व्यय में अन्तर आना स्वाभाविक है।

(४) पूर्व निश्चित व्यय—उपभोक्ता की आय का कुछ भाग किसी निश्चित व्यय के लिए पहले से ही निश्चित होता है। अस्तु इस प्रकार के व्ययों का समायोजन इस नियम द्वारा नहीं किया जा सकता है। जैसे मकान का किराया, कर आदि पूर्व निश्चित होते हैं उनमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

(५) मूल्य परिवर्तन—प्रायः मूल्य के परिवर्तन से सम-सीमान्त उपयोगिता नियम पर आश्रित अनुमानित गणना (Calculation) इस नियम की यथार्थता प्रकट करने में असमर्थ हो जाती है। मान लीजिए कि आटे का मूल्य बढ़ जाय और चावल व दाल का मूल्य अपरिवर्तित रहे तो आटे पर व्यय किए हुए प्रत्येक आने की उपयोगिता पूर्व अनुभूत उपयोगिता से कम हो जायगी।

(६) असीमित साधन—प्रकृति-दत्त नि:शुल्क वस्तुओं की भांति यदि साधन असीमित हों, तो इस नियम का कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

(७) अयोग्य या अपटु व्यवस्थापक—यदि व्यवस्थापक में योग्यता या कुशलता का अभाव है, तो वह विविध उत्पादन-कारकों के समायोजन से अधिकतम लाभ नहीं उठा सकेगा।

रीति-रिवाज अथवा फैशन का प्रभाव
(Effects of Custom or Fashion on the Law)

रीति रिवाज कभी-कभी किसी वस्तु की उपयोगिता को अनिवार्य बना देता है। उदाहरणार्थ धोती और पायजामा दोनों वस्तुएँ एक ही प्रयोजन सिद्ध करने के कारण एक के स्थान में दूसरी प्रयुक्त की जा सकती है, परन्तु रीति-रिवाज की शृंखला में बँधे हुए होने के कारण ब्राह्मण कभी पायजामा प्रयुक्त नहीं करेगा, चाहे वह धोती की अपेक्षा अधिक सस्ता क्यों न पड़े। एक उदाहरण और दे देना इस विषय को अधिक स्पष्ट कर सकेगा। हिन्दू द्विज का बालक यज्ञोपवीत संस्कार के समय दण्ड, मेखला, कमण्डल, गामन, झोली धारण करता है। इसका धारण करना वैदिक रीति के आधार पर अनिवार्य है। इन वस्तुओं की उपयोगिता से यद्यपि उसको 'शून्य' संतोष प्राप्त होता है पर रीति-रिवाज की विवशता में उसे उनका उपयोग करना पड़ता है। सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के आधार पर वह इन वस्तुओं के स्थान पर ऐसी वस्तुओं का उपयोग चाहेगा जिनसे उसे इनकी उपयोगिता की अपेक्षा अधिक संतोष उपलब्ध हो।

इसी प्रकार फैशन की दासता भी कई बार मनुष्य को अमुक वस्तु के उपयोग के लिए बाध्य कर देती है। उदाहरण के लिये, फैशन का दास एक कॉलेज का विद्यार्थी मक्खन खरीदने के स्थान में टाई खरीदना पसन्द करेगा, यद्यपि उसी मूल्य में मक्खन जैसी लाभदायक वस्तु खरीदी जा सकती है। यह फैशन के प्रभाव से अपनी मुद्रा उन वस्तुओं पर ही जिनकी उपयोगिता कम है, व्यय करेगा। यह सम सीमान्त उपयोगिता नियम के विरुद्ध है।

६—आय को व्यय करने में प्रतिस्थापन किस प्रकार काम आता है ? उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिए। (पटना १९५० ५५)

७—सम सीमान्त उपयोगिता नियम की व्याख्या कीजिए। दैनिक जीवन में इसका महत्त्व बताइए। (म० भा० १९५२ अ० वा० १९५४ ४८)

८—उपभोग में लागू होने वाले प्रतिस्थापन नियम की व्याख्या कीजिए और यह भी बताइए कि रीति रिवाज और फैशन से इसमें क्या परिवर्तन होता है ? भारतीय उदाहरण दीजिए। (अ० बो० १९४४)

९—यदि आपको अनायास ही दो लाख रुपए उत्तराधिकार में प्राप्त हों तो उनसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए आप किन सिद्धान्तों का ध्यान में रखेंगे ? मुख्य मुख्य मदों का उल्लेख कीजिए जिन पर कि आप यह रुपया व्यय करना चाहेंगे और उन मदों को आप क्या सापेक्षिक महत्त्व देंगे ? (पंजाब १९४८)

१०—सम-सीमान्त उपयोगिता नियम पर टिप्पणी लिखिए। इसे प्रतिस्थापन का सिद्धान्त अथवा उदासीनता नियम क्यों कहते हैं ? (पंजाब १९५२)

११—सम-सीमान्त उपयोगिता नियम से आप क्या समझते हैं ? एक उपभोक्ता के पास गेहूँ दूध चाय व चीनी पर खर्च करने के लिए १५ रु० हैं तथा प्रत्येक की सीमान्त उपयोगिता निम्न प्रकार है —

गेहूँ	२८	२६	२०	१६
दूध	२८	२०	१६	१०
चाय	२२	१८	६	२
चीनी	२०	१७	१६	६

(रा० बो० १९५७)

१२—अधिकतम तृप्ति (Maximum Satisfaction) प्राप्त करने के लिए कोई व्यक्ति अपना व्यय किन नियमों के अनुसार करता है ? इस नियम के पालन में रूढ़ि और भूषाचार (Fashion) का प्रभाव कहाँ तक बाधक होता है ? (नागपुर १९५५)

१३—सम सीमान्त-उपयोगिता नियम को चित्र व उदाहरण सहित अच्छी प्रकार से समझाइए। (सागर १९५८ ५६ ५०)

अध्याय १६

उपभोक्ता की बचत

(Consumer's Surplus)

उपभोक्ता की बचत का अर्थ (Meaning)—उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त का 'उपयोगिता ह्रास नियम' से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सिद्धान्त इस बात को स्थिर करता है कि उपभोक्ताओं को जो वस्तुएँ कि वे खरीदते हैं उनसे अतिरिक्त सतुष्टि (Surplus Satisfaction) प्राप्त होती है। यह अतिरिक्त सतुष्टि कुछ वस्तुओं से अधिक और कुछ से कम प्राप्त होती है। जब हम किसी वस्तु को खरीदने के लिए बाजार जाते है, तब हम उस वस्तु का मूल्य जो हम वास्तव में देते है उससे कही अधिक देने के लिए तैयार हो जाते है और उस सौदे में कुछ मुद्रा बचाकर घर लौट आते है। यह बची हुई मुद्रा अन्य वस्तुओं के क्रय में व्यय की जा सकती है जिनसे हमें 'अतिरिक्त सतुष्टि' प्राप्त होती है। इस अतिरिक्त सतुष्टि को अर्थशास्त्र में 'उपभोक्ता की बचत' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि पोस्ट कार्ड सरलता से अभीष्ट मात्रा में उपलब्ध नहीं होते है। कुछ व्यक्तियों की पोस्ट कार्ड लिखने की इच्छा इतनी प्रबल होती है कि वे कम से कम सप्ताह में एक बार पोस्ट कार्ड लिखने के लिए पोस्ट कार्ड के पच्चीस नये पैसे तक देने को तैयार हो सकते है, परन्तु वास्तव में पोस्कार्ड पाँच नये पैसे में जितने चाहें उतने आसानी से खरीदे जा सकते है। अस्तु, एक पोस्टकार्ड खरीदने में बीस नये पैसे की बचत हुई। यह बची हुई मुद्रा अन्य आवश्यक वस्तुओं में व्यय की जा सकती है जिससे उन्हें अतिरिक्त सतुष्टि प्राप्त हो सकेगी। यही अतिरिक्त सतुष्टि 'उपभोक्ता की बचत' है।

उपभोक्ता की बचत की उत्पत्ति के कारण (How dose Consumer's Surplus arise ?)—उपभोक्ता की बचत इसलिए होती है कि जो मुद्रा मूल्य के रूप में किसी वस्तु को खरीदने के लिए व्यय की जाती है उसकी उपयोगिता उस से प्राप्त सम्पूर्ण उपयोगिता से कम होती है। 'उपयोगिता ह्रास नियम' के अनुसार जैसे-जैसे वस्तु का उपभोग बढ़ता है उसकी उपयोगिता कम होती जाती है—अर्थात् वस्तु की पहले वाली इकाइयों की उपयोगिता की अपेक्षा बाद वाली इकाइयों की उपयोगिता गिरती जाती है, यहाँ तक कि अन्त में उपभोक्ता को किसी एक इकाई पर अपना उपभोग समाप्त कर देने के लिए सोचना पड़ेगा, क्योंकि उस इकाई की उपयोगिता व्यय की जाने वाली मुद्रा (मूल्य) की उपयोगिता के समान है। यह इकाई सीमान्त इकाई (Marginal Unity) और इससे प्राप्त उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) कहलाती है। सीमान्त इकाई से अधिक इकाइयाँ खरीदना मुद्रा का दुरुपयोग मात्र होगा। अस्तु उसे वस्तु का उपयोग वहीं समाप्त कर देना पड़ेगा। उस वस्तु की सब इकाइयाँ एक समान होने के कारण वस्तु की

विविध इकाइयों का मूल्य सीमान्त इकाई की उपयोगिता अर्थात् मूल्य के अनुसार दिया जायगा। परन्तु सीमान्त इकाई से ऊपर वाली इकाइयों की उपयोगिता उससे अधिक होने के कारण उन इकाइयों पर उपभोक्ता को मूल्य की उपयोगिता से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है बस यही लाभ उपभोक्ता की बचत है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि मूल्य के रूप में जितनी उपयोगिता का उस वस्तु के लिए हमको त्याग करना पड़ता है वह समस्त उपयोगिता से कम होती है। इस प्रकार त्याग की गई उपयोगिता और प्राप्त उपयोगिता का अंतर ही 'उपभोक्ता की बचत' है। इसको उपभोक्ता की बचत इसलिए कहते हैं कि उस वस्तु को खरीदने से उस व्यक्ति को उतनी उपयोगिता का लाभ हो जाता है। अस्तु यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि उपभोक्ता की बचत का सम्बन्ध उपयोगिता से है न कि मूल्य से। हाँ यह अन्य वस्तुओं की भाँति रुपये आने पाई में नापी जा सकती है।

इस रूप में उपभोक्ता को यह लाभ निम्न कारणों से उपलब्ध होता है —

(१) उपयोगिता ह्रास नियम का लागू होना।

(२) बाजार में किसी वस्तु का एक ही समय एक ही मूल्य विद्यमान होना।

(३) उत्पत्ति की क्रमागत उन्नति के कारण वस्तुओं का सस्ता उपलब्ध होना।

(४) एक ही वस्तु के लिए अमीर गरीब और मध्यम श्रेणी के उपभोक्ताओं का होना।

उपभोक्ता की बचत का सैद्धान्तिक रूप (Statement of the Law)

वैसे इस प्रकार के लाभ का अनुमान हम अपने दैनिक जीवन में कई वस्तुओं के सम्बन्ध में करते रहते हैं परन्तु इसका सैद्धान्तिक रूप में परिचय सबसे प्रथम प्रो० मार्शल ने दिया। उन्होंने इस विचार धारा की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि जो मूल्य मनुष्य वास्तव में देता है वह उस मूल्य से, जिसे वह व्यक्ति वस्तु से वंचित रहने की अपेक्षा देने को तैयार हो जायगा, सर्वदा कम होता है और शायद ही कभी उसके बराबर होता हो। अतः उसके क्रय से जो उसे सन्तुष्टि मिलती है वह साधारणतया उस सन्तुष्टि से अधिक होती है जिसे वह उसके मूल्य के रूप में देता है और इस प्रकार उसके क्रय से अतिरिक्त सन्तुष्टि प्राप्त होती है। जो मूल्य किसी वस्तु से वंचित रहने की अपेक्षा मनुष्य देने को तैयार हो जायगा और जो मूल्य वास्तव में देता है, इन दोनों मूल्यों का अन्तर ही उपभोक्ता की बचत का आर्थिक माप है।[1] मार्शल इसी सम्बन्ध में आगे लिखते हैं कि इस बचत को हम अवसरों (Opportunities) या वातावरण (Environment) से प्राप्त होने वाला लाभ भी कह सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भौतिक उन्नति के साथ साथ उपभोक्ता की बचत में वृद्धि होती रहती है। उदाहरण के लिए जो देश भौतिक सभ्यता की दृष्टि से अधिक प्रगतिशील है वहाँ निःसन्देह अन्य पिछड़े हुए देशों की अपेक्षा इस प्रकार का लाभ मनुष्यों को अधिक उपलब्ध होता है।

1— The excess of the price which he would be willing to pay rather go without the thing over which he actually does pay is the economic measure of the surplus satisfaction —*Marshall*

प्रो० टॉसिग के मतानुसार समस्त उपयोगिता और समस्त विनिमय-मूल्य को नापने वाली राशियों का अन्तर ही उपभोक्ता की बचत है।[1]

प्रो० जे० के० मेहता इसको इस प्रकार परिभाषित करते हैं—किसी वस्तु से मनुष्य जो उपभोक्ता की बचत प्राप्त करता है, वह उस वस्तु से मिलने वाली सन्तुष्टि और वस्तु को पाने के लिए त्याग करने वाली सन्तुष्टि का अन्तर होता है।[2]

संक्षेप में, उपभोक्ता की बचत = जो हम दे सकते हैं
— कम जो हम वास्तव में देते हैं।

In short, Consumer's Surplus = What we are prepared to pay minus what we actually pay

उपभोक्ता की बचत का गणितात्मक रूप

(Mathematical Expression of Consumer's Surplus)

उपभोक्ता की बचत का गणितात्मक रूप निम्न प्रकार प्रकट किया जा सकता है—
उपभोक्ता की बचत = समस्त उपयोगिता — (सीमान्त उपयोगिता × खरीदी जाने वाली इकाइयों की संख्या)

Consumer's Surplus = Total Utility — (Marginal Utility × No of units purchased)

उ० ब० = स० उ० – (सी० उ० × स०)

C S. = T U – (M U × N)

जबकि उ० ब० का अर्थ है उपभोक्ता की बचत
स० उ० „ „ कुल उपयोगिता
स० „ „ खरीदी जाने वाली इकाइयों की सख्या

उदाहरण (Illustration)—मान लीजिए कोई व्यक्ति बहुत भूखा है। भूख शान्त करने के लिए वह बाजार में जाकर रोटी खरीदता है। प्रत्येक रोटी की उपयोगिता अनुसार वह निम्नांकित सारणी में अंकित मूल्य देने को तैयार हो जाता है। मान लीजिए बाजार में प्रति रोटी का मूल्य एक आना है।

वह कुल ५ रोटियाँ खरीदेगा। पाँचवीं रोटी की उपयोगिता और मूल्य दोनों बराबर है। यदि छठी रोटी खरीदता है तो उसको मूल्य से कम तृप्ति प्राप्त होगी।

1—According to Taussig, Consumer's Surplus is the "Difference between the sum which measures total utility and that which measures total exchange value"

2—J K Mehta in his Groundwork of Economics defines it as follows "Consumer's Surplus obtained by a person from a commodity is the difference between the satisfaction which he derives from it and that which he forgoes in order to procure that commodity"

अतः वह पाँचवी रोटी के पश्चात् और कोई रोटी न खरीदेगा। वह पाँच रोटियों के लिए तीन रुपए तीन आने तक देने को तैयार हो सकता है, किन्तु बाजार भाव एक आना होने के कारण उसे पाँच रोटियों के लिए कुल पाँच आने देने पड़ते है। ऐसी स्थिति मे उसे दो रुपए चौदह आने की बचत होगी।

रोटी की संख्या	मूल्य जो वह देने को तैयार हो सकता है	बाजार भाव	उपभोक्ता की बचत
पहली	२० आने	१ आने	(२० − १) = १९ आने
दूसरी	१५ ,,	१ ,,	(१५ − १) = १४ ,,
तीसरी	१० ,,	१ ,,	(१० − १) = ९ ,,
चौथी	५ ,,	१ ,,	(५ − १) = ४ ,,
पाँचवी	१ ,,	१ ,,	(१ − १) = ० ,,
कुल ५ रोटियाँ	५१ आने	५ आने	= ४६ आने

रेखा चित्रण (Diagrammatic Representation)

रेखा-चित्रण का स्पष्टीकरण—ऊपर के चित्र मे अ ब रेखा पर रोटियों की संख्या और अ ग रेखा पर उपयोगिता की इकाइयाँ नापी गई है। अ ब रेखा अ क, क ख, ख ग, ग घ और घ ङ मे विभाजित है। इनमे से प्रत्येक एक विभाजन क्रम से एक रोटी का प्रतीक है। जो आयत (Rectangle) उनमे से प्रत्येक भाग पर बना हुआ है वह प्रत्येक रोटी की उपयोगिता बतलाता है। च छ प्रत्येक रोटी का मूल्य बताने वाली रेखा है। आयतों का छायादार भाग उपभोक्ता की बचत का प्रदर्शन करता है। हम देखते हैं कि सीमान्त उपयोगिता से उपभोक्ता-बचत शून्य है।
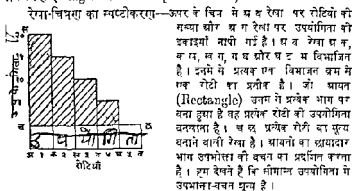
उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus)

दैनिक जीवन के कुछ उदाहरण (Examples from daily life)—इस प्रकार की बचत का अनुभव हम अपने दैनिक जीवन मे करते रहते हैं। भिन्न-भिन्न वस्तुओं से तृप्ति की बचत भिन्न-भिन्न होती है। साधारणतया आवश्यक पदार्थों मे उपभोक्ता की बचत अधिक प्राप्त होती है और सुख तथा विलास की वस्तुओं से कम। दैनिक जीवन मे काम आने वाली साधारण वस्तुओं से अधिक तृप्ति की बचत होती है, जैसे दियासलाई, मिट्टी का तेल, नमक, दूध, समाचार-पत्र, पोस्टकार्ड, लिफाफे आदि। उपन्यास तथा अन्य रोचक पुस्तकें, बसें तथा ट्रामगाड़ियाँ, भोजन बनाने तथा निर्माण कार्य मे प्रयुक्त होने वाले कोयले आदि अन्य इसी प्रकार के उदाहरण है।

उपभोक्ता की बचत के माप मे कठिनाइयाँ

(Difficulties of measuring Consumer's Surplus)

उपभोक्ता की बचत का यथार्थ माप एक कठिन साध्य कार्य है। उसका रुपये, आने, पाई मे ठीक-ठीक माप करते समय हमे कुछ कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता है जो निम्नलिखित है :—

(१) उपभोक्ता की बचत मनुष्यों के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक वातावरण पर निर्भर है—अधिक सभ्य और प्रगतिशील देशों में जीवनोपयोगी वस्तुएँ अधिक मात्रा में तथा सस्ते दामो से उपलब्ध होने के कारण वहाँ के निवासियो को पिछड़े हुए देशों की अपेक्षा अधिक उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है।

(२) भिन्न-भिन्न वस्तुओं से भिन्न-भिन्न उपभोक्ता की बचत होना—मनुष्य कई एक वस्तुओं का उपभोग एक साथ करता है और उनकी सीमान्त तथा समस्त उपयोगिताओं मे पर्याप्त भिन्नता होती है। अतः समाज के प्रत्येक व्यक्ति की सब वस्तुओं से प्राप्त समस्त बचत को नापना बड़ा कठिन हो जाता है।

(३) बाजार मे उपभोक्ता की बचत का यथार्थ माप कठिन है—बाजार मे प्रत्येक उपभोक्ता की बचत को मापना और भी कठिन हो जाता है, क्योंकि प्रत्येक की रुचि, पसन्दगी और आय मे पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है।

(४) उपभोक्ता की बचत की धारणा काल्पनिक एवं असत्य है—यह कहना कि १०० रु० खर्च करने से १००० रु० की तृप्ति प्राप्त होती है कोई अर्थ नही रखता क्योंकि वास्तव मे नौ सौ की बचत का अनुभव नही होता।

(५) अनिवार्य पदार्थो मे भी यह सिद्धान्त पूर्णतया लागू नही होता—अनिवार्य पदार्थों की समग्र उपयोगिता को मापना बड़ा कठिन है, क्योंकि वस्तुओं से उपभोक्ता को बचत असीमित होती है जो ठीक-ठीक मापी नही जा सकती है। प्रो० टॉसिग के मतानुसार यह सिद्धान्त केवल अनिवार्य आवश्यकताओं मे ही नहीं बल्कि रूढ़ आवश्यकताओं मे भी ठीक तरह लागू नही होता।

(६) प्रतिष्ठार्थ वस्तुओं के लिए यह सिद्धान्त लागू नही होता—जो वस्तुएँ पद-प्रदर्शन तथा शान या प्रतिष्ठा के लिए खरीदी जाती हैं उनमे यह धारणा प्रभावहीन देखी जाती है, क्योंकि ऐसी वस्तुओं की आवश्यकता, जब तक कि वे अधिक मूल्यवान हैं, प्रतीत होती है। उनके सस्ता होने से प्रतिष्ठार्थ मूल्य भी गायब हो जाता है अस्तु ऐसी अवस्था मे यह बचत की धारणा तथ्यहीन हो जाती है।

(७) मुद्रा सब लोगों के लिए समान उपयोगिता नही रखती—एक रुपये की एक धनवान पुरुष के लिए जो उपयोगिता है, उससे कहीं अधिक उसकी उपयोगिता एक गरीब आदमी के लिए है। अतः उनके वस्तु-क्रय के दृष्टिकोणों मे भी पर्याप्त भिन्नता होना स्वाभाविक है। अस्तु इस विषमता के कारण इसका ठीक मापन सम्भव नही है।

(८) मांग-मूल्य सूचिका पूर्ण अवस्था मे उपलब्ध न होना—यह अनुमान लगाना कठिन है कि कोई मनुष्य किसी वस्तु के लिए बजाय उसका त्याग करने के क्या मूल्य देने के लिए तैयार हो जावेगा। यह ठीक-ठीक अनुमान नही लगाना ही उपभोक्ता की बचत के मापन मे बाधा उपस्थित करता है।

(९) प्रतियोगी एवं स्थानापन्न वस्तुओं का मापन कठिन है—उदाहरण के लिए चाय और कहवा प्रतियोगी (Rival) एवं स्थानापन्न (Substitute) वस्तुए है। यदि चाय उपलब्ध नहीं होती है तो लोग कहवा पीना प्रारम्भ कर देंगे। परन्तु यदि चाय और कहवा दोनों ही न मिले तो तृप्ति की अधिक हानि होगी। अत चाय और कहवा दोनों की समस्त उपयोगिता एक दूसरे के अभाव मे चाय और कहवे की पृथक पृथक उपयोगिता के योग से बहुत अधिक है। इन दोनों की उपयोगिता का योग देने पर भी उनसे प्राप्त समस्त उपयोगिता के बराबर नहीं होगी।

(१०) प्रारम्भिक इकाइयों की उपयोगिता गिरती जाती है—ज्यों ज्यों मनुष्य वस्तुओं के क्रय मे वृद्धि करता जाता है त्यों त्यों उसकी प्रारम्भिक इकाइयों के क्रय की आवश्यकता घटती जाती है अत उनकी उपयोगिता गिर जाती है। इस कारण ही उपभोक्ता की बचत का ठीक-ठीक माप कठिन हो जाता है।

उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त का महत्व—(Importance of the doctrine of Consumer's Surplus) उपभोक्ता की बचत का सैद्धान्तिक एवम् व्यावहारिक दृष्टिकोण से बड़ा महत्व है—

(१) उपयोगिता और मूल्यांकन—सबसे प्रथम यह सिद्धान्त हमारा इस ओर ध्यान आकृष्ट करता है कि किसी वस्तु का मूल्यांकन सदैव उससे प्राप्त तृप्ति के बराबर नहीं होता है। अन्य शब्दों मे यों भी कह सकते है कि किसी वस्तु की वास्तविक उपयोगिता का यथार्थ बोध उसके लिए दिये जाने वाले मूल्य से प्रकट नहीं हो सकता।

(२) वातावरण अथवा अवसरों का लाभ होना—इस धारणा के अध्ययन से हम अपने वातावरण अथवा अवसरों से प्राप्त होने वाले लाभों का अनुमान लगा सकते है।

(३) विभिन्न स्थानों और समयों के आर्थिक जीवन की तुलना—उपभोक्ता की बचत के सिद्धांत द्वारा विभिन्न स्थानों और समयों के मनुष्यों के आर्थिक जीवन को तुलनात्मक दृष्टि से देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ दिल्ली मे २०० रु० मासिक कमाने वाला व्यक्ति जितनी जीवनोपयोगी वस्तुओं का उपभोग कर सकता है वो किसी शहर से दूर स्थित स्थान मे रहने वाले व्यक्ति को ३०० रु० मासिक आय पर भी उपलब्ध नहीं हो सकती है।

(४) राजस्व विभाग मे महत्व—इस सिद्धान्त का महत्व राजस्व विभाग मे भी देखा जाता है। किसी राज्य के अर्थ मन्त्री को नये कर लगाने के पूर्व यह देखना पड़ता है कि लोग कहां तक कर देने को तैयार है और नये करों द्वारा जो मूल्य मे वृद्धि होगी उससे वे कहां तक प्रभावित होंगे। जिन देशों मे अधिक उपभोक्ता की बचत होगी वहाँ नये कर सरलता से लगाये जा सकेंगे।

(५) एकाधिकार मूल्य निर्धारण मे महत्व—इसका महत्व एकाधिकार (Monopoly) मूल्य निर्धारण मे कम नहीं है। एकाधिकारी (Monopolist) उन वस्तुओं के मूल्य मे सरलता से वृद्धि कर सकता है जिनमे पर्याप्त उपभोक्ता की बचत हो। किन्तु वह मूल्य अधिक बढ़ा कर बचत समाप्त कर देगा तो जनता उसकी विरोधी हो जायगी।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा होने वाले लाभ का मापन सम्भव— इस धारणा के ज्ञान से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा होने वाले लाभ का अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे किसी देश में सस्ती वस्तुओं का आयात (Import) किया जाय जो उस देश की वस्तुओं से भी अधिक सस्ती बिकें, तो निस्सन्देह इस अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उपभोक्ताओं को लाभ होगा।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus) से आप क्या समझते हैं। यह किस प्रकार मापी जा सकती है? उदाहरण सहित समझाइए और रेखाचित्र भी दीजिए। (उ० प्र० १९५७)

२—उपभोक्ता की बचत का आशय समझाइए। इसके अध्ययन की क्या उपयोगिता है? (उ० प्र० १९५०)

३—उपभोक्ता की बचत का आशय स्पष्ट कीजिए। क्या इसे नापा जा सकता है? कैसे? (पटना १९४०, सागर १९४६)

४—उपभोक्ता की बचत का आशय क्या है? चित्र की सहायता से समझाइए। (रा० बो० १९५७, ५२, ५१, अ० बो० १९५३)

५—उपभोक्ता की बचत का अर्थ समझाइए और उत्पत्ति तथा उपभोग से इसका सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए। (अ० बो० १९४८)

६—उपभोक्ता की बचत, चित्र की सहायता से समझाइए। इसकी क्या मर्यादाएँ हैं? (रा० बो० १९५६)

७—उपभोक्ता की बचत किसे कहते हैं? इसका उदय कैसे होता है और इसको कैसे नापा जा सकता है? (सागर १९५१, ४९, म० भा० १९५५, ५३)

८—उपयोगिता-ह्रास-नियम तथा उपभोक्ता की बचत में पारस्परिक सम्बन्ध पर नोट लिखिए। (नागपुर १९५७)

९—उपभोक्ता की परिभाषा लिखिए। इस मुद्रा से कैसे नापा जा सकता है? उदाहरण दीजिए। (नागपुर १९५०)

१०—उपभोक्ता की बचत का क्या आशय है? इसका उदय किस प्रकार होता है? (सागर १९५२)

११—'उपभोक्ता की सन्तुष्टि की बचत' विचार धारा का प्रतिपादन कीजिए। क्या आप इसे नाप सकते हैं? (पटना १९४८)

१२—'उपभोक्ता की बचत' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (उ० प्र० १९५३, ५१, ५०, ४६, ३६, रा० बो० १९५९, अ० बो० १९५१, ४९, ४३, सागर १९५६, ५०, म० भा० ? , बनारस १९४८, ४३, ४०, पंजाब १९४६)

अध्याय १७

जीवन-स्तर
(Standard of Living)

जीवन स्तर का अर्थ (Meaning)—मनुष्य अपने दैनिक-जीवन में कई एक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जब वह अपनी किसी आवश्यकता की पूर्ति पर्याप्त समय तक करता रहता है, तो वह उस आवश्यकता की तृप्ति का आदी बन जाता है। धीरे-धीरे इस प्रकार की आवश्यकताएँ उस व्यक्ति की आदतों में परिवर्तित हो जाती हैं। आदत पड़ जाने के कारण वह उन आवश्यकताओं को आसानी से नहीं छोड़ पाता। वे उसके प्रति दिन के साधारण जीवन का एक आवश्यक अङ्ग बन जाती है। जीवन-स्तर का आशय मनुष्य की इन्हीं आवश्यकताओं से है जिनकी तृप्ति का वह आदी हो गया है। दूसरे शब्दों में, किसी व्यक्ति के जीवन-स्तर से अभिप्राय उन वस्तुओं से है जिनके उपभोग का वह आदी बन चुका है।

इससे यह स्पष्ट है कि जीवन-स्तर आदतों पर निर्भर होता है, अतः इसमें शीघ्रता या सुगमता से परिवर्तन होना सम्भव नहीं। यह स्वभाव या आदत की भाँति लगभग स्थिर ही रहता है।

जीवन-स्तर एक सापेक्षिक शब्द है—अधिकतर यह शब्द सापेक्षिक रूप में प्रयुक्त होता है। जब हम यह कहते है कि अंग्रेजों का जीवन स्तर भारतवासियों से ऊँचा है, तो हम जीवन-स्तर को तुलनात्मक दृष्टि से देखते हुए पाये जाते हैं। यही इसका सापेक्षिक रूप है।

जीवन-स्तर में भिन्नता—सबका जीवन-स्तर अथवा रहन सहन का दर्जा एक समान नहीं पाया जाता। प्रत्येक काल, देश और व्यक्ति का दर्जा भिन्न-भिन्न होता है। अमेरिका के रहने वालों का जीवन-स्तर भारतवासियों के जीवन-स्तर की अपेक्षा अधिक ऊँचा है। जो जीवन-स्तर अमेरिका में सौ वर्ष पूर्व था वह वहाँ के वर्तमान जीवन-स्तर की तुलना में बहुत नीचा है। इसी प्रकार एक ही समय और देश में भिन्न भिन्न श्रेणी वाले लोगों का जीवन-स्तर अलग अलग होता है।

जीवन-स्तर को निर्धारित करने वाले तत्व (Factors governing the Standard of Living)

जीवन-स्तर को प्रभावित करने वाले तत्व निम्नलिखित है :—

(१) आय—जीवन-स्तर का आय से घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक अमीर आदमी अधिक आवश्यकताओं की तृप्ति करने के कारण ऊँचा जीवन-स्तर रखता है। जिस आदमी की आय कम होती है उसका जीवन-स्तर नीचा होता है। साधारण आय वाले व्यक्तियों का जीवन-स्तर साधारण ही होता है।

(२) विवेकपूर्ण आय या व्यय—केवल पर्याप्त या अपर्याप्त आय से ही किसी व्यक्ति का जीवन स्तर निर्धारित नहीं हो सकता। यह भी देखना आवश्यक है कि वह अपनी आय का व्यय किस प्रकार करता है। आय पर्याप्त होने के साथ साथ उसका विवेकपूर्ण व्यय भी ऊंचे जीवन-स्तर की एक शर्त है। मान लीजिए कि दो व्यक्तियों की समान आय है, परन्तु उनमें से यदि एक व्यक्ति अपनी आय का व्यय अधिक बुद्धिमानी से करता है तो निस्सन्देह उसका जीवन स्तर दूसरे की अपेक्षा अधिक ऊंचा होगा। यह कोई आवश्यक नहीं है कि खर्चीला (Expensive) रहन सहन का दर्जा ही ऊंचा जीवन स्तर होता है।

(३) मुद्रा की क्रय शक्ति—मुद्रा की क्रय शक्ति प्रत्येक देश या समय में समान नहीं होने के कारण विभिन्न देशों या समयों के निवासियों के जीवन स्तर को तुलनात्मक दृष्टि से देखते समय मुद्रा की क्रय शक्ति को ध्यान में रखना परम आवश्यक है। अस्तु जीवन-स्तर को निर्धारित करने में मुद्रा की क्रय शक्ति का बड़ा महत्त्व है।

(४) व्यक्तिगत स्वास्थ्य—कई लोग व्याधियों में ग्रस्त होने के कारण अनुभव बुद्धि और धन होते हुए भी कई वस्तुओं का उपभोग नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ मधुमेह से ग्रस्त रोगी मिष्ठान्न का आनन्द नहीं उठा सकता। अस्तु ऐसे व्यक्ति का जीवन स्तर एक स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा नीचा होगा।

ऊंचा और नीचा जीवन स्तर
(High and Low Standard of Living)

ऊंचे और नीचे जीवन-स्तर में यहां भेद है कि पहले प्रकार के जीवन-स्तर से मनुष्य को अधिक आर्थिक कल्याण प्राप्त होता है और उसमें अधिक कार्य-कुशलता तथा प्रसन्नता का संचार होता है। नीचा जीवन-स्तर मनुष्य के विकास में बाधा उपस्थित कर उसकी कार्य कुशलता में न्यूनता पैदा करता है।

खर्चीला और सस्ता जीवन-स्तर
(Expensive and Cheap Standard of Living)

यह धारणा गलत है कि अधिक आवश्यकताओं की तृप्ति करने वाले का जीवन स्तर सदैव ऊंचा होता है और कम आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले का नीचा। एक फिजूल खर्च जीवन वास्तव में खर्चीला जीवन है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह ऊंचा जीवन स्तर ही हो। इसी प्रकार यह आवश्यक नहीं है कि एक मितव्ययी जीवन नीचा जीवन-स्तर ही हो।

भारतवर्ष में जीवन-स्तर (Standard of Living in India)—भारतवर्ष संसार के सबसे निर्धन देशों में से है और यहां के निवासियों का जीवन स्तर बहुत ही नीचा और असन्तोषजनक है। यहां की निर्धनता का कुछ अनुमान वार्षिक व्यक्तिगत औसत आय से किया जा सकता है। भारतवर्ष और कुछ अन्य देशों के निवासियों की व्यक्तिगत औसत आय के अंक तुलना के लिए नीचे दिये गये हैं —

विभिन्न देशों की प्रति व्यक्ति तुलनात्मक आय

देश	प्रति व्यक्ति आय	देश	प्रति व्यक्ति आय
	रु०		रु०
संयुक्त राष्ट्र अमरिका	७२६४	जापान	५००
कनाडा	६३५०	भारतवर्ष	२८१
न्यूजीलैण्ड	४२८०	पाकिस्तान	२११
इंगलैण्ड	३८६१	ब्रह्मा	१८०
रूस	२१६०	स्याम	१८०

भारतवासियों की औसत आय का अनुमान

वर्ष	अनुमान कर्ता	व्यक्तिगत औसत आय
		रु०
१८७०	दादाभाई नौरोजी	२०-०-०
१९००	लार्ड कर्जन	३०-०-०
१९००	मि० डिग्बी	१०-६-०
१९११	सर आर० एन० गभा	१०-०-०
१९१३-१४	वाडिया और जोशी	४४-५-६
१९१३-१४	सकीन और मुरजन	५८-०-०
१९२०-२१	शाह और खंभाटा	७४-०-०
१९२१	फिण्डले शिराज	१०७-०-०
१९२५-२९	वी० के० आर० वी० राव	७६-०-०
१९३१-३२		६२-०-०
१९३७-३८	सर जेम्स ग्रिग	५६-०-०
१९४८-४९	नेशनल इनकम कमेटी	२५०-०-०
१९५१-५२	ईस्टर्न इकानामिस्ट	२६०-०-०
१९५६	प्लानिंग कमीशन	२८१-०-०

उपयुक्त आंकड़ों से यह ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में औसत आय कितनी कम है। इससे तो जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं हो सकती। यदि सम्पूर्ण आय को केवल भोजन सामग्री पर ही खर्च कर दिया जाय तो भी लोगों को भर पेट भोजन नहीं मिल सकता। जब जीवन रक्षक पदार्थ ही पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है तो निपुणता दायक पदार्थों की आशा करना ही निरर्थक है। भोजन में घी दूध जैसे पौष्टिक पदार्थों का उपभोग बहुत कम है। अच्छा भोजन केवल त्यौहारों और उत्सवों पर ही प्राप्त होता है। ऋतु के अनुसार कपड़ा बहुत ही कम मनुष्यों को उपलब्ध होता है। अधिकतर मनुष्य मैला और मोटा कपड़ा पहनते हैं। नगरों में मकानों का पूर्ण अभाव है। औद्योगिक नगरों में स्थानाभाव के कारण एक मकान में १०-१५ मनुष्य रहते हैं या सड़कों के किनारे पड़े रहते हैं। श्रमिक वर्ग अंधेरी कोठरियों में जहां प्रकाश और शुद्ध वायु का सर्वथा अभाव होता है निर्वाह करता है। गावों की दशा और भी शोचनीय है। यदि केवल गांव वालों की ही औसत निकाली जाय तो मुश्किल से २५ या ३० रु० वार्षिक आय होगी। इतनी कम आय से उनका जीवन स्तर क्या हो सकता है इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है। गावों में प्राय कच्चे छोटे गन्दे और अंधेरे मकान पाये जाते हैं जिनमें रहकर मनुष्य कभी स्वस्थ जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। वहाँ प्राय एक ही मकान में मनुष्य और पशु दोनों ही निर्वाह करते हैं और आसपास कूड़ा करकट राख और गोबर आदि का ढेर लगा रहता है जिससे लोग सदैव बीमारियों के शिकार बने रहते हैं। चिकित्सा का कोई उचित प्रबन्ध न होने के कारण भारतवर्ष में रोके जाने वाले रोगों से प्रतिवर्ष ६० लाख मृत्यु होती है। ऐसे जीवन-स्तर में शिक्षा की तो आशा ही नहीं की जा सकती। सारांशतः भारतवर्ष में जीवन-स्तर इतना गिरा हुआ है कि यहां अधिकांश लोग भूखे और अधनंगे रहते हैं। इस सम्बन्ध में प्रो० मूरलैंड ने लिखा है "एक बड़ी संख्या में मनुष्य शिक्षा या चिकित्सा का प्रबन्ध नहीं कर पाते और स्वास्थ्यकारी निवास गृह मुख्यतः नगरों में बहुत कम होते हैं। कारीगरों मजदूरों और छोटे-छोटे किसानों को भी जाड़े में पर्याप्त वस्त्र उपलब्ध नहीं होते, और देश के अनेक भागों में मजदूरों का भोजन उन्हें पूरे दिन परिश्रम करने के लिए काफी नहीं होता।"

नीचे जीवन स्तर के कारण
(Causes of Low Standard of Living)

भारतवासियों के नीचे जीवन-स्तर के निम्नलिखित कारण हैं —

(१) निर्धनता (Poverty)—भारतवासियों के नीचे जीवन-स्तर का मुख्य कारण उनकी निर्धनता है। मनुष्य इतने निर्धन हैं कि उन्हें पेट भर भोजन भी नहीं मिलता। यह जान कर आश्चर्य होगा कि एक भारतवासी की औसत मासिक आय लगभग पांच रुपया है। धनोपार्जन के साधनों का अभाव और धन वितरण की असमानता ही इस निर्धनता का मुख्य कारण है।

(२) अशिक्षा (Illiteracy)—भारतवर्ष में अधिकांश लोग अशिक्षित हैं। अज्ञानता के कारण उनका दृष्टिकोण संकुचित रहता है और उनकी आवश्यकताएँ भी सीमित होती हैं। वे अज्ञानता के अंधकार में डूबे रहने के कारण अपनी सीमित आय का सदुपयोग नहीं कर सकते। अतः उनकी आय का अधिकांश भाग मुकद्दमे

1—*An Introduction to Economics*—Moreland

बाजा मद्यपान आदि फिजूलखर्ची की मदों और जन्म मृत्यु विवाह आदि रीति रिवाजों पर खर्च होता पाया जाता है।

(३) रूढ़ि-ग्रस्तता (Customs)—लोग सामाजिक रीति रिवाजों और रूढ़ियों के बंधनों में इस प्रकार जकड़े हुए हैं कि वह अनिवार्य आवश्यकताओं को कम कर अपना धन सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्बन्ध बनाये रखने में तथा सामाजिक रीति रिवाजों पर खर्च करना पड़ता है। सामाजिक रूढ़ियों की दासता का प्रभाव इतना प्रबल होता है कि शिक्षित लोगों को भी कभी कभी इन मदों पर विवश होकर खर्च करना पड़ता है।

(४) धार्मिक और नैतिक आदर्श (Religious and Social Ideals)—सादा जीवन और उच्च विचार (Simple living and high thinking) का आदर्श इस देश की संस्कृति का मुख्य अंग है। अतः यह आदर्श इस देश की भौतिक सम्पन्नता और सुख में बाधक सिद्ध हुआ है। यही कारण है कि आज हम इङ्गलैंड और अमरिका आदि देशों से भौतिक सभ्यता और उन्नति में पिछड़े हुए हैं।

(५) भौतिक कारण (Physical Factors)—जलवायु आदि जैसे भौतिक कारणों का भी प्रभाव किसी देश के जीवन स्तर पर पड़े बिना नहीं रह सकता। भारतवर्ष एक गर्म प्रधान देश होने के कारण यहां ग्रीष्म ऋतु में अधिक कपड़ों की आवश्यकता नहीं होती और शरद ऋतु में आग की गर्मी सर्दी को भगाने के लिए पर्याप्त है। इसी प्रकार बड़े मकानों की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि ग्रीष्म ऋतु में भीतर का चौक और सामने का मैदान पूर्ण सुख देने वाले हो जाते हैं और जाड़े में छोटे छोटे घरों में रहना बुरा प्रतीत नहीं होता।

(६) पर्याप्त तथा कुशल यातायात व संवाद के साधनों का अभाव (Absence of adequate and efficient means of transport and communication)—पिछड़े और उन्नतिशील देशों में पारस्परिक सम्पर्क न होना भी पिछड़े हुए देशों में नीचे जीवन स्तर का कारण है।

नीचे जीवन स्तर के परिणाम

(Effects of Low Standard of Living)

भारतवर्ष में मनुष्यों का जीवन स्तर बहुत नीचा है जिसके कारण अनेक दुष्परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं :—

(१) अति जनसंख्या (Over population)—भारतवर्ष के लोगों का जीवन बहुत नीचा होने के कारण आबादी बहुत बढ़ती जा रही है यहां तक कि अधिकांश को पेट भर भोजन भी नहीं मिलता।

(२) कमजोर शारीरिक रचना (Weak Constitution)—मनुष्यों को पर्याप्त खाने पीने और पहनने को न मिलने के कारण शारीरिक रचना बड़ी कमजोर होती है।

(३) दुर्बल सन्तान (Weak Generation)—ऐसे दुर्बल व्यक्तियों की सन्तानों का कमजोर होना स्वाभाविक है। ये सन्तान आगे चल कर अयोग्य

नागरिक सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि इनका शारीरिक एवं मानसिक विकास ठीक प्रकार नहीं होने पाता।

(४) अदक्षता और निर्धनता (Inefficency and Poverty) नीचा जीवन स्तर मनुष्य की कार्य कुशलता में ह्रास कर उसकी कमाने की शक्ति को गिरा देता है जिससे वह न्यूनतम पारिश्रमिक ही प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वह सदैव दरिद्रता के चंगुल में फंसा रहता है।

(५) विविध रोगों का शिकार (Victims to various diseases) कमजोर शरीर वाला मनुष्य बीमारियों को रोकने में अपने आपको असमर्थ पाता है और इसके फलस्वरूप वह सदैव अनेक प्रकार के रोगों में ग्रस्त रहता है जिससे उसका धनोपार्जन क्रियाओं में बाधा पहुंचती है।

जीवन स्तर को ऊँचा करने के उपाय

(Methods of raising the Standard of Living)

निम्नांकित उपाय भारतवर्ष में जीवन स्तर को ऊंचा करने में बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं —

(१) अति जनसंख्या पर नियंत्रण—*जीवन स्तर को बढ़ाने के लिए यह आवश्यक* है कि परिवार की जन संख्या को अधिक न बढ़ने दिया जाय। अधिक आयु में विवाह करके इन्द्रिय निग्रह तथा अन्य साधनों से परिवार की जनसंख्या को अत्यधिक बढ़ने से रोकना चाहिए जिससे उपभोग के लिए पदार्थ अधिक परिमाण में उपलब्ध हो सकें।

(२) शिक्षा का प्रसार—शिक्षा मनुष्य को समझदार एवं दूरदर्शी बनाती है। अतः शिक्षित मनुष्य अधिक सन्तान वृद्धि पर नियंत्रण कर अपने जीवन-स्तर को ऊंचा उठा सकता है। शिक्षा मनुष्य की कार्य-कुशलता को बढ़ाती है जिससे उसकी आय में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त वह अपनी सीमित आय का सदुपयोग कर उससे अधिकतम तृप्ति प्राप्त कर सकता है। अस्तु प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य करने के अतिरिक्त कृषि शिल्प और व्यापार शिक्षाओं की व्यवस्था भी आवश्यक है।

(३) लोक स्वास्थ्य आन्दोलन—सरकार की ओर से देश में स्वास्थ्य व स्वच्छता का प्रचार होना चाहिए जिससे लोग आरोग्यता व स्वच्छता से रहने के महत्व को भली भांति समझ सकें। स्वास्थ्य रक्षा के सिद्धान्तों को समझाने के अतिरिक्त स्थान स्थान पर चिकित्सालय बाग-बगीचों का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए।

(४) राष्ट्रीय आर्थिक योजना को शीघ्र कार्यान्वित करना—देश की आर्थिक उन्नति होने से वहाँ के निवासियों की आय बढ़ना स्वाभाविक है। योजना के अन्तर्गत कृषि उद्योग धन्धों और व्यापार आदि की उन्नति होकर देश की सम्पत्ति में वृद्धि होगी जिससे लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठ सकेगा।

(५) कृषि की उन्नति—भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है यहां ८० प्रतिशत से भी अधिक लोग खेती से अपना निर्वाह करते हैं। अतः यह आवश्यक है कि विशेषतया खेती को उन्नत किया जाय। अधिक से अधिक सिंचाई खाद तथा कृषि सम्बन्धी उपकरणों की सुविधा किसानों को मिलनी चाहिए। यदि हम चाहते हैं कि हमारी कृषि शीघ्र उन्नत हो, तो यह आवश्यक है कि हमारे कृषकों को शीघ्र ऋण के भार से मुक्त कर उनकी

लिए साख का उचित प्रबन्ध किया जाय। यह समस्या ऋण मुक्तक कानून तथा सहकारी साख समितियों द्वारा आसानी से हल की जा सकती है।

(६) यातायात के साधनों में वृद्धि हो—यातायात के साधन रेल, मोटर, जहाज की वृद्धि हो जिससे देश में अन्न, वस्त्र आदि उपभोग की वस्तुएँ बढ़ेंगी। यात्रा से मनुष्य बाहर का अनुभव प्राप्त करते हैं और अच्छी वस्तुओं का उपभोग करने लगते हैं।

(७) प्रवास—प्रवास का भी जीवन-स्तर पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि किसी जगह एक ही पेशे के आदमी अधिक हों और उनकी आय कम हो तो उनके वहाँ से बाहर अन्य अच्छे स्थान में जाकर बसने से उनकी आय में वृद्धि होगी और उससे जीवन स्तर ऊँचा होगा।

(८) सम्पत्ति के वितरण में विषमता कम होनी चाहिए—भारत देशवासियों का जीवन स्तर ऊँचा उठाने के लिए यह आवश्यक है कि देश की सम्पत्ति का वितरण समान हो। यह उचित नहीं कि मुट्ठी भर लोग विलासिताओं का उपभोग करें और अधिक जनसंख्या को पेट भर भोजन भी न मिले।

(९) जमींदारी प्रथा का अन्त हो—किसानों की आर्थिक दशा की उन्नति के लिए जमींदारी प्रथा का अन्त होना आवश्यक है।

(१०) मिल मालिकों का अत्यधिक मुनाफा कम हो—मिल मालिकों की शोषण प्रवृत्ति से आज श्रमिक वर्ग की दशा शोचनीय है। अस्तु मिल मालिकों का मुनाफा कम कर मजदूरों की आय बढ़ानी चाहिए।

(११) शराब आदि हानिकारक वस्तुओं का उपभोग बन्द हो—शराब अफीम गाँजा तम्बाकू आदि नशीली वस्तुओं का उपभोग बन्द होना चाहिए जिससे अनावश्यक खर्च कम होकर स्वास्थ्य अच्छा हो सके।

(१२) सामाजिक रीति रिवाजों पर अत्यधिक व अनावश्यक खर्च बन्द हो—सामाजिक रीति रिवाजों पर मनुष्य को बहुत अनावश्यक खर्च करना पड़ता है—यहाँ तक कि कई सालों की कमाई एक या दो दिन में समाप्त कर दी जाती है। ऐसा करना जीवन-स्तर को गिराना है। अस्तु सामाजिक सुधार और शिक्षा प्रसार से ही यह अवगुण दूर किया जा सकता है।

(१३) मुकद्दमेबाजी का व्यय कम किया जाय—भारतवर्ष में मुकद्दमेबाजी में अनन्त धन राशि नष्ट होती जाती है। किसान, जमींदार, व्यापारी सभी मुकद्दमेबाजी में अपना धन फूँकते हैं। पारस्परिक सहिष्णुता के अभाव में कभी-कभी छोटे झगड़े हजारों रुपये खर्च करवा देते हैं।

उच्च जीवन स्तर का महत्त्व
(Importance of High Standard of Living)

इस भौतिक सभ्यता के युग में उच्च जीवन स्तर का बड़ा महत्त्व है। व्यक्ति तथा समाज इसी में ही अपनी उन्नति निहित समझते हैं। अस्तु वे इसको ऊँचा उठाने के लिए भरसक प्रयत्न करते रहते हैं। इसी प्रकार का ज्ञान अनुसंधान तथा विकास की योजनाएँ बनाने में संलग्न रहना इसके महत्त्व को प्रकट करता है। वास्तव में उच्च जीवन ... भौतिक उन्नति का और नीचा जीवन-स्तर भौतिक अवनति का द्योतक माना गया है। महत्त्व व्यक्ति विशेष तथा समाज दोनों के लिए अत्यधिक है।

व्यक्तिगत महत्त्व--जिस व्यक्ति का जीवन-स्तर ऊँचा होता है उसकी शारीरिक एवं मानसिक कार्यक्षमता अधिक होती है और वह अधिक उत्पादन कर अधिक आय प्राप्त कर सकता है। उपभोग के क्षेत्र में भी उच्च जीवन-स्तर वाला व्यक्ति नीचे जीवन स्तर वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के कारण अधिक सन्तोष, तृप्ति और सुख प्राप्त कर सकता है। उच्च जीवन स्तर रखने वाला सुशिक्षित तथा सभ्य होने के कारण सन्तान आवश्यकता से अधिक बढ़ने नहीं देता है।

सामाजिक महत्त्व--उच्च जीवन-स्तर पर सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक उन्नति अवलंबित है। उच्च जीवन स्तर वाले समाज की कार्यक्षमता तथा उत्पादन-शक्ति बढ़ी हुई होती है। ऊँचे रहन-सहन वाला समाज सम्पत्ति और सुख से परिपूर्ण होता है। ऐसे समाज के सदस्य बड़े उन्नतिशील होते हैं, उन्हें वैज्ञानिक अनुसंधान तथा मानसिक, नैतिक और सांस्कृतिक विकास के लिए पर्याप्त समय मिलता है।

उच्च जीवन स्तर का आध्यात्मिक दृष्टि से विचार—कुछ महाशय भौतिक उन्नति की अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नति पर अधिक बल देते हैं। उनके अनुसार आत्मा और मस्तिष्क की उन्नति ही जीवन का सच्चा आदर्श है। ऐसे सज्जन उच्च भौतिक जीवन स्तर के बजाय 'सादा जीवन और उच्च विचार' को महत्त्व देते हैं। गांधी और टाल्सटाय जैसे बड़े-बड़े महात्माओं ने इसी आदर्श का प्रचार किया था। आर्थिक दृष्टिकोण से आलोचना करते हुए यह कहा जा सकता है कि यह केवल आदर्श की ही वस्तु है। इसके द्वारा वास्तविक आर्थिक उन्नति नहीं हो सकती, अस्तु यह मत अर्थशास्त्रियों को मान्य नहीं। इस भौतिक युग में जबकि संसार के अन्य देश अपनी अधिकतम भौतिक उन्नति की ओर अग्रसर हैं हम इस सैद्धान्तिक आदर्श के सहारे किस प्रकार उनके बीच में भौतिक उन्नति में अपना सिर ऊँचा रख सकते हैं। अस्तु, भारतीय नवयुवक गांधीजी के इस आदर्श से पूर्णतया सहमत नहीं।

क्या भारतवासियों का जीवन-स्तर ऊँचा उठ रहा है?—कुछ विद्वानों का मत है कि भारतवासियों का जीवन-स्तर पहले की अपेक्षा ऊँचा हो रहा है। वे कहते हैं कि हम सुख और विलास वस्तुओं का बाहर से आयात कर बड़ी मात्रा में उपभोग कर रहे हैं। उदाहरणार्थ, शहरों में सूती, ऊनी, कृत्रिम रेशम के वस्त्र, साइकिल, मोटर, अच्छे मकान, तेल, साबुन, पाउडर, सेफ्टीरेजर, ब्लेड्स आदि का उपभोग प्रचुर मात्रा में देखा जाता है, यहाँ तक कि श्रमिक भी चाय, सोडावाटर, बर्फ, बीड़ी सिगरेट सिनेमा आदि में अपनी आय को व्यय करता हुआ पाया जाता है। गाँवों में भी आधुनिक फैशन के कोट, कमीज बूट, तेल साबुन, कंघा, साइकिल आदि वस्तुओं का प्रचार बढ़ रहा है। विदेशी आयात, सुख और विलास की वस्तुओं तथा अच्छा मकान आदि का उपभोग उनके इस तर्क का आधारभूत है।

इस तर्क का खण्डन करते हुए यह कहा जा सकता है कि विदेशी वस्तुओं का ही आयात बढ़ रहा है न कि औसत भारतवासी के समस्त उपभोग का। इसके अतिरिक्त सुख और विलास की वस्तुओं का उपभोग केवल धनाढ्य लोगों द्वारा ही किया जाता है जो समस्त जनसंख्या का थोड़ा सा हिस्सा है। इस थोड़े से हिस्से के आधार पर यह कह देना कि भारतवासियों का जीवन-स्तर ऊँचा उठ रहा है न्याय-संगत नहीं है।

दूसरे मत वालों का कहना है कि भारतवासियों का जीवन-स्तर पहले की अपेक्षा गिर रहा है। सबसे प्रथम कारण यह है कि आजकल पुराने समय जैसे पौष्टिक और शुद्ध खाद्य-पदार्थ उपलब्ध ही नहीं होते जिसके कारण भारतवासी की औसत आयु बहुत कम हो रही है। पुराने लोग अपने रहने के लिए बड़े-बड़े मकान बना या खरीद लिया करते थे, परन्तु आज इन मकानों का जीर्णोद्धार भी कठिन है। आय के अनुपात में खर्च इतने अधिक हो गये हैं कि कोई बचत सम्भव ही नहीं जबकि पुराने आदमी कुछ बचाकर आभूषण आदि बना लिया करते थे। आजकल के किसान को अत्यधिक लगान देना पड़ता है और श्रमिक व किसान दोनों ही इतने ऋणी हैं कि ब्याज की ऊँची दर के कारण अपने जीवन-काल में ऋण से मुक्त नहीं होने पाते। ऐसी दशा में क्या जीवन-स्तर कायम रह सकता है?

निष्कर्ष—दोनों ओर की तर्कों को भली-भाँति जाँचने के पश्चात् निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि शहरों में तो अवश्य जीवन-स्तर में कुछ वृद्धि हुई है क्योंकि आजकल मोटरकार, सिनेमा, अच्छे मकान आदि एक औसत शहरी मनुष्य के उपभोग में सम्मिलित हैं। फिर भी औद्योगिक नगरों की काल कोठरियाँ भुलाई नहीं जा सकतीं। शराब, कर्ज और कई एक फिजूल खर्च उनके जीवन-स्तर को गिरा रहे हैं। गाँवों में लोगों की और भी शोचनीय दशा है। छोटे-कच्चे अंधेरे मकान, मोटा अन्न, मोटे व गन्दे वस्त्र, अत्यधिक ऋण, शराब, विवाह व मृत्यु भोज आदि बातें जीवन-स्तर को गिराने वाली वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं। सारांश यह है कि लगभग ८ प्रतिशत जन-संख्या का तो जीवन-स्तर वर्तमान समय में अवश्य बढ़ा है, परन्तु ९२ प्रतिशत मनुष्यों का जीवन-स्तर बजाय सुधरने के बिगड़ा ही है।

युद्धोत्तर जीवन-स्तर (Post-war Standard of Living)—युद्ध के समाप्त होने पर भी वस्तुओं के मूल्यों में कमी नहीं हुई। ऊँचे मूल्यों से व्यापारियों, उद्योगपतियों, ठेकेदारों आदि को युद्धकाल में और अब भी बड़ा लाभ पहुँच रहा है। उनका पहले ही जीवन-स्तर ऊँचा था, अब और भी ऊँचा हो गया है। परन्तु मध्य श्रेणी के मनुष्यों और श्रमिकों को बढ़ती हुई मँहगाई में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। मँहगाई का भत्ता मिलता अवश्य है, परन्तु वह वस्तुओं के बढ़े हुए मूल्यों से बहुत कम है। अस्तु, उनका रहन-सहन का दर्जा पहले की अपेक्षा और भी गिर गया है। किसानों की अवस्था अवश्य ही कुछ सुधर गई है, क्योंकि खेती की पैदावार का मूल्य बढ़ गया है। परन्तु फिर भी उनके जीवन-स्तर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, केवल फिजूल-खर्च बढ़ गया है। वे लोग शिक्षा के अभाव में मृत्यु-भोज, विवाह, मद्यपान आदि पर पहले की अपेक्षा अधिक व्यय कर रहे हैं। जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के उद्देश्य से परिपूर्ण कई आर्थिक योजनाएँ देश में बन चुकी हैं जिनमें से जन-योजना, गाँधी और बम्बई योजनाओं के नाम उल्लेखनीय हैं। भारत सरकार की प्रथम पञ्चवर्षीय योजना पूरी हो चुकी है तथा द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना भी समाप्ति पर है। योजना बनाने से अधिक महत्वपूर्ण उसको कार्यान्वित करना है। अत: इस दशा में शीघ्र कार्य प्रारम्भ करना नितान्त आवश्यक है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—भारतवासियों के रहन-सहन के स्तर के नीचा होने के क्या कारण हैं? इसे किस प्रकार ऊँचा किया जा सकता है? (उ० प्र० १९६०)

२—रहन-सहन के स्तर से आप क्या समझते हैं ? यह किन किन बातों पर निर्भर है ? (उ० प्र० १६५८)

३—जीवन मान से आप क्या अभिप्राय निकालते है ? क्या आवश्यकताओं की बहुलता सदा जीवन-मान मे वृद्धि उत्पन्न करती है ? अपने मत का समर्थन कीजिए। (अ० बो० १६५६)

४—भारतवासियो के अत्यधिक नीचे रहन सहन के दर्जे के क्या कारण है ? क्या आप इस मत से सहमत है कि भारतीय निर्धनता का मुख्य कारण जनाधिक्य है ? कारण सहित उत्तर दीजिए। (अ० बो० १६५४)

५—रहन-सहन के दर्जे से क्या आशय है ? एक भारतीय कृषक या श्रमिक के रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा करने के लिए आप क्या सुझाव देते है ? (अ० बो० १६५२)

६—भारतीय कारखाने मे काम करने वाले श्रमिक के जीवन-स्तर पर संक्षिप्त नोट लिखिये। (म० भा० १६५६)

७—रहन-सहन के दर्जे से क्या आशय है ? यह किन-किन बातों पर निर्भर है ? (उ० प्र० १६४८, सागर १६५०)

८—किसी व्यक्ति के रहन-सहन के दर्जे को निर्धारित करने वाली बात कौन-कौन सी है ? क्या आप 'सादा जीवन उच्च विचार' के आदर्श मे विश्वास रखते है ? क्या ऊँचे रहन-सहन के दर्जे से सदा कार्यक्षमता मे वृद्धि होती है। सकारण उत्तर दीजिए। (रा० बो० १६५३)

९—भारत के निर्धन व्यक्तियों के रहन सहन का दर्जा किस प्रकार स्थायी रूप से ऊँचा किया जा सकता है ? (नागपुर १६४६)

१०—रहन-सहन के दर्जे से क्या आशय है ? यह किन-किन बातों पर निर्भर है ? भारत मे रहन सहन का दर्जा ऊँचा करने का क्या महत्व है ? (सागर १६५०)

११—आवश्यकताओं और रहन-सहन के दर्जे मे क्या सम्बन्ध है ? क्या आवश्यकताओं की सख्या मे वृद्धि सदैव वाञ्छनीय होती है ? (पजाब १६४६)

१२—एक विदेशी पत्रकार का मत है कि 'भारत मे निर्धनता नही है।' उसकी दलीलें निम्नलिखित है : -

(अ) भारत मे राजा, महाराजाओ के विशाल महल और अक्षय खजाने है।

(आ) प्रतिदिन सिनेमा मे अपार भीड रहती है। क्या आप इस मत से सहमत है। (दिल्ली हा० से० १६४०)

१३—रहन सहन के स्तर पर टिप्पणी लिखिए।

(सागर १६५५, नागपुर १६५१, उ० प्र० १६४०, अ० बो० १६५१, ४३, ४०)

इण्टर एग्रीकल्चर परीक्षाएँ

१४—रहन-सहन के दर्जे का क्या आशय है ? क्या भारत में रहन-सहन का दर्जा नीचा है ? इसमे किस प्रकार सुधार हो सकता है ? (उ० प्र० १६५१, ४८)

१५—जीवन-स्तर से क्या समझते है ? देहातों मे यह नीचा क्यों है ? यह किस प्रकार ऊँचा किया जा सकता है ? (अ० बो० १६५५)

आय, व्यय और बचत
(Income Spending & Saving)

आय (Income)

ज्यों ज्यों भौतिक सभ्यता का विकास होता गया त्यों त्यों मनुष्य की आवश्यकताओं की तृप्ति अप्रत्यक्ष रूप में होने लगी। इस सभ्यता के प्रारम्भिक काल में आवश्यकताओं की तृप्ति प्रत्यक्ष रूप में होती थी। उदाहरणार्थ भूख लगी तो जंगल में फल तोड़कर या पशु पक्षी मार कर अपनी क्षुधा को शान्त कर लिया परन्तु आज कल इसके विपरीत देखा जाता है। आज मनुष्य कोई भी उद्यम करे उसे पारिश्रमिक मुद्रा (Money) के रूप में मिलेगा। वह उस मुद्रा से इच्छित वस्तुएँ खरीद कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। यही आवश्यकताओं की पूर्ति का अप्रत्यक्ष रूप है। अब भी गाँवों में आवश्यकताओं की पूर्ति अधिकतर प्रत्यक्ष रूप में होती है क्योंकि वहाँ का क्षेत्रफल और वहाँ के निवासियों की आवश्यकताएँ सीमित हैं। मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित हों अथवा असीमित इसे उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न अवश्य करना पड़ता है। जिन प्रयत्नों से धन का उपार्जन होता है आर्थिक प्रयत्न कहलाते हैं। आर्थिक प्रयत्न के फलस्वरूप जो धन प्राप्त होता है उसे हम आय कहते हैं। मनुष्य अपनी आय को उन वस्तुओं के खरीदने में खर्च करता है जिनके प्रयोग से उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है। आय के उस प्रयोग को जिससे मनुष्य की आवश्यकताएँ प्रत्यक्ष रूप से तृप्त की जाती हैं, अर्थशास्त्र में व्यय कहते हैं। प्रो० टी० एस० पन्मन ने प्रयत्न, आय और तृप्ति को निम्नांकित रेखा चित्र द्वारा समझाया है —
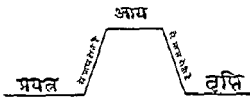
प्रयत्न, आय और तृप्ति
(Efforts, Income & Satisfaction)

आय का उपयोग (Disposal of Income)

मनुष्य प्राय अपनी आय का उपयोग दो प्रकार से करता है— व्यक्तिगत दृष्टि से और सामाजिक दृष्टि से, जैसा कि नीचे स्पष्ट किया गया है।

(१) व्यक्तिगत दृष्टि से उपयोग—(क) वर्तमान व्यय (Spending), (ख) संचय (Saving)

(स) अनुत्पादक सचय (Hoarding)
(गाड़ना या निरर्थक पड़ा रखना)।

(२) सामाजिक दृष्टि से उपयोग—(अ) अनिवार्य (Compulsory) व्यय,
(ब) ऐच्छिक (Voluntary) व्यय।

(१) व्यक्तिगत दृष्टि से उपयोग—मनुष्य अपनी आय का प्रयोग व्यक्तिगत रूप मे तीन प्रकार से कर सकता है—(अ) वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति मे खर्च की गई आय को उसका 'खर्च' या 'व्यय' (Spending) कहते है। उसकी आय का अधिकांश भाग इन्ही आवश्यकताओं की तृप्ति मे होता है। (ब) उसकी भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आय का जो भाग रखा जाता है उसे उसकी बचत या 'सचय (Saving) कहते है। इस प्रकार की सचित आय बैंक आदि को उधार देकर, कृषि उद्योग धन्धो, व्यापार आदि उत्पादक (Productive) कार्यों मे लगाकर रखी जाती है। (स) जो सचित आय जमीन मे गाढ कर तिजोरी म अथवा जेवर आदि के रूप म रखी जाती है उसे 'अनुत्पादक सचय या बचत (Hoarding) कहते है। इस प्रकार की बचत किसी भी उपयोग मे नही आती, बल्कि निरर्थक पडी रहती है। अस्तु इसका अनुत्पादक (Unproductive) सचय या बचत कहा जाता है।

(२) सामाजिक दृष्टि से उपयोग—सामाजिक दृष्टि से व्यय होने वाली आय को दो भागो म विभाजित कर सकते है—(अ) एक भाग वह है जिसमे हमे विविध करो (Taxes) के रूप मे केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो तथा नगरपालिका व जिला बोर्ड जैसी स्थानीय सस्थाओ को अनिवार्य रूप म देना पडता है। (ब) दूसरा भाग वह है जो हम अपनी इच्छानुसार दान आदि मे व्यय करते है।

आय के विविध उपयोग निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा पूर्ण स्पष्ट हो जाते है —
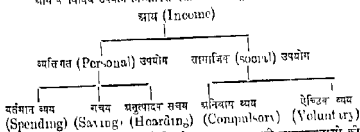
व्यय आय का वह प्रयोग है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष रूप से तृप्ति करता है।

व्यय (Spending)

बहुत स मनुष्य यह कह सकते है कि व्यय करना कोई कठिन कार्य नहीं है खर्च करना तो सभी जानते हैं। वास्तव मे देखा जाय तो यह गलत धारणा है। यह कहना बिल्कुल ठीक होगा कि व्यय करना एक कला है जिसका यथोचित ज्ञान सब को नही होता। बहुत से व्यक्ति ऐसे होत है जिन्हें यह नही मालूम कि धन का कब और किस प्रकार खर्च करना चाहिए जिससे अधिकतम तृप्ति प्राप्त हो सके। कभी तो वे कृपण हो बैठते है और कभी अपव्ययी होकर द्रव्य का निरर्थक कामो मे उडाने लग जाते है। यही कारण है कि वे अपने धन या आय से अधिकतम तृप्ति नहीं प्राप्त कर पाते।

व्यय का आर्थिक पहलू (Economic Aspect of Spending)

व्यय के सिद्धान्त (Principles of Spending)—मनुष्य को जो तृप्ति अपनी आय के व्यय से प्राप्त होती है वह दो बातों पर निर्भर है—(अ) व्यय के ढंग, और (आ) वस्तुओं का मूल्य।

(अ) व्यय के ढंग (Methods of Spending)—हम बहुधा यह सुनते हैं कि अमुक व्यक्ति व्यय करने में निपुण है और अमुक नहीं इसका तात्पर्य यह है कि व्यय कला में निपुण व्यक्ति कुछ व्यय के सिद्धान्तों को समझते हैं और अन्य नहीं।

व्यय की सफलता निम्नलिखित सिद्धान्तों पर निर्भर है :—

१—आवश्यकताओं का पूर्ण ज्ञान—सर्व प्रथम एक सफल क्रेता को अपनी आवश्यकताओं का पूरा पूरा ज्ञान होना चाहिए। उसे विक्रेता के बहकाने में अथवा अन्य लोगों की देखा देखी में वस्तुएँ नहीं खरीद लेनी चाहिए। उसे कोई वस्तु केवल इसलिए कि वह सस्ती या सुन्दर है नहीं खरीदनी चाहिए।

२—वस्तुओं के गुणों का विशेष ज्ञान—बहुधा यह देखा जाता है कि एक ही प्रयोजन के लिये कई एक वस्तुएँ बाजार में उपलब्ध होती हैं। ऐसी अवस्था में क्रेता को चाहिए कि वह उनके गुणों का निरक्षण करे और उस वस्तु को खरीदे जो वास्तविक रूप में अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध कर सके। बाहरी दिखावट या रंग रूप में आकर्षित होकर नहीं खरीद लेना चाहिए बल्कि टिकाऊपन का भी ध्यान रखना चाहिए।

३—सौदा करने में कुशलता—कुछ व्यक्तियों में यह गुण देखा जाता है कि वे दूसरों की अपेक्षा कम मूल्य पर वस्तुओं को खरीद लेते हैं। वे लोग साधारणतया विक्रेता जो मूल्य माँगे नहीं देते बल्कि भाव-ताव (Higgling) के पश्चात् देते हैं। साथ ही में यह भी आवश्यक है कि 'निश्चित मूल्य' (Fixed Rate) वाली दुकानों पर भाव-ताव में व्यर्थ समय नष्ट नहीं करना चाहिये।

४—उत्तम क्रय स्थान की जानकारी—सफल क्रेता को यह भी ज्ञान होना चाहिए कि किस स्थान पर अच्छी और सस्ती वस्तुएँ मिलती हैं। वहाँ तक आने जाने का कष्ट उठाने के लिए उसे सदैव तैयार रहना चाहिए।

५—उचित क्रय समय का ज्ञान—प्रत्येक वस्तु उचित समय पर खरीदी जानी चाहिए। जैसे ईंधन वर्षा ऋतु से पहले, गेहूँ फसल के तैयार होते ही खरीद लेना चाहिए।

६—वर्तमान और भावी आवश्यकताओं की तुलना—कुछ व्यक्ति वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओं के बीच तुलना करने में बड़े कुशल होते हैं। वे तुलनात्मक दृष्टि से इस बात का निर्णय कर लेते हैं कि किन आवश्यकताओं की पूर्ति पहले की जाय, अर्थात् व्यय करते समय का पूरा पूरा ध्यान रहता है।

(आ) वस्तुओं का मूल्य—उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त मनुष्य को जो तृप्ति अपनी आय के व्यय से प्राप्त होती है वह काफी अंश तक उन वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य पर निर्भर है जिन पर वह अपनी आय को खर्च करता है। यदि वस्तुएँ सस्ती मिलती हैं तो मनुष्य अपनी आय से अधिक वस्तुएँ खरीद कर अधिक तृप्ति प्राप्त कर सकेगा। यदि वस्तुएँ मँहगी हैं, तो वह अपनी आय से कम वस्तुएँ खरीद सकेगा। फलतः तृप्ति भी कम होगी।

व्यय स्थान (Places of Spending)

साधारणतया ग्राहक किसी दुकान पर जाकर अपनी रुचि के अनुसार देख भाल कर वस्तुएँ खरीद लेता है। परन्तु ऐसा भी देखा जाता है कि ग्राहक दुकानदार के पास न जाकर दुकानदार ग्राहक के पास पहुँच जाता है। नीचे हम सब प्रकार के व्यय स्थानों का वर्णन करेंगे —

(१) फेरीवाले (Hawkers)—ये लोग ग्राहकों के पास पहुँचने वाले व्यापारी होते हैं। सभी प्रकार की आवश्यक वस्तुएँ किसी ठेले टोकरी या गाठ में बाँध कर गली गली मोहल्ला व गाँव गाँव में जाकर बेचते हैं। साधारणतया इस देश में स्त्रियाँ दुकानों पर सामान खरीदने नहीं जातीं अतः फेरी वालों के द्वारा विलासिता की वस्तुएँ चूड़ियाँ गोटा किनारी कपड़ा बरतन आदि घर बैठे खरीद लेती हैं। इसी प्रकार छोटे छोटे गाँवों में स्थायी दुकान न होकर फेरीवाले ग्रामोपयोगी वस्तुएँ ले जाकर बेचते हैं।

(२) पैठ—(Periodical Markets) पैठ उन बाजारों को कहते हैं जो स्थान स्थान पर साप्ताहिक अर्द्ध साप्ताहिक या पाक्षिक अवधि में निश्चित दिनों व समय पर लगते हैं जिनमें लोग अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओं को खरीद लेते हैं। यह प्रथा कस्बों और गाँवों में अब भी प्रचलित है। पैठ के दिन गाँव वाले अपने धंधों को छुट्टी रख कर वस्तुएँ खरीदने में व्यस्त रहते हैं।

(३) मेले (Fairs)—आज भी इस देश में समय समय पर मेले लगते हैं जो विशेषतया धार्मिक होते हैं। इन मेलों में दूर दूर से यात्री व दर्शक आते हैं। बहुत से दुकानदार भी अपना अपना सामान बेचने के लिए लाते हैं। वहाँ मनुष्य को अपनी आवश्यक वस्तुओं के खरीदने की अधिक सुविधा मिल जाती है। पुष्कर गढ़मुक्तेश्वर और कुम्भ के मेले इस कोटि में आते हैं।

(४) दूकानें (Shops)—जिस प्रकार फेरी वाले पैठ और मेले गाँव वालों की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन हैं उसी प्रकार नगरों में स्थायी दूकानें देखी जाती हैं। इस प्रतियोगिता युग में ये दूकानें ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए बड़ी सजी हुई होती हैं। कई दूकानदार तो साधारण उपयोग की सब ही वस्तुएँ रखते हैं और कई केवल विशेष प्रकार की वस्तुएँ ही रखते हैं। तमाम प्रकार की वस्तुएँ एक ही स्थान पर मिलने के कारण वे विशिष्ट बाजार या मंडियाँ कहलाती हैं जैसे धान मंडी सब्जी मंडी कपड़ा बाजार सराफा बाजार आदि। नगरों में ऐसा भी देखा जाता है कि एक बड़ी दुकान को कई विभागों में विभक्त कर दिया जाता है जिसमें छोटी से लेकर बड़ी वस्तुएँ तक एक ही छत के नीचे उपलब्ध हो सकती हैं। ऐसी दुकानों को बहु विभागी भण्डार (Departmental Store) कहते हैं।

(५) प्रदर्शनी (Exhibition)—प्रदर्शनी या नुमायश क्रेता और विक्रेता के मध्य सम्पर्क स्थापित करने का सुअवसर प्रदान करती है। प्रदर्शनी में दूर दूर के उत्पादक शिल्पकार एवं व्यापारी अपनी अपनी वस्तुओं का प्रदर्शन करते हैं जिससे दर्शकों को अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओं के खरीदने के अतिरिक्त यह भी जानकारी हो जाती है कि अमुक वस्तु कहाँ अच्छी बनती पैदा होती या मिलती है। प्रदर्शनों का सबसे बड़ा लाभ यह है कि कई कारीगरों की वस्तुओं का विज्ञापन होता है जिससे उन वस्तुओं की माँग में वृद्धि होकर उनका उत्पादन बढ़ता है। इसके अतिरिक्त कारीगर को दूसरों की वस्तुओं से अपनी वस्तुओं का मुकाबला कर कमियां

को मालूम कर लेने का अवसर मिल जाता है जिससे माल की किस्म अच्छी हो सकती है।

व्यय का सामाजिक पहलू (Social Aspect of Spending)

अब तक हमने व्यय के आर्थिक पहलू पर विचार किया। अब इसके सामाजिक पहलू पर विचार किया जायगा। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका समाज से पृथक कोई अस्तित्व नहीं। अस्तु उसके कार्यों का प्रभाव उस तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि समाज के अन्य सदस्य भी उनसे प्रभावित होते हैं। मनुष्य की अन्य क्रियाओं की भाँति उसके व्यय करने की क्रिया का भी प्रभाव समाज पर पड़ता है। उदाहरण के लिए, मनुष्य स्वास्थ्य-वर्धक और उत्तम पदार्थों पर अपनी आय व्यय कर, अपनी कार्य-कुशलता में वृद्धि कर सकता है, समाज के धनी होने में सहयोग दे सकता है, और अन्य सदस्यों के लिए आदर्श स्थापित कर सकता है। इसके विपरीत, वह मादक तथा हानिकारक वस्तुओं के प्रयोग में अपनी कार्य कुशलता में ह्रास कर समाज को निर्धन बना सकता है और अन्य सदस्यों को अपव्यय करने के लिए गलत रास्ता बता सकता है। इस प्रकार मनुष्य के प्रत्येक भले या बुरे कार्य का प्रभाव समाज के अन्य सदस्यों पर पड़ सकता है। संक्षेप में, समाज की उन्नति काफी अंश तक लोगों के व्यय करने के ढंग पर निर्भर है। यदि व्यय का ढंग अच्छा है, तो समाज की उन्नति होगी, अन्यथा हानि।

व्यक्तिगत व्यय का समाज पर प्रभाव दो प्रकार से देखा जा सकता है :—
(अ) उत्पत्ति पर प्रभाव, (आ) उपभोग पर प्रभाव।

(अ) व्यय का उत्पत्ति पर प्रभाव (Effects on Production)

(१) यह तो सभी जानते है कि उत्पत्ति माँग पर निर्भर है। जिन वस्तुओं की माँग होती है उनकी उत्पत्ति की जाती है। जिस वस्तु पर हम व्यय करते है उसकी माँग पैदा हो जाती है और उसकी उत्पत्ति के लिए साधन जुटने लग जाते है। धीरे धीरे उस वस्तु की उत्पत्ति की जाने लगती है।

(२) वह वस्तु जिसकी माँग बढ़ती है यदि विलास-वस्तु है, तो उपभोक्ता की कार्यकुशलता गिर जायगी जिसका फल केवल उस उपभोक्ता को ही नहीं वरन् सारे समाज को भुगतना पड़ेगा। कारण, जब उस वस्तु की माँग है, तो उसकी उत्पत्ति अवश्य होगी। देश की पूँजी और श्रम का एक भाग इस ओर खिंच जायेगा जिसका प्रयोग अन्य आवश्यक और लाभदायक उद्योग-धन्धों में किया जा सकता है। इसका यह परिणाम होगा कि आवश्यक और दक्षतावर्धक पदार्थों की उत्पत्ति घट जायगी।

(३) यदि कोई मनुष्य अपनी आय को सोच-समझ कर स्वास्थ्य वर्धक भोजन, वस्त्र तथा मकान आदि पर व्यय करता है, तो उसकी कार्य-कुशलता और उत्पादन शक्ति में अवश्य वृद्धि होती है।

(४) व्यक्तिगत व्यय के फलस्वरूप यदि श्रमिकों को ऐसे कारखानों में काम करना पड़ता है जहाँ आरोग्यवर्धक जलवायु और अनुकूल वातावरण का पूर्ण अभाव हो, तो समाज को बड़ी हानि पहुँचेगी।

(५) कई उद्योग धन्धे ऐसे होते है जिनमें उत्पत्ति बड़े पैमाने पर की जाती है जिसके कारण प्रति इकाई उत्पत्ति-व्यय कम हो जाता है। यदि लोग इन उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं पर व्यय करते है, तो समाज को लाभ होता है। इसके [illegible], उन उद्योगों की बनी हुई वस्तुओं पर जिनका उत्पत्ति व्यय अधिक है, व्यय करने में समाज की हानि है।

(अ) व्यय का उपभोग पर प्रभाव (Effects on Consumption)

(१) धनाढ्य व्यक्तियों द्वारा कुछ विलास वस्तुओं के अत्यधिक उपभोग से माँग बढ़ जाने के कारण उनके मूल्य में इतनी वृद्धि हो जायगी कि साधारण स्थिति के लोग उन वस्तुओं के उपभोग उपयुक्त मात्रा में नहीं कर सकेंगे। इसके फलस्वरूप उनके स्वास्थ्य बल उत्साह और कार्यकुशलता में शिथिलता होती जायगी। इससे भविष्य में उत्पत्ति और भी कम हो जायगी जिससे सारे समाज की हानि होगी।

(२) मनुष्य में दूसरों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति द्वारा ही आज सामाजिक व जन व रुढ़ियाँ शक्तिशाली बनी हुई हैं। यदि एक व्यक्ति धूम्रपान या मद्यपान आरम्भ करता है तो उसके सम्पर्क में रहने वाले सभी धीरे धीरे इस व्यसन को ग्रहण कर लेते हैं और फिर उन लोगों के प्रभाव से इसका प्रचार बढ़ता ही जाता है जिसके फलस्वरूप समाज को बड़ी हानि पहुँचती है। इस प्रकार मनुष्य के बुरे उपभोग का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है।

व्यय में राज्य द्वारा हस्तक्षेप (State Intervention in Spending)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यदि लोग ठीक समझ कर अपने द्रव्य को उचित ढंग से व्यय नहीं करते तो समाज पर इसका बुरा असर पड़ता है। उत्पत्ति कम हो जाती है, उपभोक्ता की कार्यकुशलता में कमी आने लगती है और धीरे धीरे उस जाति का जीवन स्तर गिरने लगता है। अतएव सामाजिक दृष्टि से यह देखना आवश्यक है कि लोग अपने द्रव्य को किस प्रकार व्यय करते हैं।

विविध विचारधाराएं—इस विषय पर कि राज्य द्वारा व्यय में हस्तक्षेप होना चाहिए या नहीं दो विचारधाराएं प्रचलित हैं। जो व्यक्ति हस्तक्षेप के विरुद्ध हैं उनका कहना है कि सरकार का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह किसी व्यक्तिगत व्यय में हस्तक्षेप करे। प्रत्येक व्यक्ति की आय उसके परिश्रम का फल है अस्तु उसके उपभोग में सरकार द्वारा हस्तक्षेप होना उचित नहीं। सरकार का कर्त्तव्य तो इतना ही है कि वह देश की रक्षा का प्रबन्ध करे और देश के भीतर शान्ति व विधि स्थापित करे। जो व्यक्ति हस्तक्षेप के पक्ष में हैं उनका कहना है कि राज्य को सार्वजनिक दृष्टि में रखते हुए व्यय का नियन्त्रण करना चाहिए क्योंकि व्यक्तिगत व्यय के अनुचित ढंग का समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है। व्यक्तिगत पूर्ण स्वतन्त्रता समाज के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती है। उचित धारणा इन दोनों मतों के मध्य है। आजकल अधिकांश लोगों का यह मत है कि साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आय के उपभोग में स्वतन्त्रता होनी चाहिए किन्तु यदि उसके उपभोग में स्वयं का अथवा समाज का अनिष्ट दृष्टिगोचर होता हो तो राज्य द्वारा अवश्य हस्तक्षेप होना चाहिए।

व्यय में राज्य द्वारा हस्तक्षेप के ढंग—व्यय में राज्य द्वारा निम्न हस्तक्षेप किया जाता है :—

(१) विधि द्वारा (By Law)—कानून द्वारा किसी वस्तु विशेष का उपभोग बन्द किया जा सकता है अथवा उसको प्रोत्साहन दिया जा सकता है। प्राचीन समय में यूरुप के कई देशों में प्रचलित विलास वस्तुओं के उपभोग निषेध कानून (Sumptuary Laws) इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में स्पेन में विलास वस्तुओं के बढ़ते हुए उपभोग को बन्द करने के लिए उसने निर्माण

विक्रय तथा उपभोग पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। इसी प्रकार इंगलैंड में चार्ल्स द्वितीय के शासन काल में ऊनी वस्त्रों के व्यवसाय को प्रोत्साहन देने के लिये एक कानून बना जिसके द्वारा मृतक शरीर को भी ऊनी कफन में लपेट कर गाड़ना अनिवार्य था।

भारतवर्ष में हस्तक्षेप—भारतवर्ष में इस प्रकार का राज्य नियन्त्रण प्राचीन काल से ही प्रचलित है। आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि मौर्य शासनकाल में अनुचित वस्तुओं के उपभोग को रोकने के लिए इस प्रकार के कई कानून प्रचलित थे। उनके अनुसार चार तोले मदिरा भी सरकारी आज्ञा बिना केवल उस व्यक्ति को दी जाय जिसके चाल-चलन के बारे में पूर्ण जानकारी हो और मदिरापान साधारणतया मदिरालय में ही किया जाय। इसके अतिरिक्त मदिरालयों में सरकारी गुप्तचरों की व्यवस्था भी कौटिल्य अर्थशास्त्र द्वारा पाई जाती है।

आधुनिक काल में भी भारतवर्ष में इस प्रकार के अनेक कानून देखे जाते हैं। जैसे मदिरा, अफीम, गाँजा, कोकीन, तिजाब, विष आदि वस्तुओं के रखने, विक्रय तथा उपभोग पर प्रतिबन्ध लगाये गये है। इनके विक्रेता को राज्य से लाइसेंस प्राप्त करना पड़ता है तथा राज्य द्वारा इनके विक्रय स्थान और समय भी निश्चित किये जाते है। आजकल की मद्यनिषेध (Prohibition) नीति इसी नियम की प्रतीक है। घी, दूध आदि खाद्य-पदार्थों के अशुद्ध मिश्रण (Adulteration) को रोकने के लिए भी सरकार द्वारा नियम बनाये गये है।

युद्धकाल मे आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति कम हो जाने के कारण उनके भविष्य में न मिलने के भय से लोग अपने उपभोग से अधिक मात्रा मे वस्तुओं का निरर्थक संग्रह करना प्रारम्भ कर देते हैं जिससे जन साधारण का उपभोग कम हो जाता है। अस्तु राशनिंग तथा मूल्य-नियन्त्रण द्वारा जीवनोपयोगी वस्तुओं की वितरण व्यवस्था की जाती है। युद्धोत्तर काल में अर्थात् आजकल भी उसी विषम परिस्थिति के कारण राशनिंग और मूल्य-नियन्त्रण व्यवस्था राज्य द्वारा प्रचलित है। अफीम आदि स्वास्थ्य-नाशक वस्तुओं का भी राशनिंग प्रारम्भ हो गया है जिससे कुछ समय पश्चात् लोग इस व्यसन से मुक्त हो सकें।

(२) मूल्य-निर्धारण द्वारा (By Fixing Prices) - कई वस्तुओं का अधिकतम, न्यूनतम या कोई उचित मूल्य निश्चित कर दिया जाता है, जैसे—गुड़, शक्कर, गेहूँ, कपड़ा आदि का। इसी प्रकार किसानों को आर्थिक शोषण से बचाने के लिए कई प्रांतों में ईख के न्यूनतम भाव निश्चित कर दिये गये हैं। यह मूल्य को प्रभावित करने का प्रत्यक्ष रूप है।

(३) कर द्वारा (By Taxes)—राज्य द्वारा किसी वस्तु का उपभोग कम करना चाहे तो उस पर कर लगा दिया जाता है। जैसे मदिरा, बीड़ी, सिगरेट आदि पर भारी कर लगाकर इनके उपभोग को कम किया जा सकता है। इस रीति द्वारा मूल्य अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित हो जाते हैं। यदि विदेशों से आने वाली वस्तुओं का उपभोग रोका जाय, तो भारी आयात कर किया जाता है।

(४) आर्थिक सहायता द्वारा (By Subsidy)—यदि सरकार द्वारा किसी वस्तु की उत्पत्ति या उपभोग में वृद्धि अभीष्ट है तो उसके उत्पादकों का आर्थिक या अन्य रूप में सहायता देकर प्रोत्साहित किया जाता है।

सचय (Saving)—साधारणतया हम अपनी आय को वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति में ही व्यय नहीं कर देते। वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति करते समय हम भावी आवश्यकताओं का भी ध्यान रखते हैं। इसलिए हम अपनी आय का कुछ भाग भविष्य के लिए बचाते हैं जिससे आगे चलकर आवश्यकताओं की तृप्ति में कोई बाधा न पड़े। इन बची हुई रकम को कुछ लोग तो जमीन में गाड़ देते हैं अथवा तिजोरी में बन्द कर रखे रहते हैं और कुछ उत्पादक कार्यों में लगाते हैं। सचित द्रव्य का वह भाग जो भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी उत्पादक (Productive) रूप में रखा जाता है, सचय (Saving) कहलाता है।

अनुत्पादक सचय (Hoarding)—सचित द्रव्य का वह भाग जो भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी अनुत्पादक रूप में रखा जाय अनुत्पादक सचय (Hoarding) कहलाता है।

सचय और अनुत्पादक सचय में अन्तर
(Difference between Saving and Hoarding)

दोनों ही भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सचय किया द्रव्य है परन्तु जो भाग उत्पादक कार्यों में लगाया जाता है वह 'सचय' कहलाता है और जो भाग अनुत्पादक कार्यों में लगाया जाता है, वह 'अनुत्पादक सचय है। इसको एक उदाहरण से इस प्रकार समझिए। किसी व्यक्ति के पास तीन हजार रुपये सचित है। इसमें से यदि वह एक हजार रुपया बैंक में ब्याज पर जमा कर देता है या किसी व्यवसाय में लगा देता है, और शेष दो हजार को तिजोरी में बन्द कर रखता है या जमीन में गाड़ देता है, तो एक हजार रुपया तो उसका 'सचय' (Saving) है, और शेष दो हजार रुपया 'अनुत्पादक सचय' (Hoarding) है।

सचय और अनुत्पादक सचय तुलनात्मक दृष्टि से—सचित द्रव्य सचय करने वाले तथा देश दोनों को ही लाभदायक है। बैंक में रुपया जमा करने वाला अपने रुपयों को आवश्यकता के समय काम में तो ला सकता है, परन्तु साथ ही साथ जब तक बैंक में जमा रहता है, ब्याज और मिलता है। यह रुपया बैंक द्वारा उद्योगपतियों, व्यापारियों, कृषकों आदि को उधार दिया जाता है जिससे देश की आर्थिक उन्नति होती है। इसके विपरीत अनुत्पादक सचय उसके स्वामी और देश के लिए एक बड़ी हानि है। निरर्थक रुपया बन्द पड़ा या गड़ा रहने से चलन की मात्रा में कमी हो जाती है। जिससे विनिमय-सचालन में कठिनाइयाँ तथा असुविधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। यह द्रव्य कार्य में नहीं आने के कारण इसकी कोई उपयोगिता नहीं होती, अस्तु इससे देश के आर्थिक विकास में कोई सहायता नहीं मिलती है। सक्षेप में, सचय ही देश की उन्नति व समृद्धि का मूल तत्व है।

सचय के उद्देश्य (Objects of Saving)—मनुष्य निम्नलिखित उद्देश्यों से प्रेरित होकर सचय करता है :—(१) व्यापार में सफलता प्राप्त करने के लिए, (२) वृद्धावस्था के लिए साधन उपस्थित करने के लिए, (३) अपने बच्चों और आश्रितों के लिए साधन उपस्थित करने के लिए, व (४) सामाजिक प्रतिष्ठा व ख्याति प्राप्त करने के लिए।

सचय निर्णय कैसे किया जाय ? सम सीमान्त उपयोगिता के प्रसिद्ध नियम द्वारा मनुष्य को अपने व्ययों के समायोजन मे बडी सहायता मिलती है । इसके द्वारा एक विवेकशील मनुष्य अपनी आय की वर्तमान और भावी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस प्रकार समायोजन करता है कि आय का कुछ भाग भविष्य के लिए भी बचा लिया जाता है ।

व्यय और सचय का सम्बन्ध

(Relation between Spending & Saving)

व्यय और सचय का सम्बन्ध अग्रजी अर्थशास्त्री प्रो० पन्सन द्वारा भली भाति समझाया गया है । व्यय और सचय म एक बात समान है दोनो म द्रव्य का वस्तुओ और सेवाओ के साथ विनिमय होता है किन्तु अन्तर यह है कि इन वस्तुओ और सेवाओ का उपयोग समान नही होता है । व्यय मे वस्तुए और सेवाए आवश्यकताओ की पूर्ति के प्रत्यक्ष रूप मे प्रयुक्त की जाती है सचय मे ये वस्तुए और सेवाए धनोत्पादन के लिए प्रयुक्त की जाती है और इसलिए प्रत्यक्ष रूप से नही अपितु अप्रत्यक्ष रूप से आवश्यकताओ की पूर्ति करती है । उदाहरणार्थ यदि कोई मनुष्य जो १०० पौंड अतिरिक्त फर्नीचर (उपस्कर) पर व्यय करने को था अपना विचार बदल कर इस राशि से नवीन आविष्कार और यन्त्र खरीदता है जिसकी सहायता से वह उतने ही समय मे अधिक काय कर सकेगा तो वह स्वय के बदल सचय को स्थानापन्न करेगा दोनों दशाओ म खरीद ही होती किन्तु खरीदी हुई वस्तु को उपभोग के स्थान पर उत्पादन काय मे लिया गया है ।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि व्यय और सचय दोनो हमारे प्रतिदिन के आर्थिक जीवन के आवश्यक अग हैं । धन की उत्पत्ति केवल इसलिए होता है कि इसके उपभोग की इच्छा विद्यमान है । किन्तु क्योकि पू जी जो सचय का परिणाम है धन का उत्पत्ति का मुख्य साधन है इसलिए धन को वतमान उपयोग के लिए ही नही वरन भविष्य के उपभोग के लिए भी उत्पन्न किया जाता है ।[1]

सामाजिक दृष्टि से व्यय अधिक महत्वशाली है या सचय ?

व्यय और सचय द्रव्य को प्रयोग करने के दो ढग है । दोना का उद्देश्य मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति करना है । अन्तर केवल इतना ही है कि व्यय स वतमान आवश्यकताओ की पूर्ति होती है और सचय से भावी आवश्यकताओ की । व्यय और सचय दोनो ही आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं ।

व्यय (Spending)—कुछ लोगो का कहना है कि अधिक व्यय करने से ही समाज की उन्नति हो सकती है । अपनी इस बात को सिद्ध करने के लिए वे इस प्रकार तक प्रस्तुत करते हैं । यदि लोग अधिक व्यय करते है तो वस्तुओ की माग म वृद्धि होगी । इससे उत्पत्ति बढेगी और जब उत्पत्ति मे वृद्धि होगी तो पू जी और श्रम को अधिक काम मिलने लगेगा । इसके फलस्वरूप बेकारी की समस्या हल हो जायगी और मजदूरो की मजदूरी बढ जायगी । व्यापारियो और उद्योगपतियो को भी अधिक लाभ होने लगेगा । इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र म पर्याप्त उन्नति होगी । लोगो का जीवन स्तर ऊचा हो जायगा और देश की आर्थिक दशा सुधर जायगी । यह बात कहा तक

1—*Economics of Everyday Life*—Penson Vol 1 p 51 52

ठीक है यही हम देखना है। उत्पत्ति बढाने के लिये अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। पूँजी की मात्रा तभी बढ सकती है जब कि लोग अपनी आय का पर्याप्त भाग बचाएँ। यदि लोग अपनी पूरी आय वर्तमान आवश्यकताओं की ही पूर्ति मे लगा देंगे तो फिर बचत कहा से हो सकेगी। बचत या सचय न होने से भविष्य में पूँजी कहा से आयगी। देश की उन्नति रुक जायगी और तरह तरह के आर्थिक कष्टो का सामना हमे करना पडगा। अस्तु यह सोचना भूल है कि अत्यधिक व्यय करने मे समाज की भलाई है।

सचय या बचत (Saving)

इसके विपरीत कुछ लोगो का यह विश्वास है कि अधिक सचय करने से व्यक्ति और समाज दोनो की ही उन्नति होगी। अधिक सचय होने पर ही पूँजी की मात्रा बढेगी। इसकी सहायता से उत्पत्ति बडे पैमाने पर की जाने लगेगी। इस प्रकार उन्नति का चक्कर चलता रहेगा। किन्तु प्रश्न यह है कि उत्पादित वस्तुओ को खरीदेगा कौन? जब लोग व्यय कम करेंगे तो वस्तुओ की माग कहाँ से होगी? कैसे उनका क्रय विक्रय होगा? ग्राहको की कमी होने के कारण वस्तुएँ गोदामो मे पडी पडी सडने लगगी। उत्पादको को बडी क्षति पहुँचेगी जिसके फलस्वरूप वे उत्पत्ति का कम कर देंगे। उत्पत्ति को घटाने से लोग बेकार हो जायेंगे। उनके आर्थिक जीवन को एक गहरा धक्का लगेगा। समाज की भी उन्नति रुक जायगी। अनेक आर्थिक समस्याओ के कारण समाज का गला घुटने लगेगा।

निष्कर्ष (Conclusion)—इससे यह सिद्ध होता है कि व्यय और सचय दोनो ही आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार दो पैर मनुष्य के चलने के लिये और दो पख पक्षी के उडने के लिये आवश्यक हैं उसी प्रकार आर्थिक जीवन के लिये व्यय और सचय दोनो का ही होना परम आवश्यक है। व्यय कम होने से वस्तुओ की माग कम हो जायगी और इससे बेकारी बढेगी। इसके विपरीत सचय कम होने से पूँजी की वृद्धि मे न्यूनता होगी जिससे उद्योग धन्धा और व्यवसायो की उन्नति मे रुकावट पहुँचेगी। अस्तु व्यय और सचय दोनो ही सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—व्यय और बचत का सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये। किसी व्यक्ति के अपव्यय (Extravagance) का समाज पर क्या प्रभाव पडता है? सरकार इस अपव्यय को किस प्रकार रोक सकती है? (उ० प्र० १९५६)

२—क्या समाज के लिये यह बात महत्त्व की है कि कोई व्यक्ति अपनी आय को किस प्रकार व्यय करता है? क्या समाज का व्यक्ति की व्यय करने की स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप वाछनीय है? (उ० प्र० १९४०, ३७ ३४ २८)

३—सचय और अनुत्पादक सचय पर टिप्पणी लिखिए। (अ० बो० १९५४)

४—बचत (Saving), व्यय और अनुत्पादक सचय में क्या अन्तर है ? बिना किसी सोच-विचार के व्यय करने का क्या सामाजिक प्रभाव है ? पूर्णतया स्पष्ट कीजिए। (अ० बो० १९५१)

५—'सामाजिक दृष्टि से बचत व्यय से श्रेष्ठ है।' क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? स्पष्टतया व्याख्या कीजिए। (अ० बो० १९४४)

६—सचय, व्यय और अनुत्पादक सचय में भेद दर्शाइये। विवेकहीन व्यय के क्या सामाजिक परिणाम होते हैं ? (रा० बो० १९५२)

७—'आर्थिक उन्नति के लिये संचयन तथा व्यय दोनों समान आवश्यक हैं।"—समीक्षा कीजिए। प्रचलित भारतीय राष्ट्रीय बचत योजनाओं के बारे में आप क्या जानते हैं ? (सागर १९५५)

८—बचत को किस प्रकार प्रोत्साहित किया जा सकता है ? बचत का आर्थिक प्रभाव बताइए। (सागर १९५१)

९—बचत, व्यय और सचय का अन्तर समझाइये। असावधानी से व्यय करने के क्या सामाजिक प्रभाव होते हैं ? स्पष्ट कीजिए। (म० भा० १९५१)

१०—'सचय' की आदत से क्या समझते हैं ? इसके दुष्परिणाम क्या होते हैं ? (पंजाब १९५१)

११—'बचत', 'व्यय' और 'सचय' का अन्तर स्पष्ट कीजिए। (रा० बो० १९५२, म० भा० १९५५)

१२—सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—व्यय और बचत। (उ० प्र० १९५४, ४८, ४६, म० भा० १९५५, ५३, दिल्ली हा० से० १९५०)

अध्याय १६

विलासिताएँ और अपव्यय
(Luxuries and Waste)

परिभाषा (Definition)—विलासिताएँ वे वस्तुएँ है जिनका उपभोग मनुष्य जीवन के लिए न तो आवश्यक है और न उसमें कार्य-कुशलता मे कोई वृद्धि होती है। प्रो० जोड ने विलासिताओं का व्यर्थ की आवश्यकताओं की तृप्ति कह कर परिभाषित किया है। प्रो० एली ने इसे अत्यधिक उपभोग वर्णित किया है। विलासिताओं के उपभोग के लिए मनुष्य जीवन मे कोई अनिवार्यता प्रतीत नही होती। प्रायः अनिवार्य आवश्यकताओं मे जीवनार्थ, रूढ तथा दक्षतार्थ आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुओं के अतिरिक्त सुख-वस्तुएँ भी सम्मिलित की जाती है। विलासिताएँ इनमें सम्मिलित नही होने के कारण अनावश्यक वस्तुएँ सिद्ध होती है। इसको अधिक स्पष्ट करते हुए यो कहा जा सकता है कि विलासिताएँ वे वस्तु हैं, जिनके उपभोग से अत्यधिक आनन्द प्राप्त होता है, परन्तु उनसे कार्य-कुशलता नही बढ़ती, जबकि उनके उपभोग के अभाव मे न तो कार्य-कुशलता गिरती है और न कोई वेदना ही होती है।

विलासिता एक सापेक्षिक (Relative) शब्द है—विलासिता एक सापेक्षिक शब्द है, क्योंकि इसका अर्थ देश, काल, स्वभाव और मनुष्य के जीवन-स्तर से पर्याप्त भिन्नता रखता है। उदाहरण के लिये, चाय का प्रयोग भारतवर्ष मे लगभग ५० वर्ष पूर्व मध्य श्रेणी के मनुष्यों के लिए भी विलासिता समझी जाती थी। परन्तु आज वही वस्तु उनके लिए आवश्यक हो गई है, यद्यपि दूर-स्थित ग्राम मे रहने वाले निर्धन किसानों के लिए अब भी वह विलासिता ही है। लेकिन इङ्गलैंड मे शीत जलवायु के कारण चाय अंग्रेज किसान के लिए अनिवार्य है, जबकि वही वस्तु भारतीय किसान के लिए विलासिता है। इस प्रकार नई आविष्कृत वस्तुएँ प्रारम्भ में विलासिताओं की कोटि मे आती है, परन्तु धीरे-धीरे जब लोग उनके उपभोग के आदी हो जाते हैं, तब वे ही अनिवार्य वस्तुएँ हो जाती है, जैसे मोटरकार, साईकिल, ग्रामोफोन इत्यादि।

विलासिताओं की समस्या (The Problem of Luxuries)—अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि सामाजिक दृष्टि से विलासिताओं पर किया गया व्यय लाभप्रद है अथवा हानिकारक है। यह एक टेढी समस्या है। इस पर भिन्न-भिन्न राय प्रकट की जाती हैं। कुछ लोगों का यह कहना है कि जीवन मे विलास-वस्तुओं का उपभोग भी होना चाहिए, अन्यथा जीवन मे कोई परिवर्तन या आनन्द नहीं होगा और मनुष्य बोझा ढोने वाले पशु की भांति हो जावेगा। विलास-वस्तुओं के उपभोग से

मनुष्य भौतिक सभ्यता में अग्रसर होता जाता है जिससे समाज की उन्नति होती है। दूसरे पक्ष वाले इसके बिल्कुल विपरीत ही कहते हैं। उनके मतानुसार विलास वस्तुओं पर किया गया व्यय निन्दनीय है। इससे मनुष्य विलासी और आलसी हो जाते हैं और उनकी कार्य कुशलता गिर जाती है। इस कारण समाज की भी अवनति हो जाती है। इसके पूर्व कि इस विषय पर निष्पक्ष राय प्रकट की जाय, यह जान लेना आवश्यक है कि विलासिताओं के पक्ष और विपक्ष में कौन-कौन सी तर्क प्रस्तुत की जाती हैं।

विलासिताओं के पक्ष में तर्क

लाभ (Advantages)

(१) **मानव समाज की उन्नति और सभ्यता के लिये आवश्यक है**—विलासिताओं की वृद्धि मानव समाज की उन्नति और सभ्यता के लिए आवश्यक है। यदि हमारे जीवन में थोड़ी बहुत भी विलासिताएँ नहीं होंगी तो हमारा जीवन भी बोझा ढोने वाले पशुओं के समान नीरस और बेकार हो जायगा। मनुष्य की आवश्यकताओं को बढ़ने के साथ-साथ सभ्यता का भी विकास होता है।

(२) **कर्मशील बनने का प्रोत्साहन मिलता है**—जब मनुष्य दूसरों को विलास वस्तुओं का उपभोग करते हुए देखता है, तो वह भी उनकी प्राप्ति में लग जाता है और अपने प्रयत्नों से आखिरकार अपनी अभिलाषाओं को पूर्ण करने में समर्थ हो ही जाता है। आज भी यदि मनुष्य कठिन से कठिन परिश्रम करता है तो वह इन्हीं अभिलाषाओं की पूर्ति से प्रेरित होकर करता है।

(३) **कला की उन्नति होती है**—विलास वस्तुएँ उत्तम और कलापूर्ण होती हैं। उनके बनाने में चतुराई, दक्षता तथा कलात्मक ज्ञान की आवश्यकता होती है। अस्तु उनके उपभोग से उत्तम श्रेणी की कारीगरी को प्रोत्साहन मिलता है।

(४) **रोजगार बढ़ता और बेकारी कम होती है**—विलास-वस्तुओं पर व्यय करने से उन वस्तुओं की माँग बढ़ती है जिससे उद्योग-धन्धा और वाणिज्य व्यवसाय में उन्नति होती है। इसके परिणाम स्वरूप रोजगार में उन्नति होती है जिससे बेकारी की समस्या कुछ हद तक हल हो जाती है।

(५) **जीवन स्तर ऊँचा होकर जन संख्या में कमी हो जाती है**—इन वस्तुओं के प्रयोग से मनुष्य के जीवन स्तर में उन्नति होती है और जन-संख्या में अत्यधिक वृद्धि नहीं होने पाती, क्योंकि लोग अपने जीवन-स्तर को ऊँचा बनाये रखने की दृष्टि से जन्म निरोधक उपाय काम में लाते हैं।

(६) **मानव जीवन अधिक सुखमय और समृद्धिशाली हो जाता है**—विलास वस्तुओं का उपभोग भौतिक उन्नति व सम्पन्नता का चिन्ह है। इससे वह अपनी आवश्यकताओं की तृप्ति कर सकता है जिसके कारण उसका जीवन अधिक सुखी और समृद्धिशाली हो जाता है।

(७) **आविष्कारों को प्रोत्साहन मिलता है**—विलासिताओं की आवश्यकता नई आविष्कारों की जननी है। इनके द्वारा आविष्कार की ओर प्रवृत्ति होने से देश के प्राकृतिक और अन्य साधनों का उचित ढंग से काम में लाया जा सकता है।

(८) धन-वितरण की असमानता कम हो जाती है—इससे धन-वितरण की असमानता कम हो जाती है। विलास-वस्तुओं पर व्यय करने से धनवानों के द्रव्य का कुछ भाग गरीबों के पास पहुँच जाता है। निर्धन उस धन को अधिक आवश्यक कार्यों में ला सकते हैं।

(९) विलासिताएँ बीमा का कार्य करती हैं—विलासिताओं की प्रबल इच्छा से बहुमूल्य वस्तुएँ, उत्तम फर्नीचर, सोना-चाँदी और रत्नादि का संग्रह हो जाता है जो आर्थिक संकट में रक्षा कर सकते हैं। यही कारण है कि भारतीय नारियाँ जेवर आदि को बड़ा महत्व देती हैं।

(१०) विलासिताएँ मनोरंजन के साधन हैं—विलास-वस्तुओं से मनोरंजन के साधन उपलब्ध होते हैं जिनमें जीवन की नीरसता और एकरसता दूर होकर नवीन स्फूर्ति और कार्यक्षमता प्राप्त होती है।

विलासिताओं के विपक्ष में तर्क

हानियाँ (Disadvantages)

(१) उद्योग धन्धों और व्यापार में वास्तविक उन्नति नहीं होती—यह सोचना भूल है कि विलासिताओं पर व्यय करने से व्यापार और उद्योग धन्धों में उन्नति होती है। अपव्यय से पूँजी की वृद्धि कम हो जाती है जिससे उत्पत्ति के कार्य में हानि अथवा क्षति पहुँचती है। यदि पूँजी और अन्य उत्पत्ति के साधन विलास वस्तुओं की उत्पत्ति के स्थान में आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में लगाये जायँ तो रोजगार की अधिक उन्नति होगी।

(२) कर्मशीलता के लिए अधिक प्रेरणा नहीं मिलती—मनुष्य को जितनी प्रेरणा विलास-वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए होती है उससे कहीं अधिक प्रेरणा जीवनार्थ वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए होती है, क्योंकि इनके बिना उसका जीवन सम्भव ही नहीं। विलासिताएँ अनावश्यक हैं, अतः उनके लिए प्रयत्न करना इतना जरूरी नहीं।

(३) कला की उन्नति की धारणा अधिक प्रबल नहीं है—विलास-वस्तुओं से कला की उन्नति तो अवश्य होती है पर यह समझना भूल है कि अनिवार्य तथा सुख-वस्तुएँ कला की उन्नति में कम सहायक होती हैं। कभी-कभी विलास वस्तुओं के बनाने में केवल साधारण श्रम की ही आवश्यकता पड़ती है। आजकल अधिकतर विलास-वस्तुएँ कारखानों में मशीनों से बनाई जाती है और उनके बनाने में व्यक्तिगत चतुराई की आवश्यकता नहीं पड़ती। केवल थोड़ी-सी हाथ से बनाई जाने वाली विलास-वस्तुओं के आधार पर ही उनके द्वारा कलात्मक उन्नति मान लेना भूल है।

(४) विलासिताओं से देश में असंतोष, अशांति और क्रांति उत्पन्न हो जाती है—कुछ ही धनी व्यक्तियों द्वारा विलासिताओं का उपभोग मध्यवर्गीय तथा गरीब आदमियों के असन्तोष और अशांति का कारण बन जाता है जिससे वातावरण क्रांतिकारी बन जाता है। देखा जाय तो आधुनिक समय में जो समाजवाद और साम्यवाद की उत्पत्ति हुई है वह इन्हीं के कारण हुई है।

(५) अनुत्पादक धन-सचय (Hoarding) से देश को हानि है—विलास-वस्तुओं के उपभोग से अनुत्पादक धन-सचय को प्रोत्साहन मिलता है जिससे राष्ट्रीय सम्पत्ति का एक बड़ा भाग बेकार पड़ा रहता है।

(६) विलासिताओं पर व्यय न्यायमुक्त नहीं है—जिस देश में अधिकांश लोगों को भर पेट भोजन भी नहीं मिल पाता वहाँ पर विलासिताओं पर किया गया व्यय किस प्रकार न्याययुक्त हो सकता है। यह कहाँ तक ठीक माना जा सकता है कि एक ओर तो लोग भूख के मारे मौत के शिकार बन रहे हों और दूसरी ओर थोड़े से लोग विलासिताओं के साथ गुलछर्रे उड़ा रहे हों। ऐसा होने से देश में अशांति का जाल फैल जाता है और अनेक आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं जिनसे आसानी से छुटकारा नहीं मिल पाता।

(७ धन-वितरण की असमानता दूर नहीं होती—यह कहना कि विलासिताओं के कारण धन धनी से निर्धन को पहुँच जाता है, बिल्कुल ठीक नहीं है। जो भी राशि धनी विलास वस्तुओं के लिए निर्धन को देता है, वह निर्धन से पुन धनी के पास पहुँच जाती है, क्योंकि निर्धन विलास वस्तुओं के निर्माण के लिए कच्चा माल और मूल्यवान औजार धनी से ही खरीदता है। अस्तु धनी से निर्धन के पास धन का परिवर्तन भ्रम मात्र है।

(८) विलासिताओं के उपभोग का दुष्परिणाम—कभी-कभी निर्धनों को भी विलास-वस्तुएँ उपभोग के लिए मिल जाती हैं। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि वे अपनी किंचित आय को आवश्यक वस्तुओं के स्थान पर विलासिताओं पर खर्च कर बैठते हैं जिसके कारण उनकी कार्य कुशलता में ह्रास हो जाता है। मद्यपान इसका एक उदाहरण है।

(९) जीवन-स्तर ऊँचा होने और जन-संख्या कम होने का वास्तविक कारण विलासी जीवन नहीं है—लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा होने पर जन-संख्या कम होने का मुख्य कारण उनका विलासी जीवन नहीं है बल्कि उनकी शिक्षा, संस्कृति और सन्तान निग्रह के कृत्रिम साधनों को अपनाने की क्षमता है।

(१०) विलासिताओं के उपभोग से मनुष्य का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और चरित्र गिर जाता है—कई विलास वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनके उपभोग से मनुष्य का स्वास्थ्य गिर जाता है, चरित्र बिगड़ जाता है और कार्य-कुशलता में ह्रास हो जाता है।

(११) विलासिताओं से जीवन में अकर्मण्यता और निकम्मापन आ जाता है—विलासिता के कारण शक्ति, क्षमता, उत्साह का ह्रास होता है और जीवन आलस्यमयी और निकम्मा हो जाता है।

निष्कर्ष—इस प्रकार की अनेक बातें विलासिताओं के पक्ष और विपक्ष में कही जाती हैं। दोनों पक्ष की बातें कुछ अश तक ठीक ही हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ विलास वस्तुएँ ऐसी है जो नैतिक या सामाजिक दृष्टि से ठीक नहीं होती। उनके उपभोग से मनुष्य का स्वास्थ्य गिर जाता है, चरित्र बिगड़ जाता है और कार्य-कुशलता में ह्रास हो जाता है। इन वस्तुओं पर किये हुए व्यय को किसी भी दृष्टि-कोण से न्यायसगत नहीं बताया जा सकता। किन्तु इससे यह परिणाम निकालना

उचित न होगा कि सभी विलास-वस्तुएँ निकृष्ट हैं और उनका उपभोग बन्द कर देना चाहिए। ऐसा करने से उन्नति का मार्ग बन्द हो जायगा। आज जो विलास वस्तु मानी जाती है, कल वही आवश्यक वस्तु की कोटि में आ सकती है। अतएव प्रत्येक प्रकार की विलासिता को बन्द कर देना बुद्धिमानी नहीं होगी। कुछ विलास वस्तुएँ हानि रहित हैं, अस्तु उनके उपभोग को प्रोत्साहन मिलने से व्यक्तिगत अथवा सामाजिक दृष्टि से कोई आपत्ति न होगी, अपितु लाभ ही होगा। इस सम्बन्ध में प्रो० पेनसन कहते हैं, "विलासिता स्वतः कोई बुरी वस्तु नहीं है, यद्यपि इसके कई रूप व्यक्तिगत दृष्टिकोण से हानिकारक और सामाजिक दृष्टि से अवाञ्छनीय हैं।"

अपव्यय (Waste)

प्रायः लोग अपनी आय को अधाधुन्ध अनावश्यक वस्तुओं पर खर्च करते हुए देखे जाते हैं। उन वस्तुओं से व्यय के अनुरूप तृप्ति प्राप्त नहीं होने पर भी वे व्यय करते जाते हैं। यह उनकी आय का अपव्यय है। अस्तु, बिना बराबर लाभ या तृप्ति प्राप्त किए मुद्रा के व्यय को 'अपव्यय' कहते हैं। यदि कोई वस्तु बिना उसकी उपयोगिता के अनुरूप तृप्ति दिये नष्ट हो जाती है, तो यह उसका 'अपव्ययित उपभोग (Wasteful Consumption) होगा।

अग्नि, बाढ़ और भूकम्प आदि द्वारा सम्पत्ति का विनाश 'अपव्ययता (Wastage) कहलाती है। जो सम्पत्ति इस प्रकार नष्ट होती है वह व्यक्तिगत हानि के अतिरिक्त सामाजिक हानि भी है। धनी लोगों द्वारा बहुत-सा रुपया बड़े-बड़े पोलो मैदानों को कायम रखने, आतिशबाजी, मदिरापान, जुआ आदि में खर्च किया जाता है। वे इसे अपव्यय नहीं समझते, क्योंकि इन्हीं वस्तुओं के उपभोग में वे अपने द्रव्य की उपयोगिता के बराबर तृप्ति देखते हैं। परन्तु सामाजिक दृष्टि से यह खर्च अपव्यय है, क्योंकि आतिशबाजी, मदिरा आदि अनावश्यक वस्तुओं के स्थान में यदि श्रम और पूँजी जीवनोपयोगी अनिवार्य वस्तुओं में लगाये जाते, तो अधिक लाभदायक सिद्ध होते। एक बड़े भू-भाग में बजाय खेती करने के यदि पोलो खेली जाय, तो क्या यह सामाजिक अपव्यय नहीं है ?

एक दूसरा उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देगा कि कोई व्यय व्यक्तिगत अपव्यय तो है, परन्तु सामाजिक अपव्यय नहीं। एक धनी पुरुष राज्य द्वारा पदवी प्राप्त करने के उद्देश्य से किसी सार्वजनिक शिक्षणशाला में दान देता है। इस व्यय के करने पर भी उसकी अभिलाषा पूर्ण नहीं होती अतः वह असन्तुष्ट ही रहता है। अस्तु व्यक्तिगत दृष्टि से तो अपव्यय हुआ, परन्तु सामाजिक दृष्टि से नहीं। समाज को तो इस व्यय से लाभ हुआ। कई एक व्यय ऐसे हैं जो व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों दृष्टिकोणों से अपव्यय है, जैसे फलों का सड़ जाना, थाली में जूठन छोड़ देना या कोई काम अधूरा ही छोड़ देना आदि।

सम्पत्ति का विनाश और रोजगार
(Destruction and Employment)

अकस्मात् या जान बूझ कर होने वाली सम्पत्ति के विनाश से कुछ भी तृप्ति प्राप्त नहीं होती, अतः इसकी गणना अपव्यय में की जाती है। कुछ लोगों का कहना है कि विनाश से रोजगार मिलता है क्योंकि नष्ट हुई वस्तुओं के पुनर्निर्माण में काम-धंधे फिर से चालू हो जाते हैं जिससे लोगों को रोजगार मिलने लगता है। इसका तो अर्थ यह हुआ कि संपत्ति को जान-बूझकर नष्ट कर देना चाहिए। यह तर्क भ्रम पैदा

करता है। किसी वस्तु को नष्ट कर उसका पुन. निर्माण करने के बजाय तो किसी अन्य आवश्यक वस्तु के निर्माण मे पूँजी व श्रम लगाना अधिक लाभदायक होगा। उदाहरण के लिए कोई विद्यार्थी अपनी पुस्तक को फाड कर पुन' दूसरी खरीद लेता है। इस प्रकार फाड्कर दूसरी खरीदने के बजाय उसी मूल्य मे एक फाउण्टेन-पेन खरीदना अधिक लाभदायक होगा। यह स्मरण रहे कि बिना विनाश के भी रोजगार के साधन निकल सकते हैं। काम की उत्पत्ति व्यय पर निर्भर होती है। नई नई वस्तुओ की माँग पैदा होने से नये-नये कारखाने खुलते हैं जिससे देश मे रोजगार चेतता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—विलासिताएँ क्या हैं ? कुछ व्यक्ति विलासिताओ के पक्ष मे नही है। क्या उनका मत उचित है ? समाज मे विलासिताओ के लाभ व हानिया बताइए।

(उ० प्र० १९४३)

२—अपव्यय अर्थात् बर्बादी (Waste) तथा सम्पत्ति का विनाश (Destruction) पर टिप्पणी लिखिए।

(उ० प्र० १९४७,४४,३८)

३—क्या विलासिताओ का उपभोग आर्थिक दृष्टि से उचित है ? (अ० बो० १९५५)

४—उपभोग और बर्बादी पर सक्षिप्त नोट लिखिए। (अ० बो० १९५३)

अध्याय २०

पारिवारिक बजट (आयव्ययक)

(Family Budgets)

पारिवारिक बजट का अर्थ (Meaning)—पारिवारिक बजट में किसी कुटुम्ब के जीवन स्तर का भली भांति पता चल सकता है, क्योंकि इसमें उसके आय-व्यय का विस्तृत ब्यौरा दिया रहता है। यह मासिक अथवा वार्षिक बनाया जाता है। अत: हम पारिवारिक बजट को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं—**किसी परिवार की निश्चित अवधि में प्राप्त आय और होने वाली आय के विस्तृत विवरण को पारिवारिक बजट या आयव्ययक कहते हैं।**

पारिवारिक बजट बनाने के उद्देश्य (Objects)—पारिवारिक बजट से निम्नलिखित प्रयोजन सिद्ध होते हैं :—

(१) पारिवारिक बजट से किसी परिवार के जीवन-स्तर का पता चल सकता है।
(२) इससे यह पता चल सकता है कि अमुक परिवार में कितने प्राणी हैं।
(३) परिवार की कितनी आय है और वह किन साधनों से प्राप्त होती है।
(४) आय किन पदार्थों या सेवाओं पर व्यय की जाती है।
(५) परिवार के सदस्यों को क्या-क्या और कितनी अनिवार्य, सुख और विलास-वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं।
(६) परिवार में कुछ बचत होती है या नहीं, ऋण-ग्रस्त है या नहीं।
(७) किसी परिवार की एक निश्चित अवधि की आय व्यय का एक स्थान पर ही पता लग सकता है।
(८) विभिन्न देशों के पारिवारिक बजटों की तुलना से अनेक मूल्यवान निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।
(९) पारिवारिक बजट से किसी परिवार या कुटुम्ब की आर्थिक स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है। वह सुखी है या कठिनाई से जीवन निर्वाह करता है।
(१०) निर्देशाङ्क (Index Numbers) बनाने के लिए पारिवारिक बजटों में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो सकती है।
(११) समाज के विभिन्न वर्गों की करदान क्षमता (Taxable Capacity) मालूम की जा सकती है।

पारिवारिक बजट का स्वरूप (Form)—पारिवारिक बजट एक विशेष प्रकार से बनाया जाता है। सबसे प्रथम परिवार के सदस्यों की संख्या और अवधि (माह या वर्ष) तथा आय दी जाती है। तत्पश्चात् वर्गीकृत रूप में व्यय के मद और उनके समूह दिये जाते हैं। प्रत्येक वस्तु के उपभोग की मात्रा, प्रति इकाई मूल्य,

समस्त मूल्य, प्रत्येक व्यय की राशि का समस्त आय से प्रतिशत अनुपात और विशेष विवरण आदि बातें दी हुई होती है। इसका साधारण रूप नीचे दिया जाता है :—

पारिवारिक बजट

कुटुम्ब के मुखिया का नाम व पता ....

पेशा ....

सदस्यों की संख्या ....

(पुरुष, स्त्री और बच्चों की संख्या तथा आयु दोनों ही लिखना चाहिए)

आय (मासिक या वार्षिक) ....

अवधि ....

व्यय के मद	उपभोग की मात्रा			व्यय राशि		व्यय का समस्त आय से प्रतिशत के रूप में अनुपात	विशेष विवरण
	मात्रा	एक सप्ताह या मास में	उपभोग की गई समस्त मात्रा	प्रति इकाई मूल्य	व्यय की समस्त राशि		

पारिवारिक बजट के मुख्य अंग (Component Parts)—निम्नलिखित मद एक पारिवारिक बजट के मुख्य अंग गिने जाते हैं :—

मद (Items)	मुद्रा (Money)
(अ) परिवार की आय	
(ब) परिवार का व्यय	
१—अनिवार्य-वस्तुयें	
(क) भोजन	
(ख) वस्त्र	
(ग) किराया	
(घ) ईंधन व प्रकाश	
२—सुख वस्तुयें	
(क) शिक्षा	
(ख) स्वास्थ्य	
(ग) सेवक	
(घ) मनोरंजन	
३—विलास-वस्तुयें	
(क)	
(ख)	
४—सञ्चय	

पारिवारिक बजट का महत्व (Importance)—पारिवारिक बजट की उपयोगिता केवल अर्थशास्त्रियों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि गृहस्वामियों, सुधारकों और राजनीतिज्ञों के लिए भी अत्यधिक है। प्रत्येक की उपयोगिता नीचे दी जाती है —

गृहस्वामियों (Householders) के लिए—पारिवारिक बजट द्वारा गृहस्वामी प्रत्येक व्यय के मद को तुलनात्मक दृष्टि से देखकर यह ज्ञात कर सकता है कि क्या वह अमुक मद पर अधिक व्यय कर रहा है या ठीक, और क्या किसी मद के व्यय को कम करना वाञ्छनीय है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि पारिवारिक बजट गृहस्वामी को 'सम सीमान्त उपयोगिता नियम' पालन कराने में बड़ा सहायक सिद्ध होता है। पारिवारिक बजट के अभाव में वह अपनी आय बड़ी लापरवाही से खर्च कर सकता है। पारिवारिक बजट ही सीमित आय से अधिकतम तृप्ति करने का एक मात्र साधन है।

अर्थशास्त्रियों (Economists) के लिए—(१) पारिवारिक बजटों द्वारा किसी देश के निवासियों के जीवन-स्तर का अध्ययन हो सकता है तथा उनकी अन्य देशों के पारिवारिक बजटों से तुलना कर कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। जैसे इङ्गलैंड और भारत के श्रमिकों की अवस्था की तुलना करने पर आय का कार्य-कुशलता और समृद्धि से क्या सम्बन्ध है, इस बात का समुचित ज्ञान हो जाता है।

(२) अर्थशास्त्री पारिवारिक बजटों से यह ज्ञात कर लेते हैं कि किस मद पर कितना रुपया व्यय किया जा रहा है तथा आय का विवेकपूर्ण व्यय हो रहा है या नहीं।

(३) पारिवारिक बजटों के आधार पर रहन सहन की लागत के निर्देशाङ्क (Cost of Living Index Numbers) तैयार किये जा सकते है जिससे रहन-सहन की लागत की न्यूनाधिकता का ज्ञान हो जाता है और न्यूनतम भृति (Minimum Wage) स्थिर करने में बड़ी सहायता मिलती है। इसके परिणाम-स्वरूप हड़ताल आदि से होने वाली हानि को रोका जा सकता है।

(४) पारिवारिक बजटों द्वारा देश के मनुष्यों के विभिन्न वर्गों की करदान क्षमता (Taxable Capacity) का भी ठीक-ठीक ज्ञान हो जाने से करों की उचित दर निश्चित करने में बड़ी सहायता मिलती है।

(५) कुछ ऐञ्जिल जैसे आर्थिक नियम इन्हीं पारिवारिक बजटों पर अवलंबित होने के कारण इनका महत्त्व और भी अधिक है।

समाज सुधारकों (Social Reformers) के लिए—पारिवारिक बजटों के अध्ययन से समाज सुधारक यह जान सकते हैं कि लोग अपनी आय का सदुपयोग कर रहे है या अवांछनीय वस्तुओं पर अपव्यय कर रहे हैं। यदि उनकी दृष्टि में लोग अपनी आय का अधिकांश भाग मदिरा आदि नशीली वस्तुओं के उपभोग में खर्च कर रहे हैं, तो वे ऐसी आदतों के विरुद्ध प्रचार करना प्रारम्भ करते हैं और राज्य पर निषेध कानून बनाने के लिए दबाव डालते हैं। इसी प्रकार उन्हें जब यह मालूम होता है कि लोग विवाह, मृत-भोज, जन्मोत्सव, आतिशबाजी आदि अनुत्पादक मदों पर अत्यधिक व्यय कर रहे हैं, तो वे प्रचार द्वारा इन व्ययों को कम करने की शिक्षा देते है।

राजनीतिज्ञों (Statesmen) के लिए—पारिवारिक बजटों से विभिन्न वर्गों के मनुष्यों की करदान क्षमता मालूम कर लेते हैं और उसी आधार पर अपनी कर नीति अवलंबित करते हैं। यदि समाज के किसी भी अंग की आर्थिक स्थिति इतनी खराब है कि लोगों को पूरा पेट भर भोजन तक नहीं मिलता, तो ऐसे मनुष्यों

को केवल कर से मुक्त नहीं किया जाता, बल्कि उनकी आय बढ़ाने के उपायों को भी वर्ग रूप में लाया जाता है।

ऐन्जिल का नियम (Engle's Law)

पारिवारिक बजटों की इतनी उपयोगिता है कि संसार के अनेक देशों में इनकी महत्वपूर्ण खोज हो चुकी है। पारिवारिक बजट के इस नियम को सर्व प्रथम मालूम करने का श्रेय डाक्टर ऐञ्जिल का है। डा० ऐञ्जिल Prussian Statistical Bureau के अध्यक्ष थे। इन्होंने सन् १८५७ ई० में जर्मनी के सेक्सोनी प्रांत में रहने वालों को तीन वर्गों—श्रमिक, मध्यम श्रेणी के लोग और अमीरों में विभक्त कर पारिवारिक बजट तैयार किये थे। व्यय के मुख्य मद निम्नाङ्कित समूहों में विभाजित किये गये—(१) भोजन, (२) वस्त्र, (३) मकान किराया, (४) ईंधन और प्रकाश, (५) शिक्षा, (६) कानूनी संरक्षण, (७) स्वास्थ्य, (८) सुख व मनोरंजन और (९) कर। डा० ऐञ्जिल ने इन विभिन्न पारिवारिक बजटों का अध्ययन कर जो उनसे निष्कर्ष निकाले वे आज भी ऐन्जिल के नियम के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे निम्नलिखित हैं :—

(१) यदि आय कम है, तो भोजन पर व्यय प्रतिशत अधिक होगा।

(२) वस्त्र पर व्यय का प्रतिशत लगभग वही रहेगा।

(३) आय कुछ भी हो, ईंधन, प्रकाश और मकान-किराये पर व्यय प्रतिशत अनुपात लगभग स्थिर रहता है।

(४) यदि आय अधिक होती है तो व्यय का प्रतिशत अनुपात शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, कर आदि पर अधिक होता है।

संक्षेप में, मनुष्य की जैसे-जैसे आय बढ़ती है, वैसे वैसे भोजन पर व्यय का प्रतिशत अनुपात घटता जाता है, वस्त्र, किराया, ईंधन और प्रकाश पर व्यय का प्रतिशत अनुपात स्थिर रहता है, और शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन आदि व्यय का प्रतिशत अनुपात बढ़ता जाता है।

नीचे दी हुई तालिका से ऐन्जिल का नियम भली-भाँति समझा जा सकता है :—

व्यय के मद	परिवार की आय का विविध व्ययों की मदों पर किये गये व्यय में प्रतिशत अनुपात।					
	श्रमिक वर्ग (निर्धन) के परिवार का व्यय		मध्यम वर्ग के परिवार का व्यय		धनी वर्ग के परिवार का व्यय	
१—भोजन	६२	९५%	५५	९०%	५०	८५%
२—वस्त्र	१६		१८		१८	
३—मकान किराया	१२		१२		१२	
४—ईंधन व प्रकाश	५		५		४	
५—शिक्षा	२	५%	३·५	१०%	५·५	१५%
६—कानूनी संरक्षण	१		२		३	
७—स्वास्थ्य	१		२		३	
८—सुख-वस्तुएँ मनोरंजन और कर आदि	१		२·५		३·५	
	१००%		१००%		१००%	

ऊपर की तालिका से स्पष्ट है कि निर्धन परिवार की आय का ६५ प्रतिशत भाग तो केवल जीवनार्थ आवश्यकताओं पर ही पूरा हो जाता है। शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सुख-वस्तुएँ आदि मदों पर केवल ५ प्रतिशत ही व्यय किया जाता है। मध्यम वर्ग के परिवार का यह अनुपात ६० से १० प्रतिशत का है और धनी परिवार का ८५ से १५ प्रतिशत है।

रेखाचित्रण का स्पष्टीकरण—निम्नांकित चित्रों में आयतों (Rectangles) की लम्बाई आय के व्यय का प्रतिशत प्रदर्शित करती है और चौड़ाई आय का परिमाण। अतएव सबसे अधिक चौड़ा आयत धनी परिवार का और सबसे कम चौड़ा निर्धन परिवार की आय-व्यय के प्रतीक है। बीच वाला न अधिक चौड़ा है और न ज्यादा तंग, अतः यह मध्यम वर्ग के परिवार को आय-व्यय का परिज्ञान कराता है।

ऐन्जिल के नियम का रेखाचित्रण

धनी परिवार मध्यम वर्ग का परिवार निर्धन परिवार
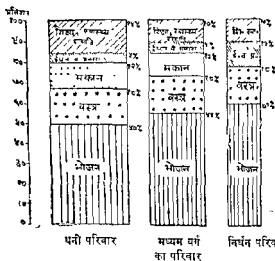
भारतवर्ष में पारिवारिक बजटों का अध्ययन—दूसरे देशों की भांति भारतवर्ष में भी पारिवारिक बजटों का कुछ अध्ययन हुआ है। इस सम्बन्ध में अर्थ-शास्त्रियों, संस्थाओं, श्रम-समितियों तथा राज्य-श्रम-विभाग द्वारा महत्वपूर्ण कार्य हुआ है। इनमें से मेजर जैक, फिन्डले शिराज, पंजाब आर्थिक-अनुसन्धान समिति, कानपुर और बम्बई के श्रम विभाग और उ० प्र० श्रम समिति के कार्य प्रशंसनीय है। मेजर जैक (Major Jack) ने अपना कार्य बंगाल प्रांत के फरीदपुर जिले के निवासियों के पारिवारिक बजटों को अध्ययन करने में ही सीमित रखा। यद्यपि यह प्रारम्भिक कार्य था, फिर भी भारतीय अर्थशास्त्र में इसका बड़ा महत्व है।

एन्जिल का नियम और विविध वर्गों के पारिवारिक बजट

भारतीय श्रमिक का पारिवारिक बजट—*भारतीय श्रमिक की अवस्था* बड़ी दयनीय है। उसकी आय इतनी कम है कि उसे पूरा पेट भर भोजन तक नहीं

मिलता। उसकी आय का अधिकांश भाग भोजन पर ही व्यय होता है। ऐंजिल के नियम का पहला भाग कि ज्यों-ज्यों परिवार की आय बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों भोजन पर व्यय कम होता जाता है—एक भारतीय श्रमिक के लिए पूर्णतया लागू नहीं होता। वे कुछ समय तक बढ़ी हुई आय को भोजन पर ही व्यय करते हुए पाये जाते है, क्योंकि पहले से ही उनको अपर्याप्त भोजन मिल रहा था। नियम का **दूसरा भाग** कि वस्त्रपरव्यय पूर्ववत् ही रहता है, बिल्कुल यथार्थ सिद्ध होता है, क्योंकि आय बढ़ने से इस मद पर व्यय मामूली बढ़ता है। नियम का **तीसरा भाग** कि मकान-किराया, ईंधन और प्रकाश पर *व्यय समान ही रहता है, भारतीय श्रमिक के बजट पर लागू नहीं होता, क्योंकि आय* में वृद्धि होने पर इन मदों पर होने वाले व्ययों मे थोड़ा परिवर्तन अवश्य होता है। इसी प्रकार नियम का **चौथा भाग** कि आय की वृद्धि के साथ-साथ शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन व सुख-वस्तुओं पर व्यय बढता है पूर्णतया लागू नहीं होता, क्योंकि जो कुछ भी आय में वृद्धि होती है वह सुख व विलास-वस्तुओं की अपेक्षा अनिवार्य वस्तुओं पर खर्च कर दी जाती है, क्योंकि यह वस्तुएँ पहले से ही पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध नहीं होती थी।

इस सम्बन्ध मे फिन्डले शिराज का अध्ययन बड़ा महत्त्व रखता है। उन्होंने सन् १९२१-२२ ई० में बम्बई नगर के सभी जातियों और कारखानों के श्रमिकों के पारिवारिक बजटों का संकलन किया। इनके अध्ययन से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ३० रु० प्रति मास से कम आय वाले श्रमिक भोजन पर आय का ६० प्रतिशत व्यय करते हैं, और ८० से ९० रु० मासिक आय वाले श्रमिक लगभग ५३ प्रतिशत खर्च करते हैं। इससे यह स्पष्ट हुआ कि आय की वृद्धि के साथ-साथ भोजन पर होने वाले व्यय का प्रतिशत अनुपात भी घटने लगता है। यह निष्कर्ष ऐंजिल के नियम की पुष्टि करता है।

भारतीय कृषक का पारिवारिक बजट—भारतीय कृषकों के बजटों का अध्ययन भी उतना ही महत्त्व रखता है जितना कि श्रमिकों का। इस सम्बन्ध मे पंजाब **आर्थिक-अनुसंधान-समिति** का कार्य उल्लेखनीय है। इसने छब्बीस प्रतिनिधि कृषक परिवारों के बजटों का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि ज्यों-ज्यों जीवन-स्तर बढ़ता है, भोजन पर किये जाने वाले व्यय का अनुपात गिरता जाता है। इससे 'ऐंजिल के नियम' की पुष्टि होती है।

पारिवारिक बजट तैयार करने की विधि

सम्बन्धित व्यक्तियों के आय-व्यय के बारे मे पूछ-ताछ करने के पूर्व निम्नांकित बातों का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए :—

१—सबसे प्रथम पूछ-ताछ करने वाले को उसके इस कार्य का उद्देश्य स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए अर्थात् वह यह पूछ-ताछ किस प्रयोजन के लिए करना चाहता है।

२—दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि जिस व्यक्ति को पूछ-ताछ के लिए चुना है, वह उस समूह का उपर्युक्त और वास्तविक प्रतिनिधि है। उदाहरण के लिए, हम एक किसान की आय-व्यय के बारे मे पूछ-ताछ करना चाहते हैं, तो पहले यह जानना आवश्यक होगा कि किसान की परिभाषा क्या है, अर्थात् कौन व्यक्ति किसान कहलाता है, आदि बातों का पहले निर्णय होना चाहिए।

३—पूछे जाने वाले प्रश्नों की सूची पहले से ही तैयार कर लेनी चाहिए। किसान तथा अधिकांश भारतीय जनता अशिक्षित है, अतएव प्रश्न इस प्रकार सरल तथा क्रम में हों कि किसान या श्रमिक आसानी से समझ सके।

४—पूछ-ताछ करने वाले को सम्बन्धित व्यक्तियो से सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। यह उसकी वेप-भूपा, बोल-चाल के ढग व चातुर्यता पर निर्भर है। उसे पूछ ताछ करने की कोई उत्सुकता प्रकट नही करनी चाहिए, अन्यथा वे लोग उसके इस कार्य को सदेहात्मक दृष्टि से देखने लगेंगे। किसान के सामने ही लिखने न बैठ जाना चाहिए क्योकि इससे उसका सदेह और भी दृढ हो जायगा और प्रश्नो का उत्तर देना बन्द कर देगा।

५—यदि पूछ-ताछ शिक्षित लोगो से की जा रही है, तो एक प्रश्नावली (Questionnaire) बना कर उनके लिखित मे उत्तर मगवा लेना अधिक सुविधाजनक होगा।

पारिवारिक बजट का स्वरूप तैयार करना—जब सब आवश्यक सूचनाएँ इकट्ठी हो जायें, तो प्रामाणिक स्वरूप मे बजट बनाना प्रारम्भ कर देना चाहिए। बजट का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जिसमे अभीष्ट समस्त बातो का समावेश हो सके। आवश्यक गणना भी यथा स्थान पर अकित होना चाहिए। प्रत्येक मद पर व्यय की जाने वाली राशि की प्रतिशत गणना स्पष्ट रूप से पृथक लिख देने से एक ही दृष्टि मे होने वाले व्यय के अनुपात का पता लग सकता है।

पारिवारिक बजटो का रेखाचित्रण—बजटो को रेखाचित्र द्वारा भी प्रकट किया जा सकता है। खड़े लम्बे आयात (Rectangle) को कई भागो से विभक्त कर विविध मदो पर होने वाले व्यय को प्रकट किया जा सकता है। रग, रेखाओ या बिन्दुओ द्वारा अलग-अलग भाग को दिखा दिया जाता है। समान लम्बाई वाले परन्तु विभिन्न चौडाई के एक से अधिक आयतो द्वारा विविध वर्गों के परिवारो के आय-व्यय का तुलनात्मक दृष्टि से रेखाचित्रण किया जा सकता है। रेखा-चित्र के उदाहरण इसी अध्याय मे देखिए।

विविध वर्गों के पारिवारिक बजटों के उदाहरण

[१]

एक कारखाने के श्रमिक (निर्धन) का पारवारिक बजट

नाम व पता—किसन, नई बस्ती, कानपुर

पेशा—श्रमिक

परिवार के सदस्यों की संख्या—१ पुरुष, एक स्त्री, ४ बच्चे = ६ योग

मासिक आय—६० रु०

अवधि—१ मास (जनवरी, १९५८)

व्यय के मद	मात्रा	दर	व्यय की राशि		विवरण
१—भोजन			रु०	न० पै०	
(अ) अनाज और दाल					
गेहूँ	३२॥ सेर	१ रु०का२॥	१३	००	
चावल	८ ,,	,, ,, २	४	००	
ज्वार, बाजरा आदि	१८ ,,	,, ,, ३	६	००	
चना	६ ,,	,, ,, ३	३	५०	
दाल	७ ,,	,, ,, २	३	००	
(आ) शाक और फल	—	—	१	००	
(इ) अन्य वस्तुएं					
वनस्पति घी	१०॥ छ०	३रु० प्रति सेर	२	५०	
कड्वा तेल	१॥ सेर	१'५० ,, ,,	२	२५	
गुड़	२ सेर	०'५० ,, ,,	१	००	
नमक	२ सेर	०'२५ ,, ,,	०	५०	
मसाला	—	—	०	७५	
योग....			३७	५०	
२—वस्त्र					
कमीज	१	—	३	००	
पाजामा	१	—	२	५०	
बच्चों के कपड़े	२	—	३	००	
अंगोछा	१	—	०	५०	
योग....			९	००	
३—मकान किराया	—	—	६	००	
४—ईंधन और प्रकाश					
लकड़ी	१। मन	२ रु०प्रति मन	२	५०	
मिट्टी का तेल	२ बोतल	० २५,, बोतल	०	५०	
योग....			३	००	
५-शिक्षा और स्वास्थ्य					
स्कूल फीस	—	—	०	५०	
स्टेशनरी	—	—	०	५०	
औषधि उपचार	—	—	०	७५	
योग....			१	७५	
६—अन्य व्यय					
नाई	—	—	०	३८	
धोबी	—	—	१	२५	
पान-तम्बाकू	—	—	१	१२	
योग....			२	७५	
७-बचत और विनियोग	—	—	—	—	

मुख्य मदों पर व्यय की नई राशि

(समस्त आय का प्रतिशत अनुपात)

व्यय के मद	व्यय की गई राशि	समस्त आय का प्रतिशत अनुपात
	रु० न०पै०	
भोजन	३७ ५०	६२·५%
वस्त्र	६ ००	१५ %
मकान का किराया	६ ००	१० %
ईंधन और प्रकाश	३ ००	५ %
शिक्षा और स्वास्थ्य	१ ७५	२·६%
अन्य व्यय	२ ७५	४·६%
बचत और विनियोग	—	—
	६० ००	१००·०%

ऊपर दिये गये बजट का रेखा चित्र
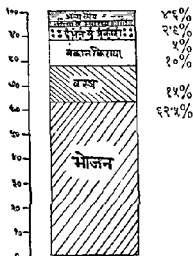
[२]

एक मध्यम श्रेणी के व्यक्ति का पारिवारिक बजट

नाम व पता—दीनदयाल, नला बाजार, अजमेर
पेशा—हैड क्लर्क
परिवार के सदस्यों की संख्या—२ पुरुष, २ स्त्रियाँ, ३ बच्चे=योग ७
मासिक आय—२०० रु०
अवधि— १ मास (नवम्बर, १९५७)

व्यय के मद	मात्रा	दर	व्यय की राशि	विवरण
१—भोजन				
(अ) अनाज और दाल			रु० न०पै०	
गेहूँ	३५ सेर	१ रु० का २॥	१४ ००	
चावल	१६ ,,	,, ,, ,, २	८ ००	
ज्वार, बाजरा	९ ,,	,, ,, ,, ३	२ ००	
चना	६ ,,	,, ,, ,, ३	३ ००	
दाल	१० ,,	,, ,, ,, २	५ ००	
(आ) शाक और फल				
शाक	—	—	१० ००	
फल	—	—	५ ००	
(इ) अन्य वस्तुएँ				
दूध	३६ सेर	०·५० रु.प्र.से.	१८ ००	
घी	४॥ ,,	५·०० प्रतिसेर	२२ ५०	
तेल	१ ,,	२·०० ,, ,,	२ ००	
चीनी	६ ,,	१·०० ,, ,,	६ ००	
चाय	½ ,,	३·०० ,, पौंड	१ ५०	
नमक	४ ,,	०·२५ ,, सेर	१ ००	
मसाले	१ ,,	२·०० ,, ,,	२ ००	
योग			१०० ००	
२—वस्त्र				
कमीज	१	—	४ ००	
धोती	२	—	१५ ००	
ब्लाउज	१	—	२ ००	
बच्चों के कपड़े	३	—	४ ००	
तौलिये	२	—	२ ५०	
चप्पल जोड़ी	१	—	४ ५०	
योग			३२ ००	

व्यय के मद	मात्रा	दर	व्यय की राशि	विवरण
३–मकान किराया योग			१ ००	
४–ईंधन और प्रकाश				
सोफ्ट कोक	१ मन	२ ५० रु प्र म	२ ५०	
लकड़ी का कोयला	२० सेर	८ ००	४ ००	
बिजली	—	—	३ ५०	
योग			१० ००	
५–शिक्षा और स्वास्थ्य				
स्कूल फीस	—	—	५ ००	
स्टेशनरी पुस्तकें आदि	—	—	३ ००	
औषधि उपचार	—	—	४ ००	
योग			१२ ००	
६–अन्य व्यय				
(अ) सामाजिक (दावत) आदि			२ ००	
(आ) मनोरंजन (सिनेमा)			४ ००	
(इ) सेवाएं				
नाई	—	—	१ ००	
धोबी	—	—	५ ७५	
भंगी	—	—	१ २५	
(ई) विविध				
पान तम्बाकू	—	—	२ ००	
पत्र व्यवहार	—	—	१ ००	
(उ) कर	—	—	१ ००	
योग		—	१८ ००	
७–बचत और विनियोग	—	—	१२ ००	

मुख्य मदों पर व्यय की गई राशि

[समस्त आय का प्रतिशत अनुपात]

क्रम सं०	व्यय का मद	व्यय की गई राशि	समस्त आय का प्रतिशत अनुपात
		रु० न० पै०	
१—	भोजन	१०० ००	५०%
२—	वस्त्र	३२ ००	१६%
३—	मकान किराया	१६ ००	८%
४—	ईंधन और प्रकाश	१० ००	५%
५—	शिक्षा और स्वास्थ्य	१२ ००	६%
६—	अन्य व्यय	१८ ००	९%
७—	बचत और विनियोग	१२ ००	६%
		२०० ००	१००%

[३]

एक सम्पन्न व्यक्ति का पारिवारिक बजट

नाम व पता—दिग्विजयसिंह, सिविल लाइन्स आगरा

पेशा—सरकारी अफसर

परिवार के सदस्यों की संख्या—२ पुरुष २, स्त्रियाँ ४, बच्चे = ८ योग

मासिक आय—२००० रु०

अवधि—१ मास (अक्टूबर, १९५७)

व्यय के मद	प्रतिशत अनुपात	व्यय की गई राशि
१—भोजन		रु० न० पै०
गेहूँ		५० ००
चावल		१५ ००
दालें	...	१० ००
शाक		३० ००
नमक और मसाले		६ ००
घृत		५० ००
तेल		७ ००
दूध		४० ००
मांस अंडे		४० ००
चीनी		१० ००
फल		३० ००
चाय, मक्खन आदि		१७ ००
	१५%	३०० ००
२—वस्त्र	२०%	४०० ००
३—मकान (बंगला) किराया	८%	१६० ००
४—गर्मी और प्रकाश	५%	१०० ००
५—शिक्षा	५%	१०० ००
६—स्वास्थ्य	५%	१०० ००
७—विलासिताएँ	२२.५%	४५० ००
८—कर	३%	६० ००
९—फुटकर व्यय	९%	१८० ००
१०—बचत और विनियोग	७.५%	१५० ००
योग	१००%	२००० ००

नोट—यह बजट संक्षेप में बनाया गया है। यह भी बजट संख्या १ और २ की भाँति विस्तार पूर्वक बनाया जा सकता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—पारिवारिक बजट किसे कहते हैं ? उसके विभिन्न मदों की व्याख्या कीजिए। एक ६० रु० मासिक पाने वाले क्लर्क (Mazdoor) का बजट बनाइए।

(उ० प्र० १९५८)

२—पारिवारिक बजट क्या है ? किसी किसान अथवा कारखाने के श्रमजीवी का कल्पित मासिक बजट तयार कीजिए।

(उ० प्र० १९५०)

३—पारिवारिक बजट से क्या समझते हैं ? ये क्या और कैसे बनाये जाते हैं ? गृहस्वामी, अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ तथा समाज सुधारक को इनसे क्या लाभ हैं ?

(उ० प्र० १९४६, ४७, रा० बो० १९५३)

४—पारिवारिक बजट किसे कहते है ? किसी (अ) कृषक और (ब) शिल्पकार के पारिवारिक बजटों का नमूना बनाइए।

(अ० बो० १९५५)

५—एक व्यक्ति की जितनी अधिक आय होती है उतना ही वह अनिवार्यताओं (विशेषकर भोजन) पर कम प्रतिशत व्यय करता है।' यह कथन कहाँ तक न्यायोचित है ?

(अ० बो० १९५०)

६—परिवार के व्यय के सम्बन्ध में प्रतिपादित एंजिल के नियम का स्पष्टीकरण कीजिए। यह भारतीय परिस्थितियों में किस सीमा तक लागू होता है ?

(अ० बो० १९४६)

७—पारिवारिक बजट किसे कहते है ? एक कृषक और दूसरा शिल्पक के पारिवारिक बजट बनाइए। विभिन्न व्यय के मदों की दृष्टि से इनकी तुलना कीजिए।

(म० भा० १९५२)

८—एंजिल के उपभोग नियम को स्पष्ट कीजिए। यह नियम भारत में कहाँ तक लागू होता है ?

(सागर १९५६)

९—निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए —

पारिवारिक बजट (उ० प्र० १९४६, रा० बो० १९५०)

एंजिल का उपभोग का नियम (सागर १९५७, ५५, ५२, ४८, म० भा० १९५६, ५३, उ० प्र० १९५६, ५१, नागपुर १९५३)

उत्पत्ति
PRODUCTION

"आर्थिक उपयोगिताओं का सृजन
ही उत्पत्ति है।"

—निकल्सन

अध्याय २१

उत्पत्ति

(Production)

उत्पत्ति का अर्थ (Meaning of Production)—साधारण बोल-चाल में उत्पत्ति का अभिप्राय भौतिक (Material) वस्तुओं के उत्पादन से है। किसान, बढ़ई, कुम्हार आदि को उत्पादक कहा जाता है, क्योंकि उनके उद्योगों से भौतिक वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, जैसे—अन्न, कुर्सी, बर्तन आदि। डाक्टर, वकील, अध्यापक, घरेलू नौकर आदि साधारणतया उत्पादक नहीं कहलाते, क्योंकि उनके उद्योगों का सम्बन्ध भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति से नहीं होता। अब यह प्रश्न उठता है कि उत्पत्ति का वास्तविक अर्थ क्या है? वह कौनसा कार्य है जिसके करने से मनुष्य को उत्पादक कहा जा सकता है। यह तो सभी को मालूम है कि मनुष्य कोई भी ऐसा नया पदार्थ नहीं बना सकता जो किसी न किसी रूप में पहले से ही विद्यमान न हो और न उसे नष्ट ही कर सकता है। प्रकृति का जितना स्वरूप संसार में है बस उतना ही रहेगा। मनुष्य तो केवल विद्यमान पदार्थों में ही कुछ परिवर्तन करके उन्हें पहले से अधिक उपयोगी या मूल्यवान बना सकता है। इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं कर सकता। कुछ पदार्थ अपनी प्राकृतिक अवस्था में विशेष उपयोगी नहीं होते। यदि मानव प्रयत्न द्वारा उन्हें एक नया रूप दे दिया जाय, तो उनकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए, बढ़ई लकड़ी स्वयं उत्पन्न नहीं करता। लकड़ी तो उसे प्रकृति की ओर से प्राप्त होती है। वह अपने औजारों से काट-छाँट कर कुर्सी और मेज आदि बनाता है। इस नये रूप में लकड़ी की उपयोगिता पहले की अपेक्षा अधिक हो जाती है। इसी प्रकार दर्जी कोई सर्वथा नया पदार्थ नहीं बनाता। वह कपड़े को काट कर एक विशेष माप का कोट या कमीज बना देता है जिससे उसकी उपयोगिता बढ़ जाती है। इन उदाहरणों से स्पष्ट हुआ कि मनुष्य कोई ऐसा पदार्थ नहीं बना सकता जो सर्वथा नया हो। वह केवल विद्यमान पदार्थों की उपयोगिता ही बढ़ा सकता है। इसी उपयोगिता वृद्धि को अर्थशास्त्र में 'उत्पत्ति' कहते हैं। जो व्यक्ति किसी भी ढंग से उपयोगिता बढ़ाता है उसे उत्पादक कहते हैं। किसान, बढ़ई, व्यापारी, वकील, डाक्टर, कुली सभी उत्पादक कहलाने के अधिकारी हैं, क्योंकि इनके उद्योगों द्वारा उपयोगिता की वृद्धि होती है।

उपयोगिता वृद्धि—ऊपर कहा जा चुका है कि अर्थशास्त्र में उत्पत्ति का अर्थ उपयोगिता-वृद्धि है। अब हम यहाँ पर इस बात पर विचार करेंगे कि वस्तुओं की उपयोगिता-वृद्धि किस प्रकार होती है। उपयोगिता-वृद्धि के मुख्य ढंग निम्नलिखित हैं :—

(१) रूप-परिवर्तन (Form Utility)—जब किसी वस्तु के रूप में आवश्यक परिवर्तन करके उसकी उपयोगिता बढ़ा दी जाती है तो उसे 'रूप परिवर्तन उपयोगिता' कहते हैं। उदाहरण के लिए जब कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाता है, तो इस नए रूप में मिट्टी की उपयोगिता पहले की अपेक्षा अधिक हो जाती है। इसी प्रकार बढ़ई लकड़ी से कुर्सी, मेज, आलमारी आदि तैयार करता है, अतः रूप-परिवर्तन से इन वस्तुओं की उपयोगिता बढ़ जाती है।

रूप-परिवर्तन उपयोगिता

(२) स्थान-परिवर्तन (Place Utility)—किसी वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने से जो उपयोगिता में वृद्धि होती है उसे 'स्थान परिवर्तन उपयोगिता' कहते हैं। उदाहरण के लिए, जंगल से लकड़ी काट कर बाजार में बेची जाय या लोहा, कोयला पत्थर आदि खान से निकाल कर दूसरे स्थान को भेज दिए जायें, तो इन वस्तुओं की उपयोगिता बढ़ जाती है। खनिज पदार्थों की उपयोगिता खान के पास बहुत कम

स्थान-परिवर्तन उपयोगिता

होती है। जब इन वस्तुओं को गाड़ी या मोटर द्वारा बाजार में लाया जाता है, तो उनका स्थान परिवर्तन होने से इनकी उपयोगिता बढ़ जाती है। इसी प्रकार अन्न, साग और फल खेतों या बगीचों से मण्डी ले जाने पर उनकी उपयोगिता में वृद्धि होती है।

(३) समय-परिवर्तन (Time Utility)—वस्तुओं के संचय या संरक्षण से भी उपयोगिता बढ़ती है। अन्न अपनी फसल के अवसर पर अधिक परिमाण में होने से उतना उपयोगी नहीं होता जितना कि बाद

समय-परिवर्तन उपयोगिता

में जबकि उसका परिमाण कम हो जाता है। अतएव दुकानदार अन्न को सत्तियो में सचय करते हैं और उस समय इसको निकालते हैं जब इसकी माग अधिक होती है। गुड, चावल, शराब आदि पदार्थ पुराने होने पर अधिक उपयोगी होते हैं।

अधिकार परिवर्तन उपयोगिता

(४) अधिकार-परिवर्तन (Possession Utility)—कुछ दशाओं मे केवल वस्तुओं के अधिकार परिवर्तन मे ही उनकी उपयोगिता बहुत बढ जाती है। इसमे सौदागरों आढतिया और दलालों का कार्य सम्मिलित है। जैसे, एक व्यापारी के पास एक हजार मन गल्ला है। गल्ले की उपयोगिता साधारण गृहस्थियों के लिए उस व्यापारी की अपेक्षा कहीं अधिक है। जब वह उस गल्ले को गृहस्थियों को बेचता है तो इस अधिकार परिवर्तन से गल्ले की उपयोगिता बढ जाती है। इसी प्रकार पुस्तकों की उपयोगिता पुस्तक विक्रेता की अपेक्षा पुस्तक क्रेताओं को अधिक है।

सेवा उपयोगिता

(५) सेवा उपयोगिता (Service Utility)—भौतिक वस्तुओं के रूप, स्थान समय या अधिकार-परिवर्तन से ही नहीं बल्कि सेवाओं से भी उपयोगिता वृद्धि होती है। नाचने गाने वाले तथा तमाशा दिखाने वाले अपनी कला से दर्शकों और श्रोताओं को आनन्दित करके उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं अत ये भी आर्थिक दृष्टि से उत्पादक हैं। इसी प्रकार डाक्टर वैद्य जज पुलिसमैन, अध्यापक, वकील नाई (हज्जाम) घरेलू नौकर आदि अपने सेवा कार्य से उत्पत्ति मे सहायक होते हैं।

(६) ज्ञान उपयोगिता (Knowledge Utility)—जो उपयोगिता किसी वस्तु की जानकारी से पैदा होती है वह ज्ञान उपयोगिता कहलाती है। सूचना रखने वाला विज्ञापन इसका एक उत्तम उदाहरण है। यदि किसी विद्यार्थी को किसी प्रमुख पुस्तक के गुण न मालूम हों तो उसे उसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं होगी किन्तु यदि कोई विज्ञापन उसे उस पुस्तक के लाभ बताये तो उसे वह बहुत आवश्यक प्रतीत होने लगेगी। इस प्रकार इसको उपयोगिता विज्ञापन द्वारा पैदा हो जाती है।

ज्ञान उपयोगिता

उत्पत्ति का महत्त्व (Importance of Production)

उत्पत्ति का महत्त्व व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है —

व्यक्तिगत महत्व—मनुष्य वस्तुओं के उपभोग से अपनी आवश्यकता की तृप्ति करता है। किन्तु यह तृप्ति तभी सम्भव है जब वस्तुएँ उत्पन्न की जा चुकी हों।

मनुष्य को कितनी तृप्ति प्राप्त हो सकती है यह उत्पत्ति के परिमाण पर निर्भर है। उत्पत्ति द्वारा ही मनुष्य का जीवन स्तर निर्धारित होता है। भारतवासियों का जीवन-स्तर बहुत गिरा हुआ है। इसका मुख्य कारण धनोत्पत्ति की कमी है। जीवन-स्तर तभी ऊँचा हो सकता है जबकि उत्पत्ति में वृद्धि हो। अतएव इस बात को वैज्ञानिक रूप से अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है कि उत्पत्ति किन-किन साधनों द्वारा होती है और किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है।

सामाजिक दृष्टि से महत्त्व—सामाजिक दृष्टि से अर्थशास्त्र का अध्ययन विशेष महत्व रखता है। अनेक आर्थिक तथा सामाजिक समस्याएँ जो आधुनिक समाज को बुरी तरह से घेरे हुए हैं, वे अधिकार उत्पत्ति की न्यूनता तथा हीनता के कारण ही होती है। समाज को इन समस्याओं से मुक्त करने के लिए हमें उत्पत्ति-विषय पर यथेष्ट रूप से ध्यान देना होगा। निर्धनता की समस्या का ही उदाहरण लीजिए। इसको हल करने के लिये धन-वितरण की असमानता दूर करने का सुझाव दिया जाता है, परन्तु केवल यही पर्याप्त उपाय नहीं है। यदि देश में यथेष्ट उत्पत्ति नहीं होगी तो लोग निर्धन ही बने रहेंगे, चाहे जिस ढङ्ग से बटवारा क्यों न किया जाय। अस्तु सामाजिक समृद्धि और उन्नति के लिये उत्पत्ति का यथेष्ट रूप से अध्ययन करना बहुत ही आवश्यक है।

उत्पत्ति के साधन (Factors of Production)

धनोत्पत्ति में अनेक वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है। बिना उनकी सहायता के उत्पत्ति असम्भव है। सुपरिचित खेती का उदाहरण लीजिए। इसके पूर्व कि किसान कुछ अन्न पैदा कर सके उसके पास भूमि, बीज, पानी, खाद, हल, बैल आदि का होना आवश्यक है। इनके बिना वह किसी प्रकार का अन्न पैदा नहीं कर सकता। उत्पत्ति के अन्य क्षेत्रों के लिए भी यही बात लागू है। उन वस्तुओं को जो उत्पत्ति के कार्य में सहायक होती हैं उत्पत्ति के साधन कहते हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए उत्पत्ति के साधनों को पाँच भागों में विभक्त कर दिया जाता है—भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध और साहस।

(१) भूमि (Land)—साधारणतया भूमि से अभिप्राय पृथ्वीतल से होता है, किन्तु अर्थशास्त्र में इसके अन्तर्गत वे सब उपयोगी पदार्थ और शक्तियाँ समझी जाती हैं जो प्रकृति से प्राप्त होती हैं और धनोत्पत्ति में प्रयोग की जाती हैं। जैसे पृथ्वी तल, पहाड़, जंगल, नदी, वायु, वर्षा, गर्मी, जलवायु आदि अन्य पदार्थ और शक्तियाँ जो पृथ्वी-तल के ऊपर और नीचे पाई जाती है।

(२) श्रम (Labour)—श्रम का अर्थ मनुष्य के उन मानसिक तथा शारीरिक प्रयत्नों से है जो धनोत्पत्ति के लिये किये जाते हैं। मनोरंजन के लिये किये गये प्रयत्न अर्थशास्त्र में श्रम की कोटि में नहीं आते। अर्थशास्त्र में श्रम के अन्तर्गत वे ही प्रयत्न आते हैं जिनका प्रयोजन धनोत्पत्ति में होता है।

(३) पूँजी (Capital)—धन का वह भाग जो अधिक धन पैदा करने में सहायक होता है, वह पूँजी कहलाता है। पूँजी के अन्तर्गत विविध वस्तुएँ सम्मिलित हैं, जैसे—कच्चा माल, औजार, मशीन, कारखाने, अनाज का बीज, मछलियाँ आदि।

(४) संगठन (Organisation)—उत्पत्ति के विविध साधनों का यथेष्ट रूप से प्रबन्ध, निरीक्षण अथवा सञ्चालन करने के कार्य को संगठन कहा जाता है।

आधुनिक उत्पत्ति प्रणाली में 'प्रबन्ध' का इतना अत्यधिक महत्व है कि बिना कुशल प्रबन्ध के कारखानों में धनोत्पत्ति का कार्य चल ही नहीं सकता।

(५) साहस (Enterprise)—धनोत्पत्ति में जोखिम उठाने के कार्य को साहस कहते हैं। आज कल की उत्पादन प्रणाली में जबकि उत्पादन एक बड़े पैमाने पर किया जाता है, जोखिम उठाने का कार्य एक बड़ा महत्व रखता है। अस्तु, यह धनोत्पत्ति का एक पृथक साधन माना जाता है।
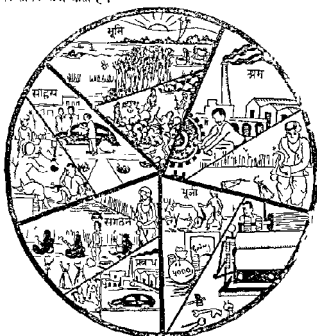
उत्पत्ति के साधन

उत्पत्ति के साधनों का उपयोग—प्रत्येक व्यवसाय या उद्योग में इन साधनों का किसी न किसी मात्रा में अवश्य उपयोग किया जाता है। यह हो सकता है कि किसी में कोई साधन अधिक परिमाण में प्रयुक्त होता है और किसी में कम। हम नीचे के उदाहरणों से यह देखेंगे कि भिन्न भिन्न व्यवसायों में किस प्रकार इन साधनों का उपयोग किया जाता है।

(अ) ग्रामीण जुलाहा (Village Weaver)—एक ग्रामीण जुलाहे के लिए अधिक प्राकृतिक प्रसाद (Free Gift of Nature) की आवश्यकता नहीं होती। केवल भूमि का एक छोटा सा टुकड़ा स्वयं बैठने और करघा स्थापित करने के लिए चाहिए। वह बिजली का प्रयोग नहीं करता है अभी हाल ही में जल शक्ति का प्रयोग थोड़ी सी मात्रा में प्रारम्भ हो गया है। उसे बाहर के श्रमिकों की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। आवश्यकता पड़ने पर प्राय कुटुम्बीय सदस्य ही काम कर

लेते है। अतः उसको किसी भी प्रकार की श्रम समस्या का सामना नही करना पड़ता है। इसे सूत आदि खरीदने के लिये पूँजी की आवश्यकता होती है सो वह किसी ग्रामीण साहूकार से उधार ले लेता है। ग्रामीण साहूकार की ब्याज दर इतनी अधिक होती है कि वह सदैव उसका शिकार बना रहता है तथा हर प्रकार उसका शोषण (Exploitation) होता रहता है। इस कार्य मे कोई विशेष प्रबन्ध की आवश्यकता नही पड़ती। केवल जोखिम उस समय होती है जबकि उसका बना हुआ माल न बिके या लागत दामों से भी कम में बिके।

(ब) बर्तन बनाने का व्यवसाय (Brass Industry)—बर्तन बनाने का व्यवसाय करने वालों को एक जुलाहे की अपेक्षा अधिक भूमि की आवश्यकता होती है। कारखाना बनाने के लिए भूमि के अतिरिक्त खनिज पदार्थों की भी आवश्यकता होती है। इस व्यवसाय मे जुलाहे की अपेक्षा अधिक परन्तु एक बडे कारखाने की अपेक्षा कम श्रमिकों की आवश्यकता होगी। सब आवश्यक श्रमिक मजदूरी पर ही रखे जाते हैं। पूँजी भी जुलाहे की अपेक्षा अधिक चाहिये। अधिक श्रमिकों और अधिक पूँजी लगाने के कारण संगठन या प्रबन्ध के कार्य में अधिक योग्यता की आवश्यकता होती है। कारीगरों में काम बाँटना, उनकी निगरानी के अतिरिक्त कच्चा माल खरीदने और बने हुए माल की बिक्री का प्रबन्ध करना पड़ता है। जुलाहे की अपेक्षा कार्य एक बडे पैमाने पर होने के कारण जोखिम का बढ़ना भी स्वाभाविक है।

(स) सूती कपडे की मिल—एक सूती कपडे की मिल मे जुलाहे और बर्तन के कारखाने की अपेक्षा प्राकृतिक प्रसाद अधिक परिमाण मे प्रयुक्त होते हैं। मिल स्थापित करने के लिए एक लम्बे चौडे मैदान के अतिरिक्त रुई, कोयला या विद्युत और एक विशेष प्रकार की जलवायु अर्थात् नम जलवायु की आवश्यकता होती है। ये सब वस्तुएँ भूमि के अन्तर्गत आती हैं। मिल में काम करने के लिए हजारों श्रमिक नौकर रखे जाते है। एक कपडे की मिल में भवन निर्माण के लिए इंजिन और मशीनें खरीदने, रुई खरीदने और बने हुए माल को संग्रह कर रखने के लिए पूँजी की बडी मात्रा में आवश्यकता होती है। यह पूँजी बैंकों में या जनता में जमा के रूप में उधार ली जाती है। प्रत्येक वस्तु अधिक परिमाण में प्रयुक्त होने के कारण संगठन या प्रबन्ध की भी समस्या जटिल हो जाती है। अतः योग्य एवं कुशल प्रबन्धकों की नियुक्ति वांछनीय हो जाती है। बडे पैमाने पर उत्पत्ति होने, मंडियों के विस्तृत हो जाने और माँग में परिवर्तन होते रहने के कारण लाभ हानि के उत्तरदायित्व में भी वृद्धि हो जाती है। अस्तु जोखिम झेलने वाले साहसी पुरुषों की आवश्यकता इसमें प्रथम आवश्यकता है।

उत्पत्ति के साधनों का सापेक्षिक महत्त्व

(Relative Importance of the Factors of Production)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि धनोत्पत्ति मे सभी साधनों की न्यूनाधिक मात्रा में आवश्यकता होती है। परन्तु यह निश्चय करना कठिन है कि कौन-सा साधन अधिक महत्त्वपूर्ण है और कौन सा कम, क्योंकि प्रत्येक साधन का स्वामी अपने साधन को अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है।

देखा जाय तो भूमि (Land) और श्रम (Labour) उत्पत्ति के दो साधन है। मनुष्य बिना प्रकृति या भूमि की सहायता के उत्पत्ति का कोई भी कार्य नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए, किसान खेती का काम तभी कर सकता है जबकि

उसके लिए भूमि, वायु, जल, वर्षा आदि प्राकृतिक वस्तुएँ पहले से ही विद्यमान हों। इसी प्रकार मछली पकड़ने वाला अपना काम तभी कर सकता है जबकि प्रकृति की ओर से नदियों और तालाबों में मछलियां हों। इन प्रकृतिदत्त वस्तुओं को ही भूमि कहा जाता है। अस्तु, उत्पत्ति के लिए सर्वप्रथम भूमि का होना अनिवार्य है। यद्यपि प्रकृति मनुष्य के लिए बहुत सी वस्तुएँ स्वयं प्रदान करती है, फिर भी बिना मनुष्य के परिश्रम के उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं की जा सकती। चाहे जितने उत्तम प्राकृतिक साधन क्यों न हों, किन्तु जब तक मनुष्य परिश्रम नहीं करेगा, उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि भूमि और श्रम उत्पत्ति के प्रमुख साधन (Primary Factors of Production) माने जाते हैं।

मनुष्य केवल भूमि और श्रम के ही सहारे आगे नहीं बढ़ सकता। उसे भूमि के अतिरिक्त कई और वस्तुओं की आवश्यकता होती है। प्राचीन निवासी शिकार करने के लिए धनुष-बाण का प्रयोग करते थे, मछली पकड़ने के लिए जाल और कांटे को काम में लाते थे। आज मनुष्य अनेक प्रकार की मशीनों तथा औजारों का प्रयोग करते हैं। अर्थशास्त्र में ये सब वस्तुएँ पूँजी के अन्तर्गत आती है। आधुनिक उत्पत्ति काफी अंश तक पूँजी पर ही अवलम्बित है। पूँजी की सहायता से मनुष्य की उत्पादन शक्ति बढ़ जाती है। अस्तु, उत्पत्ति में पूँजी (Capital) का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

आजकल अधिकतर उत्पत्ति कल-कारखानों द्वारा की जाती है जहां कि सहस्रों श्रमिक एक साथ काम करते हैं। इन कारखानों में बड़ी-बड़ी मशीनों का प्रयोग होता है जो बिजली आदि की शक्ति से चलाई जाती हैं। कारखानों में निरीक्षण अथवा प्रबन्ध करने वाले की बहुत आवश्यकता होती है। उसे यह विचारना पड़ता है कि कौनसा काम किस प्रकार किया जाय, कहां से आवश्यक साधन सस्ते और अच्छे मिल सकते है, कार्य का विभाजन श्रमिकों में किस प्रकार किया जाय। उत्पादित वस्तुओं को किन किन मंडियों में बेचा जाय, कैसे उन्हें उन स्थानों तक ले जाया जाय, किस ढंग से उन वस्तुओं को विज्ञापित किया जाय, आदि बातों पर भी उसे विचार करना पड़ता है। इन सब बातों की व्यवस्था ही तो संगठन (Organisation) कहलाती है। इस कार्य का आजकल इतना अधिक महत्व है कि यह एक पृथक साधन माना जाता है।

आधुनिक उत्पत्ति भविष्य के लिए की जाती है। भविष्य में किसी वस्तु की मांग का अनुमान लगा कर ही उसका उत्पादन प्रारम्भ किया जाता है। भविष्य अनिश्चित होने के कारण यह अनुमान भी सदैव ठीक नहीं उतर सकता। अतः ऐसे व्यक्तियों के समूह की आवश्यकता है जो हानि-लाभ के उत्तरदायित्व को अपने ऊपर ले सकें। उनका यह कार्य अर्थशास्त्र में साहस (Enterprise) या जोखिम उठाना (Risk-taking) कहलाता है। जब तक इस प्रकार के व्यक्ति कार्य को न संभालेंगे तब तक आधुनिक उत्पत्ति प्रणाली का सफलतापूर्वक चलना सम्भव नहीं है।

पूँजी, संगठन और साहस भूमि और श्रम के सहायक होने के कारण ये धनोत्पत्ति के गौण साधन (Secondary Factors of Production) कहे जाते हैं। भूमि या प्रकृति और श्रम या मनुष्य में भी प्रकृति निष्क्रिय है और मनुष्य सक्रिय। अस्तु, श्रम अर्थात् मनुष्य ही धनोत्पत्ति का सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन कहा जाता है। इस सम्बन्ध में प्रो० पेन्सन का कथन अधिक मान्य है। वे कहते हैं कि

"धनोत्पत्ति का प्रत्येक साधन आवश्यक है, किन्तु भिन्न-भिन्न समय में और औद्योगिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में, भिन्न भिन्न साधनों का अधिक महत्व रहा है।"

उत्पत्ति के साधक (Agents of Production)

उत्पत्ति के साधनों के स्वामी, अर्थात् उनकी पूर्ति करने वाले व्यक्ति 'उत्पत्ति के साधक' कहलाते हैं। उदाहरण के लिए, भूमि का स्वामी भू-स्वामी (Landlord), श्रम करने वाला श्रमिक (Labourer), पूँजी वाला पूँजीपति (Capitalist), प्रबन्ध करने वाला प्रबन्धक या संगठनकर्ता (Organiser), और साहस करने वाला या जोखिम उठाने वाला साहसी (Enterpriser or Enterpreneur) कहलाता है।

धनोत्पत्ति के प्रत्येक कार्य में चाहे वह बड़े पैमाने पर हो या छोटे पर, उपर्युक्त साधन और साधक आवश्यक हैं। परन्तु प्रत्येक कार्य में इन सब साधनों तथा साधकों का पृथक् पृथक् विद्यमान होना आवश्यक नहीं। कभी तो प्रत्येक साधन के लिए पृथक्-पृथक् साधक स्वतन्त्र रूप से होता है और कभी दो, तीन, चार या पाँचों साधनों के लिए एक ही साधक होता है। अतएव साधनों के पाँच रहते हुए भी साधक केवल दो या तीन हो सकते हैं या कभी एक ही साधक सारे साधनों की पूर्ति कर देता है।

उत्पत्ति की कार्य क्षमता

(Efficiency of Production)

कार्य क्षमता का अर्थ—अधिक माल या श्रेष्ठतर माल अथवा अधिक मात्रा में श्रेष्ठतर माल को निश्चित अवधि में बनाने या पैदा करने के सामर्थ्य को उत्पत्ति की कार्य-क्षमता या कुशलता कहते हैं। उदाहरणार्थ, दो समान सूती कपड़े की मिलों में यदि एक मिल की वार्षिक उत्पत्ति दूसरी मिल से मात्रा और श्रेष्ठता में ड्योढ़ी हो, तो एक की उत्पत्ति की कार्य-क्षमता दूसरी की अपेक्षा अधिक कहलायेगी।

उत्पत्ति की कार्य-क्षमता—उत्पत्ति की कार्य-क्षमता निम्नलिखित बातों पर निर्भर है :—

(१) भीतरी परिस्थितियाँ, और (२) बाहरी परिस्थितियाँ।

(१) भीतरी परिस्थितियाँ (Internal Circumstances)—वे हैं जो किसी व्यवसाय के भीतर ही विद्यमान हों। उनका सम्बन्ध कार्य करने की रीतियों से है। ये दो भागों में विभाजित की जा सकती हैं —

(अ) प्रत्येक साधन की व्यक्तिगत कार्य-कुशलता—धनोत्पत्ति के प्रत्येक साधन को अपने कार्य में कुशल होना चाहिए, अर्थात् जिस कार्य के लिये किसी साधन को प्रयुक्त किया जाय वह उस कार्य के लिए उपयुक्त हो। जितनी प्रत्येक साधन की कार्य-कुशलता अधिक होगी, उतनी ही समस्त उत्पत्ति की क्षमता में वृद्धि होगी। इसको यों कहा जा सकता है कि समस्त उत्पत्ति की क्षमता उसमें समाविष्ट साधनों की व्यक्तिगत कार्य-कुशलता पर निर्भर है। उदाहरणार्थ, एक अच्छे ढंग से बना हुआ विशाल भवन एक हाथ से कपड़े बुनने वाले कारखाने की अपेक्षा एक आधुनिक सूती कपड़े की मिल के लिए अधिक उपयुक्त है, अतः उसकी क्षमता दूसरी दशा में पहले की अपेक्षा अधिक होना स्वाभाविक है।

(आ) साधनों का उपयुक्त मात्रा में संयोग—उत्पत्ति की क्षमता के लिये विविध साधनों का उपयुक्त मात्रा में संयोग बड़ा आवश्यक है। किस व्यवसाय में कौन-से साधन किस मात्रा में प्रयुक्त होने चाहिए, यह एक कठिन समस्या है। परन्तु इस बात का ठीक ठीक ज्ञान दीर्घकालीन अनुभव द्वारा किया जा सकता है। उत्पत्ति के साधनों के उत्तम संयोग में ही अधिकतम उत्पत्ति और लाभ सम्भव हो सकता है।

(२) बाहरी परिस्थितियाँ (External Circumstances)—बाहरी परिस्थितियाँ व्यवसाय या उद्योगों के बाहर विद्यमान होती हैं और वे प्रायः निर्मित माल के मूल्य को प्रभावित कर विभिन्न उत्पत्ति के साधनों के पारिश्रमिक को प्रभावित करती हैं। वे निम्नलिखित हैं :—

(क) उद्योग का स्थानीयकरण और मंडी में निकटता।
(ख) मंडी में प्रचलित मूल्य।
(ग) अन्य उत्पादकों की स्पर्धा।
(घ) यातायात के साधनों की सुविधा।
(ङ) बैंकिंग सुविधाएँ।
(च) अन्य सम्बन्धित औद्योगिक वर्गों की कुशलता।
(छ) सरकार की आर्थिक नीति।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—उत्पादन के किसी साधन की कार्यक्षमता से क्या तात्पर्य है? भूमि तथा पूँजी की कार्यक्षमता किन बातों पर निर्भर है। (उ० प्र० १९५७)

२—उत्पत्ति के कौन-कौन से साधन होते हैं? उनके तुलनात्मक महत्व का वर्णन कीजिए। (उ० प्र० १९५५, ४४, ४०)

३—उत्पादन का अर्थ समझाकर लिखिए। क्या नीचे लिखे मुख्य उत्पादक हैं :—(क) आपके अर्थशास्त्र ज्ञान के परीक्षक, (ख) किसान, (ग) घरेलू नौकर और (घ) व्यापारी। (उ० प्र० १९५१)

४—'उत्पत्ति' से आप क्या समझते हैं? क्या निम्नलिखित उत्पादक हैं :—(अ) किसान, (आ) कॉलिज का विद्यार्थी, (इ) प्रोफेसर और (ई) माता-पिता। (म० भा० १९५२)

५—अन्ततः उत्पादन के साधन प्रकृति तथा श्रम है। पूँजी और प्रबन्ध को उत्पादन के अन्य साधन मानने का क्या कारण है।? (बिहार-पटना १९५२)

६—'उत्पादन उपयोगिताओं का सृजन है'। 'उपभोग में उपयोगिता का विनाश होता है।' समझाइए। (सागर १९५४)

इण्टर एग्रीकल्चर परीक्षाएँ

७—उत्पत्ति का अर्थ बताइए। रूप, स्थान तथा समय की उपयोगिता को स्पष्ट कीजिए। (अ० बो० १९५७)

८—अर्थशास्त्र में 'उत्पत्ति' का क्या अर्थ है? उत्पत्ति और उपभोग के सम्बन्ध की विवेचना कीजिए। (अ० बो० १९५५)

९—'उत्पत्ति' से आप क्या समझते हैं? उत्पत्ति के साधनों का संक्षेप में विवरण दीजिए और उनके पारस्परिक सम्बन्ध के महत्व को समझाइए। (अ० बो० १९५६)

अध्याय २२

भूमि (Land)

भूमि का अर्थ (Meaning)—साधारण भाषा में पृथ्वीतल (Surface of the Earth) को भूमि कहते हैं। परन्तु अर्थशास्त्र में इस शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। अर्थशास्त्र में भूमि से अभिप्राय उन समस्त वस्तुओं और शक्तियों से है जो प्रकृति द्वारा निःशुल्क धनोत्पादन के लिए मनुष्य को पृथ्वीतल पर अथवा उसके नीचे और ऊपर दी गई हैं। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित वस्तुएँ सम्मिलित हैं :—

(१) भूमि और उसके पोषक तत्व (२) खनिज पदार्थों के अनेक भंडार जो भूमि में सम्मिलित हैं (३) वायु, सर्दी, गर्मी, वर्षा और जलवायु (४) धरातल
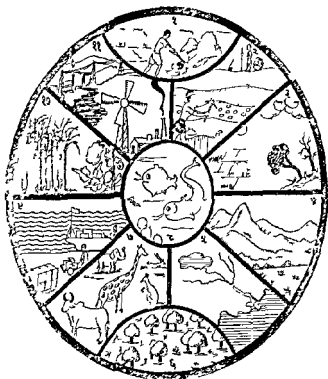
को ऊँचाई-निचाई अर्थात् पहाड़, मैदान आदि, (५) नदी झील और समुद्र, (६) जंगल, (७) विविध प्रकार का पशु-जीवन, (८) मछलियाँ, (९) समुद्र-तट व प्राकृतिक बन्दरगाह, (१०) कच्चा माल और (११) प्रेरक शक्तियाँ, जैसे वायु शक्ति, जलशक्ति आदि।

यह स्मरण रखना चाहिए कि अर्थशास्त्र में प्रकृति का वही भाग 'भूमि' में सम्मिलित किया जाता है जो धनोत्पत्ति में मनुष्य का सहायक होता है। प्रकृति का शेष भाग भूमि नहीं कहलाता। अर्थशास्त्र में भूमि का अर्थ इन्हीं प्राकृतिक प्रसादों (Free Gifts of Nature) से है। चूँकि इन सबमें भूमि ही प्रधान है, अत: ये सब प्राय: भूमि के ही नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि भूमि, प्राकृतिक प्रसाद और प्राकृतिक साधन एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं।

भूमि की विशेषताएँ (Characteristics of Land)

भूमि में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं जो इसके और अन्य उत्पत्ति के साधनों के मध्य भिन्नता प्रकट करती हैं:—

(१) भूमि परिमाण में परिमित है—भूमि की सबसे पहली विशेषता यह है कि यह परिमाण में परिमित है। यदि हम चाहें कि हमारे देश में सोना अथवा कोयले की खानें जितनी प्रकृति ने दी हैं उससे अधिक हो जायें, तो यह असम्भव है। उत्पत्ति के अन्य साधनों को मिलने पर घटाया-बढ़ाया जा सकता है परन्तु भूमि का जितना परिमाण है उतना ही रहेगा। यदि भूमि का मूल्य बढ़ जाय तो कहीं से नई भूमि पैदा नहीं की जा सकती। वह उतनी ही रहेगी चाहे भूमि की माँग घटे या बढ़े।

(२) भूमि उत्पत्ति का प्रमुख साधन है—भूमि उत्पत्ति का प्रमुख साधन है। इसके बिना उत्पत्ति किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। धनोत्पत्ति के लिए प्राकृतिक साधन विद्यमान होने चाहिए। हमें भूमि की आवश्यकता उठने बैठने चलने फिरने, कारखाने बनाने, कच्चा माल पैदा करने व निकालने आदि कार्यों के लिए अत्यधिक है।

(३) भूमि एक प्राकृतिक प्रसाद है—भूमि प्रकृति की देन है। यह मनुष्य की उत्पन्न की हुई वस्तु नहीं है। मानव समाज को भूमि प्रकृति की ओर से निःशुल्क प्राप्त होती है। परन्तु व्यक्तिगत दृष्टि से भूमि का मूल्य होता है। जब पूँजी और मानव-प्रयत्न द्वारा भूमि की उपयोगिता बढ़ा दी जाती है, तो इसको खरीदने के लिए मनुष्य को पर्याप्त मूल्य देना पड़ता है।

(४) भूमि स्थिर है—भूमि को हम एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं ले जा सकते। भूमि का जो भाग जहाँ पर स्थिर है, वह वहीं पर रहेगा।

(५) भूमि उत्पत्ति का एक निष्क्रिय साधन है—भूमि स्वयं उत्पत्ति नहीं कर सकती। प्राकृतिक साधन जिस अवस्था में बने हैं, वैसे ही रहते हैं। उत्पत्ति के लिए अन्य साधनों की सहायता नितान्त आवश्यक है। अनाज, कपास व अन्य वस्तुएँ भूमि पर अपने आप नहीं पैदा होतीं बल्कि मनुष्य को पूँजी आदि की सहायता से पूर्ण प्रयत्न करना पड़ता है।

(६) भूमि अमर एवं अक्षय है—मनुष्य भूमि को नष्ट नहीं कर सकता। हाँ, यह बात अवश्य है कि प्राकृतिक कारणों से जैसे बाढ़ या भूकम्प आदि से जल

के स्थान मे थल और थल के स्थान में जल हो जाता है। पर भूमि का कुल परिमाण उतना ही रहता है जितना पहले था। उसमे परिवर्तन नहीं किया जा सकता। परन्तु भूमि का उपजाऊपन अवश्य क्षयशील है।

(७) भूमि उपजाऊपन की दृष्टि से पर्याप्त भिन्नता रखती है—सब जमीनें एक-सी नहीं होतीं—कोई बंजर और कोई रेतीली।

(८) भूमि का मूल्य उसकी स्थिति पर निर्भर है—किसी जमीन के टुकड़े का मूल्य काफी अंश तक उसकी स्थिति पर निर्भर होता है। जो जमीन कस्बे या नगर के समीप स्थित होती है उसका दूर स्थित जमीन की अपेक्षा अधिक लगान या किराया आता है। भृति (मजदूरी) और ब्याज भी दूरी से अवश्य प्रभावित होते है पर इतने नहीं जितनी कि जमीन होती है।

धनोत्पत्ति मे भूमि का कार्य एवं महत्त्व (Importance & Function of Land in Production)—भूमि धनोत्पत्ति का आधारभूत साधन है। इसके बिना किसी प्रकार की धनोत्पत्ति नहीं की जा सकती। भूमि से हमें जल, वायु, प्रकाश आदि प्राप्त होता है जिसके बिना हम एक पल भर भी जीवित नहीं रह सकते। संसार में जितने काम होते है उन सब के लिए भूमि की आवश्यकता पड़ती है। भूमि पर ही मनुष्य रहने के लिए घर और धनोत्पत्ति के लिए कारखाने बनाता है। इसी पर खेती होती है जिससे मनुष्य को नाना प्रकार के खाद्य और पेय पदार्थ मिलते हैं। इसी से अनेक उद्योग धन्धों को चलाने वाले विविध प्रकार के कच्चे माल प्राप्त होते है। लोहा, कोयला, चांदी, सोना आदि खनिज पदार्थों की उत्पत्ति इसी मे निहित है। जगलों मे अनेक प्रकार की लकड़ियाँ तथा अन्य उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त होती है, और समुद्र, नदियों तथा झीलों से मछली आदि पदार्थ मिलते हैं। नदियों के पानी से विद्युत-शक्ति पैदा की जाती है जिससे केवल प्रकाश ही नहीं मिलता बल्कि कारखाने भी चलाये जाते हैं। भूमि का एक महत्वपूर्ण उपयोग यह है कि इस पर हम यातायात तथा व्यापार की सुविधा के लिए रेल, सड़के, नहरें आदि बनाते है। अस्तु भूमि एक प्रकार का भण्डार है जहाँ से हमें खाद्य पदार्थ, कच्चा माल, वायु, जल, बहुमूल्य खनिज पदार्थ आदि मिलते है।

किसी देश की आर्थिक उन्नति बहुत अंश तक वहाँ के प्राकृतिक साधनों पर निर्भर है। यदि किसी देश की भूमि उपजाऊ है, भौगोलिक स्थिति उत्तम है, नदी पहाड़, जंगल तथा खानें उचित परिमाण में विद्यमान है, वहाँ की जलवायु अच्छी है और वर्षा नियमित समय पर पर्याप्त मात्रा में होती है, तो वह देश निःसन्देह इन वस्तुओं का अभाव रखने वाले अन्य देशो की अपेक्षा अधिक उन्नति कर सकता है। उदाहरण के लिए, आज जो अमेरिका और इंगलैंड की आर्थिक उन्नति की पताका समस्त ससार मे फहरा रही है, वह वहाँ के प्राकृतिक साधनों तथा उनके सदुपयोग का फल है। भारतवर्ष भी प्राकृतिक साधनो की दृष्टि से पूर्ण सम्पन्न है परन्तु कमी इस बात की है कि इनका उचित ढंग से प्रयोग नहीं किया जाता। बस यही मुख्य कारण है कि आज यह देश आर्थिक उन्नति की घुड़दौड़ में अन्य देशों से बहुत पिछड़ा हुआ है।

भूमि की कार्य क्षमता (Efficiency of Land)

भूमि की क्षमता का अर्थ है भूमि पर न्यूनतम परिश्रम और व्यय से अधिकतम तथा श्रेष्ठतर पैदावार करना। भूमि की क्षमता से उसकी उत्पादन शक्ति (Productivity) का तात्पर्य होता है। भूमि की कार्य-कुशलता अथवा उत्पादन शक्ति निम्नलिखित बातों पर निर्भर होती है।

(१) प्राकृतिक दशाएँ (Natural Conditions)—जिस अवस्था में प्राकृतिक साधन प्राप्त होते हैं उनका उत्पत्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इनमें से मिट्टी जलवायु भीतरी नमी आदि का पैदावार पर अधिक प्रभाव पड़ता है। जैसे यदि मिट्टी उपजाऊ है तो पैदावार भी अधिक होगी। इसी प्रकार बहुत गरम या ठंडा जलवायु काम में बाधा डाल सकता है।

(२) सामाजिक दशाएँ (Social Conditions)—भूमि की स्थिति अर्थात् उसका आबादी या मण्डी से निकट होना और यातायात व सम्वाद के साधनों का उपलब्ध होना आदि बातें सामाजिक दशाओं के अन्तर्गत आती हैं। इन दशाओं में परिवर्तन होने से भूमि की कार्य-क्षमता में भी परिवर्तन हो जाता है। जैसे, एक दूर स्थित भूमि के निकट में रेलवे लाइन चला जाती है तो उसके मूल्य में वृद्धि हो जाती है।

(३) आर्थिक दशाएँ (Economic Conditions)—भूमि की कार्य कुशलता आर्थिक दशाओं पर भी निर्भर है। जैसे उस पर जितनी पूँजी और श्रम लगाया जायगा उसकी उपज उतनी ही प्रभावित होती जायगी।

(४) मानव प्रयत्न (Human Efforts)—उपर्युक्त सब बातों के होते हुए भी भूमि की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने के लिए मानव प्रयत्नों की आवश्यकता है। परिश्रमी और उद्योगी मनुष्य प्राकृतिक न्यूनताओं को कुछ अंश तक दूर कर सकता है। विज्ञान की सहायता से मनुष्य जलवायु को बदल कर अपने अनुकूल बना सकता है। बड़े पैमाने पर वृक्षों को लगाने से जलवायु में अन्तर आ जाता है। इसी प्रकार उचित ढंग की खाद डालने से अथवा फसल परिवर्तन आदि से भूमि की उपज बढ़ाई जा सकती है। मनुष्य अपनी बुद्धिबल से बड़ी-बड़ी नदियों के बाँध बना कर नहरें निकाल सकता है। इसी प्रकार यातायात के साधनों में उन्नति करके प्राकृतिक साधनों की स्थिति सुधार सकता है।

खेती करने की विविध रीतियाँ
(Various Methods of Cultivation)

खेती की पैदावार दो प्रकार से बढ़ाई जा सकती है। एक तो नये खेतों को जोत कर और दूसरे पुराने खेतों में ही अधिक पूँजी और परिश्रम लगाकर, अर्थात् खेती करने की दो मुख्य रीतियाँ हैं जो निम्नलिखित हैं —

(१) विस्तृत खेती (Extensive Cultivation)—नये देशों में खेतों के बड़े-बड़े टुकड़ों पर अल्प पूँजी और श्रम से खेती करना विस्तृत खेती कहलाता है। जिन देशों में जनसंख्या कम होती है और भूमि की अधिकता होती है, वहाँ उपज बढ़ाने के लिए विस्तृत खेती की जाती है। इस प्रकार की खेती आस्ट्रेलिया कनाडा और अमरिका जैसे नये देशों में प्रायः देखी जाती है जहाँ कृषक एक ही भू भाग से अधिकतम पैदावार का प्रयत्न नहीं करते।

विस्तृत खेती की विशेषताएं (Characteristics)—विस्तृत खेती की निम्नलिखित विशेषताएं हैं :—

१. इस प्रकार की खेती नये देशों में, जहाँ भूमि की अधिकता है तथा जहाँ जन-संख्या कम है, की जाती है।

२. खेतों का औसत आकार बड़ा होता है।

३. अल्प पूंजी और श्रम लगाया जाता है।

४. इस प्रणाली में भूमि का उपयोग लापरवाही से किया जाता है।

५. इस कृषि प्रणाली में प्रायः खेत परिवर्तन (Rotation of Fields) का अभ्यास किया जाता है। सारी भूमि कई भागों में विभाजित कर कई खेत बना लिए जाते हैं जिन पर बारी-बारी से खेती की जाती है।

(२) गहरी खेती (Intensive Cultivation)—पुराने देशों में छोटे-छोटे खेतों के टुकड़ों पर अधिक पूंजी और श्रम लगा कर खेती करने को 'गहरी खेती' कहते हैं। पुराने देशों में जहाँ घनी आबादी के कारण बेजोती हुई नई भूमि उपलब्ध नहीं होती वहाँ उपज की माँग बढ़ने पर पुराने खेतों में ही और अधिक पूंजी व श्रम लगाकर पैदावार बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। प्रत्येक किसान अपने खेतों की उपज बनाये रखने अथवा वृद्धि करने के लिए अनेक प्रकार से प्रयत्नशील रहता है। इस सम्बन्ध में उन्हें कृषि-विज्ञान से बड़ी सहायता मिलती है। इस प्रणाली का अनुकरण इङ्गलैंड, डेनमार्क, हालैण्ड आदि देशों में किया जाता है जहाँ की जनसंख्या कृषि भूमि की अपेक्षा अत्यधिक है। इन देशों में वैज्ञानिक साधनों द्वारा पुराने खेतों से ही उपज बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। भारतवर्ष एक कृषि-प्रधान देश होते हुए भी इस क्षेत्र में अन्य देशों से बहुत पीछे है।

गहरी खेती की विशेषताएं (Characteristics)

१. इस प्रणाली का उपयोग पुराने देशों में जहाँ जनसंख्या की अधिकता के कारण नई भूमि उपलब्ध नहीं होती, किया जाता है।

२. खेतों का आकार छोटा होता है।

३. खेतों में लगातार गहराई तक हल चला कर खेती की जाती है।

४. फसल-परिवर्तन (Rotation of Crops) की युक्ति प्रयोग में लाई जाती है।

५. खेत के प्रत्येक इञ्च पर खेती बड़ी सावधानी से की जाती है।

६. मिट्टी के तत्वों का अनुसन्धान किया जाता है और जो कमियाँ होती हैं वे प्राकृतिक या कृत्रिम खादों से पूरी की जाती हैं।

७. कृषि-सम्बन्धी प्रयोग करने के लिए प्रयोगशालाएं तथा फार्म (खेत) स्थापित किये जाते हैं जिनमें उत्तम प्रकार के बीजों, खादों और खेती के ढंग के परिणामों की जाँच की जाती है।

८. उत्तम प्रकार के हल और अन्य उपकरण (Implements) प्रयुक्त किये जाते हैं जिससे सारी कृषि-क्रिया वैज्ञानिक हो जाती है।

९. इस प्रकार खेती उन देशों में की जाती है जहाँ श्रम और पूंजी की प्रचुरता हो, परन्तु भूमि के प्रयोग में मितव्ययता वाँछनीय हो।

इन दोनों प्रकार के ढंगों में कृषक का यही उद्देश्य रहता है कि उत्पत्ति के साधनों को बढ़ा कर उपज बढ़ाई जाय। विस्तृत खेती में तो भूमि अन्य साधनों की

अपेक्षा अधिक मात्रा में बढ़ाई जा सकती है, क्योकि नया देश होने और आबादी कम होने के कारण भूमि अधिक मात्रा में उपलब्ध हो सकती है। परन्तु खेती में भूमि की कमी होने के कारण अन्य साधन अर्थात् श्रम और पूँजी ही बढ़ाये जाते हैं। साराश यह है कि परिस्थिति के अनुसार कृषक वही ढग प्रयोग में लाता है जो उसे कम लागत में अधिक उपज दे सके।

भारतवर्ष में गहरी खेती (Intensive Cultivation in India)

भारतवर्ष एक बहुत प्राचीन देश है जहाँ जन-सख्या की अधिकता और सहायक धन्धो के नष्ट हो जाने से भूमि पर भार अधिक हो गया है, अर्थात् यहाँ की अधिकाश जन-सख्या भूमि पर ही जीवन निर्वाह करती है। कुछ पडत भूमि अवश्य है पर वह अधिकाश खेती योग्य नहीं है। अस्तु, यहा गहरी खेती होती है। खेती इस प्रकार गहराई से हो रही है कि मिट्टी की उत्पादन शक्ति प्राय: नष्ट सी हो चुकी है और अब उपज इतनी कम हो रही है कि बिना बाहर से अनाज मँगाये काम नहीं चल सकता है। यहाँ गहरी खेती होने का एक यह भी कारण है कि यातायात के साधनो में उन्नति होने के कारण उपज बडी-बडी मडियो तक सुगमता से पहुँचा दी जाती है जिससे उपज का अच्छा मूल्य प्राप्त हो जाता है। इससे गहरी खेती करने को थोडा बहुत प्रोत्साहन मिल जाता है। फिर भी भारतवर्ष में खेती की दशा ठीक नहीं है, इसमे कई कठिनाइया हैं जो नीचे दी जाती हैं।

भारतवर्ष में गहरी खेती को अपनाने में कठिनाइयाँ (Difficulties in the adoption of Intensive Cultivation)

(१) भारतीय कृषको की अनभिज्ञता और रूढ़िवादिता (Ignorance and Conservatism of Indian Cultivators)—भारतीय किसानो की अज्ञानता और लकीर का फकीर होना ही इस मार्ग में बड़ी अडचन पैदा करता है। वे इसलिए इस प्रणाली को नहीं अपनाते क्योंकि उनके पूर्वज इसको नहीं करते थे।

(२) कृषको की निर्धनता (Poverty of Tillers)—कृषक वर्ग निर्धन होने से यात्रिक उपकरणों द्वारा खेती नहीं कर सकते। आजकल की ऊँची दरों और सहकारिता के कारण उनकी दशा में अवश्य सुधार हो गया है।

(३) साख की सुविधाओं का अभाव (Lack of Credit Facilities)—जो कुछ साख सुविधाएँ कृषको को उपलब्ध है वे अपर्याप्त एव बडी मँहगी है। अतः किसान लोग खेती में नये सुधार करने के लिये इन मँहगी सुविधाओं का प्रयोग नहीं कर सकते।

(४) सिंचाई की सुविधाओं का अभाव (Lack of Irrigation Facilities)—भारत के सभी भागों में सिंचाई के साधन नहीं मिलते। यद्यपि राज्य द्वारा इस सम्बन्ध में बहुत कुछ हुआ है, परन्तु अब भी इस क्षेत्र में बहुत काम किया जा सकता है।

(५) अच्छे चरागाहों का अभाव (Lack of Good Pastures)— उत्तम चरागाहों की कमी होने के कारण यहाँ खेती करने वाले अच्छे पशुओं का अभाव है।

(६) खेतों का छोटा-छोटा और यत्र-तत्र स्थित होना (Small and Scattered Holdings)—खेत छोटे छोटे टुकडों में बँटे होने और इधर उधर दूर-

दूर स्थित होने के कारण उत्तम ढंग और मशीनरी द्वारा सुधार होना सम्भव नहीं है।

किस प्रकार राज्य द्वारा कृषि की उत्पादन शक्ति बढ़ाई जा सकती है ?

विस्तृत खेती में—राज्य द्वारा छोटे छोटे खेतों को मिलाकर बड़े खेत बनाने, सामूहिक और सहकारी खेती करने और अकृष्ट (Uncultivated) भूमि पर खेती करने के लिये प्रोत्साहन मिलना चाहिये।

गहरी खेती में—राज्य द्वारा कृषकों को भूमि पर स्थायी सुधार करने की सहायता मिलनी चाहिये। इसके अतिरिक्त कृषकों को बीज, खाद और खेती के यन्त्रों की सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिये।

भूमि की गतिशीलता (Mobility of Land)

कुछ प्राकृतिक साधन एवं शक्तियाँ गतिशील हैं—अर्थशास्त्र में भूमि शब्द एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण इसमें प्राकृतिक साधन एवं शक्तियाँ सम्मिलित हैं। इनमें से कुछ साधन व शक्तियाँ गतिशील हैं और अन्य नहीं। उदाहरण के लिये, मिट्टी का स्थानान्तरण हो सकता है नदियों के भाग मोड़ जा सकते हैं, जल विद्युत शक्ति और खनिज पदार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरित किये जा सकते हैं।

भूमि स्वयं गतिशील नहीं है—भूमि को गतिशील कहना बिल्कुल हास्यास्पद है। इसको उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना एक असम्भव कार्य है।

भूमि किस आशय में गतिशील है—भूमि इस आशय में गतिशील है कि श्रम और पूँजी के न्यूनाधिक विनियोग से किसी क्षेत्र की उत्पादन शक्ति बढ़ाई जा सकती है और किसी की घटाई जा सकती है।

भूमि बहुप्रयोजन सिद्ध करने की सामर्थ्य रखने के कारण इसमें गतिशीलता का आभास अनुभव करते हैं। एक ही भू भाग पर घास अनाज या फल पैदा किये जा सकते हैं। हमारे देश में खाद्य पदार्थों की संकीर्णता होने के कारण बहुत सारी जूट और रुई पैदा करने वाली भूमि क्रमशः चावल और गेहूँ की पैदावार में लगा दी गई है। यहाँ यह बात स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकार का प्रयोग परिवर्तन भी कई दशाओं में जलवायु, मिट्टी की प्रकृति और पूँजी के विनियोग की सुविधा पर निर्भर होता है। जैसे जूट पैदा करने वाली मिट्टी गेहूँ पैदा करने में असमर्थ है और जिस जलवायु में गेहूँ पैदा होता है उसमें जूट पैदा होना कठिन है।

विशिष्ट प्रयोजन वाली भूमि प्रयोग की दृष्टि से भी अचल या स्थिर होती है—कुछ भूमि ऐसी होती है जो किसी विशिष्ट प्रयोजन सिद्ध करने के अतिरिक्त अन्य कार्य के लिये प्रयुक्त नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, यूरोप के उत्तरी भाग की भूमि में केवल जंगल ही रह हैं। वहाँ की भूमि इतनी उपजाऊ नहीं है कि फसलें पैदा करने के लिये जंगल साफ करने का कष्ट व व्यय किया जाय।

कुछ अचल या स्थिर प्राकृतिक साधन—कुछ प्राकृतिक साधन ऐसे हैं जो पूर्णतया निश्चित हैं, जैसे—जलवायु, सूर्य का प्रकाश, नदियाँ, पहाड़ आदि। ये प्राकृतिक साधन एक स्थान से दूसरे स्थान को अथवा एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को स्थानान्तरित नहीं किये जा सकते।

अध्याय २४

भारतवर्ष के प्राकृतिक साधन
(Natural Resources of India)

अब हम यहाँ भारतवर्ष के प्राकृतिक साधनों का अध्ययन करेंगे। प्रकृति ने भारत को जो उपहार भेंट किये है उनका हमारी आर्थिक व्यवस्था मे बड़ा महत्त्व है। बिना इनका अध्ययन किये हम अपनी आर्थिक समस्याओं को हल नहीं कर सकते। हमारी कोई भी आर्थिक योजना बिना इनके ज्ञान के सफल नहीं हो सकती। अस्तु हमे अपने देश के प्राकृतिक साधनों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। १५ अगस्त १९४७ ई० को भारत स्वतन्त्र हुआ परन्तु यह दो भागों मे विभाजित कर दिया गया—भारत और पाकिस्तान। इस पुस्तक मे केवल भारतवर्ष का ही उल्लेख किया गया है।

भारतवर्ष की स्थिति, सीमा और क्षेत्रफल
(Situation, Boundary and Area of India)

भारतवर्ष भूमध्य रेखा के उत्तर मे ८° से ३७° अक्षाशो और ६८° से ९७° पूर्वी देशान्तरो के भीतर फैला हुआ है। भारतवर्ष का कुल क्षेत्रफल जम्मू व काश्मीर राज्य सहित १२,५९,७९७ वर्ग मील है। देश की उत्तर से दक्षिण मे अधिक से अधिक लम्बाई २,००० मील है और पूर्व से पश्चिम तक चौड़ाई १,८५० मील है। यह क्षेत्रफल रूस को छोड़कर समस्त यूरोप के क्षेत्रफल से कुछ ही कम है और इङ्गलैंड का तेरह गुना, जापान का आठ गुना, कनाडा का ⅓ और सोवियत रूस का ⅙ है। ससार की जन-सख्या का ⅕ भाग भारत मे पाया जाता है।

भारत के उत्तर मे हिमालय पर्वत है जो ससार मे सबसे ऊँचे है और सदैव बर्फ से ढके रहते है। देश के उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम की ओर भी पहाड़ो की श्रेणियाँ है जिनमे कुछ दर्रे है। इन दर्रों के द्वारा आवागमन होता है। पूर्व मे बगाल की खाड़ी, पश्चिम मे अरब सागर और दक्षिण मे हिन्द महासागर स्थित है। भारतवर्ष की स्थलीय सीमा ९,४२५ मील लम्बी है और इसका समुद्र तट ३,५३५ मील लम्बा है।

भारतवर्ष की स्थिति का महत्त्व

(१) भारतवर्ष पूर्वी गोलार्द्ध के लगभग मध्य मे स्थित है जिसके कारण यह प्राचीन काल से ही विश्व विख्यात रहा है। इसकी स्थिति इस प्रकार की है कि यहां से जल-मार्ग द्वारा ससार के सभी देशो को जहाज जाते है। वायु-मार्ग की दृष्टि से भी हमारे देश की स्थिति बडी उत्तम है। यूरोप तथा आस्ट्रेलिया के मध्य मे स्थित होने के कारण इन महाद्वीपो के बड़े-बड़े वायुयान भारत होकर जाते है। इस प्रकार भारत ने संसार के समस्त देशों के साथ बहुत अच्छे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये है। अब स्वतन्त्र भारत को अपना स्वय का जहाजी बेड़ा रखकर इस स्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठा लेना चाहिए।

(२) भारतवर्ष की स्थिति का दूसरा महत्त्व यह है कि इसके उत्तर में हिमालय पर्वत उत्तरी एशिया से आने वाली ठंडी हवाओं को रोकता है तथा इस ओर से होने वाले विदेशियों के आक्रमण से इस देश की पूर्ण रक्षा करता है।

(३) भारतवर्ष की स्थिति इस प्रकार की है कि यहाँ सब प्रकार का जलवायु मिलता है जिससे गर्म और ठंडे देशों की सभी पैदावार यहाँ होती हैं।
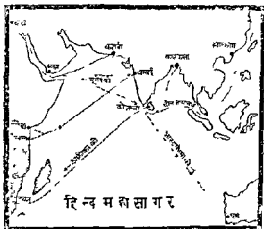
भारतवर्ष की स्थिति

भारतवर्ष का समुद्रतट (Coast line)

भारत का समुद्रतट लगभग ३,५३५ मील लम्बा है। परन्तु यह अधिक कटाफटा न सीधा है जिसके कारण यहाँ उत्तम बन्दरगाहों का अभाव है। केवल बम्बई, मद्रास, हावर विशाखापटन और कलकत्ता ही अच्छे बन्दरगाह हैं।

भारतवर्ष के प्राकृतिक या भौतिक विभाग
(Natural or Geographical Regions of India)

प्राकृतिक या भौगोलिक दृष्टि से भारत निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है :—

(१) उत्तरी पहाड़ी प्रदेश   (२) उत्तरी विशाल मैदान
(३) दक्षिणी पठार   (४) समुद्रतटीय मैदान

(१) उत्तरी पहाड़ी प्रदेश—भारत के उत्तर में हिमालय पर्वत स्थित है जो पूर्व में आसाम से पश्चिम में काश्मीर तक तीन निरन्तर श्रेणियों में १,५०० मील लम्बा फैला हुआ है। इसकी औसत चौड़ाई २०० मील है। इसे संसार में सबसे ऊँचा पर्वत होने का गौरव प्राप्त है।

हिमालय द्वारा होने वाले आर्थिक लाभ—भारत की आर्थिक अवस्था के अध्ययन में हिमालय पर्वत का बड़ा महत्त्व है —

(१) यह उत्तर में साइबेरिया से आने वाली ठंडी हवाओं को रोकता है जिससे देश की पैदावार आदि पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।
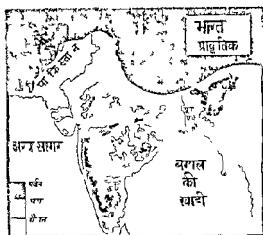
(२) हिन्द महासागर से आने वाली जल से भरी हवाओं को रोक कर देश में वर्षा कराता है जिससे कृषि में बड़ी उन्नति होती है।

(३) पर्वतीय भागों के ढालों पर वन हैं जिनकी लकड़ी से कई प्रकार के कारखाने चलते हैं।

(४) पहाड़ी भागों की निचली भूमि में चारागाह हैं जहाँ पशुपालन और उससे सम्बद्ध धन्धे चलते हैं।

(५) हिमालय पर्वत में अनेक जड़ी-बूटियाँ प्राप्त होती हैं जिससे औषध व्यवसाय को पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता है।

(६) भारत की ८० प्रतिशत चाय यहीं ही उत्पन्न होती है।

(७) पहाड़ी भाग के वनों में जंगली पशुओं का शिकार किया जाता है और उनका चमड़ा और हड्डियाँ काम में लाई जाती हैं।

(८) इससे हमारे देश की विदेशी आक्रमण से रक्षा होती है जिससे हम शान्तिपूर्वक अपने आर्थिक विकास की ओर ध्यान दे सकते हैं।

(९) पहाड़ी भागों में बहने वाली नदियों से जल विद्युत उत्पन्न कर अनेक व्यवसाय चलाये जाते हैं।

(१०) हिमालय पर्वत से अनेक नदियाँ निकलती हैं जिनसे मैदान में सिंचाई होती है।

(११) हिमालय प्रदेश का जलवायु स्वास्थ्यकर होने के कारण वहाँ सहस्रों मनुष्य अपने स्वास्थ्य सम्पादन के लिये जाते हैं। वहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य रमणीय होने के कारण विदेशी यात्री एक बड़ी संख्या में प्रतिवर्ष जाते हैं जिससे भारत को बड़ी आय होती है।

(२) उत्तरी विशाल मैदान—यह मैदान सिंधु गंगा और ब्रह्मपुत्र तथा उनकी सहायक नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी से बना है। यह लगभग २००० मील लम्बा और १५० मील चौड़ा है। यहाँ की भूमि उपजाऊ है तथा सिंचाई के साधन विद्यमान होने के कारण यहाँ कृषि मुख्य उद्योग है। कृषि की प्रधानता का दूसरा

कारण यह है कि इस भाग में खनिज पदार्थों का पूर्ण अभाव है। इस मैदान में घनी जन संख्या है तथा कई व्यापारिक महत्व रखने वाले नगर भी स्थित है।

(३) दक्षिणी पठार—इस भाग के उत्तर में विन्ध्याचल और सतपुड़ा पहाड़, पूर्व में पूर्वीघाट और पश्चिम में पश्चिमी घाट स्थित है। यह सम्पूर्ण भाग पथरीला और टूटा-फूटा है। पठार की औसत ऊँचाई समुद्र-तल से २००० फीट है। इसमें होकर बहने वाली मुख्य नदियां महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी हैं। जितना आर्थिक विकास उत्तरी मैदान का हुआ है उतना दक्षिणी पठार का नहीं हुआ। पठारी भाग होने के कारण यहाँ कुछ कठिनाइयाँ अवश्य है—कृषि के लिये अधिक भूमि नहीं है, वर्षा भी कम होती है और यातायात के साधनों में भी बाधाएँ हैं, परन्तु मनुष्य के निरन्तर प्रयत्न द्वारा ये सब समस्याएँ हल हो सकती है।

(४) समुद्रतटीय मैदान—दक्षिण के पठार के पूर्व और पश्चिम में लम्बे समुद्र तट हैं। इस तट के दो विभाग किये जा सकते हैं—(अ) पश्चिम समुद्र तट और (ब) पूर्वी समुद्रतट। अरब सागर से उठने वाली जलभरी हवायें पश्चिम तट पर अच्छी वर्षा करती है। यहाँ मैदान की कमी के कारण अधिक खेती तो नहीं हो सकती परन्तु वनों की लकड़ी का सदुपयोग किया जा सकता है। जहाँ समतल मैदान है वहाँ चावल, गर्म मसाला तथा नारियल की अच्छी पैदावार होती है। पूर्वी तट पश्चिमी तट की अपेक्षा अधिक चौड़ा है। पूर्वी तट पर वर्षा कम होने पर भी महानदी, गोदावरी, कृष्णा कावेरी आदि नदियों से सिंचाई हो जाने के कारण यहाँ खेती अच्छी होती है। यहाँ की मुख्य उपज चावल और गन्ना है। समुद्र तट कटा-फटा हुआ नहीं होने के कारण इस पर प्राकृतिक बन्दरगाहों का अभाव है।

भारतवर्ष की भूमि (Soils of India)

भारतवर्ष की भूमि मोटे रूप से निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित की जा सकती है :—

(१) दमट भूमि (Alluvial Soils)—यह भूमि नदियों से लाई हुई मिट्टी से बनती है, इसलिए बड़ी उपजाऊ होती है। यह भूमि अधिकतर गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बगाल, आसाम, गोदावरी, कृष्णा, पश्चिमी और पूर्वी समुद्र-तटीय मैदानों में फैली हुई है। यह भूमि लगभग ३ लाख वर्गमील के क्षेत्रफल को घेरे हुए है और बहुत गहरी तथा उपजाऊ है।

विशेषताएँ—सब जगह इस भूमि की रचना तथा गुण समान दृष्टिगोचर नहीं होते। भारत के उत्तर-पश्चिम में यह भूमि छिद्रयुक्त (Porus) और शुष्क है और इसी प्रकार के कई स्थानों में यह रेतीली है, उत्तर प्रदेश बिहार और उड़ीसा में यह ढेलों (Loams) के रूप में मिलती है और बंगाल में यह भूमि अधिक ठोस (Compact) और तर (Moist) हो गई है। यह भूमि लगभग सभी रसायनिक तत्वों से परिपूर्ण होने के कारण बड़ी उपजाऊ है। इसमें शोरे (Nitrate) की कमी अवश्य है, परन्तु वह गोबर की साधारण खाद से पूरी की जा सकती है। यह सिंचाई की सुविधाओं से सम्पन्न होने पर रबी और खरीफ की सभी फसलें उत्पन्न कर सकती है।

(२) काली भूमि (Black Soils)—यह भूमि ज्वालामुखी पर्वतों के फटने से जो राख बाहर निकलती है उसके ठंडे होकर जमने से बनती है। इसे 'लावा' भूमि भी कहते हैं। यह भूमि बम्बई राज्य के अधिकांश भाग में, काठियावाड़ बरार

पश्चिमी मध्य प्रदेश, मध्य भारत क्षेत्र, आन्ध्र, मद्रास राज्य के बैलारी, कुरनूल, कोयम्बटूर और टिनेवेली जिलों में फैली हुई है। इस प्रकार इसके द्वारा लगभग २ लाख वर्गमील भूमि घिरी हुई है।

विशेषताएँ—इस भूमि में खनिज पदार्थ सन्निहित होने के कारण इसका रंग काला होता है। इस भूमि की एक विशेषता यह है कि वर्षा ऋतु में पड़ने वाले पानी को अपने अन्दर सोख लेती है और शुष्क ऋतु में पौधे को पानी पहुँचाती रहती है। इस प्रकार इस भूमि में दीर्घ काल तक नमी बनी रहती है। यह भूमि प्रायः रबी की फसलों के लिये बड़ी उपयुक्त है, परन्तु खरीफ की फसलें भी उत्पन्न की जाती है।

(3) लाल भूमि (Red Soils)—इस प्रकार की भूमि आन्ध्र, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, छोटा नागपुर, बंगाल का दक्षिणी भाग, बड़ौदा और अरावली, राजस्थान व आसाम में पाई जाती है।

विशेषताएँ—लाल भूमि की रचना, गहराई और उपजाऊपन में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। शुष्क पठारों पर यह कम गहरी कम उपजाऊ, ककरीली, रेतीली या पथरीली और हल्के रंग की है जिसमें केवल बाजरा आदि की साधारण फसल हो सकती है। परन्तु नीचे के मैदानों में उपजाऊ, गहरी, चमकीले लाल रंग की, गहरे भूरे रंग की या काले रंग की है जिसमें सिंचाई की सहायता से विविध उत्तम फसलें उत्पन्न की जा सकती है। इसमें नाइट्रोजन (Nitrogen), फास्फोरस या अम्ल (Phosphoric Acid) और नमी (Humus) का अभाव होता है, परन्तु पोटाश (Potash) और चूना (Lime) पर्याप्त मात्रा में पाये जाते है।

(४) हल्के लाल रंग की भूमि (Laterite Soils)—यह भूमि भी लाल रंग की होती है जो उष्ण कटिबंध की गहरी जल वृष्टि के कारण लाल रंग की चट्टानों के घुलने से बनती है। यह ईंट सदृश भूमि दक्षिणी पठार की ऊँची चोटियों, मध्य प्रदेश, पूर्वी घाट का अधिकांश भाग, उड़ीसा तथा बम्बई के दक्षिणी भाग, मलाबार तट पर पाई जाती है। आसाम के पठारी भाग के कुछ स्थानों में भी यह मिट्टी मिलती है।

विशेषताएँ—यह मिट्टी बहुत कम उपजाऊ है। इसमें पोटाश, चूना, फॉसफोरस और मैग्नेशिया की कमी रहती है। ऊँचे भागों में यह मिट्टी बहुत कम गहरी होती है और ककरीली होती है। परन्तु नदियों की घाटियों और नीची भूमि में यह अन्य मिट्टियों के मिश्रण से तथा गहराई के कारण कृषि योग्य बन गई है। इस मिट्टी में विशेषतया चावल की पैदावार की जाती है।
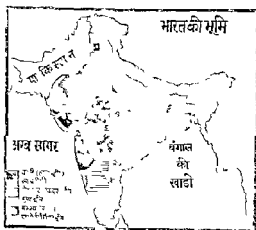
भूमि की उर्वरा-शक्ति को निर्धारित करने वाले तथ्य
(Factors that govern the fertility of the soil)

(१) प्रकृति (Nature) —भूमि की प्राकृतिक रचना की भिन्नता के साथ साथ भूमि के उपजाऊपन में भी पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। जैसे दुमट भूमि अन्य प्रकार की भूमि से अधिक उपजाऊ होती है। इस दृष्टि से अन्य देशों की अपेक्षा भारतीय कृषक को अधिक प्राकृतिक लाभ पहुँचते है।

(२) खाद (Manuring) भूमि का उपजाऊपन खाद पर भी निर्भर है। भूमि की प्राकृतिक कमियों को कृत्रिम ढंगों अर्थात् खाद, फसल परिवर्तन अथवा मिश्रित फसल द्वारा पूरा किया जा सकता है। यह बात नहीं है कि भारतीय कृषक खाद के महत्व को नहीं समझता। उसकी अज्ञानता, रूढ़िवादिता और सुस्ती ही इन ढंगों को न अपनाने का मुख्य कारण है।

(३) जल (Water)—किसी भूमि की उर्वरा शक्ति पानी पर भी निर्भर है। भारतवर्ष में जल-वृष्टि अनिश्चित व अनियमित रूप से होती है। अतः पानी की कमी कुओं, तालाबों और नहरों से सिंचाई कर पूरी की जाती है। फिर भी बहुत-सारी भूमि बिना सिंचाई की सुविधाओं के बेकार पड़ी हुई है। अस्तु, सिंचाई के साधनों विशेषतया नहरों—के प्रसार के लिए अभी यहाँ पर्याप्त क्षेत्र है।

(४) वैज्ञानिक ढंग और उपकरण (Scientific Methods and Implements)—आधुनिक वैज्ञानिक ढंगों तथा उपकरणों (औजारों) द्वारा भूमि की उपज बढ़ाई जा सकती है। परन्तु भारतीय कृषक निर्धन होने के कारण इन सब का प्रयोग करने में असमर्थ है।

भूमि की समस्याएँ
(Problems of the Soil)

भूमि सम्बन्धी दो मुख्य समस्याएँ हैं—भूमि का कटाव और भूमि-श्रान्ति।

(१) भूमि का कटाव (Soil Erosion)

अर्थ—वृष्टि के जल अथवा वायु से भूमि के उत्तम कणों के बह जाने या उड़ कर चले जाने को 'भूमि का कटाव' कहते है। भूमि का कटाव कृषि-जगत की विश्व-व्यापी समस्या है। पृथ्वी पर यह कटाव कहीं मन्द गति से और कहीं वेग से होता आ रहा है। कृषि प्रयोग क्षेत्र मिसूरी (अमरिका) में वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि भूमि के २% ढाल पर ४० टन उपजाऊ मिट्टी प्रति एकड़ कट जाती है। बम्बई राज्य में चिकना दुमट मिट्टी के ३% ढाल पर जहां २३·५″ वर्षा होती है ४० टन मिट्टी प्रति एकड़ का ह्रास होता है। चेम्बरलिन का कथन है कि १ फुट मोटी मिट्टी बनाने में दस हजार वर्ष से भी अधिक समय लगता है।

भूमि के कटाव के प्रकार (Kinds)—भूमि का कटाव मुख्यत दो प्रकार से होता है :—

(१) सतह कटाव (Sheet Erosion)—जब भूमि की सतह के मुलायम तथा बारीक कण पानी के साथ बह जाते है अथवा हवा के साथ उड़ जाते है, तब भूमि के ऐसे कटाव को 'सतह कटाव' कहते है।

(२) गहरा या नालीदार कटाव (Gully Erosion)—जब वर्षा का जल भूमि पर तीव्र गति से बहता है तो भूमि पर गहरे खड्ड तथा नालियाँ बन जाती

है। इसे 'गहरा या नालीदार कटाव' कहते है। यह कटाव बहुत हानिकारक होता है, क्योंकि इन नालो के द्वारा अधिक मात्रा मे उपजाऊ मिट्टी बहती रहती है। जिससे भूमि बिल्कुल कृषि योग्य नही रहती।

भूमि के कटाव के कारण—भूमि के कटाव को प्रोत्साहन देने वाली कई बाते है जिनमे निम्नलिखित मुख्य है :—

(१) भूमि पर वनस्पति की अनुपस्थिति। (२) मानसून की मात्रा। (३) भूमि की स्थिति। (४) भूमि का ढाल। (५) भूमि पर वायु की गति।

भूमि के कटाव के साधन (Agencies of Soil Erosion)—भूमि का कटाव दो साधनो से होता है—(१) जल-वृष्टि (Rainfall), और (२) हवा (Wind)।

भूमि के कटाव से हानियाँ—(१) उपजाऊ मिट्टी के हटने से वह स्थान खेती के लिए निरस हो जाता है। (२) बहाई हुई मिट्टी उस स्थान को हानि पहुंचा सकती है जहाँ पर वह इकट्ठी हो। (३) कही कुएँ या छोटी नदियाँ सूख जाती हैं तो कहीं नदियो मे बाढ आती है।

उत्तर प्रदेश मे आगरा, मथुरा, इटावा, प्रतापगढ, रायबरेली, सुल्तानपुर, जौनपुर आदि जिलो मे भूमि का कटाव अधिक वेग पर है। राजस्थान का मरुस्थल लगभग ३२,००० एकड प्रति वर्ष भयकर गति से उत्तर-प्रदेश मे बढता आ रहा है। उत्तर-प्रदेश मे लगभग ४६ लाख एकड भूमि कटाव के कारण कृषि के अयोग्य हो चुकी है।

भूमि के कटाव को रोकने के उपाय

(१) पर्वत पर जहाँ से नदियाँ निकलती हो, वहाँ वृक्ष लगा देने चाहिये। ऐसा करने से नदी के प्रवाह मे रुकावट होकर पानी की मद गति हो जायगी।

(२) नदी के ऊपरी भाग मे कई स्थानो पर बाँध बना देने चाहिये। ऐसा करने मे भी पानी का प्रवाह धीमा पड जायगा। इन बाँधो का पानी फिर कई प्रकार से प्रयुक्त किया जा सकता है।

(३) पहाडी ढालो पर जहाँ से पानी बहता हो, क्यारियाँ सी बना लेनी चाहिये। ऐसा करने से पानी तेजी से न बहकर धीरे-धीरे बहेगा जिससे मिट्टी बहकर नहीं जा सकेगी।

(४) खुली भूमि पर पेड उगाये जाने चाहिये, चाहे उनसे प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ न हो।

(५) भूमि का ढाल जिस दिशा मे हो, ठीक उसके विपरीत दिशा मे फसल की कतार होनी चाहिये। परन्तु घनी फसलो को ढाल की भूमि मे कतार मे नही बोना चाहिए।

(६) चरागाहो पर पशुओं को स्वतन्त्र छोडने की प्रथा बन्द कर देनी चाहिये ताकि घास उगी रहेगी जिससे पानी भूमि मे समा जायगा। पानी द्वारा कटाव कम हो जायगा और घास भी अधिक प्राप्त होगी।

ढाल के विरुद्ध फसल की कतार

(७) आसाम के चाय के बगीचों की भाँति ढालू भूमि पर चबूतरे (Terraces) और बहाव की नालियाँ (Drains) बना कर खेती करनी चाहिए जिससे ऊँचाई से आने वाला पानी रुकता हुआ आता है और वह अधिक भूमि नहीं काट पाता। फसल को पानी की मात्रा अधिक रूप में प्राप्त होती है।

टिरैसिंग विधि द्वारा खेती

(८) जब खेत का ढाल १ मील में १० से १५ फीट तक हो तो वहाँ मेडों का प्रयोग किया जाता है। खेत के चारों ओर मजबूत मेड होनी चाहिए। साधारणतया मेड की चौड़ाई ४ फीट और ऊँचाई २ फीट होनी चाहिए। ताकि पानी का बहाव चारों ओर से हो सके। पानी निकलने के लिये नाली (Drain) का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिये जिससे खेत का पानी बिना मिट्टी बहाये निकल जाय।

खेत की मेडबन्दी

(९) बलुई और रेतीली भूमि में यह कटाव अधिक होता है क्योंकि इसमें भुरभुरापन अधिक होता है। खाद देने पर यह भूमि अधिक चिपचिपी हो जाती है। चिपचिपाहट बढ़ जाने से साधारण वायु और पानी की गति का उस पर प्रभाव नहीं पडता।

(१०) जहाँ गहरे कटाव के कारण दरार पड़ गई हों वहां उनके मुँहों पर मिट्टी के डाट लगा देने चाहिए जिससे कालान्तर में बही हुई मिट्टी के पुन जमा हो जाने से दरारें अपने आप भर जायेंगी।

केन्द्रीय भूमि रक्षा मडल (Central Soil Conservation Board)

योजना आयोग के परामर्श पर ही केन्द्रीय सरकार ने दिसम्बर सन् १९५३ में इस मडल की स्थापना की। इस मण्डल का मुख्य उद्देश्य मिट्टी के कटाव व बहाव से होने वाली हानियों के कारणों पर विचार करके उनको रोक के उपायों पर सरकार को परामर्श देने का है। इसी मडल के तत्वावधान में राजस्थान के मरुस्थल को पूर्व की ओर आगे बढ़ने से रोकने के लिए राजस्थान व उत्तर प्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्रों में वन लगाने का सुझाव दिया गया है। मरुस्थल नियन्त्रण के विषय में अनुसंधान करने के लिये जोधपुर में 'मरुस्थल वन अनुसंधानशाला' स्थापित की जा चुकी है।

योजना और भूमि संरक्षण—दूसरी योजना में भूमि संरक्षण के लिए २५ करोड रुपये की व्यवस्था की गई है। एक व्यापक कार्य-क्रम निर्धारित किया गया है जिससे २० लाख एकड से अधिक भूमि में संरक्षण का कार्य किया जायगा। इसमें विभिन्न प्रकार के क्षेत्र शामिल हैं, जैसे कृषि क्षेत्र, नदी के पास वाले क्षेत्र, चट्टान वाले क्षेत्र, बेकार पड़ी भूमि और पहाड़ी क्षेत्र। रेगिस्तानी क्षेत्रों में केन्द्रीय सरकार स्वयं भूमि-संरक्षण का कार्य कर रही है।

(२) भूमि श्रान्ति (Soil Exhaustion)

भूमि पर निरन्तर अत्यधिक फसलें पैदा करने से जब उसकी उत्पादन शक्ति नष्ट हो जाती है तो हम उसे 'भूमि श्रान्ति' कहते हैं। बिना विश्राम तथा खाद दिये निरन्तर खेती करते रहने से भूमि बिल्कुल थक जाती है।

भूमि-श्रान्ति के कारण—(१) निरन्तर फसलें पैदा करने के कारण भूमि को आराम करने का अवसर नहीं मिल पाता। (२) फसलों के हेर-फेर (Rotation) से नहीं बोना। (३) रसायनिक खादों का अभाव। (४) भारत की जन-संख्या का लगातार बढ़ना और भूमि के क्षेत्र का सीमित होना। सीमित क्षेत्र से अधिकाधिक माल उत्पन्न करना।

भूमि-श्रान्ति से बचने के उपाय—(१) फसलों का हेर फेर (Rotation of Crops)। (२) खेतों को बारी-बारी से जोतना। (३) दो-तीन वर्ष के बाद भूमि को एक फसल के लिये परती छोड़ना। (४) गोबर का उपयोग केवल खाद के लिए ही करना। ईंधन के लिये लकड़ी का प्रयोग करना (५) हरी खाद (Green Manure) के लिये सनई, ढेंचा, मूँग, सरसा, शलजम आदि की फसलें बोना। (६) रसायनिक खादों का उपयोग करना (७) सहायक धन्धों आदि से भूमि पर स्थित जन-संख्या का दबाव कम करना।

भारतवर्ष का जलवायु (Climate of India)

भारतवर्ष एक विशाल देश है जो ८° से ३७° उत्तरी अक्षांशों तक फैला हुआ है। कर्क रेखा इसको लगभग दो भागों में विभक्त करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष का अधिकांश भाग उष्ण कटिबन्ध में स्थित है। परन्तु फिर भी इसके विभिन्न भागों के जलवायु में बड़ा अन्तर है। जैसे पंजाब में गर्मी और सर्दी दोनों ही अधिक पड़ती है। किन्तु ज्यों ज्यों पूर्व की ओर आते है तापक्रम का अन्तर कम होता जाता है और बंगाल व आसाम में तो सर्दी और गर्मी दोनों ही कम हो जाती हैं। इसी प्रकार राजस्थान और पंजाब में जलवायु शुष्क है, किन्तु बंगाल और आसाम में यही नमी लिए हुए है। उत्तरी भारत में पर्वतीय क्षेत्रों में शरद ऋतु में बड़ी सर्दी और ग्रीष्म ऋतु में स्वास्थ्यप्रद सर्दी पड़ती है। समुद्रतटों पर समशीतोष्ण जलवायु मिलता है। इस प्रकार भारत का जलवायु अर्द्ध उष्ण (Semi-Tropical) कहा जा सकता है।

भारतवर्ष के जलवायु का आर्थिक प्रभाव
(Economic Effects of Climate of India)

(१) भारतवर्ष में कई प्रकार का जलवायु मिलने के कारण यहाँ सब प्रकार के खाद्य पदार्थ एवं कच्चा माल पैदा किया जा सकता है। इस प्रकार भारत आर्थिक समस्याओं के लिये स्वावलम्बी हो सकता है।

(२) जलवायु की भिन्नता के साथ-साथ वनस्पति और जीव जन्तुओं में भी भिन्नता पाई जाती है। कहीं घने जंगल शेर-चीता आदि पशुओं से परिपूर्ण मिलते हैं कहीं घास के मैदानों में हिरन, गाय, बैल आदि जानवर दृष्टिगोचर होते हैं और मरुस्थल में छोटी-छोटी झाड़ियों को खाने वाले ऊँट, भेड़ बकरी पाये जाते हैं।

(३) जलवायु का मनुष्यों की कार्यक्षमता पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। गर्म जलवायु में रहने वाले प्रायः निर्बल और आलसी होते हैं जबकि ठंडे देशों के लोग मजबूत और परिश्रमी होते हैं।

(४) जलवायु मस्तिष्क को प्रभावित करती है। गर्म जलवायु मे रहने वाले निरन्तर मस्तिष्क-सम्बन्धी कार्य नही कर सकने। अन्वेषण में यह ज्ञात हुआ है कि ६०° फा० का तापक्रम शारीरिक कार्य के लिये आदर्श है और ३०° फा० का तापक्रम मस्तिष्क-सम्बन्धी कार्य के लिये।

(५) जलवायु से मनुष्यो के पेशे निर्धारित होते है। जिस देश का जलवायु गर्म और तर होता है, वहाँ खेती अधिक होने के कारण वहाँ के निवासियों का मुख्य धन्धा खेती ही होगा। भारत के कृषि प्रधान होने का यही मुख्य कारण है।

(६) जलवायु से मनुष्यो की वेषभूषा निर्धारित होती है। ठडे देशो के लोग ऊनी और तग वस्त्र धारण करते हैं और गर्म देशो मे सूती और ढीले वस्त्र प्रयुक्त किये जाते हैं।

(७) मकानो की बनावट, नगरो की बसावट और सडको आदि की योजनाएँ जलवायु से पूर्ण प्रभावित होती हैं। ठडे जलवायु के प्रदेशो मे मकानो मे आँगन आवश्यक नही, परन्तु गर्म जलवायु के प्रदेशो मे मकानो मे आगन का होना आवश्यक है।

(८) गर्म जलवायु मे जहाँ धूप तेज पडती है, चमकीले रग पसन्द किये जाते है, किन्तु ठडे एव घनाच्छादित प्रदेशो मे हल्के और सादे रग अच्छे लगते हैं। भारत मे इस प्रकार के रग इसीलिये 'इगलिश कलर' कहे जाते है।

जलवृष्टि (Rainfall)

जलवृष्टि जलवायु का प्रमुख अग है। बिना तापक्रम और जलवृष्टि के जलवायु का कोई अस्तित्व नही हो सकता। भारतवर्ष मे जलवृष्टि अधिकतर मानसून हवाओ से होती है, इसीलिये भारत के जलवायु को 'मानसून जलवायु' कहते हैं।

मानसून का अर्थ—यह शब्द अरबी भाषा के 'मौसिम' शब्द से निकला है, परन्तु अब इसमे तात्पर्य पानी बरसाने वाली मौसमी हवाओं से है। भारत मे ये हवाएँ सर्दी और गर्मी दोनो मौसमो मे चलती हैं और पानी बरसाती हैं। गर्मी मे ये हवाएँ दक्षिण पश्चिम से चलने के कारण इन्हे दक्षिण पश्चिमी मानसून (South-West Monsoon) कहते है। इसी प्रकार शीतकालीन हवाएँ उत्तर पूर्व की ओर से चलने के कारण उत्तर-पूर्वी मानसून (North-East Monsoon) कहलाती है।

मानसून हवाओ के उत्पन्न होने के कारण – भारत मे अधिकतर जलवृष्टि ग्रीष्म ऋतु मे ही होती है। गर्मी के दिनो मे जबकि सूर्य कर्क रेखा पर होता है, तब भारत का भू भाग (उत्तरी भारत) जल की अपेक्षा अधिक गर्म हो जाता है और वहाँ की हवाएँ गर्मी के कारण हल्की होकर ऊपर उठ जाती हैं जिसमे वायु भार कम (Low Pressure) हो जाता है। सूर्य से दूर स्थित समुद्र पर इस समय भूमि की अपेक्षा कम गर्म होने के कारण वायु-भार अधिक (High Pressure) होगा। अत. हवाएँ उच्च वायु भार से कम वायु भार की ओर अर्थात् समुद्र से भूमि की ओर चलती है। ये हवाएँ समुद्र पर से हजारो मील की यात्रा करती हुई आने के कारण जल से परिपूर्ण होती हैं। जब ये हवाएँ मार्ग मे स्थित किसी पहाड को पार करने के लिये ऊपर चढती हैं तो ठण्डी होकर वर्षा के रूप मे गिर जाती हैं। ये हवाएँ ग्रीष्म ऋतु मे (जून मे सितम्बर तक) चलती हैं, इस कारण इन्हे गर्मी का मानसून और दक्षिण-पश्चिम की ओर मे चलने के कारण दक्षिणी-पश्चिमी मानसून (South-West Monsoon) कहते हैं। भारतवर्ष मे लगभग ६० प्रतिशत वर्षा इन्ही हवाओ से होती है, अत इनका यहाँ बडा महत्व है।

शीतकाल में सूर्य की मकर रेखा पर आ जाने के कारण वायु भार में परिवर्तन हो जाता है, अर्थात् भूमि पर उच्च वायु भार और समुद्र पर कम वायु भार रहता है। अतः हवाएँ शीतकाल में भूमि की ओर से समुद्र की ओर चलती है। भूमि की ओर से चलने वाली हवाएँ शुष्क होती है परन्तु जब ये हवाएँ बगाल की खाडी में से होकर आगे बढ़ती है, तो अपने साथ पानी ले लेती है। दक्षिणी भारत का दक्षिणी-पूर्वी भाग और लका का पूर्वी भाग इन हवाओं के मार्ग में पड़ने के कारण मद्रास में इन हवाओं से शीतकाल में अच्छी वर्षा होती है। ये हवाएँ शीतकाल में अक्टूबर से जनवरी तक चलती है, इसलिये इन्हें शीतकालीन मानसून और उत्तर-पूर्व की ओर से चलने के कारण उत्तरी-पूर्वी मानसून (North East Monsoon) कहते हैं।

जलवृष्टि का वितरण (*Distribution of Rainfall*)

ग्रीष्म कालीन मानसून (The Summer Monsoon)—इसकी मुख्य दो शाखाएँ है— अरब सागर की शाखा और बगाल की खाडी की शाखा।

अरब सागर की शाखा (The Arabian Sea Branch)—ग्रीष्म काल में जो हवाएँ अरब सागर में उठती है वे उत्तर पश्चिम की ओर से आती है और पश्चिमी घाट से टकराती हैं जिससे वहा अधिक जलवृष्टि होती है। पश्चिमी तटीय मैदान में इन हवाओं से औसत ८० इञ्च वर्षा होती है। ये हवाएँ उत्तर की ओर भी जाती है और देश के कुछ अन्य भागों (राजस्थान मध्यप्रदेश) में भी वर्षा करती है।

बगाल की खाडी की शाखा (The Bay of Bengal Branch)— जो जल में परिपूर्ण हवाएँ बगाल की खाडी से उठती है वे आसाम की कुछ पहाडियों से सीधी टकराती हैं। जिसके फलस्वरूप वहाँ अत्यधिक वर्षा होती है। अकेले चेरापूंजी में सन् १८६१ में ८०० इञ्च से भी अधिक वर्षा हुई पाई जाती है, वैसे औसत ४६० इञ्च का है। ये हवाएँ हिमालय पर्वत के कारण सीधी उत्तर को निकल जाने के बजाय बाईं ओर मुड जाती है। ज्यों ज्यों पूर्व से पश्चिम की ओर जाती हैं त्यों-त्यों वर्षा में कमी होती जाती है यहाँ तक कि सिन्ध में वर्षा २ या ३ इञ्च ही होती है।
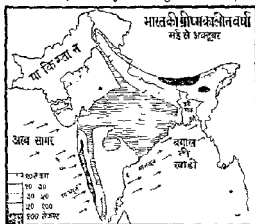
शीतकालीन मानसून (The Winter Monsoon)—शीतकाल में हवाएं स्थल भाग से जल भाग की ओर चलती हैं अतः वे शुष्क होती हैं। जब बंगाल की खाड़ी पर से होकर जाती हैं तो अपने में पानी ले लेती हैं और मार्ग में स्थित मद्रास के उत्तर और दक्षिण के जिलों और पूर्वी तट में पर्याप्त वर्षा होती है। इसके अतिरिक्त शीत काल में कुछ वर्षा पंजाब, बम्बई, मध्य प्रदेश और आसाम में भी होती है।
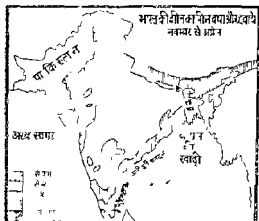
नीचे दिया गया मानचित्र भारत में जलवृष्टि के वितरण को व्यक्त करता है —
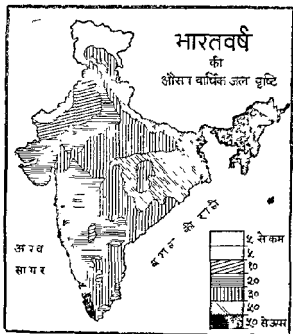
भारतीय मानसून की विशेषताएँ
(Peculiarities of Indian Monsoon)

(१) देश की लगभग ९० प्रतिशत वर्षा मानसून द्वारा होती है।

(२) अधिकांश वर्षा साल भर न होकर कुछ ही महीनों में होती है। गर्मी का मानसून जून से सितम्बर और सर्दी का अक्टूबर से जनवरी तक सीमित है। गर्मी के मानसून से अधिक वर्षा होती है।

(३) मानसून कभी-कभी नियत समय पर न आकर आगे-पीछे आता है।

(४) मानसून कभी कभी तो बिल्कुल ही नहीं आता जिसके कारण कृषि को अत्यन्त हानि पहुँचती है।

(५) यह भी कहा जाता है कि पाँच वर्ष के कालचक्र में एक उत्तम, एक निकृष्ट और तीन वर्ष उदासीन होते हैं।

(६) मानसून में मूसलाधार वर्षा होती है। पानी तेजी से बहता है जिससे भूमि के उपजाऊ तत्वों को बहा कर ले जाता है।

(७) वर्षा के वार्षिक औसत में एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त के मध्य पर्याप्त भिन्नता देखी जाती है। जैसे चेरापूँजी में ४६०" औसत है तो सिन्ध के उत्तरी भाग में केवल २" या ३" ही है।

(८) जो भाग मानसून के मार्ग में है तथा जहाँ पर्वत श्रेणियाँ हैं, वहाँ अधिक वर्षा होती है।

(९) मानसून उठते समय समुद्र में बड़े तूफान आते हैं जिससे समुद्रतटीय प्रदेशों में जन व धन की बड़ी क्षति होती है।

(१०) सर्दी के मानसून से बहुत कम वर्षा होती है और वह भी देश के कुछ ही भागों में। अधिकतर वर्षा लगभग सभी प्रान्तों में गर्मी के मानसून से होती है।

(११) गर्मी और सर्दी के मानसूनों के कारण भारतवर्ष में केवल दो ही फसलें—रबी और खरीफ होती हैं।

(१२) जलवृष्टि साल भर न होकर केवल कुछ ही महीनों में सीमित होने के कारण भारतवर्ष में अच्छे चरागाहों का अभाव है। इसके फलस्वरूप पशुओं को सूखी कड़बी पर रखा जाता है जिससे वे अधिक बलिष्ट नहीं हो पाते।

(१३) ग्रीष्म ऋतु की सख्त गर्मी के पश्चात् वर्षा होने के कारण भारतवर्ष में अनेक बीमारियों के जन्मदाता कीड़े-मकोड़े पैदा हो जाते हैं। जैसे मलेरिया (Malaria), आमातिसार (Dysentry) आदि। अनेक बीमारियों के कीटाणु उत्पन्न होकर वर्षा ऋतु में और उसके पश्चात् अनेक भारतवासियों को बीमार कर निर्बल कर देते हैं जिससे उनकी कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(१४) भारतवर्ष के गर्म व तर जलवायु ने भारतवासियों की कार्यकुशलता कम कर उनको सुस्त एवं आरामतलब बना दिया है।

मानसून का आर्थिक महत्त्व (Economic Importance of Monsoon)—मानसून भारतीय अर्थ-व्यवस्था का एक प्रमुख अंग है। भारत एक कृषि प्रधान देश है और यहाँ अभी सिंचाई के साधन पर्याप्त मात्रा में स्थित नहीं होने के कारण यहाँ के लोगों का सारा आर्थिक जीवन मानसून पर ही अवलम्बित है।

(२) मानसून की कमी या उसका बिल्कुल न होना केवल कृषकों के लिए ही नहीं, अपितु निर्माताओं व्यापारियों एवं उपभोक्ताओं के लिये भी अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होता है।

(३) मानसून की न्यूनता से साधारण क्रय शक्ति गिर जाती है जिससे उत्पादन की कमी होकर व्यवसायिक श्रमिकों की सेवाओं की मांग कम हो जाती है।

(४) रेलों की आय में भी न्यूनता आ जाती है क्योंकि अनावृष्टि के कारण व्यापार एवं लोगों के आवागमन में कमी हो जाती है।

(५) राज्य की मालगुजारी (Revenue) में ह्रास हो जाता है और दुर्भिक्ष सम्बन्धी सहायता की व्यवस्था करने में व्यय में वृद्धि हो जाती है।

(६) लोक कर्म (Public Works) में कमी हो जाती है जिससे बेकारी बढ़ जाती है।

(७) मानसून के न आने से फसलें नष्ट हो जाती हैं और पहले का अपेक्षा निर्यात कम हो जाने से भारत का व्यापार सन्तुलन भी प्रतिकूल (Unfavourable Balance of Trade) हो जाता है।

(८) मानसून की असफलता से विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयाँ (Exchange Difficulties) उत्पन्न हो जाती हैं।

(९) मनुष्यों के चरित्र निर्माण पर मानसून का गहरा प्रभाव पड़ता है। देश के जिन भागों में पर्याप्त वर्षा होती है (जैसे गंगा-यमुना का मैदान) वहाँ के लोगों में आत्म निर्भरता (Self sufficiency) रूढ़िवादिता (Conservatism) और घर पर ठहरने की (Staying at home) की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। ये लोग अधिक परिश्रमी न होकर आरामतलब होते हैं। आजीविका के सुगम साधन उपलब्ध होने के कारण मनुष्य अपना अवकाश का समय अपनी आध्यात्मिक धार्मिक एवं साहित्यिक उन्नति के लिये लगाता है।

(१०) इसके विपरीत देश के जिन भागों में जलवृष्टि का अभाव होता है वहाँ के मनुष्य परिश्रमी होते हैं क्योंकि उन्हें उदर-पूर्ति के साधन जुटाने के लिये भरसक प्रयत्न करना पड़ता है। उदर पूर्ति के साधन जुटाने में निरन्तर लगे रहने के कारण उन्हें अपनी आध्यात्मिक एवं साहित्यिक उन्नति के लिये बिल्कुल अवकाश नहीं मिलता।

(११) जनसंख्या का घनत्व भी इस देश में वर्षा की मात्रा के अनुसार पाया जाता है। अन्य वस्तुएँ समान हों तो देश में अधिक वर्षा वाले भाग हो अधिक आबाद है।

भारत की आर्थिक व्यवस्था में मानसून का कितना महत्त्व है यह ऊपर के विवरण से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। अतः मानसून को भारत का भाग्य विधाता कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यही कारण है कि भारत का बजट मानसून का जुआ (Gamble of Monsoon) कहा जाता है क्योंकि भारतीय बजट अधिकांश में मानसून पर ही निर्भर है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—भारत के आर्थिक जीवन म वर्षा के महत्व को दिखाइए तथा भारत म मानसून के मार्ग का सक्षप म वर्णन कीजिए। (अ० बो० १६५६ ५६)

२—भारत की कृषि म काम आने वाली विभिन्न प्रकार की मिट्टियों का वर्गीकरण कीजिये और उनको मुख्य उपजो का नाम लिखिये। (अ० बो० पू० १६५६)

३—भारत म भूमि की मुख्य समस्याये क्या हैं ? उत्तर प्रदेश की सरकार उनको हल करने के लिये क्या कर रही है ? (उ० प्र० १६५४)

४—भारत की भूमि और जलवायु का विवरण दीजिये। देश की आर्थिक अवस्था पर उनका क्या प्रभाव पडता है ? (उ० प्र० १६३३)

५—भारतवासियो का मानसून किस प्रकार प्रभावित करता है यह पूर्णतया समझाइये। (रा० बो० १६५५)

६—किसी देश के आर्थिक विकास पर वहा की जलवायु तथा प्राकृतिक दशाओं के पडने वाले प्रभावों की व्याख्या कीजिये। (अ० बो० १६५४, ५०)

७—निम्नलिखित पर नोट लिखिए —

भारत मे मिट्टी का कटाव (रा० बो० १६६०), वन महोत्सव (उ० प्र० १६५४), हिमालय क्षेत्र (रा० बो० १६६०)

अध्याय २५

भारतवर्ष के वन
(Forests of India)

भारतवर्ष में वनों की भी एक अमूल्य सम्पत्ति है जो प्रकृति द्वारा प्रदान की गई है। भारतीय संघ की कुल भूमि का २२ प्रतिशत अर्थात् २,८० ३४८ वर्गमील क्षेत्रफल वनाच्छादित है। संसार के कई अन्य देशों की तुलना में यह क्षेत्रफल कम है। सब राज्यों में वन वितरण समान नहीं है जैसा कि नीचे की सारणी से स्पष्ट है :—

राज्य	वनाच्छादित क्षेत्रफल का प्रतिशत
मध्य प्रदेश	४३·७%
आसाम	३९%
मद्रास	२७%
उत्तर प्रदेश	१६%
पश्चिमी बंगाल	१५%
बम्बई	१४%
बिहार	१४%
उड़ीसा	१३·७%
पंजाब	११%

भारतीय वनों के प्रकार (Kinds of Indian Forests)

भारतीय संघ एक उपमहाद्वीप होने के कारण इसमें जलवायु, प्राकृतिक दशा एवं भूमि की रचना की दृष्टि से पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। इसी के अनुसार भारतीय वनों में भी भिन्नता होना स्वाभाविक है। मुख्य प्रकार के भारतीय वन नीचे दिये जाते हैं :—

१. सदाबहार वन (Evergreen Forests)—ये वन देश के उन भागों में पाये जाते है जहाँ कि वर्षा का औसत लगभग सौ इंच या अधिक हो। इस प्रकार के वन पश्चिमी घाट के पश्चिमी ढाल, हिमालय प्रदेश के पूर्वी भाग में पाँच हजार फीट की ऊँचाई तक और आसाम में पाये जाते है। यहाँ के वन घने हैं और वृक्ष भी कई प्रकार के हैं। इन वनों में बाँस, बेंत, ताड़ और रबड़ के पेड़ मुख्य है।

२ पतझड या मानसून वन (Deciduous or Monsoon Forests)—वर्ष के कुछ समय विशेषतया ग्रीष्म काल के प्रारम्भ में इन वनों के वृक्षों के पत्ते झड जाते है। इसी कारण इन्हे पतझड के वन कहते है। इन वनों को मानसून के वन भी कहते है। ये वन भारत के कई भागों मे मिलते हैं परन्तु हिमालय का निचला प्रदेश और छोटा नागपुर का पठार इनके लिये प्रसिद्ध है। इन वनों के मुख्य पेड सागवान साल चन्दन शीशम खैर आदि हैं इनकी लकडी बडी मूल्यवान होती है और फर्नीचर आदि के काम में आती है।

३ कोणधारी या पर्वतीय वन (Coniferous or Mountain Forests)—ये वन हिमालय के दक्षिणी ढालों पर तीन हजार से नौ हजार फीट की ऊँचाई के बीच में मिलते हैं। यहाँ के वृक्षों में ऊँचाई और जलवायु की भिन्नता के अनुसार कई किस्में है। इन वनों में बलूत चीड देवदार आदि के वृक्ष मिलते है जिनकी लकडी बडी लाभदायक होती है।

४ अल्पाइन वन (Alpine Forests)—हिमालय पर्वत पर नौ हजार फीट से अधिक ऊँचाई पर अधिक ठण्ड पडने के कारण छोटे वृक्ष और पौधे पाये जाते है। इन वनों में श्वेत सनोवर बर्च आदि के वृक्ष मुख्य है। अधिक ऊँचाई के कारण इन वृक्षों का उपयोग नहीं हो सकता।

५ समुद्रतटीय या डेल्टा के वन (Tidal or Littoral Forests)—इस प्रकार के वन समुद्रतट के दलदली भागों तथा नदियों के उन डेल्टों में जो कुछ काल के लिए नमकीन पानी में डूबे रहते है पाये जाते है। इनमें मैनग्रोव नामक वृक्ष मिलने के कारण इन्हे मैनग्रोव वन और समुद्र का ज्वार चढ आने के कारण ज्वार वन भी कहते हैं। गंगा के डेल्टे में सुन्दरी वृक्षों की प्रधानता के कारण ये सुन्दर वन कहलाते हैं। इसी प्रकार महानदी गोदावरी कृष्णा आदि नदियों के डेल्टा में भी ऐसे वन पाये जाते है। इन वृक्षों की लकडी को जलाने के अतिरिक्त कोई उपयोग नहीं है।

६ शुष्क या मरुस्थली वन (Arid or Scrub Forests)—भारत के जिन भागों में जलवृष्टि बहुत कम होती है वहां वृक्ष कम होते है। इन वृक्षों की जडें लम्बी होती है और पत्ते छोटे जिससे कम पानी होने पर भी पनप सके। इनके अतिरिक्त वहाँ कई प्रकार की कांटेदार झाडियाँ भी मिलती है। ये सिंधु राजस्थान पूर्वी पंजाब में पाये जाते है। इन वनों में कीकर बबूल और खेजडा के वृक्ष मुख्य है। इन वृक्षों का केवल स्थानीय महत्त्व ही है।

वनो का आर्थिक महत्त्व (Economic Importance of Forests)

किसी देश की आर्थिक व्यवस्था मे वनो का बडा महत्त्व है। भारतवर्ष जैसे कृषि प्रधान देश मे तो इनका अत्यधिक महत्त्व है। इनके द्वारा प्राप्त लाभ दो भागो मे विभाजित किये जा सकते हैं—(अ) प्रत्यक्ष लाभ, और (आ) परोक्ष लाभ।

वनो के प्रत्यक्ष लाभ (Direct Advantages of Forests)—वनो के प्रत्यक्ष लाभ उनके द्वारा मिलने वाली वस्तुओं के कारण होते है। वे निम्नांकित है —

(१) वनो मे इमारती लकडी (Timber) और जलाने की लकडी (Firewood) प्राप्त होती है। यही वनों की मुख्य पैदावार (Major Products of Forests) है जिसमे सागवान, साल, बबूल, चीड, देवदार, शीशम, चन्दन, गुलाब, जारोन वॉस, सुन्दरी, भारतीय महोगनी आदि लकडियाँ सम्मिलित हैं। ये लकडियाँ भवन निर्माण, रेलो के डिब्बे, पटरियो के स्लीपर्स, नावें, फर्नीचर, खेल का समान और कृषि-उपकरण बनाने के लिये प्रयुक्त की जाती है। बबूल, धोकडा, खेजडा आदि साधारण लकडियॉ जलाने के काम मे लाई जाती है।

(२) वनो से कई उद्योगो तथा व्यवसायो को कच्चा माल (Raw Materials) मिलता है। इनको वनो की अल्प पैदावार (Minor Products of Forests) कहते है। ये निम्नलिखित हैं :—

(क) कागज बनाने के व्यवसाय के लिये बॉस की लुगदी, सबाई और भाबर घास वनो मे ही प्राप्त होती है।

(ख) बबूल व कीकर आदि वृक्षो की छाल से चमडे रगने के व्यवसायो (Tanning Industries) को सहायता मिलती है।

(ग) चीड या देवदार के वृक्षों से राल और तारपीन का तेल प्राप्त होने से रंग व रोगन, तेल, साबुन, मोमजामा, ग्रामोफोन के रिकार्ड व चूडियां बनाने के व्यवसायो को प्रोत्साहन मिलता है। यही कारण है कि उत्तरप्रदेश और पजाब मे इस प्रकार के कई कारखाने दृष्टिगोचर होते हैं।

(घ) वनों की लकडी से सुगन्धित तेल प्राप्त होता है, जैसे चन्दन आदि का तेल।

(ङ) रबड, लाख, गोंद आदि पदार्थ वनो से ही प्राप्त होते है जिनमे रबड, लाख, चपडी, वार्निश व पालिस आदि के व्यवसाय चलाये जाते हैं।

(च) दियासलाई के व्यवसाय मे सीकें वनो की लकडी से ही प्राप्त होती है।

(छ) रेशमी वस्त्र का व्यवसाय भी वनो पर ही निर्भर है, क्योंकि रेशमी कीडे शहतूत के वृक्ष के पत्तो पर रखे जाते है।

(ज) वनो से कई जडी-बूटियाँ तथा फल-फूल प्राप्त होते हैं जिसके कारण औषधि बनाने और मुरब्बे आदि के व्यवसायो का विकास होता है।

(झ) शहद का व्यवसाय भी वनो पर निर्भर है।

(३) वनो मे लकडी काटने व चीरने तथा अन्य सम्बन्धित कारखानों के स्थापित होने से कई मनुष्यो को रोजगार मिलता है।

(४) वनों और चरागाहों में घास प्राप्त होती है। जैसे हिमालय के तराई प्रदेश में दूध देने वाले पशु बड़ी तादाद में रखे जाते हैं जिससे दूध, दही, मक्खन और घी का व्यवसाय होता है।

(५) वृक्षों के पत्तों से 'सब्ज खाद' (Green Manure) तैयार किया जाता है।

(६) वनों में कई जंगली पशु घूमते फिरते हैं जिनका शिकार कर उनका चमड़ा, बाल आदि काम में लाये जाते हैं।

(७) वनों से राज्य सरकार को आय होती है।

वनों के परोक्ष लाभ (Indirect Advantages of Forests)

(१) वनों के वृक्षों में तरी रहने के कारण आस पास का जलवायु समशीतोष्ण रहता है।

(२) वनों में वर्षा होती है। पानी से परिपूर्ण हवाएँ जब वनों के वृक्षों में से होकर जाती हैं तो ठंडी होकर वहीं आस-पास वर्षा कर देती हैं। इससे भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ती है।

(३) पहाड़ी ढालों पर वृक्ष होने के कारण वर्षा के जल प्रवाह में रुकावट हो जाती है जिससे बाढ़ नहीं आती और भूमि में कटाव (Soil Erosion) नहीं होने पाता।

(४) वन हवाओं के तीव्र वेग को रोक कर बड़ी-बड़ी आँधियों और तूफानों द्वारा मकानों व फसलों को नष्ट होने से बचाते हैं।

(५) मरुभूमि में वृक्ष लगा देने से मिट्टी उड़ने से बचती है।

(६) वन देश के सौन्दर्य और स्वास्थ्य-सम्पादन के केन्द्र बन गए हैं, जैसे शिमला, नैनीताल, दार्जिलिंग और नीलगिरी आदि।

(७) वन बाहरी आक्रमणों को रोकते हैं जिससे देश में शान्ति और सुरक्षा स्थापित होकर आर्थिक विकास में सहायता मिलती है।

(८) वृक्षों के पत्ते भूमि पर गिर मिट्टी में मिलकर उत्तम खाद का काम देते हैं।

वनों के इस प्रकार के अनेक लाभों के कारण प्रत्येक देश में वनों का बड़ा महत्व समझा जाता है। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिये तो इनका और भी अधिक महत्व है। इसीलिये वनों को अब 'कृषि की दासी' (Handmaid of Agriculture) न कहकर इन्हें इसका आवश्यक सहयोगी समझना चाहिए।[1] वास्तव में, वनों को राष्ट्रीय सम्पत्ति कहना बिल्कुल उपयुक्त है।

वनों की शासन व्यवस्था (Forest Administration) - भारत में वनों का संरक्षण बहुत देर से प्रारम्भ हुआ। सन् १८६४ ई० में बड़े-बड़े प्रान्तों में 'वन विभाग' (Forest Departments) स्थापित किये गये। सन् १८६४ ई० में

1—Forestry Should no longer be regarded as a handmaid to agriculture but a necessary complement to it.

—*Planning Commission Report.*

भारत सरकार द्वारा परिपत्र (Circular) जारी किया गया जिसके आधार पर वन सम्बन्धी नीति निश्चित की गई। इस नीति के मुख्य चार सिद्धान्त थे - (१) जलवायु और प्राकृतिक कारणों से वनाच्छादित पर्याप्त क्षेत्रफल संरक्षित रखना प्राथमिक आवश्यकता है, (२) लोगों की साधारण समृद्धि के लिये वनों के सुरक्षित रखने की आवश्यकता द्वितीयक है, (३) वानिकी (Forestry) से कृषि अधिक आवश्यक है, परन्तु न्यूनतम भूमि पर वनों का रहना भी आवश्यक है, (४) वनों की आय की यथा सम्भव पूर्ण रूप से वसूली होनी चाहिये। वास्तव में आय से भी सरकारी नीति अब तक प्रभावित रही है।

राज्य नियन्त्रण की दृष्टि से भारत के वन तीन भागों में विभाजित किये गये हैं :—

(१) सुरक्षित वन (Reserved Forests)—वे वन हैं जिनकी रक्षा करना जलवायु की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। ये वृक्ष सरकार के कठोर नियन्त्रण में होते हैं। इनके वृक्ष नहीं काटे जाते और न वहाँ पशु चराने की ही आज्ञा होती है।

(२) रक्षित वन (Protected Forests)—इन वनों पर भी राज्य की देख-रेख रहती है। आवश्यकतानुसार इनकी लकड़ी भी काटी जाती है और इनमें आज्ञा प्राप्त कर पशु भी चराये जा सकते है।

(३) स्वतन्त्र वन (Unclassed Forests)—इनमें लकड़ी काटने एवं पशु चराने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। परन्तु उसके बदले में सरकार को निश्चित शुल्क देना पड़ता है।

वर्गीकरण	क्षेत्रफल
सुरक्षित वन ······	··· ···७२,९०० वर्ग मील
रक्षित वन ······	······ ६,८०० ,, ,,
स्वतन्त्र वन ·· ···	·······१८,५०० ,, ,,
योग·····	··९८,२०० ,, ,,

सरकार की ओर से सन् १९०६ ई० में देहरादून में 'वन अन्वेषणालय' (Research Institute of Forests) स्थापित किया गया जिसमें वन सम्बन्धी बातों का वैज्ञानिक अन्वेषण किया जाता है। इस प्रकार की कई संस्थाएँ खोलने की आवश्यकता है।

भारतीय वन-उद्योगों की हीन दशा के कारण

(Causes of Backwardness of Indian Forests)

पाश्चात्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष में वन-उद्योगों की अत्यन्त पतित दशा है इस बात का प्रमाण हमें भारतवर्ष और जर्मनी के वनों की वार्षिक आय की तुलना से मिल सकता है। भारतवर्ष को सरकार को वनों से केवल पाँच करोड़ रुपय की ही वार्षिक आय होती है, जबकि जर्मनी में जो भारतवर्ष के एक प्रान्त के बराबर है, वनों से ९ करोड़ रुपया वार्षिक आय होती है। इस हीन दशा के कई कारण हैं जिनका नीचे उल्लेख किया जाता है :—

१—विभिन्न प्रकार की लकड़ियों के मूल्य, गुण और उपयोगिता की अनभिज्ञता।

२—भारतीय सरकार का अब तक वन शोषण की अपेक्षा वन-रक्षा की ओर अधिक ध्यान रहा है।

३—वन-विज्ञान और वन-रक्षण विद्या का अभाव।

४—वन-अन्वेषणालयों का अभाव।

५—वन-विभाग और कृषि-विभाग में निकट सम्पर्क का पूर्ण अभाव।

६—अधिकाश वन यातायात के साधनों से वंचित हैं।

७—लगभग तिहाई वन निजी सम्पत्ति हैं और वे साधारणतया बिना विचारे नष्ट किये जाते हैं।

८—वन विभाग में कार्य करने के लिये उपयुक्त वेतन, ग्रेड आदि प्रलोभन का अभाव।

वनों की उन्नति के उपाय—भारतवर्ष में वनों की उन्नति निम्नलिखित उपायों द्वारा की जा सकती है :—

१—भारतवर्ष में वन रक्षण तथा वन-प्रसार योजनाओं को शीघ्र कार्यान्वित करना चाहिए। 'अधिक वृक्ष लगाओ' आदि इस प्रकार के आन्दोलन बड़े सार्थक सिद्ध हो सकते हैं।

२—वन-रक्षण तथा वृक्ष लगाने के कार्य में वैज्ञानिक ढंगों का आश्रय लेना चाहिये।

३—वन-उपजों के अन्वेषण तथा प्रयोगों द्वारा वन उद्योगों का विकास करना चाहिए।

४—यातायात के साधनों का विकास होना आवश्यक है।

५—वनों के क्षेत्रफल में इस प्रकार वृद्धि होनी चाहिये कि पशुओं के लिये उत्तम चरागाहों की भी समुचित व्यवस्था हो जाय और ईंधन व व्यापारिक प्रयोजन वाली लकड़ी भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सके। जलाने की लकड़ी प्राप्त होने पर गोबर का खाद नष्ट होने से बच सकेगा।

६—कृषि रॉयल कमीशन ने यह सिफारिश की थी कि प्रत्येक प्रान्त में 'वन-उपयोग अधिकारी' (Forest Utilization Officers) नियुक्त किये जाने चाहिये और वनों के उचित शोषण का उत्तरदायित्व उन्हीं पर होना चाहिये।

७—रॉयल कमीशन की सिफारिश के अनुसार वन दो भागों में विभाजित हो जाना चाहिये—मुख्य वन और छुटे-मोटे वन। मुख्य वन वे होने चाहिये जो व्यापारिक वन हों और छोटे-मोटे वन वे होने चाहिये जो ईंधन और साधारण लकड़ी की पूर्ति करते हों। छोटे-मोटे वन पंचायतों के सुपुर्द कर देने चाहिये।

८—कृषि-विभाग और वन-विभाग के मध्य निकट सम्पर्क वाँछनीय है।

९—कृषि कॉलिजों और स्कूलों में वन-सम्बन्धी अध्ययन अनिवार्य रूप से होना चाहिये जिससे वन-विभाग के लिये कुशल कर्मचारी तैयार किये जा सकें।

१०—प्रचार द्वारा वन उपजों और उन पर अवलम्बित उद्योगों के महत्व को जनता के सम्मुख रखना चाहिये।

११—वन विभाग में कुशल कर्मचारियों को आकृष्ट करने के लिये उत्तम वेतन व ग्रेड होने चाहिये। सरकारी छात्र-वृत्ति द्वारा वन-शिक्षा के लिये अधिकाधिक संख्या में छात्र भेजे जाने चाहिये।

• सरकार की वर्तमान वन-नीति—योजना कमीशन की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिये भारत सरकार ने १२ मई १९५२ को अपनी नवीन वन-नीति की घोषणा की जिसके अनुसार भारत सरकार ने एक 'वनों का केन्द्रीय बोर्ड' (Central Board of Forests) की स्थापना की। यह बोर्ड केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की वन-नीति का ध्यान रखता है। यह केन्द्रीय सरकार के ऊपर निगरानी रखता है कि वह 'नवीन वन नीति' का पालन करती है। इसके अतिरिक्त वनों के विकास के लिये एक 'वन प्रेमी-संघ' स्थापित किया गया है जिसके प्रधान सरक्षक भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद हैं। इस सघ का कार्य वन विकास का प्रचार करना है। वन-महोत्सव समारोह इसी सघ द्वारा सचालित होता है।

वन महोत्सव समारोह—इस उत्सव का श्रीगणेश सबसे प्रथम सन् १९५० में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री के० एम० मुन्शी जो उस समय केन्द्रीय सरकार के खाद्य मन्त्री थे, द्वारा हुआ था। तब से यह प्रति वर्ष जुलाई मास में मनाया जाता है। स्थान-स्थान पर सरकारी व गैर सरकारी अधिकारी तथा अन्य प्रतिष्ठित व साधारण व्यक्ति वृक्षारोपण करते है। इसके फलस्वरूप लोगों में पेड लगाने की प्रेरणा जाग्रत होती है तथा लाखों पेड प्रति वर्ष इसी बहाने लगाये जाते है।

योजना तथा वन—दूसरी योजना मे इमारती लकड़ी, दियासलाई की लकडी, टाटन, लुगदी तथा गोंद का उत्पादन बढाने और जगल क्षेत्रों का भरपूर उपयोग और उपलब्ध जगलात के साधनों का अधिकतर उपयोग करने का कायक्रम बनाया गया है। वन सम्बन्धी योजना में जिसके लिये २५ करोड रुपये की व्यवस्था की गई है, ६ लाख एकड भूमि में जगलों को विकसित करने और ३ लाख एकड भूमि में नये जगल बनाने और ५० हजार एकड भूमि में चरागाह बनाने का प्रबन्ध किया गया है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—भारतवर्ष की आर्थिक दशा पर उसके वनों का महत्त्व बताइए। उनकी उन्नति करने के लिये क्या कार्य किया गया है? (रा० बो० १९६०)

२—'वन महोत्सव' के आर्थिक महत्त्व पर टिप्पणी लिखिये। (उ० प्र० १९५४)

३—भारतीय वनों का आर्थिक महत्त्व समझाइये और इस सम्बन्ध में सरकारी नीति भी बताइये। (म० भा० १९५३, ५२)

४—हमारी अर्थ व्यवस्था में जगलों के महत्त्व को स्पष्टतया समझाइये। आप भारत में जगलों के विकास के लिये क्या सुझाव रखेंगे?
(अ० बो० १९५३, ३६, रा० बो० १९५०, ८५, पजाब १९४८, दिल्ली १९५४)

अध्याय २६

भारतवर्ष की कृषि सम्पत्ति

(Agricultural Wealth of India)

भारत में कृषि का महत्त्व

भारत में कृषि का बड़ा महत्त्व है। यहाँ के लगभग ७० प्रतिशत लोगों का धन्धा खेती करना है। देश की बढ़ती हुई जन-संख्या के लिये अन्न उत्पन्न करने में ही इसका महत्त्व नहीं है, बल्कि अनेक उद्योग-धन्धों को चलाने के लिये कच्चा माल भी कृषि से मिलता है। अस्तु भारतीय आर्थिक व्यवस्था में कृषि का एक मुख्य स्थान है।

भारतीय कृषि की दशा

"भारत में हम पिछड़ी हुई जातियाँ रखते हैं हम पिछड़े हुए उद्योग भी रखते हैं और कृषि दुर्भाग्यवश उनमें से एक है।' —डा० क्लाउड्सटन

भारतवर्ष में कृषि का इतना महत्त्व होते हुए भी यह एक अच्छी दशा में नहीं है। "भारत एक धनाढ्य देश है जिसमें दरिद्र निवास करते हैं।" यह कहावत यहाँ लागू होती है। भारत की भूमि बहुत उपजाऊ है और जलवायु भी कृषि के लिए अनुकूल है, परन्तु फिर भी यहाँ खेती की दशा शोचनीय है। अन्य देशों की तुलना में भारत में प्रति एकड़ पैदावार बहुत ही कम है जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

(पौंड में)

देश	गहूँ	चावल	गन्ना	मकई	कपास	तम्बाकू
अमेरिका	८१२	२,१८५	४७,५३४	१,५७६	२६६	८८२
जर्मनी	२,०१७	—	७०,३०२	२,८२८	—	२,१२७
इटली	१,३८३	४,५६८	—	२,०५६	१७२	१,१४६
मिश्र	१,६१८	२,६६८	—	१,८६१	५२५	—
जावा	—	—	४३,२७०	—	—	—
जापान	१,७१३	३,४४४	—	१,३२६	१५६	१,६६५
चीन	६८६	२,४३३	११,६७०	१,३८४	२०४	१,२८८
भारत	६६०	२,२४०	१४,५८८	८०३	८६	६०७

ऐसा अनुमान लगाया गया है कि गेहूँ की प्रति एकड़ पैदावार भारत में मिश्र की $\frac{1}{2}$ और हॉलैंड तथा डनमार्क की $\frac{1}{3}$ है। चावल की प्रति एकड़ उपज इटली की $\frac{1}{3}$, कपास में मिश्र की $\frac{1}{2}$, गन्ना में जावा की $\frac{1}{4}$ और मक्का में न्यूजीलैंड की $\frac{1}{3}$ है।

भारतीय कृषि के अवनति के कारण
(Causes of Backwardness of Indian Agriculture)

भारत में कृषि का अत्यधिक महत्व होते हुए भी यह एक अच्छी दशा में नहीं है। इसके अनेक कारण हैं जो संक्षेप में नीचे दिये जाते हैं :–

(१) कृषकों की निर्धनता, (२) कृषकों की अशिक्षा, (३) कृषकों की शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता, (४) उत्तम व सस्ते खाद का अभाव, (५) खेती के पशुओं की दुर्बलता, (६) पूँजी का अभाव, (७) उत्तम बीजों का अभाव, (८) फसल को नष्ट करने वाले अनेक पशु-पक्षी, कीड़े मकोड़े आदि का होना, (९) आधुनिक खेती के औजारों का अभाव, (१०) भूमि का कटाव तथा बाढ़ के आने से भूमि का नष्ट होना, (११) जलवृष्टि की अनियमितता, (१२) घरेलू उद्योगों का नष्ट होना और भूमि-भार का बढ़ जाना, (१३) खेती में वैज्ञानिक ढंगों का अभाव, (१४) भूमि का छोटे छोटे टुकड़ों में विभाजित होना, (१५) अपर्याप्त और महँगा अर्थ प्रबन्धन, (१६) कृषकों द्वारा सामाजिक रीति रिवाजों पर फिजूल खर्च, (१७) खेती की उपज की असंतोषजनक विपणन (Marketing) व्यवस्था, (१८) कृषकों की रूढ़िवादिता।

कृषि उन्नति के उपाय—भारतीय कृषि की उन्नति उपर्युक्त कमियों व दोषों को दूर करने से हो सकती है। संयुक्त-राष्ट्र संघ (U.N.O.) के कृषि और खाद्य-विभाग (F. A. O.) के डाइरेक्टर श्री ए० सी० डाड ने भारत की कृषि उन्नति के लिये निम्न सुझाव दिये हैं:—

(१) जंगलों की कटाई की प्रणाली पर कड़ा नियन्त्रण कर मिट्टी के कटाव पर नियन्त्रण किया जाय।

(२) नलकूपों द्वारा सिंचाई क्षेत्र में वृद्धि करना।

(३) कृत्रिम (रासायनिक) खाद के उपयोग में वृद्धि करने की अपेक्षा दाल वाली (Clover Crops) फसलों का अधिक उपयोग किया जाय जिससे उनके द्वारा नाइट्रोजन संग्रह करने तथा पानी को अधिक समय भूमि में रहने की प्रणाली का विकास हो।

(४) कृषि में मशीन का प्रयोग खेतों के बड़े टुकड़ों तक ही सीमित कर देना।

वर्षा की कमी शुष्क कृषि प्रणाली (Dry Farming) को अपना कर दूर कर सकते हैं। इस प्रणाली द्वारा खेती करने से न सिर्फ औसत वर्ष में ही उत्पत्ति की जा सकती है, बल्कि सूखे वर्षों में भी कुछ-न-कुछ पैदा किया जा सकता है।

डा० आचार्य के अनुसार यदि बबूल, सजना आदि शीघ्र पनपने वाले वृक्षों को लगाकर ईंधन में जलने से गोबर की बचत की जाय तो गोबर की खाद से १०० प्रतिशत नाइट्रोजन मिल सकता है। जिससे नाजों में १०० लाख टन की वृद्धि की जा सकती है। इसके अलावा किसान खाद की कमी अपने खेत और पशुओं के बाड़े में मैल और कूड़े करकट से कम्पोस्ट (Compost) बना कर, स्वयं खाद को तैयार कर पूरी कर सकते हैं। कम्पोस्ट के अतिरिक्त, नितड़न की खाद भी काम में लाई जा सकती है। इसके अलावा खेतों में हरी खाद ढंचा, सनई, ग्वार, नील, सायाफली आदि का भी प्रयोग किया जा सकता है।

कृषि के लिए फसलों की उन्नत जातियों को अपनाना चाहिए। उदाहरण के लिये, अमेरिका में अब तक गेहूँ की ५० नई जातियाँ निकल गई हैं जो बीमारियों अथवा अनावृष्टि अथवा सर्दी व कोहरे से मुक्त हैं। दीमक आदि कीड़ों को रोकने के लिये खेतों में फसलों को हेर फेर (Rotation) के साथ बोया जाय अथवा गहरा हल चलाकर व्यर्थ की घास-फूस को खेतों से निकाल दिया जाय।

कृषि साख व्यवस्था के लिये सहकारिता का विकास नितान्त आवश्यक है। यह न केवल साख के क्षेत्र में ही लाभदायक सिद्ध होगी परन्तु कृषि के अन्य क्षेत्रों में भी जैसे खाद, बीज, औजार प्राप्ति, बिक्री व्यवस्था आदि।

भारतवर्ष में फसलें—भारतवर्ष में मुख्यत दो फसलें पैदा होती हैं—(१) खरीफ की फसल और (२) रबी की फसल।

(१) खरीफ की फसल—इनकी बुआई जून से अगस्त तक अर्थात् गर्मी व मानसून आरम्भ होने से पूर्व ही होती है। अच्छी वर्षा होने से सिंचाई की कम आवश्यकता होती है। इस फसल की मुख्य पैदावार मकई, ज्वार-बाजरा, चावल, पाट सन कपास, गन्ना, तम्बाकू, उड़द, मूँग और तिलहन (तिल और मूँगफली) है।

(२) *रबी की फसल—यह शरद ऋतु के प्रारम्भ में बोई जाती है और ग्रीष्म* काल में काट ली जाती है। सर्दी के मानसून में वर्षा बहुत कम होने से और वह भी केवल मद्रास में ही होती है, सिंचाई की बहुत आवश्यकता है। इस फसल की मुख्य पैदावार गेहूँ, जौ, चना, आलू, अलसी और राई है।

इन फसलों का विस्तृत विवरण आगे दिया जाता है

(१) खाद्य पदार्थ (Food Crops)

चावल (Rice)—चावल गर्म और तर जलवायु में पैदा होता है। पानी की न्यूनता की पूर्ति सिंचाई द्वारा की जाती है। चावल की फसल के लिए उर्वरा भूमि आवश्यक है। यही कारण है कि चावल अधिकतर नदियों के डेल्टा तथा उनकी घाटियों और मैदानों में उत्पन्न किये जाते हैं। वैसे थोड़ा बहुत चावल भारत में सभी जगह पैदा होता है, परन्तु बंगाल, बम्बई, मद्रास, बिहार, उ० प्र०, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, आसाम और पूर्वी पंजाब इसके मुख्य पैदा करने वाले हैं। यह देश की कृषि योग्य भूमि के ३०%पर बोया जाता है। चावल की पैदावार में संसार में भारत का प्रमुख स्थान है। संसार की समस्त उपज का २१ प्रतिशत चावल भारतवर्ष में उत्पन्न होता है, परन्तु जन संख्या इतनी अधिक है कि इसे विदेशों से चावल मँगाना पड़ता है। भारत में १९५८-५९ में लगभग ८ करोड़ १६ लाख एकड़ भूमि पर चावल की खेती हुई और २ करोड़ ९७ लाख टन चावल पैदा हुआ। चावल की प्रति एकड़ उपज बढ़ाने के लिए जापानी पद्धति को भी अपनाया जा रहा है।

गेहूँ (Wheat) अनाजों में गेहूँ सब से अधिक महत्वपूर्ण है। मनुष्य की जन-संख्या का बहुत बड़ा भाग गेहूँ ही खाता है और गेहूँ अत्यन्त प्राचीन काल से उत्पन्न किया जाता है। यही कारण है कि गेहूँ को बहुत प्रकार के जलवायु में उत्पन्न करने

का प्रयत्न किया गया है। गेहूँ मटियार भूमि में खूब उत्पन्न होता है परन्तु अधिक कठोर भूमि पौधे के लिए हानिकारक सिद्ध होती है। इस अनाज के बोने के समय सर्दी और नमी होना आवश्यक है। परन्तु फसल पकने के समय तेज धूप उतनी ही आवश्यक है। अस्तु भारत में गेहूँ अक्टूबर व नवम्बर में बोया जाता है और अप्रैल व मई में काटा जाता है।

भारतवर्ष में गेहूँ रबी की मुख्य फसल है। देश का कोई ऐसा भाग नहीं है जिसमें यह थोड़ा-बहुत पैदा न होता हो किन्तु पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार और बम्बई में इसकी पैदावार विशेष रूप से होती है। भारत में गेहूँ की कुल उपज का ४५% उत्तर प्रदेश में उत्पन्न होता है। जोती जाने वाली भूमि के १० प्रतिशत भाग में गेहूँ की खेती होती है अर्थात् लगभग २२ करोड़ एकड़ भूमि गेहूँ की पैदावार के लिये प्रयुक्त की जाती है। यहाँ प्रति एकड़ पैदावार कम होती है अत यहाँ की बढ़ती हुई जन-संख्या को खिलाने के लिये गेहूँ बाहर से बड़ी मात्रा में आयात किया जाता है। भारत में १९५८-५९ में तीन करोड़ एकड़ भूमि पर लगभग ९७ लाख टन गेहूँ उत्पन्न किया गया। इस देश की विशाल जन संख्या के लिए यह पैदावार बहुत कम है। अस्तु अमरिका आदि देशों से बड़ी मात्रा में गेहूँ आयात किया जाता है। सन १९५९ में गेहूँ और आटा मिलाकर ३८ लाख टन आयात किया गया।

जौ (Barley)—जौ गेहूँ की ही जाति का अनाज है किन्तु यह और अनाजों से अधिक कठोर होता है। जौ गर्मी और सर्दी खूब सहन कर सकता है। साधारण भूमि पर भी जौ की अच्छी फसल उत्पन्न हो सकती है। भारतवर्ष में लगभग ९२ लाख एकड़ भूमि में जौ पैदा होता है और लगभग २० लाख टन पैदा होता है। जौ उत्पन्न करने वाले मुख्य राज्य उत्तर प्रदेश, बिहार और पूर्वी पंजाब हैं। भारत की समस्त पैदावार का दो तिहाई भाग अकेले उत्तर प्रदेश में पैदा होता है। जौ निर्धन ग्रामीणों का मुख्य भोज्य पदार्थ है। इस देश में अधिकतर जौ का उपभोग खाने के लिये ही होता है न कि मदिरा बनाने में। भारत से बहुत कम जौ विदेशों को भेजा जाता है। सन १९५८-५९ में लगभग ८१६ लाख एकड़ भूमि पर जौ बोया गया और २६४ लाख टन पैदावार हुई।

मक्का (Maize)—चावल की भाँति मक्का भी गर्म और तर जलवायु में पैदा होती है। मक्का की अच्छी पैदावार के लिए रेत मिली हुई मटियार भूमि की आवश्यकता होती है। भारत में मक्का उत्पन्न करने वाले राज्य उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, मद्रास, हैदराबाद और बम्बई हैं। मक्का की सारी पैदावार यहीं उपयोग में आ जाती है। सन् १९५८-५९ में लगभग ११ करोड़ एकड़ भूमि पर मक्का की गई थी और २६ ० लाख टन पैदावार हुई।

ज्वार-बाजरा (Millet)—भारतवर्ष के उन भागों में जहाँ वर्षा कम होती है, ज्वार-बाजरे की मुख्य फसलें होती है। भारत के अत्यन्त शुष्क प्रदेशों में बाजरा मुख्य आधार है। बाजरे के लिए रेतीली भूमि चाहिए। ज्वार-बाजरे की फसल के लिए सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती। ज्वार-बाजरा भारत के सभी भागों में होता है, परन्तु उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, मद्रास, आन्ध्र महाराष्ट्र और गुजरात इनकी पैदावार के लिए मुख्य है। भारतवर्ष में यह लगभग ६६ लाख एकड़ भूमि में उत्पन्न किया जाता है। समस्त पैदावार का तीन-चौथाई भाग तो इसी देश में काम आ जाता है और शेष भाग निर्यात कर दिया जाता है। सन् १९५८-५९ में भारत में ज्वार-बाजरा १·२ करोड़ एकड़ में बोया गया था जिसमें २०·८८ लाख टन पैदावार हुई।

दालें (Pulses)—भोज्य पदार्थों में दालों का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतवर्ष में दाल भोजन का एक आवश्यक अंग है, अरहर, चना, मटर, मसूर, मूँग तथा उड़द मुख्य दालें अधिकतर उष्ण कटिबन्ध तथा शीतोष्ण कटिबन्ध में उत्पन्न होती है। दालों का पैदा करने से खेतों की मिट्टी अधिक उपजाऊ हो जाती है, क्योंकि दालों के पौधे में नाइट्रोजन जमा कर देते है। अधिक तादाद में पैदा करने वाले मुख्य राज्य पंजाब, मध्य- प्रदेश, बंगाल और बम्बई हैं। समस्त पैदावार वहीं खप जाती है। सन् १९५८-५९ में दालों का उत्पादन १·२ करोड़ टन है।

शाक-तरकारी (Vegetables)—शाक भोजन का मुख्य अंग है। प्रत्येक भारतीय के घर में शाक-तरकारी किसी-न-किसी रूप में प्रतिदिन उपभोग में लाई जाती है। तरकारियाँ उत्पन्न करने के लिये बहुत उर्वरा भूमि, यथेष्ठ खाद और जल की आवश्यकता होती है। किन्तु तरकारियों के शीघ्र खराब हो जाने के कारण शहर तथा समीपवर्ती कस्बों के लिए ही तरकारियाँ उत्पन्न की जाती हैं। अब आशा की जाती है कि यातायात के शीघ्र साधनों की उन्नति और शीतागार (Cold Storage) के आविष्कार से तरकारी तथा फलों की खेती को बड़ा प्रोत्साहन मिलेगा।

भारत में फलों का उत्पादन

फल (Fruits)—फलों के उत्पन्न करने का धन्धा भारतवर्ष में अभी उन्नत दशा में नहीं है, क्योंकि यहाँ फलों का उपभोग बहुत कम है। यहाँ लगभग सब प्रकार का जलवायु मिलने से सब प्रकार के फल उत्पन्न किये जा सकते हैं। यहाँ होने

भाने कुछ प्रसिद्ध फल ये हैं—आम, अमरूद, अनार, जामुन, नारंगी व संतरे, केले पपीता लीची, तरबूज, खरबूजा आदि। वर्तमान समय में फलों के उपभोग में वृद्धि पाई जाती है और कुछ फल जैसे आम आदि का निर्यात भी होने लगा है, फलों की किस्म और उनके खेतों के ढंगों में पर्याप्त सुधार की आवश्यकता है।

मसाले (Spices)—भारतवर्ष में मसालों का उपभोग बड़ी मात्रा में होता है। हल्दी, धनियाँ लाल मिर्च की पैदावार तो प्राय सभी जगह देखी जाती है। काली मिर्च, दालचीनी, लौंग अदरक, इलायची आदि को गर्म जलवायु की आवश्यकता होने से इनकी पैदावार दक्षिणी भारत म मलाबार और ट्रावनकोर के तटों पर होती है।

गन्ना या ईख (Sugarcane)—भारत गन्ने का जन्म-स्थान है और संसार का सबसे अधिक गन्ना यहीं होता है। इसे काफी गर्मी और वर्षा की आवश्यकता है। जहाँ वर्षा कम होती है, वहाँ सिंचाई करनी पड़ती है। गन्ना मार्च-अप्रैल में बोया जाता है और फरवरी में काट लिया जाता है। गन्ना उत्पन्न करने वाले मुख्य राज्य उत्तर प्रदेश, बिहार और पंजाब हैं। इनके अतिरिक्त बंगाल, मध्य प्रदेश, और मद्रास में भी गन्ने की खेती होती है। गन्ने की उपज में उत्तर प्रदेश का प्रथम स्थान है क्योंकि यहाँ भारत का ६०% गन्ना उत्पन्न किया जाता है। सन् १९३२ ई० में जब विदेशी से आने वाली शक्कर पर संरक्षण-कर लग गया तब से भारतवर्ष में सैकड़ों शक्कर के कारखाने खुल गये और गन्ने की पैदावार में भी वृद्धि हो गई। सन् १९५८-५९ में गन्ने का उत्पादन ७ करोड़ टन था।

भारत की खाद्य समस्या (India's Food Problem)

गत शताब्दी में भारत अन्न के उत्पादन में स्वावलम्बी था और यहाँ से अन्न पर्याप्त मात्रा म विदेशों को निर्यात किया जाता था। धीरे-धीरे हमारी खाद्य-स्थिति बिगड़ती गई और यहाँ तक कि गत महायुद्ध म तो वह बड़ी भयंकर हो गई। अब भी खाद्य संकट इस देश पर मडरा रहा है। इस प्रकार की खाद्य स्थिति होने के अनेक कारण हैं, परन्तु उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :—

(१) जनसंख्या में वृद्धि, (२) भूमि के उपजाऊपन म कमी हो जाना (३) प्रकृति का प्रकोप अकाल, बाढ़ आदि के रूप में, (४) खेती के लिए सिंचाई और उत्तम खाद का अभाव, (५) आधुनिक खेती के औजारों का अभाव, (६) फसल परिवर्तन आदि खेती के वैज्ञानिक ढंगों की अनभिज्ञता, (७) बिना सोचे-समझे वृक्षों को काटना जिसके फलस्वरूप भूमि का कटना और उसकी उर्वरा शक्ति नष्ट हो जाना

तथा वर्षा का कम होना (८) खती के लिये निबल पशु और उनके लिये चारे व घास की कमी (९) भारतीय कृषकों की अशिक्षता एवं अज्ञानता (१०) भोजन का अपव्यय (११) गत महायुद्ध के कारण किसान खेती का काम छोड़ कर सेना में भर्ती हो गये (१२) खाद्य पदार्थों का दोषपूर्ण वितरण (१३) ब्रह्मा का भारत से (१९३७ ई०) पृथक होना जिससे चावल की कमी हो जाना (१४) देश के विभाजन का प्रभाव—गेहूं और चावल उत्पन्न करने वाले भाग अधिकांश पाकिस्तान में चले गये (१५) खाद्यान्न के स्थान पर अधिक पैसा देने वाली फसलें—जैसे कपास गन्ना जूट आदि बोना (१६) देश में दूध तथा फलों की कमी होना (१७) यातायात के साधनों की कमी।

इन्हीं कारणों से हमारी खाद्य स्थिति अत्यन्त संकटमय हो गई है। अनाज की कमी को दूर करने के लिये करोड़ों रुपयों का अनाज हमारी सरकार को विदेशों से मंगाना पड़ता है। सन् १९५१ में ३८ लाख टन गेहूं चावल आदि खाद्यान्न आयात किया है कब तक हम अन्न के लिये दूसरे देशों का मुँह ताकते रहेंगे ? सन् १९५०-५१ में ५ करोड़ टन और सन् १९५५-

५६ में ६ करोड़ टन खाद्यान्न पैदा किया। इसी योजना के अन्त तक अर्थात् १९६०-६१ तक ८ करोड़ टन खाद्यान्न उत्पन्न करने का लक्ष्य रखा गया है।

खाद्य सामग्री में वृद्धि करने के उपाय

(१) पड़त भूमि में खेती करना (२) सामूहिक खेती (३) रासायनिक खादों का उपयोग (४) सिंचाई के साधनों में वृद्धि करना (५) अन्न के अतिरिक्त अन्य पोषक पदार्थों की उत्पत्ति करना जैसे दूध फल अंडे तथा मछली का प्रयोग (६) उत्तम खाद एवं बीज की व्यवस्था करना (७) भूमि को कृषि योग्य बनाना (८) गहरी खेती करना (९) खेती की उपज बढ़ाने के लिये अन्वेषण एवं प्रयोग करना (१०) आधुनिक औजारों से खेती करने का प्रयत्न करना (११) छोटे छोटे नालों व नदियों को बाँध कर अल्पकालीन योजनाएं बनाना (१२) दीर्घकालीन बहुप्रयोजन वाली योजनाओं को कार्य रूप में लाना (१३) छोटे छोटे खेतों का एकीकरण करना (१४) खेती के औजारों तथा अन्य वस्तुओं को यातायात पूर्व (Priority) प्रदान करना (१५) खाद्यान्नों के वितरण की समुचित व्यवस्था करना (१६) अधिक अन्न उपजाओ तथा वृक्ष लगाओ आन्दोलन को सफल बनाना।

(२) पेय पदार्थ एवं मादक वस्तुएँ (Beverages & Drugs)

चाय (Tea)—चाय एक प्रकार की झाड़ी की सूखी पत्ती है। चाय का वृक्ष उष्ण कटिबंध में ही उत्पन्न हो सकता है। इसकी पैदावार के लिये गर्मी और जल की बहुत आवश्यकता है, परन्तु यदि जल वृक्ष की जड़ के पास देर तक रहे तो वृक्ष को हानि पहुँच जाती है। इसी कारण चाय बहुधा पहाड़ के ढालों पर उत्पन्न की जाती है जिससे कि पानी बह जाय। चाय की झाड़ी लगभग पाँच वर्षों में चाय उत्पन्न करने योग्य हो जाती है और ३० वर्ष पर्यन्त पत्तियाँ देती रहती हैं।

चाय का पौधा

भारत में आसाम और बंगाल सबसे अधिक चाय उत्पन्न करने वाले राज्य हैं। आसाम में भारत की उपज की ५३% चाय उत्पन्न की जाती है और बंगाल की दार्जिलिंग की पहाड़ियों पर २८% चाय पैदा की जाती है। इनके अतिरिक्त यह उत्तर प्रदेश, पंजाब, मद्रास और केरल में भी पैदा होती है। भारत में चाय उत्पन्न करने वाली कुल भूमि ७·८ लाख एकड़ है जिनमें १२॥ लाख श्रमिक काम करते हैं, और कुल वार्षिक पैदावार ५८ करोड़ पौंड है। यह भारत की मुख्य व्यापारिक फसल है। पैदावार का तीन-चौथाई भाग विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है।

सन् १९५८-५९ में ६८ करोड़ पौंड चाय उत्पन्न की गई जिसमें से १३६ करोड़ रुपय के मूल्य की चाय निर्यात की गई। देश में 'चाय बोर्ड' द्वारा चाय के उपभोग का प्रचार किया जाता है जिसके फलस्वरूप भारत में पहले की अपेक्षा चाय अधिक खपने लग गई है।

कहवा (Coffee)—कहवा भी चाय की भाँति पेय पदार्थ है। कहवे का वृक्ष चाय की तरह गर्मी और पानी चाहता है, किन्तु कहवे का पौधा जबकि वह छोटा होता है सूर्य की तेज धूप को सहन नहीं कर सकता। कहवे के लिये बहुत उपजाऊ भूमि की आवश्यकता है। दक्षिण के नीलगिरि पहाड़ी प्रदेश में कहवा खूब पैदा होता है। मैसूर, कुर्ग, मद्रास, और केरल में मुख्यतया यह उत्पन्न होता है। भारत की सम्पूर्ण उपज का ५०% कहवा मैसूर राज्य से और २५% मद्रास राज्य से प्राप्त होता है।

सन् १९५८-५९ में भारत में २·४ लाख एकड़ भूमि में ८·८ करोड़ पौंड कहवे की पैदावार की गई। भारत में इसका उपभोग बहुत कम होता है, अतः पैदावार का अधिकांश भाग विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है।

कहवा का पौधा

देश में कहवे का उत्पादन प्रति वर्ष ९ हजार टन और बढ़ाने के लिये भारत सरकार ने एक पंचवर्षीय योजना को स्वीकार कर लिया है। इस योजना पर लगभग २ करोड़ ९५ लाख रुपये व्यय होने का अनुमान है।

तम्बाकू (Tobacco)—भारतवर्ष में तम्बाकू का प्रचार अधिक है। तम्बाकू का उपयोग पीने खाने और सूँघने में होता है। तम्बाकू उष्ण कटिबन्ध की पैदावार है परन्तु यह बहुत प्रकार के जलवायु में उत्पन्न होती है। तम्बाकू की पैदावार के लिये भूमि उपजाऊ होनी चाहिये। तम्बाकू की फसल के लिए खाद और सिंचाई की बहुत आवश्यकता होती है। वैसे भारतवर्ष में तम्बाकू लगभग सभी जगह पैदा होती है परन्तु बंगाल उड़ीसा मद्रास बम्बई, उत्तर प्रदेश और पंजाब में अधिक मात्रा में पैदा की जाती है। भारत में तम्बाकू सन् १९५८-५९ में ९ लाख एकड़ भूमि प्रयुक्त की गई जिस पर २.६ लाख टन पैदावार की गई।

भारतीय तम्बाकू मोटी तेज और गहरे रंग की होने के कारण सिगरेट बनाने के लिये उपयुक्त नहीं है। भारत में इसका उपयोग अधिकतर बीड़ी बनाने और हुक्का पीने में होता है। अधिकांश पैदावार यहीं उपभोग में आ जाने के कारण केवल २० प्रतिशत ही निर्यात की जाती है। संसार के तम्बाकू पैदा करने वाले देशों में भारत का दूसरा नम्बर स्थान है।

(३) कच्चे माल की या व्यापारिक फसलें
(Raw Materials or Cash Crops)

कपास (Cotton)—एक झाड़ी का फूल है जिसके रेशे से सूत तैयार होता है। कपास उष्ण कटिबन्ध की पैदावार है। कपास की पैदावार के लिये गर्मी और धूप की बहुत आवश्यकता होती है। परन्तु अधिक गर्मी उसके लिए हानिकारक है। गर्मी के दिनों में साधारण वर्षा की आवश्यकता होती है। किन्तु अधिक वर्षा पैदावार कम करती है। पाला कपास को नष्ट कर देता है। कपास के लिये हल्की मटियार भूमि जिसमें चूना हो उपयुक्त है। भारतवर्ष में लावा या बरार प्रान्त की काली भूमि इसके लिए अत्यन्त उपयुक्त है। पानी की कमी सिंचाई द्वारा पूरी की जाती है। भारत में कपास उत्पन्न करने वाले प्रान्तों में बरार खानदेश मध्य भारत मध्य प्रदेश गुजरात तथा बम्बई का उत्तर पश्चिमी भाग मुख्य है। उत्तर प्रदेश और पंजाब में भी कपास पैदा होता है। भारतवर्ष में १ करोड़ ९९ लाख एकड़ भूमि पर कपास उत्पन्न की जाती है।

कपास का पौधा

भारत की कपास अच्छी जाति की नहीं होती। रेशा बहुत छोटा होता है जिससे बारीक सूत तैयार नहीं हो सकता। भारत के विभाजन के फलस्वरूप पंजाब का पश्चिमी भाग तथा सिन्ध पाकिस्तान में चला गया। इस दृष्टि से भारतीय मिलों को लम्बे रेशे वाली कपास की हानि हो गई। परन्तु भारत सरकार इस बात का प्रयत्न कर रही है

कि लम्बे रेशे वाली कपास भी यथेष्ठ मात्रा में भारतवर्ष में ही उत्पन्न हो जिससे भारत कपास के लिये बाहरी देशों पर निर्भर न रहे। इस सम्बन्ध में 'इण्डियन काटन कमेटी' ने कपास की किस्म कायम रखने के लिये कई कानून बना कर सराहनीय कार्य किया है। भू० खाद्यमन्त्री श्री के० एम० मुन्शी ने १६ नवम्बर १९५० को संसद में यह प्रकट किया था कि भारत कपास की 'पूर्वी भारतीय किस्म' (East Indian Varieties) में सन् १९५१-५२ तक स्वावलम्बी हो जायगा। छोटे रेशे वाली रूई देश की आवश्यकता की पूर्ति के उपरान्त विदेशों को विशेषतया इङ्गलैण्ड और जापान को निर्यात की जाती है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के पूर्व कपास का उत्पादन २९.७ लाख गाँठे था। सन् १९५४-५५ में यह उत्पादन ४२.९८ लाख गाँठों तक पहुँच गया, अर्थात् उत्पादन में ४२% वृद्धि हुई। दूसरी पंचवर्षीय योजना में यह लक्ष्य प्रथम योजना के उत्पादन से ३१% अधिक रखा गया। सन् १९५८-५९ में ४७ लाख गाँठों की उत्पत्ति हुई।

जूट (Jute)—एक प्रकार के लम्बे पौधे का छिलका होता है। इस रेशेदार छिलके को कातकर सूत तैयार किया जाता है और इसी से टाट आदि बुने जाते हैं। देश के विभाजन के पूर्व भारत संसार भर में सबसे अधिक जूट पैदा करता था। जूट की खेती के लिये अधिक गर्मी और पानी की आवश्यकता होती है। जूट की खेती से शीघ्र ही भूमि के पोषक तत्व नष्ट हो जाते हैं, अतः उस भूमि पर प्रतिवर्ष नदियों से लाई हुई मिट्टी बिछ जानी चाहिये। बंगाल में गंगा की बाढ़ से खेतों पर नई मिट्टी बिछ जाती है। यही कारण है कि भारतवर्ष का ६० प्रतिशत जूट बंगाल में ही पैदा होता है और १० प्रतिशत बिहार उड़ीसा आदि में पैदा होता है। देश के विभाजन के कारण जूट की मिलें तो भारत में रह गई हैं और जूट की पैदावार अधिकांश पाकिस्तान में होती है। परस्पर मेल नहीं होने के कारण हमको जूट की कमी पड़ रही है। विदेशों से भी अन्य कृत्रिम स्थानापन्न वस्तुओं के प्रयोग ने जूट की खपत को कम कर दिया है।

पाट (जूट) का पौधा

भारतवर्ष में जूट की पैदावार को बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है। सन् १९५० में जूट का उत्पादन बढ़ाने के लिये विविध सरकारों को सहायता और ऋण के रूप में १½ लाख रुपये केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदान किये गये थे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के पूर्व जूट का उत्पादन ३३ लाख गाँठ था, परन्तु योजना के अन्तिम वर्ष में यह उत्पादन ४० लाख गाँठें तक पहुँच गया था। दूसरी योजना का उत्पादन-लक्ष्य प्रथम योजना की अपेक्षा २५% अधिक रखा गया। सन् १९५८-५९ में जूट का उत्पादन ५२ लाख गाँठों का रहा।

रबड़ (Rubber) - भारतवर्ष संसार की उत्पत्ति का २ प्रतिशत रबड़ उत्पन्न करता है। इसको गर्म व तर जलवायु की आवश्यकता है। रबड़ दक्षिण भारत में विशेषतया मद्रास, कुर्ग, मैसूर, केरल में उत्पन्न होता है। केरल सबसे अधिक रबड़ उत्पन्न करता

है। १ लाख ४१ हजार एकड़ भूमि रबड़ की पैदावार के लिए प्रयुक्त की जाती है और कुल पैदावार ३ करोड़ ६० लाख पौंड के लगभग होती है। भारत में उत्पन्न होने वाली रबड़ कोचीन बन्दरगाह द्वारा इंगलैंड तथा हालैंड स्ट्रेट सैटिलमैंट आदि को भेजी जाती है। द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप भारत में रबड़ की उत्पत्ति बहुत बढ़ गई है। सन् १९४८–४९ में १ ८८ लाख एकड़ भूमि पर ४६ लाख पौंड रबड़ उत्पन्न की गई।

तिलहन (Oilseeds)—भारतवर्ष संसार में तिलहन उत्पन्न करने वाले देशों में मुख्य है और प्रतिवर्ष करोड़ों रुपयों का तिलहन विदेशों को मुख्यतः फ्रांस को भेजा जाता है। तिलहन की मुख्य फसलें निम्नलिखित हैं—सरसों, राई, सन का बीज, बिनौला, तिल, अंडी और मूँगफली। इनके अतिरिक्त नारियल और महुआ के फलों से भी तेल तैयार होता है।

तिलहन अंडी (रंडी) राज्य

सरसों और राई (Rape and Mustard)—उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, बंगाल और आसाम।

अलसी (Linseed)—मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, बम्बई और आन्ध्र

अंडी (Castor seed)—मद्रास, हैदराबाद, बम्बई, मध्य प्रदेश।

तिल (Sesamum)—मद्रास, मध्य प्रदेश, बम्बई, उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, उड़ीसा, आन्ध्र।

मूँगफली (Groundnut)—मद्रास, बम्बई, मध्य प्रदेश, आन्ध्र और आसाम

बिनौला (Cotton seeds)—बम्बई, सौराष्ट्र, मध्य प्रदेश, पंजाब, उत्तर प्रदेश

सन् १९५८–५९ मे मूँगफली की खेती का क्षेत्रफल १ करोड ४४ लाख एकड और उत्पादन (छिलके रहित) ४८ लाख १६ हजार टन था। सन् १९५८–५९ मे रेंडी की उपज १ लाख १२ हजार टन और क्षेत्रफल १२ लाख एकड था। प्रथम योजना के अन्त मे तिलहन का उत्पादन ५५ लाख टन था जबकि दूसरी योजना के अन्त मे यह लक्ष्य ७० लाख टन निर्धारित किया है।
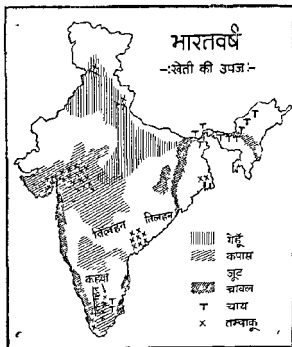
भारतवर्ष की कृषि सम्पत्ति

योजना और कृषि-उत्पादन—योजना काल मे कृषि-उत्पादन के सम्बन्ध मे मुख्य लक्ष्य निम्न तालिका मे दिये गये हैं :—

पदार्थ	इकाई	१६५५-५६ मे अनुमानित उत्पादन	अतिरिक्त उत्पादन का लक्ष्य	१६६०-६१ तक अनुमानित उत्पादन	प्रतिशत वृद्धि
खाद्यान्न	लाख टन मे	६५०	१००*	७५०	१५·४
तिलहन	,, ,,	५५	१५	७०	२७·३
गन्ना (गुड)	,, ,,	५६	१३	७१	२७·६
रुई	लाख गाँठे	४२	१३	५५	३१·०
जूट	,, ,,	४०	१०	५०	२५·०

*फसलो का विवरण कुछ इस प्रकार है :—

	लाख टन
चावल	४०—५०
गेहूँ	१५—२०
अन्य अनाज	२०—२५
दाले	१५—१५

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—भारतीय कृषि की मुख्य समस्याये क्या है ? उनको हल करने के सुझाव दीजिए। (अ० बो० १६६०)

२—भारत की अर्थ-व्यवस्था मे कृषि का महत्त्व समझाइए। हमारी कृषि की उन्नति के उपायो का वर्णन कीजिए। (रा० बो० १६६०)

३—भारत मे कृषि की पिछड़ी हुई दशा के क्या कारण है ? इस दशा की उन्नति के लिये हाल मे क्या-क्या उपाय काम मे लाये गये है ? (अ० बो० १६५६, ५६, सागर १६५०)

४—भारत की कृषि उपजे क्या-क्या है ? इनका उत्पादन बढ़ाने के लिये क्या तरीके काम मे लायेगे ? उनका वितरण कारण सहित लिखिये। *(अ० बो० १६५२, ४०)*

५—खाद्य उपजो और व्यापारिक उपजो पर टिप्पणी लिखिए। (नागपुर १६४७)

६—अन्य देशो की तुलना मे भारत की कृषि की कम उपज के कारणो की व्याख्या कीजिए। (नागपुर १६४५)

७—भारत की कृषि मे यन्त्रो के प्रयोग के लाभो और हानियो का विवेचन कीजिए। *(अ० बो० १६५६ पू०)*

८—भारत की प्रमुख फसलो का व्यापारिक महत्त्व और वितरण लिखिए। (पटना १६५२)

६—कृषि के दोषो का उल्लेख कीजिए और उनके दूर करने के उपाय बताइए। (पटना १६ २)

१०—भारतीय कृषि प्रणाली क्या है ? इसमे क्या दोष है ? क्या ये दूर किये जा सकते है ? *(दिल्ली हायर सैकेण्डरी १६४७)*

इण्टर एग्रीकल्चर

११—कृषि अर्थशास्त्र की विशेष समस्याएँ क्या है ? उनको आप किस प्रकार हल करेंगे ? (अ० बो० १६५६)

अध्याय २७

भारतवर्ष में सिंचाई

(Irrigation in India)

सिंचाई का अर्थ एवं महत्व (Meaning and Importance of Irrigation)—भारत एक कृषि प्रधान देश है जिसकी तीन-चौथाई से भी अधिक जन संख्या परोक्ष या अपरोक्ष रूप में अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर है। कृषि की सफलता के लिये नियमित रूप में पर्याप्त मात्रा में जल मिलना नितान्त आवश्यक है। *यही कारण है कि भारत की कृषि प्रधान आर्थिक व्यवस्था में वर्षा का* बड़ा महत्व है। ऐसी अवस्था में वर्षा को भारत की भाग्य विधाता कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसी आधार पर वुल्फ (Wolff) ने ठीक ही कहा है "भारतीय बजट वर्षा का जुआ है। यदि वर्षा नहीं आती है, तो कृषि व्यवसाय स्थगित हो जाता है।"

यदि वर्षा पर्याप्त मात्रा में नहीं होती है, तो इसकी पूर्ति के साधन जुटाना आवश्यक हो जाता है। अस्तु खेतों को कृत्रिम ढंगों से पानी देने को सिंचाई कहते हैं। वर्षा द्वारा खेतों को जल मिलना एक प्राकृतिक ढंग है, परन्तु सिंचाई द्वारा पानी मिलने का अप्राकृतिक या कृत्रिम ढंग कहते हैं।

भारतवर्ष में सिंचाई की आवश्यकता
(Necessity of Irrigation in India)

निम्नांकित कारण भारत में सिंचाई की आवश्यकता प्रकट करते हैं --

१. *भारत में वर्षा समय और स्थान की दृष्टि से अनिश्चित है। कभी वर्षा* अधिक हो जाती है तो कभी कम। तीन वर्ष के चक्र में एक वर्ष उत्तम, दूसरा निकृष्ट और तीसरा उपेक्षित होता है। अतः वर्षा की कमी की पूर्ति सिंचाई से की जाती है।

२. देश में वर्षा का वितरण समान नहीं है। बंगाल, आसाम, पश्चिमी समुद्र तट आदि स्थानों पर वर्षा अधिक होती है, अतः वहाँ सिंचाई की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु अन्य भागों में, जहाँ वर्षा साधारण होती है खेती करने के लिए सिंचाई पर आश्रित रहना पड़ता है।

३. हमारे देश में कुछ भागों में वर्षा नहीं के बराबर होती है जैसे राजस्थान का अधिकांश भाग, पश्चिमी पंजाब आदि। यहाँ सिंचाई न की जाय, तो पैदावार बिल्कुल नहीं हो सकती।

४. भारत में ९० प्रतिशत वर्षा गर्मी के मानसून से होती है और सर्दी में वर्षा बहुत कम होती है, अर्थात् नहीं के बराबर होती है, अतः सर्दी की फसलों के लिए सिंचाई नितान्त आवश्यक है।

५. भारतवर्ष मे कुछ फसलें ऐसी हैं जो बिना अधिक और नियमित पानी की पूर्ति के पैदा नही हो सकती। जैसे—चावल, गन्ना, जूट आदि।

६. देश के कुछ भागो की मिट्टी ऐसी है जो अधिक समय तक पानी को अपने मे नही रख सकती, जैसे बालू, रेत। इस प्रकार की मिट्टी को गीली रखने के लिये उसे निरन्तर पानी देने की आवश्यकता है।

७. भारत की बढती हुई जनसख्या को खिलाने के लिये केवल गर्मी की वर्षा से होने वाली फसलें ही पर्याप्त नही है, बल्कि सर्दी की फसलो की भी आवश्यकता होती है। परन्तु सर्दी मे वर्षा नही होने के कारण सिचाई के साधनो का उपयोग करना पडता है।

(करोड एकड भूमि)

भारत म सबसे अधिक भूमि सींची जाती है

भारतवर्ष मे सिचाई के साधन (Means of Irrigation in India)

भारतीय प्रजातन्त्र म सिचाई के सब साधनो से लगभग ५ करोड एकड भूमि सींची जाती है जो समस्त कृषि योग्य भूमि का लगभग १७ प्रतिशत है। ऊपर के रेखाचित्र से यह स्पष्ट है कि ससार म सब से अधिक सिचाई भारतवर्ष म होती है। देश के विभाजन के कारण पजाब और सिन्ध के अधिकाश सिचाई के साधन अब पाकिस्तान के अधिकार मे चले गये हैं।

भारतवर्ष म मुख्य सिचाई के साधन निम्नलिखित है :—

१. कुएँ (Wells)
२. तालाब (Tanks)
३. नहर (Canals)
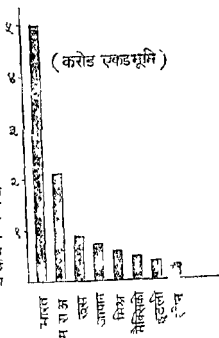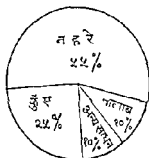
सिचाई के साधनो का सापेक्ष महत्व

१ कुएँ (Wells)—कुआ द्वारा सिंचाई भारत का अत्यन्त प्राचीन ढग है। भारत म जितनी भूमि मे सिंचाई होती है उसका लगभग चौथाई भाग अर्थात् १ करोड २० लाख एकड भूमि कुँआ द्वारा सीची जाती ह। भारत मे लगभग २२ लाख कुएँ हैं जिनके बनने म १०० करोड रुपया व्यय हुआ है। कुआ द्वारा सिंचाई करने क ढग से भारतीय किसान भलीभाति परिचित है और वे कुएँ भी भली प्रकार बना सकते है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व एक कच्चा कुँआ लगभग ५० रु० म तैयार हो जाया करता था। यह कुआ द्वारा सिंचाई प्राय सभी राज्यो म होती है परन्तु उत्तर प्रदेश मध्य प्रदेश पजाब बम्बई, मद्रास बिहार और दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान म अधिकता से होती है।
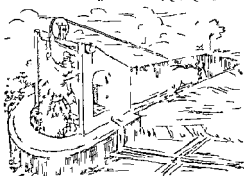
कुएँ द्वारा सिंचाई

कुँआ द्वारा सिंचाई करने क भी कई ढग प्रचलित हैं जसे रहट चरस ढेकली आदि। रहट (Persian Well) म कुछ व्यय अधिक होता है। इस ढग का उपयोग मलाबार राजस्थान काठियावाड पजाब और बम्बई म अधिक होता है। चरस (Leather Bag) उत्तर प्रदेश मद्रास मध्य प्रदेश और बिहार म प्रचलित है।
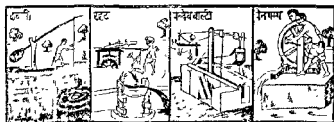
कुआ द्वारा सिंचाई क विविध ढग

उत्तर प्रदेश के ट्यूब-वैल अर्थात् बिजली के कुएँ
(Tube-wells in U P)

कुँआ द्वारा सिंचाई म भी बिजली का प्रयोग बडा लाभदायक सिद्ध हुआ है। हाल ही म उत्तर प्रदेश की सरकार ने १½ करोड रुपय व्यय करक १६६० ट्यूब-

नलकूप (ट्यूब वैल)
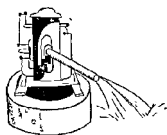
वैल (नलकूप) तैयार करवाए हैं। अभी तक इस योजना द्वारा बदायूँ, मुजफ्फरनगर, बिजनौर, मेरठ, बुलन्दशहर, अलीगढ़, मुरादाबाद और आगरा जिला को ही लाभ पहुँचा है। ये ट्यूब वैल (नलकूप) शारदा नहर के पानी से उत्पन्न को गई बिजली से चलाए जाते हैं। इन कुँओं द्वारा लगभग बीस लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। एक ट्यूब वैल द्वारा एक हजार एकड़ भूमि से भी अधिक भूमि सींची जा सकती है। जैसे-जैसे बिजली का प्रसार अन्य जिला में होता जायगा, वैसे-वैसे वहाँ भी ट्यूब-वैल की सुविधा उपलब्ध हो जावेगी।

इन बिजली के कुँओं से उत्तर प्रदेश की उपज बढ़ गई है और बेकार पड़ी भूमि कृषि योग्य बन गई है। उत्तर प्रदेश की सरकार ने लगभग १५०० ट्यूब वैल बनाने की योजना और तैयार की है जिससे निकट भविष्य में इस राज्य के पश्चिमी शुष्क भाग में गेहूँ, कपास, गन्ना आदि की पैदावार बढ़ जायगी। भविष्य में ट्यूब-वैल उत्तर प्रदेश में सिंचाई का एक महत्वपूर्ण साधन बन जावेगा।

गंगा-नहर जल-विद्युत ग्रिड योजना (Ganges Hydro-Electric Grid System)—उत्तर प्रदेश में गंगा की नहर के प्रवाह को कम करने के लिए लगभग दस-दस फीट की ऊँचाई के कुछ प्रपात (Falls) बनाये गये हैं जिनके द्वारा जल-विद्युत तैयार की गई है। धीरे-धीरे अलग अलग प्रपातों के शक्ति-गृह (Power Houses) बिजली के तारों द्वारा एक दूसरे से मिला दिए गए हैं। इनको मिला देने से जो बिजली की योजना तैयार हुई है उसको गंगा-नहर जल विद्युत ग्रिड योजना कहते हैं।

कुएँ द्वारा सिंचाई का भविष्य (Future of Well Irrigation)—कुएँ द्वारा सिंचाई के लिए इस देश में अब भी बड़ा क्षेत्र है। कुएँ सुगमता से कम व्यय में बनाये जा सकते हैं, अतः इस साधन का भविष्य अधिक उज्ज्वल प्रतीत होता है। सस्ती बिजली से ट्यूब-वैल का प्रसार अत्यधिक हो सकता है। उत्तर प्रदेश की भाँति अन्य राज्यों में भी सरकार द्वारा ट्यूब-वैल योजनाएँ कार्यान्वित की जा सकती हैं। इसी से अल्प समय में हमारी खाद्य समस्या बहुत-कुछ सरल हो सकती है।

योजनाएँ और नलकूप—साधारण सिंचाई के लिए नलकूप बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। सन् १९५१ से पहले भारत में लगभग २॥ हजार नलकूप थे। प्रथम पंचवर्षीय योजना में बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, पेप्सू और बम्बई में लगभग ४,४०० नलकूप और तैयार हुए। इन नलकूपों से लगभग २० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती है। चालू योजना में ३५०० नलकूप और लगाये जायेंगे।

२ तालाब (Tanks)—तालाबों तथा बांधों द्वारा सिंचाई भारतवर्ष में प्राचीन समय से चली आ रही है। भारत के जिन भागों में भूमि पथरीली है अथवा भूमि के नीचे का पानी (Sub soil Water) बहुत गहरा है वहाँ तालाबों और बांधों से सिंचाई की जाती है। अधिकतर
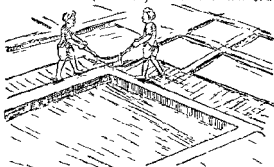
तालाबों द्वारा सिंचाई

तालाब दक्षिणी भारत में है। इनकी संख्या लगभग ७४ हजार है। केवल मद्रास राज्य में ३४ हजार तालाब हैं जिनसे ३८ लाख एकड़ भूमि सींचा जाता है। मद्रास राज्य में परियार बांध (Periyar Porject) अकेला ... लाख एकड़ भूमि को सींचता है। बंगाल में ८ लाख और बिहार में १८ लाख एकड़ भूमि तालाबों द्वारा सींची जाती है। सम्पूर्ण भारतीय प्रजातन्त्र राज्य में ६० लाख एकड़ भूमि अर्थात् १२ प्रतिशत भूमि तालाबों द्वारा सींची जाती है। मद्रास के बाद आन्ध्र तथा मैसूर में अधिक तालाब हैं। कुछ तालाब राजस्थान के दक्षिणी-पूर्वी पहाड़ी भाग और मध्य भारत में भी हैं।

३ नहर (Canals)—भारतवर्ष में नहरों द्वारा सिंचाई एक प्रमुख साधन है। देश में जितनी भूमि की सिंचाई होती है उसका लगभग आधा भाग नहरों द्वारा ही सींचा जाता है। भारत में इन नहरों की लम्बाई ७५,००० मील है। इतना बड़ा नहरों का जाल संसार के किसी अन्य देश में नहीं मिलता। नहर बनाने में अधिक व्यय
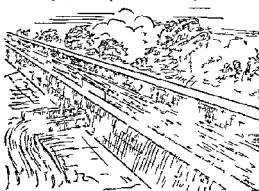
नहरों द्वारा सिंचाई

होने के कारण इन्हें सरकार स्वयं बनवाती है। अविभाजित भारत में जितनी सिंचाई नहरों से होती थी उसकी १४ प्रतिशत व्यक्तिगत साधनों द्वारा होती है।

नहरों के प्रकार (Kinds of Canals)—भारत में मुख्यतः तीन प्रकार की नहरें पाई जाती हैं —

१. बरसाती या बाढ़ की नहरें (Inundation of Flood Canals) - ये नहरें नदी में सीधी बिना बाँध के निकाली जाती हैं। मुख्यतः ये नहरें बाढ़ रोकने के लिए बनाई जाती है। जब नदी में बाढ़ का पानी कम हो जाता है तो इन नहरों में भी पानी बन्द हो जाता है। इन नहरों का केवल वर्षा ऋतु में ही उपयोग होने के कारण ये 'बरसाती' नहरें कहलाती हैं। वर्षा ऋतु के बाद सिंचाई के लिए कुओं का ही आश्रय लेना पड़ता है। पंजाब और सिन्ध में पहले इस प्रकार की नहरें थीं, परन्तु अब इन नहरों को स्थायी या नित्य बहने वाली नहरों में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। भाखरा बाँध इसी का एक उदाहरण है।

२. स्थायी नहरें (Perennial Canals)—इन नहरों के बनाने में बाँध का प्रयोग किया जाता है। नदी के आरपार बाँध डालने से नदी के पानी की कृत्रिम सतह ऊँची हो जाती है जिससे नहरों में बराबर पानी पहुँचता रहता है। इसीलिए ये स्थायी नहरें कहलाती हैं। इस प्रकार की नहरें उत्तर प्रदेश, पंजाब और मद्रास में पाई जाती हैं। सिन्ध नदी के आरपार बाँध बना कर बरसाती नहरों को स्थायी नहरों में परिवर्तित कर दिया गया है।

३. गोदामी नहरें (Storage Canals)—ये नहरें उन स्थानों में बनाई जाती हैं जहाँ सदा बहने वाली नदियों का पूर्ण अभाव होता है। बरसाती पानी को एकत्रित करने के लिए घाटी के आरपार बाँध बना लिया जाता है और फिर नहरें निकाल कर सिंचाई की जाती है। इस प्रकार की नहरें दक्षिणी भारत, मध्य प्रदेश, बुन्देलखण्ड और मद्रास में पाई जाती हैं।

भारतवर्ष में नहरों का वितरण
(Distribution of Canals in India)

भारतवर्ष में अधिकांश नहरें उत्तर प्रदेश और पूर्वी पंजाब में पाई जाती हैं। इसके निम्नलिखित कारण हैं —(१) सदा बहने वाली नदियों का विद्यमान होना, (२) नदियाँ उत्तम रीति से फैली हुई हैं, (३) भूमि का समतल होना और (४) भूमि के उपजाऊ होने के कारण नहरों में अधिक लाभ पहुँचना।

उत्तर प्रदेश की नहरें (Canals of U. P.)

उत्तर प्रदेश में निम्नलिखित नहरें हैं —(१) ऊपरी-गंगा-नहर (Upper Ganges Canal), (२) निचली-गंगा नहर (Lower Ganges Canal)। ये दोनों नहरें दोआब के जिलों को सींचती हैं। (३) पूर्वी यमुना-नहर (Eastern Yamuna Canal), और (४) आगरा नहर (Agra Canal)। ये दोनों नहरें जमुना से निकाली गई हैं और यमुना के पूर्वी और पश्चिमी तट के जिले को सींचती हैं।

(५) शारदा नहर (Sharda Canal)—यह नहर सन् १९३० ई० में बनकर तैयार हो गई थी। इस नहर के निर्माण-कार्य ने नहर-इंजीनियरिंग का एक अद्भुत नमूना संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया है। इस नहर के निर्माण में लगभग १० करोड़ रुपया व्यय हुआ है। इसके द्वारा अवध और रुहेलखण्ड की लगभग ६० लाख एकड़ भूमि सींची जाती है और इस भूमि पर अधिकतर गन्ने की खेती होती है।

(६) बेतवा नहर (Betwa Canal)—बेतवा नदी जमुना की ही शाखा है। झाँसी से १५ मील दूर परिछा नामक स्थान पर नदी में एक नहर निकाली
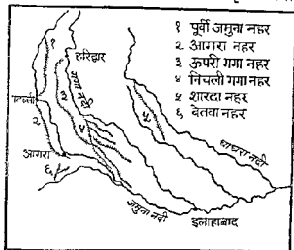
उत्तर प्रदेश की नहरें

गई है जो उत्तर प्रदेश के झांसी जालौन और हमीरपुर जिलों की प्राय २ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करती है।

पूर्वी पंजाब की नहरें (Canals of East Punjab)
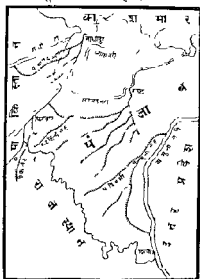
पूर्वी पंजाब की नहरें

भारत के विभाजन से पूर्व पंजाब में एक उत्तम नहर प्रणाली स्थित थी परन्तु विभाजन के फलस्वरूप अब पूर्वी पंजाब में केवल चार नहरें शेष रह गई हैं —

१ पश्चिमी यमुना नहर (Western Yanuna Canal)–यह नहर पुरानी है जो सन् १८०० ई० में बनकर तैयार हो गई थी। इसके द्वारा दक्षिणी पंजाब को पानी मिलता है जिससे लगभग ८ लाख एकड़ भूमि सींची जाती है।

२ ऊपरी बारी दोआब नहर (Uppr Bari Doab Canal)—यह नहर सन् १८६० में बनकर तैयार हो गई थी। यह रावी नदी से निकाली गई है और इससे अमृतसर आदि जिलों में लगभग १० लाख एकड़ भूमि को पानी मिलता है।

३ सर हिन्द नहर (Sirhind Canal)—यह सतलज नदी से निकाली गई है और सन् १८८८ ई० में बनकर तैयार हो गई थी। इस नहर की कुल लम्बाई शाखाओं सहित ३८०० मील है और इसके द्वारा लुधियाना फिरोजपुर हिसार पटियाला नाभा जींद आदि में कुल मिलाकर लगभग १८ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती है।

४ सतलज घाटी की योजना (Sutlej Valley Project)—इस योजना के अन्तर्गत कुल ११ नहरें निकाली गई हैं। इस सम्पूर्ण कार्य में २१ करोड़ रुपया व्यय होकर सन् १९३३ ई० में यह योजना पूर्ण हो गई थी। अब पंजाब की फिरोजपुर जिले की नहरों को छोड़कर सारी नहरें पाकिस्तान में हैं। इन नहरों से बीकानेर की लगभग ३½ लाख एकड़ भूमि सिंचाई द्वारा हरी भरी हो गई है।

दक्षिण की नहरें (Canals of Deccan)

यह तो पहले ही बता दिया जा चुका है कि दक्षिण में नहरों से सिंचाई नहीं होती। केवल महानदी, गोदावरी कृष्णा और कावेरी के डेल्टा में नहरों का उपयोग होता है।
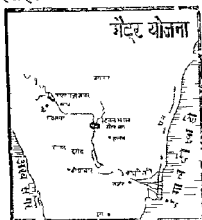
कावेरी मैटूर योजना (Kaveri Mettur Project)—कावेरी नदी के डेल्टा में नहरों द्वारा लगभग दस लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती थी परन्तु नहरों में पानी भेजने का कोई प्रबन्ध नहीं था अत मैटूर (Mettur) नामक स्थान पर कावेरी नदी पर एक बांध द्वारा ९० हजार क्यूबिक फीट पानी रोक कर ८८ मील लम्बी एक नहर निकाली गई है जो अपनी शाखाओं द्वारा १० लाख एकड़ भूमि को सींचकर कृषि-योग्य बनाती है। यह योजना सन् १९३४ ई० में बनकर तैयार हो गई थी।

पेरियार योजना (Periyar Project)—यह दक्षिण में सब से पुरानी योजना है। पेरियार नदी कारडेमम पहाड़ियों से निकल कर अरब सागर में गिरती थी, परन्तु नदी के पश्चिमी तट पर कोई इसका उपयोग नहीं था क्योंकि वहाँ वर्षा अधिक होती है। इसके विपरीत कारडेमम पहाड़ियों के पूर्व में स्थित तिनेवैली और मदुरा जिला के निचले मैदान पानी बिना प्यासे थे क्योंकि वहाँ वर्षा कम होती है। इन शुष्क जिलों को
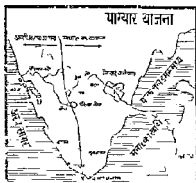
पानी पिलाने के लिए पहाड़ की जड़ में एक सुरंग खोदी गई जिसके कारण पैरियर नदी अरब सागर से मुड़कर इन शुष्क जिलों में बहने लगी। इसके द्वारा लगभग १० लाख एकड़ भूमि में खेती होती है।

बम्बई राज्य के बाँध

बम्बई राज्य में दो महत्वपूर्ण बाँध हैं—भंडारदरा बांध और लॉयड बाँध।

भंडारदरा (Bhandardara Dam)—यह भारत का सबसे बड़ा बाँध है। यह गोदावरी की एक सहायक नदी में पानी लेकर प्रवरा नहर के लिए पानी प्राप्त करता है। इसके द्वारा अहमदनगर जिले में ६० हजार एकड़ भूमि की सिंचाई होकर खूब गन्ने की फसलें पैदा होती है। योजना सन् १९२५ में बन कर तैयार हो गई थी।

लॉयड बाँध (Lloyd Dam)—यह कृष्णा नदी की एक सहायक नदी पर बना है और इससे नीरा नहर को पानी मिलता है, जिससे पूना और शोलापुर जिलों में ७ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होती है।

बुन्देलखण्ड में अर्जुन बाँध

उत्तर प्रदेश के हमीरपुर जिले में १.०३ करोड़ रुपये की लागत से अर्जुन बाँध अभी हाल ही में बनकर तैयार हुआ है। बुन्देलखण्ड की समृद्धि और विकास के लिए अर्जुन बाँध का महत्वपूर्ण स्थान है।

अर्जुन बाँध ७४ फुट ऊँचा, २० फुट चौड़ा और २½ मील लम्बा है। इसके निर्माण में ३ वर्ष लगे हैं। इस बाँध के जलाशय में १,६६,७० लाख घनफुट पानी संग्रह हो सकता है जिससे २६,६७२ एकड़ क्षेत्र की सिंचाई हो सकेगी। इस सिंचाई की व्यवस्था के फलस्वरूप खाद्योत्पादन में ७,६०० टन की वृद्धि होगी। परन्तु यह वृद्धि रबी की फसल में ही होगी।

बिहार की नहरें (Canals of Bihar)

बिहार में तीन मुख्य नहरें हैं—पूर्वी सोन नहर (Eastern Son Canal) पश्चिमी सोन नहर (Western Son Canal) और त्रिवेनी नहर (Triveni Canal)

मध्य प्रदेश की नहरें (Canal of M. P.)

मध्य प्रदेश की मुख्य नहरें ये हैं—महानदी (Mahanadi Canal) वैनगंगा नहर (Wainganga Canal) और तन्दुला नहर (Tandula Canal)

दामोदर नदी से एक नहर निकाली है जिसका नाम दामोदर नहर (Damoder Canal) है। इस नहर के द्वारा बंगाल के बर्दवान और हुगली जिलों में सिंचाई होती है।

राजस्थान नहर—राजस्थान के उत्तरी व पश्चिमी रेतीले भाग में जल के अभाव को दूर करने के लिए ३० मार्च १९५८ को केन्द्रीय गृह मंत्री द्वारा राजस्थान नहर का शिलान्यास किया गया। इसके निर्माण में ६१ करोड़ रुपए से भी अधिक का अनुमान है। इसका कार्य इतना विशाल है कि इस नहर पर २० हजार मनुष्य प्रतिदिन के हिसाब से बराबर १० वर्ष तक कार्य करते रहेंगे। इस नहर के बन जाने पर लगभग ३३.६ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की जा सकेगी। यह सतलज नदी पर व्यास के संगम से ठीक नीचे निर्मित हरी के बाँध से निकाली जायगी।

सिंचाई की कुछ नवीन योजनाएँ
(New Irrigation Works)

स्वतन्त्र भारत में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने बहुत सी बहुप्रयोजन योजनाएँ (Multipurpose Projects) अपने हाथ में ली हैं जिनसे न केवल जल विद्युत ही उत्पन्न होगी वरन साथ ही साथ सिंचाई की सुविधा भी प्राप्त होगी। इन योजनाओं में से मुख्य निम्नलिखित हैं

(१) दामोदर घाटी योजना (२) भाखरा नंगल योजना (३) हिराकुड बाँध योजना (४) तुंगभद्रा योजना (५) हीराकुण्ड बाँध योजना (६) रामपद सागर योजना, (७) कोसी योजना (८) जवाई योजना (९) चम्बल घाटी योजना (१०) नागार्जुन बाँध योजना (११) मयूराक्षी योजना (१२) कायना योजना (१३) कृष्णा मलार योजना (१४) मंडक योजना (१५) नायर योजना (१६) नर्बदा नाली योजना (१७) काकरापारा योजना (१८) मचकुण्ड योजना (१९) मालप्रभा योजना (२०) गाँधी सागर बाँध योजना।

इनका विस्तृत विवरण आगे अध्याय २० में किया गया है।
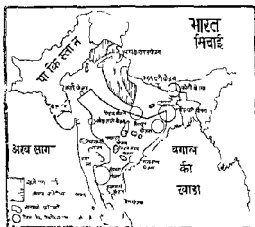
सिंचाई के साधनों का सरकारी वर्गीकरण

(Government Classification of Irrigation Works)

नहरें देश में सिंचाई का प्रमुख साधन हैं। ये राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं। आय की दृष्टि से नहरों के साधन निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित हैं —

१ उत्पादक साधन (Productive Works)— वे कहलाते हैं जो निर्माण कार्य पूर्ण होने के पश्चात् दस वर्ष के भीतर अपनी लगी हुई पूँजी पर ब्याज तथा चालू खर्च देने योग्य बन जाते हों। ये उधार ली हुई पूँजी से बनाये जाते हैं।

२ रक्षात्मक साधन (Protective Works)—वे हैं जिनके निर्माण का उद्देश्य आय नहीं होता है बल्कि रक्षात्मक होता है। जैसे किसी क्षेत्र को अकाल

से बचाने के लिए इस प्रकार के साधन प्रस्तुत किये जाते हों। चालू आय में से कुछ प्रतिशत अकाल सहायता और बीमा कोष म सहायता के रूप में प्रदान की जाती है जिसका उपयोग इस प्रकार के साधनों के निर्माण में किया जाता है।

३. क्षुद्र साधन (Minor Works)—इसमें छोटे-छोटे विविध प्रकार के सभी साधन सम्मिलित होते हैं। ये सरकारी चालू आय में से बनायें जाते है।

सन् १६२१ ई० से उपर्युक्त वर्गीकरण बदल गया है। अब ये कोष (Fund) की उपेक्षा रखते हुए केवल उत्पादक और रक्षात्मक साधनों में ही वर्गीकृत होते हैं।

नहरों और रेलों का सापेक्षिक महत्त्व

भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहां की भूमि उपजाऊ है और जलवायु भी अनुकूल है। परन्तु जलवृष्टि इतनी अनुकूल नहीं है जितनी कि होनी चाहिए। भारतीय आर्थिक समृद्धि जलवृष्टि पर बहुत कुछ निर्भर होने के कारण इसकी आर्थिक व्यवस्था में इसका बड़ा महत्त्व है। परन्तु भारत म जलवृष्टि अनिश्चित, अनियमित एवं असमान होने के कारण कृत्रिम साधनों द्वारा खेती की सिंचाई नितान्त आवश्यक है। सिंचाई से शुष्क प्रदेशों में भी खेती सम्भव हो जाती है। इस प्रकार सिंचाई द्वारा कृषि पैदावार में वृद्धि हो जाती है। निर्माण व्यवसाय को भी अपने कच्चे माल के लिए अधिकतर खेती पर ही निर्भर रहना पड़ता है जिसके फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होकर देश के व्यापार में वृद्धि होती है।

कृषि की उन्नति के लिए केवल सिंचाई ही आवश्यक नहीं है, बल्कि साथ ही साथ रेल जैसे शीघ्र यातायात के साधनों के विकास की भी आवश्यकता है। यदि देश म यातायात के साधनों का अभाव है, तो खेती की बढ़ी हुई पैदावार को यथा स्थान पर पहुँचाना कठिन हो जायगा। खेती के द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं के वितरण के लिए उपयुक्त मण्डियों और बाजारों को ढूँढना आवश्यक है और यह कार्य यातायात के साधनों द्वारा सुगमता से किया जा सकता है। रेलें स्वयं खेती पर आश्रित है क्योंकि बिना खेती के यातायात को वस्तुओं का पूर्ण अभाव रहेगा और खेती स्वयं सिंचाई पर निर्भर है। अस्तु, नहर और रेलें बनाना दोनों ही समान महत्त्व की वस्तुऐं हैं।

सिंचाई के लाभ (Advantages)

सिंचाई के साधनों से हमारे देश को निम्नलिखित लाभ है —

१. सिंचाई द्वारा मानसून की अनिश्चितता से सुरक्षित रहा जा सकता है।
२. अकाल से बचने का एक अनुपम साधन है।
३. सिंचाई के कारण भूमि की प्रति एकड़ उपज बढ़ जाती है।
४. सिंचाई द्वारा शुष्क भागों में भी खेती सम्भव हो सकती है।
५. सिंचाई के कारण पड़त या बंजर भूमि कृषि योग्य बन सकती है।
६. सिंचाई के कारण भूमि के भीतर का पानी ऊपर आ जाता है जिससे खेती में बड़ी सहायता मिलती है।
७. सिंचाई से वर्ष भर निरन्तर खेती का व्यवसाय चलता रहता है और कई प्रकार की फसलें पैदा की जा सकती हैं।
८. सिंचाई द्वारा गहरी खेती सम्भव होती है जिससे कृषि की उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि होती है।

९. सिचाई द्वारा चावल, गन्ना जैसी फसलें पैदा हो सकती है।

१०. सिंचाई द्वारा केवल मात्रा म ही वृद्धि नही होती, बल्कि किस्म (Quality) मे भी सुधार होता है।

११. सिंचाई द्वारा सरकार को भी आय अच्छी होती है।

सिंचाई से हानियाँ (Disadvantages)

१. अधिक सिंचाई के कारण भूमि पर क्षार (Alkaline) फैल जाता है और भूमि खेती के अयोग्य हो जाती है।

२. नहरो के बनने से कभी-कभी भूमि मे पानी की अधिकता (Water logging) होकर कुछ रासायनिक प्रतिक्रियाएँ होने लगती है जिसके कारण भूमि बेकार हो जाती है।

३. नहरो के आस पास की भूमि में बिखरा हुआ पानी इकट्ठा होकर दलदल या कीचड का रूप धारण कर लेता है, जिसके कारण बीमारी फैलाने वाले जीव जन्तु व कीड़े मकोड़े पैदा हो जाते है। इस प्रकार ये स्थान मलेरिया व अन्य सक्रामक बीमारियो के जन्म-स्थान होकर सैकडो मनुष्यों को मौत के घाट उतार देते है।

४. खेतों मे पानी देते समय बहुत सारा पानी बेकार नष्ट हो जाता है।

५. नदी द्वारा लाई हुई मिट्टी खेतो पर बिछने के बजाय नहरो में जमा हो जाती है, जिसके कारण उसका कोई उपयोग नहीं होता।

६. नहरो द्वारा सभी खेतो को पानी एक साथ नहीं मिलने के कारण खेती मे बड़ी हानि होने की सम्भावना हो सकती है।

७. कभी-कभी नहरो और तालाबो के टूट जाने से जन धन की बडी क्षति होती है।

- योजना और सिचाई—दूसरी पचवर्षीय योजना म सिचाई और बाढ नियन्त्रण के लिए ४५८ करोड रुपया रखा गया है जबकि प्रथम योजना मे इस मद पर ३६५ करोड रुपया व्यय किया गया। पहली योजना की अवधि मे बडी और मध्यम आकार की योजनाओ मे ७० लाख एकड की सिंचाई होने लगेगी। दूसरी योजना मे यह क्षेत्र बढ कर १ करोड २० लाख एकड हो जाने की आशा है। सिंचाई की १८८ नई योजनाओ में से १३६ पर १ करोड रुपए से कम व्यय होगा, ३४ पर १ करोड से ५ करोड तक व्यय होगा, ८ पर ५ करोड से १० करोड रुपए तक व्यय होगा, ९ पर १० करोड से ३० करोड रुपए तक व्यय होगा और केवल एक पर ३० करोड रुपए से अधिक व्यय होगा।

बाढ नियन्त्रण—'केन्द्रीय बाढ नियन्त्रण मण्डल' के अतिरिक्त १२ राज्यो म भी बाढ नियन्त्रण मण्डल है जिनको सलाहकार समितियाँ प्राविधिक मामलो मे सहायता देती हैं। 'केन्द्रीय जल तथा विद्युत आयोग' मे एक बाढ विभाग और सम्मिलित कर दिया गया है। विभिन्न राज्यो तथा सघीय क्षेत्रो मे भी ५०६ योजनाएँ स्वीकृत हो चुकी हैं जिनमे से प्रत्येक पर १० लाख रुपये से कम व्यय किये जाने का अनुमान लगाया गया है।

१२४५ करोड रु० का अनुमानित लागत की २४६ अन्य योजनाएँ विचाराधीन हैं। उत्तर प्रदेश के बाढग्राही क्षेत्रों मे ४,२०० से अधिक गाँवो की सतह ऊँची कर दी है और बाढ नियन्त्रण कार्यक्रम आरम्भ होने के समय से अब तक कई राज्यो म कुल मिलाकर २,४४३ मील लम्बे तट बधो का निर्माण किया जा चुका है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—उत्तर प्रदेश मे सिंचाई सुविधा के विकास की सक्षिप्त व्याख्या कीजिए। (उ० प्र० १९५५)

२—भारतवर्ष के विभिन्न भागो मे सिंचाई के क्या-क्या साधन काम म लाये जाते हैं। *राजस्थान मे सिंचाई की सुविधाओ के प्रसार के तरीको के लिए सुझाव दीजिये।* (रा० यू० १९५२)

३—भारत के विभिन्न भागो मे सिंचाई की कौन-कौन सी सुविधाएँ हैं ? उत्पादक और अनुत्पादक सिंचाई के साधनो म भेद दर्शाइए। सिंचाई के लाभ हानि भी बताइए। (अ० बो० १९५६, ५२, ४४, ४१, उ० प्र० १९४२) (उ० प्र० १९५३)

४—भारत म सिंचाई का क्या महत्व है ? यहा के सिंचाई के विभिन्न साधनो का विवरण दीजिए। (उ० प्र० १९५५, ४७, ४५ पटना १९५२, अ० बो० १९५४, ५२, सागर १९५२, ४९, पजाब १९५१)

५—भारतवर्ष म सिंचाई के साधनो के लाभो का वर्णन कीजिए और आगे इनके प्रसार की गुजाइश बताइये। (बनारस १९४९)

६—टिप्पणियाँ लिखिए।
दामोदर घाटी योजना। (उ० प्र० १९५३)
राजस्थान नहर। (रा० बो० १९६०)

अध्याय २८

क्षेत्र-विभाजन एवं अपखण्डन
(Sub-Division & Fragmentation of Holdings)

पोषणक्षम क्षेत्र का अर्थ (Meaning of Economic Holding)—पोषणक्षम क्षेत्र से उस खेत का अर्थ है जो न तो इतना बड़ा हो कि कृषक द्वारा वह न सम्भले और इतना छोटा भी न हो कि उसके परिवार के लिए उस पर खेती करना लाभदायक सिद्ध न हो। कीटिंग्ज (Keatings) महाशय इसको इस प्रकार परिभाषित करते है, "वह क्षेत्र जो किसी कुटुम्ब को वर्ष-पर्यन्त धन्धे मे व्यस्त रखे और उसमे उसका जीवनोपार्जन हो।"

ऊपर की परिभाषा उपयुक्त प्रतीत होती है, क्योंकि पोषणक्षम क्षेत्र का अनुमान एकड़ो मे ठीक प्रकार नही लगाया जा सकता है। एक कम उपजाऊ ५० एकड भूमि का टुकड़ा सारे कुटुम्ब को कार्य व्यस्त रख सकता है, तो उसी कुटुम्ब के लिए १० से १५ एकड भूमि का उपजाऊ टुकड़ा पर्याप्त हो सकता है। अस्तु, पोषणक्षम क्षेत्र का मापन एकड़ो मे ठीक प्रकार नही हो सकता है।

भारतवर्ष के विभिन्न राज्यो मे खेतो के आकार निम्न प्रकार हैं :—

राज्य	औसत खेती का क्षेत्रफल	राज्य	औसत खेती का क्षेत्रफल
महाराष्ट्र	१०२	मद्रास	४.६
पंजाब	६ २	बिहार और उड़ीसा	३ १
म० प्र० और बरार	८.५	आसाम	३ ०
बगाल	५ १	उत्तर प्रदेश	२.५

ऊपर की तालिका से यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष मे कम से कम २½ या ३ एकड भूमि पर खेती होती है जो कृषक के कुटुम्ब के निर्वाह के लिए बिलकुल अपूर्ण है। ऐसी अवस्था मे जो रहन-सहन का स्तर भारतीय किसान रख सकता है, उसकी भली-भाँति कल्पना की जा सकती है।

क्षेत्रों की विशेषताएँ— भारत मे खेत छोटे-छोटे टुकड़ो मे ही विभाजित नही होते, बल्कि वे यत्र-तत्र (Scattered) भी स्थित होते है। छोटे टुकड़ो पर खेती करना वैसे ही लाभहीन व्यवसाय है, परन्तु जब वे इधर-उधर एक दूसरे से दूर स्थित हो, तो और भी कार्यक्षमता मे न्यूनता आ जाना स्वाभाविक है। प्रत्येक खेत के टुकड़े पर जो यत्र-तत्र स्थित है खेती करने के लिए पहुँचने मे समय और शक्ति का दुरुपयोग होता

है तथा भारतीय दुबल बैलों को निरर्थक में इधर-उधर जाने में थकावट हो जाती है। इसके अतिरिक्त किसान को खेती सम्बन्धी सभी वस्तुएँ एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने में बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। सब खेतों की एक साथ देख रेख भी कठिन हो जाती है। प्रत्येक खेत में अलग अलग चारा और आड़ लगाने का व्यय भी बढ़ जाता है।

क्षेत्र विभाजन एवं अपखण्डन के कारण (Causes)

खेतों के छोटे और दूर दूर होने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं —

१ उत्तराधिकार के नियम (Laws of Inheritance)—इंगलैंड के उत्तराधिकार नियम के अनुसार ज्येष्ठ पुत्र ही पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है अतः भू सम्पत्ति का विभाजन नहीं होता। परन्तु भारतवर्ष में इसके विपरीत नियम प्रचलित है। पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी भू सम्पत्ति का उसके सब पुत्रों में समान विभाजन हो जाता है। अतः इस प्रकार विभाजन और उपविभाजन होता रहता है।

खेत का विभाजन

२ भूमि पर जन संख्या का भार (Pressure of Population)—भारत में बढ़ती हुई जन-संख्या के कारण और सहायक धंधों के अभाव में अधिकांश जन संख्या को विवश होकर खेतों में ही जीवन निर्वाह करना पड़ता है। अतः इससे भूमि विभाजन को प्रोत्साहन मिलता है।

३ कुटीर व्यवसायों का लोप (Disappearance of Cottage Industries)—औद्योगिक क्रान्ति ने मशीन द्वारा बनी हुई सस्ती वस्तुएं उत्पन्न कर घरेलू धंधों को प्रायः नष्ट सा कर दिया है। अतः सबके लिए खेती ही एकमात्र साधन रह जाता है।

४ हिन्दू संयुक्त परिवार प्रथा की समाप्ति और व्यक्तिवाद का विकास (Break up of Joint Hindu Family System & the Rise of Individualistic Spirit)—हिन्दू संयुक्त परिवार प्रथा में खेत के टुकड़े नहीं होते हैं। परन्तु व्यक्तिवाद के प्रादुर्भाव के साथ-साथ क्षेत्र विभाजन तथा अपखण्डन प्रारम्भ होता है क्योंकि कुटुम्ब का प्रत्येक पृथक रहने वाला व्यक्ति खेत में से अपना भाग अलग ले सकता है।

क्षेत्र अपखण्डन के लाभ (Advantages)

१ कृषक स्वामित्व (Peasant Proprietorship)—खेत के टुकड़े छोटे ही क्यों न हो परन्तु कृषक उस टुकड़े का स्वामी हो कहलावेगा। इस प्रकार क्षेत्र

विभाजन से भू सम्पत्ति का वितरण ठीक होकर एक भू स्वामियों का वर्ग स्थापित हो जाता है।

२ सामाजिक एवं आर्थिक स्थिरता (Social & Economic Stability)—इस प्रकार का स्वामित्व रखने वाला कृषक देश में सामाजिक एवं आर्थिक स्थिरता रखने में सहायक होता है इस धारणा में अधिकांश लोगों का विश्वास है।

३ वर्ष-पर्यन्त धंधा (Employment all the year round)—जब किसी कृषक के पास भूमि के कई टुकड़े हों और वे अलग अलग प्रकार के हों तो उसके लिए वर्ष भर खेती का कुछ न कुछ काम चलता ही रहता है।

४ मानसून की अनिश्चितता से रक्षा (Insurance against vagaries of Monsoon)—जब खेत कई टुकड़ों में विभाजित हों और वे अलग अलग भूमि-क्षेत्रों (Soil Areas) में स्थित हों तो एक खेत पर फसल नष्ट होने पर दूसरे खेत की पैदावार से उसकी पूर्ति हो सकती है।

क्षेत्र अपखण्डन से हानियाँ अर्थात् इसके कुप्रभाव (Disadvantages or Evil Effects of Fragmentation)

१ भूमि का नष्ट होना (Wastage of Land)—भूमि के विभाजन और उप विभाजन से भूमि का बहुत सारा भाग प्रायः नष्ट हो जाता है क्योंकि प्रत्येक खेत की सीमा स्थिर करने में कुछ भूभाग छोड़ना आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक बड़े खेत पर खेती सलाभ की जा सकती है परन्तु उसी खेत के छोटे छोटे टुकड़ों पर वह सम्भव नहीं।

२ खेती की उन्नति रुक जाती है (Unprogressive Agriculture)—छोटे छोटे खेतों में न तो कोई मशीन प्रयुक्त की जा सकती है और न आधुनिक वैज्ञानिक सुधारों का ही प्रयोग हो सकता है। अस्तु ऐसी अवस्था में खेती एक उन्नत दशा में नहीं रह सकती।

३ सिंचाई में कठिनाइयाँ (Difficulties of Irrigation)—छोटे छोटे खेतों में अलग अलग कुएँ नहीं बनाए जा सकते क्योंकि प्रथम तो खेत का क्षेत्रफल थोड़ा होता है और द्वितीय लागत भी अधिक बैठती है। यत्र-तत्र स्थित खेतों में पानी पहुँचाना उतना ही कठिन है क्योंकि बीच में दूसरों के खेत आ जाते हैं। अतः बहुत सारे इस प्रकार से विभाजित खेत बिना सिंचाई के ही रह जाते हैं।

४ खेतों के सीमा सम्बन्धी झगड़े (Boundary Disputes)—खेतों के सीमा सम्बन्धी अनेक झगड़े प्रायः देखने में आते हैं। इस प्रकार के मुकदमेबाजी में धन का बड़ा दुरुपयोग होता है। यह धन खेती की उन्नति करने में आसानी से लगाया जा सकता है।

खेतों के सीमा सम्बन्धी झगड़े

५. श्रम व पूँजी का दुरुपयोग (Waste of Labour & Capital) जब एक खेत से दूसरे खेत को स्वयं कृषक या श्रमिक जाते हैं तथा खेत के उपकरण व बैल आदि को ले जाते हैं, तो समय और शक्ति का बड़ा ह्रास होता है।

६. मार्केटिंग कठिनाइयाँ (Marketing Difficulties)—छोटे खेतों की पैदावार बहुत कम होने के कारण उसको मंडी तक ले जाना बड़ा मँहगा पड़ता है।

७. पैदावार में न्यूनता (Low Yield)—जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है कि छोटे छोटे और दूर-दूर स्थित खेतों में आधुनिक आविष्कारों से लाभ नहीं उठाया जा सकता तथा खाद, सिंचाई आदि की भी समुचित व्यवस्था नहीं होने के कारण पैदावार प्रति एकड़ कम होना स्वाभाविक है।

८. साहस नष्ट करना है (Destroys Enterprise)—क्षेत्र विभाजन एवं अपखण्डन से खेती में कोई प्रोत्साहन नहीं मिलने के कारण साहस का अभाव देखा गया है। यही कारण है कि आज खेती की उन्नति में एक रुकावट सी आ गई है।

उपाय (Remedies)

(१) ज्येष्ठता के नियम में संशोधन (Amendment in the Laws of Inheritance)—इस प्रवृत्ति को रोकने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि हमारे प्रचलित उत्तराधिकार के नियमों में संशोधन कर इंगलैंड की भाँति ज्येष्ठता का नियम लागू करने से क्षेत्र अपखण्डन रोका जा सकता है।

(२) चकबंदी (Consolidation of Holdings)—बिखरे हुए खेतों का एकीकरण चकबन्दी द्वारा सुगमता से हो सकता है। बिखरे हुए समान मूल्य वाले खेतों को पारस्परिक समझौते से मिला कर एक खेत करने की क्रिया को चकबंदी कहते हैं। इस प्रकार समझौते द्वारा प्रत्येक व्यक्ति कई अपने छोटे-छोटे खेतों के बदले में एक बड़ा खेत प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। चकबंदी का कार्य जो सहकारी समितियों द्वारा पंजाब उत्तर प्रदेश आदि राज्यों में हुआ है वह वास्तव में प्रशंसनीय है।

चकबंदी

(३) सहकारी कृषि (Cooperative Farming)—सहकारी खेती से भी यह समस्या हल हो सकती है। गाँवों में खेती करने के उद्देश्य से कई एक खेत मिला लिए जाते हैं। जो खेती करने योग्य व्यक्ति होते हैं उन्हें खेती का कार्य सौंप दिया जाता है। पैदावार में से उनकी मजदूरी काट कर शेष भू-स्वामियों को उनकी भूमि के अनुपात में बाँट दी जाती है। इस प्रकार की कई सहकारी समितियाँ पूर्वी पंजाब और उत्तर प्रदेश में शरणार्थियों द्वारा चलाई जा रही हैं। इनके अतिरिक्त मद्रास, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश आन्ध्र, बिहार, सौराष्ट्र आदि राज्यों में सहकारी कृषि चलाई जा रही है।

(४) राज्य द्वारा पोषणक्षम क्षेत्र स्थिर होना (Economic Holdings fixed by the Govt.)—सरकार द्वारा पोषणक्षम खेत का क्षेत्रफल स्थिर हो जाना चाहिए और इसके बाद उपविभाजन व अपखण्डन निषेधाज्ञा द्वारा बंद कर दिया जाय।

(५) जिला अधिकारियों को अधिकार (Powers for District Authorities)—यदि पोषणक्षम क्षेत्र की स्थिरता समान रूप से करना संभव नहीं हो, तो जिला अधिकारियों को यह अधिकार दे दिए जायें कि वे अमुक आकार से नीचे वाले भू-विभाजन को मान्यता न दें और न उसकी रजिस्ट्री करें।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—कृषि क्षेत्र विभाजन एवं अपखण्डन से क्या समझते हैं ? इससे होने वाली हानियों को प्रकट कीजिए और उपाय बताइए। (उ० प्र० १९४१)

२—भारतवर्ष में कृषि क्षेत्र के अपखण्डन के कारण और संभव होने वाले उपाय बताइए। (नागपुर १९४१, दिल्ली १९४०, कलकत्ता १९४३)

३—भारत में खेतों के उपविभाजन और अपखण्डन के कारणों और परिणामों की समीक्षा कीजिये। (पंजाब १९५२, ४९, दिल्ली १९५४)

४—चकबंदी और सहकारी कृषि से क्या तात्पर्य है ? इसके द्वारा भारत में खेतों के उपविभाजन और अपखण्डन की समस्या कैसे हल की जा सकती है ?

५—पोषणक्षम क्षेत्र शब्द की व्याख्या कीजिए और इसका भारतीय कृषि में क्या महत्त्व है, समझाइए।

६—टिप्पणी लिखिए :-

भारत में कृषि खेतों का छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होना। (अ० बो० १९६०)

अध्याय २६

भारत की खनिज सम्पत्ति

(Mineral Wealth of India)

भारतवर्ष खनिज सम्पत्ति में न तो अधिक धनी है और न अधिक निर्धन। इस देश में समस्त खनिज पदार्थों का वार्षिक औसत उत्पादन लगभग ४० करोड़ रुपये का है। जैसे कि लोगों की धारणा है कि भारतवर्ष में असीम खनिज सम्पत्ति है, यह भी बिल्कुल ठीक नहीं है, क्योंकि खनिज उद्योग यहाँ अभी शैशव अवस्था में ही है। अस्तु हम यहाँ भारत की खनिज सम्पत्ति का यथार्थ चित्रण करेंगे। भारतवर्ष में निम्नलिखित मुख्य खनिज पदार्थ मिलते हैं।

लोहा (Iron & Ores)—संयुक्त राज्य अमेरिका और फ्रांस के पश्चात् भारत में संसार का सबसे अधिक लोहे का संचय है। भारतवर्ष में लोहे का अधिक संचय बिहार और उड़ीसा में है अर्थात् सिंहभूमि का जिला, मयूरभंज, बोनार और क्योंझर की रियासतें लोहे के लिए प्रसिद्ध है। मध्य प्रदेश, मद्रास, मैसूर और महाराष्ट्र में भी लोहा अच्छी किस्म का निकलता है, परन्तु उनके समीप कोयला और चूना न मिलने से अभी उनका अधिक विकास नहीं हुआ है। यह अनुमान लगाया गया है कि भारतवर्ष में ३ अरब टन लोहा विद्यमान है। वर्तमान में भारतीय लोहे का उपयोग करने वाले मुख्य कारखाने ये है। Tata Iron and Steel Co. Ltd., Jamshedpur, Bengal Iron Co. Ltd., Kulti और Indian Iron and Steel Co. Ltd. Asansol.
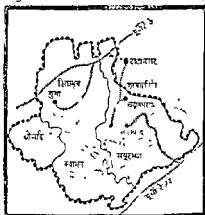
लोहा खनिज-क्षेत्र

सम्पूर्ण भारत के लोहे का वार्षिक उत्पादन ३० लाख टन है। यह हमारे सौभाग्य की बात है कि बिहार में लोहे और कोयले की खाने एक दूसरे के समीप मिलती है। अतः उत्पत्ति की लागत में काफी कमी हो जाती है। सारी लोहे की खानें भारतवर्ष में ही स्थित है, पाकिस्तान में कोई लोहे की खान नहीं है। भारत में जनवरी १६६० में ८,१६,००० मीट्रिक टन खनिज लोहा निकाला गया। सबसे अधिक लोहा उड़ीसा में

निकाला गया। यहाँ ३ २३ ००० मीट्रिक टन लोहा निकला। इसके बाद बिहार का नम्बर आता है जहा २ ३४ ००० मीट्रिक टन निकाला गया मैसूर मे १ १० ००० मी० टन मध्य प्रदेश मे ९७ ००० मी० टन और महाराष्ट्र राज्य म २१ ००० मी० टन लोहा निकाला गया।

कोयला (Coal)—यह आधारभूत खनिज पदार्थ है जिस पर भारतीय औद्योगीकरण निर्भर है। भारतवर्ष म कोयले की स्थिति सन्तोषजनक है। ससार म कोयला उत्पन्न करने वाले देशो म इसका सातवाँ स्थान है। यहाँ कोयले का उपयोग जलाने कारखाने और रेल चलाने के लिए होता है। भारतीय कोयले की किस्म अधिक अच्छी नहा है। मात्रा की दृष्टि से भी यह सीमित है। कोयले के उपभोग की वर्तमान गति म सम्पूर्ण सचय दो सौ वर्ष स अधिक नहा रह सकेगा। हमारे यहाँ पेट्रोल की बडी कमी है अत कृत्रिम पेट्रोल कोयले द्वारा बनाया जा सकता है। जब कोयले द्वारा पेट्रोल बनने लगेगा तो सम्पूर्ण सचय इससे भी कम समय मे समाप्त हो जायगा। अस्तु हम अपने कोयले के उपभोग म पूर्ण मितव्ययता करनी चाहिए।

भारतवर्ष म कोयले का वितरण असमान है। कोयले की खान मुख्यत बगाल बिहार और उडीसा मे स्थित है—खानो के प्रसिद्ध केन्द्र रानीगज और झरिया है। इनके अतिरिक्त मध्य प्रदेश आसाम और हैदराबाद मे भी कोयले की खान है। राजस्थान म विशेषतया बीकानेर म भी थोडा कोयला मिलता है। मद्रास और पूर्वी पजाब म कोयला बिल्कुल नही है। भारतवर्ष म सम्पूर्ण कोयले के सचय का अनुमान ६ अरब टन लगाया गया है और वार्षिक निकास का ३ करोड टन।

जनवरी १९६० म देश म सब खानो से कुल ४३ ८ ८४६ टन कोयला निकाला गया। राष्ट्रीय कोयला विकास निगम की नई खानो के बढाने के प्रयत्नो से यह आशा बधती है कि सन् १९६१ के प्रारम्भ म उतना ही कोयला निकलने लगेगा जितने का दूसरी योजना म लक्ष्य रखा गया है।

पेट्रोल (Petroleum)—भारतवर्ष म पेट्रोल बहुत ही कम निकलता है। बर्मा के पृथक होने और देश के विभाजन स भारत म पेट्रोल की स्थिति और भी शोचनीय हो गई। केवल आसाम म कुछ पेट्रोल मिलता है जिससे भारत की केवल ५ प्रतिशत आवश्यकता की पूर्ति होती है। आसाम म पेट्रोल के मुख्य क्षेत्र डिगबोई बप्पापग और हसापग है। भारतवर्ष को आखिरकार कोयले से बने हुए कृत्रिम (Synthetic) पेट्रोल पर ही निर्भर रहना पडेगा। इसकी कमी की पूर्ति के लिए चीनी के कारखानो म बचे शीरे से पावर अलकोहल बनाने को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

मैगनीज (Manganese)—यह भूरे रग की एक धातु है। यह बहुत कडी होती है और बडी कठिनाई से पिघलती है। मैगनीज का प्रयोग लोहे और फौलाद को कडा बनाने म होता है। ब्लिचिंग पाउडर और कुएँ म डालने की लाल दवा (Potassium Permanganate) बनाने तथा बिजली और काँच के कारखानो म भी इसका प्रयोग होता है। इसके प्रयोग से काँच का पीलापन दूर हो जाता है।

रूस के पश्चात् भारत ही ससार म सबसे अधिक मैगनीज उत्पन्न करता है। भारत म मैगनीज मुख्यत मध्यप्रदेश बम्बई मैसूर मद्रास बिहार और उडीसा म निकाला जाता है। पाकिस्तान म मैगनीज का सचय बिल्कुल नही है। भारतीय लोहे

के कारखानों में मैंगनीज की खपत निरन्तर बढ़ रही है, परन्तु फिर भी मैंगनीज विदेशों को भेजने के लिए पर्याप्त मात्रा में बच जाता है। हमारे देश का मैंगनीज मुख्यतः ब्रिटेन, जापान, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रान्स, बेलजियम और जर्मनी को निर्यात किया जाता है। भारत सरकार द्वारा भी इस व्यवसाय को बड़ी सहायता मिल रही है। सन् १९५४ में मैंगनीज का उत्पादन १.६१ लाख टन था जिसे बढ़ाकर दूसरी योजना के अन्त तक २० लाख टन उत्पादन करने का सकल्प है। इस समय इस उद्योग में ८५ हजार व्यक्ति कार्य कर रहे हैं।

अभ्रक (Mica)—अभ्रक का प्रयोग बिजली के यन्त्रों और शीशे के सामान में होता है। बेतार के तार, समुद्री विज्ञान और मोटर व्यवसाय में अभ्रक की बहुत आवश्यकता पड़ती है। अतः इसकी मांग निरन्तर बढ़ रही है। भारत संसार में सबसे अधिक अभ्रक निकालता है, अर्थात् संसार के सचय का तीन-चौथाई भाग यहीं मिलता है। भारत में अभ्रक मुख्यतया बिहार, मद्रास, राजस्थान और अजमेर में निकलता है। केवल बिहार में भारत का ८० प्रतिशत अभ्रक निकलता है। भारत में इसका मौजूदा उत्पादन लगभग ४ लाख ६० हजार हडरवेट है और यहाँ बिजली के व्यवसाय का अभाव होने से अधिकांश मात्रा निर्यात की जाती है। अकेले बिहार में इस उद्योग में लगभग ६० हजार व्यक्ति संलग्न हैं।

सोना (Gold)—सोना एक बहुमूल्य धातु है जिसका प्रयोग अधिकतर आभूषण और सिक्के बनाने में होता है। भारत में संसार का केवल २% सोना मिलता है। भारत का लगभग ९९ प्रतिशत सोना मैसूर की कोलार खानों से प्राप्त होता है। थोड़ा सोना मद्रास में अनन्तपुर और हैदराबाद में हट्टी की खानों में भी प्राप्त होता है। यह नदियों की मिट्टी में से भी निकाला जाता है। भारत में सोने का वार्षिक उत्पादन लगभग १,२२,००० औंस है। यह मात्रा भारत की आवश्यकता से कम है, अतः हमें बाहर से आयात करना पड़ता है। सन् १९५१ में भारत में २,२६,२०० औंस सोना निकाला गया।

चांदी (Silver)—यह मैसूर की कोलार खानों में बहुत थोड़ी मात्रा में बनाई जाती है। प्रति वर्ष चांदी एक बड़ी मात्रा में विदेशों से आयात की जाती है।

तांबा (Copper)—बिजली के तार, समुद्री तार और बिजली के अन्य पदार्थों में तांबा बहुत प्रयुक्त होता है। इसमें जस्ता मिलाकर पीतल बनाया जाता है, टिन मिलाने से कांसा और निकल मिलाने से जर्मन-सिल्वर बनता है। तांबा शुद्ध रूप में बहुत कम मिलता है। संसार में तांबा निकालने वाले देशों में भारत का बारहवाँ स्थान है। भारत में तांबा बिहार, मद्रास, अजमेर, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश में निकाला जाता है। अभी तक हमारे देश में इसका प्रयोग पीतल के बर्तन बनाने में ही होता है। अब आशा की जाती है कि बिजली के व्यवसाय की उन्नति के साथ इस व्यवसाय की भी उन्नति होगी। भारतीय खान कार्यालय द्वारा प्रकाशित किये गये आंकड़ों के अनुसार जनवरी १९६० में ३०,४३८ मीट्रिक टन खनिज तांबे का उत्पादन हुआ। सारा तांबा खनिज बिहार राज्य के सिंहभूम जिले में पाया जाता है।

सीसा (Lead)—भारतवर्ष में सीसे की कुछ खानें बिहार, मद्रास, राजस्थान, अजमेर और हिमाचल प्रदेश में मिलती हैं, परन्तु उनका उत्पादन बहुत ही कम है। जनवरी १९६० में १३,८१८ मीट्रिक सीसा और जस्ता निकाला गया।

शोरा (Soltpeter)—शोरा बहुत उपयोगी वस्तु है। इसका मुख्य प्रयोग खाद बनाने मे होता है। इसमे बारूद, शोरे का तेजाब, काँच आदि भी बनाये जाते हैं। शोरा अधिकतर बिहार, पंजाब और उत्तर प्रदेश मे प्राप्त होता है। लगभग सारा शोरा विदेशो को भेज दिया जाता है।
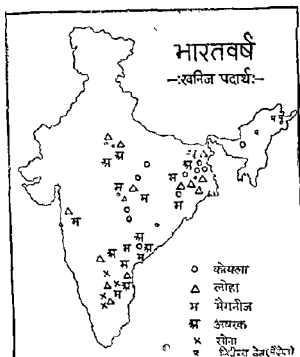
भारतवर्ष की खनिज सम्पत्ति

नमक (Salt)—भारत मे नमक समुद्रो, कुंओ और झीलो के खारे पानी से बनाया जाता है। नमक चट्टानो से भी प्राप्त होता है। भारत मे नमक महाराष्ट्र व मद्रास मे समुद्र के पानी को सुखा कर और राजस्थान मे सांभर झील के खारे पानी को सुखा कर बनाया जाता है। चट्टानी (सेंधा) नमक पाकिस्तान से मँगाया जाता है। सरकारी अनुमान के अनुसार १९५७ मे नमक का उत्पादन ९६३ लाख मन हुआ जो १९५६ मे ८८९ लाख मन तथा १९५५ मे ८११ लाख मन था।

कुछ प्रमुख केन्द्रो मे अनुमानित उत्पादन (लाख मन मे) इस प्रकार होगा :— राजस्थान ९०'४, बम्बई २६४'०९, सौराष्ट्र २३०'५४, कच्छ ६३'७१, मद्रास १५०'०६ तथा आन्ध्र ५६'०५।

सम्भवतः इतना उत्पादन पहले कभी नहीं हुआ।

इनके अतिरिक्त भारतवर्ष में सेलखरी (Gypsum), चूना (Lime Stone), बाक्साइट (Bauxite), क्रोमाइट (Chromite), मोनाजाइट (Monazite), मेगनेसाइट (Magnesite), इल्मेनाइट (Illmenite), वुलफ्रेम (Wolfram), टिन (Tin) और सीमेंट व्यवसाय की सामग्री आदि खानज पदार्थ मिलते है।

खनिज पदार्थों के सचय की आवश्यकता

(Necessity of Conserving the Mineral Wealth)

किसी देश के आर्थिक उत्थान में खनिज पदार्थों का बड़ा महत्त्व है। यह सौभाग्य की बात है कि देश के विभाजन से हमारे खनिज पदार्थों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। जो कुछ भी खनिज पदार्थ हमारे देश में विद्यमान है उनका सदुपयोग होना चाहिए। खेत में एक वर्ष फसल नष्ट हो जाने पर निराश होने की अधिक आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दूसरे वर्ष अच्छी पैदावार हो सकती है। परन्तु खनिज पदार्थ एक बार निकल जाने पर वे भूमि में से पुनः प्राप्त नहीं किये जा सकते। इसलिये खनिज पदार्थों के सचय की रक्षा नितान्त आवश्यक है। यही नहीं बल्कि उनका विकास तथा सदुपयोग इससे भी अधिक आवश्यक है, क्योंकि देश की आर्थिक एवं औद्योगिक उन्नति इन्हीं के सदुपयोग पर आश्रित है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इन्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—भारत की खनिज सम्पत्ति का सक्षिप्त वर्णन कीजिए। इनका भारत की भावी आर्थिक उन्नति के लिए क्या महत्व है?

(अ० बो० १९५७, ५४, ५०, उ० प्र० १९४९)

२—भारत की खनिज सम्पत्ति पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (उ० प्र० १९५०, ४७)

३—"भारत में प्रकृति के साधन प्रचुर मात्रा में है, आवश्यकता इस बात की है कि इनका उचित उपयोग व विकास किया जाय तथा इनको सुरक्षित रखा जाय।" इस कथन को जगल और खानों के सम्बन्ध में समझाइए।

(अ० बो० १९५५, उ० प्र० १९४०)

४—भारत के औद्योगीकरण के लिए देश की खनिज सम्पत्ति कहाँ तक पर्याप्त है?

(बनारस १९३१)

५—भारत की खनिज सम्पत्ति का उल्लेख राजस्थान में पाये जाने वाले खनिज पदार्थों के विशेष विवरण सहित कीजिए। (रा० बो० १९६०)

अध्याय ३०

भारतवर्ष में शक्ति के साधन
(Power Resources in India)

औद्योगिक उन्नति के लिए शक्ति उतनी ही आवश्यक है जितनी कि कृषि की उन्नति के लिए सिंचाई। अस्तु, शक्ति ही औद्योगिक उन्नति का आधारभूत है। 'शक्ति' एक व्यापक शब्द है परन्तु यहां पर 'प्रेरक शक्ति' (Motive Power) से ही इसका तात्पर्य है। वस्तुओं को चलाने वाली या क्रियाशील रखने वाली शक्ति को प्रेरक-शक्ति कहते हैं। यह प्रेरक शक्ति मनुष्यो, पशुओ, हवा आदि से प्राप्त की जा सकती है। परन्तु आधुनिक उन्नत देशों मे यह कोयले, तेल व बिजली से प्राप्त की जाती है। जल-विद्युत को छोड़ कर अन्य साधनों मे कोयला एक सबसे सस्ता शक्ति का साधन है। अब हमें यह देखना है कि भारतवर्ष मे कौन-कौन से शक्ति के साधन विद्यमान हैं और उनका उपयोग कहाँ तक सम्भव है।

भारतवर्ष मे शक्ति के मुख्य साधन निम्नलिखित हैं :—

(१) मनुष्य, (२) पशु, (३) वायु, (४) ईंधन, (५) कोयला, (६) तेल और, (७) जल।

(१) मनुष्य (Man)—मानव शक्ति धनोत्पत्ति का एक आवश्यक साधन है, क्योंकि बिना मनुष्य की सहायता के धनोत्पत्ति का कोई कार्य सम्भव नही। परन्तु आधुनिक समय मे मनुष्य का अधिकाश कार्य मशीन ने ले लिया है, इसीलिए इसको 'मशीन युग' कहते हैं। फिर भी मनुष्य का महत्व कम नही है। भारतवर्ष की विशाल मानव शक्ति मे यदि कोई न्यूनता है तो उसकी कार्य अक्षमता। अस्तु, भारतीय मानव शक्ति को यदि अधिक कार्य-कुशल बनाना अभीष्ट है तो निर्धनता को दूर कर भारतीयो के जीवन-स्तर को उच्च करना चाहिए, इसी मे देश का हित एव कल्याण निहित है।

(२) पशु (Animal)—मानव शक्ति के पश्चात् पशु-शक्ति का महत्त्व है। भारत मे पशु-शक्ति भी पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान् है। यहाँ की खेती तो बिल्कुल इसी पर आश्रित है। बैल, भैंसे, घोडे, खच्चर, गधे, ऊँट आदि पशु खेती मे सहायक होने के अतिरिक्त बोझा ढोने, सवारियाँ ले जाने के कार्य को भी सम्पन्न करते हैं। चारे की कमी, पशु चिकित्सा का अभाव और नस्ल बिगड जाने से इस देश के पशुओ की निपुणता मे ह्रास हो जाना स्वाभाविक है। अस्तु, हमे पशुओ की केवल सख्या म ही सतोष नही कर लेना चाहिए, बल्कि उनकी निपुणता एव कार्यक्षमता को भी बढाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(३) वायु (Wind)—वायु भी शक्ति का एक प्रबल साधन है। पहाड़ी प्रदेशो मे जहाँ वायु का वेग रुकने नही पाता, वहाँ आटा पीसने और पानी उठाने के लिए पवन चक्कियों का उपयोग होता है। मैदानों मे वायु द्वारा प्राय: अनाज मे भूसा

प्रयोग किया जाता है। हालैण्ड में वायु के निरन्तर एक ही दिशा में चलते रहने की सुविधा से वहाँ वायु शक्ति की उपयोगिता को अत्यधिक बना लिया है। परन्तु भारत में व्यापारिक प्रयोजनों के लिए वायु-शक्ति का अधिक प्रयोग नहीं होता है।

(४) ईंधन (Wood fuel)—लकड़ी जला कर भी शक्ति पैदा की जा सकती है। लकड़ी जलाकर भाप उत्पन्न करने में शक्ति का अधिक ह्रास होता है। भारतवर्ष में एक और कठिनाई है। यहाँ अधिकांश वन पहाड़ों पर स्थित हैं अतः यातायात की सुविधा बिना लकड़ी प्राप्त नहीं हो सकती। यहाँ लकड़ी का प्रयोग केवल घरेलू कार्यों में ईंधन के प्रयोजन तक ही सीमित है। कुछ समय पहिले जब पट्रोल की कमी हो गई थी तो मोटर गाड़ियों और बसों में लकड़ी या कोयला जलाकर प्रेरक शक्ति का संचार किया गया था। अब भी मैसूर के लोहे के कारखानों में कोयले के अभाव में लकड़ी जलाकर प्रेरक शक्ति उत्पन्न की जाती है।

(५) कोयला (Coal)—कोयला अब भी भाप और बिजली उत्पन्न करने का एक बहुमूल्य साधन है परन्तु भारत के कोयले में बहुत से दोष हैं (अ) देश के विस्तार को देखते हुए यहाँ कोयले की मात्रा बहुत कम है। यहाँ साल में २ करोड़ ६० लाख टन कोयला निकाला जाता है जबकि संयुक्त राज्य अमरिका में ४७ करोड़ ६ लाख टन निकाला जाता है। यह अनुमान लगाया गया है कि भारत में कुल कोयले का संचय (Deposit) ४ अरब ७६ करोड़ टन है। (ब) भारत का कोयला घटिया होता है। इसमें कार्बन कम रहता है परन्तु राख फास्फोरस और जल अंश अधिक रहता है। (स) यहाँ पर कोयले का वितरण एकसा नहीं है। देश का ८० प्रतिशत कोयला बिहार के गोंडवाना क्षेत्र में स्थित है यहाँ से बम्बई मद्रास और पंजाब आदि स्थानों को कोयला ले जाने में व्यय अधिक लगता है। परन्तु यहाँ के कोयले का उपयोग कम व्यय में और सुगमता से साथ केवल बंगाल और बिहार के उद्योगों द्वारा ही हो सकता है। (द) जिन स्थानों में कोयले की खान हैं वहाँ आबादी बहुत कम है जैसे छोटा नागपुर का पठार। वहाँ काम करने के लिये मजदूर नहीं मिलते अधिकांश मजदूर दूर से आते हैं इसलिए मजदूरी महँगी पड़ती है।

कोयले का जीवन बहुत थोड़ा है अतः इसका सदुपयोग करना चाहिये। भारत में बढ़िया कोयले को लोहे के कारखानों के लिए सुरक्षित रखना चाहिये क्योंकि वह बहुत कम है। उसको रेलों व इंजनों में भाप बनाने में प्रयोग नहीं करना चाहिये। घटिया कोयला हमारे देश में बहुत है। अभी हाल ही में मद्रास के दक्षिणी अर्काट और बुद्धानौर जिलों से लिग्नाइट कोयला पाया गया है। इस कोयले से बिजली और अन्य तेल बनाया जा सकता है। कोयले के सदुपयोग का अर्थ यह है कि खान खोदने के वर्तमान ढंग में सुधार किया जाय और इसके द्वारा उत्पादित शक्ति का कोई भी अंश व्यर्थ न जावे।

(६) तेल (Oil)—पट्रोल का अधिकतर प्रयोग मोटर-कार बस और हवाई जहाजों के चलाने में किया जाता है। परन्तु भारत में अधिक पट्रोल उत्पन्न नहीं होता है। भारत में पट्रोल केवल आसाम में डिगबोई के पास मिलता है जो संसार के उत्पादन के १ प्रतिशत का दसवाँ होता है। अतः भारत को पट्रोल एक बड़ी मात्रा में संयुक्त राज्य अमरिका ईरान ईराक ब्रह्मा आदि देशों से मगाना पड़ता है। निस्सन्देह भारत में तेल की समस्या अति चिन्ताजनक है। अस्तु वर्तमान स्थिति में तेल भारत का एक महत्वशाली शक्ति का साधन नहीं हो सकता।

भारत में कृत्रिम तेल (Synthetic Oil) आसानी से बनाया जा सकता है। (अ) यहाँ घटिया कोयला पर्याप्त मात्रा में मिलता है, इसका उपयोग तेल बनाने में किया जा सकता है। इस प्रकार का तेल ग्रेट ब्रिटेन और जर्मनी में अधिक तैयार किया जाता है। (ब) भारत में चीनी के कारखानों में जो शीरा नष्ट होता है उससे २ करोड़ टन मद्यसार (Alcohol) बनाई जा सकती है। इसको पेट्रोल के साथ किसी अनुपात में मिला कर बड़े प्रकार के इंजनों में प्रयुक्त किया जा सकता है। जर्मनी, फ्रान्स, पोलैंड आदि देशों में चुकन्दर की जड़ों का प्रयोग मद्यसार बनाने के लिये किया जाता है। (स) यह बात वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान द्वारा सिद्ध कर दी गई है कि लकड़ी के बुरादे तथा व्यर्थ नष्ट होने वाले पत्तों और जड़ों से भी तेल बनाया जा सकता है।

(७) जल (Water)—जल शक्ति का एक बड़ा लाभदायक साधन है जिससे बिजली पैदा की जा सकती है। इसे जल-विद्युत् (Hydro electricity) या श्वेत कोयला (White Coal) कहते हैं। सबसे बड़ी सुविधा इसमें यह है कि यह बहुत दूर तक सुगमता से ले जाई जा सकती है और इसका प्रयोग आवश्यकतानुसार किया जा सकता है। भारत में जबकि कोयले और तेल का पूर्ण अभाव है, जल-शक्ति ही हमारे लिये एक मात्र साधन रह जाता है। अतः भारत में इसका पूर्णतया विकास होना नितान्त आवश्यक है।

यदि प्रकृति ने भारत को कोयला और तेल प्रदान करने में कुछ कंजूसी की है तो जल-शक्ति के प्रदान करने में अपनी उदारता का परिचय दे दिया है। भारत में जल शक्ति के विकास के लिये एक बड़ा भारी क्षेत्र है यद्यपि वर्तमान दशा में इसका विकास बहुत कम हुआ है। सन् १९१९ ई० में भारतवर्ष के हाइड्रो इलैक्ट्रिक सर्वे (Hydro electric Survey) से पता चलता है कि हिमालय पर्वत से जल के प्रत्यक्ष १००० फीट नीचे गिरने से ३० लाख किलोवाट जल विद्युत शक्ति प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार कनाडा और संयुक्त राज्य अमेरिका को छोड़कर भारत के पास सबसे अधिक जल शक्ति है अर्थात् २७० लाख किलोवाट। यदि इस महान् शक्ति को उचित ढंग से प्रयोग किया जाय, तो देश का प्रत्येक गाँव औद्योगिक केन्द्र बनाया जा सकता है। परन्तु हम इस शक्ति का केवल पचासवाँ भाग ही प्रयोग में लाते हैं जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस तथा जापान तिहाई जल-शक्ति का प्रयोग कर लेते हैं और स्विट्जरलैंड तो अपनी जल शक्ति का तीन चौथाई भाग प्रयोग कर लेता है। इस शक्ति के विकासार्थ भारत सरकार ने सैन्ट्रल टैकनिकल बोर्ड (Central Technical Board) की नियुक्ति की है।

जल विद्युत के विशेष गुण—जल-शक्ति के अनेक गुण हैं जो निम्नलिखित हैं :—

(१) यह सस्ती शक्ति होती है। कोयले, ईंधन या तेल की अपेक्षा इसकी लागत ७५ प्रतिशत कम होती है।

(२) बिजली उत्पन्न होने के पश्चात् जल सिंचाई के काम में आ सकता है।

(३) तारों द्वारा बिजली दूर-दूर तक सुगमता से और सस्ती दर पर पहुँचाई जा सकती है।

(४) बिजली में कोयले आदि की भाँति न तो धुआँ ही होता है और न आवाज ही।

बिजली के आर्थिक लाभ (Economic benefits of Electricity)

बिजली का घरेलू उपयोग—बिजली के रूप में आधुनिक समाज को एक उपहार प्राप्त हुआ है। इसे आधुनिक सभ्यता का चिन्ह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इससे घरों के दैनिक परिश्रम कम हो गये हैं। इसके द्वारा घरों में उत्तम, सस्ता और बड़ी सुविधा देने वाला प्रकाश प्राप्त होता है। आजकल अनेक घरेलू कार्य बिजली द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।

उद्योगपति को लाभ—बिजली के द्वारा उद्योगपति को सस्ती और आवश्यकतानुसार प्रेरक शक्ति प्राप्त होती है। बिजली पैदा करने का व्यय कोयले, तेल और ईंधन की तुलना में केवल एक चौथाई है। प्रेरक शक्ति प्रदान करने के अतिरिक्त कुछ औद्योगिक क्रियाओं के लिए इसका प्रयोग नितान्त आवश्यक है, जैसे बाक्साइट से एल्यूमिनियम बनाने में बिजली का प्रयोग अनिवार्य है। जल विद्युत तारों द्वारा २५० मील की दूरी पर पहुँचाई जा सकती है, इसलिए घने बसे हुए और महँगे औद्योगिक केन्द्रों को दूर ले जाया जा सकता है। सर्दों में गर्मी और गर्मी में सर्दी उत्पन्न कर श्रम की कार्य-कुशलता में सुधार किया जा सकता है।

कुटीर एवं छोटे व्यवसायों को लाभ—कुटीर एवं छोटे-छोटे दस्तकारों को इससे बहुत लाभ है। जापान और स्विट्जरलैंड में छोटे कारखानों में इसका अत्यधिक प्रयोग होता है। भारतवर्ष में छोटे कारखाना में बिजली का प्रयोग लाभदायक सिद्ध हो सकता है। सूरत में भी बिजली के द्वारा ५ हजार करघे चलते हैं।

यातायात के क्षेत्र में बिजली का उपयोग—यातायात के क्षेत्र में भी बिजली का उपयोग वांछनीय है। इस समय भारतीय रेलों द्वारा लगभग ७० लाख टन कोयला खर्च होता है। बिजली के द्वारा कोयले का उपभोग कम हो सकता है। बम्बई से कल्याण तक बिजली की रेलगाड़ियाँ कितना सुविधाजनक कार्य कर रही हैं, यह सबको विदित ही है। भारत की समस्त रेलों के लिए केवल बिहार की 'कोसी योजना' ही बिजली की शक्ति प्रदान करने के लिए पर्याप्त है।

कृषि में बिजली का उपयोग—खेती में भी बिजली का प्रयोग हो सकता है। उदाहरण के लिए खेत जोतने, बोने, घास व फसल काटने, अनाज से भूसा अलग करने आदि क्रियाओं में बिजली का प्रयोग लाभदायक सिद्ध हो सकता है। भारतवर्ष में खेती छोटे-छोटे खेतों में होती है। तथा भारतीय कृषक निर्धन होने से बिजली का उपयोग नहीं कर सकता।

सिंचाई—जल विद्युत का प्रयोग सिंचाई में निम्न प्रकार हो सकता है —

(१) बिजली द्वारा पानी कुँआ से निकाला जा सकता है और खेतों को समय पर सींचा जा सकता है। इसमें बैलों की शक्ति बचकर खेती के अन्य कार्यों में प्रयुक्त हो सकती है। पंजाब, उत्तर प्रदेश और मद्रास के कुछ गाँवों में इस कार्य के लिए बिजली प्रयुक्त की जाती है।

(२) बिजली द्वारा सिंचाई होने से पानी निरर्थक नष्ट नहीं होने पाता।

(३) बहुप्रयोजन योजनाओं में बिजली उत्पन्न करने के पश्चात् का जल अर्थात् Tail water सिंचाई के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।

(४) नदियों पर बाँध बनाने और Pumping Stations स्थिर करने में बिजली बड़ी सहायक है।

(५) बिजली द्वारा राम गंगा जैसी नीची सतह रखने वाली नदी मे भी सिंचाई हो सकती है।

(६) बिजली सिंचाई की सुविधाएं प्रस्तुत कर खेती की पैदावार मे वृद्धि करती है।

(७) बिजली द्वारा सिंचाई मे नवीन और सम्पन्न फसलो की खेती होना सम्भव है।

(८) बिजली द्वारा सिंचाई की सुविधायें बढने से अकाल का आक्रमण प्रभाव शून्य हो जाता है।

(९) बिजली के प्रयोग से सिंचाई का निरन्तर साधन उपलब्ध होने से वर्ष भर मे कई फसलें पैदा की जा सकती है।

ग्राम्य व्यवसायो के लिए बिजली का उपयोग—जल-विद्युत का विकास गांवो के उद्योग धन्धो के लिए भी लाभदायक सिद्ध हो सकता है। इससे गांवो के उद्योग-धन्धो का पुन उत्थान हो सकता है। जिन क्रियाओ को बार बार करना पडता है वे बिजली से चलने वाली मशीनो से भली प्रकार सम्पन्न की जा सकती हैं। बिजली के प्रयोग से पुराने ढग के औजार आदि मे भी परिवर्तन हो सकता है।

भारत सरकार की प्रसिद्ध जल-विद्युत योजनाएं

बम्बई महाराष्ट्र एव गुजरात राज्य

भारत मे जल-विद्युत के सबसे बडे कारखाने बम्बई राज्य मे है। इन सबको स्थापित करने का श्रेय टाटा को है। इनसे बम्बई, कल्याण, पूना और थाना नगरो को बिजली दी जाती है। इन्ही मे बम्बई की सूती कपडे की मिले शक्ति प्राप्त करती है और पश्चिमी तथा जी० आई० पी० रेलें भी इसी बिजली का प्रयोग करती हैं। इस राज्य के बिजली के मुख्य कारखाने निम्नलिखित है :—

टाटा हाइड्रो-इलैक्ट्रिक पॉवर सप्लाई कम्पनी लि० (The Tata Hydro-electric Power Supply Co., Ltd.)—यह कारखाना बम्बई से ४३ मील की दूरी पर स्थित है और इसका उद्घाटन सन् १९१५ मे हुआ था। भोरघाट के ऊपर लोनावाला-वालवान और शिरावटा झीलों मे तीन विशाल बांध बनाकर एक विशाल जलाशय बना दिया गया है। यह पानी बडे-बडे नलो द्वारा लगभग ७० हजार फीट की ऊंचाई से खापोली के शक्ति-

बम्बई राज्य की जल-विद्युत योजनाएं
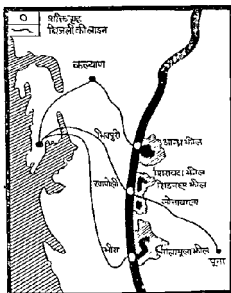
गृह (Power House) म छोडा जाता है। इस ऊँचाई से गिरने के कारण जल के प्रत्येक वर्ग इच म पांच मन का दबाव हो जाता है। इस शक्ति से पहिये चलते है जिनसे ६० हजार किलोवाट विद्युत उत्पन्न होती है।

(२) आन्ध्र वैली पॉवर सप्लाई कम्पनी लि० (The Andhra Valley Power Supply Co, Ltd.)—इस कम्पनी ने अपना कार्य सन् १९१५ ई० मे प्रारम्भ किया था। यह शक्ति-गृह भिवपुरी पर स्थित है जहाँ आन्ध्र नदी पर बाँध बनाकर पानी इकट्ठा किया गया है। इससे ७२ हजार किलोवाट बिजली पैदा की जाती है।

(३) टाटा पॉवर कम्पनी लि० (The Tata Power Co. Ltd)—यह कारखाना सन् १९२७ ई० म आरम्भ हुआ। बम्बई से ८० मील दक्षिण-पूर्व मे भीरा नामक स्थान पर नीलामूला नदी म बाँध बनाया गया है जिससे ८९ हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न कर बम्बई को पहुँचाई जाती है।

बम्बई राज्य की अन्य मुख्य विचाराधीन योजनाएँ

(१) उत्तरी-गुजरात योजना—जो अहमदाबाद इलैक्ट्रिक कम्पनी का विस्तार करगी।

(२) दक्षिणी गुजरात ग्रिड योजना—जिसके द्वारा सूरत म नया शक्ति-गृह स्थापित होगा।

(३) कोयना हाइड्रो प्रोजैक्ट—यह कोयना नदी पर बाँध बनाकर तैयार की जायगी।

(४) कोल्हापुर योजना—जिसकी बिजली कोल्हापुर को मीलो को व नगर को प्राप्त होगी।

मद्रास राज्य

मद्रास राज्य मे निम्नलिखित मुख्य योजनाएँ है :—

(१) पैकारा जल विद्युत योजना (The Pykara Hydro-electric Scheme)—यह योजना सन् १९२९ ई० म प्रारम्भ की गई थी। मद्रास के नीलगिरी जिले म पैकारा नदी पर बाँध बनाया गया है जहाँ बिजली उत्पन्न कर कोयम्बटूर, इरोड, त्रिचनापल्ली, मदुरा आदि नगरो म पहुँचाई जाती है। यह योजना दक्षिणी भारत की औद्योगिक उन्नति मे अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई है। इसके पूर्ण विकास के पश्चात् योजना ४० हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न कर सकेगी।

(२) मेट्टूर जल-विद्युत योजना (The Mettur Hydro-electric Scheme)—सन् १९३४ ई० मे कावेरी नदी पर सिंचाई के लिए मेट्टूर बाँध बनाया गया जो ससार मे सबसे बडा बाँध है। यह १७६ फीट ऊँचा है और इसम १०,००० करोड घन फुट जल समा सकता है। पहले यह बाँध सिंचाई के उद्देश्य स बनाया गया था, परन्तु अब इसको सहायता स जल-विद्युत उत्पन्न की जाती है। इस योजना द्वारा ४ हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न की जा सकती है जो सलेम, त्रिचनापल्ली, तंजोर, अर्काट, चित्तूर और चिंगलीपुट जिलों को शक्ति देती है। यह इरोड स्थान पर पैकारा योजना से मिला दी गई है।

(३) पापनासम योजना (The Papanasam Hydro-electric Scheme)—ताम्रपर्णी नदी पर पापनासम के पास सन् १९४४ ई० म एक विशाल

बाँध बनाया गया। इससे जो बिजली पैदा होती है उससे टेनेवली, तूतीकोरिन और मदुरा आदि जिलों को बड़ा लाभ पहुँचता है।

केरल राज्य पल्लीवासल जल-विद्युत योजना (The Pallivasal Hydro-elecaric Scheme)—इस योजना का प्रादुर्भाव इस राज्य में सन् १९४० ई० में हुआ। इस योजना में मुद्रपुजा नदी के पानी से बिजली उत्पन्न की जाती है। कोचीन की सम्पूर्ण बिजली की माँग इस योजना द्वारा पूर्ण की जाती है। इसके द्वारा अलवाय के एल्यूमिनियम के कारखाने को प्रेरक शक्ति मिलती है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह योजना दस वर्ष पश्चात् ३० हजार किलोवाट बिजली पैदा कर सकेगी।

इसके अतिरिक्त Nerimangalam और Sengutam योजनाएँ विचाराधीन हैं।
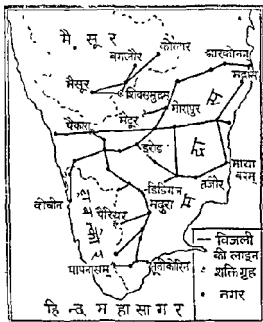
दक्षिणी भारत की जल विद्युत योजनाएँ

मैसूर राज्य—शिवसमुद्रम जल विद्युत् योजना (The Shivasamudram Hydro electric Scheme)—मैसूर राज्य में भारत की सर्व प्रथम जल-विद्युत योजना सन् १९०२ ई० में कावेरी नदी पर स्थित शिवसमुद्र भील पर ९२ मील दूर स्थित कोलार में सोने की खानों को शक्ति पहुँचाने के उद्देश्य से बनाई गई। इस योजना से मैसूर राज्य के २०० नगरों को बिजली मिलती है जिनमें बंगलौर मुख्य है। वर्तमान में इस योजना से ४२ हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न होती है।

इसके अलावा मैसूर राज्य में शिमसा (Shimsha) और जोग (Jog) प्रपातों द्वारा जल विद्युत उत्पन्न करने वाली दो योजनाएँ जिनमें एक सन् १९४० ई० में पूर्ण होगई जिनमें लगभग १८ हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न होती है। जोग योजना सन् १९४७ ई० में पूर्ण हो गई और इससे ४८ हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न होती है।

उत्तर प्रदेश

गंगा-नहर जल विद्युत ग्रिड योजना (The Ganges Canal Hydro-electric Grid Scheme)—इस योजना के अन्तर्गत सात शक्ति गृह—बहादुराबाद, मोहम्मदपुर, चित्तौरा, सालवा, भोला, पालरा, और सुमेरा – में स्थित हैं। ये सातों शक्ति-गृह बिजली के तारों द्वारा एक दूसरे के साथ मिला दिये गये हैं। यही ग्रिड योजना कहलाती है। इस योजना द्वारा प्रान्त के पश्चिम में १४ जिलों में ९३ कस्बों को और दिल्ली प्रान्त में शाहदरा को घरेलू, कृषि और उद्योग-धंधों को बिजली मिलती है। जहाँ नहर द्वारा पानी नहीं पहुँच सकता, वहाँ पर कुएँ खोद कर इस बिजली से पानी ऊपर उठाया जाता है और खेतों की सिंचाई की जाती है। यही Ganges Valley State Well Scheme है। इसके अन्तर्गत जितने कुँए खोदे गए हैं वे बिजली के कुएँ अर्थात् ट्यूब-वैल (Tube Well) कहलाते है। ट्यूब वैल (नल कूप) द्वारा मुरादाबाद, बिजनौर, बदायूँ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, मेरठ, बुलन्दशहर और अलीगढ जिलों में लगभग १० लाख एकड़ भूमि सींची जाती है।

उत्तर प्रदेश की अन्य विचाराधीन योजनाएँ

(१) शारदा नहर योजना (Sharda Canal Scheme)—इसमें ४० हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न हो सकेगी।

(२) नैयर योजना (Nayer Scheme)—इस योजना में गंगा नदी की सहायक नदी नैयर पर गढ़वाल जिले में नरोरा नामक स्थान में एक बाँध बनाया जायगा।

(३) जमुना हाइड्रो-इलेक्ट्रिक योजना (The Jamuna Hydro Electric Scheme)—यह योजना देहरादून से ३० मील दूर नदी पर बाँध बनाकर तैयार की जायगी। इस योजना में १७ करोड़ रुपया व्यय होगा।

(४) रिहन्द योजना (Rihand Scheme)—इस योजना में सोन की सहायक नदी रिहन्द पर बाँध बनाया जायगा जिसमें डेढ़ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न हो सकेगी।

(५) टौन्स गिरी योजना (Tons Giri Scheme)—इस योजना के अनुसार जमुना नदी पर दो बाँध बांधे जायेंगे। यह योजना उत्तर प्रदेश और पंजाब सरकार द्वारा सम्पन्न होगी।

पंजाब प्रदेश

मंडी जल-विद्युत योजना (The Mandi Hydro-electric Scheme)—पंजाब प्रदेश के मण्डी राज्य में व्यास नदी की एक सहायक उहल नदी के प्रपात में बिजली उत्पन्न की जाती है। इसका शक्ति-गृह जोगेन्द्रनगर में स्थित है। इस योजना में १ लाख १८ हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न होती है जिससे पंजाब और दिल्ली की वर्तमान सारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है। इसकी १५,००० फीट लम्बी इस्पाती सुरंग इंजीनियरिंग निपुणता का एक अद्भुत नमूना

प्रस्तुत करती है। इससे शिमला, अम्बाला करनाल और फिरोजपुर को बहुत सस्ती बिजली मिलती है। भविष्य में सहारनपुर, मेरठ, दिल्ली आदि नगरों का भी बिजली दी जा सकेगी।

अन्य विचाराधीन योजनाएँ—रमूल योजना, मियावाला योजना आदि।

काश्मीर राज्य

बारामूला जल विद्युत योजना (The Baramulla Hydro electric Scheme)—श्रीनगर से ३४ मील उत्तर पश्चिम में कुनियार के समीप जो बारामूला से १४ मील है झेलम नदी के पानी से बिजली उत्पन्न की गई है जो बारामूला और श्रीनगर को पहुँचाई जाती है। यह भारत की द्वितीय जल विद्युत योजना है जिससे २६,००० घोड़ों की शक्ति की बिजली उत्पन्न की जाती है।

भारत की मुख्य बहुउद्देशीय योजनाएँ
(Multi purpose Schemes of India)

भारत में कई बहुउद्देशीय योजनाओं का निर्माण हो रहा है तथा बहुत सी विचाराधीन भी है। इसमें बिजली भी पैदा होती है और साथ ही साथ सिंचाई का कार्य भी सम्पन्न होता है। उनमें से मुख्य योजनाएँ निम्नलिखित हैं —

दामोदर घाटी योजना (Damodar Valley Project)—दामोदर नदी छोटा नागपुर के पठार से निकल कर बिहार के कई जिलों में होती हुई पश्चिमी बंगाल को चली गई है। यह एक भयंकर नदी है जिसमें प्रायः बाढ़ आती रहती है। यह बहुत तेज बहती है जिसके कारण भूमि का कटाव बहुत होता है। इस नदी का बड़ा महत्व है क्योंकि यह बिहार राज्य के खनिज पदार्थ के क्षेत्रों के पास

से होकर बहती है। इसलिए भारत सरकार ने दामोदर घाटी निगम की स्थापना सन् १९४८ में की। इसके अन्तर्गत दामोदर व उसकी सहायक नदियों पर ८ बाँध तथा दुर्गापुर व ऐण्डरसन पर कुण्ड (Barrage) बनाने की योजना है। दुर्गापुर कुण्ड बन चुका है। तिलैया बाँध तथा बोकैरो बिजली का केन्द्र तैयार हो गया है। इस योजना पर सर्व प्रथम ५५ करोड़ रुपए लागत का अनुमान था, परन्तु अब लगभग ९३ करोड़ रुपया हो गया है। इस योजना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से २२ करोड़ डालर ऋण लिया गया है।

लाभ—इस बहुउद्देशीय योजना के तैयार हो जाने से भारत को निम्नलिखित लाभ होंगे —(१) इससे लगभग १,५५० मील लम्बी अक्षय नहरें निकलेंगी जिनसे लगभग १० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। (२) इससे लगभग १ करोड़ मन अनाज की पैदावार बढ़ जायगी। (३) इससे लगभग ३ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी जिससे ५०० मील के क्षेत्र वाले सभी स्थानों में बिजली की आवश्यकता पूरी होगी। (४) इस क्षेत्र के वर्तमान कारखानों को बिजली मिलेगी और अन्य नये कारखाने स्थापित होंगे। (५) घरेलू उद्योग-धन्धे भी बिजली की सहायता से उन्नति करेंगे। (६) बनी हुई नहरों से यातायात की सुविधाएँ मिलेंगी। (७) हानिकारक बाढ़ों की रोक-थाम हो जायगी। (८) दलदलों को सुखाकर मलेरिया की रोक-थाम की जा सकेगी। (९) मनोरंजन के साधन उपलब्ध हो सकेंगे, जैसे नौका-विहार आदि।

भाखड़ा नंगल योजना (Bbakra Nangal Project)—भाखड़ा-नंगल योजना संसार की उन चर्चित विशाल योजनाओं में एक है जिसमें इञ्जीनियरों का अथक कौशल तथा अद्भुत प्रतिभा के चमत्कार दिखाने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। सतलज नदी पर भाखड़ा तथा नंगल स्थानों पर दो बड़े बाँध बनाये जा रहे हैं। भाखड़ा बाँध की ऊँचाई नदी के तल से ६८० फीट होगी। इस प्रकार ऊँचाई में यह बाँध संसार के बाँधों में दूसरे नम्बर पर होगा। लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई तथा मोटाई में बाँध की विशालता का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि इसका आयतन इतना बड़ा होगा कि इसके पेट में मिस्र के सात पिरामिड समा जायेंगे और उतना ही और स्थान खाली रह जायगा। इस बाँध पर कुल मिलाकर १५६·३ करोड़ रुपये के लगभग खर्च का अनुमान किया गया है। अभी भाखड़ा बाँध बन रहा है। नंगल बाँध तैयार हो चुका है। इस बाँध की ऊँचाई

६१ फीट और लम्बाई ६५५ फीट है। इसमें तीस-तीस फीट चौड़ी २६ जल-प्रणालिकाएँ हैं। यदि ये सब जलमार्ग खुले हों तो उनमें से ३ लाख ५० हजार 'क्यूसिक' जल प्रवाहित हो सकता है (क्यूसिक प्रवाह का माप है एक सैकण्ड में एक घन फुट जल बह गया तो एक 'क्यूसिक' हुआ)। नँगल बाँध को बनाने में तीन लाख घन गज कंक्रीट ८००० टन फौलाद और ६० हजार टन सीमेंट खर्च हुआ है। और १२ लाख ३० हजार घन गज खुदाई करके उसकी नींव रखी गई है इस पर लगभग ४ करोड़ रुपया लागत आई है।

लाभ :—(१) ६० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई की जा सकेगी। (२) पंजाब में प्रति वर्ष ३६ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। (३) चार लाख किलोवाट जल-विद्युत उत्पन्न की जावेगी। सिंचाई के परिणामस्वरूप अनुमान से ११ लाख टन खाद्यान्न, ८ लाख गाँठ रूई, ५ लाख टन गन्ना, १५ लाख टन चारा और एक लाख टन दालें और तिलहन की उपज देश में बढ़ जायगी। (५) इस योजना के कारण अनुमानतः २५ लाख व्यक्तियों को काम पर लगाया जा सकेगा। (६) लगभग १३० नगरों को बिजली मिलेगी। (७) एक हजार के लगभग 'ट्यूब वेल' लगाये जायेंगे जिनसे सिंचाई का क्षेत्र और बढ़ जायगा। (८) चण्डीगढ़ के निकट जिपसम से खाद बनाने का कारखाना चलाया जा सकेगा। (९) विविध मनोरंजन के साधन सुलभ हो सकेंगे।

लाभ की दृष्टि से यह संसार का सबसे उपयोगी बाँध होगा।

हीराकुड बाँध योजना (Hirakud Dam Project)—इस योजना के अन्तर्गत उड़ीसा राज्य के सम्भलपुर जिले में महानदी पर ३ मील लम्बा बाँध बनाया गया है जो संसार में सबसे लम्बा बाँध है। इसके अलावा नदी के दोनों किनारों पर १३ मील लम्बे मिट्टी के पुश्ते बनाये गये हैं। हिराकीदर के पास बाँध की ऊँचाई २०० फीट है। बाँध से जो जलाशय बना है उसका विस्तार २८८ वर्ग मील है। इसमें ६१५ लाख एकड़ फुट पानी भरा रहेगा जिसमें १८ लाख ८० हजार एकड़ फीट पानी बिजली पैदा करने के लिए और बाकी ४३ लाख २० हजार एकड़ फुट पानी सिंचाई तथा बिजली आदि के लिए सुरक्षित रहेगा। इस योजना पर ६४ करोड़ रुपया खर्च किया जायगा। हीराकुड जलाशय से बेरगढ़ नहर में सबसे पहले ७ सितम्बर १९५६ को सिंचाई के लिए पानी दिया गया।
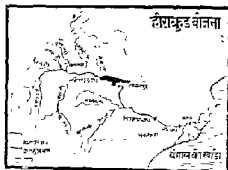
लाभ—(१) इस योजना के पूर्ण हो जाने पर १८ लाख एकड़ भूमि सींची जा सकेगी। (२) इस पर दो बड़े शक्तिगृह (Power Houses) बनाये जायेंगे जिनसे १·२३ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी। ये रूरकेला स्थान पर जर्मन विशेषज्ञों की सहायता से बनाये जा रहे हैं। (३) लोहा व इस्पात के कारखानों को यहीं से बिजली प्रदान की जावेगी। इसके अतिरिक्त अन्य नवीन उद्योग-धन्धों को बिजली दी
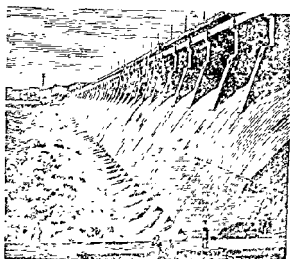
हीराकुड योजना

जावेगी। (४) इस प्रकार सम्भलपुर के समीप एक औद्योगिक नगर बन जायगा। (५) इस योजना से महानदी की बाढ़ों पर भी नियन्त्रण हो सकेगा।

कोसी योजना (Kosi Project)—कोसी नदी हिमालय से निकल कर मुँगेर जिले में गंगा नदी से मिल गई है। बाढ़, फसलों की क्षति तथा मलेरिया की बीमारी इसकी देन है। इनसे मुक्ति पाने के लिए कोसी योजना को जन्म मिला। कोसी नदी पर पहाड़ी भाग में बाराह क्षेत्र मन्दिर से ऊपर की ओर एक ७८३ फुट ऊँचा बाँध बनाया जायगा जो संसार में सबसे ऊँचा बाँध होगा। इसी योजना का दूसरा बाँध नैपाल बिहार सीमा पर बनाया जायगा। इसका अनुमानित व्यय १७७ करोड़ है।

लाभ :—(१) इससे नहरें निकालकर बिहार राज्य में २० लाख एकड़ भूमि पर, नैपाल देश में १० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई हो सकेगी। (२) इससे लगभग १८ लाख किलोवाट बिजली बनेगी जिससे कारखाने चल सकेंगे। (३) इससे बाढ़ों का

नियन्त्रण किया जा सकेगा। (४) वन लगाकर भूमि का कटाव रोका जा सकेगा। (५) मलेरिया की रोकथाम की जा सकेगी। (६) मनोरंजन के साधन सुलभ किये जा सकेंगे।

रामपद सागर योजना (Rampad Sagar Project)—आन्ध्र राज्य
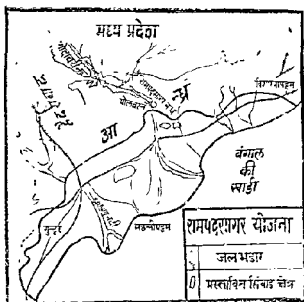
में गोदावरी नदी पर पोलावरम स्थान पर १४८ फुट ऊँचा बांध बनाया जा रहा है। इस योजना पर १३० करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान लगाया गया है। यह मुख्यत: एक सिंचाई योजना है।

लाभ—

(१) इसमें दो नहरें बनाकर विशाखापट्टनम् तथा गन्टूर जिलों में २० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई की जावेगी।

(२) इससे १½ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न की जावेगी।

तुंगभद्रा योजना (Tungabhadra Project)—कृष्णा नदी की

सहायक नदी तुंगभद्रा पर लगभग १६० फुट ऊँचा तथा १½ मील लम्बा बाँध बनाने की योजना है। इस योजना का अनुमानित व्यय ५० करोड़ रुपए है।

लाभ—

(१) इससे आन्ध्र और हैदराबाद में लगभग २० लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई हो सकेगी।

(२) इसी क्षेत्र में १८ हजार किलोवाट बिजली भी मिल जायगी।
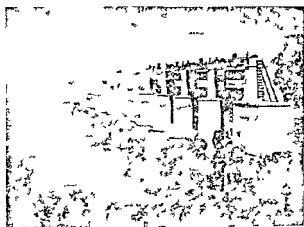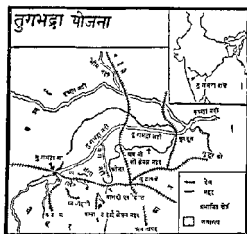
तुंगभद्रा बाँध योजना

रिहन्द योजना (Rihand Project)— रिहन्द नदी विन्ध्यप्रदेश के पठारों से निकल कर उत्तर प्रदेश में बहती हुई सोन नदी में गिरी है। इस नदी पर पिपरी नामक स्थान के समीप २८० फुट ऊँचा एक बाँध बनाया जा रहा है। इसका अनुमानित व्यय लगभग ३१½ करोड़ रुपये है।

लाभ—(१) इससे निकाली गई नहरों में उत्तर प्रदेश और विंध्यप्रदेश में सिंचाई होगी। अनुमान है कि लगभग २४ लाख एकड़ भूमि सींची जा सकेगी। (२) इस योजना में ४ हजार नलकूप बनाये जायेंगे। (३) इससे बनाई गई बिजली बिहार तक प्रयोग की जा सकती है। इससे १० हजार ३६२ किलोवाट बिजली पैदा हो सकेगी। (४) इस योजना से बाढ़-नियन्त्रण, मछली-पालन, नौका-चालन व मनोरंजन की सुविधाएँ प्राप्त हो सकेंगी।

चम्बल घाटी योजना (Chambal Valley Project)—इस योजना के अन्तर्गत चम्बल नदी पर चौरासीगढ़ के समीप २०० फुट ऊँचा बाँध तैयार किया जा रहा है। इस योजना पर लगभग ७१ करोड़ रुपया व्यय होगा। इसके अन्तर्गत गांधी सागर बाँध, राना प्रताप सागर बाँध, कोटा बाँध और कोटा बैरेज बनाये जायेंगे। अगस्त १९६० में चम्बल योजना के बिजलीघर में बिजली मिलनी शुरू हो जायेगी और १९६० की खरीफ की फसल की सिंचाई भी हो सकेगी।

लाभ—(१) इसके द्वारा राजस्थान और मध्य प्रदेश में लगभग १४ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होगी।

(२) ४½ लाख टन खाद्यान्न वार्षिक पैदा होगा।

(३) इससे २१ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी। जिसके कारण नगरों व कस्बों को बिजली मिलने के अतिरिक्त अनेक कल-कारखाने चलेंगे।
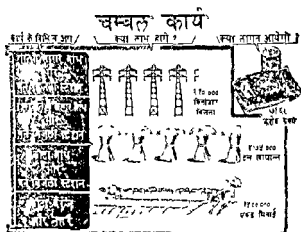
लाभ—(१) इस योजना से आंध्र तथा हैदराबाद राज्यों में ३१.८३ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। (२) इससे ७५ हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न हो सकेगी। (३) इससे अनाज की पैदावार में १२ लाख टन की वृद्धि होगी। (४) इस योजना के पूर्ण हो जाने पर हैदराबाद के नलगोंडा और खम्मम क्षेत्र में आंध्र के कृष्णा, नेल्लोर एवं गुण्टूर क्षेत्र में अकाल के हमलों को विफल किया जा सकेगा।

जवाई योजना (Jawai Project)—राजस्थान में अरावली की पहाड़ियों में तीन करोड़ रुपये की लागत की योजना सन् १९४६ में प्रारम्भ हुई और इस वर्ष के

जवाई बाँध योजना

अन्त तक पूर्ण हो जाने की आशा है। इस योजना का मुख्य बाँध ११४ फुट ऊँचा और ३०३० फुट लम्बा जिसकी ७ अरब वर्ग फुट पानी की क्षमता है जलाशय भरने से जो पानी फैलेगा वह करीब १२ मील के घेरे में समा सकेगा।

लाभ—(१) इससे औसतन करीब ५० हजार एकड़ भूमि की सुविधा होगी और कुल एक लाख दस हजार एकड़ भूमि प्रभावित होगी। (२) इस योजना से लगभग ३०४ वर्ग मील में होने वाली वर्षा के पानी से १ लाख १० हजार एकड़ अतिरिक्त अनुपजाऊ भूमि को कपास, गन्ना, गेहूँ, चने आदि और खाद्य का उत्पादन करने योग्य बनाया जायगा। (३) इससे ४.५ हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न हो सकेगी। (४) इस सिंचाई की सुविधा से १५ हजार टन अनाज उत्पन्न किया जा सकेगा।

अन्य बहुउद्देशीय योजनाएँ

मयूराक्षी योजना (Mayurakshi Project)—यह १५ करोड़ की लागत की योजना पश्चिमी बंगाल की सरकार द्वारा बनाई जा रही है। इसके

मयूराक्षी योजना

अन्तगत ११३ फुट ऊँचा और २०६७ फुट लम्बा बाँध तैयार होगा जिसमें पाँच लाख एकड़ पानी समा सकेगा। इससे ६ लाख एकड़ भूमि को पानी मिलेगा। यह विशेषतया सिंचाई की योजना है परन्तु फिर भी इससे ४ हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी।

कोयना योजना—यह बम्बई राज्य की ६० करोड़ रुपये की योजना है। जिससे लगभग ३२ लाख एकड़ भूमि सींची जायगी और २८ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी।

कृष्णा मिनार योजना—यह आंध्र और हैदराबाद की ८० करोड़ की लागत की योजना है जिसमें तीस लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी और १.२ लाख किलो-वाट बिजली पैदा होगी।

गोदावरी घाटी योजना—यह आंध्र राज्य में ९८ करोड़ रुपये की लागत की योजना बनाई जा रही है। इसमें लगभग ३२ करोड़ एकड़ भूमि को पानी मिलेगा और और २.८ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी।

गंडक योजना—इस २५ करोड़ रुपये की लागत की योजना में उत्तर प्रदेश, बिहार व नेपाल की लगभग २३ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। यह मुख्यतया सिंचाई की योजना है, परन्तु इसमें २ हजार किलोवाट बिजली उत्पन्न हो सकेगी।

इनके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश की नायर योजना, बम्बई की नर्वदा-ताप्ती योजना, मद्रास की लोअर भवानी योजना, बम्बई की काकरापारा योजना, आंध्र और उड़ीसा की संयुक्त मच्छकुण्ड योजना, बड़ौदा की साबरमती योजना, भोपाल की किलार नदी योजना, और मध्य प्रदेश की गांधी सागर बाँध योजना, उल्लेखनीय है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—भारतवर्ष में जल-विद्युत-शक्ति में किस प्रकार उन्नति हुई है ? इस समय कौन-सी प्रमुख योजनाएँ इस ओर कार्य कर रही हैं ? (उ० प्र० १९५७)

२—भारतवर्ष में शक्ति के प्रमुख साधन क्या हैं ? जल शक्ति का आर्थिक महत्त्व तथा इसके भावी विकास की सम्भावनाओं पर तर्क सहित विचार कीजिए। (रा० बो० १९५७)

३—शक्ति के मुख्य साधन क्या हैं ? संक्षेप में बताइये कि भारतवर्ष में जल-विद्युत-योजनाओं में कितनी उन्नति की गई है ? (म० भा० १९५७)

४—भारत में बहु-उद्देशीय नदी घाटी योजनाओं की आवश्यकता तथा उनके महत्त्व का विवेचन कीजिए। (प्र० बो० १९५६)

५—बहु-उद्देशीय योजनाओं के उद्देश्यों को समझाइए। भारत की कुछ मुख्य योजनाओं का वर्णन कीजिए और प्रत्येक के उस उद्देश्य या उद्देश्यों का भी वर्णन कीजिये जिनके कारण उस योजना का निर्माण किया जा रहा है। (अ० बो० १९५५)

६—भारत में शक्ति के प्रमुख साधन क्या हैं ? उनका पूर्ण विवेचन कीजिये।
(उ० प्र० १९५५, ५३, ५२, ५१, ४८, ४६ ; म० भा० १९५५, ५४, ५१ ; अ० बो० १९५३, ४९, ४२, रा० बो० १९५२, ५०, ४५)

७—नोट लिखिए :—

भारत में शक्ति के साधन (अ० बो० १९५१)
भारत में शक्ति-उत्पादन की योजनाएँ (सागर १९५४)
भारतीय नदी-घाटी योजनाएँ (नागपुर १९५५)

अध्याय ३१

श्रम
(Labour)

श्रम उत्पत्ति का एक अनिवार्य साधन है (Labour is an indispensable factor of production)– श्रम उत्पत्ति का एक प्रमुख साधन है। इसकी सक्रियता के कारण उत्पत्ति के साधनों मे इसका बड़ा महत्व है। प्रकृति के साधन निष्क्रिय है, इन्हे उपयोगी बनाने के लिए मनुष्य द्वारा प्रयत्न अर्थात् श्रम की आवश्यकता है। अस्तु, भूमि की भांति श्रम भी उत्पत्ति का एक अनिवार्य साधन है।

श्रम का अर्थ (Meaning of Labour)—साधारण भाषा में किसी भी काम करने के प्रयत्न को 'श्रम' कहते हैं। उदाहरण के लिए, माता का बीमार पुत्र के पास रात्रि भर बैठे रहना, खिलाडी का मैच मे जी-जान से खेलना, प्रोफेसर का किसी अन्य कालेज मे निमन्त्रण पाकर व्याख्यान देना आदि। परन्तु अर्थशास्त्र मे श्रम का अर्थ इतना व्यापक नही है। अर्थशास्त्रीय अर्थ के अनुसार मनुष्य के सभी मानसिक एवं शारीरिक प्रयत्न जो मनोरंजन के लिए न करके धनोपार्जन के उद्देश्य से किये जायं 'श्रम' कहलाते है। ऊपर के उदाहरणो मे माता, खिलाडी और प्रोफेसर के कार्यो का धनोपार्जन से कोई सम्बन्ध नही होने के कारण इनके प्रयत्न अर्थशास्त्र की दृष्टि मे श्रम नहीं कहे जा सकते। परन्तु यदि माता के बजाय वेतन पर रखी हुई नर्स कार्य सम्पन्न करती है, खिलाडी आय के लिए जी-जान से खेलता है, प्रोफेसर अपने ही कालेज मे जहाँ नौकर है व्याख्यान देता है, तो निसन्देह उनके प्रयत्न अर्थशास्त्र की दृष्टि मे 'श्रम' कहलाने योग्य है, क्योंकि उन सबका सम्बन्ध धन कमाने से है न कि मनोरंजन से। इसी प्रकार धनोपार्जन के उद्देश्य से प्रभावित अध्यापक, डाक्टर, वकील, राज्य-मन्त्री, बढ़ई, लुहार, किसान, मजदूर आदि सभी प्रकार के प्रयत्न चाहे वे मानसिक हों या शारीरिक—छोटे मनुष्यों के हों अथवा बड़ो के, अर्थशास्त्रीय श्रम के अन्तर्गत आते हैं।

प्रो० जेवन्स (Jevons) की दी हुई श्रम की परिभाषा अध्ययन-योग्य है। उनके अनुसार श्रम वह मानसिक अथवा शारीरिक प्रयत्न है जो अंशत या पूर्णत कार्य में प्रत्यक्ष आनन्द प्राप्त होने के अतिरिक्त अन्य लाभ की दृष्टि से किया जाय।[1] प्रो० मार्शल भी इस परिभाषा से पूर्ण सहमत है और इन्होंने इसे अपनी पुस्तक Principles of Economics मे भी उद्धृत किया है।

अर्थशास्त्रीय श्रम की सारभूत बातें—आर्थिक दृष्टि से 'श्रम' में निम्नांकित बातें समाविष्ट है —

(१) श्रम के अन्तर्गत केवल मानवीय प्रयत्न ही समाविष्ट हैं। अतः, प्रकृति, पशुओं या मशीनों द्वारा सम्पन्न कार्य श्रम नहीं कहे जाते हैं। यद्यपि घोड़ों, बैल भैंसा आदि बोझ ढोने वाले पशुओं के परिश्रम से धनोपार्जन होता है, परन्तु फिर भी वह अर्थशास्त्रीय श्रम में सम्मिलित नहीं किया जाता है, क्योंकि अर्थशास्त्र केवल मनुष्यों के प्रयत्नों का ही अध्ययन है।

(२) श्रम के अन्तर्गत मनुष्य के मानसिक एवं शारीरिक दोनों प्रकार के प्रयत्न सम्मिलित हैं। जैसे अध्यापक, वकील, बढ़ई, मजदूर आदि के कार्य।

(३) मनुष्य के वे ही मानसिक एवं शारीरिक कार्य जो धनोपार्जन की दृष्टि से किये जायँ, श्रम कहलाने योग्य होते हैं। जो कार्य केवल आनन्द-प्रमोद, स्नेह या कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से सम्पन्न किए जाएँ, वे श्रम के अन्तर्गत नहीं आते है। उदाहरणार्थ, मनोरंजन एवं आनन्द प्रमोद के लिए किसी गायक द्वारा संगीत कला का प्रदर्शन करना, चित्रकार द्वारा चित्र बनाना, अध्यापक द्वारा नि शुल्क विद्याभ्यास कराना, कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से गृहणियों द्वारा घरेलू कार्य सम्पन्न करना, स्नेहवश माता द्वारा बच्चों का पालन-पोषण करना आदि।

श्रम की विशेषताएँ (Peculiarities of Labour)

उत्पत्ति के साधन के रूप में श्रम की कुछ विशेषताएँ हैं जो निम्नलिखित है :—

(१) श्रम उत्पत्ति के लिए अनिवार्य है (Labour is indispensable for production)—उत्पत्ति का कोई भी कार्य बिना श्रम की सहायता के सम्भव नहीं है। चाहे जितने प्रकृति के साधन एवं पूँजी सम्पन्न क्यों न हो, बिना मानवीय प्रयत्नों (श्रम) द्वारा धनोत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं हो सकती।

(२) श्रम नाशवान है (Labour is perishable)—समय के बीतने के साथ ही साथ श्रम भी सदैव के लिए नष्ट हो जाता है। यदि कोई श्रमिक एक दिन भी काम न करे, तो उसका उस दिन का श्रम नष्ट हो जाता है और वह उसे पुनः प्राप्त नहीं कर सकता।

(३) श्रम न केवल उत्पत्ति का साधन ही है अपितु इसका साध्य भी है (Labour is not only a means of production but is also its end)—श्रमिक जन केवल उत्पत्ति में सहायक ही नहीं है वरन् वे उत्पत्ति के साध्य

1—"An exertion of mind or body undergone partly or wholly with a view to some good other than the pleasure derived directly from the work" —*Jevons*

भी है, क्योंकि समस्त उत्पत्ति का उद्देश्य मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। अस्तु, श्रम का उत्पत्ति साधन एवं साध्य होना सिद्ध होता है।

(४) श्रम विनियोग योग्य है (Money can be invested in Labour)—जिस प्रकार कारखानों, मशीनों आदि के क्रय में पूँजी लगाने से आय होती है, उसी प्रकार मनुष्य की शिक्षा, कार्य-कुशलता आदि बातों की प्राप्ति के लिए व्यय करने से भी आय होती है। दोनों आय प्राप्ति की दृष्टि से पूँजी लगाने में समानता रखते है। इसलिए श्रम को कभी-कभी 'मानवीय पूँजी' (Human Capital) भी कहते है।

(५) श्रम का श्रमिक से पृथक कोई अस्तित्व नहीं है (Labour is inseparable from labourer)—श्रम साधारण क्रय-विक्रय की भाँति पृथकता नहीं रखता। यदि कोई श्रमिक अपना श्रम देना चाहे तो उसे स्वयं निर्दिष्ट स्थान पर जाकर श्रम करना पड़ेगा। ऐसा नहीं हो सकता कि श्रमिक अपने घर बैठा रहे और उसके श्रम द्वारा उत्पत्ति कारखाने में होती रहे। श्रम के साथ श्रमिक की उपस्थिति आवश्यक है। श्रमिक का कार्य-क्षेत्र उसके अनुकूल होना चाहिए, वहाँ उसके सुख व रक्षा की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिए।

(६) श्रमिक केवल अपना श्रम ही बेचता है न कि अपने आपको (The labourer sells his labour only but retains property in himself) – जब कोई व्यापारी वस्तु बेचता है तो वह वस्तु दूसरे की सम्पत्ति बन जाती है। परन्तु श्रमिक अपना श्रम बेचने पर भी अपना स्वामित्व कायम रखता है। उत्पादक जितना अधिक व्यय लगा कर वस्तु उत्तम बनायेगा उतनी ही वस्तु अच्छे भाव बिकेगी। परन्तु यह बात श्रम के सम्बन्ध में यथार्थ सिद्ध नहीं होती। जो व्यक्ति मनुष्य को शिक्षित करते है या उनके पालन-पोषण पर व्यय करते है, उन्हे श्रम के मूल्य में कुछ नहीं मिलता। श्रमिक के योग्य बनने में उसके माता-पिता या संरक्षक की आर्थिक स्थिति, दूरदर्शिता, विचार, स्वभाव, योग्यता आदि बातों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि माता-पिता या संरक्षक शिक्षित, सम्पन्न और दूरदर्शी है, तो वे अपने बच्चों को भी अच्छी शिक्षा दिलाकर योग्य और कुशल बना सकते हैं। इस योग्यता और श्रम का लाभ बेटे को मिलता है। माता-पिता को अपने बेटे को शिक्षित बनाने में किये गये व्यय के बदले में कोई ब्याज या अन्य लाभ नहीं मिलता। कर्त्तव्यपरायण पुत्र माता पिता की सेवा अवश्य करते हैं, परन्तु स्वार्थी पुत्र से तो इतना भी नहीं होता।

(७) श्रम की पूर्ति बहुत धीरे-धीरे घटती-बढ़ती है (Slow increase or decrease of supply of Labour) – अन्य वस्तुओं की माँग के घटने बढ़ने पर उनकी पूर्ति भी शीघ्र घटाई-बढ़ाई जा सकती है। परन्तु श्रम की पूर्ति बढ़ाने या घटाने मे पर्याप्त समय लगता है। श्रम की पूर्ति जनसख्या और कार्य-कुशलता पर निर्भर है और इन दोनों में परिवर्तन धीरे-धीरे होता है। किसी व्यक्ति के किसी विशेष धन्धे के लिए योग्य बनने के लिए पर्याप्त समय की आवश्यकता है। इसी प्रकार अध्यापक, डाक्टर, वकील, इञ्जीनियर आदि की संख्या में कई वर्षों की शिक्षा के पश्चात् ही वृद्धि हो सकती है।

(८) श्रम गतिशील है (Labour is mobile)—उत्पत्ति के साधनों में केवल श्रम ही गतिशील है जो एक स्थान से दूसरे स्थान को, एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय को और एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी को आ-जा सकता है।

भूमि और श्रम मे अन्तर

(Difference beetween Land & Labour)

यद्यपि भूमि और श्रम दोनों ही उत्पत्ति के अनिवार्य साधन है, परन्तु दोनों मे कुछ अन्तर अवश्य है।

(१) भूमि उत्पत्ति का एक निष्क्रिय (Passive) साधन है जो बिना मनुष्य और मशीनरी की सहायता के उत्पत्ति मे सहायक सिद्ध नहीं हो सकता। श्रम उत्पत्ति का एक सक्रिय (Active) साधन है जिसके द्वारा सारी उत्पत्ति के कार्य का सचालन होता है।

(२) भूमि का परिमाण निश्चित और परिमित है, अतः इसमे न्यूनाधिकता होना सभव नहीं। परन्तु श्रम की पूर्ति मे घटा-बढ़ी हो सकती है।

(३) भूमि अविनाशी, अनन्त और अमर है परन्तु श्रम नाशवान् है।

(४) भूमि स्थिर है—उसकी स्थिति या स्थान मे परिवर्तन असम्भव है, परन्तु श्रम गतिशील है।

(५) भूमि भू-स्वामी से अलग की जा सकती है, परन्तु श्रम श्रमिक से अलग नहीं हो सकता।

पूंजी और श्रम मे अन्तर (Difference between Capital & Labour)—पूंजी और श्रम मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। पूंजी भी एक प्रकार से 'घनीभूत श्रम' (Crystallised Labour) है, क्योंकि पूंजी श्रम द्वारा उत्पन्न किये हुए धन का वह भाग है जो धन उत्पन्न करने मे प्रयुक्त किया जाता है। परन्तु दोनों मे कुछ तात्विक अन्तर अवश्य है।

(१) यद्यपि पूंजी और श्रम दोनों ही नाशवान् हैं, फिर भी पूंजी की अपेक्षा श्रम की पुनर्प्राप्ति शीघ्रता और सुगमता से हो सकती है।

(२) श्रम पूंजी की अपेक्षा शीघ्र नष्ट होता है। श्रम का यदि हम उपभोग भी न करें तब भी नष्ट हो जायगा।

(३) श्रम की अपेक्षा पूंजी अधिक गतिशील है क्योंकि पूंजी का स्थानान्तरण अधिक सुगमता से हो सकता है।

(४) पूंजी पूंजीपति से पृथक् हो सकती है। यदि पूंजीपति चाहे तो अपनी पूंजी को किसी दूसरे व्यक्ति को दे सकते है। परन्तु श्रम श्रमिक से पृथक् नहीं हो सकता।

(५) कारखाने और मशीनों मे लगाई हुई पूंजी उनकी बिक्री द्वारा वापस निकाली जा सकती है, किन्तु किसी श्रमिक की शिक्षा या कुशलता प्राप्ति मे लगाई हुई पूंजी इतनी सुगमता से नहीं निकाली जा सकती है।

उत्पत्ति मे श्रम का महत्व

(Importance of Labour in Production)

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है श्रम उत्पत्ति का एक अनिवार्य साधन है। बिना इसके साधारण से साधारण उत्पत्ति का कार्य भी सम्पन्न नहीं हो सकता। प्राकृतिक साधन चाहे जितनी प्रचुर मात्रा मे विद्यमान क्यों न हों, मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ न-कुछ प्रयत्न अवश्य करना पड़ता है। जहाँ

प्रकृतिदत्त पदार्थों में न्यूनता तथा जलवायु में प्रतिकूलता होती है, वहाँ मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक परिश्रम करना पड़ता है। इसी आधार पर श्रम का महत्व भी बढ़ता जाता है।

सच तो यह है कि श्रम की अनिवार्यता में आधुनिक सभ्यता का जन्म निहित है। मनुष्य स्वभाव से ही न्यूनतम परिश्रम करना चाहता है। अत: परिश्रम से बचने के उद्देश्य से कालान्तर में वह बड़े बड़े आविष्कारों की ओर अग्रसर हुआ जिससे उत्पादन क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई। कम से कम परिश्रम करने की प्रवृत्ति को न्यूनतम प्रयत्न का नियम (Law of Least Efforts) कहते हैं। यही नियम भौतिक सभ्यता का आधार माना जाता है।

श्रम के भेद (Kinds of Labour)

श्रम के अलग-अलग आधार पर अलग अलग भेद किये गये हैं जो नीचे दिये जाते हैं :—

१. उत्पादक और अनुत्पादक श्रम (Productive and Unproductive Labour)—उत्पत्ति का अर्थ है किसी वस्तु की उपयोगिता वृद्धि से। अतः जिस श्रम से किसी वस्तु की उपयोगिता बढ़ती है वह उत्पादक श्रम कहलाता है और जिससे उपयोगिता में कोई वृद्धि नहीं होती है वह अनुत्पादक श्रम कहलाता है। जैसे नदी पर पुल बनाना आरम्भ किया गया। यदि वह पूर्ण रूप से बनकर तैयार हो जाता है और उसका उपयोग होने लगता है तो ऐसा श्रम उत्पादक श्रम कहलायगा। परन्तु यदि पुल अपूर्ण ही छोड़ दिया जाय जिससे उसका कोई उपयोग न हो सके, तो उसमें लगा हुआ श्रम अनुत्पादक श्रम कहलायगा।

कौन-सा श्रम उत्पादक है और कौन सा अनुत्पादक, इस विषय पर अर्थशास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद रहा है। प्रारम्भिक फ्रांसीसी अर्थशास्त्री केवल कृषकों के श्रम को ही उत्पादक कहते थे, शेष सबको अनुत्पादक। बाद में एडम स्मिथ ने केवल भौतिक वस्तुएँ उत्पन्न करने वाले श्रम को ही उत्पादक श्रम कहा। उनके मतानुसार कुम्हार का श्रम उत्पादक है परन्तु गवैये का नहीं। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इस बात पर एक मत है कि उत्पादक श्रम वह है जिसमें उपयोगिता में वृद्धि होती है, चाहे वह उपयोगिता भौतिक पदार्थ में निहित हो या न हो। जैसे कृषक, बढ़ई, व्यापारी, अध्यापक, डाक्टर आदि का कार्य।

२. निपुण और अनिपुण श्रम (Skilled and Unskilled Labour) निपुण श्रम वह है जिसके सम्पन्न करने में किसी विशेष चतुराई अथवा शिक्षा की आवश्यकता पड़ती हो, जैसे—मोटर ड्राइवर, चित्रकार, गायक, नृत्यक आदि का कार्य। जो श्रम बिना किसी चतुराई या विशेष शिक्षा के सम्पन्न किया जा सकता है वह अनिपुण श्रम कहलाता है, जैसे चपरासी घरेलू नौकर, कुली आदि का कार्य।

निपुणता एक सापेक्षिक शब्द है जो देश-काल के अनुसार पर्याप्त भिन्नता रखता है। उदाहरण के लिए, भारतवर्ष में लिखने पढ़ने की योग्यता को कुशलता कहेंगे परन्तु अमेरिका और इङ्गलैंड में नहीं, क्योंकि वहाँ अधिकांश मनुष्य लिखना-पढ़ना जानते हैं। इसी प्रकार भारतवर्ष में मोटर चलाना एक निपुण श्रम है, परन्तु यही कार्य अमेरिका आदि प्रगतिशील देशों में अनिपुण कार्य समझा जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों, स्वयंचालित यन्त्रों के प्रयोग और साधारण ज्ञान के बढ़ते हुए प्रसार ने इस अन्तर को कम कर दिया है।

३. शारीरिक और मानसिक श्रम (Manual and Mental Labour)—जिस कार्य के सम्पन्न करने में शरीर को प्रधानता होती है वह शारीरिक श्रम कहलाता है, जैसे—बढ़ई, लुहार या हम्माल आदि का कार्य। जिस कार्य के करने मे मस्तिष्क को प्रधानता होती है वह मानसिक श्रम कहलाता है, जैसे—अध्यापक, वकील, न्यायाधीश आदि का कार्य।

यह स्मरण रखने की बात है कि कोई भी कार्य केवल शारीरिक या मानसिक नहीं हो सकता। तुच्छ से तुच्छ शारीरिक कार्य मे भी मस्तिष्क की आवश्यकता होती है और उच्च से उच्च मानसिक कार्य मे भी शरीर का उपयोग हुए बिना नहीं रह सकता। अतः अर्थ-शास्त्र मे दोनों प्रकार के कार्य श्रम के अन्तर्गत आते है।

श्रम की पूर्ति (Supply of Labour)

किसी देश मे श्रम की पूर्ति दो बातों पर निर्भर है :—

(१) श्रम की मात्रा अर्थात् श्रमिकों की संख्या (Population)

(२) श्रम की कार्य-कुशलता (Efficiency of Labour)

यदि दो देशों की जनसंख्या समान है तो श्रम की पूर्ति उस देश मे अधिक होगी जहाँ के श्रमिक अधिक कुशल हैं। इसी प्रकार यदि दोनों देशों के श्रमिकों की कार्य-कुशलता समान है, तो श्रम की पूर्ति अधिक जनसंख्या वाले देश में अधिक होगी। हम अगले दो-तीन अध्यायों मे इन बातों का विवेचन करेंगे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—श्रम की क्या विशेषताएँ हैं जो उसे अन्य किसी पदार्थ से भिन्न बनाती है? इस भेद का क्या महत्त्व है? (अ० बो० १९६०)

२—'श्रम' शब्द की परिभाषा तथा व्याख्या कीजिए। श्रम की क्या मुख्य विशेषताएँ है? श्रम और भूमि तथा श्रम और पूँजी मे भेद दर्शाइये। (उ० प्र० १९५१)

३—निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

उत्पादक और अनुत्पादक श्रम
(उ० प्र० १९४४; म० भा० १९५५, ५३; रा० बो० १९५४, अ० बो० १९४५)

कुशल और अकुशल श्रम (उ० प्र० १९५५, ३९, ३५)

४—श्रम के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए। (अ० बो० १९४६)

५—श्रम की परिभाषा दीजिये। क्या निम्न कार्य श्रम मे शामिल हैं? कारण भी बताइए :—

(अ) क्रिकेट का मैच खेलना। (ब) मैगजीन मे छपवाने को कविता बनाना। (स) किसी अधिवेशन मे भाग लेने के लिए रेल यात्रा करना। (नागपुर १९५०)

अध्याय ३२

जनसंख्या
Population

किसी देश की जनसंख्या मुख्यत दो बातो पर निर्भर होती है :—

१. प्राकृतिक बाते अर्थात् जन्म-मृत्यु ।
२ कृत्रिम बाते अर्थात् आवास-प्रवास ।

१. प्राकृतिक बाते (Natural Factors)

जनसंख्या जन्म द्वारा बढ़ती है और मृत्यु द्वारा घटती है। अस्तु, किसी देश की जनसंख्या (अ) जन्म संख्या (Birth Rate) और (आ०) मृत्यु संख्या (Death Rate) पर निर्भर होती है। जनसंख्या का मृत्यु-संख्या से अधिक होना (इ) अति-जीवन संख्या (Survival Rate) कहलाती है। यही जनसंख्या की वृद्धि का मापदण्ड है। अत जनसंख्या के प्राकृतिक कारणो म इन्ही बातो का विवेचन किया जायगा।

(अ) जन्म-सख्या (Birth Rate)—जन्म-सख्या का अर्थ यह है कि किसी देश मे निश्चित अवधि मे प्रति एक हजार निवासियो के यहाँ कितने बच्चे पैदा होते है। जैसे यदि किसी देश म किसी वर्ष ४० जन्म सख्या है, तो इसका अर्थ यह है कि उस वर्ष उस देश मे प्रति एक हजार निवासियो के यहाँ ४० बच्चो ने जन्म लिया। अन्य बातो के समान रहने पर किसी देश मे जितनी ही अधिक जन्म-सख्या होगी वहाँ की जनसख्या मे उतनी ही अधिक दर स वृद्धि होगी।

जन्म-सख्या के कारण (Causes of Birth Rate)—किसी देश की जन्म-सख्या निम्नलिखित बातो पर निर्भर होती है :—

(१) जलवायु —ठडे देशो की अपेक्षा गर्म देशो मे स्त्री-पुरुष शीघ्र ही यौवन प्राप्त कर विवाह-योग्य बन जाते है। अत वहाँ विवाह छोटी आयु मे होना अनिवार्य हो जाता है जिसके फलस्वरूप सन्तान थोडी आयु मे ही होने लगती है। यही कारण है कि भारतवर्ष जैसे गर्म देश मे ठडे देशो की अपेक्षा अधिक जन्म-सख्या है।

(२) धार्मिक रीति-रिवाज :—भारतवर्ष मे धार्मिक रीति-रिवाज जन्म-सख्या की वृद्धि मे सहायक है। यहाँ हिन्दुओ म विवाह एक अनिवार्य धार्मिक सस्कार है। धार्मिक दृष्टि से पुत्रोत्पत्ति स्वर्गस्थ पूर्वजो की आत्माओ को शान्ति मिलने का साधन समझा जाने के कारण एक हिन्दू पुरुष का विवाह आवश्यक माना गया है। इस प्रकार हमारे देश मे धर्मशास्त्रानुसार कन्या का पाणिग्रहण सस्कार यौवन-प्राप्ति के

पूर्व ही हो जाना चाहिए, अन्यथा उसके माता पिता नरकगामी होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि छोटी आयु से सन्तान होने लगती है और उसके जीवनकाल में उसके द्वारा बहुत से बच्चों को जन्म मिल जाता है।

(३) *सामाजिक रीति रिवाज*—जन्म-संख्या बहुत कुछ सामाजिक अवस्था पर भी निर्भर है। जिस समाज में बड़े परिवार का सम्मान व गर्व होता है, सन्तानोत्पत्ति ईश्वर की देन मानी जाती है और इस पर नियन्त्रण करना मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर समझा जाता है तथा एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करने की प्रथा प्रचलित है, वहाँ जन्म संख्या का अधिक होना स्वाभाविक है। संयुक्त-परिवार प्रणाली से भी बाल-विवाह की प्रथा को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि कुटुम्ब के प्रत्येक विवाहित व्यक्ति के लिए स्वावलम्बी होना आवश्यक नहीं है। उपर्युक्त सब बातें भारतवर्ष में पाई जाती हैं। अतः इस देश में जन्म-संख्या भी अधिक पाई जाती है। किन्तु अब हमारे देश में शिक्षित व्यक्तियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन होता जा रहा है।

इसके विपरीत पाश्चात्य देशों में विवाह बड़ी आयु में होने, एक से अधिक स्त्रियों से विवाह नहीं कर सकने तथा अनेक स्थानों में एक पिता के अनेक पुत्रों में से केवल एक दो ही पुत्रों को विवाह करने की आज्ञा होने आदि कारणों से वहाँ जन्म-संख्या कम रहती है।

(४) *राजनैतिक अवस्था*—जन्म-संख्या की न्यूनाधिकता देश की सरकार की नीति पर भी निर्भर है। उदाहरणार्थ जर्मनी और इटली आदि सैनिक देशों में जन्म संख्या बढ़ाने के लिये सरकार द्वारा अधिक सन्तान उत्पन्न करने वाले माता पिताओं को प्रोत्साहन, आदर और आर्थिक सहायता प्रदान की जाती थी। प्रजातन्त्र राज्यों में भी वयस्क मताधिकार से जन्म-संख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है।

(५) *आर्थिक अवस्था*—आर्थिक अवस्था का जन्म-संख्या पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। उच्च जीवन-स्तर वाले अपना जीवन-स्तर बनाये रखने के लिए बड़ी आयु में विवाह करते हैं जिससे फलस्वरूप सन्तान कम होती है। परन्तु नीचा जीवन-स्तर रखने वाले मनुष्यों में निर्धनता और अशिक्षा के कारण दूरदर्शिता का अभाव होता है जिसके फलस्वरूप बढ़ती हुई जनसंख्या पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। यही नहीं, बच्चे थोड़े बड़े होते ही काम पर लगा दिये जाते हैं जिससे माता-पिताओं की आय में वृद्धि होती है। इसलिए नीचे जीवन-स्तर वाले बहुधा शीघ्र विवाह कर लेते हैं। अस्तु, निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि अन्य बातों के समान होने पर, समाज का जीवन-स्तर जितना ही नीचा होता है, जन्म-संख्या उतनी ही अधिक होती है।

भारतवर्ष में जन्म-संख्या—भारतवर्ष में उपर्युक्त सभी जन्म-संख्या बढ़ाने वाले कारण उपस्थित हैं। भारतवर्ष एक गर्म देश है जहाँ ठंडे देशों की अपेक्षा स्त्री-पुरुष कम आयु में ही युवा अवस्था प्राप्त कर लेते हैं जिसके कारण शीघ्र विवाह कर दिया जाता है। यहाँ आजन्म अविवाहित रहने की प्रथा धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से उचित नहीं समझी जाने के कारण हिन्दुओं में विवाह एक अनिवार्य सा संस्कार हो गया है। हिन्दू धर्म के अनुसार यदि किसी दम्पति के कोई पुत्र उत्पन्न न हो, तो पिण्ड, श्राद्ध आदि क्रियाएँ नहीं हो सकने के कारण परलोक में उनकी आत्माओं को शान्ति नहीं मिलती।[1] मुसलमानों में विवाह की इतनी अनिवार्यता नहीं समझी

१—अपुत्रस्य गतिर्नास्ति

जाती, परन्तु फिर भी उनमे पुनर्विवाह आदि प्रथाएँ जन्म-संख्या को बढाये रखने मे सहायक है।

हमारे देश की आर्थिक अवस्था भी ऐसी है जिससे जन्म संख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है। यहाँ के अधिकतर लोग निर्धन हैं, उनका जीवन स्तर नीचा है तथा वे अशिक्षित है। ऐसी दशा मे उनका विवेकहीन एवं भाग्यवादी होना स्वाभाविक है। अस्तु, भारत मे जन्म-संख्या की वृद्धि बड़ी प्रबल है।

भारतवर्ष मे प्रति हजार लगभग ३५ बच्चे पैदा होते है जिसके कारण जन्म-संख्या ५० लाख प्रतिवर्ष के हिसाब से बढ रही है। इस प्रबल वेग ने भारतवर्ष को संसार का दूसरा घना बसा हुआ देश बना दिया है जबकि पहला देश चीन है।

(आ) मृत्यु-संख्या (Death Rate)—इसका अर्थ यह है कि किसी देश मे किसी निश्चित अवधि म प्रति एक हजार निवासियों के यहाँ कितने मनुष्य मरते है। उदाहरणार्थ, यदि किसी देश मे किसी वर्ष मे मृत्यु-संख्या २० है, तो इसका तात्पर्य यह है कि उस वर्ष उस देश म प्रति एक हजार निवासियों के यहाँ २० मनुष्यों की मृत्यु हुई। अन्य बातों के समान रहने पर जिस देश मे मृत्यु संख्या जितनी अधिक होगी, वहाँ की जनसंख्या मे वृद्धि उतनी ही कम दर से होगी।

मृत्यु-संख्या के कारण (Causes of Death Rate)—मृत्यु-संख्या निम्न-लिखित कारणों से निर्धारित होती है :

(१) **सामान्य उन्नति की अवस्था**—प्रगतिशील देशों मे शिक्षा और सभ्यता के विकास के कारण लोग स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियमों का स्वयं पालन करते है और दूसरों से भी कराते हैं। वे *स्वास्थ्य-वर्धक भोजन, स्वच्छ वस्त्र, खुले हवादार मकान,* बीमारियों से बचने के उपाय आदि बातों पर पूर्ण ध्यान देते हैं जिसके कारण उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है और वे दीर्घायु होते हैं। अस्तु, उन्नत देशों मे मृत्यु-संख्या कम होती है।

(२) **विवाह की आयु**—थोड़ी आयु म विवाह होने से दुर्बल सन्तान उत्पन्न होना स्वाभाविक है। दुर्बल सन्तान दीर्घकाल तक जीवित नहीं रह सकने के कारण मृत्यु संख्या को बढ़ाती है। परिपक्व अवस्था मे विवाह होने से ही दीर्घायु एवं हृष्ट पुष्ट सन्तान होती है।

(३) **आर्थिक अवस्था** निर्धनता जीवन-स्तर को नीचे गिराती है। जिन लोगों का जीवन-स्तर नीचा होता है, वे प्राय अशिक्षित ही रहते है जिसके कारण स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियमों को पालन करने कराने मे अपने आपको असमर्थ पाते हैं। इसके अतिरिक्त निर्धनता के कारण उन्हें पौष्टिक भोजन उपलब्ध नहीं होता तथा बीमारियों से बचने के उपायों के लाभों से वे वंचित रहते हैं। अस्तु, ऐसे लोगों का दीर्घायु होना सम्भव नहीं है।

(४) **प्राकृतिक प्रकोप**—दुर्भिक्ष, बाढ़, भूकम्प, छूत की बीमारियाँ आदि प्राकृतिक विपत्तियों के कारण भी मृत्यु-संख्या मे वृद्धि हो जाती है।

भारतवर्ष मे मृत्यु-संख्या—भारत मे मृत्यु संख्या भी बढ़ी हुई है। अभाग्यवश हमारे देश मे अधिकांश व्यक्ति अशिक्षित, निर्धन और पिछड़ी हुई अवस्था मे है। उनका जीवन-स्तर नीचा है और वे सामाजिक रूढ़ियों के बंधन मे जकड़े हुए हैं। उनकी अज्ञानता स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों की अवहेलना कराती है और उनकी

निर्धनता उन्हें जीवन रक्षक पदार्थों से वंचित रखती है। धार्मिक अन्ध विश्वास के कारण ही भारतवर्ष में आज भी अधिकांश जनसंख्या में बाल विवाह प्रथा प्रचलित है जिसके कारण मृत्यु संख्या को बड़ा प्रोत्साहन मिलता है। इस देश में प्रकृति का भी बड़ा प्रकोप है। यहाँ समय समय पर भूकम्प और बाढ़ आते हैं तथा दुर्भिक्ष तो यहाँ की एक साधारण विशेषता हो गई है। पौष्टिक भोजनादि के अभाव में मनुष्य बीमारियों का मुकाबिला करने में असमर्थ अपने आपको निर्बल पाता है अतः वह सदैव बीमारियों का शिकार बना रहता है। प्लेग हैजा आदि महामारियों से सहस्रों मनुष्य मौत के घाट उतारे जाते हैं।

(इ) प्रति-जीवन संख्या (Survival Rate)—मृत्यु संख्या से जन्म संख्या के आधिक्य को प्रति-जीवन संख्या कहते हैं। प्राकृतिक कारणों द्वारा होने वाली जन संख्या इसी पर ही निर्भर है।

जब किसी देश की जन संख्या और मृत्यु संख्या समान होती है अर्थात् प्रति जीवन संख्या शून्य होती है तो ऐसी जन संख्या स्थिर (Static) जनसंख्या कहलाती है। जब जन्म संख्या और मृत्यु-संख्या में अन्तर होने के कारण जनसंख्या में न्यूनाधिकता होती है तो ऐसी जनसंख्या प्रवैगिक (Dynamic) जनसंख्या कहलाती है। जब जन्मसंख्या मृत्यु संख्या से अधिक होती है तब जनसंख्या की प्रवैगिक अवस्था धनात्मक (Positive) कही जाती है और जब जन्मसंख्या मृत्यु संख्या से कम होती है तब वह अवस्था ऋणात्मक (Negative) कहलाती है।

२ कृत्रिम बातें आवास प्रवास (Immigration & Migration)

मनुष्यों के एक देश से दूसरे देश को आने जाने को आवास प्रवास कहते हैं। जब मनुष्य एक देश छोड़कर दूसरे देश को चले जाते हैं तो उसे प्रवास (Migration) कहते हैं और जब वे दूसरे देश से आते हैं तो उसे आवास (Immigration) कहते हैं। किसी देश की जनसंख्या पर आवास प्रवास का बड़ा प्रभाव पड़ता है। आवास से जन संख्या बढ़ती है और प्रवास से घटती है। जब आवास प्रवास से अधिक होता है तो वह आधिक्य आवास प्रवास की वास्तविक संख्या (Net Rate of Migration) कहलाती है। अमरिका कनाडा और आस्ट्रेलिया नये देश कहलाते हैं क्योंकि उनकी खोज हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ है फिर भी इन देशों में पर्याप्त जनसंख्या है। इन देशों की बढ़ी हुई जनसंख्या मुख्यतः आवास प्रवास के कारण ही है। इनकी खोज के पश्चात् कई यूरोपवासी वहाँ जा कर बस गये। इसी प्रकार आयरलैंड की जनसंख्या प्रवास से काफी कम हो गई है। परन्तु हमारे देश में आवास प्रवास का कोई महत्व नहीं है। हाँ अंग्रेजी राज्य में कुछ इंगलैंडवासी नौकरी व व्यापार के लिये आकर अवश्य बस गये थे परन्तु उनकी संख्या नगण्य थी। विदेशों में भारतवासियों के साथ दुर्व्यवहार होने और रंग भेद की नीति के कारण प्रवास भी अब बहुत कम हो रहा है।

१—अष्ट वर्षा भवद्गौरी नववर्षा च रोहिणी।

दशवर्षा भवेत् कन्या तत् ऊर्ध्वं रजस्वला॥ शा० बो० ५६—काशीनाथ

माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त
(Malthusian Theory of Population)

परिचय (Introduction)—उत्पत्ति के अन्य साधनों की तुलना में श्रम का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। उत्पत्ति की मात्रा अधिकतर श्रम के परिमाण पर निर्भर है। अतएव जनसंख्या की समस्या का भी वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। आधुनिक काल में जनसंख्या के प्रश्न पर आर्थिक दृष्टि से विचार करने वालों में सब प्रथम स्थान इंगलैंड के पादरी माल्थस (१७६६–१८३४) का है। माल्थस का पिता बड़ा आशावादी था परन्तु माल्थस एक निराशावादी नवयुवक था जिसे सभ्यता का भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होता था। बहुत अध्ययन और अनुसंधान के पश्चात माल्थस ने सन १७९८ ई० में जनसंख्या के सिद्धान्त पर निबन्ध नामक पुस्तक की रचना की जिसमें उसने निम्नलिखित बातों की स्थापना की। इन्हीं बातों के विवेचन को माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त कहते हैं।

माल्थस के जनसंख्या के सिद्धान्त की सारभूत बातें

(१) किसी देश की जनसंख्या में खाद्य सामग्री की सीमा को पार करके अधिक वेग से आगे बढ़ने की प्रवृत्ति होती है—किसी प्रकार की बाधा न होने पर जनसंख्या खाद्य पदार्थ की उत्पत्ति की अपेक्षा कहीं अधिक तेजी से बढ़ती है। माल्थस का कहना है कि जनसंख्या गुणोत्तर वृद्धि (Geometrical Progression) के अनुसार बढ़ती है जैसे २ ४ ८ १६ ३२ ६४ आदि और खाद्य सामग्री समान्तर वृद्धि (Arithmetical Progression) के हिसाब से बढ़ती है जैसे १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ आदि। इस प्रकार जनसंख्या लगभग २५ वर्षों में दुगुनी हो जाती है किन्तु खाद्य सामग्री (Food Supply) अर्थात निर्वाह साधना (Means of Subsistence) के लिए यह बात लागू नहीं है। खाद्य सामग्री इस अनुपात में नहीं बढ़ती। अस्तु जनसंख्या में खाद्य सामग्री की सीमा को पार करके आगे बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। पूर्वकाल में ऐसा हुआ है और भविष्य में भी ऐसा होने की सम्भावना है।

(२) जनसंख्या की वृद्धि की प्रवृत्ति दो उपायों से रुक सकती है—एक तो जन्म संख्या के कम होने से और दूसरे मृत्यु संख्या के बढ़ने से। संयम, ब्रह्मचर्य पालन, बड़ी आयु में विवाह करना आदि साधनों से जन्म संख्या कम हो सकती है। वर्तमान समय के संतति निग्रह (Birth Control) आदि कृत्रिम साधन भी इसी श्रेणी में आते हैं। इस प्रकार के उपायों को माल्थस ने निवारक या कृत्रिम अवरोध (Preventive Checks) कह कर पुकारा है। मृत्यु संख्या की वृद्धि अनेक कारणों द्वारा हो सकती है जैसे युद्ध, दुर्भिक्ष, भूकम्प, बाढ़, महामारी आदि। इन्हें उसने प्राकृतिक अवरोध (Positive Checks) कहा है।

(३) माल्थस का निष्कर्ष—माल्थस ने इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्यों को चाहिए कि वे जनसंख्या को अधिक न बढ़ने दें। उसका यह कहना था कि यदि लोग संयम, ब्रह्मचर्य आदि निवारक या कृत्रिम उपायों को काम में न लायेंगे तो भविष्य में उनको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा यहाँ तक कि उन्हें पर्याप्त भोजन भी न मिल सकेगा। लोग भूखे रहेंगे तरह तरह के

बीमारियाँ फैलेंगी और इस कारण मृत्यु-संख्या बहुत बढ़ने लगेगी। जनसंख्या का अत्यधिक भाग इस प्रकार के प्राकृतिक उपायों से नष्ट हो जायगा। निवारक या कृत्रिम अवरोधों (Preventive Checks) के अभाव में प्राकृतिक अवरोधों (Positive Checks) द्वारा बढ़ती हुई जनसंख्या का रुकना स्वाभाविक है। अतः स्वयं मनुष्य को इस विषय में सतर्क रहना चाहिए।

माल्थस के सिद्धान्त की आलोचना
(Criticism of Malthusian Theory)

(१) माल्थस का सिद्धान्त पूर्णतया ठीक नहीं है—माल्थस के विचारों पर इङ्गलैंड, आयरलैंड आदि देशों की तत्कालीन जनसंख्या वृद्धि का विशेष प्रभाव पड़ा और उसने उन्हीं के अध्ययन के आधार पर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उस समय जनसंख्या बड़े वेग से बढ़ रही थी। कृषि में उत्पत्ति ह्रास-प्रवृत्ति का प्रदर्शन प्रारम्भ हो चुका था। खाद्य सामग्री की उत्पत्ति बढ़ाने के लिए उचित ढंग लोगों को ज्ञात न थे। कारण वैज्ञानिक क्षेत्र में अभी पर्याप्त उन्नति न हो पाई थी। यातायात के साधन भी पुराने ढंग के थे जिसके फलस्वरूप खाद्य-सामग्री की आवश्यकता पड़ने पर अन्य देशों से सुगमतापूर्वक आयात नहीं की जा सकती थी। इन सब बातों के आधार पर माल्थस ने इस उपर्युक्त सिद्धान्त की स्थापना की थी। औद्योगिक क्रान्ति ने आर्थिक-जीवन का पूर्णतया काया-पलट कर दिया है। कृषि और औद्योगिक क्षेत्रों में अनेक आविष्कार हो गये हैं जिनसे उत्पत्ति की मात्रा बहुत ही बढ़ गई है। यातायात के साधनों में पर्याप्त उन्नति होने से अब एक देश दूसरे देशों से खाद्य-सामग्री मँगा सकता है। एक ओर वैज्ञानिक उपायों से धनोत्पत्ति बहुत बढ़ गई है, और दूसरी ओर लोगों में सन्तान-निग्रह के कृत्रिम उपायों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। इससे जनसंख्या कई देशों में काफी घट गई है। अस्तु माल्थस ने जो भावी जनसंख्या के विषय में भयानक और अन्धकारपूर्ण चित्र खींचा था, वह वर्तमान समय में यथार्थ सिद्ध न हो सका। परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण माल्थस के सिद्धान्त में अब पूर्ववत् सत्यता न रही और न वह सब देशों और सब कालों के लिए ठीक ही है।

(२) माल्थस ने जो जनसंख्या और खाद्य सामग्री की वृद्धि का अनुपात बताया है वह ठीक नहीं है—यह सिद्ध करना कठिन है कि जनसंख्या गुणोत्तर-वृद्धि और खाद्य सामग्री समान्तर-वृद्धि के अनुसार बढ़ती है। इतिहास पर दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि खाद्य सामग्री में समान्तर अनुपात से कहीं अधिक वृद्धि हुई है। मानव बुद्धि बल द्वारा उत्पत्ति के अनेक नये ढंग मालूम हो गये हैं जिनसे धनोत्पत्ति की वृद्धि जनसंख्या की वृद्धि से भी अधिक होने लगी है। दूसरी ओर सभ्यता तथा जीवन-स्तर के बढ़ने के साथ-साथ निवारक या कृत्रिम उपायों का महत्त्व भी बढ़ता जा रहा है। जीवन-स्तर ऊँचा होने से लोगों में सन्तान कम पैदा करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है जिससे भावी सन्तान का जीवन स्तर नीचे न गिरे।

माल्थस कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय का प्रथम श्रेणी का एक गणित विशेषज्ञ था। अतः उसे इस प्रकार के गणित सम्बन्धी सूत्रों (Formulas) के प्रयोग का बड़ा शौक था।

(३) माल्थस की यह धारणा कि जनसंख्या लगभग २५ वर्षो मे दुगनी हो जाती है उचित प्रतीत नहीं होती है—संसार के किसी भी देश मे अब तक जनसंख्या २५ वर्षो मे दुगनी नहीं हुई है। जनसंख्या को दुगना होने मे लगभग १८० वर्ष लगते है। अतः इस धारणा की पुष्टि इतिहास द्वारा नहीं होती है।

(४) सभ्यता के विकास के साथ-साथ सन्तानोत्पत्ति भी कम हो जाती है—प्राणी शास्त्र का नियम है कि ज्यो-ज्यो मनुष्य सभ्यता की ओर अग्रसर होता जाता है, त्यो-त्यो उसकी सन्तानोत्पत्ति की शक्ति मे ह्रास होता जाता है। मानसिक और नैतिक उन्नति के साथ साथ मनुष्य की सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा कम होती जाती है। विशेषकर शिक्षित स्त्रियाँ कभी अधिक बच्चो की माता बनना पसन्द नहीं करती है। यदि एक शिक्षित एव सभ्य दम्पति को एक कार (Car) अथवा बच्चे (Baby) मे से कोई एक वस्तु पसन्द करने के लिए कहा जाय, तो वे निस्सन्देह 'कार' ही पसन्द करेंगे। माल्थस ने इस प्रवृत्ति पर कोई विचार नहीं किया। अस्तु, भविष्य मे माल्थस ने जो अति-जनसंख्या होने का भय प्रकट किया वह निराधार है।

(५) सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति मे परिवर्तन होने से भी जनसंख्या घटती जा रही है—पुराने समय की भाँति अब बड़े परिवारो का होना इतनी गौरव की बात नहीं समझी जाती है। फैक्ट्री एक्ट और शिक्षा प्रचार से निर्धन मनुष्यो मे जन्म-संख्या कम होने लगी है क्योंकि बच्चो का छोटी आयु मे कारखानो मे काम करना अब एक कानूनी रुकावट हो गई है। अतः परिवार की आय को बढ़ाने के लिए सन्तानोत्पत्ति की प्रवृत्ति नष्ट होती जा रही है। उच्च श्रेणी और मध्यम श्रेणी के लोगों मे भी अपने जीवन स्तर को बनाये रखने की दृष्टि से अधिक सन्तान की अभिलाषा नहीं रहती है। अत. वे भी येन केन प्रकार से जन्म-संख्या कम से कम रखने का प्रयत्न करते हैं।

(६) माल्थस ने उत्पत्ति-ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) के बारे मे ठीक नहीं समझा—उसने इस नियम को सार्वदेशिक समझ कर भूल की। कृषि कला और खेती के ढगो मे सुधार कर इस प्रवृत्ति को रोका जा सकता है तथा कारखानो की उत्पत्ति-वृद्धि एव खाद्य-सामग्री के आयात से यह प्रवृत्ति निष्क्रिय की जा सकती है।

(७) जनसंख्या मे वृद्धि होने से श्रम की भी संख्या बढ़ती है – जब मनुष्य संसार मे आता है, तो वह केवल मुँह और उदर ही लेकर नहीं आता, बल्कि काम करने के लिए दो हाथ और बुद्धि बल भी लेकर आता है। अस्तु, यह सोचना भूल है कि जनसंख्या मे वृद्धि लाना आपत्तियो को बुलाना है। कुछ हद तक जनसंख्या की वृद्धि लाभप्रद ही नहीं वरन् आवश्यक भी है, ऐसा प्रो० कैनन का मत है।

(८) जनसंख्या की समस्या पर विचार करते समय देश की समस्त धनोत्पत्ति (Total Wealth) को ध्यान में रखना चाहिए न कि केवल खाद्य सामग्री की उत्पत्ति को ही—माल्थस ने इस सम्बन्ध मे केवल खाद्य-सामग्री का ही विचार किया है। सम्भव है किसी देश मे खाद्य-पदार्थो की कमी हो पर वह देश अपनी औद्योगिक वस्तुओं के बदले मे कृषि-प्रधान देशो से खाद्य-सामग्री मगा सकता है। इगलैंड के उदाहरण मे यह बात स्पष्ट हो जाती है। वहाँ मुश्किल से १६ प्रतिशत

जनसंख्या के लिए खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। परन्तु वहाँ कारखानों में इतना माल तैयार होता है कि बड़ी सुगमता से अन्य देशों से उस माल के बदले में खाद्य-सामग्री मँगाई जा सकती है। अस्तु, खाद्य-पदार्थों की इतनी कम उत्पत्ति होने हुए भी वहाँ खाद्य-सामग्री की कोई कमी नहीं है, और वहाँ के मनुष्यों का जीवन स्तर भी तुलनात्मक दृष्टि से बहुत ऊँचा है।

माल्थस के सिद्धान्त में सत्यता के अंश
(Elements of Truth in the Malthusian Theory)

इस प्रकार के दोष माल्थस के सिद्धान्त पर लगाये जाते हैं, और वे बहुत कुछ ठीक भी हैं। पर इसका यह आशय नहीं कि माल्थस का सिद्धान्त बिल्कुल गलत है। यह सच है कि परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण माल्थस के सिद्धान्त में अब पूर्ववत् सत्यता न रही फिर भी उसमें सत्यता का अंश है। भारतवर्ष, चीन आदि देशों में माल्थस का सिद्धान्त पूर्ण रूप से लागू है। परन्तु यूरोप और अमरिका आदि उन्नत देशों में यही सिद्धान्त बिल्कुल प्रभावशून्य हो गया है।

भारतवर्ष और माल्थस का सिद्धान्त—भारतवर्ष में माल्थस का सिद्धान्त पूर्णतया लागू है। भारतवर्ष में जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है। गत ५० वर्षों में यहाँ जनसंख्या में लगभग ११ करोड़ की वृद्धि हो गई है। अशिक्षा और निर्धनता के अतिरिक्त यहाँ की सामाजिक रीतियों और धार्मिक विश्वासों से जनसंख्या की वृद्धि में पर्याप्त सहायता मिल रही है। विवाह करना अनिवार्य कार्य बन गया है पुत्र प्राप्ति धार्मिक कृत्य समझा जाता है। सर्व साधारण में यह विचार प्रचलित है कि बिना पुत्र के परलोक में गति नहीं होती है। उष्ण जलवायु के कारण छोटी आयु में विवाह हो जाता है और कई धर्म-ग्रन्थ कन्या को दस वर्ष की आयु में विवाह कर देने का आदेश भी देते हैं। इन सब कारणों से यहाँ की जनसंख्या में बहुत तेजी से वृद्धि हो रही है। किन्तु भारतवर्ष में विविध कारणों से कृषि तथा व्यवसाय धन्धों की उत्पत्ति बहुत कम है। अतः इस देश में अति-जनसंख्या (Over-Population) की समस्या विद्यमान है। लोगों का जीवन स्तर गिरा हुआ है। मृत्यु-संख्या अन्य देशों से बहुत अधिक है। निवारक या कृत्रिम अवरोधों का पूर्ण अभाव है। जनसंख्या की वृद्धि रोकने के लिए दुर्भिक्ष, महामारी आदि प्राकृतिक उपायों का भयंकर प्रकोप सदैव बना रहता है। अस्तु, माल्थस का सिद्धान्त भारतवर्ष जैसे देशों में अब भी लागू है।"

प्रो० टॉसिग (Taussig) के अनुसार "ऊँची जन्म-संख्या, ऊँची मृत्यु-संख्या, पिछड़ी हुई औद्योगिक दशाएँ, न्यून भृति, यह सब बातें साथ-साथ चलती हैं।"

यूरोप व अमेरिका और माल्थस का सिद्धान्त—ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, संयुक्त राज्य-अमेरिका आदि धनी और प्रगतिशील देशों में सम्पत्ति की वृद्धि जनसंख्या के अनुपात से अधिक हुई है, अतः वहाँ अति-जनसंख्या की समस्या विद्यमान नहीं है। साथ ही इन देशों में जनसंख्या की वृद्धि रोकने में प्राकृतिक अवरोधों जैसे युद्ध महामारी आदि निवारक या कृत्रिम अवरोधों जैसे देर से विवाह करना, संयम, ब्रह्मचर्य-पालन, संतति-निग्रह आदि का पूर्ण हाथ रहा है। माल्थस के कथनानुसार सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ निवारक या कृत्रिम अवरोधों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। इन्हीं कारणों से इन देशों में माल्थस का सिद्धान्त असत्य सिद्ध हो रहा है।

सर्वोत्तम (आदर्श) जनसंख्या का सिद्धान्त
(Theory of Optimum Population)

'सर्वोत्तम जनसंख्या का सिद्धान्त' जनसंख्या का आधुनिक सिद्धान्त माना जाता है। सबसे प्रथम प्रो० कैनन (Cannan) ने इस विचारधारा को प्रस्तुत किया और प्रो० कार सौन्डर्स (Carr Saunders) का नाम भी इसके विकास के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

सिद्धान्त की परिभाषा

प्रो० कार सौन्डर्स इसको इस प्रकार परिभाषित करते हैं :—"आर्थिक दृष्टि से किसी देश में किसी विशेष समय और परिस्थिति में वही जनसंख्या का घनत्व सर्वोत्तम समझा जायगा जिसमें प्रति व्यक्ति को आय या धनोत्पत्ति अधिकतम हो और जनसंख्या के तनिक भी घटने या बढ़ने से प्रति व्यक्ति की औसत आय या धनोत्पत्ति में न्यूनाधिकता हो जाय।"

अधिकतम जनसंख्या का सिद्धान्त यह बतलाता है कि किसी देश में किसी समय आर्थिक साधनों की सम्पन्नता इतनी हो कि वहाँ अधिक से अधिक जनसंख्या रह सके और उसके प्रति व्यक्ति की औसत आय अधिकतम हो। साधारण बोल-चाल की भाषा में इसे यों भी कह सकते हैं कि जनसंख्या भी अधिक हो और कमाने व खाने पीने को भी खूब हो।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जनसंख्या और आर्थिक साधनों के विकास की समगति को सर्वोत्तम जनसंख्या कहते हैं। परन्तु यदि जनसंख्या इतनी अधिक हो कि आर्थिक साधन पीछे रह जायें और वे उस सीमा तक जनसंख्या का भली-प्रकार निर्वाह करने में असमर्थ हो जायें, तो ऐसी जनसंख्या को अति-जनसंख्या (Over-Population) कहेंगे। निर्धनता, गिरा हुआ जीवन स्तर, भुखमरी, कार्य-कुशलता में ह्रास आदि अति जनसंख्या के कुछ भयंकर दुष्परिणाम हैं जिनका इलाज अति-जनसंख्या को उचित सीमा पर लाने पर ही हो सकता है। इसी प्रकार न्यून जनसंख्या की समस्या भी पाई जाती है। किसी देश की जनसंख्या इतनी कम हो कि वहाँ के प्राकृतिक अथवा आर्थिक साधनों से पूरा लाभ न उठाया जा सके तो जनसंख्या की ऐसी अवस्था को न्यून-जनसंख्या (Under Population) कहेंगे। इसके भी वही दुष्परिणाम होते हैं जो अति-जनसंख्या के हैं। अस्तु, हमारा उद्देश्य अति-जनसंख्या और न्यून जनसंख्या से परे सर्वोत्तम जनसंख्या का होना चाहिए।

माल्थस के सिद्धान्त और सर्वोत्तम जनसंख्या के सिद्धान्त की तुलना

(१) *सर्वोत्तम जनसंख्या के सिद्धान्त में जनसंख्या और आर्थिक साधनों द्वारा* उत्पादन शक्ति में सम्बन्ध स्थापित किया गया है, जबकि माल्थस के सिद्धान्त में केवल जनसंख्या और खाद्य सामग्री के ही मध्य सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

(२) *सर्वोत्तम जनसंख्या की सीमा स्थायी नहीं है।* यह उत्पत्ति के साथ-साथ बदलती रहती है। अतः किसी देश में जनसंख्या को बढ़ाने की कोई सैद्धान्तिक सीमा नहीं हो सकती।

(३) माल्थस ने जनसंख्या की वृद्धि का भयानक चित्र खींचकर तथाकथित दुष्परिणामों से अवगत कराने का प्रयत्न किया है। परन्तु किन्हीं परिस्थितियों में जनसंख्या की वृद्धि लाभदायक होती है। अतः, सर्वोत्तम जनसंख्या में केवल इस बात का अध्ययन किया जाता है कि जनसंख्या की वृद्धि वाञ्छनीय है अथवा नहीं।

(४) सर्वोत्तम जनसंख्या का सिद्धान्त माल्थस के सिद्धान्त की भाँति संयम, ब्रह्मचर्य पालन आदि नैतिक उपदेशों से मुक्त है। इसमें इस प्रकार की बात नहीं मिलती।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—माल्थस के जनसंख्या के सिद्धान्त की आलोचनात्मक दृष्टि से व्याख्या कीजिये। (रा० बो० १९५७)

२—माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त हमारे देश में कहाँ तक लागू है ? (म० बो० १९५६ पू०)

३—माल्थस (Malthus) के सिद्धान्त को समझाइये तथा उसकी आलोचना कीजिये। (उ० प्र० १९५६)

४—माल्थस के जनसंख्या के सिद्धान्त की आलोचनात्मक दृष्टि से व्याख्या कीजिये। सर्वोत्तम जनसंख्या का क्या सिद्धान्त है ? (रा० बो० १९५४)

५—माल्थस के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये। क्या यह भारत पर लागू होता है ? (रा० बो० १९५९)

६—जनसंख्या का आधुनिक सिद्धान्त क्या है ? माल्थस के सिद्धान्त से इसमें क्या अन्तर है ? (रा० बो० १९५९)

७—निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए —

प्राकृतिक अवरोध और कृत्रिम अवरोध (उ० प्र० १९५०, ४९, ४७, ४८)

सर्वोत्तम जनसंख्या (रा० बो० १९५१ ४९)

नैसर्गिक तथा प्रतिबंधक निरोध (उ० प्र० १९६०, ५०)

प्रतिबंधक रोक (म० भा० १९५७)

अध्याय ३३

भारतवर्ष की जनसंख्या
(Population of India)

'एक राष्ट्र की सच्ची सम्पत्ति न उसकी भूमियों और न नदियों में, न उसके वनों और खानों में, न उसके पशुओं में, न उसके डॉलरों में निहित है, बल्कि उसके स्वस्थ और सुखी आदमी, औरतों और बच्चों में निहित होती है।" —जी० सी० ह्विपल

भारतवर्ष की जनसंख्या का आकार - सन् १९५१ ई० की मनुष्य गणना के अनुसार भारत की जनसंख्या ३५,६८,२९,४८५ है। इस प्रकार १० वर्षों में १२·६ प्रतिशत जनसंख्या बढ़ी। इसमें से पुरुषों की आबादी १८,३३,०५,६५४ है और स्त्रियों की १७,३५, ३,८३१ है। इस तरह १००० पुरुषों के पीछे ९४७ स्त्रियाँ की औसत आती है। जनसंख्या के आकार की दृष्टि से भारत संसार में चीन को छोड़कर सर्वाधिक आबादी वाला देश है। भारत की जनसंख्या सोवियत संघ (११ करोड़), उत्तरी अमरिका (२२ करोड़), अफ्रीका (२० करोड़), दक्षिणी अमरिका (११ करोड़) से अधिक है और सोवियत संघ को निकालकर यूरोप (३९·६ करोड़) की आबादी से कुछ कम है। भारतवर्ष में संसार की कुल जनसंख्या का लगभग १५ प्रतिशत अर्थात् ⅐ मनुष्य निवास करते हैं।

संसार की जनसंख्या में भारत का स्थान

भारत के पुनर्गठित राज्य

'राज्य पुनर्गठन विधेयक' के अनुसार भारत में १४ राज्य और ६ केन्द्र द्वारा शासित प्रदेश बनाये गये जिसकी स्थापना १ नवम्बर १९५६ को की गई। १ मई १९६० को तत्कालीन बम्बई राज्य का विभाजन करके दो नये राज्यों—महाराष्ट्र और गुजरात की स्थापना की गई है। इस प्रकार इस समय भारत में १५ राज्य व ६ केन्द्र द्वारा शासित प्रदेश हैं। नागालैण्ड की स्थापना हो जाने पर १६ राज्य हो जायेंगे।

१५ राज्यों के नाम इस प्रकार है—आन्ध्र प्रदेश, आसाम, बिहार, गुजरात, केरल, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मद्रास, मैसूर, उड़ीसा, पूर्वी पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, जम्मू व काश्मीर।

केन्द्र द्वारा शासित ६ प्रदेशों के नाम इस प्रकार है - देहली, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा, अण्डमान, एवं निकोबार द्वीप समूह, लक्कदीव एवं अमिनदीव द्वीप समूह।
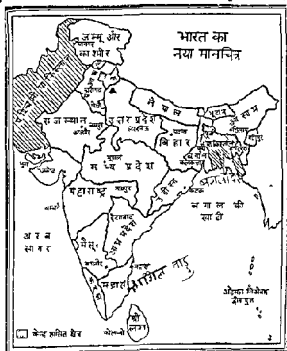
जनसंख्या के अनुसार भारत के राज्यों का आकार—जनसंख्या के अनुसार राज्यों और केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्रों का आकार क्रमश: इस प्रकार है —

क्र० सं०	राज्य	जन संख्या (लाखों में)	क्र० सं०	राज्य	जन संख्या (लाखों में)
१	उत्तर प्रदेश	६३२	१२	केरल	१३६
२	महाराष्ट्र	३२२	१३	आसाम	९०
३	बिहार	३८८	१४	जम्मू व कश्मीर	४४
४	आंध्र	३१३	१५	गुजरात	१६१
५	मद्रास	३००	१	केन्द्र द्वारा प्रशासित राज्य	
६	पश्चिमी बंगाल	२६३	२	दिल्ली	१७४
७	मध्य प्रदेश	·६१	३	हिमाचल प्रदेश	९ ८
८	मैसूर	१९४	४	त्रिपुरा	६ ४
९	राजस्थान	१६०	५	मणिपुर	५ ८
१०	पंजाब	१६१	६	अंडमान व नीकोबार	०·३
११	उड़ीसा	१४६		लकदीव व अमनदीव	०·२

राज्यों और केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्रों की कुल जनसंख्या भी एक दूसरे से भिन्न है। उत्तर प्रदेश, बम्बई, बिहार और आन्ध्र की जनसंख्या शेष सभी इकाइयों की कुल जनसंख्या के बराबर है। सबसे अधिक जनसंख्या उत्तर प्रदेश की है। इसकी जनसंख्या जम्मू-कश्मीर, आसाम, केरल उड़ीसा और मैसूर की सम्मिलित जनसंख्या से भी अधिक है। आंध्र में राजस्थान और पंजाब से अधिक है। बम्बई की जनसंख्या मध्य प्रदेश और मैसूर से भी अधिक है। दिल्ली की जनसंख्या हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा और दोनों द्वीप समूहों से भी अधिक है।

गाँवों और शहरों की जनसंख्या—भारत की ८२.८ प्रतिशत जनसंख्या देहातों में रहती है। देहातों की जनसंख्या २९,५०,०४,२७१ और शहरों की ६,१८,२५,२१८ है।

जनसंख्या का पेशेवार विभाजन—सन् १९५१ की जन गणना की रिपोर्ट की नवीनता यह है कि इसमें समूची आबादी को पेशों के अनुसार विभक्त किया गया है। समूची आबादी को कृषिजीवी और अकृषिजीवी दो श्रेणियों में बाँटा गया है।

(अ) कृषिजीवियों की जनसंख्या

श्रेणी	आश्रितों सहित जनसंख्या
१—भू स्वामी	१६,७३,००,०००
२—जो भू स्वामी नहीं हैं	३ १५,००,०००
३—कृषि मजदूर	४,४७,००,०००
४—केवल लगान वसूल करने वाले भू स्वामी	५३ ००,०००
(आ) अकृषिजीवियों की जनसंख्या	
१—कृषि के अतिरिक्त अन्य उत्पादन काम करने वाले	३,७६,००,०००
२—व्यापारी	२,१२,००,०००
३—नौकरी आदि धन्धे वाले	४,२८,००,०००
४—यातायात जीवी	५६,००,०००

जनसंख्या की वृद्धि (Growth of Population)
(१८९१–१९५१) (लाखों में)

जनसंख्या वर्ष	जनसंख्या	वृद्धि (+) या कमी (–) गत दशक में
१८९१	२,३५६	
१९०१	२,३५५	–४
१९११	२,४९०	+१३५
१९२१	२,४८१	–६
१९३१	२,७५५	+२७४
१९४१	३,१२८	+३७३
१९५१	३,५६९	+४४१

भारतवर्ष में सबसे पहले मनुष्य गणना सन् १८७२ ई० में हुई थी। तब से प्रत्येक दसवें वर्ष गणना होती है। कुछ वर्षों के जन गणना के अंक ऊपर तालिका में दिये गये हैं। इन अंकों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि जनसंख्या की वृद्धि में बड़ी अनियमितता (Irregularity) रही है। समय-समय पर अकाल और महामारियों के प्रकोप ही इस अनियमितता के मुख्य कारण हैं। सन् १९२१ से तीस वर्षों के भीतर लगभग ११ करोड आबादी बढ़ी। सन् १९२१ के पहले और बाद की वृद्धि में पर्याप्त अन्तर रहा है। सन् १९२१ के पूर्व जनसंख्या अकाल, महामारी आदि से कम होती रही तथा साधारण जनसंख्या में अधिक उत्पन्न होना रहा, परन्तु बाद के वर्षों में साधारण या उत्पादन जनसंख्या वृद्धि में पीछे रह गया। सन् १९४१ से १९५१ के भीतर जनसंख्या में ४'४ करोड़ की वृद्धि हुई जो १२'५ प्रतिशत होती है।

भारतीय जनसंख्या में पुरुषों और स्त्रियों का अनुपात—औसतन देश में एक हजार पुरुषों के पीछे ९४७ स्त्रियां हैं। भारत के सभी राज्यों में पुरुषों की संख्या स्त्रियों से अधिक है, परन्तु उडीसा, मनीपुर, मद्रास, सौराष्ट्र केरल में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है जो क्रमशः प्रति हजार पुरुषों के पीछे १००२ १००६, १००८ और १०७६ है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या सबसे कम अण्डमान निकोबार में है जहाँ एक हजार पुरुषों के पीछे ६२५ स्त्रियाँ हैं। दिल्ली में भी स्त्रियों की संख्या कम है अर्थात् एक हजार पुरुषों के पीछे ७६८ है। पश्चिमी बंगाल, आसाम, कुर्ग, पंजाब और पेप्सू राज्यों में भी स्त्रियों की संख्या प्रति हजार पुरुषों के पीछे ९०० से कम है।

भारतीय जनसंख्या की विशेषताएँ—भारतीय जनसंख्या की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

(१) भारत की जनसंख्या चीन को छोड़कर संसार में सबसे अधिक है। संसार के ⅙ मनुष्य यहीं निवास करते हैं।

(२) यहाँ की जनसंख्या में दुर्भिक्ष या महामारियों के कारण बड़ी अनियमितता रही है। फिर भी गत पचास वर्षों में अविभाजित भारत में ११ करोड़ की वृद्धि हुई।

(३) भारत के समस्त भागों में जनसंख्या की वृद्धि समान नहीं रही है। जैसे दक्षिणी भाग की अपेक्षा उत्तरी भाग की जनसंख्या अधिक बढ़ी।

(४) भारतीय जनसंख्या देश के आर्थिक साधनों के विकास की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ रही है।

(५) भारत में वार्षिक जन्म-संख्या ३४'३ और मृत्यु संख्या २४ ९ प्रति हजार है जो संसार में सबसे अधिक है। इसी प्रकार अन्य प्रगतिशील देशों की अपेक्षा भारत में औसत जीवन काल भी बहुत कम है अर्थात् २७ वर्ष है।

(६) जनसंख्या के घनत्व में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है, जैसे मरुस्थली भाग में १ वर्ग मील में केवल १० मनुष्य ही रहते हैं जबकि बंगाल जैसे घने बसे हुए राज्य में ८०० मनुष्य प्रति वर्ग मील रहते हैं।

(७) मनुष्यों के पेशे के बटवारे में भी पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। उदाहरणार्थ ७० प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या खेती पर निर्वाह करती है।

(८) पुरुषों और स्त्रियो के अनुपात मे भी अन्तर पाया जाता है। साधारणतया देश मे एक हजार पुरुषों के पीछे ९४७ स्त्रियां हैं। पजाब मे स्त्रियो की सख्या ८४७ है और मद्रास मे १००८ है।

जनसख्या का घनत्व (Density of Population)—किसी स्थान पर औसतन प्रति वर्ग मील जितने व्यक्ति रहते है उसे उस स्थान की जनसख्या का 'घनत्व' कहते है। यदि बगाल की जन-सख्या का घनत्व ८०० है, तो इसका अर्थ यह है कि वहां प्रति वर्ग मील आठ सौ मनुष्य रहते है। समस्त भारत का औसत घनत्व ३१२ है, परन्तु घनत्व का औसत भिन्न भिन्न राज्यो मे भिन्न-भिन्न है। एक ओर तो दिल्ली राज्य मे घनत्व ३०१७ और केरल मे १०१५ और दूसरी ओर अडमन व निकोबार द्वीपो मे यह १० और सौराष्ट्र मे ३८ ही है। निम्नांकित सारणी द्वारा भारतवर्ष के विभिन्न राज्यो का औसत घनत्व दिखाया गया है :—
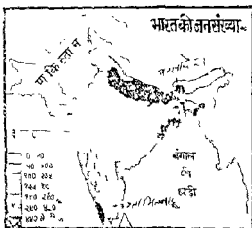
जनसख्या के घनत्व के अनुसार राज्यो का क्रम

क्रम सख्या	राज्य	घनत्व	क्रम सख्या	राज्य	घनत्व
१.	केरल	९०७'८	१२.	राजस्थान	१२० ९
२.	प० बगाल	७८७ २	१३.	आसाम	१०५'९
३	मद्रास	५९९'१	१४.	जम्मू व काश्मीर	४७ ४
४.	बिहार	५३३'५			
५.	उत्तर प्रदेश	५५७'३		केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्र	
६.	पजाब	३४३ २	१.	दिल्ली	३०१० ३
७.	आंध्र	२९२ ०	२	त्रिपुरा	१८८'७
८.	मैसूर	२६० ४	३	हिमाचल प्रदेश	९३'७
९.	बम्बई	२५३'९	४.	मणिपुर	९६'९
१०.	उडीसा	२४२'७	५.	लकदीव व अमनदीव	०'१
११.	मध्य प्रदेश	१५२'५	६	अडमन व नीकोबार	०'९

जनसख्या के घनत्व के अनुसार ससार के कुछ देश

देश	घनत्व	देश	घनत्व
१. हालैण्ड (नीदरलैण्ड)	८२५·३	७. भारत	३१२
२. बेलजियम	७३४·४	८. स्विट्जरलैंड	२८८
३. जापान	५७५·४	९. फ्रान्स	१९२
४. इङ्गलैंड	५३७·८	१०. अमेरिका	४९
५. जर्मनी (पश्चिमी)	५०२·७	११. आस्ट्रेलिया	३
६. इटली	४०४·६	१२ कनाडा	३

जनसख्या के घनत्व की विभिन्नता के कारण—जनसख्या के दबाव का असली पता उसके घनत्व से चलता है। कुछ राज्यों की तो जनसख्या बहुत ही घनी है, जबकि दूसरे राज्यों की जनसख्या बहुत ही कम है। घनत्व की इस विभिन्नता के कई कारण है, उनमे से मुख्य निम्नलिखित है :—

१ भूमि का धरातल (Configuration)—समतल भूमि पर भली प्रकार खेती होने के कारण वहा घनी जनसख्या का निर्वाह हो सकता है, जैसे बगाल, बिहार आदि। पहाडी भूमि मे खेती मे कठिनाई होने के कारण जनसख्या का घनत्व भी गिर जाता है। यही कारण है कि दक्षिणी पठार की आबादी कम है।

२. मिट्टी (Soil)—उपजाऊ भूमि मे अधिक जनसख्या का निर्वाह हो सकता है, जैसे—नदियो से लाई हुई दुमट मिट्टी।

३. वर्षा (Rainfall)—भारत मे जनसख्या का घनत्व अधिक वर्षा के साथ-साथ चलता है। भारतवर्ष मे उत्तम जनसख्या के घनत्व के लिए लगभग ४०" वर्षा पर्याप्त है। इस औसत वर्षा मे न्यूनता आ जाने के कारण जनसख्या के घनत्व का वितरण भी घट जाता है। मरुस्थली भागो म जनसख्या का घनत्व इसी कारण कम होता है।

४. सिंचाई (Irrigation)—जहाँ वर्षा की कमी को पूरा करने के लिये सिंचाई के साधन उपस्थित होते है, वहाँ जनसख्या के घनत्व पर वही प्रभाव पडता है जो उत्तम वर्षा का पडता है।

५. जलवायु (Climate)—जनसख्या के घनत्व पर जलवायु का बडा प्रभाव पडता है। भूमि के उपजाऊ तथा अच्छी वर्षा होने पर भी यदि वहाँ का जलवायु अस्वास्थ्यकर है, तो जनसख्या का घनत्व बहुत कम होगा। यही कारण है कि आसाम मे अस्वास्थ्यकर जलवायु होने के कारण जनसख्या का घनत्व बहुत कम है।

६. सुरक्षा (Security)—जिन स्थानो मे जन-धन सुरक्षित होता है वहाँ आबादी का घनत्व अधिक होता है। आज कल भारत और पाकिस्तान की सीमा पर जन धन की सुरक्षा के अभाव मे जन-सख्या का घनत्व भी कम है।

७. यातायात (Transport)—सस्ते व शीघ्र यातायात के साधनों के कारण मार्केटिंग तथा व्यापारिक व्यवस्थाओं में सुधार हो जाने के कारण जनसंख्या का घनत्व भी अधिक हो जाता है। यातायात के साधनों की कमी के कारण मध्य प्रदेश और आसाम में जनसंख्या का घनत्व कम है।

८. आर्थिक साधन (Economic Resources)—जिन क्षेत्रों में खनिज पदार्थ आदि जैसे आर्थिक साधन विद्यमान होते हैं, वहाँ जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है। जैसे—बंगाल और बिहार में अन्य स्थानों की अपेक्षा कोयला और लोहे की खानों के निकट जनसंख्या अधिक है।

९. आवास-प्रवास (Immigration & Migration)—आवास से जनसंख्या का घनत्व बढ़ता है और प्रवास से कम होता है।

१०. औद्योगिक विकास (Industrial Development)—कृषि विकास की अपेक्षा औद्योगिक विकास में अधिक जनसंख्या का निर्वाह हो सकने के कारण औद्योगिक उन्नति वाले क्षेत्रों में जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है। बम्बई, जमशेदपुर, कानपुर और कलकत्ता आदि इसी बात की पुष्टि करते हैं।

स्वास्थ्य और जन्म-मरण के आँकड़े

स्वास्थ्य (Health)—किसी देश की आर्थिक दशा वहाँ के निवासियों के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर निर्भर होती है। भारतवासी प्रायः दुर्बल होते हैं। उनका स्वास्थ्य अन्य उन्नत देशों के मनुष्यों की अपेक्षा गिरा हुआ है। निर्धनता, अशिक्षा, अविज्ञता इसके प्रधान कारण हैं। अधिकांश भारतवासियों का जीवन-स्तर नीचा है। सुख व विलास वस्तुओं का तो प्रश्न ही नहीं, उन्हें भर-पेट भोजन तथा शरीर रक्षा के लिए पर्याप्त वस्त्र भी उपलब्ध नहीं होते। रहने के लिये कच्चे, गन्दे, अंधेरे और अस्वास्थ्यकर मकान हैं। भला ! ऐसी अवस्था में उनसे अच्छा स्वास्थ्य बनाये रखना और भयंकर बीमारियों का सामना करने की आशा दुराशा मात्र ही है। भारतवर्ष में प्रायः इन बीमारियों का प्रकोप विशेष पाया जाता है—हैजा, प्लेग, मलेरिया, चेचक, मोतीझरा, कालाआजार, हुकवर्म, क्षयरोग आदि।

प्रतिन भारतवर्षीय मेडीकल रिसर्च कान्फ्रेंस का यह निष्कर्ष है कि रोकी जा सकने वाली बीमारियों से औसतन ५० से ६० लाख मनुष्यों की मृत्यु प्रतिवर्ष भारत में होती है, और इसी कारण औसतन प्रति व्यक्ति के वर्ष में दो या तीन मास नष्ट हो जाते हैं। इससे औसतन प्रति व्यक्ति की कार्य कुशलता में २० प्रतिशत ह्रास होना बताया गया है। भारत में जो बच्चे जन्म लेते हैं उनमें से केवल २० प्रतिशत ही कमा-खाने की आयु तक पहुँच पाते हैं।

भारतवासियों के स्वास्थ्य को सुधारने के लिए निर्धनता निर्मूल कर उनके जीवन स्तर को ऊपर उठाना तथा साथ-ही साथ शिक्षा का प्रसार करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रचार द्वारा जनता को स्वास्थ्य सम्बन्धी बातों का ज्ञान कराना भी स्वास्थ्य सम्पादन के लिए आज-कल एक आवश्यकीय वस्तु समझी जाती है। स्वास्थ्य सेवा पहुँचाने वाले योग्य व्यक्तियों और सुसंगठित संस्थाओं का पूर्ण अभाव है। अस्तु, स्वास्थ्य-सम्बन्धी अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान कर भारतवासियों के स्वास्थ्य सुधारने की योजनाओं को राज्य द्वारा प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

जन्म मरण के आँकड़े (Vital Statistics)—जन्म मरण सम्बन्धी सभी बातों के आँकड़ों को अँग्रेजी में 'वाइटल स्टैटिस्टिक्स' कहते हैं। भारतवर्ष में जन्म मरण संख्या संसार में सबसे अधिक है, इस बात का पता निम्नांकित तालिका से चलता है —

देश	जन्म संख्या	मृत्यु संख्या
भारत	३३	२२
इटली	२७	१४
हालैंड	२३	९
फ्रांस	१८	१६
युनाइटेड किंगडम	१७	१२
जर्मनी	१७	११

भारत में अधिक जन्म-संख्या के कारण—भारत में अत्यधिक जन्मसंख्या होने के कारण निम्नलिखित हैं —

(१) विवाह की अनिवार्यता (Universality of Marriage)—भारतवर्ष में, विशेषतया हिन्दुओं में, विवाह कर पुत्र प्राप्त करना एक पवित्र धार्मिक एवं सामाजिक कर्त्तव्य माना जाता है क्योंकि इनमें यह विश्वास प्रचलित है कि बिना पुत्र के परलोक में मुक्ति नहीं होती। अस्तु, विवाह की अनिवार्यता जन्म संख्या की वृद्धि में सहायक है।

(२) शीघ्र विवाह करने की प्रथा (Early Marriage)—प्रचलित प्रथा के अनुसार देश के लगभग ६० प्रतिशत विवाह अल्प आयु में ही हो जाते हैं जिसमें सन्तानोत्पत्ति में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है।

(३) निवारक या कृत्रिम उपायों का अभाव (Absence of Preventive Checks of Birth-Control)—पाश्चात्य देशों में आधुनिक सन्तति निग्रह के उपायों का काम में लाया जाता है जिसके फलस्वरूप वहाँ जन्म-संख्या बहुत कम हो गई है। परन्तु भारत में निर्धनता, अशिक्षितता और धार्मिक विचारों के कारण कृत्रिम उपायों का प्रयोग नहीं किया जाता। पूर्वजों का बताया हुआ मार्ग अर्थात् संयम ब्रह्मचर्य-पालन को भी कोई महत्व नहीं समझते।

(४) निर्धनता (Poverty)—देश में निर्धनता व नीचे जीवन-स्तर के कारण मनुष्यों में आशाहीनता और दूरदर्शिता का अन्त हो गया है। दूरदर्शिता के अभाव में उन्हें अधिक सन्तान के पालन पोषण शिक्षा आदि की कोई चिन्ता नहीं रहती। इसके अतिरिक्त निर्धन लोगों में थोड़ी आयु में ही बच्चे कमाने लगते हैं, अतएव निर्धनता और अधिक जन्म-संख्या का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

(५) अशिक्षा और पिछड़ी हुई दशा (Illiteracy and Backwardness)—अशिक्षा और पिछड़ी हुई दशा में जन्म-संख्या का अत्यधिक होना

स्वाभाविक है । शिक्षा मनुष्य को कर्त्तव्य परायण बनाती है, अशिक्षा मनुष्य को विपरीत पाठ पढ़ाती है । अस्तु, जन्म-संख्या बढ़ाकर अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना कराना अशिक्षा का ही कार्य है ।

(६) गर्म जलवायु (Warm Climate)—देश की गर्म जलवायु के कारण लड़कियों का शीघ्र विवाह कर दिया जाता है ।

भारत में अधिक मृत्यु-संख्या के कारण—भारतवर्ष में मृत्यु-संख्या के अत्यधिक होने के निम्नलिखित कारण हैं :- -

(१) व्यापक निर्धनता (Chronic Poverty)—निर्धनता के कारण खाने-पीने की अच्छी वस्तुएँ उपलब्ध नहीं होतीं जिसके कारण मनुष्यों में बीमारियों का सामना कर विजय प्राप्त करने की सामर्थ्य नहीं रहती ।

(२) महामारियों का प्रकोप (Prevalence of Epidemics)—मलेरिया, प्लेग, इन्फ्लूएंजा, क्षय रोग आदि भयंकर बीमारियों द्वारा प्रतिवर्ष एक बड़ी संख्या में भारतवासी मौत के घाट उतारे जाते हैं ।

(3) अशिक्षिता (Illiteracy)—इसके कारण लोग स्वास्थ्य और दीर्घायु सम्बन्धी नियमों से अनभिज्ञ रहते हैं ।

चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव (Lack of Medical Facilities)—चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं का, विशेषतया गाँवों में, पूर्ण अभाव होने के कारण मृत्यु-संख्या अधिक होना स्वाभाविक है ।

मृत्यु-संख्या की दो मुख्य विशेषताएँ—भारतवर्ष में मृत्यु-संख्या की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं—एक तो स्त्रियों की अत्यधिक मृत्यु संख्या और दूसरी ऊँची बाल-मृत्यु-संख्या ।

भारत में स्त्री-मृत्यु—भारत में स्त्रियों की मृत्यु-संख्या बहुत अधिक है । उनकी मृत्यु विशेषतया सन्तानोत्पत्ति के समय १५ से ४० वर्ष की आयु के बीच में अधिक होती है, इसके कतिपय कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) सामाजिक कुप्रथाएँ—पर्दा प्रथा जैसी सामाजिक कुप्रथाओं के कारण स्त्रियों को मकान की चाहरदीवारी में बन्द रहना पड़ता है जिसके फलस्वरूप उन्हें स्वच्छ वायु, सूर्य का प्रकाश तथा उपयुक्त व्यायाम उपलब्ध नहीं होता । इससे उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और वे अल्प आयु में ही काल का ग्रास हो जाती हैं ।

(२) सस्ता स्त्री जीवन—कुछ वर्ग के लोगों में जीवन बड़ा सस्ता समझा जाता है अतः उनके स्वास्थ्य के बारे में उचित ध्यान नहीं दिया जाता । इसी कारण शिशु-काल में भी बालिकाओं के पालन-पोषण की उपेक्षा की जाती है ।

(3) अल्प आयु में विवाह होना—बाल विवाह की कुरीति के कारण लड़कियों का विवाह छोटी आयु में ही कर दिया जाता है । उनका अपरिपक्व अवस्था में विवाह होना उन्हें निर्बल और रोगग्रस्त बना देता है । स्नायु-दुर्बलता, राज-यक्ष्मा और अन्य अनेक प्रकार के रोग युवावस्था ही में उनके जीवन को समाप्त कर देते हैं ।

(४) अशिक्षित दाइयाँ—प्रसव-काल में अशिक्षित दाइयाँ अपने गलत और हानिकारी उपायों के प्रयोग से कई एक स्त्रियों के जीवन को खतरे में डाल देती हैं ।

(५) मजदूर स्त्रियों को पर्याप्त विश्राम नहीं मिलना—कारखानों में काम करने वाली स्त्रियों को बच्चा उत्पन्न होने के पूर्व और पश्चात् पर्याप्त विश्राम नहीं मिलने के कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और वे दुर्बल व रोगग्रस्त होकर शीघ्र ही अपनी जीवन यात्रा समाप्त कर देती हैं।

(६) निर्धनता (Poverty)—निर्धनता के कारण हमारे अधिकांश देशवासियों को पेट भर भोजन और पर्याप्त वस्त्र प्राप्त नहीं होते। ऐसी अवस्था में जब स्त्रियों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और वे रोग-ग्रस्त हो जाती हैं तो उनका उचित रीति से उपचार नहीं हो पाता। अतः वे शीघ्र ही काल का ग्रास हो जाती हैं।

भारत में बाल मृत्यु—(Infantile Mortality in India)—भारत में बाल-मृत्यु संख्या सबसे अधिक है। भारतवर्ष में पैदा होने वाले बच्चों में से [illegible] तो एक वर्ष की आयु में ही अपने जीवन लीला को समाप्त कर देते हैं। बाल मृत्यु संख्या गाँवों की अपेक्षा शहरों में अधिक है। भारत के सबसे बड़े नगर कलकत्ता और बम्बई में बाल मृत्यु-संख्या क्रमशः २१० और २०१ है जबकि ग्रेट ब्रिटेन में यह ६५ होती है।

अत्यधिक बाल मृत्यु संख्या के कारण—भारत में अत्यधिक बालकों की मृत्यु निम्नलिखित कारणों से होती है :—

(१) माताओं का बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य—छोटी आयु में विवाह होना आदि बातें जो माँ के स्वास्थ्य को बिगाड़ कर काल का ग्रास बना देती हैं वे सब बातें बच्चे की आयु के लिए भी घातक सिद्ध होती हैं। अस्वस्थ, रोग ग्रस्त और अशक्त माता के बच्चे अति अल्प आयु में ही मृत्यु का ग्रास हो जाते हैं।

(२) अशिक्षित व अनभिज्ञ माताओं द्वारा पालन-पोषण—भारतवर्ष में अधिकांश माताएँ शिशु पालन पोषण के नियमों से अनभिज्ञ हैं और उनके अशिक्षित होने के कारण यह कार्य उचित रीति-नीति से नहीं हो पाता। अतः उनकी लापरवाही से बच्चे रोगग्रस्त होकर शीघ्र ही अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर देते हैं।

(३) अस्वच्छ वातावरण और दाइयों के गन्दे ढंग—प्रसूति-गृह की अस्वच्छता, दाइयों की अशिक्षा एवं उनके गन्दे ढंग आदि के कारण बच्चे व शिशु संसार में प्रवेश करते ही समाप्त हो जाते हैं।

(४) निर्धनता (Poverty)—जन साधारण की दरिद्रता के कारण बच्चों के पालन-पोषण, खान-पान तथा चिकित्सा आदि की व्यवस्था नहीं हो पाती। अतः वे कमजोर होकर जल्दी ही मर जाते हैं।

(५) माताओं को पालन-पोषण के लिए उचित अवकाश दुष्प्राप्य—कभी [illegible] के लिए माताओं को कारखानों में दिन भर काम करना पड़ता है जिसके कारण उन्हें बच्चों की देख रेख करने का उचित समय नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त प्रसव-काल के पहले और बाद में उन्हें विश्राम नहीं मिलने के कारण बच्चों के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है।

(६) अफीम आदि मादक वस्तुओं का प्रयोग—प्रायः करके माताओं को घर का कामधंधा अधिक करना पड़ता है। इसलिए वे बच्चों से छुटकारा पाने के लिये उन्हें अफीम खिला कर घण्टों तक सोने के लिए बाध्य कर देती हैं। इससे बच्चों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है।

भारत में स्त्री और बाल मृत्यु संख्या को कम करने के उपाय (Remedies)

(१) विवाह सम्बन्धी शारदा एक्ट को सख्ती से काम में लाना और विवाह की आयु बढ़ाना अति आवश्यक है।

(२) प्रसूति गृहों की स्थापना और शिक्षित दाइयों की सेवाएँ तथा साधारण चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ सर्व साधारण को उपलब्ध होनी चाहिए।

(३) स्वास्थ्य सम्बन्धी बातों, सन्तान-निग्रह के कृत्रिम ढंगों और शिशु पालन पोषण के नियमों की जानकारी जन साधारण को कराना लाभदायक सिद्ध होगा।

(४) बच्चों के लिए अफीम आदि मादक वस्तुओं के प्रयोग का निषेध होना चाहिए।

(५) नगरों और औद्योगिक केन्द्रों में सफाई व स्वास्थ्य सम्बन्धी बातों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। गाँवों में भी स्वच्छ पीने के जल आदि की व्यवस्था होनी चाहिए।

(६) कुनैन आदि औषधियों का निःशुल्क वितरण और अनिवार्य टीका लगाने की व्यवस्था वाञ्छनीय है।

(७) लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाना चाहिए।

(८) दरिद्रता को दूर करने वाले समस्त उपायों का सरकार द्वारा प्रयोग नितान्त आवश्यक है।

भारत में औसत जीवन काल (Average Life in India)—उपर्युक्त प्रतिकूल दशाओं में भारतीयों का अल्प आयु होना स्वाभाविक है। अल्प आयु देश की आर्थिक अवनति का एक मुख्य कारण है। भारतवर्ष में मनुष्य का औसत जीवन-काल केवल २७ वर्ष का ही है जबकि न्यूजीलैंड के मनुष्यों का ७० वर्ष संयुक्त राज्य अमेरिका

देश	औसत जीवन काल
न्यूजीलैंड	७० वर्ष
सं० रा० अमेरिका	६५ ,,
ब्रिटेन	६२ ,,
जर्मनी	६२ ,,
फ्रांस	५७ ,,
जापान	४७ ,,
भारत	२७ ,,

का ६५ और इंगलैंड का ६२ वर्ष है। तुलनात्मक दृष्टि से औसत जीवन काल का अध्ययन नीचे दिये गये चित्र द्वारा भली-भाँति हो सकता है। जीवन-काल का विषय हमारे लिये बड़ा महत्व रखता है। यदि हमारी औसत आयु बढ़ जाय तो हम अधिक काल तक जीवित रह कर काम कर सकेंगे जिसमें देश का अधिक भला हो सकेगा—

(२) यूरोप के देशों की अपेक्षा भारतवर्ष में जनसंख्या का घनत्व (Density) बहुत कम है, इसलिए यहाँ अति जनसंख्या होना नहीं कहा जा सकता। परन्तु इतनी कम जनसंख्या का घनत्व भी यहाँ की आर्थिक पिछड़ी हुई अवस्था में भार स्वरूप है।

(३) प्रति व्यक्ति आय का बढ़ना अति जनसंख्या की समस्या को पुष्ट नहीं करता है। लेकिन जो कुछ आय में वृद्धि हुई है वह नहीं के बराबर है।

अति-जनसंख्या के पक्ष की बातें

(१) माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त भारतवर्ष में पूर्णतया लागू होता है। यहाँ विवाह की अनिवार्यता, सन्तति-निग्रह के निवारक या कृत्रिम उपायों का अभाव उत्पत्ति-ह्रास नियम को रोकने की असमर्थता, दुर्भिक्ष, युद्ध आदि या प्रकोप औद्योगिक पिछड़ी हुई अवस्था के कारण माल्थस का सिद्धान्त बिल्कुल यथार्थ सिद्ध हो रहा है। अतः इस आधार पर भारत में अति जनसंख्या कहना अनुचित नहीं होगा।

(२) सर्वोत्तम जनसंख्या के सिद्धान्तानुसार भी अति-जनसंख्या का होना सिद्ध होता है। जनसंख्या देश के आर्थिक साधनों के विकास से कहीं अधिक होने के कारण प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है।

(३) उपलब्ध होने वाली खाद्य सामग्री द्वारा भी अति-जनसंख्या सिद्ध होती है। श्री पी० के० वाटल के अनुसार जनसंख्या १ प्रतिशत बढ़ी है जबकि खाद्य पदार्थों के उत्पादन में केवल ०·६५ प्रतिशत ही वृद्धि हुई है। देश के विभाजन के कारण खाद्य पदार्थों में और भी न्यूनता आ गई है। अस्तु, बड़ी मात्रा में विदेशों से खाद्य पदार्थ मँगाना पड़ता है।

(४) खेतों का छोटे छोटे टुकड़ों में बँटा हुआ होना, भूमि-रहित श्रमिकों की संख्या की वृद्धि आदि कई ऐसे अप्रत्यक्ष प्रमाण भारत में अति-जनसंख्या का होना सिद्ध करते हैं।

अति-जनसंख्या की समस्या को सरल करने के उपाय

(१) कानून द्वारा सामाजिक रीति-रिवाजों में सुधार कर विवाह की आयु को बढ़ाना वाछनीय है।

(२) सन्तति-निग्रह के कृत्रिम उपायों के प्रयोग के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। परिवार योजना (Family Planning) का प्रचार किया जाय।

(३) शिक्षा का प्रसार अति आवश्यक है।

(४) आर्थिक साधनों का विकास—कृषि, उद्योग धन्धा और यातायात व संवाद के साधनों की उन्नति होना परम आवश्यक है। यही दरिद्रता-नाशक अचूक औषधि है।

(५) घनी आबादी वाले लोग कम आबादी वाले भागों में जाकर बस सकते हैं।

(६) भारत में जिन वस्तुओं का उत्पादन आवश्यकता से अधिक है (जैसे चाय, अभ्रक आदि), उन्हें विदेशों को निर्यात कर उनके बदले में रुपया न लेकर खाद्य पदार्थ प्राप्त किए जायें।

(७) चकबन्दी अर्थात् छोटे-छोटे खेतों को मिलाकर बड़े खेत बनाने की योजनाओं को प्रोत्साहन देने से कृषि की उन्नति हो सकती है।

(८) कुटीर व्यवसायों का पुनरुत्थान भी एक आवश्यक आर्थिक सुधार है। विशेषतया देहातों में उपयुक्त कुटीर व्यवसायों की स्थापना होनी चाहिये।

(९) प्रान्तीयता एवं जातीयता की भावना को समूल नष्ट किया जाय।

(१०) नगरों की अपेक्षा गावों की उन्नति का पूरा ध्यान रखा जाय।

जनसंख्या और योजना—द्वितीय योजना में परिवार नियोजन (Family Planning) के लिये रखे गये ४·९७ करोड़ रुपया में से ४ करोड़ रुपये केन्द्र के लिये तथा ९७ लाख रुपये राज्यों के लिये निर्धारित किये गये हैं। इसी योजना काल में २,००० उपचारालय ग्रामीण क्षेत्रों में तथा ५०० उपचारालय शहरी क्षेत्रों में खोले जायगे। सन् १९५६ से १९६० तक ३१३ शहरी तथा ६६५ ग्रामीण उपचारालय स्थापित किये जा चुके हैं। परिवार नियोजन सम्बन्धी कार्यक्रम तैयार करने के लिये केन्द्र में एक 'उच्चाधिकार परिवार नियोजन मण्डल' स्थापित किया गया है। जनता को पुस्तिकाओं, प्रदर्शिनियों तथा चलचित्रों की सहायता से परिवार नियोजन सम्बन्धी कार्यक्रम से अवगत कराया जा रहा है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—जनसंख्या के घनत्व का अर्थ समझाइए। भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागों में यह भिन्न भिन्न क्यों है? कारण लिखिये। (अ० बो० १९५७ ५५, उ० प्र० १९५५ ५२)

२—भारत की वर्तमान जनसंख्या क्या है? क्या भारत में जनसंख्या का आधिक्य है? कारण सहित लिखिये। (सागर १९५६)

३—भारतीय जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिये किन उपायों की सिफारिशें करेंगे? ग्रामीण लोग आपके सुझावों को कितना ग्रहण कर सकते हैं?

४—भारत में बहुत अधिक और बहुत कम घनी आबादियों के उदाहरण पाये जाते हैं। जनसंख्या के घनत्व के ऐसे बड़े अंतरों के कारणों को समझाइये। क्या लोगों के इस विचार से आप सहमत हैं कि भारत में जनसंख्या अत्यधिक है? अपने उत्तर के प्रमाण भी दीजिये। (अ० बो० १९५६)

५—भारत के विभिन्न भागों में जनसंख्या का घनत्व भिन्न होने के मुख्य कारण क्या हैं? देश के विभाजन का इस पर क्या प्रभाव पड़ा है। (उ० प्र० १९५४)

६—भारत में विशेषतया औद्योगिक केन्द्रों में बाल मृत्यु के क्या कारण हैं? इस दोष को कम करने के उपाय क्या-क्या हैं? (उ० प्र० १९४४)

७—जनसंख्या के घनत्व से आप क्या समझते हैं? वे क्या तथ्य हैं जिनसे जनसंख्या का घनत्व प्रभावित होता है? उदाहरण सहित उत्तर दीजिए। (अ० बो० १९५५, ५३, ४६, ४१)

८—किसी देश में जनसंख्या में वृद्धि के आर्थिक परिणामों का वर्णन कीजिए। (रा० बो० १९५३)

९—भारतीय जनसंख्या के घनत्व सम्बन्धी प्रमुख लक्षणों का उल्लेख कीजिए। क्या आप इस सामान्य मत से सहमत हैं कि भारत में जनाधिक्य है? स्पष्ट कीजिए। (दिल्ली हा० से० १९५१)

अध्याय ३४

श्रम की कार्यकुशलता
(Efficiency of Labour)

श्रम की कार्यकुशलता का अर्थ

श्रम की कार्यकुशलता का अर्थ उसकी उत्पादन-शक्ति से है। कार्यकुशलता का सम्बन्ध श्रमजीवी के उस गुण से है जिसके द्वारा वह एक निश्चित अवधि के भीतर अधिक कार्य भली प्रकार सम्पन्न कर सकता हो। किसी भी श्रमजीवी की योग्यता की परीक्षा इन दो बातों से की जा सकती है—(क) उत्पादन की मात्रा व किस्म, और (ख) उत्पादन का समय। श्रम की कार्यकुशलता एक सापेक्षिक शब्द (Relative Term) है और इसका प्रयोग तुलनात्मक अर्थ में ही होता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई एक श्रमिक निश्चित समय में अधिक उत्पादन करे या दूसरा से पहले कार्य समाप्त कर दे अथवा उसका उत्पादन श्रेष्ठतर हो, तो वह दूसरा की अपेक्षा अधिक कार्यकुशल कहा जाता है। दो श्रमजीवियों की कार्यकुशलता की तुलना के लिए यह आवश्यक है कि उन दोनों के पास एक-सी सामग्री, एक-से यन्त्र और एक सी कार्य-व्यवस्था हो। अन्य बातें समान होने पर, श्रमजीवियों की कार्यकुशलता का निर्णय उस अन्तर से कर सकते हैं जो एक निश्चित समय के भीतर उनकी उत्पत्ति की मात्रा और किस्म में पाया जाता है।

यह तो सभी जानते हैं कि सब श्रमजीवियों की कार्य-कुशलता समान नहीं होती—किसी में कम और किसी में अधिक। एक ही काम में एक-सी दशा में काम करने वालों में से प्रत्येक का उत्पादन भिन्न भिन्न होता है। इसका कारण यही है कि श्रमजीवियों की उत्पादन-शक्ति अलग अलग है। किसी भी देश के उत्पादन के परिमाण और किस्म पर वहाँ के श्रमजीवियों की कार्यकुशलता का बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतएव यहाँ हम कार्यकुशलता को प्रभावित करने वाली बातों का अध्ययन करेंगे।

कार्यकुशलता निर्णय करने वाली बातें
(Factors Determining Efficiency)

वैसे तो श्रमजीवियों की कार्य-कुशलता पर प्रभाव डालने वाली अनेक बातें हैं, परन्तु अध्ययन की सुगमता की दृष्टि से उन्हें निम्नलिखित में बाँटा जा सकता है :—

(अ) श्रमिकों की कार्य करने की योग्यता और इच्छा को प्रभावित करने वाली बातें।

(आ) व्यवस्थापक की व्यवस्था करने की योग्यता को प्रभावित करने वाली बातें।

(अ) श्रमिकों की कार्य करने की योग्यता और इच्छा

श्रम की दक्षता श्रमिकों की कार्य करने की योग्यता और इच्छा पर निर्भर है। यदि किसी व्यक्ति में काम करने की योग्यता तो हो पर इच्छा न हो अथवा इच्छा तो हो पर योग्यता न हो तो वह व्यक्ति कार्यकुशल नहीं हो सकता। अस्तु, हम नीचे उन्हीं बातों का वर्णन करेंगे जो इन दोनों को प्रभावित करती हैं।

१ जातीय एवं पैतृक गुण (Racial & Hereditary Characteristics)—श्रमिक अपने माता पिता और अपनी जाति से कुछ गुणों को प्राप्त करता है। इन गुणों का उसकी कार्यक्षमता पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि इङ्गलैंड और नार्वे के मल्लाह, स्विट्जरलैंड के घड़ी बनाने वाले और इटली के कलाकार आज तक भी संसार में प्रसिद्ध हैं। भारत में जाति प्रथा द्वारा इन जातीय एवं पैतृक गुणों की रक्षा होती है। जैसे—ब्राह्मण की ज्ञानोपार्जन में रुचि देखी जाती है, क्षत्रिय में युद्ध प्रवृत्ति प्रबल होती है। वैश्य प्राय व्यापार में संलग्न रह कर अपनी परम्परा को कायम रखता है। इसी प्रकार पंजाबी श्रमिक बंगाली श्रमिक से श्रेष्ठतर होता है।

२. प्राकृतिक दशाएँ तथा जलवायु (Physical Conditions & Climate)—प्राकृतिक दशाओं और जलवायु का कार्य-कुशलता पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। बहुत ठण्ड और बहुत गर्म जलवायु में अधिक देर तक काम नहीं हो सकता है। सम-शीतोष्ण जलवायु कार्यकुशलता को बढ़ाती है। यही कारण है कि इङ्गलैंड का श्रमिक भारतीय श्रमिक की अपेक्षा अधिक कार्य-निपुण होता है। इसी प्रकार हमारे देश में भी पंजाबी श्रमिक बंगाली श्रमिक से अधिक कार्यक्षमता रखता है। तराई प्रदेशों में मलेरिया प्रधान जलवायु होने से वहाँ के श्रमिकों में दक्षता का अभाव देखा जाता है।

३ जीवन स्तर (Standard of Living)—एक श्रमिक को भली प्रकार काम करने के लिये उपयुक्त और स्वास्थ्यप्रद भोजन, उचित वस्त्र, हवादार और स्वच्छ मकान, चिकित्सा और विश्राम सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध होना आवश्यक है। इन वस्तुओं का प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होना ही ऊँचा जीवन-स्तर कहलाता है। उच्च जीवन-स्तर कार्यक्षमता में वृद्धि करता है। इसके विपरीत इन वस्तुओं के अभाव में जीवन स्तर गिर जाता है जिसके फलस्वरूप मनुष्य उत्तम स्वास्थ्य रखने में असमर्थ हो जाता है और जीवन-यात्रा सम्बन्धी अनेक कठिनाइयों व चिन्ताओं में ग्रस्त होकर अपनी कार्यक्षमता खो बैठता है।

४. सामान्य बुद्धि (General Intelligence)—सामान्य बुद्धि पैतृक भी होती है तथा प्राप्त भी। पैतृक बुद्धि माता पिता और जाति पर निर्भर होती है। प्राप्त-बुद्धि शिक्षा तथा माता पिताओं के प्रभाव का परिणाम है। एक अमेरिकन श्रमिक का एक औसतन भारतीय श्रमिक के विचार में अधिक स्पष्ट और निश्चय में अधिक दृढ़ होना साधारण बुद्धि के महत्त्व को सिद्ध करता है।

५ शिक्षा (Education)—शिक्षा से मनुष्य की मानसिक शक्तियों का विकास होता है, जिससे उसके विचारों की संकीर्णता दूर होकर कार्यक्षमता बढ़ती है। अशिक्षित श्रमिक की अपेक्षा शिक्षित श्रमिक अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को भली प्रकार समझ सकता है। यह तो हुआ साधारण शिक्षा (General Education)

का कार्य। इसके अतिरिक्त कार्यक्षमता के लिये थोड़ी-बहुत औद्योगिक या तान्त्रिक शिक्षा (Technical Education) भी आवश्यक है। तान्त्रिक शिक्षा के द्वारा कोई हुनर या कला सीखी जाती है। इस शिक्षा से सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से किसी कार्य को सम्पन्न करने का ऐसा ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि वह कार्य भली प्रकार कम से कम समय और साधन में किया जा सके। अस्तु कार्यक्षमता के लिये तान्त्रिक शिक्षा भी आवश्यक है। इसीलिए कई प्रगतिशील देशों में प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य बना दी गई है और औद्योगिक शिक्षा के लिये कई सुविधाएँ उपलब्ध हैं। परन्तु अभाग्यवश हमारे देश में दोनों ही बातों का अभाव है।

६. नैतिक गुण (Moral Qualities)—कार्यक्षमता पर श्रमिक के नैतिक गुणों का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। एक कर्त्तव्य-निष्ठ तथा ईमानदार श्रमिक अपना कार्य सचाई, परिश्रम तथा हृदय से करेगा, चाहे उसके कार्य की देख-रेख के लिये निरीक्षक उपस्थित हो या नहीं। परन्तु इसके विपरीत एक कामचोर श्रमिक हर समय काम से जी चुराने और समय के दुरुपयोग करने का प्रयत्न करेगा। चरित्रहीन मनुष्य में कार्य कुशलता अवश्य कम होगी।

७. कार्य करने की स्वतन्त्रता (Freedom)—कार्य करने की स्वतन्त्रता से कार्यकुशलता में वृद्धि होती है। किसी से कोई कार्य बलपूर्वक अथवा कड़े निरीक्षण में कराये जाने से कार्य दक्षता में ह्रास होना स्वाभाविक है। मनुष्य स्वभाव से स्वतन्त्रता-प्रिय है, अस्तु दासतापूर्वक कार्य कदापि कार्यकुशलता नहीं बढ़ा सकता।

८. आशा और परिवर्तन (Hopefulness & Change)—जिस कार्य से भविष्य में उन्नति की आशा नहीं होती है वह प्रायः निरुत्साह पूर्ण हो किया जाता है। श्रमिक के विशेष रूप से पदोन्नति के लिये कोई ऐसी आशाप्रद बात हो जिससे श्रमिक कार्य में कुशलतापूर्वक संलग्न रह सकें। बोनस, पुरस्कार, लाभ विभाजन (Profit-sharing) आदि योजनाएँ इस वस्तु की आवश्यकता की पुष्टि करती हैं। इसके अतिरिक्त कार्य में परिवर्तन होना भी अति आवश्यक है। श्रमिक को निरन्तर एक ही प्रकार का कार्य करते रहने से उस कार्य में अरुचि होना स्वाभाविक है। अस्तु कार्य में उपयुक्त रीति से कभी-कभी सुरुचिपूर्ण परिवर्तन कर देने से नीरसता दूर होकर कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाती है।

९. पारिश्रमिक की पर्याप्तता, समीपता और प्रत्यक्षता (Sufficiency, Nearness and Directness of Reward)—श्रमिक को पर्याप्त पारिश्रमिक मिलना चाहिये जिससे वह उच्च जीवन स्तर रखकर अपनी कार्यक्षमता बढ़ा सके। इसके अतिरिक्त श्रमिक का पारितोषिक प्रत्यक्ष रूप से निकट भविष्य में मिलने से कार्यक्षमता बनी रहती है।

१०. काम करने की दशाएँ (Working Conditions)—जिस स्थान पर श्रमिक काम करता है वहाँ के वातावरण का उसकी कार्यकुशलता पर बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि कारखानों में स्वच्छ वायु, जल, प्रकाश आदि स्वास्थ्यवर्द्धक बातों का उचित प्रबन्ध है, तो श्रमिकों की कार्यकुशलता अवश्य बढ़ी हुई होगी। स्वास्थ्य-जनक सुविधाएँ श्रमिक की योग्यता पर उत्तम प्रभाव डालती हैं।

११. कार्य अवधि (Duration of Work)—यह अनुभव-सिद्ध बात है कि काम करने के घण्टों को कुछ सीमा तक घटा देने से श्रमिक की कार्यक्षमता

बढ़ जाती है। अत्यधिक समय तक काम करने का श्रमिक के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है जिससे उसकी कार्य क्षमता कम हो जाती है। उचित समय विश्राम से भी कार्य क्षमता बढ़ती है। यदि काम करने के साथ साथ थोड़ा समय विश्राम तथा खाने-पीने के लिये मिल जाय तो श्रमिक की थकावट दूर होकर पुनः काम करने के लिए नवीन उत्साह और शक्ति का संचार हो जाता है।

१२ सामाजिक एवं राजनैतिक दशाएं (Social & Political Conditions)—देश की सामाजिक एवं राजनैतिक दशाओं का श्रमिक की दक्षता पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिस देश में अशान्त वातावरण है, जहां जन धन की सुरक्षा का अभाव है अथवा जहां के पूंजीपतियों और श्रमिकों के मध्य संघर्ष चल रहा हो, वहां के श्रमिकों का कार्यकुशलता घटी हुई मिलना स्वाभाविक होगा।

१३ सामाजिक प्रथाएं (Social Customs)—देश की सामाजिक प्रथाएँ भी कार्यकुशलता पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। हमारे देश में वर्ण व्यवस्था के कारण मनुष्य अधिकतर अपना कार्य रुचि के अनुसार नहीं चुन सकता। रुचि हो या नहीं उसे बाध्य होकर अपने वर्ग के अनुकूल ही कार्य करना पड़ता है। जिससे कार्य कुशलता में ह्रास होना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त यहां संयुक्त-परिवार प्रणाली के प्रचलन से कार्यक्षमता को कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता। परन्तु प्रसन्नता की बात तो यह है कि अब ये दोनों ही व्यवस्थाएं शिथिल होती जा रही हैं।

१४ सामग्री की उत्कृष्टता (Best Material & Equipment) श्रमिक की कार्य-कुशलता कुछ अंश तक इस बात पर भी निर्भर है कि वह किस ढंग की मशीनों और कच्चे माल की सहायता से काम करता है। जितनी उत्तम काम करने की सामग्री उसे मिलेगी, उतनी अधिक उसकी कार्यक्षमता में वृद्धि होगी।

१५ श्रमिकों का संगठन (Labour Organisation)—श्रमिक संघ (Trade Union) जैसी श्रमिकों की सुसंगठित संस्थाओं द्वारा उन्हें उचित प्राविधिक शिक्षा दीक्षा और मनोरंजन की सुविधायें प्राप्त हो जाती हैं जिससे उनकी कार्य-क्षमता में वृद्धि होती है। हमारे देश में कई कारणों से अभी इस प्रकार की संस्थाएं पूर्ण रूप से सुसंगठित नहीं हो पाई हैं।

(आ) व्यवस्थापक की व्यवस्था करने की योग्यता को प्रभावित करनेवाली बातें

श्रमिक की कार्य-कुशलता बढ़ाने वाली सभी बातें उपस्थित होने पर भी बिना एक योग्य व्यवस्थापक के उसकी कार्य कुशलता में वृद्धि नहीं हो सकती। यदि कार्य का नियमपूर्वक विभाजन किया जाय प्रत्येक श्रमिक को उसकी योग्यता के अनुसार काम दिया जाय और उपयुक्त मशीनों का उपयोग किया जाय तो कार्यक्षमता में वृद्धि होना निश्चित है। एक योग्य व चतुर व्यवस्थापक वह है जो श्रमिकों को संतुष्ट रखकर उनमें विश्वास और काम करने की सच्ची लगन पैदा कर सके।

भारतीय श्रमिकों की कार्य कुशलता
(Efficiency of Indian Labour)

साधारणतया यही कहा जाता है कि भारतीय श्रमिक अदक्ष एवं अकुशल हैं। इंगलैंड आदि देशों के श्रमिकों की कार्यक्षमता की तुलना भारतवर्ष के श्रमिकों से करने के कितने ही प्रयत्न किये गये हैं। कहा जाता है कि एक जापानी श्रमिक २४० तकलियां (Spindles) की देख रेख करता है अङ्गरेज श्रमिक ५४० से ६०० की,

वधक वस्तुएँ उसे कम मिल सकती हैं। अस्तु उसमें शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक कमियाँ आना स्वाभाविक है। ऐसी दशा में कार्यक्षमता में कमी होना कोई भी चिंताजनक बात नहीं है परन्तु उनकी निर्धनता दूर कर उनके जीवन स्तर को ऊँचा करने का उपाय सोचना चाहिए।

(२) निरक्षरता, अज्ञानता और रूढ़िवादिता (Illiteracy, Ignorance & Conservatism)—अधिकांश भारतीय श्रमिक अशिक्षित और मूर्ख हैं। शिक्षा न मिलने से वे कट्टर अन्धविश्वासी, भाग्यवादी और साहसहीन हो गये हैं। इन सब बातों से श्रमिक की अदक्षता बढ़ती है। प्रो० मार्शल ने यह कार्यकुशलता को प्रभावित करने वाली महत्त्वपूर्ण बात कही है। अतः शिक्षा प्रसार ही इन सबका अचूक उपाय है।

(३) शारीरिक दुर्बलता (Poor Physique)—भारतीय श्रमिक का जीवन-स्तर इतना गिरा हुआ है कि उसे पूरा भर पेट भोजन व पर्याप्त वस्त्र तक उपलब्ध नहीं होते। ऐसी दशा में उसका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और उसकी शारीरिक शक्ति बहुत कम हो जाती है। अस्तु वह अधिक समय तक निरन्तर कठिन परिश्रम करने के लिए अपने आपको असमर्थ पाता है। जीवन-स्तर को ऊँचा उठाकर इस प्रकार की कमियों को दूर किया जा सकता है।

(४) मकानों की दुर्दशा (Wretched Housing Condition)—बड़े बड़े औद्योगिक नगरों में इतनी घनी आबादी है कि श्रमिकों को रहने के लिए पर्याप्त, स्वच्छ तथा हवादार मकान नहीं मिलते। जरा सोचिए अँधेरी, गन्दी, घुटन वाली काल-कोठरियों में रहने वाले भारतीय श्रमिक कैसे अपनी कार्य-कुशलता स्थिर रख सकते हैं। कतिपय विचारकों ने मिल-मालिकों ने इस सम्बन्ध में कुछ व्यवस्था की है परन्तु वह नितान्त सीमित है।

(५) मद्यपान का कुप्रभाव (Evil Effects of Drinks)—श्रमिकों में मद्यपान का आम रिवाज है। मद्यपान भारतीय श्रमिक के लिए थकावट को दूर करने और दर्द के लिए चिन्तामुक्त होने का एकमात्र साधन है। मनोरंजन के अन्य साधन उसे उपलब्ध नहीं होते। ऐसी अवस्था में वह विवश होकर शनैः शनैः मद्यपान द्वारा अपने शरीर, शक्ति और धन को नष्ट कर बैठता है। अतः अन्य मनोरंजन के साधन उपलब्ध कर उनकी मद्यपान की व्यसन छुड़ानी चाहिए।

(६) काम करने की दशाएँ (Working Conditions)—भारतीय कारखानों की दशाएँ जहाँ श्रमिक वर्ग कार्य-संलग्न रहता है संतोषजनक नहीं है। कार्यकुशलता को स्थिर रखने के लिए स्वच्छ जल, वायु, विश्राम आदि की व्यवस्था आवश्यक है।

(७) उत्तम कच्चे माल और मशीनों का अभाव (Lack of Best Raw Material & Machinery)—भारतीय श्रमिक की अदक्षता का मुख्य कारण यह भी है कि जिस कच्चे माल को श्रमिक कारखानों में उपयोग करते हैं वह अच्छा नहीं होता। उसके सुधारने में बहुत सा समय नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जो पुराने और घिसी मशीनें यहाँ के श्रमिकों को काम करने के लिए दी जाती हैं वे भी अच्छे ढंग की नहीं होतीं। इससे श्रमिक की उत्पादन शक्ति और भी गिर जाती है। अस्तु भारतीय श्रमिकों की कार्य कुशलता बढ़ाने के लिए उत्तम मशीनों और कच्चे माल का प्रयोग वांछनीय है।

(८) अनुत्कृष्ट व्यवस्था (Inferior Organisation)—भारतीय कारखानों का प्रबन्ध और व्यवस्था भी सन्तोषजनक नहीं है। देश में अच्छे व्यवस्थापकों का अभाव होने के कारण श्रम-शक्ति का उचित उपयोग नहीं हो पाता। इसलिए यह आवश्यक है कि होनहार भारतीय नवयुवकों को विदेशों में इस कार्य की शिक्षा के लिए भेजना चाहिए।

(९) गर्म जलवायु (Hot Climate)—इस देश के गर्म जलवायु का श्रमिक के मस्तिष्क और शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ता है। गर्म जलवायु में अधिक समय तक कार्य कुशलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। बिजली के पंखा और नमीकरण यंत्रों (Humidifiers) आदि कृत्रिम साधनों द्वारा कुछ अंश तक कठिनाई दूर की जा सकती है।

(१०) काम के घंटे (Working Hours)—गर्म जलवायु में बड़ी देर तक काम करते रहने से कुशलता में ह्रास होना स्वाभाविक है। भारतीय कारखानों में कानूनों द्वारा काम करने के घंटे अवश्य कम कर दिये गये हैं किन्तु ऐसे गर्म जलवायु को देखते हुए वे और भी कम होने चाहिए। वर्तमान समय में सदा चलने वाले कारखानों में ४८ घंटा का सप्ताह और मौसमी कारखानों में ५४ घंटों का है। परन्तु यह कानून कई छोटे कारखानों में लागू नहीं होता है।

(११) स्वतन्त्रता और आशा का अभाव (Lack of Freedom & Hopefulness)—पराधीनता का भी कार्यक्षमता पर विशेष प्रभाव पड़ता है। कड़े निरीक्षण और आशा के अभाव में श्रमिक की कार्यक्षमता में कमी होना स्वाभाविक है।

(१२) शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव (Lack of Educational Facilities)—भारतवर्ष में साधारण एवं औद्योगिक शिक्षा की सुविधाओं का अभाव है। अन्य प्रगतिशील देशों की भाँति यहाँ पर भी कम-से-कम प्राथमिक शिक्षा तो अनिवार्य होना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त अधिकाधिक शिक्षा संस्थाएँ खोलकर औद्योगिक अथवा तान्त्रिक (Technical) शिक्षा सम्बन्धी सुविधायें सुगम एवं सुलभ करना चाहिये। साधारण शिक्षा श्रमिक का मानसिक-विकास करती है और तान्त्रिक या औद्योगिक शिक्षा से व्यावहारिक अज्ञानता दूर होकर कार्य-विकास क्षमता की वृद्धि होती है।

गतिशीलता

(१३) पर्यटनशीलता (Migratory Character)—भारतीय श्रमिक केवल कारखानों पर ही निर्भर नहीं रहते। वे कारखानों में तभी काम करने आते हैं जब खेतों पर कोई काम नहीं होता और जब खेतों पर काम होता है तब वे कारखानों का काम छोड़कर वापस चले जाते हैं। अतः उनका कारखानों से अस्थायी सम्बन्ध होता है। ऐसी अवस्था में उनकी दक्षता में न्यूनता आना स्वाभाविक है। औद्योगिक केन्द्रों में श्रमिकों को स्थायीरूप से रहने का प्रोत्साहन देने के लिए शहरी जीवन में सुधार कर उसे आकर्षक बनाना चाहिए।

(१४) ऋण-ग्रस्तता (Indebtedness)—अधिकांश भारतीय श्रमिक ऋण-ग्रस्त होते हैं अतः कुशलता वृद्धि के प्रयत्नों के लिये वे प्रायः उदासीन ही रहते हैं। ऋण प्रगति में बाधक सिद्ध होता है। अस्तु, श्रमिकों को शीघ्रातिशीघ्र ऋण-मुक्त किया जाय और सहकारी आन्दोलन द्वारा उन्हें मितव्ययता का पाठ पढ़ाया जाय।

(आ) शिल्पकारों की अकुशलता के कारण (Causes of Inefficiency of Artisans)

(१) उचित व्यवस्था का अभाव (Lack of Proper Organisation)

(२) उत्पत्ति के पुराने ढंग (Old Methods of Production)

(३) आधुनिक यन्त्रों व उपकरणों का अभाव (Lack of Upto date Machinery & Tools)

(४) सस्ती प्रेरक शक्ति का अभाव (Lack of Cheap Motive Power)

(५) सस्ती पूँजी की कमी और ऋण ग्रस्तता (Inavailability of Cheap Capital & Indebtedness)

(६) निरक्षरता अनभिज्ञता और रूढ़िवादिता (Illiteracy Ignorance Conservatism)

( ) मार्केटिंग सुविधाओं का अभाव (Lack of Marketing Facilities)

उपाय (Remedies)—शिल्पकारों के व्यवसाय की सुव्यवस्था, उत्पादन के आधुनिक ढंगों को अपनाना आधुनिक यन्त्रादि का उपयोग सस्ती प्रेरक शक्ति की व्यवस्था साधारण और शास्त्रिक शिक्षा का प्रबन्ध, सस्ती पूँजी के लिये सहकारी साख समितियों (Cooperative Credit Societies) का प्रसार और मार्केटिंग व्यवस्था के लिये सहकारी क्रय विक्रय समितियों (Cooperative Purchase & Sale Society) की व्यवस्था द्वारा ही शिल्पकारों की कार्य क्षमता बढ़ाई जा सकती है।

(इ) कृषि श्रमिकों की अकुशलता के कारण (Causes of Inefficiency of Agricultural Labour) —यह जानकर बड़ा दुःख होता है कि भारतीय कृषि श्रमिकों की दशा भी अत्यन्त शोचनीय है। इसके निम्नलिखित कारण हैं —

(१) खेतों का उप विभाजन (Fragmentation of Holdings)

(२) कृषकों की ऋण ग्रस्तता (Indebtedness of Cultivators)

(३) कुटीर व्यवसायों का पतन (Decline of Cottage Industries)

(४) अत्यधिक भू भार (Ever Increasing Pressure on Land)

(५) कृषि श्रमिकों में प्रतियोगिता (Competition among Agricultural Labourers)

(६) निरक्षरता (Illiteracy)

(७) आशा, परिवर्तन और हर्ष का अभाव (No Hopefulness Change & Cheer)

(८) काम करने की लम्बी अवधि (Long Hours of work)

उपाय (Remedies —चकबन्दी अर्थात् छोटे छोटे खेतों को मिलाकर बड़े खेत बनाना (Consolidation of Holdings) सहकारी आधार पर कृषि श्रमिकों का संगठन (Organisation of Agricultural Labourers on Cooperative Basis), प्रवास (Emmigration), शिक्षा प्रसार आदि।

पंजाबी श्रमिक और उत्तर प्रदेशीय श्रमिक की कार्य-कुशलता की तुलना

१. पंजाबी श्रमिक मार्यन जाति का है और उत्तर प्रदेशीय श्रमिक आर्यमंगोलियन जाति का। अस्तु पंजाबी श्रमिक उत्तर प्रदेशीय श्रमिकों की अपेक्षा अधिक बलिष्ठ, लम्बा और कठिन परिश्रम करने वाला होता है। जातीय गुण के कारण पंजाबी श्रमिक उत्तर प्रदेशीय श्रमिक से अधिक कुशल होता है।

२. उत्तम जलवायु के कारण पंजाबी श्रमिक उत्तर प्रदेशीय श्रमिकों से अधिक कुशल हो गया है।

३. पंजाबी श्रमिक अपनी आय का अधिकांश भाग शरीरोपयोगी आवश्यक वस्तुओं पर व्यय करता है और उत्तर प्रदेशीय श्रमिक अधिकांश भाग रूढ़ आवश्यकताओं पर व्यय करता है जो स्वास्थ्य के लिए अधिक हितकर नहीं होती।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इन्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—श्रम की क्षमता का क्या अर्थ है? भारत में श्रम की क्षमता बढ़ाने के लिए जो कार्य करने चाहिए उनका विवेचन कीजिए। (उ० प्र० १९५५)

२—*श्रमजीवियों की कुशलता किन-किन कारणों पर निर्भर है? समझाइए।*
(उ० प्र० १९५२, ५०)

३—"भारतीय कारखाने का श्रमिक अमेरिकन कारखाने के श्रमिक से कम कार्य-कुशल है।" क्या आप इससे सहमत हैं? यदि हैं तो कारण दीजिए।
(उ० प्र० १९५०)

४—"श्रम की कार्यक्षमता अधिक उत्पत्ति का विशेष कारण है।" भारतीय श्रमिक की कम कार्य-क्षमता के बारे में आप क्या कहना चाहते हैं?
(म० भा० १९५७)

५—*श्रम की कार्य-कुशलता पर किन बातों का प्रभाव पड़ता है? क्या भारतीय मजदूर कार्यकुशल है।* (म० भा० १९५५)

६—श्रम की कार्यक्षमता को प्रभावित करने वाली बातों को समझाइए। भारतीय श्रम दशाओं के संदर्भ में उत्तर दीजिए। (म० भा० १९५३, अ० बो० १९५८)

७—श्रम की कार्यक्षमता से आप क्या समझते हैं? किन बातों पर श्रम की कुशलता निर्भर होती है? (रा० बो० १९६० ; अ० बो० १९५१, ४९)

८—उन सब दशाओं का ध्यानपूर्वक विश्लेषण कीजिए जिनका श्रम की कार्य-कुशलता पर प्रभाव पड़ता है। हमारे औद्योगिक केन्द्रों में ये दशायें कहाँ तक पाई जाती हैं?
(रा० बो० १९५३, ५१)

९—भारतीय श्रम में क्षमता की क्या कमी है? इसकी वृद्धि के सुझाव दीजिये।
(सागर १९४९)

१०—एक औद्योगिक मजदूर की कार्यक्षमता को प्रभावित करने वाली कौनसी बातें हैं? उन दशाओं का परीक्षण कीजिए जो कार्यक्षमता बढ़ाने वाली हैं।
(अ० बो० १९५१)

अध्याय ३५

श्रम की गतिशीलता
(Mobility of Labour)

श्रम की गतिशीलता का अर्थ (Meaning)—किसी श्रम की एक स्थान से दूसरे स्थान को, एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय को और एक वर्ग (Grade) से दूसरे वर्ग को जाने की योग्यता और तत्परता को श्रम की गतिशीलता कहते हैं।

उत्पत्ति के समस्त साधनों में श्रम सम्भवत. सबसे अधिक प्रगतिशील है, क्योंकि श्रमिक अपने कार्य और कार्य क्षेत्र मे परिवर्तन बडी कठिनाई से करता है। श्रम श्रमिक का एक अंग है जो उससे पृथक नहीं किया जा सकता। अस्तु, आदम स्मिथ ने ठीक ही कहा है "सब प्रकार के सामानो में से मनुष्य का स्थानान्तरण अति दुष्कर है।"[1]

श्रम की गतिशीलता के भेद (Kinds of Mobility of Labour)—श्रम की गतिशीलता मुख्यतः तीन प्रकार की होती है :—
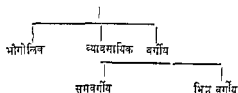
१ **भौगोलिक गतिशीलता** (Geographical Mobility)—श्रमिक का एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना 'भौगोलिक अथवा स्थान गतिशीलता' कहलाता है। इस प्रकार की गतिशीलता प्रायः संसार में सभी जगह पाई जाती है। भारतवर्ष में भी शिक्षा-प्रसार, यातायात व सम्वाद के साधनों की उन्नति, सामाजिक रीति-रिवाजों की शिथिलता और समस्त देश में हिन्दी भाषा के प्रचार ने भौगोलिक गतिशीलता को सुगम बना दिया है।

भौगोलिक गतिशीलता के प्रकार—भौगोलिक गतिशीलता दो प्रकार की होती है —

(क) **अस्थायी गतिशीलता** (Temporary Mobility)—श्रम का अल्पकालीन स्थानान्तरण अस्थायी गतिशीलता कहलाता है। हमारे देश में अधिकतर भौगोलिक गतिशीलता इसी प्रकार की होती है। देहातो में जब खेतो पर काम नहीं होता है तब किसान समीप के औद्योगिक नगरों मे मजदूरी के लिये चले जाते है, और जब

1.—"Of all sorts of luggage man is the most difficult to be transported "
— *Adam Smith.*

वर्षा होने पर खेती पर काम करने के लिए आते हैं तब वे वापस गाँव लौट जाते हैं। शहरों में काम करने के समय में भी समय समय पर गाँवों में जाते रहते हैं क्योंकि उनके कुटुम्बीय सदस्य वहाँ रहते हैं। ग्रामीण लोग केवल कारखानों में ही काम करने नहीं जाते बल्कि दफ्तरों में चपरासी और घरों में नौकरों का भी काम करने के लिए आते हैं। किसी सरकारी अफसर का स्थानान्तरण होना भी अस्थायी गतिशीलता है।

(ख) स्थायी गतिशीलता (Permanent Mobility)—जब लोग अपने प्रान्त या देश को छोड़कर स्थायी रूप से दूसरे स्थान में जा बसते हैं तो उनका *स्थानान्तरण स्थायी गतिशीलता* कहलाता है। इस देश में इसका अधिक महत्व नहीं है क्योंकि जब लोग स्थान को छोड़कर अन्य स्थान को जाते हैं तो अपने प्रान्त या देश में शीघ्रातिशीघ्र वापस लौट आते हैं।

भौगोलिक गतिशीलता के कारण—भौगोलिक गतिशीलता कई कारणों से प्रभावित होती है जिनमें आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रधान हैं।

(२) व्यावसायिक गतिशीलता (Occupational Mobility)—जब श्रमिक किसी कारणवश एक व्यवसाय या धंधे को छोड़कर दूसरे में प्रवेश करता है तो उसकी क्रिया व्यावसायिक गतिशीलता कही जाती है।

व्यावसायिक गतिशीलता के कारण—व्यावसायिक गतिशीलता के कई कारण हैं जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं—

(१) अधिक पारिश्रमिक—यदि अन्य बातें समान हों तो श्रमिक अधिक पारिश्रमिक मिलने वाले धंधे या व्यवसाय की ओर आकर्षित होते हैं।

(२) काम की अनुकूलता—काम की अनुकूलता के कारण श्रमिक एक पेशे से दूसरे पेशे की ओर आकर्षित होते हैं।

(३) काम मिलने की सुगमता व सुविधा—श्रमिक वर्ग प्राय उस काम की ओर आकर्षित होते हैं जिसके सीखने में पर्याप्त सुगमता और सुविधा हो।

(४) नौकरी का स्थायित्व—श्रमिक प्रायः स्थायी काम की ओर अधिक झुकते हैं। अस्थायी या थोड़े दिनों तक चलने वाले काम को कम पसन्द करते हैं।

(५) नौकरी की सुरक्षा—जिस नौकरी या धंधे में सुरक्षा का अभाव होता है वह श्रमिकों द्वारा कम पसन्द किया जाता है।

(६) सचाई और ईमानदारी वाले कार्य—जिस कार्य में सचाई और ईमानदारी की आवश्यकता होती है उसमें पर्याप्त पारिश्रमिक मिलता है। जिन मनुष्यों की अपने कार्य में सचाई व ईमानदारी अभाव है वे ऐसा ही काम करना पसन्द करते हैं। छल छिद्र वाला काम करने की अपेक्षा वे बैठा रहना पसन्द करते हैं।

(७) कार्य की कुशलता अथवा अकुशलता—जिस कार्य के करने में अधिक कुशलता तथा विशेष शिक्षा दीक्षा की आवश्यकता होती है *उसमें श्रम की गतिशीलता* अधिक होती है और अकुशल श्रम वाले व्यवसायों में कम होती है।

शिक्षा प्रसार, यातायात आदि की वृद्धि से कुशल श्रम वाले व्यवसायों और धंधों में गतिशीलता धीरे धीरे बढ़ रही है और कुशल तथा अकुशल श्रम का अन्तर भी कम होता जा रहा है। भारतवर्ष में व्यावसायिक गतिशीलता कम होने के मुख्य कारण निरक्षरता, रूढ़िवादिता, जाति प्रथा और आधुनिक यातायात का अभाव। सौभाग्य से

शिक्षा-प्रसार में वृद्धि होती जा रही है जिसके कारण रूढ़िवादिता और जाति-पाँति के बन्धन भी शिथिल होते जा रहे हैं।

३. वर्गीय गतिशीलता (Grade Mobility)—एक वर्ग से दूसरे वर्ग में जाने को वर्गीय गतिशीलता कहते हैं।

वर्गीय गतिशीलता के प्रकार (Kinds of Grade Mobility)—वर्गीय गतिशीलता दो प्रकार की होती है :—

(१) सम-वर्गीय, और (२) भिन्न-वर्गीय।

(१) सम-वर्गीय गतिशीलता (Horizontal Mobility)—एक व्यवसाय या कारखाने को छोड़कर दूसरे व्यवसाय या कारखाने में जाकर उसी वर्ग में काम करना 'सम वर्गीय गतिशीलता' कहलाता है। जैसे सूती कपड़े की मिल में करघे पर काम करने वाला श्रमिक उसे छोड़कर जूट मिल में जाकर वही काम करे अथवा एक बैंक का लेखापाल (Accountant) दूसरे बैंक में जाकर वही कार्य करे, तो यह समवर्गीय गतिशीलता का उदाहरण होगा।

सम-वर्गीय गतिशीलता
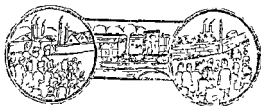
बम्बई सूती कपड़े की मिल का श्रमिक — कलकत्ता की जूट मिल में

(२) भिन्न वर्गीय गतिशीलता (Vertical Mobility)—यदि कोई श्रमिक नीचे वर्ग से ऊँचे वर्ग में कार्य करने लग जाय अथवा ऊँचे से नीचे वर्ग में उतार दिया जाय, तो इसे 'भिन्न-वर्गीय गतिशीलता' कहेंगे। उदाहरण के लिए क्लर्क से हैड क्लर्क बनाना अथवा हैड क्लर्क से पुनः क्लर्क बनना आदि।

क्लर्क — हैडक्लर्क

नीचे वर्ग से ऊँचे वर्ग में जाने के कारण—(१) श्रमिक अनुभव और शिक्षा द्वारा योग्यता बढ़ाकर नीचे वर्ग से ऊँचे वर्ग में जा सकता है (२) किसी कारणवश ऊँचे वर्ग में स्थान रिक्त हो जाने पर नीचे वर्ग वालों को ऊँचे वर्ग का काम मिल जाता है।

ऊँचे वर्ग से नीचे वर्ग में आने के कारण—(१) किसी श्रमिक की कार्य क्षमता में कमी होना। (२) श्रमिक की लापरवाही आज्ञा की अवहेलना आदि। (३) श्रमिकों की संख्या में वृद्धि होना।

यह स्मरण रहे कि वर्ग से उतरना सरल है परन्तु ऊँचे वर्ग को प्राप्त करना कठिन है।

भारत में श्रम की गतिशीलता में बाधाएँ

(Hindrances to the Mobility of Labour in India)

हमारे देश में श्रम की गतिशीलता में निम्नलिखित बातों द्वारा बाधा पहुँचती है —

१ आर्थिक दबाव का अभाव (Absence of Economic Pressure)—भूमि पर अधिक जन संख्या का भार और खेतों का उप विभाजन होते हुए भी अधिकांश ग्रामीणों की आर्थिक दशा इतनी खराब नहीं है कि वे अपने गाँव छोड़कर अन्यत्र जाने के लिये बाध्य हों। केवल भूमि रहित श्रमिक ही इधर उधर जाने को बाध्य हैं।

२ भाग्यवादिता (Fatalism)—भारतीय ग्रामीण सन्तोषी और भाग्यवादी है। वह भी जानता जो भाग्य में लिखा है वही मिलेगा—इसमें वे अधिक विश्वास करते हैं। अस्तु वे जीविकोपार्जन के लिये अपने गाँवों में ही रहना पसन्द करते हैं।

३ नीचा जीवन-स्तर (Low Standard of Living)—भारतीय ग्रामीणों का जीवन स्तर इतना गिरा हुआ होता है कि उनकी जीवनाधार आवश्यकताओं की वहीं पूर्ति हो जाती है।

४ पारिवारिक स्नेह (Family Affection)—अपने परिवार के सदस्यों—स्त्री बाल बच्चों आदि के साथ स्नेह इतना प्रबल होता है कि वे उनको छोड़कर कहीं अन्यत्र जाना पसन्द नहीं करते।

५ घर व स्थान का प्रेम (Love of Home and Locality)—जिस गाँव या जिले में श्रमिक पैदा हुआ है तथा जहाँ उसका पालन पोषण हुआ है वह प्रायः वहीं रह कर जीविकोपार्जन करना पसन्द करता है यद्यपि अन्यत्र उसे अधिक पारिश्रमिक क्यों नहीं मिलता हो। भारतीय श्रमिकों में यह प्रसिद्ध कहावत प्रचलित है — घर की आधी बाहर की सारी अर्थात् रुपया कमाने के लिए घर छोड़ कर जाने की अपेक्षा घर पर रहने के लिये कुछ ही पैसे कमाना उचित है।

६ जाति प्रथा और संयुक्त परिवार प्रणाली (Caste System and Joint Family System)—प्रायः लोग अपनी जाति के अनुसार ही धन्धा ग्रहण करते हैं। दूसरे धन्धों में रुचि होते हुए भी सामाजिक निन्दा से डरने के कारण उसे ग्रहण नहीं कर पाते। जाति बन्धनों के ही कारण बड़े बड़े होनहार नवयुवक उच्च शिक्षा दीक्षा के लिए विदेशों में नहीं जा पाते। संयुक्त परिवार के सदस्य के रूप में उन वृद्ध

अपने बेकारों की उचित देख रेख करनी पड़ती है अतः वह उन्हें छोड़कर कहीं दूसरी जगह जीवन निर्वाह के लिये नहीं जा सकता। इस प्रकार भौगोलिक गतिशीलता में बाधा पहुँचती है। इसके अतिरिक्त संयुक्त परिवार प्रथा में मनुष्य की आय उसके काम के अनुपात में नहीं होने के कारण उसकी उन्नति करने की इच्छा इतनी प्रबल नहीं रहती। अस्तु यह व्यावसायिक एवं वर्गीय गतिशीलता में बाधक सिद्ध होता है।

७ कृषि-कार्य का स्थिर स्वभाव (The Stable Nature of Agricultural Operations)—कृषि कार्य सम्पन्न करने के लिए एक स्थान पर स्थायी निवास की आवश्यकता है। एक शिल्पकार अपने औजारों को बंडल को लेकर सुगमता पूर्वक स्थान परिवर्तन कर सकता है परन्तु एक कृषक के लिये यह कार्य कठिन है। वह भूमि अपने साथ नहीं ले जा सकता है। जहां कहीं भी जायगा नई भूमि प्राप्त करनी पड़ेगी। नई भूमि प्राप्त करना कोई सुगम कार्य नहीं है। फिर उस नई मिट्टी का अध्ययन कर नये वातावरण में पूरी जानकारी प्राप्त करनी पड़ेगी। इन कठिनाइयों से वह स्थान-परिवर्तन कभी नहीं चाहता है।

८ शारीरिक दुर्बलता एवं साहस का अभाव (Poor Physique and Lack of Enterprise)—श्रमिकों का शारीरिक दुर्बलता और उनमें साहस का अभाव उनकी गतिशीलता में बाधक सिद्ध होते हैं।

९ निरक्षरता और अज्ञानता (Illiteracy & Ignorance) भारतीय श्रम की अगतिशीलता के यही दो आधारभूत कारण हैं। श्रमिक यह नहीं जानते हैं कि वे कहाँ जायें और क्या करें। वर्तमान समय में हमारे देश में रोजगार के दफ्तरों (Employment Exchanges) से इस सम्बन्ध में अवश्य कुछ काम हो रहा है।

१० औद्योगिक केन्द्रों का प्रतिकूल वातावरण (Uncongenial Atmosphere of Industrial Centre)—ताजी हवा में रहने वाले ग्रामीणों के लिये बड़े नगरों की गन्दी गलियों में स्थित अँधेरी कोठरियाँ प्रतिकूल सिद्ध होती हैं। कहाँ ग्रामों का जीवन और कहाँ नगरों का जीवन। अतः किसी कारणवश बाध्य होकर भले ही वह शहर में चला जाय परन्तु साधारणतया वह अपने गाँव को छोड़कर कदापि नहीं जायगा।

११ उपयुक्त यातायात व सम्वाद की सुविधाओं का अभाव (Lack of Adequate Facilities for Transport and Communication)—यद्यपि रेलों और मोटरों द्वारा यह कठिनाई बहुत कुछ तक दूर हो गई है फिर भी भीतरी भाग में कई गाँव आधुनिक यातायात के साधनों की सुविधाओं से वंचित हैं। वर्षा ऋतु में तो वे अच्छी सड़कों के अभाव में कस्बों और नगरों से बिल्कुल ही पृथक् हो जाते हैं।

१२ जलवायु की भिन्नता (Variation in Climate)—भारतवर्ष में एक राज्य से दूसरे राज्य को जाने में जलवायु की कठिनाई प्रतीत होने लगती है। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश का एक श्रमिक जब कलकत्ते में आता है तो वह मलेरिया से पीड़ित हो जाता है। इसी प्रकार बम्बई के श्रमिक के लिये कानपुर की जलवायु असहनीय सिद्ध होगी।

१३ भाषाओं और धर्म की भिन्नता (Variety of Languages and Religion)—भारतवर्ष में अलग अलग राज्यों में अलग अलग भाषा प्रचलित होने

के कारण श्रम की गतिशीलता को बड़ी बाधा पहुँचती है। एक राजस्थान का श्रमिक इस कठिनाई से ही मद्रास नहीं जा सकता और मद्रास का बगाल को नहीं जा सकता। इसी प्रकार धार्मिक आचार विचार में भी बड़ी भिन्नता मिलती है जिसके कारण श्रम की गतिशीलता की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है।

१४. कृषि की प्रधानता (Predominance of Agriculture)—भारतवर्ष में अधिकांश लोगों का मुख्य धन्धा खेती है, अतः वे अपने मुख्य पेशे को छोड़कर अन्य पेशों के लिये जाना पसन्द नहीं करते।

१५. जन साधारण की निर्धनता (Poverty of the Masses)—भारतवर्ष में अधिकांश लोग निर्धन हैं। वे अपना निर्वाह बड़ी कठिनाई से करते हैं अतः उनके पास इधर-उधर जाने के लिए पर्याप्त साधन नहीं हैं।

१६ महत्वाकांक्षा का अभाव (Lack of Ambition)—भारतीय श्रमिक भाग्यवादी सन्तोषी और आध्यात्मिक प्रकृति के होने के कारण उनमें भौतिक दृष्टि से आगे बढ़ने की अभिलाषा का पूर्ण अभाव होता है। अतः वे वहीं और उसी स्थिति में रहना पसन्द करते हैं।

१७ निवास स्थानों की कठिनाइयाँ (Housing Difficulties)—गाँवों के लोग शहरों में इसलिए भी नहीं जाते हैं क्योंकि वहाँ उन्हें स्वच्छ हवादार मकान नहीं मिलते। अतः विवश होकर उन्हें गन्दी काल कोठरियों में रहना पड़ता है।

भारतीय कृषक की गतिशीलता (Mobility of the Indian Cultivator) भारतीय कृषक की गतिशीलता बड़ी मन्द है। इसके कई कारण हैं। सबसे पहले तो उसे अपने खेती करने के साधनों को इधर उधर ले जाने में बड़ी कठिनाई होती है। नये स्थान में नई भूमि प्राप्त करना बड़ा कठिन है। नए स्थान की मिट्टी जलवायु फसलों आदि का अध्ययन बड़ा आवश्यक है। इनके साथ-साथ निरक्षरता, अज्ञानता रूढ़िवादिता, जाति प्रथा, सयुक्त परिवार प्रणाली, कौटुम्बीय स्नेह आदि कारण भी उसको एक ही स्थान और एक पेशे तक सीमित रहने में बाध्य करते हैं।

भारतीय श्रमिक की गतिशीलता (Mobility of the Indian Labourer)—भारतीय कृषक की अपेक्षा भारतीय श्रमिक अधिक गतिशील है। वह एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकता है और उसकी जानकारी शहरों में भी काम आ सकती है। जब वह औद्योगिक नगर में पहुँचता है तो कारखाने की कार्यप्रणाली से हिचक जाता है। परन्तु जन सख्या के दबाव और पारिश्रमिक की अधिकता के कारण वह अधिक गतिशील हो गया है। लेकिन श्रमिक अपने पेशे में परिवर्तन बड़ी कठिनाई से करता है।

भारतीय शिल्पकार की गतिशीलता (Mobility of the Indian Artisan)—भारतीय शिल्पकार भारतीय कृषक और श्रमिक से अधिक गतिशील है, क्योंकि वह अपने कुछ औजारों को लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान को सुगमता से जा सकता है और बिना अधिक कठिनाई के अपना कार्य आरम्भ कर सकता है। यह तो है उसकी भौगोलिक या स्थान गतिशीलता। उसमें औसत कृषक या श्रमिक से अधिक चतुरता व निपुणता होने के कारण वर्गीय गतिशीलता भी पाई जाती है। कुटीर व्यवसायों के नष्ट होने से उसे बाध्य होकर अपने व्यवसाय में परिवर्तन करना पड़ा है।

जाति प्रथा का श्रम की गतिशीलता पर प्रभाव (Influence of Caste System on Mobility of Labour)—जाति-प्रथा का श्रम की भौगोलिक एवं व्यावसायिक गतिशीलता पर प्रभाव पड़ता है। जाति प्रथा की रूढ़ियों में जकड़ हुए मनुष्य के लिये अपने जन्म स्थान को छोड़कर कहीं अन्यत्र जाना बड़ा कठिन है। जाति द्वारा निर्धारित आचार विचारों के कारण ही एक उ० प्र० का ब्राह्मण पंजाब या बंगाल में नहीं रह सकता। बड़े बड़े होनहार नवयुवक इसी कारण विदेशों में जाकर उच्च शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने से वंचित रह जाते हैं।

इसी प्रकार जाति प्रथा व्यावसायिक गतिशीलता को प्रभावित करती है। मनुष्य जिस जाति में जन्म लेता है वह उसी जाति के अनुसार अपना पेशा ग्रहण करता है। उसको उसमें रुचि नहीं होने पर भी वह अन्य कार्य नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए, एक लुहार कुम्हार का कार्य नहीं कर सकता कुम्हार जुलाहे का और जुलाहा खाती का काम नहीं कर सकता।

गतिशीलता और कार्य कुशलता (Mobility & Efficiency)—गतिशीलता से कार्य-कुशलता में वृद्धि होती है क्योंकि व्यवसाय स्वतन्त्रतापूर्वक चुनकर ग्रहण किया जा सकता है। फिर प्रतियोगिता के कारण उसे अपने साथियों के मध्य एक कुशल श्रमिक होकर ही रहना पड़ता है अन्यथा उसका जीवन निर्वाह होना कठिन हो जाता है। गतिशीलता श्रमिक को अपनी रुचि के अनुसार धन्धा ग्रहण करवाती है जिसके फलस्वरूप उसकी कार्यक्षमता बढ़ती है।

श्रम की गतिशीलता और भृति (मजदूरी) (Mobility of Labour & Wages)—श्रम की गतिशीलता वह क्रिया है जिसके द्वारा श्रम एक स्थान पेशे या श्रेणी से जहाँ श्रम अधिक है उस स्थान, पेशे या श्रेणी में पहुँचता है जहाँ इसकी अत्यधिक आवश्यकता है। इससे श्रम की मांग और पूर्ति का समायोजन (Adjustment) हो जाता है। जिसके फलस्वरूप भृति में समानता (Equalization of Wages) आकर सब जगह भृति की दर एक-सी हो जाती है। श्रम की गतिशीलता जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक भृति की दर में समानता आती जायगी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—श्रम की गतिशीलता का क्या तात्पर्य है ? भारतीय श्रमिकों की गतिशीलता कम होने के क्या कारण है ?   (रा० बो० १९६०)

२—श्रम की गतिशीलता का क्या तात्पर्य है ? भारतीय श्रमिकों की गतिशीलता पर सामाजिक रीतियों का कहाँ तक प्रभाव पड़ता है ? सुधार के प्रस्ताव प्रस्तुत कीजिए।   (अ० बो० १९५२, उ० प्र० १९५१)

३—भारत में श्रम की गतिशीलता के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालिए। इसका भृति (मजदूरी) पर क्या प्रभाव पड़ता है ?   (उ० प्र० १९४०)

४—श्रम की गतिशीलता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
(रा० बो० १९५२, सागर १९४९, नागपुर १९४७, उ० प्र० १९२०, ४६)

अध्याय ३६

पूंजी
(Capital)

पूंजी की परिभाषा (Definition)—मनुष्य जो धन उत्पन्न करता है उसका उपयोग वह निम्नलिखित प्रयोजनों के लिए कर सकता है —

(१) वह उसको वर्तमान आवश्यकताओं की तृप्ति में लगा सकता है।
(२) वह उसे भावी आवश्यकताओं के लिये रख सकता है।
(३) वह उसे दान में दे सकता है।
(४) वह उसको कर देने में उपयोग कर सकता है।
(५) वह उसको अनुत्पादक संचय (Hoarding) के रूप में रख सकता है।
(६) वह उसको और अधिक उत्पादन के लिये लगा सकता है।

अब प्रश्न यह प्रस्तुत होता है कि धन के इन उपयोगों में से कौनसा उपयोग पूंजी कहलाता है? धन का केवल वही भाग पूंजी है जिसका कि उपयोग और अधिक धन उत्पन्न करने के लिये किया जाता है। अस्तु, यह स्पष्ट हुआ पूंजी धन का केवल एक भाग है। समस्त पूंजी एक धन है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि समस्त धन पूंजी हो। पूंजी की कोटि में आने वाले धन के लिए दो बातें आवश्यक हैं—प्रथम तो वह मानव-प्रयत्नों का फल होना चाहिए और द्वितीय उससे धनोत्पत्ति में सहायता मिलनी चाहिये। अतः हम पूंजी को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं पूंजी भूमि को छोड़कर, धन का वह भाग है जिसका उपयोग अधिक धन-उत्पादन के लिए किया जाता है। उदाहरण के लिये, कारखाने में मशीन, कोयला, सूत आदि धनोत्पत्ति के कार्य में प्रयुक्त होने के कारण पूंजी कहलायेंगे। इसी प्रकार हम किसान के बैल, हल, बीज आदि को भी पूंजी कहेंगे। हमारी पूंजी की इस परिभाषा में भूमि सम्मिलित नहीं है, क्योंकि भूमि मानव प्रयत्नों का फल नहीं है बल्कि यह प्रकृतिदत्त वस्तु है।

धन और पूंजी के अन्तर का स्पष्टीकरण—उपर्युक्त परिभाषा से धन और पूंजी के अन्तर को सुगमता से समझा जा सकता है। धन उसे कहते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करे। परन्तु जो धन अधिक धन की उत्पत्ति में लगाया जाय, उसे पूंजी कहते हैं। अस्तु, अमुक वस्तु पूंजी है या नहीं, यह उसके प्रयोग पर निर्भर है। उदाहरणार्थ घर जब रहने के काम में आता है तो वह केवल धन ही है, किन्तु यदि उसका उपयोग कारखाने के लिये होने लगे, तो वही पूंजी हो जावेगा। कोयला जब भोजन बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है तब केवल धन रहता है, परन्तु जब मशीनों में डाला जाता है, तब पूंजी हो जाता है।

इसी प्रकार जब गेहूँ खाद्य पदार्थ के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, तब केवल धन कहलाता है, पर-जब बीज के काम में आता है, तब वही पूँजी का रूप धारण कर लेता है। अस्तु, प्रयोग से ही यह पता चलता है कि अमुक वस्तु केवल धन है या पूँजी।

क्या निम्नलिखित वस्तुएँ पूँजी की कोटि में आती हैं?

(1) बीज का अन्न (Seed Corn)—इसका प्रयोग धनोत्पत्ति के लिए होने के कारण स्पष्टतया पूँजी है।

(2) अनुत्पादक संचित रुपये (Hoarded Rupees)—इनका किसी उत्पादन कार्य में उपयोग नहीं होने से पूँजी नहीं है।

(3) व्यापार की ख्याति (The Goodwill of a Business)—व्यक्तिगत व्यापारी इसमें आय प्राप्ति की आशा करता है इसलिये यह उसकी पूँजी है। इसको अभौतिक पूँजी (Immaterial Capital) कहना उचित होगा।

(4) किसी सर्जन या गायक की दक्षता (The Skill of a Surgeon or a Musician)—यद्यपि इसके द्वारा व्यक्ति विशेष को अच्छी आय हो जाती है, परन्तु स्वयं इससे कोई आय नहीं होती है अतः यह पूँजी की कोटि में सम्मिलित नहीं की जा सकती। प्रो० मार्शल इसे व्यक्तिगत धन (Personal Wealth) कह कर पुकारते हैं। इसी आधार पर किसी अध्यापक की ज्ञान शक्ति (The Intellect of a teacher) भी पूँजी नहीं कही जा सकती।

(5) कृपण का धन (The Miser's Wealth)—यह पूँजी नहीं है, क्योंकि कृपण के धन का उपयोग धनोत्पादन के लिये नहीं होता है। उसका धन केवल अनुत्पादक संचय मात्र ही है।

(6) एकस्व अधिकार (Patent Right)—यह व्यक्तिगत पूँजी है, क्योंकि इससे उनको आय होती है।

(7) चल मुद्रा (Money in Circulation)—यह केवल विनिमय-माध्यम ही होने के कारण किसी एक की पूँजी नहीं हो सकती। हस्तस्थ मुद्रा किसी व्यक्ति विशेष को वस्तुओं और सेवाओं पर अधिकार प्रदान कराती है, अतः यह चल पूँजी (Floating Capital) भी कही जाती है।

(8) बैंक में स्थित संचित राशि (Accumulated Savings in the Bank) बैंक में जमा कराने वाले व्यक्ति को ब्याज के रूप में आय होने से यह उसकी व्यक्तिगत पूँजी है। यदि बैंक संचित राशि को धनोत्पादन में लगाता है तो यह सामाजिक दृष्टि से भी पूँजी है।

पूँजी और मुद्रा (Capital & Money)—साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि पूँजी और मुद्रा एक ही वस्तु है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। यह निस्सन्देह सच है कि हमारा बचत का अधिकांश भाग मुद्रा के रूप में होता है और लगभग सभी पूँजी वाले सामानों को मुद्रा की ही सहायता से प्राप्त किया जाता है। किन्तु सब मुद्रा पूँजी नहीं है। मुद्रा तभी पूँजी कहलायगी जब उसका उपयोग धनोत्पादन के लिये किया जाय। यदि उसे भोजन, वस्त्र आदि अन्य उपभोग की वस्तुओं पर व्यय किया जाता है, तो वह पूँजी नहीं है। इसी प्रकार जो मुद्रा संचित कर गाड़ दी जाती है वह भी पूँजी नहीं है। फिर, हम देखते हैं कि समस्त पूँजी मुद्रा के रूप में नहीं होती। भवन, मशीनें, कच्चा माल आदि भी पूँजी हैं परन्तु उनमें से

कोई मुद्रा नहीं है। अस्तु यह सिद्ध हुआ कि अर्थशास्त्र की दृष्टि से मुद्रा और पूंजी दोनों एक नहीं है। सब मुद्रा धन अवश्य है, किन्तु सब मुद्रा पूंजी नहीं है।

पूंजी और भूमि (Capital & Land)—पूंजी और भूमि में निम्नलिखित अन्तर है —

(१) पूंजी मानव प्रयत्न का फल है जबकि भूमि प्राकृतिक प्रसाद (Free Gift of Nature) है।

(२) पूंजी नाशवान होती है। जिस कारण से बाद पूंजी को नए सिरे से लगाना पड़ता है। परन्तु भूमि अमर और अविनाशी है।

(३) पूंजी मांग की परिस्थिति के अनुसार घटती बढ़ती रहती है परन्तु भूमि का परिमाण परिमित है।

(४) व्यक्तिगत दृष्टि से भूमि का क्रय विक्रय होता है परन्तु सामाजिक दृष्टि से भूमि एक प्राकृतिक प्रसाद है। लेकिन पूंजी के लिये समाज और व्यक्ति दोनों को ही लागत लगाना पड़ती है।

(५) सभ्यता की प्रगति के साथ साथ वस्तुएँ सस्ती होती जाती है परन्तु जनसंख्या की वृद्धि से भूमि महगी होती जाती है।

(६) पूंजी मूल्य के आधार पर मापी जाती है परन्तु भूमि का मापन धरातल के क्षेत्र के आधार पर होता है।

(७) भूमि का स्थान स्थिर होता है। परन्तु अधिकतर पूंजी परिवर्तनशील होती है। केवल कुछ ही भूमि स्थिर होती है।

क्या भूमि पूंजी है? (Is Land Capital)—कुछ लेखकों का मत है कि भूमि भी एक प्रकार की पूंजी है उसे पूंजी की सूची में सम्मिलित करना

आमोद प्रमोद की मोटर यात्रियों को ढोने वाली मोटर

धन पूंजी

चाहिए। भूमि धन है और उत्पादन में बहुत सहायक है। मशीनों और कच्चे माल की भाँति जब कोई व्यक्ति भूमि खरीदता है तो उसे कुछ मूल्य देना पड़ता है। अतः अन्य प्रकार की पूंजी की भाँति भूमि भी व्यक्तिगत दृष्टि से पूंजी है। इसके अतिरिक्त भूमि का वह भाग जो आजकल प्रयोग में लाया जाता है अधिकतर मनुष्य द्वारा ऐसा बन सका है। इन्हीं कारणों से यह कहा जाता है कि भूमि को पूंजी माना जाय। इस दृष्टि में बहुत सत्यता है। किन्तु भूमि और पूंजी दो अलग अलग वस्तुएँ हैं। इन दोनों में महत्वपूर्ण अन्तर है। उदाहरण के लिये, भूमि प्राकृतिक प्रसाद है और पूंजी मानव

प्रयत्न का फल है। समाज को भूमि के लिए कुछ भी नहीं देना पड़ता है, यद्यपि व्यक्तिगत क्रेता को उसके लिए लागत अवश्य होता है। भूमि का यह अन्तर तथा अन्य अन्तर जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, स्पष्ट बताते हैं कि भूमि और पूँजी दो अलग अलग वस्तुएँ हैं। उन्हें एक मानना अर्थात् भूमि को पूँजी की कोटि में लाना उचित नहीं है।

पूँजी की विशेषताएँ (Characteristics of Capital)—पूँजी की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं —

१. पूँजी उत्पत्ति का एक अनिवार्य साधन है क्योंकि इसके बिना उत्पत्ति सम्भव नहीं है। बड़े परिमाण की उत्पत्ति के लिए तो यह और भी अधिक आवश्यक साधन है।

२. पूँजी उपयोग में या समय बीतने के साथ-साथ घिसती जाती है और उसका प्रतिस्थापन आवश्यक हो जाता है– उदाहरण के लिए, कोई एक मशीन १० वर्ष कुशलतापूर्वक काम कर सकती है और उसका मूल्य १०,००० रुपया है, तो प्रतिवर्ष उसके मूल्य का दसवां भाग घिसाई (Depreciation) के कारण कम होता जायगा यहाँ तक कि दस वर्ष बाद वह मशीन निरर्थक होकर शून्य मूल्य की हो जायगी। प्रतिवर्ष की घिसाई का मूल्य अर्थात् १००० रु० लाभ में से निकाल कर प्रतिस्थापन (Replacement) खाते में जमा होते रहने से १० वर्ष पश्चात् मशीन के प्रतिस्थापन के लिए उक्त राशि का सञ्चय हो जायगा।

३. पूँजी बचत का परिणाम है जिसमें प्रतीक्षा (Waiting) सन्निहित होती है—अतः पूँजी उधार लेने वाले को पूँजीपति को ब्याज के रूप में कुछ पुरस्कार देना आवश्यक हो जाता है।

पूँजी का महत्व (Importance of Capital)

(१) पूँजी उत्पत्ति का एक अनिवार्य साधन है—धनोत्पादन में पूँजी का महत्वपूर्ण स्थान है। यदि हम मानव समाज के विकास की प्रारम्भिक अवस्था पर भी दृष्टि डालें तो ज्ञात होगा कि पूँजी का किसी न किसी रूप में उपयोग आवश्यक था। सभ्यता के विकास और ज्ञान की वृद्धि के साथ साथ पूँजी का महत्व बढ़ता गया, यहाँ तक कि पूँजी की प्रधानता के कारण वर्तमान समय को 'पूँजी-युग' कह कर पुकारा जाता है। यह सत्य है कि भूमि और श्रम की कोटि में पूँजी नहीं आता, किन्तु उत्पादन के लिए यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है। सभ्य जीवन बिना इसके नहीं चल सकता।

(२) पूँजी के बिना न तो मनुष्य की शक्ति का ही पूर्ण रूप से उपयोग हो पाता है और न प्रकृति-दत्त पदार्थों का ही यथेष्ट शोषण हो सकता है— पूँजी के अभाव में न तो प्रकृति की शक्तियों का उचित उपयोग हो सकता है और किन्तु इसके न श्रमी लोग ही कुछ कर सकते हैं।

(३) पूँजी से ही उत्पादन जारी रहता है और जो लोग इस कार्य में संलग्न हैं उनका पालन-पोषण होता है—आधुनिक उत्पत्ति प्रणाली बहुत ही टेढ़ी (Roundabout) और पेचीदा (Complex) है। वस्तुओं के उत्पादन में पर्याप्त समय लगता है। उत्पत्ति के पश्चात् उन्हें मंडियों में ले जाया जाता है जहाँ उनका

क्रय-विक्रय होता है। तब कहीं जाकर उत्पादकों को अपनी वस्तुओं का मूल्य मिल पाता है। उस समय तक उत्पादक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पूँजी पर ही निर्भर रहते हैं।

(४) पूँजी से धनोत्पत्ति की आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति की जा सकती है—धनोत्पत्ति में भवन, मशीनें, औजार, कच्चे माल, ईंधन आदि की आवश्यकता पड़ती है। इन सब वस्तुओं की पूर्ति पूँजी द्वारा ही की जा सकती है।

(५) पूँजी की सहायता से ही विस्तृत और निश्चित रूप में उत्पादन सम्भव है—श्रम विभाग की श्रेष्ठता पूँजी के ही उपयोग का फल है। पूँजी के उपयोग से उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हुई है और लागत बहुत घट गई है।

संक्षेप में आदि से अन्त तक धनोत्पत्ति में पूँजी की सहायता लेनी पड़ती है। उत्पादन की कोई भी प्रणाली या अवस्था हो उसमें पूँजी का उपयोग अनिवार्य होता है। पूँजी के महत्व और उसके सदुपयोग की समाजवाद (Socialism) के जन्मदाता मार्क्स ने भी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। यही नहीं, रूस जैसे साम्यवादी (Communist) देश में भी पूँजी का प्रयोग बड़े परिमाण में किया जाता है।

पूँजी के कार्य (Functions of Capital)- पूँजी के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं —

१. आजीविका का साधन (Provision of Livelihood)—आधुनिक उत्पादन प्रणाली टेढ़ी और पचीदा है। अस्तु, उत्पत्ति के प्रारम्भ से माल की बिक्री तक पर्याप्त समय लगता है। इस अवधि में उत्पादन साधकों का पेट भरने, वस्त्र आदि आवश्यक वस्तुएं प्रदान करने का कार्य पूँजी द्वारा सम्पन्न होता है।

२. उत्पादन सामग्री का साधन (Provision of Appliances)—पूँजी द्वारा कारखाना, भवन, यन्त्र, उपकरण आदि अन्य आवश्यक वस्तुएं प्राप्त होती हैं। आधुनिक उत्पादन रीतियाँ अति यान्त्रिक और विस्तृत होने के कारण बहुत धन की आवश्यकता होती है।

३. कच्चे माल का साधन (Provision of Raw Material)—पूँजी द्वारा ही कारखानों के लिये कच्चा और अर्द्ध निर्मित माल प्राप्त किया जाता है।

पूँजी के भेद (Types of Capital)

भिन्न-भिन्न लेखकों ने पूँजी का अलग-अलग वर्गीकरण किया है। उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :—

(१) चल और अचल अथवा अस्थायी और स्थायी (Fixed & Circulating Capital)—चल या अस्थायी पूँजी उसे कहते हैं जो उत्पादन कार्य में केवल एक ही बार के उपयोग करने में खत्म हो जाती है। जैसे कच्चा माल, कोयला बीज आदि। अचल या स्थायी पूँजी उसे कहते हैं जिसका प्रयोग उत्पादन के लिये बार-बार किया जा सकता है। जैसे भवन, मशीनें, रेलें, ट्रकें आदि। आधुनिक काल में अचल या स्थायी पूँजी में बड़ी वृद्धि हुई है और बड़े-बड़े कारखानों में इसका विशेष महत्व है।

(२) उत्पत्ति-प्रधान (या व्यापार) और उपभोग-प्रधान पूँजी (Production (or Trade) & Consumption Capital)—जिन वस्तुओं से अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति होती है वे उत्पत्ति प्रधान पूँजी कही जाती है, जैसे, कच्चा माल, भवन, मशीनें, औजार आदि। उपभोग-प्रधान पूँजी ऐसी वस्तुओं को कहते हैं जिनके प्रत्यक्ष उपभोग से आवश्यकताओं की पूर्ति होती है जैसे श्रमिकों को दिये हुए भोजन, वस्त्र, निवास स्थान आदि।

(३) निमग्न और चल पूँजी (Sunk & Floating Capital)—निमग्न पूँजी वह पूँजी है जो केवल किसी विशिष्ट कार्य में लगाई गई हो और उसका उपयोग किसी अन्य कार्य में नहीं हो सकता हो। उदाहरणार्थ, रेल के इंजिन या पुल बनाने में लगी हुई पूँजी। निमग्न पूँजी को किसी एक विशिष्ट कार्य में लगे रहने के कारण इसे एकार्थी या विशिष्ट पूँजी (Specialised Capital) भी कहते हैं। चल पूँजी उस पूँजी को कहते हैं जो उत्पत्ति के एक कार्य से हटा कर दूसरे कार्यों में लगाई जा सके, जैसे मुद्रा, कच्चा माल आदि। इसको बहुअर्थी या अविशिष्ट (Unspecialised Capital) भी कहते हैं।

(४) भौतिक और वैयक्तिक पूँजी (Material & Personal Capital)—भौतिक पूँजी वह है जिसमें हस्तगत भौतिक पदार्थ निहित हों और जिसका क्रय-विक्रय या हस्तान्तरण हो सकता हो, जैसे—मकान, मशीन, कच्चा माल, आदि। किसी व्यक्ति विशेष के व्यक्तिगत गुण, स्वभाव और कार्य-क्षमता की आधारभूत शक्तियाँ जो उससे पृथक नहीं की जा सकती वैयक्तिक पूँजी कहलाती है, जैसे—किसी सर्जन की दक्षता, अध्यापक की ज्ञान शक्ति आदि।

(५) वेतन और सहायक पूँजी (Remuneratory & Auxiliary Capital)—जो पूँजी श्रमिकों को उनके श्रम के प्रतिफल स्वरूप दी जाय वह वेतन पूँजी कहलाती है और जो पूँजी उत्पत्ति के कार्य में सहायता पहुँचाती है उसे सहायक पूँजी कहते हैं, जैसे मशीनें, औजार आदि।

(६) देशी और विदेशी पूँजी (Indigenous & Foreign Capital)—जिस पूँजी पर एक ही देश के नागरिकों का व्यक्तिगत या सामूहिक रूप में अधिकार हो उसे देशी पूँजी कहते हैं। जो पूँजी अन्य देशों की होती है अथवा जिस पर विदेशियों का अधिकार होता है वह विदेशी पूँजी कहलाती है।

एक भारतीय कृषक की पूँजी—एक भारतीय कृषक पूँजी का उपयोग कई रूप में करता है जिसका वर्गीकरण चल या अस्थायी और अचल या स्थायी पूँजी में किया जा सकता है। हल, बैल जोड़ी, रस्सियाँ, गाड़ी, फावड़ा, कुल्हाड़ी, डलियाँ या टोकरियाँ—ये सब उसकी अचल या स्थायी (Fixed Capital) में सम्मिलित है। उसकी चल या अस्थायी पूँजी (Circulating Capital) में सम्मिलित वस्तुएँ बीज, मजदूरी, अन्न और चारा आदि है। खाद का वर्गीकरण दोनों प्रकार की पूँजी में किया जा सकता है।

एक भारतीय बढ़ई की पूँजी—उसकी अचल या स्थायी पूँजी—सारे काम करने के औजार, और चल या अस्थायी पूँजी—कच्चा माल अर्थात् लकड़ी के लट्ठे व तख्ते, मजदूरों की मजदूरी, यदि कोई हो।

पूँजी की कार्यक्षमता (Efficiency of Capital)—पूँजी की कार्यक्षमता मुख्यतः तीन बातों पर निर्भर होती है—(१) उपयुक्तता, (२) सदुपयोग और (३) परिमाण तथा संगठन ।

(१) उपयुक्तता (Suitability)—जिस प्रयोजन के लिए पूँजी का उपयोग होना है उसके लिये वह उपयुक्त होना चाहिये । उदाहरण के लिये, एक तेज और महंगा उस्तरा नाई के लिए ठीक है पर उसी वस्तु का उपयोग शाक आदि के लिये अनुपयुक्त है, क्योंकि यह कार्य तो एक सस्ते व साधारण चाकू से भली प्रकार सम्पन्न किया जा सकता है ।

(२) सदुपयोग (Proper Use)—पूँजी के प्रयोग करने की रीति पर भी उसकी कार्यक्षमता अवलम्बित होती है । जैसे, किसी अकुशल श्रमिक को किसी मशीन पर बिठा दिया जाय, तो वह उसका यथेष्ट उपयोग नहीं कर सकेगा जिसके फलस्वरूप मशीन की कार्यक्षमता में कमी हो जायगी ।

(३) परिमाण तथा संगठन (Quantity & Organisation)—जब व्यवसाय की उन्नति के साथ-साथ पूँजी की मात्रा में वृद्धि होती है, तो पूँजी की उत्पादन शक्ति भी बढ़ती जाती है । परन्तु यह स्मरण रहे कि पूँजी व्यवसाय में अधिक मात्रा में उन देशों में लगाई जाती है जहाँ आर्थिक साधनों के अतिरिक्त शान्ति, सुरक्षा और न्याय प्रचलित हो और जहाँ के लोग औद्योगिक और आर्थिक दृष्टि से सुसंगठित हों ।

पूँजी की वृद्धि (Growth & Accumulation of Capital)—संचय या बचत (Saving) से पूँजी की वृद्धि होती है । संचय द्वारा ही धन को पूँजी का रूप दिया जाता है । पूँजी की वृद्धि के लिए यह आवश्यक है कि लोग अपनी समस्त आय को व्यय न करके उसका कुछ भाग बचाएं । जितनी अधिक बचत की जायगी, उतनी ही अधिक भविष्य में पूँजी में वृद्धि होगी । अस्तु, पूँजी का परिमाण संचय या बचत के परिमाण पर निर्भर है ।

पूँजी की वृद्धि मुख्यतः दो बातों पर निर्भर है—(अ) संचय करने की शक्ति और (आ) संचय करने की इच्छा । ये निम्नांकित सारणी द्वारा भली-प्रकार व्यक्त की गई हैं :

पूँजी की वृद्धि निर्भर है—		
(अ) संचय करने की शक्ति	(आ) संचय करने की इच्छा	
	निजी या व्यक्तिगत बातें	बाहरी बातें
उत्पत्ति का उपभोग आधिक्य अथवा आय का व्यय से आधिक्य	१. विवेकशीलता या दूरदर्शिता २. पारिवारिक स्नेह ३. सामाजिक एवं राजनैतिक अभिलाषाएँ ४. आर्थिक प्रेरणाएं ५. स्वभाव	१. जान व माल की सुरक्षा २. पूँजी के विनियोग की सुविधाएं ३. सुयोग्य व्यापारी एवं उद्योगपति ४. ब्याज की ऊँची दर ५. मुद्रा का संचय-साधन के रूप में अस्तित्व

(अ) सचय करने की शक्ति (Power or Ability to Save)—सचय की शक्ति उपभोग की अपेक्षा उत्पत्ति के अधिक होने पर निर्भर है। उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि होने से सचय शक्ति में वृद्धि होगी। यदि किसी देश में उत्पत्ति का परिमाण अधिक है और उपभोग का कम है तो उस देश के लोगों में सचय करने की शक्ति अधिक होगा। व्यक्तिगत दृष्टि से भी सचय तभी सम्भव है जब कि व्यय की अपेक्षा आय अधिक हो। किसी देश की उत्पत्ति अथवा वहाँ के निवासियों की आय का आधिक्य निम्नलिखित बातों पर निर्भर होता है —

१ किसी देश के प्राकृतिक साधनों की सम्पन्नता (Rich Natural Resources of a Country)—उत्तम समुद्र तट बन्दरगाह तथा जलवायु, उपजाऊ भूमि खनिज पदार्थों की प्रचुरता यातायात के साधन, जल शक्ति और जहाज चलाने योग्य नदियाँ आदि।

२ अन्य देशों की अपेक्षा उत्तम भौगोलिक स्थिति (Good Geographical position in relation to other countries)

३ कृषि, व्यापार और उद्योगों का लाभप्रद विकास (Efficient Development of Agriculture Trade Commerce & Industry)

४ भूमि श्रम और पूँजी का सगठन (Organisation of Land Labour & Capital)

५ बैंक और साख सम्बन्धी सुविधाओं का सुव्यवस्था (Efficient Organisation of Banking & Credit Facilities)

६ आधुनिक मशीनों और रीतियों का उपयोग (Use of up to date Plants Machinery and Process)

७ वैज्ञानिक कृषि (Scientific Agriculture)

(आ) सचय करने की इच्छा (Will to Save)—केवल धन सचय शक्ति से ही पूँजी की वृद्धि नहीं हो जाती। इसके लिए सचय करने की इच्छा भी होनी चाहिए। सचय करने की इच्छा पर मुख्यतया दो बातों का प्रभाव पड़ता है —

१ निजी या व्यक्तिगत बात और २ बाहरी बातें। अब इन दोनों पर सक्षेप में अलग अलग विचार किया जायगा

१ निजी या व्यक्तिगत बात (Subjective Considerations)—इस शीर्षक के अन्तर्गत उन बातों का विवेचन किया जायगा जो मनुष्य को धन सचय के लिये प्रेरित करती हैं। वे निम्नांकित हैं —

(१) विवेकशीलता या दूरदर्शिता (Prudence or Foresight)–दूरदर्शी और विवेकशील पुरुष भविष्य की अनेक आपत्तियों से बचने के लिए आय का कुछ भाग बचाने में निरन्तर प्रयत्नशील देखे जाते हैं। ये आपत्तियाँ बीमारी, बेकारी, आकस्मिक दुर्घटनाओं आदि के कारण हो सकती हैं। फिर वृद्धावस्था में काम करने की शक्ति बहुत कम हो जाती है। अस्तु उस अवस्था में काम में लाने के लिए लोग धन सचय करते हैं।

(२) पारिवारिक स्नेह (Family Affection)—पारिवारिक स्नेह धन सचय की सबसे बड़ी प्रेरक शक्ति है। लोग अपनी सन्तान की शिक्षा दीक्षा व विवाह आदि के

लिये धन की आवश्यकता और मृत्यु के पश्चात् अपने आश्रितों के लिये कुछ छोड़ जाने की इच्छा से प्रेरित होकर धन संचय करते हैं।

(३) सामाजिक एवं राजनैतिक अभिलाषाएं (Social & Political Considerations)—सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में सम्मान, प्रतिष्ठा और शक्ति प्राप्ति के लिये धन की विशेष आवश्यकता पड़ती है। आजकल धन के द्वारा मनुष्य सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में अपने आप को ऊपर उठा सकता है अतः इससे धन संचय प्रवृत्ति को बड़ा प्रोत्साहन मिलता है।

(४) आर्थिक प्रेरणाएं (Economic Considerations)—मनुष्य अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये धन संचय में संलग्न रहता है। व्यापारोन्नति की प्रेरणा से भी धन संचय प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता है। आजकल के प्रतियोगिता के युग में जिसके पास पूंजी होती है वही व्यापार और व्यवसाय में सफलता प्राप्त कर सकता है। ब्याज प्राप्ति की इच्छा से भी मनुष्य का लक्ष्य धन संचय की ओर केन्द्रित हो जाता है। जितनी अधिक ब्याज की दर होगी, उतनी अधिक धन संचय की प्रबल इच्छा होगी।

(५) स्वभाव (Temperament)—धन संचय करना कुछ मनुष्यों की स्वभाव की बात है। उनकी आय चाहे जितनी हो वे उसमें से कुछ न कुछ अवश्य बचा लेते हैं। बहुत से मनुष्य ऐसे होते हैं जिनकी प्रवृत्ति बचाने की नहीं होती है बल्कि खाना पीना और खुश रहना—यह उनका ध्येय होता है।

२. बाहरी बातें (Objective Considerations)—धन संचय करने की इच्छा की प्रेरणा केवल किसी व्यक्ति की निजी बातों से ही नहीं बल्कि देश में स्थित बाहरी दशाओं से भी मिलती है। ये दशाएं मुख्यतः निम्नलिखित हैं :—

(१) जान व माल की सुरक्षा (Security of Life & Property)—धन संचय इच्छा को प्रोत्साहन देने के लिये देश में जान व माल की रक्षा के साधन उपस्थित होना अनिवार्य है। यदि लोगों को यह विश्वास है कि उनकी पूंजी सुरक्षित न रहेगी उसे चोर डाकू उठा ले जायेंगे या सरकार अनुचित टैक्स लगा कर ले लेगी तो वे बचत नहीं करेंगे और अपनी सारी आय को वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति में ही व्यय कर देंगे। अस्तु धन संचय तभी सम्भव है जब देश में शान्ति और सुव्यवस्था हो।

(२) पूंजी के विनियोग की सुविधाएं (Facilities of Investment)—लोगों में संचय प्रवृत्ति को प्रबल करने के लिये यह आवश्यक है कि देश में पूंजी के विनियोग की सुविधाएं अधिकाधिक मात्रा में उपलब्ध हों। ज्यों ज्यों उद्योग धन्धों में वृद्धि होती जायगी, त्यों त्यों पूंजी को लगाने के लाभदायक क्षेत्रों में भी वृद्धि होती जायगी। बैंकों और बीमा कम्पनियों में पूंजी जमा करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। भारतवर्ष में इन साधनों का अभी अभाव है।

(३) सुयोग्य व्यापारी एवं उद्योगपति (Capable Businessmen & Industrialists)—देश में अधिकाधिक सुयोग्य व्यापारी एवं उद्योगपतियों के होने से भी पूंजी संचय को बड़ा प्रोत्साहन मिलता है। लोग उनकी कुशलता व सचाई पर विश्वास कर अपनी पूंजी को उनके व्यापार व उद्योग धन्धों में आसानी से लगा देते हैं जिससे पूंजी में वृद्धि होना स्वाभाविक है। इस देश में सुयोग्य व्यापारियों तथा उद्योगपतियों की अभी कमी है।

(४) ब्याज की ऊँची दर (High Rate of Interest)—यदि देश में ब्याज की ऊँची दर प्रचलित है तो लोग इसमें लाभ उठाने के लिए पूँजी-संचय की ओर भुक जाते हैं। भारतवर्ष में ब्याज की दर काफी ऊँची है परन्तु इसका लाभ केवल कुछ ही लोगों तक सीमित है क्योंकि अधिकांश जनसंख्या निर्धन है।

(५) मुद्रा का सचय-साधन के रूप में अस्तित्व (Existence of Money as a Store of Value)—लोगों को वस्तुओं के रूप में धन-संग्रह करना पड़ता है। इसमें अनेक असुविधाएँ तथा कठिनाइयाँ होने के कारण लोग वस्तुरूप धन-संचय नहीं करते। मुद्रा मूल्य का भंडार है। इसमें स्थायित्व का गुण होता है। मुद्रा की माँग बराबर बनी रहती है। यह शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तु नहीं है और न इसके मूल्य में उतार चढ़ाव ही होता है। अत मुद्रा के रूप में धन-संचय के अनेक लाभों से इस प्रवृत्ति को बड़ी प्रेरणा मिली है। हमारे देश में यह सुविधा विद्यमान है।

भारतवर्ष में पूँजी का विकास—संचय शक्ति भारतवर्ष में पूँजी की बड़ी कमी है। इसमें देश की आर्थिक उन्नति में बड़ी बाधा पहुँचती है। पूँजी के अभाव में प्राकृतिक साधनों का यथेष्ट उपयोग नहीं किया जा सकता। यहाँ का कृषि-व्यवसाय गिरी हुई अवस्था में है जबकि अन्य देशों में वैज्ञानिक आविष्कारों तथा ढगों से कृषि में पर्याप्त उन्नति हो रही है। उद्योग धन्धों की भी पिछड़ी हुई दशा है। इन सब कारणों से देश का उत्पादन कम है तथा यहाँ के अधिकांश निवासियों की आय इतनी कम है कि वे बचत कर ही नहीं पाते।

सचय-इच्छा (निजी बातें)—यहाँ पूँजी-संचय की इच्छा को प्रभावित करने वाली निजी बातों का भी अभाव नहीं है। हम में पारिवारिक स्नेह है और अपने प्रिय तथा अपने घनिष्ट सम्बन्धियों के लिये कुछ न कुछ संचय करने की भी इच्छा है। किन्तु धनवानों को छोड़कर सर्व साधारण लोगों में न तो सामाजिक व राजनैतिक सम्मान प्राप्ति की इच्छा है और न उनमें पर्याप्त दूरदर्शिता ही है। इसका मुख्य कारण भाग्य-वादिता और अज्ञानता है। पर वास्तविक कारण जिससे लोग धन-संचय नहीं कर पाते जनता की निर्धनता है। अधिकांश भारतवासियों को भर-पेट भोजन पर्याप्त वस्त्र और मकान आदि तक उपलब्ध नहीं होते, तो भला बताइये कि भला-लोग क्या बचत कर सकते हैं। जिन लोगों में कुछ बचाने की शक्ति है उनमें खर्चीली कुरीतियाँ घर किये हुए हैं। यह अशिक्षा, अन्ध-विश्वास और बुरी सामाजिक रीति-रिवाजों का फल है।

सचय शक्ति (बाहरी बातें)—पूँजी के विकास की मन्द गति का एक कारण यह भी है कि यहाँ पर पूँजी के विनियोग (Investment) के सुरक्षित और लाभप्रद साधनों का अभाव है। नये व्यापारिक क्षेत्रों का विकास हो रहा है, उद्योग व्यवसाय भी बढ़ रहे हैं, परन्तु अन्य देशों की अपेक्षा यह बहुत ही कम हैं। बैंकों का विकास भी देश के आकार के अनुसार नहीं है। गत वर्षों में कई बैंकों के फेल हो जाने से पूँजी संचय कार्यों में बड़ी बाधा पहुँची है। इसके अतिरिक्त लोगों में धन गाड़ने की भी प्रवृत्ति है। गड़े हुए धन से पूँजी वृद्धि नहीं होती। इस देश में गहनों के विशेष प्रचार से पर्याप्त धन गहनों के बनाने में लगा दिया जाता है। कितने ही राजा, महाराजा आदि अपने धन का मनमाना दुरुपयोग करते हैं। सच तो यह है कि लोगों में विश्वास पैदा करने के निर्विघ्न, मितव्ययी, ईमानदार आदि जैसे कुशल व योग्य उद्योगपतियों और व्यापारियों की अधिक संख्या में इस देश को आवश्यकता है।

पूंजी की गतिशीलता (Mobility of Capital)

पूंजी की गतिशीलता का अर्थ—पूंजी के स्थान या उपयोग से दूसरे स्थान या उपयोग में प्रयुक्त होने की योग्यता और तत्परता को 'पूंजी की गतिशीलता' कहते हैं। उत्पत्ति के समस्त साधनों में पूंजी अधिक गतिशील है। पूंजी पूंजीपति से पृथक् की जा सकती है, अतः श्रम की भाँति पारिवारिक स्नेह, घर का प्रेम, वातावरण की अनुकूलता आदि व्यक्तिगत बातों का इसकी गतिशीलता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त श्रम और पूंजी की स्थानान्तरण दशाओं में बड़ा अन्तर है। पूंजी सुगमता और कम लागत से एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजी जा सकती है पर श्रम के साथ ऐसा नहीं है।

पूंजी की गतिशीलता के कारण
(Factors leading to the Mobility of Capital)

१. सुरक्षा (Security)—पूंजी की सुरक्षा पूंजीपति का सबसे पहला ध्येय होता है। पूंजी का विनियोग किसी भी व्यवसाय या व्यापार में हो अथवा कहीं पर भी हो, पूंजी की सुरक्षा पर निश्चित ही ध्यान देना चाहिये। सुरक्षा के अभाव में पूंजी का विनियोग सम्भव नहीं।

२. लाभदायकता (Profitability)—दूसरा ध्यान पूंजीपति का ब्याज की दर पर होता है। यदि विनियोग सुरक्षित हो, तो पूंजी उसी में लगाई जायगी जिसमें ब्याज की दर अधिक है।

३. विनियोग के सन्तोषजनक और विभिन्न मार्ग (Satisfactory & Diverse channels of investment)—देश में क्या-क्या और किस प्रकार के विनियोग-मार्ग विद्यमान हैं, यह देश की आर्थिक उन्नति पर निर्भर है।

४ शीघ्र सवाद और पूंजी भेजने के साधन (Rapid Means of Communication and Transmission of Capital)—बिना शीघ्र सवाद और पूंजी भेजने के साधनों के पूंजी का एक स्थान से दूसरे स्थान को शीघ्रता व कम लागत से भेजना सम्भव नहीं है।

५. विनियोग-क्षेत्र की राजनैतिक स्थिरता (Political Stability of the Region of Investment)—जिस क्षेत्र में पूंजी लगाई जाय वह राजनैतिक हलचलों से मुक्त होना चाहिये, अन्यथा उसके प्रति विनियोगक के दिल में विश्वास जमना कठिन होगा।

६. आर्थिक व्यवस्था का विकास (Development of Financial Mechanism)—पूंजी की गतिशीलता में बैंक व्यवस्था बड़ी सहायक है। अतः उसका विकास होना आवश्यक है।

पूंजी की गतिशीलता में भिन्नता (Variation in the Mobility of Capital)—पूंजी की गतिशीलता इस बात पर भी निर्भर होती है कि पूंजी तरल (Liquid) है या स्थायी (Fixed)। तरल पूंजी अति गतिशील होती है। जैसे रुपया और विपण्य प्रतिभूतियाँ (Marketable Securities) आदि वस्तुएं जिनका रोकड़ राशि में परिवर्तन शीघ्रता और सुगमता से हो सके। स्थायी पूंजी इतनी गतिशील नहीं होती है। उदाहरण के लिए, यन्त्र, भवनादि में लगी हुई पूंजी बड़ी कठिनाई से वापस

निकाली जा सकती है। इन वस्तुओं के विक्रय में अधिक समय लगता है तथा क्षति भी पहुँचती है।

भारत में पूँजी की गतिशीलता (Mobility of Capital in India) भारतीय पूँजी अधिक गतिशील नहीं है इसके निम्नलिखित कारण हैं —

(१) आर्थिक विकास का शैशव काल (Infancy of Economic Development)—भारत के आर्थिक विकास के लिये नई नई औद्योगिक योजनायें बन रही हैं तथा उनमें से कई क्रियाशील भी हो रही हैं परन्तु उनकी सुरक्षा के प्रति अभी लोगों में पूर्णरूप से विश्वास नहीं हुआ है। अतः ऐसी दशा में पूँजी की गतिशीलता अधिक नहीं हो सकती।

(२) हमारा आर्थिक ढांचा अधिक सुव्यवस्थित नहीं है (Our Financial Mechanism is not well Developed)—वर्तमान बैंक देश की आवश्यकता से बहुत कम हैं। देहातों में तो इनका पूर्ण अभाव है। इसके अतिरिक्त बैंकों की किस्म भी बहुत कम है। इससे पूँजी की गतिशीलता में बाधा पहुँचती है।

(३) साहस का अभाव (Lack of Enterprise) भारतवासियों में साहस का अभाव है। उनमें जोखिम उठाने की भावना अभी पूर्ण रूप से जाग्रत नहीं हुई है। अस्तु विनियोग मांग भी कम है।

(४) बेईमानी (Dishonesty) कभी-कभी अवास्तविक कम्पनियों के अस्तित्व का झूठा प्रचार कर तथा उनके लाभ के प्रति ऊँची आशाएँ दिलाकर जनता से पूँजी इकट्ठी कर ली जाती है। जब वास्तविकता प्रकाश में आती है तो लोगों का विश्वास बिल्कुल चला जाता है। इसके कुप्रभाव से अच्छी कम्पनियों को भी हानि पहुँचती है।

(५) जन साधारण की अत्यधिक निर्धनता (Extreme Poverty of the People)—भारतवर्ष में अधिकांश लोग इतने निर्धन हैं कि उन्हें पर्याप्त भोजन वस्त्र आदि तक उपलब्ध नहीं होते। ऐसी दशा में उनसे बचत की आशा दुराशा मात्र है। देहातों में ग्रामीणों की बहुत कम आय होने से वहां पूँजी की वृद्धि और भी कम है।

(६) रूढ़िवादिता और लोगों की अनुत्पादक संचय की प्रकृति (Conservatism & Hoarding Habit of the People)—अधिकांश भारतवासी अपने पूर्वजों के पथ से विचलित नहीं होना चाहते हैं। प्राचीन समय से लोग अपनी पूँजी गहने आदि में लगाते हैं अथवा उसे जमीन में गाड़कर रखते हैं। इससे उत्पादक कार्यों के लिए पूँजी का अभाव हो जाता है।

(७) सहायक व्यवसायों और धन्धों का अभाव (Lack of Subsidiary Industries and Occupations)—सहायक व्यवसायों और धन्धों के अभाव में पूँजी लगाने के क्षेत्र में कमी आ जाती है जिससे पूँजी की वृद्धि और उसकी गतिशीलता रुक जाती है।

(८) विश्वसनीय सूचनालयों का अभाव (Lack of reliable Information Bureaus)—भारतवर्ष में ऐसी संस्थाओं का पूर्ण अभाव है जिनसे जन साधारण पूँजी के सुरक्षित व लाभदायक विनियोग के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकें।

(९) विश्वासपात्र और अनुभवी उद्योगपतियों और व्यापारियों का अभाव (Lack of Reliable and Experienced Industrial Magnates & Businessmen)—जन साधारण में प्रचलित अविश्वास की भावना तभी दूर हो

सकती है जबकि देश में अधिकाधिक संख्या में विश्वासपात्र और अनुभवी उद्योगपति व व्यापारी हों।

(१०) सरकार की औद्योगिक नीति (Industrial Policy of the Government)—ब्रिटिश राज्य काल में सरकार की औद्योगिक नीति भारतीय उद्योग धन्धों के विपरीत रही। परन्तु अब भी भारत सरकार की नीति बिल्कुल स्पष्ट नहीं है सरकार ने १० वर्ष पश्चात् उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की बात जो देश के सामने प्रस्तुत की है उसने पूँजीपतियों के मस्तिष्क में अशान्ति पैदा कर दी है।

भारत में पूँजी की गतिशीलता की बाधाओं को दूर करने के उपाय

१ विनियोग बैंक और अन्य सलाहकार संस्थाओं की स्थापना (Establishment of Investment Banks & Other Consulting Bodies)—इनसे पूँजी के विनियोग के सम्बन्ध में ठीक और विश्वास करने योग्य सलाह मिल सकती है।

२ केवल सफल होने वाली संस्थाएँ ही चालू की जायें (Starting only concerns having chances of success)—राष्ट्र के औद्योगिक विकास के दौरान काल में फेल होने वाली संस्थाओं को आरम्भ करना बड़ा आपत्तिजनक है क्योंकि इससे लोगों को पूँजी लगाने में बड़ी हिचक पैदा हो जाती है।

३ प्रान्तीय औद्योगिक कारपोरेशन की स्थापना (Establishment of Provincial Industrial Corporation)—भारत के प्रत्येक प्रान्त में बम्बिग इन्क्वायरी कमेटी के सुझाव के अनुसार औद्योगिक कारपोरेशन की स्थापना होनी चाहिए जिससे उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण मिल सके और जन साधारण में विनियोग सम्बन्धी विश्वास पैदा हो सके।

४ आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का विकास और सहकारी आन्दोलन का प्रसार (Development of Modern Banking and Expansion of Cooperative Movement)—इससे अनुत्पादक कार्यों में लगी हुई पूँजी निकल कर उत्पादक कार्यों के लिये उपलब्ध हो सकेगी।

५ सरकार की अनुकूल नीति (Sympathetic Attitude of the Government)—भारत सरकार की नीति में निजी उद्योगों के लिये अधिक सहानुभूति आवश्यक है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—पूँजी किसे कहते हैं ? उत्पादन में उसका क्या स्थान है ? (म० बो० १९५०)

२—पूँजी का सचय किन किन बातों पर निर्भर है ? भारत की पूँजी सम्बन्धी वर्तमान स्थिति में उदाहरण दीजिए। (म० बो० १९५६)

३—पूँजी की कार्यक्षमता किन बातों पर निर्भर है ? व्यवस्थापक द्वारा पूँजी अधिक क्रियाशील किस प्रकार बनाई जा सकती है ? (उ० प्र० १९५६)

४—चल और अचल पूँजी में भेद बताइए। पूँजी का सचित हो जाना किन किन बातों पर निर्भर है। (उ० प्र० १९५८ उ० प्र० १९५३)

५—पूँजी की परिभाषा दीजिए। भारत मे पूँजी की सचय की मद गति के कारण दीजिए। (आ० बो १६५५)

६—पूँजी शब्द से आप क्या अर्थ समझते है? वे कौन सी दशाएँ हैं जो इसकी पूर्ति निर्धारित करती हैं? यह भी बताइए कि ये दशाएँ भारतीय गावो म कहाँ तक पाई जाती हैं? (रा० बो० १६५३)

७—भारतीय सदर्भ मे बताइए कि वे कौन सी दशाएँ हैं जो धन के सचय मे सहायक होती है? ये बात कृपक पर कहा तक लागू है? (रा० बो० १६५१)

८—देश मे पूँजी के बढने के कारणो को स्पष्ट कीजिए। क्या भारत मे पूँजी की कमी है? (म० भा० १६५५)

६—पूँजी की परिभाषा कीजिए। उसके निर्माण की प्रक्रिया समझाइए। देश मे पूँजी का सचय किन कारणो पर निर्भर रहता है वह सक्षेप मे बताइए। (नागपुर १६५८)

१०—नोट लिखिए —

चल और अचल पूँजी (उ० प्र० १६५७ ५२, ४८) म० भा० १६५५, नागपुर १६५७ सागर १६५५)

इन्टर एग्रीकल्चर

११—पूँजी शब्द की परिभाषा कीजिए तथा चल अचल पूँजी पर एक सक्षिप्त नोट लिखिए। (रा० बो० १६५६, अ० बो० १६५७, ५२)

अध्याय ३७

मशीनों का उपयोग

(The Use of Machinery)

मशीनो का प्रादुर्भाव एव महत्त्व—पूँजी के कई रूप है जिनमे मशीन उसका सबसे महत्त्वपूर्ण रूप है। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मशीनो के आविष्कार हुये जिनके कारण उत्पादन-क्षेत्र मे आशातीत उन्नति हुई। मशीनों के प्रयोग से मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त की और आधुनिक सभ्यता की ओर अग्रसर हुआ। कृषि, उद्योग, यातायात और व्यापार मे मशीनो का प्रयोग उत्तरोत्तर बढता जा रहा है। आधुनिक आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था मे मशीनो का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है कि *इस युग को हम मशीन युग (Machine Age) कहे बिना नही रह सकते।*

अब हम यह देखेंगे कि मशीनों के प्रयोग से समाज को क्या लाभ और हानियां है।

मशीनों से लाभ (Uses or Advantages of Machinery)

मशीनो से बहुत से लाभ है, उनमे निम्नलिखित मुख्य हैं :—

१. **प्रकृति पर मनुष्य का अधिकार बढ गया है**—मशीनो द्वारा आज मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियो पर अपना आधिपत्य स्थापित कर बड़े बड़े आश्चर्यजनक काम कर दिखाये हैं। जैसे, बडी-बडी नदियों पर पुल व बांध बना दिये गये हैं, हवाई और समुद्री जहाज, रेले, बिजली आदि अनेक आविष्कारो से उसने आज प्रकृति पर विजय प्राप्त करली है और करता ही जा रहा है।

२. **मनुष्य भारी और निरस काम करने से मुक्त हो गया है**—मशीनों के आविष्कारों के पूर्व मनुष्य को भारी से-भारी काम अपने आप करना पड़ता था जिससे उसकी शारीरिक शक्ति मे ह्रास होकर वह शीघ्र ही मृत्यु का शिकार हो जाता था। अब मशीन द्वारा भारी-भारी वस्तु उठा कर इच्छित स्थान पर आसानी से पहुँचाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त मशीन के अभाव में एक ही प्रकार का काम मनुष्य को बार-बार करना पडता था। परन्तु अब यह कार्य मशीन द्वारा सुगमता से सम्पन्न किया जा सकता है जिससे कार्य मे नीरसता नही रहती है। जैसे, कागजों का मोडना आदि।

३. **मशीन से श्रमिक की योग्यता में वृद्धि होती है**—मशीनों मे विशेषकर छोटी मशीनो के निर्माण और प्रयोग मे बडी चतुराई की आवश्यकता होने से वह निपुण, सावधान तथा होशियार हो जाता है जिसके कारण उसकी योग्यता में वृद्धि होती है।

४ मशीनों से श्रम की गतिशीलता बढ़ती है—मशीनों के प्रयोग से श्रम की गतिशीलता में वृद्धि होती है। एक कारखाने में काम करने के बाद दूसरे कारखाने में भी काम आसानी से किया जा सकता है क्योंकि कुछ उद्योगों में मशीन लगभग एक सी ही होती है।

५ मशीन द्वारा काम अधिक नियमितता, निश्चितता और शीघ्रता से होता है—मशीनों द्वारा जो काम किया जाता है वह मनुष्य की अपेक्षा अधिक नियमित, निश्चित और शीघ्र होता है। यदि हाथ से कारीगर दस दिन में एक गलीचा बनाता है तो मशीन से दस गलीचे एक दिन में बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त मशीन द्वारा बनी हुई सारी वस्तुएँ एक-सी होंगी परन्तु हाथ से बनी हुई एक ही प्रकार की वस्तुओं में भिन्नता पाई जायगी।

६ मशीन द्वारा अधिक वस्तुएं कम लागत में बनाई जा सकती हैं—मशीनों द्वारा वस्तुएं अधिक परिमाण में बनाई जाने के कारण सस्ती पड़ती हैं। जो वस्तुएँ पहले केवल धनी लोग ही खरीद सकते थे वे अब सस्ती होने से जन साधारण के प्रतिदिन के उपभोग की वस्तुएं हो गई हैं।

७ मशीनों पर अकुशल श्रमिक भी काम कर सकते हैं—साधारण योग्यता वाले श्रमिक भी अब मशीन द्वारा वह काम कर सकते हैं जो पहले निपुण श्रमिकों द्वारा ही सम्पन्न हो सकता था। अब सब देखना का काम मशीन करती है श्रमिक को तो केवल मशीन संचालन की ही देख रेख करनी पड़ती है।

८ मशीनों से समय में बचत होती है और अधिक अवकाश मिलता है—मशीन के प्रयोग से बचत होने से अवकाश अधिक मिलने लग गया है। इस अवकाश का अब मनोरंजन, अध्ययन, आध्यात्मिक विकास तथा अन्य लाभदायक कार्यों द्वारा सदुपयोग हो सकता है।
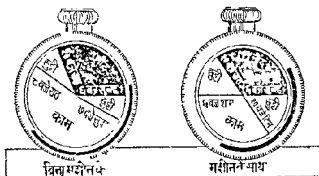
९ मशीनों से दूरी और समय की समस्या बहुत कुछ हल हो गई है—मशीनों द्वारा अब माल एक स्थान से दूसरे स्थान को सुगमता, शीघ्रता और कम खर्च से भेज सकते हैं। महीनों का काम दिनों और घंटों में होने लग गया है। संसार के विभिन्न भागों के मनुष्य एक दूसरे के समीप आ गये हैं। अब सारा संसार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' हो गया है।

१० मशीन के प्रयोग से मनुष्य की बुद्धि और व्यक्तित्व का विकास होता है—मशीन पर काम करने के लिए प्रायः ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जो बुद्धि और उत्तरदायित्व से काम कर सकें। इसलिए मशीन पर काम करने वाले व्यक्तियों की बुद्धि और उत्तरदायित्व में विकास होना स्वाभाविक है।

११ मशीन से रोजगार मिल जाता है—मशीनों के प्रयोग से उद्योग-धन्धों में पर्याप्त विकास हो रहा है जिसके फलस्वरूप बहुत से मनुष्यों को काम-धन्धा मिल जाता है।

१२ मशीन से मजदूरी में वृद्धि होकर जीवन स्तर में सुधार हो सकता है—कारखानों में मजदूरी अच्छी मिलती है जिससे श्रमिकों के जीवन स्तर में सुधार हो सकता है।

मशीनों से हानियाँ

(Abuses or Disadvantages of Machinery)

मशीनों के प्रयोग से होने वाली हानियाँ निम्नलिखित हैं —

१ मशीनों के प्रयोग से बेकारी बढ़ती है—मशीन की सहायता से एक ही श्रमिक बहुत से श्रमिकों का काम कर सकता है अतः इससे बेकारी बढ़ जाती है। परन्तु वस्तुओं के सस्ते होने से उनकी माँग बढ़ जाती है और अन्त में कुछ और व्यक्तियों को भी काम मिल जाता है।

२ मशीनों के प्रयोग से श्रम की नीरसता बढ़ती है—मशीनों पर काम करते समय श्रमिकों को खड़े खड़े मशीन की गति को देखना ही कार्य करना पड़ता है, इसलिए उनका काम नीरस हो जाता है। परन्तु इसके साथ साथ यह भी बात है कि काम के घंटे कम हो गये हैं जिससे अवकाश अधिक मिलने लग गया है। इस अवकाश का श्रमिक सदुपयोग कर सकता है।

३. मशीनों के प्रयोग से श्रमिकों का स्वास्थ्य बिगड़ता है—मशीनों के आविष्कार से पूर्व श्रमिक अपने घरों के कारखानों में स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छानुसार गति से काम करते थे जिससे उनका स्वास्थ्य बिगड़ने नहीं पाता था। लेकिन अब उन्हें परतन्त्र होकर किसी के निरीक्षण में नियत समय पर निरन्तर कार्य में संलग्न रहना पड़ता है जिससे उनके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त मशीनों की आवाज और ग्रीष्म ऋतु की गर्मी आदि बातों से वातावरण अस्वास्थ्यकर हो जाता है।

४ मशीनों से अत्युत्पादन होना सम्भव है—मशीनों के द्वारा माल बड़ी मात्रा में तैयार होता है। अत्युत्पादन (Over Production) से बाजार में माल के माँग की अपेक्षा पूर्ति बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप मूल्य घटने लगता है। उत्पत्ति कम होने लगती है और आर्थिक संकट आ जाता है। श्रमिकों की संख्या में छटनी और मजदूरी में कमी होने लगती है।

५ मशीनों से शिल्पकारों को आर्थिक क्षति पहुँचती है—मशीन से बने हुए माल की प्रतियोगिता में हाथ का बना हुआ माल नहीं ठहर सकता क्योंकि हाथ का बनाया हुआ माल महँगा पड़ता है और मनुष्य उसे आसानी से नहीं खरीद सकते। इससे स्वतन्त्र शिल्पकारों का निर्वाह नहीं होने पाता।

६. मशीन श्रमिकों के शारीरिक एवं नैतिक पतन का प्रमुख कारण बन चुकी है—*कारखाना प्रणाली के अन्तर्गत सहस्रो मनुष्यों को औद्योगिक केन्द्रों में बसाना* पड़ता है जिससे आबादी में अत्यधिक वृद्धि होकर अस्वास्थ्यकर वातावरण पैदा हो जाता है। रहने के लिए स्वच्छ मकानों के अभाव में श्रमिकों को गन्दी काल कोठरियों में रहना पड़ता है। ऐसे वातावरण में मद्यपान, अत्यधिक भोग विलास व अन्य शारीरिक एवं नैतिक पतन करने वाले अनेक दोषों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

७. मशीन से बनी वस्तुएँ इतनी सुन्दर और कलात्मक नहीं होती जितनी कि हाथ से बनी वस्तुएँ होती हैं—*अब भी अधिकांश कलात्मक वस्तुएँ हाथ से ही बनाई जाती हैं,* जैसे कसीदे का काम, रेशमी साड़ियाँ आदि।

८. मशीनों के प्रयोग से स्वामियों और श्रमिकों के मध्य संघर्ष चलता रहता है—*श्रमिकों को पारिश्रमिक मजदूरी के रूप में दिया जाता है उससे वे प्रायः* असन्तुष्ट रहते हैं और स्वामियों के अत्यधिक लाभ को अनुचित बतलाते हैं। इसके अतिरिक्त वे और कई सुविधाओं की माँग करते हैं जिन्हें मिल मालिक देने में आना-कानी करते हैं, इन कारणों से उनमें आपस में संघर्ष चलता रहता है जिसके फलस्वरूप हड़तालें, तालाबंदियाँ आदि समाज घातक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है।

९. मशीन कुशल श्रमिकों को केवल मशीन चलाने वाले ही बना देती है—मशीनों के प्रयोग से श्रमिकों को अपनी कार्यकुशलता दिखाने का अवसर नहीं मिलता, क्योंकि सब कारीगरों का काम मशीन द्वारा ही सम्पन्न होता है। श्रमिक चाहे जितना कुशल क्यों न हो उसे केवल खड़े खड़े मशीन के चलने की गति को ही देखना पड़ता है।

१०. आधुनिक औद्योगीकरण के दोषों की जन्मदाता मशीनें ही हैं—औद्योगिकवाद से पूँजीवाद की उत्पत्ति हुई है और इससे स्त्री व बच्चा तथा उपभोक्ताओं का शोषण होता है।

निष्कर्ष (Conclusion)—वास्तव में, मशीनों से लाभ और हानियाँ दोनों ही हैं। *परन्तु वर्तमान समय में मशीनों का प्रयोग इतना बढ़ गया है कि उनके बिना* हमारा सामाजिक जीवन चलना कठिन है। अस्तु आवश्यकता इस बात की है कि जहाँ तक हो सके मशीनों के प्रयोग से होने वाली हानियों पर विचार किया जाय और उन्हें दूर करने के उपाय सोचे जायँ।

मशीनों का उत्पत्ति पर प्रभाव (Effects of Machinery on Production)—*मशीनों के प्रयोग से उत्पादन क्षेत्र में क्रान्ति मच गई है और उत्पत्ति* को विविध प्रकार से प्रभावित कर दिया है। उत्पत्ति पर मशीन के कुछ प्रभाव संक्षेप में नीचे दिये जाते हैं :—

१. बड़े परिमाण में उत्पत्ति (Mass Production)

२. वस्तुओं का प्रमापीकरण (Standardisation of Goods)

३. शुद्धता और यथार्थता (Accuracy and Exactness)

४. उत्पत्ति की कारखाना प्रणाली (Factory System of Production)

५. उत्पत्ति में श्रम-विभाजन (Division of Labour in Production)

६. उत्पत्ति की लागत का अत्यधिक कम होना (Enormous Decrease in the Cost of Production)

मशीनों का श्रम पर प्रभाव (Effects of Machinery on Labour)—मशीनों के प्रयोग से श्रम पर अच्छे भी प्रभाव पड़ते हैं और बुरे भी। ये दोनों ही प्रकार के प्रभाव नीचे दिये जाते हैं :—

(अ) मशीनों पर श्रम से उत्तम प्रभाव (Good Effects of Machinery on Labour)—

१. मशीनों से श्रमिकों की योग्यता, बुद्धि और विचारशीलता में वृद्धि होती है।

२. मशीनों के उपयोग से श्रमिकों को शारीरिक श्रम करना पड़ता है।

३. मशीनों से श्रम की गतिशीलता में सहायता मिलती है।

४. मशीन पर अकुशल श्रमिक भी यथाविधि काम कर सकता है।

(आ) मशीनों का श्रम पर बुरा प्रभाव (Bad Effects of Machinery on Labour)—

१. मशीनों के प्रयोग से बेकारी बढ़ती है।

२. मशीनों से काम में नीरसता आ जाती है।

३. श्रमिक मजदूरी पर काम करते हैं इसलिए उत्पत्ति-कार्य में उनकी कोई रुचि नहीं होती।

४. श्रमिक मशीन पर बनाई जाने वाली वस्तु के केवल एक ही अंग को देखता रहता है, इसलिए सम्पूर्ण वस्तु के निर्माण होने पर जो प्रसन्नता किसी को होती है इससे वह वंचित रहता है।

५. मशीन का प्रयोग अपने सुविधानुसार नहीं हो सकता। श्रमिक को तो काम करने के लिये कारखाने में जाना ही पड़ेगा।

६. मशीन प्रयोग से कुशल श्रमिक केवल मशीन-चालक बन जाता है।

कृषि में केवल मशीनों का प्रयोग (Use of Machinery in Agriculture)

मशीनों के प्रयोग से खेती में बड़ी उन्नति हुई है इसका प्रमाण हमें अमेरिका और इङ्गलैंड के उदाहरणों से मिल सकता है। खेत की जुताई से लेकर फसल के घर लाने तक की समस्त क्रियाओं में मशीनों का प्रयोग बड़ा लाभदायक सिद्ध हुआ है। उदाहरण के लिये भारतवर्ष में देशी ढंगों और औजारों से खेती होती है और इङ्गलैंड में आधुनिक मशीनों द्वारा। भारतवर्ष में एक एकड़ भूमि की फसल को एक दिन में काटकर खलियान में ले जाने में ८ पुरुष और कुछ स्त्रियों की आवश्यकता होती है, परन्तु इङ्गलैंड में मशीनों के प्रयोग से एक आदमी एक दिन में ६ एकड़ भूमि की फसल को काटकर तथा बाँधकर खलियान में पहुँचा देता है।

मशीन और भारतीय कृषि (*Machinery & Indian Agriculture*)

अमेरिका, इङ्गलैंड आदि देशों में बड़े बड़े खेतों के होने से तथा अन्य कई कारणों से मशीनों का उपयोग किया जाता है परन्तु भारतवर्ष में मशीनों के प्रयोग के लिये अनुकूल परिस्थितियों का अभाव है। अतः भारतवर्ष में निम्नांकित कारणों से खेती में मशीनों का प्रयोग नहीं हो सकता :—

(१) भारतवष छोटे छोटे और यत्र-तत्र स्थित खेता का देश है जहा मशीना द्वारा खेती लाभदायक सिद्ध नहा हो सकती।

(२) भारतवष की अधिकाश जनता कृषि पर ही निभर है। मशीना द्वारा बड पमाने पर खेती करने से एक बडी सख्या म किसाना को बदखल करना पडगा जिससे एक दम बेकारी बढ जायगी इस बेकारी की समस्या को हल करना कठिन होगा क्याकि किसाना के लिय खेती के अतिरिक्त जीवन निर्वाह का अन्य कोई साधन नहा है।

(३) जिस देश म श्रम का अभाव हो वहा मशीना का प्रयोग लाभदायक सिद्ध हो सकता है। परन्तु भारत जस देश म जहा श्रम की प्रचुरता है मशीना का प्रयोग हानिकारक सिद्ध होगा क्याकि इसस बेकारी बढगी।

(४) भारतीय कृषक निधन और ऋणग्रस्त हैं अत य आधुनिक मशीना को न तो खरीद सकते हैं और न उनको रखने का खर्चा ही सहन कर सकते है।

वतमान दशाओ म भारतीय कृषि मशीना के प्रयोग के लिय अनुपयुक्त है। हा ही बड बड जमीदार एव आदि की खेती के लिय इनका सलाभ प्रयुक्त कर सकते है।

अभ्यासाथ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स म पूछ गए

१—मशीना के लाभा तथा हानिया की विवेचना कीजिए। (उ० प्र० १९४१)

२—उत्पत्ति म मशीना के प्रयोग के लाभ और हानिया बताइए।

(रा० बो० १९५१ ४७ म० भा० १९५२)

३—क्या मशीन देश का धन वृद्धि म काफी सहायता करती है ? क्या आप इसका प्रयोग अपने देश म अधिक पमाने पर करने के पक्ष म हैं ? (म० भा० १९५३)

४—उत्पादन म यन्त्र के गुण दोषा का वणन कीजिए। (म० भा० १९५४)

५— उद्योगा के लिय मशीन मिश्रित वरदान है। स्पष्ट व्याख्या कीजिए।

अध्याय ३८

संगठन
(Organisation)

संगठन का अर्थ (Meaning)— अब तक हमने उत्पत्ति के तीन साधनों भूमि, श्रम और पूँजी— का अध्ययन किया है। इन सबका अपना अपना महत्त्व है और ये तीनों उत्पत्ति के लिए अनिवार्य हैं। परन्तु व्यक्तिगत रूप में इनका कोई महत्त्व नहीं है। उनका महत्त्व और उनकी कार्यक्षमता उनके पारस्परिक संयोग और सहयोग पर ही निर्भर है। अस्तु ठीक प्रकार की उत्पत्ति के लिये इनका उचित संयोग और सहयोग नितान्त आवश्यक है। इन सबको एक साथ जुटा कर इनका सम्मिलित रूप में संचालन करने के कार्य को अर्थशास्त्र में संगठन या व्यवस्था कहते हैं। उत्पत्ति के विविध साधनों का सर्वोत्तम संयोग और सहकारिता तथा उनकी सुव्यवस्था को संगठन कहते हैं। जो व्यक्ति संगठन करने का भार अपने ऊपर लेता है वह संगठनकर्त्ता या व्यवस्थापक (Organiser) कहलाता है।

संगठन का महत्त्व (Importance)— संगठन या व्यवस्था धनोत्पत्ति का प्रमुख साधन है। इसके बिना किसी भी व्यवसाय या धंधे में सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती। आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में भी उत्पत्ति में किसी न किसी प्रकार का संगठन अवश्य पाया जाता था। किन्तु तब का औद्योगिक व्यवस्था इतनी साधारण एवं सरल होती थी कि संगठन या व्यवस्था का कोई अधिक महत्त्व नहीं था। परन्तु जैसे जैसे समाज की उन्नति होती गई वैसे वैसे संगठन का महत्त्व भी बढ़ता गया। आज कल की आर्थिक व्यवस्था में संगठन अनिवार्य बन गया है। उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के स्वामी अलग अलग होते हैं। इसलिए ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो इन साधनों को उत्पादन-कार्य के लिये एकत्रित करे। उत्पत्ति की वृद्धि के साथ-साथ मशीनों का प्रयोग, मंडियों का विकास, श्रम विभाजन आदि के कारण आधुनिक व्यवसाय या उद्योग का प्रबन्ध बहुत ही जटिल और जोखिमी हो गया है। जो लोग प्रबन्ध के कार्य में निपुण तथा विचक्षण होते हैं वे ही ऐसे काम को हाथ में ले सकते हैं। अस्तु आजकल की उत्पत्ति में संगठनकर्त्ता का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

संगठनकर्त्ता के कार्य (Functions of an Organiser)—आधुनिक उत्पादन में संगठनकर्त्ता अनेक लाभदायक और महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है। व्यवसाय की सम्पूर्ण भाग उसी पर निर्भर होता है। इसकी नीति और उसके कार्यों का उत्पत्ति के अन्य साधनों की उत्पादन शक्ति पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार सेनापति की कार्य क्षमता पर युद्ध की विजय या पराजय निर्भर होती है उसी प्रकार संगठनकर्त्ता

पर व्यापार की सफलता और असफलता निर्भर होती है। एक चतुर सेनापति की भाँति उसको आन्तरिक तथा बाह्य अनुशासन रखना पड़ता है। वह उत्पत्ति के समस्त साधनों का नियन्त्रण करता है उन्हें सचालित करता है और उचित आज्ञा देता है। इसीलिए उसे उद्योग का कप्तान या सेनापति (Captain of Industry) कहते हैं। संगठनकर्त्ता के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं —

(१) कार्य की सुव्यवस्थित योजना बनाना—सबसे पहले संगठनकर्त्ता सम्पूर्ण कार्य की आरम्भ से अन्त तक सुव्यवस्थित योजना बनाता है। वह यह निर्णय करता है कि किन वस्तुओं की उत्पत्ति की जायगी ? उत्पत्ति का परिमाण क्या होगा ? उत्पादन के लिये कौन-कौन से ढंग काम में लाये जायगे और व्यवसाय का मुख्य स्थान कहाँ रहेगा।

(२) उत्पत्ति के विविध साधनों को यथेष्ट मात्रा में जुटाना—साधारण नीति का निर्णय करने के पश्चात् उत्पत्ति के आवश्यक साधनों को वह खरीदता है और उनकी इस प्रकार व्यवस्था करता है कि उत्पत्ति अधिकाधिक हो और व्यय कम से कम। इसलिए वह सदैव उत्पत्ति के श्रेष्ठतर उपायों की खोज में संलग्न रहता है। उसे यह देखना होता है कि प्रत्येक साधन वह कार्य कर रहा है या नहीं जो उस साधन के लिये दिया गया है और कोई शक्ति बेकार तो नहीं जा रही है। वह उत्पादन के सम्पूर्ण क्षेत्र पर नियन्त्रण रखता है।

(३) श्रमिकों का सङ्गठन—समस्त श्रमिकों को उनकी बुद्धि, शिक्षा दीक्षा और दक्षता आदि के आधार पर भिन्न भिन्न वर्गों में विभाजन कर प्रत्येक श्रमिक को उसकी योग्यतानुसार काम देना, उनके काम के घण्टे निश्चित करना तथा काम की देख रेख करना भी संगठनकर्त्ता का कार्य है। वह आलसियों का अंकुश लगाता है और परिश्रमियों का उत्साह बढ़ाता है। सारांश यह है कि वह श्रमिकों से अधिक से अधिक कार्य लेने का प्रयत्न करता है।

(४) आवश्यक मशीनों तथा औजारों की व्यवस्था करना—वह श्रमिकों के लिये उत्तम औजारों और यन्त्रादि की व्यवस्था करता है जिससे उनकी कार्य कुशलता बनी रहे। नवीनतम यन्त्रों से उसे जानकारी रखनी पड़ती है और उनका वह उपयोग भी करता है। वह यह भी देखता है कि सब मशीनों का उपयोग यथाविधि हो रहा है या नहीं। पुरानी मशीनों के स्थान पर नई मशीन खरीद कर उनकी देख रेख और मरम्मत का उसे पूरा ध्यान रखना पड़ता है।

(५) कच्चे माल का प्रबन्ध करना—उसे आवश्यक कच्चे माल को उचित मात्रा में उचित स्थान से और अनुकूल समय पर न्यूनतम लागत पर लाने का भी प्रबन्ध करना पड़ता है।

(६) उत्पत्ति की मात्रा एवं किस्म का निर्धारण—उद्योग या व्यवसाय की सफलता के लिये उत्पत्ति का उचित परिमाण और किस्म का होना आवश्यक है। यदि माल माँग से अधिक बना है या उसकी किस्म प्रचलित फैशन के अनुसार नहीं है तो हानि होना स्वाभाविक है। इसलिए संगठनकर्त्ता को बाजार व मंडियों से सम्पर्क रखना अति आवश्यक है।

(७) माल की बिक्री की व्यवस्था करना—उत्पत्ति की बिक्री की व्यवस्था करना भी उतना ही आवश्यक कार्य है जितना कि अन्य कार्य। संगठनकर्त्ता को यह देखना होगा कि उसके माल की कहाँ कहाँ खपत हो सकेगी, उस माल का किस

प्रकार विज्ञापन किया जाय जिसमें माग में वृद्धि हो तथा तयार माल को किन किन साधनो द्वारा मडियो तक पहुँचाया जाय। किसी भी व्यवसाय की सफलता अधिक अश तक इन बातो पर निर्भर है।

(८) अनुसधान और वैज्ञानिक प्रयोगो द्वारा उत्पत्ति के नये सस्ते और उत्तम ढगो की खोज सगठनकर्ता अनुसधान और वैज्ञानिक प्रयोगो द्वारा उत्पत्ति के नये सस्ते और उत्तम ढगो को मालूम करने का प्रबन्ध करता है।

(९) साहस और जोखम उठाने का कार्य—जब सगठन और साहस का कार्य अलग अलग न होकर एक ही व्यक्ति के जिम्मे होता है तब सगठनकर्त्ता को सगठन कार्य के अतिरिक्त साहस (Enterprise) का कार्य अर्थात् लाभ हानि उठाने की जोखम भी सहनी पड़ती है।

(१०) विविध कार्य—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त उसे अनेक विविध कार्यों को सम्पन्न करना पड़ता है। वह विभिन्न उत्पत्ति के साधनो को प्रतिस्थापन नियम (Law of Substitution) के अनुसार सर्वोत्तम अनुपात मे मिलाकर उत्पत्ति वृद्धि नियम को क्रियाशील रखने का प्रयत्न करता है।

सगठन की कार्यक्षमता (Efficiency of Organisation)—सगठन की कार्यक्षमता का अर्थ उत्पत्ति का अधिकतम मितव्ययता के साथ प्रबन्ध करने की योग्यता से है। व्यवसाय की सफलता मितव्ययता युक्त उत्पादन पर निर्भर होती है और मितव्ययता सगठनकर्त्ता की कार्यकुशलता पर अवलम्बित होती है। अस्तु सगठनकर्ता या व्यवस्थापक का सुयोग्य होना आवश्यक है। एक कुशल और सुयोग्य व्यवस्थापक या सगठनकर्ता मे निम्नलिखित गुण होने चाहिए —

१ दूरदर्शिता (Foresight)—व्यवस्थापक मे भावी माग का सख्यात्मक और गुणात्मक अनुमान लगाने की सामर्थ्य होनी चाहिए और उस माग का परिवर्तन करने वाली राजनैतिक सामाजिक अथवा जलवायु सम्बन्धी सभी प्रकार की बातो का ज्ञान होना चाहिए। उसमे प्रत्येक उत्पत्ति के साधन की लागत के आधार पर तयार माल की लागत का अनुमान लगाने की भी योग्यता होनी चाहिए।

२ सगठन शक्ति (Organising Capacity)—एक योग्य सगठनकर्त्ता वह है जो उत्पत्ति के समस्त साधनो को सर्वोत्तम अनुपात मे मिलाकर अधिकतम लाभ प्राप्त कर सके।

३ श्रम सगठन की विशेष योग्यता (Special Ability to organise labour)—समस्त उत्पत्ति के साधनो मे से श्रम एक सक्रिय साधन है अत इसके सगठन के लिए विशेष योग्यता और चतुराई की आवश्यकता है। उसे श्रमिको की मनोवृत्तियो का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। श्रमिको के साथ उसकी सहानुभूति होनी चाहिए। सगठनकर्त्ता का व्यक्तित्व एव चरित्र ऐसा होना चाहिए जिससे श्रमिको का उसके प्रति विश्वास हो सके और वे उसे आदर की दृष्टि से देखे। श्रमिको को उचित मात्रा पर उसे सदैव उदार रहना चाहिए क्योंकि कुशल मजदूर अधिक काम करता है। उसमे इतनी योग्यता होनी चाहिए जिससे परिश्रमी और कुशल श्रमिको को प्रोत्साहन मिले और आलसियो को यथोचित दड भोगना पड़े।

४ उच्च शिक्षा (Higher Education)—उच्च शिक्षा द्वारा सगठनकर्त्ता की ज्ञान और निर्णय शक्ति बढ़ती है। उसके बुद्धि विकास के लिये अर्थशास्त्र वाणिज्य आदि विषयो की उच्च शिक्षा अनिवार्य है।

५ विशिष्ट ज्ञान (Technical Knowledge)—एक कुशल संगठन कर्त्ता के लिए विशिष्ट ज्ञान भी आवश्यक है। उसे कच्चे माल की किस्मों और मूल्यों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। व्यापार, कानून और मार्केटिंग व्यवस्था से परिचित होने के अतिरिक्त मशीनों और औजारों के सम्बन्ध में भी उसे पूरी जानकारी होनी चाहिए।

६ अनुभव (Experience)—अनुभवी संगठनकर्त्ता अधिक कुशल सिद्ध हो सकता है क्योंकि बहुत सी बातें अनुभव द्वारा सीखी जा सकती हैं।

७ विश्वास दिलाने की योग्यता (Ability to inspire Confidence)—आधुनिक व्यापार का ढाँचा अधिकतर उधार पर स्थिर है। उधार राशि तभी मिल सकती है जबकि पूँजीपतियों को व्यवस्थापक पर पूर्ण विश्वास हो। अतः विश्वास दिलाने वाले सचाई, ईमानदारी आदि गुण व्यवस्थापक में अवश्य होने चाहिए।

भारत में संगठन (Organisation in India)

कृषि और कुटीर व्यवसाय (Agriculture and Cottage Industries)—भारतवर्ष में इन दोनों धन्धों में व्यवस्थापकों का पूर्ण अभाव है। कृषि और कुटीर व्यवसाय की दशा तो बड़ी ही शोचनीय है। हमारे किसान और कारीगर जो स्वयं अपने अपने व्यवसायों का संगठन करते हैं इतने योग्य और कुशल नहीं हैं जिसके कारण दोनों व्यवसाय पतित अवस्था में हैं। इसी ओर कुटीर व्यवसायों का उत्पादन इतना कम है और उनका संचालन जीवन निर्वाह के लिए भी पर्याप्त नहीं है। अस्तु देश की आर्थिक उन्नति की दृष्टि से यह आवश्यक है कि शीघ्रातिशीघ्र इन व्यवसायों को सुसंगठित किया जाय क्योंकि इन पर अधिकांश भारतवासियों का भाग्य निर्भर है।

उद्योग धंधे (Industries)—भारत में जूट तथा सूती कपड़े के कारखाने तो कुछ सुव्यवस्थित हैं। इन सबको सुसंगठित करने का श्रेय विदेशी विशेषकर यूरोपियन संगठनकर्त्ताओं को है जिनकी अमूल्य सेवाओं से औद्योगिक क्षेत्र में इतनी उन्नति हो सकी है। परन्तु यह कहना भी विषयान्तर न होगा कि विदेशी व्यवस्थापकों का आयात भारतवर्ष के लिए बड़ा महँगा पड़ता है क्योंकि उन्हें बहुत ऊँचा वेतन देना पड़ता है। इस देश की जलवायु गर्म होने के कारण उनकी कार्यक्षमता स्वयं कम हो जाती है। देश प्रेम के अभाव में काम में उनकी रुचि इतनी नहीं होती तथा उनके साथ कई वर्षों के नौकरी सम्बन्धी प्रसंविदे होने से उनका निवारण नहीं हो सकता अतः वे प्रायः अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा कर बैठते हैं।

इन्हीं कारणों से हमारे उद्योगपतियों ने भारतीय विद्यार्थियों को विदेशों में संगठन सम्बन्धी शिक्षा दीक्षा और अनुभव के लिए भेजना प्रारम्भ कर दिया है। भारतीय सरकार कमीशन इन उद्योगों को संरक्षण (Protection) प्रदान करता है जो भारतवर्ष ने सिद्धान्त को अपनाते हैं। इससे भारतीय कुशलता उन्नति के पथ पर है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—संगठन का क्या अर्थ है? यदि आपसे हाथ के बने कपड़े के उद्योग को संगठित करने के लिए कहा जाय तो आप कैसे करेंगे? (उ० प्र० १९४४)

२—उद्योग के कप्तान (Captain of Industry) पर टिप्पणी लिखिए।

अध्याय ३९

श्रम-विभाजन
(Division of Labour)

श्रम विभाजन का अर्थ (Meaning)—किसी कार्य के कई भाग और उपविभाग करना और उन्हे श्रमिकों के मध्य उनकी रुचि और योग्यतानुसार बाँटना अर्थशास्त्र मे श्रम विभाजन कहलाता है। श्रम विभाजन के अन्तर्गत प्रत्येक श्रमिक को काय का वही भाग दिया जाता है जिसमे उसकी विशेष रुचि होती है। वह उसी काय को निरन्तर करते रहने से उस काय मे दक्ष हो जाता है। श्रम विभाजन मे सब पृथक पृथक भागो पर एक साथ मिल कर काम करते है। और सभी के सहयोग से अभीष्ट वस्तु तैयार होती है।

श्रम विभाजन का विकास (Growth of Division of Labour)—मानव-जीवन के प्रारम्भिक काल मे मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत ही कम और सरल थीं, प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति स्वय अपने परिश्रम से ही कर लेता था। परन्तु कालान्तर मे सभ्यता के विकास के साथ साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ भी बढ़ती गई। उसे अपनी बनाई हुई वस्तुओ से आवश्यकताओ की तृप्ति करने मे असुविधा होने लगी। अत प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति को अलग अलग वस्तुओ के उत्पन्न करने मे लगाने लगा। कोई किसान बन बैठा, कोई जुलाहा और कोई कुम्हार आदि। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी
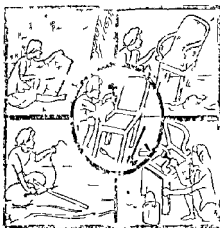
यह श्रम विभाजन नहीं है।

यह श्रम विभाजन है।

शक्ति और योग्यतानुसार पृथक् पृथक् काम करने लग गया। पारस्परिक वस्तुओं का विनिमय होने के कारण आवश्यकताओं की तृप्ति में बड़ी सुविधा हो गई। मुद्रा विनिमय से श्रम विभाजन को बड़ा प्रोत्साहन मिला। औद्योगिक विकास और यन्त्रादि के आविष्कारों की उन्नति ने प्रत्येक कार्य के बहुत से विभाग और उपविभाग सम्भव कर दिये हैं। प्रत्येक विभाग का काम एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह को सौंप दिया जाता है। उदाहरणार्थ जूते बनाने के कारखाने में जूते बनाने का काम कई विभागों में विभाजित है। कुछ मनुष्य चमड़ा रंगते हैं, कुछ उसके टुकड़े करते हैं, कुछ जूतों के तले बनाते हैं और कुछ उनका अग्रभाग बनाते हैं।

श्रम विभाजन का महत्व (Importance)—श्रम विभाजन आधुनिक सभ्यता का आधार है क्योंकि बिना इसके आर्थिक जीवन सुचारु रूप से नहीं चल सकता। श्रम विभाजन ने मनुष्य को आधुनिक सभ्यता की ओर अग्रसर होने में बड़ी सहायता प्रदान की है। उत्पत्ति के विभिन्न साधनों की कार्यक्षमता की वृद्धि का मुख्य कारण श्रम विभाजन है। बिना श्रम विभाजन के मनुष्य अपनी अनेक आवश्यकताओं की तृप्ति नहीं कर सकता जिसके फलस्वरूप उसका जीवन स्तर नीचे गिर जायगा। श्रम विभाजन के कारण ही उत्पादन क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई है। सभी से व्यक्तिगत एवं सामाजिक दृष्टि से वर्तमान आर्थिक ढाँचे में श्रम विभाजन एक आवश्यक वस्तु है।

श्रम विभाजन के लिये आवश्यक बातें (Conditions of Division of Labour)—श्रम विभाजन के लिये निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं :—

१. श्रमिकों का समूह (Group of Labourers)—जब तक कई श्रमिक एक साथ मिलकर काम नहीं करेंगे तब तक श्रम विभाजन सम्भव नहीं होगा। अकेले श्रमिक के साथ श्रम विभाजन नहीं हो सकता।

२. विनिमय प्रथा (Exchange System)—श्रम विभाजन के अन्तर्गत श्रमिक केवल एक या दो वस्तुएँ ही अपने प्रयत्नों से प्राप्त कर सकता है, शेष वस्तुएँ उसे बिना विनिमय के प्राप्त नहीं हो सकतीं। अतः श्रम विभाजन के लिये विनिमय प्रथा का होना भी आवश्यक है।

३. विस्तृत बाजार (Wide Market)—जब तक वस्तुओं की खपत के लिये विस्तृत बाजार नहीं हो तो बड़ी मात्रा में उत्पादन नहीं हो सकता। जब बड़ी मात्रा में उत्पादन नहीं है तो श्रम विभाजन कैसे सम्भव हो सकता है।

४. निरन्तर उत्पादन (Continuous Production)—श्रम-विभाजन के लिये निरन्तर उत्पादन होना आवश्यक है। बिना इसके मितव्ययता आदि श्रम-विभाजन से होने वाले लाभ प्राप्त नहीं हो सकते।

श्रम विभाजन के रूप
(Forms of Division of Labour)

श्रम-विभाजन के विविध रूप निम्नलिखित हैं —

१. व्यावसायिक श्रम विभाजन (Occupational Division of Labour) श्रम विभाजन के इस रूप में प्रत्येक व्यक्ति सब काम करने के बजाय अपनी रुचि और योग्यतानुसार किसी एक विशेष व्यवसाय अथवा पेशे में लग जाता है। उस पेशे या धन्धे को वह आदि से अन्त तक करता है। उदाहरणार्थ, कोई कृषि कार्य करता है, कोई कपड़ा तैयार करता है, कोई बढ़ई का काम करता है और कोई लुहार का। ये लोग विनिमय द्वारा अपनी पैदा की हुई या बनाई हुई वस्तुओं को दूसरों की वस्तुओं से बदल कर अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। व्यावसायिक श्रम विभाजन का प्रादुर्भाव सबसे पहले हुआ, अर्थात् हिन्दू समाज की वर्ण-व्यवस्था ने ही इसे जन्म दिया। कालान्तर में ये पेशे जातिनुसार पैतृक हो गये—लुहार का लड़का लुहार, ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण का ही काम करने लगा।

२. पूर्ण क्रियाओं का श्रम विभाजन (Division of Labour into Complete Process)—बढ़ती हुई मानव-आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पत्ति में वृद्धि आवश्यक समझी गई और उसके फलस्वरूप कालान्तर में प्रत्येक व्यवसाय या पेशा कई विभागों में विभक्त हो गया तथा काम करने वालों के भी उतने ही उप विभाग बन गए। इस अवस्था के पूर्व एक ही कार्य की सम्पूर्ण क्रियाएँ एक ही व्यक्ति द्वारा सम्पन्न की जाती थीं—जैसे कपड़ा बनाने वाला स्वयं ही कपास ओटने रूई धुनने, कातने और बुनने की व्यवस्था करता था। परन्तु बाद में एक काम कई विभागों में बाँट दिया गया और प्रत्येक विभाग की क्रिया पृथक् व्यक्ति-समूह द्वारा सम्पन्न की जाने लगी। जैसे कपड़ा तैयार करने के लिये एक व्यक्ति समूह केवल कपास पैदा करता है, दूसरा कपास की लुढ़ाई करता है, तीसरा धुनता है, चौथा सूत कातता है और पाँचवाँ काते हुए सूत का कपड़ा बुनता है। इस प्रकार के श्रम-विभाजन के अन्तर्गत यद्यपि समूह का प्रत्येक व्यक्ति एक कार्य की केवल एक ही क्रिया सम्पन्न करता है, परन्तु फिर भी वह क्रिया स्वतः पूर्ण है। इसलिए इसे पूर्ण क्रियाओं का श्रम विभाजन कहते हैं। प्रत्येक समूह से निकली हुई वस्तु अर्द्ध-निर्मित होती है और वह क्रम से अगले समूह को दे दी जाती है जब तक कि वह अपना अन्तिम रूप धारण न करले।

३. अपूर्ण क्रियाओं का श्रम-विभाजन (Division of Labour into Incomplete Process)—भौतिक सभ्यता के विकास के साथ-साथ नाना प्रकार की मशीनों का आविष्कार हुआ जिसके फलस्वरूप एक पूर्ण क्रिया या कई *उप-क्रियाओं में बाँट दिया गया और प्रत्येक उप-क्रिया मशीन द्वारा सम्पन्न होने लगी।* इस प्रकार कई मशीनों द्वारा एक पूर्ण क्रिया सम्पन्न होने लगी। उदाहरणार्थ, कपड़े के मिल में कपड़ा कई उप-क्रियाओं द्वारा बनकर तैयार होता है। आदम स्मिथ नामक अर्थशास्त्र वेत्ता के अनुसार पिन बनाने का कार्य लगभग १८ विभागों में विभक्त होता है। एक मनुष्य तार खींचता है, दूसरा उसे सीधा करता है, तीसरा उसे काटता है, चौथा नुकीला बनाता है, पाँचवाँ उसके सिरे को चपटा करता है, आदि। इस प्रकार

के श्रम-विभाजन के अन्तर्गत प्रत्येक क्रिया अपूर्ण होती है और समस्त उप-क्रियाओं के सहयोग से एक पूर्ण क्रिया सम्पन्न होता है। इसी कारण इसे 'अपूर्ण क्रियाओं का श्रम-विभाजन' कहते हैं।

४. प्रादेशिक या भौगोलिक श्रम विभाजन (Territorial or Geographical Division of Labour)—जब कोई उद्योग या व्यवसाय किन्हीं विशिष्ट कारणों, जैसे जलवायु, कच्चा माल, शक्ति के साधन, श्रम की क्षमता आदि से किसी अमुक स्थान या देश में केन्द्रित हो जाता है, तो उसे 'प्रादेशिक या भौगोलिक श्रम-विभाजन' कहते हैं। उदाहरण के लिए भारतवर्ष में जूट के कारखाने बंगाल में, लोहे के बिहार में, कपड़े की मिलें विशेषतया बम्बई और अहमदाबाद में और चूड़ों का व्यवसाय फिरोजाबाद में केन्द्रित है।

५. सरल और जटिल श्रम-विभाजन (Simple & Complex Division of Labour)—श्रम विभाजन सरल और जटिल भी है। जब कोई कार्य किसी एक व्यक्ति के लिये कठिन भारी और व्ययी हो और उसे कई व्यक्ति आपस में मिलकर सम्पन्न करें तो उसे सरल श्रम विभाजन (Simple Division of Labour) कहते हैं। जैसे, किसी बड़ी रेल को ढकेलना या जोतना, किसी बड़े दर्जी की दुकान का काम तथा भारी बोझ उठाना आदि। व्यावसायिक श्रम-विभाजन भी इसी का उदाहरण है। जब कई व्यक्ति या व्यक्ति-समूह वस्तु-निर्माण का केवल एक विशेष भाग सम्पन्न करते हुए परस्पर सहयोग से कार्य करते हैं तो वह जटिल श्रम-विभाजन (Complex Division of Labour) कहलाता है। उदाहरणार्थ, जूता के कारखाने में जूतों का निर्माण कई विभागों की कार्य-सम्पन्नता पर निर्भर है। इसी प्रकार सूती कपड़े की मिल में वस्त्र-निर्माण के लिये कताई, बुनाई, रंगाई आदि विभागों के कार्यों का सहयोग नितान्त आवश्यक है। अपूर्ण क्रियाओं का श्रम-विभाजन भी इसी का उदाहरण है।

श्रम-विभाजन के लाभ (Advantages of Division Labour)

उत्पत्ति के लिए (For Production as a whole)

१. उत्पत्ति में वृद्धि (Increased Output)—श्रम-विभाजन का यह मुख्य लाभ है। इसके द्वारा उत्पत्ति में वृद्धि होती है। आदम स्मिथ कहते हैं कि यदि एक आदमी अकेला पिन बनाये, तो वह २० पिन से अधिक एक दिन में नहीं बना सकता। परन्तु जब १० आदमी आपस में मिल कर श्रम विभाजन के सिद्धान्त के अनुसार कार्य करें तो वे एक दिन में ४८०० पिन बना सकते हैं। श्रम-विभाजन के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार काम मिलने से वह अधिक उत्पत्ति कर सकता है।

२. उत्पत्ति की श्रेष्ठता (Superior Product)—श्रम विभाजन के अन्तर्गत एक व्यक्ति उत्पत्ति की एक ही क्रिया को निरन्तर करता रहता है, अतः उसके द्वारा तैयार की गई वस्तु का श्रेष्ठ होना स्वाभाविक है।

३. लागत में कमी (Decreased Cost of Production)—जब मनुष्य किसी काम को करते-करते उसमें निपुण हो जाता है, तो वह थोड़े समय में अधिक उत्पादन करने लग जाता है जिससे उत्पादन की लागत कम हो जाती है।

४. मशीनों का अधिक उपयोग (Increased Use of Machinery)—एक कार्य को बहुत से उपविभागों में विभक्त कर देने से प्रत्येक उपविभाग

म की जाने वाली क्रिया बहुत ही सरल हो जाती है। ऐसा होने से मशीनों का उपयोग सहज हो जाता है।

५ आविष्कारों में उन्नति (Progress in Inventions)—श्रम विभाजन से आविष्कारों की भी उन्नति होती है। जब मनुष्य लगातार एक ही काम में लगा रहता है तो उसे यह सोचने का पर्याप्त अवसर मिल जाता है कि उस काम के करने की विधि में किस प्रकार और अधिक उन्नति की जा सकती है। इस प्रकार नये नये आविष्कारों में वृद्धि होती जाती है।

६ समय की बचत (Economy of Time)—जब मनुष्य को भिन्न भिन्न काम करने पड़ते हैं तो उसका बहुत सा समय काम के अदल बदल में और भिन्न भिन्न औजारों के उठाने धरने में नष्ट हो जाता है। श्रम विभाजन से मनुष्य को केवल एक ही क्रिया करनी पड़ती है अतः उसका समय इधर उधर के कामों में नष्ट नहीं होने पाता।

७ औजारों में मितव्ययता (Economy of Tools)—जब एक व्यक्ति दो तीन काम साथ करता है तो उसे प्रत्येक काम के लिए पृथक पृथक औजार रखने पड़ते हैं। परन्तु इन सबका वह एक साथ प्रयोग नहीं कर सकता। अतः जब वह एक औजार को प्रयुक्त करता है तो शेष औजार बेकार पड़े रहते हैं। श्रम विभाजन के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को केवल एक ही क्रिया करनी होती है। अस्तु उसे उसी काम के लिए औजारों की आवश्यकता होती है और उनका वह निरन्तर प्रयोग करता रहता है। इस प्रकार श्रम विभाजन द्वारा औजारों में बहुत बचत होती है। इसके अतिरिक्त कम औजारों के होने पर प्रत्येक व्यक्ति उनकी भली भाँति से देखभाल कर सकता है जिससे फलस्वरूप औजारों की जीवन अवधि बढ़ जाती है।

८ कच्चे माल में बचत (Economy of Raw Material)—श्रम विभाजन में कच्चे माल के प्रयोग में भी पर्याप्त मितव्ययता होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने काम में निपुण होने के कारण वह कच्चे माल को उचित रीति से प्रयुक्त कर सकता है।

९ व्यवसायों का विस्तृत एवं विभिन्न होना (Extension & Diversity of Occupations)—अधिकाधिक मशीनों के आविष्कारों और प्रयोगों से जीवनोपार्जन के अनेक मार्ग खुल जाते हैं जिससे कुछ अंश तक बेकारी की समस्या हल हो जाती है।

१० संगठन योग्यता की विस्तृत माँग (Extensive Demand for Organising Ability) श्रम विभाजन और कार्य संचालन में उत्पादन कार्य जटिल हो जाता है। इसके लिए सुयोग्य संगठनकर्त्ताओं की आवश्यकता पड़ती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सुयोग्य संगठनकर्त्ताओं की उत्पत्ति में वृद्धि होती है जिससे फलस्वरूप उद्योग व्यवसायों में उन्नति होती है।

श्रमिकों के लिए (For the Labourers)

११ कार्यकुशलता में वृद्धि (Increase in Efficiency) श्रम विभाजन के अन्तर्गत एक व्यक्ति सम्पूर्ण क्रिया का केवल एक ही अंश निरन्तर करता रहता है जिसके कारण उसकी कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाती है। निरन्तर अभ्यास से उसकी कार्यक्षमता बहुत बढ़ जाती है तथा वह अपने काम में विशेषज्ञ हो जाता है।

१२ रुचि तथा योग्यतानुसार कार्य (Work according to Taste and Ability)—श्रम विभाजन में सम्पूर्ण कार्य कई विभागों में विभक्त हो जाता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि और योग्यतानुसार काय मिल जाता है।

१३ शारीरिक परिश्रम में कमी (Diminution of Strain)—सम्पूर्ण क्रिया का उप विभाग मशीन द्वारा सम्पन्न हो जाने से मनुष्य भारी काम करने से मुक्त हो जाता है। उत्पत्ति का सारा काय मशीन द्वारा होता है। उसे तो केवल मशीन की देखभाल ही करनी पड़ती है।

१४ श्रम की गतिशीलता में वृद्धि (Increase in the Mobility of Labour)—श्रम विभाजन मे मशीनों का प्रयोग होता है जिससे श्रमिक कहीं भी किसी भी कारखाने में आसानी से काम कर सकता है क्योंकि मशीनों का सचालन लगभग एक-सा होता है।

१५ आविष्कार करने की योग्यता मे वृद्धि (Increase in Inventive Ability)—श्रमिक निरतर एक ही प्रकार की मशीनों पर काम करते रहने के कारण मशीन में कई प्रकार के सुधार सोच सकता है तथा अधिक सुविधाजनक और लाभदायक नई मशीनों का आविष्कार भी करने में समर्थ हो सकता है।

१६ बुद्धि का विकास (Development of Intelligence)—मशीनों पर काम करने से श्रमिक अधिक बुद्धिमान हो जाता है क्योंकि उसे मशीन सम्बन्धी कई बातों पर निरन्तर सोचना पड़ता है। यही कारण है कि कृषि श्रमिक की अपेक्षा कारखाने में काम करने वाला श्रमिक अधिक बुद्धिमान होता है।

१७ काम सीखने में समय परिश्रम और धन की बचत (Saving in Time, Efforts and Wealth)—श्रम विभाजन में एक काम के कई उपविभाग कर दिये जाते हैं और प्रत्येक श्रमिक को केवल एक ही उपविभाग का काय सौंपा जाता है जो सरलतापूर्वक थोड़े ही समय में सीखा जा सकता है। फलतः काम सीखने में समय परिश्रम और धन की बचत होती है।

१८ ऊँची मजदूरी (भृति) (Higher Wages)—किसी स्थान के लोग किसी विशिष्ट व्यवसाय या काय में निपुण हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप उन्हें ऊँची मजदूरी मिलने लगती है।

१९ सहकारिता की उन्नति (Development of Cooperation)—श्रम विभाजन के कारण बड़े बड़े कारखाने खुल जाते हैं जहाँ पर बहुत से श्रम जीवी एक साथ मिल जुल कर काम करते हैं। एक साथ काम करने और रहने में श्रम जीवियों में सगठन और एकता का भाव जाग्रत हो जाता है जिसके फलस्वरूप वे अपनी दशा में पर्याप्त सुधार कर सकते हैं।

श्रम विभाजन की हानियाँ (Disadvantages of Division of Labour) श्रम विभाजन की हानियाँ दो वर्गों में बाँटी जा सकती है—

(अ) प्रत्यक्ष हानियाँ और (आ) अप्रत्यक्ष हानियाँ।

(ब) प्रत्यक्ष हानियाँ (Direct Disadvantages)

१. कार्यकुशलता और उत्तरदायित्व का ह्रास (Loss of Efficiency and Responsibility)—सम्पूर्ण कार्य का केवल एक ही अङ्ग करने से श्रमिक का दृष्टिकोण सकीर्ण हो जाता है और उसका ज्ञान बिल्कुल सीमित रहता है। यदि सम्पूर्ण कार्य एक ही मनुष्य करे तो उस काम की अच्छाई-बुराई उसके ऊपर डाली जा सकती है। परन्तु जब बहुत से मनुष्य मिलकर एक ही कार्य सम्पन्न करे तो यह निश्चय करना बहुत कठिन है कि कार्य किसके द्वारा खराब हुआ है। इस प्रकार उत्तरदायित्व के अभाव में श्रमिक अपना कार्य सावधानी से नहीं करते।

२. काम की नीरसता (Monotony of Work)—उत्पत्ति की एक ही उप क्रिया को लगातार करते रहने से वह काम नीरस हो जाता है। इस नीरसता का उसके मन, रुचि और उत्पादन शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

३. आनन्द का लोप (Loss of Interest)—जब कोई व्यक्ति एक सम्पूर्ण वस्तु को अकेला ही बनाता है तो उसे उसके बनाने में बड़ा आनन्द प्राप्त होता है। परन्तु जब वह किसी कारखाने में दूसरे के साथ काम करता है, तो उस उस काम में आनन्द नहीं आता। कारखाने में उसका पृथक् अस्तित्व नहीं होता और न सम्पूर्ण वस्तु का निर्माण उसी के ही प्रयत्नों का फल होता है।

४. श्रमिक मशीन-तुल्य हो जाता है (Labourer is reduced to Machine level)—काम के एक उप विभाग की निरन्तर करते रहने से मनुष्य मशीन-तुल्य हो जाता है। उत्पत्ति की एक विशेष क्रिया के अतिरिक्त उसे अन्य कामों का उचित ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता। फलस्वरूप उसकी बुद्धि का विकास रुक जाता है और उसकी कार्यक्षमता में न्यूनता आ जाती है।

५. श्रम की गतिशीलता का ह्रास (Loss of Mobility of Labour)—मनुष्य जब सदा एक ही काम करता रहता है तो आवश्यकता पड़ने पर वह किसी अन्य काम के लिए योग्य नहीं रहता। अन्य कामों के विषय में उसे कुछ भी ज्ञान नहीं होता। इसलिए यदि उसका निर्धारित कार्य छूट जाय तो उसे अन्यत्र काम मिलना कठिन हो जाता है।

६. स्त्रियों और बच्चों का शोषण (Exploitation of Women and Children)—श्रम विभाजन के कारण उत्पत्ति की प्रत्येक क्रिया इतनी सरल हो जाती है कि स्त्रियाँ और बच्चे भी उस क्रिया को कर सकते है। अतएव मिल-मालिक पुरुषों के स्थान पर स्त्रियों और बच्चों को काम में लगाते हैं क्योंकि वे अधिक सस्ते पड़ते हैं। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और उनके चरित्र और भावी जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। कमजोर स्त्रियाँ कमजोर बच्चों को जन्म देती हैं। कमजोर होने के कारण वे आगे चलकर जीवन भार उठाने में अपने आपको असमर्थ पाते है। ऐसी अवस्था में उनसे समाज को कोई लाभ नहीं पहुँच सकता।

७. कुशल श्रमिकों के लिये सीमित कार्य क्षेत्र (Limited Scope for Skilled Labour)—प्रत्येक कार्य के कई उप विभाग कर देने से काम बहुत सरल हो जाता है। उसको करने के लिये विशेष निपुणता की आवश्यकता नहीं होती। साधारण श्रम से ही काम चल जाता है। अतः कुशल अथवा दक्ष श्रमिकों का कार्य-क्षेत्र कम हो जाता है।

(आ) अप्रत्यक्ष हानियाँ (Indirect Disadvantages)

८. श्रमिकों और मिल मालिकों के मध्य सम्पर्क का अभाव (Loss of Personal Contact between Employers and Employees— श्रम-विभाजन के अन्तर्गत सहस्रों श्रमिक एक ही कारखाने में एक साथ काम करते हैं। श्रमिकों की संख्या अधिक होने के कारण उनमें और मिल मालिकों में सम्पर्क कम हो जाता है जिससे पारस्परिक मतभेद बढ़ता है। कभी मजदूर हड़ताल करते हैं तो कभी मिल मालिक कारखाने के दरवाजों पर ताले लगाते हैं। इसका परिणाम केवल उन्हीं तक सीमित नहीं रहता बल्कि सम्पूर्ण समाज को भी भोगना पड़ता है।

९. अत्यधिक जनसंख्या का एक ही स्थान पर सीमित होना (Overcrowdedness)—कारखाना प्रणाली के अन्तर्गत सहस्रों मनुष्य एक ही कारखाने में काम करते हैं। जब किसी औद्योगिक केन्द्र में कई कारखाने हों तो सहस्रों की संख्या में श्रमिकों का एक ही स्थान पर रहना स्वाभाविक हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि रहने के लिए स्वच्छ हवादार मकान नहीं मिल पाते और गरीब श्रमजीवियों को विवश होकर गन्दी काल-कोठरियों में रहना पड़ता है जिसके कारण उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और उनमें अनेक अवगुण उत्पन्न हो जाते हैं।

१०. पराश्रितता (Interdependence)—श्रम विभाजन में श्रमिक सामूहिक रूप में कार्य करते हैं। अतः एक श्रमिक की अनुपस्थिति में सम्पूर्ण कार्य स्थगित हो जाता है।

निष्कर्ष (Conclusion)—श्रम विभाजन के लाभ उसकी हानियों से कहीं अधिक हैं। यही कारण है कि श्रम विभाजन में बराबर उन्नति होती जा रही है। यही नहीं प्रगतिशील सगठनकर्ताओं द्वारा इन दोषों को कम से कम करने के अनेक प्रयत्न जारी हैं। काम के घन्टे कम कर श्रमिकों को अधिक अवकाश देना, कल्याण-कार्य (Welfare Work) जैसे—विश्रामगृह, भोजनकक्ष, वाचनालय, खेल-कूद और मनोरंजन के साधन, आदर्श बस्तियाँ, सहसाझेदारी (Co Partnership) लाभ विभाजन (Profit-sharing) आदि योजनाओं द्वारा इन दोषों को दूर करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं।

श्रम-विभाजन की सीमाएं (Limitations of Division of Labour)- श्रम विभाजन निम्नलिखित बातों से परिमित है —

१. व्यवसाय का स्वभाव (Nature of Occupations)—श्रम विभाजन उन व्यवसायों में सम्भव है जिनमें उत्पत्ति की क्रियाएँ और उप-क्रियाएँ साथ-साथ चल सकती हों। उदाहरणार्थ, सूती कपड़े की मिल में सूत कातने व बुनने का काम साथ-साथ चलता है। परन्तु कृषि व्यवसाय में ऐसा नहीं है —सब क्रियाएं एक के बाद दूसरी होती हैं। हल चलाने के पश्चात् बीज बोया जाता है और उसके बाद फसल काटी जाती है।

२. बाजार की सीमा (Extent of Market)—श्रम विभाजन बाजार अथवा मंडी की सीमा पर भी निर्भर है। यदि बाजार का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, तो श्रम विभाजन भी काफी दूर तक ले जाया जा सकता है। अधिक स्पष्ट करते हुये यह कहा जा सकता है कि श्रम विभाजन केवल उन्हीं वस्तुओं की उत्पत्ति में लाभदायक

सिद्ध हो सकता है जिनकी माग बहुत अधिक हो तथा जिनका उत्पादन बडे परिमाण मे होता हो।

३. उत्पत्ति का परिमाण (Scale of Production)—श्रम विभाजन और बड परिमाण मे उत्पत्ति का आपस मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्रम-विभाजन अधिकतर उन्ही व्यवसायो मे सम्भव है जिनमे उत्पत्ति बड़े पैमाने पर होती है। जैसे कपड़, लोहे और चमड आदि के कारखाने। छोटे व्यवसायो म इनका सीमित क्षेत्र होता है, जैसे घरेलू धन्धे आदि।

४ पूँजी की मात्रा (Amount of Capital)—श्रम विभाजन और उत्पत्ति का परिमाण साथ-साथ चलते है। ये दोनो ही पूँजी की मात्रा पर निभर है। बिना पर्याप्त पूँजी के बड पैमाने पर उत्पत्ति नही हो सकती और बिना बड पैमाने पर उत्पत्ति हुए श्रम विभाजन सम्भव नही हो सकता। अस्तु, पूँजी की कमी से श्रम विभाजन परिमित हो जाता है।

५ व्यापार-सचालन की सुविधाएँ (Machinery of Commerce)—कुशल व्यापार सचालन के लिये शीघ्र सम्वाद और यातायात के साधन, बैंकिंग प्रणाली आदि सुविधाएँ आवश्यक है। इन सुविधाओ के कारण ही दूर देशो से व्यापार हो सकता है। *इनके अभाव मे न तो वस्तुओ की माग अधिक होगी और न उत्पादन ही* बड परिमाण म होगा। अस्तु श्रम विभाजन व्यापार सचालन की सुविधाओ पर भी निभर है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—श्रम-विभाजन का अर्थ स्पष्ट कीजिये। इसका उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ता है? उदाहरण देकर अपना उत्तर स्पष्ट कीजिये। (उ० प्र० १९६०)

२—श्रमविभाजन का क्या अर्थ है? इसके लाभ हानियो का विवेचन कीजिये। (पटना १९५२, म० भा० १९५५ ५३ सागर १९५२, दिल्ली हा० से० १९४९)

३—श्रम विभाजन और महानुपात उत्पादन के सम्बन्ध को कारण सहित समझाइये। (सागर १९५६)

४—"बाजार के क्षेत्र से श्रम विभाजन सीमित है।" पूर्णतया समझाइये। श्रम विभाजन और किन किन बातो पर सीमित है? (अ० बो० १९५६, पजाब १९४३)

५—यह बताइये कि श्रम विभाजन और मशीनरी हमारे मध्य क्या स्थित है? उनका मानव जीवन पर क्या प्रभाव है। (रा० बो० १९५६)

६—पूर्ण और अपूर्ण क्रियाओ के श्रम विभाजन मे आप क्या समझते हैं? श्रम विभाजन के लाभ बताइये। (उ० प्र० १९४४)

७—श्रम-विभाजन किसे कहते है? इसके विभिन्न रूप उदाहरणो से स्पष्ट कीजिये। (रा० बो० १९५०)

८—श्रम विभाजन की सीमा किन बातो पर निर्भर है? इससे क्या लाभ व हानियाँ है? (उ० प्र० १९४९)

अध्याय ४०

उद्योगों का स्थानीयकरण

(Localisation of Industries)

स्थानीयकरण का अर्थ (Meaning)—उद्योगों के किसी उपयुक्त तथा लाभदायक क्षेत्र में स्थापित होकर उन्नति करने की प्रवृत्ति को उद्योगों का स्थानीयकरण कहते हैं। जिस प्रकार श्रम विभाजन में कुछ व्यक्ति किसी विशेष व्यवसाय या उसके किसी विशेष भाग को करने वाले हो जाते हैं उसी प्रकार कुछ स्थान किसी एक उद्योग या व्यवसाय के केन्द्र बन जाते हैं। उद्योगों या व्यवसायों के इस प्रकार केन्द्रित होने की प्रवृत्ति को अर्थशास्त्र में उद्योगों का स्थानीयकरण या केन्द्रीयकरण कहते हैं। उदाहरण के लिए भारतवर्ष में लोहे के कारखाने अधिकतर बिहार राज्य के जमशेदपुर में केन्द्रित हैं, जूट के कारखाने कलकत्ता नगर के आस पास के स्थानों में केन्द्रित हो गये हैं, बम्बई और अहमदाबाद में सूती कपड़ों के कारखाने, चीनी के उत्तर प्रदेश और बिहार में, चूड़ी का उद्योग फिरोजाबाद और ताले का अलीगढ़ में केन्द्रित है। इसी प्रकार इंगलैंड में लंकाशायर और मैनचेस्टर सूती कपड़े की मिलों के लिए प्रसिद्ध है। इस प्रवृत्ति को प्रादेशिक श्रम विभाजन (Territorial Division of Labour) भी कहते हैं। उद्योगों का स्थानीयकरण एक प्रकार से श्रम विभाजन का विस्तृत रूप है जिसमें केवल सम्पूर्ण देश ही नहीं अपितु विश्व भी सम्मिलित होता है।

स्थानीयकरण के कारण (Causes of Localisation)—उद्योग धंधों के स्थानीयकरण के बहुत से कारण होते हैं। साहसकर्त्ता को जहाँ सुविधाएं मिलती हैं वहाँ वह अपने कारखाने के लिए स्थान चुन लेता है। ये कारण निम्नलिखित हैं —

प्राकृतिक कारण (Natural or Physical Causes)

(१) कच्चे माल की प्राप्ति—उद्योग धंधों के लिए कच्चे माल की आवश्यकता होती है। अतएव जिन स्थानों में किसी व्यवसाय के लिए कच्चा माल सस्ता और यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध है तो वहीं पर वह व्यवसाय केन्द्रित हो जाता है। उदाहरणार्थ बंगाल में जूट अधिक पैदा होने के कारण जूट के कारखाने बंगाल में और उत्तर प्रदेश व बिहार में गन्ने की खेती अधिक होने से इन राज्यों में शक्कर के कारखाने केन्द्रित हैं।

शक्ति के साधन—कारखाने को चालू करने की शक्ति की सुविधा के कारण कुछ कारखाने उन क्षेत्रों में स्थापित हो जाते हैं जहाँ प्रेरक या चालक शक्ति (Motive

Power) सस्ती और सुगमता से प्राप्त हो सकती है। आज-कल प्रेरक शक्ति अधिकतर कोयले और जल से प्राप्त की जाती है। जैसे जमशेदपुर के लोहे के कारखानों को समीपवर्ती कोयले की खानों से प्राप्त कोयला प्रेरक शक्ति प्रदान करता है और बंगलौर में हवाई जहाज बनाने के कारखानों के लिए जल-विद्युत मुख्य-प्रेरक शक्ति का साधन है। इसी प्रकार स्विट्जरलैंड में घड़ी के कारखानों के लिये जल-शक्ति ही प्रधान है।

(३) प्राकृतिक सुविधाएँ—प्राकृतिक सुविधाओं से तात्पर्य है भूमि की बनावट, मिट्टी का स्वभाव, समुद्र-तट की बनावट, उत्तम बंदरगाह, जहाज चलने योग्य नदियाँ आदि। जिन उद्योगों के लिए इन प्राकृतिक सुविधाओं की आवश्यकता होती है वे उन्हीं क्षेत्रों में स्थापित हो जाते हैं जहाँ उनको अपनी आवश्यकतानुसार सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं। जैसे जहाज निर्माण उद्योग के लिए उत्तम बंदरगाह का होना आवश्यक है। अतः भारतवर्ष में विजगापट्टम बंदरगाह इस उद्योग का केन्द्र हो गया है।

(४) जलवायु—कुछ उद्योग-धन्धों के लिए एक विशेष प्रकार की जलवायु की आवश्यकता होती है। वह जलवायु हर एक जगह नहीं मिलती है। अतः ऐसे उद्योग-धंधे उन स्थानों में केन्द्रित हो जाते हैं जहाँ उस प्रकार की जलवायु मिलती है। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में बम्बई और इङ्गलैंड में लंकाशायर की जलवायु सूती कपड़ों के कारखानों के लिए विशेष उपयुक्त है, क्योंकि इन स्थानों के वायुमण्डल में नमी होती है जिसके कारण सूतों का तार शीघ्र नहीं टूटता और मजबूत तथा मुलायम भी रहता है। इस कारण से इन स्थानों में सूती कपड़े के बहुत से कारखाने पाये जाते हैं।

आर्थिक कारण (Economic Causes)

(५) मंडियों और बाजारों की निकटता—निर्मित माल की जहाँ खपत आसानी से हो सके वहाँ प्रायः कारखाने स्थापित हो जाते हैं। कारखानों के समीपवर्ती स्थानों में जनसंख्या घनी होनी चाहिए अथवा वहाँ से घनी जनसंख्या वाले स्थानों को माल शीघ्र व सस्ते यातायात के साधनों द्वारा भेजा जा सके। इसका लाभ उठाने के लिए उत्तर प्रदेश और बंगाल में सूती कपड़ा आदि के अनेक कारखाने खोले जा रहे हैं।

(६) यातायात की सुविधाएँ—यातायात के साधनों का उद्योग-धन्धों के केन्द्रीयकरण पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिन स्थानों में रेल, जहाज आदि से यातायात की सुविधा होती है, वहाँ अन्य स्थानों की अपेक्षा स्थानीयकरण की प्रवृत्ति अधिक होती है। बम्बई, कलकत्ता आदि नगरों की विशेषता बहुत कुछ इसी कारण है।

(७) श्रम का उपलब्ध होना—योग्य और सस्ते श्रमिकों का यथेष्ट मात्रा में मिलना भी स्थानीयकरण का कारण होता है। जैसे, भारतवर्ष में चूड़ी का व्यवसाय फिरोजाबाद, रंगाई-छपाई फर्रुखाबाद और जूट का व्यवसाय बंगाल में केन्द्रित है क्योंकि वहाँ पर उचित ढंग का श्रम सुगमता से मिल जाता है।

(८) पूँजी सम्बन्धी सुविधाएँ—उद्योगों के स्थानीयकरण की प्रवृत्ति वहाँ भी देखी जाती है जहाँ पूँजी सस्ती और यथेष्ट मात्रा में सरलता से उपलब्ध हो सकती है। वे नगर जो आर्थिक केन्द्र हैं तथा जहाँ अधिकाधिक मात्रा में बैंकिङ्ग और विनियोग (Investment) सुविधाएँ उपलब्ध हैं, वे प्रायः उद्योगों की स्थापना के लिये उद्योग-पतियों के ध्यान को शीघ्र ही आकर्षित कर लेते हैं।

राजनैतिक कारण (Political Causes)

(९) राज्य द्वारा सरक्षण तथा प्रोत्साहन—सरकार द्वारा सरक्षण तथा सहायता भी स्थानीयकरण का एक महत्वपूर्ण कारण है। प्राचीन काल मे हिन्दू और मुसलमान राजाओ के सरक्षण तथा प्रोत्साहन से अनेक व्यवसाय राजधानियों के निकट स्थापित हो गये थे, जैसे ढाका की मलमल और मुर्शिदाबाद का रेशम का व्यवसाय आदि।

अन्य कारण (Other Causes)

(१०) शीघ्र प्रारम्भ का लाभ – कभी-कभी किसी क्षेत्र मे कोई उद्योग या व्यवसाय बहुत पहले से चला आता है और वह विशिष्ट उद्योग के लिए प्रसिद्ध हो गया है तथा वहाँ व्यवसाय-सम्बन्धी सभी सुविधाएँ आसानी से उपलब्ध हो जाती है तो उसी प्रकार के अनेक कारखानो का वहाँ स्थापित होना स्वाभाविक हो जाता है। इस प्रकार वह स्थान या क्षेत्र उद्योगो का केन्द्र हो जाता है।

(११) सहायक उद्योग धन्धो से लाभ प्राप्ति—किसी स्थान या क्षेत्र मे जब कोई उद्योग चल निकलता है, तो उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अनेक सहायक उद्योग धन्धे स्थापित हो जाते है जिसके कारण मुख्य व्यवसाय को अनेक लाभ प्राप्त होने लगते हैं। इस कारण उस प्रकार के कई कारखाने उसी क्षेत्र मे स्थापित होकर लाभ उठाने का प्रयत्न करते है। उदाहरणार्थ, कानपुर के वस्त्र-निर्माण उद्योगो के लाभार्थ रगाई-छपाई, इञ्जीनियरिंग, मशीने व औजार बनाने आदि के कई कारखाने स्थापित हो गये हे जिसमे वस्त्रोद्योगो (Textile Industries) को वहाँ स्थापित होने मे अनेक लाभ उपलब्ध हो सकते हैं।

(१२) प्रौद्योगिक सस्थाएँ (Technical Institutes), अनुसधानालयो और प्रयोगालयों की सुविधाओं से लाभ—किसी विशिष्ट औद्योगिक केन्द्र मे प्रौद्योगिक सस्थाएँ, अनुसधानालय तथा प्रयोगालयों की सुविधाओं से लाभ उठाने के लिए कारखाने वहाँ स्थापित हो जाते है। इसके अतिरिक्त प्रौद्योगिक पत्रिकाएँ (Technical Journals) भी उस केन्द्र मे प्रकाशित होती हैं जिनमे उस उद्योग-सम्बन्धी सभी प्रकार की समस्याओ पर प्रकाश डाला जाता है।

(१३) सस्ती भूमि, जल की प्रचुरता आदि कारण—कारखानों के लिये सस्ती भूमि, पानी की प्रचुरता आदि कुछ कारण ऐसे हैं जिनसे स्थानीयकरण को प्रोत्साहन मिलता है। जैसे जूट को सडाने और धोने आदि क्रियाओ के लिये बगाल मे जल पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है।

स्थानीयकरण के लाभ (Advantages of Localisation of Industries)—स्थानीयकरण के कई लाभ हैं जिनमे से मुख्य निम्नलिखित हैं —

१. प्रसिद्धि व ख्याति (Reputation and Goodwill)—स्थानीयकरण द्वारा उस विशिष्ट स्थान की बनी हुई वस्तुएँ इतनी प्रसिद्ध हो जाती है कि वे दूर-दूर स्थानों मे अच्छे दामो मे बिकने लगती हैं। जैसे, काश्मीर के शाल दुशाले, अलीगढ के ताले, मेरठ की कैंचियाँ, स्विट्जरलैंड की बनी हुई घड़ियाँ आदि।

२ पैतृक दक्षता (Hereditary Skill)—केन्द्रीयकरण के स्थान के रहने वालों को विशिष्ट दक्षता का पिता से पुत्र को हस्तान्तरण होता रहता है, अतः वह एक प्रकार से पैतृक दक्षता हो जाती है जो अन्य स्थानों मे उपलब्ध नही हो सकती।

उदाहरण के लिये, जूट व्यवसाय की विशिष्ट दक्षता (Skilled Labour) बंगाल तक ही सीमित है।

३. सहायक उद्योगों का विकास (Development of Subsidiary Industries)– उद्योग के अवशिष्ट पदार्थ (Waste Product) का उपयोग करने के हेतु कई सहायक व्यवसाय वहीं स्थापित हो जाते हैं। जैसे शक्कर के कारखाने के शीरे से शराब और एल्कोहल (Spirit and Alcohol) तैयार करने के कारखाने, सूती कपड़ों के अवशिष्ट सूत के उपयोगार्थ डोरी, दरियों आदि के कारखाने और लोहे तथा इस्पात के कारखानों के अवशिष्ट पदार्थ काम में लाने के लिये ट्रक आदि के कारखाने स्थापित हो जाते हैं।

४. पूरक उद्योग धन्धों की स्थापना (Establishment of Supplementary Industries)—उद्योग धन्धों के स्थानीयकरण में अन्य कई पूरक धन्धों की स्थापना हो जाती है। जैसे लोहे और इस्पात के कारखानों के समीप कीलें, पेंच, पत्तियाँ आदि और मशीनें बनाने तथा सुधारने के कारखाने स्थापित हो जाते हैं। इसी प्रकार भारी उद्योगों के केन्द्र साधारणतया सिल्क आदि व्यवसाय के भी केन्द्र होते हैं, क्योंकि वहाँ स्त्रियों और बच्चों का श्रम सस्ती दर पर प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त भारी कारखानों में काम करने वाले पुरुष अधिक मजदूरी नहीं माँग सकेंगे।

५. दक्षता का स्थानीय बाजार (Local Market for Skill)—केन्द्रीयकरण का स्थान दक्षता का स्थानीय बाजार बन जाता है, क्योंकि उस अमुक धन्धे या व्यवसाय में जानकारी रखने वाले, समस्त श्रमिक उस स्थान पर एकत्रित हो जाते हैं जिससे उद्योगपतियों को वहाँ अपना उद्योग स्थापित करने में दक्ष श्रम की पूर्ति सहज हो जाती है।

६. विशिष्ट मशीनों का प्रयोग (Use of Specialised Machinery)– केन्द्रीयकरण वाले क्षेत्र में एक ही प्रकार के कई कारखाने होते हैं जिनमें एक दूसरे से आगे बढ़ने के लिये पारस्परिक प्रतियोगिता (Competition) पाई जाती है। इस स्वास्थ्यकर प्रतियोगिता के कारण ही वे विशिष्ट एवं आधुनिक मशीनों का प्रयोग कर अपनी कार्यक्षमता में वृद्धि करने का प्रयत्न करते हैं।

७. उन्नति के लिये सामूहिक प्रयत्न (Collective Efforts for Improvement)—एक ही प्रकार के सारे उद्योग एक ही स्थान पर केन्द्रित होने के कारण उस उद्योग की उन्नति के लिये सामूहिक प्रयत्न किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, श्रमिकों की शिक्षा-दीक्षा के लिये प्रौद्योगिक संस्थायें (Technical Institutes), अनुसंधानालय (Research Institutes), प्रयोगालय (Laboratories), विशेष पत्रिकाएँ (Technical Journals) आदि बातों का उपयोग सामूहिक रूप से सलाभ किया जा सकता है।

८. व्यापार सम्बन्धी सुविधाएँ (Commercial Facilities)—किसी प्रौद्योगिक केन्द्र में कई कारखाने एक स्थान में स्थापित होने के कारण विशिष्ट (Specialised) यातायात के साधन, बैंक, शेयर-बाजार, नियन्त्रित गोदाम (Bonded Warehouse), बीमा कम्पनियाँ आदि वहाँ स्वतः ही स्थापित हो जाती हैं जिससे उद्योग-धन्धों को बड़ा आर्थिक लाभ पहुँचता है।

स्थानीयकरण की हानियाँ
(Disadvantages of Localisation)

उद्योगों के स्थानीयकरण में हानियाँ भी होती हैं। मुख्य हानियाँ निम्नलिखित हैं :—

१. मंदी का संकट (Risk in Depression)—उद्योगों का स्थानीयकरण किसी स्थान को आर्थिक दृष्टि से एक ही उद्योग पर निर्भर कर देता है। यह परिस्थिति सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती क्योंकि उस व्यवसाय में मंदी आने से सम्पूर्ण क्षेत्र संकट ग्रस्त हो जाता है। इसके फलस्वरूप कारखाने बंद हो जाते हैं और सारे क्षेत्र में बेकारी फैल जाती है।

२. मानव-कुशलता का संकीर्ण विकास (Narrow Development of Human Skill)—उद्योगों के स्थानीयकरण में किसी एक विशेष प्रकार की कुशलता की आवश्यकता होने से अधिकतर विशिष्ट कुशलता वाले श्रमिक ही आकर बसते हैं। उनको अपनी बुद्धि के अन्य पहलुओं के विकास का अवसर व समय नहीं मिलता जिसके कारण उनकी कार्य-कुशलता का एकाङ्गी विकास ही रहता है।

३. अविशिष्ट श्रम की बेकारी (Unemployment of Unspecialised Labour)—केन्द्रीयकरण के क्षेत्र में विशिष्ट योग्यता वाले श्रमिकों को तो कारखानों में काम धंधा मिल जाता है। परन्तु उस क्षेत्र के अविशिष्ट श्रमिकों को काम धंधा नहीं मिलने से वे बेकार रहते हैं—जैसे स्त्रियाँ, बच्चे आदि। सहायक उद्योगों के खुलने से यह समस्या हल हो सकती है।

४. केन्द्रीयकरण के दोष (Evils of Centralisation)—स्थानीयकरण के अन्तर्गत एक बड़ी संख्या में कारखाने एक ही स्थान में स्थापित हो जाने से सहस्रों श्रमिकों का उसी क्षेत्र में बसना अनिवार्य हो जाता है जिसके कारण कई सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं नैतिक दोष वहाँ उत्पन्न हो जाते हैं। जनसंख्या अधिक हो जाने के कारण मकानों की कमी हो जाती है और स्वच्छता का भी अभाव रहता है। इनके अतिरिक्त मद्यपान, व्यभिचार, साम्प्रदायिक झगड़े आदि भी व्यापक हो जाते हैं।

५. श्रम की गतिशीलता में रुकावट (Mobility of Labour hampered)—स्थानीयकरण द्वारा श्रम की गतिशीलता भी कम हो जाती है। सूती कारखानों के केन्द्र के श्रमिक काम न मिलने पर अन्य औद्योगिक केन्द्रों को नहीं जा सकते क्योंकि वे केवल सूती कपड़े के कारखानों के काम में ही निपुण हैं।

निष्कर्ष (Conclusion)—स्थानीयकरण के लाभ हानियों की अपेक्षा अधिक हैं। जो कुछ दोष हैं वे भी उपचार योग्य हैं। यदि एक केन्द्र में विभिन्न प्रकार के उद्योग स्थापित कर दिये जायें तो मानव कुशलता का एकाङ्गी विकास और मन्दी द्वारा होने वाले आर्थिक संकट का भय दूर हो सकता है। अविशिष्ट श्रमिकों की बेकारी सहायक उद्योग-धंधों द्वारा दूर हो जाना स्वाभाविक है। भविष्य में कारखाने घने बसे हुए क्षेत्रों में स्थापित न कर देहातों में स्थापित करने से केन्द्रीयकरण के दोष दूर हो सकते हैं। आज के युग में जल विद्युत् शक्ति और शीघ्र व सस्ते यातायात व सम्वाद के साधनों द्वारा भिन्न भिन्न स्थानों में कारखाने स्थापित करना सम्भव है।

उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण (Decentralisation of Industries)

आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में कुछ बातें ऐसी हैं जिनके द्वारा उद्योगों के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति में रुकावट पैदा हो जाती है। ये विकेन्द्रीयकरण अर्थात् उद्योगों के यत्र तत्र स्थापित किये जाने में सहायक होती हैं। एक ही प्रकार के उद्योगों के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थापित होने की प्रवृत्ति को उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण कहते हैं। उदाहरण के रूप में, पहले सूती कपड़े के कारखाने अधिकतर बम्बई और अहमदाबाद में ही थे, परन्तु अब कई स्थानों में स्थापित हो गये हैं और होते जा रहे हैं। इसके कारण मुख्यतया निम्नलिखित हैं :—

(१) जल विद्युत शक्ति का विकास—जल विद्युत शक्ति के विकास के पूर्व कारखाने प्रायः कोयलों की खानों के आस-पास ही स्थापित होते थे। परन्तु जल विद्युत शक्ति के विकास से आज कारखाने दूर दूर स्थानों में स्थापित हो सकते हैं क्योंकि जल-विद्युत शक्ति तारों द्वारा सुगमता से और कम लागत में दूर के स्थानों में ले जाई जा सकती है।

(२) यातायात के साधनों की उन्नति—यातायात के साधनों में उन्नति होने से कच्चा माल मँगाने तथा तैयार माल भेजने में पर्याप्त सुविधा हो जाने के कारण केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति शिथिल हो गई है।

(३) औद्योगिक नगरों में भूमि के मूल्य और भवनों के किराये में वृद्धि—बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों में जनसंख्या की वृद्धि के कारण नए कारखाने स्थापित करने के लिये पर्याप्त भूमि बड़ी कठिनाई से और बहुत ऊँचे मूल्य पर मिलती है। इसके अतिरिक्त इमारतों का किराया भी बहुत देना पड़ता है और कर आदि भी वहाँ बहुत होते हैं। जिनके कारण बढ़ा हुआ लागत खर्च नये कारखानों के लिये असह्य हो जाता है। कस्बों और देहातों में कारखानों के स्थापित करने में इस प्रकार की सुविधा उपलब्ध हो सकती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—उद्योगों के स्थानीयकरण से आप क्या समझते हैं ? उन कारणों का विवेचन कीजिये जिनसे यह उत्पन्न होता है ? (उ० प्र० १९५३)

२—उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरण के कारण बताइये। बम्बई में सूती धन्धों के सदभ में अपना उत्तर लिखिये। (रा० बो० १९५१)

३—उद्योगों के स्थानीयकरण के कारण बताइये और इसके मुख्य लाभ-हानि का वर्णन कीजिये। (रा० बो० १९५२, ४९)

४—'उद्योगों के स्थानीयकरण' से आप क्या समझते हैं ? इसके क्या कारण हैं ? इसके प्रमुख लाभ भी बताइये।

५—उद्योग-धन्धों के स्थानीयकरणों की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिये। (म० भा० १९५२)

अध्याय ४१

उत्पत्ति का परिमाण
(Scale of Production)

उत्पत्ति के परिमाण का अर्थ

उत्पादन छोटे और बड़े दोनों परिमाण में होता है। जब उत्पादन अधिक कच्चे माल, श्रम और पूँजी आदि से किया जाता है, तो उसे बड़े परिमाण की उत्पत्ति (Large-Scale Production) कहते हैं। बड़े परिमाण की उत्पत्ति के अन्तर्गत उद्योगों का संगठन इस प्रकार का होता है कि उनमें अधिक मात्रा में कच्चा माल, पूँजी, आधुनिक एवं विशिष्ट मशीनों का प्रयोग और विस्तृत श्रम-विभाजन के अतिरिक्त सहस्रों श्रमिक काम करते हैं तथा जिनकी उत्पत्ति केवल देश तक ही सीमित न रहकर दूर देशों की आवश्यकताओं को भी पूर्ति करती है। कपड़े, चीनी की बड़ी बड़ी मिलें, लोहे और इस्पात के कारखाने रेलवे कम्पनियाँ आदि उत्पत्ति के बड़े परिमाण के कुछ उदाहरण हैं। इसके विपरीत थोड़े से कच्चे माल, श्रम और पूँजी से कम मात्रा में माल तैयार करने को छोटे परिमाण की उत्पत्ति (Small-Scale Production) कहते हैं। उदाहरणार्थ, जुलाहा, कुम्हारों, सुनारों, लुहारों आदि के काम। कुछ व्यवसायों में उत्पत्ति का परिमाण बड़ा होता है और कुछ में छोटा। कभी-कभी एक ही व्यवसाय में बड़े और छोटे दोनों ढंग के उत्पादन साथ-साथ चलते हैं। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् उत्पादन के परिमाण में बहुत वृद्धि हो गई है। ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस आदि सभी सभ्य देश बड़े परिमाण की उत्पत्ति के ढंग को अपनाते जा रहे हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि छोटे परिमाण वाले ढंग का बिल्कुल लोप हो गया है। कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जो छोटे पैमाने पर ही चलाये जा सकते हैं। जिन उद्योग-धन्धों में उत्पादक के व्यक्तिगत निरीक्षण की आवश्यकता होती है। या जिनमें व्यक्तिगत रुचियों और फैशन के अनुसार काम करना पड़ता है, उनमें बड़े परिमाण पर उत्पत्ति सफल नहीं हो सकती। दोनों ढंगों में कुछ अलग-अलग विशेषताएँ हैं जिनके कारण से आज तक एक साथ चालू हैं हम यहाँ सब से प्रथम बड़े परिमाण की उत्पत्ति पर विचार करेंगे और तत्पश्चात् छोटे परिमाण की उत्पत्ति पर।

बड़े परिमाण की उत्पत्ति
(Large scale Production)

बड़े परिमाण की उत्पत्ति के लाभ

(Advantages of Large-Scale Production in Manufacture)

बड़े परिमाण की उत्पत्ति के कई लाभ हैं जिनका उल्लेख नीचे किया गया है। प्रो० मार्शल के मतानुसार ये लाभ दो भागों में वर्गीकृत किये जा सकते हैं—

(१) बाह्य बचत (External Economies) और (२) आभ्यान्तरिक बचत (Internal Economies)।

(१) बाह्य बचत (External Economies)—वह बचत है जो किसी उद्योग धंधों की साधारण उन्नति के कारण होती है। यह किसी विशेष उद्योग के उत्पादन में वृद्धि होने के कारण नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण व्यवसाय के साधारण विकास के कारण उत्पन्न होती है। उस व्यवसाय में संलग्न सभी कारखाने इस प्रकार का लाभ उठा सकते हैं। अधिक स्पष्ट करते हुए यों कहा जा सकता है कि उद्योग धन्धों के स्थानीयकरण से जो लाभ होते हैं उन्हें बाह्य बचत कहते हैं। उदाहरण के लिये सूती वस्त्र की मिलों की संख्या में वृद्धि होने के साथ साथ उनमें प्रयुक्त होने वाली मशीनों के उत्पादन में वृद्धि होकर उनकी लागत कम हो जाने से बड़ी भारी बचत होती है। इसी प्रकार जब कोई व्यवसाय किसी विशिष्ट स्थान पर केन्द्रीय हो जाता है तो उस व्यवसाय के समस्त कारखानों को यातायात, विज्ञापन, बीमा, बैंक, सहायक धन्धे, राज्य सहायता अनुसंधान तथा औद्योगिक संस्थाओं आदि की सुविधाएं विशेष रूप से उपलब्ध होने के कारण पर्याप्त बचत होती है। इस प्रकार के समस्त लाभ बाह्य बचत के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं।

(२) आभ्यान्तरिक बचत (Internal Economies)—वह बचत है जो किसी एक कारखाने के आन्तरिक व्यवस्था तथा प्रबन्ध की उत्कृष्टता के कारण होती है। इसका बाहरी व्यवस्थाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। आभ्यान्तरिक बचत कारखाना के संगठन की उत्तमता पर निर्भर होती है। सुयोग्य व्यवस्थापक निरन्तर उन बातों की खोज में लगा रहता है जिनसे आभ्यान्तरिक बचत में वृद्धि हो। बड़े परिमाण के उत्पादन में जो मुख्य आभ्यान्तरिक लाभ होते हैं वे निम्नांकित हैं —

१. श्रम विभाजन के समस्त लाभ (All the Advantages of Division of Labour)—*उत्पादन बड़े परिमाण में होने के कारण श्रम विभाजन से पूरा पूरा लाभ उठाया जा सकता है।*

२. मशीन के प्रयोग के समस्त लाभ (All the Advantages of Use of Machinery)—*बड़े परिमाण में उत्पत्ति और मशीनों का प्रयोग एक प्रकार से साथ साथ चलते हैं।* अस्तु मशीनों के प्रयोग के लाभ बड़े परिमाण की उत्पत्ति के लाभ बन जाते हैं।

३. मूल्य में कमी (Low Prices)—जब किसी वस्तु का उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है तो उस वस्तु के लागत दाम भी कम हो जाते हैं जिससे वह वस्तु बाजार में सस्ती मिलने लगती है और उपभोक्ताओं को लाभ पहुँचता है।

४. श्रम की मितव्ययता (Economy of Labour)—बड़े कारखाना में कोई एक कार्य थोड़े से श्रमिकों द्वारा सम्पन्न किया जाता है जबकि छोटे कारखाना में उसी कार्य के लिये अधिक श्रमिकों को लगाना पड़ता है।

५. विशेषज्ञों की नियुक्ति (Employment of Technical Experts)—बड़ी मात्रा में उत्पादन होने से श्रम विभाजन में उन्नति होती है क्योंकि बड़े बड़े कारखाना में बड़ी योग्यता वाले विशेषज्ञ नियुक्त किये जा सकते हैं। जो छोटे परिमाण के उद्योग में सम्भव नहीं है।

६ आधुनिक एवं विशिष्ट मशीनों का प्रयोग (Use of Upto date and Specialised Machinery) बड़े परिमाण में उत्पादन करने वाला आधुनिक एवं विशिष्ट मशीनों के प्रयोग द्वारा उत्पादन बढ़ा सकता है।

७ क्रय में मितव्ययता (Economy in Buying)—बड़े कारखाने वाले कच्चा माल, ईंधन, मशीन आदि अधिक मात्रा में खरीदते हैं। अस्तु, उन्हें इन वस्तुओं के खरीदने में क्रय दर, लदाई, ढुलाई आदि में पर्याप्त मितव्ययता होती है।

८ विक्रय में मितव्ययता (Economy in Selling)—अधिक मात्रा में माल बेचने में रेल व्यय आदि खर्चों में पर्याप्त बचत होती है।

९ अवशिष्ट पदार्थों का सदुपयोग (Utilization of Bye Products)—बड़े परिमाण में उत्पादन होने में अवशिष्ट पदार्थों का सदुपयोग हो सकता है। उदाहरणार्थ चीनी की मिलों में शीरे (Molasses) से मद्यसार शक्ति (Power Alcohol) तैयार की जाती है।

१० बड़े परिमाण में विज्ञापन सम्भव (Large Scale Advertising)—छोटे कारखाने वाले वैज्ञानिक विज्ञापन का व्यय नहीं सह सकते। अस्तु केवल बड़े कारखाने वाले ही इसकी व्यवस्था कर सकते हैं।

११ बड़े निर्माता को व्यापार सम्बन्धी व्यापक नीति निर्धारित करने का पर्याप्त अवसर मिल सकता है (A large Manufacturer can devote himself entirely to broad questions of policy)—बड़ा निर्माता अपना दैनिक शासन सम्बन्धी कार्य प्रबन्धक आदि कर्मचारियों के सुपुर्द कर वह स्वयं व्यापार के नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार कर सकता है।

१२ बाजार की घटा-बढ़ी से अधिक प्रभावित नहीं होना (Not much affected by Market Fluctuations)—बड़ा व्यापारी या उत्पादक अपने स्वयं के अनुभव तथा विशेषज्ञों (Experts) की सम्मति से भावी माँग का लगभग ठीक अनुमान लगाकर उत्पादन प्रारम्भ करता है। अस्तु, वह भावों की घटा बढ़ी के प्रभाव से मुक्त रहता है। यदि कदाचित् उसका अनुमान ठीक न उतरे तो भी वह अपनी विस्तृत पूँजी के साधनों के कारण हानि आसानी से सह सकता है।

१३ प्रयोगशालाओं में प्रयोग और अनुसन्धान किये जा सकते हैं (Experiments and Researches can be carried on in Laboratories)—एक बड़ा निर्माता अपने स्वयं के प्रयोगालय एवं अनुसन्धानालय स्थापित कर बड़े-बड़े विशेषज्ञों की सेवाओं का उपयोग कर अपना उत्पादन बढ़ा सकता है। छोटे निर्माता या उत्पादक इस लाभ से वंचित रहते हैं।

१४ स्थान की मितव्ययता (Economy of Space)—जब किसी वस्तु के उत्पादन के लिये बजाय एक बड़े कारखाने के कई छोटे छोटे कारखाने हों तो अधिक स्थान की आवश्यकता होगी।

१५ पूँजी की मितव्ययता (Economy of Capital)—बड़ा निर्माता या उत्पादक पूँजी का उपयोग बड़ी मात्रा में करता है। अस्तु वह पूँजी कम ब्याज दर पर प्राप्त कर सकता है।

१६ साख में भी उन्नति होती है (Credit is enhanced)—छोटे निर्माता या उत्पादक की अपेक्षा बड़े निर्माता या उत्पादक को अधिक लोग जानते

९. उत्तरदायित्व व नीरसता का अभाव और दक्षता का एकाङ्गी विकास– बड़े परिमाण में उत्पत्ति में सूक्ष्म श्रम-विभाजन होता है और श्रम-विभाजन द्वारा उत्पन्न होने वाली हानियाँ होती हैं, जैसे उत्तरदायित्व व नीरसता का अभाव और दक्षता का एकाङ्गी विकास आदि।

बड़े परिमाण की उत्पत्ति की सीमाएँ
(Limitations of Large-Scale Production)

बड़े परिमाण की उत्पत्ति के अनेक लाभ हैं। अस्तु, इन लाभों को अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त करने के हेतु उत्पत्ति में वृद्धि करना स्वाभाविक है। परन्तु उत्पत्ति की वृद्धि असीमित अवस्था तक नहीं ले जाई जा सकती, क्योंकि इसकी कुछ सीमाएँ हैं। ये सीमाएँ निम्नलिखित हैं —

(१) उद्योग-धन्धों का स्वभाव– कुछ उद्योग स्वभावतः भारी होते हैं जिन्हें बड़े पैमाने पर ही चलाना पड़ता है, जैसे रेल के इंजन बनाना, बिजली उत्पन्न करना, मोटर व जहाज आदि के उद्योग। जिन व्यवसायों में व्यक्तिगत ध्यान, रुचि और दक्षता की आवश्यकता होती है उनमें बड़े परिमाण में उत्पत्ति लाभप्रद सिद्ध नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ, रेशमी वस्त्र बुनना, कसीदा काढ़ना, चित्र बनाना, बीड़ी बनाना, दर्जी, स्वर्णकार और जवाहरात आदि का काम।

(२) उत्पत्ति का स्वभाव– यदि निर्मित वस्तु शीघ्र नष्ट होने वाली है अथवा अग्राहनीय है, तो उसका उत्पादन छोटे पैमाने पर होगा। इसके विपरीत, यदि वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान को आसानी से लाई जा सकती है तथा जिसके द्वारा बड़ी संख्या में मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, तो उसका उत्पादन बड़े पैमाने पर होगा।

(३) बाजार का विस्तार– बड़े परिमाण में उत्पादन तभी सम्भव हो सकता है जबकि माल की खपत के लिये बाजार विस्तृत एवं स्थायी हो। जिन वस्तुओं की माँग दूर देशों में होती है केवल वे ही वस्तुएँ बड़े पैमाने में उत्पन्न की जा सकती हैं, जैसे कपड़ा, चीनी, कागज आदि।

(४) उत्कृष्ट व्यवसाय एवं प्रबन्ध की कठिनाई—मनुष्य की संगठन शक्ति सीमित होती है। वह कार्य का देख रेख किसी एक सीमा तक ही भली प्रकार कर सकता है। उसके उपरान्त विभिन्न विभागों का निरीक्षण, नियन्त्रण और सामञ्जस्य उसके लिये कठिन हो जाता है। उसकी कार्यकुशलता गिर जाती है और काम में अनेक त्रुटियाँ होने लगती हैं। इस प्रकार किसी एक सीमा के पश्चात् उत्पादन-प्रसार लाभदायक नहीं होता।

(५) श्रम-विभाजन और मशीनों की मितव्ययताओं की सीमा—श्रम-विभाजन और मशीनों के प्रयोग से जो बचत होती है वह निरन्तर नहीं रह सकती। उनका भी किसी एक सीमा के पश्चात् अन्त होना प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि उस सीमा के बाद श्रम-विभाजन और मशीनों के प्रयोग में वृद्धि करना कठिन हो जाता है।

(६) पूँजी आदि उत्पत्ति के साधनों की परिमितता—उत्पत्ति के परिमाण को जितना अधिक बढ़ाया जायगा, उतनी ही अधिक आवश्यकता पूँजी और अन्य साधनों की पड़ेगी। ये साधन सदैव पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलते। अतएव इस कारण भी उत्पत्ति की मात्रा सीमित हो जाती है।

(७) मनुष्यों का चरित्र :—उत्पादन का परिमाण देश के मनुष्यों के चरित्र पर ही निर्भर है। यदि लोग साहसी हैं और नवीन योजनाओं सम्बन्धी जोखिम उठाने के लिये तैयार हैं, तो निस्संदेह उत्पादन बड़े पैमाने पर होगा।

प्रो० चैपमैन[1] (Prof. Chapman) के अनुसार बड़े परिमाण की अन्तिम सीमाएँ (Final Limits) निम्नलिखित हैं :—

(१) सगठन की आभ्यान्तरिक (Internal) कठिनाइयाँ।
(२) निर्मित वस्तुओं के गुणों का महत्त्व।
(३) उपयोग में आने वाली मशीनों की लागत।
(४) बाह्य (External) कठिनाइयाँ जो बाजार के स्वभाव से सम्बद्ध हैं।
(५) वस्तु की माँग में स्थिरता।
(६) उद्योग की उत्पत्ति-विधि सम्बन्धी निश्चयता।
(७) बड़े पैमाने की उत्पत्ति में बचत का परिमाण।

बड़े परिमाण की उत्पत्ति और यातायात के साधन
(Large-Scale Production & Means of Transportation)

सस्ते और शीघ्र यातायात के साधन बड़े परिमाण की उत्पत्ति में बड़े सहायक हैं। (१) इनके द्वारा दूर स्थित स्थानों से कच्चा माल प्राप्त किया जा सकता है। (२) इनसे श्रम की गतिशीलता बढ़ती है। (३) माल की खपत के लिए बाजार और मंडियों का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है।

बड़े परिमाण की उत्पत्ति और कृषि व्यवसाय
(Large-Scale Production & Agricultural Industry)

बड़े परिमाण की उत्पत्ति का प्रयोग निर्माण व यातायात व्यवसायों में भली-भाँति हो सकता है। परन्तु कृषि व्यवसाय इसके लिये पूर्णतया उपयुक्त नहीं है। इसके कई कारण हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं :—

१. कृषि में विशिष्ट (Specialised) मशीनों और श्रम-विभाजन का बहुत कम क्षेत्र है।

२. कृषि में उत्पत्ति-ह्रास-नियम (Law of Diminishing Return) होने के कारण बड़े परिमाण की उन्नति सम्भव नहीं है।

३. कृषि जलवायु आदि प्राकृतिक कारणों पर विशेष निर्भर होने के कारण बड़े परिमाण की उत्पत्ति के उपयुक्त नहीं है।

४. निर्माण व्यवसाय की अपेक्षा कृषि व्यवसाय एक अधिक विस्तृत क्षेत्र में फैला होने के कारण निरीक्षण एवं प्रबन्ध कठिन हो जाता है। इस कारण कृषि में बड़े पैमाने पर उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

बड़े परिमाण की उत्पत्ति और भारतवर्ष (Large Scale Production and India)—बड़े परिमाण की उत्पत्ति आजकल संसार के सभी सभ्य देशों में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतवर्ष में भी इस ओर पर्याप्त प्रगति

१—*"The Lancashire Cotton Industry"*—Chapman Page 199.

दृष्टिगोचर होती है परन्तु कुछ कारण यहाँ अब भी अवरोधक सिद्ध होते हैं। वे निम्न लिखित हैं —

१ अनभिज्ञता (Ignorance) २ साहस का अभाव (Lack of Enterprising Spirit) ३ संकीर्ण विचार (Narrow Outlook) ४ भाग्यवादिता (Fatalism) और ५ विदेशी प्रतियोगिता (Foreign Competition)

छोटे परिमाण की उत्पत्ति

(Small Scale Production)

जारी रहने के कारण (Causes of Persistence of Small Scale Production) बड़े परिमाण की उत्पत्ति के अनेक लाभ है और इस ओर लोगों का झुकाव बढ़ता जा रहा है पर इसका आशय यह नहीं है कि छोटे परिमाण की उत्पत्ति का अन्त आ गया है। छोटे कारखाने वर्तमान समय में भी अपनी विशेष शक्ति के साथ काम कर रहे हैं। उन्हें आर्थिक क्षेत्र में हटाया नहीं जा सकता। इसके निम्नलिखित कारण हैं —

१ व्यक्तिगत देख रेख और रुचि वाले व्यवसाय—जिन व्यवसायों में व्यक्तिगत ध्यान, रुचि और देख रेख की आवश्यकता होती है। व छोटे पैमाने पर ही सुचारु रूप से चलाये जा सकते हैं। जैसे दर्जी, हलवाई, स्वर्णकार, जौहरी आदि का व्यवसाय

२ कला-कौशल की वस्तुएँ —जिन वस्तुओं के तैयार करने में विशेष कला कौशल और ज्ञान की आवश्यकता होती है उनका निर्माण व्यवसाय छोटे पैमाने पर होना निश्चित है।

३ सीमित तथा अस्थायी माग—कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनकी माग न तो अधिक होती है और न स्थायी रहती है जैसे फैशन, सजावट आदि की वस्तुओं का व्यवसाय प्राय छोटे पैमाने पर ही होता है।

४ व्यवसाय का स्वभाव कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जिनमें विशेष विभाग नहीं किये जा सकते और जो स्वभावत छोटे पैमाने पर ही चलाये जा सकते हैं जैसे कृषि आदि।

५ उद्योगों की प्रारम्भिक अवस्था—प्राय सभी उद्योग शुरू में छोटे पैमाने पर ही प्रारम्भ किये जाते हैं।

६ स्वतन्त्रताप्रिय शिल्पकार—जो शिल्पकार स्वतन्त्र रह कर ही जीविकोपार्जन करना चाहते हैं व प्राय अपने व्यवसाय को छोटे पैमाने पर ही चलाना पसन्द करते हैं।

छोटे परिमाण की उत्पत्ति के लाभ

(Advantages of Small Scale Production)

(१) व्यक्तिगत निरीक्षण—छोटा निर्माता या उत्पादक अपने काम की देख रेख स्वय कर सकता है। अतएव वह श्रमिकों की शिथिलता और अकर्मण्यता पर अकुश रख सकता है। वह उनसे योग्यतानुसार काम ले सकता है उनकी त्रुटियाँ निकाल सकता है और उन्हें प्रोत्साहन दे सकता है।

(२) स्वामी और सेवकों के मध्य निकट सम्पर्क—छोटे कारखाने में स्वामी और श्रमिकों के मध्य सीधा एवं निकट सम्पर्क स्थापित रह सकता है जिससे पारस्परिक संघर्ष नहीं रहता।

(३) ग्राहकों से अधिक सम्पर्क—छोटे निर्माता या उत्पादक अपने ग्राहकों के अधिक सम्पर्क में रहते हैं। वे उनकी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ तैयार करते हैं जिससे अविक्रीत स्टॉक रहने की बहुत कम सम्भावना होती है।

(४) धन का समान वितरण—छोटे परिमाण की उत्पत्ति के अन्तर्गत धन-वितरण लगभग समान ही होता है। इससे सामाजिक अशान्ति और असन्तोष कम हो जाता है।

(५) स्वतन्त्रतापूर्वक एवं सुविधानुसार कार्य—छोटे परिमाण की उत्पत्ति में शिल्पकार एवं श्रमिक घर बैठे स्वतन्त्रतापूर्वक तथा अपनी सुविधानुसार काम कर सकते हैं। उन्हें किसी की आधीनता में नहीं रहना पड़ता है।

(६) बड़े परिमाण की उत्पत्ति के दोषों का प्रतिकार—जिस देश में छोटे परिमाण की उत्पत्ति की प्रधानता होती है वहाँ के निवासी सूक्ष्म विभाजन, मशीनों के प्रयोग आदि औद्योगीकरण की हानियों से बचे रह सकते हैं।

(७) व्यक्तिगत गुणों के विकास का अवसर—छोटे परिमाण के उत्पादन में आत्माभिमान, उत्तरदायित्व, सचाई आदि व्यक्तिगत गुणों के विकास को प्रोत्साहन मिलता है।

(८) औद्योगिक नगरों के दोषों से मुक्ति—छोटे परिमाण की उत्पत्ति में अस्वास्थ्यकर आवास, गन्दगी, मद्यपान, वेश्यागमन, जुआ आदि दोष नहीं पाये जाते। वहाँ का वातावरण मशीनों की गड़गड़ाहट और चिमनी के धुएँ से दूषित नहीं होता।

(९) पूँजीवाद के दोषों का अभाव—छोटी मात्रा की उत्पत्ति में स्त्री व बच्चों का शोषण, असमान धन-वितरण आदि पूँजीवाद के दोष नहीं पाये जाते।

छोटे परिमाण की उत्पत्ति की हानियाँ
(Disadvantages of Small-Scale Production)

छोटे परिमाण की उत्पत्ति में निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं :—

(१) बड़े परिमाण में उत्पत्ति की विविध बचतों का सर्वथा अभाव—छोटे पैमाने के उत्पादन में बड़े परिमाण की उत्पत्ति से होने वाली विविध बचतों का सर्वथा अभाव देखा जाता है। उदाहरण के लिए, नवीनतम मशीनों के प्रयोग में बचत, अवशिष्ट पदार्थों का उपयोग, सूक्ष्म श्रम-विभाजन से बचत, कार्यालय, पैकिंग विभाग और यातायात की बचत, कच्चा माल व मशीनों आदि के खरीदने में बचत, विज्ञापन, अनुसंधान और प्रयोग आदि सुविधाएँ छोटे उत्पादकों को उपलब्ध नहीं होती।

(२) प्रति इकाई अधिक उत्पादन व्यय—बड़े परिमाण की उत्पत्ति की विविध बचतों के अभाव में छोटे परिमाण में प्रति इकाई उत्पादन-व्यय बढ़ जाता है जिससे छोटे उत्पादक बड़े उत्पादकों की प्रतियोगिता में नहीं ठहर सकते।

(३) कुछ उद्योग धन्धे स्वभावतः बड़े परिमाण में चलाये जा सकते हैं—कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जिनमें अधिक पूँजी की आवश्यकता होने से केवल अधिक पूँजी वाले ही कर सकते हैं। जैसे खान खोदना, यातायात सम्बन्धी उद्योग, थोक व्यापार, बीमा और बैंक कार्य आदि।

(४) सीमित साधनों से संकट निवारण नहीं हो सकता—छोटे उत्पादक के पास सीमित साधन होने से विपत्ति का सामना ठीक प्रकार नहीं किया जा सकता।

(५) सस्ती साख उपलब्ध नहीं हो सकती—छोटे उत्पादक का उत्पादन-कार्य छोटे पैमाने पर होने से वह सस्ती साख का लाभ नहीं उठा सकता।

छोटे परिमाण की उत्पत्ति के दोषों को दूर करने के साधन

(१) मशीनों का प्रयोग (Use of Machinery)—आजकल मशीनों के आविष्कारों की उन्नति के फलस्वरूप अनेक प्रकार की सस्ती छोटी और शीघ्रता से काम करने वाली मशीनें उपलब्ध होती हैं जो अधिकतर जल विद्युत द्वारा चलाई जाती हैं इनके प्रयोग से छोटे उत्पादकों की कार्य क्षमता में वृद्धि होने के अतिरिक्त उन्हें अनेक लाभ प्राप्त होते हैं।

(२) सहकारिता का विकास (Development of Co-operation)—सहकारिता की उन्नति के फलस्वरूप छोटे उत्पादकों को बहुत सी वे सुविधायें प्राप्त हो गई हैं जो पहले केवल बड़े उत्पादकों को ही उपलब्ध थीं, जैसे क्रय विक्रय पूँजी आदि में बचत।

(३) व्यापारिक ज्ञान का प्रसार (Diffusion of Trade Knowledge)—वर्तमान समय में व्यापारिक ज्ञान केवल बड़े उत्पादकों तक ही सीमित नहीं है बल्कि छोटे उत्पादक भी समाचार-पत्रों व्यापारिक-पत्रिकाओं व सम्मेलनों आदि द्वारा व्यापारिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

(४) विज्ञान की उन्नति (Progress of Science)—विज्ञान की उन्नति से भी छोटे उत्पादकों को बड़ी सहायता मिलती है। मशीनों का आविष्कार, शक्ति के सस्ते साधन, सम्वाद व यातायात के साधनों की उन्नति, औद्योगिक ज्ञान का विकास, अनुसंधान और प्रयोगों के लाभदायक परिणाम आज छोटे और बड़े सभी उत्पादकों को उपलब्ध है।

निष्कर्ष (Conclusion)—आज भी संयुक्त-राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, इटली, फ्रांस, स्विट्ज़रलैंड, बेल्जियम, जापान आदि देशों में छोटे व्यवसाय बड़े पैमाने वाले व्यवसायों के साथ साथ स्थित हैं और उनसे सफलतापूर्वक टक्कर ले रहे हैं। भारतवर्ष में छोटे पैमाने के व्यवसायों के विकास के लिये पर्याप्त क्षेत्र है। अब भी भारत में लाखों मनुष्य अपनी आजीविका के लिये घरेलू व्यवसायों पर निर्भर हैं। भारत एक कृषि-प्रधान देश है और यहाँ के कृषक कई महीनों तक बेकार बैठे रहते हैं। निस्संदेह इनके लिये छोटे व्यवसायों का विकास बड़ा लाभदायक सिद्ध होगा। इस सम्बन्ध में अखिल भारतवर्षीय ग्रामोद्योग संघ (All India Village Industries Association), भारतीय कांग्रेस, केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों का कार्य सराहनीय है।

बड़े पैमाने पर खेती
(Large-Scale Farming)

किसी भूमि के बड़े भाग पर श्रमिकों की सहायता से मशीन द्वारा खेती करने को बड़े पैमाने की खेती कहते हैं। बड़े पैमाने की खेती के अन्तर्गत खेत कितना बड़ा होना चाहिए इस विषय में बड़ी भिन्नता पाई जाती है। उदाहरणार्थ भारतवर्ष में लगभग २५–३० बीघे का खेत बड़े पैमाने की खेती योग्य समझा जाता है, जबकि अमेरिका और इंगलैंड में १०० बीघे का खेत एक मध्यम आकार का खेत माना जाता है। कुछ भी हो, बड़े पैमाने की खेती के अन्तर्गत मशीनों का विस्तृत प्रयोग, उत्तम बीजों का उपयोग, आधुनिक सिंचाई के साधन और मार्केटिंग सुविधायें आदि बातें सम्मिलित हैं।

बड़े परिमाण की खेती में लाभ
(Advantages of Large-Scale Farming)

१ आधुनिक मशीनों और औजारों का प्रयोग सम्भव—बड़े पैमाने की खेती में आधुनिक और मूल्यवान मशीन और औजार प्रयुक्त किये जा सकते हैं जिससे उत्पादन में वृद्धि होकर लागत कम हो जाती है।

२ श्रम-विभाजन से लाभ—यद्यपि निर्माण व्यवसाय की भांति श्रम विभाजन इतनी सूक्ष्म अवस्था तक नहीं ले जाया जा सकता, परन्तु फिर भी छोटे पैमाने की खेती की अपेक्षा बड़े पैमाने की खेती में श्रम विभाजन अधिक विस्तृत रूप में सम्भव है। अस्तु, श्रम-विभाजन के अनेक लाभ बड़े पैमाने की खेती को उपलब्ध हो सकते हैं।

३. दक्षता में बचत—दक्षता में बचत तभी हो सकती है जब एक व्यक्ति वही काम करता है जिसमें वह दक्ष हो। यह तभी हो सकता है जबकि श्रमिक निरन्तर वही कार्य करे। बड़े पैमाने की खेती में ही यह सम्भव है कि श्रमिक निरन्तर एक ही काम करता रहे।

४ क्रय-विक्रय में बचत—बड़े कृषकों को वस्तुओं के क्रय-विक्रय में भी बहुत बचत होती है। वे वस्तुएँ बड़ी मात्रा में खरीदते और बेचते हैं जिससे उनको कई प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं।

५. बड़ा फार्म पर्याप्त पूँजी से सुसज्जित होता है—बड़े कृषक को पर्याप्त पूँजी सरलता से कम ब्याज पर उपलब्ध हो सकती है। वह अपनी पूँजी को उत्तम सड़कें, सिंचाई, नाले-नालियाँ आदि के लिये प्रयुक्त कर सकता है। यह सुविधा छोटे कृषक को उपलब्ध नहीं हो सकती।

६ वैज्ञानिक ढङ्गों से लाभ—बड़े पैमाने की खेती में फसल-परिवर्तन (Rotation of Crops), रासायनिक खाद का प्रयोग तथा खेती के अन्य वैज्ञानिक ढंगों द्वारा उत्पत्ति में वृद्धि करना सहज है।

७ अवशिष्ट पदार्थों का उपयोग—बड़े फार्मों पर अवशिष्ट पदार्थ अधिक मात्रा में होने के कारण सलाभ उपयोग में लाये जा सकते हैं।

८ मध्यजनों का लोप—बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले अपनी पैदावार सीधी उपभोक्ताओं को बेच सकते हैं जिससे मध्यजनों (Middlemen) का लोप होकर उपभोक्ताओं और उत्पादकों दोनों को ही लाभ हो जाता है।

६ सहायक उद्योग धन्धों की स्थापना— बड़े फार्मों पर कई सहायक उद्योग धन्धे स्थापित किये जा सकते हैं। जैसे—गन्ने के फार्म पर डेरी, चीनी की मिल, गुड़ और शराब आदि के कारखाने खुल सकते हैं।

बड़े परिमाण की खेती से हानियाँ
(Disadvantages of Large Scale Farming)

१ कुशल निरीक्षण एवं प्रबन्ध में कठिनाई—बड़े पैमाने की खेती में उत्पत्ति कार्य दूर तक फैले होने के कारण श्रमिकों का निरीक्षण एवं प्रबन्ध कुशलतापूर्वक नहीं हो सकता तथा इसके एवं लम्बे समय तक फैले रहने के कारण निरीक्षण सम्बन्धी व्यय भी अधिक होता है।

२ श्रम विभाजन अधिक लाभप्रद सिद्ध नहीं हो सकता—निर्माण व्यवसायों की खेती में श्रम विभाजन इतना लाभप्रद सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि इसकी कई सीमाएँ हैं।

३ समय और शक्ति का दुरुपयोग—बड़े पैमाने की खेती में बड़े-बड़े खेत होते हैं जिनके एक भाग से दूसरे भाग को जाने आने में श्रमिकों के समय और शक्ति का दुरुपयोग होता है।

४ खेती का अधिकतर मौसमों पर निर्भर होना—खेती में आधुनिक मशीनों और वैज्ञानिक ढंगों का प्रयोग होते हुए भी मौसमों अर्थात् सर्दी, गर्मी और जलवृष्टि पर आश्रित रहना पड़ता है। बिना उपयुक्त जलवायु के कृषि कार्य बिल्कुल सम्भव नहीं।

५ मशीनों के प्रयोग से अधिक बचत सम्भव नहीं—खेती में विशिष्ट मशीनों का प्रयोग कम होने से बचत कम होती है।

६ कृषकों की व्यक्तिवादिता—खेती के श्रमिक प्रायः समुदाय में कार्य करना पसन्द नहीं करते। वे स्वतन्त्रताप्रिय होते हैं उन्हें अनुशासन में रहना अच्छा नहीं लगता। अस्तु उन्हें संगठित करना एक बड़ा कठिन कार्य हो जाता है।

७ फल फूल आदि की खेती में कठिनाई—फल फूल आदि की खेती में देख रेख की अधिक आवश्यकता होने के कारण बड़े पैमाने के उत्पादन में कठिनाई हो जाती है।

८ भूमिरहित श्रमिकों की संख्या में वृद्धि—बड़े फार्मों की प्रतियोगिता में छोटे फार्म वाले नहीं ठहर सकते। अतः छोटे फार्म वालों को अपना धन्धा छोड़ कर अन्य कार्य करना पड़ता है। इस प्रकार धीरे धीरे भूमिरहित श्रमिकों की संख्या में वृद्धि होती जाती है।

९ जमींदारी प्रथा की हानियाँ—बड़े परिमाण की खेती में धन वितरण में असमानता हो जाती है। एक जमींदारों का वर्ग स्थापित हो जाता है और दूसरा कृषकों का। जमींदार प्रबन्ध कार्य अपने कर्मचारियों के सुपुर्द कर शहरों में विलासी जीवन व्यतीत करने लगते हैं। जमींदारों और किसानों में संघर्ष, बेगार प्रथा, किसानों का शोषण आदि सामाजिक दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

बड़े परिमाण की खेती और भारतवर्ष—इसमें कोई सन्देह नहीं है कि छोटे परिमाण की खेती की अपेक्षा बड़े परिमाण की खेती में अनेक लाभ हैं। परन्तु

भारतवर्ष की परिस्थिति इस प्रकार की है कि बड़े पैमाने की खेती में लाभ के स्थान में हानि होना सम्भव है। ऐसी दशा में भारतवर्ष में बड़े पैमाने की खेती को अपनाने के बजाय छोटे खेतों में ही विविध प्रकार के सुधारों द्वारा पैदावार बढ़ाने का प्रयत्न करना उचित है।

भारतवर्ष में बड़े परिमाण की खेती में बाधाएँ

(Hindrances to Large-Scale Farming in India)

भारतवर्ष में बड़े पैमाने पर खेती निम्नलिखित कारणों से नहीं की जा सकती :—

१. खेतों का छोटा और दूर-दूर स्थित होना
२. भारतीय किसानों की निर्धनता
३. उनकी अज्ञानता और निरक्षरता
४. उनकी भाग्यवादिता
५. सरकार के प्रदर्शन फार्मों (Demonstration Farms) की असफलता
६. भारतवर्ष में समानाधिकार कानून का प्रचलित होना
७. भारतीय कृषि का प्राकृतिक एवं जलवायु सम्बन्धी बातों पर पूर्णतया आश्रित होना
८. छोटे पैमाने की खेती के अपेक्षित लाभ
९. भारतीय कृषि व्यापार के लिए नहीं अपितु उदर पूर्ति के लिए की जाती है
१०. कृषि सम्बन्धी प्रयोगों के लिए अपर्याप्त फार्म

छोटे पैमाने की खेती के लाभ

(Advantages of Small-Scale Farming)

१. फसलों का व्यक्तिगत निरीक्षण—छोटे फार्म वाला किसान खेती की विभिन्न क्रियाओं की देख-रेख स्वयं कर अपने लाभ को अधिकतम सीमा पर ले जा सकता है।

२. श्रमिकों के संघर्ष का पूर्णतया अभाव—छोटे पैमाने की खेती में मजदूरी पर रखे जाने वाले श्रमिकों की संख्या बहुत कम होती है। अतः स्वामी और श्रमिक के मध्य किसी प्रकार का संघर्ष होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

३. फल, फूल आदि की खेती के लिये अधिक उपयुक्त—फल, फूल और वे फसलें जिनमें अधिक देख-रेख की आवश्यकता होती है छोटे परिमाण में ही उत्पन्न की जा सकती हैं।

४. सहकारिता से लाभ—सहकारिता से छोटे किसानों को अधिक लाभ पहुँच सकता है। संसार के कई देशों में सहकारिता ने किसानों की स्थिति में अपूर्व कायापलट कर दी है।

५. सामाजिक समानता—छोटे पैमाने की खेती के अन्तर्गत सारी भूमि छोटे छोटे भूस्वामियों में बँट जाती है। जिसमें ऊँच-नीच का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होने पाता। धन-वितरण की समानता के कारण सभी छोटे-छोटे किसान सन्तुष्ट रहते हैं।

६. राजनैतिक लाभ—भू-स्वामियों का अधिक सख्या मे होना एक बडी राजनैतिक शक्ति कही जाती है। सरकार जिस प्रकार चाहे उनका उपयोग कर सकती है।

निष्कर्ष (Conclusion) – सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से छोटे फार्म अधिक लाभदायक हैं। प्राचीन विद्वानो का मत भी छोटे खेतो के पक्ष मे ही है। प्लिनी (Pliny) का मत है कि खेत छोटे होने चाहिये। वे कहते थे कि अधिक बोने की अपेक्षा अधिक जोतना लाभप्रद है। पलादीन के अनुसार भी छोटे फार्म को भली प्रकार जोतना और बोना बडे फार्म पर बेगार करने की अपेक्षा कही अच्छा है। बडे पैमाने की खेती अधिक सफल नही हो सकती। अमेरिका मे भी बहुत बडे-बडे फार्मो को छोटा करना पडा। निर्माण उद्योग धधो की अपेक्षा खेती मे स्वभावत बडे परिमाण की उत्पत्ति का सीमित क्षेत्र है। भारतवर्ष की परिस्थितियाँ इस प्रकार की है कि यहाँ छोटे पैमाने की खेती ही लाभदायक सिद्ध हो सकती है। इन परिस्थितियो का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—बडी और छोटी मात्रा की उत्पत्ति मे क्या अन्तर है ? इन दोनो मे, आपके अनुमान मे, कौनसी भारतवर्ष के लिये उचित है ? (म० भा० १९५६)

२—बडी मात्रा की उत्पत्ति के लाभ-हानि समझाइये। बडी मात्रा की उत्पत्ति किस सीमा तक बढाई जा सकती है ?

३—आतरिक तथा आभ्यातरिक बचत पर नोट लिखिये। (म० भा० १९५३, अ० बो० १९५२, ५०)

४—कहा और क्यो थोड परिमाण का उत्पादन बडे परिमाण के उत्पादन से लाभदायक है ? भारत मे कुछ लघु उद्योगो के जीवित रहने के क्या कारण है ? (अ० बो० १९५५)

५—बडे पैमाने की उत्पत्ति से क्या लाभ हैं ? इन लाभो के उपलब्ध होने पर भी छोटे पैमाने की उत्पत्ति क्यो साथ-साथ चलती रहती है ? (रा० बो० १९५४)

६—आतरिक और बाह्य मितव्ययताओ पर टिप्पणी लिखिये। (म० भा० १९५३)

इण्टर एग्रीकल्चर परीक्षाएँ

७—बडे पैमाने के लाभ तथा सीमाओ का विवेचन कीजिये। (अ० बो० १९५७)

८—'बडे पैमाने के उत्पादन से एक लाभ यह होता है कि प्रति इकाई मूल्य मे कमी हो जाती है।' इस कथन की व्याख्या करिये।

अध्याय ४२

व्यवसाय संगठन के रूप

(Forms of Business Organisation)

पहले यह बतलाया जा चुका है कि आधुनिक उत्पादन प्रणाली में संगठन या व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण स्थान है। अब हम यहां पर संगठन के विविध रूपों का निरूपण करेंगे। आजकल व्यवसाय संगठन के कई रूप दृष्टिगोचर होते हैं। जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं —

१. व्यक्तिगत साहस प्रणाली (Single Entrepreneur System)
२. साझेदारी (Partnership)
३. संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियां (Joint Stock Companies)
४. एकाधिकार (Monopolies)
५ संयोग (Combinations)
६. सहकारिता (Co-operation)
७ लाभ विभाजन (Profit Sharing)
८. सरकार द्वारा उत्पादन (State Enterprise)

१ व्यक्तिगत साहस प्रणाली

(Single Entrepreneur System)

इस प्रणाली में अन्तर्गत व्यापार या उद्योग का स्वामी और संचालनकर्ता एक ही व्यक्ति होता है। अधिक स्पष्ट करते हुए यों कहा जा सकता है कि व्यवसाय का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व एक ही व्यक्ति पर होता है। वही कच्चा माल खरीदता है, पूंजी का प्रबन्ध करता है तथा माल की बिक्री की व्यवस्था करता है। इसे व्यक्तिगत स्वामित्व (Individual Proprietorship) अथवा एकाकी उत्पादक प्रणाली भी कहते हैं। प्रो० हैने (Haney)[१] के अनुसार व्यक्तिगत साहस प्रणाली व्यावसायिक संगठन का वह रूप है जिसमें प्रत्यक्ष केवल एक ही व्यक्ति होता है जिस पर सारा उत्तरदायित्व होता है, जो व्यापार का संचालन करता है और जो व्यापार के असफल हो जाने की जोखिम भी लेता है। फुटकर व्यापार, दर्जी, डाक्टर, वकील व कुटुम्बीय फर्मों का व्यवसाय, कृषि आदि व्यक्तिगत साहस प्रणाली के कुछ उदाहरण हैं।

१—*Business Organisation and Combination*—L H Haney, P 47.

लाभ (Advantages)

(१) इस प्रणाली के अन्तर्गत व्यवसाय सरलता और शीघ्रतापूर्वक स्थापित किया जा सकता है।

( ) इस प्रणाली में सम्पूर्ण उत्तरदायित्व एक ही व्यक्ति पर होने के कारण वह व्यक्ति खून जी लगा कर कुशलतापूर्वक काम करता है।

(३) एकाकी उत्पादक अपने व्यवसाय का सर्वेसर्वा होता है। अस्तु उसके मार्ग में बाहर से कोई बाधा नहीं आती। वह किसी भी बात का स्वयं ही शीघ्र निर्णय करके आवश्यक परिवर्तन कर सकता है।

(४) उत्पत्ति छोटे परिमाण में होने से माल अच्छा तैयार होता है।

(५) उत्पादन अधिकतर निकटवर्ती उपभोक्ताओं के लिये होता है। अस्तु उत्पादक को उपभोक्ताओं की रुचि आदि जानने का अवसर मिलता है और अनिश्चित माँग का भी ठीक अनुमान लगाया जा सकता है जिससे अत्यधिक उत्पादन के कारण होने वाली हानियाँ नहीं होने पाती।

(६) एकाकी उत्पादक व्यवसाय के भेदों (Business Secrets) को गुप्त रख सकता है।

(७) इस प्रणाली में हिसाब किताब अधिक सरल रखना पड़ता है। इसलिए मुनीम आदि कर्मचारियों के व्यय में पर्याप्त बचत हो जाती है।

हानियाँ (Disadvantages)

(१) इस प्रकार के व्यवसाय में पूँजी कम होने के कारण बड़े व्यवसाय वालों से प्रतियोगिता में टक्कर नहीं ली जा सकता।

(२) एकाकी उत्पादक का अपरिमित उत्तरदायित्व (Unlimited Liability) उसे सदैव भयभीत रखता है। यह साहस की प्रवृत्ति को हतोत्साह करता है।

(३) एकाकी उत्पादक की संगठन शक्ति सीमित होती है। वह अपने व्यवसाय में अपरिमित अवस्था तक वृद्धि नहीं कर सकता।

(४) कुछ व्यवसाय ऐसे है जो एकाकी उत्पादक प्रणाली के अनुसार अर्थात् छोटे पैमाने पर सलाभ नहीं चलाये जा सकते। जैसे रेल, तार, जहाज आदि के व्यवसाय।

(५) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास के लिए यह प्रणाली सर्वथा अनुपयुक्त है।

२ साझेदारी
(Partnership)

व्यावसायिक संगठन का वह रूप है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति सामूहिक तथा व्यक्तिगत रूप से लाभ प्राप्ति के उद्देश्य से प्रतिस्पर्धा किसी व्यवसाय का संचालन करते हैं। भारतीय साझेदारी विधान सन् १९३२ के अनुसार साझेदारी उन व्यक्तियों के बीच का सम्बन्ध है जो किसी व्यापार को सब मिलकर अथवा सबकी ओर से एक ही व्यक्ति द्वारा संचालित करने के लिए तथा लाभ विभाजन के लिये सहमत होते हैं।[1] इस परिभाषा के अनुसार साझेदारी के लिए निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है—(१) साझेदारी एक से अधिक व्यक्तियों के बिना नहीं हो सकती। (२) सम्बन्धित व्यक्तियों का संयोग व्यापार संचालन के लिए होना चाहिये। (३) वह लाभ विभाजन के लिए सहमत होना चाहिये। (४) व्यापार या तो सब मिलकर करें अथवा उनमें से कुछ सबके लिये करें (५) साधारण व्यवसाय में साझेदारों की संख्या २० से अधिक नहीं होना चाहिए और बैंकिंग व्यवसाय में यह संख्या १० तक ही सीमित है

साझेदारों के पारस्परिक सम्बन्ध, अधिकार व कर्त्तव्य, प्रत्येक साझेदार द्वारा लगाई जाने वाली पूंजी तथा लाभ हानि का अनुपात आदि बातें साझेदारी के समझौते (Partnership Agreement) में निर्णय किया जाता है। यह समझौता मौखिक अथवा लिखित में भी हो सकता है। अधिकतर साझेदारी असीमित दायित्व (Unlimited Liability) के अनुसार ही संगठित होती है। असीमित दायित्व का अर्थ यह है कि प्रत्येक साझेदार अपनी फर्म के ऋण के लिये असीमित दायित्व रखता है अर्थात् साझेदारी में लगाई पूंजी के अतिरिक्त उनकी निजी सम्पत्ति ऋण चुकाने में लगाई जा सकती है।
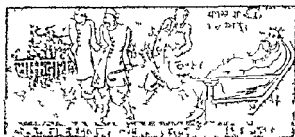
1—Partnership is the relation between persons who have agreed to share the profits of a business carried on by all or any of them acting for all —Sec 4 of the Indian Partnership Act 1932

विधान यह नहीं कहता है कि प्रत्येक फर्म को रजिस्ट्री अनिवार्य रूप से हो। परन्तु रजिस्टर्ड फर्मों को प्रचलित साझेदारी विधान के अनुसार कुछ ऐसे लाभ उपलब्ध होते हैं कि कोई भी फर्म बिना रजिस्टर्ड हुए नहीं रहती।

लाभ (Advantages)

(१) संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों की अपेक्षा साझेदारी फर्म का निर्माण कानूनी दृष्टि से अधिक सुगम एवं सरल है।

(२) प्रत्येक साझेदार का असीमित दायित्व होने के कारण एकाकी उत्पादक की अपेक्षा साझेदारी व्यवसाय को अधिक पूँजी उपलब्ध हो सकती है।

(३) एक से अधिक व्यक्तियों के मस्तिष्क द्वारा कार्य सम्पन्न होने के कारण अधिक कार्य कुशलता पाई जाना स्वाभाविक है।

(४) संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों के अंशधारियों (Shareholders) की अपेक्षा साझेदारों की संख्या सीमित होने के कारण वे बड़े उत्साह और चाह से काम करते हैं।

(५) साझेदारी में कार्य विभाजन एवं विशिष्टीकरण सम्भव है। व्यवसाय के विभिन्न भाग विभिन्न साझेदारों के सुपुर्द कर व्यवसाय सुचारु रूप से चलाया जा सकता है।

(६) असीमित दायित्व के कारण पूँजी जोखमी व्यवसायों में नहीं लगाई जा सकती। अस्तु अधिक सावधानी से काम लिया जाता है।

(७) साझेदारी में कर्मचारियों और ग्राहकों से निकट सम्पर्क रखा जाने के कारण व्यापार में वृद्धि होती है।

(८) साझेदारी में पर्याप्त शक्ति और लोच (Elasticity) सन्निहित है। बहुत से व्यवसाय तो बिना इसके चलाये ही नहीं जा सकते। प्रो० मार्शल के कथनानुसार एक गिरते हुए व्यवसाय को पुनरुद्धार करने का सबसे सरल उपाय है कि सबसे योग्य कर्मचारियों को साझेदार बना लिया जाय।

हानियाँ (Disadvantages)

(१) साझेदारी का अस्तित्व अनिश्चित है। यदि किसी कारण से साझेदारों में झगड़ा उत्पन्न हो जाय या किसी साझेदार की मृत्यु हो जाय या वह पागल हो जाय अथवा दिवाला निकाल दे, तो साझेदारी टूट जाता है।

(२) असीमित दायित्व के कारण एक साधारण भूल से व्यवसाय को भारी क्षति पहुँच सकती है।

(३) बहुत से व्यक्ति प्रबन्ध व साहस में भाग न लेकर केवल पूँजी ही लगाना चाहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिये साझेदारी उपयुक्त नहीं है।

(४) साझेदारी में बहुमत की प्रधानता होने के कारण किसी भी महत्वपूर्ण कार्य के विषय में तुरन्त निर्णय नहीं किया जा सकता।

(५) कोई भी साझेदार बिना अन्य साझेदारों की राय सम्मति के अपने हिस्से का हस्तान्तरण नहीं कर सकता। अस्तु पूंजी एक ही व्यवसाय में रुकी रहती है।

(६) बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिये पूंजी की कमी रहती है। अस्तु साझेदारी बड़े पैमाने की उत्पत्ति की बचतों से वंचित रहती है।

(७) असीमित दायित्व के कारण बहुत से व्यक्ति इसको पसन्द नहीं करते इस प्रकार इसकी लोकप्रियता सीमित हो जाती है।

३ संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियां
(Joint Stock Companies)

बड़े परिमाण की उत्पत्ति के लिये साझेदारी से भी अधिक संख्या में व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करने की आवश्यकता ने संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियों को जन्म दिया। आजकल व्यापार संगठन का यह रूप सबसे अधिक प्रचलित है क्योंकि इसमें अंशधारियों (Shareholders) का दायित्व सीमित होता है। सबसे पहले संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियों का प्रादुर्भाव इंगलैंड तथा अन्य यूरोपीय देशों में हुआ। प्रो० हेने (Haney)[1] के अनुसार संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी लाभार्जन की दृष्टि से निर्माण की गई व्यक्तियों की एक ऐच्छिक संस्था है जिसकी पूंजी हस्तान्तरणीय अंशों में विभक्त होती है एवं स्वामित्व के लिये सदस्यता आवश्यक है। अधिक स्पष्ट करते हुए, संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी व्यक्तियों का एक समूह है जो लाभार्जन की दृष्टि से बनाई जाती है और उसकी पूंजी इन व्यक्तियों द्वारा समान अंशों में एकत्रित की जाती है तथा प्रत्येक व्यक्ति एक या अधिक अंश या हिस्से (Shares) खरीद सकता है। जो हस्तान्तरणीय (Transferable) होते हैं अर्थात् वे किसी व्यक्ति को बेचे जा सकते हैं।

संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियों की विशेषताएं
(Characteristics of Joint Stock Companies)

(१) आधुनिक उद्योग धन्धों में पूंजी की आवश्यकता अधिक मात्रा में होती है। एकाकी या साझेदारी व्यवस्था से इसकी पूर्ति नहीं हो सकती है। परन्तु कम्पनियाँ अपने अंशों या हिस्सों को बेचकर अभीष्ट पूंजी एकत्रित कर सकती हैं। सब कम्पनी के हिस्से खरीदने वाले हिस्सों के मूल्य तक कम्पनी के स्वामी या मालिक समझे जाते हैं। इस प्रकार कम्पनी एक या दो व्यक्तियों की संस्था न होकर अनेक व्यक्तियों की संस्था होती है। इसी कारण इन्हें संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियां कहते हैं।

(२) कम्पनी के प्रत्येक अंशधारी या हिस्सेदार (Shareholder) का सीमित दायित्व (Limited Liability) होता है अर्थात् कम्पनी के प्रति उसका दायित्व जितने उसके पास अंश हैं उनके मूल्य (Face Value) तक ही सीमित होता है। यदि अंशों का सारा मूल्य उसने चुका दिया है तो उस पर किसी प्रकार का दायित्व नहीं रहता है। उदाहरणार्थ यदि किसी व्यक्ति ने किसी संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी के सौ सौ रुपये के चार अंश खरीदे और कम्पनी ने प्रत्येक का केवल आधा मूल्य ही वसूल किया है तो उसका दायित्व केवल दो सौ रुपया तक ही सीमित होगा। यदि कम्पनी ने चारों अंशों का कुल मूल्य अर्थात् चार-सौ रुपया वसूल कर

[1] Bussiness Organisation and Combination—Haney Page 73

लिया है तो उसका दायित्व कम्पनी के प्रति कुछ भी नहीं होगा। सीमित दायित्व के कारण ही यह व्यवस्था अधिक प्रचलित एवं सर्वव्यापी है।

(३) कम्पनियों के अंश हस्तान्तरणीय होने के कारण उनका क्रय विक्रय सरलता एवं सुगमता से हो सकता है।

(४) कम्पनी का संचालन लोकतन्त्रात्मक (Democratic) होता है।

(५) सीमित दायित्व वाली कम्पनियों के नाम के अन्त में सीमित या लिमिटेड शब्द प्रयुक्त किया जाता है।

(६) संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी की पूंजी छोटे छोटे हिस्सों या अंशों में विभक्त होने के कारण साधारण आर्थिक स्थिति वाला व्यक्ति भी यदि चाहे तो उन्हें खरीद सकता है।
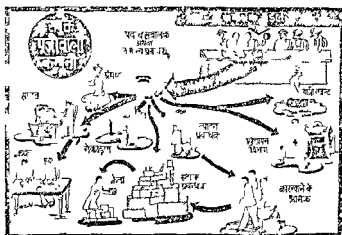
संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी का निर्माण—एक संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी इस प्रकार बनाई जाती है। सबसे प्रथम साहसी (Enterpriser) के मस्तिष्क में व्यवसाय या व्यापार की योजना आती है। इसके पश्चात् वह ६ अन्य व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त कर कुल ७ व्यक्तियों से (जो इसके लिये आवश्यक न्यूनतम संख्या है) ये भारतीय कम्पनी विधान के अन्तर्गत रजिस्टर कराने की व्यवस्था करता है। वे कम्पनी का स्मारक-पत्र (Memorandum of Association) बनाते हैं जिसमें कम्पनी का नाम उसका प्रधान कार्यालय, उद्देश्य, कम्पनी की अधिकृत पूंजी (Authorised Capital) और उसका अंशों (Shares) में विभाजन, सीमित दायित्व की घोषणा आदि बातों का उल्लेख होता है। स्मारक-पत्र के साथ-साथ कम्पनी के अन्तर्नियम (Articles of Association) भी जिसमें कम्पनी के भीतरी शासन आदि बातों से सम्बन्धित नियम होते हैं, पास किये जाते हैं। जब रजिस्ट्रार यह देख लेता है कि वैधानिक दृष्टि से सब कार्यवाही पूर्ण हो गई है तो वह एक समामेलन-पत्र (Certificate of Incorporation) प्रदान कर देता है। जिसके द्वारा कम्पनी स्थापित हो जाती है।

लिये विवरण-पत्रिका (Prospectus) निकालना पड़ता है। जब तक न्यूनतम पूँजी एकत्रित न हो जाय तब तक ये अपना व्यापार आरम्भ नहीं कर सकती।

अलोक सीमित कम्पनियां (Private Limited Companies)— इस प्रकार की कम्पनियों पर विवरण आदि भेजने का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है। ये विवरण-पत्रिका नहीं निकाल सकतीं। इनके अंशधारियों की अधिकतम संख्या ५० से अधिक नहीं हो सकती।

संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी और साझेदारी की पारस्परिक तुलना

१ संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी में अंशधारियों (Shareholders) की संख्या ७ और अधिकतम संख्या असीमित होती है। साझेदारी में न्यूनतम संख्या २ और अधिकतम २० है परन्तु बैंकिंग व्यवस्था में यह १० तक ही सीमित है।

२ संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी के अंशधारी सारे देश में और कभी-कभी संसार में भी फैले हुए होते हैं। अस्तु, उनमें मध्य निकट सम्पर्क नहीं होता। इसके विपरीत साझेदारी में साझेदारों की कम संख्या होती है अतः उनके बीच में सम्बन्ध घनिष्ठ एवं अविच्छिन्न रहना स्वाभाविक है।

३ संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी के आर्थिक साधन असीमित होते हैं, परन्तु साझेदारी में ये परिमित होते हैं।

४ संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी में अंशधारी का दायित्व सीमित होता है, परन्तु साझेदारी में यह असीमित होता है।

५. संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों में व्यवसाय का पैमाना बड़ा होता है परन्तु साझेदारी में व्यवसाय का पैमाना छोटा होता है।

६ साझेदारी के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह रजिस्टर्ड हो, परन्तु संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी के लिये रजिस्टर्ड होना परमावश्यक है।

७. संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों में वेतनभोगी प्रबन्धक (Salaried Manager) रखा जाता है, परन्तु साझेदारी में यह अनावश्यक है।

८ संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी का पृथक कानूनी अस्तित्व होता है। अस्तु वह अभियोग चला सकती है तथा इस पर भी अभियोग चलाया जा सकता है। परन्तु साझेदारी फर्म का कोई इस प्रकार का अलग वैध अस्तित्व नहीं होने के कारण वह न तो किसी पर अभियोग चला सकती है और न कोई दूसरा इस पर चला सकता है, अर्थात् साझेदार व्यक्तिगत रूप में अभियोग चला सकते हैं तथा इन पर भी इसी हैसियत में चल सकता है न कि फर्म के नाम में।

९ संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी का अस्तित्व स्थायी होता है, परन्तु साझेदारी का अस्तित्व अस्थायी एवं अनिश्चित होता है, क्योंकि किसी साझेदार की मृत्यु होने पर अथवा उसके पागल या दिवालिया हो जाने पर साझेदारी समाप्त हो जाती है।

१०. साझेदारी में प्रत्येक साझेदार व्यवसाय या व्यापार का वास्तविक स्वामी होता है परन्तु एक संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी में अंशधारी केवल नाममात्र का स्वामी होता है क्योंकि वास्तव में सारा कार्य संचालक करते हैं।

११. संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी के अंशधारी अपने अंश सुगमता से हस्तान्तरित कर सकते हैं, परन्तु साझेदारी में बिना साझेदारों के बहुमत के ऐसा नहीं हो सकता।

१२. साझेदारों के पारस्परिक अधिकार आपस की अनुमति पर निर्भर होते हैं, परन्तु एक संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी के अधिकार बिना कम्पनी की स्वीकृति के नहीं बदले जा सकते।

१३. संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी के हिसाब-किताब की वार्षिक जाँच (Audit) किसी राज्य प्रमाणित ऑडीटर द्वारा होना अनिवार्य है, परन्तु साझेदारी में यह आवश्यक नहीं है।

संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों के लाभ (Advantages)

(१) संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों के द्वारा ही व्यवसाय बड़े पैमाने पर सम्भव है। इनमें श्रम-विभाजन, विशिष्टीकरण एवं मशीनों के उपयोग को प्रोत्साहन मिलने के अतिरिक्त विशेषज्ञों की सेवायें भी सरलता से प्राप्त हो जाती हैं।

(२) कम्पनी की पूँजी अंशों में विभक्त हो जाने से तथा सीमित दायित्व के सिद्धान्त के कारण बहुत थोड़ी पूँजी वाले व्यक्ति भी अपनी पूँजी इन कम्पनियों में लगा देते हैं। इस प्रकार बहुत रुपया एकत्रित हो जाता है और संचय-प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता है।

(३) इनके अंशों (Shares) का सरलता से क्रय-विक्रय हो सकता है, क्योंकि ये हस्तान्तरणीय होते हैं।

(४) सीमित दायित्व (Limited Liability) होने के कारण पूँजी की कोई कठिनाई नहीं होती।

(५) कम्पनी साझेदारी और एकाकी उत्पादक प्रणाली की अपेक्षा अधिक स्थायी होती है, क्योंकि इसका अपना पृथक् कानूनी अस्तित्व होता है।

(६) बहुत से बड़े व्यवसाय जैसे रेल, जहाज निर्माण आदि बिना संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों के सफल नहीं हो सकते।

(७) व्यवसाय बड़े पैमाने पर होने के कारण बड़े पैमाने की उत्पत्ति के समस्त लाभ कम्पनी को उपलब्ध होते हैं।

(८) कम्पनी की शासन-व्यवस्था में पर्याप्त बचत होती है क्योंकि संचालकों को वेतन नहीं दिया जाता है। उन्हें केवल अधिवेशन की उपस्थिति की फीस ही प्रति दिवस के हिसाब से मिलती है।

(९) कम्पनियों का शासन लोकतन्त्रात्मक होता है, क्योंकि संचालकों का चुनाव साधारण अधिवेशन में अंशधारियों द्वारा होता है। संचालकों का कार्य असंतोष जनक होने पर अंशधारियों द्वारा वे हटाये भी जा सकते हैं।

(१०) कम्पनियों के कार्य संचालन पर सरकार द्वारा पूर्ण नियन्त्रण होने के कारण अंशधारियों के हित सुरक्षित रहते हैं।

(११) विविध कम्पनियों के अंश खरीद कर विनियोगकर्ता (Investor) अपनी जोखिम को एक स्थान पर सीमित न रखकर फैला देता है।

(१२) इस प्रणाली के अन्तर्गत पूँजीपति और साहसी अलग-अलग हो जाने से उत्पादन की कुशलता में वृद्धि होती है।

(१३) सीमित दायित्व के कारण कम्पनी नये-नये औद्योगिक क्षेत्रों में कार्य आरम्भ कर सकती है। इस प्रकार देश का औद्योगिक विकास हो सकता है।

हानियाँ (Disadvantages)

(१) सीमित दायित्व के फलस्वरूप ऐसी योजनाएँ अपना ली जाती हैं जिनमें लाभ की अपेक्षा हानि हो सकती है।

(२) अंशों के हस्तान्तरण के कारण अंशधारी कम्पनी के कार्य में कोई रस नहीं लेते।

(३) कई कानूनी कार्यवाहियों के कारण कम्पनी की स्थापना और निर्माण में बड़ी कठिनाई होती है।

(४) इसका प्रजातन्त्रात्मक रूप काल्पनिक प्रतीत होता है। प्रारम्भ में संचालक स्वयं ही बन जाते हैं और बाद में भी अधिक से अधिक प्रतिपुरुष (proxies) प्राप्त कर संचालक बने रहते हैं।

(५) बेईमान संचालकों द्वारा अंशधारियों का शोषण होता रहता है।

(६) अंशों के सरल हस्तान्तरण के कारण कम्पनी के संचालक भी बहुधा बेईमानी करते हैं। वे व्यवसाय की स्थिति से पूर्ण परिचित होने के कारण अपनी इस जानकारी से अनुचित लाभ उठाते हैं।

(७) कम्पनी व्यवस्था में वास्तविक स्वामी और सेवकों में घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रहने के कारण उनमें परस्पर संघर्ष चलता रहता है।

(८) कम्पनी का संचालन एवं प्रबन्ध अंशधारियों, संचालकों तथा वेतन भोगी प्रबन्धकों में बँटा रहने के कारण उत्तरदायित्व भी विभाजित रहता है।

(९) कम्पनी व्यवस्था में प्रत्येक कार्य या निश्चय के लिये अनेक व्यक्तियों की राय लेनी होती है। अतः किसी बात के लिए तुरन्त निश्चय करना सम्भव नहीं है।

(१०) बड़ी कम्पनियाँ अपनी पर्याप्त पूँजी और व्यवस्था के कारण अपने प्रतिद्वन्द्वियों को उत्पादन और विक्रय आदि क्षेत्र से बाहर निकाल कर अपना एकाधिकार (Monopoly) स्थापित कर लेती हैं।

(११) बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों के अतिरिक्त राजनीतिक क्षेत्रों में भी अपना प्रभुत्व जमा लेती हैं। उदाहरणार्थ अमरीका में तो यह कम्पनियाँ कभी-कभी न्यायाधीशों और राज सभा सदस्यों तक को खरीद लेती हैं।

(१२) कम्पनी व्यवस्था में अनेक व्यक्ति कार्य करते हैं। अतः व्यापारिक भेद (Trade Secrets) गुप्त नहीं रखे जा सकते।

कम्पनियों सम्बन्धी निष्कर्ष—संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों में हानियाँ होते हुए भी ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की व्यवसाय व्यवस्था समाज में स्थायी रूप से ठहरने के लिए आई है। औद्योगिक विकास के लिए यह एकमात्र साधन है। भारतवर्ष में इस प्रकार की व्यवस्था अभी प्रारम्भिक काल में ही है परन्तु फिर भी इसका विकास स्थायित्व को लिए हुए होने के कारण इसमें भावी आशाएँ पूर्ण होने की सम्भावना है।

८ एकाधिकार
(Monopolies)

साधारणतया एकाधिकार का अर्थ है प्रतियोगिता (Competition) का पूर्णतया अथवा आंशिक अभाव। जब किसी एक ही व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह के हाथ में किसी वस्तु के उत्पादन या बेचने का अधिकार आ जाता है तो उसका यह अधिकार एकाधिकार कहलाता है। उदाहरण

के लिए, डाकघर सम्बन्धी सभी सेवाओं का एकाधिकार केन्द्रीय सरकार का है। इसी प्रकार जल पूर्ति (Water Supply) का एकाधिकार प्राय नगर की म्यूनिसिपैलिटी को ही होता है। किसी निश्चित क्षेत्र में गैस, बिजली, ट्राम आदि जनसाधारण उपयोगिता सम्बन्धी कार्यों का एकाधिकार या ठेका किसी एक कम्पनी को दिया जाता है। मोटर बस सर्विस का एकाधिकार भी इसी श्रेणी में आता है।

एकाधिकारों के प्रकार—एकाधिकार मुख्य निम्न प्रकार के होते हैं।

(१) कानूनी एकाधिकार (Legal Monopoly)—यह वह एकाधिकार है जो कानून द्वारा स्थापित किया जाता है। जैसे कापीराइट, पेटेन्ट राइट आदि।

(२) प्राकृतिक एकाधिकार (Natural Monopoly)—यह एकाधिकार किसी प्राकृतिक वस्तु के एक स्थान पर प्राप्त होने या उसके अन्य स्थान में न मिलने के कारण स्थापित हो जाता है। जैसे जूट की दिनाजपुर में बंगाल का एकाधिकार।

(३) सामाजिक एकाधिकार (Social Monopoly)—जिस एकाधिकार की उत्पत्ति सामाजिक दृष्टि से होती है उसे सामाजिक एकाधिकार कहते हैं। जैसे—बिजली, पानी आदि का एकाधिकार।

(४) ऐच्छिक एकाधिकार (Voluntary Monopoly)—जब दो व्यवसाय में सलग्न दो या दो से अधिक व्यक्ति आपस में मिलकर एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं तो उसे ऐच्छिक एकाधिकार कहते हैं। जर्मनी के ट्रस्ट और अमेरिका के कार्टेल इसी के उदाहरण हैं। भारत की Associated Cement Company (A C C) भी इसी के अन्तर्गत है।

(५) स्थानीय एकाधिकार (Local Monopoly)—जब एकाधिकार एक खास क्षेत्र तक ही सीमित हो तो उसे स्थानीय एकाधिकार कहते हैं। जैसे किसी कम्पनी को सिटी बस चलाने का एकाधिकार प्राप्त हो।

(६) राष्ट्रीय एकाधिकार (National Monopoly)—जब एकाधिकार किसी देश तक ही सीमित हो तो उसे राष्ट्रीय एकाधिकार कहते हैं। यदि एक पेटेन्ट राइट केवल एक ही देश में लागू है तो इसे राष्ट्रीय एकाधिकार कहेंगे।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार (International Monopoly)—जब एकाधिकार का क्षेत्र कई देशों में फैला हुआ हो, तो वह अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार कहलायेगा। जैसे न्यूयार्क की स्टैण्डर्ड आइल कम्पनी।

इसी प्रकार लोक व अलोक एकाधिकार (Public and Private Monopolies) और अर्द्धलोक एकाधिकार (Quasi Public Monopoly) भी होते हैं।

एकाधिकार के लाभ (Advantages of Monopoly)

(१) एकाधिकार में उत्पादन माँग (Demand) के अनुसार होने से अत्यधिक उत्पादन का भय नहीं रहता है।

(२) एकाधिकार में प्रतियोगिता के अभाव के कारण लाभ निश्चित रहता है।

(३) एकाधिकार बड़े परिमाण की उत्पत्ति द्वारा होने वाली सब प्रकार की बचतों का लाभ उठाता है।

विविध वस्तुएँ बनाकर भिन्न भिन्न मण्डियों में बिक्री के लिये भेज दी जाती हैं। अमेरिका की United States Steel Corporation भी इसी प्रकार की है।

(२) क्षैतिज संयोग (Horizontal Combination)—जब एक ही व्यवसाय में संलग्न कई कम्पनियाँ परस्पर मिलकर संघ स्थापित कर लेती हैं, तो वह क्षैतिज संयोग कहा जाता है। अमेरिका की Standard Oil Company और Sugar Refining Company) इसी कोटि में आती है।

क्षैतिज संयोग के भेद—क्षैतिज संयोग के कई तरह भेद हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं :—

(अ) ट्रस्ट (Trusts)—इसमें सम्मिलित कम्पनियों के व्यक्तिगत अस्तित्व का अन्त होकर एक नवीन कम्पनी की स्थापना हो जाती है। इस प्रकार एकीकरण (Amalgamation) के द्वारा अनेकता के स्थान पर एकता स्थापित हो जाती है। इस प्रकार का एकीकरण संयुक्त राज्य अमेरिका में अधिक प्रचलित है। जैसे स्टैण्डर्ड ऑइल ट्रस्ट, स्टील ट्रस्ट इत्यादि।

(आ) कार्टेल (Kartel)—इस प्रकार की संघबद्धी ट्रस्ट से निबल होती है। इसमें सम्मिलित कम्पनियों के व्यक्तिगत अस्तित्व का अन्त नहीं होता। इनका संघ में सम्मिलित होने का उद्देश्य केवल मूल्य और उत्पादन तक ही सीमित रहता है। कार्टेल को सिण्डीकेट (Syndicate) भी कहते हैं। इसका प्रचार विशेषतया जर्मनी में पाया जाता है।

(इ) सूत्रधारी कम्पनी (Holding Company)—जब एक कम्पनी दूसरी को अपने नियन्त्रण में लाने के उद्देश्य से उसके अधिकांश अंश खरीद लेती है, तो वह सूत्रधारी कम्पनी कहलाती है। नियन्त्रित (Controlled) कम्पनियाँ सहायक (Subsidiary) कम्पनियाँ कहलाती हैं। एक सूत्रधारी कम्पनी कई सहायक कम्पनियों की नीति (Policy) और उत्पादन (Production) का नियन्त्रण कर सकती है।

अन्य प्रकार के अस्थायी संघ—कभी कभी उत्पादक पारस्परिक प्रतियोगिता के कारण मूल्य को गिरने से बचाने के लिये अस्थायी संगठन स्थापित कर लेते हैं जो कोष (Pool), सम्विलयन (Merger), वलय या रिंग (Ring), कार्नर (Corner) और भले आदमियों का समझौता (Gentlemen's Agreement) इत्यादि कहलाते हैं।

संयोग के लाभ (Advantages of Combinations)

(१) इन संगठनों द्वारा बड़े परिमाण की उत्पत्ति के समस्त लाभ उपलब्ध होने से उत्पत्ति-व्यय में कमी की जा सकती है।

(२) इनमें निरन्तर उत्पादन (Continuous Production) अधिक निश्चित है।

(३) ये मन्दी की कठिनाइयों का सरलता से सामना कर सकते हैं।

(४) प्रतियोगिता का अभाव होने से विज्ञापन आदि पर होने वाले व्यय में पर्याप्त बचत हो जाती है।

(५) इन संघों द्वारा प्रयोगों (Experiments) और अन्वेषण (Research) आदि की व्यवस्था की जा सकती है।

(६) अवशिष्ट पदार्थों का सदुपयोग हो जाता है।

(७) बाजार की परिस्थितियों के अनुसार उत्पत्ति पर नियन्त्रण रखा जा सकता है।

(८) कण्ठछेदी-स्पर्धा (Cut throat Competition) द्वारा होने वाले अपव्यय से बचत हो सकती है।

(९) अधिक पूँजी होने के कारण यह प्रतिद्वन्द्वी व्यवसायों का अन्त करके विदेशी मण्डियों और बाजारों पर अपना अधिकार जमा सकते हैं।

(१०) सम्मिलित साधनों के आधार पर प्रतियोगिता शक्ति में वृद्धि हो जाती है।

संयोग की हानियाँ (Disadvantages of Combinations)

(१) व्यापार अत्यधिक विस्तृत हो जाने से पूर्णतया नियन्त्रित होने में कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

(२) प्रतियोगिता के भय से मुक्त हो जाने के कारण उत्पादकों में उदासीनता आ जाती है और उत्पत्ति में सुधार करने का प्रयत्न नहीं करते।

(३) प्रतिद्वन्द्वियों (Rivals) को कुचलने के लिये अनुचित एवं निन्दनीय ढंगों को अपनाया जाता है।

(४) इनका निर्माण व्यवस्था नये साहसियों को उत्पादन-क्षेत्र में आने से रोक देती है। इससे देश के आर्थिक विकास में अड़चन पैदा हो जाती है।

(५) ग्राहकों के साथ पक्षपात पूर्ण व्यवहार किया जाता है। किसी के साथ रियायत की जाती है और किसी के साथ नहीं।

(६) ग्राहकों से ऊँचा मूल्य लेकर उनका शोषण करते हैं।

(७) ये श्रमिक वर्ग का शोषण करते हैं। उनकी मजदूरी कम करने के लिये उनको बेकारी का भय दिखाते हैं।

(८) ये कच्चे माल के उत्पादकों से भी सस्ता माल खरीदते हैं।

(९) अपनी पुरानी मशीनों को हटाने के भय से नई मशीनों का प्रयोग स्थगित कर देते हैं जिससे उत्पादन प्रणाली में सुधार नहीं होने पाता।

(१०) ये रिश्वत और भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं हैं। ये अपने पैसे के बल पर न्यायाधीशों और विधानसभा के सदस्यों से मनमानी करा लेते हैं।

(११) इन्हें अतिपूँजीयन (Over Capitalisation) अर्थात् आवश्यकता से अधिक पूँजी होने के दुष्परिणामों को भोगना पड़ता है।

६. सहकारिता

(Co-operation)

संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों में पूँजीपतियों की प्रधानता होने के कारण साधारण स्थिति के मनुष्यों की कोई आवाज नहीं होती और न उनके हित की ओर ध्यान ही दिया जाता है। पूँजीपति अधिकतर तो कम से कम पारिश्रमिक देकर अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहते हैं। अस्तु निर्बल और निर्धन मनुष्य आपस में मिलकर एक दूसरे के सहयोग के आधार पर अपने व्यवसाय को इस प्रकार संगठित करते हैं कि वे पूँजीपतियों की शोषण-नीति से मुक्त होकर अपने को सब प्रकार से ऊपर उठाने का प्रयत्न करते हैं।

सहकारिता एक ऐसा संगठन है जिसमें सब व्यक्ति समान अधिकारों के साथ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सामूहिक रूप से कार्य करते हैं। इसमें

निर्धनता और निर्बलता में भी स्वावलम्बन, आत्म-विश्वास, बचत तथा विनियोग के तत्वों का प्रसार होता है।

सहकारिता के मुख्य रूप (Kinds of Co-operation)—सहकारिता के मुख्य रूप निम्नलिखित हैं :

(१) उत्पादकों की सहकारिता (Producers' Co-operation)

(२) वितरण या उपभोक्ताओं की सहकारिता (Distributive or Consumers' Co-operation)

(३) साख सहकारिता (Credit Co-operation)

(१) उत्पादकों की सहकारिता (Producers' Co-operation)—इसके अन्तर्गत उत्पादक सहकारी समितियाँ (Producers' Co-operative Societies) स्थापित की जाती हैं। ये समितियाँ सदस्यों के लिये उचित मूल्य पर आवश्यक कच्चा माल, औजार तथा पूँजी की व्यवस्था करती हैं। उत्पादित वस्तुओं का वर्गीकरण करके उन्हें अच्छे मूल्यों पर बेचती हैं और लाभ सदस्यों में बाँट दिया जाता है। इस प्रकार की समितियाँ जापान तथा स्विटजरलैंड में अधिक प्रचलित हैं।

लाभ (Advantages)—(१) श्रमिक स्वयं ही अपने व्यवसाय के स्वामी होते हैं। अतः वे अधिक परिश्रम तथा लगन से काम करते हैं जिससे उत्पादन की क्षमता में वृद्धि होती है। (२) उत्पत्ति के साधनों एवं समय का अपव्यय नहीं होता क्योंकि मकान, औजार आदि सभी वस्तुओं की देख-रेख भली प्रकार की जाती है। (३) पूँजी की परिमितता और जोखिम की अधिकता के कारण प्रबन्ध अधिक कुशल होता है। (४) समिति सदस्य श्रमिक एवं स्वामी दोनों ही होते हैं अतः उन्हें मजदूरी (भृति) एवं लाभ दोनों ही प्राप्त होते हैं।

कठिनाइयाँ (Difficulties)—अधिकतर ये संस्थाएँ असफल रही हैं। इसके कई कारण हैं जिनमें से निम्नलिखित मुख्य हैं :—

(१) पूँजी की अपर्याप्तता के कारण कुशल प्रबन्धक नहीं रख सकते। (२) श्रमिक निरीक्षकों तथा प्रबन्धकों के कार्य में अनुचित हस्तक्षेप करते हैं। (३) श्रमिकों में अनुशासन तथा उत्तरदायित्व की भावना का अभाव होता है। (४) परस्पर झगड़े सफलता में बाधा पहुँचाते हैं।

उपाय (Remedies)—इसमें सन्देह नहीं कि उत्पादकों की सहकारिता वर्तमान दशा में सफलीभूत नहीं है, परन्तु शिक्षा प्रसार, शक्ति के साधनों, मशीनों के विकास, सहयोग की बलवान भावना और नैतिक उत्थान के द्वारा इनमें पर्याप्त सुधार हो सकता है।

(२) वितरण या उपभोक्ताओं की सहकारिता (Distributive or Consumers' Co-operation)—इसके अन्तर्गत उपभोक्ताओं द्वारा सहकारी समितियाँ अथवा भण्डार (Consumers' Co-operative Societies or Stores) स्थापित किये जाते हैं। इन भण्डारों के स्वामी तथा उपभोक्तागण वे ही व्यक्ति होते हैं। ये भण्डार उपभोक्ताओं को दैनिक उपभोग की वस्तुएँ बेचते हैं और जो लाभ होता है वह सदस्यों में उनके क्रय के अनुपात में बाँट दिया जाता है। ऐसी कई समितियाँ मिलकर एक थोक सहकारी समिति (Wholesale Co-operative

Society) स्थापित कर लेते हैं जो उनकी समितियों का माल बेचती है और कभी-कभी स्वयं उत्पत्ति कार्य भी करती है।

लाभ (Advantages)—(१) उत्पादकगण इसे अपना ही कार्य समझ कर अधिक लगन से करते हैं। (२) अधिक पूँजी की आवश्यकता नहीं होती है। (३) इनका प्रबन्ध सरल एवं प्रजातन्त्रिक होता है। (४) कानूनी नियन्त्रण एवं निरीक्षण इन समितियों की स्थिरता बनाये रखते हैं।

कठिनाइयाँ (Difficulties)—यद्यपि उत्पादक-सहकारी-समितियों को अन्य समितियों की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है, फिर भी इनकी प्रगति के लिये कुछ कमियाँ बाधक सिद्ध होती हैं, जैसे—(१) बड़े बड़े व्यापार अथवा व्यवसाय के लिये अर्थ प्रबन्ध में कठिनाई उपस्थित होती है। (२) उपभोक्ताओं को अधिक वस्तुओं के चुनाव की सुविधा नहीं दे सकती। (३) वैतनिक कार्यकर्ता अधिक परिश्रम से काम करने का कष्ट नहीं करते। (४) कभी-कभी कार्य संचालक बेईमानी भी कर बैठते हैं।

(२) साख सहकारिता (Credit Co-operation)—इसके अन्तर्गत सहकारी-साख-समितियाँ (Co-operative Credit Societies) स्थापित की जाती हैं। ये ऋण लेने वालों की संस्थाएँ होती हैं जो उन्हें कम ब्याज पर ऋण देती हैं और जो कुछ लाभ हो तो सदस्यों में बाँट दिया जाता है। प्रारम्भिक साख सहकारी समितियाँ (Primary Credit Co-operative Societies) गाँवों में स्थित होती हैं। इनका मुख्य उद्देश्य कृषकों और ग्रामीण शिल्पकारों की आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति करना है। इनकी सम्बद्ध संस्था में स्थित सहकारी बैंकिंग यूनियन (Co-operative Banking Unions) अथवा केन्द्रीय सहकारी बैंकों (Central Co-operative Banks) में होती है। इन सबके सर्वोपरि प्रान्तीय सहकारी बैंक (Provincial Co-operative Bank) होते हैं।

इनके अतिरिक्त कई प्रकार की समितियाँ सहकारी सिद्धान्तों पर अपना कार्य करती हैं। उदाहरणार्थ बीज, दूध, फल आदि की समितियाँ, खेतों की चकबन्दी (Consolidation of Holding), मकानों के बनाने आदि की समितियाँ।

७. लाभ विभाजन (Profit Sharing)

लाभ विभाजन योजना भी एक और नेक सहकारी सिद्धान्तों पर ही आश्रित है। इस योजना के अन्तर्गत निश्चित वेतन के अतिरिक्त लाभ का कुछ भाग श्रमिकों में अधिलाभांश या बोनस (Bonus) आदि के रूप में विभाजित कर दिया जाता है। इस लाभ बँटाई के कारण ही इसे श्रमिकों की साझेदारी (Co-partnership) भी कहते हैं।

लाभ (Advantages)—(१) श्रमिकों और स्वामियों के पारस्परिक मतभेद का अन्त हो जाता है। (२) इससे अधिक कुशल श्रमिक व्यवसाय की ओर आकर्षित होते हैं। (३) उत्पादन में श्रमिक अधिक रुचि के साथ काम करते हैं। (४) मशीनों एवं औज़ारों का प्रयोग अधिक सतर्कता से होने के कारण इसमें पर्याप्त बचत होती है।

८. सरकार द्वारा उत्पादन (State Enterprise)

इसके अन्तर्गत राज्य तथा म्युनिसिपल या डिस्ट्रिक्ट बोर्डों द्वारा की गई उत्पादन व्यवस्था सम्मिलित है। सरकार उत्पादन-कार्य में निम्न प्रकार से भाग ले सकती है—(१) नियन्त्रण कर, (२) सहायता प्रदान कर तथा (३) स्वयं उत्पत्ति कर। प्रथम दो प्रकार

की व्यवस्थाओं मे उत्पत्ति कार्य प्राइवेट व्यक्तियों तथा कम्पनियों के हाथ मे होता है। परन्तु तीसरी व्यवस्था मे समस्त उत्पत्ति कार्य केन्द्रीय, प्रान्तीय अथवा स्थानीय सरकार के हाथ मे होता है। उदाहरण के लिये, भारतवर्ष मे डाक, तार, रेल, सिचाई जल-विद्युत आदि की व्यवस्था स्वय सरकार करती है। इनके अतिरिक्त गैस, बिजली, पानी, ट्राम आदि की व्यवस्था कई जगह म्युनिसिपल बोर्डों द्वारा की जाती है।

समाजवादी (Socialists) चाहते है कि देश का समस्त उत्पादन-कार्य सरकार द्वारा ही हो जिससे सारा लाभ मुट्ठी भर लोगो के हाथ मे न आकर सारी जनता मे बँट सके। इसीलिये आज उद्योगो के **राष्ट्रीयकरण** (Nationalisation of Industries) की आवाज उपर उठी हुई है आजकल कई पूँजीवादी देशो मे भी यह सिद्धान्त मान लिया गया है कि कम से कम आधारोद्योगो (Key Industries) पर तो राज्य का स्वामित्व एव सचालन होना चाहिये और अन्य उद्योगो पर भी सरकार का उचित नियन्त्रण होना चाहिये। इङ्गलैंड मे श्रम सरकार अर्थात् लेबर गवर्नमेंट के शासन काल मे राज्य का स्वामित्व एव नियन्त्रण खनिज, यातायात, बैंकिंग आदि व्यवसायो पर विस्तृत किया गया।

लाभ (Advantages) (१) समाज को बडा लाभ है, क्योकि लाभ सरकार द्वारा जनता मे बँट जाता है। (२) वस्तुओ की किस्म की गारण्टी रहती है। (३) सरकार के पास पूँजी आदि साधन पर्याप्त मात्रा मे होते है। (४) सभी सरकारी नौकरी चाहते है अत उत्तम से उत्तम कार्य प्रवीण एव कुशल कर्मचारी व श्रमिक रखे जा सकते है। (५) सरकारी उत्पादन अधिक लोक-नियन्त्रण योग्य है। (६) सरकार लाभ प्राप्ति के लिये पर्याप्त समय तक प्रतीक्षा कर सकती है, परन्तु प्राईवेट उत्पादक नही कर सकते है। (७) उपभोक्ताओ के हित को उचित रूप मे रक्षा की जा सकती है।

हानियाँ (Disadvantages)—(१) नौकरशाही एव कठोर शासन होना स्वाभाविक है, क्योंकि सारी बागडोर सरकारी कर्मचारियो के हाथो मे होती है। कभी-कभी छोटे कर्मचारी सभ्य नागरिको के साथ अशिष्टता का व्यवहार कर बैठते हैं। (२) सरकारी कर्मचारी उत्पत्ति एव लाभ वृद्धि मे अधिक रुचि नही रखते क्योंकि उनकी तरक्की तो पद और नौकरी के कार्य काल (Seniority) के अनुसार होती रहती है। उन्हे हानि-लाभ से क्या सम्बन्ध ? (३) अपव्यय और अकुशलता पर बहुत कम नियन्त्रण होता है। (४) सरकारी कर्मचारियो का शीघ्र स्थानान्तरण (Transfers) सफलता मे बाधक सिद्ध होते है। (५) सरकारी काम एक प्रकार से नैत्यक (Routine) के रूप मे होता है, इसमे मौलिकता का अभाव होता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियों पर नोट लिखिये।

२—सहकारी उत्पत्ति पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

३—साझेदारी पर टिप्पणी लिखिये।

४—व्यवसाय सगठन के मुख्य-मुख्य स्वरूपो का वर्णन कीजिये। इनके गुण-दोषों को सक्षेप मे वर्णन कीजिये। (सागर १९४९)

५—सीमित दायित्व वाली कम्पनी पर टिप्पणी लिखिये।

(म० भा० १९५१, अ० बो० १९५१, ४८)

अध्याय ४३

साहस
(Enterprise)

साहस का अर्थ (Meaning)

औद्योगिक विकास के प्रारम्भिक काल में उत्पादन प्रणाली सरल एवं साधारण थी। उत्पत्ति का पैमाना छोटा था और आवश्यकताओं की पूर्ति अधिकतर प्रत्यक्ष रूप में हो होती थी। कालान्तर में समाज की उन्नति के साथ-साथ उत्पादन प्रणाली जटिल होती गई। उत्पत्ति के पैमाने में वृद्धि हुई, व्यवसाय का आकार प्रकार बढ़ा, श्रम विभाजन व मशीनों का प्रयोग अधिकाधिक मात्रा में होने लगा और यातायात व सम्वाद के साधनों में आशातीत उन्नति हुई। इन सबके फलस्वरूप प्रबन्ध की कठिनाइयाँ इतनी बढ़ी कि उत्पत्ति कार्य संगठनकर्त्ता की शक्ति के बाहर हो गया। व्यापार की जोखिम अथवा अनिश्चितता में वृद्धि हुई जिसको सहन किये बिना उत्पत्ति असम्भव हो गई। इस प्रकार साहस के रूप में उत्पत्ति के पाँचवें साधन का प्रादुर्भाव हुआ। अर्थशास्त्र में इस जोखिम अथवा अनिश्चितता को साहस कहते है और जो व्यवसाय की जोखिम उठाता है वह साहसी (Entrepreneur) कहलाता है।

साहस की आवश्यकता तथा महत्त्व (Necessity & Importance)—आधुनिक उत्पत्ति प्रणाली बड़ी जटिल है। केवल स्थानीय व देशीय घटनाओं से ही नहीं बल्कि कई अन्तर्राष्ट्रीय बातों से भी यह प्रभावित होती रहती है। आजकल उत्पादन केवल स्थानीय माँग की पूर्ति के लिये ही नहीं किया जाता है अपितु दूर देशों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भी। आधुनिक औद्योगिक प्रणाली के अनुसार पहले वस्तु की माँग का अनुमान लगाया जाता है और उसके आधार पर उत्पादन कार्य प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रकार निर्माता वस्तु बनाकर बाजार में लाने के लिये पर्याप्त समय ले लेता है। इस बीच में सम्भव है कि उपभोक्ताओं की रुचि में परिवर्तन हो जाय, फैशन बदल जाय अथवा उपभोक्ता की आय में अन्तर आ जाय जिसके फलस्वरूप वस्तु के ग्राहक न मिलें। यह भी सम्भव है कि वस्तु जब बाजार में लाई जाय तो उपभोक्ता को पसन्द न आये और माँग का अनुमान ठीक न मिलने पर अत्यधिक उत्पादन (Over production) हो जाय। इन सब दशाओं में निर्माता को लाभ के स्थान में हानि होना स्वाभाविक है। अब प्रश्न यह उठता है कि उत्पत्ति के साधनों में से कौनसा साधन इस जोखिम को उठाने के लिये तैयार है। भूमि, श्रम, पूँजी और व्यवस्था तो अपना अपना पारिश्रमिक लेकर अलग हो जाते हैं, इन्हें व्यवसाय की हानि से कोई सम्बन्ध नहीं। अब रहा साहस जो निर्माण योजना बनाता है, उत्पत्ति कार्य का संचालन करता है, उत्पत्ति के साधनों को यथेष्ट संयोग में एकत्रित करता है और उत्पत्ति से सम्बद्ध सभी

जोखिम को अपने सबल कंधों पर रखता है। इन सब जोखिमों को उठाना साहसी का काम है बिना इसके उत्पादन बिल्कुल सम्भव नहीं है। अस्तु, आधुनिक उत्पादन-प्रणाली में इसका अत्यधिक महत्व है। यह आवश्यक नहीं है कि साहसी सदैव ही कोई पृथक व्यक्ति हो। ऐसा भी देखने में आता है कि एक ही व्यक्ति स्वयं भू स्वामी पूँजीपति प्रबन्धक तथा साहसी भी होता है। ऐसा प्राय छोटे व्यवसायों में होता है।

प्रो० कारवर (Carver) के मतानुसार साहसी की सेवाएँ ऐसी नहीं है कि एक वेतनभोगी प्रबन्धक सम्पन्न कर सकें। औद्योगिक संगठन में इसका महत्व उतना ही बड़ा है जितना कि सेना में सेनापति का अथवा मन्त्रिमण्डल में प्रधान मन्त्री का। कुछ लेखक साहसी की तुलना एक युद्ध-मन्त्री से करते हैं जिसको बाहर के शत्रु का सामना करने की व्यवस्था के अतिरिक्त गृह रक्षा का ध्यान रखना पड़ता है। साहसी पर उत्पत्ति की क्षमता ही नहीं वरन् देश का सम्पूर्ण औद्योगिक विकास भी निर्भर होता है। अस्तु किसी देश में जितने अधिक कुशल साहसी होंगे उतना ही उज्ज्वल उस देश का आर्थिक भविष्य होगा।

संगठनकर्ता या प्रबन्धक और साहसी (Organiser & Entrepreneur)—एक साहसी और प्रबन्धक में मुख्य अन्तर यह है कि प्रबन्धक या संगठन-कर्त्ता तो उत्पादन के लिए विविध उत्पत्ति के साधनों को यथेष्ट मात्रा में एकत्रित करता है, परन्तु साहसी व्यवसाय को जोखिम अथवा अनिश्चितता को सहन करता है। व्यवसाय के हानि लाभ का उत्तरदायित्व साहसी पर होता है और वही व्यवसाय की नीति सञ्चालन करता है। संगठन या प्रबन्ध सम्बन्धी प्रतिदिन की समस्याओं को सुलझाने का कार्य प्रबन्धक या संगठनकर्त्ता का है। संगठनकर्त्ता या प्रबन्धक को निश्चित वेतन मिलता है। परन्तु *साहसी का पारिश्रमिक पर्याप्त लाभ होने पर निर्भर* होता है। *हानि होने की* अवस्था में वह उससे भी वंचित रहता है, परन्तु वेतन भोगी प्रबन्धक इस जोखिम से मुक्त रहता है। जोखिम उठाने का कार्य एक व्यक्ति के स्थान में व्यक्तियों के समूह या समुदाय द्वारा भी हो सकता है। उदाहरणार्थ सहकारी उत्पादन प्रणाली में जोखिम सहकारी समिति द्वारा उठाया जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रबन्धक और साहसी पृथक-पृथक हों। दोनों एक ही व्यक्ति भी हो सकते हैं। यह व्यवसाय के स्वभाव पर निर्भर है।

पूँजीपति और साहसी (Capitalist and Entrepreneur)—साहसी और पूँजीपति ये उत्पत्ति के दो पृथक पृथक साधन हैं। यह हो सकता है कि कभी कभी पूँजीपति साहसी का तथा अन्य कार्य भी करने लग जाता है। जैसे, एक कृषक बहुधा श्रमिक पूँजीपति प्रबन्धक एवं साहसी स्वयं ही होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन दोनों में कोई अन्तर ही नहीं है। पूँजीपति सदैव ब्याज के लिये पूँजी उधार देता है। इसकी ब्याज की दर निश्चित होती है। इसका व्यवसाय के हानि-लाभ से कोई सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु साहसी का कोई निश्चित पारिश्रमिक (Remuneration) नहीं होता है। यदि उसका माँग का अनुमान ठीक निकलता है, तो उसे लाभ होता है और उसके गलत सिद्ध होने पर उसे हानि उठानी पड़ती है। संसार के प्रगतिशील देशों में ये दोनों कार्य भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं।

उत्पत्ति के अन्य साधक और साहसी

(Other factors of Production & Entrepreneur)

उत्पत्ति के अन्य साधकों और साहसी में एक महत्वपूर्ण अन्तर है। भू स्वामी, श्रमिक, पूँजीपति और प्रबन्धक का पारिश्रमिक निश्चित होता है, परन्तु साहसी का कोई

निश्चित पारिश्रमिक नहीं होता। उसको लाभ भी हो सकता है अथवा हानि भी। उसका पारिश्रमिक प्रायः उसकी व्यापारिक दक्षता एवं दैवी कारणों पर अवलम्बित होता है।

साहसी के कर्त्तव्य (Functions of Entrepreneur)

साहसी के कार्यों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

१ शासनात्मक कार्य (Administrative Functions)
२ वितरणात्मक कार्य (Distributive Functions)
३ जोखिम उठाने का कार्य (Risk taking Functions)

१ शासनात्मक कार्य (Administrative Functions)—

(१) व्यवसाय की योजना बनाना—साहसी व्यवसाय विशेष की योजना बनाता है। वह इस बात का निर्णय करता है कि कौन सा वस्तु कहाँ कैसे और कितनी मात्रा में तैयार की जाय।

(२) उत्पत्ति की इकाई का आकार निर्णय करना—साहसी यह भी निर्णय करता है कि उत्पत्ति का पैमाना कैसा होगा।

(३) श्रमिक कच्चे माल आदि के बारे में निर्णय करना—साहसी को इस बात का भी निर्णय करना पड़ता है कि किस किस प्रकार के श्रमिक लगाये जायेंगे तथा किस प्रकार का कच्चा माल और मशीन प्रयुक्त की जायेंगी।

(४) प्रतिस्थापन नियम का उपयोग करना—वह प्रतिस्थापन नियम (Law of Substitution) के अनुसार उत्पत्ति के विविध साधनों को ऐसे सर्वोत्तम अनुपात में मिलाने का प्रयत्न करता है जिससे उसे न्यूनतम लागत में अधिकतम लाभ हो सके।

(५) सगठन कार्य—कुछ वर्ष पूर्व सगठन का कार्य भी साहसी स्वयं ही सम्पन्न करता था। परन्तु अब संयुक्त पूँजी प्रणाली (Joint Stock System) के प्रचार से सगठन कार्य वेतनभोगी (Salaried) प्रबन्धक द्वारा सम्पन्न होने लगा है।

(६) निर्मित वस्तुओं के विक्रय का प्रबन्ध करना—यद्यपि यह कार्य प्रबन्धक के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है परन्तु इस सम्बन्ध में साहसी का भी उतना ही उत्तरदायित्व माना जाता है।

(७) उत्पत्ति के नवीन ढंगों की खोज करना—साहसी उत्पत्ति के नवीन ढंगों की खोज करता रहता है तथा अन्वेषण-कार्य कर उत्पत्ति के क्षेत्र में मार्ग दर्शक का कार्य करता है।

(८) विज्ञापन की व्यवस्था करना—निर्मित वस्तुओं के उचित रीति से विज्ञापन करने की व्यवस्था करना साहसी का कार्य है क्योंकि इससे वस्तुओं की बिक्री में बड़ी सहायता मिलती है।

(९) राज्य तथा जनता के प्रति उपयुक्त नीति का निर्णय करना—साहसी को केवल उपभोक्ताओं व्यापारियों आदि से ही सम्पर्क नहीं रखना पड़ता है बल्कि उसे सरकार एवं जनता से भी सम्पर्क रखना पड़ता है अतः उसे इस सम्बन्ध में भी नीति का निर्णय करना होता है।

(१०) प्रतिद्वन्द्वियों के प्रति नीति निर्धारित करना—प्रतिद्वन्द्वियों (Rivals) के प्रति अपनाई जाने वाली नीति का निर्धारित करना भी साहसी का एक महत्वपूर्ण कर्तव्य है क्योंकि इस पर व्यवसाय की बहुत कुछ सफलता अवलम्बित होता है।

(११) व्यवसाय पर नियन्त्रण रखना यद्यपि यह कार्य उसके सहायक अथवा प्रबन्धक द्वारा सम्पन्न किया जाता है, परन्तु अन्तिम नियन्त्रण साहसी के हाथ में होता है।

२ वितरणात्मक कार्य (Distributive Functions)—चाहे व्यवसाय में हानि हो अथवा लाभ उत्पत्ति के साधनों को पारिश्रमिक तो निश्चित रूप से मिलता ही है। इनका लाभ हानि में कोई सम्बन्ध नहीं होता। अस्तु उत्पत्ति के साधनों को पारिश्रमिक वितरण करना साहसी का एक मुख्य कार्य है।

३ जोखिम उठाने के कार्य (Risk taking Function) साहसी के जोखिम उठाने का कार्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इस पर ही व्यवसाय की सफलता निर्भर होती है। व्यवसाय में एक प्रकार की अनिश्चितता विद्यमान होती है जिनका अनुमान ठीक प्रकार लगाया नहीं जा सकता। अस्तु इस अनिश्चितता को सहन करना साहसी का कार्य है।

प्रो० बेनहम[1] (Benham) के अनुसार एक साहसी को निम्नलिखित प्रश्नों पर निर्णय करना चाहिये —

(१) उसको किस उद्योग में प्रवेश करना है?—इस प्रश्न का सम्बन्ध वस्तु समूह से है जैसे वस्त्र बतन या मशीनरी आदि।

(२) वह किस प्रकार की वस्तुओं या सेवाओं की उत्पत्ति करेगा?—इस प्रश्न का सम्बन्ध प्रत्येक समूह के अन्तर्गत आने वाली विशिष्ट वस्तुओं से है जैसे वस्त्र में भी किस प्रकार का वस्त्र तैयार किया जायगा।

(३) उसकी उत्पत्ति की इकाई (Plant) का क्या आकार होगा?—इसके अन्तर्गत कारखाना खेत दुकान आदि आते हैं।

(४) उसकी फर्म का क्या आकार होगा?—इस प्रश्न का सम्बन्ध उत्पत्ति की मात्रा से है।

(५) वह उत्पत्ति के कौन से उपाय काम में लायगा?—इसको अन्य शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि वह उत्पत्ति के विविध साधनों का उपयोग किस अनुपात में करेगा।

(६) उसकी उत्पत्ति की इकाई किस या किन किन स्थानों पर स्थापित की जायगी?—इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्तों का ज्ञान आवश्यक होता है।

एक आदर्श साहसी के गुण (Qualities of an ideal Entrepreneur) एक आदर्श साहसी में निम्नलिखित गुणों का समावेश आवश्यक है —

१ एक आदर्श साहसी में स्पष्ट दूरदर्शिता होना चाहिए (An Ideal Entrepreneur must have clear foresight)—एक आदर्श

1—*Economics*—F Benham p 175-177

साहसी के लिये यह ग्रावश्यक है कि वह वस्तु की भावी माँग, किस्म तथा बाजार के उतार-चढ़ावों का ठीक-ठीक अनुमान लगा सके, अन्यथा उसे अत्युत्पादन (Over production) से हानि हो सकती है।

२. *उसे मानव मनोविज्ञान का गहरा ज्ञान होना चाहिए तथा उपभोक्ताओं की रुचियों एवं आदतों से पूर्ण जानकारी होनी चाहिए* (He should have a deep insight into Human Psychology and must know the tastes and habits of Consumers)—एक उत्तम साहसी के लिये यह ग्रावश्यक है कि वह मनुष्यों के स्वभाव, रुचियों तथा आदतों से पूर्ण परिचित हो। उसकी व्यावसायिक सफलता इस गुण में सन्निहित है।

३. उसे मनुष्यों का नेता होना चाहिए (He must be a Leader of men)—उसे मनुष्यों का नेता होने के लिए सबसे अच्छे आदमियों का चुनना चाहिये और मनुष्यों के स्वभाव आदि बातों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये।

४. उसमें अवलोकन तथा विवेचना शक्ति होनी चाहिए (He should possess the power of observation and discrimination) *एक सफल एवं कुशल साहसी में घटनाओं का ध्यान पूर्वक मनन कर उनका ठीक विवेचन* करने की शक्ति होनी चाहिए।

५. *उसे विशिष्ट ज्ञान से सुसज्जित होना चाहिए* (He should possess Technical Knowledge)—एक कुशल साहसी के लिए यह ग्रावश्यक है कि उसे उत्पादन प्रणाली, मशीनों, उनकी बनावट और परिचालन, नये-नये आविष्कारों, कच्चे माल के स्रोतों, तैयार माल के बाजारों और भावों से पूरी-पूरी जानकारी होनी चाहिये।

६. उसमें विपत्ति को सहने का साहस होना चाहिए (He must have courage to face bad times)—सफल साहसी वह है जो विपरीत परिस्थितियों में भी न घबराये, साहस व धैर्य न छोड़े, चिन्तित न हो और निराशा को अपने पास फटकने भी न दे। सफलता उसी के ही पैर चूमती है जो विचारशील, गम्भीर, चतुर, साहसी उत्साहपूर्ण एवं सहनशील होता है।

७. उसे सतर्क तथा निडरतापूर्वक निर्णय करने वाला होना चाहिए (He should be cautious and still take bold decisions) सफल साहसी सतर्क रहते हुए भी अपना निर्णय निडरतापूर्वक करता है। यह ठीक समय पर सही निर्णय करके ग्रात्म विश्वास के साथ आगे बढ़ता है।

८. उसमें व्यावहारिक साधारण ज्ञान होना चाहिए (He should be gifted with practical Common sense)—सफल एवं आदर्श साहसी को देश, काल और परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान होने के अतिरिक्त व्यवस्था सम्बन्धी कार्य का व्यावहारिक ज्ञान एवं अनुभव होना चाहिए।

भारतवर्ष में साहसी—य गुण प्राय स्वाभाविक अथवा जन्म सिद्ध होते हैं। *इसलिये टाटा, बिड़ला, डालमिया, सिंघानिया, माड़ी, थापर जैसे योग्य साहसी भारतवर्ष में बहुत कम हैं। अमेरिका के हैनरी फोर्ड, रॉकफेलर और न्यूफील्ड्स के नाम भी इस* सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। परन्तु उपयुक्त शिक्षा, अवसर और अनुभव द्वारा इन गुणों का विकास किया जा सकता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—आदर्श साहसी के क्या आवश्यक गुण है ? भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ साहसियो के नाम बताइये। (१९४९)

२—'व्यवसाय के कप्तान' पर टिप्पणी लिखिये।

३—धन के उत्पादन मे प्रबन्ध और साहस का क्या महत्व है ?
(रा० बो० १९५५)

४—आधुनिक व्यापारिक संगठन मे साहसी द्वारा किये जाने वाले कार्यों को बताइये। वे उद्योग के कप्तान क्यो कहे जाते है ? (अ० बो० १९५०)

५—आधुनिक उद्योग मे साहसी के क्या कार्य है ? भारतीय ग्रामीण शिल्पी इन कार्यों को किस प्रकार करता है ?
(रा० बो० १९५१, १९३८)

६—साहस और प्रबन्ध मे भेद बताइये। आधुनिक उत्पत्ति प्रणाली मे साहस क्यों एक आवश्यक साधन माना जाता है ? भारत मे साहस के क्षेत्र को बताइये।
(म० भा० १९५४)

७—भारत मे आधुनिक व्यवसाय संगठन मे साहसी के कार्य स्पष्ट कीजिये।
(सागर १९५०)

८—साहसी किसे कहते है ? उसके कार्य क्या-क्या है ?
(सागर १९५१, ५०, ४९)

९—संगठन तथा साहसी (उपक्रम) के कार्यो का स्पष्टीकरण कीजिए। आधुनिक उत्पादन मे इन कार्यों का विशेष महत्त्व क्या है ? सूती कपड़ा के उद्योग का उदाहरण लेकर समझाइए। (नागपुर १९५७)

१०—उपक्रमी (Entrepreneur) किसे कहते है ? उसके आवश्यक गुण क्या है ? वह कौन से कार्य करता है ? किन्ही दो सफल अखिल भारतीय कीर्ति के उपक्रमियो के नाम लिखिए। (नागपुर १९५५)

अध्याय ४४

भारतवर्ष में लघु एवं कुटीर उद्योग

(Small scale & Cottage Industries in India)

"औद्योगिक संगठन हमारी योजना का एक महत्वपूर्ण भाग है। उसमें बड़े पैमाने के उद्योगों के साथ लघु एवं कुटीर उद्योगों की समुचित योजना होनी चाहिए। आधारभूत उद्योगों में छोटी छोटी इकाइयों के लिये कम स्थान है, परन्तु उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन में उनकी उपयोगिता एवं महत्व अधिक है।" —बम्बई योजना

परिभाषा व्यापक अर्थ में कुटीर व्यवसाय से उन उद्योग धन्धों का तात्पर्य है जो छोटे पैमाने पर चलाये जाते है तथा जो बड़े पैमाने के उद्योगों से बिल्कुल भिन्न होते है। नीचे कुछ परिभाषाएँ दी जाती है —

उ० प्र० औद्योगिक वित्त समिति (१९३५) के अनुसार "कुटीर-धन्धे वे होते हैं जिन्हें ग्रामीण अपने ही लेखे-जोखे पर अपने घरो में लगा कर चलाते हैं।"

वे उद्योग-धन्धे जिनमे शक्ति प्रयुक्त नही होती है तथा उत्पादन कार्य साधारणतया कारीगर स्वयं के घर पर और कभी-कभी छोटे कारखानों में जहाँ ९ से अधिक श्रमिक काम नही करते, चलाये जाते है, कुटीर-व्यवसाय कहलाते हैं।"[1] इन परिभाषाओं को स्पष्ट करते हुए यों कहा जा सकता है कि कुटीर-व्यवसाय से तात्पर्य है उन उद्योग धन्धों से जिन्हे कारीगर अपने घरों में अपने हाथों तथा परिवार के सदस्यों की सहायता से चलाते हैं। कच्चा माल, औजार आदि उसी के होते है। वही माल तैयार करता है और वही बाजार में बेचता है। इस प्रकार का सारा उत्तरदायित्व उसी के ऊपर रहता है। ये कारीगर आधुनिक मशीनों की सहायता के बिना ही कार्य करते हैं। इनमे कार्य-कुशलता पैतृक होती है। इन-धन्धों में बिजली की सहायता भी ली जा सकती है। कुटीर-व्यवसाय नगरों और गाँवों दोनों स्थानों में चलाये जा सकते हैं। गाँवों में जो कुटीर-व्यवसाय स्थित होते हैं उन्हे 'केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी' ने ग्रामीण या घरेलू उद्योग कहकर पुकारा है। इन उद्योगों में करघे से कपड़ा बुनना, रेशम बनाना, सोने व चांदी के तार बनाना, धातु के बर्तन बनाना, बीडी-सिगरेट बनाना, चटाइयाँ बनाना, गुड़ बनाना, धान से चावल निकालना, घी-दूध का काम करना, तेल पेरना आदि-आदि सम्मिलित है।

कुटीर और लघु उद्योगों में अन्तर—योजना कमीशन ने इन दोनों का अन्तर स्पष्ट कर दिया है : 'कुटीर-उद्योग उन धन्धों को कहेंगे जो गाँवों में स्थित हैं, जो कृषि के सहायक धन्धे है तथा जिनमें अधिकतर कार्य हाथ से कुटुम्बीय सदस्यों की सहायता से किया जाता है। इनके द्वारा तैयार किया हुआ माल प्रायः पड़ोस के बाजार के लिये होता है। लघु उद्योग उन उद्योग-धन्धों को कहेंगे जो नगरों में स्थित है तथा जिनमें आंशिक रूप में अथवा पूर्णतया यन्त्रों के प्रयोग के साथ-साथ बाहर के श्रमिक भी रखे जाते हैं। शहरी कुटीर धन्धों के द्वारा बहुत-सा ऐसा सामान बनाया जाता है जो बहुत दूर-दूर भी भेजा जाता है।"[2]

1—The Bombay Economics and Industrial Survey Committee.
2—First Five year Plan

कुटीर उद्योगों के विभिन्न वर्गीकरण (Classifications)—कुटीर व्यवसाय जो इस समय भारतवर्ष में विद्यमान हैं, निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं :—

(अ) १. वे उद्योग जो कृषकों के लिये सहायक हैं तथा जिनसे उन्हें अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। जैसे—टोकरी बनाना, रस्सी बनाना, मधुमक्खी पालना इत्यादि।

२. वे उद्योग जिनसे गाँवों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। जैसे—कुम्हार, लुहार, सुनार और दर्जी आदि के धन्धे।

३. वे उद्योग जिनका सम्बन्ध कलापूर्ण वस्तुएँ बनाने से है। जैसे—कालीन बनाना, कसीदा निकालना, हाथी-दाँत की वस्तुएँ बनाना, जवाहरात, चित्रकारी, मीनाकारी का काम आदि।

(आ) भारतवर्ष के कुटीर उद्योग मुख्यतः दो श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं—कलापूर्ण धन्धे और बिना कलापूर्ण धन्धे। नक्काशी, मीनाकारी, बर्तनों पर सुनहरी पॉलिश चढ़ाना, कसीदा निकालना, लकड़ी और मिट्टी का कलापूर्ण कार्य, जवाहरात का काम, चाँदी-सोने के आभूषण बनाना आदि प्रथम श्रेणी में आते हैं। करघों द्वारा वस्त्र निर्माण आदि कार्य दूसरी श्रेणी म आते हैं।

(इ) इस वर्गीकरण के अनुसार कुटीर-व्यवसाय दो प्रकार के हो सकते हैं —

ग्रामोद्योग और शहरों व कस्बों में कारखानों के रूप में चलाये जाने वाले उद्योग—प्रथम प्रकार के उद्योग सहायक धन्धों के रूप में अवकाश के समय किसानों द्वारा चलाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, दुग्धशाला सम्बन्धी कार्य, फल उत्पन्न करना कुक्कुट पालना, रेशम के कीड़े पालना, लाख पैदा करना, मधु-मक्खी पालना चटाई बनाना, बाँस और बेंत का काम, जुलाहे और कुम्हार का काम, बीड़ी बनाना, तेल पेरना, गुड़ बनाना इत्यादि। दूसरे प्रकार के धन्धे वे हैं जो कारीगरों द्वारा कारखानों में पूरे वर्ष भर चलाये जाते हैं। जैसे – करघों से सूती, ऊनी व रेशमी वस्त्र बनाना गोटा-किनारी बनाना, पीतल के बर्तन बनाना आदि।

(ई) सन् १६५० ई० के राजकोषीय आयोग[1] (Fiscal Commission) द्वारा दिया गया वर्गीकरण निम्न रेखाचित्र द्वारा व्यक्त किया गया है :—

1—Fiscal Commission Report, Page 104
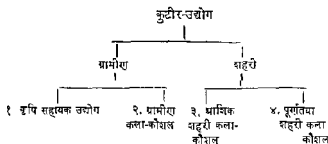
१. *कृषि सहायक उद्योग*—इस भाग के कुटीर-उद्योगों में वे सब उद्योग सम्मिलित हैं जो कृषकों द्वारा सहायक धन्धों के रूप में किये जा सकते हैं। जैसे चर्खों पर बुनाई, कौशकृमि (रेशम के कीड़े) पालना, डलियाँ या टोकरियाँ बनाने का उद्योग, आटा पीसने का उद्योग, बीड़ी बनाने का उद्योग आदि।

२. ग्रामीण कला कौशल—इसके अन्तर्गत विशेषतया ग्रामीण हस्त-कौशल आते हैं। *जैसे मिट्टी के बर्तन बनाना, लुहार व सुनार के कार्य, कोल्हू द्वारा तेल* निकालना, गाँव के जुलाहा द्वारा कपड़ा बुनाई का उद्योग, चर्म संस्करण उद्योग, गाड़ियाँ बनाने का उद्योग, नावें बनाने का उद्योग आदि जो ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित है।

३. और ४ शहरी उद्योग—इन भागों के अन्तर्गत वे सारे कुटीर उद्योग आते हैं जो शहरों में रहने वाले कारीगरों को पूरे दिन का काम देते हैं। उदाहरणार्थ —चाँदी-सोने के तार का व्यवसाय, लकड़ी तथा हाथी-दाँत की खुदाई का उद्योग, पीतल तथा अन्य धातुओं सम्बन्धी उद्योग, खिलौने बनाने का उद्योग, रेशम तन्तु निर्माण उद्योग, रंगाई व छपाई उद्योग आदि।

भारतीय कुटीर उद्योगों के पतन के कारण (Causes of decline of Cottage Industries)—भारत ने औद्योगिक क्षेत्र में जो स्पर्द्धापूर्ण स्थिति बना ली थी वह सदैव के लिये स्थिर रहने वाली नहीं थी। हमारा इस गर्वपूर्ण औद्योगिक स्थिति का विध्वंस ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन की स्थापना से प्रारम्भ होगया था और अंग्रेजों के शासन काल के अन्त तक यह चरम सीमा तक पहुँच चुका था। इसके कुछ कारण निम्नलिखित हैं —

(१) पुराने भारतीय न्यायालयों का अन्त—भारतीय उद्योग देशी *न्यायालयों की देख-रेख में फूलते फलते थे। ब्रिटिश सत्ता के एकीकरण और केन्द्रीय-*करण से उनका लोप हो गया। यह स्वाभाविक ही था कि जब उनके संरक्षकों का ही लोप हो गया, तो वे उद्योग कैसे जीवित रह सकते थे।

(२) विपरीत पश्चिमी प्रभाव—पश्चिमी रंग पर शिक्षित हुआ नया शिष्ट समाज पुरातन भारतीय गौरव का पुजारी स्थानापन्न था। अंग्रेजी शासन की *स्थापना के साथ-साथ पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव भारतवर्ष में अनुभव होने लगा जिसके* परिणाम स्वरूप देशवासियों के जीवन स्तर, फैशन और रुचियाँ आदि में बड़ा परिवर्तन हो गया। वे स्वदेशी हाथ से बनी हुई वस्तुओं के स्थान से इंगलैंड आदि देशों की मशीन *से बनी हुई वस्तुओं को अपनाने लग गये जिसके कारण भारतीय उद्योग-धन्धे इस पतित* अवस्था को पहुँच गये।

(३) भारत में ब्रिटिश सरकार की नीति—अपने निजी उद्योगों को उन्नत करने और उन्हें विदेशी प्रतियोगिता से सुरक्षित रखने के उद्देश्य से ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भारतीय वस्त्र पर प्रायः प्रतिरोधी कर लगा दिये थे। सन् १७०० और १८२६ के मध्य रंगीन छींटें पूर्णतया रोक दी गई थी और कतिपय अन्य किस्मों पर ३० से ८० प्रतिशत कर देना होता था। प्रो० होरेस विल्सन लिखते हैं, 'यदि इस प्रकार के प्रतिरोधी कर और बन्धन विद्यमान न होते तो पैसले और मैन्चेस्टर की मिलों का जन्म से ही गला घुट जाता और उन्हें भाप की शक्ति से भी चलाना कठिन हो सकता था।" ब्रिटिश-शासन-काल में अंग्रेजी वस्तुओं के भारत में सस्ते दामों

मे झोकने का प्रत्येक यत्न किया गया और भारतीय निर्माताओ को निरुत्साह करने और दबाने की पूर्ण चेष्टा की गई।

(४) मशीन निर्मित वस्तुओ की प्रतियोगिता—हाथ मे बनी हुई वस्तुएँ मशीन द्वारा बनी हुई वस्तुओ की प्रतियोगिता मे नही ठहर सकती, क्योकि वे अधिक मँहगी पडती है तथा उनके तैयार होने मे असाधारण लम्बा समय लगता है।

(५) भारतीय सरकार की निर्बाध नीति—शासन की बागडोर ईस्ट इण्डिया कम्पनी से भारत सरकार के हाथो मे आने पर भी मरते हुए उद्योगो को सहारा नही मिला। उस समय की भारतीय अंग्रेजी सरकार ने निर्बाध (Laissez Faire) नीति अर्थात् प्रतिबन्ध रहित व्यापार की नीति को अपनाया और भारतीय उद्योगो के सरक्षण के बारे मे सन् १९२३ तक कुछ भी नही सोचा गया। फिर भी सरक्षण नीति मे हार्दिकता का अभाव था।

भारतीय कुटीर-उद्योगो के जीवित रहने के कारण—कुटीर-उद्योगो को नष्ट करने वाले इतने शक्तिशाली कारणो के होते हुए भी ये अब तक जीवित रह सके है, इसके अनेक कारण हैं जिनमे से मुख्य निम्नलिखित है —

१. जाति-प्रथा के कारण जुलाहे, कुम्हार आदि अपने पूवजो के ही काम करते हैं। स्थान-परिवर्तन अथवा आजीविका के नये साधन प्राप्त करने मे इन्हे बहुधा सामाजिक पार्थक्य सहन करना पडता है।

२. बहुधा मनुष्यो की स्वेच्छानुसार काम करने की आदत पडी हुई है। अस्तु, वे कारखानो म निश्चित घन्टे काम करना अथवा अन्य कानून-कायदा का बन्धन पसन्द नही करते।

३. पर्दा-प्रथा के कारण अनेक औरते बाहर जाकर काम नही कर सकती, उनके लिये घरेलू धन्धे ही हितकर है।

४. कारखाने मे मिलने वाली मजदूरी इतनी अधिक नही होती कि गाँव से लोग सहसा नगर मे रहने की असुविधाएँ और व्यय सहन करने लगें। वे भूख से विशेष पीडित तथा ऋण ग्रस्त होने पर ही विवश होकर घर या कुटुम्ब का मोह छोडते है।

५. अपने ही घर मे अपने परिवार के प्रिय सदस्यो के मध्य स्वास्थ्यकर वातावरण मे अपनी इच्छानुसार कार्य करने का आकर्षण कुटीर व्यवसायो को जीवित रखे रहने मे बडा सहायक है।

६. हमारी जनसख्या के ७० प्रतिशत् से भी अधिक लोग कृषि व्यवसाय मे सलग्न है। कृषि एक मौसमी व्यवसाय होने के कारण ५–६ मास के लिये किसानों को बेकार रहना पडता है। अनेक सहायक धन्धे ऐसे हैं जो कृषि के साथ सुगमता से चलाये जा सकते है।

७. अब भी भारत मे ऐसे लोगो की बहुत बडी सख्या है जो कलापूर्ण कार्य के लिये मूल्य देने को तैयार हैं और उसके ग्राहक है। उनके सरक्षण ने अनेक पुरानी शिल्पकलाओ को नष्ट होने से बचा लिया है।

८. कतिपय ऐसी वस्तुएँ है जिनकी माँग स्थानीय, स्वल्प एव सीमित होने के कारण उनका मशीन द्वारा बडे परिमाण मे उत्पादन नही किया जा सकता है।

९. कुटीर व्यवसायों में तुलनात्मक दृष्टि से माल अधिक सस्ता बनाया जा सकता है। यही कारण है कि ये आज तक जीवित हैं।

१०. वैकल्पिक धन्धा का अभाव तथा घर न छोड़ने की आदत के कारण पैतृक धन्धा को आसानी से छोड़ना पसन्द नहीं करते।

११. यातायात आदि साधनों के अभाव के कारण अब भी बहुत से ऐसे गाँव हैं जो देश के अन्य भागों से बिल्कुल कटे हुए हैं तथा जहाँ पर मशीन निर्मित वस्तुएँ पहुँचने नहीं पाती, वहाँ घरेलू धन्धे ही चलाये जाते हैं।

१२. वे धन्धे जिनमें व्यक्तिगत ध्यान एवं देख रेख की आवश्यकता हो, छोटे परिमाण में ही चलाये जा सकते हैं।

१३. कुटीर व्यवसाय ही ऐसे धन्धे हैं जिनमें ग्राहकों की रुचियों के अनुकूल ही उत्पादन किया जा सकता है।

१४. कुछ शिल्पकारों ने अपने आपको नई अवस्थाओं के अनुकूल बना लिया है और उन्होंने अपनी शिल्प-कला को नये औजारों व बिजली आदि के प्रयोग से सुरक्षित कर दिया है।

१५. स्वदेशी आन्दोलन तथा समय समय पर औद्योगिक प्रदर्शनियाँ होते रहने से भारत की प्राचीन कला-कौशल को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है।

१६. केन्द्रीय सरकार के उदार अनुदान, अखिल भारतवर्षीय स्पिनर्स एसो सियेशन और भारतीय कांग्रेस के अथक प्रयत्नों ने कई भारतीय शिल्प कलाओं को नष्ट होने से बचाया है। महात्मा गांधी के बलपूर्वक समर्थन ने भी इन्हें जीवन-दान दिया है।

आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था में लघु एवं कुटीर-उद्योगों का महत्व—यह धारणा कि लघु एवं कुटीर व्यवसायों का आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था में कोई स्थान नहीं है केवल अल्प तथा पुस्तक ज्ञान का द्योतक है। प्रिंस क्रापॉटकिन (Prince Kropotkin) का कहना है कि "लघु व्यवसाय कभी नष्ट नहीं हुए हैं और न हो सकते हैं प्रोटेम्स (Protens) अर्थात् सामुद्रिक देवता के समान वे अपना रूप बदलते रहते हैं"

आधुनिक समय में सस्ती बिजली की शक्ति, धनी लोगों में कलापूर्ण एवं विलास वस्तुओं के उपभोग की अधिक रुचि, सहकारी आन्दोलन तथा प्राविधिक (Technical) ज्ञान के विस्तृत प्रसार आदि अनुकूल बातों से लघु एवं कुटीर-व्यवसायों को बड़ा प्रोत्साहन मिला है और इसी कारण वे आज भी वृहद् उद्योगों के साथ-साथ स्थित हैं और सफलतापूर्वक काम कर रहे हैं। वे सहायक तथा पूरक धन्धे हैं न कि बराबरी या स्पर्धा करने वाले। देखा जाय तो वास्तव में कई वृहद् उद्योग स्वयं सहायक एवं लघु व्यवसायों के जन्मदाता हैं। उदाहरणार्थ बाईसिकलों का निर्माण तो बड़े कारखानों में होता ही है, परन्तु उनको ठीक अवस्था में रखने तथा उनके जीर्णोद्धार के लिये नगर की गली-गली और कोने-कोने में इस प्रकार का कार्य करने के लिये छोटी-छोटी दुकानें प्रायः देखी जाती हैं। यही बात मोटर-कारों के व्यवसाय पर भी लागू हो सकती है। इसी प्रकार सूती कपड़े के मिल के साथ साथ फीते, दरियाँ, निवार आदि बनाने के व्यवसाय स्थापित हो जाते हैं।

यहाँ तक कि विश्व के बड़े-बड़े औद्योगिक देशों में भी इनका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। फ्रांस में ६६% औद्योगिक संस्थाओं में से प्रत्येक में १०० से कम मनुष्य काम करते हैं। जर्मनी में १२.६% मनुष्य अपने जीवन-निर्वाह के लिये कुटीर व्यवसायों पर आश्रित हैं। बरमिङ्घम जैसे आधुनिक औद्योगिक नगर में भी आधी औद्योगिक संस्थाएँ छोटे पैमाने पर काम करती है और प्रत्येक में ५० मनुष्य से भी कम काम करते हैं। हालैंड और बेल्जियम में भी अनेक प्रकार की वस्तुएँ छोटे कारखानों में ही तैयार होती हैं। स्विट्जरलैंड का घड़ी बनाने का कुटीर व्यवसाय तो जगत-प्रसिद्ध ही है। जापान में औद्योगिक जनसंख्या के ५३% मनुष्य अब भी अपनी आजीविका कुटीर व्यवसायों से ही प्राप्त करते है। चीन में सहकारी प्रणाली के अन्तर्गत कुटीर व्यवसायों ने बड़ी उन्नति की है। सोवियत रूस में भी औद्योगिक व्यवसाय में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। भारत-वर्ष में अनेक योजना बनाने वालों ने भी कुटीर व्यवसायों के पुनर्संङ्गठन पर बड़ा बल दिया है। हाल ही में भारतीय राजकोषीय आयोग अर्थात् फिस्कल कमीशन ने अनुमान लगाया है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के व्यापार का ६२.५% भाग छोटे परिमाण में होता है जिसमें देश के ४५% मनुष्य काम संलग्न हैं तथा जिनके द्वारा ३४ , व्यापार संचालित होता है।

भारतवर्ष में कुटीर उद्योगों का महत्व—भारतवर्ष में कुटीर उद्योगों का महत्व और भी अधिक है। भारत एक कृषि-प्रधान देश है यहाँ के निवासी निर्धन हैं तथा अधिकांश जनता का जीवन-स्तर नीचा है। हमारे कृषकों को पूरे वर्ष भर काम नहीं करना पड़ता है। कृषि के शाही कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि "भारतीय कृषि की एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इस पर काम करने वाले कृषक को इसमें वर्ष भर काम करने की आवश्यकता नहीं होती। वर्ष में कम से कम चार महीने वह बिलकुल खाली रहता है। ऐसे खाली समय में उसको तथा उसके परिवार को कोई काम देने के लिये लघु एवं कुटीर व्यवसायों की आवश्यकता है।" 'भारतीय बैंकिंग जाँच कमेटी' का भी मत है कि "कृषक को तथा उसके परिवार को उनके खाली समय में काम देने के लिये कुटीर व्यवसाय स्थापित करना बहुत आवश्यक है। इस प्रकार वह अपनी आय बढ़ा सकता है।" डा० राधाकमल मुकर्जी ने खोज करके पता लगाया है कि उत्तर भारत के बहुत से ऐसे प्रदेश है जहाँ के कृषक वर्ष भर में लगभग २०० दिन बेकार रहते हैं। उनका कहना है कि कहीं-कहीं तो जहाँ सिंचाई के उत्तम साधन प्राप्त हैं, इससे भी अधिक समय तक बेकार रहते हैं। जिस कृषक के पास कम भूमि है उसके तो सारे परिवार को भी उस पर काम करने की आवश्यकता नहीं होती। अस्तु, उन लोगों को ऐसा काम देने की आवश्यकता है जहाँ वे काम करके अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ भी बना सकें तथा अपनी आय की वृद्धि भी कर सकें। राष्ट्रीय योजना समिति (१६३६) का मत था कि "ग्रामीण भारत की अधिकांश जनता अपने भौतिक कल्याण के लिये अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में नहीं प्राप्त कर पाती। अतः उसके लिये कुटीर-धंधों को स्थापित करना बहुत आवश्यक है।" और हम अपनी कृषि को वैज्ञानिक एवं यान्त्रिक करना चाहते हैं तो यह और भी आवश्यक हो जाता है कि इस प्रकार जो लोग बे रोजगार हो जायेंगे उन्हें काम देने के लिये छोटे घरेलू धंधों को प्रोत्साहित किया जाय। इसी प्रकार योजना कमीशन ने पंचवर्षीय योजना में १६ करोड़ रुपये इन व्यवसायों के विकास के लिये व्यय करना निश्चय किया है। कमीशन का कहना है कि "सरकार को चाहिए कि

कुटीर उद्योगों तथा छोटे पैमाने के धंधों के सम्बन्ध में वैसा ही उत्तरदायित्व ग्रहण करें जैसा कि उसने खेती के विकास के सम्बन्ध में ग्रहण किया है।"

भारतवर्ष में कृषि वर्षा पर निर्भर है और वर्षा स्वयं परिमाण एवं समय की दृष्टि से अनिश्चित है। अस्तु, ग्रामीण उद्योग-धन्धों के विकास से यह अस्थिरता कम होकर अकाल की भीषणता कम हो सकती है। इस प्रकार ग्रामीण उद्योग-धंधे 'धनुष की दूसरी रस्सी' की भाँति कृषि के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

कुटीर व्यवसाय हमारे देशवासियों की प्राकृतिक प्रतिभा और राष्ट्रीय परम्परा के अनुकूल है। कई पीढ़ियों के अनुभव से हमारे कारीगरों ने इन कार्यों में विशेष दक्षता प्राप्त कर ली है। इन उद्योग-धंधों के लिए जो कच्चा माल चाहिए वह हमारे देश में पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होता है। इनमें बहुत कम पूँजी की आवश्यकता होती है जोकि हमारे कारीगर स्वयं लगा सकते हैं अथवा सुगमता से प्राप्त कर सकते हैं। इनमें सरल और साधारण औजारों की आवश्यकता होती है जो हमारे देश में तैयार होते हैं। इनके तैयार माल को खरीदने के लिये हमारे यहाँ बहुत संख्या में स्थानीय उपभोक्ता होते हैं जिनकी भिन्न-भिन्न रुचि और स्वभाव से स्थानीय कारीगर सुपरिचित होते हैं। इस प्रकार कारीगर कुशलता और सुन्दरतापूर्वक इनकी आवश्यकताओं को तृप्त करके पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं।

हमारे देश का श्रम अभी अप्रशिक्षित एवं अनिपुण है, अतः इस प्रकार के श्रम से बड़े कारखानों की अपेक्षा छोटे कारखानों का विकास अधिक सुगमतापूर्वक हो सकता है। इसके अतिरिक्त हमारे पूँजी के साधन स्वल्प होने के कारण बड़े कारखानों की अपेक्षा छोटे कारखाने अधिक सुगमता से चलाये जा सकते हैं। भूमि पर जन-संख्या का अत्यधिक दबाव तथा भूमि-अपखण्डन व यत्र-तत्र स्थित होने के कारण भारतवर्ष में अब कृषि एक लाभदायक उद्योग नहीं रहा है। अस्तु, कृषकों का अपनी अपर्याप्त एवं अल्प आय को पूरा करने के लिए सहायक धंधे चलाना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े कारखानों में महँगी और पेचीदा मशीनों के प्रयोग से श्रम-संचय का लाभ प्राप्त होता है। अतः कम आबादी वाले देशों में जहाँ श्रम पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है, इनसे अधिक लाभ पहुँच सकता है। परन्तु भारत जैसे अत्यधिक जनसंख्या वाले देश में बड़े कारखानों का विकास एक सीमित अवस्था तक ही लाभदायक सिद्ध हो सकता है। परन्तु भारतवर्ष की बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये जीवनोपार्जन के साधन उपस्थित करने के लिये कुटीर एवं लघु उद्योग-धंधों का विकास नितान्त वाञ्छनीय है।

देश के विभाजन से एक नई समस्या और उपस्थित हो गई। वह है पुनर्वास समस्या। पाकिस्तान से आये हुए लोगों को बसाना और काम-धन्धे देना एक कठिन समस्या है। इसका बहुत-कुछ हल कुटीर एवं लघु व्यवसायों के विकास में सन्निहित है।

महात्मा गांधी ने देश के आर्थिक पुनर्संङ्गठन में कुटीर व्यवसायों के महत्व पर सदैव बल दिया। वे कारखानों में बड़े परिमाण की उत्पत्ति की अपेक्षा घरों में ही वृहद् उत्पादन चाहते थे। उनकी अभिलाषा तो यहाँ तक थी कि प्रत्येक गाँव में बिजली हो जाय और गाँव वाले अपने औजार आदि बिजली से चलाने लग जायें तो कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि उनकी दृष्टि में भारत का उद्धार गाँवों के पुनरुत्थान में सन्निहित था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये महात्मा गांधी की प्रेरणा से अखिल

भारतवर्षीय ग्रामोद्योग एसोसियेशन तथा अखिल भारतवर्षीय स्पिनर्स एसोसियेशन की स्थापना हुई। ये दोनों संस्थाएँ भारतीय गृह उद्योगों विशेषतया खद्दर उद्योग को जीवित रखने में बड़ी सहायक सिद्ध हुई हैं।

आचार्य विनोबा भावे[1] ने भी बनारस में अपनी ११ अगस्त १९५२ की प्रार्थना सभा में कुटीर उद्योग धन्धों के विकास पर बड़ा बल दिया और बताया कि इनसे कृषकों की आय में वृद्धि होगी जिससे उनकी क्रय शक्ति बढ़ेगी।

लघु एवं कुटीर व्यवसायों से लाभ (Advantages)—लघु एवं कुटीर व्यवसायों के विकास से देश को निम्नलिखित लाभ हैं :

(१) आर्थिक लाभ—भारतवर्ष में किसान लोग वर्ष में लगभग ५-६ महीने बेकार रहते हैं। अस्तु वे इस बेकार समय में अनेक कुटीर व्यवसायों को चला कर अपनी आर्थिक स्थिति ठीक बना सकते हैं। शहरों में भी हजारों व्यक्ति इन व्यवसायों से अपना जीवनयापन कर सकते हैं। यह अनुमान लगाया जाता है कि भारतवर्ष में लगभग ४० प्रतिशत श्रमिक वर्ष में कुछ समय के लिये बेरोजगार रहते हैं। अतः सहायक धन्धों द्वारा वे अपनी इस बेकारी को दूर कर सकते हैं।

(२) अकाल से सुरक्षा—सन् १८८० ई० के भारतीय अकाल कमीशन ने यह बतलाया कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश में अकाल आदि संकटों से सुरक्षित रहने के लिये कुटीर उद्योगों का विकास अति आवश्यक है।

(३) कारखाना प्रणाली के दोषों से मुक्ति—कुटीर व्यवसायों द्वारा कारखाना प्रणाली के दोष दूर हो सकते हैं क्योंकि इनसे उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण हो जाता है जिससे शहरों में घनी आबादी नहीं होने पाती और श्रमिक अपने शारीरिक एवं मानसिक पतन से बच सकते हैं। इसके अतिरिक्त हड़ताल और तालाबन्दियों आदि दोषों का तो बिलकुल ही भय नहीं रहता।

(४) नैतिक लाभ—नैतिक दृष्टि से भी कुटीर व्यवसायों का महत्व प्रशंसनीय है। इनसे शिल्पकार अपना आत्माभिमान रख सकते हैं। कारीगर अपने घर के स्वस्थ और स्वच्छन्द वातावरण में कार्य कर सकते हैं तथा उन्हें शारीरिक परिश्रम भी कम करना पड़ता है।

(५) बेकारी की समस्या हल हो सकती है—दुग्धोत्पादन, कुक्कुट पालन, उद्यान कार्य, शहद की मक्खी पालना आदि अनेक कुटीर व्यवसायों में लोगों की बेकारी की समस्या भी कुछ अंश तक हल हो सकती है।

(६) भारतीय शिल्पकला का प्राचीन गौरव कायम रखा जा सकता है—भारतवर्ष प्राचीन काल से ही अपनी शिल्पकला के लिये सुप्रसिद्ध है। अस्तु कुटीर व्यवसायों के विकास से यह प्रसिद्धि, गौरव एवं परम्परा कायम रखी जा सकती है।

(७) धन वितरण की असमानता दूर हो सकती है—बड़े परिमाण की उत्पत्ति का सबसे बड़ा दोष यह है कि अधिकांश धन कुछ ही पूँजीपतियों के हाथों में है और श्रमिकों को केवल जीवन निर्वाह मात्र के लिये धन प्राप्त होता है। इससे

1—Vinoba Bhave's plea for Cottage Industries The Hindustan Times dated 15th August, 1952

असन्तोष की भावनाएँ उत्पन्न होकर पारस्परिक संघर्ष खड़ा हो जाता है। लघु एवं कुटीर व्यवसाय इस असमानता एवं असन्तोष को दूर करने का दावा रखते हैं।

(८) देश का आर्थिक संतुलन सुदृढ बन जायगा—कुटीर तथा लघु उद्योग उद्योग-धन्धों के विकास से देश की प्रतिदिन जनता काम पर लग जायगी तथा स्त्रियों और बालकों को भी उनकी शक्ति और योग्यतानुसार काम मिलने लगेगा। ग्रामीण लोगों को अपनी आय बढ़ाने के साधन मिलेंगे जिनसे वे अपना जीवन स्तर ऊँचा बना सकेंगे। इनमें बहुत-से पढ़े-लिखे लोगों को भी रोजगार मिलेगा तथा देश का आर्थिक कलेवर संतुलित होकर सुदृढ बन जायगा।

(९) भूमि पर जनसंख्या का भार कम हो जायगा—लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास से देश में अनेक धन्धे खुल जायेंगे और जनसंख्या का एक बड़ा भाग इनमें जीवनयापन कर सकेगा जिससे भूमि का भार कम हो जायगा। इस समय कुटीर उद्योगों के अभाव में सभी को अपनी आजीविका के लिये भूमि की ओर ही देखना पड़ता है।

(१०) कला-कौशल की उन्नति होगी—कुटीर उद्योग धन्धों का कला की दृष्टि से भी बड़ा महत्व है। कारीगरों की बनाई वस्तुएँ सुन्दर और कलापूर्ण होती हैं।

(११) कुटीर-उद्योग कृषि उद्योग के सहायक सिद्ध होंगे—कई कुटीर-उद्योग ऐसे होते हैं जिनसे कृषि को प्रत्यक्ष रूप में सहायता मिलती है। जैसे, दुग्धशाला सम्बन्धी उद्योग से न केवल उसे एवं उसके कुटुम्ब के सदस्यों के ही स्वास्थ्य को दुग्ध तथा दुग्ध उत्पत्ति के उपभोग से लाभ पहुँचेगा, बल्कि उसे कृषि के लिये उत्तम पशु भी प्राप्त होंगे। इसी प्रकार तेल पेरने के कार्य से खली व खाद पशुओं के लिये सलाभ प्रयुक्त की जा सकती है।

लघु एवं कुटीर उद्योग की वर्तमान अवस्था—भारतवर्ष में सभी लघु एवं कुटीर उद्योग समान अवस्था में नहीं है। मशीन निर्मित वस्तुओं की प्रतियोगिता के अनुसार उनकी अवस्था में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। उदाहरण के लिये ढाका की मलमल का तो नाम-निशान ही नहीं रहा। कुछ अन्य ऐसे हैं जो मृतप्राय अवस्था में हैं।

भारतवर्ष अब भी एक ऐसा देश है जहाँ पर जनसंख्या का एक बड़ा भाग कुटीर एवं लघु उद्योगों से अपनी आजीविका प्राप्त करता है। निस्सन्देह सब प्रकार का फुटकर व्यापार छोटे पैमाने पर ही होता है। कृषि-कार्य स्वयं लघु स्तर पर ही होता है। इसके अतिरिक्त, असंख्य औद्योगिक कलाएँ और दस्तकारियाँ हैं जो देश में लाखों लोगों को रोजगार देती हैं—इस विषय में डा० राधाकमल मुकर्जी का अनुमान है कि यह संख्या १ करोड़ ४० लाख से कम नहीं। इस समय के अनुमान के अनुसार देश में कुटीर उद्योगों में लगभग २ करोड़ व्यक्ति लगे हुए हैं जिनमें से ५० लाख व्यक्ति हाथ करघा उद्योग में ही काम करते हैं।[1] डा० राधाकमल मुकर्जी ने गृह उद्योगों की बहुत लम्बी सूची दी है जो अब भी देश के विभिन्न भागों में प्रचलित हैं।[2] उनमें से कुछ यहाँ दिये जाते हैं. वाराणसी, इलाहाबाद, जौनपुर के जिलों में कई गाँवों में टोकरी

1—*Economics Problems of Modern India* 1941, Pages 20 & 25
2—*Economics Problems of Modern India*, 1941, pp 14-21

बनाना, मलाबार और दक्षिण तथा पूर्वी बंगाल में रस्से बनाना, चटाई बनाना, पंखियाँ बनाना, आसाम में रेशम के कीड़ों का पालना; मेरठ, बदायूँ, मिर्जापुर (उ० प्र०), बोलपुर (बंगाल), चेन्नापाटन (मैसूर) और कोंडापल्ली (मद्रास) में लाख और खिलौने बनाना, अमृतसर, मिर्जापुर, आगरा और वाराणसी में दरियाँ व कालीन बनाना मुर्शिदाबाद, मालदा, मदुरा और भागलपुर में रेशम बुनना, मिर्जापुर (उ० प्र०) और नदिया (बंगाल) में कलापूर्ण मिट्टी की मूर्तियाँ बनाना, तिन्नेवल्ली (मद्रास) में लुंगियाँ और साड़ियाँ बनाना, फतहपुर और फिरोजाबाद (उ० प्र०) में काँच की चूड़ियों का काम। डा० मुकर्जी लिखते हैं, "प्रत्येक जिले के एक या अधिक गाँवों में सूती कपड़ा व रेशम की बुनाई होती है, लकड़ी का काम होता है, सोने, चाँदी, ताँबे, द्विधातु, बाँस, बेंत और चमड़े का उच्चकोटि का कलापूर्ण काम होता है। समस्त देश में करघों पर कताई और बुनाई का काम होता है। साबुनसाजी का भी बहुत विस्तार पूर्वक काम किया जाता है।"

भारतीय कुटीर-उद्योगों की स्थिति का विश्लेषण करने से पता चलता है कि मशीन निर्मित वस्तुओं ने कई गृह-उद्योगों को रसातल में पहुँचा दिया है। जिन उद्योगों ने प्रतियोगिता का सामना किया है वे इस समय में शोचनीय अवस्था में है और कारीगर अपनी विवशता और जड़ता के कारण उनमें चिपटे हुये हैं। कुछ लघु उद्योग ऐसे भी है जो आर्थिक दृष्टि से अच्छी अवस्था में है। गत विश्व-महायुद्ध के कारण भारत में आयात में कमी हो गई जिसके कारण कई भारतीय कुटीर एवं लघु उद्योगों को बड़ा प्रोत्साहन मिला तथा अनेक नये कारखाने भी स्थापित हो गये। बहुत दशाओं में कुटीर शिल्पकारों ने अपने-आपको जीवित रखने के लिये परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार ढाल लिया है और अपने उत्पादन साधनों में उचित परिवर्तन कर दिये हैं। औद्योगिक कमीशन के शब्दों में "जुलाहों ने मिल का सूत, रंगरेजों ने रासायनिक रंगों, लुहारों ने कारखाने के लोहे का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया है। दर्जी मशीनें और कारीगर मशीनों से बने औजारों को काम में लाने लगे हैं।" इस प्रकार कुटीर-उद्योग अनेक क्षेत्रों में कारखाना उद्योग का पूरक हो गया है।

भारतवर्ष के प्रमुख कुटीर एवं लघु उद्योग—हमारे देश में वैसे तो अनेक उद्योग-धन्धे कुटीर प्रणाली पर चलाये जाते हैं परन्तु उनमें निम्नलिखित मुख्य है :—

वस्त्र व्यवसाय—यह व्यवसाय भारत में प्राचीन काल से ही प्रचलित है तथा *भारतीय कुटीर उद्योगों में इसका सर्वोच्च स्थान है। प्राय. इस उद्योग के दो भाग किये जाते हैं :—*

(अ) सूत कातना और (आ) सूत से कपड़ा बुनना।

(अ) **सूत कातना**—उन क्षेत्रों में जहाँ कपास उत्पन्न होता है, किसान कुछ कपास लेकर साफ करके और उसमें से बिनौले अलग निकाल कर अपने परिवार के सदस्य, जैसे स्त्री, वृद्ध माता, बच्चों आदि की सहायता से अवकाश के समय सूत कातता है। *काता हुआ सूत गाँव के जुलाहे को देकर अपने कुटुम्ब के लिये कपड़ा तैयार करा* लिया जाता है। हाथ से सूत कातने का काम पहले बहुत होता था, परन्तु मशीनों के *प्रयोग ने इसे कम कर दिया है। अखिल भारतवर्षीय* चर्खासंघ राष्ट्रीय, कांग्रेस और राज्य सरकारें इस काम को बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील है।

(आ) हाथ से कपड़ा बुनने का व्यवसाय-अर्थात् हाथ-करघा उद्योग (Handloom Industry)- भारत अपने वस्त्र-उद्योग के लिये प्राचीनकाल से विश्व-विख्यात था। अब भी भारतीय कुटीर-उद्योगों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह व्यवसाय देश की चौथाई माँग की पूर्ति करता है। सन् १९३२ के भारतीय प्रशुल्क मण्डल (Tariff Board) के अनुसार हाथ-करघा उद्योग से लगभग १ करोड़ व्यक्तियों का भरण-पोषण होता है। उसी ने करघों की संख्या का अनुमान २५ लाख के लगभग लगाया था। सत्य-खोज समिति के अनुसार भारत में आज २० लाख करघे हैं जो ६० लाख व्यक्तियों की आजीविका का साधन है। इस उद्योग का वार्षिक उत्पादन १८०० लाख गज आंका गया है जो संगठित उद्योगों के उत्पादन का $\frac{1}{3}$ से अधिक है।

हाथ-करघा उद्योग के मुख्य केन्द्र—हाथ-करघा उद्योग के मुख्य केन्द्र निम्न-लिखित हैं :—मदुरा, कडप्पा, कोयम्बटूर, कालीकट (मद्रास), पूना, कर्नाटक (बम्बई); इटावा, अलीगढ़, बाराबंकी, अकबरपुर, अमरोहा, गोरखपुर, वाराणसी, आगरा, बरेली, कानपुर, मिर्जापुर, मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेश); भागलपुर, पटना, गया, हजारीबाग, दरभंगा, राँची (बिहार), शांतिपुर (बंगाल), नागपुर, चन्देरी, ग्वालियर (मध्य प्रदेश), बंगलोर (मैसूर), अमृतसर, अम्बाला, रोहतक, लुधियाना, (पंजाब), श्रीनगर (काश्मीर), जयपुर, बीकानेर (राजस्थान)। उपर्युक्त केन्द्रों में खादी, मलमल, दरियाँ, शाल-दुशाले, कालीन, कम्बल आदि बनते हैं। १९५७-५८ में १०·१५ करोड़ रुपये की खादी का उत्पादन हुआ तथा ७·७२ करोड़ रु० की खादी बिकी।

केन्द्रीय सरकार के प्रयत्न—केन्द्रीय सरकार ने इस उद्योग के लिये सन् १९४९ में एक स्थायी 'हाथ-करघा बोर्ड' (Handloom Board) की स्थापना की जिसमें राज्यों के प्रतिनिधि, गैरसरकारी, बुनकरों [illegible] हाथ-करघा उद्योग के प्रतिनिधि हैं। इस बोर्ड ने हाथ-करघा उद्योग की उन्नति के लिये कुछ सिफारिशें की हैं जैसे बुनकरों की आवश्यकता के अनुसार सूत की पूर्ति बढ़ाई जाय, अच्छे सूत के आयात में वृद्धि हो, बुनकर सहकारी समितियों में वृद्धि हो, सूत व रंग का वितरण ठीक ढंग से हो, कपड़े की बिक्री के लिये उचित व्यवस्था हो, कारीगरों को तान्त्रिक शिक्षा देने के लिये शिक्षण एवं अनुसंधान संस्थाओं की स्थापना हो, आदि। भारत सरकार ने १९५५-५६ में समाप्त ४ वर्षों में खादी के विकास के लिये १२ करोड़ ८६ लाख रु० की सहायता स्वीकार की थी। इसमें से योजना चलाने वाली संस्थाओं ने लगभग १२ करोड़ ३२ लाख रुपया खर्च किया था। सन् १९५६-५७ में भारत सरकार ने खादी उद्योग के लिये ६ करोड़ ३५ लाख रु० का अनुदान और लगभग ४ करोड़ ८२ लाख रु० का ऋण देना स्वीकार किया। इसमें अम्बर चर्खा भी शामिल है। रिजर्व बैंक सूत खरीदने के लिये बड़ी सहकारी समितियों को ऋण देता है।

केन्द्रीय सरकार निम्न उपायों द्वारा हाथ-करघा उद्योग को प्रोत्साहन दे रही है :—

(१) बुनकरों के लिये सूत-प्राप्ति के हेतु मद्रास और उड़ीसा में दो सूत कातने वाली मिल खोल रही है। (२) कुछ विशेष प्रकार की कपड़ों की किस्में हाथ-करघा उद्योग के लिये सुरक्षित कर दी गई हैं। (३) मिल में बने कपड़ों पर ३ नया पैसा प्रति गज उपकर (Cess) लगाने से जो आय होती है वह हाथ करघा उद्योग की उन्नति में लगाई जा रही है। (४) औद्योगिक सहकारी समितियाँ स्थापित की जा रही है जिनमें शिल्पकार हिस्सेदार होंगे। (५) केन्द्रीय सरकार पर्याप्त आर्थिक

सहायता दे रही है। (६) बिक्री को बढ़ावा देने के लिये प्रति रुपया ५ से ९ नये पैसे तक छूट दी जाती है। केन्द्रीय बिक्री संगठन मद्रास में खोला गया है जिसकी शाखाएँ मद्रास बम्बई कलकत्ता वाराणसी तथा ग्वालियर में हैं। (७) ग्रामीण क्षेत्रों में हाथ करघे के बने कपड़ा के प्रचार के लिये ४० मोटर गाड़ियों की व्यवस्था की स्वीकृति दी गई है (८) हाथ करघे के बने कपड़ा के भण्डार कोलम्बो अदन सिंगापुर में खोले गये हैं। (९) हाथ करघे के बने कपड़े के निर्यात पर कोई शुल्क नहीं लिया जाता। (१०) हाल ही में भारत सरकार ने सहकारी समितियों के बुनकरों के लिये बस्तियाँ बनाने के लिये सहायता देने की एक योजना स्वीकृत की है।
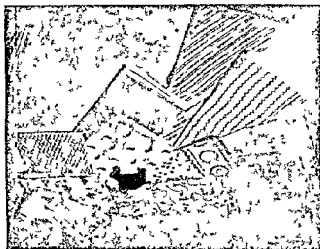
बंगाल के हाथ करघा की साड़ियाँ

अखिल भारतवर्षीय चर्खा संघ—इस संस्था ने भी इस उद्योग के बढ़ाने में प्रशंसनीय कार्य किया है। देश भर में स्थान-स्थान पर कताईगरों और बुनकरों को सहायता देकर खादी उत्पादन को प्रोत्साहन दिया है।

खादी उद्योग का नया आधार अम्बर चर्खा—लघु एवं ग्रामोद्योग १९५५ पर नियुक्त कर्वे समिति ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत अतिरिक्त खादी उत्पादन के लिये अम्बर चर्खा के प्रयोग की सिफारिश की है। अम्बर चर्खा वह चर्खा है जिसमें ४ तकलियाँ होती हैं जिनके द्वारा कताईगर आठ घंटे नित्य काम कर सूत के ६ लच्छे (Hanks) कात सकता है। भारत सरकार ने सन् १९५७-५८ में ७५ हजार अम्बर चर्खे चालू करने की स्वीकृति दी। सन् १९५७-५८ में अम्बर चर्खे के सूत से १ करोड़ ११ लाख ५० हजार वर्ग गज कपड़ा तैयार हुआ। १९५७-५८ में अम्बर चर्खा कार्यक्रम के अन्तर्गत १,१०,१५३ व्यक्तियों को रोजगार मिला। द्वितीय योजना में कपड़े का उत्पादन १ अरब ७० करोड़ गज बढ़ाया जायगा जिसमें से ३ करोड़ गज कपड़ा अम्बर सूत से बना होगा।

हाथ करघा उद्योग और योजनाएँ—प्रथम पंचवर्षीय योजना में हाथ-करघा उद्योग के लिये ११·१ करोड़ और खादी उद्योग के लिये ८·४ करोड़ रुपये खर्च किये गये। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में क्रमश: ५६.५ करोड़ और १६.७ करोड़ रुपये रखे गये हैं। दूसरी पंचवर्षीय योजना में रिजर्व बैंक के द्वारा उन्हें ऋण दिया जायगा और यह एक विशेषता होगी। भारत सरकार हाथ करघा उद्योग को सहकारिता के आधार पर चलाने का सिद्धान्त स्वीकार कर उन्हें तान्त्रिक सहायता तथा सूत खरीदने और हाट व्यवस्था में भी सहायता दे रही है।

रेशम का उद्योग—भारत प्राचीन काल में अपने रेशमी वस्त्रों के लिये देश-देशान्तरों में विख्यात था। विदेशों में जहाँ भारतीय रेशमी वस्त्र निर्यात किया जाता था, चीन, जापान और फ्रांस मुख्य थे। सन् १८८६ ई० में लगभग ३३ लाख रुपये का रेशमी कपड़ा निर्यात किया गया था, परन्तु धीरे धीरे यह निर्यात कम हो गया। कृत्रिम रेशम का प्रादुर्भाव इस धन्धे के लिये घातक सिद्ध हुआ। आजकल भी भारत में रेशम का व्यवसाय कुटीर व्यवसाय ही है। रेशम का कीड़ा शहतूत, महुआ, साल, बेर, अरंड, कुसुम आदि वृक्षों की पत्तियाँ खिलाकर पाला जाता है। रेशम भारत के निम्नलिखित भागों में पैदा होता है—

(१) काश्मीर, जम्मू तथा पंजाब का मिला हुआ भाग। (२) बंगाल में मुर्शिदाबाद मालदह, राजशाही और वीरभूमि के जिले तथा आसाम का पश्चिमी भाग। (३) दक्षिणी मैसूर का पठार तथा कोयम्बटूर का जिला। सन् १९५७ में ३१.७० लाख पौंड कच्चे रेशम का उत्पादन हुआ जिसमें से लगभग आधे का उत्पादन मैसूर राज्य में ही हुआ। मैसूर के बाद इसके महत्वपूर्ण उत्पादन क्षेत्रों में क्रमश, जम्मू तथा कश्मीर, पश्चिमी बंगाल तथा मद्रास के राज्य आते हैं। अप्रैल १९५८ में पुनर्संगठित 'केन्द्रीय रेशम मण्डल' रेशम उद्योग तथा रेशम कीड़ा-पालन के विकास की देखभाल करता है। द्वितीय योजना में इस केन्द्र का विस्तार किया जायेगा। 'केन्द्रीय रेशम मण्डल' की ओर से मैसूर में एक अखिल भारतीय 'रेशम-कीड़ा-पालन प्रशिक्षण संस्था' तथा श्रीनगर में एक 'केन्द्रीय रेशम कीड़ा (विदेशी) पालन केन्द्र' स्थापित किया गया है।

ऊनी वस्त्र का उद्योग—ऊनी वस्त्र उद्योग भारतवर्ष में प्राचीनकाल से प्रचलित है। मुगल काल में कालीन, दरी व शाल का धन्धा बहुत उन्नति पर था, परन्तु विदेशी वस्त्र के आयात से ऊनी वस्त्र का धन्धा चौपट हो गया। ऊन से जो वस्तुएँ तैयार होती हैं उनमें शाल दुशाले, कम्बल, कालीन एवं पहनने के लिये वस्त्र मुख्य हैं। भारतीय ऊन बहुत घटिया होता है, अतः अच्छा ऊन कपड़ा बनाने के काम में नहीं आ सकता। फिर भी काश्मीर, पंजाब, राजस्थान, वारंगल, उत्तर प्रदेश, ग्वालियर, बंगलौर में यह धन्धा किया जाता है। काश्मीर के शाल-दुशाले बहुत प्रसिद्ध हैं। दरियों के लिए मिर्जापुर, एलौर, अमृतसर और आगरा प्रसिद्ध है। कम्बल का धंधा देश के कई भागों में प्रगतिशील अवस्था में प्रचलित है। इसके अतिरिक्त होजियरी अर्थात् स्वेटर, मोजे, मफलर आदि बनाने का उद्योग भी दिन-प्रतिदिन उन्नति कर रहा है। बंगाल और उत्तर प्रदेश होजियरी के मुख्य केन्द्र हैं। उत्तर प्रदेश में लगभग ६० लाख रुपए का माल प्रति वर्ष बनाया जाता है।

लकड़ी सम्बन्धी उद्योग—गाँवों में बढ़ई इस उद्योग को सहायक धंधे के रूप में करते हैं। वे अपने अवकाश के समय हल, बैलगाड़ी, रहटें, मड़े, चाखर, मकान बनाने के लिये आवश्यक लकड़ी का सामान आदि वस्तुएँ बनाते हैं। बड़े गाँवों और कस्बों में

वे इसे स्वतन्त्र कुटीर-उद्योग के रूप में करते हैं। शहरों में बढ़ई लोग फर्नीचर और मकान निर्माण सम्बन्धी लकड़ी का सामान तैयार करते हैं। लकड़ी के खिलौने बनाने वाले कारीगर भी पाये जाते हैं।

उत्तर प्रदेश में लकड़ी की कारीगरी का अच्छा काम होता है। सहारनपुर इस काम के लिये प्रसिद्ध है। इस क्षेत्र से यूरोप और अमेरिका को माल निर्यात भी किया जाता है। लखनऊ, देहरादून, बरेली, मेरठ, वाराणसी आदि नगरों में लकड़ी के खिलौने तथा लकड़ी का अन्य सामान बनाया जाता है। पंजाब में क्रिकेट, टेनिस आदि पाश्चात्य ढंग के खेलों का सामान बनाया जाता है। मैसूर में चन्दन की लकड़ी की बनी हुई वस्तुओं पर बारीक कलापूर्ण खुदाई का काम बहुत ही सुन्दर होता है।

धातु सम्बन्धी उद्योग—प्राचीन समय में राजा, महाराजा तथा नवाबों के राज्य काल में युद्ध का सामान, जैसे तलवार, ढाल, छुरा, भाले, बन्दूकें आदि लुहारों द्वारा ही बनाई जाती थीं। आजकल भी खेती के औजार, जैसे—हल का फाल, फावड़ा, कुल्हाड़ी, कुदाली, खुरपा, बसूला, हँसिया, हथौड़ा, बैलगाड़ी में लगने वाला और मकान में काम आने वाला लोहे का सामान आदि गाँव में रहने वाले लुहार ही तैयार करते हैं। शहरों में लोहे का सामान बहुत बड़ी मात्रा में तैयार होता है। अलीगढ़ में कैंची, चाकू, ताले, सरौते अच्छे बनते हैं।

लोहार

ताँबा, पीतल आदि धातुओं के बर्तन कसेरों द्वारा तैयार किये जाते हैं। उत्तर प्रदेश बर्तन बनाने का मुख्य केन्द्र है। वाराणसी, मिर्जापुर, फर्रुखाबाद, हाथरस, अयोध्या, फतेहपुर, हरदोई, लखनऊ, मेरठ, आगरा मुरादाबाद आदि नगरों में बर्तन बनाने का सुन्दर काम होता है। मुरादाबाद कलई के बर्तन के लिये प्रसिद्ध है और वहाँ बर्तनों पर खुदाई का काम अच्छा होता है। उत्तर प्रदेश में प्रतिवर्ष ३ करोड़ रुपये का माल बनता है। इन बर्तनों के अतिरिक्त सुख व विलास वस्तुएँ जैसे – पानदान, सिगारदान, फूलदान, पीकदान, सिगरेट-केस, पेपरवेट, ट्रे, आदि वस्तुएँ बड़े ही कलापूर्ण ढंग से बनाई जाती हैं जिनकी माँग विदेश में भी रहती है। कुँजरू समिति की रिपोर्ट के अनुसार इस उद्योग में पाँच हजार व्यक्ति संलग्न हैं जिनके द्वारा बनी हुई वस्तुओं का वार्षिक मूल्य लगभग ३० लाख रुपया होता है।

देश की जनता का गहने पहनने की बड़ी रुचि है। चाँदी सोना, पीतल, काँसा आदि के गहने गाँव की स्त्रियाँ बड़े ही चाव से पहनती हैं। शहरी स्त्रियाँ भी सोने तथा चाँदी के आधुनिक ढंग के फैशनदार गहने पहनती हैं। मनुष्य कानों में बालियाँ, हाथ की उँगलियों में अँगूठियाँ और गले में कंठियाँ पहनते हैं। ये वस्तुएँ सुनारों द्वारा बनाई जाती हैं। इस उद्योग में लाखों व्यक्तियों का भरण-पोषण होता है।

चर्म सम्बन्धी उद्योग—हमारे देश में पशु-धन बहुत है। संसार में गाय और भैंसों की जितनी संख्या पाई जाती है, उसका १५.४०% भाग हमारे देश में है। इसी प्रकार संसार के १६.१%भेड़-बकरी इसी देश में पाये जाते हैं। इन पशुओं के मरने पर जो चमड़ा निकलता है वह कच्चे माल के रूप में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। ग्रामीण रैगर, चमार, मोची आदि इसी कच्चे माल से जूतियाँ, मशकें, चरस

आदि चमड़े का सामान तैयार करते हैं। इनके अतिरिक्त घोड़े, ऊँट आदि पशुओं की सवारी के लिये काठी, लगाम, आदि वस्तुएँ भी बनाई जाती हैं। शहरों में भी इन लोगों द्वारा देशी जूते चप्पल चमड़े के बक्स आदि बनाये जाते हैं। इन लोगों की कार्य-प्रणाली प्राचीन है। अधिकतर कच्चा माल विदेशों को भेजा जाता है। आज भी इस उद्योग के द्वारा लाखों व्यक्ति अपना जीवन निर्वाह कर रहे हैं। केवल उत्तर प्रदेश में लगभग १। लाख व्यक्ति इस उद्योग में संलग्न हैं। चर्मकारों के चमड़े को कमाने व रंगने के ढंग में सुधार करने के लिए प्रदेशीय सरकार ने जाँच की है और उनकी प्रशिक्षण (Training) सम्बन्धी व्यवस्था की है। इस वर्ष चमड़ा उद्योग के लिये १४२ चलते-फिरते केन्द्र खोले गये हैं।

काँच की चूड़ी का उद्योग—काँच की चूड़ी बनाने के मुख्य केन्द्र उत्तर प्रदेश, मद्रास और पूना हैं। इस उद्योग में लगभग ५०,००० मनुष्य कार्य-संलग्न हैं। गत महायुद्ध के पूर्व चूड़ियों की ८० प्रतिशत माँग की पूर्ति उत्तर प्रदेश के अकेले नगर फिरोजाबाद से होती थी, माँग का १५ प्रतिशत विदेशों से आयात होता था और ५ प्रतिशत भारत के अन्य प्रान्तों से। काँच के मोती के दाने भारतवर्ष में कई एक स्थानों पर बनाये जाते हैं। दर्पण अर्थात् आइना बम्बई में बनता है।

तेल पेरने का उद्योग—प्रत्येक बड़े गाँव में एक जाति विशेष द्वारा जो 'तेली' कहलाते हैं, यह व्यवसाय संचालित किया जाता है। ये लोग लकड़ी के कोल्हू की सहायता से तेल पेरते हैं। तिलहन में से तेल निकल जाने के पश्चात् जो खली रह जाती है वह पशुओं को खिलाने और खाद के काम में प्रयुक्त की जाती है। गत कुछ वर्षों में इस उद्योग को भी यन्त्रों द्वारा निकले हुए तेल की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है जिससे उद्योग को कुछ हानि भी हो रही है। इस उद्योग की उन्नति करने के लिये अखिल भारतवर्षीय ग्राम उद्योग संघ तथा मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश आदि राज्यों के ग्राम्य विकास विभागों की ओर से प्रयत्न किये जा रहे हैं। इस वर्ष तेल के लिए ४५ आदर्श उत्पादन केन्द्र खोले गये हैं और दो हजार से भी अधिक सुधरे किस्म की घानियों से उत्पादन शुरू किया गया है। गाँवों से तैयार तेल के लिये १५० बिक्री एजेन्सियाँ खोली गई हैं।

गुड़ बनाने का धन्धा—गुड़ बनाना किसानों का मौसमी सहायक धन्धा है। जहाँ गन्ने की खेती की जाती है वहाँ किसान लोग लकड़ी या लोहे की चरखी की

गुड़ का गृह उद्योग

सहायता से गन्ने का रस निकाल कर भट्टी पर कड़ाही में रस पका कर गुड़ तैयार कर लेते हैं। गुड़ बनाने का कार्य परिश्रम-साध्य होने के कारण बहुत से किसान तो गन्ना काट कर शक्कर बनाने वाले कारखानों को बेच देते हैं। अनुसंधान द्वारा यह निश्चित हो चुका है कि शक्कर की अपेक्षा गुड़ में अधिक पौष्टिक तत्व है। अस्तु, अखिल भारत-वर्षीय ग्राम्य-उद्योग संघ द्वारा गुड़ के धन्धे का अधिक प्रचार करने तथा गुड़ का उपयोग अधिक बढ़ाने के लिये प्रयत्न किये जा रहे हैं। भारतवर्ष में उत्तर प्रदेश और विहार गुड़ बनाने के मुख्य केन्द्र हैं।

अन्य विविध प्रकार के उद्योग—यहाँ देश के समस्त कुटीर व्यवसायों का विस्तृत विवरण नहीं दिया जा सकता। अस्तु, उपर्युक्त उद्योग-धन्धों के अतिरिक्त जो अन्य उद्योग-धन्धे देश के विभिन्न राज्यों में प्रचलित हैं उनकी सूची नीचे दी जाती है :—*गोटा बनाना, सलमे-सितारे का काम, साबुन बनाना, स्याही बनाना, सुगन्धित* तैल व इत्र बनाना, कागज बनाना, बीड़ी बनाना, कुक्कुट पालन, दुग्धशाला सम्बन्धी व्यवसाय, रस्सियाँ बनाना, चटाइयाँ तथा टोकरियाँ बनाना, बेंत की सहायता से मेज-कुर्सी, डलियाँ और सरकंडा से मूढ़े बनाना, शहद इकट्ठा करना, लाक्षाजी पैदा करना चावल कूटना, आदि आदि।

कुटीर उद्योगों की समस्याएँ एवं उपाय

देश के श्रमिकों का लगभग ८५% भाग कुटीर उद्योग-धन्धों में व्यस्त है, अतः यह स्पष्ट है कि देश की आर्थिक व्यवस्था में इन उद्योग-धन्धों का कितना भारी महत्व है। समाज-सुधारक, राजनीतिज्ञ तथा अर्थशास्त्री निरन्तर इनकी उन्नति का चिन्तन कर रहे हैं और केन्द्रीय एवं प्रदेशीय सरकारों का ध्यान इस ओर आकर्षित करते रहते हैं। भारत में कुटीर उद्योगों के विकास के मार्ग में अनेकों बाधाएँ हैं। इस विषय पर बम्बई की औद्योगिक एवं आर्थिक समिति, राजकोषीय आयोग (फिस्कल कमीशन) ने अपनी विशद विवेचना दी है। इन सबके मतानुसार इन उद्योग-धन्धों को जिन समस्याओं का *सामना करना पड़ रहा है, वे निम्नलिखित हैं :—*

१. आवश्यक पूँजी की कमी—कुटीर उद्योग को चलाने वाले शिल्पकारों के समक्ष यथेष्ट मात्रा में पूँजी का नहीं मिलना सबसे प्रथम समस्या है। यद्यपि उन्हें थोड़ी ही पूँजी की आवश्यकता होती है, परन्तु यह भी उन्हें सुगमता से उपलब्ध नहीं हो पाती। विवशता में उन्हें बहुत ऊँची ब्याज-दर पर महाजनों से रुपया उधार लेना पड़ता है। इतना ही नहीं कुछ साहूकार तो कारीगरों से ऊँचा मूल्य लेकर उन्हें कच्चा माल देते हैं और कम मूल्य में कारीगरों द्वारा बना हुआ माल लेते हैं।

इस समस्या को हल करने के लिये 'केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति' ने यह मत प्रकट किया कि *कारीगरों को अपनी सहकारी समितियाँ स्थापित करनी चाहिए।* प्रान्तीय औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धक मण्डलों की स्थापना इस प्रयोजन को सिद्ध कर सकती है। उत्तर प्रदेश में इस दिशा में थोड़ा कार्य अवश्य हुआ है, जहाँ इस प्रकार का प्रान्तीय मण्डल स्थापित हो चुका है। मद्रास, बिहार, उड़ीसा तथा बंगाल में उद्योगों को सरकारी सहायता देने के सम्बन्ध में अधिनियम बनाये गये हैं।

२. उचित प्रकार के माल का अभाव—*हमारे कारीगरों को पर्याप्त* मात्रा में उचित मूल्य पर अच्छी किस्म का कच्चा माल भी साधारणतया नहीं मिल

पाता। विशेषकर, युद्धकाल और युद्धोपरान्त कच्चे माल के प्राप्त होने की कठिनाइयाँ बढ़ गई है।

कच्चे माल की समस्या को सहकारी समितियों द्वारा सुगमता से हल किया जा सकता है। यह समितियाँ थोक भाव पर माल खरीद कर अपने सदस्यों को कम मूल्य पर दे सकती है। इस सम्बन्ध मे उत्तर प्रदेशीय कुटीर उद्योग उप-समिति की सिफारिश सराहनीय है। उसके अनुसार ऐसी मिलों की संख्या मे वृद्धि की जाय जो केवल सूत तैयार करके हाथ से कपड़ा बुनने वालों की मांग की पूर्ति करे तथा जो मिले विद्यमान है व अपना तैयार किया हुआ सूत का कुछ भाग कारीगरों को भी बेचे।

३. कुटीर उद्योगो के अनुकूल मशीनो एव औजारो का अभाव—वैसे तो कुटीर उद्योगों मे मशीनो और औजारों की अधिक आवश्यकता नही होती, परन्तु कारीगर लोग इतने निर्धन हैं कि थोड़े से औजार भी उन्हें उपलब्ध नही हैं। अतः यह आवश्यक है कि उचित मूल्य मे तथा अच्छे किस्म के औजार उन्हें खरीदने का अवसर दिया जावे।

यह कार्य सहकारी समितियां द्वारा यथाविधि सम्पन्न किया जा सकता है। यदि वे चाहे तो अपने सदस्यो को औजार क्रय विक्रय (Hire-Purchase) पद्धति पर बेच सकती है। इसके अतिरिक्त इस बात की भी आवश्यकता है कि देश मे ही शीघ्र कुटीर उद्योगों के अनुकूल छोटी-छोटी मशीनों और औजारो का निर्माण प्रारम्भ किया जाय। बिजली का विकास एव प्रसार इस दिशा मे बड़ा लाभदायक सिद्ध होगा।

४. सगठित बाजारो की अनुपस्थिति—गृह उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं की बिक्री की व्यवस्था ठीक नहीं है। विक्रय-सगठन के अभाव मे उन्हे अपनी वस्तुओं का उचित मूल्य नही मिलता।

बिक्री का कार्य सरकारी अथवा सहकारी विक्रय समितियां द्वारा सामूहिक रूप से सफलतापूर्वक किया जा सकता है। उत्तर प्रदेश कुटीर-उद्योग समिति ने १९३७ मे केन्द्रीय विपणन (मार्केटिंग) सगठन स्थापित करने की अमूल्य सम्मति दी। प्रत्येक प्रान्त में विपणन मन्डल बनाकर उनकी शाखाएँ प्रत्येक गाँव मे खोलना आवश्यक है। आर्ट एण्ड क्राफ्ट एम्पोरियम लखनऊ, स्वदेशी स्टोर बम्बई तथा कॉमर्शियल म्यूजियम कलकत्ता जैसी सस्थाओ का कार्य इस दिशा मे अनुकरणीय है।

५. कुटीर कारीगरो मे सगठन का अभाव—सुव्यवस्थित सघो का अभाव हमारे वर्तमान कुटीर-उद्योगो की भारी कमजोरी है। बिना सुसगठित सघो के वे अपनी कठिनाइयों का उचित अधिकारियो के सम्मुख नही रख सकते और न अपना सुधार ही कर सकते हैं। अस्तु कुटीर कारीगरो को 'गिल्ड्स' के रूप मे सुसगठित किया जाय। इस प्रकार के सघ अर्थात् गिल्ड्स काश्मीर मे स्थापित हो चुके हैं। अन्य राज्यों मे भी इनका अनुकरण वाछनीय है।

६. विदेशी वस्तुओ के आयात और देश मे वृहद् उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओ की प्रतियोगिता—इस समय कुटीर उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं को विदेशो से आयात की हुई वस्तुओं और देश मे बड़े-बड़े कारखानों द्वारा निर्मित वस्तुओं से सामना करना पड़ता है। इसके लिये सबसे अच्छा सुझाव यह है कि आयात वस्तुओं की सूची की जाँच की जाय और उन वस्तुओ का आयात स्थगित कर दिया

जाय जो यहाँ कुटीर उद्योगों में प्राप्त हो सकती है तथा जिनके निर्माण के लिये देश में ही कुटीर उद्योगों का विकास हो सकता है। जिसमें हमारे कुटीर उद्योग आयात की हुई वस्तुओं की प्रतियोगिता में निर्भय हो जायें। जहाँ तक देश में ही वृहद् उद्योगों की प्रतियोगिता का प्रश्न है उत्पादन-कार्य क्रम इस प्रकार बनाया जाय कि कुछ उपभोग की वस्तुएँ केवल कुटीर-उद्योगों द्वारा ही बनाई जायँ और किसी विशेष वस्तु के उत्पादन को प्रारम्भ करने के लिये कुटीर उद्योगों को ही अवसर दिया जाय। इसके अतिरिक्त, किसी वस्तु के विभिन्न भाग तो कुटीर उद्योगों द्वारा बनाये जायँ और उनके संयोजन का कार्य बड़े कारखानों द्वारा कराया जाय।

७. उत्पादन स्तर एवं माल के किस्म की समस्या—कुटीर उत्पादन के स्तर एवं माल की किस्म में पर्याप्त सुधार की आवश्यकता है। इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिये हमें उत्पादन का प्रमापीकरण, नवीन कार्य प्रणाली, उत्तम औजारों का प्रयोग, सगठन में सुधार आदि बातों को अपनाना चाहिये। उत्पादन कला एवं डिजाइन्स में अनुसंधान द्वारा सुधार करना इन उद्योगों में भी उतना ही आवश्यक है जितना कि बड़े कारखानों में। इस कार्य के लिये राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ तथा अनुसंधानशालाएँ बड़ी सहायता प्रदान कर सकती है।

८. कुटीर उत्पत्ति के विज्ञापन का अभाव—कुटीर उत्पादकों के साधन इतने सीमित है कि वे अपनी वस्तुओं को विज्ञापित नहीं कर सकते जिससे उन्हें अपनी वस्तुओं का उचित मूल्य भी प्राप्त नहीं हो पाता। इस दयनीय दशा में उनकी सरकारी द्वारा सहायता वाञ्छनीय है। सरकारों को चाहिये कि कुटीर कारीगरों की वस्तुओं का उचित रीति से विज्ञापन हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये विक्रय आगार, एम्पोरियम आदि खोले जायें और औद्योगिक प्रदर्शनियों में तथा मेलों में कुटीर वस्तुओं का पर्याप्त प्रचार किया जाय।

९. कुटीर कारीगरों में शिक्षा का अभाव—अधिकांश कारीगर साधारण लिखना पढ़ना भी नहीं जानते। इस कारण उनमें नये तथा आकर्षक ढग से काम करने का विचार ही उत्पन्न नहीं होता। अस्तु, इस बात की आवश्यकता है कि कम से कम प्राइमरी शिक्षा तो अनिवार्य करदी जाय। अधिक से अधिक औद्योगिक शिक्षण सस्थाएँ स्थापित की जायें। गत वर्ष भारतवर्ष ने जापान से कुछ विशेषज्ञों को आमन्त्रित किया था जिसका उद्देश्य कुटीर उद्योगों में काम में लाये जाने वाली विभिन्न प्रकार की ५० मशीनों का उपयोग भारतीयों को सिखाना था।

१०. प्रदर्शन-कार्य एवं अनुसंधानशालाओं का अभाव—नये औजारों और डिजाइन्स आदि का प्रचार प्रदर्शन द्वारा भली भाँति हो सकता है। अनुसंधान-शालाओं के स्थापित होने से लोगों को इन वस्तुओं के उचित प्रयोग का परिज्ञान कराया जा सकता है। औद्योगिक आयोग ने सिफारिश की कि कारीगरों को व्यावसायिक शिक्षा देने के हेतु राज्य द्वारा प्रदर्शन-केन्द्र स्थापित किये जायें। जेलखानों और सुधार संस्थाओं में भी औद्योगिक शिल्पकला सिखलाई जाय जिससे कि कैदी जेल से छूटने पर कारीगर बन कर अपना जीवन निर्वाह कर सकें।

११. कुटीर कारीगरों की निरक्षरता, अज्ञानता एवं रूढ़िवादिता—निरक्षरता, अज्ञानता एवं रूढ़िवादिता अयोग्य मानवता का द्योतक है। सामान्य एवं कला-कौशल सम्बन्धी शिक्षा के प्रसार से अज्ञानता एवं सकीर्णता दूर की जा सकती है।

१२ संगठन एवं सहयोग का अभाव—वर्तमान समय में कुटीर उद्योग असंगठित अवस्था में हैं। इसीलिये उन्हें देशीय तथा विदेशीय प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। संगठन एवं सहयोग का अभाव केवल कुटीर उद्योगों में ही नहीं है अपितु लघु एवं कुटीर व्यवसायों और वृहद् व्यवसायों के मध्य भी है। अस्तु यह आवश्यक है कि वृहद् उद्योगों के लिये कच्चा माल गांवों में कुटीर एवं मध्यम आकार के व्यवसायों में तैयार होकर वृहद् उद्योगों में अन्तिम निर्माण के लिये आना चाहिये। इस प्रकार कुटीर एवं वृहद् उद्योगों के मध्य सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है।

१३ उत्पादन के हानिकारक एवं व्ययी ढंग—उत्पत्ति के अदक्ष एवं हानिकारक ढंग और उनके परिणाम स्वरूप उत्पत्ति की ऊंची लागत भारतीय कुटीर उद्योगों की एक दूसरी समस्या है। सस्ती बिजली के प्रयोग तथा शिल्पकारों के प्रशिक्षण से यह समस्या हल की जा सकती है। भारतवर्ष में विद्युत् शक्ति के प्राकृतिक साधन बहुत हैं। इसलिये यदि गांवों में भी छोटे-छोटे कुटीर उद्योग विद्युत् शक्ति से चलने लगें, तो कुटीर उद्योगों की वस्तुएँ सस्ती और अल्प परिश्रम से बन सकती हैं। साथ ही साथ कारीगरों को उत्पादन के आधुनिक ढंगों से परिचित किया जाना चाहिये। नवीन ढंगों से उत्पादन व्यय को कम करने के प्रयत्न किये जाने चाहिये।

१४ सरकार द्वारा संरक्षण एवं प्रोत्साहन का अभाव—भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने तक ब्रिटिश शासन भारतीय कुटीर धंधों के प्रति उदासीन ही रहा। इसके परिणाम स्वरूप भारतीय कुटीर उद्योगों की दुर्व्यवस्था हो गई। अब देशों में सरकार द्वारा कुटीर व्यवसायों की उन्नति के लिये विशेष प्रयत्न किये जाते हैं। आस्ट्रेलिया, इंगलैंड, जापान, बवेरिया और बेल्जियम इसके कुछ उदाहरण हैं। जापान सरकार तो इस ओर सदैव से ही सहायता देती रही है। अब भारत सरकार द्वारा भी इस ओर समुचित कदम उठाये जा रहे हैं।

कुटीर उद्योग एवं सरकार—छोटे पैमाने के उद्योगों का संगठन करने का दायित्व प्रधानतः राज्य सरकारों पर है। उनकी सहायता के लिये केन्द्रीय सरकार ने निम्न संगठन स्थापित किये हैं: अखिल भारतीय खादी तथा ग्रामोद्योग मण्डल, लघु उद्योग मण्डल, नारियल जटा मण्डल तथा केन्द्रीय रेशम मण्डल। सन् १९५३-५८ में छोटे पैमाने के उद्योगों के विकास के लिये राज्य सरकारों के लिये ३३० करोड़ रु० के ऋणों तथा १ १० करोड़ रु० के अनुदानों की स्वीकृति दी गई है। अब तक ७२ औद्योगिक बस्तियों की स्थापना के लिये स्वीकृति दी जा चुकी है जिनमें से सितम्बर १९५८ तक ७७ औद्योगिक बस्तियों के लिये योजना में निर्धारित राशि १० करोड़ रु० से बढ़ाकर १५ करोड़ रु० कर दी गई है। केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक विस्तार सेवा के नाम से छोटे उद्योगों को प्राविधिक सहायता देने का एक कार्यक्रम आरम्भ कर दिया है। दस्तकारी की वस्तुओं के उत्पादन में सुधार करने तथा उनकी बिक्री की व्यवस्था के लिये १९५२ में स्थापित अखिल भारतीय दस्तकारी मण्डल ने देश तथा विदेश दोनों स्थानों में विशेष रूप से ध्यान दिया है। इस मण्डल के निर्यात प्रोत्साहन सम्बन्धी कुछ कार्यों के लिये भारतीय दस्तकारी विकास निगम स्थापित किया जा चुका है। विभिन्न राज्यों में दस्तकारी सप्ताह मनाये जाते हैं। प्रतिवर्ष १ अरब रुपये के मूल्य का उत्पादन होने का अनुमान लगाया गया है और प्रतिवर्ष १ अरब रु० के मूल्य की वस्तुओं का निर्यात किया जाता है।

फोर्ड फाउण्डेशन—कुटीर उद्योगों की आर्थिक एवं शिल्पिक दशा को सुधारने के लिये फोर्ड फाउण्डेशन के नेतृत्व में एक शिल्पिक समिति बुलाई गई थी जिसकी सिफारिशों के अनुसार शिल्पिक सुविधाओं का कार्यक्रम केन्द्रीय सरकार ने बनाया है। इस कार्यक्रम के अनुसार क्षेत्रीय इन्स्टीट्यूटों की स्थापना क्रमशः बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और दिल्ली में की गई है। इनकी चार शाखाएँ होंगी जिनमें से एक शाखा की स्थापना त्रिवेन्द्रम में की गई है। इन शाखाओं में शिल्पिक सुविधाएँ देने के लिये विदेशी विशेषज्ञ कार्य कर रहे हैं।

राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम (National Small-Scale Corporation)—भारत सरकार ने फरवरी १९५५ में राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम की स्थापना की है जिसका उद्देश्य लघु-उद्योगों की उन्नति करना, उनका संरक्षण, आर्थिक सहायता तथा अन्य सहायता देना है। निगम की पूँजी १० लाख रुपये है जो १०,००० अंशों में विभाजित है। यह निगम केवल ऐसे लघु-उद्योगों की सहायता देगा जो शक्ति का प्रयोग करते हों, परन्तु उनमें १०० से अधिक व्यक्ति काम न करते हों तथा उनकी पूँजी ५ लाख रु० से अधिक न हो। इस निगम के चार प्रमुख विभाग हैं—(१) सरकारी खरीद विभाग, (२) किस्तों द्वारा खरीद विभाग, (३) हाट-व्यवस्था विभाग और (४) औद्योगिक बस्ती विभाग। हाट-व्यवस्था विभाग की ओर से दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में बिक्री गाड़ियाँ चलाई जा रही हैं। ये गाड़ियाँ निश्चित मार्गों पर चलती हैं और इनमें लघु उद्योगों द्वारा बनाई गई ३०० से अधिक चीजें होती हैं। राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम के बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली और मद्रास में चार सहायक निगम खोले गये हैं।

पंचवर्षीय योजनायें और कुटीर उद्योग—द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कुटीर एवं लघु-उद्योगों के विकास के लिये २०० करोड़ रु० का आयोजन है जबकि प्रथम पंचवर्षीय योजना में १५ करोड़ रु० का आयोजन प्रारम्भ में किया गया था यद्यपि वास्तव में ३१.२ करोड़ रु० सन् १९५१–५६ तक खर्च किये गये।

राज्य सरकार के प्रतिनिधियों का सम्मेलन नई दिल्ली में १ जुलाई, १९५२ ई० में हुआ जिसमें यह निश्चय किया गया कि यह प्रतिनिधि सम्मेलन अर्धवार्षिक हुआ करे जिसमें कुटीर एवं लघु व्यवसायों के विकास के विविध पहलुओं पर विचार किया जाय और कुटीर उद्योग बोर्ड की सिफारिशों के अनुसार कार्य की प्रगति पर दृष्टि डाली जाय।

भारतवर्ष में फैक्टरी उद्योग अथवा कुटीर उद्योग (Factory Versus Cottage Industries in India)—आधुनिक उत्पादन-व्यवस्था द्वारा होने वाले विविध लाभों से कभी-कभी यह भ्रम हो जाता है कि लघु एवं कुटीर उद्योग इसके मुकाबले में किस प्रकार स्थिर रह सकते हैं। भारतवर्ष में गाँधी-विचार-धारा वाले इसमें अविश्वास प्रकट करते हैं। दूसरी ओर वर्तमान विचारधारा वाले केवल गहरे औद्योगीकरण में ही विश्वास रखते हैं।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि कुछ उद्योग-धन्धे ऐसे हैं जो छोटे पैमाने पर ही सलाभ चलाये जा सकते हैं और जिनके लिये मशीनों का प्रयोग अनुपयुक्त है।

उदाहरणार्थ

(१) वे उद्योग-धन्धे जिनमें मशीनों का उपयोग बिल्कुल नहीं होता। जैसे बीड़ी बाँधने का धंधा आदि।

(२) वे उद्योग धन्धे जिनमें उच्च श्रेणी की कला की आवश्यकता होती है। जैसे जरी, बेल बूटे व कढ़ाई का काम, चित्रकारी आदि।

(३) वे उद्योग-धन्धे जिनमें व्यक्तिगत इच्छाओं और रुचियों का ध्यान रखा जाता है। उदाहरण के लिये, दर्जी का धन्धा, मीनाकारों का काम आदि।

(४) वे उद्योग धन्धे जो प्रयोगात्मक अवस्था (Experimental Stage) में हैं। उदाहरणार्थ, अमरिका में फोर्ड मोटर का कारखाना प्रारम्भ में छोटे पैमाने पर ही स्थापित हुआ था।

(५) वे उद्योग-धन्धे जिनमें व्यक्तिगत देख रेख की आवश्यकता होती है, जैसे दर्जी व हलवाई का काम।

(६) वे उद्योग धन्धे जिनके द्वारा तैयार की हुई वस्तुओं की माँग बहुत सीमित या अनिश्चित हो, जैसे जवाहरात का काम।

(७) वे उद्योग धंधे जो बड़े कारखानों के साथ-साथ सहायक धन्धों के रूप में आवश्यक होते हैं, जैसे मशीनों की मरम्मत का काम।

(८) वे उद्योग धंधे जिनमें कारीगर स्वतन्त्रतापूर्वक अपने अनुकूल वातावरण में काम करना चाहते हैं।

इसके विपरीत कई उद्योग-धंधे ऐसे हैं जो बड़े पैमाने की उत्पत्ति और मशीनों के प्रयोग के लिये उपयुक्त है और जिनका छोटे पैमाने पर यन्त्र रहित चलाना असम्भव या हानिकारक होता है।

उदाहरणार्थ

(१) रेल, मोटर, जहाज आदि बनाने के कारखाने।

(२) जल-विद्युत् उत्पन्न करने के कारखाने।

(३) लोहा और इस्पात आदि के आधारभूत कारखाने।

(४) देश रक्षा के आवश्यक उद्योग धन्धे, जैसे गोला, बारूद, शस्त्र बनाने के कारखाने।

(५) यातायात उद्योग, जैसे रेल चलाने का कार्य।

(६) वे उद्योग-धंधे जिनके द्वारा निर्मित वस्तुओं की माँग विस्तृत हो, जैसे वस्त्र उद्योग आदि।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि लघु एवं कुटीर व्यवसायों का हमारे देश की आर्थिक-व्यवस्था में एक विशिष्ट स्थान है और रहेगा। इनके द्वारा लाखों मनुष्यों का जीवन-निर्वाह होता है। बड़े कारखानों के चलाने के लिये पर्याप्त पूँजी की आवश्यकता होती है, परन्तु हमारे देश में इसका पूर्ण अभाव है। अस्तु, थोड़ी-थोड़ी पूँजी की आवश्यकता वाले छोटे कारखाने ही परिस्थिति के अनुकूल लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं। हमारे यहाँ जनसंख्या अत्यधिक है और निर्धनता सर्वव्यापी है, अतः मनुष्यों को काम-धन्धे देने के लिये विविध कुटीर उद्योगों की स्थापना वाञ्छनीय है। यांत्रिक उत्पत्ति के फलस्वरूप जो भी बेकार होंगे वे कुटीर उद्योग-धन्धे में लगाये जा सकेंगे। इन सबके उपरान्त, बड़े परिमाण की उत्पत्ति की कुछ सीमाएँ (Limitations) हैं जिनके कारण उत्पादन के परिमाण में किसी असीमित अवस्था तक वृद्धि होना सम्भव नहीं है। संक्षेप में, लघु एवं बृहद् उद्योगों का अपना पृथक्-पृथक् क्षेत्र है। वे एक दूसरे के प्रतियोगी न होकर सहयोगी एवं पूरक हैं। अस्तु, हमारे देश में दोनों का एक साथ विकास नितान्त आवश्यक है। इङ्गलैंड, संयुक्त-राज्य-अमरिका, फ्रांस, जर्मनी, जापान आदि

औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशो मे जो इन उद्योगो का महत्त्वपूर्ण स्थान है वह इस बात को और भी स्पष्ट एव पुष्ट कर देता है।

निष्कर्ष—हमारे देश मे जनसख्या अत्यधिक है तथा यहाँ पूँजी और औद्योगिक मशीनों एव विशेषज्ञों का अभाव है। यहाँ के कारीगरो मे सैंकडो वर्षों की जीवित कला-परम्परा भी है। इसलिये भारत मे कुटीर उद्योगो का विकास अत्यन्त आवश्यक है तथा उपयोगी सिद्ध होगा। कारीगरो के व्यक्तित्व के विकास तथा स्वास्थ्य के लिये भी गृह-उद्योग हितकर है अतएव राज्य तथा जनता के परस्पर सहयोग से कुटीर उद्योगो के विकास के लिये राष्ट्रव्यापी योजना बनाई जाकर कार्यान्वित होनी चाहिये जिससे हमारे देश के मृतप्राय गृह-उद्योग पुन. जी उठें और लाखो बेकार कारीगरो का भरण-पोषण हो सके। साथ ही चीन की भाँति 'इण्डस्को' (Indusco) औद्योगिक सहकारी समितियां स्थापित की जायें जिससे हमारे कुटीर उद्योगो की कई समस्याएँ हल हो सकेंगी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्टस् परीक्षाएँ

१—उत्तर प्रदेश के कुटीर उद्योग-धन्धो पर एक टिप्पणी लिखिये। उनकी उन्नति के लिये प्रदेश सरकार क्या-क्या प्रयत्न कर रही है? (१९५७)

२—हमारे देश के आर्थिक जीवन मे कुटीर उद्योगो का क्या महत्व है? उनके विकास तथा उन्नति के लिये आप क्या सुझाव पेश करेंगे? (रा० बो० १९६०, ५७)

३—बडे उद्योगो के होड करने पर भी भारतीय कुटीर उद्योग क्यों तथा कैसे जीवित रहे? प्रकाश डालिये। (अ० बो० १९५७)

४—भारत मे कुटीर उद्योगो को जीवित रखने की क्या सम्भावनाएँ और कठिनाइयां है? (पटना १९५२, अ० बो० १९५२)

५—भारत मे कुटीर उद्योगो की अवनति के कारण बताइये और उनके सुधार के सुझाव दीजिए। (म० भा० १९५२)

६—क्या आप भारत में बडे पैमाने के उद्योगो के और अधिक विकास के पक्ष मे है? कुटीर उद्योगो और व्यावसायिक श्रम पर इसके क्या प्रभाव होंगे? (दिल्ली हा० से० १९४९)

अध्याय ४५

भारतवर्ष के वृहद् उद्योग

(Large-Scale Industries in India)

'उद्योग व्यापार की आत्मा है और समृद्धि की आधार शिला है।'

—रॉबर्ट ब्लेक

ऐतिहासिक परिचय—हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि प्राचीन समय में भारत अपनी औद्योगिक उन्नति के लिये प्रसिद्ध था। परन्तु यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के फलस्वरूप मशीनों से बहुत सस्ता माल बनने लगा जिसके कारण भारतीय गृह-उद्योगों पर बड़ा आघात पहुँचा। अब भारत को पाश्चात्य ढंग पर बड़े बड़े कल-कारखाने स्थापित करने पड़े। अंग्रेजों के लिये भारत कच्चा माल खरीदने और अंग्रेजी कारखानों का तैयार माल बेचने के लिये अच्छा बाजार था। इसलिये वे भारत में औद्योगीकरण के विरुद्ध रहे जिसके कारण इन उद्योगों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। भारतीय उद्योगों को प्रथम व द्वितीय विश्व महायुद्धों में अधिक प्रोत्साहन मिला जिसके कारण आज कुछ उन्नति दृष्टिगोचर होती है। इस समय भारत में सूती वस्त्र, जूट शक्कर लोहे व फौलाद, सीमेंट आदि के बड़े बड़े कारखाने हैं जिनका विस्तृत विवरण नीचे दिया गया है।

औद्योगीकरण की आवश्यकता एवं लाभ (Need and Benefits of Industrialization)—जनसंख्या का कृषि पर अत्यधिक अवलम्बन भारतीय आर्थिक जीवन की बड़ी भारी कमी है। यहाँ उद्योगों का अभाव है। इसके फलस्वरूप भारतीय अर्थ व्यवस्था सन्तुलित एवं स्थिर नहीं है। अस्तु, अभीष्ट सन्तुलन की प्राप्ति के लिए देश में शीघ्र औद्योगिक विकास अत्यावश्यक है। देश की दरिद्रता दूर करने तथा देशवासियों का जीवन-स्तर ऊँचा उठाने के लिये भी यह कम आवश्यक नहीं है। देश की नव प्राप्त स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उद्योगों का विकास और भी आवश्यक है।

औद्योगिक आयोग (१९१६-१८) के शब्दों में औद्योगीकरण के लाभ सन्निहित हैं। "औद्योगिक विकास देश के लिये बड़ा हितकर सिद्ध होगा, क्योंकि इससे धन के नवीन साधन प्रस्तुत होंगे, पूँजी के संचय में वृद्धि होगी, राज्य की आय बढ़ेगी, श्रम को अधिक लाभदायक काम मिलेगा, कृषि के अस्थिर लाभों पर देश का अत्यधिक अवलम्बन कम हो जायगा और अन्त में राष्ट्रीय जीवन को प्रोत्साहन मिलेगा तथा राष्ट्रीय चरित्र का विकास होगा।"[१]

भारतीय औद्योगिक अवनति के कारण (Causes of Industrial Backwardness of India)—भारतवर्ष में राष्ट्रव्यापी दरिद्रता, न्यूनतम जीवन-स्तर, अत्यधिक जनसंख्या आदि कुछ ऐसी बातें हैं जिनका अस्तित्व हमारी औद्योगिक

१—*Report of Industrial Commission (1916—18)*

अवनति में सन्निहित है। यहाँ हम भारतीय औद्योगिक अवनति के कुछ कारणों पर दृष्टिपात करेंगे :—

१. प्रेरक शक्ति के अपर्याप्त साधन—यद्यपि भारतवर्ष प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से सम्पन्न है, परन्तु कोयले और तेल की दृष्टि से स्थिति असन्तोषजनक है। जल शक्ति का अभी पूर्ण विकास नहीं हुआ है।

२. उत्कृष्ट कच्चे माल का अभाव—कई कारखानों को चलाने के लिये उच्च कोटि का कच्चा माल उपलब्ध नहीं होता है। जैसे, वस्त्र उद्योग के लिये अच्छे किस्म की रुई उपलब्ध नहीं होती। चीनी के उद्योग के मार्ग में गन्ने की प्रति एकड़ कम उपज और किस्म की खराबी बड़े अवरोधक हैं।

३. अनिपुण मानव शक्ति—अन्य उन्नत देशों की अपेक्षा हमारे यहाँ की मानव शक्ति (Man Power) कम निपुण है। इसका कारण साधारण एवं विशिष्ट ज्ञान का अभाव है।

४. पूँजी के अपर्याप्त साधन—भारतवर्ष में बड़े-बड़े कारखाने स्थापित करने के लिये पर्याप्त पूँजी उपलब्ध नहीं है। विदेशी पूँजी से औद्योगीकरण खतरे से खाली नहीं है।

५. योग्य संगठनकर्त्ताओं और साहसियों का अभाव—श्री पिलाई के अनुसार "देश को सर्वोच्च आवश्यकता प्रबन्धकों, मार्गदर्शकों और साहसियों की है।" प्रो० मार्शल ने बहुत समय पूर्व लिखा था कि "यदि भारतवर्ष में टाटा जैसे एक या दो कोड़ी व्यक्ति और जापानियों जैसे कुछ हजार उत्साही मनुष्य हों, तो यह शीघ्र ही एक बड़ा राष्ट्र बन जायगा।"

६. घातक निर्बाध नीति—सन् १९२३ तक ब्रिटिश शासन की निर्बाध नीति (Laissez Faire Policy) भारतीय औद्योगिक विकास के लिये घातक सिद्ध हुई। इसके पश्चात उनकी संरक्षण की नीति भी असन्तोषजनक ही रही।

७. दूषित रेल भाड़ा नीति—अंग्रेजों के राज्य तक हमारी रेलों की किराया नीति भारतीय उद्योगों के लिए घातक ही रही। इसमें विदेशी माल को प्रोत्साहन मिलता रहा।

८. सुव्यवस्थित बाजारों का अभाव—माल की बिक्री के लिये सुव्यवस्थित बाजारों का होना आवश्यक है। इस व्यवस्था से औद्योगीकरण को प्रोत्साहन मिलता है।

९. विज्ञापन के दूषित ढंग—वास्तव में देखा जाय तो भारतवर्ष में विज्ञापन कला में सुशिक्षित व्यक्तियों का अभाव है। आधुनिक व्यापार एवं औद्योगिक विकास इस ही पर स्थिर है।

१०. आधारभूत उद्योगों का अभाव—हमारे यहाँ अधिकतर उपभोक्ताओं की वस्तुओं के निर्माण करने वाले कारखानों का ही विकास होता है। आधारभूत उद्योगों (Key Industries) में केवल लोहे और फौलाद व सीमेन्ट के उद्योगों ने थोड़ी उन्नति की है। रसायन, बिजली का सामान, औजार, हवाई जहाज, मोटर आदि के कारखानों का पूर्ण अभाव है।

११. विदेशों पर आश्रितता—हमें मशीनों, रसायन, औजारों आदि वस्तुओं के लिये विदेशों पर आश्रित रहना पड़ता है। यह परिस्थिति अवाञ्छनीय है।

१२ योजना-रहित उद्योगों का विकास—हमारे यहाँ के उद्योग देश में ठीक प्रकार नहीं फैले हुए हैं। अधिकतर कारखाने बम्बई, पश्चिमी बंगाल, बिहार आदि में ही केन्द्रित हैं।

१३ सहायक उद्योगों का अभाव—उप-उत्पत्ति (By-Product) के सदुपयोग के लिये सहायक धन्धे आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त, ये सैकड़ों श्रमिकों के जीवन यापन के साधन हो सकते हैं।

औद्योगिक विकास के उपाय (Measures for Industrial (Development)—औद्योगिक अवनति के कारणों को दूर कर विकास की ओर ले जाने वाले कुछ उपाय नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं :—

(१) सरकार द्वारा अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा, (२) औद्योगिक विकास की योजना (Plan) तैयार कर कार्यान्वित करना, (३) आधारभूत उद्योगों के विकास को प्राथमिकता देना, (४) साधारण एवं तान्त्रिक (Technical) शिक्षा की व्यवस्था करना, (५) औद्योगिक अर्थ प्रबन्धन (Industrial Finance) का समुचित प्रबंध करना (६) विभेदक संरक्षण (Discriminating Protection) नीति को अपनाना, (७) रेल भाड़ा नीति में उचित परिवर्तन करना, (८) जल विद्युत् साधनों का यथेष्ट विकास करना, (९) सरकार की स्टोर-क्रय नीति में सुधार करना, (१०) औद्योगिक प्रदर्शनियों की व्यवस्था करना, (११) बैंक सम्बन्धी सुविधाओं का अधिक प्रसार करना, (१२) राज्य द्वारा औद्योगिक अनुसन्धान एवं प्रयोगशालाओं को प्रोत्साहन तथा आर्थिक सहायता मिलना, (१३) औद्योगिक श्रम की दशा में सुधार करना, (१४) प्रबन्ध अभिकर्तृत्व प्रणाली (Managing Agency System) में आवश्यक सुधार करना।

भारत के प्रमुख वृहद उद्योग

सूती वस्त्र उद्योग (Cotton Textile Industry)—यह भारत का सबसे प्रमुख उद्योग है। सन् १८१८ ई० में सबसे पहले कलकत्ते के समीप फोर्ट ग्लॉस्टर (Fort Gloster) में एक सूती कपड़े की मिल चालू की गई। पर कलकत्ता सूती कपड़े के लिये उपयुक्त स्थान न था। इस कारण बम्बई में सूती कपड़े की मिल सन् १८५४ ई० में चालू हुई। शीघ्र ही यह उद्योग पूँजी और यातायात की सुविधाओं के कारण बम्बई प्रान्त में केन्द्रित हो गया। सन् १८७७ ई० के पश्चात् नागपुर, अहमदाबाद और शोलापुर के कपास उत्पन्न करने वाले क्षेत्रों में भी कपड़ा मिल उद्योग विकसित होने लगा। बाद में स्वदेशी आन्दोलन ने इसे अन्य प्रान्तों में बढ़ने में सहायता दी। शीघ्र ही सूरत, बड़ौदा, जलगाँव, इन्दौर, भड़ौच, दिल्ली, मद्रास, कोयम्बटूर, मदुरा आदि नगर कपड़ा मिल उद्योग के केन्द्र बन गये। इस उद्योग को सन् १८९५ से १९०६ तक प्लेग, अमेरिकन रुई के मूल्य में वृद्धि होने तथा चीन के बाजार में गड़बड़ हो जाने के कारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सन् १९०७ के पश्चात् सामान्यतया यह उद्योग उन्नति की ओर अग्रसर रहा और प्रथम महायुद्ध के समय में तो इस उद्योग ने बड़ी उन्नति की। सन् १९२५ के पश्चात् सार्वभौम मन्दी, भीषण जापानी प्रतियोगिता और ऊँचे स्थानीय करों के कारण इस उद्योग को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सन् १९२७ ई० में इसे संरक्षण (Protection) दिया गया और सन् १९३० ई० में इस विशेषकर जापानी कपड़े के लिये और बढ़ा

दिया। द्वितीय महायुद्ध ने पुन कपडा मिल उद्योग को विस्तार का स्वर्ण अवसर प्रदान किया।

सन् १९५६ के आरम्भ मे ४८२ सूती वस्त्र मिलें (१८८ सूत बनाने वाली और २९४ मिश्रित) जिनमें १३४'१ लाख तकुओं और २'०१ लाख करघा पर काम हो रहा था, अक्टूबर १९५६ मे मिला की सख्या घट कर ४७६ (१८७+२६२) हो गई। इनमे लगभग १२२ करोड रु० का विनियोग हुआ है तथा लगभग ८'६ लाख मजदूर काम कर रहे है। सन् १९५६ मे १'७२ अरब पौंड सूत तथा ४ अरब ९२ लाख ७० हजार गज वस्त्र उत्पन्न हुआ।

भारत इस समय ससार के प्रमुख कपडा बनाने वाले देशो मे से है। रुई की खपत के अनुसार इसका चौथा स्थान है। फिर भी हमारी औसत प्रति व्यक्ति कपडे की खपत केवल १२ गज है जोकि अन्य देशो की तुलना मे बहुत कम है।

सूत एव सूती वस्त्र का उत्पादन

वर्ष	सूत (लाख पौंड)	सूती वस्त्र (लाख पौंड)
१९४७	१२,९६०	३७,६२०
१९५०	११,७५०	३६,३७०
१९५५	१६,३०८	५०,९४०
१९५६	१६,७१२	५३,०६६
१९५७	१७,८०१	५३,१७४
१९५८	१६,८५४	४९,२७०
१९५९	१७,१८८	५०,९४०

योजना और मिल-वस्त्र उद्योग—प्रथम पचवर्षीय योजना मे ५२,००० लाख गज कपडा और १६,००० लाख पौंड सूत का उत्पादन हुआ जबकि दूसरी योजना मे १९,५०० लाख पौंड सूत और ८२,००० लाख गज (१८ गज प्रति व्यक्ति) कपड़े के उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित है।

जूट उद्योग (Jute Industry)—भारत का दूसरा महत्वपूर्ण उद्योग जूट का है। ससार का अधिकाश जूट पूर्वी बगाल मे होता है। अतएव जूट की मिलें सब कलकत्ते मे या कलकत्ते के समीप हुगली नदी के किनारे पर ४० मील के घेरे मे स्थित है।

सन् १८५५ ई० मे सीरामपुर के निकट रिशरा म एक अंग्रेज ने पहला जूट का कारखाना (Jute Spinning Mill) स्थापित किया। चार वर्ष पश्चात् अर्थात् सन् १८५९ ई० मे सबसे प्रथम शक्ति द्वारा प्रेरित करघो (Power Looms) का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। पहले तीस वर्षो मे इस उद्योग की मंद गति रही, परन्तु प्रथम विश्व महायुद्ध मे इसको बडा प्रोत्साहन मिला। सन् १९२९-३० की मंदी ने इसे खदेड दिया, परन्तु सन् १९३४-३६ मे इसकी स्थिति मे कुछ सुधार हो गया। द्वितीय विश्व महायुद्ध ने पुन. इसे अनुपम लाभ प्रदान किया। इस उद्योग ने बिना सरक्षण के उन्नति की।
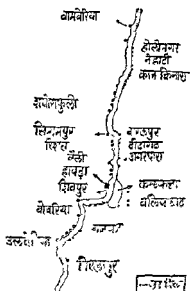
हुगली नदी के किनारे जूट मिल

प्रारम्भ मे जूट उद्योग पर यूरोपियन पूंजीपतियो का एकाधिपत्य था परन्तु भारत स्वतन्त्र होने के पश्चात् जूट मिलें भारतवासियो के हाथ म आगई है। देश के विभाजन से इस उद्योग को बडा धक्का पहुँचा है। हमारे जूट का दो तिहाई उत्पादन क्षेत्र पाकिस्तान मे चला गया, जबकि जूट के सारे कारखाने भारतवर्ष म है। भारतीय रुपये के अवमूल्यन (Devaluation) और पाकिस्तान के अपने रुपये की दर न घटाने से भीषण गतिरोध उत्पन्न हो गया जो १६ महीने तक जारी रहा। फरवरी १९५१ मे भारत और पाकिस्तान के मध्य व्यापारिक समझौता होने से अब पाकिस्तान से जूट का आयात प्रारम्भ हो गया है।

भारत म जूट का उद्योग सबसे अधिक सगठित है। इण्डियन जूट मिल्स एसोसियेशन (I. J. M. A.) इस उद्योग की उन्नति के लिये प्रयत्नशील है। भारत म इस समय ११२ जूट मिल हैं जिनमे १०१ मिल कलकत्ता म हुगली नदी के तट पर स्थित हैं शेष ११ भारतीय बगाल व अन्य राज्यो म है। सन् १९५६ के आँकडो के अनुसार इसमे ८३.३ करोड रुपये की पूँजी लगी हुई है। इस उद्योग मे लगभग ३ लाख व्यक्ति कार्य-सलग्न है। सन् १९५०-५१ म लगभग १२८ करोड रुपये का जूट विदेशो को भेजा गया। जूट मिलो का वार्षिक उत्पादन १७० करोड रु० है।

जूट उद्योग का भविष्य बडा अनिश्चित है। भारतीय जूट मिले अधिकतर कच्चे माल के लिये पाकिस्तान पर निर्भर हैं। अस्तु, भारत मे अधिकाधिक जूट उत्पादन का प्रयत्न होना चाहिये। सन् १९५० मे जूट का उत्पादन ८ लाख ३६ हजार टन था। हाल ही मे सरकार ने पश्चिमी बगाल, आसाम, बिहार और उत्तर प्रदेश मे जूट की खेती के विस्तार के लिये २९ लाख रुपये की राशि स्वीकृति की है।

जूट द्वारा निर्मित माल का उत्पादन

वर्ष	उत्पादन (हजार टनों में)
१६४७	१,०५२
१६५०	८३६
१६५५	१ ०२७
१६५६	१,०६३
१६५७	१,०३०
१६५८	१,०६२
१६५६	१ ०५२

पुरानी एव घिसी हुई मशीनें इस उद्योग की भारी कमजोरी है। केन्द्रीय सरकार ने राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation) के द्वारा इस उद्योग के नवकरण के लिये ४·५६ करोड रु० का ऋण देना निश्चित किया है।

जूट उद्योग और योजना—प्रथम पचवर्षीय योजना म जूट की वस्तुओं का उत्पादन १० लाख टन रहा जबकि दूसरी योजना म १२ लाख टन जूट की वस्तुओं का लक्ष्य रखा गया है।

लोहे और इस्पात का उद्योग (Iron & Steel Industry)—

लोहे और इस्पात का उद्योग सभी उद्योगों का आधार स्तम्भ है। भारतवर्ष का यह एक पुराना उद्योग है। दिल्ली के पास का लोहे का स्तम्भ १५०० वर्ष पुराना बताया जाता है। यह स्तम्भ इस बात का प्रमाण है कि अतीत काल म भारतवासियों ने लोहे और फौलाद के उद्योग में बहुत दक्षता प्राप्त कर ली थी। हमारे देश में लोहे का मशीन उद्योग बहुत देर म प्रारम्भ हुआ क्योंकि अंग्रेजी सरकार चाहती थी कि इगलैंड में बनी लोहे की वस्तुओं के लिये भारत मे स्थान रहे। सन् १८७४ ई० मे सबसे प्रथम भरिया की कोयले की खानों के समीप बराकर आयरन वर्क्स (Bengal Iron Steel Co.) ने आधुनिक ढग से लोहा बनाना प्रारम्भ किया था। सन् १८८६ मे इस कारखाने को बगाल आयरन स्टील (Bengal Iron Steel Co.) ने ले लिया। सन् १६०० ई० मे इसके द्वारा ३५ हजार टन कच्चा लोहा (Pig-iron) तैयार हुआ, परन्तु इस इस्पात अर्थात् फौलाद (Steel) के बनाने मे सफलता नहीं मिली। सन् १६०७ मे

स्वर्गीय जमशेदजी टाटा ने, बिहार के सिंघभूम जिले के साक्ची (Sakchi) नामक स्थान में, जो बाद में जमशेदपुर (Jamshedpur) के नाम से विख्यात हुआ, प्रसिद्ध टाटा आयरन एण्ड स्टील वर्क्स (Tata Iron & Steel Works) की स्थापना की।

देश की बढ़ती हुई माँग से प्रेरित एवं टाटा कम्पनी की सफलता से प्रोत्साहित होकर अन्य कम्पनियों ने भी लोहे के कारखाने खोले। इस समय भारत में निम्नलिखित मुख्य लोहे व फौलाद के कारखाने हैं —

(१) टाटा आयरन एण्ड स्टील क०, जमशेदपुर (Tata Iron & Steel Co. Jamshedpur) (TISCO)

(२) बंगाल आयरन कम्पनी लि०, हीरापुर (Bengal Iron Co. Ltd., Hirapur)

(३) इण्डियन आयरन एण्ड स्टील क० लि०, बसुपुर (आसनसोल के निकट) (Indian Iron & Steel Co. Ltd., Basupur Near Asansol)(IISCO)

(४) युनाइटेड स्टील कॉरपोरेशन, मनोहरपुर (United Steel Corporation Manoharpur)

(५) मैसूर स्टेट आयरन वर्क्स, भद्रावती (Mysore Iron & Steel Co., Bhadravati) (MISCO)

इनके अतिरिक्त बंगाल के आस-पास कुछ और छोटे-छोटे लोहे के कारखाने हैं।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् प्रतियोगिता के कारण मंदी का झोंका आया जिसके कारण संरक्षण के लिये प्रार्थी बनना पड़ा। सन् १६२४ ई० में ३ वर्ष के लिये इस उद्योग को संरक्षण दिया गया। फिर सन् १६२७ ई० में ७ वर्ष के लिये संरक्षण बढ़ा दिया गया, परन्तु अब आर्थिक सहायता न देकर विदेशी माल पर आयात-कर लगा दिया गया है। द्वितीय महायुद्ध से इसे और भी प्रोत्साहन मिला। विदेशों के बड़-बड़े आर्डरों ने लोहे और इस्पात के उद्योग को खूब बढ़ाया। देश में ढालिंग फैक्टरियाँ और इंजीनियरिंग के कारखानों के खुलने से भारतीय लोहे और इस्पात की माँग और भी बढ़ गई। सन् १६५०-५१ में लोहे और इस्पात का उत्पादन ३५,८५,१३५ टन था।

टाटा का लोहे व फौलाद का कारखाना एशिया में सर्वश्रेष्ठ है। इसमें रेल की पटरी, मकानों के लिये लोहे के गर्डर आदि बड़ी-बड़ी वस्तुएँ बनती हैं। हाल ही में टाटा के पहिये, एक्सिल आदि बनाने के लिये नई मशीनें लगाई हैं। स्टील कार्पोरेशन ऑफ बंगाल (SCOB) ने जिसकी स्थापना सन् १६३७ में हुई थी, अपने कारखाना का खूब विस्तार किया है।

इस उद्योग में २५ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है, ६ लाख व्यक्ति इसमें अपनी आजीविका कमाते हैं तथा सरकार को कर आदि के रूप में इससे ८ लाख रुपया प्राप्त होता है। यहाँ यह दुहराना अनावश्यक न होगा कि लोहे व इस्पात का उद्योग सबसे बड़ा आधारभूत धंधा है। देश की आर्थिक उन्नति इसी पर अवलम्बित है। इसने थोड़े ही समय में इतनी आश्चर्यजनक उन्नति करली। फिर भी इस उद्योग के विस्तार की बहुत आवश्यकता है। बड़ी-बड़ी मशीनें, औजार तथा बढ़िया इस्पात का सामान हम आज भी बाहर से मँगाना पड़ता है। इतना ही नहीं, हमारे देश का

उत्पादन अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम अर्थात् नहीं के बराबर है। संयुक्त-राज्य अमेरिका में इस समय १० करोड़ टन तथा ब्रिटेन में ६ करोड़ ५० लाख टन फौलाद तैयार होता है जबकि भारत में केवल ६ लाख टन ही होता है। भारत में इस उद्योग के पनपने की बड़ी सुविधाएँ है। विशेषज्ञों की राय है कि भारतीय भूगर्भ में ३० अरब टन लोहा भरा पड़ा है। प्राकृतिक साधनों को ध्यान में रखते हुए हमारे लोहे के विकास की बड़ी संभावना है।

इस्पात का उत्पादन

(हजार टनों में)

वर्ष	कच्चा लोहा	इस्पात
१९४७	१,३२०	८९३
१९५०	१,५६२	१,००४
१९५५	१,७५७	१,२६०
१९५६	१,८०७	१,३३६
१९५७	१,७८६	१,३४६
१९५८	२,०३०	१,३००
१९५९	——	१,७११

इस्पात के उत्पादन में संसार के देशों में भारत का स्थान

(दस लाख टन)

संयुक्त राज्य अमेरिका	१००
रूस	४०
इङ्गलैण्ड	१८
जर्मनी	१७
फ्रांस	१०
बेल्जियम	५
जापान	५
लक्जेमबर्ग	३
सार	३
भारत	१·२६

इस्पात उद्योग और योजना—प्रथम पंचवर्षीय योजना में इस्पात का उत्पादन कम रहा। दूसरी योजना में सरकारी क्षेत्र में इस्पात के तीन नये कारखाने

खोलकर तथा वर्तमान कारखानों के उत्पादन को बढ़ाकर इस कमी को पूरा किया जा रहा है। दूसरी योजना के अनुसार १९६०–६१ तक मैसूर आयरन और स्टील कम्पनी में इस्पात का उत्पादन १ लाख टन बढ़ जाने की आशा है। योजना के अन्त तक निजी क्षेत्र में इस्पात उत्पादन-मूल्य १२० करोड़ रुपये वार्षिक तक पहुँच जायेगा। इसके अतिरिक्त सरकारी क्षेत्र में तीन इस्पात के कारखाने स्थापित किये गये हैं— (१) रूरकेला (उड़ीसा) में १२८ करोड़ रु० की लागत का "हिन्दुस्तान स्टील कम्पनी" नामक कारखाना जर्मनी के आर्थिक व तान्त्रिक सहयोग से स्थापित किया गया है। इसका वार्षिक उत्पादन ७२० हजार टन होगा। (२) दूसरा कारखाना भिलाई (मध्य प्रदेश) में रूस के सहयोग से ११० करोड़ रु० की लागत का स्थापित किया गया है। इसका वार्षिक उत्पादन ७७० हजार टन होगा जो निर्यात कर दिया जायगा। (३) तीसरा कारखाना ११५ करोड़ रु० की लागत का दुर्गापुर (बंगाल) में स्थापित किया गया है। यहाँ साधारण और मध्यम श्रेणी के इस्पात का उत्पादन ७९० हजार टन हुआ करेगा।

दूसरी योजना के अन्त तक (१९६०-६१) ६० लाख टन इस्पात के उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित किया गया है जिसमें से ३० लाख टन निजी कारखानों के विकास द्वारा और ३० लाख टन सरकारी कारखानों से प्राप्त किया जायगा। योजना काल में निजी कारखानों के विकास पर ११५ करोड़ रु० व्यय किये जायेंगे।

चीनी का उद्योग (Sugar Industry)—संसार के इतिहास में गन्ने का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है जिसका रचना काल ईसा से लगभग ५,००० वर्ष पूर्व माना गया है। शक्कर का उल्लेख बौद्ध-मानार विकार के ग्रन्थ 'प्रतिमोक्ष' में मिलता है जिसका रचना-काल ईसा के ६०० वर्ष पूर्व माना जाता है। चाणक्य के अर्थशास्त्र में भी शक्कर के सम्बन्ध में कई स्थान पर उल्लेख है। ईसा के ३०० वर्ष पूर्व यूनानी यात्री मैगस्थनीज के यात्रा विवरण में भी गन्ना और शक्कर का उल्लेख मिलता है। मध्ययुगीन भारत में शक्कर का काफी व्यापार होता था जिसका उल्लेख सन् १२९० में मार्कोपोलो ने अपनी यात्रा-विवरण में किया था। सन् १४९८ में वास्कोडिगामा जब भारत आया, तो उसने यहाँ बाजार में ढेरों शक्कर देखी थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी (१६००) के जमाने में भी शक्कर फारस और मध्यपूर्व के देशों को भेजी जाती थी। अब तक शक्कर का उत्पादन कुटीर उद्योग के रूप में होता था। धीरे-धीरे विदेशियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। सन् १९०३-१९०५ में चीनी बनाने के कारखाने उत्तर बिहार और उत्तर प्रदेश में स्थापित हुए जिनमें से कई अब तक चालू हैं। सन् १९३१ के पूर्व प्रति वर्ष लगभग १५ करोड़ रुपये की चीनी हमारे यहाँ जावा से आती थी। सन् १९३२ में इस उद्योग को सरकारी संरक्षण प्राप्त हुआ जिसके परिणामस्वरूप इसने आशातीत उन्नति की। सन् १९३० में जहाँ केवल ३२ चीनी के कारखाने थे सन् १९३६ में उनकी संख्या १४५ हो गई।

आज चीनी उद्योग की स्थिति यह है कि यह देश का दूसरा सबसे बड़ा उद्योग है। पहला स्थान सूती वस्त्र उद्योग का है। आज देश में सफेद चीनी के १६० आधुनिक कारखाने हैं। इनका वार्षिक उत्पादन १९ लाख टन है जिसकी कीमत लगभग १२० करोड़ रुपये है। इस उद्योग में आज १ लाख ४० हजार दक्ष कर्मचारी तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त ३५०० व्यक्ति काम करते हैं इसके अलावा असंख्य आदमी इस उद्योग से सम्बन्धित अन्य कार्यों में परोक्ष रूप में रोजी पाते हैं। चीनी का उद्योग मुख्यतः उत्तर प्रदेश और बिहार में ही केन्द्रित है। सन् १९५४-५५ में चीनी

की मिलों का विवरण इस प्रकार था—उत्तर प्रदेश ७२, बिहार ३०, मद्रास १६, बम्बई १५, मध्यभारत ६, बंगाल ४, हैदराबाद ३, राजस्थान २, उड़ीसा २, पेप्सू २, ग वर्ग के राज्य २, पंजाब १, कश्मीर १, मैसूर १, सौराष्ट्र १, विंध्य प्रदेश १, ट्रावनकोर १ = १६०। सन् १९५९ में चीनी का उत्पादन २०·८४ लाख टन था।

चीनी-उद्योग और योजना—इस उद्योग की महत्ता देखते हुए अब दूसरी पंचवर्षीय योजना में इसका और भी विस्तार किया जा रहा है। २५ लाख टन वार्षिक उत्पादन बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया है। इस उद्योग को बढ़ावा देने के लिये भारत सरकार ने ४० नये कारखाने खोलने तथा ४२ वर्तमान कारखानों का विस्तार करने की अनुमति दे दी है। आज चीनी उद्योग दिनों दिन प्रगति के पथ पर अग्रसर हो रहा है।

कागज निर्माण उद्योग(Paper Industry)—कागज बनाने का काम सम्भवतः सबसे पहले चीन में प्रारम्भ हुआ। उस समय कागज हाथ से बनाया जाता था। चीन के सम्पर्क से ही कई सदियों पूर्व भारत को भी हाथ से कागज बनाने की प्रेरणा मिली। आज भी भारत के अनेक भागों में हाथ से कागज बनाया जाता है। भारत में मशीन द्वारा आधुनिक ढंग से कागज बनाने की मिल लगभग एक शताब्दी पूर्व सबसे पहले डा० कैरे ने हुगली नदी के किनारे सीरामपुर में स्थापित की थी। वास्तविक प्रारम्भ सन् १८६७ ई० में ही समझना चाहिए जबकि रॉयल पेपर मिल (Royal Paper Mills) की स्थापना बैली (Bally) में हुई। इसके पश्चात् कई मिलें स्थापित की गई जिनमें से मुख्य ये हैं—अपर इंडिया कूपर मिल, लखनऊ (Upper India Cooper Mills, Lucknow), टीटागढ़ पेपर मिल कलकत्ता के समीप (Titagarh Paper Mills near Calcutta), डक्कन पेपर मिल, पूना (Deccan Paper Mills, Poona) और श्री गोपाल पेपर मिल, जगाधरी (Shri Gopal Paper Mills, Jagadhari) सन् १९०० तक कागज के ७ कारखाने स्थापित हो गये जिनमें १६,००० टन कागज बनता था। इसके बाद इसे सस्ते विदेशी कागज से कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। सन् १९२५ ई० में संरक्षण मिलने के कारण इस उद्योग में आशातीत उन्नति हुई।

इस समय देश में कागज बनाने की २० मिलें हैं जिनकी वार्षिक उत्पादन-क्षमता ८,११,९०० टन है। इनमें से चार मिलें बंगाल में, दो दो मिल उत्तर प्रदेश और मैसूर में तथा उड़ीसा, बिहार, पंजाब, मध्य प्रदेश, आंध्र, मद्रास और केरल में एक-एक मिल है। बम्बई में चार मिल हैं। सात नये कारखाने स्थापित करने के लाइसेंस दिये जा चुके हैं जिनकी कुल उत्पादन क्षमता ५५,१०० टन होगी। इनमें से तीन मिल बम्बई में और आसाम, बंगाल, उड़ीसा तथा आंध्र में एक एक मिल होगी। वर्तमान कारखानों में से ८ कारखानों का पर्याप्त विस्तार किया जायगा जिससे १,०६,५०० टन कागज और बनाने की उत्पादन क्षमता बढ़ जायगी। इन विस्तार योजनाओं के क्रियान्वित होने तथा नये कारखानों के स्थापित हो जाने पर देश की कागज की उत्पादन-क्षमता कुल ३,५०,८०० टन वार्षिक की हो जावेगी। सन् १९५९ में कागज का उत्पादन २·९१ लाख टन था। व्यक्ति व्यापक भोगन खपत १½ पौंड ही है। यदि हम संसार के अन्य देशों से भारत की तुलना करें तो ज्ञात होगा कि हम इस दिशा में सबसे पिछड़े हुए हैं। नीचे की तालिका से यह स्पष्ट हो जायगा :—

देश		उपभोग
सं० रा० अमेरिका	..	३५० पौंड
इंगलैंड	.	१७५ ,,
कनाडा	.	१५० ,,
जर्मनी	...	७५ ,,
मिश्र		४ ,,
भारत	...	१½ ,,

भारत में गत्ता बनाने का उद्योग अधिक पुराना नहीं है। दूसरे महायुद्ध से पहले इसका बहुत थोड़ा उत्पादन होता था किन्तु युद्ध-काल और युद्ध के बाद गत्ता बनाने के अनेक छोटे-छोटे कारखाने स्थापित हुए जिनमें से अधिकांश ने भारत में बनी मशीनें ही लगाई हैं। पतले गत्ते तथा पैकिंग करने की अन्य सामग्रियों के चलन के कारण गत्ते की माँग कम है। गत्ता उद्योग का उत्पादन गत तीन वर्षों से ३०,००० टन वार्षिक ही चल रहा है और निकट भविष्य में इस उद्योग के विशेष विकास की परिस्थितियाँ अनुकूल प्रतीत नहीं होती हैं।

देश में जितना भी अखबारी कागज काम में आता है, इस समय लगभग सारा-का-सारा विदेश से आयात किया जाता है। देश में अखबारी कागज का एक मात्र कारखाना मध्यप्रदेश में न्यूजप्रिंट एण्ड पेपर मिल लि० (नेपा मिल) है जो इस समय सफेद अखबारी कागज प्रति दिन बना रहा है।

कागज उद्योग और योजना—प्रथम पंचवर्षीय योजना में सन् १९५१-५६ के लिए कागज के उत्पादन का लक्ष्य दो लाख टन रखा था और ११ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई थी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक कागज का उत्पादन लगभग ६ लाख टन रखा गया है और ४४ करोड़ रुपये लगाने का आयोजन किया गया है।

सीमेंट उद्योग (Cement Industry)—सीमेंट उद्योग का आधुनिक समय में बड़ा महत्त्व है। एशिया के देशों में सीमेंट-उत्पादन में भारत का तीसरा स्थान है। पहला स्थान जापान का और दूसरा चीन का है। भारत में आधुनिक ढंग से पहली बार सीमेंट तैयार करने का श्रेय मद्रास को है जहाँ सन् १९०४ में साउथ इंडस्ट्रीज लिमिटेड नाम से सीमेंट बनाने का एक कारखाना स्थापित किया गया जिसमें समुद्री सीपियों से सीमेंट बनाया जाता था। इसके बाद सन् १९१३ में पोरबन्दर (सौराष्ट्र) में इण्डियन सीमेंट कम्पनी लि० नाम से सीमेंट का कारखाना स्थापित किया गया। फिर राजस्थान में बूँदी के निकट लाखेरी में और मध्यप्रदेश में कटनी में एक एक सीमेंट बनाने का कारखाना स्थापित हुआ। सन् १९३६ तक *देश में सीमेंट के १३ कारखाने थे जो आपस में कठोर प्रतिस्पर्द्धा करते थे।* इस प्रतिस्पर्द्धा को रोकने के लिये सन् १९३६ में एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनी (A.C.C.) ग्रुप बनाया गया जिसमें सोन वैली सीमेंट कम्पनी के अतिरिक्त शेष १२ कम्पनियाँ इसकी सदस्य थी। सन १९३८ में ५ सीमेंट कम्पनियों की स्थापना से डालमिया

ग्रुप को जन्म मिला जो ए० सी० सी० (एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनी) ग्रुप के साथ प्रतिस्पर्द्धा करता था। सन् १९४० में दोनों ग्रुपों में समझौता हो गया और सीमेंट की बिक्री के लिये सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी का निर्माण किया गया। सन् १९४८ से डालमिया की पाँचों कम्पनियाँ अलग हो गईं। द्वितीय युद्धकाल में सीमेंट के चार अन्य कारखाने स्थापित हुए।

इस समय भारत में सीमेंट उद्योग के ३२ कारखाने हैं जिनमें ४८ करोड़ रु० की पूँजी लगी हुई है और लगभग ३५,००० कर्मचारी काम करते हैं। इनकी उत्पादन-क्षमता ८२·५ लाख टन प्रतिवर्ष है। इनमें से दो उत्तरप्रदेश और मैसूर सरकार के हैं और शेष कारखाने निजी हैं। इनमें से ७ बिहार में, ४ बम्बई में, ३ मद्रास में, २-२ मैसूर, आंध्र, मध्यप्रदेश राजस्थान और पंजाब में तथा १-१ उड़ीसा और केरल में हैं। आशा है कि सन् १९६१ तक देश भर में ६४ कारखाने हो जायगे। अनेक वर्तमान कारखानों का विस्तार करने की योजना के अलावा भारत सरकार ने ३१ नये कारखाने खोलने की योजना भी स्वीकार करली है। उद्योग का विस्तार होने पर ५०-६० करोड़ रु० की पूँजी लगेगी और ५०-५५ हजार और लोगों को काम मिलेगा।

सीमेंट उद्योग और योजना—प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सीमेंट का उत्पादन लक्ष्य ५० लाख टन रखा गया था, परन्तु यह पूरा नहीं किया जा सका। इसके निकट अवश्य पहुँच गये थे। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में १ करोड़ टन का अतिरिक्त उत्पादन लक्ष्य रखा गया है। अस्तु दूसरी योजना के अन्त तक यानी सन् १९६१ तक सीमेंट का कुल उत्पादन १ करोड़ ६० लाख टन हो जायगा।

सरकारी क्षेत्र के विभिन्न उद्योग

रेल के इंजन तथा डिब्बे बनाने का उद्योग—केन्द्रीय सरकार ने २६ जनवरी १९५० को एक कारखाना पश्चिमी बंगाल में आसनसोल के समीप चितरंजन स्थान पर १४ करोड़ रु० लगाकर स्थापित किया। इस कारखाने में अगस्त १९५२ तक ४०० इंजन तैयार हुए। इस कारखाने की उत्पादन क्षमता सन् १९५४ में ६ इंजन प्रति मास थी। अब यह कारखाना १३ इंजन प्रति मास तक बना रहा है। इन इंजिनों में ७० प्रतिशत पुर्जे देशी हैं और शेष विदेशों से मँगाये जाते हैं। सन् १९५९ तक पूर्णतया देशी इंजन बनने की आशा है। दूसरी योजना काल में देश की इंजनों की माँग को पूरा किया जा सकेगा और सन् १९६१ तक हम इंजनों के लिए आत्म-निर्भर हो जावेंगे, तथा कुछ इंजन बाहर भी भेज सकेंगे।
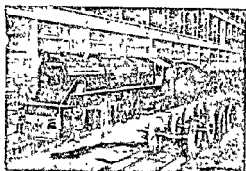
चितरंजन कारखाने में रेलवे इंजन का निर्माण

रेल के इंजन बनाने के अतिरिक्त सरकार ने डिब्बे बनाने का एक कारखाना मद्रास के निकट पेराम्बूर नामक स्थान में खोला है। इस कारखाने में सवारी तथा माल गाड़ी के डिब्बे बनाये जायेंगे। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तान ऐयर-क्राफ्ट लि० बंगलौर के कारखाने में भी रेल के डिब्बे बनाये जाते हैं।

हवाई जहाज निर्माण उद्योग—द्वितीय महायुद्ध से पहले भारत में हवाई जहाज बनाने का कोई कारखाना न था। युद्ध काल में सन् १९३९ में सेठ बालचन्द हीराचन्द ने मैसूर सरकार के साझे में बंगलौर में हिन्दुस्तान ऐयरक्राफ्ट कम्पनी लि० स्थापित की। कुछ ही वर्ष बाद भारत सरकार ने इसे खरीद लिया। इसमें अब नये हवाई जहाज बनाये जाते हैं। बंगलौर के इस कारखाने में ८५०० आदमी काम करते हैं। वहाँ हवाई जहाज के अलावा रेल के डिब्बे भी बनाये जाते हैं।

जल-जहाज निर्माण उद्योग—भारतवर्ष में आज से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व भी जल जहाज बनाने का धन्धा बहुत उन्नत दशा में था। मार्कोपोलो का कहना है कि उसने महासागरों में भारत के विशाल जल जहाजों को देखा। डिगबोई के अनुसार
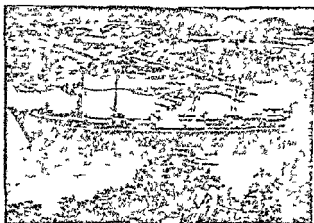
विशाखापट्टम में जल जहाज का निर्माण कार्य

बम्बई के सागौन लकड़ी के जहाज इंगलैंड की ओक लकड़ी के जहाजों से कहीं अधिक श्रेष्ठ थे। स्टीम युग के प्रारम्भ होने पर भारत का यह धन्धा उद्योग नष्ट हो गया। बीसवीं शताब्दी के मध्य में पुनः भारत में जल जहाज निर्माण प्रारम्भ हुआ। द्वितीय महायुद्ध काल में सन् १९४१ ई० में सबसे पहला नये ढंग का कारखाना सिंधिया स्टीम नवीगेशन कम्पनी ने विशाखापट्टम में खोला। अब तक यहाँ जल-उषा, जल जवाहर, जल आजाद आदि १९ विशाल जहाज बनाये जा चुके हैं जिनमें से १२ जहाज भारत में चलने वाले और तीन डीजल तेल से चलते हैं। इस कारखाने का नाम हिन्दुस्तान शिपयार्ड है। इसमें ७५७ हिस्से भारत सरकार के हैं। इसमें कुल पूँजी ४३ करोड़ रुपया लगी हुई है और इसमें ५ हजार आदमी काम करते हैं।

कृत्रिम खाद का कारखाना—देश मे अन्न की कमी के सकट का सामना करने की योजना के अग स्वरूप सिंदरी म खाद के कारखाने की स्थापना हुई थी। भारत सरकार ने अक्टूबर १६५१ मे अमोनियम सलफेट बनाने के उद्देश्य से एक बडा कारखाना बिहार राज्य के सिन्दरी स्थान पर स्थापित किया। इस कारखाने का पूरा नाम सिन्दरी फर्टीलाइजर्स एण्ड कैमिकल्स लिमिटेड (Sindri Fertilizers & Chemicals Ltd.) है। यह कृत्रिम खाद बनाने का सबसे बडा कारखाना है। इसमे २३ करोड रु० की पूँजी लगी है। सन् १६५५ मे ६ लाख टन अमोनियम सल्फेट देश भर म प्रयुक्त हुआ। इन दिनों में इसकी दैनिक उत्पादन-क्षमता ६६० टन है जबकि सन् १६५६ का औसत दैनिक उत्पादन ८०६ टन रहा।

सिन्दरी खाद के कारखाने का एक दृश्य
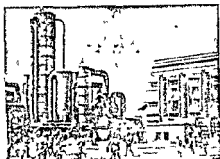
पेन्सिलीन का कारखाना—पूना से ६ मील की दूरी पर २०० एकड भूमि मे फैला हुआ पिम्परी नामक स्थान पर भारत सरकार ने प्रति वर्ष ६० ६० लाख मगा यूनिट पन्सिलीन का उत्पादन करने के ध्येय से २ करोड रुपये की लागत का कारखाना स्थापित किया है

भारत सरकार का पन्सिलीन कारखाना पिम्परी (पूना के समीप)

जिसका नाम हिन्दुस्तान एंटीबायोटिक्स प्राईवेट लिमिटेड है। कुछ अधिक प्रयत्न करने पर यह कारखाना १॥ करोड से लेकर २ करोड तक प्रतिवर्ष मगा यूनिट पेंसिलीन का उत्पादन कर सकेगा। इस कारखाने मे उत्पादन के उच्च विशेषज्ञ प्राप्त तरीके प्रयोग मे लाये जाते है। यहाँ की बनी पैंसिलीन की परीक्षा अमरिका और ब्रिटेन की मशहूर प्रयोगशालाओ म की जा चुकी है और यह हर प्रकार से बढ़िया साबित हुई है।

१ अगस्त १६५५ से कारखाने म उत्पादन नियमित रूप से हो रहा है। द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत स्टेप्टोमाइसीन, वाइमिलीन और डिपेन्सिलीन जैसी अन्य एण्टीबायोटिक्स औषधियो का भी उत्पादन किया गया है।

भारत सरकार की औद्योगिक नीति
(Industrial Policy of the Government of India)

१५ अगस्त १९४७ को देश स्वतन्त्र हुआ। ६ अप्रैल १९४८ से सरकार ने अपनी नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस नीति की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

१. भारतीय उद्योग धन्धों मे काम करने वाले श्रमिकों की दशा सुधारने का प्रयत्न करना।

२. सरकार ने सारे उद्योगों को चार भागो मे विभाजित किया है—

(अ) वे उद्योग जिन पर पूर्ण रूप से सरकार का एकाधिकार है, जैसे अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण, रेलवे यातायात तथा अणु-शक्ति की उत्पत्ति तथा नियन्त्रण आदि। इनके अतिरिक्त सरकार किसी भी उस उद्योग को ले सकती है जो राष्ट्रीय हित के लिये आवश्यक हैं।

(ब) निम्नलिखित उद्योगो को केन्द्रीय, प्रान्तीय अथवा स्थानीय सरकार स्वयं चलायेंगी। परन्तु यदि आवश्यक होगा तो सरकार पूंजीपतियों से भी सहायता ले सकती है—

(१) कोयला, (२) लोहा तथा फौलाद, (३) वायुयान, (४) जलयान, (५) टेलीफोन, तार तथा बेतार का तार आदि का निर्माण, (६) मिट्टी का तेल।

सरकार को यह अधिकार होगा कि वह इन उद्योगों में से कोई भी लेले, परन्तु इन उद्योगों मे लगी हुई निजी सम्पत्ति को १० वर्ष तक स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अधिकार होगा। दस वर्ष के पश्चात् सरकार इन उद्योगों को क्षति-पूर्ति देकर ले लेगी।

(स) इनके अतिरिक्त जो उद्योग होंगे उनमें गैर-सरकारी पूंजी व्यक्तिगत रूप से अथवा सहकारी रूप से लगाई जा सकती है। परन्तु इन उद्योगों को भी सरकार धीरे-धीरे ले लेगी। सरकार इन उद्योगों में उस समय भी हस्तक्षेप कर सकती है जबकि उन का कार्य सुचारु रूप से न चल रहा हो।

(द) इनके अतिरिक्त सरकार यह समझती है कि निम्न लिखित १८ उद्योगों की योजना तथा नियन्त्रण का कार्य भी राष्ट्रीय हित मे सरकार के पास ही रहना चाहिये। ये उद्योग निम्नलिखित हैं :—

(१) नमक, (२) मोटर तथा ट्रैक्टर, (३) प्रारम्भिक मशीनें, (४) बिजली सम्बन्धी यन्त्रशाला, (५) अन्य भारी मशीनें, (६) मशीनों के पुर्जे, (७) खाद, दवाई आदि, (८) बिजली-रासायनिक उद्योग, (९) लोहे के अतिरिक्त अन्य धातु, (१०) रबड़ का उद्योग, (११) शक्ति मद्यसार, (१२) सूती तथा ऊनी कपड़ा का उद्योग, (१३) सीमेंट, (१४) चीनी, (१५) साधारण तथा समाचार पत्र का कागज, (१६) वायु तथा समुद्री यातायात, (१७) धातुएँ व (१८) रक्षा सम्बन्धी उद्योग।

बड़े उद्योगों के अतिरिक्त, सरकार ने लघु एवं कुटीर उद्योगों पर भी बहुत अधिक बल दिया है। सरकार इन उद्योगों की उन्नति के लिये अधिक-से-अधिक प्रयत्न करेगी।

सरकार समझती है कि अधिक-से अधिक उत्पत्ति तभी हो सकती है जबकि पूँजी तथा श्रम में मेल-जोल हो। इसी कारण सरकार ने प्रबन्ध किया कि लाभ का ठीक

प्रकार वितरण हो। श्रमिकों को उचित मजदूरी मिले। पूँजीपतियों को अपनी पूँजी पर उचित लाभ मिले।

सरकार श्रम तथा पूँजी के बीच होने वाले संघर्ष का निपटारा करने के लिये उचित प्रकार के साधन जुटायेगी। श्रमिकों के मकानों को उन्नत करने तथा नये मकान बनवाने के लिये सरकार एक 'हाउसिंग बोर्ड' भी स्थापित करेगी। यह बोर्ड दस वर्ष में दस लाख श्रमिकों के लिये मकान बनवायेगा। यह मकान सरकार तथा पूँजीपतियों द्वारा बनवाये जायेंगे। श्रमिकों का भाग उनसे उचित किराये के रूप में लिया जायगा।

भारत सरकार की नई औद्योगिक नीति की घोषणा (१९५६)

प्रमुख उद्योगों का संचालन सरकार के आधीन रहेगा—निजी क्षेत्रों को विकास की पर्याप्त सुविधा—प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने तारीख ३० अप्रैल १९५६ को लोक सभा में भारत सरकार की नई औद्योगिक नीति की घोषणा करते हुये बताया कि भारत सरकार देश में नये उद्योगों की स्थापना और यातायात सुविधाओं के विकास का उत्तरदायित्व धीरे-धीरे स्वयं अपने आधीन कर लेगी और इन कामों की सीधी और अधिकतर जिम्मेदारी सम्हाल लेगी। व्यापारिक क्षेत्र में भी सरकार अधिक हिस्सा लेगी, परन्तु साथ ही निजी क्षेत्र को भी विकास और विस्तार का अवसर प्राप्त होगा। निजी क्षेत्र के कार्य में सहकारिता के विकास पर बल दिया गया है।

इस औद्योगिक नीति को तीन वर्गों में बाँटा गया है—(१) वे उद्योग, भविष्य में जिनका विकास केवल सरकार के आधीन रहेगा। (२) वे उद्योग जो धीरे-धीरे सरकार के आधीन आयेंगे और जिनके आधीन सरकार नये कारखाने भी स्थापित करेगी, परन्तु साथ ही सरकार के इस प्रयास में निजी क्षेत्र का सहयोग भी प्राप्त किया जायगा, और (३) शेष ऐसे सभी उद्योग जिनका भावी विकास निजी क्षेत्र के बल पर छोड़ा जायगा।

पहले वर्ग में शस्त्रास्त्र तथा प्रतिरक्षा से सम्बन्धित उद्योग शामिल हैं जैसे अणु-शक्ति, लोहा-इस्पात और मशीनी औजारों के उत्पादन के लिये भारी मशीनी कारखाने, कोयला और लिगनाइट, कच्चा लोहा आदि निकालने का कार्य, गंधक, सोने और हीरे की खानें तथा तांबे, सीसे, टिन आदि की सफाई, हवाई व समुद्री जहाजों का निर्माण, टेलीफोन और तार, व बेतार का सामान (इसमें रेडियो रिसीविंग सेट सम्मलित नहीं) तथा बिजली उत्पादन और वितरण।

दूसरे वर्ग में एल्युमिनियम तथा अन्य लोहेतर धातु, मशीन टूल, फैरो-एलॉय, टूल-स्टील, रासायनिक उद्योगों के लिये आवश्यक पदार्थ, औषधियाँ, कृत्रिम रबड़, खाद, *सड़क-यातायात और समुद्री यातायात आदि।*

इस नीति में औद्योगिक सहकारिता के विकास और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विकास में कुटीर और ग्रामोद्योगों के महत्व पर बल दिया गया है।

भारत सरकार की यह औद्योगिक नीति सन् १९४८ की औद्योगिक नीति से बहुत भिन्न नहीं है। इतना अवश्य है कि इसमें भारत को विकासशील अर्थ-व्यवस्था में सरकारी उद्योगों के महत्व पर विशेष जोर दिया गया है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—भारतवर्ष में सीमेंट उद्योग की प्रगति पर टिप्पणी लिखिये। (उ० प्र० १९६०)

२—भारत का एक मानचित्र बनाकर उसमें प्रमुख उद्योगों के केन्द्र दिखाइये। (उ० प्र० १९४०)

३—बिहार के किन्हीं दो उद्योगों की वर्तमान दशा का वर्णन कीजिये। (पटना १९५०)

४—निम्नलिखित किन्हीं दो वृहद् उद्योगों के विकास का वर्णन कीजिये :—
(अ) लोहा और इस्पात, (आ) सूती कपड़ा, (इ) जूट, (ई) सीमेंट, (उ) कागज।

५—सन् १९४८ की भारत सरकार की औद्योगिक नीति की मुख्य बातें बताइये।

६—भारत सरकार की नई औद्योगिक नीति (१९५६) की विवेचना कीजिये।

विनिमय

(EXCHANGE)
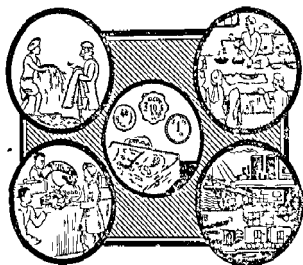
"हम वास्तव में मानव समाज की बिना विनिमय के भी कल्पना कर सकते है। परन्तु ऐसा समाज, यदि समाज कहा जा सकता है, न तो वैज्ञानिक अन्वेषण के योग्य है और न उसको इसकी आवश्यकता ही है।"

—सीनियर

अध्याय ४६

विनिमय
(Exchange)

विनिमय—अर्थशास्त्र के एक विभाग के रूप में (Exchange—as a Department of Economics)—गत अध्यायों में हम अर्थशास्त्र के प्रथम दो विभागों अर्थात् उपभोग और उत्पत्ति का अध्ययन कर चुके हैं। अब हम इसके तीसरे विभाग अर्थात् 'विनिमय' का अध्ययन करेंगे। विनिमय अर्थशास्त्र का वह विभाग है जिसमें हम यह अध्ययन करते हैं कि कैसे और क्यों-कर वस्तुओं का विनिमय होता है, कैसे किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है, किन संस्थाओं द्वारा विनिमय-क्षेत्र में विशेष सहायता मिलती है, इत्यादि। अन्य शब्दों में यों कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र के एक विभाग के रूप में विनिमय के अन्तर्गत हम प्रथम तो उन व्यवस्था का अध्ययन करते हैं जिसके द्वारा वस्तुओं का उत्पादकों और उपभोक्ताओं के मध्य हस्तान्तरण अथवा स्थानान्तरण होता है, और द्वितीय उन शक्तियों का अध्ययन किया जाता है जिनसे वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य निर्धारित होता है।

क्या विनिमय अर्थशास्त्र का एक पृथक विभाग है? (Is Exchange a separate Department of Economics)—कुछ लेखकों का मत है कि विनिमय का अध्ययन उत्पत्ति के ही अन्तर्गत होना चाहिये क्योंकि इसके द्वारा वस्तुओं की उपयोगिता (utility) में वृद्धि होती है जिसके कारण यह एक उत्पादन-क्रिया कही जा सकती है। यह तर्क उचित तो अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु विनिमय के अन्तर्गत हम अनेक ऐसी बातों का अध्ययन करते हैं जो उत्पत्ति के क्षेत्र से बाहर हैं। अस्तु, उनके विस्तृत अध्ययन के लिये विनिमय को अर्थशास्त्र का एक पृथक ही विभाग मानना न्यायसंगत है।

विनिमय—एक आर्थिक-क्रिया के रूप में (Exchange—as an Economic act)—अब तक हमने विनिमय का अर्थ अर्थशास्त्र के एक विभाग के रूप में पाया। अर्थशास्त्र की आर्थिक-क्रिया विनिमय का दूसरा रूप है। यह रूप हमारा ध्यान इसके अर्थशास्त्रीय अर्थ की ओर आकृष्ट करता है। जब कोई मनुष्य अपनी वस्तुओं और सेवाओं को देकर उनके बदले में अपनी आवश्यकता की विभिन्न वस्तुएँ प्राप्त करता है, तो वह एक आर्थिक-क्रिया सम्पन्न करता हुआ कहा जाता है। उसकी यह आर्थिक-क्रिया 'विनिमय' कहलाती है। अस्तु दो पक्षों के मध्य में होने वाले वैधानिक (Legal), ऐच्छिक (Voluntary) और पारस्परिक

(Mutual) धन के हस्तान्तरण (Transfer) को विनिमय कहते है। यदि एक कृषक अनाज देकर एक जुलाहे से कपडा लेता है, तो यह विनिमय का एक उदाहरण है। किन्तु यदि एक चोर उस किसान के मकान मे घुस कर अनाज चुरा लेता है, तो यह विनिमय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह हस्तान्तरण न वैधानिक है, न ऐच्छिक है और न पारस्परिक ही। यदि कृषक राज्य को 'कर' के रूप मे अनाज या मुद्रा देता है, तो यह क्रिया भी विनिमय की कोटि मे नही आती, यद्यपि यह वैधानिक है, तथापि यह ऐच्छिक और पारस्परिक नही है। इसी प्रकार, यदि कोई व्यक्ति राज्य को दण्ड के रूप मे कुछ राशि दे, तो धन का यह हस्तान्तरण वैधानिक होने पर भी विनिमय नही कहलायेगा, क्योकि यह अनिवार्य और प्रतिफल-रहित है। एक और उदाहरण इसे स्पष्ट कर देता है। यदि कोई व्यक्ति अपने मित्र को कोई वस्तु भेट के रूप मे देता है अथवा किसी भिखारी को दान देता है, तो ये क्रियाएँ भी विनिमय नही कही जा सकती। यद्यपि भेट तथा दान वैधानिक एव ऐच्छिक हैं, परन्तु इनमे पारस्परिकता का अभाव है अर्थात् एक पक्षीय है, क्योकि भेंट या दान के बदले में कोई धन या सपत्ति नही मिलती।

अस्तु हम निष्कर्ष रूप मे यह कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र मे विनिमय के लिये धन का हस्तान्तरण वैधानिक (Legal), ऐच्छिक (Voluntary और पारस्परिक (Mutual) होना चाहिये। *अर्थशास्त्र मे विनिमय की यही तीन मुख्य विशेषताएँ* (Characteristics) है जिनके आधार पर यह सहज कहा जा सकता है कि अमुक धन या सेवा का हस्तान्तरण विनिमय है या नही।

विनिमय की आवश्यकता तथा विकास (Necessity) & Growth of Exchange)—प्राचीन काल म मनुष्य स्वावलम्बी था। अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ वह स्वय तैयार करता था। अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये वह किसी दूसरे पर निर्भर न था। उत्पत्ति और उपभोग के मध्य सीधा सम्बन्ध था। अतएव उस समय विनिमय की कोई आवश्यकता नही थी। परन्तु अब उत्पत्ति का सारा ढाँचा बदल गया है। आजकल श्रम-विभाजन और मशीनो की सहायता से बड़े पैमाने पर उत्पत्ति होती है। हमारी आवश्यकताएँ भी पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ गई हैं। अत अब अपनी आवश्यकताओ की सभी वस्तुएँ स्वय ही उत्पन्न करना सम्भव नहीं है। आधुनिक उत्पत्ति व्यक्तिगत उपभोग के लिये नही वल्कि मण्डी म क्रय-विक्रय के लिये की जाती है। यह विशिष्टीकरण (Specialisation) का युग है। जो जिस वस्तु के बनाने म दक्ष होता है, वह वही वस्तु तैयार करता है चाहे उस उस वस्तु की आवश्यकता हो या नही। ऐसी दशा म जब तक उत्पन्न की हुई वस्तुओ को उपभोक्ताओ तक न पहुँचाया जायगा तब तक उत्पत्ति अपूर्ण रहेगी और उस समय तक उपभोग का कार्य स्थगित रहेगा। अस्तु यह नितान्त आवश्यक है कि उत्पत्ति और उपभोग में निकट सम्बन्ध स्थापित किया जाय। यह कार्य विनिमय द्वारा ही सम्भव है, अर्थात् उत्पादित वस्तुओ को उपभोक्ता तक पहुँचाने के लिय विनिमय की क्रिया आवश्यक है। विनिमय से उत्पत्ति की पूर्ति होती है और उपभोग सम्भव होता है। अस्तु, आधुनिक आर्थिक व्यवस्था मे विनिमय का एक विशिष्ट स्थान है। मानव जाति की उन्नति मे विनिमय बड़ा सहायक सिद्ध हुआ है। यही कारण है कि अर्थशास्त्र मे विनिमय का पृथक रूप से अध्ययन किया जाता है।

विनिमय का सिद्धान्त (Theory of Exchange)—प्रत्येक विनिमय-क्रिया मे निम्नलिखित तीन बातें होनी चाहिए :—

(१) विनिमय-क्रिया की सम्पन्नता के लिये कम से कम दो पक्षों का होना आवश्यक है इनमे से एक पक्ष दूसरे पक्ष से प्राप्त वस्तुओ के बदले मे अपनी वस्तुएं देने को तैयार होना चाहिये और इसी प्रकार दूसरा पहले पक्ष से प्राप्त वस्तुओं के बदले मे अपनी वस्तुएं देने को उद्यत होना चाहिये।

(२) विनिमय से दोनो पक्षों को लाभ होना चाहिये—विनिमय से दोनो पक्षो को लाभ पहुँचता है, इसीलिये वे अपनी वस्तुओं को दूसरी वस्तुओं से बदलते हैं। दी जाने वाली वस्तु से आने वाली वस्तु की अधिक उपयोगिता होने के कारण मनुष्य अपनी कम उपयोगिता वाली वस्तु को देकर दूसरों से अधिक उपयोगिता वाली वस्तु प्राप्त करने का प्रयास करता है।

(३) जब विनिमय द्वारा किसी भी पक्ष को हानि होने लगती है, तभी व्यवहार अथवा सौदा (Transaction) समाप्त हो जाता है—जब मनुष्य इस बात का अनुभव करता है कि बदले मे आने वाली वस्तु की उपयोगिता जाने वाली वस्तु की अपेक्षा कम है तो वह तुरन्त व्यवहार समाप्त कर देता है और अन्य वस्तु के बदले की सोचता है जिसकी उपयोगिता उसकी वस्तु से अधिक हो।

किस प्रकार विनिमय द्वारा दोनो पक्षो को उपयोगिता का लाभ होता है (How both parties gain in utility by Exchange)—विनिमय का सबसे महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इसके प्रत्येक पक्ष को उपयोगिता का लाभ होता है। अन्य शब्दों मे इसे यों कहा जा सकता है कि विनिमय केवल उसी दशा मे होगा जबकि दोनों को लाभ होगा। कुछ लोगों की धारणा यह है कि विनिमय से एक पक्ष को लाभ होता है और दूसरे को हानि होती है। किन्तु यह धारणा निर्मूल एवं भ्रमात्मक है। विनिमय पूर्णतया स्वेच्छानुसार होता है। अस्तु जब तक दोनो पक्षों को लाभ प्रतीत न होगा तब तक विनिमय नहीं किया जायगा। विनिमय के लिये यह आवश्यक है कि दोनों पक्ष वाले विनिमय के लिये इच्छुक हों। यह इच्छा उनमे तभी उत्पन्न होगी जब उन्हें यह विश्वास होगा कि विनिमय क्रिया से उन्हें लाभ होगा। यह साधारण बुद्धि की बात है कि कोई भी व्यक्ति अपनी वस्तु के बदले मे दूसरी कम मूल्य वाली वस्तु कभी भी स्वीकार नहीं करेगा। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि राम के पास पुस्तक है और कृष्ण के पास फाउन्टेन पेन और दोनों ही विनिमय करना चाहते है। यह तभी सम्भव है जबकि राम के लिये फाउन्टेन पेन की उपयोगिता पुस्तक से अधिक हो और कृष्ण के लिये पुस्तक की उपयोगिता फाउन्टेन पेन से अधिक हो। दोनो पक्षों को यह विश्वास होना चाहिये कि विनिमय द्वारा प्राप्त वस्तु की उपयोगिता दी हुई वस्तु की उपयोगिता से अधिक है। अत: जब दोनों पक्षों को विनिमय से लाभ दिखाई देता है तभी वस्तुओं और सेवाओं का क्रय-विक्रय होता है, अन्यथा नहीं। ज्योंही विनिमय द्वारा किसी भी पक्ष को हानि होती है, त्योंही विनिमय समाप्त हो जाता है। विनिमय का अस्तित्व लाभ के साथ साथ है न कि हानि के साथ।

उदाहरण के लिए, दो व्यक्ति अ और ब को लीजिये। अ गेहूँ उपजाता है और ब चावल। हमें यह भी मान लेना चाहिये कि वे दोनों इतना अधिक गेहूँ और चावल उत्पन्न करते हैं कि वे स्वयं उनका उपभोग नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि अ जितना गेहूँ उत्पन्न करता है उतना वह उपभोग नहीं कर सकता और

न ब ही गब चावल का उपभोग कर सकता है। जब अ अपनी आवश्यकता के अनुसार गेहूँ ले लेता है, तो शेष गेहूं उसके लिये बेकार हो जाता है। इसी प्रकार ब के लिये भी आवश्यकता से अधिक बचा हुआ चावल बेकार है। इस प्रकार अ और ब दोनों के पास व वस्तुयें हैं जिनकी उपयोगिता बहुत कम है या कुछ भी नहीं है। यदि विनिमय न हो, तो अ केवल गेहूँ का ही उपयोग कर सकता है और ब केवल चावल का ही। अब वे विनिमय के लाभ को भली प्रकार समझ सकते हैं। अ और ब अपने गेहूँ व चावल की अदला बदली कर लेते हैं अब जो गेहूं अ के लिये व्यर्थ था वह ब के लिये अत्यधिक उपयोगी है और जो चावल ब के लिये व्यर्थ था वह अ के लिये अत्यधिक उपयोगी है। इस प्रकार विनिमय द्वारा दोनों को लाभ हुआ।

यह निम्नांकित उदाहरण द्वारा और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है :—

इकाइयाँ (Units)	सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility)	
	गेहूँ (Wheat) अ	चावल (Rice) ब
१	२०	२२
२	१४	१६
३	८	१०
४	४	६
५	२	४

उदाहरण का स्पष्टीकरण—इस उदाहरण में यह मान लिया गया है कि अ के पास ५ इकाई गेहूँ है और ब के पास ५ इकाई चावल है, और दोनों व्यक्तियों का स्वभाव एक सा है जिसके कारण दोनों के लिए गेहूँ और चावल की विभिन्न इकाइयों की उपयोगिता समान है। उपर्युक्त सारणी (Table) में 'उपयोगिता ह्रास-नियम' (Law of Diminishing Utility) के अनुसार अ और ब की वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) इनके उपभोग की इकाइयों के सामने अलग अलग खानों में दी हुई है। इससे यह स्पष्ट है कि उपभोग की इकाइयों की वृद्धि के साथ-साथ वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता कम होती गई है, यहाँ तक कि पाँचवीं इकाई की उपयोगिता दोनों को बहुत कम है। अस्तु, यह स्वाभाविक है कि विनिमय सबसे कम उपयोगिता रखने वाली इकाई से प्रारम्भ होगा। प्रथम सौदे में अ गेहूँ की ५ वीं इकाई देगा जिसकी उपयोगिता २ है, और उसे चावल की पहली इकाई प्राप्त होगी जिसकी उपयोगिता २२ है। अतः उसकी उपयोगिता का लाभ (२२ — २) = २० हुआ। इसी प्रकार ब चावल की पाँचवी इकाई देगा जिसकी उपयोगिता २० है। अतः उसको उपयोगिता का लाभ (२० — ४) = १६ हुआ। इस प्रकार पहले सौदे में अ और ब दोनों को ही उपयोगिता का लाभ होगा। दूसरे सौदे में अ गेहूँ की चौथी इकाई देगा जिसकी उपयोगिता ४ है, और उसे चावल की दूसरी इकाई मिलेगी जिसकी उपयोगिता १६ है। अतः उसको उपयोगिता का लाभ (१६ — ४) = १२ हुआ। इसी प्रकार ब चावल की चौथी इकाई देगा जिसकी उपयोगिता ६ है, और उसे

बदले में उसे गेहूँ की दूसरी इकाई मिलेगी जिसकी उपयोगिता १४ है। अतः उसको उपयोगिता का लाभ (१४ – ६) = ८ हुआ। इस प्रकार दूसरे सौदे से भी उन दोनों को उपयोगिता का लाभ होगा। तीसरे सौदे में अ गेहूँ की तीसरी इकाई देगा जिसकी उपयोगिता ८ है और उसके बदले में उसे चावल की तीसरी इकाई मिलेगी जिसकी उपयोगिता १० है। अतः उसको उपयोगिता का लाभ (१० – ८) = २ हुआ। इसी प्रकार ब चावल की तीसरी इकाई देगा जिसकी उपयोगिता १० है, और उसके बदले में उसे गेहूँ की तीसरी इकाई प्राप्त होगी जिसकी उपयोगिता ८ है। अतः उसको उपयोगिता के लाभ के स्थान में (८ – १०) = – २ की हानि हुई। इस प्रकार तीसरे सौदे में अ को लाभ और ब को हानि होगी। यद्यपि अ को लाभ है और वह यह सौदा करना भी चाहेगा तथापि यह सौदा पूर्ण नहीं हो सकता, इस सौदे से ब को हानि है।

निष्कर्ष—निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विनिमय द्वारा जब तक दोनों पक्षों को लाभ होता है दोनों पक्ष रजामन्दी और खुशी से सौदा करते जायेंगे। जब विनिमय से किसी एक पक्ष को हानि की सम्भावना हो तो वह पक्ष सौदे के लिये इन्कार कर देगा। इसी प्रकार विनिमय उसी सीमा तक होगा जब तक दोनों पक्षों को लाभ रहे और जब किसी भी एक पक्ष को हानि होने लगेगी उस दशा में विनिमय समाप्त हो जायगा।

क्या इसी प्रकार दो राष्ट्रों को भी विदेशी व्यापार से लाभ होता है ?
(Do both nations gain likewise by foreign trade ?)

आधुनिक विदेशी व्यापार वस्तु विनिमय का ही एक विस्तृत रूप है। इसके अन्तर्गत एक देश अपनी अतिरिक्त वस्तुओं को निर्यात कर विदेशों से अपनी आवश्यकता की वस्तुएं प्राप्त करता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अर्थात विनिमय से वस्तुओं की उपयोगिता में वृद्धि होती है। अब यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि क्या व्यक्तिगत पक्षों की भाँति विदेशी व्यापार में भी दो विभिन्न राष्ट्रों को उपयोगिता का लाभ होता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि जब दो स्वतन्त्र देश अपनी रजामन्दी और खुशी से बिना किसी दबाव के पारस्परिक व्यापार करते हैं, तो निश्चय ही दोनों देशों को उपयोगिता का लाभ होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उपयोगिता का लाभ प्राप्त करने के लिये निम्नलिखित बात आवश्यक है :—

(१) दोनों देश आर्थिक विकास की दृष्टि से समान हों। यदि एक देश आर्थिक विकास की दृष्टि से अधिक बढ़ा हुआ है और दूसरा कम, तो पहल देश को लाभ होगा और दूसरे को हानि। जैसे अमेरिका व इङ्गलैंड आदि अधिक प्रगतिशील देशों और एशिया व अफ्रीका आदि पिछड़े हुए देशों के मध्य का विदेशी व्यापार।

(२) दोनों देश राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हों। जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेने वाले राष्ट्र स्वतन्त्र हो, तो दोनों देशों को लाभ हो सकता है अन्यथा एक राष्ट्र द्वारा दूसरे का शोषण (Exploitation) होना स्वाभाविक है। जैसे, भारत के स्वतन्त्र होने तक इङ्गलैंड द्वारा इस देश का शोषण हुआ।

(३) विदेशी व्यापार करने वाले देश अपनी इच्छा से बिना किसी दबाव के स्वतन्त्रता पूर्वक अपना निर्णय कर सके। यदि एक देश को अपनी इच्छा के विरुद्ध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दबाव से किसी अन्य देश से व्यापार करने को बाध्य किया जाये, तो इस प्रकार के व्यापार से उस देश को हानि होगी।

(४) केवल उन्हीं वस्तुओं का आयात (Import) होना चाहिये जिनका सलाभ उत्पादन उस देश में न हो सके। यदि किसी देश का आयात केवल उन्हीं वस्तुओं में होता है जो सलाभ उस देश में उत्पन्न नहीं की जा सकती हों, तो निश्चय ही उस देश को विदेशी व्यापार से लाभ होगा।

(५) केवल उन्हीं वस्तुओं का निर्यात (Export) होना चाहिये जो निर्यात करने वाले देश में अतिरिक्त मात्रा में उत्पन्न हो अथवा वहाँ उनका उत्पादन आयात करने वाले देश की अपेक्षा अधिक लाभ से किया जा सकता हो।

विनिमय का महत्व (Importance of Exchange)

आधुनिक जीवन में विनिमय का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। जीवन का कोई भी ऐसा अंग नहीं है जिस पर विनिमय का प्रभाव न पड़ता हो। धन या सम्पत्ति की उत्पत्ति, वितरण तथा उपभोग की आर्थिक क्रियाएँ विनिमय पर आश्रित हैं। विनिमय का हमारे जीवन से इतना निकट सम्बन्ध हो गया है कि यदि विनिमय क्रिया स्थगित हो जाय, तो हमारी भौतिक सभ्यता का ढाँचा नष्ट हो जायगा और मनुष्य सभ्यता व उन्नति के पथ से बहुत नीचे गिर जायगा। यद्यपि विनिमय स्वतः अन्त नहीं है फिर भी हमारी बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये यह नितान्त आवश्यक है।

विनिमय के लाभ (Advantages of Exchange)

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि विनिमय द्वारा दोनों पक्षों को उपयोगिता का लाभ होता है। इसके अतिरिक्त विनिमय के और भी अनेक लाभ हैं जिनसे विनिमय का महत्व प्रकट होता है। उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :—

१. **विनिमय की सहायता से मनुष्य और प्रकृति की शक्तियों का यथेष्ट रूप से प्रयोग किया जा सकता है**—विनिमय की सहायता से देश के प्राकृतिक साधनों को उचित ढंग से उन स्थानों अथवा कामों में प्रयुक्त किया जा सकता है जिनके लिये वे उपयुक्त हैं। विनिमय के अभाव में देश की मानव एवं प्राकृतिक शक्ति के साधनों का विकास सम्भव नहीं है।

२. **विनिमय के कारण श्रम-विभाजन (Division of Labour), विशिष्टीकरण (Specialisation), बड़े परिमाण की उत्पत्ति (Large-scale Production) आदि सम्भव है**—विनिमय के न होने पर प्रत्येक व्यक्ति या देश को अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ स्वयं को तैयार करनी पड़ेंगी, चाहे उनके उत्पादन की उसमें योग्यता हो या नहीं। विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत उत्पादन व्यक्तिगत आवश्यकतानुसार न किया जाकर योग्यतानुसार किया जाता है। दूसरे शब्दों में श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण के सिद्धान्तों का उत्पादन-क्षेत्र में भली प्रकार प्रयोग किया जा सकता है। जिसके फलस्वरूप बड़े परिमाण की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है। अतः श्रम-विभाजन, बड़े परिमाण की उत्पत्ति, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आदि के लाभ विनिमय प्रथा में सन्निहित हैं।

३. **विनिमय द्वारा देश की अतिरिक्त उत्पत्ति का सर्वोत्तम ढंग से उपयोग हो सकता है**—विनिमय से विदेशी व्यापार सम्भव है और विदेशी व्यापार द्वारा कोई भी देश अपनी अतिरिक्त (Surplus) उत्पत्ति को अन्य देशों में अच्छे

मूल्य पर बेच कर लाभ उठा सकता है। जैसे भारतवर्ष में अभ्रक, पाकिस्तान में जूट और आस्ट्रेलिया में ऊन आवश्यकता से अधिक पैदा होती है अतः इन्हें उन देशों में जहाँ इनका अभाव है निर्यात कर लाभ उठाया जा सकता है।

४. विनिमय द्वारा हम ऐसी वस्तुएँ प्राप्त कर सकते हैं जो हम स्वयं उत्पन्न नहीं करते—विनिमय द्वारा हम उन वस्तुओं का उपभोग कर सकते हैं जिनका उत्पादन देश में सम्भव नहीं है। जैसे भारत में रेडियो टेलीविजन मोटर गाड़ियाँ आदि का उपभोग।

५. विनिमय द्वारा सस्ती वस्तुओं का उपयोग सम्भव है—विनिमय द्वारा मंडियों का क्षेत्र विस्तृत होता है तथा उत्पत्ति के परिमाण में वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप प्रति इकाई लागत व्यय घटकर वस्तुएँ सस्ती उपलब्ध होना सम्भव हो जाता है।

६. विनिमय द्वारा ज्ञान, सभ्यता तथा संस्कृति का विकास होता है—विनिमय से विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है जिसके परिणामस्वरूप एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के सम्पर्क में आता है और एक दूसरे की कला, ज्ञान, विज्ञान के सीखने का दोनों को अवसर प्राप्त होता है।

७. विनिमय द्वारा औद्योगिक उन्नति में एक दूसरे की सहायता प्राप्त हो सकती है—एक देश की पूँजी अनुभव और श्रमिक दूसरे देशों को भेजे जा सकते हैं जिससे औद्योगिक उन्नति में एक दूसरे को सहायता प्राप्त हो सकती है। भारत अपनी औद्योगिक उन्नति के लिये अमरिका से पूँजी व अनुभवी पुरुषों का आयात कर लाभ उठा सकता है।

८. आधुनिक असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति विनिमय द्वारा ही सम्भव हो सकती है—आधुनिक समय में मनुष्य की आवश्यकताएँ असीमित हैं। वह उन सबकी पूर्ति के लिये स्वयं उत्पादन नहीं कर सकता। दूसरों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ सस्ती व सुगमता से उपलब्ध हो जाने से आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव हो सकती है।

९. विनिमय द्वारा उत्पादन शक्ति स्थिर रखी जा सकती है—उत्पादन शक्ति को बनाये रखना और उसमें वृद्धि करना विनिमय का ही कार्य है। आज यदि आस्ट्रेलिया से गेहूँ और बर्मा से चावल का आना बन्द कर दिया जाय तो वहाँ के इन उद्योगों में संलग्न व्यक्ति इन्हें छोड़कर अन्य उद्योगों में लग जायेंगे जिसके परिणामस्वरूप सदैव के लिये उनकी उत्पादन शक्ति नष्ट हो जायगी।

१०. विनिमय राष्ट्रों में मैत्री भाव उत्पन्न कर देता है—विनिमय द्वारा विदेशी व्यापार में उन्नति होती है जिसके फलस्वरूप राष्ट्रों के मध्य सहानुभूति एवं मित्रता के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जिससे अनेक लाभदायक प्रयोजन सिद्ध हो सकते हैं।

११. संकट के समय सहायता प्राप्त हो सकती है—अकाल, भूचाल, युद्ध तथा अन्य राष्ट्रीय संकटों में हम विनिमय द्वारा अन्य देशों से सहायता प्राप्त कर सकते हैं। यदि हम विदेशों से अन्न आदि की सहायता नहीं मिलती तो हमारा खाद्य-संकट और भी गम्भीर हो सकता था।

विनिमय के रूप (Forms of Exchange)

विनिमय के दो मुख्य रूप हैं—(१) वस्तु विनिमय अर्थात् अदला-बदला (Barter) और (२) मुद्रा विनिमय (Money Exchange) अर्थात् क्रय विक्रय।

(१) वस्तु विनिमय अर्थात् अदला बदली (Barter)—जब एक वस्तु या सेवा का बदला सीधा किसी अन्य वस्तु या सेवा से किया जाय तो उसे 'वस्तु विनिमय या अदला बदली' कहते है। यदि एक कृषक अपना अनाज देकर किसी जुलाहे से कपड़ा लेता है तो यह वस्तु विनिमय अर्थात् अदला बदली का उदाहरण है। वस्तु विनिमय की एक विशेषता यह है कि इसमें मुद्रा (Money) का प्रयोग बिल्कुल नहीं होता है।

(२) मुद्रा विनिमय (Money Exchange) अर्थात् क्रय विक्रय (Purchase & Sale)—जब वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय मुद्रा के माध्यम द्वारा हो तो वह मुद्रा विनिमय कहलाता है। यह क्रिया क्रय विक्रय द्वारा सम्पन्न होती है। किसी वस्तु या सेवा को मुद्रा के बदले में प्राप्त करना क्रय या ख़रीद (Purchase) कहलाता है और किसी वस्तु को मुद्रा के बदले में देना बिक्री या विक्रय (Sale) कहलाता है। जैसे रुपया देकर अनाज लेना और रुपया लेकर अनाज देना आदि।

विनिमय के विविध रूप निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा भली प्रकार व्यक्त किये गये है —
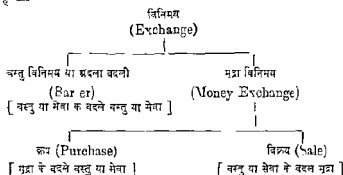
वस्तु विनिमय की कठिनाइयां या असुविधाएं (Difficulties or Inconveniences of Barter)—आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में वस्तु विनिमय प्रथा ही सर्वत्र प्रचलित थी। धीरे धीरे मनुष्य ने उन्नति की और उसकी आवश्यकताएं बढ़ती गई। जैसे जैसे मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ी मनुष्य ने वस्तु उत्पादन के नये नये साधन भी खोज निकाले जिसके फलस्वरूप आधुनिक आर्थिक तन्त्र इतना विस्तृत और जटिल बन गया है कि वस्तु विनिमय प्रथा में अनेक कठिनाइयाँ और असुविधाएं अनुभव होने लगी। वस्तु विनिमय की मुख्य कठिनाइयाँ या असुविधाएं निम्नलिखित हैं —

१ आवश्यकताओं के दुहरे संयोग का अभाव (Lack of Double Coincidence of Wants)—वस्तु विनिमय की सबसे पहली कठिनाई या असुविधा आवश्यकताओं के दुहरे संयोग का अभाव है। वस्तु विनिमय तभी सम्भव है जबकि एक मनुष्य दूसरे ऐसे मनुष्य की खोज करे जिसके पास उसकी आवश्यकता की वस्तु हो और जो उसकी वस्तु को लेने के लिये भी तत्पर हो। अन्य शब्दों में कहा जा

सकता है कि एक मनुष्य की आवश्यकता दूसरे मनुष्य की आवश्यकता के अनुरूप होनी चाहिए अन्यथा वस्तु विनिमय सम्भव नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये कृष्ण के पास एक गाय है और वह गाय के बदले वस्त्र चाहता है तो उसको एक ऐसा मनुष्य को खोजना पड़ेगा जिसके पास न केवल वस्त्र ही हो अपितु वह गाय भी चाहता हो। मान लीजिए गाय के बदले में वह केवल गेहूं ही दे सकता है तब कृष्ण को एक ऐसा मनुष्य ढूँढना पड़ेगा जो गेहूं चाहता हो और इसी प्रकार उसे अन्य मनुष्यों की भी खोज करनी पड़ेगी जब तक उसको अपनी आवश्यकता की वस्तु नहीं प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार वस्तु विनिमय बहुत असुविधाजनक एवं कष्टसाध्य होता है।[1]

अब मुद्रा के चलन से यह कठिनाई दूर हो गई है। प्रत्येक मनुष्य अब अपनी अपनी वस्तुओं को मुद्रा के बदले में बाजार में बेच सकता है और प्राप्त मुद्रा के बदले में कोई भी वस्तु बाजार से खरीद सकता है।

२ सर्वमान्य मूल्य मापदण्ड का अभाव (Lack of Common Measure of Value)—विनिमय की दूसरी कठिनाई यह है कि उसमें वस्तुओं के मूल्य को आँकने का कोई आधार नहीं है। मान लीजिए, एक मनुष्य के पास गेहूं है और दूसरे के पास कपड़ा है। दोनों आपस में अपनी अपनी वस्तुओं का विनिमय करना चाहते है। परन्तु यह कैसे निश्चय किया जाय कि कितने गेहूं के बदले में एक गज कपड़ा मिले या एक सेर गेहूं के बदले में कितना कपड़ा मिले। संक्षेप में वस्तु विनिमय व्यवस्था में माँग और पूर्ति के मध्य कोई उचित सन्तुलन सम्भव नहीं है।

मुद्रा के द्वारा यह कठिनाई दूर हो सकती है। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी वस्तुओं का मूल्य मुद्रा में आँक सकता है जिससे वस्तुओं के आपस के मूल्य निश्चित किये जा सकते है।

३ विभाजन की कठिनाई (Lack of Divisibility)—कुछ वस्तुयें ऐसी है जिनका विभाग और उपविभाग नहीं हो सकता जैसे गाय घोड़ा मेज नाव आदि। विभाग करने से उनका मूल्य बहुत घट जाता है अथवा नष्ट हो जाता है। यदि

[1]—कई पिछड़े हुए देशों में अब भी वस्तु विनिमय प्रथा प्रचलित है। कुछ यात्रियों ने जिन्हें ऐसे देशों में यात्रा करने का अवसर मिला है वस्तु विनिमय की असुविधाओं तथा कठिनाइयों का रोचक वर्णन किया है। उनमें से लैफ्टिनेन्ट कैमरन् (Lt Cameron) का वर्णन उल्लेखनीय है। लैफ्टिनेन्ट कैमरन् को अफ्रीका में यात्रा करते समय एक नाव की आवश्यकता पड़ी जिसको प्राप्त करने में उन्हें जिन असुविधाओं का सामना करना पड़ा उनका वर्णन उन्होंने All Cross (Africa) में इस प्रकार किया है सैयद का एजेन्ट हाथीदाँत में भुगतान चाहता था जो कि मेरे पास नहीं था। किन्तु मुझे मालूम हुआ कि मुहम्मद इब्न साहब के पास हाथीदाँत थे उन्हें वस्त्र की आवश्यकता थी। पर मेरे पास वस्त्र भी नहीं था और इससे मेरी समस्या हल नहीं हुई। फिर मैंने सुना कि मुहम्मद इब्न गरीब के पास वस्त्र था परन्तु उन्हें तार की आवश्यकता थी। भाग्यवश तार मेरे पास था। अतः मैंने तार इब्न गरीब को दिया उन्होंने मुझे जो वस्त्र दिया वह मैंने इब्न साहब को दिया उन्होंने जो हाथीदाँत दिया वह मैंने सैयद के एजेन्ट को दिया तब कहीं जाकर मुझे नाव प्राप्त हुई।

इस प्रकार कई रोचक कहानियाँ डब्लू० एस० जवन्स (W S Jevons) ने अपनी Money and the Mechanism of Exchange) नामक पुस्तक में दी है।

सब वस्तुओं का एक समान मूल्य हो, तो इस प्रकार के विनिमय में कोई कठिनाई नहीं होगा। पर वास्तव में वस्तुओं का मूल्य भिन्न भिन्न होता है। ऐसी स्थिति में किस प्रकार भिन्न भिन्न मूल्य वाली वस्तुओं की प्रत्यक्ष रूप से अदला-बदली हो सकती है? वस्तुओं को कई भागों में बांट कर मूल्य बराबर करना हर समय सम्भव नहीं है।

उदाहरण के लिये मान लीजिये कि एक किसान के पास एक घोड़ा फालतू है जिसके बदले में वह कुछ कपड़ा, कुछ नमक, कुछ बर्तन और एक फावड़ा लेना चाहता है। यदि ये सब वस्तुएं एक ही मनुष्य के पास हों और उस घोड़े की आवश्यकता हो, तो यह विनिमय सुगमता से हो सकता है। यदि ये सब वस्तुएँ अलग अलग मनुष्यों के पास हों तो घोड़े के अलग अलग टुकड़े कर उन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार यह कठिनाई वस्तु विनिमय में अड़चन पैदा करती है।

मुद्रा के द्वारा यह कठिनाई सरलता से दूर की जा सकती है। घोड़े वाला मनुष्य घोड़े को बाजार में बेच देगा और प्राप्त मुद्रा से अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओं को खरीद लेगा।

८. अर्घ-संचय का अभाव (Absence of Store of Value)—वस्तु विनिमय में भविष्य के उपयोगों के लिये अर्घ संचय का पूर्ण अभाव है क्योंकि वस्तुओं के शीघ्र नष्ट हो जाने से उनका संचय सम्भव नहीं है।

मुद्रा में अर्घ संचय शक्ति है अतः यह भविष्य के उपयोगों के लिये सुरक्षित रखी जा सकती है।

अन्य कठिनाइयाँ (Other Difficulties)—इनके अतिरिक्त वस्तु विनिमय की और भी कठिनाइयाँ हैं जैसे वेतन वितरण की कठिनाई, यातायात की सेवाओं के विनिमय की कठिनाई आदि। यातायात की सेवाओं के बदले में कोई वस्तु नहीं दी जा सकती। इस प्रकार वर्तमान अर्थ व्यवस्था में वस्तु विनिमय की इतनी अधिक कठिनाइयाँ हैं कि वह एक दिन के लिये भी सम्भव नहीं हो सकता।

वस्तु विनिमय को सम्भव बनाने वाली दशाएं (Conditions Making Barter Possible)—आजकल जबकि श्रम विभाजन सूक्ष्म अवस्था तक पहुँच गया है तथा आवश्यकताएं अत्यधिक बढ़ गई हैं एवं वस्तुओं का उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है, ऐसी अवस्था में कोई भी समाज मुद्रा का उपयोग किये बिना जीवित नहीं रह सकता। वस्तु विनिमय केवल निम्नलिखित दशाओं में ही सम्भव हो सकता है :—

(१) सीमित आवश्यकताएं (Limited Wants)—वस्तु विनिमय के लिये ऐसे दो व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जिनके लेन-देन की वस्तुयें एक दूसरे की आवश्यकताओं के अनुकूल हों। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि समाज में मनुष्यों की आवश्यकताएँ बिल्कुल सीमित हों। परन्तु जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकताएँ और उनकी किस्म बढ़ती जाती हैं वैसे-वैसे ही वस्तु विनिमय में कठिनाइयां उपस्थित होती जाती हैं। वस्तु विनिमय हमारे गावों में सुगमता से हो सकता है क्योंकि ग्रामीणों की आवश्यकताएं साधारण और सीमित होती हैं। उदाहरणार्थ यदि एक किसान अपना गेहूँ देकर चावल लेना चाहे तो यह सम्भव है कि उसे कोई दूसरा ऐसा व्यक्ति मिल जाय जो अपना चावल देकर गेहूं लेना चाहता हो। परन्तु एक नगर निवासी एक घड़ी देकर फाउन्टेन पैन लेना चाहता है तो उसे ऐसा व्यक्ति को ढूंढने में बड़ी कठिनाई होगी जो उसकी घड़ी के बदले में फाउन्टेन पैन देने को तैयार हो। इसका कारण यह है

कि गेहूँ और चावल की आवश्यकता साधारणतया गाँव में सभी को रहती है। अतः गाँव में अनुकूल आवश्यकता वाले व्यक्तियों का पता लगाना इतना कठिन नहीं है जितना कि एक नगर में घड़ी और फाउन्टेन पैन के विनिमय के लिये। घड़ी और फाउन्टेन पैन की असाधारण आवश्यकता होने के अतिरिक्त उनमें कई प्रकार की किस्में होती हैं जिनके कारण अदला बदली के लिये उपयुक्त व्यक्तियों का मिलना दुर्लभ हो जाता है।

(२) विनिमय का सीमित क्षेत्र (Limited Field of Exchange) वस्तु विनिमय तभी सम्भव है जबकि विनिमय का क्षेत्र संकुचित हो। यदि विनिमय का क्षेत्र संकुचित नहीं है तो वस्तु विनिमय के लिये उपयुक्त मनुष्य की खोज में अत्यधिक समय लगेगा और एक दूसरे को आवश्यकताओं से परिचित होने का कोई अवसर नहीं मिलेगा जोकि वस्तु विनिमय के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

(३) समाज का सामान्य पिछड़ापन (General Backwardness of Society)—वस्तु विनिमय एक ऐसे समाज में सम्भव है जो अत्यन्त पिछड़ा हुआ तथा असभ्य हो और जिसमें एक वस्तु देकर दूसरी वस्तु प्राप्त करने के अतिरिक्त विनिमय का अन्य साधन ही न हो। आजकल भी पिछड़े तथा असभ्य देशों में वस्तु विनिमय की प्रथा पाई जाती है। उन भारतीय ग्रामों में जो कि नगरों से बहुत दूर स्थित हैं आज भी इसी प्रकार की वस्तु विनिमय की प्रथा प्रचलित है।

निष्कर्ष (Conclusion)—वस्तु विनिमय को सम्भव बनाने वाली जिन अवस्थाओं का वर्णन ऊपर किया गया है वे वास्तविक की अपेक्षा काल्पनिक प्रतीत होती हैं। इस युग में कोई भी सभ्य समाज मुद्रा के प्रयोग की उपेक्षा नहीं कर सकता। प्रो० कैसिल (Cassel) ने इस सम्बन्ध में उचित ही लिखा है कि 'मानवीय इतिहास में कभी ऐसे समाज का अस्तित्व नहीं रहा जिसमें सामान्यतया तथा पूर्णतया मुद्रा के प्रयोग के बिना ही वस्तुओं का विनिमय चलता रहा हो। आज भी ग्रामीण भारत में जिस प्रकार का वस्तु विनिमय प्रचलित है वह पूर्णतया वस्तु विनिमय न होकर एक प्रकार का मिश्रण है। अस्तु वस्तु विनिमय की पूर्ण अवस्थाओं का प्रतिपादन करना कल्पना-मात्र है।

वर्तमान समय में भारतीय ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में वस्तु विनिमय का महत्व (Importance of Barter in the Rural Economy of India at the Present Time)

आज के युग में भी भारतीय ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में वस्तु विनिमय (Barter) का बड़ा महत्व है। वैसे देखा जाय तो ग्रामों का दैनिक जीवन आज भी वस्तु विनिमय द्वारा सचालित होता है। गाँवों में रुपया कम प्रयुक्त होता है। इसका प्रयोग कुछ ही अवसरों पर होता है जैसे *ग्रामीण को सरकारी लगान देना हो* महाजन को ऋण चुकाना हो अथवा कपड़ा आदि खरीदना हो, अन्यथा वहाँ तो अदला बदली से ही काम चलता है। नमक, तेल, घी मिर्च-मसाला, साग, आदि दैनिक आवश्यकताएँ सब वस्तु विनिमय से ही पूर्ण की जाती हैं। ऐसी अवस्थाओं में लोग रुपये में केवल यही लाभ उठाते हैं कि उसमें वे अदला बदली की जाने वाली वस्तुओं का मूल्य जान लेते हैं। उदाहरणार्थ रुई १ रु० की २ सेर आती है और मिठाई १ रु० की एक सेर आती है तो एक सेर रुई देकर आधा सेर मिठाई ली जा सकती है।

भारतीय ग्रामों में अब भी वस्तु विनिमय प्रथा प्रचलित होने के कारण—अब प्रश्न यह प्रस्तुत होता है कि ग्रामीण भारत में अब भी वस्तु विनिमय प्रथा क्यों

प्रचलित है ? इसका सरल शब्दों में उत्तर देने हुये यह कहा जा सकता है कि भारतीय ग्रामीणों की आवश्यकतायें साधारण एवं सीमित हैं जिसके कारण वस्तुओं की अदला-बदली से ही उनका काम सुगमतापूर्वक चल सकता है। उनके जीवन में इस प्रकार की कोई कठिनाई उपस्थित ही नहीं होती। इसके अतिरिक्त उनके गाँवों का क्षेत्र जहाँ वस्तु-विनिमय होता है सीमित होता है जिससे वे एक दूसरे की आवश्यकताओं से भली प्रकार परिचित रहते हैं। उन्हें उपर्युक्त व्यक्तियों की खोज करने में अधिक समय नहीं लगता है। उनका सामान्य पिछड़ा हुआ होना वस्तु विनिमय प्रथा के प्रचलन का एक मुख्य कारण है। उनका गिरा हुआ जीवन-स्तर, अविद्या, अज्ञानता, रूढ़िवादिता, यातायात व सम्वाद के साधनों की कमी, बैंकिंग सुविधाओं का अभाव आदि कई ऐसी बातें हैं जो उनके सामान्य विकास में अवरोधक सिद्ध होती हैं। नगरों से बहुत दूर स्थित गाँवों में दशा और भी शोचनीय है। परन्तु नगरों के निकटवर्ती गाँवों में अब मुद्रा का बढ़ता हुआ प्रचार देखा जाता है।

वस्तु विनिमय अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा मुद्रा विनिमय अर्थ-व्यवस्था की श्रेष्ठता (Superiority of Money Economy to Barter Economy)

मुद्रा-विनिमय अथवा क्रय विक्रय पद्धति द्वारा वस्तु-विनिमय की समस्त कठिनाइयाँ एवं असुविधायें दूर होकर आधुनिक परिस्थितियों में जो सुचारु रूप से कार्य सचालन हो रहा है वह मुद्रा विनिमय की कुशलता का ही प्रतीक है। आधुनिक समस्त आर्थिक क्रियाओं अर्थात् उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय, वितरण और राजस्व में वस्तु विनिमय बिल्कुल असाध्य सिद्ध हुआ है। अब यह देखना है कि अर्थशास्त्र के प्रत्येक विभाग में किस प्रकार वस्तु-विनिमय का स्थान मुद्रा विनिमय ने ग्रहण किया है।

उपभोग—प्राचीन समय में जबकि मनुष्य की आवश्यकतायें साधारण एवं सीमित थी, तब वस्तु-विनिमय की प्रधानता थी। परन्तु आज जबकि मनुष्य की आवश्यकतायें न केवल संख्या में ही बल्कि किस्म में भी बहुत बढ़ गई हैं, वस्तु-विनिमय इनकी पूर्ति के लिये अयोग्य सिद्ध हो चुका है। मुद्रा के प्रयोग ने मनुष्य के लिये नाना प्रकार की वस्तुओं का उपभोग सम्भव कर दिया है।

उत्पत्ति—आजकल उत्पत्ति बड़े पैमाने पर होती है। आधुनिक सगठनकर्ता को कच्चा माल बड़े परिमाण में खरीदना पड़ता है, उसे विदेशों से मशीनें मँगानी पड़ती हैं, कारखाने में काम करने वाले हजारों श्रमिकों को समय पर मजदूरी वितरण करनी पड़ती है तथा अपनी वस्तुओं की खपत की व्यवस्था देश विदेशों में करनी पड़ती है। ये सब बिना मुद्रा के प्रयोग के बिल्कुल सम्भव नहीं हो सकता। उधार लेने और देने की व्यवस्था तो पूर्णतया मुद्रा विनिमय पर ही निर्भर है। आधुनिक उत्पत्ति का सम्पूर्ण ढाँचा वस्तु-विनिमय के अन्तर्गत तो स्वप्न तुल्य है परन्तु यही मुद्रा विनिमय में साक्षात्कार है।

विनिमय—मुद्रा ने न केवल वस्तु-विनिमय की कठिनाइयों को ही दूर किया है बल्कि विनिमय को सुगम बनाने वाले साख पत्रों, बैंकों आदि के लाभ भी उपलब्ध कर दिये हैं। वास्तव में, आधुनिक विनिमय मुद्रा विनिमय ही है।

वितरण—मुद्रा ने आधुनिक उत्पादक का वितरण-कार्य बड़ा सुगम बना दिया है। मुद्रा के कारण ही आज सयुक्त उत्पादन प्रणाली सम्भव है। इस प्रणाली के द्वारा जो वस्तुएँ बनती हैं वे बाजार या मंडी में बेच दी जाती हैं और जो मुद्रा प्राप्त होती है वह नियमानुसार विविध उत्पादन साधकों अर्थात् भूस्वामी, श्रमिक,

पूँजीपति, संगठनकर्ता और साहसी में बाँट दी जाती है। यह वस्तु-विनिमय प्रथा के अन्तर्गत बिल्कुल सम्भव नहीं है, क्योंकि सबको उत्पादित वस्तुओं में भुगतान करना पड़ेगा जिसमें प्रत्येक उत्पादन साधक को अभीष्ट वस्तु प्राप्त करने में कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

राजस्व—जरा उस अवस्था की कल्पना कीजिये जिसमें विविध प्रकार की सरकारी आय वस्तुओं में होती हो और सरकारी कर्मचारियों को वेतन आदि भी वस्तुओं में दिया जाता हो। ऐसी व्यवस्था में किस प्रकार असुविधा होगी उसका भी भली-भाँति अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक सरकार को अनेक ऐसे कार्य करने पड़ते हैं जो मुद्रा द्वारा ही सम्भव हो सकते हैं। यह मुद्रा का ही प्रभाव है कि आज सरकार देश में सुख, शांति और न्याय स्थापित कर सकती है।

इससे यह स्पष्ट है कि वस्तु-विनिमय आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में बिल्कुल अनुपयुक्त सिद्ध होता है और इसी कारण मुद्रा-विनिमय ने इसका स्थान ग्रहण कर आधुनिक अर्थ-व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने का श्रेय प्राप्त किया है।

विनिमय के साधन (Instruments of Exchange)

आधुनिक विनिमय व्यवस्था के अन्तर्गत वस्तुएँ उत्पादक से अन्तिम उपभोक्ता के पास सीधी न पहुँच कर कई साधनों द्वारा पहुँचती हैं। नीचे कुछ इन्हीं साधनों का उल्लेख किया जाता है :—

(१) व्यापारी वर्ग (Merchants & Traders)—इनके द्वारा उत्पादकों और उपभोक्ताओं के मध्य सम्पर्क स्थापित होता है। ये लोग वस्तुओं को दूर के स्थानों से लाकर उपभोक्ताओं के पास पहुँचा देते हैं। व्यापार करने के ढंगों के अनुसार इनमें पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है—कोई थोक व्यापारी होता है और कोई फुटकर।

(२) यातायात व सवाद के साधन (Means of Transport & Communication)—मोटर, समुद्री जहाज, वायुयान, तार, टेलीफोन, रेडियो आदि से वस्तुओं के क्रय-विक्रय में बड़ी सहायता मिलती है। इनसे विनिमय को प्रोत्साहन मिलकर व्यापार में वृद्धि होती है।

(३) मुद्रा (Money)—वर्तमान समय में विनिमय का माध्यम मुद्रा है। इसके द्वारा वस्तु-विनिमय की समस्त कठिनाइयाँ दूर होकर विनिमय-व्यवस्था बड़ी सुगम हो गई है।

(४) मण्डी या बाजार (Markets)—वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिये मण्डियों या बाजारों की भी आवश्यकता है।

(५) साख-पत्र और साख-संस्थाएँ (Credit Instruments & Credit Institutions)—मुद्रा-विनिमय का कार्य साख पत्रों (चैक, बिल ऑफ एक्सचेंज व प्रॉमिसरी नोट) और साख संस्थाओं (बैंक आदि) द्वारा कुशलता पूर्वक सम्पन्न किया जाता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—विनिमय का अर्थ स्पष्ट कीजिए। विनिमय में दानों पक्षों को किस प्रकार लाभ होता है? उदाहरण देकर समझाइए।

२—वस्तु विनिमय किसे कहते हैं? इसमें क्या असुविधाएं हैं? यह किन परिस्थितियों में सम्भव है? (रा० बो० १९६०)

३—वस्तु विनिमय तथा मुद्रा-विनिमय के लाभ तथा हानियाँ बताइए। (अ० बो० १९५६)

४—वस्तु विनिमय की क्या कठिनाईयां होती हैं? क्या यह कहना सत्य है कि वस्तु-विनिमय में यदि एक पक्ष का लाभ होता है तो दूसरे को हानि? इसके कारण सावधानी से बताइए। (म० भा० १९५६)

५—अदल बदल (Barter) की हानियाँ क्या हैं? सिक्के के प्रचलन द्वारा ये कहाँ तक दूर हुई हैं?

६—'विनिमय' के अर्थ का स्पष्ट अर्थ समझाइये। विनिमय से उपयोगिता में दोना पक्षों को किस प्रकार लाभ होता है?

७—विनिमय किसे कहते हैं? इसे स्पष्ट कीजिये कि विनिमय की क्रिया से दोनों पक्षों को किस प्रकार लाभ होता है? (म० भा० १९५४)

८—आप वस्तु विनिमय से क्या अर्थ समझते हैं? वस्तु-विनिमय प्रणाली की कठिनाइयों को समझाइए। (अ० बो० १९५५)

९—विनिमय की क्या शर्तें हैं? एक उदाहरण सहित बताइये कि विनिमय से दोनों पक्षों को उपयोगिता का किस प्रकार लाभ होता है? (अ० बो० १९५२)

१०—मुद्रा द्वारा बिक्री (Sale for Money) ने वस्तु-विनिमय का स्थान क्या ले लिया? समझाइये। (रा० बो० १९५५)

११—अदल-बदल की प्रमुख असुविधाओं का उल्लेख करिये। वर्तमान काल में ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में अदल-बदल के महत्व का वर्णन करिये। (देहली हा० सै० १९४८)

इण्टर एग्रीकल्चर परीक्षाएं

१२—विनिमय का उदय कैसे होता है? बताइये कि क्रय विक्रय बार्टर की अपेक्षा श्रेष्ठ क्या होता है? (अ० बो० १९५७)

अदला-बदली की असुविधाओं पर नोट लिखिए।

(रा० बो० १९५१, ४९; अ० बो० १९५०, ४६, उ० प्र० १९५०, ४८)

अध्याय ४७

मंडी अथवा बाजार (विपणि)
(Market)

मंडी अथवा बाजार (विपणि) का अर्थ (Meaning of Market)

साधारण बोल चाल की भाषा मे हम उस स्थान को मंडी अथवा बाजार कहते हैं जहाँ क्रेता और विक्रेता अपनी अपनी वस्तुओं का सौदा करने के लिये एकत्रित होते है कभी-कभी मंडी अथवा बाजार किसी अहाते या बडे मकान मे भी होता है। धान मंडी, सब्जी मंडी, कपडा बाजार, स्टेशनरी मार्ट, शेयर मार्केट आदि इसके कुछ उदाहरण हैं। यदि एक वस्तु किसी विशिष्ट स्थान पर बेची जाती है तो वह स्थान उस वस्तु के लिये मंडी है। अस्तु जितनी वस्तुएँ एक स्थान पर बिकती हैं उतनी ही मंडियाँ उस स्थान मे मानी जायगी। दूसरे शब्दों मे मंडी अथवा बाजार शब्द का प्रयोग साधारणतया किसी स्थान-विशेष के लिये होता है जहाँ बडी बडी दुकानें या गोदाम बने हुए हो, जहाँ *क्रय विक्रय के लिये वस्तुएँ रखी जाती हो तथा क्रेता और विक्रेता सौदा करने के लिये* एकत्रित होते हो। किन्तु अर्थशास्त्र मे मंडी अथवा बाजार शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट एवं विस्तृत अर्थ मे होता है। अर्थशास्त्र मे मंडी अथवा बाजार से हमारा अर्थ किसी *विशिष्ट स्थान से नही होता जहाँ वस्तुएँ बेची और खरीदी जाती हो बल्कि उस सारे* क्षेत्र से होता है जिसमे क्रेता और विक्रेता आपस मे इस प्रकार प्रतियोगिता करें कि सारे क्षेत्र मे वस्तु का मूल्य समान हो जाय। अत यह स्पष्ट है कि आर्थिक मंडी अथवा बाजार का सम्बन्ध किसी स्थान विशेष मे नही होता बल्कि वस्तु-विशेष के क्रेता और विक्रेताओं से है जो आपस मे सम्पर्क स्थापित कर प्रतियोगिता करते हैं तथा जिसके परिणाम-स्वरूप सारे क्षेत्र मे एक ही मूल्य प्रचलित हो जाता है। अस्तु यदि एक ही क्षेत्र मे एक ही वस्तु के क्रेता और विक्रेताओं के अनेक समूह हों तो उस क्षेत्र म एक से अधिक बाजार हो सकते हैं, क्योंकि अर्थशास्त्र मे बाजार शब्द का सम्बन्ध किसी स्थान विशेष मे नही होता, बल्कि परस्पर प्रतियोगिता मे सलग्न किसी वस्तु के क्रेताओं और विक्रेताओं के समूहों से होता है। स्थानीयता का कोई बन्धन नहीं है। जैसे गेहूँ, रूई, चाँदी, सोना आदि का बाजार ससार-व्यापी है। इसी प्रकार एक ही क्षेत्र मे एक ही वस्तु के विभिन्न बाजार अथवा मंडियाँ हो सकती है, जैसे थोक बाजार और फुटकर बाजार, क्योंकि थोक व फुटकर क्रेता और विक्रेताओं के समूह भिन्न भिन्न होते हैं और उनके मूल्यों मे भी पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।

कुछ समय पूर्व जबकि यातायात व सम्वाद के साधनों का विकास नहीं हुआ था किसी स्थान विशेष को मंडी या बाजार कहना उचित ही था, क्योंकि वस्तु के क्रेता और विक्रेता उसी स्थान के लोग होते थे। किन्तु अब परिस्थिति बिल्कुल बदल गई है। भारतीय चाय केवल भारत मे ही नही बिकती है बल्कि इग्लैंड और अमरिका

आदि दूर स्थित देशों में भी बिकती है। अतः इसका बाजार विश्व व्यापी है। वह समस्त क्षेत्र जहाँ उसके क्रेता और विक्रेता उपस्थित हैं चाय के बाजार के अन्तर्गत आता है।

कुछ प्रामाणिक परिभाषाएं (Some Standard Definitions)

(१) प्रसिद्ध फ्रांसीसी अर्थशास्त्री कूर्नो (Cournot) ने मंडी अथवा बाजार को इस प्रकार परिभाषित किया है।

अर्थशास्त्रियों के अनुसार बाजार शब्द का आशय ऐसे स्थान से नहीं जहाँ कि वस्तुओं का क्रय विक्रय होता है वल्कि उस समस्त क्षेत्र से है जिसमें क्रेताओं और विक्रेताओं के मध्य ऐसी स्वतन्त्र प्रतियोगिता हो कि किसी वस्तु का मूल्य सुगमता और शीघ्रता से समानता की ओर प्रवृत्ति प्रदर्शित करे।[1]

(२) इंगलैंड के एक बड़े अर्थशास्त्री जेवन्स (Jevons) ने इस निम्न प्रकार परिभाषित किया है प्रारम्भ में बाजार किसी कस्बे का वह सार्वजनिक स्थान होता था जहाँ बिक्री के लिए खाद्य एवं अन्य पदार्थ रखे जाते थे परन्तु यह शब्द अब एक विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसका आशय उन व्यक्तियों के समूह से होता है जिनके मध्य में घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो और जो किसी वस्तु में बहुत से सौदे करें।[2]

(३) हाब्सन (Hobson) की परिभाषा

अनेक प्रत्यक्ष रूप से प्रतियोगिता करने वाले व्यापारों का नाम मंडी अथवा बाजार है।[3]

1— Economists understand by the term market not any particular place in which things are bought and sold but the whole of any region in which buyers and sellers are in such free intercourse with one another that the prices of the same goods tend to equality easily and quickly —*Cournot*

Quoted by Marshall in Principles of Economics P 324

2— Originally amarket was a public place in a town where provisions and other objects were exposed for sales but the word has been generalised so as to mean any body of persons who are in intimate business relations and carry extensive transactions in any commodity —*Jevons*

Theory of Political Economy P 84—85

3— Market is the name given to a number of directly compet ting businesses —*Hobson*

(४) वॉकर (Walker) की परिभाषा :

राजनीति अर्थशास्त्र मे बाजार (विपणि) शब्द का संकेत प्रथम तो वस्तुओ की ओर द्वितीय विनिमय करने वालो के समूह की ओर होना चाहिये • • जितने विनिमय करने वालो के समूह होगे उतने ही वहा बाजार होंगे।[4]

(५) चेपमैन (Chapman) की परिभाषा :

यह आवश्यक नही है कि बाजार शब्द से स्थान का ही बोध हो परन्तु इससे सदैव वस्तु या वस्तुओ और उनके क्रेताओ व विक्रेताओ का बोध होता है जो एक दूसरे के साथ प्रत्यक्ष रूप मे प्रतियोगिता कर रहे हो।[5]

(६) बैनहम (Benham) की परिभाषा

मंडी वह क्षेत्र है जहाँ क्रेताओ और विक्रेताओ मे प्रत्यक्ष अथवा व्यापारियो के द्वारा इतना निकट सम्बन्ध हो कि मंडी के एक भाग मे प्रचलित मूल्यो का अन्य भागो मे दिये जाने वाले मूल्य पर प्रभाव पडता हो।[6]

(७) ऐली (Ely) की परिभाषा

बाजार वह सामान्य क्षेत्र है जिसमे किसी वस्तु के मूल्य को निर्धारित करने वाली शक्तियाँ क्रियाशील हो

उपर्युक्त विविध परिभाषाओ के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि अर्थशास्त्र मे मंडी अथवा बाजार किसी स्थान विशेष को नही कहते है,

---

4—"The term market in Political Economy should have reference to a species of commodity, secondly to a group of exchangers, there are as many markets as there are groups of exchangers"

—*Walker*

5—"The term refers not necessarily to a place but always to a commodity or commodities and the buyers and sellers of the same who are in direct competition with one another" —*Chapman*

6—"We must therefore define a market as any area over which buyers and sellers are in such close touch with one another, either directly or through dealers, that the prices obtainable in one part of the market effect the prices paid in other parts" —*Benham*

Economics—Benham Ch II P 20

7—In the words of Prof Ely, market means "the General field within which the forces determining the prices of a particular commodity operates"

Outlines of Economics [3rd Edition] P 154

बल्कि इस शब्द से उस सारे क्षेत्र (Area) या प्रदेश (Region) का अर्थ होता है जिसमें क्रेता और विक्रेता फैले हुये है और वे आपस में इस प्रकार प्रतियोगिता करें कि वस्तु का मूल्य सर्वत्र समान हो जाय उदाहरणार्थ, यदि एक वस्तु का मूल्य दो स्थानों में प्रतियोगिता न होने के कारण भिन्न-भिन्न है, तो अर्थशास्त्र की दृष्टि से उस वस्तु के दो बाजार हुये चाहें वे दो मील की दूरी पर ही क्यों न हों, परन्तु यदि एक वस्तु का मूल्य प्रतियोगिता होने के कारण दो स्थानों पर एक ही है, तो वह एक ही बाजार कहलायेगा चाहे वे दो स्थान पर्याप्त दूरी पर स्थित क्यों न हों। अतः यह स्पष्ट है कि आर्थिक मंडी (Economic Market) में न वस्तुओं की भौतिक उपस्थिति (Physical Presence) की आवश्यकता होती है और न क्रेताओं और विक्रेताओं का किसी विशिष्ट स्थान पर एकत्रित होना ही आवश्यक है। सक्षेप में, विनिमय करने वालों का वह समूह जो एक दूसरे के साथ क्रय-विक्रय में प्रतियोगिता कर रहा हो आर्थिक मंडी अथवा बाजार कहलाता है।

आर्थिक मंडी अथवा बाजार की विशेषताएँ
(Characteristics of an Economic Market)

आर्थिक मंडी अथवा बाजार में निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिएँ :

१ वस्तु विशेष न कि स्थान विशेष—आर्थिक मंडी की एक विशेषता यह है कि उसका सम्बन्ध किसी वस्तु विशेष के साथ होता है, न कि स्थान के साथ।

२. विनिमय करने वाले दलों का अस्तित्व आर्थिक मंडी की दूसरी विशेषता यह है कि वस्तु विनिमय के लिये क्रेताओं और विक्रेताओं के दोनों दलों का होना आवश्यक है। ये बाजार के विभिन्न अंग हैं। इनके बिना किसी प्रकार का क्रय-विक्रय नहीं हो सकता।

३ विनिमय करने वाले दलों में पारस्परिक प्रतियोगिता—प्रतियोगिता आर्थिक मंडी का मुख्य चिन्ह माना जाता है। परन्तु प्रतियोगिता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि बेचने वाले और खरीदने वाले एक ही स्थान पर हों। वे भिन्न-भिन्न स्थानों में रहते हुये भी रेल, डाक, तार, टेलीफोन, रेडियो आदि की सहायता से आपस में अच्छी तरह से प्रतियोगिता कर सकते है।

४. मंडी की परिस्थितियों का ज्ञान—क्रेताओं और विक्रेताओं में प्रतियोगिता तभी सम्भव है जबकि इन्हें मंडी की परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान हो।

५ एक वस्तु का एक समय में एक ही मूल्य होना—प्रतियोगिता के प्रभाव से किसी वस्तु का मूल्य सम्पूर्ण क्षेत्र में एक समय में एक ही होगा। यदि किसी वस्तु के बेचने और खरीदने वालों में पूर्ण प्रतियोगिता है और उन्हें इस बात की स्वतन्त्रता है कि जब और जहाँ चाहे बेच और खरीद सकते हैं तो उस दशा में उस वस्तु का मूल्य मंडी के प्रत्येक भाग में समान होगा। उदाहरण के लिये, कोई विक्रेता किसी वस्तु को औरों की अपेक्षा कम मूल्य पर बेचने को तैयार है, तो ऐसी दशा में सब ग्राहक उसकी ओर खिंच आयेंगे। अतः शेष विक्रेताओं को वह वस्तु बेचना अभीष्ट है तो उन्हें भी वही मूल्य स्वीकार करना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि कोई ग्राहक दूसरों की अपेक्षा अधिक मूल्य देने को तैयार है, तो सभी विक्रेता अपने माल को

उसी के हाथ बेचना चाहेंगे। अन्य ग्राहकों को वह वस्तु न मिल सकेगी जब तक कि वे भी उतना ही मूल्य देने को तैयार न हो जायें। इस प्रकार प्रतियोगिता के प्रभाव से किसी एक वस्तु का मूल्य मंडी या बाजार के भिन्न भिन्न भागों मे यातायात के लागत-व्यय को छोड़कर एक समान रहना स्वाभाविक है।

पूर्ण और अपूर्ण बाजार (Perfect & Imperfect Market)

एडम स्मिथ (Adam Smith) तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने विनिमय के क्षेत्र में पूर्ण बाजार की कल्पना की है। जिस बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect Competition) प्रचलित हो उसे अर्थशास्त्र में पूर्ण बाजार कहते है। जिस बाजार में प्रतियोगिता अपूर्ण (Imperfect) हो, वह अपूर्ण बाजार कहलायेगा। पूर्ण प्रतियोगिता होने की दशा मे सम्पूर्ण बाजार में एक ही मूल्य (Single Price) प्रचलित होगा। अस्तु, एक ही प्रतियोगितामूलक मूल्य (Competitive Price) पूर्ण बाजार का लक्षण एवं परीक्षा है। यदि बाजार में एक ही प्रकार की वस्तु के पृथक् पृथक् मूल्य प्रचलित हों तो सभी क्रेता उन विक्रेताओं से खरीदेंगे जो कम मूल्य पर बेच रहे हों और सभी विक्रेता उन क्रेताओं को बेचेंगे जो ऊँचे मूल्य पर खरीद रहे हों। इस प्रकार मूल्यों का अन्तर विलीन होकर सदा एक ही मूल्य स्थापित हो जाता है। यदि बाजार या मंडी विस्तृत हो, तो यातायात-व्यय के बराबर मूल्यों में अन्तर छोड़ देने से समानता का बोध हो सकता है।

पूर्ण बाजार के लिये आवश्यक बातें (Necessary Conditions for Perfect Market)—पूर्ण बाजार तभी सम्भव है, जबकि —

(१) क्रेता और विक्रेता बड़ी संख्या में हों,
(२) उनके मध्य परस्पर पूर्ण एवं स्वतन्त्र प्रतियोगिता हो
(३) क्रेताओं और विक्रेताओं को क्रय विक्रय सम्बन्धी बातों का ज्ञान हो
(४) वस्तु को बाजार में एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का कृत्रिम प्रतिबन्ध न हो,
(५) वस्तु की किस्म आदि मे कोई अन्तर न हो,
(६) व्यापारियों के कार्य मे किसी प्रकार का बाहरी हस्तक्षेप न हो,
(७) सस्ते एवं कुशल यातायात के साधन हों, और
(८) बाजार विस्तृत हो।

निम्नांकित दशाओं में पूर्ण बाजार है या अपूर्ण ?—

(अ) पुरानी पुस्तक एवं वस्त्र (Second-hand Books and Clothes) —पुरानी पुस्तकों और वस्त्रों का बाजार अपूर्ण होता है, क्योंकि उनका कोई प्रमाणित मूल्य (Standard Price) नहीं होता है।

(आ) ऋण राशि (Loan of Money)—ऋण की जोखम और अवधि के अनुसार ब्याज-दर मे बड़ी भिन्नता पाई जाती है। पाश्चात्य देशों में जहाँ बैंकिंग प्रणाली सुव्यवस्थित है, यदि ऋण की अन्य दशाएँ समान हों, तो ब्याज दर में भिन्नता नहीं हो सकती। परन्तु भारतवर्ष में मुद्रा-बाजार अपूर्ण है, क्योंकि साहूकार लोग ऋणियों की अनभिज्ञता (Ignorance) का अनुचित लाभ उठाते हैं और [illegible] दर मे ब्याज वसूल करते हैं।

(इ) विदेशी चलार्थ (Foreign Currency)—विदेशी चलार्थ का प्राय पूर्ण बाजार होता है क्योंकि व्यवहार कर्ता (Dealers) इतने निपुण होते है कि तनिक भी परिवर्तन क्यों न हो वे उसको नोट करते है और लाभ उठाते है।

(ई) वास्तविक सम्पत्ति (Real Estate)—वास्तविक सम्पत्ति का बाजार साधारणतया पूर्ण होता है। इसका व्यापार विशिष्ट ज्ञान वाले अभिकर्ताओं (Agents) के द्वारा होता है और क्रेता गण अपनी राशि इसमें लगाने से पूर्व पर्याप्त छान बीन करते है।

(उ) उपभोक्ताओं की वस्तुएँ (Consumers Goods)—उपभोक्ताओं की वस्तुओं का बाजार अपूर्ण होता है क्योंकि फुटकर मूल्यों म दुकान दुकान और स्थान स्थान के बीच पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है।

(ऊ) श्रम-सेवाएँ (Labour Services)—श्रम-सेवाओं का बाजार अपूर्ण होता है क्योंकि श्रम की गतिशीलता कम होने से ऊँची भृति (मजदूरी) का लाभ नहीं उठाया जा सकता। इसके अतिरिक्त श्रमिक सौदा करने म कमजोर होता है और प्राय वह यह नहीं जानता कि कहाँ अधिक भृति (wages) मिल सकता है।

(ए) नाशवान वस्तुएँ (Perishable Goods)—शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं का बाजार प्राय अपूर्ण होता है क्योंकि इन वस्तुओं का उपभोग एवं क्रय विक्रय स्थानीय होता है। जितना अधिक बाजार विस्तृत होगा उतनी ही अधिक पूर्णता उसमें होगी।

(ऐ) फुटकर व्यापार की वस्तुएँ (Retail Goods)—फुटकर व्यापार की वस्तुओं का बाजार अपूर्ण होता है क्योंकि उसकी स्थानीय माँग होती है और फुटकर व्यापारियों के ढङ्ग म तथा उपभोक्ताओं की रुचियों म पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है।

क्या पूर्ण बाजार का अस्तित्व काल्पनिक है ?

पूर्ण बाजार का अस्तित्व सशयात्मक है क्योंकि इसकी आधारभूत शिला—'पूर्ण प्रतियोगिता' स्वय काल्पनिक है। पूर्ण प्रतियोगिता का अस्तित्व काल्पनिक ससार म भले ही देखा जा सकता है परन्तु व्यावहारिक जगत म पूर्ण प्रतियोगिता का अस्तित्व असभव सिद्ध होता है। इसका कारण स्पष्ट है ग्राहकों को न तो इस बात का पूर्ण ज्ञान होता है और न उन्हें जानने के लिये ही समय है कि अमुक वस्तु न्यूनतम मूल्य म कहाँ मिलती है। इसके अतिरिक्त यातायात व्यय असुविधा और आलस्य के कारण वे दूर स्थित सस्ती दुकानों से खरीदने के बजाय पास की महँगी दुकानों से ही वस्तुएँ खरीद लेते है। यही नहीं दुकानदारों के व्यवहार और उनके द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं म पर्याप्त भिन्नता पाई जाने के कारण एक ही वस्तु विभिन्न मूल्यों पर बिकती हुई देखी जाती है। इन्हीं सब कारणों से फुटकर व्यापार म प्रतियोगिता बहुत ही अपूर्ण होती है। *थोक और सट्टा बाजार के सम्बन्ध म अवश्य पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना बहुत अंश म चरितार्थ होती है।*

आजकल एक और प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है जो पूर्ण प्रतियोगिता की घातक सिद्ध होती है। एक वस्तु थोड़े से परिवर्तन से विभिन्न नाम और रूप धारण कर विभिन्न वस्तुओं के नाम से बिकने लगती है। विभिन्न ब्राड, पैकिंग विज्ञापन आदि अनेक ऐसे साधन है जिनके द्वारा ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित किया जाता है।

इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता काल्पनिक सिद्ध होती है। हाँ यह अवश्य कहा जा सकता है कि कुछ वस्तुओं का बाजार अन्य वस्तुओं के बाजार को अपेक्षा अधिक पूर्ण है। अस्तु, बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता के स्थान में केवल अधिक और कम प्रतियोगिता ही सम्भव हो सकती है।

एक आदर्श अथवा उत्तम बाजार के गुण
(Qualities of an Ideal or Good Market)

एक आदर्श अथवा उत्तम बाजार के निम्नांकित गुण होने चाहिये :—

(१) **प्रतियोगिता**—क्रेताओं और विक्रेताओं में पर्याप्त प्रतियोगिता होनी चाहिये जिसके कारण वस्तु का मूल्य सम्पूर्ण बाजार में एक-सा रह सके।

(२) **बाजार की परिस्थितियों का ज्ञान**—क्रेताओं और विक्रेताओं की पारस्परिक प्रतियोगिता दोनों पक्षों को इस बात के लिये बाध्य करती है कि वे एक दूसरे के कार्यों से तथा वस्तु सम्बन्धी माँग व पूर्ति की दशाओं से भली-भाँति अवगत रहें ताकि वे बाजार में सलाभ कार्य कर सकें।

(३) **मूल्य की समानता**—जिस बाजार के समस्त भागों में एक-सा मूल्य प्रचलित होता है वह एक आदर्श बाजार माना जाता है। क्रेताओं और विक्रेताओं की पारस्परिक प्रतियोगिता इस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है।

(४) **भले तथा विज्ञ बिचवानी**—बिचवानी भले तथा जानकार आदमी होने चाहिये जो वस्तुओं का मूल्य स्थिर करने में क्रेताओं और विक्रेताओं की सहायता कर सकें।

(५) **पर्याप्त एवं शीघ्र यातायात व सम्वाद के साधन**—यातायात व सम्वाद के साधन पर्याप्त, सुगम तथा शीघ्र होने चाहिये जिनसे वस्तुओं का मूल्य सम्पूर्ण मंडी अथवा बाजार में समान रह सके।

(६) **मंडी अथवा बाजार की विस्तृति**—बाजार जितना ही अधिक विस्तृत होता है उतना ही वह आदर्श या उत्तम बाजार बन जाता है।

(७) **बाहरी हस्तक्षेप का अभाव**—जिस मंडी या बाजार में क्रेता और विक्रेतागण अपना-अपना कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक कर रहे हों, उसे उत्तम मंडी या बाजार कहेंगे। लड़ाई के समय की कन्ट्रोल-व्यवस्था इसी का एक उदाहरण है।

(८) **प्रतिबन्धहीन वस्तु-स्थानान्तरण**—बाजार में वस्तु-स्थानान्तरण में किसी प्रकार का कृत्रिम प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये। लड़ाई के समय में और अब भी कई वस्तुओं के स्थानान्तरण में प्रान्तीय प्रतिबन्ध लगे हुये हैं। इस प्रकार के प्रतिबन्ध उत्तम बाजार के स्तर से गिराने वाले होते हैं।

बाजार का नियम (Law of Market)—जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि यदि बाजार में विज्ञ क्रेता और विक्रेता एक बड़ी संख्या में पूर्ण रूप से प्रतियोगिता कर रहे हों, वस्तु का प्रकार एक-सा हो और वस्तु के स्थानान्तरण में कोई प्रतिबन्ध न हो, तो उस वस्तु का एक ही समय में सर्वत्र एक ही मूल्य रहेगा। यह नहीं हो सकता है कि एक स्थान पर वस्तु सस्ती हो और दूसरे स्थान पर महँगी। यदि किसी विक्रेता ने अपना मूल्य बढ़ा दिया, तो उसके ग्राहक तुरन्त उसे छोड़कर अन्य सस्ते विक्रेताओं से वस्तु खरीदना प्रारम्भ कर देंगे। अतः उस व्यापारी को भी अपना मूल्य उसी स्तर पर स्थिर करना पड़ेगा, क्योंकि स्वतन्त्र प्रतियोगिता में सस्ते मूल्य के मुकाबले में ग्राहक की

दृष्टि मे व्यापारी की मित्रता एवं सद्व्यवहार कोई महत्व नही रखता। इसी प्रकार यदि कोई क्रेता कम मूल्य देना चाहे, तो कोई विक्रेता उसे वस्तु नही बेचेगा, क्योंकि प्रत्येक विक्रेता को यह मालूम है कि उस मूल्य पर उसे बहुत-से क्रेता मिल जायेंगे। अतः क्रेता को विवश होकर वही मूल्य देना पड़ेगा जो अन्य क्रेतागण दे रहे है। इस प्रकार बाजार में एक ही समय मे एक वस्तु का मूल्य एक ही होता है। अस्तु, एक ही समय मे एक वस्तु का मूल्य प्रचलित होने की प्रवृत्ति को बाजार का नियम (Law of Market) कहते है।

यह स्मरण रखने योग्य बात है कि बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता आदि दशाओं मे एक ही समय एक ही वस्तु का एक ही मूल्य प्रचलित होना स्वाभाविक है। मूल्य मे कोई अन्तर है तो वह केवल यातायात-व्यय (Cost of Transport) जिसमें प्रायः बीमा व्यय, दलाली, बैंक कमीशन, चुंगी-कर आदि सम्मिलित होते है, सीमित होता है। अस्तु, यदि बाजार विस्तृत हो, तो यातायात-व्यय के बराबर मूल्यों मे अन्तर छोड़ देना चाहिये। उदाहरणार्थ, यदि कानपुर और आगरा के बीच गेहूँ का यातायात व्यय १ रु० मन है, तो दोनों के बीच मे गेहूँ के मूल्य मे एक रुपये तक का ही अन्तर मिलेगा। यदि इसे निकाल दिया जाय, तो दोनों स्थानों का मूल्य एक-सा हो जायगा।

उदासीनता का नियम (Law of Indifference)—यदि प्रतियोगिता पूर्ण एवं स्वतन्त्र हो और वस्तु एक ही प्रकार की हो, तो एक ही समय मे उसके प्रत्येक भाग का एक ही मूल्य होगा, और उसका कोई भी भाग उसके किसी दूसरे भाग के लिये उदासीनतापूर्वक प्रयुक्त किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि सब वस्तुएँ समान होने से क्रेता विक्रेता विशेष की ओर से उदासीन (Indifferent) रहता है। जहाँ वस्तु सस्ती मिलती है वह वहीं से खरीद लेता है। किसके द्वारा उस वस्तु की पूर्ति की गई, वह तनिक भी जानने की इच्छा नहीं करता। इसी प्रकार विक्रेता भी क्रेता-विशेष की ओर से उदासीन रहता है। जो उसे अधिक मूल्य दे उसे ही वस्तु बेच देता है। उस वस्तु की सब इकाइयाँ समान होने तथा क्रेता और विक्रेता की पारस्परिक उदासीनता के कारण ही मूल्य एक रहता है। अतः इस प्रवृत्ति को प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जेवन्स (Jevons) ने उदासीनता का नियम (Law of Indifference) कह कर पुकारा है। यदि ऐसा न हो और क्रेता किसी विशिष्ट विक्रेता अर्थात् दुकानदार से वस्तु खरीदे अथवा दुकानदार किसी विशिष्ट क्रेता अर्थात् ग्राहक को ही वस्तु बेचे, तो बाजार मे मूल्य का अन्तर हो सकता है। इस नियम के अनुसार एक ही बाजार में एक ही समय मे एक ही वस्तु का एक ही मूल्य होना चाहिये। यदि यह नियम लागू होता है, तो बाजार पूर्ण कहलायेगा अन्यथा अपूर्ण।

बाजारों का विकास
(Evolution of Markets)

समय बड़ा परिवर्तनशील है। आर्थिक जीवन की प्रारम्भिक अवस्था मे मनुष्य की बहुत कम आवश्यकताएँ थी। वह अपनी आवश्यकताओं की सभी वस्तुएँ स्वयं उत्पन्न करता था। अस्तु, उस समय न विनिमय की कोई आवश्यकता थी और न मंडी अथवा बाजार का ही कोई अस्तित्व था। धीरे-धीरे मनुष्य सभ्यता की ओर अग्रसर हुआ और कालान्तर में उसने भौतिक सभ्यता मे बड़ी उन्नति की। पहले अदला-बदला के

रूप मे विनिमय प्रारम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप स्थानीय बाजारों का प्रादुर्भाव हुआ। तदनन्तर विनिमय क्षेत्र के विकास और यातायात व सम्वाद के साधनों की उन्नति के साथ साथ राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय बाजारो ने जन्म लिया और बाजार सामान्यता से विशिष्टीकरण की ओर सुसगठित होने लगे।

अस्तु, बाजारों के विकास का अध्ययन हम दो दृष्टिकोणों से कर सकते है—

(१) भौगोलिक दृष्टिकोण से, और (२) क्रियात्मक दृष्टिकोण से।

(१) भौगोलिक विकास (Geographical Evolution)—भौगोलिक दृष्टि से बाजार तीन प्रकार के होते है।

(अ) स्थानीय बाजार (Local Market)—जब किसी वस्तु के क्रेताओ और विक्रेताओ की व्यापारिक क्रियाएँ किसी विशिष्ट स्थान पर ही सीमित हो तो उस वस्तु का बाजार स्थानीय कहा जायेगा। उदाहरणार्थ, धान मडी, सब्जी मडी, लोहा मडी, सर्राफा, क्लॉथ मार्केट, स्टेशनरी मार्ट आदि। शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुएँ जैसे – दूध, दही, मक्खन, अडे, मांस, हरा शाक, ताजा फल-फूल आदि और भारी व सस्ती वस्तुएँ जैसे—ईट, इमारती पत्थर, बालू-रेत आदि का क्रय-विक्रय भी इसी के अन्तर्गत आता है। परन्तु अब 'शीतागार' (Cold Storage) के द्वारा नाशवान् अर्थात् शीघ्र नष्ट होने वाली (Perishable) वस्तुओं को कई दिनो तक ताजा रखा जा सकता है। अतः जहाँ शीघ्र एव सस्ते यातायात के साधनों के साथ-साथ 'शीतगार' की सुविधा प्राप्त है, वहाँ ऐसी वस्तुओं का बाजार अब अधिक विस्तृत हो गया है :—

स्थानीय बाजार की विशेषताएँ (Characteristics of a Local Market)—स्थानीय बाजार की निम्नलिखित विशेषताएँ होती है :—

(१) स्थानीय बाजार मे वस्तुओं का क्रय-विक्रय किसी अमुक स्थान पर ही, जहाँ कि वह उत्पन्न अथवा तैयार की जाती है, सीमित होता है।

(२) क्रेता और विक्रेता प्रायः उसी स्थान के होते है।

(३) यह किसी गाँव, कस्बे अथवा नगर तथा उससे १०–१२ मील की दूरी तक ही सीमित होता है।

(४) जो व्यापार थोडी मात्रा मे होता है वह स्थानीय मडी तक ही सीमित रहता है, जैसे फुटकर व्यापार।

(५) नाशवान् वस्तुओं का बाजार स्थानीय होता है, जैसे दूध, मक्खन, अडे, मांस, मछली, हरा शाक, ताजा फल-फूल इत्यादि।

(६) भारी एवं सस्ती वस्तुओं का बाजार स्थानीय होता है, जैसे ईट, इमारती पत्थर, बालू-रेत, पीली मिट्टी इत्यादि।

(७) जहाँ वस्तु-विनिमय (Barter) प्रथा प्रचलित है वहाँ केवल स्थानीय बाजार ही होता है।

(८) जिन वस्तुओं के क्रय-विक्रय मे व्यक्तिगत रुचियों की प्रबलता होती है, उनका स्थानीय बाजार होता है।

(आ) प्रान्तीय बाजार (Provincial Market)—जब किसी वस्तु का क्रय-विक्रय केवल किसी प्रान्त तक ही सीमित हो, तो उस वस्तु का बाजार

प्रान्तीय बाजार कहलायेगा। जैसे, झाँसी व इलाहाबाद की बाँस और बेंत की टोकरियाँ प्राय उ० प्र० म ही बिकती है। इसी प्रकार इलाहाबाद के दूक, बरेली का फर्नीचर और मनगेर के मुड्डे प्रान्तीय बाजार के कुछ अन्य उदाहरण है।

प्रान्तीय बाजार की विशेषताएँ (Characteristics of a Provincial Market) प्रान्तीय बाजार की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं —

(१) वस्तु के क्रेता और विक्रेता का किसी विशिष्ट स्थान अर्थात् गाँव, कस्बे या नगर तथा उसके आस पास के क्षेत्र तक ही सीमित न होकर सम्पूर्ण जिले या प्रान्त मे फैले हुए होने हैं।

(२) वस्तु शीघ्र नष्ट होने वाली नहीं है। प्रान्तीय बाजार म केवल टिकाऊ वस्तुओ का क्रय विक्रय होता है।

(३) केवल प्रान्तीय महत्व एव प्रसिद्धि की ही वस्तुएँ इसम समाविष्ट होती हैं।

(४) वस्तुओ का क्रय विक्रय प्राय प्रान्त की सीमा तक ही सीमित रहता है।

(इ) राष्ट्रीय बाजार (National Market)—जब किसी वस्तु का क्रय-विक्रय देशव्यापी हो, अर्थात् उसके क्रेता और विक्रेता सारे देश मे फैले हुए हो, तो उस वस्तु का बाजार राष्ट्रीय अथवा राष्ट्र या देश व्यापी बाजार कहलायेगा। उदाहरणार्थ, धोतियाँ, साड़ियाँ, चूड़ियाँ, भारतीय टोपी, पगड़ी व साफा, भारतीय रुपया व नोट, हुक्का, भारतीय कम्पनियों और बैंकों के शेयर रिजर्व बैंक के शेयर साख-पत्र, सगमरमर का पत्थर आदि वस्तुओ का क्रय विक्रय तथा चलन कवल भारतवर्ष तक ही सीमित है, अत इनका बाजार राष्ट्रव्यापी है। इसी प्रकार खाद्यान्न, रुई, वस्त्र, चाँदी, सोना, मसाला आदि वस्तुओ का भी राष्ट्रीय बाजार है। जो वस्तुएँ टिकाऊ और मूल्यवान है उनका बाजार प्राय राष्ट्रव्यापी होता है।

राष्ट्रीय बाजार की विशेषताएँ (Characteristics of a National Market)—राष्ट्रीय बाजार की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं —

(१) राष्ट्रीय बाजार मे वस्तुओ का क्रय विक्रय तथा चलन किसी देश की सीमाओ तक ही सीमित होता है। जैसे भारतीय पगड़ी, टोपी, रुपया व नोट, साड़ियाँ, धोतियाँ, चूड़ियाँ आदि।

(२) जो वस्तुएँ टिकाऊ तथा मूल्यवान है उनका बाजार राष्ट्रव्यापी होता है। जैसे—रुई, चाँदी, सोना इत्यादि।

(३) जिन वस्तुओ के नमूने निकाले जा सकते है तथा जिनका क्रय-विक्रय, श्रेणी बन्धन (Grading) एव विवरण द्वारा हो सकता है, तो उन वस्तुओ का राष्ट्रीय बाजार होता है। जैसे—वस्त्र, खाद्यान्न आदि।

(४) राष्ट्रीय बाजार का महत्व किसी एक राष्ट्र या देश तक ही सीमित होता है।

(५) जिन वस्तुओ की माँग व पूर्ति राष्ट्रव्यापी होती है, तो उनका बाजार भी राष्ट्रव्यापी होता है।

(ई) अन्तर्राष्ट्रीय बाजार (International or World Market)

जब किसी वस्तु का क्रय-विक्रय संसार के सभी भागों में होता हो, अर्थात् उसके क्रेता और विक्रेता समस्त संसार में फैले हुये हों, तो उस वस्तु का अन्तर्राष्ट्रीय या विश्वव्यापी बाजार कहलायेगा। उदाहरणार्थ, गेहूँ, रुई, ऊन, चमड़ा, जूट, चाय, कॉफी, तिलहन, चाँदी, सोना, तांबा, लोहा व इस्पात, पैट्रोल, रेशमी वस्त्र, स्वेज नहर के शेयर साख पत्र, पूँजी (Capital) आदि। शीतागार एवं यातयात के साधनों की सुविधा के कारण फल, मांस, अंडे आदि शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं का भी बाजार आजकल विश्वव्यापी होता जा रहा है। आस्ट्रेलिया का मांस आज शीतागार के कारण ही इंगलैंड के निवासियों की तश्तरियों को अपनी ताजा हालत में सुशोभित कर रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्वव्यापी बाजार की विशेषताएं (Characteristics of World or International Market) — एक अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्वव्यापी बाजार में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती है।

(१) जिन वस्तुओं के क्रेताओं और विक्रेताओं की पारस्परिक प्रतियोगिता *विश्वव्यापी हो, तो उन वस्तुओं का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय होगा। जैसे—गेहूँ, रुई, चाँदी,* सोना, स्वेज नहर के शेयर इत्यादि।

(२) जिन वस्तुओं की माग और पूर्ति तथा क्रय-विक्रय विश्वव्यापी हो तो उन वस्तुओं का राष्ट्रीय बाजार होगा। जैसे—गेहूँ, रुई, चाय, तांबा, चाँदी, सोना, लोहा इत्यादि।

(३) जिन वस्तुओं का क्रय विक्रय नमूनों (Samples of Patterns), श्रेणीबन्धन (Grading) तथा विवरण (Description) द्वारा हो सकता है, तो उनका बाजार विश्वव्यापी होगा। जैसे—वस्त्र, रुई, ऊन, चाय, गेहूँ इत्यादि।

(४) जिन वस्तुओं में अल्प भार में अधिक मूल्य ले जाने की शक्ति है, उनका अन्तर्राष्ट्रीय बाजार होता है। जैसे—चाँदी, सोना इत्यादि।

(५) जो वस्तुएँ टिकाऊ है तथा जिनकी खपत संसार में है, उनका अन्तर्राष्ट्रीय बाजार होता है। जैसे—गेहूँ, रुई, लोहा आदि।

(२) क्रियात्मक विकास (Functional Evolution) — *क्रियात्मक दृष्टि से बाजार निम्न प्रकार के होते हैं :—*

(अ) सामान्य या मिश्रित बाजार (General or Mixed Market)—जिस बाजार में मनुष्य की आवश्यकता की अनेक वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता हो तो वह सामान्य या मिश्रित बाजार कहलायेगा। पुराने समय में अपने देश में बाजार सामान्य एवं मिश्रित हुआ करते थे, अर्थात् एक ही बाजार में मनुष्य की आवश्यकता की अनेक वस्तुएँ मिल जाती थी। अधिकांश बाजार गाँवों में इसी प्रकार के होते हैं, परन्तु अब कुछ विशिष्टीकरण (Specialization) होने लगा है, अर्थात् भिन्न-भिन्न वस्तुओं के बाजार पृथक-पृथक होने लगे हैं। शहरों में यह प्रवृत्ति जोर पकड़ रही है।

(आ) विशिष्ट बाजार (Specialised Market)—बाजारों के क्रियात्मक विकास की दूसरी श्रेणी विशिष्ट बाजार है। भौतिक विकास के साथ साथ वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा और उनकी संख्या तथा किस्मों में भी वृद्धि हुई। इसके साथ-साथ श्रम विभाजन का विकास हुआ और उपयोग के क्षेत्र में अप्रत्याशित उन्नति हुई जिसके परिणामस्वरूप बाजारों का विशिष्टीकरण होने लगा अर्थात् एक ही प्रकार की कुछ वस्तुओं की एक ही स्थान में बिक्री होने लगी। उदाहरणार्थ, बड़े-बड़े नगरों में सोने-चांदी का बाजार अलग होता है जिसे सराफा कहते हैं। इसी प्रकार तरकारी बाजार पृथक होता है जिसे सब्जी मंडी कहते हैं। धान मंडी, घी मंडी, लोहा मंडी, क्लाथ मार्केट, स्टेशनरी मार्ट आदि इसी प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण हैं। अस्तु, विशिष्ट बाजार वह स्थान है जहाँ पर केवल एक ही प्रकार की अनेक वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है। जैसे—सराफे में केवल चांदी-सोने की वस्तुओं का ही क्रय विक्रय होता है, धान मंडी में विभिन्न प्रकार के अनाज खरीदे व बेचे जाते हैं।

(इ) नमूने द्वारा बिक्री (Marketing by Sample)—जब माल बड़ी मात्रा में तथा अनेक किस्मों में तैयार होने लगा, तो विक्रेता को सारा माल दिखा कर बिक्री करने में कठिनाई होने लगी। तब नमूने द्वारा बिक्री का प्रादुर्भाव हुआ। अब दुकानदार केवल नमूने के लिये ही अपनी दुकान में माल रखते हैं या शेष माल स्टॉक गोदाम में रखते हैं। नमूने के आधार पर क्रेता और विक्रेता के मध्य सौदा तय हो जाता है। नमूने डाक द्वारा आसानी से बाहर भेजे जा सकते हैं। व्यापारिक एजेण्ट केवल नमूनों की सहायता से ही आर्डर प्राप्त कर लेते हैं। खाद्यान्न, रुई, गरम मसाले, चाय, कपड़ा, दवाइयाँ आदि वस्तुओं का क्रय विक्रय नमूनों द्वारा सफलतापूर्वक हो जाता है। हमारे देश में व्यापार में अधिकतर यही ढंग काम में लाया जाता है। अस्तु, नमूने द्वारा बिक्री करने का वह ढंग है जिसमें नमूने द्वारा व्यापारियों के मध्य सौदा तय किया जाता है।

(ई) ग्रेड द्वारा बिक्री (Marketing by Grade)—ग्रेड द्वारा बिक्री की पद्धति ने नमूने दिखाने की आवश्यकता का भी अन्त कर दिया। इस पद्धति के अन्तर्गत एक ही वस्तु के उसकी किस्मों के अनुसार विभिन्न ग्रेड अर्थात् वर्ग निश्चित कर दिये जाते हैं, और प्रत्येक वर्ग का एक पृथक नाम या चिन्ह (Trade Mark) नियत कर दिया जाता है। तब उन्हीं वर्गों अर्थात् ग्रेडों के आधार पर वस्तुओं का क्रय विक्रय होता रहता है। उदाहरणार्थ, गेहूँ के कई ग्रेड हैं, जैसे पूसा नं० १२, आस्ट्रेलिया नं० २ आदि, चाय भी कई ग्रेडों में विभक्त है जैसे ऑरेंज पीकाक नं० १, लिपटन चाय आदि, रुई को भड़ोच, बंगाल, कमरा आदि अनेक ग्रेडों में बाँट रखा है। इसी प्रकार कोहनूर, पहलवान, तीन हाथी आदि प्रसिद्ध लट्ठे (एक कपड़ा विशेष) की किस्में हैं। ये ग्रेड इतने प्रसिद्ध और सुपरिचित हो गये हैं कि बिना देखे केवल नाम से ही सौदे तय हो जाते हैं। इस पद्धति से बाजार केवल राष्ट्रीय ही नहीं बल्कि विश्व-व्यापी हो जाता है। अस्तु, ग्रेड द्वारा बिक्री करने का वह ढंग है जिसमें एक ही वस्तु किस्मों के अनुसार कई ग्रेडों अर्थात् वर्गों में विभक्त कर दी जाती है और उनके अलग-अलग नाम या चिन्ह नियत कर दिये जाते हैं जिनके आधार पर क्रय-विक्रय होता रहता है।

बाजारों के भेद
(Types of Markets)

बाजारों का विभाजन मुख्यत. दो दृष्टिकोणों से किया जा सकता है—

क्षेत्रानुसार और कालानुसार।

१. क्षेत्रानुसार बाजार (Space Markets)—क्षेत्र की दृष्टि से बाजार को हम स्थानीय, प्रान्तीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में विभक्त कर सकते है। इनका विशद विवेचन ऊपर किया जा चुका है अत: इन्हे यहाँ दोहराना पिष्टपेषण मात्र है।

२. कालानुसार बाजार (Time Markets)—समय के आधार पर बाजार को हम दैनिक, अल्पकालीन और दीर्घकालीन बाजारों में विभक्त कर सकते हैं। यह विभाजन वस्तु की मांग (Demand) और पूर्ति (Supply) के सतुलन (Equilibrium) अर्थात् समानता के लिये जितना समय या अवधि आवश्यक होती है उस पर निर्भर रहता है। यह बात नीचे के विवरण से स्पष्ट हो जाती है :

(अ) दैनिक बाजार (Daily Market)—इसे दैनिक बाजार इसलिये कहते हैं कि यह कुछ ही घंटो अथवा एक या दो दिन तक ही रहता है। इसीलिये इसे अति अल्पकालीन बाजार (Very Short Period Market) भी कहते हैं। इसमे किसी वस्तु की पूर्ति (Supply) बिल्कुल निश्चित एवं सीमित होती है और तुरन्त घटाई या बढाई नही जा सकती, किन्तु उसकी मांग मे घटा-बढी हो सकती है। इसमें समय इतना कम होता है कि किसी वस्तु की मांग बढाने पर उस वस्तु का स्टॉक जो उस समय उपलब्ध है बढाया नही जा सकता, क्योंकि इतने अल्प समय मे वह वस्तु न तो उत्पन्न या तैयार की जा सकती है और न बाहर से ही मँगाई जा सकती है। अस्तु, माँग बढने पर उस वस्तु का मूल्य भी बढ जाता है। इसी प्रकार मांग घट जाने पर मूल्य भी कम हो जाता है। अत. ऐसे बाजार मे मूल्य निर्धारण मे मांग (Demand) का मुख्य हाथ होता है। प्रायः शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं का बाजार दैनिक अथवा अति अल्पकालीन होता है, जैसे—दूध, मक्खन, मांस, मछली, अंडे, ताजी तरकारियाँ व फल फूल, बर्फ इत्यादि। अस्तु, दैनिक अथवा अति अल्पकालीन बाजार वह है जो बहुत ही थोडे समय अर्थात् कुछ ही घण्टो या दिनो तक रहता है और जिसमें वस्तु की मांग की मूल्य-निर्धारण में पूर्ण प्रधानता होती है।

दैनिक बाजार की विशेषताएँ (Characteristics)

(१) यह बाजार अति अल्पकालीन होता है, अर्थात् कुछ घण्टो या एक-दो दिन तक ही रहता है।

(२) इस प्रकार के बाजार की प्रधानता यह है कि वस्तु-विशेष की पूर्ति (Supply) अर्थात् स्टॉक जो उस समय उपलब्ध है निश्चित होता है, उसमें न्यूनाधिकता करना बिल्कुल सम्भव नही है, क्योंकि समय बहुत थोडा होता है।

(३) दैनिक बाजार मे किसी वस्तु के मूल्य-निर्धारण मे मांग की प्रधानता होती है, अर्थात् मांग की न्यूनाधिकता से ही मूल्य प्रभावित होता रहता है।

(४) दैनिक बाजार में केवल शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं का ही क्रय विक्रय होता है। उदाहरणार्थ, दूध, मक्खन, ताजा तरकारियाँ, फल फूल, अण्डे, माँस, मछली, बर्फ इत्यादि।

(५) इस प्रकार के बाजार में वस्तुओं का मूल्य माँग की न्यूनाधिकता के प्रभाव से जल्दी-जल्दी बदलता रहता है। उदाहरण के लिये, तेज धूप में बर्फ की माँग बढ़ जाने पर इसके मूल्य में भी वृद्धि हो जाती है, परन्तु एकदम वर्षा हो जाने पर इसकी माँग में कमी हो जायगी और उसका मूल्य भी कम हो जायगा।

(६) दैनिक बाजार में प्रचलित मूल्य जिसमें घटा बढ़ी क्षण-क्षण में होती रहती है, बाजार मूल्य (Market price) कहलाता है।

(आ) अल्पकालीन बाजार (Short Period Market)—इस प्रकार के बाजार का समय दैनिक अथवा अति अल्पकालीन बाजार के समय की अपेक्षा अधिक लम्बा होता है, अर्थात् यह कुछ महीनों तक या वर्ष पर्यन्त रहता है। दैनिक अथवा अति अल्प-कालीन बाजार में तो वस्तु की पूर्ति (Supply) निश्चित (Fixed) होती है, उसमें घटा बढ़ी नहीं की जा सकती, परन्तु अल्पकालीन बाजार में पूर्ति कुछ अंश तक बढ़ाई जा सकती है क्योंकि इस कार्य के लिये कुछ समय मिल जाता है। जिससे वह वस्तु बाहर से मँगाई जा सकती है तथा वर्तमान साधनों का और अधिक प्रयोग हो सकता है। उदाहरण के लिये, शरदऋतु में मछली की माँग बढ़ जाने के कारण इसके मूल्य में वृद्धि हो जाती है। बढ़े हुए मूल्य का लाभ उठाने के लिये अब मछुए अपने जाल आदि से अधिक समय तक काम करके प्रतिदिन अधिक मछलियाँ पकड़ना प्रारम्भ कर देंगे। इसी प्रकार पूर्ति घटाई भी जा सकती है। यदि शरदऋतु समाप्त हो गई है और मछली की माँग में कमी आ गई है, तो कुछ मछुए अपने जाल को उठा कर रख देंगे और काम करने के समय में भी कमी कर देंगे। परिणामतः, माँग और पूर्ति दोनों एक दूसरे के अनुसार हो जायेंगे और मूल्य बहुत कुछ लागत (Cost of production) के लगभग ही रहेगा। यद्यपि इस प्रकार के बाजार में मूल्य निर्धारण में माँग और पूर्ति दोनों का ही हाथ रहता है, फिर भी पूर्ति की अपेक्षा माँग का अधिक महत्व होता है। अस्तु अल्प-कालीन बाजार वह है जो कुछ महीनों तक अथवा वर्ष-पर्यन्त रहता है तथा जिसमें माँग और पूर्ति के सन्तुलन के लिये समय मिल जाने पर भी मूल्य निर्धारण में माँग का कुछ अधिक महत्व रहता है।

अल्पकालीन बाजार की विशेषताएँ (Characteristics)

(१) इसमें समय दैनिक बाजार की अपेक्षा अधिक होता है, अर्थात् यह बाजार कुछ महीनों या वर्ष भर तक ही रहता है।

(२) इसमें इतना समय मिलता है कि माँग के अनुसार पूर्ति का समन्वय हो सकता है।

(३) यद्यपि इस प्रकार के बाजार में मूल्य निर्धारण में माँग और पूर्ति दोनों का ही हाथ रहता है, फिर भी पूर्ति की अपेक्षा माँग का अधिक महत्व होता है।

(४) इसमें मूल्य लागत के लगभग रहता है, पूर्ण रूप से लागत में निर्धारित नहीं होता है।

(५) इस प्रकार के बाजार में प्रचलित मूल्य अल्पकालीन (Short-Period) अथवा 'अर्ध' सामान्य' (Sub normal) मूल्य कहलाता है।

(ङ) दीर्घकालीन बाजार (Long Period Market)—यह बाजार कितने ही महीनों और कभी-कभी वर्षों तक चलता रहता है। इसमे पूर्ति (Supply) का मूल्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसका कारण यह है कि दीर्घकाल मे पूर्ति के साधन माँग के अनुसार शीघ्रता से घट-बढ सकते हैं। माँग मे वृद्धि होने पर पूर्ति में भी निम्नलिखित साधनों द्वारा वृद्धि की जा सकती है :—

(१) उत्पत्ति के परिमाण मे वृद्धि करने से, (२) उत्पादन-क्रिया मे उन्नति करने से, (३) अन्य वस्तुओं के उत्पादन में लगे हुए श्रम को इस ओर लगा कर, (४) अन्य उत्पादन कार्यों मे से पूँजी हटाकर इस ओर लगाकर, और (५) उत्पादन-यन्त्रों मे परिवर्तन कर।

इसी प्रकार यदि माँग मे कमी हो जाती है, तो पूर्ति भी उपर्युक्त वृद्धि के साधनों के विपरीत कार्य करने से घटाई जा सकती है। उदाहरणार्थ, इस कार्य मे लगी हुई पूँजी और श्रम हटा कर अन्य कार्यों मे लगाये जा सकते, है आदि। समय पूर्ति को न्यूनाधिकता के लिये पर्याप्त होता है, अतः मूल्य बहुधा स्थायी रहता है। कभी-कभी यह भी सम्भव है कि यह ठीक लागत के बराबर ही हो जाय। इस प्रकार दीर्घकालीन बाजार मे मूल्य-निर्धारण मे पूर्ति (Supply) का पूर्ण हाथ रहता है। उदाहरणार्थ, यदि मछली की माँग मे वृद्धि स्थायी है, तो जालों, नावों आदि मछली पकड़ने के साधनों मे वृद्धि करने के अतिरिक्त अधिक मछुए इस काम मे लगाये जायेंगे और काम करने के समय मे भी वृद्धि कर दी जायगी। इसी प्रकार माँग की कमी होने पर समय, मनुष्य और साधनों मे कमी कर दी जायगी। विश्व-महायुद्ध आदि असाधारण परिस्थितियों मे जब किसी वस्तु का मूल्य एक लम्बे समय तक बहुत ऊँचा स्थायी रूप से स्थिर हो जाता है, तो उस वस्तु के अनेक नये कारखाने खुल जाते है और पुराने कारखानों मे सुधार एव विस्तार हो जाता है। अस्तु, दीर्घकालीन बाजार वह है जो कई महीनों तथा वर्षों तक रहता है और जिसमे पूर्ति को माँग के अनुसार बदलने के लिये पर्याप्त समय मिल जाता है तथा मूल्य निर्धारण मे पूर्ति का विशेष महत्व होता है।

दीर्घकालीन बाजार की विशेषतायें (Characteristics)

(१) इसमे समय अल्पकालीन बाजार की अपेक्षा बहुत अधिक होता है, अर्थात् यह बाजार कई महीनों तक और कभी-कभी वर्षों तक चलता रहता है।

(२) इसमे इतना पर्याप्त समय मिलता है कि माँग के अनुसार पूर्ति मे परिवर्तन हो सकता है।

(३) इस प्रकार के बाजार मे मूल्य-निर्धारण मे पूर्ति का पूर्ण हाथ होता है।

(४) यदि मूल्य स्थायी रूप से एक लम्बे समय तक लागत (Cost of Production) से कहीं अधिक रहता है, तो उत्पादन-साधनों मे वृद्धि कर उत्पत्ति बढ़ाई जा सकती है और यदि मूल्य लागत मे कहीं अधिक नीचा स्थिर हो जाय तो उत्पादन-साधनों को कम कर उत्पत्ति मे कमी की जा सकती है।

(५) दीर्घकालीन बाजार मूल्य 'सामान्य मूल्य' (Normal Price) कहलाता है।

(ई) अति दीर्घकालीन बाजार (Secular or Very Long Period Market)—यह बाजार बहुत लम्बे समय अर्थात् ५० वर्ष अथवा अधिक समय तक रहता है। इस प्रकार के लम्बे समय में केवल मांग और पूर्ति में सतुलन ही नही हो जाता बल्कि उनमें अनेक परिवर्तन होने के पश्चात् भी समन्वय हो जाता है। उदाहरणार्थ, स्रोत को उत्पत्ति-परिवर्तन, जन-संख्या की वृद्धि, रुचि और फैशन के परिवर्तन आदि वाता से जो मांग में परिवर्तन हो जाता है उसका इस अत्यधिक लम्बे समय में पूर्ति के परिवर्तन में, जो विज्ञान की उन्नति, मशीनों के आविष्कार, यातायात के विकास, उत्पत्ति के सुधार और खनिज पदार्थों के सदुपयोग से होता है पूर्ण समन्वय हो जाता है। अस्तु, अति दीर्घकालीन बाजार वह है जो बहुत लम्बे समय अर्थात् ५० वर्ष अथवा अधिक समय तक प्रचलित रहता है और जिसमें केवल माग और पूर्ति के सतुलन के लिये ही पर्याप्त समय नही मिलता वल्कि इनमे अनेक परिवर्तन होने के पश्चात् भी संतुलन हो जाता है।

अति दीर्घकालीन बाजार की विशेषताएँ (Characteristics)

(१) इसमे समय कई वर्षों का होता है—यह कभी कभी तो पीढ़ियों तक रहता है।

(२) इसमे समय इतना अत्यधिक होता है कि केवल मांग और पूर्ति में संतुलन ही नहीं हो जाता बल्कि इन दोनों में अनेक परिवर्तन होने के पश्चात् भी सतुलन होना सम्भव हो जाता है।

(३) इस प्रकार के बाजार मे प्रचलित मूल्य को 'अति दीर्घकालीन मूल्य' (Secular Price) कहते हैं।

चोर बाजार (Black Market)—जब वस्तुओं का क्रय-विक्रय खुले बाजार मे न होकर चुप-चाप राज्य द्वारा निर्धारित मूल्य से ऊंचे मूल्य पर होता है, तो इसे चोर बाजार कहते हैं। यह काला बाजार, ब्लैक मार्केट या अवैध बाजार आदि नामों से भी पुकारा जाता है। जब विशेष परिस्थिति वश वस्तुओं की पूर्ति मांग की अपेक्षा कम हो जाती है, तो चोर बाजार जन्म पा लेता है। गत युद्धकालीन समय मे चोर बाजार का पर्याप्त जोर रहा और अब भी बहुत सी वस्तुएं चोर बाजार से ही प्राप्त हो सकती हैं। जब मांग की तुलना में आवश्यक पदार्थों की भीषण कमी हो जाती है, तो उनके दाम अत्यधिक बढ़ जाते हैं। तब जनता की भलाई के लिये सरकार उनका उचित मूल्य निर्धारित कर देती है जिसे मूल्य नियन्त्रण (Price-Control) कहते हैं। प्रायः मूल्य-नियन्त्रण के साथ-साथ राशनिंग (Rationing) भी (अर्थात् एक व्यक्ति किसी वस्तु की कितनी मात्रा ले सकता है) प्रचलित कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ खाद्यान्न, कपडा, चीनी, कागज, दवा, तेल व पैट्रोल, सीमेण्ट, लोहे का सामान आदि वस्तुएँ गत महायुद्ध और उसके पश्चात् भी पर्याप्त समय तक सरकारी नियन्त्रण मे रही और उनके वितरण के लिये राशनिंग व्यवस्था प्रचलित थी।

बहुधा उत्पादक और व्यापारी लोग अपनी वस्तुओं को नियन्त्रित मूल्य पर बेचना पसन्द नहीं करते, इसलिये वे लोग इन्हें छिपा (Hoarding) कर रख लेते हैं जिससे उसकी पूर्ति और भी कम हो जाती है। जनता आवश्यक वस्तु के अभाव में परेशान होकर छिपे तौर से अधिक मूल्य पर खरीदने के लिये तत्पर हो जाती है और इस प्रकार चोर बाजार का विषैला चक्र चलता रहता है। राज्य द्वारा निर्धारित मूल्य से अधिक मूल्य पर वस्तु बेचना अवैध (Illegal) होता है, अस्तु ऐसे विक्रेता पर जुर्माना किया जा सकता है और उसे जेल भी भेजा जा सकता है। किन्तु ऐसा होने पर भी चोर बाजार पनप रहा है, क्योंकि अत्यधिक लाभ प्राप्ति के उद्देश्य से प्रेरित होकर व्यापारी लोग कानून का उल्लंघन करने को तैयार हो जाते हैं। संक्षेप में चोर बाजार आवश्यक वस्तुओं की कमी, उनकी माँग की अधिकता, मूल्य-नियन्त्रण, जनता के पास अधिक रुपये का होना (मुद्रा स्फीति), वस्तु वितरण की दूषित प्रणाली, सरकारी नियन्त्रण की अपूर्णता आदि कारणों से बढ़ता है। चोर बाजारी से मनुष्य का नैतिक पतन हो जाता है, उपभोक्ताओं का शोषण होता है, गरीब जनता आवश्यक वस्तुओं के लिये वंचित रहती है, सरकारी कार्यालयों में भ्रष्टाचार फैल जाता है और देश में सर्वत्र अशांति छा जाती है। अस्तु, इन बुराइयों को दूर करने के लिये प्रबल सरकारी नियन्त्रण वाछनीय है।

चोर बाजार सम्बन्धी बुराइयों को दूर करने के उपाय—निम्नलिखित उपायों द्वारा चोर बाजार का अन्त हो सकता है :—

(१) सबसे प्रथम तो कण्ट्रोल तथा राशन उन्हीं वस्तुओं का होना चाहिये जिनकी वास्तव में कमी हो, और जिनके उत्पादन तथा वितरण पर सरकार कठोर नियन्त्रण रख सकती हो।

(२) नियन्त्रित मूल्य ऐसा होना चाहिये जिसमें लाभ की काफी गुंजायश रहे जिससे उत्पादक और व्यापारी लोग चोर बाजार में वस्तुएं बेचने के लिये प्रोत्साहित न हों।

(३) वस्तु-वितरण में सरकार का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिये। उत्तम तो यही है कि वितरण सरकार स्वयं सहकारी समितियों द्वारा किया करे।

(४) इस कार्य की देख-भाल करने वाले सरकारी कर्मचारी एवं अधिकारी ईमानदार तथा कर्त्तव्यपरायण होने चाहिये।

(५) कानून तोड़ने वालों को कड़ा दण्ड मिलना चाहिये।

(६) जनता का सहयोग भी आवश्यक है। अस्तु जनता को जहाँ तक हो सके चोर बाजार से वस्तु न खरीदने का प्रण करना चाहिये।

(७) मूल्य-नियन्त्रण और राशनिंग व्यवस्था को सफल बनाने के लिये सरकार द्वारा नियन्त्रित वस्तुओं को आयात आदि साधनों से अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिये उचित व्यवस्था करनी चाहिये।

भारत सरकार का कार्य—भारत सरकार ने चोर बाजार आदि भ्रष्टाचारों को रोकने के लिये कई कानून बनाये। 'फूड ग्रेन्स कण्ट्रोल आर्डर' के द्वारा खाद्य-पदार्थों की समुचित व्यवस्था करने का प्रयास किया गया। बचत वाले प्रांतों से कमी वाले प्रांतों में खाद्यान्नों को गतिशील किया। भोज आदि पर प्रतिबन्ध लगाया गया। सम्पूर्ण देश में समुचित वस्त्र वितरण व्यवस्था के लिये टैक्सटाइल कमिश्नर की नियुक्ति की गई जिसके द्वारा विविध प्रान्तों के लिये उनकी आवश्यकता के अनुसार कपड़े

का कोटा (Quota) निश्चित किया गया और कई टैक्सटाइल सम्बन्धी कानून बनाये गये। खाद्यान्न की कमी को पूरा करने के लिये विदेशों से भारी आयात की व्यवस्था की गई।

निष्कर्ष – भारत में अब ऐसी अवस्था आगई है कि राशन तथा कन्ट्रोल तोड़ दिया जाय तो कुछ दिनों में ब्लैक मार्केट अर्थात् चोर बाजार अपने-आप समाप्त हो जायगा। स्वर्गीय महात्मा गांधी तो कन्ट्रोल आदि व्यवस्था से सहमत नहीं थे। उनके मतानुसार कन्ट्रोल से वस्तुओं की कृत्रिम न्यूनता (Artificial Scarcity) उत्पन्न हो जाती है। वास्तव में देखा जाय तो कन्ट्रोल और राशनिंग की सफलता जनता के व्यक्तियों पर निर्भर है। उनका नैतिक स्तर ऊँचा होना चाहिए। उनमें देश-प्रेम और कर्त्तव्य-परायणता के भाव कूट-कूट कर भरे होने चाहिए। यदि ऐसा न हो, तो उन देशों में तो जहाँ शान्ति काल में भी वस्तुओं के स्थायी अभाव के कारण सदैव राशनिंग प्रचलित होता है, काम चलना ही कठिन हो जाय। समाजवादियों (Socialists) का विश्वास है कि हमारी अर्थ-व्यवस्था में समय समय पर जो संकट उत्पन्न होते हैं, उनका एक बड़ा कारण वस्तुओं के मूल्यों में भीषण उतार-चढ़ाव है। अस्तु, किसी भी संतुलित अर्थ-व्यवस्था में वस्तुओं के मूल्य का स्थिर रहना आवश्यक है।

वैध या उत्तम बाजार (Legal or Fair Market)—जब बाजार में वस्तुएँ नियन्त्रित मूल्य पर बेची जायँ, तो वह वैध या उत्तम बाजार कहलाता है। इस प्रकार के बाजार को नियन्त्रित बाजार (Controlled Market) भी कहते हैं।

खुला बाजार (Open Market)—जब बाजार में वस्तुओं के मूल्यों पर कोई नियन्त्रण न हो तथा माँग और पूर्ति के अनुसार अर्थात् क्रेताओं और विक्रेताओं की पारस्परिक प्रतियोगिता के फलस्वरूप जो मूल्य प्रचलित हो उनके अनुसार वस्तुओं का क्रय-विक्रय हो, तो ऐसे बाजार को हम खुला बाजार कहेंगे। साधारण अवस्था में जब वस्तुओं के क्रय विक्रय पर किसी प्रकार का नियन्त्रण अथवा प्रतिबंध न हो, तब ऐसे बाजारों का अस्तित्व देखा जा सकता है।

बाजार का विस्तार (Extent of Market)

बाजार के विस्तार से यह आशय है कि किसी वस्तु के क्रेताओं और विक्रेताओं में संसार के किन-किन भागों में प्रतियोगिता होती है। यदि प्रतियोगिता का क्षेत्र बड़ा है तो बाजार का विस्तार भी विस्तृत होगा, अन्यथा बाजार का विस्तार संकुचित कहा जायगा। वस्तुओं के बाजार के विस्तार पर प्रभाव डालने वाली बातें निम्नलिखित दो भागों में बाँटी जा सकती हैं —

(अ) देश की आन्तरिक अवस्था, और
(ब) वस्तु के गुण।

(अ) देश की आन्तरिक अवस्था (Conditions within the Country)—बाजार की सीमाओं को प्रभावित करने वाली आन्तरिक दशाएँ निम्नलिखित हैं —

(१) शान्ति, सुरक्षा, न्याय और सचाई (Peace, Security, Justice & Honesty)—बाजार की सीमाओं पर देश में व्यापक शान्ति, सुरक्षा, न्याय और सचाई का गहरा प्रभाव पड़ता है। व्यापारी लोग अपना माल निर्भीक होकर

सुदूर स्थानों को तब ही भेजेंगे जबकि उन्हें इस बात का विश्वास होगा कि उनका माल सुरक्षित पहुंच जायगा और उनके माल का मूल्य उन्हें मिल जायगा। यदि किसी कारण माल के पहुंचने अथवा भुगतान में कोई गड़बड़ हो जाय, तो सरकार उनकी सहायता करेगी। न्यायालयों में निष्पक्ष भाव से न्याय होने की दशा में व्यापारी लोग देश के किसी भी भाग में माल भेजने में नहीं हिचकेंगे। यही तो सुशासन व्यवस्था का परिणाम है।

व्यापार में दिन भर में अनेक सौदे मौखिक रूप से तय होते रहते हैं और प्रत्येक के लिये कानूनी इकरारनामा होना बड़ा कठिन है। अतः व्यापारिक नैतिकता (Business Morality) का उच्च स्तर भी बाजार के विस्तार के लिए आवश्यक है।

(२) यातायात और सम्वाद के उत्तम, सस्ते और शीघ्र साधन (Efficient Cheap and Quick Means of Transport & Communication)—बाजारों के विस्तार में यातायात और सम्वाद के उत्तम, सस्ते और शीघ्र साधनों का बड़ा हाथ है। अच्छी सड़कों, मोटर, रेल, समुद्री जहाज और वायुयानों के कारण ही आज विभिन्न देशों के साथ व्यापार सम्भव हो गया है। डाक, तार, टेलीफोन, बेतार के तार आदि द्वारा दूर-देशों के व्यापारियों से सम्पर्क स्थापित हो गया है। इनके द्वारा व्यापारी लोग आज बैठे बैठे ही सौदे तय कर लेते हैं उन्हें कहीं जाने की आवश्यकता नहीं होती। यातायात व सम्वाद के विकसित साधन केवल बाजारों का ही विस्तार नहीं करते, बल्कि इनसे वस्तुओं के मूल्यों के एकीकरण में भी पर्याप्त सहायता मिलती है। अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों की उत्पत्ति का मुख्य श्रेय इन्हीं को ही है।

(३) कुशल चलार्थ साख एवं बैंकिंग प्रणाली—(Efficient Currency, Credit & Banking System)—बाजारों के विकास के लिये मुद्रा के आन्तरिक एवं बाह्य मूल्य में स्थिरता (Stability) नितान्त आवश्यक है। यदि मुद्रा का मूल्य बहुत जल्दी-जल्दी घटता या बढ़ता है, तो व्यापारियों को अधिक लाभ-हानि हो सकती है। इसी प्रकार बाजार के विस्तार के लिये एक उत्तम बैंकिंग प्रणाली का होना आवश्यक है। अच्छे बैंकों के होने से उचित ब्याज पर ऋण मिल सकता है। माल की बिल्टियाँ बैंकों के द्वारा मँगाई जा सकती हैं और माल का मूल्य हुँडी, बिल, चेक आदि साख-पत्रों द्वारा चुकाया जा सकता है। आज के बाजारों के विस्तार का बहुत कुछ श्रेय चेक, ड्राफ्ट, बिल आफ एक्सचेंज, हुंडी आदि साख-पत्रों को है। इसके अतिरिक्त, बैंक द्वारा दूर स्थित व्यापारियों की आर्थिक स्थिति और सचाई के विषयों में विश्वस्त सूचना प्राप्त हो सकती है। इससे व्यापारियों को दूरस्थ प्रदेशों से व्यापार करने में प्रोत्साहन मिलता है और बाजारों का क्षेत्र विस्तृत होता है।

(४) व्यापार के वैज्ञानिक ढंग (Scientific Methods of Business)—व्यापार करने के ढंगों का भी बाजार के विस्तार पर पूर्ण प्रभाव पड़ता है। विक्रय-कला, विज्ञापन, प्रदर्शनी, सिनेमा आदि आधुनिक व्यापारिक ढंगों से बाजार की सीमाओं को विस्तृत करने में बड़ा प्रोत्साहन मिलता है। नवीन वस्तुओं के निर्माण एवं उनके उपयोग का दूर देशों में विज्ञापन, ब्राडकास्टिंग, छपाई, यांत्रिक एजेण्ट आदि साधनों द्वारा भली भांति किया जा सकता है। मनुष्य वस्तुयें तब ही खरीदेंगे जबकि उन्हें उनके बारे में जानकारी हो। वस्तुओं की जानकारी विविध प्रकार के विज्ञापनों द्वारा भली प्रकार हो सकती है। आज अनेक विदेशी वस्तुयें इस प्रकार के

प्रचार के आधार पर ही भारतवर्ष में बिकती हैं। इसी प्रकार भारतीय चाय का आज अन्तर्राष्ट्रीय बाजार हो गया है।

(५) पैकिंग ढंग और शीतागार प्रणाली (Packing Method & Cold Storage)—उत्तम पैकिंग ढंग और शीतागार प्रणाली से भी बाजार का क्षेत्र विस्तृत होता पाया जाता है। उदाहरण के लिये अंडे, मांस, ताजा फल-फूल, तरकारियों का बाजार पहले बड़ा संकीर्ण एवं सीमित होता था, परन्तु पैकिंग के आधुनिक एवं वैज्ञानिक ढंग और शीतागार प्रणाली द्वारा आज इन नाशवान् वस्तुओं को दूर के स्थानों पर उसी हालत में ले जाना सम्भव हो गया है। अब अब इनका बाजार स्थानीय न होकर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है।

(६) श्रम विभाजन के प्रयोग की सीमा (Degree of Division of Labour)—यदि श्रम विभाजन का प्रयोग बड़े पैमाने पर होता है, तो उत्पत्ति भी बड़े पैमाने पर होगी। बड़े पैमाने पर उत्पत्ति होने के कारण दाम कम हो जायेंगे जिससे वस्तुएँ सस्ती बिकेंगी, जब कोई उपयोगी वस्तु सस्ती बिकेगी, तो उस वस्तु का बाजार भी विस्तृत होगा।

(७) राज्य की नीति (Policy of the State)—व्यक्तियों और राष्ट्रों की पारस्परिक सद्भावना उनके राजनैतिक एवं आर्थिक समझौता पर भी बहुत कुछ बाजार का विस्तार निर्भर है। उदाहरणार्थ दो राष्ट्रों के मध्य विस्तृत बाजार तब ही सम्भव है जबकि उनमें से प्रत्येक राष्ट्र अबाध व्यापार (Free Trade) नीति को अपनाये। यदि व्यापार में किसी प्रकार का प्रतिबंध हो, तो बाजार सीमित होगा। इसी प्रकार राष्ट्रीयता (Nationalism) स्वावलम्बन (Self sufficiency), प्रशुल्क (Tariffs), संरक्षण (Protection), निषेध (Prohibition), प्रतिबंधित आयात-निर्यात, कोटा पद्धति (Quota System) आदि नीतियों पर भी बाजार की सीमाओं का विस्तार निर्भर होता है।

(ब) वस्तु के गुण (Qualities of a Commodity)—बाजार का विस्तृत होना केवल देश की आन्तरिक अवस्था पर ही निर्भर नहीं है बल्कि वस्तु विशेष के गुणों पर ही निर्भर है। साधारणतया निम्नांकित गुण वाली वस्तु का बाजार विस्तृत होता है —

(१) सार्वदेशिक माँग (Universality of Demand)—सार्वदेशिक माँग वाली वस्तुओं का बाजार बहुत बड़ा होता है। जितनी अधिक किसी वस्तु की माँग होगी, उतना ही विस्तृत उस वस्तु का बाजार होगा। उदाहरणार्थ सोना, चाँदी पैट्रोल, लोहा, कोयला, चाय, गेहूँ, रुई, जूट, तिलहन आदि वस्तुओं की मंडियों का क्षेत्र विश्वव्यापी है क्योंकि सभी देशों में इन वस्तुओं की माँग रहती है। स्वेज नहर के अंश (Shares) आदि अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिभूतियों (Securities) का भी बाजार विश्व व्यापी होता है। इसी प्रकार शेक्सपीयर जैसे विश्वविख्यात कवियों और लेखकों की रचनाओं को सभी देशों के विभिन्न लोग पढ़ते हैं, इसलिये उनका भी अन्तर्राष्ट्रीय बाजार होता है। इसके विपरीत, जिन वस्तुओं का प्रयोग तथा चलन किसी स्थान विशेष तक ही सीमित है, तो उनका बाजार विस्तृत नहीं होगा। उदाहरण के लिये, अफगानी चप्पलें, साड़ियाँ, धोतियाँ, टोपियाँ, पगड़ी आदि वस्तुओं की माँग अधिकतर भारतवर्ष तक ही सीमित है, इसलिये इनका बाजार अन्तर्राष्ट्रीय न होकर केवल राष्ट्रीय है।

(२) टिकाऊपन (Durability)—बहुत नाजुक अथवा शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं को सुदूर स्थानों पर नहीं भेजा जा सकता। परिमाणतः उनका बाजार संकुचित होता है। फल, तरकारियाँ, दूध, मक्खन, अंडे, माँस, मछली आदि वस्तुएँ इसी श्रेणी में आती हैं। सोना, चाँदी, कपास आदि वस्तुएँ टिकाऊ हैं उनके बिगड़ने अथवा नष्ट होने का कोई प्रश्न नहीं उठता अतः इनका अन्तर्राष्ट्रीय बाजार होता है। शीतागार (Cold Storage) तथा शीघ्र यातायात के साधनों के कारण नाशवान् और नाजुक वस्तुओं का भी बाजार अपेक्षतया विस्तृत होता जा रहा है। इसी कारण आज कल भारतवर्ष से इङ्गलैंड को आमों का निर्यात सम्भव हो गया है और आस्ट्रेलिया का माँस व दुग्ध पूर्ति यूरोपियन बाजारों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

(३) वहनीयता (Portability)—विस्तृत मंडी के लिये आवश्यक है कि वस्तु का मूल्य उसके भार की अपेक्षा अधिक होना चाहिये। जिन वस्तुओं का घन व कम होता है और मूल्य अधिक होता है उनका बाजार विस्तृत होता है जैसे—सोना, चाँदी, हीरा, पन्ना, रेशम, घड़ियाँ, फाउन्टेन पैन आदि। इसके विपरीत जो वस्तुएँ बहुत भारी हैं और जिनके मूल्य की तुलना में उनका यातायात व्यय बहुत अधिक पड़ता है जैसे ईंट, इमारती पत्थर, घास आदि उनका बाजार स्थानीय होता है। औद्योगिक कच्चे माल और धातुओं आदि के विषय में ऐसा नहीं है अतः उनके बाजार विस्तृत होते हैं।

(४) शीघ्र परीक्षा या नमूना निकालने व श्रेणी बंधन की उपयुक्तता (Cognizability of Suitability for Sampling & Grading)—जिन वस्तुओं का गुणमता से जाना या पहिचाना जा सकता है अथवा जिनके नमूने आसानी से लिये जा सकते हैं या जिनका श्रेणी बंधन (Grading) सरलता से हो सकता है तो उनका बाजार स्वभावतः विस्तृत होता है। गेहूँ, चीनी, रूई, चाय आदि वस्तुओं का ग्रेडिंग हो सकता है तथा उनके नमूने निकाले जा सकते हैं। दूरस्थ व्यापारी केवल नमूना या ग्रेड के आधार पर ही सौदे तय कर सकते हैं। इसी प्रकार प्रामाणिक नाप व आकार के पुर्जों के निर्माण ने मोटर गाड़ियों और अन्य प्रकार की मशीनों का विस्तृत बाजार बना दिया है। भारत सरकार द्वारा ग्रेडेड एगमार्क (AGMARK) घी का बाजार अब पर्याप्त विस्तृत हो गया है।

(५) पूर्ति की पर्याप्तता (Adequacy of Supply)—यदि वस्तु जिसकी पूर्ति बहुत ही परिमित है अर्थात् जिसकी पूर्ति माँग के अनुसार नहीं बढ़ाई जा सकती उसमें अन्य गुण होते हुए भी बाजार संकुचित होता है। अतः विस्तृत बाजार के लिये यह आवश्यक है कि वस्तु की पूर्ति पर्याप्त हो। उदाहरणार्थ दुर्लभ चित्र, मूर्तियाँ, मुद्राओं कलात्मक वस्तुओं आदि का बाजार बहुत सीमित होता है क्योंकि इनकी पूर्ति बहुत परिमित होती है।

(६) स्थानापन्न वस्तु की उपलब्धता (Availability of Substitute)—किसी वस्तु के बाजार का क्षेत्र इस बात पर भी निर्भर होता है कि उसके स्थान में प्रयुक्त की जाने वाली अन्य कितनी वस्तुएँ उपलब्ध हैं। यदि एक वस्तु के स्थान में अन्य भी अन्य वस्तुएँ प्रयोग में लाई जा सकती हैं तो उस वस्तु के बाजार का क्षेत्र संकुचित होगा। उदाहरण के लिये बम्बई मिल के कपड़े का बाजार अधिक विस्तृत नहीं है क्योंकि जापान और यूरुप के देशों में तैयार हुए सस्ते कपड़े उसके साथ प्रतियोगिता करते

है। इसी प्रकार मोटर-बस की रेल से प्रतियोगिता होने से इनका बाजार संकीर्ण है। काफी और चाय एक-दूसरे के स्थानापन्न है। अस्तु यदि काफी का चलन न हो तो चाय का बाजार और भी विस्तृत हो जाय।

(७) पूरक वस्तु की उपलब्धता (Availability of Complementary Product)—वस्तुएँ एक दूसरे से प्रतियोगिता करती हैं परन्तु अधिकांश में वे एक दूसरे की पूरक भी होती हैं जैसे पट्रोल की माँग मोटर गाड़ी के उपयोग पर निर्भर है। इसी प्रकार जूता के फीता की माँग जूतों की माँग के साथ सम्बद्ध है। अस्तु एक की माँग दूसरे की माँग को बढ़ाती है। यदि पूरक वस्तु उपलब्ध है तो उस वस्तु का बाजार अवश्य विस्तृत होगा।

(८) वस्तु की भावी पूर्ति की नियमितता (Regularity of future supply of a commodity)—उस वस्तु का बाजार बड़ा होगा जिसके लिये लोगों को यह विश्वास हो कि भविष्य में वह वस्तु नियमित रूप से मिलती रहेगी। उदाहरण के लिये कोई भी व्यक्ति अपने मकान में बिजली नहीं लगवायेगा जब तक उसको यह विश्वास नहीं हो जाय कि भविष्य में बिजली उसे बराबर मिलती रहेगी।

(९) वस्तु का फैशन में आना (A Commodity Coming into Fashion)—किसी वस्तु का बाजार उसके फैशन में आने से विस्तृत हो जायगा। *यदि उसके निरन्तर प्रयोग से लोग उस वस्तु के उपभोग के लिये आदी हो गए हैं तो उस* वस्तु का बाजार और भी विस्तृत हो जायगा। उदाहरण के लिये चाय और काफी का भारतवर्ष में सीमित बाजार है परन्तु लोगों के आदी होने से इनका बाजार-क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। इसी प्रकार किसी वस्तु के फैशन से बाहर हो जाने से उसकी माँग कम हो जाती है और फलतः उसका बाजार भी सीमित हो जाता है। भारतवर्ष में आजकल टाइट का फैशन उठता जा रहा है इसलिये इनका बाजार भी संकुचित होता जा रहा है।

(१०) किसी वस्तु विशेष का प्रयोग (Use of a Particular Commodity)—किसी वस्तु विशेष का बाजार क्षेत्र उसके प्रयोग पर भी निर्भर होता है। उदाहरण के लिये यदि टेलीफोन का विस्तृत रूप में प्रयोग होता है तो उसका बाजार भी विस्तृत होगा। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है कि जब फोनों की संख्या कम होती है तो लोग फोन लगाना नहीं चाहेंगे क्योंकि उसकी उपयोगिता कम होगी वे अधिक व्यक्तियों से बातचीत नहीं कर सकेंगे। परन्तु यदि फोन रखने वालों की काफी बड़ी संख्या है तो अधिक लोग फोन लगवाना चाहेंगे। जिसके फलस्वरूप फोन की माँग बढ़ेगी और उसका बाजार भी विस्तृत होगा।

(११) आर्थिक सम्पन्नता में वृद्धि (Increase in Economic Prosperity)—माँग एक सापेक्षिक शब्द है। इसका सम्बन्ध मूल्य और मात्रा दोनों से है। हम यह भली भाँति जानते हैं कि धन वृद्धि के साथ-साथ वस्तुओं की माँग भी बढ़ती है। अतः यह स्पष्ट है कि एक धनाढ्य व्यक्ति की माँग एक निर्धन व्यक्ति की माँग से कहीं अधिक होगी। यदि किसी वस्तु का उपभोग गरीब भी करते हैं और अमीर भी तो वस्तु की माँग अधिक होगी जिसके फलस्वरूप उसकी पूर्ति भी अधिक होगी। इस प्रकार जब उस वस्तु की माँग एवं पूर्ति दोनों ही अधिक हैं तो उसका बाजार भी विस्तृत होना स्वाभाविक है। अतः आर्थिक सम्पन्नता की वृद्धि के साथ-साथ कई वस्तुओं के बाजार का विस्तार भी बढ़ता है।

(१२) किसी वस्तु विशेष के लिये राज्य की नीति (State Policy for a Particular Commodity)—किसी वस्तु का बाजार राज्य की नीति पर भी निर्भर होता है। उदाहरण के लिए, ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इङ्गलैंड के उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए भारतीय सूती व रेशमी वस्त्र उद्योग को नष्ट करने की नीति को अपनाया था। मुगल सम्राटों ने रेशमी वस्त्रों के अतिरिक्त अनेक कलात्मक वस्तुओं को प्रोत्साहन देकर उनकी माँग को विस्तृत करने में पर्याप्त सहायता प्रदान की थी। भारत सरकार भारतीय कुटीर उत्पत्ति के बाजार को विस्तृत करने के लिये देश में तथा विदेशों में प्रचार कर रही है। अस्तु, किसी वस्तु का बाजार क्षेत्र विस्तृत करने में राज्य की सहायता, संरक्षण आदि का बड़ा हाथ होता है।
निम्नलिखित वस्तुओं के बाजार किस प्रकार के है ?

ईंट (Bricks)—इनका बाजार बड़ा सीमित है क्योंकि इनमें वहनीयता (Portability) के गुण का अभाव है।

ताजा तरकारियाँ व फल (Fresh Vegetables & Fruits)—इनका बाजार बड़ा संकीर्ण होता है, क्योंकि ये नाशवान् (Perishable) वस्तुएं है जो शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। परन्तु आजकल शीतागार (Cold Storage) के बढ़ते हुए प्रचार ने इन वस्तुओं के बाजार को पर्याप्त विस्तृत कर दिया है।

मूल्यवान धातु (Precious Metals) —मूल्यवान धातु जैसे सोना, चाँदी आदि का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार होता है क्योंकि उनमें थोड़े भार में अधिक मूल्य रखने की सामर्थ्य होने के अतिरिक्त इनकी माँग सार्वदेशिक है।

बालू रेत (Sand)—बालू-रेत का बाजार वहनीयता नहीं होने के कारण सीमित एवं स्थानीय होता है।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के अंश (Shares of the Reserve Bank of India)—वहनीयता के गुण के अतिरिक्त ये सब एक ग्रेड के है तथा इनका क्रय-विक्रय अधिकतर भारत तक ही सीमित है। अस्तु इनका राष्ट्रीय बाजार है।

स्वेज नहर के अंश (Suez Canal Shares)—इनका क्रय विक्रय संसार के विभिन्न देशों द्वारा होता है अस्तु, इनका अन्तर्राष्ट्रीय बाजार है।

एक पूर्वजों की घड़ी (An Ancestral Watch)—पूर्वजों की घड़ी का महत्व एक कुटुम्ब तक ही सीमित है, अस्तु इसका कोई बाजार नहीं हो सकता है।

चाय (Tea)—चाय की माँग सार्वभौम है तथा इसका श्रेणी बंधन भी भली भाँति हो सकता है। इसमें वहनीयता का भी गुण है। अस्तु इसका अन्तर्राष्ट्रीय बाजार है।

आम और नारंगियाँ (Mangoes & Oranges)—आम व नारंगियाँ जैसी वस्तुयें शीघ्र नष्ट होने वाली है अतः इनका प्राय स्थानीय बाजार होता है। परन्तु कुछ प्रसिद्ध आमों और नारंगियों—जैसे लखनऊ का सफेदा, बनारस का लंगड़ा नागपुर के सन्तरे आदि का बाजार अधिक विस्तृत है क्योंकि शीघ्र यातायात के साधनों द्वारा ये फल देश में दूर-दूर भेजे जा सकते है। शीतागार की सुविधा के कारण कुछ भारतीय प्रसिद्ध आमों का विदेशों को निर्यात सम्भव हो गया है।

फर्नीचर (Furniture)—इसकी यातायात की असुविधा व होने वाले टूट-फूट के कारण इसका बाजार प्राय स्थानीय होता है, परन्तु यातायात की सुविधाओं में

सुधार हो जाने से इनका प्रान्तीय बाजार हो गया है। उदाहरणार्थ बरेली का बना हुआ फर्नीचर अधिकतर उ० प्र० में ही खरीदा व बेचा जाता है।

साड़ियां (Sarees)—साड़ियों में वहनीयता टिकाऊपन आदि गुण होते हुए भी इनका बाजार विश्व व्यापी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनकी मांग सार्वदेशिक नहीं है। इनका मांग व भारतवर्ष तक ही सीमित है अन्य देशों में इनका चलन नहीं है अतः इनका केवल राष्ट्रीय बाजार ही है।

ताजा दूध (Fresh Milk)—साधारणतया ताजे दूध का क्रय विक्रय स्थानीय होता है क्योंकि यह शीघ्र खराब होने वाली वस्तु है। शीतागार की सुविधा के कारण इसका बाजार अधिक विस्तृत होता जा रहा है।

सोना और चांदी (Gold & Silver)—इनका बाजार केवल राष्ट्रीय ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय है क्योंकि इनमें वहनीयता का सबसे बड़ा गुण विद्यमान है।

रुई (Cotton) —रुई की मांग सार्वदेशिक है तथा यह शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तु नहीं है। यह नमूना और श्रेणी वर्णन (ग्रेडिंग) के लिये बड़ा उपयुक्त है। अतः इसका बाजार विश्व व्यापी है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—किसी वस्तु के बाजार (Market) का विस्तार किन कारणों पर निर्भर है? विस्तृत बाजार को पाने के लिये किसी वस्तु को किन गुणों की आवश्यकता होती है? (रा० बो० १९५९)

२—बाजार शब्द की परिभाषा दीजिये। स्पष्ट करके बताइये कि निम्नलिखित वस्तुओं के बाजार का क्षेत्र कैसा है —
(अ) ताजा आम (ब) जूट का सामान (स) करघे का कपड़ा (द) कुम्हार के बर्तन।

३—पारिभाषिक शब्द बाजार से आप क्या समझते हैं। वे कारण क्या क्या हैं जो किसी वस्तु के बाजार के विस्तार पर प्रभाव डालते हैं? (अ० बो० १९५४ ५२)

४—पूर्ण और अपूर्ण बाजार में भेद बताइये। कारण सहित बताइये कि क्या निम्नलिखित वस्तुओं तथा सेवाओं का बाजार पूर्ण होता है? (अ) Real Estates (आ) Loans of money (इ) श्रम सेवाएं (ई) उपभोग की वस्तुएं।
(रा० बो० १९५१)

५—बाजार किसे कहते हैं? अन्तर्राष्ट्रीय और स्थानीय बाजार में भेद बताइये। उन सब कारणों को भी स्पष्ट कीजिये जो किसी वस्तु के बाजार पर प्रभाव डालते हैं। (रा० बो० १९५०)

६—बाजार का अर्थ समझाइये और विस्तृत बाजार को निर्धारित करने वाले तत्वों को समझाइये। विस्तृत बाजार और संकीर्ण बाजार वाली तीन तीन वस्तुओं के नाम दीजिये। (म० भा० १९५७)

७—बुरे और अच्छे बाजार में क्या अन्तर है? अच्छे बाजार के क्या-क्या आवश्यक गुण हैं? (अ० बो० १९५६)

८—विपणि क्या है? वह कौन से कारण हैं जो विपणि के आकार का निर्धारण करते हैं? उदाहरण दीजिये। (सागर १९५६)

अध्याय ४८

माँग और पूर्ति

(Demand and Supply)

१—माँग (Demand)

माँग का अर्थ (Meaning of Demand)—मनुष्य की किसी वस्तु के लिये कोई इच्छा (Desire) माँग नहीं कही जा सकती। इच्छा को माँग में परिणत होने के लिये उसको प्रभावपूर्ण (Effective) होना आवश्यक है। अब प्रश्न यह प्रस्तुत होता है कि कौन सी इच्छा प्रभावपूर्ण कहलाती है। प्रभावपूर्ण इच्छा (Effective desire) वह इच्छा है जिसकी पूर्ति के लिये पर्याप्त साधन (Means) उपस्थित हों और उन साधनों को प्रयुक्त करने की तत्परता (Willingness) भी हो। उदाहरण के लिये, यदि कोई भिखारी मोटर-कार की इच्छा रखता है तो उसकी यह इच्छा हवा में महल बनाने के समान है क्योंकि मोटर-कार खरीदने के लिये उसके पास पर्याप्त साधन नहीं है। इसी प्रकार यदि एक कृपण धनी मोटर-कार तो खरीदना चाहता है परन्तु वह उसके लिये रुपया खर्च करना नहीं चाहता है, तो उसकी यह इच्छा प्रभावपूर्ण नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसके पास मोटरकार खरीदने के लिये पर्याप्त धन राशि तो है किन्तु धन के साथ उसकी इतनी लालसा है कि वह उसे खर्च करने के लिये बिल्कुल तैयार नहीं है। इन दोनों उदाहरणों में इच्छा केवल इच्छा ही है, प्रभावपूर्ण नहीं है। अतः ऐसी इच्छा जो प्रभावपूर्णता के गुण से रहित हो, अर्थशास्त्र में माँग नहीं कही जा सकती। अस्तु, अर्थशास्त्र में माँग (Demand) शब्द से केवल प्रभावपूर्ण इच्छा से ही तात्पर्य होता है। अन्य शब्दों में माँग के लिये निम्नलिखित तीन बातें आवश्यक हैं :—

(१) किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा (Desire),

(२) उस इच्छा की पूर्ति के लिये पर्याप्त साधन (Means), और

(३) उन साधनों के द्वारा इच्छा-पूर्ति की तत्परता, (Willingness)।

अतः अब हम यह कह सकते हैं कि माँग किसी वस्तु को प्राप्त करने की वह इच्छा है जिसकी पूर्ति के लिये पर्याप्त साधन उपस्थित हों और उन साधनों द्वारा उस इच्छा की पूर्ति करने के लिये तत्परता भी हो।

माँग, मूल्य और समय (Demand, Price & Time)—माँग और मूल्य में घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना मूल्य के माँग का कोई अस्तित्व नहीं है। मूल्य के अनुसार ही हम वस्तु की माँग करते हैं। वस्तु का मूल्य कम होने पर हम उसे अधिक मात्रा में खरीद लेते हैं और बढ़ जाने पर खरीद की मात्रा कम कर देते हैं। अतः माँग से किसी आवश्यक वस्तु की उस मात्रा का बोध होता है जिसे कोई किसी

अमुक मूल्य पर खरीदने को तैयार हो। यदि कोई व्यक्ति दस सेर चीनी बारह आने सेर की दर से खरीदने को तैयार हो, तो दस सेर चीनी उसकी माँग होगी। यदि केवल यही कहा जाय कि अमुक व्यक्ति की माँग दस सेर चीनी है, तो यह अर्थशास्त्रीय अर्थ में माँग नहीं हो सकती। अस्तु माँग के साथ एक निश्चित मूल्य का रहना आवश्यक है। कोई भी माग बिना किसी विशिष्ट मूल्य के कोई भी अर्थ नहीं रखती। प्रत्येक माँग के साथ एक विशिष्ट मूल्य लगा रहता है। प्रो० पैन्सन (Penson) लिखते हैं "किसी वस्तु की माग सदैव किसी ग्राहक या भावी ग्राहक द्वारा प्रस्तुत की जाती है। किसी वस्तु की माँग का उसके मूल्य से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। बहुत बड़ी सीमा तक मनुष्यों की किसी वस्तु के खरीदने की तत्परता इस बात पर निर्भर होती है कि उन्हें उसके लिए क्या मूल्य देना पड़ेगा। इसलिए, मूल्य से पृथक माँग जैसी कोई अन्य वस्तु नहीं है।"[१] इसके अतिरिक्त माग और समय म भी सम्बन्ध पाया जाता है। किसी वस्तु की अमुक मात्रा अमुक मूल्य पर किसी अमुक समय पर ही उपलब्ध हो सकती है। दूसरे समय पर मूल्य म परिवर्तन होने से वस्तु की माग म न्यूनाधिकता स्वाभाविक है। अस्तु माँग सदा समय की इकाई के साथ बतलाई जाती है, जैसे प्रति वर्ष, प्रति मास, प्रति सप्ताह या प्रति दिन। प्रत्येक माग एक विशिष्ट समय में ही प्रभावपूर्ण मानी जायगी। अत अर्थशास्त्रीय अर्थ म माँग के लिये निम्नांकित बातें आवश्यक हैं :—

(१) प्रभावपूर्ण इच्छा (Effective Desire),

(२) निश्चित मूल्य (Fixed Price), और

(३) निश्चित समय (Fixed Time)।

अब उपर्युक्त बातो के आधार पर माँग को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं माँग किसी वस्तु की वह मात्रा है जिसे कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट मूल्य पर किसी विशिष्ट समय म खरीदने के लिये तैयार हो।

प्रो० बेनहम (Benham) के शब्दों म किसी दिये हुए मूल्य पर किसी वस्तु की माग उसकी वह मात्रा है जो अमुक समय में उस मूल्य पर खरीदी जाय।[२]

प्रो० जे० एस० मिल (J. S. Mill) लिखते हैं कि माँग से हमारा आशय माँगी जाने वाली मात्रा से होता है और स्मरण रखिये कि यह कोई स्थायी मात्रा नहीं होती वरन् यह मूल्य के अनुसार सामान्यतया बदलती रहती है।[३]

१—"Demand is always made by a buyer or would be buyer, for a certain article The demand for a commodity is closely related to its price The willingness of people to buy a thing depends, to a considerable extent, upon what they have to pay for it Therefore, there is no such thing as demand apart from price

. Penson . *Everyday Economics*, Pt I, p 107.

२—"The demand for anything at a given price is the amount of it which will be bought per unit of time at that price

Benham *Economics*, p. 36.

३—"We must mean by the word demand, the quantity demanded and remember that this is not a fixed quantity, but in general varies according to the value

J S. Mill *Principles of Politicale Economy*, iii, ii, 4.

मांग का मूल्य (Demand Price)—माँग का मूल्य वह मूल्य है जिस पर कोई क्रेता किसी वस्तु का निश्चित मात्रा किसी विशिष्ट धनराशि में खरीदने के लिये तैयार हो। यदि कोई व्यक्ति ६ आने प्रति दर्जन के हिसाब से दो दर्जन मतरे खरीदने को तैयार है, तो ६ आना प्रति दर्जन मतरे उसकी माग का मूल्य हुआ।

मांग का नियम (Law of Demand)—माँग और मूल्य के सम्बन्ध के विवरण को मांग का नियम कहते है। माँग का नियम उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility) पर अवलम्बित है। इस नियम के अनुसार जितनी अधिक हमे कोई वस्तु मिलती है उतनी ही उसकी उपयोगिता कम हो जाती है। उपयोगिता घट जाने से हम उस वस्तु को कम मूल्य पर ही खरीदगे। किसी वस्तु के अधिक खरीदे जाने के लिये उसका मूल्य कम होना चाहिये। इसको या भी कह सकते हैं कि जितना किसी वस्तु का मूल्य कम होगा उतनी ही उस वस्तु की माँग अधिक होगी, इसके विपरीत मूल्य बढने पर वस्तु शीघ्र ही सीमान्त उपयोगिता को प्राप्त कर लगी जिसके फलस्वरूप उस हम कम मात्रा मे खरीदेग। अतः मूल्य बढ जाने से उस वस्तु की माँग कम हो जाती है। यह प्रवृत्ति अर्थशास्त्र म मांग के नियम (Law of Demand) के नाम से प्रसिद्ध है।

मांग का नियम यह बतलाता है कि किसी वस्तु का मूल्य घटने से वस्तु की माँग बढ जाती है और किसी वस्तु का मूल्य बढने से उस वस्तु की माँग घट जाती है, यदि अन्य बात समान रहे। इसको अधिक स्पष्ट करते हुए यो कहा जा सकता है कि किसी वस्तु के मूल्य और माँग म विलोम अर्थात् उल्टा (Inverse) सम्बन्ध है, क्योंकि मूल्य के घटने से माग बढ जाती है और मूल्य के बढ जाने से माँग घट जाती है। इसकी तुलना बच्चो के ढेकुल (See-Saw) नामक खेल से भली-भाति की जा सकती है। इस खेल मे जब एक सिरे पर बैठा हुआ बच्चा नीचे आता है, तो दूसरे सिरे पर बैठा हुआ बच्चा ऊपर उठ जाता है और जब दूसरा नीचे आता है, तो पहला ऊपर उठ जाता है। ठीक यही स्थिति माँग के नियम के अनुसार मूल्य और माँग की रहती है, अर्थात् किसी वस्तु के मूल्य के कम हो जाने पर उसकी माँग बढ जाती है और मूल्य के बढ जाने से माँग कम हो जाती है। उदाहरणार्थ, जब सेव का मूल्य दो आना प्रति सेव है, तो किसी व्यक्ति की माँग ४ सेव प्रति दिन की है। यदि सेव का मूल्य बढ कर तीन आने प्रति सेव हो जाय तो उस व्यक्ति की माँग घट कर ४ सेव प्रतिदिन रह जाती है। यदि सेव के दाम घट कर एक आना प्रति सेव हो जाय, तो उस व्यक्ति की माग बढ कर सम्भवत. ८ सेव प्रतिदिन हो जायेगी।

माँग के नियम के सम्बन्ध म एक बात और स्पष्ट कर देना उचित है। यद्यपि माँग का नियम किसी वस्तु के मूल्य और उसकी माग म सम्बन्ध स्थापित करता है तथापि माँग और मूल्य में कोई आनुपातिक (Proportionate) सम्बन्ध नहीं बतलाता। अर्थात् माँग और मूल्य का सम्बन्ध विलोम तो है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि यह आनुपातिक हो। उदाहरण के लिये, यदि किसी वस्तु का मूल्य आधा रह जाय, तो यह आवश्यक नहीं है कि माँग ठीक दुगुनी ही हो, माग सवाई ड्यौढी चौगुनी, पचगुनी भी हो सकती है। इसी प्रकार मूल्य के दुगने होने पर माँग ठीक आधी न रह कर तिहाई, पौनी भी हो सकती है। अस्तु यह आवश्यक नहीं है कि मूल्य जिस अनुपात मे घटे या बढे, माँग भी उसी अनुपात मे बढे या घटे।

प्रो० मार्शल (Marshall) के अनुसार अन्य बातें समान होने पर, किसी वस्तु का मूल्य घटने से उस वस्तु की मांग बढ़ती है और मूल्य के बढ़ने से मांग घटती है।[1]

प्रो० टॉमस (Thomas) मांग के नियम को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—किसी दिये हुये समय में किसी वस्तु या सेवा की मांग बढ़े हुये मूल्य की अपेक्षा प्रचलित मूल्य पर अधिक होगी और घटे हुये मूल्य की अपेक्षा कम होगी।[2]

'अन्य बातें समान हों अथवा किसी दिये हुए समय में' आदि इस प्रकार के शब्द बड़े लाक्षणिक हैं। इसका तात्पर्य यह है कि फैशन रुचि, रिवाज, मौसम, जनसंख्या आदि में परिवर्तन होने से बिना मूल्य में परिवर्तन हुये भी मांग में परिवर्तन होना सम्भव है। अस्तु मांग का नियम तब ही लागू होगा जबकि अन्य बातें समान हों अर्थात् उनमें कोई परिवर्तन न हो।

मांग के नियम के अपवाद (Exceptions to the Law of Demand) पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्थाओं की कल्पना के अतिरिक्त, मांग के नियम के निम्नलिखित अपवाद हैं —

मांग का नियम निम्नांकित चित्र द्वारा भली प्रकार व्यक्त किया गया है —

बहुत अल्प क्रेतागण अत्यधिक क्रेतागण
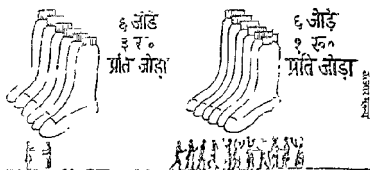
(१) निरन्तर मूल्यों का बढ़ना—(Continuous Rise in Prices)—यदि कुछ समय तक मूल्यों में निरन्तर वृद्धि हो रही हो तो उपभोक्ता

१—In the words of Prof Marshall "Other things being equal, with a fall in the price, the demand for the commodity is extended, and with a rise in the price the demand is contracted"

Marshall *Principles of Economics*, p 99

२—"At any given time, the demand for a commodity or service at the prevailing price is greater than it would be at a higher price and less than it would be at a lower price" —*Thomas*

घबराकर भविष्य में मूल्य वृद्धि से बचने के लिये अधिक खरीद कर जमा कर लेता है। गत विश्व महायुद्ध का अनुभव इस अपवाद का पूर्ण रूप से पुष्ट करता है।

(२) उपभोक्ता की वस्तु की किस्म की अनभिज्ञता (Ignorance of Consumer about the Quality of a Commodity)—उपभोक्ता को वस्तु की किस्म की अनभिज्ञता के कारण वह उस वस्तु के मूल्य या उपयोगिता का अनुमान उद्धृत (Quoted) मूल्य से लगाता है। बहुत से लोग कम मूल्य वाली वस्तुओं को निकृष्ट समझ कर नहीं खरीदते और ऊँचे मूल्य वाली वस्तुओं को उत्तम समझ कर खरीदते हैं। इस प्रकार उत्पादक गण कम मूल्य की अपेक्षा ऊँचे मूल्य की वस्तुओं को अधिक बेचने में सफल होते हैं।

(३) ऊँचा मूल्य और सम्पत्ति प्रदर्शन—(High Price & Display of Wealth)—कभी कभी लोग अमुक वस्तु इसलिये खरीदते हैं कि उसका मूल्य ऊँचा है और उससे वे अपनी सम्पत्ति का उचित प्रदर्शन कर सकते हैं। यदि किसी वस्तु का मूल्य गिर जाने से उसे जन साधारण भी खरीदने लग जायें तो वे उसे नहीं खरीदेंगे। उदाहरण के लिये जब बाइसिकलों का अधिक मूल्य था और जन साधारण के खरीदने की वस्तु नहीं थी तब अमीर लोग उन्हें खरीदते थे। लेकिन अब उनका मूल्य गिर जाने से जन साधारण के उपभोग की वस्तु हो गई है और अमीर लोग अपनी शान रखने के लिये उन्हें नहीं खरीदते हैं।

(४) आय में वृद्धि (Rise in Income)—मूल्यों के बढ़ने के साथ साथ यदि मनुष्यों की आय में वृद्धि हो जाय तो वस्तुओं की माँग इतनी नहीं घटेगी। गत महायुद्ध में मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि होने पर भी वस्तुओं की माँग इतनी नहीं घटी। इसका कारण यह था कि मनुष्यों की आय भी साथ ही साथ बढ़ गई थी। युद्धकालीन कारखानों तथा अन्य प्रकार के विविध कार्यों के कारण रोजगार का क्षेत्र बढ़ गया था। बेकारी नाम को भी नहीं रही थी। लोगों ने व्यापार तथा कल कारखानों से पर्याप्त मुनाफा कमाया और किसानों को भी मूल्यों के बढ़ने से बड़ा लाभ हुआ। इस प्रकार कुछ नौकरी वर्ग के मनुष्यों को छोड़कर शेष जनता की आय में पर्याप्त वृद्धि हो गई जिससे उनकी पहले की अपेक्षा क्रय शक्ति बढ़ गई।

माँग की सूची (Demand Schedule)

माँग का नियम यह बतलाता है कि जब वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होता है तो उसकी माँग पर भी प्रभाव पड़ता है अर्थात् विभिन्न मूल्यों पर माँग की विभिन्न मात्राएँ खरीदी जायेंगी। यदि हम माँग की विभिन्न मात्राओं को जो विभिन्न मूल्यों पर माँगी जायेंगी एकत्रित कर एक स्थान पर रख लें तो जो सूची इस प्रकार बनेगी उसे हम माँग की सूची कहेंगे। इसको स्पष्ट करते हुए यों कहा जा सकता है कि माँग की सूची सारणी (Table) के रूप में एक विवरण है जिसमें दिये हुए समय में किसी वस्तु की विभिन्न मात्राओं का उनके विभिन्न मूल्यों के साथ सम्बन्ध बतलाया जाता है। संक्षेप में माँग की सूची वह सारणी है जिसमें किसी विशिष्ट स्थान और समय पर विभिन्न मूल्यों पर माँग की विभिन्न मात्राएँ दिखाई गई हों। माँग की सूची बनाते समय केवल मूल्य द्वारा होने वाले परिवर्तन पर ही विचार किया जाता है, मूल्य के अतिरिक्त माँग में परिवर्तन करने वाले अन्य बातों का कोई विचार नहीं किया जाता जैसे फैशन, रुचि, स्वभाव, मौसम, धन वितरण, वास्तविक आय, जन संख्या आदि।

मॉग की सूची के भेद (Kinds of Demand Schedule)—मॉग की सूची दो प्रकार की होती है (१) व्यक्तिगत मांग-सूची (Individual Demand Schedule) और (२) बाजार की मांग सूची (Market Demand Schedule)

(१) व्यक्तिगत मॉग सूची (Individual Demand Schedule -- वह सारणी है जिसमे किसी व्यक्ति की किसी वस्तु की विभिन्न मात्राओ की मॉग विभिन्न मूल्यो पर दिखाई जाती है। किसी व्यक्ति की किसी वस्तु की माग उसके मूल्य के अतिरिक्त उसकी आय, रुचि स्वभाव आदि अनेक बातो पर भी निर्भर रहती है अस्तु माग की सूची बनाते समय यह कल्पना करली जाती है कि अन्य बाते पूर्ववत् है, केवल उस वस्तु के मूल्य हो मे परिवर्तन होता है। व्यक्तिगत मॉग सूची मे किसी व्यक्ति की किसी वस्तु की माग को पूर्ण जानकारी प्राप्त हो सकती है, परन्तु कठिनाई यह है कि इस प्रकार की पूर्ण मांग सूची सुगमता से तैयार नही की जा सकती।

(२) बाजार मॉग सूची (Market Demand Schedule)—वह सारणी है जिसमे समस्त बाजार की मॉग विभिन्न मूल्यो के साथ दिखाई जाती है। बाजार की माग सूची कई व्यक्तियो की एक साथ होने से इसे सामूहिक (Collective) अथवा सामाजिक (Social) मांग सूची भी कहते हैं। बाजार मॉग सूची मूल्य के सामने सम्पूर्ण बाजार में किसी वस्तु को बेची जाने वाली समस्त मात्राय रख कर बनाई जा सकती है। बाजार की मॉग सूची तैयार करते समय एक कठिनाई उपस्थित होती है। वह यह है कि बाजार मे भाग लेने वाले क्रेताओ की रुचि, स्वभाव, आय, धन्धे आदि मे पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है जिसके कारण मूल्य का वस्तु की मॉग पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पडता है। अत. मनुष्यो की मॉग की एक साथ सूची बनाते समय इन व्यक्तिगत अन्तरो पर कोई विचार नही किया जाता है।

व्यक्तिगत माग-सूची और बाजार मॉग-सूची को निम्नाकित उदाहरणों द्वारा भली प्रकार समझाया गया है —

सेवों की मॉग सूचियाँ

(Demand Schedules for Apples)

व्यक्तिगत मॉग सूची (Individual Demand Schedule)		बाजार माग सूची (Market Demand Schedule)			
मूल्य प्रति दर्जन रु०	मॉग की मात्रा प्रति दर्जन	अ	ब	स	योग
		(माग की मात्रा प्रति दर्जन)			
७	१	३	१	०	४
६	२	४	२	१	७
५	३	५	३	३	११
४	४	६	४	४	१४
३	६	७	६	५	१८
२	८	८	८	६	२२
१	१०	११	१०	८	२६

सारणी का स्पष्टीकरण—उपयुक्त सारणी में बाजार माँग सूची के अन्तर्गत अ से धनी वर्ग व में मध्य और म से अधम वर्ग के मनुष्यों की माँग बताई गई है। जबकि मूल्य ७ रु० प्रति दर्जन है तो कुल चार दर्जन सेव बाजार में बेचा जायगा ६ रु० प्रति दर्जन मूल्य पर ७ सेव ५ रु० मूल्य पर ११ सेव और इसी प्रकार आगे ४ रु० ३ रु० २ रु० और १ रु० पर क्रमशः १४ १८ २२ और २८ सेव बेच जायेंगे। यह सारणी माग के नियम का चरितार्थ करती है। जैसे ही जैसे मूल्य कम होता जाता है वैसे ही-वैसे माग बढ़ती जाती है और इसी प्रकार जैसे जैसे मूल्य बढ़ता जाता है वैसे-वैसे माग घटती जाती है।

माग-सूची के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बातें

१ माग-सूचियाँ, जैसी कि ऊपर दी गई हैं, पूर्ण नहीं होतीं। क्योंकि यह केवल आंशिक रूप ही है। पूर्ण सूची तब बन सकती है जबकि मूल्यों और वस्तु की मात्राओं की एक विस्तृत सूची तैयार की जाय। यह कार्य बड़ा कठिन है।

२ माँग-सूची काल्पनिक होती है, क्योंकि हम वास्तविक माँग सूची नहीं बना सकते। हम केवल किसी अमुक समय पर प्रचलित मूल्य पर मांगी जाने वाली वस्तु की मात्रा को ही जान सकते हैं अन्य मूल्य और वस्तुएं हम अपनी कल्पना में ही लिख सकते हैं। इसके लिए विगत रेखाएँ भी सहायक सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि विभिन्न समय की अवस्थाओं में भिन्नता पाई जाती है।

३ वास्तविक माग सूची का निर्माण अति दुष्कर है। कोई भी व्यक्ति सुगमता से यह नहीं कह सकता कि किस मूल्य पर वह किसी वस्तु की कितनी मात्रा खरीदेगा। माँग-सूची कोई निरपेक्ष (Absolute) वस्तु नहीं है क्योंकि विभिन्न वस्तुओं की उपयोगिता एक-दूसरे पर आश्रित होती है।

४ माग-सूची से केवल परिवर्तन प्रवृत्ति का ही बोध हो सकता है। इससे केवल यही ज्ञात हो सकता है कि अमुक मूल्य के साथ वस्तु की माग में अमुक परिवर्तन हो सकता है। कोई भी व्यक्ति निश्चय रूप से यह नहीं कह सकता है कि अमुक परिवर्तन अवश्य ही होगा।

माग-सूचियों का उपयोगिता (Utility of Demand Schedule)—यद्यपि विस्तृत माँग-सूचियों के निर्माण में अनेक कठिनाइयाँ हैं परन्तु फिर भी ये कई प्रकार से लाभदायक हैं। इनसे निम्नलिखित प्रयोजन सिद्ध होते हैं —

(१) वित्त मंत्री (Finance Minister) को यह अनुमान लगाना पड़ता है कि करों के लगाने से जो वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होगी उससे उनको खरीदने वालों वस्तुओं की मात्राओं में कितनी कमी हो जायगी। इस प्रकार की गणना बिना बजट तैयार किए नहीं की जा सकती।

(२) इनकी उपयोगिता उत्पादकों और निर्माताओं के लिए कम नहीं है। विभिन्न वस्तुओं की माँग-सूचियों का अध्ययन करने के पश्चात् ही वे वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करते हैं। इन सूचियों द्वारा उपभोक्ताओं की बचत का ज्ञान हो सकता है।

(३) एकाधिकारी (Monopolist) को भी अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए मूल्य परिवर्तनों द्वारा होने वाली उपभोक्ताओं की प्रतिक्रियाओं का ध्यान में रखना पड़ता है।

(४) इनसे माँग का नियम भली भांति समझा जा सकता है।

(५) वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होने से माँग की लोच का अच्छा ज्ञान हो सकता है।

(६) इनसे व्यापारी वर्ग बाजार की प्रवृत्ति (Tendency) का सुगमता से अनुमान लगा लेते है।

(७) इन सारणियों से विक्रेताओं को भिन्न-भिन्न मूल्यों पर किसी विशिष्ट समय और स्थान पर माँग की विभिन्न मात्राओं का पता चल जाता है।

माँग की वक्ररेखा (Demand Curve)—माग सूची के अंकों द्वारा रेखा-चित्र बनाने में जो वक्ररेखा बनती है वह माग की वक्ररेखा कहलाती है। माग की वक्ररेखा एक प्रकार से माग-सूची का रैखिक चित्रण है। इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि ये एक-दूसरे पर आश्रित है। माँग की वक्र रेखा सूची के आधार पर ही बनाई जाती है। दोनों में केवल यही अन्तर है कि माँग-सूची एक सारणी के रूप में होती है और माँग वक्ररेखा एक रैखिक चित्र के रूप में होती है, अन्यथा दोनों एक ही वस्तु के विभिन्न प्रतीक है। दूसरे शब्दों में, यह भी कहा जा सकता है कि दोनों ही माँग के नियम की क्रियाशीलता को एक ही दृष्टि में प्रदर्शित करने की दो युक्तियाँ है।

ऊपर माँग की सूचियों के अन्तर्गत दिये हुये अंकों से निम्नांकित रेखाचित्र बनता है जिसमें मूल्य और माँग का सम्बन्ध एक वक्र रेखा द्वारा प्रदर्शित किया गया है :—
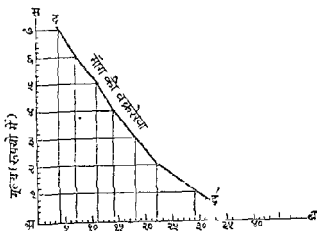
माँग की वक्ररेखा (Demand Curve)

अ ब रेखा पर सेव की माँग दर्जनों में और अ स रेखा पर सेवों का मूल्य रुपयों में दिखाया गया है। ऊपर की तालिकानुसार विभिन्न मूल्यों पर खरीदी जाने वाली वस्तु की मात्राएँ खड़ी और आड़ी रेखाओं से प्रकट की गई है। सारे बिन्दुओं को मिला देने से माँग की वक्र रेखा द द' बन जाती है जो गहरी काली स्याही से दिखाई गई है।

मांग का वक्र रेखा नीचे की ओर क्यों झुकती जाती है? (Why does demand curve slope downwards?)—प्राय हम यह देखते हैं कि सब मांग की वक्र रेखाएँ सदैव बाईं से दाईं तरफ नीचे की ओर झुकती जाती हैं। इसका कारण स्पष्ट है उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility) के अनुसार यदि किसी वस्तु की इकाइयों में वृद्धि की जाय, तो प्रत्येक बाद की इकाई की सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) कम होती जाती है जिसके फलस्वरूप मूल्य में भी गिरावट आ जाती है। अस्तु किसी वस्तु के घटते हुए मूल्य पर उस वस्तु की अधिक इकाइयाँ अथवा मात्रायें खरीदने की प्रवृत्ति देखी जाती है। अत यह आर्थिक घटना कि किसी वस्तु का मूल्य कम होने से उसकी मांग बढ़ती है उपयोगिता ह्रास नियम की सत्यता पर निर्भर है और यदि अन्य बातें समान रहें तो उपयोगिता ह्रास नियम की सत्यता में कदापि आँच नहीं आ सकती। इसलिये मांग की वक्ररेखा सदैव नीचे की ओर झुकती है।

कब मांग की वक्ररेखा नीचे की ओर नहीं झुकती? (When does the Demand Curve not slope downwards)—जबकि अशान्त वातावरण हो अथवा वस्तु की अत्यधिक न्यूनता से लोग भयभीत हो या वस्तु का उपयोग प्रतिष्ठाप्रद हो अथवा उपभोक्ता वस्तु से अनभिज्ञ हों या जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि हो गई हो तो वक्ररेखा नीचे की ओर झुकने से रुक जायगी।

मांग में परिवर्तन

(Changes in Demand)

मांग में परिवर्तन कई प्रकार से होता है और प्रत्येक प्रकार की विशेषताएँ भिन्न भिन्न हैं। अस्तु नीचे मांग के परिवर्तन के विभिन्न रूपों का निरूपण करते हुए उनमें भेद प्रकट किया जाता है —

मांग का विस्तार एवं संकुचन (Extension & Contraction of Demand)—मांग के नियमानुसार किसी वस्तु के मूल्य का परिवर्तन उसकी मांग में विलोम परिवर्तन उत्पन्न करता है अर्थात् जब मूल्य गिरता है तो मांग बढ़ जाती है और मूल्य बढ़ता है तो मांग घट जाती है।

मूल्य के घटने से जो मांग में वृद्धि होती है उसे मांग का विस्तार (Extension of Demand) कहते हैं और मूल्य के बढ़ने से मांग की कमी को मांग का संकुचन (Contraction of Demand) कहते हैं। मांग के विस्तार और संकुचन का सम्बन्ध मूल्य के कारण मांग में होने वाले परिवर्तन से है न कि अन्य कारणों से होने वाले परिवर्तन से।

मांग की वृद्धि एवं ह्रास (Increase and Decrease of Demand)—मांग में परिवर्तन मूल्य के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी होता है जैसे मुद्रा की मात्रा वास्तविक आय जन संख्या फैशन व रुचि व्यापार की स्थिति आदि में परिवर्तन। उदाहरण के लिये गत महायुद्ध में मुद्रा-स्फीति (Inflation of Money) के कारण वस्तुओं के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि हो गई थी और जिसके प्रभाव से उनकी मांग में भी कमी हो गई थी। इसी प्रकार चाय पान के रुचि के बढ़ने से चाय की मांग में वृद्धि हो जाती है और महिलाओं के लम्बे या छोटे बाल रखने के फैशन

के कारण 'हेयर पिन' (Hair Pins) और 'हेयर नेट' (Hair Nets) की माग मे परिवर्तन हो जाता है। अस्तु, मूल्य के अतिरिक्त अन्य कारणो से माँग के बढ जाने को माँग की वृद्धि (Increase of Demand) कहेगे और कम हो जाने को माँग का ह्रास (Decrease of Demand) कहेगे।

माग मे परिवर्तन करने वाले कारण

(Factors Causing Changes in Demand)

मूल्य के अतिरिक्त माँग मे जिन कारणो से परिवर्तन होता है वे निम्नलिखित हैं :—

(१) रुचि और फैशन मे परिवर्तन (Changes in Tastes & Fashion)—दैनिक आवश्यकताओं की अनेक वस्तुओ की माँग मे रुचि और फैशन के कारण परिवर्तन हो जाता है। जैसे भारतवर्ष मे चाय की ओर लोगो का अधिक भुकाव होने से इसकी माँग बढ रही है। और 'टाइ' का फैशन कम होने से इसकी माग घट रही है।

(२) मौसम मे परिवर्तन (Changes in Climate or Weather)—सर्दी मे गर्म कपडा की माँग और गर्मी मे बिजली के पखो और ठण्डे पेय-पदार्थों (Cold Drinks) की माँग बढ जाती है।

(३) जन-संख्या मे परिवर्तन (Changes in Population)—यदि बाहर से अधिक लोग आकर बस जायें तो उनके उपयोग मे आने वाली वस्तुओ की माँग बढ जायेगी। यदि लडाई मे नवयुवक एक बडी सख्या मे मारे जायें तो शादियो मे कमी हो जायगी और इसके परिणाम स्वरूप शादियो मे प्रयुक्त होने वाली वस्तुओ की भी माँग कम हो जायगी।

(४) मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन (Changes in the Amount of Money)—मुद्रा स्फीति तथा मुद्रा-संकुचन के कारण वस्तुओ के मूल्यो मे परिवर्तन हो जाने से उनकी माँग मे भी परिवर्तन हो जाता है। जैसे गत विश्व महायुद्ध के पूर्व भारतवर्ष मे १७६ करोड रुपयों की मुद्रा प्रचलित थी और युद्ध काल मे अर्थात् अप्रैल सन् १९४५ ई० मे १२०० करोड हो गई जिसके कारण वस्तुओ के मूल्यो मे अत्यधिक वृद्धि हो गई।

(५) वास्तविक आय मे परिवर्तन (Changes in Real Income)—केवल मुद्रा की मात्रा से माँग में परिवर्तन नहीं होता बल्कि लोगो की वास्तविक आय के परिवर्तन से भी वस्तुओ की माँग मे परिवर्तन होता है। उदाहरणार्थ, प्रौद्योगिक निपुणता, ज्ञान वृद्धि, नये आविष्कारों तथा उत्पत्ति के नवीन ढगों के कारण वस्तुओ का लागत मूल्य (Cost of Production) गिर जाता है जिसके कारण वस्तुएँ सस्ती उपलब्ध होने लगती है। अत. वस्तुओ का मूल्य गिर जाने से उनकी माँग बढ जाती है।

(६) धन-वितरण मे परिवर्तन (Changes in Distribution of Wealth)—धन वितरण के परिवर्तन से भी वस्तुओ की माँग मे अन्तर आ जाता है। उदाहरण के लिये, यदि धन-वितरण गरीबों के पक्ष मे है, तो अनिवार्य आवश्यक पदार्थों की माँग बढ जायगी और धनी लोगों के पक्ष मे है, तो विलास-वस्तुओ की माँग मे वृद्धि हो जायगी।

(७) व्यापार की स्थिति म परिवर्तन (Changes in Conditions of Trade)—व्यापार वृद्धि (Boom) के समय में मूल्यों का बढ़े हुये होने पर भी वस्तुओं की माग प्राय अधिक और मन्दी (Depression) के समय में कम हो जाती है।

(८) स्थानापन्न वस्तुओं के मूल्यों म परिवर्तन (Changes in Prices of Substitutes)—यदि किसी वस्तु के बदले में अन्य वस्तु प्रयुक्त की जा सकती है तो एक की माग की वृद्धि दूसरे की माग को कम कर देती है। जैसे रेडियो के मूल्य म कमी हो जाने म ग्रामोफोन की माग मे भी कमी हो जायगी क्योंकि अब लोग ग्रामोफोन के स्थान म रेडियो काम म लायेंगे।

विभिन्न प्रकार की माँग (Different Kinds of Demand)

संयुक्त माग (Joint Demand)—कई वस्तुएँ ऐसी है जिनका प्रयोग किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये एक साथ होता है जैसे मोटर और पैट्रोल, कलम और स्याही, जूता और पालिश आदि। अस्तु जब दो या दो से अधिक वस्तुओं की माग एक साथ की जाय तो उसे संयुक्त माग कहेंगे।

सम्मिश्रित माग (Composite Demand)—कई वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका प्रयोग एक से अधिक कामों के लिये होता है जैसे लकडी की माग फर्नीचर फर्श छत, दरवाजे, रेलवे इंजन, जहाज खेती का सामान आदि बनाने म होता है। इसी प्रकार भूमि का उपयोग खेती भवन निर्माण चरागाह खेल के मैदान बाग बगीचा आदि के लिये होता है अस्तु जब किसी वस्तु की माँग दो या दो से अधिक प्रयोगों के लिये की जाय, तो उसे सम्मिलित माग कहेंगे।

प्रत्यक्ष एव प्राप्त माग (Direct & Derived Demand)—संयुक्त माग म एक से अधिक वस्तुएँ एक साथ मांगी जाती है। इसलिए संयुक्त माग म आधारभूत वस्तु की माँग अथवा अंतिम उत्पत्ति की वस्तु की माँगको प्रत्यक्ष माँग कहेंगे और पूरक वस्तु या वस्तुओं की माँगको प्राप्त माग कहेंगे। उदाहरण के लिये मोटर कार की माँग से पैट्रोल की माग उत्पन्न होती है। अत मोटर कार की माग तो प्रत्यक्ष माँग है और पैट्रोल की माँग प्राप्त माँग है।

माग की लोच
(Elasticity of Wants)

माँग की लोच का अर्थ (Meaning of Elasticity of Demand)—ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वस्तु की मात्रा म मूल्य के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। माँग के नियमानुसार यदि अन्य बातें समान रहें तो मूल्य के कम होने से माँग बढ़ जाती है और मूल्य के बढ़ने से माग कम हो जाती है। यह परिवर्तन कभी कम होता है और कभी अधिक। अस्तु मूल्य म परिवर्तन होने के परिणाम स्वरूप जो माँग म परिवर्तन होता है, उसे माँग की लोच (Elasticity of Demand) कहते हैं। लोच माँग का एक स्वाभाविक गुण है। अत मूल्य के घटने व बढ़ने से माँग म

परिवर्तन विनाश हो जाना सम्भव है। माँग के इसी परिवर्तन को अर्थशास्त्र में माँग की लोच कहते हैं।

यह व्यावहारिक जीवन का नित्य अनुभव है कि कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनके मूल्य में तनिक परिवर्तन होने से उनकी माँग पर अत्यधिक प्रभाव पड़ जाता है। जैसे दरियों का मूल्य कम हो जाने पर उनकी माँग में वृद्धि हो जाती है और मूल्य अधिक हो जाने पर उनकी माँग घट जाती है। पर कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनकी माँग पर मूल्य की न्यूनाधिकता का बहुत कम प्रभाव पड़ता है। जैसे नमक, खाद्यान्न आदि आवश्यक वस्तुएँ। अतः मूल्य के थोड़े से परिवर्तन से माँग में अत्यधिक परिवर्तन हो जाने को माँग की अधिक लोच कहेंगे और मूल्य की न्यूनाधिकता से माँग में बहुत ही कम परिवर्तन होने को माँग की कम लोच कहेंगे।

प्रो० मार्शल (Marshall) के शब्दों में "बाजार में माँग की लोच अधिक या कम मूल्य की न्यूनाधिकता के अनुसार माँग की वृद्धि और कमी के अनुसार होती है।"[1]

माँग की लोच के अंश (Degrees of Elasticity of Demand)—माँग की लोच की विभिन्न प्रकार से अंशात्मक माप हो सकती है। किसी वस्तु की माँग (१) लोचदार (२) अत्यधिक लोचदार (३) पूर्णतया लोचदार (४) सामान्यतया लोचदार या बेलोच अथवा (५) पूर्णतया बेलोच हो सकती है। इनका विस्तृत विवरण नीचे दिया जाता है —

(१) लोचदार माँग (Elastic Demand) यदि मूल्य के परिवर्तन के प्रभाव से ठीक उसी अनुपात में माँग में परिवर्तन होता है तो ऐसी दशा में माँग लोचदार कहलायगी। उदाहरण के लिये किसी वस्तु का मूल्य दूना हो जाय तो उसकी माँग घट कर आधी रह जायगी और यदि उसका मूल्य घट कर आधा हो जाय तो उसकी माँग दूनी हो जायगी। प्राय ऐसा सुख की वस्तुओं (Articles of Comforts) में देखा जाता है। इस प्रकार की वस्तु की माँग की लोच को इकाई के बराबर कहेंगे। दिये हुए चित्र में यह प्रवृत्ति दिखाई गई है। इसमें यह वक्र या अर्ध समतल (Semi Porizontal) या अर्ध खड़ी (Semi Vertical) है।
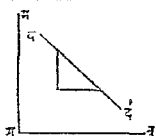
लोचदार माँग (Elastic Demand)

(२) बहुत लोचदार माँग (Highly Elastic Demand)—यदि माँग में परिवर्तन मूल्य में होने वाले परिवर्तन से अधिक अनुपात में होता है तो ऐसी दशा में माँग अधिक लोचदार कहलायगी। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं कि मूल्य

1— The elasticity of demand in the market is great or small according as the amount demanded increases much or little for a given fall in price and diminishes much or little for a given rise in price
Marshall *Principles of Economics* P 100

थोड़ा कम होने पर उनकी माँग बहुत बढ़ जाती है, और मूल्य जरा बढ़ जाने से उनकी माँग काफी कम हो जाती है। रेडियो, मोटर-कार, बाइसिकल, प्रशीतक (Refrigerator), रेशमी वस्त्र, सोफा सेट, टाइयाँ आदि विलास वस्तुओं (Articles of Luxury) की माँग प्राय इस प्रकार की होती है। उदाहरण के लिये, यदि रेशमी कपड़े या टाई के मूल्य मे २५ प्रतिशत कमी हो जाती है, तो माँग में वृद्धि ५० प्रतिशत या इससे भी अधिक हो जाती है, अर्थात् माँग मे वृद्धि अनुपात से अधिक हो जाती है। इसी प्रकार रेशमी कपड़े का मूल्य थोड़ा सा भी बढ़ जाय, तो माँग बहुत कम हो जायगी अर्थात् माँग अनुपात से अधिक गिर जायगी। इस प्रकार की माँग की लोच या ढलाई से अधिक कहते है। दिए हुये चित्र के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस प्रकार की माँग (Highly Elastic Demand) की वक्र रेखा लेटी हुई (Horizontal) या चपटी (Flat) होती है, अर्थात् इसकी प्रवृत्ति आधार रेखा (Base Line) के समानान्तर (Parallel) होने की होती है।

बहुत लोच दार माँग

(३) पूर्णतया लोचदार माँग (Perfectly Elastic Demand)

मूल्य मे परिवर्तन होने पर भी माँग मे पर्याप्त घटा बढ़ी हो जाने की दशा में माँग को पूर्णतया लोचदार कहेंगे। ऐसी वस्तुयें जिनकी माँग में बिना मूल्य में परिवर्तन हुए ही अधिक घटा बढ़ी हो जाय, वास्तविक जीवन में दृष्टिगोचर नहीं होतीं। अस्तु ऐसी दशा में वास्तविक जीवन से परे होने के कारण काल्पनिक कही जा सकती है। माँग की इस अवस्था में वक्र रेखा आधार रेखा के बिल्कुल समानान्तर होती है जैसा कि चित्र में दिखलाया गया है।
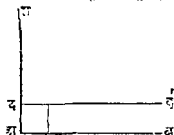
बहुत लोचदार माँग
(Perfectly Elastic Demand)

(४) सामान्यतया लोचदार अथवा बेलोच माँग (Moderately Elastic or Inelastic Demand)—यदि किसी वस्तु की माँग में मूल्य के अनुपात से कम परिवर्तन हो, तो ऐसी दशा में माँग को सामान्यतया लोचदार अथवा बेलोच कहेंगे। उदाहरणार्थ यदि किसी वस्तु के मूल्य में २५ प्रतिशत कमी होने पर वस्तु की माँग में वृद्धि केवल १० या १५ प्रतिशत और मूल्य में २५ प्रतिशत वृद्धि होने पर वस्तु की माँग में केवल १० या १५ प्रतिशत कमी हो, तो ऐसी वस्तु की माँग को सामान्यतया लोचदार, कम लोचदार या बेलोच कहेंगे। इस वस्तु की माँग को इकाई से कम कहते हैं। इस प्रकार की माँग प्राय

जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं (Articles of Necessity) में पाई जाती है। नमक इसका सबसे उत्तम उदाहरण है। नमक का मूल्य एक आने सेर से दो आने सेर हो जाने पर भी नमक की माँग सम्भवतः बहुत थोड़ी कम हो। इसी प्रकार यदि नमक का मूल्य एक आने से घट कर दो पैसे हो जाय तब भी नमक की माँग में मूल्य के अनुपात में वृद्धि नहीं होगी। दिये हुए चित्र से यह स्पष्ट है कि सामान्यतया लोचदार या बेलोच माँग की वक्र रेखा की प्रवृत्ति खड़ी होने (Vertical) की ओर होती है।
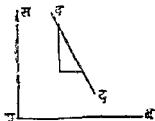
सामान्यतया लोचदार या बेलोच माँग (Moderately Elastic or Inelastic Demand)
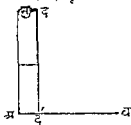
(५) पूर्णतया बेलोच माँग (Perfectly Inelastic Demand)—मूल्य में परिवर्तन होने पर माँग में कोई भी परिवर्तन न होने की दशा में माँग को बेलोचदार कहेंगे। इसको अधिक स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि मूल्य चाहे कुछ भी हो माँग में कोई परिवर्तन नहीं होता है। पूर्णतया लोचदार माँग की भाँति इसका भी अस्तित्व काल्पनिक है। पूर्णतया बेलोच माँग की वक्र रेखा बिल्कुल खड़ी (Vertical) होती है। जैसा कि चित्र में स्पष्ट है।

म द

अ द ध

पूर्णतया बेलोच माँग
(Perfectly Inelastic Demand)

निष्कर्ष—साधारणतया जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं की माँग कम लोचदार (Inelastic) होती है क्योंकि जो वस्तुएँ जीवन के लिये आवश्यक हैं उनको तो किसी भी मूल्य पर खरीदना ही पड़ता है और एक बार आवश्यकतानुसार मात्रा में उन्हें खरीद लेने के पश्चात् फिर चाहे मूल्य में भारी कमी क्यों न हो जाय उन वस्तुओं को अधिक मात्रा में नहीं खरीदा जा सकता। दूसरी ओर विलास वस्तुओं की माँग अधिक लोचदार (Highly Elastic) होती है क्योंकि ये वस्तुएँ जीवन के लिए आवश्यक नहीं होतीं अतः जहाँ तक ये बहुत सस्ती नहीं हो जाती वहाँ तक इनका प्रयोग अधिक नहीं किया जाता। जब ये सस्ती होती हैं तो इनको बड़ी मात्रा में खरीदा जाता है और यदि इनका मूल्य फिर से बढ़ जाता है तो इनका प्रयोग स्थगित कर दिया जाता है जिससे उनकी माँग में भारी कमी आ जाती है।

इस प्रकार कई सुख वस्तुओं में भी अनुपात से अधिक वृद्धि होने के कारण उनकी माँग अधिक लोचदार होती है। सामान्यतया सुख वस्तुओं की माँग में केवल आनुपातिक परिवर्तन होने से उनकी माँग लोचदार (Elastic) होती है।

निम्नाङ्कित वस्तुओं की माँग किस प्रकार की है लोचदार अधिक लोचदार या कम लोचदार है?

नमक (Salt)—नमक जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है। इसकी मांग मूल्य की न्यूनाधिकता से अधिक प्रभावित नहीं होती। आवश्यक मात्रा में तो इसे प्राप्त करना ही पड़ता है, चाहे मूल्य अधिक हो या कम। अस्तु, नमक की मांग सामान्यतया लोचदार (Moderately Elastic) अथवा बेलोच (Inelastic) होती है।

मान लीजिये कि नमक की मांग सूची निम्न प्रकार है :—

नमक का मूल्य प्रतिमन	नमक की मांग
५ रु०	१० मन
४ रु०	११ ,,
२ रु०	१२ ,,

उपर्युक्त सूची में दिये हुये अंकों की सहायता से निम्नांकित रेखा चित्र बनाया गया है —

इसमें अ ब रेखा नमक की मांग को प्रकट करती है और अ स रेखा नमक के मूल्य को प्रकट करती है। द द' नमक की वक्र रेखा है। उक्त वक्र रेखा यह प्रकट करती है कि जब नमक का मूल्य ५ रु० मन है तो मांग १० मन है। जब नमक का मूल्य ४ रु० मन हो जाता है तो नमक की मांग बढ़कर ११ मन हो जाती है।
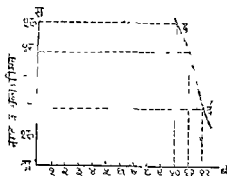
नमक की मांग की मात्रा (मनों में)

मांग की मात्रा में परिवर्तन मूल्य के परिवर्तन की अपेक्षा कम है, क्योंकि मूल्य में कमी तो २० प्रतिशत हुई है पर मांग में वृद्धि १० प्रतिशत हुई है। फिर नमक का मूल्य २ रु० हो जाता है, तो नमक की मांग १२ मन होती है, अर्थात् जब मूल्य में ६० प्रतिशत कमी होती है, तो मांग की मात्रा में, केवल २० प्रतिशत ही वृद्धि होती है। इस चित्र में द द रेखा जीवनार्थ आवश्यक वस्तुओं की प्रतीक है और इसकी प्रवृत्ति खड़ी होने (Vertical) की ओर होती है।

दियासलाई और ईंधन (Match Box & Fuel)—दियासलाई और ईंधन जीवनार्थ आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुएँ हैं। इनकी मांग पर मूल्य की घटा-बढ़ी का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः इनकी मांग बेलोचदार (Inelastic) है।

हीरे (Diamonds)—हीरे केवल भोग विलास की वस्तु है, अतः मूल्य की घटा बढ़ी का इनकी मांग पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। इसलिये इनकी मांग बहुत

लोचदार (Highly Elastic) है।

रेडियो सैट मोटरकार व प्रशीतक (Radio Sets Motor Cars & Refrigerators)—ये भोग विलास की वस्तुएं हैं। इनके मूल्य में थोड़ा सा परिवर्तन हो जाने पर माग में पर्याप्त घटा बढ़ी हो जाता है। इसलिये इनकी माग बहुत लोचदार (Highly Elastic) है।

कोयला और चाय (Coal & Tea)—प्राय उन वस्तुओं की माँग अधिक लोचदार होती है जिनके स्थान में अन्य वस्तुएँ प्रयुक्त की जा सकती हैं क्योंकि एक वस्तु का मूल्य बढ़ जाने पर उसके स्थान में अन्य वस्तु का उपयोग प्रारम्भ हो जाता है। कोयला और चाय की माग अधिक लोचदार (Highly Elastic) है क्योंकि कोयला के महंगे होने पर लकड़ी जलाई जा सकती है और सस्ता होने पर लकड़ी के बजाय कोयला जलाया जा सकता है इसी प्रकार चाय के महगी होने पर काफी का प्रयोग किया जा सकता है और काफी के मँहगी होने पर चाय का प्रयोग किया जाने लगता।

माग की वक्र रेखा की लोच—(Elasticity of Demand Curve)—माग की वक्र रेखा पर किसी बिन्दु पर उसके झुकाव (Slope) को माग की वक्र रेखा की लोच कहते हैं। अस्तु, माग की वक्र रेखा की लोच रेखागणित द्वारा सुगमता से नापी जा सकती है जैसा कि नीचे चित्र में बतलाया गया है।

दिये हुये चित्र में द द माग की वक्र रेखा है जिसमें प कोई एक बिन्दु है। एक सीधी रेखा जो प बिन्दु पर द द की स्पर्श रेखा (Tangent) है खींची गई है जो अ ब रेखा में थ बिन्दु पर मिलता है और अ स रेखा में त बिन्दु पर मिलती है। अब माग की वक्र रेखा की लोच प बिन्दु पर प थ और प त का अनुपात (Ratio) है। यदि प थ और प त बराबर हैं तो लोच इकाई (Unity) के बराबर है। यदि प थ प त का दुगना है तो लोच भी दुगनी है और आधा है तो लोच भी आधी है इस परिमाण को दूसरे ढग से ∠थ प म और
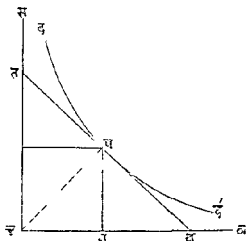
माग की वक्र रेखा की लोच (Curve)

∠म प अ के अनुपात में प्रकट कर सकते हैं। यदि दोनों कोण बराबर है तो लोच इकाई के बराबर है। यदि ∠थ प म ∠म प अ से दुगना है तो लोच भी अनुपातिक

दृष्टि से बढ़ी है । यदि ∠ थ प म / ∠ म प अ के अनुपात से बढ़ता है तो लोच भी उसी अनुपात से बढ़ेगी ।

माँग की लोच और उत्पत्ति-ह्रास नियम (Elasticity of Demand & Law of Diminishing Returns)—माँग की लोच और उत्पत्ति ह्रास-नियम में घनिष्ठ सम्बन्ध है । उत्पत्ति-ह्रास नियम के अनुसार ज्यों-ज्यों वस्तु की मात्रा में वृद्धि की जाती है, त्यों-त्यों उसकी अगली इकाइयों की उपयोगिता गिरती जाती है । उपयोगिता का अर्थ यहाँ प्रत्येक इकाई की सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) से है । यह उपयोगिता का ह्रास एक-सा (Uniform) नहीं होता है । कुछ दशाओं में यह ह्रास शीघ्रता से होता है, जैसे नमक आदि जीवनोपयोगी वस्तुयें । जब नमक का मूल्य गिरता है, तो हम तुरन्त उसे अपनी सम्पूर्ण आवश्यकता के अनुसार खरीद लेते हैं और यदि फिर मूल्य गिरे तो हम उसे बिल्कुल नहीं खरीदते हैं । इस दशा में उपयोगिता का ह्रास बड़ी शीघ्रता से होता है । ऐसी वस्तुओं की माँग बेलोच होती है । कुछ दशाओं में सीमान्त उपयोगिता में ह्रास धीरे धीरे होता है, जैसे रेशमी वस्त्र, मोटरकार, रेडियो बाइसिकल आदि सुख एवं विलास वस्तुयें । इनकी माँग लोचदार या अत्यधिक लोचदार होती है । सक्षेप में, जब सीमान्त उपयोगिता में ह्रास शीघ्रता से होता है तो माँग कम लोचदार या बेलोच होती है और जब यह शनैः शनैः होता है तो माँग लोचदार या अत्यधिक लोचदार होती है ।

माँग की लोच और उपभोक्ता की बचत (Elasticity of Demand & Consumer's Surplus)—माँग के स्वभाव का उपभोक्ता की बचत पर भी काफी प्रभाव पड़ता है । जीवनार्थ और रूढ़ आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली वस्तुओं की माँग प्रायः कम लोचदार होती है । वे प्रायः सस्ती भी होती हैं । जीवन रक्षक वस्तुओं की अत्यधिक उपयोगिता होने के कारण उपभोक्ता जो मूल्य दे रहा है उससे भी कहीं अधिक मूल्य देने के लिये तैयार हो जाता है । परन्तु वास्तव में वह कम मूल्य दे रहा है क्योंकि ऐसी वस्तुओं का उत्पादन बड़े परिमाण में होने से वे सस्ती उपलब्ध होती है । इसलिये कम लोचदार या बेलोच माँग वाली वस्तुओं के उपभोग से उपभोक्ता की बचत अधिक होती है । सुख और विलास-वस्तुओं की माँग लोचदार या अत्यधिक लोचदार होती है । उपभोक्तागण उनका अधिक मूल्य देने को तैयार नहीं हैं क्योंकि वे पहले से ही उनका ऊँचा मूल्य दे रहे हैं । अस्तु, ऐसी दशा में 'उपभोक्ता की बचत' कम होगी । इस प्रकार जब किसी वस्तु की माँग कम लोचदार या बेलोच हो, तो उपभोक्ता की बचत अधिक होती है, और जब उसकी माँग लोचदार या अत्यधिक लोचदार हो तो उपभोक्ता की बचत कम होती है ।

माँग की लोच का माप (Measurement of Elasticity of Demand)—केवल यह जानना ही पर्याप्त नहीं है कि अमुक वस्तु की माँग लोचदार है या बेलोचदार । व्यापारी लोग और अर्थ-मन्त्री, इसको जानने के लिये और भी अधिक गहराई तक पहुँचते हैं अर्थात् वे लोच को ठीक अंशा में मापने की भी चेष्टा करते हैं । अस्तु, हमें लोच-मापन की विविध रीतियों का भी अध्ययन करना चाहिए ।

माँग की लोच को मापने की प्रायः दो रीतियाँ प्रचलित हैं जिनका विस्तृत वर्णन नीचे दिया जाता है :—

(१) इकाई रीति (Unity Method)—प्रो० मार्शल ने भी इस रीति की सिफारिश की है। इस रीति के अनुसार माँग और मूल्य के समानुपात परिवर्तन से लोच की इकाई (Unity) स्थिर की जाती है और माँग में अनुपात से अधिक वृद्धि होने पर लोच का इकाई से अधिक होना तथा अनुपात से कम वृद्धि होने पर इकाई से कम होना कहा जाता है।

(अ) इसको अधिक स्पष्ट करते हुए या कहा जा सकता है कि जब किसी वस्तु की माग में ठीक उसी अनुपात में परिवर्तन हो जिस अनुपात में कि उसके मूल्य में परिवर्तन हुआ है तो उस वस्तु की माँग की लोच इकाई (Unity) के बराबर कही जाती है। उदाहरणार्थ किसी वस्तु का मूल्य दुगुना हो जाय तो माग आधी हो जाती है। ऐसी अवस्था में जितना रुपया उस वस्तु के खरीदने में व्यय किया जाता है। (प्रति इकाई मूल्य × खरीदी जाने वाली इकाइयों की मात्रा) वह सर्वदा समान रहता है चाहे वस्तु के मूल्य में कितनी भी घटा बढ़ी क्यों न हो प्राय सुख वस्तुओं (Articles of Comfort) के साथ ऐसा ही होता है। इनकी माग लोचदार (Elastic) होती है। इसका मापन सकेत लो = १ (Elasticity is equal to Unity) होता है।

// (आ) यदि माग में होने वाले परिवर्तन के अनुपात से अधिक परिवर्तन होता है, तो उस वस्तु की माग की लोच इकाई से अधिक कही जाती है। उदाहरणार्थ मूल्य में २० प्रतिशत कमी होने पर माग में ५० प्रतिशत वृद्धि हो जाय अथवा मूल्य में २० प्रतिशत वृद्धि होने पर माँग में ५० प्रतिशत कमी हो जाय। ऐसी दशा में उस वस्तु के खरीदने में जितना रुपया व्यय किया जाता है वह मूल्य के बढ़ने पर कम हो जाता है और मूल्य के घटने पर बढ़ जाता है। प्राय विलास-वस्तुओं के साथ ऐसा होता है। इनकी माग बहुत लोचदार (Highly Elastic) होती है। इस प्रकार की लोच का मापन सकेत लो > १ (Elasticity is greater than Unity) होता है।

// (इ) यदि माग में होने वाले परिवर्तन के अनुपात से कम परिवर्तन होता है तो उस वस्तु की माग की लोच को इकाई से कम कहा जाता है। उदाहरणार्थ मूल्य में ५० प्रतिशत कमी होने पर भी माँग में केवल २० प्रतिशत ही वृद्धि हो अथवा मूल्य में ५० प्रतिशत वृद्धि हो जाने पर भी माग में केवल २० प्रतिशत ही कमी होती हो। ऐसी अवस्था में वस्तु के खरीदने में जो रुपया व्यय किया जाता है वह मूल्य के बढ़ने पर बढ़ जाता है और मूल्य के घटने पर घट जाता है। प्राय जीवनार्थ आवश्यक वस्तुओं (Articles of Necessity) के साथ ऐसा ही होता है। इन वस्तुओं की माग कम लोचदार या बेलोच (Inelastic) होती है। इसका मापन सकेत लो < १ (Elasticity is less than Unity) होता है।

निम्नांकित सारणी इसे और भी स्पष्ट कर देती है :—

मूल्य (Price)		माँग (Demand)	कुल व्यय-राशि (Total Money Outlay)	
रु० ५·००	प्रति मन	१००० मन	रु० ५०००	इकाई
„ २·५०	„ „	२००० „	„ ५०००	
„ १·२५	„ „	४००० „	„ ५०००	
„ ५·००	„ „	१००० „	„ ५०००	इकाई से अधिक
„ २·५०	„ „	३००० „	„ ७५००	
„ १·२५	„ „	७००० „	„ ८५००	
„ ५·००	„ „	१००० „	„ ५०००	इकाई से कम
„ २·५०	„ „	१५०० „	„ ३०००	
„ १·२५	„ „	२००० „	„ २२००	

निष्कर्ष—जब मूल्य के गिरने से कुल व्यय-राशि वही रहती है, तो माँग की लोच इकाई के बराबर होती है, जब व्यय-राशि बढ़ती है, तो माँग की लोच इकाई से अधिक होती है और जब यह कम होती है, तो लोच इकाई से कम होती है।

माँग की लोच-सम्बन्धी व्याख्या नीचे की तालिका में और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है :—

क्र० सं०	माँग के परिवर्तन या अंशात्मक माप	लोच का मापन-संकेत	प्रत्येक श्रेणी में आने वाली वस्तुएँ	लोच के अंश
(अ)	अनुपात के बराबर	लो = १	सुख वस्तुएँ	लोचदार
(आ)	अनुपात से अधिक	लो > १	विलास वस्तुएँ	अधिक लोचदार
(इ)	अनुपात से कम	लो < १	जीवनार्थ आवश्यक वस्तुएँ	सामान्यतया लोचदार या बेलोच

(२) प्रतिशत-परिवर्तन तुलना-रीति (Percentage Change Comparison Method)—इस रीति के अनुसार माँग की लोच, मूल्य और माँग के प्रतिशत-परिवर्तन की पारस्परिक तुलना द्वारा ज्ञात की जाती है। मान लीजिये कि मूल्य में ५० प्रतिशत वृद्धि होती है। यदि माँग में कमी ५० प्रतिशत ही होती है, तो माँग की लोच इकाई के बराबर होगी, यदि माँग में कमी ५० प्रतिशत से अधिक होती है, तो माँग की लोच इकाई से अधिक होगी और यदि माँग में कमी ५० प्रतिशत से कम होती है, तो लोच इकाई से कम कही जायगी। इस रीति द्वारा माँग की लोच मापने का सूत्र (Formulae) निम्न प्रकार है :—

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\text{माँग में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{मूल्य में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

मांग की लोच की भिन्नता के कारण (Causes of Variation in Elasticity of Demand)

अर्थात्

मांग की लोच को निर्धारित करने वाले तथ्य (Factors determining Elasticity of Demand)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि कुछ वस्तुओं की मांग अधिक लोचदार होती है और कुछ वस्तुओं की कम लोचदार। इसका कारण यह है कि मांग की लोच अनेक बातों पर निर्भर होती है और ये बातें प्रत्येक वस्तु में भिन्न भिन्न पाई जाती है। अस्तु, मांग की लोच को निर्धारित करने वाली बातें निम्नलिखित है :—

१. वस्तुओं का स्वभाव (Nature of Commodities) साधारणतया जीवनार्थ अनिवार्य वस्तुओं की मांग कम लोचदार (Moderately Elastic) अथवा बेलोच (Inelastic) होती है, सुख वस्तुओं की मांग लोचदार (Elastic) और विलास वस्तुओं की लोच बहुत लोचदार (Highly Elastic) होती है।

(अ) जीवनार्थ अनिवार्य वस्तुएं—जैसे नमक, दियासलाई खाद्यान्न आदि की मांग बहुत कम लोचदार या बेलोच होती है, क्योंकि इनका प्रयोग किये बिना नहीं रहा जा सकता। इनका मूल्य चाहे जितना क्यों न बढ़ जाय उन्हें आवश्यक मात्रा में तो खरीदना ही पड़ता है। इनके मूल्य में कमी हो जाने पर भी मांग अधिक नहीं बढ़ती, क्योंकि वे पहले से ही पर्याप्त मात्रा में खरीद ली जाती हैं। परन्तु यदि किसी देश या श्रेणी के व्यक्ति इतने निर्धन हैं कि वे जीवनार्थ अनिवार्य वस्तुओं को भी पर्याप्त मात्रा में नहीं खरीद सकते हैं तो उनके लिये इन वस्तुओं की मांग भी लोचदार होगी। इसलिये भारतवर्ष जैसे निर्धन देश में इस प्रकार की वस्तुओं की मांग कुछ लोचदार है। गेहूँ के मूल्य में परिवर्तन होने से ऊँचे और मध्यम वर्ग के मनुष्यों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा परन्तु निम्न वर्ग के मनुष्यों में मूल्य गिरने से गेहूँ का उपभोग अवश्य बढ़ जायगा। रूढ़ आवश्यकताओं (Conventional Necessities) की पूर्ति करने वाली वस्तुओं की मांग भी कम लोचदार या बेलोच होती है। जैसे, भारतवर्ष में मृत्यु-भोज देना कई हिन्दू परिवारों में सामाजिक अनिवार्यता समझी जाती है चाहे खाद्य पदार्थों का मूल्य कुछ भी हो।

(आ) सुख वस्तुएं—ये इतनी आवश्यक तो नहीं होतीं कि इनके बिना काम चल ही नहीं सकता हो, परन्तु उनका उपभोग दक्षता-वर्धक होता है। अस्तु इनकी मांग लोचदार होती है।

(इ) विलास वस्तुएं—इनकी मांग बहुत लोचदार होती है, क्योंकि इनका प्रयोग अनिवार्य नहीं है। इसलिये यदि मूल्य बहुत बढ़ जाता है, तो इनका उपयोग कम कर दिया जाता है और मूल्य के कम होने पर उपभोग बढ़ जाता है। परन्तु यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि विलास वस्तुओं की मांग धनी लोगों में ही अत्यधिक लोचदार है, परन्तु मध्यम या निर्धन लोगों में वह बेलोचदार ही रहेगी, क्योंकि उन वस्तुओं के मूल्य इतने ऊँचे होते हैं कि वे उन्हें खरीद ही नहीं सकते। जैसे रेडियो, मोटर कार इत्यादि।

२. स्थानापन्न वस्तुएँ (Substitutes)—यदि किसी वस्तु के स्थान पर अन्य वस्तु प्रयोग में लाई जा सकती है, तो उस वस्तु की माँग लोचदार होती है, और यदि किसी वस्तु की स्थानापन्न वस्तु नहीं है तो उसकी माँग बेलोचदार होती है। उदाहरण के लिये चाय और काफी, बिजली और तेल, गेहूँ और चावल या अन्य खाद्यान्न, चीनी और गुड़ एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त किये जा सकते हैं। यदि एक वस्तु का मूल्य बढ़ता है तो मनुष्य उसकी स्थानापन्न दूसरी वस्तु का प्रयोग प्रारम्भ कर देंगे। जैसे चाय के दाम बढ़ने से उसकी माँग कम हो जायगी और काफी की माँग बढ़ जायगी। जिस वस्तु का कोई उपयुक्त स्थानापन्न वस्तु नहीं होती है उस वस्तु की माँग की लोच पर मूल्य की घटा-बढ़ी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः उसकी माँग बेलोच होती है, जैसे नमक।

३. प्रयोगों की अनेकता (Variety of Uses)—यदि किसी वस्तु का प्रयोग अनेक कार्यों के लिये किया जा सकता है, तो उसकी माँग उस वस्तु की अपेक्षा जिसका प्रयोग बहुत कम कार्यों के लिये होता है, अधिक लोचदार होती है। उदाहरणार्थ बिजली (Electricity) का प्रति इकाई मूल्य कम हो जाने पर इसका प्रयोग अनेक प्रकार से होने लग जायगा जैसे प्रकाश, भोजन बनाने, पंखा व रेडियो चलाने, कमरे ठन्डे या गर्म करने, कपड़ा पर इस्तरी करने, मशीन चलाने, कुआँ से पानी निकालने आदि। यदि इसका मूल्य बढ़ा दिया जाय तो इसका प्रयोग केवल आवश्यक कार्यों तक ही सीमित रहेगा, अनावश्यक कार्यों से हटा लिया जावेगा। इसी प्रकार जल, दूध, कोयला, लोहा आदि अनेक कार्यों में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं की माँग भी लोचदार होगी।

४. मूल्य का प्रभाव (Influence of Price)—माँग की लोच मूल्य स्तर (Price Level) पर भी निर्भर होती है। बहुत ऊँचे और बहुत नीचे मूल्यों वाली वस्तुओं की माँग की लोच अधिक होती है। इसका कारण यह है कि बहुत ऊँचे मूल्यों वाली वस्तुओं का उपयोग तो केवल धनी लोगों तक ही सीमित होता है अतः उनके लिये मूल्यों में वृद्धि या कमी हो जाना कोई महत्व नहीं रखता। बहुत कम मूल्य वाली वस्तुओं को सभी व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार खरीद लेते हैं, अतः उनके मूल्यों में थोड़ा परिवर्तन होने पर माँग में घटा बढ़ी अधिक नहीं होती। मध्यम मूल्य वाली वस्तुओं की माँग अधिक लोचदार होती है क्योंकि इनका उपयोग धनी व्यक्तियों के साथ-साथ मध्यम वर्ग के लोग भी करते हैं। यदि इनके मूल्य में कमी आ जाती है, तो मध्य वर्ग के लोग इनका उपभोग करने लग जाते हैं जिसके फलस्वरूप इनकी माँग में वृद्धि हो जाती है, और यदि मूल्य बढ़ जाता है, तो इनका उपभोग स्थगित कर देते हैं जिससे इनकी माँग कम हो जाती है।

यह स्मरण रखने की बात है कि उपर्युक्त विवेचन समस्त समाज की माँग की दृष्टि से किया गया है। यदि किसी समाज के एक वर्ग की माँग का वर्णन किया जाय, तो यह कहा जा सकता है कि "ऊँचे मूल्य पर माँग की लोच अधिक होगी, और मध्यम मूल्य पर माँग की लोच अधिक नहीं तो पर्याप्त होगी परन्तु ज्यों ज्यों मूल्य कम होता जाता है वैसे वैसे लोच भी कम होती जाती है, और यदि मूल्य इतना

कम हो जाय कि उस श्रेणी के सभी व्यक्तियों की पूर्ण तृप्ति हो जाय, तो माँग की लोच धीरे धीरे अदृश्य हो जाती है।" यह कथन प्रो० मार्शल के अनुसार है।[1]

५. व्यय किये जाने वाली आय का अनुपात (Proportion of Income Spent)—यदि किसी वस्तु पर मनुष्य की आय का अधिक भाग व्यय होता है, तो उसकी माँग अधिक लोचदार होगी, और यदि आय का बहुत ही कम भाग व्यय होता है, तो उसकी माँग बेलोच होगी। उदाहरण के लिये, नमक पर मनुष्य की आय का बहुत ही कम भाग खर्च होता है, अस्तु उसकी माँग बेलोच होती है। इसी प्रकार सुई-डोरे पान सुपारी आदि वस्तुओं के उदाहरण दिये जा सकते है। इस प्रकार की वस्तुओं पर मनुष्य की आय का बहुत थोड़ा भाग व्यय होता है इसलिए इनके सस्ते या मँहगे होने पर इनके खर्च पर कमी या वृद्धि नहीं की जायगी।

६. रुचि अरुचि एवं प्रकृति (Taste, Distaste and Habit)—यदि किसी वस्तु के पक्ष या विपक्ष में रुचि या अरुचि बन जाती है तथा उसके उपभोग की आदत पड़ जाती है तो उसकी माँग की लोच कम होती है। उदाहरण के लिए जिस व्यक्ति की रुचि चाय पीने की होती है वह कहवा का प्रयोग भाव कम होने पर नहीं करेगा। इसी प्रकार हिन्दुओं में गाय और मुसलमानों में सूअर के माँस के विरुद्ध प्रबल भावना होती है, इसलिये इनका मूल्य कम हो जाने पर भी इनकी माँग नहीं बढ़ती है। यही बात किसी वस्तु के प्रयोग की आदत पर लागू होती है। जब कोई मनुष्य किसी वस्तु के उपभोग का आदी हो जाता है, तो उस वस्तु का भाव बढ़ जाने पर भी वह उस वस्तु का उपभोग कम नहीं करता। जैसे सिगरेट पीने वाले सिगरेट मँहगी होने पर भी सिगरेट पीने में कमी नहीं कर पाते।

७. धन वितरण (Distribution of Wealth)—प्रो० टॉसिग (Taussig) के मतानुसार साधारणतया धन के समान वितरण से माँग की लोच बढ़ जाती है। और धन-वितरण की असमानता से माँग कम लोचदार या बेलोच हो जाती है। इसका कारण स्पष्ट है जब समाज के सब लोगों के साधन लगभग समान होंगे, तो मूल्य के परिवर्तन का प्रभाव सारे समाज पर लगभग एक-सा होगा जिसके परिणाम-स्वरूप समाज की माँग अधिक लोचदार होती जायगी। धन-वितरण की असमानता के कारण समाज के पृथक पृथक वर्गों में विभक्त हो जायेंगे और उनकी क्रय शक्ति में भी बड़ा अन्तर हो जायगा। वस्तु के मूल्यों में परिवर्तन होने से विभिन्न वर्गों पर अलग अलग प्रभाव पड़ेगा जिसके कारण लोच में पर्याप्त भिन्नता हो जायगी। यदि किसी वर्ग की किसी वस्तु की माँग अधिक लोचदार है तो दूसरे वर्ग के

1—"Elasticity of demand is great for high prices, and great or at least considerable for medium prices, but it declines as the price falls, and gradually fades away if the fall goes so far that satiety level is reached"

Marshall *Principles of Economics*, p 103

लिये उसकी मांग कम लोचदार हो सकती है और सम्भव है किसी अन्य युग के लिये उसकी मांग बेलोचदार हो जाय।

८ प्रयोगानुसार एक ही वस्तु की विभिन्न प्रकार की लोच (The same commodity may have different kinds of Elasticity)—एक ही वस्तु की मांग एक प्रयोग के लिये बेलोच है तो दूसरे के लिये लोचदार हो जाती है। उदाहरण के लिये, गेहूं की मांग मनुष्य के लिये खाद्यान्न के रूप में बेलोच है परन्तु पशुओं को खिलाने के लिये इसकी मांग लोचदार हो जाती है।

९ *जिन वस्तुओं का उपयोग स्थगित किया जा सकता है उनकी मांग* प्राय लोचदार होती है (Demand for those commodities whose consumption can be postponed is usually elastic)—जिन वस्तुओं का उपभोग स्थगित किया जा सकता है उनकी मांग प्राय लोचदार होती है। उदाहरणार्थ जब भवन निर्माण सम्बन्धी वस्तुएं महंगी हो जाती हैं तो भवन निर्माण कार्य स्थगित हो जाते हैं जिसके फलस्वरूप उन वस्तुओं की मांग कम हो जाती है। इसी प्रकार उनके सस्ते होने पर पुन निर्माण कार्य चलने लगते हैं और उन वस्तुओं की मांग भी बढ़ जाती है।

१० वस्तुओं की संयुक्त मांग (Joint Demand)—जब किसी वस्तु का उपयोग अन्य वस्तुओं के साथ संयुक्त रूप में होता है तो उस वस्तु की मांग की लोच अंशत साथ वाली वस्तुओं की मांग की लोच पर निर्भर रहती है। यदि साथ वाली वस्तुओं की मांग अधिक है तो उस वस्तु की मांग भी अधिक होगी और उनकी मांग कम होने पर उस वस्तु की मांग भी कम हो जायगी। जैसे मोटर कार और पैट्रोल फाउण्टेनपेन और स्याही जूते और पालिश आदि वस्तुओं की मांग संयुक्त रूप में होती है। इसी प्रकार चूना ईंट पत्थर सीमेंट लकड़ी लोहा, लोहा कारीगर और इञ्जीनियर आदि की सेवाओं की भवन निर्माण कार्य में एक साथ चलना है।

११ लोच की समय के साथ भिन्नता (Elasticity varies with change in time)—एक ही वस्तु की एक समय में मांग की लोच कुछ और होती है और दूसरे समय में कुछ और। किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होते ही तुरन्त उसकी मांग पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि कुछ समय व्यतीत हो जाने पर पड़ता है क्योंकि मूल्य में परिवर्तन का लोगों को पता चलने में समय लगता है। इसलिये जो मांग की लोच कम समय में होती है वह अधिक समय के व्यतीत हो जाने पर अन्य रूप धारण कर लेती है। अस्तु समय के परिवर्तन से भी मांग की लोच में परिवर्तन हो जाता है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त तथ्य साधारणतया मांग की लोच की भिन्नता के कारण प्रकट करते हैं। परन्तु मांग की लोच को निर्धारित करने वाले निश्चित एवं अचूक नियम ये नहीं कहे जा सकते और न इस प्रकार के नियम बनाना सम्भव ही है। इसका कारण यह है कि मांग की लोच परिस्थितियों पर निर्भर होती है और उनमें परिवर्तन

के साथ-साथ इसमे भी परिवर्तन होना सम्भव है। यदि हम यह ज्ञात करना चाहे कि अमुक माग लोचदार है या बेलोच, तो हमे उस वर्ग के मनुष्यो का भी ध्यान करना पड़ेगा जिनके लिये हम माग की लोच का मापना चाहते है।

माँग की लोच का महत्त्व (Importance of Elasticity of Demand)—माँग की लोच के अध्ययन का महत्त्व निम्न प्रकार है।

(१) सबमे प्रथम तो इसका अध्ययन मूल्य-निर्धारण और कर-निर्णय के सिद्धान्तो के लिये बड़ा उपयोगी है। इसके द्वारा हम यह जान सकते हैं कि किसी वस्तु के मूल्य मे परिवर्तन होने से उस वस्तु के, उपभोग पर क्या प्रभाव पड़ता है। इससे हम यह भी बता सकते हैं कि यदि अमुक वस्तु की पूर्ति थोड़ी घटा या बढ़ा दी जाय तो उसका मूल्य कहाँ तक बढ या घट सकता है।

(२) एकाधिकारी (Monopolist) के लिये माँग की लोच का व्यावहारिक महत्व है। इसके द्वारा उसे मूल्य-निर्धारण मे बड़ी सहायता मिलती है। यदि उसके एकाधिकार की वस्तु जीवनार्थ आवश्यक वस्तु है और उसकी कोई अन्य स्थानापन्न वस्तु नही है, तो उस वस्तु की माँग बेलोच होगी और एकाधिकारी उसके मूल्य मे वृद्धि कर अपना लाभ बढ़ा सकता है, क्योकि उसकी माँग कम होने का कोई भय नही रहता है। परन्तु यदि वस्तु की माँग लोचदार है, तो उसे मूल्य मे वृद्धि करने के पूर्व सोचना पड़ेगा, क्योंकि मूल्य वृद्धि से उस वस्तु की माँग घट जायगी जिससे उसके लाभ मे क्षति पहुँचना स्वाभाविक है। अस्तु, बेलोच माँग वाली वस्तुओ का ऊँचा मूल्य और लोचदार माँग वाली वस्तु का कम मूल्य उसे अधिकतम लाभ-प्राप्ति की ओर संकेत करता है।

(३) व्यापारी (Businessmen)—को भी लोच के अध्ययन से वस्तुओ के मूल्य स्थिर करने मे बड़ी सहायता मिलती है। यदि वस्तुओ की माँग लोचदार है, तो वह मूल्य घटा कर अपनी बिक्री को लाभप्रद बना सकता है। परन्तु यदि माँग बेलोच है तो वह वस्तुओं का अधिक मूल्य वसूल कर सकता है यदि वह मानव सहानुभूति से अधिक प्रेरित नही है, क्योकि बेलोच वाली वस्तुएँ अधिकतर जीवनार्थ आवश्यक वस्तुएँ होती हैं और उनका उपभोग अधिकतर निर्धन मनुष्यों द्वारा ही होता है।

(४) वित्त मन्त्री (Finance Minister)—के लिये इसका व्यावहारिक महत्व कम नही है। वित्त मन्त्री को भी किसी वस्तु पर नया कर लगाते अथवा पुराने कर मे वृद्धि करते समय उस वस्तु की माँग की लोच को ध्यान मे रखना पड़ता है। यदि लोचदार माँग वाली वस्तु पर कर लगाया जायगा, तो उसका मूल्य बढ जायगा जिससे उसकी माँग घट जायगी। इसका परिणाम यह होगा कि सरकारी आय (Revenue) कम हो जायगी। यदि कर बेलोच माँग वाली वस्तु पर लगाया जाता है, तो उससे सरकारी आय अच्छी हो सकती है, क्योंकि इस प्रकार की वस्तुओं का कर से भाव बढ कर माँग कम होने का भय नहीं रहता है। परन्तु बेलोच माँग प्रायः जीवन रक्षक पदार्थो की होती है, अतः मानवता की दृष्टि के कारण सम्भव है कि सरकार ऐसी वस्तुओं पर बिल्कुल कर ही न लगावे या कम लगावे।

(५) सयुक्त उत्पत्ति की दशा मे माँग की लोच का प्रयोग (Application of concept of elasticity of demand in case of Joint

Products)—संयुक्त उत्पत्ति की दशा में जबकि पृथक्-पृथक् लागत निश्चय नहीं की जा सकती हो तब माग की लोच की धारणा के प्रयोग की उपयोगिता देखी जाती है। उत्पादक मूल्य निर्धारित करते समय माग के स्वभाव में ही अपना पथ प्रदर्शन प्राप्त करता है अन्य शब्दों में यो कहा जा सकता है कि वह मूल्य स्थिर करते समय इस सिद्धान्त का पालन करता है Charge what the traffic will bear अर्थात् जिन वस्तुओं के मूल्य वृद्धि से माँग घटने का भय नहीं हो उनका ही ऊँचा मूल्य स्थिर किया जाय।

२ पूर्ति (Supply)

पूर्ति का अर्थ (Meaning)—साधारण बोल चाल की भाषा में पूर्ति शब्द एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। परन्तु अर्थशास्त्र में इसका प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में होता है। अर्थशास्त्र में पूर्ति शब्द का आशय किसी वस्तु की उस मात्रा से है जो किसी विशिष्ट मूल्य पर किसी विशिष्ट समय में बिक्री के लिये प्रस्तुत की जाय।

वस्तु की पूर्ति और उसके स्टाक (स्कन्ध) में अन्तर (Difference between Supply and Stock) जिस प्रकार किसी वस्तु की माग (Demand) और उसकी इच्छा (Desire) में अन्तर होता है जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है उसी प्रकार किसी वस्तु की पूर्ति (Supply) और उसके (Stock) में भी अन्तर प्रकट किया जा सकता है। किसी वस्तु के स्टाक से उस वस्तु की कुल संख्या या सम्पूर्ण मात्रा से होता है जो मण्डी में बिक्री के लिये संग्रहित होती है और पूर्ति स्टाक का वह भाग है जिसे विक्रेता किसी विशिष्ट मूल्य पर किसी विशिष्ट समय में बेचने के लिये तैयार है। डाक्टर पी बसु (P Basu) के शब्दों में स्टाक उस मात्रा का वर्णन है जो बाजार में उपयुक्त मूल्य प्रचलित होने पर बेचा जा सकता है और पूर्ति उस मात्रा का वर्णन है जो विक्रेता किसी विशिष्ट मूल्य पर बेचने को तैयार है।[1] उदाहरण के लिये किसी व्यापारी के पास ५०० मन गेहूं है और वह इस मात्रा में किसी विशिष्ट समय में केवल २०० मन गेहूँ ही १५ रु० प्रति मन के हिसाब से बेचने को प्रस्तुत करता है तो ५०० मन तो उसका स्टाक हुआ २०० मन उसकी पूर्ति हुई। यह स्मरण रखने की बात है कि शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं के स्टाक और पूर्ति में कोई अन्तर नहीं होता है क्योंकि ऐसी वस्तुओं को पर्याप्त समय तक संचित नहीं किया जा सकता। परन्तु स्थायी व टिकाऊ वस्तुओं के स्टाक और उनकी पूर्ति में पर्याप्त अन्तर होता है। मूल्यानुसार स्टाक का भिन्न भिन्न भाग बेचने के लिये निकाला जा सकता है।

पूर्ति मूल्य और समय (Supply Price and time)—माग की भांति पूर्ति और मूल्य में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना मूल्य के पूर्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। किसी समय में एक वस्तु की कितनी पूर्ति होगी यह मूल्य पर निर्भर है। भिन्न भिन्न मूल्य पर वस्तु की पूर्ति भिन्न भिन्न होती है। मूल्य में वृद्धि होने से पूर्ति बढ़ती है और मूल्य के घटने से पूर्ति घटती है। अस्तु पूर्ति का बिना मूल्य के कोई अर्थ

[1] Dr P Basu *Economic Principles for Indian Readers* p 23

नहीं होता। इसी प्रकार पूर्ति और समय में भी सम्बन्ध पाया जाता है। मूल्य के परिवर्तन से अलग-अलग समय में अलग अलग पूर्ति होना स्वाभाविक है। अस्तु, पूर्ति भी सदा किसी विशिष्ट समय के लिये होती है, जैसे प्रतिदिन, प्रति सप्ताह, प्रति मास या प्रति वर्ष आदि।

पूर्ति का मूल्य (Supply Price)—पूर्ति का मूल्य वह मूल्य है जिस पर कोई विक्रेता अपनी वस्तु की निश्चित मात्रा किसी विशिष्ट समय में बेचने को लिये तैयार हो। उदाहरण के लिये, यदि कोई दूकानदार ३० रु० प्रति मन के हिसाब से १५० मन चीनी किसी विशिष्ट समय में बेचने के लिये तैयार है, तो ३० रु० प्रति मन उसकी पूर्ति का मूल्य है।

पूर्ति का नियम (Law of Supply)—पूर्ति के नियम के अनुसार किसी वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने से पूर्ति बढ़ जाती है और मूल्य के घटने से पूर्ति घट जाती है। इसमें स्पष्ट है कि पूर्ति और मूल्य में सीधा (Direct) सम्बन्ध है, अर्थात् जैसा परिवर्तन मूल्य में होता है वैसा ही पूर्ति में हो जाता है। इसका कारण यह है कि मूल्य बढ़ जाने पर अधिक उत्पादक और विक्रेता माल की पूर्ति बढ़ा कर लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे। इसको अधिक स्पष्ट करते हुए यों कहा जा सकता है कि जब मूल्य में वृद्धि हो जाती है, तो उन उत्पादकों के लिये भी जिनकी लागत (Cost of Production) अधिक होती है, अब माल उत्पन्न करना और बेचना लाभप्रद हो जाता है। वे उत्पादक जिनकी लागत पहले से ही कम है, ऊँचे मूल्यों से अधिक लाभ प्राप्त करने की भावना से प्रेरित होकर अधिक माल उत्पन्न कर बेचने में संलग्न हो जाते हैं। इस प्रकार कुल उत्पत्ति में वृद्धि होकर माल की पूर्ति बढ़ जाती है। मूल्य वृद्धि कुल उत्पत्ति को प्रगतिशील रखने का एक अंकुश है। इसके विपरीत जब मूल्य कम हो जाता है, तो उत्पादक और विक्रेतागण माल की उत्पत्ति और विक्रय में कमी कर देते हैं। वे उत्पादक जिनकी लागत अधिक होती है, अपना उत्पादन-कार्य स्थगित कर देते हैं। इन सब का परिणाम यह होता है कि माल की कुल उत्पत्ति में ह्रास हो जाता है जिससे माल की पूर्ति में कमी हो जाती है। यह स्वाभाविक ही है कि विक्रेतागण अपने माल का अधिक-से अधिक मूल्य प्राप्त करते हैं, इसलिये जब भाव ऊँचे होते हैं तब वे माल बेचने के लिये अधिक-से-अधिक मात्रा में प्रस्तुत करते हैं और भाव कम हो जाने पर प्रस्तुत मात्रा में कमी कर देते हैं।

माँग और पूर्ति के नियमों में अन्तर है—माँग और पूर्ति के नियमों का अन्तर ऊपर के विवरणों में स्पष्ट हो गया होगा, परन्तु फिर भी यहाँ संक्षेप में दिया जाता है। माँग के नियम में मूल्य और माँग में विलोम अर्थात् उल्टा (Inverse) सम्बन्ध होता है, क्योंकि जब मूल्य बढ़ता है तो माँग घटती है और मूल्य घटता है तो माँग बढ़ती है। परन्तु पूर्ति के नियम में मूल्य और पूर्ति में सीधा (Direct) सम्बन्ध होता है, क्योंकि जब मूल्य बढ़ता है तो पूर्ति भी बढ़ जाती है और मूल्य घटता है तो पूर्ति भी कम हो जाती है।

पूर्ति की सूची (Suyply Schedule)—माँग सूची की भाँति पूर्ति की सूची भी तैयार की जा सकती है। इसमें विभिन्न मूल्यों पर बेची जाने वाली विभिन्न पूर्ति की मात्राओं का सम्बन्ध प्रकट किया जा सकता है। अस्तु, पूर्ति की सूची वह सारणी है जिसमें किसी विशिष्ट स्थान और समय पर विभिन्न मूल्यों पर बेची जाने

वालों पूर्ति की विभिन्न मात्रायें दिखाई जाती हैं। इसको उदाहरण से इस प्रकार समझिये :—

चाय का मूल्य	चाय की पूर्ति
५ रु० प्रति पौंड	१००० पौंड
४ ,, ,, ,,	८०० ,,
३ ,, ,, ,,	६०० ,,
२ ,, ,, ,,	३०० ,,
१ ,, ,, ,,	१०० ,,

उपर्युक्त सारणी पूर्ति के नियम को चरितार्थ करती है इससे यह स्पष्ट है कि मूल्य के बढ़ने पर पूर्ति की मात्रा बढ़ती जाती है और मूल्य के घटने पर पूर्ति की मात्रा घटती जाती है।

पूर्ति की सूची के भेद (Kinds of Supply Schedule)—माँग की सूची की भाँति पूर्ति की सूची भी दो प्रकार की होती है—(१) व्यक्तिगत पूर्ति सूची, और (२) बाजार की पूर्ति-सूची।

(१) व्यक्तिगत पूर्ति सूची (Individual Supply Schedule)—वह सारणी है जिसमें किसी व्यक्ति-विशेष की भिन्न-भिन्न मूल्यों पर वस्तु-विशेष की पूर्ति का परिवर्तन दिखाया जाता है।

(२) बाजार पूर्ति-सूची (Market Supply Schedule)—वह सारणी है जिसमें अमुक-अमुक मूल्य पर अमुक बाजार और अमुक समय में समस्त उत्पादकों या विक्रेताओं की पूर्ति का परिवर्तन दिखाया जाता है।

पूर्ति की सूची की उपयोगिता (Utility of Supply Schedule)—पूर्ति की सूची में निम्नलिखित लाभ है :—

(१) इन सूचियों में व्यापारी वर्ग बाजार की प्रवृत्ति का ठीक-ठीक अनुमान लगा सकता है।

(२) इन सारणियों से क्रेताओं को भिन्न-भिन्न मूल्यों पर किसी विशिष्ट समय और स्थान पर पूर्ति की विभिन्न मात्राओं का पता चल जाता है।

(३) वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होने से पूर्ति की लोच का अच्छा ज्ञान हो सकता है।

(४) इन सारणियों से पूर्ति के नियम को भली प्रकार समझा जा सकता है।

पूर्ति की वक्र-रेखा (Supply Curve)—यदि किसी वस्तु की पूर्ति-सूची के अंकों को रेखा-चित्र पर प्रदर्शित किया जाय, तो इस प्रकार प्राप्त बिन्दुओं को मिलाने से जो वक्र-रेखा बनती है उसे पूर्ति की वक्र-रेखा कहते है।

नीचे दिये हुये चित्र में अ ब रेखा पर चाय कि पूर्ति पौंडों में और अ स रेखा पर चाय का मूल्य रुपयों में (प्रति पौण्ड) दिखाया गया है। ऊपर दी हुई सूची के
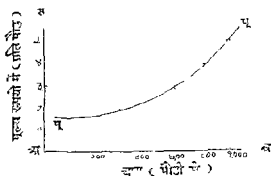
पूर्ति की वक्र रेखा (Supply Curve)

अनुसार विभिन्न मूल्यों पर बेची जाने वाली वस्तु की मात्रायें बूँददार रेखाओं से प्रदर्शित की गई हैं। इस प्रकार समस्त प्राप्त बिन्दुओं को मिला देने से पूर्ति की वक्र रेखा पू पू' बनती है जो गहरी काली स्याही से दिखाई गई है।

माँग और पूर्ति की वक्र रेखाओं का तुलनात्मक अध्ययन (Comparative study of Demand and Supply Curves)—माँग की वक्र रेखा सदैव बाईं ओर से दाईं ओर नीचे की तरफ झुकती जाती है। यह झुकाव (Slope) उपयोगिता ह्रास नियम का प्रतीक है और इस बात का सूचक है कि ज्यों ज्यों वस्तु के मूल्य में कमी होती जाती है त्यों त्यों उसकी माँग बढ़ती जाती है। यह नियम प्रत्येक वस्तु पर लागू होता है अतः प्रत्येक वस्तु की माँग की वक्र रेखा सदैव झुकी रहती है जैसा कि सामने वाले चित्र में स्पष्ट है।
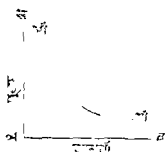
माँग की वक्र रेखा

परन्तु पूर्ति की वक्र रेखा में यही भिन्नता पाई जाती है अर्थात् पूर्ति की वक्र रेखा प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में समान नहीं रहती है। इसका कारण यह है कि पूर्ति की वक्र रेखा का स्वरूप उत्पत्ति के नियमों के अनुसार बदलता रहता है। उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) के अनुसार उत्पत्ति कम होती जाती है जिसके फलस्वरूप लागत दाम बढ़ते जाते हैं। ऐसी अवस्था में जितनी अधिक मात्रा उत्पन्न की जायगी, उतनी ही लागत बढ़ती जायगी और पूर्ति की वक्र रेखा (पूपू') दाईं ओर ऊँची होती जायगी। देखिये नीचे दिये हुए चित्र नं० (१) में। इसके विपरीत उत्पत्ति वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns) के अनुसार उत्पत्ति में वृद्धि होती जाती है जिसके फलस्वरूप लागत दाम कम होते जाते हैं। ऐसी अवस्था में जितनी अधिक मात्रा उत्पन्न की जायगी उतनी ही लागत कम होती जायगी, और पूर्ति की वक्र रेखा (पूपू') दाईं ओर झुकती जायगी। दूसरे शब्दों में

(१)
उत्पति-ह्रास-नियम की अवस्था
मे पूर्ति की वक्ररेखा
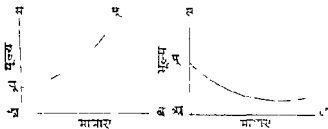
(२)
उत्पत्ति वृद्धि-नियम की अवस्था
मे पूर्ति की वक्ररेखा
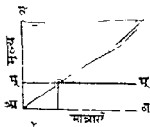
(३)
उत्पति स्थिर-नियम की अवस्था
मे पूर्ति की वक्र रेखा

चित्र स० (२) मे। उत्पत्ति स्थिर नियम (Law of Constant Returns) की अवस्था मे लागत समान रहगी चाहे उत्पत्ति की मात्रा कितनी ही हो। अस्तु, पूर्ति की वक्र रेखा (पू पू) अ ब आधार रेखा के समानान्तर होगी। देखिये सामने के चित्र स० (३) मे। इस प्रकार मे पूर्ति की वक्र रेखा के विभिन्न स्वरूप है।

विभिन्न प्रकार की पूर्ति (Different Kinds of Supply)

सयुक्त पूर्ति (Joint Supply)—यदि दो या अधिक वस्तुएं किसी एक उत्पादन-क्रिया में उत्पन्न की जायें तो वे सयुक्त पूर्ति की वस्तुएं कहलाती है। जैसे, पैट्रोल के बनाने मे मिट्टी का तेल, वैसलीन, गैसोलीन और नैपथेलीन आदि वस्तुएं उत्पन्न होती है। गेहूँ के साथ भूसा, कपास के साथ बिनौले और कोल गैस मे कोक साथ साथ उत्पन्न होते है। इसी प्रकार दही के बिलोने मे मक्खन और मट्ठा साथ साथ उत्पन्न होते है। सयुक्त पूर्ति की वस्तुओ मे से एक को जिस पर कि उत्पत्ति साथ मुख्यतया केन्द्रित होता है मुख्य उत्पत्ति (Main Product) और शेष को उप उत्पत्ति (By-Product) कहते है। इससे यह स्पष्ट है कि यदि मुख्य उत्पत्ति की पूर्ति बढेगी तो उप उत्पत्ति की पूर्ति भी बढेगी, और यदि मुख्य उत्पत्ति की पूर्ति घटेगी तो उप-उत्पत्ति की पूर्ति भी घटेगी। सयुक्त उत्पत्ति की अवस्था मे, इनमे मे किसी एक वस्तु के उत्पन्न करने का जो व्यय होता है वही इन समस्त वस्तुओ के उत्पन्न करने का व्यय समझा जाता है। अस्तु सयुक्त पूर्ति म दो या दो से अधिक वस्तुओ की पूर्ति साथ ही साथ किसी एक मूल्य पर होती है।

सम्मिश्रित पूर्ति—(Composite Supply)—किसी एक ही मांग की पूर्ति के लिये यदि वस्तुएँ विभिन्न स्रोतों से आवें, तो इसे सम्मिश्रित पूर्ति कहेंगे। जो वस्तुएँ एक दूसरे की स्थानापन्न है संयुक्त पूर्ति के उत्तम उदाहरण हैं। जिस प्रकार गेहूँ और चावल भोजन की मांग की पूर्ति करते हैं, उसी प्रकार चाय, काफी और कोको आदि गर्म पेय पदार्थ भी एक ही प्रकार की मांग की पूर्ति करते हैं। इसी प्रकार कागज व्यवसाय में लकड़ी, बांस, चीथड़े और रद्दी कागज लुगदी (Pulp) बनाने में प्रयुक्त किये जाते हैं। सम्मिश्रित पूर्ति की दिशा में विभिन्न स्रोतों (Sources) से आने वाली वस्तुएँ एक-दूसरे के साथ प्रतियोगिता करती है, इसलिये एक वस्तु का अत्यधिक उपभोग दूसरी प्रतिद्वन्द्वी वस्तु के उपभोग को कम कर देता है। उदाहरण के लिए भवन निर्माण कार्य के लिये ईंटों का अधिक प्रचार हो जाने से इमारती-पत्थर खोदने का कार्य शिथिल हो जाता है। इसी प्रकार मशीनों के प्रयोग से श्रमिक बेकार हो जाते है।

पूर्ति की लोच (Elasticity of Demand)

पूर्ति की लोच का अर्थ (Meaning)—मूल्य में परिवर्तन होने के साथ साथ पूर्ति में घटा बढ़ी होती रहती है। अस्तु, मूल्य के साथ पूर्ति के बदलने की शक्ति या गुण को पूर्ति की लोच कहते हैं।

पूर्ति की लोच के अंश (Degrees of Elasticity Supply)—साधारणतया मूल्य बढ़ने से पूर्ति बढ़ जाती है और मूल्य के घटने से पूर्ति घट जाती है। परन्तु जब किसी वस्तु की पूर्ति में ठीक मूल्य के अनुपात में परिवर्तन होता है, तो उस वस्तु की पूर्ति को लोचदार (Elastic) कहेंगे। जैसे मूल्य में ५० प्रतिशत वृद्धि होने पर पूर्ति में भी ५० प्रतिशत वृद्धि होना। जब पूर्ति में परिवर्तन मूल्य के परिवर्तन से अधिक अनुपात में हो, तो वह पूर्ति अधिक लोचदार (Highly Elastic) कही जायगी। जैसे मूल्य में २० प्रतिशत वृद्धि होने पर पूर्ति में ५० प्रतिशत वृद्धि होना। जब पूर्ति में परिवर्तन मूल्य में होने वाले परिवर्तन से कम अनुपात में होता है, तो उस पूर्ति को बेलोच (Inelastic) कहेंगे। उदाहरणार्थ, किसी वस्तु के मूल्य में ५० प्रतिशत वृद्धि होने पर उसकी पूर्ति में केवल २० प्रतिशत ही वृद्धि हो, तो वह बेलोच पूर्ति होगी। इसी प्रकार लोच का ऋणात्मक माप मूल्य के घटने के उदाहरणों द्वारा चरितार्थ किया जा सकता है।

पूर्ति की लोच के विभिन्नता के कारण (Causes of Variation in Elasticity of Supply)—सब वस्तुओं की लोच समान नहीं होती और न सब परिस्थितियों में किसी वस्तु की पूर्ति की लोच एक सी रहती है। कुछ वस्तुओं की पूर्ति की लोच अधिक होती है और कुछ की कम, इसके कई कारण हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं —

(१)—वस्तुओं का स्वभाव (Nature of Commodities)—पूर्ति की लोच अधिकांश वस्तुओं के स्वभाव पर भी निर्भर होती है, अर्थात् वस्तु नाशवान् (Perishable) है अथवा टिकाऊ (Durable)। नाशवान् अर्थात् शीघ्र नष्ट होने

वाली वस्तुएँ जैसे दूध, मछली, ताजी सब्जियाँ आदि अधिक समय तक संचित नही रखी जा सकतीं और न इनकी पूर्ति मे मूल्य के अनुसार परिवर्तन ही किया जा सकता है। इसलिये इनकी पूर्ति बेलोच (Inelastic) होती है। वास्तव मे, इनके स्टॉक और पूर्ति मे कोई अन्तर नही होता। परन्तु टिकाऊ वस्तुओ (गेहूँ, सोना, कोयला आदि) मे ऐसा नही है। ये अधिक समय तक संचित रखी जा सकती हैं तथा मूल्य के अनुसार इनकी पूर्ति मे परिवर्तन किया जा सकता है। यदि मूल्य बढता है, तो पूर्ति भी बढाई जा सकती है और मूल्य घटता है तो पूर्ति भी घटाई जा सकती है। इसलिये इनकी पूर्ति लोचदार (Elastic) होती है। अस्तु, स्थायी या टिकाऊ वस्तुओ की पूर्ति लोचदार और नाशवान वस्तुओ की पूर्ति बेलोच होती है।

(२)—उत्पादन-व्यय (Cost of Production)—किसी वस्तु के उत्पादन व्यय का उसकी पूर्ति पर बडा प्रभाव पडता है। यदि किसी वस्तु के उत्पादन मे सीमान्त लागत-व्यय (Marginal Cost of Production) पहले की अपेक्षा बढ जाता है, तो उस वस्तु की पूर्ति कम लोचदार होगी। ऐसी अवस्था मे यदि मूल्य मे थोडी वृद्धि होती है तो वह बढते हुए लागत व्यय के लिये अपर्याप्त होने से पूर्ति मे वृद्धि नही की जा सकती। यदि उत्पादन-वृद्धि के साथ-साथ लागत व्यय कम हो जाता है, तो मूल्य के थोडे से बढने पर पूर्ति मे वृद्धि की जा सकती है। ऐसी दशा मे पूर्ति लोचदार होती है। संक्षेप मे, जब सीमान्त लागत व्यय वेग मे बढता है, तब पूर्ति मे लोच कम होगी, जब सीमान्त लागत-व्यय मे धीरे-धीरे वृद्धि होती है तब लोच अधिक होगी, और जब सीमान्त लागत-व्यय घटता जाता है, तो उस समय पूर्ति मे अधिक लोच होगी।

(३)—उत्पादन-प्रणाली (System of Production)—पूर्ति की लोच कुछ अंश तक उत्पत्ति की औद्योगिक (Technical) दशा पर भी निर्भर होती है। यदि किसी वस्तु की उत्पादन-प्रणाली बहुत जटिल या विशिष्ट प्रकार की है, तो पूर्ति बेलोच होगी, क्योंकि ऐसी दशा मे पूर्ति मे मूल्यानुसार परिवर्तन नही किया जा सकता। दूसरी ओर, यदि उत्पादन-प्रणाली सीधी व सरल है तथा जिसमे स्थिर पूँजी (Fixed Capital) का अधिक उपयोग नही हो तो पूर्ति लोचदार होगी, क्योंकि पूर्ति मे मूल्यानुसार परिवर्तन किया जा सकता है। अस्तु, जटिल एवं विशिष्ट उत्पादन प्रणाली मे पूर्ति बेलोच होती है और सीधी व सरल उत्पादन-प्रणाली मे पूर्ति लोचदार होती है।

(४)—भावी मूल्य का अनुमान (Estimation of Future Price)—पूर्ति की लोच विक्रेता के भावी मूल्य के अनुमान से भी प्रभावित होती है। यदि उसका अनुमान है कि मूल्य और अधिक बढेगा, तो वह स्टॉक को रोक कर बाद मे बेचने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार यदि भविष्य मे अधिक मूल्य गिरने या थोडा मूल्य बढने का अनुमान लगाया जाय, तो पूर्ति की लोच अधिक होगी।

उत्पादन व्यय (Cost of Production)—किसी वस्तु के उत्पादन मे अनेक साधनो और सेवाओं की आवश्यकता पडती है। उत्पादक को ये सेवाएँ नि शुल्क उपलब्ध नही होती बल्कि उसे उनके बदले मे कुछ देना पडता है। अत. प्रत्येक वस्तु के उत्पादन मे कुछ न कुछ लागत लगती है। उदाहरण के लिये, किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिये उत्पादक को आवश्यक उत्पादन-साधनो को निश्चित पारिश्रमिक पर रखने की व्यवस्था करनी पडती है और वह स्वय सारी जोखिम झेलता है तथा अनेक चिन्ताओं और कठिनाइयों के साथ कार्य मे सलग्न रहता है। इस प्रकार की सब सेवाओ तथा त्याग को अर्थशास्त्र म उत्पादन-व्यय (Cost of Production) कहते है। उत्पादन-व्यय मे दो अर्थ सन्निहित है। जब उत्पादन मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे भाग लेने वाले समस्त उत्पत्ति के साधनों के परिश्रम, त्याग एव सेवाओ के रूप मे अनुमान लगाया जाता है, तो हम इसे वास्तविक उत्पादन-व्यय (Real Cost of Production) कहते है, जब उत्पादन-व्यय को मुद्रा मे नापा जाता है, तो उसे मुद्रा-उत्पादन व्यय (Money Cost of Production or Expenses of Production) कहते है।

प्रमुख और पूरक लागत

(Prime Cost & Supplementary Cost)

कुल उत्पादन-व्यय के दो भाग किये जा सकते है—(१) प्रमुख लागत और (२) पूरक लागत।

प्रमुख लागत (Prime Cost)—प्रमुख लागत से आशय उत्पादन व्यय के उन भागो का है जिनका उत्पत्ति से सीधा सम्बन्ध होता है तथा जिनमे उत्पत्ति के साथ-साथ परिवर्तन होता रहता है। कच्चे माल का मूल्य, साधारण श्रमिकों की मजदूरी (भृति), प्रेरक शक्ति का व्यय आदि इसके अग हैं। जैसे-जैसे उत्पत्ति की मात्रा बढती जाती है, वैसे-वैसे प्रमुख लागत म वृद्धि होती जाती है। उत्पत्ति की मात्रा म कमी होने से प्रमुख लागत भी कम हो जाता है। यदि कुछ समय के लिये उत्पादन स्थगित कर दिया जाय, तो प्रमुख लागत कुछ भी नही होगी।

पूरक लागत (Supplementary Cost)—उत्पादन व्यय के वे समस्त स्थायी खर्चे जिनमे उत्पत्ति के साथ परिवर्तन नहीं होता है, पूरक लागत कहलाते हैं। कारखाने का किराया, मशीनो का खर्चा, प्रबन्धको का वेतन आदि इसमे सम्मिलित है। कारखाने म चाहे पूरे समय तक काम हो अथवा थोडे समय तक, पूरक लागत म कोई विशेष अन्तर नहीं पडेगा। उदाहरण के लिये, मान लीजिये, किसी कारणवश कारखाना एक सप्ताह के लिये बन्द हो जाता है। काम बन्द रहने की दशा म कच्चे माल, प्रेरक शक्ति पर कुछ भी व्यय नहीं करना पडेगा। किन्तु मकान-मालिक को कारखाने का किराया, मासिक वेतन पाने वाले श्रमजीवियो और प्रबन्धको का वेतन आदि तो हर हालत म देना ही पडेगा, चाहे काम चालू हो या नहीं। अस्तु, उत्पादन कार्य स्थगित हो जाने पर प्रमुख व्यय तो बन्द हो जायगा परन्तु पूरक व्यय जारी रहेगा।

प्रमुख और पूरक लागत का अन्तर—प्रमुख और पूरक लागत का अन्तर ज्ञात करना बड़ा महत्व रखता है क्योंकि इनकी व्यावहारिक उपयोगिता मूल्य के सिद्धान्त में अत्यधिक है। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि प्रमुख और पूरक लागत के योगफल को कुल लागत (Total Cost) कहते हैं। दीर्घकाल (Long Period) में वस्तु का मूल्य कुल लागत के बराबर होना चाहिए अन्यथा उस वस्तु का उत्पादन जारी नहीं रह सकेगा। यदि अल्पकाल (Short Period) में माग में कमी होने के कारण मूल्य कुल लागत से भी नीचे गिर जाय तो ऐसी अवस्था में उत्पादक क्या करेगा ? यह पहले बताया जा चुका है कि अल्प समय में पूरक लागत स्थायी होती है अत उत्पत्ति की मात्रा में कमी करने से पूरक लागत में कोई कमी नहीं होती परन्तु मूल्य (अल्प समय में) कम से कम इतना होना चाहिए जिससे प्रमुख लागत तो निकल सके। यदि ऐसा नहीं है तो उत्पादक उत्पत्ति को और अधिक घटा कर प्रमुख लागत को कम करने का प्रयत्न करेगा। यह प्रयत्न उस समय तक जारी रहेगा जब तक मूल्य प्रमुख लागत की सीमा न छू ले। किन्तु दीर्घकाल में मूल्य प्रमुख लागत और पूरक लागत के बराबर होना चाहिए अन्यथा व्यापार स्थगित हो जायगा। इसका कारण यह है कि दीर्घकाल में सब प्रकार की लागत परिवर्तनशील हो जाती है और उत्पत्ति के साधन वहीं लगाये जायगे जहाँ वे अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं।

सीमान्त और औसत लागत (Marginal and Average Cost)—अन्तिम इकाई के उत्पादन व्यय को सीमान्त लागत (Marginal Cost) कहते हैं। मान लीजिए जब किसी एक वस्तु की १० इकाइयां उत्पन्न की जाती हैं तब कुल लागत ४०० रुपया है और जब ११ इकाइयां उत्पन्न की जाती हैं तो कुल लागत ४५१ रुपया हो जाती है। इन दोनों उदाहरणों में ११ वीं इकाई सीमान्त इकाई है और दोनों कुल लागतों का अन्तर अर्थात् ५१ रुपया इसकी लागत हुई। इसे सीमान्त लागत कहेंगे। प्रत्येक उत्पादक उत्पत्ति को उस समय तक बढ़ाता जायगा जब तक सीमान्त-लागत मूल्य से कम है। जब सीमान्त लागत और मूल्य दोनों बराबर हो जाते हैं तब उत्पादन स्थगित कर दिया जाता है। यदि उत्पादक इस सीमा की उपेक्षा करते हुए उत्पादन चालू रखता है तो सीमान्त लागत मूल्य से अधिक हो जायगी जिससे उसको हानि होगी।

कुल लागत को उत्पन्न की गई इकाइयों की संख्या से भाग देने से औसत लागत का पता चल जाता है। ऊपर के उदाहरण में जब १० इकाइयां उत्पन्न की जाती हैं तब औसत लागत ४० रुपया है और जब ११ इकाइयों का उत्पादन होता है तो औसत लागत ४१ रुपया है। उत्पत्ति में वृद्धि होने पर औसत लागत बढ़ सकती कम हो सकती या पूर्ववत् रह सकती है। जब सीमान्त लागत औसत लागत से कम होती है तो उत्पत्ति के बढ़ने पर औसत लागत गिर जायगी और जब सीमान्त लागत औसत लागत से अधिक है, तो उत्पत्ति के बढ़ने पर औसत लागत में वृद्धि हो जायगी।

मूल्य निर्धारण में सीमान्त लागत का अधिक महत्व है क्योंकि साधारणतया मूल्य सीमान्त लागत के बराबर होता है। अब यह आवश्यक नहीं है कि सीमान्त लागत और औसत लागत दोनों बराबर ही हों तो मूल्य भी औसत लागत से कम अधिक हो सकता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—माँग और पूर्ति की सारणियों (Schedules) तथा रेखाओं (Curves) की परिभाषा कीजिये, समझाइये तथा उन्हें चित्रित कीजिये।

२—माँग की लोच का अर्थ समझाइये। कुछ वस्तुओं की माँग की लोच अन्य वस्तुओं की माँग की लोच से अधिक क्यों होती है ? जिन वस्तुओं की माँग की लोच अधिक होती है उनके पाँच उदाहरण दीजिये।

३—पूर्ति की लोच से क्या तात्पर्य है ? पूर्ति की लोच का आधार किन किन बातों पर निर्भर है ? (अ० बो० १९५७)

४—माँग की लोच से क्या तात्पर्य है ? माँग के विस्तार और वृद्धि में भेद बताइये। (अ० बो० १९५६ पू०)

५—माँग की लोच का क्या अर्थ है ? किन-किन बातों पर यह लोच निर्भर होती है, उदाहरण दीजिये। (अ० बो० १९५३)

६—माँग की सारणी तथा वक्र रेखा किसे कहते हैं ? आप अपने नगर के तीन वर्गों—धनी, मध्यम तथा निर्धन की सनतरों की सम्मिलित माँग की सारणी २४ आने, २० आने, १६ आने तथा ६ आने प्रति दर्जन भावों पर बनाइये। विभिन्न मूल्यों पर तीन वर्गों द्वारा खरीदे जाने वाले सतरों की संख्या को जोड़िये। ग्राफ कागज पर माँग की वक्र रेखाएँ अंकित करिये और बताइये कि आप इन वक्र रेखाओं से क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं ? (रा० बो० १९५५)

७—माँग की लोच का क्या तात्पर्य है ? माँग की लोच को प्रभावित करने वाली बातों को संक्षेप में लिखिये। (म० भा० १९५४)

८—माँग की लोच से क्या अभिप्राय है ? कुछ वस्तुओं की माँग दूसरी वस्तुओं की माँग से अधिक लोचदार क्यों होती है ? (सागर १९५२, १९५०)

९—माँग के नियम की व्याख्या करिये। माँग में अन्तर के प्रभाव को बताये। (दिल्ली हा० से० १९५१)

१०—निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिये :—
माँग की लोच (नागपुर १९४५)
माँग की पूर्ति की सारणी (उ० प्र० १९५७, ५१, ४७)
पूर्ति की लोच (म० भा० १९५४)
माँग और पूर्ति की वक्र रेखा (बनारस १९४९)
पूर्ति अनुसूची (अ० बो० इ० एग्रीकल्चर १९५९)

अध्याय ४९

मूल्य निर्धारण

(Determination of Price)

मूल्य शब्द का अर्थ (Meaning)

इस पुस्तक के प्रथम भाग के दसवें अध्याय में अर्हा (Value) और मूल्य (Price) का विशद विवेचन किया जा चुका है। यहाँ केवल इतना दुहरा देना ही पर्याप्त है कि किसी वस्तु की विनिमय शक्ति अर्थात् बदले में अन्य वस्तुओं को प्राप्त करने की शक्ति को विनिमय अर्हा (Value-in Exchange) कहते है। जैसे यदि किसी एक मेज के बदले में चार कुर्सियां प्राप्त की जा सकती है तो उस मेज की अर्हा चार कुर्सियां हुई। परन्तु जब किसी वस्तु की विनिमय अर्हा को मुद्रा में प्रकट किया जाय, तो वह उस वस्तु का मूल्य (Price) कहलायेगा। उदाहरण के लिये, यदि उक्त मेज को खरीदने मे ४० रुपया व्यय करना पड़ता है तो यह राशि उसका मूल्य हुआ। आधुनिक अर्थ व्यवस्था मे मुद्रा का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि सब सौदे मुद्रा द्वारा ही सम्पन्न किये जाते है। अतः मुद्रा मूल्य की जन्मदाता कही जा सकती है। वास्तव में, देखा जाय तो अर्थशास्त्र का विज्ञान मूल्य के सिद्धान्त पर ही अवलम्बित है। अस्तु, मूल्य सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन अर्थशास्त्र में बड़ा महत्त्व रखता है। इस प्रकार वस्तुओं की विनिमय अर्हा के निर्धारण की समस्या वास्तव में 'वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण' की ही समस्या है।

प्राय हम यह देखते है कि बाजार में जो विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ क्रय विक्रय के लिये प्रस्तुत की जाती है उन सबका मूल्य एक समान नहीं होता है। इसके अतिरिक्त, आज जो एक वस्तु का मूल्य है वह सदैव उतना ही नहीं बना रहता। उसमे प्राय उतार-चढ़ाव होता रहता है। इस सम्बन्ध में कई प्रश्नो का उठना स्वाभाविक है, जैसे—किसी वस्तु का मूल्य कैसे निर्धारित किया जाता है? वस्तुओं के मूल्य मे भिन्नता क्यों पाई जाती है? मूल्य मे प्राय परिवर्तन क्यों होता है? इस अध्याय में इन्ही प्रश्नो पर विचार किया जायगा।

किसी वस्तु का मूल्य कैसे निर्धारित किया जाता है ?
(How is price of a commodity determined)

अर्थात्

मूल्य निर्धारण का सिद्धान्त
(Theory of Determination of Price)

परिचय (Introduction)—वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध में समय समय पर कई सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये परन्तु वे एकपक्षीय, अपूर्ण एवं दूषित होने के कारण अस्वीकार किये गये। उदाहरणार्थ, मूल्य का श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value) जिसे प्रारम्भ में आदम स्मिथ (Adam Smith) तथा रिकार्डो (Ricardo) नामक अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार किया था तथा बाद में जर्मन विद्वान कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने इस पर विशेष विवेचना की थी, यह बतलाता है कि वस्तुओं का मूल्य श्रम के अनुसार ही निर्धारित किया जाता है। मान लीजिये कि दो वस्तुएँ उत्पन्न की जाती है। यदि उनमें से एक वस्तु को उत्पन्न करने में चार दिन का श्रम लगता है और दूसरी को उत्पन्न करने में केवल दो दिन का ही श्रम लगता है तो पहली वस्तु का मूल्य दूसरी वस्तु के मूल्य की अपेक्षा दूगना होगा। यह सिद्धान्त माँग पक्ष (Demand Side) की उपेक्षा करता है और पूर्ति पक्ष (Supply Side) का केवल अपूर्ण विवेचन करता है। अतः इसकी बड़ी आलोचना हुई और यह सर्वथा अवैज्ञानिक घोषित किया गया। इस प्रकार का दूसरा सिद्धान्त मूल्य का उत्पादन व्यय सिद्धान्त (Cost of Production Theory of Value) है। इसमें श्रम के अतिरिक्त अन्य उत्पादन-व्यय भी सम्मिलित किये गये हैं। परन्तु फिर भी यह एकपक्षीय ही है, क्योंकि श्रम सिद्धान्त की भाँति इसके द्वारा भी माग पक्ष की उपेक्षा की गई है, अर्थात् यह केवल पूर्ति पक्ष का ही प्रतिपादन करता है। इन त्रुटियों को दूर करने के लिए जेवन्स (Jevons) ने इंगलैंड में, मैंगरन ने आस्ट्रिया में और वालरस ने स्विट्जरलैंड में मूल्य के सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त (Marginal Utility Theory of Value) को प्रचलित किया। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी माँग अथवा उपभोक्ता के लिये उसकी उपयोगिता के अनुसार ही निर्धारित होता है। यदि किसी भी वस्तु का मूल्य उससे मिलने वाली उपयोगिता से अधिक हो जाता है, तो उपभोक्ता उसे लेना बन्द कर देंगे। यह सिद्धान्त भी एकपक्षीय है, क्योंकि इसके द्वारा मूल्य की समस्या का अध्ययन पूर्ति-पक्ष की उपेक्षा करते हुए केवल माँग-पक्ष के दृष्टिकोण से ही किया जाता है।

प्रो० मार्शल ने इन सिद्धान्तों के पारस्परिक विरोध को मिटाने का प्रयत्न किया। उनके मतानुसार न तो केवल उत्पादन व्यय और न केवल उपयोगिता ही परन्तु दोनों मिल कर किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित करते हैं। मूल्य माँग तथा पूर्ति दोनों पर निर्भर है। माग पर सीमान्त उपयोगिता का प्रभाव पड़ता है और पूर्ति पर उत्पादन व्यय का। इस प्रकार प्रो० मार्शल के मूल्य-निर्धारण के सिद्धान्त में माँग और पूर्ति का समान महत्त्व प्राप्त है। इसलिये इसे *मूल्य का माँग और पूर्ति का सिद्धान्त* (Demand & Supply Theory of Value) कहते हैं। इस सिद्धान्त के द्वारा मूल्य-निर्धारण की समस्या पर माँग और पूर्ति दोनों दृष्टिकोणों से विचार किया जाता है। अस्तु, यह सिद्धान्त आजकल वैज्ञानिक, पूर्ण एवं सर्वमान्य समझा जाता है। अब हम इसी सिद्धान्त का विवेचन करेंगे।

मूल्य का आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of Value)— *प्रो० मार्शल द्वारा प्रतिपादित माँग और पूर्ति का सिद्धान्त मूल्य का आधुनिक सिद्धान्त* है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य माँग और पूर्ति नामक दो शक्तियों के पारस्परिक प्रभाव (Interaction) द्वारा निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में जिस बिन्दु पर माँग और पूर्ति में सन्तुलन होता है वहीं पर मूल्य निर्धारित होता है। यह किस प्रकार होता है? माँग और पूर्ति के सन्तुलन द्वारा कैसे मूल्य निर्धारित होता है? इसको समझने के लिये सर्वप्रथम माँग और पूर्ति पक्ष की कुछ बातों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

माँग-पक्ष (Demand Side)—माँग पक्ष के विश्लेषण में हम निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर मिलता है :—

(१) किसी वस्तु की माँग क्यों होती है?

(२) किसी वस्तु का मूल्य क्यों दिया जाता है?

(३) किसी वस्तु का मूल्य किस सीमा तक दिया जा सकता है?

किसी वस्तु की माँग इस कारण होती है क्योंकि उसमें उपयोगिता है। यदि उपयोगिता या आवश्यकतापूरक शक्ति किसी वस्तु में नहीं है तो कोई भी उस वस्तु की माँग प्रस्तुत न करेगा और न कुछ मूल्य देने को तैयार होगा। अस्तु उपयोगिता माँग का आधार है। किसी वस्तु की माँग प्रायः उसमें क्रेताओं द्वारा प्रस्तुत की जाती है। कोई क्रेता किसी वस्तु का मूल्य इसलिये देता है कि वह वस्तु उसकी आवश्यकता की पूर्ति करती है। जो कुछ मूल्य कोई क्रेता किसी वस्तु के बदले में देने के लिये तैयार रहता है उसे 'माँग मूल्य' कहते हैं। यह मूल्य आवश्यकता की तीव्रता पर निर्भर होता है। जितनी अधिक प्रबल आवश्यकता की तृप्ति कोई वस्तु करती है उतना ही अधिक मूल्य उसके लिये क्रेता देने को तैयार होता है। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति अत्यन्त प्यासा हो तो वह सम्भवतः पानी के एक गिलास के लिये एक रुपया या इससे भी अधिक देने को तैयार हो सकता है। जब उसकी प्यास बिल्कुल शान्त हो जाय और उसके लिये पानी की आवश्यकता कुछ भी न रहे तो वह पानी के एक गिलास के लिये एक पैसा भी देने को तैयार न होगा। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि क्रेता किसी वस्तु की पहली इकाई के लिये अधिकतम मूल्य देने को तैयार रहता है क्योंकि इसके द्वारा उसकी अत्यन्त तीव्र आवश्यकता की पूर्ति होती है। उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार यदि किसी वस्तु की इकाइयों के उपभोग में वृद्धि की जाय तो उसकी आगे आने वाली इकाइयों की सीमान्त उपयोगिता घटती जायगी। इस कारण आगे आने वाली इकाइयों का माँग मूल्य भी घटता जायगा। यदि उस वस्तु का क्रय जारी रखा जाय तो अन्त में एक ऐसी अवस्था आयगी जबकि जो मूल्य क्रेता को अगली इकाई के लिए देना पड़ेगा वह उस इकाई की उपयोगिता के बराबर होगा। वह इस इकाई पर अपना क्रय स्थगित कर देगा। इसी कारण इसे क्रय की अन्तिम इकाई कहते हैं। जो मूल्य किसी वस्तु की अन्तिम इकाई के लिये दिया जाता है वह उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) का माप होता है। जब खरीदी जाने वाली वस्तु की सारी इकाइयाँ सब प्रकार से समान हैं तो कोई कारण ऐसा नहीं हो सकता कि क्रेता *पहली इकाइयों (जिनकी कि उपयोगिता उसके लिए अपेक्षित है)* का मूल्य अधिक दे और बाद वाली इकाइयों का मूल्य कम दे। वह सारी इकाइयों का मूल्य एक ही दर से

अर्थात् अपने क्रय की अन्तिम इकाई की उपयोगिता के बराबर वाले मूल्य के हिसाब से देगा। अस्तु, जो मूल्य क्रेता किसी वस्तु के लिये देने को तैयार होता है वह उसकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर होता है। यदि मूल्य सीमान्त उपयोगिता से अधिक है, तो वह उस वस्तु को नही खरीदेगा। वैसे तो क्रेता कम से कम मूल्य पर वस्तु को खरीदना चाहेगा परन्तु अधिक से अधिक मूल्य जो वह देने को तैयार हो सकता है, वह वस्तु की सीमान्त उपयोगिता के बराबर होगा। संक्षेप मे, माँग की ओर से सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) बाजार-मूल्य के लिये अधिकतम सीमा (Maximum Upper Limit) निर्धारित करती है। यह क्रेता का अधिकतम मूल्य (Maximum Price) है जिससे अधिक वह नही देगा।

इससे यह नही समझ लेना चाहिये कि केवल उपयोगिता द्वारा ही मूल्य निर्धारित होता है। एक वस्तु की उपयोगिता भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिये भिन्न-भिन्न होती है। अत उसका मूल्य भी प्रत्येक के लिये भिन्न भिन्न होना चाहिये। परन्तु हम देखते है कि बाजार मे एक वस्तु का एक समय मे एक ही मूल्य प्रचलित होता है, यद्यपि उसकी उपयोगिता भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के लिये भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार यदि उपयोगिता ही मूल्य का आधार है, तो जिन वस्तुओं मे उपयोगिता अधिक है उनका मूल्य अधिक होना चाहिये, और जिनकी उपयोगिता कम है उनका मूल्य कम होना चाहिये। खाद्य सामग्री, जल, वायु आदि की उपयोगिता हीरे आदि से कही अधिक है। फिर भी हीरे का मूल्य उन सबमे बहुत अधिक होता है। इसी प्रकार लोहे की उपयोगिता हमारे दैनिक जीवन मे अत्यधिक है, परन्तु इसका मूल्य सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल आदि धातुओं से बहुत कम होता है। अस्तु इससे, यह पता चलता है कि मूल्य निर्धारण मे केवल उपयोगिता का होना ही पर्याप्त नही है। इसके अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति की भी आवश्यकता है। वह है पूर्ति (Supply)।

पूर्ति-पक्ष (Supply Side)—पूर्ति-पक्ष का विश्लेषण हमारे निम्नलिखित प्रश्नो पर प्रकाश डालता है :—

(१) किसी वस्तु की पूर्ति का प्रश्न कब और क्यो उठता है ?

(२) किसी वस्तु का मूल्य क्यों लिया जाता है ?

(३) किसी वस्तु का मूल्य किस सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है ?

जब तक किसी वस्तु की मात्रा परिमित नही है तब तक उसकी पूर्ति का कोई प्रश्न ही नही उठता। यदि कोई वस्तु प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है, तो उसे बेचने के लिये बाजार मे ले जाने का कौन कष्ट करेगा। अस्तु, बाजार मे बिक्री के लिये उन्ही वस्तुओं को ले जाया जाता है जिनकी मात्रा परिमित होती है। ऐसी वस्तुओं के उत्पादन या प्राप्त करने मे कुछ न-कुछ लागत अवश्य लगती है। इसलिये विक्रेता इन वस्तुओं के लिए कुछ मूल्य माँगते हैं। यदि मूल्य लागत व्यय से कम है, तो विक्रेता उस वस्तु को नही बेचेंगे। कम से कम मूल्य जो वे किसी वस्तु की एक विशेष इकाई के लिये स्वीकार कर सकते हैं वह उसके सीमान्त उत्पादन-व्यय (Marginal Cost of Production) के बराबर है। यदि मूल्य सीमान्त उत्पादन-व्यय से कम है, तो वे

उस इकाई का उत्पादन स्थगित कर देंगे। यह सम्भव है कि किसी दिन मूल्य उक्त व्यय से कम हो जाय, पर यह सदैव के लिये नहीं हो सकता। जिस मूल्य पर विक्रेता किसी वस्तु को बेचने के लिये तैयार रहते हैं उसे 'पूर्ति-मूल्य' कहते हैं। यह उत्पादन-व्यय पर निर्भर होता है। वैसे तो विक्रेता अपनी वस्तु को अधिक से अधिक मूल्य पर बेचने का प्रयत्न करेगा परन्तु कम से कम मूल्य जो वह उस वस्तु के लिये स्वीकार कर सकता है, वह वस्तु के सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर होगा, संक्षेप में, पूर्ति की ओर से सीमान्त उत्पादन-व्यय (Marginal Cost of Production) बाजार-मूल्य के लिये न्यूनतम सीमा (Minimum or Lower Limit) निर्धारित करता है। यह विक्रेता का न्यूनतम मूल्य (Minimum Price) है जिसके नीचे वह उसका मूल्य कभी स्वीकार नहीं करेगा।

इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि मूल्य केवल उत्पादन-व्यय द्वारा ही निर्धारित होता है। चाहे जितना अधिक किसी वस्तु का उत्पादन-व्यय क्यों न हो, पर जब तक उसमें उपयोगिता न होगी तब तक उसका कुछ भी मूल्य न होगा। जैसे किसी मशीन के बनाने में पर्याप्त लागत लगी है, परन्तु उसकी उपयोगिता कुछ भी नहीं है क्योंकि उससे ऐसी तेज कर्ण छेदी आवाज उत्पन्न होती है कि उसको कोई भी खरीदना पसन्द नहीं करता। अस्तु, लागत होते हुये भी उस वस्तु का कोई मूल्य नहीं है। इसके अतिरिक्त, मूल्य में प्रायः परिवर्तन होता रहता है, परन्तु वस्तु का निर्माण समाप्त हो जाने पर लागत में कोई परिवर्तन नहीं होता, वह उतना ही रहता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल उत्पादन-व्यय से ही मूल्य निर्धारण की समस्या हल नहीं की जा सकती। इसके लिये माँग (सीमान्त उपयोगिता) और पूर्ति (सीमान्त उत्पादन-व्यय) का पारस्परिक सहयोग आवश्यक है।

माँग और पूर्ति का पारस्परिक प्रभाव (Interaction of Demand & Supply)—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु का मूल्य माँग और पूर्ति की दो शक्तियों के पारस्परिक प्रभाव से निर्धारित होता है। माँग अर्थात् सीमान्त उपयोगिता क्रेता की ओर से मूल्य की अधिकतम सीमा नियत करती है। वह इससे अधिक मूल्य नहीं देता और चेष्टा इस बात की करता है कि जहाँ तक हो सके उसे कम से कम मूल्य देना पड़े। इसी प्रकार पूर्ति अर्थात् सीमान्त उत्पादन व्यय-विक्रेता की ओर से मूल्य की न्यूनतम सीमा नियत करता है। वह इससे कम मूल्य स्वीकार नहीं करेगा बल्कि इससे अधिक मूल्य प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा। इन्हीं दो सीमाओं के बीच में मूल्य निर्धारित होता है। अब प्रश्न यह प्रस्तुत होता है कि इन दो सीमाओं के भीतर किसी वस्तु का ठीक मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है? इस प्रश्न का सरल शब्दों में उत्तर देते हुए यों कहा जा सकता है कि इन दो सीमाओं के बीच में किसी वस्तु का मूल्य (अ) क्रेताओं और विक्रेताओं की पारस्परिक प्रतियोगिता, (ब) माँग व पूर्ति की सापेक्षिक आवश्यकता (Relative Urgency) और (स) क्रेताओं व विक्रेताओं की सौदा करने (Bargaining) तथा भाव-ताव (Higgling) करने की कुशलता द्वारा निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में, यदि माँग का प्रभाव अधिक है, अर्थात् क्रेताओं को खरीदने की आवश्यकता अधिक तीव्र नहीं है तथा वे सौदा व भाव-ताव करने में

अधिक कुशल है, तो मूल्य विक्रेता की न्यूनतम सीमा (सीमान्त उत्पादन-व्यय) के निकट होगा यानी क्रेताओं के अनुकूल होगा। यदि पूर्ति का प्रभाव अधिक है अर्थात् विक्रेताओं की माल बेचने की इच्छा तीव्र नहीं है तथा वे सौदा व भाव-ताव करने में अधिक निपुण है तो मूल्य क्रेता की अधिकतम सीमा (सीमान्त उपयोगिता) के निकट होगा यानी विक्रेताओं के अनुकूल होगा।

इस प्रकार प्रो० मार्शल के कथनानुसार "मूल्य इन दो सीमाओं के बीच में बैडमिन्टन की चिड़िया (शटल कॉक) की भांति घूमता रहता है।"[1] जब क्रेता अथवा ग्राहक क्रय करने को अधिक उत्सुक होता है तो मूल्य ऊपर की सतह (Upper Limit) तक चढ़ जाता है और जब विक्रेता माल की खपत या पूर्ति घटाने के लिये लालायित हो उठता है तो मूल्य खिसक कर नीचे की सतह (Lower Limit) पर आ जाता है। परन्तु मूल्य का उतार-चढ़ाव अधिक समय तक स्थिर नहीं रहता। जैसे जैसे समय बीतता जाता है, यह निश्चयात्मक रूप से वस्तु की उपयोगिता अर्थात् माँग और उत्पादन लागत-व्यय अर्थात् पूर्ति के समय के केन्द्र पर जाकर स्थिर हो जाता है। इस प्रकार इन दो सीमाओं के बीच में वास्तविक मूल्य उस बिन्दु पर निश्चित होता है जहाँ पर माँग और पूर्ति दोनों ही बराबर हों। माँग और पूर्ति के इस प्रकार बराबर होने को माँग और पूर्ति का सतुलन (Equilibrium of Demand & Supply) कहते है। जिस स्थान पर माँग और पूर्ति बराबर होता है उसे सतुलन बिन्दु (Equilibrium Point) कहते हैं और इस मूल्य को सतुलन मूल्य (Equilibrium Price) कहते हैं। मार्शल इसे 'अस्थायी सतुलन मूल्य' (Temporary Equilibrium Price) कहते है और मिल (Mill) ने इस 'साम्य मूल्य' (Equation Price) कह कर पुकारा है। यदि मूल्य बढ़ता है, तो क्रेताओं की माँग कम हो जाती है और

उधर विक्रेता अधिक मात्रा में बेचने के लिये तैयार हो जाते है जिससे फलस्वरूप उनमें प्रतियोगिता होती है और पूर्ति में वृद्धि होकर मूल्य घट जाता है। इसके विपरीत यदि मूल्य घटता है, तो माँग बढ़ जाती है पर पूर्ति घट जाती है, क्रेताओं में प्रतियोगिता होती है जिसके फलस्वरूप मूल्य बढ़ जाता है और अन्त में सन्तुलन-बिन्दु पर रुक जाता है। मिल ने माँग, पूर्ति और मूल्य के इस सम्बन्ध को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है: "माँग, पूर्ति और मूल्य एक यन्त्र रचना के तीन गोलों के समान हैं जिनका सदैव एक दूसरे पर परिस्थि-
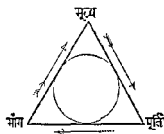
1—"The price may be tossed hither and thither like a shuttle cock as one side or the other gets the better in the higgling and bargaining of the market." —*Marshall.*

प्रभाव पड़ता है और तीनों की प्रवृत्ति सतुलन की ओर होती है।"[1] अर्थात् यह अन्त-निर्भरता एक प्याले में पड़े तीन गेंदों की भाँति है, और हम नहीं कह सकते कि कौन किसके सहारे पड़ा है।

सिल्वरमैन (Silverman) के शब्दों में "माँग की ओर से एक बिन्दु का मूल्य सीमान्त उत्पादन व्यय अथवा सीमान्त औद्योगिक फर्म द्वारा अनुमानित व्यय के समान रहता है। इस प्रकार के सीमान्त व्यय और सीमान्त उपयोगिता के सतुलन को मुद्रा में नापे जाने पर 'मूल्य' कहा जाता है।

उदाहरण (Illustration)—इस सिद्धान्त को निम्नलिखित उदाहरण द्वारा भली प्रकार समझाया जा सकता है :—

क्रय मात्रा (माँग)	चाय का मूल्य (प्रति पौंड)	विक्रय मात्रा (पूर्ति)
२०० पौंड	५ रु० प्रति पौंड	१००० पौंड
४०० ,,	४ ,, ,, ,,	८०० ,,
६०० ,,	३ ,, ,, ,,	६०० ,,
९०० ,,	२ ,, ,, ,,	३०० ,,
११०० ,,	१ ,, ,, ,,	१०० ,,

उपर्युक्त तालिका में यह स्पष्ट है कि ३ रु० प्रति पौं० दर में चाय की माँग और पूर्ति दोनों बराबर हैं, अर्थात् क्रेता ६०० पौंड चाय खरीदना चाहेंगे और विक्रेता भी उतनी ही चाय बेचना चाहेंगे। अत. यही बिन्दु माँग और पूर्ति के सन्तुलन को प्रकट करता है। अब मान लीजिए कि मूल्य ४ रु० प्रति पौंड कर दिया जावे, तो ग्राहक ४०० पौंड चाय खरीदना चाहेंगे जबकि विक्रेता ८०० पौंड चाय बेचना चाहेंगे। इसी प्रकार अन्य मूल्यों पर भी माँग और पूर्ति का सतुलन स्थापित न हो सकेगा। इसका परिणाम यह होगा कि मूल्य पुनः ३ रु० प्रति पौंड पर स्थिर हो जावेगा।

सिद्धान्त का रेखा-चित्रण (Diagrammatic Representation)—मूल्य-निर्धारण के सिद्धान्त को रेखा-चित्र द्वारा भी निम्न प्रकार प्रकट किया जा सकता है :—

रेखाचित्र का स्पष्टीकरण—इस चित्र में अ ब रेखा माँग और पूर्ति की मात्रा को प्रकट करती है और अ स रेखा मूल्य प्रकट करती है। माँ माँ' माँग-रेखा

1—"Demand, Supply and Price are like the three sections of a mechanism which always act and react upon each other and always tend to a state of equilibrium." —Mill
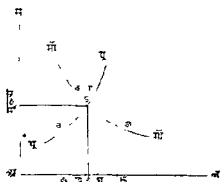
माँग और पूर्ति की मात्रा

और पू पू′ पूर्ति-रेखा हैं तथा ये एक दूसरे से इ बिन्दु पर मिलती हैं। यह माँग और पूर्ति का सन्तुलन-बिन्दु है। इ ई सन्तुलन मूल्य है जिस पर क्रय विक्रय होगा। इस मूल्य पर क्रेतागण अ ई मात्रा माँगते हैं और विक्रेता अ ई मात्रा बेचने को तैयार हैं। अत. माँग और पूर्ति दोनों बराबर हैं मूल्य इ ई से कम या ज्यादा नहीं हो सकता। यदि मूल्य क ख पर स्थिर होता है, तो हम माँग की वक्र-रेखा से ज्ञात होगा कि अ ग मात्रा माँगी जायगी और अ घ मात्रा विक्रेताओं द्वारा बेची जायगी। माँग से पूर्ति अधिक होने के कारण मूल्य गिरेगा। मान लीजिए मूल्य ट ठ में भी नीचे गिर जाता है और च छ पर स्थिर हो जाता है। इस मूल्य पर माँग की मात्रा अ फ है और पूर्ति की मात्रा अ छ। माँग पूर्ति से अधिक है, अत मूल्य बढ़ेगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल्य के ट ठ से कम या ज्यादा होने पर माँग और पूर्ति की मात्राओं में भी न्यूनाधिकता हो जाती है और मूल्य कम्न होकर पुन. इ ई पर आकर स्थिर हो जाता है जहाँ माँग और पूर्ति की मात्राएँ समान होती हैं।

निष्कर्ष—उपर्युक्त वर्णन से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि मूल्य-निर्धारण में माँग और पूर्ति का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। बाजार में एक वस्तु का क्रय-विक्रय होने समय माँग और पूर्ति का परस्पर प्रभाव पड़ता है और बाजार-मूल्य इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का ही फल होता है। जिस प्रकार एक गाड़ी के चलने के लिये दो पहियों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मूल्य निर्धारण के लिए माँग और पूर्ति की आवश्यकता होती है। इस बात को प्रो० मार्शल ने बहुत स्पष्ट कर दिया है। उनके कथनानुसार 'मूल्य एक महराब के पत्थर के समान दो किनारों के मध्य लटका होता है। जिनकी एक भुजा माँग होती है और दूसरी पूर्ति।'[1] यही नहीं, प्रो० मार्शल ने मूल्य निर्धारण की तुलना कैंची के दो फलों से कर इसे और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। "जिस प्रकार

हम इस बात पर झगड़ा करते हैं कि कैंची के दो फलों में से ऊपर का फल कागज काटता है अथवा नीचे का, वैसे ही मूल्य की उपयोगिता निर्धारित करती है अथवा

1—"Price rests balanced like the Keystone of an arch—the one side of which is demand and the other supply". —*Marshall.*

उत्पादन-व्यय।"[1] जिस प्रकार कागज काटने के लिये दोनों फलों की आवश्यकता पड़ती है, ठीक उसी प्रकार मूल्य निर्धारण के लिए माँग और पूर्ति दोनों आवश्यक
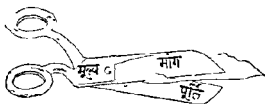
है। यह ठीक है कि कैंची के दोनों फलों की क्रियाएँ सदा एक-सी नहीं होतीं। कभी एक से अधिक काम लिया जाता है और कभी दूसरे से। उदाहरणार्थ, एक साधारण व्यक्ति दोनों फलों को साथ-साथ चलाता है, स्त्रियाँ नीचे वाले फल को चलाती हैं और दर्जी नीचे के फल को मेज पर जमा कर ऊपर वाले फल को चलाते हैं। यही बात माँग और पूर्ति के भी साथ लागू है। कभी माँग का प्रभाव अधिक होता है और कभी पूर्ति का पर दोनों का होना आवश्यक है।

मूल्य-निर्धारण के सिद्धान्त में समय का महत्व (Importance of Time Element in the theory of Value)—रिकार्डो तथा अन्य समकालीन विद्वानों ने मूल्य निर्धारण में उपयोगिता एवं माग के ही प्रभाव को स्वीकार किया। उन्होंने समय के महत्त्व पर विचार नहीं किया। परन्तु सर्वप्रथम मार्शल ने मूल्य-निर्धारण में समय के महत्व को स्वीकार किया। उनका यह निश्चित मत था और यह सत्य भी है कि जितना अधिक समय होगा उतना ही अधिक मूल्य पर पूर्ति का प्रभाव पड़ेगा। तथा जितना कम समय होगा उतना ही अधिक मूल्य पर माग का प्रभाव पड़ेगा। उन्होंने समय की दृष्टि से बाजार को अति अल्पकालीन, अल्पकालीन, दीर्घकालीन तथा अतिदीर्घकालीन चार भागों में विभाजित करके यह सिद्ध किया कि समय का वस्तु के मूल्य पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

मार्शल का उक्त मत ठीक है। अल्पकाल में पूर्ति की मात्रा बढ़ाई नहीं जा सकती। अतः माँग के बढ़ने पर मूल्य में वृद्धि होती है तथा माँग के घटने पर मूल्य गिर जाता है। परन्तु जब माँग इतनी घट जाती है कि उत्पादक को वस्तु के लागत-व्यय से भी कम मूल्य मिल पाता है, तो वह धीरे धीरे पूर्ति को घटाकर माँग के अनुरूप कर लेता है तथा जैसे ही उसका उत्पादन-व्यय और बाजार मूल्य समान हो जाता है, वह उत्पादन को घटाना बन्द कर देता है। अतः यह स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु का मूल्य माँग और पूर्ति के आधार पर निश्चित होता है तथापि जितना अधिक समय होता है उतना ही अधिक प्रभाव मूल्य पर पूर्ति का पड़ता है।

अल्पकालीन बाजार (Short Period Market)—अल्पकालीन बाजार वह बाजार है जो थोड़े समय अर्थात् एक-दो दिन या अधिक से अधिक

1—'We might as reasonably dispute whether it is the upper or lower blade of a pair of scissors that cuts a piece of paper as whether value is governed by utility or cost of producton."

—*Marshall*

प्रो० मार्शल के उपर्युक्त कथन की आलोचना—प्रो० मार्शल के उपर्युक्त कथन के सम्बन्ध में निम्नांकित आलोचनायें भी ध्यान देने योग्य है :—

(१) असगत समय-विभाजन—प्रो० मार्शल द्वारा किया गया अल्पकालीन एव दीर्घकालीन समय-विभाजन असगत एव अव्यावहारिक है, क्योकि प्रत्येक वस्तु के लिये दीर्घ एव अल्पकाल भिन्न भिन्न होता है। जो एक वस्तु के लिये दीर्घकाल है, वह दूसरी वस्तु के लिये अल्पकाल हो सकता है। इस सम्बन्ध मे स्वय प्रो० मार्शल ने ही दो बड़े उचित उदाहरण दिये है। वे कहते है कि मछली की पूर्ति को माँग के परिवर्तन के अनुसार परिवर्तित होने के लिये एक या दो दिन भी दीर्घकाल है, परन्तु जहाजों की पूर्ति को माँग के अनुसार परिवर्तित होने के लिये एक या दो वर्ष भी दीर्घकाल नही है। लर्नर (Lerner) ने इसी कारण उक्त विभाजन की आलोचना करते हुये बताया कि यह विभाजन दिन, माह एव वर्षों की भाँति पूर्ण नही है और न उतना स्पष्ट ही है। अल्पकाल इतना लम्बा न होना चाहिये कि माँग और पूर्ति मे स्थिर सतुलन हो सके, और दीर्घकाल ऐसा होना चाहिये कि माँग और पूर्ति मे स्थिर सतुलन स्थापित हो सके। इस अन्तर को इस प्रकार भी प्रकट कर सकते है कि जहाँ मूल्य मे केवल प्रमुख व्यय ह सम्मिलित हो सके, वह अल्पकालीन मूल्य और जहाँ प्रमुख एव पूरक दोनो व्यय सम्मलित किये जा सक, वह दीर्घकालीन मूल्य कहलावेगा।

(२) सीमान्त लागत व्यय की असत्य कल्पना—प्रो० मार्शल का कथन है कि अल्प एव दीर्घकाल दोनो ही मे सीमान्त-लागत-व्यय सीमान्त मूल्य के बराबर होना है। परन्तु उसने दोनों कालों मे इस प्रकार समानता स्थापित किये जाने के सम्बन्ध मे कोई प्रत्यक्ष प्रमाण या तर्क प्रस्तुत नहीं की।

वास्तव मे, सीमान्त लागत व्यय बहुत कुछ अशो मे इस बात पर निर्भर रहता है कि उनके सतुलन म कितना समय लगेगा। अल्पकाल मे मूल्य सीमान्त लागत व्यय के बराबर तथा दीर्घकाल मे सीमान्त लागत-व्यय एव औसत लागत-व्यय के दोनो के बराबर हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि यदि अल्पकाल मे औसत लागत-व्यय सीमान्त लागत-व्यय से कम होगा, तो उनके अन्तर की राशि स्थिर उत्पादन-साधना के स्वामी को मिल जावेगी, परन्तु औसत लागत-व्यय दीर्घकाल मे बाजार मूल्य से कम नहीं रह सकता। अतः जहाँ पूर्ण प्रतियोगिता होती है, नये नये उत्पादक उद्योग के प्रति आकृष्ट होने एव लाभ उठाते है जिससे मूल्य गिरता है, लागत-व्यय बढता है। मूल्य और सीमान्त लागत-व्यय बराबर हो जाते हैं, माँग और पूर्ति मे सतुलन स्थापित हो जाता है।

बाजार मूल्य (Market Price)—किसी वस्तु का किसी स्थान और समय पर जो मूल्य प्रचलित होता है वह वस्तु का बाजार मूल्य कहलाता है। इसे अल्पकालीन मूल्य (Short Period Price) भी कहते हैं, क्योकि बाजार मूल्य से आशय अल्पकाल मे प्रचलित मूल्य से ही होता है। यह मूल्य प्रत्येक वस्तु के समय-समय पर परिवर्तन होने वाले मूल्यो को बताता है तथा इसी के आधार पर बाजार मे वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है। यह मूल्य न केवल दिन-प्रतिदिन ही बदलता है, वरन् एक ही दिन मे कई बार बदलते भी देखा गया है। उदाहरणार्थ फल, साग भाजी, बर्फ, मछलियाँ आदि का मूल्य बहुधा सुबह के समय अधिक, मध्याह्न को मध्यम तथा सायकाल मे अल्प रहता है। इस मूल्य पर बिकने

वाली वस्तुओं के घटने बढ़ने को समुचित समय नहीं मिल पाता। अत. मूल्य-निर्धारण में माग का ही प्रमुख रूप से प्रभाव पड़ता है। मूल्य का उत्पादन व्यय से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। कभी मूल्य उत्पादन-व्यय से अधिक हो जाता है और कभी कम।

दूसरे शब्दों में इस यों कहा जा सकता है कि वास्तव में प्रभाव तो माँग और पूर्ति दोनों का ही पड़ता है किन्तु अल्पकाल में बाजार में समय इतना कम होता है कि वस्तु की अधिक माग हो जाने पर उसकी पूर्ति में वृद्धि नहीं की जा सकती है, अर्थात् न तो वह बाहर से प्राप्त की जा सकती है और न उत्पन्न या तैयार ही की जा सकती है। इसी प्रकार माग कम हो जाने पर वस्तु की पूर्ति सुगमता से कम भी नहीं की जा सकती है। यही कारण है कि बाजार मूल्य निर्धारित करने में पूर्ति की अपेक्षा माग का अधिक प्रभाव होता है अर्थात् अल्पकाल में माग का प्रभाव सक्रिय होता है और पूर्ति का केवल निष्क्रिय। अल्पकालीन बाजार में मूल्य बढ़ने पर वस्तु की पूर्ति में वृद्धि केवल स्टाक के बराबर तक हो हो सकती है। परन्तु यदि वस्तु की माग और भी अधिक बढ़ जाय तब पूर्ति में वृद्धि नहीं हो सकने के कारण उसका मूल्य बढ़ जायेगा। माँग कम हो जाने पर वस्तु का मूल्य कम हो जायगा।

बाजार या अल्पकालीन मूल्य की विशेषताएँ (Characteristics)— बाजार मूल्य की निम्नलिखित विशेषताएँ है —

(१) बाजार मूल्य परिवर्तनशील है अर्थात् घटता-बढ़ता रहता है— घटना बढ़ना अथवा परिवर्तनशीलता बाजार मूल्य की मुख्य विशेषता है। इस प्रकार के परिवर्तन प्रतिदिन भी हो सकते है और एक दिन में कई बार भी हो सकते हैं।

(२) बाजार या अल्पकालीन मूल्य का सीमान्त लागत-व्यय से विशेष सम्बन्ध नहीं रहता है—पूर्ति के सीमान्त लागत व्यय का मूल्य से विशेष सम्बन्ध नहीं रहता। अल्पकालीन बाजार में मूल्य लागत व्यय से अत्यधिक या अत्यल्प भी हो सकता है, क्योंकि यह तो केवल माँग की सक्रियता पर निर्भर होता है।

(३) बाजार मूल्य, माँग और पूर्ति के अस्थायी सतुलन से निर्धारित होता है—साधारणतया मूल्य माँग और पूर्ति के सतुलन द्वारा निर्धारित होता है, परन्तु एक अल्पकालीन बाजार में यह सतुलन क्षणिक होता है अर्थात् बदलता रहता है। अत हम कह सकते हैं कि बाजार मूल्य माँग और पूर्ति के अस्थायी सतुलन का परिणाम है।

(४) बाजार या अल्पकालीन मूल्य पूर्ति की अपेक्षा माग से अधिक प्रभावित होता है—अल्पकालीन बाजार में मूल्य के घटने बढ़ने में तो निःसन्देह समय नहीं लगता किन्तु पूर्ति को घटाने बढ़ाने के लिये पर्याप्त समय की आवश्यकता होती है। अस्तु, अल्पकाल में पूर्ति नहीं बढ़ाई जा सकती और मूल्य मुख्यत माग के प्रभाव से ही निर्धारित होता है।

(५) बाजार मूल्य अस्थायी कारणों और चलित घटनाओं द्वारा प्रभावित होता है। उदाहरण के लिये, किसी दिन दूध की माग किसी त्यौहार के कारण बढ़ जाती है तो दूध का मूल्य भी बढ़ जायगा। इसी प्रकार यदि कहीं पशु मेला है, तो उस क्षेत्र में दूध की पूर्ति अस्थायी रूप से बढ़ जायगी जिसके कारण मूल्य गिर जायगा।

(६) यथेष्ट समय मिलने पर बाजार मूल्य की प्रवृत्ति दीर्घकालीन मूल्य अथवा सामान्य मूल्य (Normal Price) के बराबर रहने की होती है—यद्यपि किसी समय में बाजार-मूल्य लागत व्यय से बहुत अधिक या कम हो सकता है तथापि यथेष्ट समय मिलने पर इसकी प्रवृत्ति लागत व्यय अर्थात् सामान्य मूल्य के बराबर रहने की होती है। उदाहरणार्थ यदि किसी वस्तु के बाजार मूल्य में अत्यधिक वृद्धि होती है तो आर्थिक कारणों की प्रक्रिया से मूल्य में ह्रास होने लगता है। यदि बाजार-मूल्य में अत्यधिक कमी होती है तो आर्थिक कारणों की प्रतिक्रिया से मूल्य की वृद्धि होने लगती है। इस प्रकार प्रत्येक समय बाजार मूल्य की यह प्रवृत्ति रहती है कि एक स्थिर मूल्य अर्थात् सामान्य मूल्य के पास ही रहे।

बाजार या अल्पकालीन मूल्य कैसे निर्धारित होता है

किसी वस्तु का बाजार मूल्य माँग और पूर्ति के पारस्परिक प्रभाव से निश्चित होता है। माँग और पूर्ति का एक दूसरे पर बहुत प्रभाव पड़ता है और इनमें पारस्परिक सम्बन्ध के प्रभाव से निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। यदि किसी वस्तु का मूल्य बढ़ जाय, तो माँग घट जाती है और पूर्ति बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप इन दोनों में एक नया सन्तुलन उत्पन्न हो जाता है। यदि माँग बढ़ जाय, तो मूल्य भी बढ़ जाता है और पूर्ति भी बढ़ जाती है तथा एक और नवीन सन्तुलन पैदा हो जाता है। इसके विपरीत, यदि पूर्ति बढ़ जाय तो मूल्य घट जाता है और माँग बढ़ जाती है, और इस प्रकार एक विभिन्न सन्तुलन उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार माँग पूर्ति और मूल्य का एक दूसरे पर बहुत प्रभाव पड़ता है और इसी के फलस्वरूप अस्थायी सन्तुलन उत्पन्न होता रहता है। अतः यह कहा जा सकता है कि बाजार मूल्य माँग और पूर्ति के अस्थायी सन्तुलन (Temporary Equilibrium) द्वारा निर्धारित होता है। इस बाजार मूल्य को प्रो० मार्शल ने अस्थायी सन्तुलन मूल्य (Temporary Equilibrium Price) कह कर पुकारा है।

यद्यपि माँग और पूर्ति दोनों मिलकर मूल्य निर्धारित करते हैं परन्तु मूल्य के साथ व्यय का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। मूल्य उत्पादन-व्यय से अधिक या कम दोनों हो सकता है। अस्तु अल्पकालीन या बाजार मूल्य के निर्धारण के लिये माँग और पूर्ति का होना आवश्यक होते हुए भी माँग का अधिक प्रभाव पड़ता है क्योंकि समय इतना कम होता है कि माँग के अनुसार उत्पादन में वृद्धि सहज नहीं की जा सकती। इसलिये माँग के घटने बढ़ने के अनुसार ही मूल्य में परिवर्तन होता रहता है। बाजार-मूल्य निर्धारण का विशद विवेचन इसी अध्याय में पीछे देखिये।

सामान्य मूल्य (Normal Price)—दीर्घ काल में प्रचलित होने वाले मूल्य को सामान्य मूल्य कहते हैं अर्थात् माँग के अनुसार पूर्ति के समन्वय के लिये पर्याप्त समय मिल जाने के पश्चात् जो मूल्य प्रचलित होगा वह सामान्य मूल्य कहलायेगा। सामान्य मूल्य को दीर्घकालीन मूल्य (Long Period Price) भी कहते हैं, क्योंकि पूर्ति को माँग के अनुसार समन्वय (Adjustment) करने के लिये पर्याप्त समय मिल जाता है। उदाहरणार्थ, यदि माँग बढ़ गई है तो उद्योग में उत्पादन-साधनों में वृद्धि कर दी जायगी, और यदि माँग स्थायी रूप से कम हो गई है तो

उत्पादन-साधनों को हटा लिया जायगा। यद्यपि मूल्य-निर्धारण में माँग और पूर्ति दोनों का पारस्परिक प्रभाव आवश्यक है, परन्तु फिर भी जिस प्रकार अल्पकाल में माँग अधिक क्रियाशील देखी जाती है, उसी प्रकार दीर्घकाल में माँग की अपेक्षा पूर्ति अर्थात् उत्पादन-व्यय (लागत) का अधिक प्रभाव पड़ता है। इसे अधिक स्पष्ट करते हुये यों कहा जा सकता है कि दीर्घकाल में किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन व्यय के बराबर होता है और यही 'सामान्य-मूल्य' कहलाता है। मोरलैंड के शब्दों में, दीर्घकालीन मूल्य वह मूल्य है जो लागत के बराबर होता है।[1] यदि सामान्य-मूल्य लागत से अधिक होगा तो पूर्ति बढ़ जायगी और यदि वह कम होगा तो पूर्ति घट जावेगी। इस प्रकार सामान्य मूल्य लागत-व्यय द्वारा निर्धारित केन्द्र पर अविचल रूप से स्थिर रहेगा अर्थात् सामान्य मूल्य सदैव दीर्घकाल में लागत-व्यय के बराबर रहता है।

समय की कितनी अवधि दीर्घकाल या अल्पकाल कहलायेगी, यह उद्योग के स्वभाव तथा उत्पत्ति के साधनों की गतिशीलता पर निर्भर करती है। कुछ उद्योगों के लिये एक या दो वर्ष ही दीर्घकाल हो सकते हैं, परन्तु अन्य के लिये यही अवधि अल्पकाल हो सकती है।

बाजार या अल्पकालीन मूल्य अस्थायी तथा परिवर्तनशील परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है। दीर्घकाल में अस्थायी परिस्थितियाँ विलीन हो जाती हैं और मूल्य स्थायी कारणों से प्रभावित होता है। प्रो० मार्शल ने बताया है कि जब एक प्रकार की आर्थिक परिस्थितियाँ पर्याप्त समय तक रहती हैं तो उन्हें अपना पूरा प्रभाव दिखाने का अवसर मिल जाता है और अस्थायी और परिवर्तनशील कारणों का प्रभाव विलीन हो जाता है। अस्तु, ऐसी परिस्थितियों में वस्तुओं का जो मूल्य निर्धारित होता है वह 'सामान्य मूल्य' कहलाता है। दीर्घकाल में उत्पादकों को माँग के अनुसार पूर्ति में घटाने-बढ़ाने का पर्याप्त समय मिल जाता है। पूर्ति में परिवर्तन होने से मूल्य में भी परिवर्तन होता रहता है और अन्त में ऐसा मूल्य निर्धारित होता है जिस पर माँग और पूर्ति का सन्तुलन हो जाता है। इस प्रकार सामान्य मूल्य माँग और पूर्ति के स्थायी सन्तुलन (Permanent Equilibrium) से निर्धारित होता है। प्रो० सीगर[2] ने बाजार और सामान्य मूल्यों का इस प्रकार विवेचन किया है "बाजार मूल्य अर्थात् वह मूल्य जिस पर कि माल वास्तव में बिकता है, परिवर्तनशील

1—"Long-Period Price may be defined as "the price which corresponds with the cost of production."

Moreland *An Introduction to Economics*, pp 208 9

2—"Market prices, that is, the prices at which goods are actually sold from day to day, are variable and irregular in their operations But behind most market prices are normal Prices, which are much less subject to changes This is because the conditions of production are more stable than the market conditions under which goods are bought and sold and serve constantly to recall prices from the more or less violent fluctuations of the market."

Seager . *Principles of Economics* p 120

और अस्थिर होता है। ......किन्तु अधिकांश बाजार मूल्य के पीछे सामान्य मूल्य होते हैं जिनमें परिवर्तन बहुत कम होते है। इसका कारण यह है कि उत्पत्ति की दशाएं उन बाजार-दशाओं में जिनमे माल का क्रय-विक्रय होता है, अधिक स्थिर होती है, और वे प्रबलता से घटने बढ़ने वाले बाजार मूल्यों को अपने पास पुनः बुलाती रहती है।"

सारांश में, बाजार और सामान्य मूल्य दोनों पर ही माँग और पूर्ति का प्रभाव पडता है। पहली दशा में माग क्रियाशील होती है और दूसरी दशा में पूर्ति (उत्पादन-व्यय)। ब्रिग्स एव जार्डन (Briggs & Jordon) के शब्दों मे "माँग की तुलना मे पूर्ति की घटा बढ़ी का मूल्य पर अधिक प्रभाव पडता है। साथ ही, मूल्य का प्रभाव पूर्ति की परिस्थितियों पर तब उसके द्वारा निर्णयात्मक रूप में सीमान्त व्यय पर पडता है।" बाजार-मूल्य पर पूर्ति का केवल इतना ही प्रभाव पडता है कि माँग के घटने-बढ़ने मे सामान्य मूल्य अपने स्थिर सतुलन-केन्द्र से कभी-कभी अल्पकाल के लिये इधर उधर हट जाता है।

सामान्य या दीर्घकालीन मूल्य की विशेषताएं (Characteristics)

(१) सामान्य मूल्य मे स्थिरता रहती है—दीर्घकाल मे एक बार माँग और पूर्ति म सतुलन स्थापित हो जाने पर वह शीघ्र विचलित नहीं होता। जिस प्रकार एक तालाब में छोटी-छोटी लहरे उठती हैं, उसी प्रकार सामान्य या दीर्घकालीन मूल्य में धीरे धीरे परिवर्तन होता है।

(२) सामान्य या दीर्घकालीन मूल्य स्थायी कारणों एवं घटनाओं से प्रभावित होता है—दीर्घकाल का सामान्य मूल्य स्थायी कारणों से प्रभावित होता है, क्योंकि पूर्ति को पूर्ण कुशलता के साथ घटाने बढ़ाने का अवसर रहता है। इसके लिये नये नये कारखाने भी खोले जा सकते है तथा अधिक कुशल कार्यकर्त्ताओं को लाने का भी अवसर रहता है।

(३) सामान्य मूल्य, माँग की अपेक्षा पूर्ति से अधिक प्रभावित होता है—दीर्घकाल में माँग के अनुसार पूर्ति मे परिवर्तन किया जा सकता है अर्थात पूर्ति को स्वतन्त्रता पूर्वक मूल्य स्थिर करने के लिये समुचित समय मिल जाता है।

(४) सामान्य मूल्य, माग और पूर्ति के स्थायी सतुलन से निर्धारित होता है—दीर्घकाल मे पूर्ति मे माँग के अनुसार समन्वय होने का पर्याप्त अवसर मिल जाने के कारण माँग और पूर्ति मे स्थायी सतुलन स्थापित हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि सामान्य या दीर्घकालीन मूल्य, माँग और पूर्ति के स्थायी सतुलन से निर्धारित होता है।

(५) सामान्य या दीर्घकालीन मूल्य लागत व्यय के बराबर होता है—दीर्घकाल म माँग और पूर्ति मे स्थायी सतुलन स्थापित हो जाता है। स्थायी सतुलन की अवस्था में मूल्य उत्पादन व्यय (लागत) के बराबर होता है। यदि मूल्य उत्पादन-व्यय से अधिक होता है, तो उत्पादकों को अधिक लाभ होगा, पूर्ति बढ़ेगी और मूल्य गिरेगा और उस समय तक गिरता रहेगा जब तक मूल्य उत्पादन व्यय के बराबर न हो जाय। इसके विपरीत, यदि मूल्य उत्पादन व्यय से कम होता है, तो उत्पादकों को हानि होती है और उत्पत्ति की मात्रा म कमी होती है और मूल्य मे उस समय तक वृद्धि होती है जब तक वह लागत-व्यय के बराबर न हो जाय। इस प्रकार दीर्घकाल म सामान्य मूल्य लागत व्यय के बराबर होता है।

(६) सामान्य मूल्य दीर्घकाल में ही सम्भव है—माँग और पूर्ति के सन्तुलन के लिये पूर्ण प्रतियोगिता की सुविधा तथा उनके घटने-बढ़ने के लिये यथेष्ट समय की आवश्यकता है। अस्तु यह दीर्घकाल में ही सम्भव हो सकता है।

(७) सामान्य मूल्य केन्द्र है जिसके चारों ओर बाजार मूल्य घूमता रहता है—सामान्य मूल्य वह केन्द्र है जिसके चारों ओर बाजार मूल्य घूमता रहता है। बाजार की माँग और पूर्ति में हेर फेर होने के साथ बाजार मूल्य कभी सामान्य मूल्य (जो लागत व्यय के बराबर होता है) से ऊपर उठ जाता है और कभी नीचे गिर जाता है यद्यपि उसकी प्रवृत्ति सदा सामान्य मूल्य के बराबर होने की होती है।

(८) सामान्य मूल्य एक से अधिक प्रकार का हो सकता है—एक ही वस्तु के एक से अधिक सामान्य मूल्य हो सकते हैं, जैसे अल्पकालीन सामान्य मूल्य और दीर्घकालीन सामान्य मूल्य।

सामान्य मूल्य या दीर्घकालीन मूल्य का निर्धारण

(Determination of Normal or long Period Price)

अल्पकालीन या बाजार मूल्य की भाँति दीर्घकालीन अथवा सामान्य मूल्य भी माँग और पूर्ति की पारस्परिक क्रियाओं द्वारा ही निर्धारित होता है। जिस प्रकार अल्पकाल में बाजार-मूल्य के निर्धारण में माँग और पूर्ति की दो शक्तियों का पारस्परिक प्रभाव आवश्यक होते हुए भी माँग का अधिक प्रबल प्रभाव देखा जाता है ठीक इसी प्रकार दीर्घकाल में भी सामान्य मूल्य के निर्धारण में माँग और पूर्ति की पारस्परिक क्रियाओं के आवश्यक होते हुए भी पूर्ति के प्रभाव की अधिक प्रबलता देखी जाती है। इसको अधिक स्पष्ट करते हुए यो कहा जा सकता है कि दीर्घकाल में किसी वस्तु का सामान्य मूल्य माँग और पूर्ति की दो शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है, परन्तु फिर भी पूर्ति अर्थात् उत्पादन-व्यय (लागत) का प्रभाव निर्णयात्मक होता है। यदि सामान्य मूल्य उत्पादन व्यय (लागत) से अधिक होगा, तो लाभ प्राप्ति से प्रेरित होकर नये उत्पादक उद्योग की ओर आकर्षित होंगे और पुराने उत्पादक अपने विद्यमान साधनों का अधिकतम उपयोग कर उत्पत्ति में वृद्धि करने की चेष्टा करेंगे। इसके परिणामस्वरूप पूर्ति बढ़ जायगी और मूल्य गिर जायगा। इसके विपरीत यदि सामान्य मूल्य उत्पादन व्यय (लागत) से कम हुआ तो हानि से बचने के लिये कुछ उत्पादक अपना उत्पादन-कार्य स्थगित कर देंगे और शेष उत्पादक कम मात्रा में उत्पादन करेंगे जिसके फलस्वरूप पूर्ति में कमी हो जायगी और मूल्य बढ़ जायगा। इस प्रकार दीर्घकाल में किसी वस्तु के सामान्य मूल्य की प्रवृत्ति उसके उत्पादन-व्यय (लागत) के बराबर होने की होती है। अतः यह स्पष्ट है कि दीर्घकाल में सामान्य मूल्य के निर्धारण में पूर्ति अथवा उत्पादन व्यय (लागत) माँग की अपेक्षा अधिक प्रभाव रखती है।

अल्पकालीन सामान्य मूल्य और दीर्घकालीन सामान्य मूल्य

(Short-Period Normal Price & Long Period Normal Price)

सामान्य मूल्य का विवेचन करते हुए स्टिगलर तथा अन्य आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने सामान्य मूल्य को दो श्रेणियों में विभाजित किया है—अल्पकालीन

सामान्य मूल्य और दीर्घकालीन सामान्य मूल्य। अब यह देखना है कि किस प्रकार सामान्य मूल्य अल्पकाल तथा दीर्घकाल मे निर्धारित होता है।

अल्पकाल मे सामान्य मूल्य (Normal Price in Short Period) – अल्पकाल मे माँग के अनुसार पूर्ति में परिवर्तन तो हो सकता है, परन्तु उद्योग मे लगी हुई फर्मो की सख्या तथा कारखाने का आकार-प्रकार पूर्ववत् ही रहता है क्योंकि यह परिवर्तन स्थायी रूप मे अधिक समय तक स्थिर रहने वाला नहीं होता है। अल्पकाल मे जब माँग मे वृद्धि होती है तो उत्पादक-गण अपने उत्पत्ति के वर्तमान साधनों का अधितम उपयोग कर उत्पत्ति मे वृद्धि करने का प्रयत्न करेंगे, क्योंकि माँग में वृद्धि होने के कारण मूल्य मे वृद्धि होगी जिसके फलस्वरूप प्रत्येक उत्पादक लाभ-प्राप्ति से प्रेरित होकर अपने उत्पत्ति के मौजूदा साधनों का उस सीमा तक उपयोग करेगा जहाँ तक कि उनकी अधिकतम उत्पादन सामर्थ्य है। ऐसा करने से अधिक लाभ होगा क्योंकि प्रतियोगिता के कारण सभी उत्पादकों की उत्पत्ति एक ही मूल्य पर बिकेगी। अस्तु प्रत्येक उत्पादक उत्पादन वृद्धि के लिये उस सीमा तक प्रयत्नशील रहता है जब तक मूल्य सीमान्त उत्पादन-व्यय (Marginal Cost of Production) के बराबर नहीं हो जाता। जब तक उसे अपने सीमान्त उत्पादन-व्यय से अधिक मूल्य प्राप्त होता रहेगा, तब तक वह उस वस्तु का अधिक उत्पादन करता रहेगा, क्योंकि ऐसा करने से उसे अधिकतम लाभ होता रहेगा परन्तु मूल्य के सीमान्त उत्पादन व्यय से कम होते ही हानि से बचने के लिये उत्पादन कम कर दिया जायगा। इस प्रकार अल्पकाल में वर्तमान साधनों के अधिकाधिक उपयोग द्वारा पूर्ति का माँग की वृद्धि के साथ समन्वय स्थापित किया जाता है। अस्तु, अल्पकाल मे वह मूल्य जो सीमान्त उत्पादन व्यय के बराबर होता है अल्पकालीन सामान्य मूल्य कहलाता है।

दीर्घकाल मे सामान्य मूल्य (Normal Price in Long period)—दीर्घकाल म पूर्ति का माग के साथ स्थायी रूप से समन्वय स्थापित होने के लिये पर्याप्त समय मिल जाता है। अतः कई नये साहसी अथवा उद्योगपति उत्पादन क्षेत्र मे प्रवेश कर सकते है, मौजूदा उत्पादक अपने कारखानों का विस्तार कर सकते है, नई मशीनों को प्रयोग में ला सकते हैं तथा अधिक कुशल श्रमिक काम पर लगाये जा सकते है। सक्षेप मे, माँग की वृद्धि के साथ उत्पत्ति के साधनों मे वृद्धि की जा सकती है। इसी प्रकार माग मन्द होने पर सीमान्त उत्पादक (Marginal Producers) उत्पादन क्षेत्र से हट जाते है जिससे पूर्ति मे घटती हुई माग में समन्वय हो सकता है। इस प्रकार पूर्ति को माँग से पूर्णतया समन्वित करने के लिए पर्याप्त अवसर मिल जाता है और माँग तथा पूर्ति मे स्थायी सतुलन स्थापित हो जाता है। माग और पूर्ति मे स्थायी सतुलन की अवस्था मे मूल्य उत्पादन व्यय के बराबर होता है। यदि मूल्य उत्पादन व्यय से अधिक होता है, तो उत्पादकों को अधिक लाभ होगा जिससे नये उत्पादक उद्योग की ओर आकर्षित हो जायेंगे और पुराने उत्पादक अपने वर्तमान उत्पत्ति के साधनों का अधिकतम सीमा तक उपयोग कर उत्पत्ति को बढाने मे सलग्न हो जायेंगे। इसके फलस्वरूप पूर्ति मे वृद्धि होगी और मूल्य गिरेगा और उस समय तक गिरता रहेगा जब तक मूल्य उत्पादन-व्यय के बराबर न हो जाय। इसके विपरीत यदि मूल्य उत्पादन व्यय से कम होता है, तो उत्पादकों को हानि होगी जिससे कारण कई उत्पादक अपना उत्पादन कार्य स्थगित कर देंगे। इसका परिणाम यह होगा कि पूर्ति की मात्रा मे कमी हो जायगी और मूल्य बढ जायगा और यह उस समय तक बढ़ता रहेगा जब तक वह उत्पादन-व्यय के बराबर न हो जाय। स्थायी रूप मे सामान्य मूल्य

लागत अर्थात् उत्पादन व्यय से अधिक ऊँचा या नीचा नहीं रह सकता। सामान्य मूल्य उत्पादन-व्यय के बराबर होने की चेष्टा करता है। इस प्रकार दीर्घकाल में स्थायी सतुलन की अवस्था में उत्पादन-व्यय से निर्धारित मूल्य दीर्घकालीन सामान्य मूल्य कहलाता है।

उत्पत्ति के नियम और सामान्य मूल्य (Laws of Returns and Normal Price)—सामान्य मूल्य के निर्धारण में लागत-उत्पादन व्यय का निर्णयात्मक प्रभाव पड़ता है और उत्पादन-व्यय में उत्पत्ति के नियमों के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। अतः सामान्य मूल्य का उत्पत्ति के नियमों से प्रभावित होना स्वाभाविक है। अस्तु, अब हम इस बात का विवेचन करेंगे कि किस प्रकार सामान्य मूल्य पर उत्पत्ति के विविध नियमों का प्रभाव पड़ता है।

(१) उत्पत्ति ह्रास नियम और सामान्य मूल्य (Law of Diminishing Returns & Normal Price)—यदि किसी वस्तु का उत्पादन 'उत्पत्ति-ह्रास-नियम' (Law of Diminishing Returns) अथवा लागत वृद्धि नियम (Law of Increasing Cost) के अनुसार होता है, तो माँग के बढ़ने पर लागत अर्थात् उत्पादन व्यय बढ़ जायगा और माग के घटने पर उत्पादन-व्यय कम हो जायगा, और परिणामतः सामान्य मूल्य में भी इस प्रकार परिवर्तन हो जायगा। उदाहरण के लिये, मान लीजिये कि कोयला उद्योग पर उत्पत्ति-ह्रास-नियम लागू है। जब कोयले की माँग बढ़ती है, तो इसका मूल्य भी बढ़ जायगा। इस वृद्धि में लाभ उठाने के उद्देश्य से प्रेरित होकर उत्पादकगण पूर्ति में विस्तार करेंगे जिसके परिणाम-स्वरूप उत्पत्ति में वृद्धि होगी। किन्तु उद्योग पर 'उत्पत्ति ह्रास-नियम' लागू होने के कारण जितना अधिक कोयले का उत्पादन होगा, उतना ही ऊँचा उसका उत्पादन-व्यय होगा। इस प्रकार कोयले की अतिरिक्त उत्पत्ति अपेक्षाकृत अधिक लागत पर होगी। इसका तात्पर्य यह है कि दीर्घकाल में मूल्य ऊँचा हो जायगा अर्थात् सामान्य मूल्य में वृद्धि हो जायगी। कृषि उद्योग तथा खनिज और मछली निकालने वाले उद्योगों में भी इसी प्रकार होता है। अब हम इसे रेखा-चित्र द्वारा प्रदर्शित करते हैं। प्रस्तुत चित्र में माँ माँ' माग की वक्र-रेखा और पू' पू' पूर्ति की वक्र रेखा है। ये दोनों रेखाएँ क बिन्दु पर मिलती हैं, अतः क ख सतुलित मूल्य है, अर्थात् यही सामान्य मूल्य है। अब यदि किसी कारण स माँग मे वृद्धि हो जाय, तो माँग रेखा माँ१ मॉ१' का रूप धारण कर लेगी। यह वक्ररेखा पू पू' वक्र रेखा को क१ बिन्दु पर काटती है। अतः मूल्य बढ़ कर क१ ख१' हो जायगा। इसी प्रकार यदि माँग घट जाय, तो माँग की वक्र रेखा माँ२ माँ२' का रूप धारण कर
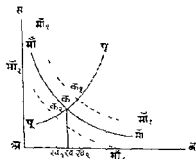
उत्पत्ति ह्रास-नियम और सामान्य मूल्य
(Law of Diminishing Returns & Normal Price)

लेगी। यह पू पू' वक्ररेखा को $क_2$ बिन्दु पर काटती है। अतः मूल्य घटकर $क_1$ $ख_2$ हो जाता है।

इस चित्र में हम देखते हैं कि पूर्ति की वक्र-रेखा ऊँची होती जाती है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिन वस्तुओं का उत्पादन 'उत्पत्ति-ह्रास नियम अथवा 'लागत वृद्धि-नियम' के अनुसार होता है, उनकी पूर्ति की मात्रा में वृद्धि करने से बढ़ती हुई उत्पत्ति की इकाइयाँ क्रमशः बढ़ते हुए लागत-व्यय पर प्राप्त होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उन उद्योगों में जिनमें उत्पत्ति-ह्रास-नियम अथवा लागत-वृद्धि-नियम लागू होता है, दीर्घकाल में माँग में वृद्धि होने पर सामान्य मूल्य बढ़ता है और माँग में कमी होने पर यह घटता है।

उत्पत्ति-वृद्धि-नियम और सामान्य मूल्य (Law of Increasing Returns & Normal Price)—यदि किसी वस्तु का उत्पादन 'उत्पत्ति वृद्धि-नियम' (Law of Increasing Returns) अथवा 'लागत-ह्रास-नियम' (Law of Decreasing Cost) के अनुसार होता है, तो माँग के बढ़ने पर लागत अर्थात् उत्पादन-व्यय कम हो जायगा और माँग के बढ़ने पर उत्पादन-व्यय बढ़ जायगा और परिणामतः सामान्य मूल्य में भी इसी प्रकार परिवर्तन हो जायगा। इसका कारण स्पष्ट है जिन उद्योगों में उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अनुसार उत्पादन होता है उनमें उत्पत्ति की मात्रा में वृद्धि होने से विविध प्रकार की बचतें (Economies) सम्भव हो जाती हैं जिनके कारण उत्पादन-व्यय बराबर घटता जाता है अर्थात् उत्पत्ति की बढ़ती हुई इकाइयाँ कम मूल्य पर प्राप्त होती हैं। यह बात कपड़ा उद्योग के उदाहरण से भली प्रकार समझी जा सकती है। मान लीजिये कि लोगों के जीवन-स्तर या जन-संख्या में वृद्धि होने के कारण कपड़े की माँग बढ़ जाती है। माँग में वृद्धि होने के कारण मूल्य में वृद्धि हो जायगी, जिसके परिणाम-स्वरूप उत्पादन बड़ी मात्रा में होने लगेगा। यदि उद्योग में उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू है, तो जितना अधिक उत्पादन होगा, उतनी ही लागत कम होगी। मोटर कार, साइकिल, रेडियो, कागज आदि निर्माण उद्योगों में जिनमें मशीन द्वारा उत्पादन होता है, इसी प्रकार होता है। इसे रेखा-चित्र द्वारा निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :—
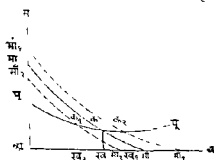
उत्पत्ति-वृद्धि-नियम और सामान्य मूल्य
(Law of Increasing Returns & Normal Price)

प्रस्तुत रेखा-चित्र में मा मा' माग की वक्र रेखा और पू पू' पूर्ति की वक्ररेखा है ये दोनों रेखाएँ क बिन्दु पर

मिलती है। इस क ख सन्तुलन मूल्य है, अर्थात् यही सामान्य मूल्य है। अब यदि किसी कारण माँग में वृद्धि हो जाय, तो माँग माँ माँ$_1$ का रूप धारण कर लेगी। यह वक्ररेखा पू पू' को क$_1$ बिन्दु पर काटती है अतः क$_1$ ख$_1$ सामान्य मूल्य होगा। इस प्रकार माँग में वृद्धि हो जाने से मूल्य घट जाता है। इसी प्रकार यदि माँग में कमी हो जाय, तो मा$_2$ माँ$_2$' का रूप धारण कर लेगी। यह पू पू' वक्ररेखा से क$_2$ बिन्दु पर मिलती है। अतः क$_2$ ख$_2$ सामान्य मूल्य है। इस प्रकार माँग के कम हो जाने से मूल्य बढ़ जाता है।

(३) उत्पत्ति-स्थिर नियम और सामान्य मूल्य (Law of Constant Returns & Normal Price)—यदि किसी वस्तु का उत्पादन 'उत्पत्ति-स्थिर नियम' (Law of Constant Returns) अथवा 'लागत-स्थिर-नियम' (Law of Constant Cost) के अनुसार होता है, तो माँग के घटने बढ़ने का लागत अर्थात् उत्पादन-व्यय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा अर्थात् वह स्थिर रहेगा जिसके परिणाम-स्वरूप सामान्य मूल्य भी स्थिर रहेगा। इस प्रकार की अवस्था तभी उत्पन्न होती है जब कि उत्पत्ति-वृद्धि नियम और उत्पत्ति-ह्रास नियम समान रूप से सतुलित हो जाते हैं। यह अवस्था एक लम्बे समय तक स्थिर नहीं रहती।

उत्पत्ति स्थिर नियम और सामान्य मूल्य (Law of Constant Returns & Normal Price)

इस नीचे दिये हुये चित्र से इस प्रकार समझिये। प्रस्तुत चित्र में माँ माँ माँग की वक्र-रेखा है पू पू की पूर्ति वक्र-रेखा है। पूर्ति की वक्र रेखा (पू पू') अ ब रेखा के समानान्तर (Parallel) है। इससे यह स्पष्ट है कि पूर्ति की मात्रा चाहे कुछ भी हो, उसकी लागत अर्थात् उत्पादन व्यय वही रहेगा। माँ माँ' माँग की वक्र रेखा पू पू की वक्र-रेखा को क बिन्दु पर काटती है। अतः क ख सन्तुलित मूल्य है अर्थात् यही सामान्य मूल्य है।
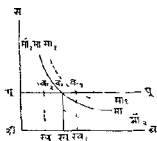
अब यदि माँग बढ़ जाती है, तो माँग की वक्र रेखा मा मा' पूर्ति की वक्र रेखा पू पू' को क$_1$ बिन्दु पर काटती है, अतः क$_1$ ख$_1$ सामान्य मूल्य होगा। परन्तु क$_1$ ख$_1$ और क ख बराबर हैं, अतः माँग के बढ़ने पर भी उत्पादन व्यय स्थिर रहेगा। इसी प्रकार माँ$_2$ माँ$_2$ वक्र रेखा माँग के घटने को प्रदर्शित करती है। यह पूर्ति की वक्र-रेखा पू पू' को क$_2$ बिन्दु पर काटती है, अतः क$_2$ ख$_2$ सामान्य मूल्य होगा। परन्तु क$_2$ ख$_2$ और क ख समान हैं, अस्तु, माँग के घटने पर भी लागत अर्थात् उत्पादन व्यय स्थिर रहेगा।

उत्पत्ति-वृद्धि-नियम की अवस्था में मूल्य निर्धारण में कठिनाई—अभी हमने देखा कि किस प्रकार दीर्घकाल में सामान्य मूल्य उत्पादन व्यय (लागत) के बराबर रहता है। परन्तु उत्पादन क्षेत्र में बहुत-सी फर्में काम करती हैं—उनमें से

कुछ तो बहुत अच्छी होती है, कुछ औसत दर्जे की और कुछ नीचे दर्जे की। अब यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि बाजार में मूल्य कौन सी फर्म द्वारा निर्धारित होता है। यदि कहा जाय कि मूल्य सर्वश्रेष्ठ फर्म की लागत द्वारा निर्धारित होता है तो यह यथार्थ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इसकी लागत अर्थात् उत्पादन व्यय सबसे कम होगा है, और यदि मूल्य इसके बराबर हो, तो कम कुशल फर्मों को उत्पादन क्षेत्र से हटना पड़ेगा जिसके कारण श्रेष्ठ फर्म बाजार में एकाधिकार (Monopoly) स्थापित कर लेगी। एकाधिकार स्थापित होने की अवस्था में मूल्य-निर्धारण के सिद्धान्त में भी भिन्नता हो जाती है। अतः प्रतियोगिता (Competition) की अवस्था में यह तर्क यथार्थ सिद्ध नहीं होती। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में मूल्य सर्वश्रेष्ठ फर्म के उत्पादन व्यय से अधिक होना चाहिये। अस्तु यह सबसे अकुशल अथवा सबसे अधिक लागत वाली फर्म का उत्पादन व्यय भी नहीं हो सकता, क्योंकि सम्भव है वह बिल्कुल ही लाभ नहीं कमा रही हो। परन्तु दीर्घकालीन मूल्य में सामान्य लाभ का अवश्य समावेश होना चाहिये। अतः यह कहना कि मूल्य अकुशल फर्म के उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होता है, उचित नहीं, क्योंकि सीमान्त उत्पादन व्यय (Marginal Cost of Production), जो दीर्घकाल में मूल्य के बराबर रहता है सबसे अकुशल फर्म का उत्पादन-व्यय नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह कहना भी कि मूल्य समस्त फर्मों के औसत लागत के बराबर होता है यथार्थ नहीं है, क्योंकि विभिन्न अवस्थाओं में कार्य-संलग्न अनेक फर्मों की औसत लागत ज्ञात करना सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त अन्तिम इकाई के उत्पादन व्यय को सीमान्त उत्पादन व्यय कहा जा सकता है, परन्तु मूल्य इस उत्पादन व्यय के बराबर नहीं हो सकता, क्योंकि उत्पत्ति-वृद्धि-नियम की अवस्था में अन्तिम इकाई का उत्पादन व्यय अल्पतम होता है। अन्य इकाइयों को तैयार करने में अधिक उत्पादन-व्यय होता है। अस्तु, यदि मूल्य दीर्घकाल में अल्पतम लागत के बराबर हो तो अन्य इकाइयों को हानि से बेचना होगा परन्तु दीर्घकाल में ऐसा नहीं हो सकता। वास्तव में, विभिन्न फर्मों के उत्पादन-व्यय में बड़ी भिन्नता पाई जाती है। फर्मों का व्यक्तिगत इतिहास उद्योग का इतिहास नहीं माना जा सकता। अस्तु, एक उद्योग का सीमान्त उत्पादन व्यय जो कि कुल उत्पादन से सम्बन्धित हो, ज्ञात करने के लिये हम मार्शल द्वारा आविष्कृत 'प्रतिनिधि फर्म' की ओर दृष्टिपात करना होगा। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि दीर्घकाल में प्रतिनिधि फर्म के उत्पादन-व्यय द्वारा ही मूल्य-निर्धारित होता है।

मार्शल की प्रतिनिधि फर्म (Representative Firm)—प्रो० मार्शल ने उत्पत्ति-वृद्धि नियम के अन्तर्गत सामान्य मूल्य के निर्धारण की कठिनाई को दूर करने के लिये 'प्रतिनिधि फर्म' की विचार धारा को जन्म दिया। उत्पत्ति-ह्रास नियम की दशा में किसी एक फर्म को लेकर उत्पादन की सीमा का ज्ञान किया जा सकता है, परन्तु उत्पत्ति-वृद्धि-नियम की दशा में किसी एक फर्म को लेकर उत्पादन व्यय का ज्ञान करना कठिन है। इस कठिनाई का हल मार्शल के मतानुसार 'प्रतिनिधि फर्म' में सन्निहित है। यह न तो सबसे श्रेष्ठ और न सबसे निकृष्ट फर्म का उत्पादन-व्यय है और न उत्पत्ति की अन्तिम इकाई का ही उत्पादन व्यय है, बल्कि यह प्रतिनिधि फर्म का उत्पादन व्यय है जो दीर्घकाल में सामान्य मूल्य निर्धारित करता है। प्रत्येक उद्योग में कुछ फर्म उन्नति

की अवस्था में होती हैं जो उद्योग की माँग और पूर्ति के सन्तुलन की अवस्था प्रदर्शित करती है। ऐसी फर्म को ही 'प्रतिनिधि फर्म' कहते हैं और इसी के उत्पादन व्यय का सामान्य मूल्य पर प्रभाव पड़ता है। प्रो० मार्शल ने इस इस प्रकार परिभाषित किया है "हमारी प्रतिनिधि फर्म वह है जो पर्याप्त लम्बे समय से उत्पादन-कार्य कर रही हो, जिसे पर्याप्त सफलता प्राप्त हो, जिसका सचालन सामान्य योग्यता से होता हो और जिसकी वाह्य और आन्तरिक बचतों तक सामान्य पहुँच हो जोकि उसके कुल उत्पादन के परिमाण को प्राप्त हो, साधारणतया माल के प्रकार, मार्केटिंग (विपणन) दशाओं तथा आर्थिक वातावरण का भी ध्यान रखा जाता है।"[1] यह फर्म सारे व्यवसाय की प्रतिनिधि है। यह वर्तमान फर्मों की एक औसत फर्म तो नहीं है, परन्तु एक ऐसी फर्म है जो दीर्घकाल में व्यवसाय का सन्तुलन होने पर सारे व्यवसाय या उद्योग के प्रत्येक विभाग का प्रतीक है और एक प्रकार से सन्तुलित व्यवसाय की कुल उत्पत्ति की दीर्घकालीन औसत फर्म है। इससे हम व्यवसाय या उद्योग में उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होने पर आन्तरिक एवं वाह्य बचतें (Economies) प्राप्त होने से औसत लागत या उत्पादन व्यय का अनुमान लगा सकते हैं। इस लागत के अनुसार ही दीर्घकाल में वस्तु का मूल्य निर्धारित होगा। मूल्य इससे अधिक होने पर समस्त उद्योग की उत्पत्ति बढ़ेगी जिससे प्रत्येक फर्म का आकार एवं उत्पादन बढ़ जायगा। इस प्रकार अधिक बचतें होने पर वस्तु का उत्पादन व्यय और भी कम हो जायगा। इसके परिणामस्वरूप मूल्य कम होने पर उत्पत्ति कम और लागत अधिक हो जायगी। इस सम्बन्ध में कैल्डर ने भी ठीक ही कहा है "प्रतिनिधि फर्म वह विश्लेषणात्मक यन्त्र है जिसकी सहायता से पूर्ति की वक्र रेखा द्वारा कथित प्रतिक्रिया प्रतिक्रिया का यदि विश्लेषण नहीं, तो कम से कम वाह्य अभिव्यक्ति तो अवश्य की जा सकती है।"

पीगू की सन्तुलन फर्म (Equilibrium Firm)—प्रो० पीगू ने प्रतिनिधि फर्म के स्थान में सन्तुलन फर्म का प्रयोग किया है। *सन्तुलन फर्म वह अवस्था है* जिसमें वह अपनी उत्पत्ति न बढ़ाने का प्रयत्न करती है और न घटाने का, वर्तमान मूल्य पर उसकी उत्पत्ति माँग के अनुसार है और इस उत्पत्ति पर इसको अधिकतम लाभ है। इस प्रकार व्यवसाय के सन्तुलन में कुल उत्पत्ति के बढ़ने या घटने की कोई प्रवृत्ति नहीं होती, इसकी कुल उत्पत्ति वर्तमान मूल्य की माँग

1—'Our representative firm must be one which has had a fairly long life, and fair success, which is managed with normal ability, and which has normal access to the economics, external and internal which belong to the aggregate volume of production, account being taken of the class of goods produced, the conditions of marketing them and the economic environment generally"

Marshall *Principles of Economics*, p. 318.

के बराबर होती है। व्यवसाय के सन्तुलन में इसकी भिन्न-भिन्न फर्मों का संतुलन आवश्यक नहीं है किसी की उत्पत्ति बढ़ती है, किसी की घटती है, किन्तु सबका योग मिलाकर उत्पत्ति समान रहती है : परन्तु सम्भवतः एक फर्म ऐसी होती है जिसके व्यवसाय के सन्तुलन की भाँति निजी सतुलन होता है और यह वर्त्तमान मूल्य पर एक निश्चित उत्पत्ति करती रहती है, इसे 'सन्तुलन फर्म' कहते है।

प्रतिनिधि फर्म और सन्तुलन फर्म में भेद—प्रतिनिधि फर्म और संतुलन फर्म में यही भेद है कि सतुलन फर्म की भाँति प्रतिनिधि फर्म का सतुलन आवश्यक नहीं है। व्यवसाय या उद्योग का संतुलन हो या न हो, परन्तु इसमें प्रतिनिधि फर्म अवश्य होगी। व्यवसाय का सतुलन होने पर प्रतिनिधि फर्म सतुलन फर्म हो जावेगी और मूल्य इसकी सीमान्त व औसत लागत के बराबर होगा।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों की आदर्श फर्म (Optimum Firm)—आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार बाजार में मूल्य आदर्श फर्म द्वारा निर्धारित होता है। आदर्श फर्म वह फर्म है जिसने उत्पत्ति के साधनों का इस उत्तम विधि से सामञ्जस्य किया है कि उसकी प्रति इकाई लागत सबसे कम है। पूर्ण प्रतियोगिता के कारण वस्तु का मूल्य घट कर 'आदर्श फर्म' के मूल्य के बराबर होगा। इससे कम या अधिक होने पर अधिक लाभ या हानि के कारण मूल्य स्थिर न रह सकेगा और अन्त में मूल्य आदर्श फर्म के उत्पादन-व्यय के बराबर ही होगा।

बाजार मूल्य और सामान्य मूल्य में भेद
(Distinction between Market Price & Normal Price)

(१) बाजार मूल्य अल्पकालीन प्रचलित मूल्य है परन्तु सामान्य मूल्य दीर्घकालीन प्रचलित मूल्य है।

(२) बाजार मूल्य किसी समय में माँग और पूर्ति के अस्थायी संतुलन का परिणाम है। किन्तु सामान्य मूल्य माँग और पूर्ति के दीर्घकालीन अथवा स्थायी सतुलन का परिणाम है।

(३) बाजार मूल्य अधिकतर माँग के कारण और सामान्य मूल्य पूर्ति अर्थात् उत्पादन व्यय के कारण प्रभावित होता है।

(४) बाजार मूल्य अस्थायी कारणों तथा चलित घटनाओं द्वारा प्रभावित होता है, परन्तु सामान्य मूल्य स्थायी अथवा दीर्घकाल तक स्थिर रहने वाले कारणों का परिणाम है।

(५) बाजार-मूल्य में दिन प्रतिदिन यहाँ तक कि घण्टे-घण्टे भर में परिवर्तन होता रहता है, परन्तु सामान्य मूल्य अधिक स्थिर रहता है। माँग और पूर्ति में अस्थायी परिवर्तन होने के पश्चात् बाजार मूल्य की प्रवृत्ति सामान्य मूल्य में परिवर्तित होने की होती है, अर्थात् सामान्य मूल्य एक केन्द्र है जिसके आस-पास बाजार मूल्य घूमता है।

(६) बाजार मूल्य वह मूल्य है जो किसी भी समय वास्तव में प्रचलित होता है तथा इसके अनुसार सौदे होते है। परन्तु सामान्य मूल्य एक काल्पनिक धारणा है अर्थात् यह वह मूल्य है जिसके होने की केवल प्रवृत्ति प्रदर्शित होती है अथवा यदि अवस्थायें सामान्य हों, तो इसका होना सम्भव होगा। अवस्थायें सामान्य होने पर

जब सामान्य मूल्य के प्रचलित होने का समय आता है तो यह प्रचलित मूल्य अर्थात् बाजार मूल्य कहलाने लग जाता है।

(७) बाजार मूल्य समुद्र जल की भाँति है जो सर्दैव ऊपर नीचे होता रहता है, परन्तु सामान्य मूल्य समुद्र के उस स्तर की भाँति है जहा यदि लहरे न हो, तो पानी स्थिर हो जायगा।

(८) सब वस्तुओं का बाजार मूल्य हो सकता है, परन्तु सामान्य मूल्य केवल उन्ही वस्तुओं का हो सकता है जिनका पुनर्निर्माण किया जा सकता हो। यदि वस्तुओं का निर्माण बिल्कुल सम्भव नही हो, तो सामान्य मूल्य भी नहीं होगा, क्योंकि उत्पादन व्यय से ही सामान्य मूल्य प्रभावित होता है और जब उत्पादन व्यय हो नहीं तो सामान्य मूल्य का अस्तित्व कैसे हो सकता है।

किसी वस्तु का बाजार मूल्य उस वस्तु के सामान्य मूल्य के चारों ओर घूमता है (Market Price of a commodity oscillates round about its Normal Price)

अथवा

किसी वस्तु का मूल्य स्थायी रूप से उत्पादन-व्यय (लागत) से अधिक ऊपर या नीचे नहीं रह सकता। (The value of a commodity cannot be permanently much above or below its cost of production)

उपर्युक्त कथन का विवेचन करने से पूर्व यहाँ पुनः बाजार मूल्य एवं सामान्य मूल्य का अर्थ स्पष्ट कर देना चाहिये। बाजार मूल्य किसी वस्तु का वह मूल्य है जो किसी समय पर बाजार मे प्रचलित होता है तथा उसके अनुसार ही वस्तुओं का वास्तविक रूप मे क्रय-विक्रय होता है। यह बहुत ही अल्पकालीन बाजार मूल्य होता है, अतः यह स्थायी रूप से बाजार मे स्थिर नही रह सकता। बाजार मूल्य वास्तव मे उस वस्तु की माँग और पूर्ति के पारस्परिक सम्बन्ध का परिणाम होता है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि माँग और पूर्ति मे निरन्तर परिवर्तन होते रहने के कारण बाजार मूल्य मे भी सर्दैव परिवर्तन होता रहता है। सामान्य मूल्य वस्तु का वह मूल्य है जो दीर्घकाल मे प्रचलित होता है। यह दीर्घकालीन बाजार मूल्य होता है जो लगभग उत्पादन-व्यय (लागत) के बराबर रहता है। यह अधिक स्थिर होता है अर्थात् बाजार-मूल्य की भाँति इसमे परिवर्तन नही होते।

अतः यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु के बाजार मूल्य मे निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, क्योंकि भिन्न भिन्न परिस्थितियों के कारण उस वस्तु की माँग और पूर्ति मे भी सर्दैव परिवर्तन होता रहता है। परन्तु बाजार मूल्य मे यह परिवर्तन अनिश्चित रूप से नहीं होता अर्थात् बाजार मूल्य असीमित मात्रा मे घट या बढ नहीं सकता। दूसरे शब्दों मे, बाजार मूल्य मे निरन्तर घटा-बढ़ी होती रहती है परन्तु इस घटा-बढ़ी की भी एक सीमा होती है। इसका तात्पर्य यह है कि बाजार मूल्य एक सीमा अथवा बिन्दु के चारों ओर ही परिवर्तित होता रहता है और अन्त मे पुनः उसी बिन्दु पर आकर टिक जाता है। जिस प्रकार जल के सम-स्तर पर निरन्तर परिवर्तन होता रहता है और अन्त मे जल अपने वास्तविक सम-स्तर पर टिक जाता है, ठीक इसी

और पूर्ति का स्थायी सन्तुलन रहे, इसलिये बाजार मूल्य व सामान्य मूल्य की स्थायी अवस्थाएं वास्तविक जीवन में कभी प्राप्त नहीं होती। अस्तु सामान्य मूल्य एक आदर्श के समान है जिसको प्राप्त करने की बाजार मूल्य की प्रवृत्ति रहती है।

पुन उत्पादन न हो सकने वाली वस्तुओं का मूल्य निर्धारण (Determination of Price of Non reproducible Goods)—

अब तक हम पुनरुत्पादनीय (Reproducible) वस्तुओं के मूल्य निर्धारण का विवेचन करते रहे हैं। इस सम्बन्ध में हमने यह देखा कि किस प्रकार पुनरुत्पादनीय वस्तुओं का मूल्य माग और पूर्ति की पारस्परिक क्रियाओं द्वारा निर्धारित होता है। अब हम यहाँ ऐसी वस्तुओं के मूल्य निर्धारण का विवेचन करेंगे जिनका पुनरुत्पादन नहीं हो सकता है अर्थात् जिनकी पूर्ति में वृद्धि करना सम्भव नहीं है। रफेल (Raphael) के कलापूर्ण चित्र, मिल्टन व शेक्सपियर के स्वहस्ताक्षर (Autographs) आदि दुर्लभ एवं अनोखी वस्तुएँ इसी प्रकार की वस्तुओं के कुछ उदाहरण हैं। जहाँ तक मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त का प्रश्न है दोनों दशाओं में—चाहे वस्तुओं का पुन उत्पादन हो सकता हो या नहीं—माग और पूर्ति की पारस्परिक क्रिया द्वारा मूल्य निर्धारण का ही सिद्धान्त लागू होगा। परन्तु दूसरी दशा में जबकि वस्तुओं का पुनरुत्पादन सम्भव नहीं हो, पूर्ति की मात्रा में वृद्धि नहीं की जा सकने के कारण उत्पादन व्यय अर्थात् लागत का प्रश्न ही प्रस्तुत नहीं होता। ऐसी अवस्था में विक्रेता एकाधिकारी (Monopolist) की स्थिति में रह जाता है और एकाधिकार के अधिकतम लाभ के सिद्धान्त के अनुसार कार्य करने लगता है।

इस प्रकार पुन उत्पन्न नहीं की जा सकने वाली वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में 'मांग' का प्रभाव अधिक क्रियाशील देखा जाता है पूर्ति निष्क्रिय रहती है। इस अवस्था में पूर्ति पक्ष में 'पूर्ति मूल्य (Supply Price) बजाय सीमान्त लागत के वस्तु स्वामी के भावुक मूल्य (Sentimental Value) द्वारा निर्धारित होता है, अर्थात् सीमान्त लागत का स्थान वस्तु स्वामी की वस्तु से पृथक होने की 'सीमान्त अनत्परता' (Marginal Unwillingness) ग्रहण कर लेती है।

प्रतियोगिता और एकाधिकार (Competition and Monopoly)

मूल्य निर्धारण पर इस बात का विशेष प्रभाव पड़ता है कि बाजार में प्रतियोगिता का साम्राज्य है अथवा एकाधिकार का। अस्तु यह जानना आवश्यक है कि प्रतियोगिता और एकाधिकार किसे कहते हैं और इन दोनों का प्रभाव मूल्य पर किस प्रकार पड़ता है। इसलिये अब हम इन्हीं की विवेचना करेंगे।

प्रतियोगिता (Competition)—प्रतियोगिता का आशय उस परिस्थिति से है जिसमें मनुष्य बिना बाहरी हस्तक्षेप या प्रतिबन्ध के उत्पादन, उपभोग, व्यापार आदि सभी आर्थिक क्षेत्रों में अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये स्वतन्त्रतापूर्वक काम कर सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है कि वह जिस भी काम या व्यवसाय को लाभप्रद समझे बिना किसी बाहरी बाधा के कर सकता है। आधुनिक युग स्वतन्त्रता का युग है और वर्तमान विचारधारा के अनुसार एक देश वरन् समस्त संसार की आर्थिक समृद्धि के लिये सब प्रकार से पूर्ण स्वतन्त्रता अनिवार्य है। इस पूर्ण स्वतन्त्रता को ही 'प्रतियोगिता' कहते है।
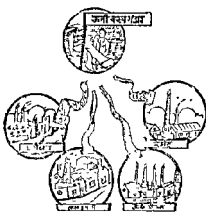
प्रतियोगिता

प्रतियोगिता के प्रकार– प्रतियोगिता दो प्रकार की हो सकती है—(१) पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect Competition) और (२) अपूर्ण प्रतियोगिता (Imperfect Competition)। पूर्ण प्रतियोगिता—उस परिस्थिति का नाम है जिसमें उपभोक्ता, उत्पादक, क्रेता और विक्रेता आदि बड़ी सख्या में, बाजार ज्ञान से परिपूर्ण, स्वतन्त्रतापूर्वक बिना किसी प्रतिबन्ध व हस्तक्षेप के आर्थिक क्षेत्रों में कार्य-सलग्न हों। इन बातों के अभाव को अपूर्ण प्रतियोगिता का सूचक समझना चाहिए।

पूर्ण प्रतियोगिता की विशेषताएँ—पूर्ण प्रतियोगिता की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में उत्पत्ति के साधनों का समुचित प्रयोग होता है—सर्व प्रथम उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को स्वेच्छानुसार तथा अपनी पसन्द के व्यवसाय या उद्योग में कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। यदि किसी निश्चित प्रकार के श्रम की मजदूरी अन्य व्यवसायों की अपेक्षा कम है, तो श्रमिक इस व्यवसाय को छोड़कर अन्य व्यवसायों में जाने लगेंगे और इस व्यवसाय में श्रम की मजदूरी बढ़ जायेगी और यह प्रवृत्ति उस समय तक प्रचलित रहेगी जब तक इस व्यवसाय में श्रम की मजदूरी अन्य व्यवसायों के समान न हो जायेगी।

(२) क्रेता और विक्रेता अधिक सख्या में हों—पूर्ण प्रतियोगिता की दूसरी विशेषता यह है कि किसी वस्तु के क्रेता और विक्रेता अधिक सख्या में हों अन्यथा वस्तु के मूल्य पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ेगा।

(३) क्रेताओं और विक्रेताओं को बाजार सम्बन्धी पूर्ण जानकारी हो—प्रत्येक क्रेता और विक्रेता को इस बात की पूर्ण जानकारी होनी चाहिए कि बाजार में अमुक वस्तु कहाँ पर और किस भाव में बिक रही है।

(४) प्रतियोगिता की दशा में सारे बाजार में मूल्य एक-सा हो रहेगा—प्रतियोगिता की दशा में बाजार में एक ही वस्तु के अनेक भाव नहीं रह

सकते। एक वस्तु का एक समय मे सारे बाजार मे एक ही भाव रहना पूर्ण प्रतियोगिता प्रचलित होने की एक परीक्षा है।

(५) पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे उत्पादन व्यय और मूल्य बराबर होते है—यदि मूल्य उत्पादन व्यय से अधिक है, तो उत्पादक-गण लाभ प्राप्ति से प्रेरित होकर उस वस्तु का उत्पादन बढ़ायेगे जिससे वस्तु की मात्रा मे वृद्धि होगी और मूल्य घट कर उत्पादन व्यय के बराबर हो जायेगा। इसी प्रकार यदि मूल्य उत्पादन व्यय से कम है, तो उत्पादक गण वस्तु का उत्पादन कम कर देंगे जिसके कारण मूल्य बढ़ेगा और वह तब तक बढ़ेगा जब तक कि उत्पादन-व्यय के बराबर न हो जायेगा।

प्रतियोगिता से लाभ (Advantages)

(१) प्रतियोगिता द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता और कार्य-कुशलता के अनुसार अधिक कार्य करने का प्रोत्साहन मिलता है—जब एक व्यक्ति अपनी आर्थिक उन्नति के लिये अधिक से अधिक कार्य करने की चेष्टा करता है, तो उसके स्वाभाविक और प्राकृतिक गुणों तथा कार्य-शक्ति का पूर्ण विकास होता रहता है। इस प्रकार न केवल उस व्यक्ति को ही लाभ होता है बल्कि सारे समाज तथा देश को भी लाभ पहुँचता है।

(२) प्रतियोगिता द्वारा ही एक देश की मानव शक्ति, श्रम की कुशलता, योग्यता और एक देश के प्राकृतिक साधनो का समुचित प्रयोग सम्भव है—प्रतियोगिता के कारण ही आधुनिक समय मे श्रम-विभाजन की इतनी उन्नति हुई है कि इससे श्रमिकों, उत्पादकों, व्यापारियो, जन साधारण तथा समाज एव देश को महत्वपूर्ण लाभ प्राप्त हुए हैं।

(३) प्रतियोगिता नये नये आविष्कारो की जननी है—कार्य-कुशलता योग्यता तथा सतत प्रतियोगिता के कारण दिन-प्रति-दिन नवीन आविष्कार होते रहते हैं जिससे उत्पत्ति की मात्रा मे उत्तरोत्तर उन्नति होती रहती है।

(४) प्रतियोगिता उत्पादन को उच्च कोटि का बना देती है—श्रमिको की कार्यकुशलता मे वृद्धि हो जाने के कारण उत्पादन भी बहुत उच्च कोटि का होता है।

(५) प्रतियोगिता उपभोक्ताओं को सस्ती वस्तुएँ उपलब्ध कराती है—उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होने के फलस्वरूप वस्तुओ का मूल्य घट जाता है और उपभोक्ताओ को वस्तुएँ कम मूल्य पर उपलब्ध होने से उनको बहुत लाभ होता है।

(६) बाजार की सीमाओं का विस्तार होता है—उत्पत्ति की मात्रा मे वृद्धि होने से बाजार का क्षेत्र भी बढ़ जाता है और नये बाजारो का विकास होता रहता है।

(७) धन वितरण की असमानता कुछ अश तक कम हो जाती है—सस्ती वस्तुएँ प्राप्त होने से निर्धन व्यक्तियों को विशेष लाभ होता है तथा इस प्रकार धन-वितरण की असमानता कुछ अश तक कम हो जाती है।

प्रतियोगिता से हानियाँ (Disadvantages)

(१) उत्पादन अत्यन्त ही अनिश्चित हो जाता है—उत्पत्ति माँग से कभी बहुत अधिक हो जाती है और कभी बहुत कम। इससे व्यापार को ठेस पहुँचती है।

(२) कठछेदी प्रतियोगिता (Cut-throat Competition) समाज के लिये अहितकर सिद्ध होती है—कठछेदी प्रतियोगिता में प्रतिद्वन्दी प्राय ऐसे साधनों का प्रयोग करने लगते हैं जिसका फल सारे समाज को भोगना पड़ता है।

(३) टिकाऊ और लाभप्रद वस्तुओं के स्थान में दिखावटी और हानिकारक वस्तुएँ तैयार की जाती हैं—प्रतियोगिता के कारण टिकाऊ और लाभप्रद वस्तुओं के स्थान में दिखावटी और हानिकारक वस्तुएँ तैयार की जाने लगती हैं जिससे लोगों के स्वास्थ्य और चरित्र पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है।

(४) प्रतियोगिता में खर्चीले विज्ञापनों का प्रयोग वस्तुओं के मूल्य को बढ़ा देता है—प्रतियोगिता में बहुत-सा धन खर्चीले विज्ञापनों में व्यय किये जाने से उत्पादन-व्यय में वृद्धि हो जाती है और जिसके फलस्वरूप मूल्य बढ़ जाता है।

(५) प्रतियोगिता के कारण वस्तुओं की किस्म बिगड़ जाती है—पारस्परिक प्रतियोगिता के कारण सस्ती वस्तुओं का उत्पादन करना पड़ता है जिसके कारण उनकी किस्म का बिगड़ना स्वाभाविक है।

(६) प्रतियोगिता से न तो उत्पत्ति ठीक ढङ्ग की ही हो पाती है और न बेकारी की समस्या से छुटकारा ही मिलता है।

निष्कर्ष—अस्तु मानव और सामाजिक लाभ की दृष्टि से अत्यधिक प्रतियोगिता पर सरकार द्वारा यथोचित प्रतिबन्ध वान्छनीय है। वर्तमान युग योजनाओं का युग है। इस समय प्रत्येक राष्ट्र देश में आर्थिक प्रगति के लिये योजनाएँ बन रही हैं और उनके अनुसार कार्य हो रहा है। योजना में प्रतियोगिता का कोई स्थान नहीं होता है। अत प्रतियोगिता द्वारा होने वाली हानियों से बचने का यह साधन आजकल अपनाया जा रहा है।

एकाधिकार[1] (Monopoly)

अब तक हमने इस बात का अध्ययन किया है कि किस प्रकार मूल्य स्वतन्त्र प्रतियोगिता (Free Competition) की अवस्था में निर्धारित होता है। अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार मूल्य एकाधिकार की अवस्था में निर्धारित किया जाता है।

एकाधिकार की परिभाषा (Definition)—साधारणतया प्रतियोगिता की अनुपस्थिति को एकाधिकार कहा जाता है। जब किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह के अधिकार में माँग या पूर्ति का बहुत बड़ा भाग होता है जिसके द्वारा मूल्य सुगमता से इच्छानुसार घटाया बढ़ाया जा सकता है तो उस स्थिति को एकाधिकार कहते हैं। अन्य शब्दों में, एकाधिकार उस स्थिति को कहते हैं जब वस्तुओं अथवा सेवाओं की माँग अथवा पूर्ति पर प्राकृतिक या कृत्रिम नियन्त्रण हो।

1—यह विषय केवल नागपुर, सागर तथा पटना विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में ही सम्मिलित है। उ० प्र०, मध्यभारत तथा अजमेर बोर्डों व राजपूताना विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित नहीं है।

ऐली (Ely) के अनुसार "एकाधिकार किसी व्यापार में संलग्न एक या एक से अधिक व्यक्तियों की तात्विक व्यापारिक एकता है जिसके द्वारा, यद्यपि पूर्णतया नहीं तो, विशेषतया मूल्य सम्बन्धी सर्वांगत नियन्त्रण (Exclusive Control) प्राप्त होता है।"[1] मिल (Mill) के अनुसार पूर्ति का कम करना ही एकाधिकार कहलाता है। व्यावहारिक जीवन में माँग का एकाधिकार होना कठिन होता है। इस कारण एकाधिकार शब्द का प्रयोग प्रायः केवल पूर्ति के एकाधिकार के सम्बन्ध में ही किया जाता है। परन्तु पूर्ति के एकाधिकार के सम्बन्ध में भी यह कठिनाई है कि वह पूर्ण एकाधिकार (Absolute Monopoly) नहीं होता जब तक कि वह सरकारी एकाधिकार न हो, जैसे डाक विभाग द्वारा प्रस्तुत सेवायें आदि। इसका कारण यह है कि संसार में एक वस्तु के अनेक उत्पादक होते हैं तथा एक वस्तु की स्थानापन्न वस्तुएँ भी होती हैं। इसलिये *एकाधिकार शब्द का प्रयोग बहुधा अपूर्ण प्रतियोगिता* (Imperfect Competition) के अर्थ में ही किया जाता है।

व्यापार अथवा व्यवसाय की दृष्टि से सरकार द्वारा स्थापित एकाधिकारों का कोई विशेष महत्व नहीं है। महत्त्व तो उन एकाधिकारों का है जो व्यावसायिक *मिलन या संयोग* द्वारा स्थापित होते हैं। बड़े-बड़े व्यवसाय प्रतियोगिता के बुरे परिणामों से बचने तथा व्यावसायिक मिलन की अनेक बचतों से

लाभ उठाने के लिये परस्पर मिलकर एकाधिकार का रूप धारण कर लेते है। अमरिका आदि देशों में इस प्रकार की संस्थाओं ने इतना जोर पकड़ा कि इनके रोकने के लिये विशेष रूप से कानून बनाने पड़े।
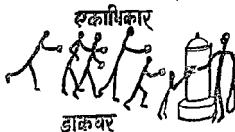
एकाधिकारी के सामने अधिकाधिक लाभ का दृष्टिकोण—स्वतन्त्र प्रतियोगिता की अवस्था में किसी वस्तु के बहुत से उत्पादक होते हैं, अतः उनमें पारस्परिक प्रतियोगिता होना स्वाभाविक है। ऐसी अवस्था में इच्छानुसार मूल्य लेना सम्भव नहीं होने के कारण उस वही मूल्य लेना पड़ता है जो दूसरे लेते हैं। इस कारण उत्पादक का बहुत कम लाभ होता है। इसके विपरीत एकाधिकारी का कोई प्रतियोगी नहीं होने के कारण अपनी वस्तु या सेवा का मनमाना मूल्य ले सकता है। उसके सामने केवल अधिकाधिक लाभ प्राप्ति का ही उद्देश्य रहता है और वह इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर उत्पादन कार्य करता है।

एकाधिकारों के प्रकार एवं लाभ-हानियाँ—इनका विशद विवेचन इसी पुस्तक में पीछे किया जा चुका है।

1—'Monopoly means," remarks Ely, "that substantial unity of action on the part of one or more persons engaged in some kind of business which gives exclusive control, more particularly, although not solely, with respect to price."

एकाधिकार मूल्य-निर्धारण का सिद्धान्त
(Theory of Determination of Monopoly Price)

परिचय (Introduction)—यह सर्वविदित तथ्य है कि एकाधिकारी का उद्देश्य अधिकाधिक लाभ-प्राप्ति का होता है। यही उद्देश्य उत्पादकों का प्रतियोगिता की अवस्था में भी होता है। परन्तु प्रतियोगिता की अवस्था में कोई उत्पादक व्यक्तिगत रूप से मूल्य में परिवर्तन नहीं कर सकता और न मूल्य उत्पादन-व्यय से अधिक स्थिर कर विशेष लाभ उठा सकता है। एकाधिकार की अवस्था में ये सब बात सम्भव हैं। एकाधिकार उत्पादन मात्रा में परिवर्तन कर मूल्य को घटा-बढ़ा सकता है तथा वह उत्पादन-व्यय से अधिक मूल्य स्थिर कर विशेष लाभ उठा सकता है। तब तो एकाधिकारी अधिकाधिक लाभ प्राप्ति के लिये अधिक से अधिक मूल्य पर अधिकतम माल वेचने का प्रयत्न करेगा। परन्तु यह उसकी शक्ति के बाहर है क्योंकि वह बिक्री की मात्रा के साथ-साथ मूल्य निर्धारित नहीं कर सकता, अर्थात् वह ये दोनों कार्य एक साथ नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि पूर्ति पर उसका अधिकार तो अवश्य है पर माँग पर उसका अधिकार नहीं है। किसी मूल्य पर वह कितनी मात्रा बेच सकेगा, यह माँग की स्थिति पर निर्भर है। अतः वह दोनों में से केवल एक ही बात कर सकता है—चाहे तो वह मूल्य निर्धारित करले या पूर्ति की मात्रा जो वह बेचना चाहता है।

इससे यह स्पष्ट है कि एकाधिकारी मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध में इतना स्वतन्त्र नहीं है जितना कि साधारणतया वह समझा जाता है। उसे भी माँग और पूर्ति सम्बन्धी बातों का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है।

माँग और पूर्ति की शक्तियों का पारस्परिक प्रभाव--एकाधिकार की अवस्था में भी माँग और पूर्ति की शक्तियों की पारस्परिक क्रिया अवश्य होती है। परन्तु इसमें अन्तर यह है कि पूर्ति के अनुसार स्वतः समायोजित होने के लिये स्वतन्त्र नहीं होती। वह एकाधिकार के नियन्त्रण में होती है। पूर्ति नियन्त्रित होने के कारण एकाधिकारी या तो मूल्य नियत कर उस पर जितनी मात्रा माँगी जाय उसकी पूर्ति कर सकता है अथवा वह पूर्ति की मात्रा को नियन्त्रित कर मूल्य को स्वतन्त्र छोड़ सकता है। ऐसी अवस्था में मूल्य उसके द्वारा नियत की गई पूर्ति तथा बाजार की माँग के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर होगा।

किन्तु ये दोनों बात एक साथ नहीं हो सकतीं, अर्थात् वह मूल्य भी नियत करे और साथ ही लोगों को उसी मूल्य पर स्वतः निश्चित मात्रा का क्रय करने के लिये भी विवश करे। इन दोनों बातों में से वह केवल एक बात ही कर सकता है। एकाधिकारी के समक्ष केवल एक ही लक्ष्य रहता है—वह है अधिकतम लाभ-प्राप्ति। अस्तु, इस लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु उसे अपनी वस्तु से सम्बन्धित माँग और पूर्ति की अवस्थाओं का ध्यान-पूर्वक मनन करना पड़ेगा।

माँग पक्ष—माँग पक्ष के विषय में एकाधिकारी को माँग की लोच का विश्लेषण करना पड़ेगा अर्थात् उसे यह देखना पड़ेगा कि वस्तु की माँग लोचदार (Elastic) है या बेलोच (Inelastic)। यदि माँग में अधिक लोच है, तो मूल्य कम रखने से उसे सर्वाधिक लाभ होगा, क्योंकि ऐसा करने से माँग बहुत बढ़ जायगी। यदि माँग बेलोच है तो मूल्य अधिक रखा जा सकता है, क्योंकि चाहे जो भी मूल्य हो, उपभोक्ता माँग में कमी नहीं कर सकते।

पूर्ति पक्ष—माँग की लोच के साथ-साथ पूर्ति सम्बन्धी बातों पर भी उसे ध्यान देना होगा, अर्थात् उत्पत्ति नियमों की विभिन्न अवस्थाओं में उत्पादन व्यय (Cost of Production) के गिरने या बढ़ने को ध्यान में रखना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, यदि वस्तु का उत्पादन उत्पत्ति-वृद्धि-नियम के अनुसार चल रहा है, तो उत्पत्ति के साथ सीमान्त लागत में कमी होगी। ऐसी दशा में मूल्य कम रखने से बिक्री बढ़ेगी और एकाधिकारी को अधिक लाभ होगा। यदि उत्पादन उत्पत्ति-ह्रास नियम के अन्तर्गत होता है, तो जितना अधिक उत्पादन होगा, उतनी ही अधिक लागत होगी। अतः वह उत्पादन छोटे परिमाण में करेगा। यदि माँग कहीं बेलोच हुई, तो ऊँचा मूल्य रखने से उसे अधिक लाभ होगा।

मूल्य निर्धारण—इस प्रकार दोनों पक्षों की इन बातों को ध्यान में रखते हुये एकाधिकारी वह मूल्य निश्चित करने का प्रयत्न करता है जिससे उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो। वह यह जानता है कि लाभ दो बातों पर निर्भर है (१) प्रति इकाई मूल्य और (२) बिक्री की मात्रा। यदि वह मूल्य अधिक रखता है, तो माँग घट जाने से बिक्री कम हो जायगी जिसके फलस्वरूप कुल लाभ अधिकतम न होगा। दूसरी ओर, यदि वह अधिक मात्रा में माल बेचता है किन्तु प्रति इकाई मूल्य बहुत कम है, तो भी कुल लाभ अधिकतम न होगा। इसलिये एकाधिकारी को न तो बहुत ऊँचा मूल्य रखने से और न अधिक मात्रा बेचने से अधिकतम लाभ प्राप्त होगा, बल्कि उसे मूल्य और बिक्री की मात्रा के मध्य एक ऐसा समन्वय (Adjustment) ढूँढ निकालना पड़ेगा कि जहाँ उसे अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त हो सके।

उदाहरण—(Illustration)—निम्नांकित उदाहरण द्वारा एकाधिकार मूल्य निर्धारण का सिद्धान्त भली प्रकार समझा जा सकता है :—

एकाधिकार उत्पादन (सारणी)

उत्पत्ति की इकाइयाँ	प्रति इकाई लागत	मूल्य	प्रति इकाई लाभ	कुल शुद्ध लाभ
	रु०	रु०	रु०	रु०
१००	५	८		३००
२००	४	७		६००
३००	३	६	३	९००
४००	२.५०	५	२.५०	१,०००
५००	३		१	५००
६००	४		१	६००

ऊपर की सारणी से यह स्पष्ट है कि एकाधिकारी ४०० इकाइयों की उत्पत्ति करने पर सबसे अधिक शुद्ध लाभ (Net Monopoly Profit) अर्थात् १००० रु० प्राप्त कर सकेगा। इस लाभ को पाने के लिये वह पाँच रु० प्रति इकाई मूल्य निर्धारित करेगा जो लागत व्यय से २.५० रु० अधिक है।

रेखा चित्रण (Diagrammatic Illustration)—नीचे दिये हुए रेखा चित्र द्वारा यह आसानी से बतलाया जा सकता है कि एकाधिकारी किस बिन्दु पर मूल्य निर्धारित करेगा :—

नीचे के रेखा चित्र में माँ माँ' माँग की वक्ररेखा और पू पू पूर्ति की वक्ररेखा एक दूसरे को क बिन्दु पर काटती हैं। प्रतियोगिता की अवस्था में मूल्य क ख के बराबर होगा, क्योंकि इस मूल्य पर माँग और पूर्ति समान है। एकाधिकारी विशेष लाभ उठाने की दृष्टि से इससे अधिक मूल्य रखेगा। मान लीजिए वह ग घ मूल्य नियत करता है जो क ख मूल्य से अधिक है। इस मूल्य पर अ घ मात्रा बेच सकेगा, क्योंकि उपभोक्ता इतनी ही मात्रा खरीदने को तैयार हैं। अ घ मात्रा कुल उत्पादन व्यय अ घ ज छ आयत (Rectangle) के बराबर है। इस मात्रा को बेचने से उसे कुल मूल्य अ घ ग च आयत के बराबर
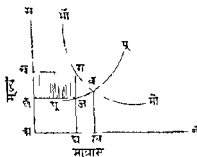
एकाधिकार मूल्य-निर्धारण

मिलता है। इन दोनों आयतों का अन्तर एकाधिकार मूल्य है। इस चित्र में छायाङ्कित (Shaded) आयत एकाधिकार लाभ प्रदर्शित करता है। इस प्रकार घ ग के ऊपर कई आयत बन सकते हैं। इनमें से एक सबसे बड़ा होगा। एकाधिकारी उसी बिन्दु पर मूल्य स्थिर करेगा जहाँ छायाङ्कित आयत का क्षेत्रफल सबसे अधिक होगा।

एकाधिकारी द्वारा मूल्य में भिन्नता—एकाधिकारी सामान्यतः सभी स्थानों पर एक ही मूल्य पर बिक्री करता है, परन्तु वह कभी कभी विभिन्न स्थानों के ग्राहकों से भिन्न भिन्न मूल्य भी लेता है क्योंकि इससे उसका लाभ बढ़ जाता है। ऐसा देखा गया है कि वे कभी कभी देश में अधिक मूल्य पर तथा विदेश में कम मूल्य पर एकाधिकार-वस्तु बेच कर एकाधिकार-वस्तु का उत्पादन बढ़ाने एवं विदेशी बाजार पर अधिकार करने का प्रयत्न करते हैं।

भिन्न भिन्न मूल्य लगाना उन एकाधिकारियों के लिये बहुत सरल है जो सेवा द्वारा प्रत्यक्ष रूप से दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं जैसे डाक्टर वकील आदि। प्रायः बड़े डाक्टर गरीबों से कम फीस लेते हैं और अमीरों से अधिक। ऐसा करने में वे गरीबों की केवल भलाई ही नहीं करते अपितु अपनी आय भी बढ़ाते हैं। यदि वे सभी से एक सी फीस लें, तो बहुत से रोगी निर्धन होने के कारण उनके पास न आ सकेंगे। इसलिये वे भिन्न भिन्न श्रेणी वाले व्यक्तियों के लिये अलग अलग फीस रखते हैं। यहाँ पर यह सम्भव नहीं कि अमीर लोग गरीब के रूप में अथवा नौकरों को भेज कर अपनी दवा करा सकें।

सारांश—कहने का तात्पर्य यह है कि साधन का यह कथन सर्वथा सत्य है कि एकाधिकारी का मूल्य उद्देश्य माँग के अनुसार इस प्रकार पूर्ति में ह्रास वृद्धि करना

होता है कि उसे अधिकतम लाभ हो सके। वह इस बात का प्रयत्न नहीं करता कि उसकी एकाधिकार वस्तु का मूल्य उत्पादन व्यय के समान हो जाय।[1]

एकाधिकार और प्रतियोगिता मूल्यों में अन्तर

(१) प्रतियोगिता की अवस्था में मूल्य और उत्पादन-व्यय दोनों बराबर होते हैं परन्तु एकाधिकार की अवस्था में उत्पादन व्यय मूल्य की न्यूनतम सीमा निर्धारित करता है। एकाधिकारी को प्रतियोगिता का भय नहीं रहता। इसलिये वह माँग की लोच को ध्यान में रखते हुए उत्पादन व्यय से अधिक मूल्य रखता है।

(२) एकाधिकारी भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न मूल्य ले सकता है परन्तु प्रतियोगिता की अवस्था में ऐसा करना सम्भव नहीं है।

(३) प्रतियोगिता में उत्पादक एक दिये हुए मूल्य पर चाहे जितनी बिक्री कर सकता है परन्तु एकाधिकार में मूल्य घटाकर ही बिक्री बढ़ाई जा सकती है।

(४) प्रतियोगिता में मूल्य पर कोई अधिकार नहीं होता परन्तु एकाधिकार में मूल्य पर थोड़ा-बहुत नियन्त्रण रहता है। वह मूल्य को चाहे जितना बढ़ाकर अधिकतम लाभ प्राप्त कर सकता है। परन्तु चूँकि यह आवश्यक नहीं है कि ऊँचे बढ़े हुए मूल्य पर लाभ अधिक ही हो अतः वह आवश्यकता पड़ने पर मूल्य कम करके भी अधिकतम लाभ पाने का प्रयत्न करता है।

(५) जिन उद्योगों में पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है वहाँ पर अनुकूलतम इकाई के आकार (Size) की कई फर्म पाई जाती हैं परन्तु एकाधिकार में केवल एक ही फर्म सम्भव है। एकाधिकारी विभिन्न उपायों द्वारा वर्तमान विरोधी व्यापारियों को नष्ट कर देता है तथा भविष्य में किसी भी एकाधिकार उद्योग में प्रवेश नहीं करने देता।

(६) एकाधिकारी मूल्य में परिवर्तन तो अवश्य कर सकता है परन्तु उसकी यह शक्ति अपरिमित नहीं है। उसे कई बातों का भय रहता है। यदि वह बहुत ऊँचा मूल्य रखता है तो सम्भव है राज्य की ओर से हस्तक्षेप होने लगे या प्रतियोगिता फिर से उपस्थित हो जाय। उसे इस बात का भी भय रहता है कि कहीं सार्वजनिक मत उसके विरुद्ध न हो जाय या लोग उस वस्तु के स्थान में दूसरी स्थानापन्न वस्तु को वहाँ प्रयोग में न लाने लग जाय। प्रतियोगिक मूल्य इन सब बातों से मुक्त रहता है।

इन सब बातों के होते भी यह सोचना भूल होगी कि एकाधिकार और प्रतियोगिक मूल्य निर्धारण में कोई सैद्धान्तिक भेद है। मूल्य माँग और पूर्ति के सिद्धान्त द्वारा ही निर्धारित होता है चाहे एकाधिकार का साम्राज्य हो अथवा प्रतियोगिता का।

एकाधिकार पर नियन्त्रण—सरकार एकाधिकार पर नियन्त्रण करने के लिये कानूनी हस्तक्षेप मूल्य और लाभ पर नियन्त्रण उत्पादन का राष्ट्रीयकरण प्रचार द्वारा सामाजिक बहिष्कार आदि उपायों का अवलम्बन करती है। यद्यपि समय-समय

1— The Prima facie interest of the owner of a monopoly is clearly to adjust the supply to demand, not in such a way that the price at which he can sell his commodity shall just cover its expenses of production but in such a way as to afford him the greatest possible total revenue —*Marshall*

पर इन नियन्त्रणों द्वारा एकाधिकार की बुराइयों को दूर कर दिया जाता है, तथापि यह देखा जाता है कि वे विभिन्न उपायों द्वारा या तो इन नियन्त्रणों को निष्फल कर देते हैं अथवा उनको न्यूनाधिक मात्रा में कम करा लेते हैं।

यह नियन्त्रण इसलिये आवश्यक होता है कि एकाधिकारी मूल्य में कृत्रिम वृद्धि न कर सकें, उत्पादन पर नियन्त्रण न रख सकें तथा अन्य व्यापारियों के व्यापार को नष्ट न कर सकें।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—बाजार मूल्य और सामान्य मूल्य में अन्तर बताइए। किसी वस्तु का दीर्घकालीन मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है?

२—'किसी वस्तु का अल्पकालीन मूल्य माँग पर और दीर्घकालीन मूल्य पूर्ति पर निर्भर होता है।' इस कथन की पुष्टि कीजिये।

३—किसी वस्तु का मूल्य उसके लागत-मूल्य से न बहुत अधिक और न बहुत कम रह सकता है। इस कथन की व्याख्या कीजिये। चित्र बनाकर उदाहरण द्वारा समझाइये। (रा० बो० १६५८)

४—बाजार मूल्य तथा सामान्य मूल्य में क्या भेद है? समझाइये कि इनमें से प्रत्येक मूल्य का निर्धारण कैसे होता है?

५—अल्पकालीन और दीर्घकालीन सामान्य मूल्य में क्या अन्तर है? समझाकर लिखिये। (रा० बो० १६६०)

६—बाजार मूल्य और सामान्य मूल्य में अन्तर समझाइये। सामान्य मूल्य कैसे निर्धारित होता है? (रा० बो० १६५७)

७—पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में किसी दिन किसी वस्तु का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है? चित्र भी दीजिये। (रा० बो० १६५५, सागर १६५२)

८—'किसी वस्तु का सामान्य मूल्य स्थायी तौर से इसके उत्पादन-व्यय से न तो अधिक ऊँचा और न नीचा ही रह सकता है।' इस कथन की पूर्णतया व्याख्या कीजिए। (अ० बो० १६५०, म० भा० १६५५)

९—'यदि मुद्रा-मूल्य में परिवर्तन होता है, तो माँग विरुद्ध दिशा में बदलती है।' क्या आप इस बात से सहमत हैं? कारण दीजिए और समझाइये। (नागपुर १६५५)

१०—एकाधिकार में किसी वस्तु का मूल्य कैसे निर्धारित होता है। (सागर १६४६)

इण्टर एग्रीकल्चर

११—पूर्ण स्पर्द्धा के अन्तर्गत सामान्य मूल्य के निर्धारण का विवरण दीजिये और उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिये कि बाजार मूल्य सामान्य मूल्य के इधर उधर मँडराया करता है।

१२—अर्घ क्या है? इसका निर्णय कैसे किया जाता है? अल्पकालीन और दीर्घकालीन मूल्य के निर्णय करने में जिन कारणों (फैक्टर) की अधिक प्रधानता होती है, उन्हें समझाइये। (अ० बो० १६५६)

१३—मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है:—
(अ) दीर्घकालीन बाजारों में? (आ) अल्पकालीन बाजारों में?
(इ) काला बाजार में? (रा० बो० १६५८)

———

अध्याय ५०

मुद्रा
(Money)

परिचय (Introduction)

जैसा कि पिछले अध्याया मे बतलाया जा चुका है कि सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था मे जबकि मनुष्य की आवश्यकतायें अल्प एव सीमित थी, वस्तु-विनिमय प्रथा (Barter System) प्रचलित थी। सभ्यता के विकास के साथ साथ मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ी और उसे अपने दैनिक कार्य मे वस्तु विनिमय प्रथा द्वारा अनेक असुविधायें तथा कठिनाइयाँ होने लगी जिसके फलस्वरूप मुद्रा विनिमय प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। सभ्यता की बढ़ती हुई विनिमय-समस्याओ को सुलझाने मे मुद्रा विनिमय का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती। आज हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे मुद्रा का प्रयोग अपरिहार्य (Indispensable) है तथा हमारी समृद्धि मुद्रा पर ही निर्भर समझी जाती है। मुद्रा के द्वारा ही हम वस्तुओ का क्रय-विक्रय करते हैं; नौकरो का वेतन चुकाते हैं तथा मुद्रा के द्वारा ही देशी और विदेशी व्यापार सम्पन्न होता है। आज के युग मे ऐसा कौन व्यक्ति है जो मुद्रा के प्रति आकर्षित नही होता? एक बालक इसे मिठाई या चटपटी खरीदने के लिये चाहता है, एक विद्यार्थी इसे अपनी पुस्तकें खरीदने और स्कूल कॉलेज की फीस देने के लिये चाहता है, एक साधु या फकीर अपना पेट भरने के लिये इसकी याचना करता है तथा एक गृहस्थी इसे अपनी और अपने कुटुम्बियो की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये चाहता है। साराश यह है कि आधुनिक युग मे कोई भी कार्य बिना मुद्रा के सम्भव नही है। अस्तु, आधुनिक युग को यदि, 'मुद्रा युग' कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी।

अब हम मुद्रा का जोकि आधुनिक युग म एक महत्त्वपूर्ण वस्तु समझी जाती है, विस्तृत विवेचन करगे।

मुद्रा का जन्म तथा विकास (Origin & Growth of Money)

वस्तु विनिमय की आधुनिक असुविधाओ न मुद्रा को जन्म दिया, इसमे तनिक भी सन्देह नही हो सकता। वस्तु-विनिमय के दोषों से छुटकारा पाने के लिये मनुष्य ने इतिहास के आदिकाल मे ऐसी माध्यमिक वस्तुओं को खोजा जोकि सार ससार मे वस्तुओ व सेवाओं के बदले स्वीकार की जाने लगी, जिसके द्वारा समस्त वस्तुओ का मूल्य मापा जा सकता था तथा जिसके द्वारा मूल्य सुगमता से उपविभाजित एव सचित किया जा सकता था। ऐसी मध्यस्थ वस्तु मुद्रा (Money) के नाम से सम्बोधित होने लगी।

भिन्न भिन्न वस्तुओ ने समय और स्थान की भिन्न-भिन्न दशाओं के अनुसार मुद्रा का रूप धारण किया। मानव के आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था म अर्थात् आखेट-युग मे जगली जानवरों की खाल मुद्रा के रूप म प्रयुक्त की गई। पशु पालन

अवस्था में भेड़ और गाय तथा कृषि-अवस्था में व उसके पश्चात् अनाज, तेल, तम्बाकू, नमक, सूती वस्त्र, चमडा, गुलाम, माला के मनिये, सीपें, मूँगा, कौड़ियाँ आदि वस्तुएँ मुद्रा की भाँति प्रयुक्त की जाती थी। अफ्रीका के कुछ भागों में मनुष्य की खोपड़ियों को विनिमय के लिये प्रयोग में लाया जाता था। चीनी लोग बड़े अफीमची थे। अतः उन्होंने अफीम का प्रयोग मुद्रा के स्थान पर बहुत समय तक किया। तात्पर्य यह है कि जिस समय व स्थान पर जिस वस्तु की सभी लोग माँग करते थे, वह वस्तु उस समय तथा स्थान पर विनिमय के काम आने लगी। किन्तु ये सभी वस्तुयें किसी-न-किसी दशा में दूषित पाई गईं, इसलिये कालान्तर में इनका स्थान सोने और चाँदी ने ले लिया। मुद्रा का सबसे नया रूप पत्र-मुद्रा है जो मुद्रा का सबसे अधिक सुविधाजनक एवं मितव्ययी रूप है।

मुद्रा की परिभाषा (Definition)

भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की भिन्न-भिन्न परिभाषायें दी हैं। कुछ ने इसकी परिभाषा संकीर्ण अर्थ में दी है और कुछ ने विस्तृत अर्थ में। संकीर्ण अर्थ में मुद्रा से अभिप्राय केवल धातु मुद्रा (Metallic Money) अर्थात् धातु के सिक्कों से ही होता है। विस्तृत अर्थ में मुद्रा का आशय प्रत्येक प्रकार के विनिमय साधनों से होता है और उसमें धातु-मुद्रा अर्थात् धातु के सिक्के, पत्र-मुद्रा (Paper Money) अर्थात् करेंसी नोट और साख मुद्रा (Credit Money) अर्थात् चैक, बिल ऑफ एक्सचेंज, प्रॉमिसरी नोट व हुण्डियाँ—सभी सम्मिलित किये जाते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री इन दोनों के बीच की परिभाषा देते हैं। उनके अनुसार मुद्रा वह वस्तु है जोकि ऋण के अन्तिम भुगतान में बिना सन्देह के साधारणतया स्वीकार की जा सकती है। इस परिभाषा के अनुसार मुद्रा का आशय केवल धातु मुद्रा अर्थात् धातु के सिक्कों और पत्र मुद्रा अर्थात् करेंसी नोटों से ही होता है। धातु के सिक्कों और कागजी नोटों का लेन-देन कानून की दृष्टि से अनिवार्य होता है। परन्तु चैक, बिल ऑफ एक्सचेंज, हुँडी आदि साख-पत्रों का आदान-प्रदान सर्वथा ऐच्छिक होता है, कानून द्वारा बाध्य नहीं किया जा सकता। अधिकतर इन साख-पत्रों का लेन देन परिचित व्यक्तियों तक ही सीमित होता है। ये सर्वमान्य एवं विधि ग्राह्य (Legal Tender) नहीं होते। अस्तु, इन्हें मुद्रा में सम्मिलित नहीं किया जाता।

मुद्रा के विभिन्न अर्थ निम्नांकित चित्र द्वारा व्यक्त किये गये हैं :—

संकीर्ण अर्थ में मुद्रा = धातु मुद्रा (धातु के सिक्के)

विस्तृत अर्थ में मुद्रा = धातु-मुद्रा (धातु के सिक्के)

पत्र-मुद्रा (करेंसी नोट)

साख-मुद्रा (चैक, बिल, प्रोनोट, हुँडी)

सही अर्थ में मुद्रा = धातु-मुद्रा + पत्र-मुद्रा

चित्र का स्पष्टीकरण—आगे के चित्र से मुद्रा का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। वृत्तखण्ड १ मुद्रा का संकीर्ण अर्थ प्रदर्शित करता है, वृत्तखण्ड १ + २ + ३ मुद्रा का
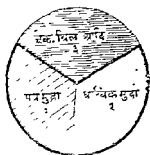
मुद्रा का अर्थ (वृत्तखंड १+२=मुद्रा)

विस्तृत अर्थ प्रकट करते हैं और वृत्तखंड १+२ मुद्रा का सही अर्थ बताते हैं।

मुद्रा की कुछ प्रचलित परिभाषाएँ

यहाँ कुछ प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई मुद्रा की परिभाषाएँ दी जाती हैं।

(१) ऐली (Ely) के अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जो विनिमय के माध्यम के रूप में स्वतन्त्रतापूर्वक एक हाथ से दूसरे हाथ में होकर निकलती है और साधारणतया ऋणों के अन्तिम भुगतान के लिये स्वीकार की जाती है।"[1]

(२) रॉबर्टसन (Robertson) के अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जो माल के भुगतान में अथवा किसी व्यापार-सम्बन्धी दायित्व से मुक्ति पाने के लिये व्यापक रूप से स्वीकार की जाती है।"[2]

(३) जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) इस प्रकार परिभाषित करते हैं। "मुद्रा क्रय-शक्ति है—कुछ ऐसी चीज है जो वस्तुओं के खरीदने में काम आती है।"[3]

(४) मार्शल (Marshall) के अनुसार "मुद्रा में वे सभी वस्तुएँ सम्मिलित की जा सकती हैं जो किसी समय और स्थान पर बिना सन्देह और विशेष जाँच-पड़ताल के वस्तुओं और सेवाओं के क्रय के लिये और व्यय-भुगतान के लिये सामान्यतः चालू होती हैं।"[4]

(५) जे० एम० केन्स (J. M. Keynes) इस प्रकार परिभाषित करते हैं। "मुद्रा वह वस्तु है जिसके भुगतान से ऋण प्रसंविदा तथा मूल्य-प्रसंविदों से छुटकारा मिल जाता है और जिसमें क्रय शक्ति निहित रहती है।"[5]

---

(1) "Money is anything that passss freely from hand to hand as a medium of exchange and is generally received in final discharge of debts" Ely : *Elementary Principles*.

(2) "Money is a commodity which is used to denote anything which is widely accepted in payment of goods or in discharge of any business obligation" Robertson : *Money*, p 21.

(3) "Money is purchasing power—something which buys things" Cole *What everybody wants to know about money*, p 2.

(4) "Money includes all those things which are (at any time and place) generally current without doubt or special enquiry as a means of purchasing commodities and services and of defraying expenses Marshall *Money, Credit and Commerce*, p 13

(5) "Money is that by delivery of which debt contracts and price contracts are discharged and in the shape of which general purchasing power is held. J. M. Keynes *Treatise on Money*, Vol. I

(६) हार्टले विदर्स (Hartley Withers) कहते है "मुद्रा वह पदार्थ है जिससे हम वस्तुएँ खरीदते और बेचते हैं।'[1]

(७) ज्यॉफ्रे क्राउथर (Geoffry Crowther) के शब्दों मे "मुद्रा वह वस्तु है जो विनिमय-माध्यम के रूप में सर्वग्राह्य हो। अर्थात् जिसमें ऋणों का निपटारा किया जा सके और साथ ही साथ मूल्य मापन तथा मूल्य संचय का कार्य करती हो।'[2]

(८) सैलिगमैन (Seligman) या परिभाषित करते है—'मुद्रा वह वस्तु है जिसमें ग्राह्यता होती है।[3]

(९) टॉमस (Thomas) के अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जो समस्त अन्य वस्तुओं के मध्य मूल्य-मापन और विनिमय-साधन के लिए सर्वस्वीकृति से चुनी गई हो।"[4]

(१०) किनले (Kinley) के अनुसार "मुद्रा विनिमय माध्यम का वह भाग है जो विनिमय कार्यों और ऋण भुगतान में स्वतन्त्र रूप में प्रचलित होता है और इसको स्वीकृति में किसी तीसरे पक्ष के दायित्व तथा इसके न चलने पर भुगतान करने वाले के पुन: भुगतान करने की प्रतिज्ञा की कोई आवश्यकता नहीं होती।"[5]

(११) वॉकर (Walker) के शब्दों में 'जो वस्तु सम्पूर्ण ऋण भुगतान के लिये एक दूसरे के प्रति बिना किसी सन्देह के अनिवार्य रूप में हस्तान्तरित होती है तथा जो देने वाले व्यक्ति की साख को पूछ-ताछ के बिना निस्सदेह स्वीकृत होती है, ऐसी किसी भी वस्तु को मुद्रा कह सकते है।"

मुद्रा की एक निश्चित एव सतोषजनक परिभाषा देना कठिन है। अत प्रो० वॉकर (Walker) के ये शब्द कि "मुद्रा वह है जो मुद्रा का कार्य करती है"[6]—मुद्रा की

---

(1) "Money, then, is the stuff with wich we buy and sell things
Hartley Withers . *The Meaning of Money*, p 267.

(2) "As anything that is generally acceptable as a means of exchange (i, e as a means of settling debts) and at the same time acts as a measure and as a store of value"
Geoffry Crowther . *An Outline of Money*, p 35

(3) "Money is one thing that possesses general acceptability"
Seligman : *Priciples of Economics*

(4) "Money is a commodity chosen by common consent to serve as a measure of value and a medium of exchange between all other commodities" Thomas · *Elements of Economics*

(5) "Money is that part of the medium of exchange which *passes freely in exchange and settlements of debts without making the* discharge of obligations contingent on the action of a third party or on the action of the payer by promising if the money article does not pass" —*Kinley*

(6) "Money is what money does"
Walker *Political Economy*.

परिभाषा की कठिनाई के सूचक हैं। वॉकर के अनुसार मुद्रा की परिभाषा वस्तुतः मुद्रा के कार्य ही हैं। इस परिभाषा से हार्टले विदर्स भी सहमत हैं।

ऊपर की परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि मुद्रा वह वस्तु है जो वस्तुओं के बदले एवं ऋण चुकाने के लिये सभी व्यक्तियों द्वारा सहर्ष एवं स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार की जाती हो। दूसरे शब्दों में, वह वस्तु जिसमें सामान्य ग्राह्यता का गुण न हो मुद्रा नहीं कहला सकती। वर्तमान युग में चेक, बिल, हुँडियाँ आदि भी विनिमय-माध्यम का कार्य करते हैं, परन्तु वे विधिग्राह्य (Legal Tender) नहीं हैं और उन्हें कोई भी अपरिचित व्यक्तियों से या संदेहपूर्ण भाव वाले व्यक्तियों से नहीं लेता है। अतः वे स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकृत नहीं किये जाते और न एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास ही आते-जाते हैं। अस्तु, उन्हें मुद्रा नहीं माना जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सब प्रकार के विनिमय-माध्यम मुद्रा नहीं कहे जा सकते यद्यपि सब मुद्रा अनिवार्य रूप से विनिमय-माध्यम होती हैं। इसलिये मुद्रा एक विशेष प्रकार का विनिमय माध्यम है, अर्थात् मुद्रा वह विनिमय-माध्यम है जो सर्वमान्य एवं विधि-ग्राह्य है।

संक्षेप में, मुद्रा विनिमय का वह माध्यम है; चाहे वह धातु का बना हो या कागज का अथवा सरकार या विश्वास-पात्र बैंक द्वारा प्रचलित किये हुए नोट हों जो जन-साधारण द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है और देश के भीतर अपरिचित व्यक्तियों में बिना रुकावट के प्रयुक्त किया जाता है।

मुद्रा के मुख्य लक्षण
(Essential Characteristics of Money)

(१) सर्वग्राह्यता—मुद्रा का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण इसकी सर्वग्राह्यता है अर्थात् इसे सब स्वीकार करें। साधारणतया मान्य होने के लिये यह आवश्यक है कि उस पदार्थ को, मुद्रा के अतिरिक्त उपयोगिता भी हो। यही कारण है कि पुराने समय में गेहूँ, नमक, चमड़ा, जानवर आदि मुद्रा का कार्य करते थे। आधुनिक समय में मुद्रा के मान्य होने के लिये उसका अन्य रूप में उपयोगी होना आवश्यक नहीं है। प्रायः सभी देशों में पत्र-मुद्रा का प्रचलन है। यद्यपि पत्र-मुद्रा की अन्य कोई उपयोगिता नहीं है फिर भी यह मान्य है, क्योंकि कानून ने इसको स्वीकार करना अनिवार्य कर दिया है। अस्तु, मुद्रा का स्वीकार किया जाना इसका मुख्य लक्षण है।

(२) ऋण-मुक्ति—मुद्रा के भुगतान से ऋण की मुक्ति इसका दूसरा लक्षण है। व्यक्ति आपस के ऋणों को मुद्रा द्वारा चुका सकते हैं, सरकारी ऋण भी मुद्रा द्वारा चुकाये जा सकते हैं और सरकार अपने ऋण भी मुद्रा के प्रयोग से चुका सकती है। चेक, बिल, हुँडी आदि साख-पत्रों के भुगतान से ऋण से मुक्ति नहीं मिल सकती, क्योंकि इनके अनादरण (Dishonour) से ऋणी फिर से उत्तरदायी हो जाता है। अतः ये मुद्रा नहीं कहलाये जा सकते।

(३) विनिमय-साध्यता—मुद्रा एक प्रकार का विनिमय माध्यम है, इसका अन्य रूप में प्रयोग नहीं किया जा सकता। कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य हैं जो इसका विनिमय के रूप में प्रयोग कर लाभ उठाने के बजाय संचित रख कर आनन्द उठाते हैं। परन्तु ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं और इनका अध्ययन अर्थशास्त्र के क्षेत्र के बाहर है।

मुद्रा के कार्य (Functions of Money)—मुद्रा अनेक लाभदायक कार्य सम्पन्न करती है जिनमें से मुख्य चार हैं जो वाकर द्वारा दी गई निम्न दो पंक्तियों के रूप में सरलता से स्मरण रखे जा सकते हैं —

Money is a matter of functions four
A medium, a measure, a standard, a store

चार कार्य के हेतु ही मुद्रा वस्तु महान।
माध्यम माप प्रमाण अरु सचय कार्य प्रधान॥

(१) विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange)—विनिमय माध्यमता मुद्रा का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। माध्यम शब्द का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु का क्रय विक्रय इसके द्वारा हो।[1] इसके द्वारा वस्तु विनिमय (Barter) की समस्त कठिनाइयाँ दूर होकर विनिमय कार्य सुगम एवं सरल हो गया है। प्रत्येक वस्तु का क्रय विक्रय आजकल मुद्रा द्वारा ही सम्पन्न होता है क्योंकि इसे प्रत्येक मनुष्य बिना सन्देह के स्वीकार कर लेता है। इसका कारण यह है कि इसमें वह क्रय शक्ति सन्निहित होती है कि जिसके द्वारा मुद्रा पाने वाला जब चाहे तब अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है। यह एक प्रकार से पारपत्रिक वस्तु है, जिसके द्वारा विनिमय कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न किया जाता है। वर्तमान युग में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसका प्रयोग अत्यावश्यक है। इसलिये यह मुद्रा का एक आवश्यक कार्य माना गया है।

(२) मूल्य का माप (Measure of Value)—मुद्रा वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य को नापने का एक साधन है। जिस प्रकार गर्मी थर्मामीटर में मापी जाती है बिजली किलोवाट में मापी जाती है और कपड़ा गज से नापा जाता है उसी प्रकार वस्तुओं और सेवाओं का मूल्यांकन मुद्रा द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त इससे मूल्यों की तुलना भी ठीक ढंग से की जा सकती है जिससे विनिमय-क्षेत्र में बहुत सुविधा होती है। उदाहरणार्थ यदि १ रु० में १ सेर चावल और १ रु० के २ सेर गेहूँ आते हैं तो हम तुरन्त कह सकते हैं कि चावल का मूल्य गेहूँ से दुगना है।

(३) स्थगित या भावी भुगतान का प्रमाण (Standard of Deferred Payment)—मुद्रा स्थगित या भावी लेन देनों के भुगतान का एक सुगम साधन है। आज के युग में साधारणजन एवं व्यापारियों को एक-दूसरे से उधार लेने की आवश्यकता प्रतीत होती है। यदि ऋण मुद्रा की अपेक्षा वस्तुओं के रूप में लिया जाय, तो ऋण चुकाते समय ठीक उसी प्रकार की वस्तुएं लौटाने तथा ब्याज देने में बहुत कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त वस्तुओं के मूल्य में बहुत परिवर्तन होता रहता है जिससे ऋणदाता और ऋणी को हानि उठानी पड़ती है। मुद्रा द्वारा ऋण देने और लेने में इस प्रकार की समस्त कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं। इसलिये मुद्रा द्वारा ही लेन-देन का कार्य किया जाता है। आधुनिक समय में भावी लेन देनों के कार्य का कितना महत्त्व है यह किसी से छिपा नहीं है।

(४) मूल्य का सचय (Store of Value)—साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति अपनी भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कुछ धन संचित करके रखना पसन्द

1—Walker *Political Economy*

करता है। यदि वह वस्तुओं को सचित करता है, तो वे थोड़े समय के पश्चात् सड़-गल सकती है तथा उनके मूल्य में परिवर्तन भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त वे स्थान भी बहुत घेरती है। ऐसी अवस्था में वस्तुओं या जानवरों को धन के रूप में सचित नहीं किया जा सकता। धन सचय करने का कार्य मुद्रा द्वारा भली भाँति सम्पन्न होता है। मुद्रा का किसी भी समय उपयोग हो सकता है तथा उसके नष्ट होने का भय नहीं रहता है और उसके मूल्य में अधिक परिवर्तन नहीं होता। उसकी माँग स्थायी तथा सार्वभौम होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मुद्रा के मूल्य में भी परिवर्तन होता रहता है परन्तु इसके मूल्य में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा बहुत कम परिवर्तन होता है। यद्यपि करेन्सी नोट सचय के लिये इतने अनुकूल नहीं हैं, फिर भी सरकार पुराने नोटों को समय समय पर बदल कर खराब होने से बचाती है। इस प्रकार मुद्रा मूल्य-सचय का सर्वोत्तम एव आदर्श साधन है।

मुद्रा के कार्यों का अन्य प्रकार से विभाजन—कुछ अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के सम्पूर्ण कार्यों को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया है :—

१—प्रमुख या आवश्यक कार्य (Primary or Essential Functions)

२—गौण या सहायक कार्य (Secondary or Derived Functions)

३—सभाव्य या नैमित्तिक कार्य (Contingent Functions)

१—प्रमुख या आवश्यक कार्य (Primary or Essential Functions) मुद्रा के प्रमुख या आवश्यक कार्य वे है जो मुद्रा द्वारा किसी समय तथा किसी भी समाज में आवश्यक रूप से किये जाते है। ये कार्य मुख्यत दो है—(अ) विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange) और (ब) मूल्य का माप (Measure of Value) इनका विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

२—गौण या सहायक कार्य (Secondary or Derived Functions) —मुद्रा के प्रमुख या आवश्यक कार्य वे है जो आर्थिक व्यवस्था की प्रारम्भिक अवस्था में मुद्रा द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, परन्तु गौण या सहायक कार्य समाज का आर्थिक विकास होने के उपरान्त ही दृष्टिगोचर होते है। वास्तव में देखा जाय तो मुद्रा के इन कार्यों की उत्पत्ति इसके प्रमुख या प्रारम्भिक कार्यों से ही होती है, इसी कारण इन्हें गौण या सहायक कार्य (Secondary or Derived Functions) कहा गया है। ये कार्य मुख्यत तीन हैं—(अ) स्थगित या भावी भुगतान का प्रमाप (Standard of Deferred Payment), (ब) मूल्य का सचय (Store of Vaule) और (स) मूल्य का हस्तान्तरण (Transfer of Value)। इनमें से प्रथम दो कार्यों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अत यहाँ पर तीसरे का ही विवेचन किया जाता है।

(स) मूल्य का हस्तान्तरण (Transfer of Value)—मुद्रा मूल्य-सचय करने का सर्वोत्तम साधन होने के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान को तथा एक समय से दूसरे समय को इसका हस्तान्तरण बड़ी सरलता से किया जा सकता है। मुद्रा का

सुविधाजनक रूप होने के कारण उसके स्थानान्तरण अथवा हस्तान्तरण में कोई कठिनाई नहीं होती है।

३. सम्भाव्य या नैमित्तिक कार्य (Contingent Functions)—मुद्रा की सहायता से समाज का विकास हुआ और समाज के विकास के साथ मुद्रा का भी विकास हुआ। मुद्रा का कार्य क्षेत्र दिनों-दिन विस्तृत होता गया और इसी के परिणाम स्वरूप आज हम मुद्रा को अनेकों ऐसे कार्य सम्पन्न करते हुए पाते हैं जिनकी मुद्रा के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में कल्पना तक नहीं हुई होगी। प्रो० किनले (Kinley) के अनुसार हम इन कार्यों को सम्भाव्य या नैमित्तिक कार्य कह सकते हैं। जो निम्नलिखित हैं :

(अ) राष्ट्रीय आय-वितरण का आधार (Basis of distributing National Dividend)—आज के संयुक्त एवं सामूहिक उत्पत्ति के युग में बिना मुद्रा के आय का समुचित वितरण सम्भव नहीं है। आजकल सभी वस्तुएँ बिक्री के लिये उत्पादित की जाती हैं और मुद्रा द्वारा बिक्री करने से संयुक्त आय का सुविधापूर्वक वितरण हो जाता है।

(ब) अधिकतम तृप्ति का साधन (Means of Maximum Satisfaction)—मनुष्य अपनी आय को भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार व्यय करता है कि उन वस्तुओं से मिलने वाली कुल उपयोगिता अधिक-से-अधिक हो। यह कार्य मुद्रा द्वारा ही सम्भव हो सकता है। यदि मुद्रा न होती तो भिन्न भिन्न वस्तुओं पर कितना व्यय करना चाहिए, यह ज्ञात नहीं हो सकता था। अस्तु, मुद्रा द्वारा ही मनुष्य भिन्न-भिन्न वस्तुओं को खरीद कर अधिक से-अधिक उपयोगिता प्राप्त करने में सफल हो सकता है।

(स) साख का आधार (Basis of Credit)—आज की विशाल साख-व्यवस्था मुद्रा द्वारा ही सम्भव है। यदि मुद्रा नहीं होती तो उधार में लेन-देन का काम नहीं हो सकता था। अब मुद्रा के होने से वस्तुएँ उधार लेकर बदले में कभी भी मुद्रा चुकाई जा सकती है। बैंक अपने कोष में कुछ प्रतिशत मुद्रा रखते हैं और उसी के आधार पर वे साख बढ़ाते हैं और क्रय-विक्रय करते हैं इस रोकड़ संचिति (Cash Reserve) के कारण ही उनकी आर्थिक स्थिरता तथा साख के प्रति जनता का विश्वास बढ़ता रहता है और इसी कारण उनके नोट और चैक सरकारी नोटों की भांति विनिमय माध्यम के रूप में चलते रहते हैं।

(द) पूंजी की गतिशीलता में सहायक (Mobility of Capital is facilitated)—मुद्रा पूंजी को गतिशील बनाती है अर्थात् मुद्रा के द्वारा पूंजी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को दिया जा सकता है। मुद्रा के रूप में पूंजी सुगमता से उस व्यापार में लगाई जा सकती है जिसमें अधिकतम आय की सम्भावना हो। इस प्रकार मुद्रा पूंजी को अधिक गतिशील बना देती है और उसकी उपयोगिता में अत्यधिक वृद्धि कर देती है।

(य) पूंजी को तरल बनाने में सहायक (Helps in making capital liquid)—कीन्स (Keynes) जैसे आधुनिक अर्थशास्त्री मुद्रा के इस कार्य पर बहुत बल देते हैं। उनका कहना है कि मुद्रा अपनी सर्वमान्यता के कारण पूंजी को तरल बना देती है। जनता अन्य वस्तुओं को लेने से इन्कार कर सकती है, परन्तु मुद्रा का

विन में कभी इन्कार नहीं कर सकती। तरलता के कारण ही मुद्रा की माँग है। मुद्रा की इसी विशेषता पर लॉर्ड कीन्स का ब्याज का सिद्धान्त आश्रित है।

उत्तम मुद्रा-पदार्थ के गुण[1] (Qualities or Characteristics of good money-material) वैसे तो किसी भी पदार्थ को मुद्रा के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है, परन्तु एक उत्तम या आदर्श मुद्रा पदार्थ के लिये निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है :—

(१) **सर्वमान्यता या उपयोगिता (General Acceptability or Utility)**—मुद्रा पदार्थ ऐसा होना चाहिये कि उस समाज के सभी व्यक्ति स्वीकार करें, अन्यथा उसके द्वारा वस्तुओं का क्रय-विक्रय सम्भव नहीं है। सर्वमान्यता के लिए पदार्थ की उपयोगिता होना आवश्यक है जिससे विनिमय माध्यम के अतिरिक्त उसके निजी मूल्य के कारण भी उसकी माँग हो। सोना-चाँदी इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं।

(२) **वहनीयता (Portability)**—एक उत्तम-मुद्रा पदार्थ में वहनीयता का गुण भी होना चाहिए अर्थात् उसे सुगमता से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सकें। इसके लिये यह आवश्यक है कि थोड़े ही भार या वजन में अधिक मूल्य रखने का सामर्थ्य होना चाहिए। अन्य पदार्थों की तुलना में सोना-चाँदी इस दृष्टि से उत्तम पदार्थ हैं क्योंकि इनकी थोड़ी-सी मात्रा में पर्याप्त मूल्य होता है। किन्तु पत्र मुद्रा वहनीयता में सबसे अधिक श्रेष्ठता रखता है।
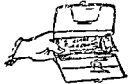
(३) **अक्षयशीलता या नाशहीनता (Durability or Indestructibility)** — मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जो हजारों मनुष्यों के हाथों में से निकलती है। इसलिये वह ऐसे पदार्थ की बनी हुई होनी चाहिए कि शीघ्र ही न घिस जाय अथवा नष्ट न हो जाय। इस दृष्टि से सोने के सिक्के अक्षयशीलता के गुण से परिपूर्ण होते हैं। एक सोने के सिक्के की उम्र लगभग आठ हजार वर्ष होती है। चाँदी यद्यपि इतनी टिकाऊ तो नहीं होती, फिर भी वह बहुत धीरे धीरे घिसती है। अतः सोने-चाँदी के हजारों वर्षों के सिक्के अभी तक भी उपलब्ध होते हैं और उनसे प्राचीन सभ्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। पत्र मुद्रा

1—उत्तम-मुद्रा-पदार्थ के गुणों या विशेषताओं को याद रखने के लिये अंग्रेजी शब्द CUPDISH (कपडिश) बड़ा सार्थक सिद्ध होता है। इस शब्द के प्रत्येक अक्षर से उत्तम मुद्रा पदार्थ के गुणों का बोध होता है। इन गुणों के अतिरिक्त टिकाऊपन या कुट्यता और जोड़ देना चाहिए। इस शब्द के अनुसार मुद्रा पदार्थ के गुण इस क्रम में हैं: Cognisability (परिचयता), Utility (उपयोगिता), Portability (वहनीयता), Divisibility (विभाजकता), Indestructibility (अक्षयशीलता), Stability (स्थिरता), Homogeneity (एकजातीयता), Malleability (कुट्यता या टिकाऊपन)।

बहुत शीघ्र नष्ट हो जाती है। इसी कारण सरकार समय समय पर पुराने नोटों के बदले नये नोट जारी करती रहती है। जेवन्स (Jevons) के अनुसार एक उत्तम मुद्रा के गुण ये हैं ‘इसे मद्य की भांति उड़ना नहीं चाहिए, पशु-पदार्थ की भांति सड़ना नहीं चाहिए लकड़ी की भांति गलना नहीं चाहिए और लोहे की भांति जंग नहीं लगना चाहिए। अंडे सूखी मछली, पशु या तेल जैसी नाशवान वस्तुएँ अवश्य मुद्रा के रूप में प्रयुक्त होती हैं परन्तु जिस वस्तु को हम मुद्रा मानते हैं उसे बाद में किसी दिन शीघ्र ही खा लेना चाहिए।’[1]

(४) सजातीयता (Homogenity)—मुद्रा पदार्थ की किस्म में समानता होनी चाहिए। उसके सब भाग एक से होने चाहिए जिससे कि समान वजन वाले टुकड़ों का समान मूल्य हो। कोई भी पदार्थ मूल्य का मापदण्ड तभी हो सकता है जब

1—It must not evaporate like alcohol nor putrefy like animal substance, nor decay like wood nor rust like iron Destructible articles such as eggs, dried cod fish cattle or oil have certainly been used as currency, but what is treated as money one day must soon afterwards be eaten up —*W S Jevons*, pp 36–37.

कि उसकी इकाइयां प्रत्येक दशा में समान हों। एक ही आकार के दो जवाहरात भिन्न भिन्न मूल्य के हो सकते हैं परन्तु एक ही रूप एक ही आकार और एक ही तौल के दो सोने के टुकड़े प्रायः भिन्न भिन्न मूल्य के नहीं हो सकते क्योंकि इस धातु के प्रत्येक टुकड़े का भौतिक और रासायनिक बनावट एक सी होती है। इसलिए सोने चांदी को मुद्रा बनाने के काम में लाया जाता है परन्तु जवाहरात मुद्रा के लिए अनुपयुक्त होते हैं।

(५) विभाजकता (Divisibility)—मुद्रा पदार्थ ऐसा होना चाहिए कि उसे छोटे छोटे भागों में बांटा जा सके और विभाजन करने में उसका मूल्य कम या नष्ट न हो। सोना और चांदी ऐसे पदार्थ हैं जिन्हें सुगमता से विभक्त किया जा सकता है और उसमें मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनके टुकड़ों को चाहे कितनी ही बार गला दें अथवा मिला दें उनके मूल्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस दृष्टि से हीरा जवाहरात जानवर माल आदि पदार्थ मुद्रा के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं।

(६) कुट्यता या ढलाऊपन (Malleability)—मुद्रा पदार्थ के सिक्के बनाये जाते हैं इसलिए वह ऐसा होना चाहिए कि सुगमता से गलाया जा सके और इच्छानुसार विभिन्न आकार में ढाला जा सके। न तो वह इतना सख्त हो कि वह गल ही न सके और न वह ऐसा मुलायम हो कि मोम की भांति धूप में पिघल जाय या जेब में कपड़े की गरमी पाकर रसदार बन जाय। मुद्रा पदार्थ ऐसा होना चाहिए जिस पर आवश्यक चिह्न और अक्षर स्पष्टतः अंकित हो सकें। सोने चांदी में यह गुण विद्यमान है परन्तु चाहे या प्लैटिनम में इसका अभाव है।

(७) परिचयता (Cognisability)—मुद्रा वस्तु ऐसी होनी चाहिए जो जन साधारण द्वारा सरलता से पहिचानी जा सके। उस पर कुछ ऐसे विशिष्ट चिह्न होने चाहिए जिन्हें देखते ही हर कोई पहिचान ले। जैसे सरकारी नोटों को साधारण से साधारण तथा अनपढ़ से अनपढ़ व्यक्ति भी पहिचान लेता है। सोने चांदी में भी यह गुण विद्यमान है। वे चाहे सिक्के के रूप में हों चाहे धातु के रूप में और चाहे आभूषण के रूप में हों सुगमता से पहिचान जा सकते हैं। जवाहरात या हीरा मोती के साथ यह बात नहीं है। इनको पहिचानने के लिए जौहरी की सहायता लेनी पड़ती है। अतः यह मुद्रा के लिए अनुपयुक्त हैं।

(८) मूल्य की स्थिरता (Stability of value)—मुद्रा वस्तु का मूल्य स्थिर होना चाहिए। जो पदार्थ वस्तुओं और सेवाओं को मूल्य मापने में प्रयुक्त किया

जाता है व जिसके द्वारा धन संचित किया जाता है तथा भावी भुगतान भी होते है, यह आवश्यक है कि उसके मूल्य मे परिवर्तन न हो। समाज की आर्थिक व्यवस्था के लिये मुद्रा वस्तु के मूल्य का स्थिर रहना परमावश्यक है। चाँदी की अपेक्षा सोने मे यह गुण अधिक पाया जाता है, क्योंकि सोने का वार्षिक उत्पादन उसकी विद्यमान मात्रा की तुलना मे बहुत कम है। यही कारण है कि सोने का मूल्य बहुत कुछ स्थिर रहता है, परन्तु चाँदी का मूल्य इतना स्थिर नहीं है। सुव्यवस्थित पत्र मुद्रा की क्रय शक्ति भी स्थिर रखी जा सकती है यद्यपि प्रयोग अधिकारी होने से चलनाधिक्य का भय रहता है।

निष्कर्ष—सोने और चाँदी मे य समस्त गुण पर्याप्त मात्रा मे पाये जाते है। इसीलिये ससार के अधिकांश देशों म इन्हीं का मुद्रा या मुद्रा के आधार के रूप म प्रयुक्त किया जाता है। कम मूल्य के सिक्कों के लिये निकल अथवा ताँबा आदि धातुये अधिक उपयुक्त है, क्योंकि यदि व सोने चाँदी के बनाये जाय, तो वे बहुत ही छोटे होंगे जिसमे उनकी ढलाई और प्रयोग सभव न होगा।

यदि दूसरी ओर भी दृष्टि डाली जाय तो गत ५० वर्षों के आर्थिक इतिहास से ज्ञात होगा कि सोने-चाँदी के मूल्य म अत्यधिक परिवर्तन हुए और देश की आर्थिक व्यवस्था पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। फिर भी यह कहा जा सकता है कि अन्य वस्तुओं की अपेक्षा सोने चाँदी मे कम परिवर्तन हुए है। इन दोनों म भी चाँदी की अपेक्षा सोने म कम परिवर्तन हुए है। अस्तु, सोना और चाँदी सर्वोत्तम तथा आदर्श मुद्रा पदार्थ माने जाते है और ससार के सभी प्रगतिशील देशों ने इनको अपनाया है।

मुद्रा का महत्व (Importance of Money)—आज के सभ्य समाज मे मुद्रा का बड़ा महत्व है। वस्तुओं के क्रय विक्रय, देशी और विदेशी व्यापार बड़े-बड़े उद्योग विशाल उत्पादन-व्यवस्था, सरकारी लेन देन आदि सभी कार्य आजकल मुद्रा द्वारा सम्पन्न किये जाते है। मनुष्य-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे मुद्रा की महत्ता का अनुभव होता है। यहाँ तक कि कलाकार, कवि, लेखक, नाटककार और सम्पादक की सेवाओं को भी मुद्रा से आँका जाता है और उनकी सेवाओं के बदले मे मुद्रा का ही भुगतान किया जाता है। आज छोटे और बड़े सभी लोग अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति मुद्रा द्वारा ही करते है। मुद्रा के बिना कोई भी सरकार अपना शासन एवं सेवा-कार्य सम्पन्न नहीं कर सकती। मुद्रा ही समाज मे प्रतिष्ठा की मापक है। मुद्रा ही एक शक्ति है। जिसके पास जितना ही अधिक द्रव्य होता है वह उतना ही अधिक प्रतिष्ठित माना जाता है। मनुष्य के धर्म और कर्म सभी मुद्रा से प्रभावित होते है। वास्तव मे, मुद्रा मानव आर्थिक विकास का दर्पण है, यह उसकी सभ्यता के इतिहास का सार है।

मुद्रा का समाज मे सदैव से ही सम्मान होता रहा है। महाभारत म मुद्रा का महत्व "अर्थस्य पुरुषो दासः" कहकर बताया गया है। इसी प्रकार तुलसीदासजी की इस पंक्ति से धन की महत्ता प्रकट होती है : "नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।"

कवि होरेस (Horrace) ने लिखा है : "समस्त मानवीय और दैवी वस्तुएँ, ख्याति और सम्मान, मुद्रा के मन्दिर के सामने सिर झुकाती हैं।"[1]

1—"All thing human and divine, renown,
honour and worth at money's shrine go down"
—*Horrace*

प्रो० डेवनपोर्ट (Devanport) ने भी मुद्रा की सामाजिक महत्ता का वर्णन इस प्रकार किया है : 'अधिकाधिक मानवीय प्रयत्न, मानवीय हित व इच्छाएं तथा अभिलाषाएं मुद्रा के सामान्य प्रभुत्व के अधीन है। उत्तम स्वास्थ्य उस व्यक्ति के लिये सुगम है जिसके पास भोजन तथा औषध के लिये, यात्रा करने, परिचर्या करने तथा कुशल डाक्टर की सेवाओं से लाभ उठाने के लिये मुद्रा हो। कुछ सीमा तक प्रेम, दया, आदर और शांति भी बाजार मे खरीदे और बेचे जाते है। समस्त आर्थिक तुलनाएं मुद्रा के रूप मे की जाती है, सौन्दर्य या कला या नैतिक बातो मे नही।"[1]

प्रो० मार्शल (Marshall) ने मुद्रा का महत्त्व इन शब्दो मे बतलाया है। 'मुद्रा वह धुरी है जिसके चारों ओर अर्थशास्त्र केन्द्रित है।"[2]

आदम स्मिथ ने मुद्रा के महत्त्व को इन शब्दो मे प्रकट किया है : "जिस प्रकार आवागमन के साधन होने से एक स्थान का अन्न दूसरे स्थान पर पहुँचाया जा सकता है ठीक उसी प्रकार मुद्रा के होने से एक देश की वस्तुएँ दूसरे देशों मे लाई जा सकती हैं। यदि किसी देश मे बिल्कुल अन्न उत्पन्न न होता हो यहाँ तक कि घास भी पैदा नही होती हो—ऐसे देश को भी मुद्रा की सहायता से अन्न से भरपूर किया जा सकता है।"

जेवन्स (Jevons) नामक एक अर्थशास्त्री ने लिखा है : "क्योंकि हम अपने जीवन के प्रारम्भ मे ही मुद्रा को देखने और प्रयुक्त करने लगे हैं, इसलिये हमे मुद्रा के वास्तविक महत्त्व और उसके द्वारा होने वाले लाभों का अनुभव नही हो पाता। यदि हम समाज के बहुत प्राचीन रूप को देखे जबकि वर्तमान मुद्रा का चिन्ह भी न था, तो हम मुद्रा के न होने से होने वाली कठिनाइयो का सहज ही पूरा पूरा ज्ञान हो जायगा और तभी हम मुद्रा के वास्तविक महत्त्व को समझ भी सकते है।"

रॉबर्टसन (Robertson) नामक एक मुद्राशास्त्री ने लिखा है 'मनुष्य मुद्रा के द्वारा ही अपनी क्रय शक्ति का अनुमान लगाता है। मुद्रा के द्वारा ही समाज मे यह पता लगाया जा सकता है कि लोगो को किस वस्तु की कितनी आवश्यकता है क्या वस्तु पहले बनानी चाहिए और कितनी मात्रा मे बनानी चाहिये तथा उस वस्तु का सर्वाधिक उपयोग कैसे करना चाहिये।'

सारांशत. सभी गुण मुद्रा पर आश्रित हैं।[3] मुद्रा सभ्यता का एक चिह्न है और मानव के आर्थिक विकास का द्योतक है। मुद्रा के द्वारा ही व्यापार, उद्योग और

1—'More and more human efforts human interests and desires and ambitions fall under the common denomination of money Health is easier for him who has the wherewithal to pay for goods foods and medicines to travel and employ good nursing and to command capable physicians and efficient surgeons And in their degree also love and pity, respect and place are bought and sold upon the market All economic comparisons are made in money terms not in terms of beauty or of artistic merit or of moral deserving —Davenport

2—"Money is the pivot around which economic science clusters" Marshall *Money, Credit and Commerce.*

३—सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते

कृषि की उन्नति सम्भव हुई। वास्तव में, मुद्रा ने मानव के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, औद्योगिक, व्यापारिक एवं भौतिक विकास में अति महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसकी महत्ता निम्नांकित क्षेत्रों में विशेष उल्लेखनीय है :—

(१) मुद्रा का सामाजिक महत्त्व—मुद्रा के कारण ही आज हमारा इतना सामाजिक विकास सम्भव हो सका है। बिना इसकी सहायता के आधुनिक सभ्यता के विकास का स्वप्न तक भी नहीं देखा जा सकता था। जब लगान और मजदूरी वस्तुओं में दी जाती थी, तो कृषकों और श्रमिकों को बहुत हानि होती थी और वे सब जमींदारों व पूँजीपतियों के दास थे। आजकल लगान व मजदूरी मुद्रा द्वारा दी जाती है अतः वे लोग स्वतन्त्र हैं और अपने परिश्रम का पूर्ण फल प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार मुद्रा ने दास-प्रथा का अन्त कर और प्रत्येक लेन देन के भुगतान को बजाय वस्तु के रोकड़ में परिणत कर जनता को सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने में पूर्ण सहायता प्रदान की है।

(२) मुद्रा का राजनैतिक महत्त्व—मुद्रा के द्वारा राष्ट्रीय एवं राजनैतिक संगठन में पर्याप्त सहायता मिली है। मुद्रा के आविष्कार के पूर्व देश में न प्रान्तीय और न विदेशी व्यापार था, न आवागमन तथा माल ढोने के आज जैसे साधन थे और न व्यापार की सुविधा के लिये आज जैसे बैंक थे। गाँव-गाँव में आवश्यकता की सभी वस्तुएँ उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता था और वहीं लोग अपनी अपनी वस्तुओं का अदला-बदला कर लिया करते थे। परन्तु मुद्रा के अमूल्य आविष्कार ने आज इन सब अभावों को दूर कर राजनैतिक क्षेत्र में काया-पलट कर दी है। केन्द्रीय बैंक और अन्य विविध प्रकार के बैंकों द्वारा प्रस्तुत सुविधाएँ उत्तम करेंसी प्रणाली विदेशी विनिमय तथा विदेशी व्यापार द्वारा राजनैतिक क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई है। 'धन' ने मुद्रा का रूप धारण कर राज्यों को अपने-अपने भाग्य-निर्माण के लिये स्वतन्त्र कर दिया है। मुद्रा ने ही अमेरिका आदि देशों को अपूर्व राजनैतिक शक्ति प्रदान की है। मुद्रा ने ही प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली को जन्म दिया है। राजनैतिक दास वृत्ति का अन्त, जमींदारी-प्रथा व राजतन्त्री शासन का पतन आदि का मूल कारण मुद्रा ही है। पूँजीवाद, समाजवाद आदि राजनैतिक संगठन इसी के रूप हैं।

(३) आर्थिक महत्त्व—मुद्रा का आर्थिक महत्व इसके सामाजिक एवं राजनैतिक महत्त्वों से कहीं अधिक है। अर्थशास्त्र मुद्रा पर ही आश्रित है। समस्त आर्थिक क्रियाओं का यह माप-दण्ड है। मुद्रा की सहायता से ही हम मनुष्यों की आवश्यकताओं को नाप सकते हैं। जिस प्रकार बजाज गज से कपड़ा नापता है और बनिया मन-सेर-छटाँक से अन्न आदि तौलता है, उसी प्रकार अर्थशास्त्री मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं को मुद्रा द्वारा माप सकता है। मुद्रा ही अर्थशास्त्र का ठूंठ है जिस पर अर्थशास्त्र रूपी वृक्ष खड़ा है। वास्तव में, मुद्रा समस्त आर्थिक क्रियाओं की प्रेरक है। अर्थशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र में इसका महत्त्व देखा जाता है जो निम्नलिखित है :—

(अ) मुद्रा और उपभोग—व्यय के प्रत्येक मद की सीमान्त उपयोगिता, आवश्यकताओं की तीव्रता व किसी वस्तु के उपभोग से प्राप्त तृप्ति आदि समस्त क्रियाओं की माप मुद्रा द्वारा ही होती है। मुद्रा की सहायता से ही उपभोक्ता अपनी सीमित आय से सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम के अनुसार अधिकतम तृप्ति प्राप्त कर सकता है। मुद्रा द्वारा 'उपभोक्ता की बचत की धारणा' का ज्ञान हो सकता है।

(ब) मुद्रा और उत्पादन—आधुनिक बड़े परिमाण की उत्पत्ति, श्रम-विभाजन, विशिष्टीकरण आदि बातें जिनसे उत्पादन-क्षेत्र में बड़ी उन्नति हुई है, मुद्रा के प्रयोग

का ही परिणाम है। मुद्रा के द्वारा ही आज की सयुक्त-उत्पादन प्रणाली को जन्म मिला है। यह मुद्रा के प्रयोग का फल है आज उत्पादन केवल एक स्थान या देश के लिये ही नहीं किया जाता बल्कि विदेशों के लिये भी किया जाता है।

(स) मुद्रा और विनिमय—मुद्रा का जन्म ही विनिमय-कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिये हुआ है। इसने अदला-बदली अर्थात वस्तु-विनिमय की समस्त कठिनाइयों को दूर कर विनिमय कार्य को बड़ा सुगम एव सरल बना दिया है जिससे उपभोग, उत्पादन, वितरण आदि आर्थिक क्रियाओं की सम्पन्नता मे बड़ी सहायता मिली है। देश मे प्रचलित करेन्सी, बैंक-सेवाएँ, चेक, बिल ऑफ एक्सचेंज आदि साख-पत्रों के प्रयोग का लाभ मुद्रा द्वारा ही उपलब्ध हो सका है। देशी और विदेशी व्यापार मुद्रा के ही देन है। अस्तु, विनिमय-क्षेत्र मे इसका अत्यधिक महत्त्व है।

(द) मुद्रा और वितरण—आज की सयुक्त-उत्पादन प्रणाली मे कई उत्पत्ति के साधक एक साथ मिल कर कार्य करते हैं। प्रत्येक को सेवा का मूल्याकन कर उसको अपनी सेवा का पुरस्कार देना मुद्रा का एक विशेष कार्य है। आधुनिक-वितरण-समस्या का हल मुद्रा मे ही सन्निहित है।

(य) मुद्रा और राजस्व - वर्तमान समय मे कर मुद्रा के रूप मे लिया जाता है जो राज्यों के आय का एक साधन है। इस साधन के अभाव मे राज्य अपना शासन-कार्य नहीं चला सकते। इसलिये यह कहा जा सकता है कि राज्यों के कार्य एव उनकी कार्य कुशलता उनके पास की मुद्रा पर निर्भर है। राशि व्यय करते समय अधिकाधिक सामाजिक लाभ का दृष्टिकोण मुद्रा से ही सम्भव हो सकता है।

(४) औद्योगिक विकास—मुद्रा की सहायता से पूंजी मे गतिशीलता आ जाती है और वह उन व्यक्तियों के हाथ मे आ जाती है जो उसका सबसे अच्छा उपयोग कर सकते हैं। इस प्रकार मुद्रा द्वारा सीमित दायित्व की सयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों का जन्म हो जाता है। यह मुद्रा की ही देन है कि आज सयुक्त पूँजी वाली कम्पनियाँ लाखों रुपये थोडे ही समय मे एकत्रित करने मे सफल हो सकी है। इससे बड़े-बड़े उद्योगों को स्थापना हुई और श्रम विभाजन, बडे परिमाण की उत्पत्ति तथा विशिष्टीकरण को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र मे मुद्रा का महत्त्व अत्यधिक है। इसलिये प्रो० मार्शल न ठीक ही कहा है कि "समस्त अर्थशास्त्र मुद्रा पर केन्द्रित है"

मुद्रा के दोष (Evils of Money)—यद्यपि "मुद्रा द्वारा सभी कार्य सिद्ध हो सकते है,"[1] फिर भी मुद्रा अवगुणों से मुक्त नहीं कही जा सकती। मुद्रा को सब दोषों की जड कहा गया है। इसकी पुष्टि लुडविग वॉन मिसेज (Ludwing Von Mises) नामक एक मुद्राशास्त्री के इन शब्दों मे हो जाती है, 'मुद्रा ही चोरी, हत्या, धोखेबाजी व विश्वासघात का मूल कारण है। मुद्रा का दोष उस समय ज्ञात होता है जब वेश्या अपने शरीर को बेच देती है और न्यायाधीश घूस लेकर न्याय के विरुद्ध फैसला दे देता है। मुद्रा का दोष नैतिकवादी उस समय बताते है जबकि

1—Money makes the mare go

वे अधिक भौतिकवाद का विरोध करते है। लोभ मुद्रा से पैदा होता है और लोभ सब पापों की जड है।[1] संक्षेप में मुद्रा निम्नलिखित अवगुणों से दूषित है —

(१) अमितव्ययता—यह सत्य है कि मुद्रा से उधार लेन-देन में सहायता मिलती है परन्तु यह इसका बड़ा भारी दोष भी है। उधार मिलने की सुविधा से लोग अमितव्ययी अर्थात् फिजूलखर्ची बन जाते है और अपनी आय से अधिक व्यय करने लगते है।

(२) मूल्य की अस्थिरता—मुद्रा का एक बड़ा दोष यह है कि इसका मूल्य अर्थात् क्रय शक्ति सदैव पूर्ण रूप से स्थिर नहीं रहती जिससे समाज को बड़ी हानि पहुँचती है। मुद्रा के रूप में होने वाले परिवर्तनों से व्यापार तथा उद्योगों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(३) धन वितरण में असमानता—मुद्रा का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके कारण धन वितरण में असमानता आ जाती है। कुछ ही लोगों के पास बहुत मुद्रा अर्थात् धन इकट्ठा हो जाता है और अधिकांश लोग इससे बिलकुल वंचित ही रहते है। वर्तमान समय का पूँजीवाद (Capitalism) मुद्रा का ही परिणाम है अतः पूँजीवाद के कई दोषों के लिये मुद्रा को ही उत्तरदायी ठहराया जाता है।

(४) भृति (मजदूरी) में प्रतियोगिता की वृद्धि—मुद्रा के कारण भृति अर्थात् मजदूरी में प्रतियोगिता बढ़ती है जिसमें श्रमिकों को हानि होती है। किसी को तो इतना कम मिलता है कि उदरपूर्ति में भी कठिनाई होती है और किसी को इतना अधिक मिलता है कि वह उसे संचित कर पूँजीपति बन बैठता है। यदि मुद्रा के स्थान में वस्तुएँ होतीं तो इस प्रकार का संचय सम्भव नहीं हो सकता था।

(५) भयंकर युद्धों को जन्म मिलना—मुद्रा ने केवल राजनैतिक क्षेत्र एवं जनन त्मक संस्थाओं में ही दोष उत्पन्न नहीं किये है बल्कि यह भयंकर युद्धों को भी जन्म देती है जिससे धन जन आदि का बड़ा परिमाण में विनाश होता है। वास्तव में, मुद्रा आधुनिक पूँजीपति वर्ग का जीवनाधार है। जैसा कि रस्किन (Ruskin) ने कहा है मुद्रा के दैत्यों (शैतानों) ने सब जीवन धारण कर लिये है। किसी भी धर्म या दर्शन में शक्ति नहीं जो उन्हें निकाल बाहर कर सके।[2]

निष्कर्ष—मुद्रा के लाभ और दोषों पर यदि विचार किया जाय तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि मुद्रा के लाभ इसके दोषों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

1— Money is regarded as the cause of theft and murder of deception and betrayal Money is blamed when the prostitute sells her body and when the bribed judge perverts the law It is money against which the moralist declaims when he wishes to oppose excessible materialism Significantly enough avarice is called the love of money and all evil is attributed to it

Ludwing Von Mises *The Theory of Money & Credit* p 93

2— The devils of money have come to possess their souls No religion or philosophy seems to have the power of driving them out —*Ruskin*

यदि प्रयत्न किया जाय तो मुद्रा के कुछ दोष दूर किये जा सकते हैं। सारांश यह है कि मुद्रा-नीति को इस प्रकार काम में लाना चाहिए कि वह मानव जाति का कल्याण करे। तभी मुद्रा से होने वाले लाभों का अधिकाधिक उपयोग किया जा सकेगा।

मुद्रा का वर्गीकरण (Classification of Money)—मुद्रा का वर्गीकरण भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न प्रकार से किया है। परन्तु इसका मुख्य वर्गीकरण निम्न प्रकार से है :—
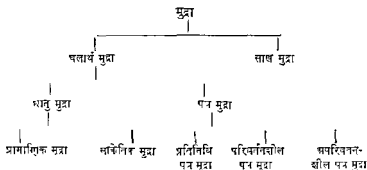
मुद्रा के मुख्यतः दो भेद हैं—(१) चलार्थ मुद्रा और (२) साख मुद्रा।

(१) चलार्थ मुद्रा (Currency Money)—जो मुद्रा बिना किसी संकोच के लेन-देन के प्रयोगों में आती है वह चलार्थ मुद्रा कहलाती है। जैसे भारतवर्ष में रुपये, कागजी नोट तथा अन्य छोटे-बड़े सिक्के चलार्थ या करैन्सी मुद्रा कहलाते हैं। इसे वास्तविक मुद्रा (Actual Money) भी कहते हैं, क्योंकि देश में इनके द्वारा ही समस्त वस्तुओं का क्रय विक्रय, ऋणों का भुगतान तथा साधारण क्रय शक्ति का संचय किया जाता है।

(२) साख मुद्रा (Credit Money)—वह मुद्रा जो विनिमय माध्यम तो है परन्तु जिसका चलन साख पर निर्भर है साख मुद्रा कहलाती है। जैसे बैंक नोट व ड्राफ्ट, चैक, बिल ऑफ एक्सचेंज इत्यादि। इसे ऐच्छिक मुद्रा (Optional Money) भी कहते हैं क्योंकि इन वस्तुओं का चलन इच्छा पर निर्भर है अर्थात् इन्हें स्वीकार करने के लिये कोई भी व्यक्ति बाध्य नहीं किया जा सकता।

चलार्थ मुद्रा का वर्गीकरण। चलार्थ मुद्रा का रूप (Form) और चलन (Currency) के अनुसार हम पृथक्-पृथक् वर्गीकरण कर सकते हैं। रूप के हिसाब से चलार्थ मुद्रा दो प्रकार की होती है—(१) धातु मुद्रा और (२) पत्र मुद्रा।

(१) धातु मुद्रा (Metallic Money)—वह मुद्रा है जो धातु की बनी या धातु पर छपी हुई हो। जैसे भारतवर्ष में लोहे व निकिल के बने हुए रुपये, अठन्नी व चवन्नी तथा निकल की बनी हुई दुअन्नी व दस, पाँच व दो नये पैसे के सिक्के और तांबे व पीतल का बना हुआ एक नया पैसा, धातु मुद्रा हैं। धातु मुद्रा को सिक्के

(Coins) कहते है जो सर्वमान्य धातु से निश्चित भार तथा रूप में सरकारी टकसालों (Mints) में ढाले जाते हैं। उन पर राज्य के चिन्ह, उनका मूल्य, ढलाई का समय आदि बातें अंकित कर दी जाती है और उनके किनारे वैज्ञानिक ढंग से इस प्रकार बनाये जाते हैं कि उनका अवैधानिक ढंग पर ढाला जाना सम्भव न हो सके।

(२) पत्र-मुद्रा (Paper Money)—सरकार तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रचलित करेन्सी नोट पत्र-मुद्रा कहलाते हैं। इन नोटों के ऊपर राज्य-चिन्ह, मूल्य तथा मूल्य को मुद्रा में चुकाने की प्रतिज्ञा छपी रहती है। आजकल सभी सभ्य एवं उन्नत देशों में पत्र-मुद्रा का बढ़ता हुआ प्रचार देखा जाता है। भारतवर्ष में सरकार तथा रिज़र्व बैंक द्वारा प्रचलित १ रु०, २ रु०, ५ रु०, १० रु०, १०० रु० के नोट पत्र-मुद्रा के अन्तर्गत आते हैं। भारत सरकार के १ रु० के नोट के अतिरिक्त सभी नोटों का भुगतान धातु मुद्रा में रिज़र्व बैंक के किसी भी निर्गमन कार्यालय (Issue office) में माँगने पर नोट वाहक को दिया जा सकता है।

चलन या कानूनी दृष्टि से भी मुद्रा दो प्रकार की होती है—(१) असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा (Unlimited Legal Tender Money), और (२) सीमित-विधि ग्राह्य मुद्रा (Limited Legal Tender Money)

विधि ग्राह्य (Legal Tender) मुद्रा का अर्थ—पूर्व इसके कि विधि ग्राह्य मुद्रा के भेदों का विवेचन किया जाय, विधि ग्राह्य मुद्रा का अर्थ समझ लेना चाहिये। विधि-ग्राह्य मुद्रा वे सिक्के तथा नोट है जिन्हे विधि (कानून) द्वारा ऋण तथा सेवादि के बदले भुगतान में स्वीकार करने के लिये बाध्य किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, साख मुद्रा को छोड़कर जिसमें बैंक नोट, ड्राफ्ट, चैक आदि सम्मिलित है, सामान्यतः अन्य सब मुद्रा विधि-ग्राह्य है। यदि कोई विधि ग्राह्य मुद्रा को अपने भुगतान में स्वीकार करने से इन्कार करे तो यह कानूनी अपराध होगा और उसे कानून के अनुसार दंड भुगतना पड़ेगा।

विधि ग्राह्य मुद्रा के भेद—विधि ग्राह्य मुद्रा के दो भेद किये जा सकते है—(१) असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा और (२) सीमित विधि-ग्राह्य मुद्रा।

(१) असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा—वे सिक्के तथा कागजी नोट हैं जिन्हे भुगतान में किसी भी मात्रा में स्वीकार करने के लिये कानून द्वारा बाध्य किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, भारतवर्ष में विभिन्न मूल्यों के नोट, रुपया तथा अठन्नी असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा है क्योंकि इनकी सहायता से लाखों और करोड़ों रुपयों (अर्थात असीमित मात्रा में) का भुगतान अनिवार्य रूप से किया जा सकता है।

(२) सीमित विधि ग्राह्य मुद्रा—वे सिक्के हैं जिन्हे ऋण भुगतान में किसी नियत सीमा तक ही स्वीकार करने के लिये बाध्य किया जा सकता है। जैसे भारतवर्ष में पच्चीस, दस, पाँच, दो व एक नया पैसा, इकन्नी और पैसा सीमित विधि ग्राह्य मुद्रा हैं क्योंकि भुगतान में इनका प्रयोग केवल १० रु० तक ही अनिवार्य रूप से किया जा सकता है।

विधि-ग्राह्यता परिवर्तनशील है—सरकार किसी भी नोट या सिक्के को विधि-ग्राह्य होने से बन्द कर सकती है। जैसे पुराने १८० ग्रेन के रुपये जिनमें ११/१२ शुद्ध चाँदी थी, अब भारतवर्ष में विधि-ग्राह्य (Legal Tender) नहीं हैं। सन् १९४६ ई० में भारत सरकार ने ५०० १००० व १०,००० रुपयों के नोटों को अविधि ग्राह्य घोषित कर दिया। साधारणतया इसका उद्देश्य चलार्थ (Currency) के अनुत्पादित संचय (Hoarding) को बन्द करना होता है।

धातु-मुद्रा (Metallic Money)—वर्तमान युग में धातु-मुद्रा ने सिक्कों का रूप धारण कर लिया है। प्राचीन समय में सोने-चाँदी जैसे बहुमूल्य धातु को पासों, छड़ों व कीलों आदि के रूप में प्रयुक्त करते थे। विनिमय के समय प्रत्येक बार उनकी तौल और परीक्षा करनी पड़ती थी तथा इस कार्य के लिये लोग अपने साथ बाँट, नाप, पैमाने और कसौटियाँ लेकर चलते थे। यह भारग्राह्य या तौल द्वारा मुद्रा-प्रणाली (System of Currency by weight) असुविधाजनक सिद्ध हुई और इसने व्यापार-विकास में बहुत बाधा पहुँचायी तथा ठगों और धोखेबाजों को दूसरों को ठगने व धोखा देने का अवसर दिया। इन बातों से बचने के लिये धातु के पासों और टुकड़ों पर विशेष चिन्ह और मुहर अङ्कित की जाने लगी जो उनके तौल और शुद्धता को प्रमाणित करती थी। अब प्रत्येक बार सिक्कों को तोलने और उनकी परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं रही, बल्कि गिनने मात्र से ही मुद्रा का लेन देन होने लगा। इस प्रकार तौल द्वारा मुद्रा प्रणाली का स्थान गणनग्राह्य या गिनती द्वारा मुद्रा प्रणाली (System of Currency by tale or Counts) ने ले लिया। यहाँ से ही सिक्कों का प्रारम्भ होता है। कालान्तर में सिक्कों के किनारों से बारीक कटाई (Clipping) होने लगी, तेजाब या अन्य तीव्र रसायन के प्रयोग से धातु की मात्रा कम (Sweating) की जाने लगी तथा उनको थैले में डालकर और हिला कर उनमें से छोटे छोटे कण अलग (Abrasion) किये जाने लगे। तब इन सब बातों से बचने के लिये सिक्कों पर अङ्कित चिन्ह अधिकाधिक जटिल तथा उनके किनारे धारीदार या गिरीदार (Milled) बनाये जाने लगे। इस प्रकार वर्तमान सिक्का का जन्म हुआ।

सिक्कों (Coins) की परिभाषा—प्रो० जेवन्स (Jevons) ने सिक्कों की परिभाषा इस प्रकार दी है। "सिक्के धातु के ऐसे टुकड़े (Ingots) होते हैं जिनका भार तथा शुद्धता उन पर अंकित मुहर द्वारा प्रमाणित होती है।"[1]

आदर्श या उत्तम सिक्का प्रणाली के लक्षण—एक आदर्श या उत्तम सिक्का-प्रणाली में निम्न गुण होने चाहियें —

(१) **सिक्कों में समानता होनी चाहिये**—सिक्कों में समानता होनी चाहिये अर्थात् एक ही मूल्य के सब सिक्के तौल और आकार में बिल्कुल एकसे होने चाहियें।

1—Coins have been defined as "ingots of which the weight and fineness are certified by the integrity of designs impressed upon the surfaces of the metal."

W. S. Jevons: *Money and the Mechanism of Exchange*, p. 57.

(२) एक ही मूल्य के सब सिक्के तोल में बिल्कुल सही (Accurate) होने चाहियें—एक मूल्य के सब सिक्के तोल में बिलकुल सही होने चाहिए। यदि कोई सिक्का भारी हुआ और कोई हल्का हुआ तो भारी सिक्का को लोग गलाने लगेंगे और केवल हल्का सिक्का ही बाजार में रह जायगा।

(३) सिक्के की बनावट, आकृति और तोल सुविधाजनक होना चाहिये—देश में प्रचलित सिक्कों का बनावट, तोल और आकृति ऐसी होनी चाहिये जिससे उनके रखने और ले जाने में सुविधा रहे और बेईमान लोग उनमें से धातु न चुरा सकें। प्रायः गोल सिक्के ही इस काम के लिये उत्तम रहते है।

(४) जालसाजी से नकली सिक्कों का निर्माण रोका जा सके—सिक्के ऐसे होने चाहिये कि जिनको नकल करके दूसरे सिक्के बनाना लोगों के लिए सम्भव न हो सके।

(५) कपटपूर्ण सिक्कों से धातु के कण हटाने से रोका जा सके—सिक्के ऐसे होने चाहिये कि जिनमें से किसी भी प्रकार से धातु के कण हटाना सम्भव न हो सके।

(६) सिक्के टिकाऊ होने चाहिये—सिक्के सख्त होने चाहिये जिससे चलते-चलते रूप रंग और आकार में शीघ्र ही कोई विशेष खराबी न आये।

(७) सिक्के कलात्मक एवं ऐतिहासिक स्मारक होने चाहिए—सिक्के उन्हें प्रचलित करने वाली सरकार तथा प्रयुक्त करने वाले व्यक्तियों का कलात्मक एवं ऐतिहासिक स्मारक होते चाहिए।

(८) सिक्के सरलता से पहचाने जा सकें—सिक्के ऐसे होने चाहिये कि जिनसे लोग सरलता से पहिचान सकें और अच्छे बुरे का भेद कर सकें।

धातु-मुद्रा या सिक्कों से लाभ (Advantages)

१—सिक्कों के प्रयोग के कारण धातु के तोलने और परखने की आवश्यकता नहीं रहती।

२—सिक्कों की शुद्धता तथा भार सरकार द्वारा प्रमाणित होने के कारण मनुष्य धोखेबाजी से सुरक्षित रहते है।

३—सिक्कों के किनारे वैज्ञानिक ढङ्ग से बने होने के कारण उनकी नकल करना कठिन होता है तथा काट-छाँट कर उनमें से धातु के चोरी हो जाने की सम्भावना नहीं रहती।

४—सिक्के मिश्रित धातु के बनाये जाने के कारण कड़े होते है जिससे सिक्का की घिसावट कम होती है और मूल्यवान् धातु नष्ट होने से बच जाती है।

५—सिक्कों का आकार ऐसा होता है कि उनके प्रयोग से जनता को बड़ी सुविधा रहती है।

६—सिक्कों पर सुन्दर चित्र और राष्ट्रीय स्मारक अंकित किये जा सकते हैं। जिससे उनका ऐतिहासिक महत्व भी बढ़ाया जा सकता है।

७—सिक्के अधिक टिकाऊ, सरलता से पहिचाने जाने वाले तथा सुविधाजनक संचय करने योग्य होते हैं।

सिक्का-ढलाई (Coinage)—धातु के किसी निश्चित तोल के टुकड़े को मुद्रा का रूप देने और उसके मूल्य आदि को उस पर अंकित करने को सिक्का-ढलाई या टकन कहते हैं। आजकल संसार के सभी सभ्य देशों में यह कार्य वहाँ की सरकारों द्वारा सम्पन्न होता है जिसमें सब सिक्के एक ही प्रकार के और एक ही मूल्य के हो सकें और लोगों को उनकी शुद्धता और भार जाँचने और तौलने की आवश्यकता न हो। जिस स्थान पर सिक्के ढाले जाते हैं उसे टकसाल (Mint) या टकशाला कहते हैं। हमारे देश में मुख्य टकसालें बम्बई और कलकत्ते में हैं।

सिक्का-ढलाई के भेद—सिक्कों की ढलाई निम्न प्रकार से होती है :—
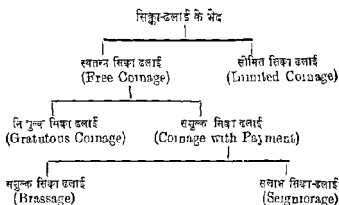
(१) स्वतन्त्र सिक्का ढलाई (Free Coinage)—जब सरकार द्वारा यह अधिकार हो कि जनता का कोई भी व्यक्ति अपनी धातु ले जाकर सरकारी टकसाल में उसके सिक्के ढलवाले, तो इसे हम स्वतन्त्र सिक्का ढलाई या अबाध टकन कहेंगे। स्वतन्त्र सिक्का ढलाई प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त होता है कि वह सोना चाँदी या अन्य कोई धातु ले जाकर सरकारी टकसाल में सिक्के बनवाले। भारतवर्ष में सन् १८९३ में हर्शल (Herschell) कमेटी की सिफारिश के अनुसार रुपये की स्वतन्त्र सिक्का ढलाई बन्द कर दी गई। इङ्गलैंड में सन् १९३१ तक स्वतन्त्र सिक्का ढलाई प्रचलित थी।

(२) सीमित सिक्का ढलाई (Limited Coinage)—जब जनता को स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई का अधिकार प्राप्त न हो, अर्थात् सरकार धातु खरीद कर अपनी ही ओर से सिक्के ढालती हो तो इसे सीमित सिक्का-ढलाई कहेंगे। भारतवर्ष में सन् १८९३ के पश्चात् और इङ्गलैंड में सन् १९३१ के बाद सीमित सिक्का ढलाई हो गई।

स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई के प्रकार—जब सिक्का-ढलाई का अधिकार सरकार द्वारा जनता को होता है, तो सरकार सिक्के निःशुल्क या मुफ्त में भी ढाल सकती है अथवा सिक्के ढालने वाले से केवल लागत-व्यय या इससे भी अधिक वसूल कर सकती है। जो फीस वसूल की जाती है उसे सिक्का ढालने या बनाने की फीस अथवा शुल्क (Mintage) कहते हैं। प्रायः यह फीस अलग न लेकर धातु में से ही काट ली जाती है। फीस लेने या नहीं लेने की दृष्टि से सिक्के-ढलाई के तीन भेद किये जा सकते हैं जो निम्नलिखित हैं :—

(अ) निःशुल्क सिक्का-ढलाई (Gratuitous Coinage)—जब सरकार सिक्का ढालने के लिये जनता से कुछ भी लागत वसूल नहीं करती, तब इसे निःशुल्क सिक्का ढलाई कहते हैं। जब सिक्का की ढलाई निःशुल्क होती है, तो जितनी धातु का एक सिक्का बनता है उसके मूल्य और सिक्के के अंकित मूल्य में कोई अन्तर नहीं होता। उदाहरणार्थ, सन् १८३१ ई० के पूर्व एक औंस सोने के बदले में टकसाल ३ पौण्ड, १७ शि० और १०½ पें० तुरन्त दे देती थी। कुछ समय पूर्व तक इङ्गलैंड और अमेरिका में यह प्रणाली प्रचलित थी।

(ब) सशुल्क सिक्का ढलाई (Brassage)—जब सरकार सिक्का ढलाई पर उतना ही शुल्क लेती है जितना सिक्का ढालने में उसका खर्च पड़ता है, तो उसे सशुल्क सिक्का-ढलाई या टाँका कहते हैं। इस प्रथा के अन्तर्गत सिक्का-ढलाई का शुल्क या फीस धातु में से काट लेते हैं। अतः इस प्रकार जो सिक्के बनते हैं, उनके अंकित मूल्य और धातु के वास्तविक मूल्य में कुछ अन्तर आ जाता है। फ्रांस में इसी प्रथा का प्रचार है।

(स) सलाभ सिक्का-ढलाई (Seigniorage)—जब सरकार सिक्का-ढलाई पर लागत-व्यय से अधिक शुल्क वसूल करती है, तो इसे सलाभ सिक्का-ढलाई या सिक्का ढलाई-कर कहते हैं। उदाहरणार्थ, सन् १८४३ के पूर्व रुपये में १६५ ग्रेन चाँदी तथा १५ ग्रेन अन्य धातु थी, उसमें चाँदी का मूल्य केवल ९ आने २¾ पाई था किन्तु रुपये का अंकित मूल्य १६ आने होने से उस पर ६ आने ९¼ पाई प्रति रुपया सिक्का-ढलाई या टङ्कण लाभ लेती थी। इस प्रथा के अन्तर्गत सिक्के का अंकित मूल्य इसकी वास्तविक धातु के मूल्य से अधिक होता है। इस प्रकार सिक्के को पिघला कर धातु प्राप्त करने का लालच नहीं रह जाता। यह शुल्क जनता से दो प्रकार से वसूल किया जाता है : (१) शुल्क के मूल्य के बराबर धातु निकाल कर उससे कम मूल्य वाली धातु (Alloy) मिला दी जाती है। (२) निर्धारित शुल्क अलग से वसूल कर लिया जाता है। सिक्के-ढलाई में लाभ लेने की प्रथा केवल इसलिये प्रचलित हुई कि जनता टकसालों पर अत्यधिक काम न लाद दे। स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई मुद्रा-स्फीति (Inflation) व चलनाधिक्य (Over-issue) को रोकती है।

सरकार प्रत्येक सांकेतिक (Token) सिक्का ढालने में यह लाभ वसूल करती है। हमारे देश में तो सरकार अत्यधिक सिक्का-ढलाई लाभ वसूल करती है।

उदाहरण—मान लीजिये भारतवर्ष में स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई-प्रथा प्रचलित है। यदि आप चाँदी देकर बिना किसी खर्चे के उसके सिक्के ढलवा सकते हैं, तो यह

निःशुल्क मुद्रा-ढलाई कही जायगी। मान लीजिये चाँदी का एक रुपया बनाने में दो आने व्यय होते हैं। यदि सरकार जनता से दो आने ही वसूल करे तो इसे 'सशुल्क सिक्का ढलाई' कहेंगे और इस शुल्क को टकसाली या टंकन व्यय अथवा टंका (Brassage or Mintage) कहेंगे। यदि सरकार दो आने व्यय करे परन्तु जनता से तीन आने वसूल करे तो इसे सलाभ सिक्का ढलाई' कहेंगे और एक आने को 'टकसाली-लाभ (Seignorage) कहेंगे।

सिक्कों की निकृष्टता या खोटापन (Debasement)—सरकार द्वारा सिक्के का तोल या शुद्धता अथवा दोनों को कम करने को सिक्के की निकृष्टता कहते हैं। प्रायः आर्थिक संकट के समय सरकार सिक्के ढालने में कानून द्वारा निश्चित अच्छी धातु की मात्रा को कम करके सस्ती धातु की अधिक मिलावट कर देती है और कभी-कभी अच्छी धातु कम करके उसके भार को भी कम कर देती है। अस्तु, मुद्रा के ढालने में अच्छी धातु को कम करने की क्रिया को निकृष्टता (Debasement) कहते हैं। उदाहरणार्थ भारतीय मुद्रा-कानून के अनुसार रुपये में सन् १९४१ से पूर्व १६५ ग्रेन शुद्ध चाँदी और १५ ग्रेन मिली हुई धातु थी। परन्तु उसके पश्चात् इसमें ९० ग्रेन मिली हुई धातु रह गई। इसी को 'निकृष्टता' कहते हैं। निकृष्टता अनियमित होती है, अस्तु सरकार के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों द्वारा यह कार्य अवैध एवं दण्डनीय होता है। राज्य द्वारा निकृष्टता राजाओं के समय में हुआ करती थी। जनतन्त्रात्मक शासन में सरकार इस प्रकार के अनियमित कार्य नहीं करती, क्योंकि सरकार की साख उठ जाती है और जनता में असन्तोष उत्पन्न हो जाता है। जनता द्वारा जाली सिक्के बनाने तथा सिक्कों को काटने तथा छीलकर बिगाड़ने पर कड़ा दण्ड दिया जाता है। फिर भी लोग निम्नलिखित विधियों से यह अवैध कार्य करते रहते हैं :—

(१) आकर्तन (Clipping) सिक्कों के किनारों से तेज चाकू या अन्य शस्त्र से बहुत सूक्ष्म भाग कतर लिया जाता है।

(२) घुलन (Sweating)—तेजाब अथवा अन्य रासायनिक पदार्थों में सिक्कों को डालकर धातु निकाल ली जाती है।

(३) सघर्ष (Abrasion)—बहुत से सिक्कों को एक थैली में डालकर जोर से हिलाया जाता है जिससे धातु के कण झड़ जाते हैं।

सिक्कों की निकृष्टता को रोकने का उपाय—इस प्रकार सिक्कों की कटाई और घिसाई को रोकने के लिये सरकार सिक्कों के किनारों पर धारी या गिर्री (Milling) डालने लगी तथा उनकी शुद्धता एवं तोल को प्रमाणित करने के लिये उन पर सुन्दर चिन्ह अङ्कित किये जाने लगे।

मुद्रा ह्रास, निकृष्टता और अवमूल्यन में अन्तर

(Difference between Depreciation, Debasement & Devaluation)

सरकार द्वारा अथवा अन्य किन्हीं कारणों से मुद्रा के आवश्यकता से अधिक प्रसार (मुद्रा स्फीति) के कारण मुद्रा के मूल्य में ह्रास हो जाने अर्थात् उसकी क्रयशक्ति गिर जाने को मुद्रा ह्रास (Depreciation) कहते हैं। जैसे गत महायुद्ध में तथा

उसके बाद आवश्यकता से अधिक मुद्रा के प्रचलन अर्थात् मुद्रा-स्फीति के कारण मुद्रा का मूल्य गिर गया यानी उसकी क्रय-शक्ति में ह्रास हो गया जिसके कारण वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो गई।

सरकार द्वारा सिक्के के तोल (Weight) या शुद्धता (Fineness) अथवा दोनों को कम करने को निकृष्टता (Debasement) कहते हैं। उदाहरणार्थ, सन् १६४१ से पूर्व हमारे देश के रुपये में १६५ ग्रेन शुद्ध चाँदी तथा १५ ग्रेन खोट होता था। इसके पश्चात् उसमें चाँदी और खोट की मात्रा ६०-६० ग्रेन कर दी गई। सन् १६४७ के पश्चात् जो रुपये जारी किये गये हैं उनमें चाँदी नहीं के बराबर है अर्थात् वह गिलट का है। इस प्रकार भारतीय रुपया सन् १६४१ के पश्चात् 'निकृष्ट' होता चला गया।

सरकार द्वारा देश के विनिमय दर को कम करने को अवमूल्यन (Devaluation) कहते हैं। यह तब किया जाता है जबकि देश के भीतर का मूल्य-स्तर निरन्तर प्रयत्न करने पर भी न घटता हो और इस कारण विदेशों को सामान निर्यात करने में कठिनाई आती हो। अवमूल्यन करने से इस देश की मुद्रा विदेशियों के लिये सस्ती हो जाती है और वे इस देश से सामान खरीदने लगते हैं। इसके विपरीत देश के लोगों के लिये विदेशी मुद्रा महँगी हो जाती है और वे विदेशों से माल खरीदना कम कर देते हैं। इस प्रकार इस देश का निर्यात बढ़ जाता है और आयात कम हो जाता है। १७ सितम्बर १६४६ को इंगलैंड ने पौण्ड स्टर्लिंग की विनिमय दर डालर के रूप में ४·०३ से घटा कर २·८० कर दी। इसी प्रकार भारतवर्ष ने भी १६ सितम्बर को रुपये की विनिमय दर डालर के रूप में ३०·२२५ सेंटों से घटा कर २१ सेंटों के बराबर कर दी। इसी को 'अवमूल्यन' कहते हैं।

सिक्कों के भेद—सिक्के दो प्रकार के होते हैं—

(१) प्रामाणिक सिक्का (Standard coin) और (२) सांकेतिक सिक्का (Token Coin)।

(१) प्रामाणिक सिक्का (Standard Coin)—प्रामाणिक सिक्का उसे कहते हैं जिसका अंकित मूल्य (Face Value) उसके वास्तविक मूल्य (Intrinsic Value) के बराबर होता है, जो देश का मुख्य सिक्का (Principal Coin) होता है, जो असीमित विधिग्राह्य (Unlimited Legal Tender) होता है तथा जिसकी स्वतन्त्र ढलाई (Free Coinage) होती है। इसका अंकित मूल्य तथा वास्तविक मूल्य बराबर होने के कारण इसे पूर्णकाय सिक्का (Full Bodied Coin) कहते हैं। सितम्बर सन १६३१ के पूर्व इंगलैंड में सोने के सिक्के प्रामाणिक सिक्के थे। भारतवर्ष में यहाँ अब में कोई भी प्रामाणिक सिक्का नहीं है। हमारा प्रामाणिक सिक्का रुपया है, क्योंकि यह देश का प्रमुख सिक्का है और असीमित विधिग्राह्य है। यह सांकेतिक सिक्का भी है, क्योंकि इसका अंकित मूल्य वास्तविक मूल्य से अधिक है और इसकी सीमित मुद्रा-ढलाई होती है। इस मिश्रित गुण के कारण ही से संकेतात्मक प्रामाणिक सिक्का (Token Coin) कहते हैं।

सांकेतिक सिक्का (Token Coin) उसे कहते हैं जिसका अंकित मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से अधिक होता है, जो देश का सहायक सिक्का (Subsidiary Coin) होता है, जो सीमित विधिग्राह्य (Limited Legal Tender) होता है तथा जिसकी सीमित सिक्का-ढलाई होती है। भारतवर्ष में चवन्नी, इकन्नी पैसा, दस, पाँच दो एक नया पैसा आदि सिक्के सांकेतिक सिक्के हैं, क्योंकि ये सीमित विधिग्राह्य हैं अर्थात् किसी को इन्हें भुगतान में स्वीकार करने के लिये केवल १० रुपया तक ही कानून द्वारा बाध्य किया जा सकता है। ये सहायक सिक्के हैं क्योंकि ये रुपये के अतिरिक्त चलते हैं। सांकेतिक सिक्कों को आदेश या कानूनी सिक्के (Fiat Coins) भी कहते हैं, क्योंकि उनका मूल्य सिक्के के वास्तविक मूल्य पर निर्भर न रहकर राज्य की आज्ञा पर निर्भर रहता है। सांकेतिक सिक्कों का निर्माण मुख्यतः तीन कारणों से होता है। पहला कारण यह है कि पूर्णकाय सिक्कों की अपेक्षा ये सिक्के सस्ते पड़ते हैं। दूसरा, सांकेतिक सिक्कों के गलने की आशंका कम होती है। तीसरा, छोटी-छोटी राशि का विनिमय सुविधापूर्वक करने के लिये ये सिक्के चलाये गये। कभी-कभी इन सिक्कों की धातु के मूल्य में इतनी वृद्धि हो जाती है कि ये पूर्णकाय सिक्के हो जाते हैं। तब ये गलाये भी जा सकते हैं और संचित भी किये जाते हैं।

प्रामाणिक और सांकेतिक सिक्कों का भेद

प्रामाणिक सिक्के	सांकेतिक सिक्के
१—प्रामाणिक सिक्कों का अंकित मूल्य और वास्तविक मूल्य समान होता है।	१—सांकेतिक सिक्कों का मूल्य उनके वास्तविक मूल्य से बहुत अधिक होता है।
२—ये देश के प्रमुख सिक्के होते हैं।	२—ये देश के सहायक सिक्के होते हैं।
३—ये असीमित विधिग्राह्य सिक्के होते हैं।	३—ये सीमित विधिग्राह्य सिक्के होते हैं।
४—इन सिक्कों की स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई होती है।	४—ये सिक्के सरकार द्वारा ही बनाये जाते हैं। जनता को स्वतन्त्र सिक्का ढलाई का अधिकार नहीं होता।
५—इन सिक्कों द्वारा समस्त वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य तथा कर निर्धारित किया जाता है।	५—अधिकतर सेवाओं और वस्तुओं का मूल्य इन सिक्कों द्वारा निर्धारित नहीं होता।
६—ये सिक्के सबसे उत्तम धातु के बनाये जाते हैं।	६—ये प्रायः बनावटी या कम मूल्य की धातु के बनाये जाते हैं।

रुपया किस प्रकार का सिक्का है—प्रामाणिक या सांकेतिक ? :— भारतीय मुद्रा-व्यवस्था में रुपये का एक विचित्र स्थान है। इसमें प्रामाणिक तथा सांकेतिक दोनों ही प्रकार के गुण समाविष्ट हैं। असीमित विधिग्राह्यता एवं देश का प्रमुख सिक्का होना इसे प्रामाणिक सिक्कों की श्रेणी में रखते हैं। इसमें सांकेतिक सिक्कों के गुण भी पाये जाते हैं। इसका अंकित मूल्य इसके धातु-मूल्य से अधिक होना तथा इसकी सीमित मुद्रा ढलाई इसे सांकेतिक सिक्कों की श्रेणी में रखते हैं। परन्तु,

यह स्पष्ट है कि रुपया न तो प्रामाणिक सिक्का ही है और न सांकेतिक ही। इन मिश्रित गुणों के कारण ही यदि इसे संकेतात्मक प्रामाणिक सिक्का (Token Standard Coin) कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा ?

भारतवर्ष की वर्तमान सिक्का प्रणाली—भारतवर्ष की वर्तमान सिक्का-प्रणाली में रुपये का प्रमुख स्थान है। रुपया ही देश का प्रामाणिक सिक्का (Standard Coin) है, क्योंकि यह असीमित विधि-ग्राह्य है तथा समस्त वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य का मापक है व इसी से मूल्य के साथ अन्य सहायक सिक्कों के मूल्य सम्बन्धित है। सहायक सिक्का में हमारे देश में अठन्नी, चवन्नी, इकन्नी, दस, पाँच, दो व एक नये पैसे के सिक्के है। ये सिक्के अधिकतर लघु राशि के भुगतान के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं। ये सांकेतिक सिक्के (Token Coin) कहलाते है। रुपये का अंकित-मूल्य उसके धातु मूल्य से अधिक है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व रुपये में ११/१२ विशुद्ध चाँदी होती थी, परन्तु युद्धकाल मे इसमें से चाँदी की मात्रा कम कर दी गई। आजकल भारतवर्ष में गिलट का रुपया प्रचलित है जिसका वास्तविक अर्थात् धातु-मूल्य एक दो आने से अधिक नहीं है। सहायक सिक्के चाँदी या गिलट या दोनों से मिलाकर या पीतल ताँबे के बनाये जाते है। ये प्राय. सस्ती धातु के ढाले जाते है।

भारतवर्ष में सन् १८९३ ई० तक तो स्वतन्त्र सिक्का-ढलाई (Free Coinage थी, परन्तु इसके पश्चात् हर्शेल कमीशन की सिफारिश के अनुसार स्थगित कर दी गई। अब हमारे देश में सीमित सिक्का ढलाई (Limited Coinage) है, अर्थात् रुपये या सहायक-सिक्कों में से किसी के लिये भी 'स्वतन्त्र सिक्का ढलाई' नहीं है। सिक्के बनाने का कार्य भारत सरकार या रिजर्व बैंक का है और ये सरकारी टकसालों में ही ढाले जाते है।

भारतीय सिक्कों का आकार दो प्रकार का है—गोल या वर्गाकार। सिक्कों के एक ओर उनका नाम, वर्ष और मूल्य तथा दूसरी ओर भारतीय प्रजातन्त्रात्मक राज्य का अशोक चिन्ह अंकित रहता है। रुपया असीमित विधि-ग्राह्य है तथा अन्य सहायक-सिक्के सीमित विधि-ग्राह्य है। सहायक सिक्कों को केवल

कुछ देशों के प्रामाणिक सिक्के नीचे दिये जाते है :—

इंगलैंड का पौंड स्टर्लिङ्ग	आस्ट्रिया का क्रोन	अर्जेन्टाइना का पिसो
आस्ट्रेलिया का पौंड (आस्ट्रेलिया का)	स्पेन का पेसेटा	ब्राजील का क्रूजेरो
अमेरिका का डॉलर	बेलजियम का बेल्गा	इटली का लीरा
कैनेडा का डॉलर (कैनेडा का)	हालैंड का गुल्डेन	पाकिस्तान का रुपया (पाकिस्तान)
फ्रांस का फ्रांक	स्वीडन का क्रोना	
जर्मनी का मार्क	जापान का येन	बर्मा का रुपया (बर्मा)
रूस का रूबल	टर्की का पियास्त्रे	लंका का रुपया (लंका)

१० रुपये तक के भुगतान के लिये स्वीकार करने में कानून द्वारा बाध्य किया जा सकता है। देश में सिक्के चलाने का प्रबन्ध आदि रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया करता है तथा उसी के पास इनका हिसाब रहता है।

भारतवर्ष में टकसालें—भारत सरकार की दो मुख्य टकसालें हैं एक बम्बई में और दूसरी कलकत्ते में अलीपुर में। बम्बई की टकसाल प्रतिदिन १० लाख सिक्के तैयार कर सकती है और अलीपुर की नई टकसाल प्रत्येक आठ घंटे के समय में १२ लाख सिक्के तैयार कर सकती है। हैदराबाद में भी भारत सरकार की टकसाल है जोकि १ अप्रैल १९५० में बम्बई टकसाल की शाखा हो गई। यह एक दिन में ३ लाख सिक्के तैयार कर सकती है। इस प्रकार भारतवर्ष में प्रतिदिन २५ लाख सिक्के तैयार किये जा सकते हैं।

पत्र मुद्रा (Paper Money)

पत्र मुद्रा का जन्म एवं विकास—पत्र मुद्रा जिसको हम नोट कहते हैं प्राचीन काल में ही प्रचलित है। मुद्रा के विद्यार्थियों का विचार है कि पत्र मुद्रा का जन्म सब प्रथम चीनी शासकों में चीन में हुयेनसांग के काल में हुआ जबकि लोहे और पीतल के सिक्कों के भारी बोझ को ले जाने की असुविधा उत्पन्न हुई। इसके पश्चात् जापान और फारस में भी इनका प्रयोग होने लगा था। धीरे धीरे एशिया के अधिकांश देशों में इनका प्रचार बढ़ गया। एशिया के बाद फिर यूरोप के देशों में भी पत्र मुद्रा चलने लगा। यूरोप में इस प्रथा के प्रचार का श्रेय व्यापारियों और स्वर्णकारों को है। इन लोगों का साख रहती थी। अतः लोग इनके पास अपनी राशियाँ छोड़ देते थे और इनसे प्रमाण पत्र ले लेते थे और आवश्यकता पड़ने पर इन पत्रों को दिखला कर अपनी राशियाँ वापस प्राप्त कर लेते थे। जब लोगों को यह विश्वास हो गया कि प्रमाण पत्र के दिखलाने ही उनको राशि वापस मिल जावेगी तो वे अपने लेन देन के बदले इन प्रमाणपत्रों का लेन देन भी करने लगे। यहीं से नोटों का चलन प्रारम्भ हुआ। इसी प्रकार १७ वीं शताब्दी के अन्त तक उन्नतिशील देशों में परिवर्तनशील पत्र मुद्रा (Convertible Paper Money) का जन्म हो गया था और १८ वीं शताब्दी में इन्हीं देशों में सरकार की शक्ति के कारण अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा (Inconvertible Paper Money) का चलन भी प्रारम्भ हो गया था। भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न रूप रंग के नोट चला करते थे। प्रथम महायुद्ध काल में तो नोटों का प्रचार बहुत बढ़ गया था।

पत्र मुद्रा के बढ़ते हुए प्रचार के कारण—आधुनिक युग में समस्त सभ्य देशों में पत्र मुद्रा का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वर्तमान युग में व्यापार उद्योग व्यवसाय आवश्यकताओं आदि में इतनी वृद्धि हो गई है कि केवल सोने और चाँदी की मुद्रा से ही काम चलना असम्भव है। सोने और चाँदी की पूर्ति सीमित होने के कारण इनकी मुद्रा की मात्रा भी अवश्य सीमित होनी है और इसलिये इन धातुओं की मुद्रा से समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। पत्र मुद्रा की पूर्ति में आवश्यकतानुसार सहज ही वृद्धि की जा सकती है। अतः इसका प्रयोग बहुत बढ़ गया है। वस्तुतः आज के संसार में पत्र मुद्रा का प्रयोग सभ्यता का चिह्न माना जाता है। भारतवर्ष में मार्च सन् १९५२ में २००० करोड़ रुपये की मुद्रा प्रचलित थी जिसमें से १२०० करोड़ रुपये के नोट और ८०० करोड़ रुपये के कलदार सिक्के थे।

पत्र-मुद्रा छापने का अधिकार—धातु मुद्रा की भाँति पत्र-मुद्रा छापने का अधिकार प्रायः केवल सरकार को ही होता है, परन्तु आधुनिक युग में यह अधिकार प्रायः देश के केन्द्रीय बैंक को प्राप्त होता है। भारतवर्ष में यह अधिकार रिजर्व बैंक को है।

पत्र-मुद्रा के लाभ (Advantages)—पत्र-मुद्रा के निम्नलिखित लाभ हैं :—

१. वहनीयता—पत्र-मुद्रा बहुत हल्की होती है और इसमें वहनीयता (portability) का गुण सबसे अधिक मात्रा में पाया जाता है। हजारों लाखों रुपये के नोट सरलतापूर्वक कम खर्च में एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाये जा सकते हैं। एक सौ रुपये के नोट में १०० रुपये के सिक्कों की तुलना में कुछ भी वजन नहीं होता, अतः उनके द्वारा दूर का भुगतान सरलता से व कम खर्च में किया जा सकता है।

२. बहुमूल्य धातु की बचत—पत्र-मुद्रा से सोना-चाँदी की बचत होती है, क्योंकि धातु मुद्रा चलन में घिसावट से होने वाली हानि नहीं होती। इस प्रकार से चलन में बचाई गई धातु अन्य कला-कौशल के कामों में अथवा औद्योगिक विकास में लगाई जा सकती है। आदम स्मिथ ने लिखा है कि "पत्र-नोट आकाश-मार्ग की भाँति होते हैं जिनकी नीचे की भूमि को भी काम में लाया जा सकता है और उस पर अन्न आदि उत्पन्न करके मनुष्य की दूसरी आवश्यकताओं को पूर्ण किया जा सकता है।"

३. मितव्ययता—पत्र मुद्रा बनाने में खर्च बहुत कम पड़ता है। लाखों, करोड़ों रुपयों के नोट छापने में केवल कागज, स्याही और थोड़ा श्रम व्यय होता है। यदि धातु के सिक्के बनाना हो, तो उतनी ही धातु चाहिए जिसका प्राप्त करना सरल नहीं।

४. सामाजिक लाभ—पत्र-मुद्रा द्वारा समाज को भी लाभ होता है। प्रथम, धातु-मुद्रा की घिसाई की हानि की बचत होती है। दूसरे, धातु-मुद्रा ढालने में जो आवश्यक श्रम, पूँजी आदि लगते हैं उनको किसी दूसरे जन-उपयोगी उद्योगों में लगाकर उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है तथा चलन से बचाई मूल्यवान धातुओं को देश में उद्योगों की वृद्धि के लिये तथा विदेशों से आवश्यक वस्तुएँ खरीदने के लिये उपयोग में लाया जा सकता है अथवा उनका विदेशों में विनियोग कर अधिक आय कमाई जा सकती है।

५. सुरक्षा—रुपयों की अपेक्षा नोटों के लुटे या चुराये जाने का भय कम रहता है। रुपयों का वजन छिपाया नहीं जा सकता। हजारों, लाखों रुपया के नोट जेब में डाले जा सकते हैं और बिना किसी सन्देह के दूसरे स्थान पर ले जाये जा सकते हैं। इसमें केवल जेब कतरने वालों से ही सावधान रहना पड़ता है।

६. लोच—पत्र-मुद्रा का सबसे बड़ा उपयोग यह है कि आवश्यकता-नुसार घटाई या बढ़ाई जा सकती है। यह बात धातु मुद्रा में नहीं पाई जाती। आवश्यकतानुसार नोटों को बढ़ाने में केवल कागज और स्याही की आवश्यकता होती है।

७. संकट काल में सरकार की सहायता—युद्ध काल में जब राष्ट्र को मुद्रा की अधिक आवश्यकता होती है और प्रजा से कर या ऋण के रूप में आवश्यक धन प्राप्त नहीं होता, तब इसकी पूर्ति केवल पत्र-मुद्रा द्वारा ही की जा सकती है।

८. गिनने व परखने की सुविधा—पत्र मुद्रा के अभाव मे अधिक सख्या मे रुपयों का गिनना व परखना बैंकों के लिये कठिन कार्य हो जाता है। बड़ी सख्या मे रुपया का भुगतान अधिक मूल्य वाले नोटों से किया जा सकता है जिससे बैंकों का गिनने का कार्य और भी सरल हो जाता है।

९. मूल्यों के परिवर्तन पर नियन्त्रण—धातुओं के मूल्य मे कभी-कभी अत्यधिक परिवर्तन हो जाते है जिससे मूल्यों पर बड़ा गम्भीर प्रभाव पड़ता है। सुचारु रूप मे नियन्त्रित पत्र-मुद्रा के प्रयोग से मूल्यो के परिवर्तन को नियन्त्रित रखा जा सकता है।

पत्र मुद्रा की हानियाँ (Disadvantages)—जहाँ पत्र मुद्रा के इतने लाभ हैं वहाँ उसकी कुछ कमियाँ भी है। वे निम्नलिखित हैं :—

१. सीमित चलन—पत्र-मुद्रा का वास्तविक मूल्य शून्य होता है। अतः इसका चलन देश की सीमा तक ही सीमित रहता है। देश के बाहर इसको कोई भुगतान मे स्वीकार करने के लिये तैयार नही होता। इसलिये नोट 'राष्ट्रीय-मुद्रा' कहलाते है। इनका अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य कुछ भी नही होता।

२. सापेक्षिक मूल्य स्थिरता की कमी—धातु-मुद्रा की अपेक्षा पत्र मुद्रा मे मूल्य-स्थिरता की कमी है, क्योंकि पत्र-मुद्रा का चलन सरकारी नीति पर अवलम्बित है तथा अधिक प्रसार होने से इसके मूल्य का ह्रास होता है और वस्तुएँ महँगी हो जाती हैं जिससे सामाजिक तथा आर्थिक हानि होती है। इस प्रकार की सम्भावना धातु-मुद्रा मे नही होती, क्योंकि मुद्रा धातुओं का उत्पादन सीमित है।

३. पत्र-मुद्रा शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तु है—तेल या पानी से भीग जाने पर नोट शीघ्र ही खराब हो जाते हैं। उन पर अंकित सख्या मिट जाने पर उनका कोई मूल्य नही रहता। सिक्के इतने शीघ्र नष्ट नही हो सकते। ऐसी दशा मे पत्र मुद्रा समाज मे केवल धोखेबाजी है।

४. सरकारी नीति पर पूर्णतया अवलम्बन—पत्र-मुद्रा अर्थात् कागजी नोटों का चलन पूर्णतया सरकार की इच्छा पर निर्भर होता है। यदि कभी सरकार नोट को अवैध घोषित कर दे तो जनता के पास रखे हुए नोटों का कुछ भी मूल्य नही रह जाता। उनके पास केवल कागज के टुकडे शेष रह जाते है जिनका कोई मूल्य नही होता। यह बात सिक्कों के साथ नही होती। उनके अवैध घोषित हो जाने पर उन्हे गला कर उनकी धातु को बाजार मे बेचा जा सकता है। कुछ लोगो का तो यह कहना है कि "पत्र-मुद्रा किसी देश की सबसे अधिक भयकर बीमारी है। जितना कष्ट किसी भयकर से भयकर बीमारी से किसी व्यक्ति को होता है उससे भी अधिक कष्ट पत्र मुद्रा से समाज को हो सकता है"।

५. पत्र-मुद्रा का मूल्य सरकार की साख पर निर्भर है—पत्र-मुद्रा का वास्तविक मूल्य नही होने से इसका मूल्य केवल सरकार की अथवा पत्र-मुद्रा चलाने वाली सस्था की साख पर निर्भर रहता है।

६. चलनाधिक्य (Over-issue) का भय—पत्र-मुद्रा का सबसे बडा दोष यह है कि इसमे चलनाधिक्य का भय रहता है। जब सरकार लालचवश या सकटवश इसकी मात्रा इतनी अधिक बढ़ा देती है कि उसका परिणाम मुद्रा-स्फीति

नोट छापकर चलाता है और रिजर्व बैंक के गवर्नर इस बात का वचन देते हैं कि नोट वाहक की माँग पर उस नोट के बदले में उस पर अंकित मूल्य रुपये के सिक्कों में किसी भी निर्गम-कार्यालय पर चुकाया जावेगा। अस्तु भारतवर्ष में २ ५ १० और १०० रुपये के नोट परिवर्तनशील कागजी नोट (पत्र मुद्रा) हैं जिनको कभी भी रुपये के सिक्के में बदलवाया जा सकता है। ये नोट धातु मुद्रा के साथ साथ देश में चलाये जाते हैं।

प्रतिनिधि पत्र मुद्रा और परिवर्तनशील पत्र मुद्रा में भेद

परिवर्तनशील पत्र मुद्रा वास्तव में बिल्कुल प्रतिनिधि पत्र मुद्रा के समान ही होती है। जिस प्रकार प्रतिनिधि पत्र मुद्रा के बदले में किसी भी समय धातु मुद्रा या धातु प्राप्त की जा सकती है। उसी भाँति परिवर्तनशील पत्र मुद्रा के बदले में भी किसी भी समय धातु मुद्रा या धातु प्राप्त की जा सकती है। इतना होते हुए भी पत्र मुद्रा मुद्रा की प्रतिनिधि नहीं होती। इसमें प्रत्येक रुपये के नोट के लिये एक रुपये का सिक्का सुरक्षित नहीं रखा जाता। ये नोट इस सिद्धान्त को मान कर चलाये जाते हैं कि सब नोट एक साथ अपने नोट धातु मुद्रा में बदलने के लिये नहीं लाते। इसलिये नोटों के लिये पूरी मात्रा में मुद्रा न रखकर उतनी ही मुद्रा रखी जाती है जिसमें प्रस्तुत किये जाने वाले सम्भावित नोटों के बदलने में कोई कठिनाई न हो। इस प्रकार परिवर्तनशील पत्र मुद्रा जन साधारण में प्रायः उतना विश्वास स्थापित कर लेती है जितना कि प्रतिनिधि पत्र मुद्रा के द्वारा होता है।

प्रत्येक देश का केन्द्रीय बैंक या सरकार अनुभव से जानती है कि कुल प्रचलन के कितने प्रतिशत नोट एक समय में भुगतान के लिये आ सकते हैं और उसी अनुमान के आधार पर बैंक या सरकार कुल प्रचलन का निश्चित प्रतिशत धातु मुद्रा या धातु के रूप में जमा रखती है। इस जमा को सुरक्षित कोष या निधि (Reserve) कहते हैं। शेष भाग राज्य प्रतिभूतियों[1] (Govt Securities) के रूप में रखा जाता है। आवश्यकता पड़ने पर राज्य प्रतिभूतियों को मुद्रा बाजार में बेचकर नोटों के भुगतान के लिये तुरन्त राशि प्राप्त की जा सकती है। अस्तु चलार्थ (Currency) का वह भाग जिसके लिये प्रामाणिक धातु मुद्रा या धातु सुरक्षित रखी जाती है रक्षित भाग (Covered) या धातु निधि (Metallic Reserve) कहलाता है तथा जो भाग केवल राज्य प्रतिभूतियों (Govt Securities) के आधार पर ही प्रचलित होता है उसे अरक्षित या विश्वासाश्रित भाग (Uncovered or Fiduciary Issue) कहते हैं। उदाहरण के लिये १०० रुपये के मूल्य की पत्र मुद्रा चलन में है। उसके लिये कोष में ४० रुपये की धातु-मुद्रा या धातु सुरक्षित है तथा ६० रुपये की राज्य प्रतिभूतियाँ हैं तो ४० रुपये वाले भाग को रक्षित भाग (Covered Issue) या धातु निधि (Matallic Reserve) तथा ६० रु० वाले

---

१ राज्य प्रतिभूतियाँ (सरकारी सिक्यूरिटीज) का अर्थ है सरकार के दिये गये ऋण के प्रमाण-पत्र जैसे (Debentures Bonds etc)। सरकार को ऋण देने पर जो सरकार द्वारा ऋण का प्रमाण-पत्र मिलता है उसे राज्य प्रतिभूति या सरकारी सिक्यूरिटी कहते हैं।

भाग को अरक्षित (Uncovered) या विश्वासाश्रित (Fiduciary) भाग कहते।

उन्नत एव प्रगतिशील देशो म पत्र मुद्रा का रक्षित कोष १५ से २५ प्रतिशत तक पर्याप्त समझा जाता है परन्तु अशिक्षित एव आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशो म यह कोष ५० प्रतिशत तक होता है। भारतवर्ष में सोने और स्टर्लिङ्ग द्वारा ४० प्रतिशत रक्षित कोष की मात्रा रखी गई है तथा चलार्थ का शेष ६० प्रतिशत भाग अरक्षित है।

लाभ व हानि—परिवर्तनशील पत्र मुद्रा का सबसे बड़ा लाभ यह है कि कानून से निर्धारित धातु मुद्रा या धातु कोष म रख कर शेष भाग को प्रतिभूतियों (Securities) म लगा दिया जाता है जिससे सरकार ब्याज कमा सकती है। इसके अतिरिक्त ऐसा पत्र मुद्रा के प्रयोग म धातु मुद्रा के प्रयोग म अत्यधिक बचत होती है और इन बहुमूल्य मौद्रिक धातुओं का प्रयोग देश के व्यापार और उद्योग के हित म किया जा सकता है। शेष लाभ लगभग वे ही ह जो ऊपर पत्र मुद्रा के लाभो के शीर्षक मे वर्णित है।

इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसका चलन देश की राजनैतिक सीमा तक ही सीमित रहता है तथा इसके शीघ्र खराब व नष्ट होने का भय रहता है। इसम चलनाधिक्य का भय भी बना रहता है।

अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा (Inconvertible Paper Money)—वह पत्र मुद्रा है जो धातु या धातु मुद्रा म नहीं बदली जा सकती। इस प्रकार की पत्र मुद्रा म चलाने वाली सत्ता की ओर से उस धातु या धातु मुद्रा मे बदलने का कोई आश्वासन नहीं होता तथा वह बदले म धातु मुद्रा या धातु देने के लिये वैधानिक तौर पर बाध्य नहीं होती। इस प्रकार की पत्र मुद्रा के चलने का कारण केवल सरकार की साख म जनता का विश्वास अथवा सरकारी आज्ञा होती है। इसी कारण इन्हें आदेश मुद्रा (Fiat Money) भी कहते है। मुद्रा सचालन धातु मुद्रा न देकर कागज का कागज म बदल देते है। ऐसी प्रणाली आजकल भारत म है। उदाहरण के लिये गत महायुद्ध-काल म एक रुपये के नोट चलाये गये जो अपरिवर्तनशील थे। ये नोट आज भी हमारे देश म चलते है। विद्यार्थियों ने देखा होगा कि १ रुपये के नोट पर I promise to pay आदि अग्रेजी के शब्द छपे नहीं होते है। दूसरा ता पर्य यह है कि अन्य नोटो की भाति सरकार इन नोटो के बदले मे सिक्के देने का वचन नहीं देती भारतवर्ष म इन नोटो को रिजर्व बैंक नहीं चलाता बल्कि ये भारत सरकार के वित्त सचिवालय (Ministry of Finance) द्वारा जारी किये जाते हैं।

इस प्रकार की पत्र मुद्रा का चलन तभी होता है जब सरकार को मुद्रा की अत्यधिक आवश्यकता होती है जैसे युद्ध काल म। इस प्रकार की पत्र मुद्रा को यदि सरकार द्वारा बिना ब्याज लिया गया ऋण कहे तो अनुचित नहीं होगा। फ्रास की राज्य क्रांति के दिनो म फ्रासीसी नोट (Assignats) अमरिकन गृह युद्ध काल म अमरिकन नोट (Green Backs) प्रथम महायुद्ध के दिनो में जर्मनी नोट (Marks) और द्वितीय महायुद्ध के समय लगभग सभी देशो के नोट अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा के उदाहरण है। भारत मे पत्र मुद्रा इस अर्थ म परिवर्तनशील है कि उनके बदले म रुपये दिये जाते हैं परन्तु वर्तमान रुपये स्वयं धातु पर छपे हुए नोट हैं।

आदेश-मुद्रा (Fiat Money)—अंग्रेजी भाषा में 'फियट' शब्द का अर्थ है 'आज्ञा अतः फियट या आदेश-मुद्रा उस मुद्रा को कहते हैं जो किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व नहीं करती, न जिसमें कोई अधिकार ही है तथा जिसको लोग सरकारी आज्ञा के कारण ही स्वीकार करने के लिये बाध्य होते हैं।

तथाकथित लाभ—यदि अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा का कोई लाभ है तो यह है कि युद्धकाल जैसे संकट समय में जबकि मुद्रा बनाने के लिये धातु उपलब्ध नहीं होती तथा सरकार को मुद्रा की अत्यधिक आवश्यकता होती है तब इसकी पूर्ति का एकमात्र साधन अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा ही है। आवश्यक मात्रा में तो ये संकट काल में सहायक सिद्ध हो सकते हैं, परन्तु इनका आवश्यकता से अधिक मात्रा में चलना अहितकर होता है।

अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा की हानियाँ (Evils of Inconvertible Paper Money)—अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा में सदैव चलनाधिक्य (Over-issue) का भय रहता है। इस प्रकार के नोटों के बदले में कोष में धातु के सिक्के रखने की आवश्यकता नहीं होती, अतः सरकार बिना किसी डर और हिचकिचाहट के ऐसे नोट छाप छाप कर चलाती रहती है जिसके कारण आवश्यकता से अधिक नोट छपकर चलन में आ जाते हैं। इसका परिणाम मुद्रा-स्फीति (Inflation) होता है। मुद्रा-स्फीति के परिणाम स्वरूप मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और वस्तुओं के भाव बढ़ने लगते हैं। वस्तुओं के भाव बढ़ने से लोगों का जीवन व्यय भी बढ़ जाता है। व्यापार में उथल पुथल सी मच जाती है तथा व्यापारिक सौदों में चोर-बाजारी, नफाखोरी आदि आदि बुराइयाँ आ जाती हैं। अपरिवर्तनशील नोटों के चलने से लोग सिक्कों को छिपाकर रखने लगते हैं। सिक्कों को छिपाकर लोग या तो गला कर सोने, चाँदी के रूप में बेचने लगते हैं या उन्हें विदेशों में भेजकर धातु के रूप में बेच दिया जाता है।

वस्तुओं के भावों में वृद्धि हो जाने से सट्टेबाजी बढ़ जाती है और वस्तुओं की उत्पादन विधि बिगड़ सी जाती है। श्रमिकों तथा जन साधारण को बड़ी कठिनाई होती है। अधिक संख्या में अपरिवर्तनशील नोट चलाने से विदेशी विनिमय दर (Foreign Exchang Rate) में भी गड़बड़ हो जाती है और विदेशी व्यापार में विषमता आ जाती है। ऐसी परिस्थिति में धनी और अधिक धनी बनते जाते हैं तथा निर्धन और अधिक निर्धन बन जाते हैं। किनले (Kinley) नामक एक मुद्राशास्त्री ने ठीक ही लिखा है कि "अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा (नोट) एक ऐसी मदिरा है जिसकी दो चार बूँदों से ही जनता और सरकारी अफसरों के दिमाग मस्त हो जाते हैं। तब उन्हें भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहता है और वे अपरिवर्तनशील नोट छाप कर चलने या न चलने के विषय में कोई गम्भीर निर्णय नहीं कर पाते। इसका परिणाम यह होता है कि समाज और व्यापार में बुराइयाँ बढ़ जाती हैं और वे इतनी भयंकर हो जाती हैं कि उनको दूर करना असम्भव-सा हो जाता है।'

भारत में अपरिवर्तनशील नोट—गत महायुद्ध में ब्रिटिश सरकार ने इतनी अधिक संख्या में अपरिवर्तनशील नोट चलाये कि मुद्रा का मूल्य गिर गया और वस्तुओं के भाव बढ़ने से श्रमिकों, उपभोक्ताओं तथा स्थायी आय वाले लोगों को बहुत कष्टों का सामना करना पड़ा। वस्तुओं के उत्पादन में उथल-पुथल हो गई तथा व्यापार में भी अस्थिरता आ गई। भाव बढ़ने से व्यापारियों ने काले-बाजार (Black-Marketing) किये, सट्टे किये, नफाखोरी की तथा माल को भी छिपा छिपाकर रख लिया। इन बुराइयों को दूर करने के लिये सरकार ने कानून बनाये तथा जीवनार्थ आवश्यक वस्तुओं के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाये। परन्तु इनका कोई विशेष परिणाम न निकला। समाज में ये सब बुराइयां आज भी विद्यमान हैं। यह परिस्थिति किनले (Kinley) के कथन की पुष्टि करती है : "आवश्यकता से अधिक मात्रा में अपरिवर्तनशील नोट चलाने से सामाजिक बुराइयां उत्पन्न हो जाती हैं और फिर उन्हें दूर करना कठिन हो जाता है।

भारतवर्ष में वर्तमान नोट (पत्र-मुद्रा) व्यवस्था—भारतवर्ष में पत्र-मुद्रा का प्रादुर्भाव अंग्रेजी शासन-काल में हुआ, यद्यपि हुण्डियां और प्रतिज्ञा अर्थ-पत्रों (Promissory notes) का प्रचार पहले से ही था। सबसे पहले नोट चलाने का कार्य तीन प्रैसीडेन्सी बैंकों को दिया गया परन्तु सन् १८६१ में यह कार्य भारत सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। अब सरकार 'निश्चित अरक्षित प्रणाली' (Fixed Fiduciary System) के अनुसार नोट चलाने लगी। इसके अन्तर्गत ४ करोड़ रुपये के मूल्य के नोट प्रतिभूतियों (Securities) के बल पर चलाये जा सकते थे और यदि सरकार को इससे अधिक नोट चलाने होते थे तो सरकार को अपने पास चाँदी का एक सचित कोष रखना पड़ता था। शनैः शनैः प्रतिभूतियों के आधार पर चलाये जाने वाले नोटों में वृद्धि होती गई और यहाँ तक कि प्रथम महायुद्ध में १२० करोड़ रुपये के नोट केवल प्रतिभूतियों के आधार पर ही जारी किये गये थे। सन् १९३५ में रिजर्व बैंक के स्थापित होने पर यह कार्य इसके सुपुर्द कर दिया गया। जनवरी १९४६ में ५००, १००० और १०,००० रुपये के नोटों को चलन से हटाने के लिये इनका चलन अवैध घोषित कर दिया गया। युद्ध-काल में रिजर्व बैंक द्वारा २ रु० के नोट और भारत सरकार द्वारा १ रु० के नोट प्रचलित किये गये।

इस समय हमारे देश में परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील दोनों प्रकार के नोट प्रचलित हैं। २, ५, १०, १०० रुपये के करेन्सी नोट परिवर्तनशील नोट हैं क्योंकि इनके बदले में रिजर्व बैंक प्रामाणिक धातु-मुद्रा देने का वचन देती है। १ रुपये के नोट अपरिवर्तनशील नोट हैं जिनका प्रकाशन भारत सरकार के वित्त-विभाग द्वारा होता है। एक रुपये के नोट गत महायुद्ध-काल में चलाये गये थे और ये आजकल भी प्रचलित हैं। ये अपरिवर्तनशील इसलिये कहलाते हैं कि इनके बदले में सरकार धातु-मुद्रा देने की प्रतिज्ञा नहीं करती। प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा हमारे देश में प्रचलित नहीं है। रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व जब सरकार स्वयं नोट चलाती थी तब 'करेन्सी सिद्धान्त' का पालन किया जाता था। परन्तु आज-कल 'बैंकिंग सिद्धान्त' का पालन किया जाता है जिसके अनुसार देश के केन्द्रीय बैंक अर्थात् रिजर्व बैंक को नोट-प्रकाशन का एकाधिकार मिला हुआ है।

नोट-प्रकाशन में रिजर्व बैंक 'आनुपातिक कोष प्रणाली' (Proportional Reserve System) का पालन करता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत नोट जारी करने से पूर्व रिजर्व बैंक को नोटों के बदले में संचित-कोष (Reserve) रखना पड़ता है जिसमें

सोना, चाँदी के सिक्के, विदेशी प्रतिभूतियाँ, रुपया तथा रुपये की प्रतिभूतियाँ रखी जाती है। चलाये जाने वाले नोटों के मूल्य के बदले में संचित कोष का कम से कम ४० प्रतिशत भाग सोना, सोने के सिक्के तथा विदेशी प्रतिभूतियों में रखना पड़ता है, इसमें हर समय कम-से-कम ४० करोड़ रुपये के मूल्य का सोना या सोने के सिक्के रखना अनिवार्य है। संचित कोष का शेष ६० प्रतिशत भाग रुपया, रुपये की प्रतिभूतियाँ या अन्य स्वीकृत बिलों में रखा जा सकता है। सन् १९४६ से पूर्व जब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) का निर्माण नहीं हुआ था, रिजर्व बैंक को अपने संचित-कोष में स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ (Sterling Securities) रखकर उनके बल पर नोट चलाने का अधिकार था। परन्तु जब भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य हो गया तो रिजर्व बैंक केवल स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के बल पर नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सब सदस्यों की सिक्यूरिटीज अर्थात् प्रतिभूतियों के बल पर नोट चला सकता है। अब हमारे देश में नोट-व्यवस्था पर्याप्त लोचदार है। १ जनवरी १९४९ से रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण हो जाने से रिजर्व बैंक द्वारा नोट चलाने का उत्तरदायित्व अब सरकार का भी उत्तरदायित्व बन गया है।

संक्षेप में भारत की वर्तमान पत्र मुद्रा (नोट व्यवस्था) की मुख्य विशेषताएँ ये हैं—(१) परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील दोनों प्रकार के नोटों का प्रचलन (२) नोट चलाने के बैंकिंग सिद्धान्त का पालन और (३) आनुपातिक-कोष प्रणाली के अनुसार नोटों का चलन।

एक सर्वोत्तम या आदर्श पत्र मुद्रा प्रणाली के गुण—एक सर्वोत्तम या आदर्श पत्र मुद्रा प्रणाली में निम्नलिखित गुण होने चाहिये :—

(१) लोच (Elasticity)—पत्र मुद्रा प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिसके अन्तर्गत मुद्रा का प्रसार एवं संकुचन देश की आर्थिक एवं व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार हो सके और जिससे वस्तुओं के मूल्य स्थिर रह सकें।

(२) मितव्ययता (Economy)—पत्र मुद्रा प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिसमें बहुमूल्य धातुओं का कम-से-कम प्रयोग हो तथा सिक्के बनाने का व्यय भी कम हो।

(३) परिवर्तनशीलता (Convertibility)—पत्र-मुद्रा प्रणाली का आधार जनता का विश्वास है। अस्तु जनता में उसके प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न करने के लिये कागजी नोटों को माँग पर सोने या चाँदी में बदला जाना आवश्यक है। यह कार्य उपयुक्त सोने व चाँदी के कोष (रिजर्व) द्वारा भली प्रकार सम्पन्न हो सकता है।

(४) स्वयं घटने-बढ़ने वाली (Automatic)—किसी देश की मुद्रा प्रणाली में यह भी विशेषता होनी चाहिए कि वह उस समय बढ़े जब देश में विदेशों से सोना पर्याप्त मात्रा में आ रहा हो और उस समय घटे जबकि सोना विदेशों को जा रहा हो। यह बात तभी सम्भव है जब संसार के सभी देशों में स्वर्णमान हो और वे देश में सोना आने पर मुद्रा को बढ़ा देते हों तथा देश से सोना जाने पर मुद्रा को कम कर देते हों। ऐसा १९१४–१८ के महायुद्ध से पहले होता था।

(५) चलनाधिक्य के विरुद्ध सुरक्षा (Safety against over issue)—पत्र मुद्रा में चलनाधिक्य का भय सदा बना रहता है। अतः पत्र मुद्रा

प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिससे मुद्रा प्रसार आवश्यकता से अधिक न होने पावे क्योंकि इससे बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(६) मूल्यों में स्थिरता (Stability)—प्रणाली ऐसी होनी चाहिये कि पत्र-मुद्रा के आन्तरिक एवं बाह्य मूल्यों में स्थिरता रह सके।

(७) अनिश्चितता रहित (Free from Uncertainty)—देश में प्रचलित मुद्रा प्रणाली ऐसी होनी चाहिये कि उसमें किसी प्रकार की भी अनिश्चितता न हो। मुद्रा सम्बन्धी देश में प्रचलित कानून निश्चित एवं विश्वास पैदा करने वाले होने चाहिए।

(८) सरलता (Simplicity)—पत्र मुद्रा प्रणाली सरल सुगम एवं साधारण होनी चाहिये ताकि प्रत्येक नागरिक उसे समझ सके।

विविध पत्र मुद्रा प्रकाशन प्रणालियाँ—पत्र मुद्रा चलाने की मुख्य प्रणालियाँ निम्नलिखित हैं —

(१) निश्चित अरक्षित या विश्वासाश्रित प्रणाली (Fixed Fiduciary Issue System)—इस प्रणाली के अनुसार केन्द्रीय बैंक को एक निश्चित राशि के नोट बिना किसी सोने व चाँदी के कोष (रिजर्व) के निकालने का अधिकार दे दिया जाता है। नोटों के इस भाग को अरक्षित भाग (Fiduciary portion) कहते हैं और यह राज्य प्रतिभूतियों के आधार पर निकाला जाता है। परन्तु इस भाग के ऊपर जो नोट निकाले जाते हैं उनके लिये शत प्रतिशत सोने व चाँदी का रिजर्व रखा जाता है। भारतवर्ष में सन् १८६१ में नोट चलाने के लिये यह प्रणाली काम में लाई गई थी। इसके अन्तर्गत ४ करोड़ रुपये के नोट प्रतिभूतियों (securities) के बल पर चलाए जा सकते थे और इससे अधिक नोट चलाने के लिए अपने पास सोने चाँदी का रिजर्व रखना पड़ता था। शनैः शनैः प्रतिभूतियों के बल पर चलाये जाने वाले नोटों का मूल्य बढ़ाया जाता रहा और प्रथम महायुद्ध-काल में १२० करोड़ तक पहुँच गया। सन् १८४४ में जब इंगलैंड में इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली चालू की गई थी तब कुल १४० लाख पौण्ड के नोट प्रतिभूतियों के आधार पर छप सकते थे।

गुण दोष—इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें मुद्रा-स्फीति (Inflation) का भय नहीं रहता क्योंकि निश्चित सीमा के ऊपर नोट छपवाने में शत प्रतिशत सोना चाँदी कोष में रखना पड़ता है। इसका दूसरा लाभ यह है कि इसमें नोट परिवर्तनशील होते हैं क्योंकि अमुरक्षित भाग के ऊपर एक पौण्ड के बदले एक पौण्ड सोना रखना पड़ता है। परन्तु इस प्रणाली में नोटों की लोच (Elasticity) समाप्त हो जाती है क्योंकि नोट बढ़ाने के लिये पहले सोना चाहिये।

(२) आनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System)—इस प्रणाली के अन्तर्गत नोट चलाने वाले बैंक को चालू नोटों के बदले कानून द्वारा सोना या चाँदी की निश्चित मात्रा सुरक्षित कोष (Reserve) के रूप में रखनी पड़ती है। भारतवर्ष में चालू नोटों के बदले में कम से कम ४० प्रतिशत भाग सोना सोने के सिक्के तथा सोने की प्रतिभूतियों में रखना पड़ता है। नोटों के बदले में रखे जाने वाले सोने की मात्रा भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न है। भारत के अतिरिक्त यह प्रणाली अमेरिका, जर्मनी, आस्ट्रेलिया, फ्रांस कैनेडा, अर्जेंटाइना, न्यूजीलैंड, यूगोस्लेविया आदि देशों में अपनाई जाती है।

गुण-दोष—इस प्रणाली का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसके अनुसार पत्र-मुद्रा-प्रणाली लोचदार हो जाती है अर्थात् देश की आवश्यकतानुसार नोटों की मात्रा में न्यूनाधिकता की जा सकती है। इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि देश में से कभी सोना बाहर जाने लगे और केन्द्रीय बैंक के कोष में से सोने की मात्रा कम हो जाय तो नोटों का चलने में एक साथ रोक कर उनकी मात्रा कम करनी पड़ेगी। इस प्रकार दशा में नोटों की कमी पड़ सकती है। इस प्रणाली में यह भी दोष है कि थोड़ा सा सोना कोष में बढ़ने से उससे अधिक मूल्य के नोट छापे जा सकते हैं जिससे देश में मुद्रा-स्फीति होने का भय सदा बना रहता है।

(३) निश्चित अधिकतम सीमा-प्रणाली (Fixed Maximum Limit System)—इस प्रणाली के अनुसार एक अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाती है जिससे ऊपर नोट नहीं छप सकते। इस सीमा के भीतर केन्द्रीय बैंक बिना किसी स्वर्ण रक्षित कोष के केवल सरकारी साख-पत्रों के आधार पर नोट प्रकाशित कर सकता है। प्रायः यह अधिकतम सीमा नोटों के औसत वार्षिक चलन से साधारणतया ऊँची रखी जाती है।

गुण-दोष—इस प्रणाली के अन्तर्गत देश में मुद्रा-स्फीति होने का भय कम रहता है। परन्तु इस प्रणाली में एक बड़ा भारी दोष यह है कि इससे देश की पत्र-मुद्रा व्यवस्था लोचदार नहीं बन सकती। इसमें दूसरा दोष यह है कि इस प्रकार नोट चलाने में अनिश्चितता रहती है।

(४) साधारण जमा पद्धति (Simple Deposit System)—इस प्रणाली के अन्तर्गत नोटों के मूल्य के बराबर ही कोष में स्वर्ण रखना पड़ता है।

गुण-दोष—इस प्रणाली के अन्तर्गत नोट पूर्ण रूप से बदले जा सकते हैं और मुद्रा-स्फीति का भय भी नहीं रहता। परन्तु यह प्रणाली बहुत ही कम लचीली है और खर्चीली है। इसमें बहुत सा सोना आवश्यक रूप से स्वर्ण-कोष में पड़ा रहता है और उसका कुछ उपयोग नहीं हो सकता।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—द्रव्य का आरम्भ कैसे हुआ? द्रव्य के प्रधान कार्यों का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए।

२—पूर्ण रूप से समझा कर लिखिये :—

भारतीय रुपया प्रामाणिक-सांकेतिक सिक्का है।

३—मुद्रा की परिभाषा दीजिये और उसके मुख्य कार्य बताइये।

४—मुद्रा का प्रारम्भ कैसे हुआ? मुद्रा के मुख्य कार्य क्या हैं? कागज की मुद्रा के क्या लाभ हैं?

५—मुख्य सिक्के (Standard Coins) और उप-सिक्के (Token Coins) में भेद दर्शाइये। (रा० बो० १९५६)

६—"मुद्रा वह है जो मुद्रा का काम करती है।"—इस कथन की व्याख्या कीजिये। मुद्रा के मुख्य कार्य क्या हैं? (रा० बो० १९५४, ५५)

७—अच्छी मुद्रा के गुण पर टिप्पणी लिखिये। (रा० बो० १९५०)

८—मुद्रा के क्या कार्य हैं ? क्या वस्तु विनिमय अपव्ययिता है ?   (अ० बो० १९६०)

९—मुद्रा के मूल्य ह्रास, मुद्रा की घिसावट, मुद्रा का अवमूल्यन इन तीनों में अन्तर बताइये।   (अ० बो० १९५७)

१०—मुद्रा के क्या कार्य हैं ? वस्तु-परिवर्तन की प्रथा का क्यों अन्त होता जा रहा है ?   (अ० बो० १९५६)

११—कागजी-मुद्रा—उसके लाभ और हानियों पर टिप्पणी लिखिये।   (म० भा० १९५६)

१२—मुद्रा क्या है ? इसके कार्यों को तथा उपभोक्ताओं को इनके लाभों की पूर्णतया व्याख्या कीजिये।   (सागर १९५६)

१३—कागजी मुद्रा के लाभ और हानि को पूर्णतया स्पष्ट कीजिए। कागजी मुद्रा धात्विक मुद्रा से किस प्रकार उत्तम है ?   (रा० बो० १९५९)

इण्टर एग्रीकल्चर परीक्षाएं

१४—मुद्रा की परिभाषा लिखिये। इसके कार्यों का पूर्णतया वर्णन कीजिये।   (अ० बो० १९५७)

१५—मुद्रा क्या है ? कितने प्रकार की मुद्राओं से आप परिचित हैं ? भारत का किसान क्यों धातु-मुद्रा को ही अधिक प्रधानता देता है ?   (अ० बो० १९५६)

अध्याय ५१

मुद्रा का मान, ग्रेशम का नियम, मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त, मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन।

(Monetary Standard, Gresham's Law, Quantity Theory of Money & changes in the Value of Money)

मुद्रा का मान

(Monetary Standard)

मुद्रा के मान का अर्थ एवं परिभाषा—जिस प्रकार भिन्न भिन्न वस्तुओं का मूल्य मुद्रा द्वारा प्रकट किया जाता है, उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य अर्थात् उसकी विनिमय-शक्ति का माप दण्ड दूसरी वस्तुएँ हैं। परन्तु मुद्रा की विनिमय-शक्ति सब पदार्थों द्वारा व्यक्त नहीं की जाती बल्कि इस कार्य के लिए कोई एक वस्तु छाँट ली जाती है और उसी से यह कार्य लिया जाता है। अतः जहां जिस वस्तु में मुद्रा की विनिमय-शक्ति व्यक्त की जाती है वहाँ उसी प्रकार का मुद्रा मान होता है। यदि यह कार्य स्वर्ण (सोने) से लिया जाता है, तो स्वर्ण-मान (Gold Standard) हुआ, यदि रजत (चाँदी) से लिया जाता है तो रजत मान (Silver Standard) हुआ, और यदि कागज से लिया जाता है, तो कागज या पत्र-मान (Paper Standard) हुआ। कभी-कभी एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा के आश्रित रहती है, तो ऐसी दशा में इसे विनिमय-मान (Exchange Standard) कहते। अस्तु, मुद्रा का मान वह आधार है जिसके अनुसार किसी देश की मुद्रा का सचालन, नियन्त्रण और मूल्य-निर्धारण किया जाता है। विभिन्न देशों में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये केवल सोने अथवा सोने-चादी दोनों अथवा कागज की मुद्रा प्रचलित की जाती है। लघु भुगतान के लिये विभिन्न धातुओं से बने साकेतिक सिक्कों का प्रयोग किया जाता है। मुद्रा-मान को मुद्रा-प्रणाली (Monetary System) भी कहते हैं।

मुद्रा-मान के प्रकार (Kinds)—मुद्रा मान मुख्यतः निम्न प्रकार के होते हैं :—

(१) एक धातुमान (Mono-metallism), (२) द्वि-धातुमान (Bi-metallism), (३) पंगु द्विधातुमान (Limping Bimetallism), (४) पत्र-मान (Paper Money), और (५) विनिमय-मान (Exchange Standard)

मुद्रा-मान (Monetary Standard)

(१) एक-धातु मान (Mono-metallism)
(२) द्वि-धातु मान (Bi-metallism)
(३) पंगु-द्विधातुमान (Limping Bi-metallism)
(४) पत्र-मान (Paper—Standard)
(५) विनिमय-मान (Exchange Standard)

एक-धातु मान:
(अ) रजत मान (Silver Standard)
(ब) स्वर्ण-मान (Gold Standard)

स्वर्ण-मान:
- स्वर्णचलन मान (Gold Currency Standard)
- स्वर्ण धातु-मान (Gold Bullion Standard)
- स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard)

(१) एक धातुमान (Mono-metallism)—वह मुद्रा प्रणाली है जिसके अन्तर्गत देश की प्रामाणिक मुद्रा (Standard Money) एक ही धातु की बनी हुई होती है। एक-धातुमान के अन्तर्गत किसी एक ही धातु (प्रायः सोने या चाँदी) के सिक्के देश की प्रमाणिक मुद्रा के रूप में चलते है। इन्ही के द्वारा देश में वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य-मापन किया जाता है तथा इन्ही के साथ देश मे प्रचलित अन्य सांकेतिक मुद्राओं का मूल्य सम्बन्धित होता है।

एक धातुमान की विशेषतायें (Characteristics)

(१) इसमे केवल एक ही धातु के सिक्के प्रामाणिक सिक्के होते है। (२) ये सिक्के असीमित विधिग्राह्य (Unlimited Legal Tender) होते है। (३) उस धातु की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई (Free Coinage) होती है, अर्थात कोई भी व्यक्ति उस धातु को ले जाकर उसके बदले में सरकारी टकसाल मे सिक्के ढलवा सकता है। (४) प्रामाणिक मुद्रा के अतिरिक्त देश मे अन्य प्रकार की सांकेतिक मुद्राएँ भी प्रचलित होती है। ये मुद्राएँ कागज या किसी सस्ती धातु की बनी होती है तथा ये सीमित विधिग्राह्य (Limited Legal Tender) होती है। (५) इन सांकेतिक मुद्राओं को किसी भी समय सोने या चाँदी मे बदला जा सकता है।

चलन—१८३३ के पूर्व अमेरिका में एक-धातुमान का चलन था जिसके अन्तर्गत वहाँ सोने का डॉलर प्रामाणिक मुद्रा के रूप में चलता था। सन् १८९३ से पूर्व हमारे देश मे भी एक धातु प्रणाली प्रचलित थी, जिसमे चाँदी का रुपया प्रमाणिक मुद्रा के रूप मे चलता था।

एक धातुमान के भेद—एक धातुमान में प्रामाणिक सिक्का बनाने के लिये प्रायः चाँदी या सोना काम में लाया जाता है। ऐसी स्थिति में एक-धातुमान दो प्रकार का हो सकता है—रजत (चाँदी) मान अथवा स्वर्ण (सोना) मान।

(अ) रजत मान (Silver Standard)—जिस प्रणाली का आधार चादी होता है उसे रजत-मान कहते है।

विशेषताएँ (Characteristics)

(१) चाँदी की मुद्रा प्रामाणिक मुद्रा होती है तथा वह असीमित विधिग्राह्य होती है। (२) चाँदी की मुद्रा की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई होती है। (३) यदि साथ ही मे पत्र मुद्रा चलती है तो वह चाँदी की मुद्रा मे बदली जा सकती है। (४) चाँदी की मुद्रा के अतिरिक्त अन्य प्रकार के सहायक (साकेतिक) सिक्के भी चलते है, परन्तु ये सीमित विधिग्राह्य होते है।

चलन—रजत-मान का सबसे बड़ा दोष यह है कि चाँदी के मूल्य मे बहुत घटा बढी होती है। इसी कारण आजकल इसका किसी भी देश मे मुद्रा-मान के रूप मे व्यवहार नहीं हो रहा है। केवल चीन और हाँगकाँग बहुत समय तक इसका इस रूप मे व्यवहार करते रहे, परन्तु उन्होने भी नवम्बर १९३५ मे इसे त्याग दिया।

भारतवर्ष मे रजत-मान—भारतवर्ष मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन मे सन् १८३५ के अनुसार रजत-मान स्थापित किया गया था जिसके अन्तर्गत चाँदी का रुपया देश की प्रामाणिक मुद्रा बना दी गई। इस रुपये मे ११ माशे (१६५ ग्रेन) चाँदी और एक माशे मिश्र धातु (Alloy) था। रुपये की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई थी तथा यह असीमित विधिग्राह्य था। रुपये के अतिरिक्त अन्य प्रकार के छोटे सिक्के भी चलन मे थे। इनका मूल्य रुपये के साथ सम्बन्धित था तथा इनको रुपये या चादी मे बदलवाया जा सकता था। परन्तु १८७१ के पश्चात् चाँदी का मूल्य गिरने लगा जिसके फलस्वरूप रुपये का मूल्य भी घटने लगा। अन्त मे १८९३ मे स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई स्थगित कर दी गई जिससे रजत मान समाप्त हो गया।

(ब) स्वर्ण-मान (Gold Standard)—वह मुद्रा प्रणाली है जिसके अन्तर्गत देश की प्रामाणिक मुद्रा सोने की बनी हुई होती है अथवा उसका मूल्य सोने मे निर्धारित होता है। रॉबर्टसन (Robertson) के शब्दों मे "स्वर्ण-मान उस दशा को कहते हैं जिसमे कोई देश अपनी मुद्रा की इकाई का मूल्य और सोने के एक निश्चित तोल का मूल्य एक-दूसरे के बराबर रखता है।"

स्वर्णमान के भेद—स्वर्ण-मान के मुख्य रूप निम्नलिखित है :—

(१) स्वर्ण-मुद्रा-मान, (२) स्वर्ण धातु मान और (३) स्वर्ण विनिमय मान।

(१) स्वर्ण-मुद्रा मान (Gold Currency Standard)—वह है जिसके अन्तर्गत सोने के सिक्के देश मे प्रामाणिक मुद्रा के रूप मे चलते है। ये सिक्के विनिमय माध्यम का काम भी करते है और मूल्य मापन के काम मे भी आते हैं। इनके अतिरिक्त देश मे अन्य प्रकार की मुद्राएँ भी प्रचलित होती है, परन्तु उनका मूल्य सोने के प्रामाणिक सिक्के के साथ सम्बन्धित होता है तथा इनको सोने मे या सोने के प्रामाणिक सिक्कों मे बदलवाया जा सकता है और यदि साथ ही साथ पत्र मुद्रा अर्थात् कागज के नोट भी चलते हो तो वे सोने की मुद्राओ मे परिवर्तनीय होते है।

चलन—स्वर्ण-मुद्रा मान सबसे पहले ग्रेट ब्रिटेन मे सन् १८१६ मे चालू किया गया था, यद्यपि बाद मे संसार के अन्य देशो ने भी आदर्श मानकर उसको अपना लिया। परन्तु प्रथम महायुद्ध-काल तथा उसके बाद स्वर्ण-मुद्रा-मान का चलन बन्द हो गया और उसके स्थान मे अन्य प्रकार के स्वर्णमान चलने लगे।

विशेषताएं (Characteristics)

(१) सोना मूल्य-मापन तथा विनिमय-माध्यम दोनों का काम करता है। (२) स्वर्ण-मुद्रा-मान के अन्तर्गत सोने के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा के रूप मे चलते हैं। (३) सोने के सिक्कों की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई होती है। (४) सोने के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नही होता। (५) सोने के सिक्कों के साथ कागज के नोट तथा अन्य प्रकार के सिक्के चलते है जो सोने के सिक्कों मे परवर्तनीय होते है।

(२) स्वर्ण-धातु-मान (Gold Bullion Standard)—वह मुद्रा प्रणाली है जिसके अन्तर्गत सोना 'मूल्य-मापन' का काम करता है परन्तु 'विनिमय-माध्यम' का काम नही करता अर्थात् सोने के सिक्के नही चलाये जाते। देश मे कागज के नोट तथा चाँदी के सिक्के चलाये जाते है, परन्तु इनके बदले मे सोना (धातु के रूप मे) लिया जा सकता है। सोने के आयात-निर्यात पर भी किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नही होता। देश की सरकार निश्चित दर पर जनता को सोना बेचती है तथा जनता से खरीदती है।

चलन—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् स्वर्ण-मुद्रा-मान को चलाना असम्भव था। इस कारण उस समय स्वर्ण-धातु-मान चलन मे आया। स्वर्ण-धातु मान उन सब देशों ने ग्रहण किया जिनके पास पर्याप्त मात्रा मे स्वर्ण कोष था। इस प्रकार इस मान को १९२५ मे इङ्गलेड ने, १९१८ मे फ्रांस ने तथा १९३४ मे अमेरिका ने स्वर्ण कोष-एक्ट पास करके एक दूसरे रूप मे ग्रहण किया। सन् १९२५ मे हिल्टन-यंग कमीशन ने भारत के लिये भी इसी मान को ग्रहण करने का सुझाव दिया था। भारत सरकार ने सुझाव को मान लिया और सन् १९२७ से १९३१ तक भारत मे भी रहने के लिये यही मान रहा पर वास्तव मे इस देश मे 'स्टर्लिङ्ग-विनिमय मान' रहा।

विशेषताएं (Characteristics)

(१) स्वर्ण-धातु-मान के अन्तर्गत सोना केवल 'मूल्य-मापन' का ही काम करता है। (२) स्वर्ण-धातु मान के अन्तर्गत सोने के सिक्के नहीं चलाये जाते। (३) कागज के नोट, चाँदी के सिक्के तथा अन्य प्रकार के सहायक सिक्के चलते है जो सोने मे परिवर्तनीय होते है। (४) सिक्कों व नोटों के बदले मे निश्चित दर पर तथा निश्चित-राशि मे सोना खरीदा जा सकता है। (५) सोना किसी भी काम के लिये खरीदा जा सकता है। (६) सोने के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। (७) सोने के क्रय विक्रय का काम सरकार का होता है जिसके लिये सरकार को सोने का एक कोष रखना पड़ता है।

(३) स्वर्ण-विनिमय-मान (Gold Exchange Standard)—वह मुद्रा-प्रणाली है जिसके अन्तर्गत स्वर्ण धातु-मान की भाँति सोने के सिक्के नहीं चलाये जाते। सोना केवल विदेशी भुगतान के लिये ही प्रयुक्त किया जाता है। देश के आन्तरिक प्रयोग के लिये पत्र-मुद्रा तथा चाँदी के सिक्के

और अन्य सहायक सिक्के चलाये जाते हैं जिनका मूल्य शुद्ध सोने की निश्चित मात्रा में निर्धारित किया जाता है। इसमें चलन वाली सांकेतिक मुद्रा का मूल्य स्थायी रखने का काम सरकार का होता है।

चलन स्वर्ण विनिमय मान को सब प्रथम सन् १८७७ में हालैण्ड ने चालू किया था। फिर सन् १८९२ में रूस और आस्ट्रिया व हंगरी ने भी इसे अपना लिया था। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भी मध्य यूरोप के कुछ देशों ने इसको अपनाने का प्रयत्न किया। सन् १९२२ की जिनेवा कान्फ्रेन्स ने भी इस मान को ग्रहण करने का सुझाव दिया था।

विशेषताएं (Characteristics)

(१) मान के सिक्के नहीं चलाये जाते। सोना विनिमय माध्यम का काम नहीं करता वरन् मूल्यमापन का काम ही करता है। (२) देश में आन्तरिक प्रयोग के लिये पत्र-मुद्रा चांदी के सिक्के तथा अन्य प्रकार के सस्ते सिक्के चलाये जाते हैं जिनका मूल्य सोने के साथ सम्बन्धित कर दिया जाता है। (३) विदेशी भुगतान के लिये सरकार निश्चित मूल्य पर देश की मुद्रा व सिक्कों के बदले में सोना देने को बाध्य होती है। सरकार सोना या सोने पर आधारित अन्य मुद्रा भी दे सकती है। (४) सोना केवल विदेशी भुगतान करने के लिये ही खरीदा जा सकता है देशी कामों के लिये नहीं। (५) सोने का स्वतन्त्र आयात निर्यात नहीं होता। (६) सोना बेचने का काम सरकार का होता है। इसके लिये सरकार को दो कोष बनाकर रखने पड़ते हैं—एक देश में और दूसरा विदेश में।

भारत में स्वर्ण विनिमय मान—भारत में यह पद्धति १९०७-८ में स्थापित हुई और प्रथम महायुद्ध-काल तक चलती रही। उस समय १ रुपया १ शि० ४ पे० के बराबर बना दिया गया। इसी दर पर १ पौंड १५ रुपये के बराबर होता था। भारत सरकार के पास दो कोष थे—एक कोष इंगलैण्ड में भारत मन्त्री के पास रहता था और दूसरा कोष भारत में रखा जाता था। यह पद्धति लगभग १९१७ तक चलती रही। प्रथम महायुद्ध में चांदी के मूल्य में वृद्धि होने से रुपये के मूल्य में वृद्धि करनी पड़ी और रुपये का मूल्य २ शि० ४ पे० तक हो गया और अन्त में रुपये के मूल्य के परिवर्तन के कारण इस प्रणाली को छोड़ना पड़ा। सन् १९२७ से सन् १९३१ तक जो प्रणाली देश में प्रचलित रही उसमें भी स्वर्ण विनिमय मान तथा स्वर्ण धातुमान का सम्मिश्रण था।

सितम्बर १९३१ में इंगलैण्ड ने स्वर्ण मान पद्धति का परित्याग कर दिया जिसके कारण भारत के स्वर्ण विनिमय मान का अन्त हो गया। भारतवर्ष के रुपये का मूल्य इंगलैण्ड के कागजी नोट (Sterling) में १ शि० ६ पे० के बराबर निर्धारित कर दिया। भारतवर्ष की सरकार इस भाव पर इंगलैण्ड की पत्र-मुद्रा का स्वतन्त्र क्रय विक्रय कर सकती थी। इस प्रणाली को स्टर्लिंग विनिमय मान (Sterling Exchange Standard) कहते हैं। यह प्रणाली भारतवर्ष के लिये बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई। सन् १९३५ में रुपया और स्टर्लिंग का अनुपात बनाये रखने का उत्तरदायित्व रिजर्व बैंक के सुपुर्द कर दिया गया था। १ अप्रैल सन् १९४७ से रुपये का स्टर्लिंग से सम्बन्ध टूट गया और भारत के अन्तर्राष्ट्रीय कोष का सदस्य हो जाने के कारण इसका अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा मान हो गया।

(२) द्वि धातुमान (Bimetallism)—वह प्रणाली है जिसके अन्तर्गत दो धातुओं (प्रायः सोने या चाँदी) के सिक्के अलग-अलग मुद्रा के रूप में चलते है। दोनों धातुओं के सिक्के असीमित विधिग्राह्य होते है और इनकी स्वतन्त्र ढलाई होती है। दोनों सिक्के एक ही नाम, रूप और नाप के होते है तथा दोनों को एक सी मान्यता होती है। दोनों धातुओं की विनिमय दर अर्थात् टकसाली दर (Mint Ratio) कानून द्वारा निश्चित की जाती है जिस पर कि वे स्वतन्त्रतापूर्वक बदले जा सकते है। दोनों धातुओं के आयात निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

विशेषताएं (Cheracteristics)

(१) दो धातुओं के सिक्के अलग अलग प्रामाणिक सिक्के होते है। (२) दोनों प्रकार के सिक्के असीमित विधिग्राह्य होते है। (३) दोनों धातुओं के सिक्कों का पारस्परिक विनिमय मूल्य कानून द्वारा निर्धारित होता है। (४) दोनों धातुओं की स्वतन्त्र ढलाई होती है। (५) दोनों धातुओं के सिक्कों का 'अंकित मूल्य उनके वास्तविक मूल्य' मुद्रा के बराबर होता है। (६) दोनों धातुओं के सिक्के विनिमय माध्यम (Medium of Exchange) तथा मूल्य मापन (Measure of Value) का काम करते है (७) दोनों धातुओं के आयात निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

चलन—द्वि धातुमान का प्रचार १६ वी शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। फ्रांस ने इसको सन् १८०३ में ग्रहण किया और सन् १८७४ में त्याग दिया। संयुक्त राज्य अमरिका ने द्वि धातुमान को १७६२ में अपनाया और यह वहाँ सन १८७३ तक प्रचलित रहा। सन् १८६५ में फ्रांस, बेल्जियम, इटली व स्विट्जरलैंड आदि देशों ने द्वि धातुमान को चालू रखने के लिये एक 'लैटिन संघ (Latin Union) बनाया परन्तु यह प्रयत्न कुछ समय तक ही सफल रह सका और अन्त में उन्हें इसे त्यागना ही पड़ा। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि दोनों धातुओं की निश्चित विनिमय दर स्थिर नहीं रखी जा सकी। कभी सोने की तुलना में चाँदी सस्ती हो जाती थी और कभी चाँदी की तुलना में सोना सस्ता हो जाता था जिससे 'ग्रेशम का नियम' (Gresham's Law) लागू हो जाता था।

उदाहरण—मान लीजिये, किसी देश में सोने और चाँदी दो धातुओं के सिक्के प्रचलित है और उनकी पारस्परिक विनिमय दर अर्थात् उनका 'कानूनी मूल्य (Legal Value) या 'टकसाली दर' (Mint Ratio) १:१५ है। इसका अर्थ यह है कि १ सोने के सिक्के के बदले १५ चाँदी के सिक्के मिल सकते है। अब यदि सोने की पूर्ति की मात्रा में वृद्धि हो जाती है, तो चाँदी के सिक्के सोने के सिक्कों की तुलना में तेज हो जायगे। मान लीजिये यह अनुपात अब १:१४ हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि १ सोने के सिक्के बदले में अब केवल १४ ही चाँदी के सिक्के प्राप्त होते है, अर्थात् चाँदी का बाजार मूल्य बढ़ गया और सोने का गिर गया। दूसरे शब्दों में यह कहेंगे कि चाँदी का अधिमूल्यन (Over-valuation) हो गया और सोने का अधोमूल्यन (Under-valuation) हो गया। ऐसी परिस्थिति में कोई भी व्यक्ति चाँदी लाकर उसके सिक्के ढलवाना पसन्द नहीं करेगा और न कोई व्यक्ति १५ चाँदी

के सिक्के देकर १ सोने का सिक्का ही लेना पसन्द करेगा, क्योंकि बाजार में चाँदी का मूल्य बढ़ जाने के कारण १५ चाँदी के सिक्कों के बदले में १ सोने के सिक्के से अधिक मिल सकेगा। अब तो प्रत्येक व्यक्ति सोना ले जाकर उसके सिक्के बनवाने लगेगा जिसके परिणाम-स्वरूप देश में सोने ही सोने के सिक्के दिखाई देंगे और चाँदी के सिक्के अदृश्य हो जायँगे। इसका कारण स्पष्ट है। चाँदी का मूल्य बढ़ जाने से लोग चाँदी को गला गला कर धातु के रूप में बेचने लगेंगे या विदेशी भुगतान के लिए विदेशों में निर्यात कर देंगे। इस प्रकार दोनों धातुओं के कानूनी या टकसाली दर में विषमता हो जायगी।

इसके विपरीत, यदि चाँदी की पूर्ति में वृद्धि हो जाती है, तो सोने की तुलना में चाँदी सस्ती हो जायगी। मान लीजिये अब यह अनुपात १ : १७ हो जाता है, अर्थात् सोने का अधिमूल्यन हो गया और चाँदी का अधोमूल्यन हो गया। अधोमूल्यित (Under-valued) धातु अर्थात् चाँदी अधिमूल्यित (Over valued) धातु अर्थात् सोने को चलन से बाहर करने लगेगी। सोने का मूल्य बढ़ जाने से अब लोग सोने को या तो गला कर धातु के रूप में बेचने लगेंगे अथवा भुगतान करने के लिये विदेशों में भेज देंगे। इसका परिणाम यह होगा कि देश में चाँदी ही चाँदी के सिक्के दिखाई देंगे और सोने के सिक्के अदृश्य हो जायँगे। दूसरे शब्दों में, 'ग्रेशम का नियम' लागू हो जायगा।

(३) पंगु-द्वि-धातुमान (Limping Bi-metallism) – यह प्रणाली है जिसके अन्तर्गत दो धातुओं (प्रायः सोने और चाँदी) के सिक्के देश में मुख्य या प्रामाणिक मुद्रा के रूप में चलते हैं तथा वे असीमित विधिग्राह्य होते हैं और दोनों का एक दूसरे से निश्चित अनुपात में सम्बन्ध होता है, किन्तु इनमें से केवल एक ही धातु (प्राय: सोने) की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई होती है। दूसरी धातु के सिक्के ढालने का एकाधिकार सरकार को ही होता है।

यह प्रणाली शुद्ध द्वि-धातुमान का विकृत और अपूर्ण रूप है। इसलिये इसे पंगु अर्थात् लँगड़ा द्वि-धातुमान कहते हैं। जब कभी देश में शुद्ध द्वि-धातुमान हो परन्तु ग्रेशम के सिद्धान्त के अनुसार एक सिक्का दूसरे सिक्के को चलन से बाहर निकाल दे तो सरकार उन दोनों धातुओं में से सस्ती धातु की स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई बन्द कर देती है। उसी समय पंगु-मान (Limping Standard) स्थापित हो जाता है।

विशेषताएँ (Characteristics)

(१) दो धातुओं के सिक्के अलग अलग प्रामाणिक मुद्रा के रूप में चलते हैं। (२) दोनों असीमित विधिग्राह्य होते हैं। (३) दोनों का पारस्परिक मूल्य कानून द्वारा निर्धारित किया जाता है। (४) परन्तु केवल एक धातु की ही स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई होती है।

चलन—यह प्रणाली प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के पूर्व फाँस और अमेरिका में प्रचलित थी तब वहाँ सोने और चाँदी के सिक्के असीमित विधिग्राह्य मुद्रा के रूप में प्रचलित थे। परन्तु स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई केवल सोने की ही थी।

भारतवर्ष में पंगु-मान (Limping Standard in India)—भारतवर्ष में फाउलर कमेटी (Fowler Committee) ने सन् १८९८ में पंगु-मान

स्थापित करने की सिफारिश की थी। उन्होंने यह सिफारिश की थी कि देश में सोने और चाँदी दोनों ही धातुओं की मुद्राएँ प्रामाणिक हो, परन्तु स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई केवल सोने की ही हो।

(४) पत्र मान (Paper Standard)—वह प्रणाली है जिसके अन्तर्गत कागज के नोट ही मुख्य या प्रामाणिक मुद्रा के रूप में विनिमय-माध्यम और मूल्य-मापन का काम करते है और जिनका मूल्य किसी भी धातु के साथ निश्चित नहीं किया जाता। ये अपरिमित विधिग्राह्य होते है तथा इनका अपना कोई वास्तविक मूल्य नहीं होता। ये केवल सरकारी आज्ञा के कारण ही चलते है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इन कागज के नोटों के बदले बाजार में सोना या चाँदी नहीं मिल सकता वरन् इसका यह अभिप्राय है कि इन नोटों के बदले सरकार किसी प्रकार भी सोना या चाँदी देने के लिये बाध्य नहीं की जा सकती। इस प्रकार की मुद्रा-प्रणाली प्राय. युद्धकाल या अन्य संकट के समय कार्य रूप में लाई जाती है।

विशेषतायें (Characteristics)

(१) पत्र-मुद्रा ही विनिमय माध्यम एवं मूल्य-मापन का काम करती है। (२) पत्र-मुद्रा ही देश की मुख्य एवं प्रामाणिक मुद्रा होती है। (३) ये असीमित विधिग्राह्य होते है। (४) पत्र-मुद्रा का मूल्य सोने या चाँदी से सम्बन्धित नहीं होता और न इसका सोने या चाँदी में परिवर्तन ही हो सकता है। (५) मूल्य स्तर में समानता रखने के लिये सरकार द्वारा अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा इस प्रणाली का संचालन किया जाता है। (६) विदेशी ऋणों के भुगतान के लिये देश में स्वर्ण-कोष की आवश्यकता होती है, किन्तु आजकल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा ऋणों का भुगतान होने के कारण ऐसे कोष की आवश्यकता नहीं पड़ती।

नियन्त्रित मुद्रा-प्रणाली (Managed Currency System)—वह मुद्रा प्रणाली है जिसका नियन्त्रण एवं संचालन सरकार या केन्द्रीय बैंक द्वारा होता है जो आवश्यकतानुसार नोटों की संख्या कम या अधिक करता रहता है जिससे देश का मूल्य-स्तर सदा ठीक रहे।

(५) विनिमय-मान (Exchange Standard)—वह मुद्रा-प्रणाली है जिसके अन्तर्गत देश के आन्तरिक व्यवहारों के लिये चाँदी अथवा कागज की सांकेतिक मुद्रा उपयोग में लाई जाती है तथा विदेशी विनिमय के लिये उसका सम्बन्ध किसी दूसरे प्रमुख देश की मुद्रा से किसी निश्चित दर पर जोड़ दिया जाता है। जिस देश की मुद्रा के साथ इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है उसी देश की मुद्रा के पीछे मान का नाम रखा जाता है। जैसे, स्टर्लिङ्ग विनिमय-मान, डालर-विनिमय-मान आदि।

भारतवर्ष में विनिमय मान—भारतवर्ष में सन् १९२५ से १९४७ तक एक रुपया स्टर्लिङ्ग से १ शि० ६ पें० (१८ पेंस) पर सम्बन्धित रहा। अतः हमारे देश में मार्च १९४७ तक 'स्टर्लिङ्ग विनिमय मान' (Sterling Exchange Standard)

था। परन्तु अब भारत के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य होने से एवं भारतीय रुपये का मूल्य स्वर्ण में निश्चित होने से रुपये स्टर्लिङ्ग का सम्बन्ध विच्छेद होकर रुपया अन्तर्राष्ट्रीय प्रमाण में स्वतन्त्र हो गया है।

भारतवर्ष का वर्तमान मान – १ अप्रैल १९४७ से रुप्या-स्टर्लिंग गठबन्धन टूट गया। भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) तथा पुनर्निर्माण एवं विकास के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank for Reconstruction & Development) का सदस्य हो गया है। मुद्रा-कोष के सभी सदस्यों ने अपना अपनी मुद्रा का सम मूल्य (Par Value) सोने में व्यक्त कर दिया है। भारत ने भी रुपये का मूल्य सोने में ० २६८६०१ ग्राम शुद्ध स्वर्ण निश्चित कर दिया है। इस प्रकार संसार के अधिकांश देशों की मुद्राओं का मूल्य सोने में व्यक्त होने के कारण एक प्रकार से अब स्वर्ण मान पुनः स्थापित हो गया है जिसके अन्तर्गत सारी मुद्राओं का मूल्य मापक है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य देशों की मुद्राएँ आपस में कोष की सहायता से एक दूसरे में बदली जा सकती हैं। अस्तु अब हम कह सकते हैं कि आज स्वर्ण मान पुनः एक नवीन रूप में हमारे सामने प्रस्तुत है जिसमें अधिकांश मुद्राओं का मूल्य मापक है। इस दूसरे शब्दों में हम यों भी कह सकते हैं कि आज बहु मुद्रा मान प्रणाली (Multiple Currency Standard) है जिसमें एक मुद्रा का अन्य मुद्राओं से सम्बन्ध है। इसलिए हम कह सकते हैं कि वर्तमान समय में भारत में अन्तर्राष्ट्रीय मान (International Standard) है।

उत्तम मुद्रा मान अथवा मुद्रा प्रणाली के लक्षण

(१) मूल्य स्थिरता (Stability in Value)– उत्तम मुद्रा-मान अथवा मुद्रा प्रणाली का सबसे बड़ा गुण यह है कि मुद्रा का मूल्य स्थिर रहे। मुद्रा के मूल्य में अस्थिरता होने से समाज के विभिन्न वर्गों, व्यापार, व्यवसाय तथा आर्थिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(२) लोच (Elasticity)–मुद्रा मान प्रणाली में लोच का होना भी आवश्यक है जिससे देश की व्यापारिक आवश्यकता के अनुसार मुद्रा की परिमाण घटाया बढ़ाया जा सके। मुद्रा के मूल्य में स्थिरता लाने के लिये मुद्रा मान में लोच होना आवश्यक है।

(३) सरलता (Simplicity)–मुद्रा प्रणाली जटिल नहीं होनी चाहिए। यह ऐसी सरल और बोधगम्य हो कि साधारण जनता भी उसे सरलतापूर्वक समझ सके।

(४) मितव्ययता Economy)– मुद्रा पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि जिसमें अधिक व्यय न हो। न तो उसे चलाने के लिये मूल्यवान धातुओं की आवश्यकता होनी चाहिए और न उसके प्रबन्ध एवं संचालन में अधिक व्यय होना चाहिए। स्वर्ण मुद्रा मान और स्वर्ण धातु मान प्रणालियाँ बहुत खर्चीली हैं, अतः उसके चलाने के लिये बहुत व्यय करना पड़ता है।

(५) स्वयं पूर्ण कार्यशीलता (Automaticity)– मुद्रा प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जो स्वयं ही चलती रहे और जिसमें सरकार के हस्तक्षेप की अधिक आवश्यकता न हो। जिस पद्धति में सरकार का हस्तक्षेप अधिक होता है उसमें जनता का विश्वास कम हो जाता है अतः मुद्रा प्रणाली स्वयं पूर्ण कार्यशील होनी चाहिए जिससे उसमें अनिश्चितता न रहे।

(६) जनता का विश्वास (Public Confidence)—कुछ लोगों के मतानुसार एक उत्तम या आदर्श मुद्रा प्रणाली का विशेष गुण यह है कि वह जनता में अपना स्थान बना ले और लोगों का उसमें विश्वास हो। यदि जनता का उसमें विश्वास न होगा तो सरल से सरल प्रणाली का चलाना भी कठिन हो जायगा। विश्वास बनाने के लिये प्रणाली में मूल्य स्थिरता लाने की सामर्थ्य होनी चाहिए।[1]

सारांश—मुद्रा प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिसके अन्तर्गत छोटे बड़े मूल्य की सब प्रकार की मुद्राएँ चल सकें जिसमें छोटे मोटे सब प्रकार के भुगतानों में सुविधा रहे। मुद्रा प्रणाली लोचदार, कम खर्चीली, सरल तथा ऐसी होना चाहिए जिसमें परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन हो सके।

ग्रेशम का नियम (Gresham's Law)

परिचय (Introduction)—ग्रेशम का नियम मनुष्य के स्वभाव पर आधारित है। जब नये या अच्छे और पुराने या घिसे हुए सिक्के समान रूप से विधिग्राह्य होते हैं, तो मनुष्य अपनी खरीद के लिए प्रायः पुराने या घिसे हुए सिक्के ही काम में लाते हैं और अच्छा या नया सिक्का अपने पास संचित रखते हैं। उदाहरणार्थ किसी मनुष्य की जेब में एक खोटा या घिसा रुपया तथा एक अच्छा या नया रुपया हो तो वह पहले घिसे या खोटे रुपये को चलाने का ही प्रयत्न करता है। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति के पास एक चाँदी का सिक्का हो और दूसरा कागज का नोट हो, तो स्वभावतः वह व्यक्ति चाँदी के सिक्के को अपने पास रखता है और नोट से भुगतान करता है। यदि किसी के पास एक बिल्कुल नया नोट हो और दूसरा मैला हो तो वह मैले नोट को पहले चलाने का प्रयत्न करता है और नये नोट को अपने पास रख लेता है। इन सब उदाहरणों में यह स्पष्ट है कि बुरी या दूषित मुद्राओं को लोग चलाने का प्रयत्न करते हैं और अच्छी या नई मुद्राओं को अपने पास संचित कर रख लेते हैं। यह मनुष्य की मानसिक प्रवृत्ति ही ग्रेशम का नियम है।

इस नियम का नाम सर टॉमस ग्रेशम (Sir Thomas Gresham) के नाम के पीछे रखा गया है जो कि लन्दन का एक प्रसिद्ध व्यापारी था और इङ्गलैंड की महारानी एलिजाबेथ (Elizabeth) का आर्थिक सलाहकार था। एलिजाबेथ के पहले ट्यूडर (Tudor) राजाओं ने बहुत ही निकृष्ट और घिसी हुई मुद्रायें चला रखी थीं जो इङ्गलैंड जैसे समृद्धिशाली देश के लिये शोभा की बात नहीं थी। इसलिए महारानी ने कानून द्वारा निश्चित धातु की पूर्ण मात्रा के सिक्के ढलवाये परन्तु जैसे ही नये सिक्के चलन में आये, वैसे ही वे लुप्त हो गये। इस प्रकार कई बार नये सिक्के प्रचलित किये गये परन्तु वे चलन से बाहर हो गये। चिन्तित होकर एलिजाबेथ ने सर टामस ग्रेशम से सलाह ली। ग्रेशम ने बतलाया कि जब किसी देश में अच्छी और बुरी मुद्रायें एक साथ प्रचलित होती हैं, तो अच्छी मुद्रा चलन में लोप हो जाती है अर्थात् बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से निकाल बाहर करती है। मुद्रा की यह प्रवृत्ति अर्थशास्त्र में ग्रेशम के नियम या सिद्धान्त के नाम से विख्यात है। इस नियम का प्रति-

1—The main need of the hour today ... is more confidence. There can be no surer route to—establishment of confidence than the stabilization of exchanges.'
—L. Robbins

पादन ग्रेशम से पहले भी हो चुका था, परन्तु ग्रेशम ने ही सबसे पहले इसे वैज्ञानिक ढंग से रखा था। मैकलियाड ने सर्व प्रथम इस नियम का नाम 'ग्रेशम का सिद्धान्त' रखा।

ग्रेशम का नियम (Gresham's Law)—ग्रेशम का नियम इस प्रकार है बुरी या निकृष्ट मुद्रा में अच्छी या उत्कृष्ट मुद्रा को चलन से बाहर निकालने की प्रवृत्ति होती है।[1]

नियम की कुछ ज्ञातव्य बातें

(१) बुरी एवं 'अच्छी' मुद्राएँ (Bad & Good Money)—ग्रेशम का नियम समझने के लिये 'बुरी' और 'अच्छी' मुद्राओं का अर्थ समझना आवश्यक है। बुरी मुद्रा का अर्थ यहाँ केवल खोटी मुद्रा से ही नहीं है वरन् उस मुद्रा से भी है जो अपनी जैसी मुद्राओं की अपेक्षा तोल में कम हो या रूप-रंग और आकृति में बुरी हो, मैली हो, घिसी हो अथवा कटी फटी हो। यही नहीं यदि दो धातुओं की मुद्राएँ किसी निश्चित विनिमय दर पर देश में प्रचलित हों, तो बाजार दर पर कम मूल्य की मुद्रा बुरी या निकृष्ट मुद्रा होगी और उसके अनुपात में अधिक मूल्य की मुद्रा अच्छी या उत्कृष्ट मुद्रा कहलायेगी।

(२) ग्रेशम नियम की विचित्रता—ग्रेशम के नियम में एक बड़ी विचित्रता है। साधारणतया मनुष्य खाने-पीने आदि में उत्तम वस्तु का उपभोग करता है और बुरी या निकृष्ट वस्तु का बहिष्कार करता है। परन्तु मुद्रा के चलन में यह बात बिल्कुल विपरीत देखी जाती है। बुरी मुद्राओं को लोग काम में लाते हैं और अच्छी मुद्राएँ संचित कर रखते हैं। इसका कारण यह है कि अच्छी मुद्रा में धातु के रूप में मूल्य अधिक होता है, इसलिये या तो गाड़ कर अपने अनुत्पादित सञ्चय (Hoarding) के रूप में रख देते है या उसको गला कर जेवर आदि बना लेते है अथवा उनको विदेशी भुगतान के लिये विदेशों में भेज देते हैं, क्योंकि विदेशी मुद्रा को तौल कर धातु के मूल्य में भुगतान स्वीकार करता है।

मार्शल (Marshall) द्वारा इस नियम की परिभाषा - प्रो० मार्शल ने इस नियम को इस प्रकार परिभाषित किया है बुरी या निकृष्ट मुद्रायें यदि मात्रा में सीमित नहीं है तो अच्छी या उत्कृष्ट मुद्राओं को चलन के बाहर निकाल देती है।[2] इस परिभाषा में मार्शल ने अपनी ओर से ही ये शब्द लगाये हैं यदि मात्रा सीमित नहीं है। इसका अर्थ यह है कि यदि बुरी मुद्रा की मात्रा सीमित हुई और अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की मुद्राएँ मिलकर लोगों की मुद्रा की आवश्यकताओं से कम हुई तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा का चलन से बाहर नहीं निकाल सकेगी। परन्तु यदि बुरी मुद्रा की मात्रा असीमित हुई, तो वही मुद्रा भुगतान करने के काम में आती रहेगी और अच्छी मुद्रा चलन से बाहर हो जायगी।

ग्रेशम नियम के लागू होने की परिस्थितियाँ, अर्थात् ग्रेशम-नियम का क्षेत्र (Scope)—ग्रेशम का नियम निम्नलिखित तीन अवस्थाओं में किसी देश में लागू होता है —

1—Bad money tends to drive good money out of circulation

2—An inferior Currency, if not limited in quantity, will drive the superior Currency out of circulation —*Marshall*

(१)—एक धातुमान प्रणाली के अन्तर्गत (Under Mono metallism)—जब किसी देश मे एक ही धातु बने किन्तु विभिन्न तोल (Weight) या विभिन्न शुद्धता (Fineness) अथवा विभिन्न तोल व शुद्धता के सिक्के एक ही अंकित मूल्य (Face Value) पर प्रचलित हो, तो बुरे सिक्के अच्छे सिक्कों को चलन से बाहर कर देंगे। यहाँ बुरे सिक्कों से अर्थ है कम तोल या शुद्धता वाले सिक्कों से और अच्छे सिक्कों से है पूर्ण तोल या शुद्धता वाले सिक्कों से अर्थ उदाहरणार्थ, जब हमारे देश में एडवर्ड के रुपये चल रहे थे तब एक रुपये के नोट और निकल के रुपये चलाये गये, तो शीघ्र ही एडवर्ड के रुपये जो अच्छी मुद्रा थी चलन से लुप्त हो गई।

(२)—द्वि-धातुमान प्रणाली के अन्तर्गत(Under Bi-metallism)—जब किसी देश मे दो विभिन्न धातुओं के सिक्के अलग-अलग किसी निश्चित अनुपात पर प्रचलित हो, तो जिस धातु का मूल्य बाजार में बढ जाता है उस धातु के सिक्के चलन से हट जाते है? उदाहरणार्थ, मान लीजिये किसी देश मे सोने और चाँदी दोनो के सिक्के प्रचलित हैं और उनका टकसाली- अनुपात १:१५ है, अर्थात् एक सोने का सिक्का बराबर है १५ चाँदी के सिक्कों के। यदि बाजार में चाँदी का भाव बढ जाय और एक सोने के सिक्के में केवल १४ चाँदी के सिक्के मिलने लगे, तो इसका अर्थ यह होगा कि दोनो सिक्कों की कानूनी विनिमय दर या टकसाली-अनुपात और बाजार-विनिमय-दर मे अन्तर हो गया, अर्थात् टकसाली अनुपात १ १५ है और बाजार-अनुपात १:१४ हो गया। ऐसी परिस्थिति मे चाँदी के सिक्के अधिमूल्यित (Over-valued) हो गये और सोने के सिक्के अधोमूल्यित (Under valued) हो गये। अब प्रत्येक व्यक्ति चाँदी के १५ सिक्के देकर सोने का १ सिक्का लेने के स्थान मे चाँदी के १४ सिक्के गलाकर बाजार से उनकी चाँदी के बदले में सोने का एक सिक्का खरीदने लगेगा और इस प्रकार उसे चाँदी के एक सिक्के की बचत हो जायगी। अत: चाँदी के सिक्के गलने लगेंगे और चलन मे सोने के सिक्के ही रह जायेंगे। इसी प्रकार चाँदी का बाजार-भाव गिर जाने पर बाजार-विनिमय-दर १:१६ हो जायगी अर्थात् चाँदी अधोमूल्यित हो जायगी और सोना अधिमूल्यित हो जायगा जिसके फलस्वरूप चाँदी (बुरे सिक्के के रूप मे) चलन में रहेगी और सोना (अच्छे सिक्के के रूप मे) चलन से हट जायगा।

इस प्रकार द्वि-धातुमान प्रणाली मे ग्रेशम का नियम लागू होगा।

(३)—पत्र-विनिमय के अन्तर्गत (Under Paper Standard)—यदि किसी देश मे उसकी वास्तविक आवश्यकता से अधिक पत्र मुद्रा जारी कर दी जाय, तो मूल्यवान् धातुओं के सिक्के चलन से हट जायेंगे। अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा मूल्यवान् धातु-मुद्रा की तुलना मे अवश्य ही खराब है। यदि इसकी मात्रा मे असाधारण रूप मे वृद्धि कर दी जाय, तो अच्छी मुद्रा अर्थात् धातु के सिक्के चलन से हट जायेंगे। युद्धकाल में जब हमारे देश मे रुपये के सिक्के तथा नोट चलने लगे तो धीरे-धीरे रुपया का चलन बन्द हो गया और नोटों की संख्या बढ़ती गई।

(६) द्विधातुमान के अन्तर्गत यदि टकसाली दर (Mint Ratio) और बाजार-दर (Market Ratio) समान रखे जायं अथवा टकसाली दर को बाजार-दर के साथ साथ बदलता हुआ रखा जाय तो यह नियम लागू नहीं हो सकेगा।

(७) नियन्त्रित चलार्थ प्रणाली (Managed Currency System) अथवा पत्र मान (Paper Standard) के अन्तर्गत यदि पत्र मुद्रा का चलनाधिक्य (Over issue) नहीं होने दिया जाय तो यह नियम लागू नहीं हो सकेगा। पत्र मुद्रा का चलनाधिक्य होने से इसका मूल्य धातु मुद्रा की तुलना में गिर जायगा और लोग धातु मुद्रा को सञ्चय करने लग जायगे।

भारतवर्ष और ग्रेशम का नियम—भारतवर्ष में समय समय पर ग्रेशम का नियम लागू होता रहा है। १६ वीं शताब्दी के अन्त में तथा इस शताब्दी के प्रारम्भ में यहाँ पर चांदी के रुपये तथा सोने के सावरिन (Sovereigns) चलते थे। सोने के सावरिन को लोग गला गला कर जेवर बनवाने के काम में लाते थे या संचित कर रखते थे या विदेशी भुगतान के लिये विदेश में निर्यात कर देते थे। द्वितीय महायुद्धकाल में भी *ग्रेशम का नियम लागू होता रहा है। चांदी की कमी के कारण सरकार ने नये रुपयों* में चाँदी की मात्रा कम कर दी जिसमें देश में दो प्रकार के रुपये हो गये। अधिक चांदी की मात्रा वाले रुपया को लोग सञ्चय करने लगे अथवा गला कर बेचने लगे और केवल कम चांदी वाले रुपये ही चलन में रह गये। उस समय अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा अर्थात् एक रुपये के कागज के नोट भी चलाये। तब इन नोटों और चांदी के सिक्कों में प्रति*योगिता होने लगी। नोटों ने चाँदी के सिक्कों को चलन से बाहर कर दिया।*

मुद्रा का मूल्य निर्धारण
(Determination of Value of Money)

मुद्रा के मूल्य का अर्थ—पिछले अध्यायों में यह बताया जा चुका है कि विभिन्न वस्तुओं का मूल्य रुपये अथवा मुद्रा के रूप में अंकित किया जाता है। परन्तु मुद्रा का मूल्य हम मुद्रा के ही रूप में तो अंकित नहीं कर सकते। यह कहना कि एक रुपये का मूल्य एक रुपया है—कोई तथ्य नहीं रखता। इसलिये मुद्रा का मूल्य अंकित करने के लिये हम साधारण वस्तुओं की सहायता लेनी पड़ती और इसलिये मुद्रा का मूल्य भी वस्तुओं के मूल्य के अर्थ के समान होता है। यदि हम एक रुपये के बदले वस्तुओं और सेवाओं की अधिक मात्रा प्राप्त कर सकते हैं तो रुपये का मूल्य अधिक होता है और यदि एक रुपये के बदले वस्तुओं और सेवाओं की कम मात्रा प्राप्त होती है तो रुपये का मूल्य कम होता है। इसके विपरीत, जब वस्तुओं का मूल्य कम हो तो हमको मुद्रा के बदले इनकी मात्रा अधिक प्राप्त होती है अर्थात् मुद्रा का मूल्य अधिक होता है। इस प्रकार वस्तुओं का मूल्य अधिक होने पर मुद्रा का मूल्य कम होता है और वस्तुओं का मूल्य कम होने पर मुद्रा का मूल्य अधिक होता है। *सारांश यह है कि मुद्रा के मूल्य* में वृद्धि का आशय वस्तुओं के मूल्य में कमी से होता है और मुद्रा के मूल्य में कमी का आशय वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि से होता है। मुद्रा मूल्य की इस प्रवृत्ति को मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) कहते हैं जिसका विस्तृत विवेचन आगे किया जाता है।

मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त

(Quantity Theory of Money)

परिचय (Introduction)—जिस प्रकार वस्तुओं का मूल्य उनकी माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है, उसी प्रकार मुद्रा का मूल्य भी उसकी माँग और पूर्ति पर निर्भर होता है। अस्तु, दोनों के लिये मूल्य-निर्धारण का एक ही सिद्धान्त हो सकता है। परन्तु मुद्रा के माँग और पूर्ति पक्षों की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिससे मुद्रा के मूल्य निर्धारण का पृथक सिद्धान्त हो सकता है, यद्यपि कुछ अर्थशास्त्री अब भी दोनों के लिये एक ही सिद्धान्त रखने के पक्ष में हैं।

मुद्रा की माँग (Demand for Money)—अन्य वस्तुओं की भाँति मुद्रा वस्तु का प्रत्यक्ष रूप में कोई उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि स्वयं मुद्रा में उपयोगिता नहीं होती बल्कि इसका उपयोग अन्य वस्तुओं को इसके द्वारा प्राप्त करने में होता है। सैलिगमैन (Seligman) के अनुसार "मुद्रा एक प्रकार का टिकट है जो इसके स्वामी को इच्छित वस्तुएँ प्राप्त कराने में सहायता करता है, यह विनिमय-माध्यम है।" मुद्रा एक क्रय-शक्ति (Purchasing Power) है और इसकी आवश्यकता और माँग इसलिये होती है कि वर्तमान युग में मुद्रा के बिना किसी भी वस्तु को प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिये मुद्रा की माँग अन्य वस्तुओं की माँग पर निर्भर है। यदि वस्तुओं की माँग अधिक होगी तो मुद्रा की माँग भी अधिक होगी। मुद्रा की माँग की एक विशेषता यह है कि इसमें माँग की लोच इकाई के बराबर होती है जबकि अन्य वस्तुओं में ऐसा कभी-कभी ही होता है। लोग मुद्रा की मात्रा की माँग नहीं करते हैं बल्कि उसकी क्रय शक्ति की मात्रा की माँग करते हैं। यदि मुद्रा की पूर्ति पहले से दुगुनी हो गई है और, अन्य बातें स्थिर रहें तो लोग उन्हीं वस्तुओं के खरीदने के लिये दुगुनी मुद्रा की माँग करेंगे, अर्थात् मूल्य दुगुने हो जायेंगे। इसी प्रकार यदि मुद्रा की पूर्ति आधी हो गई है, तो लोग आधी मुद्रा की ही माँग करेंगे, क्योंकि मुद्रा का मूल्य अर्थात् उसकी क्रय-शक्ति बढ़ जायगी।

मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money)—मुद्रा की पूर्ति से आशय है प्रचलित मुद्रा के कुल स्टॉक से। इसमें केवल धातु मुद्रा एवं पत्र-मुद्रा ही सम्मिलित नहीं होती है बल्कि चैक द्वारा निकाले जाने वाला बैंक-जमा भी सम्मिलित होता है। मुद्रा की कुल प्रभावपूर्ण पूर्ति की गणना करते समय मुद्रा के चलन की गति (Velocity of Circulation) का भी विचार करना होगा। मुद्रा की चलन गति से यह आशय है कि मुद्रा की प्रत्येक इकाई दिये हुए समय में कितने बार हाथ बदलती अर्थात् हस्तान्तरित होती है। उदाहरणार्थ, १००० हजार रुपये प्रचलित है और प्रत्येक रुपया पाँच बार हाथ बदलता है, तो मुद्रा की कुल पूर्ति ५,००० होगी।

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का मूल स्वरूप (Original form)—मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त इसके प्रारम्भिक रूप में इस प्रकार है, : यदि अन्य बातें स्थिर रहें तो मुद्रा का मूल्य उसके चलन के परिमाण के अनुसार ठीक उसके विपरीत अनुपात में बदलता रहता है।[1] उदाहरण के लिये, यदि प्रचलित मुद्रा का

1—Other things being equal, value of money varies exactly in inverse proportion to its quantity in circulation

परिमाण दुगुना हो जाता, तो उसका मूल्य आधा हो जाता है। किन्तु अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उनके सम्बन्ध में, यदि उनकी पूर्ति के बढ़ने से उनका मूल्य घट जाता है और घटने में बढ़ जाता है, तो भी यह आवश्यक नहीं है कि यह समान अनुपात में हो। किन्तु मुद्रा के सम्बन्ध में ऐसा ही है।

'यदि अन्य बातें स्थिर रहें' शब्दों का महत्त्व—सिद्धान्त के ये शब्द बहुत ही महत्त्वशाली है। इनमें कई मान्यताएँ सन्निहित है, जैसे—(१) केवल विधि-ग्राह्य मुद्रा ही चलन में हो, (२) मुद्रा की चलन-गति (Velocity of Circulation) में कोई परिवर्तन न हो, (३) मुद्रा बचाकर न रखी जाय—सब की सब चलन में हो, (४) सब वस्तुओं का क्रय-विक्रय मुद्रा से ही होता हो, (५) उधार प्रथा न हो, (६) वस्तुओं के चलन की गति में कोई अन्तर न पड़े, (७) उत्पादन, विनिमय-क्रय और जन-संख्या में भी कोई परिवर्तन न हो। किन्तु इस परिवर्तनशील समाज में ऐसा होना सम्भव नहीं है।

सिद्धान्त का मूल समीकरण (Original Equation of the Theory) सामान्य मूल्य-स्तर, मुद्रा का परिमाण, मुद्रा की गति और मुद्रा का सम्बन्ध इस प्रकार बतलाया गया था :

$$P\ T = M\ V = \text{or}\ P = \frac{MV}{T}$$

$$\text{मू व्या} = \text{मु ग या मू} = \frac{\text{मु ग}}{\text{व्या}}$$

यहाँ पर P का अर्थ है मूल्य स्तर (मू) से, T का समस्त व्यापारिक सम्बन्ध (व्या) से, M का प्रचलित मुद्रा के परिमाण (मु) से, और V का मुद्रा की गति (ग) से।

उपर्युक्त समीकरण (Equation) के दो पक्ष है—एक तो वस्तु या माल-पक्ष (Goods Side) जो PT द्वारा प्रदर्शित किया गया है और दूसरा मुद्रा पक्ष (Money Side) जो MV द्वारा प्रकट किया गया है। समीकरण के दोनों पक्ष बराबर होने चाहिये। अस्तु, समस्त व्यापार का (PT या मू व्या) बराबर होना चाहिये। मुद्रा की समस्त प्रभावपूर्ण पूर्ति (MV या मु ग) के केवल मूल्य-स्तर P (मू) M V (मु ग) को T (व्या) से विभाजित कर मालूम किया जा सकता है।

इस समीकरण का दायाँ-पक्ष अपूर्ण है, क्योंकि धातु एवं पत्र-मुद्रा के अतिरिक्त साख-पत्र, जैसे—चेक, बिल व हुण्डियाँ आदि भी आधुनिक सभ्य समाज में क्रय शक्ति के साधन है। इसलिये इन्हें भी सम्मिलित करना चाहिये। साख मुद्रा (Credit Money) के प्रतीक M'V' (मु' ग') इस समीकरण में दाईं ओर जोड़ देने में यह पूर्ण हो जाता है और यह एक नया रूप धारण कर लेता है।

सिद्धान्त का आधुनिक रूप—यह सिद्धान्त नये रूप में इस प्रकार प्रतिपादित किया जाता है : "मूल्य के साधारण स्तर की प्रवृत्ति प्रचलित मुद्रा के परिमाण और उसके चलन की गति की शीघ्रता के गुणनफल (अर्थात मुद्रा की पूर्ति) के परिवर्तन के अनुसार उसी दिशा में तथा अनुपात में बदलने की रहती है और विनिमय के कार्यों (अर्थात् मुद्रा की माँग) के जो विनिमय के लिये आये हुए सामान तथा

उनके मूल्य के गुणनफल से निर्धारित होते है, परिवर्तन के अनुसार ठीक उनके विपरीत दशा तथा अनुपात को बदलने की रहती है।"[1]

प्रो० इर्विंग फिशर का सूत्र (Formulae)—

$$PT = MV + M'V' \text{ or } P = \frac{MV + M'V'}{T}$$

$$\text{मू} \ \text{व्या} = \text{मु} \ \text{ग} + \text{मु}' \ \text{ग}' \ \text{या} \ \text{मू} = \frac{\text{मु} \ \text{ग} + \text{मु}' \ \text{ग}'}{\text{व्या}}$$

यहाँ पर P सामान्य मूल्य-स्तर (मू)
T = समस्त व्यापारिक सौदे (व्या)
M = प्रचलित मुद्रा (धातु एवं पत्र-मुद्रा का परिमाण (मु)
V = मुद्रा की गति (ग)
M' = साख मुद्रा (मु')
V' = साख मुद्रा की गति (ग')

इस नियम में मुद्रा की पूर्ति को उसकी माँग के बराबर बतलाया गया है। मूल्य-स्तर को व्यापारिक लेन-देन से गुणा करने पर व्यापारिक लेन-देन का मूल्य आता है, जिसका अर्थ है मुद्रा की माँग (PT या मू व्या) यह मुद्रा की पूर्ति के बराबर है, इसमें रोकड़ी मुद्रा व साख मुद्रा अपना चलन की गति के साथ है।

(MV + M'V' या मु ग + मु' ग')।

प्रो० फिशर ने बतलाया है कि अल्पकाल में T, V, V' (व्या, ग, ग') स्थिर रहते है। M' का M (मु' का मु) में अनुपात भी समान रहता है। अतः P (मू) M (मु) के अनुसार बदलता है। दूसरे शब्दों में, यदि M (मु) को बढ़ा दे तो P (मू) उसी अनुपात में घट जायगा। मुद्रा का मूल्य उनके परिमाण अर्थात् मात्रा पर निर्भर है। इसलिये इस सिद्धान्त को 'मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त' कहते हैं।

सिद्धान्त की आलोचना (Criticism)

(१) इस सिद्धान्त की सबसे कड़ी आलोचना यह है कि यह सिद्धान्त कुछ कल्पनाओं पर आधारित है अर्थात् अन्य बातें स्थिर रहने पर यह लागू होता है। परन्तु वास्तव में इस परिवर्तनशील जगत में ये परिस्थितियाँ बदलती रहती है—कभी प्रति व्यक्ति उत्पादन की मात्रा बढ़ती है, कभी जनसंख्या बढ़ने के कारण उत्पादन बढ़ने लगता है, कभी मुद्रा के चलन की गति में परिवर्तन होने लगते है और कभी साख-मुद्रा की मात्रा में घटा बढ़ी हो जाती है। अल्प काल में भी ये परिस्थितियाँ जैसी की तैसी नहीं रहती। अतः मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त एक स्थायी सत्य नहीं जान पड़ता।

(२) प्रो० फिशर ने अपने समीकरण (Equation) में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्रचलित मुद्रा की मात्रा में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन प्रत्यक्ष रूप में सामान्य मूल्य-स्तर में समानुपातिक परिवर्तन कर देता है। परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा नहीं होता।

---

1. The general level of prices tends to vary directly in proportion with the quantity (i e supply) and inversely with the activity of exchange (i e the -demand for money) indicated by the number of goods to be exchanged & multiplied by their prices.

(३) प्रो० कीन्स का कहना है कि मुद्रा द्वारा किये अधिकाश लेन-देन या तो औद्योगिक-सम्बन्धी होते है या व्यापार या आर्थिक-सम्बन्धी होते हैं। उनमें से बहुत कम वस्तु-सम्बन्धी लेन-देन है जिनको व्यापार की मात्रा में प्रकट किया जाता है। अतः फिशर का समीकरण मुद्रा की क्रय शक्ति को नहीं नापता है बल्कि रोकड़ी लेन-देन के स्तर को नापता है।

(४) प्रो० मार्शल का कहना है कि 'मुद्रा का सिद्धान्त चलन की गति के कारणों की व्याख्या नहीं करता।'

(५) इस सिद्धान्त मे मुद्रा की माग की अपेक्षा पूर्ति पर ही अधिक बल दिया गया है जिसका प्रभाव मुद्रा की क्रय-शक्ति या वस्तुओं के मूल्यों पर अधिक पड़ता है।

(६) यह सिद्धान्त व्यापार-चक्रों (Trade Cycles) मे होने वाले मूल्य-स्तर के परिवर्तनों की व्याख्या करने मे असमर्थ है।

(७) कुछ लोगों का विश्वास है कि यह सिद्धान्त माँग और पूर्ति के नियम पर आधारित एक स्वय-सिद्ध सत्य है जिसको बहुत अधिक महत्त्व दे दिया गया है।

(८) यह सिद्धान्त काल्पनिक एव अपूर्ण है क्योंकि इसमे हम किसी भी समय मुद्रा चलन के परिमाण का ठीक-ठीक आंकड़ा नहीं मालूम कर सकते जो केवल अनुमान पर निर्भर है। इतना ही नहीं, बल्कि जिन बातों को हम स्थिर मानते हैं वे वास्तविक दृष्टि से कभी स्थिर नहीं रहती। अतः यह सिद्धान्त केवल स्थिर समाज को ही लागू हो सकता है, परिवर्तनशील समाज को नहीं।

(९) किसी विशिष्ट देश के मूल्यों की तेजी-मदी के कारणों का विवेचन इस सिद्धान्त द्वारा नहीं हो सकता तथा उसके लिये अन्य देशों के मूल्यों का सदर्भ लेना आवश्यक है।

सिद्धान्त की वास्तविक उपयोगिता—यद्यपि इस सिद्धान्त के विरुद्ध अनेक प्रकार के आरोप लगाये जाते हैं और उनमें से कुछ सही भी है, परन्तु फिर भी इस सिद्धान्त का अपना कुछ महत्त्व अवश्य है।

(१) आर्थिक सिद्धान्त होने के कारण यह एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति की विवेचना करता है।

(२) यह हमे बतलाता है कि यदि अन्य बातों का उचित ध्यान रखा जाय तो मुद्रा प्रसार, मुद्रा-सकुचन तथा व्यापारिक क्रियाओं का क्या प्रभाव पड़ेगा।

(३) सामान्य मूल्य-स्तर को घटाने व बढाने के विचार से मुद्रा-प्रसार व मुद्रा संकुचन करते समय मुद्रा अधिकारी इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य करते है।

(४) यह सिद्धान्त हमे मूल्य परिवर्तन का एक मुख्य और महत्त्वपूर्ण कारण बतलाता है। इसी सिद्धान्त के सहारे प्रचलित मुद्रा की मात्रा मे न्यूनाधिक्ता करके देश के मूल्य स्तर को नियन्त्रित किया जा सकता है।

(५) यह सिद्धान्त मूल्य को स्थिर बनाने के मार्ग का प्रदर्शन करता है। रॉबर्टसन (Robertson) नामक एक मुद्रा शास्त्री ने लिखा है कि—"मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त मुद्रा का मूल्य समझने के लिये एक विचित्र सत्य है—यह एक ऐसा सत्य है जिसे वास्तविक जीवन के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा और वस्तुओं के मूल्यों मे सम्पर्क स्थापित करने के लिए समझना अनिवार्य है।"

(६) क्राउथर (Crowther) के अनुसार इस सिद्धान्त के द्वारा युद्ध-काल में होने वाले मूल्य परिवर्तन भी समझाये जा सकते हैं। उसने बताया है कि प्रथम महायुद्ध तथा उसके पश्चात् जो मूल्य-स्तर में तीन गुना वृद्धि हुई उसका कारण युद्ध-काल में सरकारों द्वारा छापा हुआ पत्र-मुद्रा था।

मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन

(Changes in the Value of Money)

परिचय (Introduction)—मुद्रा का मूल्य समय समय पर बदलता रहता है—कभी मुद्रा का मूल्य ऊँचा हो जाता है और वस्तुओं के मूल्य नीचे गिर जाते हैं और कभी मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और वस्तुओं के मूल्य ऊँचे हो जाते हैं। इसी प्रकार मुद्रा के मूल्य और वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन होता रहता है। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होने में कुछ लोगों को लाभ होता है और कुछ को हानि भी होता है। यहाँ पर हम इसी सम्बन्ध में विचार करेंगे

(१) मुद्रास्फीति (Inflation)

मुद्रा स्फीति का अर्थ (Meaning)—जब मुद्रा (सिक्के, नोट और साख मुद्रा) की मात्रा किसी देश के व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं से अधिक प्रचलित हो तब उसे मुद्रा-स्फीति कहते हैं। केमरर (Kemmerer) के अनुसार मुद्रा या चलन-मुद्रा की अधिकता को मुद्रा-स्फीति कहते हैं अर्थात् व्यापार व उद्योग के परिमाण में चलन (Currency) के बढ़ जाने को मुद्रा स्फीति कहते हैं। प्रो० पीगू (Pigou) के अनुसार जब लाभ आय प्राप्त करने वाले कार्यों के अनुपात से अधिक बढ़ जाते हैं तो मुद्रा-स्फीति कहलाती है। आवश्यकता से अधिक मुद्रा प्रसार होने से मुद्रा के मूल्य में ह्रास (Depreciation of Money) हो जाता है अर्थात् मुद्रा की क्रय शक्ति (Purchasing Power) गिर जाती है जिसके परिणाम स्वरूप वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है।

मुद्रा-स्फीति के चिन्ह (Signs)—किसी भी देश में मुद्रा-स्फीति के दो चिन्ह होते हैं—(१) मुद्रा की क्रय शक्ति का कम होना (२) लगभग सभी वस्तुओं के भावों में वृद्धि होना।

मुद्रा स्फीति के प्रकार (Kinds)—जब आय बढ़ने से वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है और माँग बढ़ने से वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाती है तो ऐसी अवस्था को खुली मुद्रा-स्फीति (Open Inflation) कहते हैं। यदि मूल्य वृद्धि को सीमा के अन्दर नहीं रखा जाता तो मुद्रा प्रसार बहुत हो जाता है। तब इसे बढ़ती हुई मुद्रा-स्फीति (Galloping Inflation) कहते हैं। जब बहुत अधिक मुद्रा प्रसार हो जाता है तो उसे अत्यधिक मुद्रा स्फीति (Hyper Inflation) कहते हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अनेक देशों में भीषण मुद्रा स्फीति हुई। जर्मनी में तो इसने बहुत ही उग्र रूप धारण किया। सरकार ने इतने अत्यधिक नोट (Marks) छाप दिये कि उनका कुछ भी मूल्य न रह गया। यही अवस्था हाल ही में १९४८–५० में चीन की मुद्रा

को हुई। मुद्रा-स्फीति केवल वस्तुओं के मूल्य वृद्धि मे ही दृष्टिगोचर नहीं होती, बल्कि लोग रोकड़ी धन को अपने पास व बैंको मे जमा करने लग जाते हैं और अन्य सम्पत्ति को भी रखने लग जाते हैं, तब मुद्रा स्फीति इन कार्यो मे भी दिखाई देने लगती है। इस प्रकार की अवस्था को छिपी हुई मुद्रा स्फीति (Suppressed Inflation) कहते है।

मुद्रा स्फीति के कारण (Causes) मुद्रा स्फीति के कारणों को दो श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है —

(१) नैसर्गिक कारण और (२) कृत्रिम कारण।

(१) नैसर्गिक कारण (Natural Causes) नैसर्गिक या स्वाभाविक कारणों मे हम ऐसे कारणा का समावेश करेंगे जो सरकार के नियत्रण मे नही होते बल्कि स्वाभाविक होते है, जैसे—[अ] सोने या चादी की खाना से अधिक उत्पादन होना, [आ] नई खानो की खोज तथा [इ] सोना चादी का अधिक आयात होने लगना। सन् १८९६ से १९११ तक दक्षिणी अफ्रीका मे सोने की नई खाना की खोज के कारण मूल्यो मे वृद्धि हो गई।

(२) कृत्रिम कारण (Artificial Causes)—

(अ) वस्तुओ और सेवाओ की कमी (Scarcity of Commodities and Services)— जब मुद्रा की पूर्ति तो बहुत बढ जाती है परन्तु वस्तुओ व सेवाओ की पूर्ति मुद्रा के बराबर नहीं बढती तो वस्तुओ और सेवाओ की इस कमी के कारण मूल्य बढ जाते है। केमरर नामक मुद्रा शास्त्री ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि— यदि मुद्रा की मात्रा अधिक हो और वस्तुओ की मात्रा उत्पादन घटने के कारण कम हो जाय, तो मुद्रा स्फीति होती है।[1]

(आ) जमा की गति मे वृद्धि (Increase in Deposit Velocities) —बैंक जमा मुद्रा मे भारी वृद्धि होना भी मुद्रा स्फीति का एक कारण है। उन्नतिशील दिशा मे ऐसी गति बहुत बढ जाती है।

(इ) सरकार के बजट की कमी पूर्ति के लिये मुद्रा प्रकाशन (Monetization for Govt. Deficits)—इसके अन्तर्गत सरकारी व्यय के भुगतान के लिये, कोष बढाने के साधनो के लिये, सरकार द्वारा मुद्रा प्रसार के लिए किए गये समस्त साधन आ जाते है। इसमे बैंक नोट व बैंक जमा सम्मिलित है।

(ई) जान-बूझ कर सरकार द्वारा मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि (Deliberate increase in Quantity of Money by Govt)—युद्ध आदि सकट-काल मे देश की सरकार जान-बूझ कर मुद्रा का प्रसार करती है। युद्ध सम्बन्धी कार्यों के लिये अत्यधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है जो प्राय अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा प्रचलित कर पूरी की जाती है। इससे मुद्रा स्फीति हो जाती है।

इसके अतिरिक्त, जब देश के उद्योग धन्धो का विकास करने के लिए देश की सरकार आन्तरिक मूल्य स्तर की अपेक्षा देश का आन्तरिक मूल्य स्तर ऊँचा करना चाहती है, तब वह माँग की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि कर देती है।

1—A B C *of Inflation*—Kemmerer, p 6

मुद्रा-स्फीति के आर्थिक परिणाम (Economic Consequences of Inflation) यों तो मुद्रा-स्फीति से सामान्यतः देश की समस्त अर्थ-व्यवस्था को हानि पहुँचती है, फिर भी विभिन्न वर्गों को मुद्रा-स्फीति विभिन्न प्रकार से प्रभावित करती है। मुद्रा-स्फीति विभिन्न वर्गों को निम्न प्रकार से प्रभावित करती है :—

(१) *व्यापारियों और उत्पादकों को लाभ—मुद्रा-स्फीति के कारण वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं* जिससे उद्योगपतियों, उत्पादकों तथा व्यापारियों (थोक व फुटकर व्यापारियों) को बहुत लाभ होता है। उन्हें मुख्यतः तीन कारणों से लाभ होता है : (अ) उनमें से अधिकांश ऋणी होते हैं और ऋणियों को मुद्रा-स्फीति से लाभ होता है, (ब) वे कच्चा माल व अन्य वस्तुएँ पुराने और सस्ते मूल्यों पर खरीदते हैं, किन्तु बेचते उस समय है जब मूल्य बढ़ जाते हैं, (स) मजदूरी व अन्य व्यय इतने अधिक नहीं बढ़ते जितने मूल्य बढ़ते हैं। व्यापार एवं उद्योग धन्धों में लाभ बढ़ने से उत्पादन (Production) को प्रोत्साहन मिलता है, और रोजगार (Employment) में वृद्धि होती है।

(२) ऋणियों (Debtors) को लाभ और ऋणदाताओं (Creditors) को हानि—मुद्रा-स्फीति से मुद्रा की क्रय-शक्ति गिर जाती है जिससे ऋणियों को लाभ होता है और ऋणदाताओं को हानि होती है। ऋणियों को इसलिये लाभ होता है कि जब उन्होंने ऋण लिया था तब मुद्रा की क्रय-शक्ति अधिक थी, वे उससे अधिक वस्तुएँ खरीद सकते थे, परन्तु वे ऋण अब लौटा रहे हैं, जबकि मुद्रा की क्रय-शक्ति कम है तो इससे *ऋणदाताओं को हानि होती है।* उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति ने सन् १९३९ में १०० रु० उधार दिये और यह राशि सन् १९५१ में उसे लौटाई गई, जब कि वस्तुओं के भाव पहले की अपेक्षा चौगुने हो गये, तो ऋणी को इससे लाभ हुआ, क्योंकि सन् १९३९ में इस राशि से वह चौगुनी वस्तुएँ खरीद सकता था और ऋणदाता को हानि हुई क्योंकि अब (सन् १९५१ में) वह राशि २५ रु० के बराबर है, अर्थात् वह इससे पहले की अपेक्षा केवल चौथाई वस्तुएँ ही खरीद सकता है।

(३) विनियोग-कर्त्ताओं (Investors) को मुद्रा-लाभ होता है और वास्तविक आय (Real Income) में हानि होती है—*मुद्रा स्फीति से व्यापार में वृद्धि होने का कारण विनियोग-कर्त्ताओं को मुद्रा-लाभ होता है, क्योंकि उनके विनियोग* पत्रों का मूल्य बढ़ जाता है। परन्तु जहाँ तक लाभांश (Dividend) व ब्याज (Interest) का सम्बन्ध है, वह निश्चित मात्रा में मिलता है। *क्रय-शक्ति कम होने* से उनको हानि होती है, अर्थात् उनकी वास्तविक आय (Real Income) घट जाती है।

(४) कृषकों को लाभ व भूमिपतियों को हानि—वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने से कृषकों को, उत्पादकों और व्यापारियों की भांति लाभ होता है। किन्तु जमींदारों व भूमिपतियों (Landlords) को कुछ समय के लिये हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि उनका लाभ निश्चित होता है।

(५) श्रमिकों और वेतन-भोगी व्यक्तियों को हानि—श्रमिकों व वेतन पाने वाले व्यक्तियों (सरकारी व असरकारी नौकर, अध्यापक आदि) को हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि मूल्यों की वृद्धि के अनुपात में भृति (मजदूरी) व वेतन बहुत कम

जाता है। मुद्रा की क्रय शक्ति म ह्रास होने स अपनी निश्चित आय स कम वस्तुएँ खरीद सकत है जिससे उनकी वास्तविक आय कम हो जाती है। अत उन्हें भीषण आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पडता है उनमे असन्तोष फैलना है हडताले होती है उत्पादन पर बुरा प्रभाव पडता है। इसी प्रकार स्थिर आय वाले छोटे छोटे जमीदार और किराये या ब्याज की आय पर जीवन निर्वाह करने वाले लोगो को भी मूल्य वृद्धि के कारण वास्तविक आय घट जाने के कारण कष्ट उठाना पडता है।

(६) उपभोक्ताओं को हानि—मुद्रा स्फीति के कारण मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और वस्तुओं के भाव बढ जाते है जिसम उपभोक्ताओं को बहुत हानि उठानी पडती है क्योकि उन्हें पहले की अपेक्षा अब अधिक मूल्य देने पडते है जिसम बचत बहुत कम हो जाती है। रहन-सहन का व्यय आय की अपेक्षा बढ जाता है।

(७) विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव—मुद्रा स्फीति का विदेशी व्यापार पर बुरा प्रभाव पडता है क्योकि आन्तरिक मूल्य स्तर म आन्तरिक मूल्य स्तर ऊँचा होने स मुद्रा स्फीति वाले देश म माल महगा हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप विदेशी कम खरीदते है जिससे देश का निर्यात व्यापार कम हो जाता है। इसके विपरीत विदेशी वस्तुएँ सस्ती होने से उनका आयात देश म बढ जाता है। इस प्रकार के व्यापार स देश का प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन (Unfavourable Balance of Trade) हो जाता है।

(८) सरकार व कर-दाताओं पर अनुकूल प्रभाव—जब देश म मुद्रा प्रसार होता है तो सरकार की आय बढ जाती है। सरकार प्रजा म करो के रूप म खूब रकम प्राप्त करती है। सरकार नई-नई योजनाएँ चलाती है जिसम राष्ट्रीय पूँजी की खूब वृद्धि होती है। परन्तु दूसरी ओर वस्तुओं का मूल्य बढ जाने के कारण आर्थिक कठिनाइयाँ बजट म घाटा आदि दृष्टिगोचर होते है।

मुद्रा स्फीति के दिनो म कर-दाताओं को अवश्य लाभ होता है क्योंकि यद्यपि उन्हें कर कुछ अधिक देना पडता है परन्तु पहले की अपेक्षा वस्तुओं के अनुपात म वे कम राशि देते है। भूमि लगान (Land Revenue) का भार भी कम हो जाता है क्योंकि लोग सरकार को वस्तुओं के अनुपात म कम ही देते है।

मुद्रा-स्फीति के सामाजिक एव नैतिक परिणाम

(Social and Moral Consequences of Inflation)

मुद्रा स्फीति के सामाजिक एव नैतिक परिणाम भी भयकर होते है। मध्य श्रेणी के लोगो का रहन सहन का व्यय इतना बढ जाता है कि इनका जीवन चलाना कठिन हो जाता है श्रमिक वर्ग भी बढते हुए मूल्यो के कारण अपनी निश्चित आय से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते। अत भृति (मजदूरी) बढाने का सघर्ष हडतालो आदि के रूप म चलता रहता है। मुद्रा स्फीति उपभोक्ताओं म निरथकता निराशा व द्रोह की भावना बढाती है। उत्पादन न बढने के कारण बाजार में वस्तुओं की कमी हो जाती है जिससे लोग वस्तुओं का इकट्ठा कर कर के छिपाव (Hoarding) लगते है। फिर चोरी से माल ऊँचे भावो पर बिकने लगता है। सट्टे का बाजार गरम हो जाता है। सट्टेबाजो के लिये यह स्वर्ग है क्योकि ये लोग बिना प्रयत्न के ही श्रमिकों व निश्चित आय वालो के मूल्यो पर लाभ उठाते है। इसी कारण टामस (Thomas) ने मुद्रा स्फीति को मुनाफाखोरों (Profiteers) और सट्टेबाजों के लिये स्वर्ग कहा है।

(७) उत्पादन में वृद्धि (Increase in production)—उत्पादन-वृद्धि मुद्रा-स्फीति के परिणामों को प्रभाव शून्य करने का एक सफल उपाय सिद्ध हो सकता है। इसके द्वारा मुद्रा की माँग में वृद्धि हो जाती है जिससे अत्यधिक मुद्रा-पूर्ति के कुछ प्रभाव नष्ट हो सकते हैं।

सारांश यह है कि मुद्रा-स्फीति अनेक फन वाला सर्प है जिसे अनेकों शस्त्रों से हटाना चाहिए। कोई भी अकेला उपाय प्रभावोत्पादक सिद्ध नहीं हो सकता।

भारतवर्ष में मुद्रा-स्फीति—गत महायुद्ध के समय में लगभग सभी देशों में किसी-न-किसी मात्रा में मुद्रा-स्फीति हुई। भारतवर्ष में भी मुद्रा का अनावश्यक प्रसार हुआ। मुद्रा की मात्रा बढ़ती गई, परन्तु वस्तुओं का उत्पादन उतनी मात्रा में नहीं बढ़ा जिसके फलस्वरूप मुद्रा का मूल्य (अर्थात् उसकी क्रय-शक्ति) गिर गया और वस्तुओं के मूल्य बढ़ गये। सन् १६३६ में देश में लगभग १७६ करोड़ रुपये के नोट प्रचलित थे परन्तु दिसम्बर १६४७ में प्रचलित नोटों की संख्या लगभग १२४२ करोड़ हो गई। इसी अवधि में रुपयों और छोटे सिक्कों की संख्या भी क्रमशः लगभग १५० करोड़ और ७१ करोड़ से बढ़ गई थी। साथ-ही साथ साख-मुद्रा का चलन भी बढ़ता गया।

भारतवर्ष में मुद्रा-स्फीति के कारण—(१) भारतवर्ष में मुद्रा-स्फीति का सबसे बड़ा कारण भारत सरकार द्वारा मित्र राष्ट्रों को युद्ध में सहायता देना था। (२) भारत सरकार ने इंगलैंड और मित्र-राष्ट्रों के सहायतार्थ युद्ध चलाने के लिये भारतीय बाजारों में माल खरीदा। इस माल के बदले में इंगलैंड की सरकार भारत-सरकार को नकद रुपया नहीं दिया बल्कि इंगलैंड में भारत के हिसाब में वह राशि जमा कर ली जाती थी और बदले में रिजर्व बैंक को स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ (Sterling Securities) दे दी जाती थीं। परन्तु भारत सरकार को तो इस माल का मूल्य भारतीय व्यापारियों को रुपयों में चुकाना पड़ता था। अतः सरकार नोट छाप-छाप कर यह कार्य करती रही। (३) इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने युद्ध-काल में व्यय भी खूब किया जिसकी पूर्ति के लिये सरकार मुद्रा-प्रसार करती गई। (४) दूसरी ओर वस्तुओं का उत्पादन उतनी मात्रा में नहीं बढ़ाया जा सका। जो कुछ भी माल उत्पन्न किया जाता था वह सैनिकों के लिये भेज दिया जाता था। इस कारण जनता के उपयोग के लिये वस्तुओं की कमी हो रही जिससे वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होती ही गई।

भारत सरकार द्वारा मुद्रा-स्फीति को रोकने के उपाय—(१) मुद्रा की बढ़ी हुई मात्रा को वापिस खींचने के लिये जनता पर नये-नये कर लगाये, (२) जनता से सरकार ने ऋण भी लिया तथा सरकार ने सोना भी बेचा जिससे बाजार में क्रय शक्ति कम हो जाय, (३) वस्तुओं के मूल्यों पर नियन्त्रण लगाया गया तथा देश में उत्पादन-वृद्धि की सुविधाएँ दी गईं, (४) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने अपने-अपने व्ययों को भी कम करने का प्रयत्न किया, (५) चोर बाजारी दूर करने के लिये कठोर नियम भी बनाये गये, (६) जनता से फालतू रुपया खींचने के लिये डिफेन्स बाँड व राष्ट्रीय बचत योजनाएँ आदि निकाली गईं, (७) सट्टों के सौदों पर प्रतिबन्ध लगाया गया, (८) सौ रुपये से ऊपर के नोटों को अविधि ग्राह्य घोषित कर दिया गया, (९) कम्पनियों के लाभांश (Dividends) की दर सीमित कर दी गई। इन सब उपायों के होते हुए भी मुद्रा स्फीति की शक्ति कम नहीं हुई और आज भी लगभग वही स्थिति है जो युद्ध काल में थी।

(२) मुद्रा संकुचन (Deflation)

मुद्रा-संकुचन का अर्थ (Meaning)—जब किसी देश में मुद्रा (सिक्के नोट और साख मुद्रा) की मात्रा उसकी आर्थिक एवं व्यापारिक आवश्यकताओं की तुलना में कम होती है तब उसे 'मुद्रा-संकुचन' के नाम से सम्बोधित करते हैं। दूसरे शब्दों में जब किसी समय मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग से कम होती है तो उसे हम मुद्रा संकुचन कहते हैं। प्रो० कीन्स के अनुसार "मुद्रा संकुचन वह मुद्रा नीति है जिसके द्वारा देश में मुद्रा की मात्रा और उसकी आवश्यकताओं के मध्य का अनुपात इतना कम कर दिया जाय कि जिससे मुद्रा की विनिमय शक्ति बढ़ जाय और वस्तुओं के मूल्य नीचे गिर जाएँ।' मुद्रा संकुचन से मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है (Appreciation of Money) अर्थात् मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है जिसके परिणामस्वरूप वस्तुओं के मूल्य गिर जाते हैं।

मुद्रा संकुचन के चिन्ह (Signs)—(१) मुद्रा की क्रय शक्ति (Purchasing Power) का बढ़ना (२) लगभग सभी वस्तुओं के मूल्य गिरना।

मुद्रा संकुचन के कारण (Causes)—मुद्रा संकुचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है —(१) सरकार देश में प्रचलित अपरिवर्तनशील नोटों को रद्द कर देती है जिससे मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है। (२) जनता पर भारी-भारी कर (Taxes) लगा कर मुद्रा को चलन में से खींच लिया जाता है। (३) देश का केन्द्रीय बैंक अपनी बट्टे की दर (Discount Rate) बढ़ा कर मुद्रा संकुचन करता है। (४) केन्द्रीय बैंक जनता से ऋण लेकर चलन में से मुद्रा की मात्रा कम कर देता है, और (५) वह अपनी खुली बाजार क्रियाओं (Open Market Operations) द्वारा जनता को सिक्योरिटीज बेच कर बदले में मुद्रा एकत्र संचित कर लेता है जिससे चलन में मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है।

मुद्रा संकुचन के आर्थिक परिणाम (Economic Consequences of Deflation)—मुद्रा संकुचन के आर्थिक परिणाम मुद्रा-स्फीति से बिल्कुल उलटे होते हैं जो नीचे दिये जाते हैं —

(१) व्यापारियों व उत्पादकों को हानि—मुद्रा संकुचन के कारण वस्तुओं के मूल्य गिर जाते हैं जिससे व्यापारियों (थोक व फुटकर) उद्योगपतियों व उत्पादकों को हानि होती है क्योंकि वस्तुओं के मूल्य गिर जाने से उनकी आय में ह्रास हो जाता है जब कि कर व मजदूरी आदि समान ही रहते हैं। उत्पादन कम हो जाता है जिससे बेकारी (Unemployment) फैल जाती है।

(२) ऋणियों को हानि और ऋणदाताओं को लाभ—मुद्रा संकुचन में ऋणदाताओं को लाभ और ऋणियों को हानि होती है क्योंकि मुद्रा का मूल्य बढ़ने अर्थात् उसकी क्रय शक्ति बढ़ने से ऋणी को अब अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है।

(३) विनियोग कर्त्ताओं का वास्तविक आय या लाभ—मुद्रा की क्रय शक्ति में वृद्धि हो जाने से विनियोगकर्त्ता को निश्चित लाभांश व ब्याज में अब अधिक वस्तुएँ प्राप्त होने से वास्तविक आय का लाभ होता है।

(४) कृषकों की हानि और भूमिपतियों को लाभ—मन्दी के दिनों में कृषकों को उनकी उपज का कम मूल्य मिलता है जिससे उन्हें हानि होती है। परन्तु भूमिपतियों या जमींदारों को उनके निश्चित लगान में अब अधिक वस्तुएँ प्राप्त होने से लाभ होता है।

(५) श्रमिकों और वेतन भोगी व्यक्तियों को लाभ—वस्तुओं के भाव गिर जाने से श्रमिकों तथा निश्चित वेतन पाने वाले व्यक्तियों को लाभ होता है क्योंकि अब वे अपनी आय के बदले में अधिक वस्तुएँ खरीद सकते हैं। प्रायः मन्दी में मालिक नौकरों की छटनी करने लगते हैं या वेतन कम कर देते हैं। ऐसी परिस्थिति में श्रमिकों और वेतन भोगियों (Salaried Persons) को अधिक लाभ नहीं रहता।

(६) उपभोक्ताओं को लाभ—मन्दी में वस्तुओं के मूल्य गिरने के कारण उपभोक्ताओं को लाभ होता है क्योंकि उपभोक्ताओं को मुद्रा का प्रत्येक इकाई के बदले अब अधिक वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।

(७) विदेशी व्यापार पर अच्छा प्रभाव—मुद्रा संकुचन का विदेशी व्यापार पर अच्छा प्रभाव पड़ता है क्योंकि इस देश में मूल्य गिर जाने से विदेशी यहाँ से अधिक मात्रा खरीदते हैं जिससे निर्यात में वृद्धि होती है। तुलनात्मक दृष्टि से विदेशों में वस्तुएँ महँगी होने से आयात कम होता है। इसके फलस्वरूप व्यापार सन्तुलन देश के अनुकूल (Favourable) होता है।

(८) सरकार और करदाताओं पर प्रतिकूल प्रभाव—मन्दी के दिनों में सरकार की आर्थिक व्यवस्था अस्त व्यस्त हो जाती है। सरकारी आय घटने लगती है तथा सहायता-कार्य (Relief work) करने पड़ते हैं जिनके लिये सरकार को पर्याप्त ऋण उधार लेने पड़ते हैं। देश में बेकारी का बोलबाला होने के कारण शासन प्रबन्ध भी ढीला पड़ जाता है। देश का विकास मन्द पड़ जाता है।

मन्दी के दिनों में करदाताओं को भी हानि ही होती है क्योंकि यद्यपि वे मुद्रा से कम कर चुकाते हैं परन्तु वस्तुओं में उन्हें अधिक देना पड़ता है।

मुद्रा संकुचन का सामाजिक एवं नैतिक परिणाम (Social & Moral Consequences of deflation)—मानव-समाज पर युद्ध, भयंकर रोग, अकाल, राजनैतिक संकट आदि अनेक विपत्तियाँ समय समय पर आती रहती हैं। परन्तु इन सबमें अधिक भयंकर विपत्ति मुद्रा संकुचन की है जिसके अन्तर्गत वस्तुओं के भाव गिरने लगते हैं, जिससे व्यापार मन्द पड़ जाता है, उद्योग धन्धे बन्द होने लगते हैं, समाज की प्रगति रुक जाती है, आर्थिक ढाँचा छिन्न भिन्न होने लगता है तथा देश का सम्पूर्ण ढाँचा बिगड़ जाता है।

मुद्रा संकुचन के सामाजिक एवं नैतिक परिणाम मुद्रा स्फीति से भी भयंकर है। मन्दी के कारण उद्योगपति मजदूरी के स्तर को कम करना चाहते हैं जिससे मजदूरों और उद्योगपतियों में संघर्ष चलता रहता है। बेकारी बढ़ती है और सामाजिक अशान्ति पैदा हो जाती है। जिस प्रकार वस्तुओं की मूल्य वृद्धि में हड़तालों (Strikes) को जन्म मिलता है उसी प्रकार उनका मूल्य ह्रास कारखानों की तालाबन्दी (Lockouts) को जन्म देता है।

भारतवर्ष तथा अन्य देशों में मुद्रा संकुचन—सन् १९२० से १९३० तक और सन् १९३० से १९४० तक का काल मुद्रा संकुचन के युग कहे जाते हैं। भारतवर्ष

में सन् १६२० से १६३० तक के काल में मुद्रा-संकुचन की नीति काम में लाई गई जिसके अन्तर्गत लगभग ६० करोड़ रुपये का संकुचन किया गया था। इसी काल में इटली और फ्रांस में भी मुद्रा-संकुचन किया गया था। इटली की सरकार ने सन् १६३१ और १६३४ में दो बार मुद्रा संकुचन किया। फ्रांस में सन् १६३५ में मुद्रा-संकुचन किया गया था, परन्तु वहां जनता के विरोध के कारण यह अधिक सफल नहीं हो सका।

मुद्रा-स्फीति और मुद्रा-संकुचन
(Inflation and Deflation)

किसी देश की आर्थिक प्रगति और व्यापारिक समृद्धि की दृष्टि से, मुद्रा-स्फीति और मुद्रा-संकुचन दोनों ही हानिकारक हैं। प्रो० कीन्स के अनुसार "मुद्रा स्फीति अन्याय पूर्ण होती है और मुद्रा संकुचन अनुचित होती है।" (Inflation is unjust and Deflation is inexpedient)।

प्रो० सैलिगमैन का भी कहना है कि "चढ़ते हुए तथा गिरते हुए मूल्यों के कारण देश के आर्थिक कलेवर में एक ऐसी अस्थिरता आ जाती है जिसमें कृषि, व्यापार और उद्योग की स्थिति डावांडोल हो जाती है और समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों को विषम अनुपात में लाभ व हानि होती है। ऊँचे और नीचे मूल्यों से इतनी हानि नहीं होती जितनी निरन्तर ऊँचे चढ़ते हुए और नीचे गिरते हुए मूल्यों से हानि होती है।' इसलिए यह सत्य है कि न तो ऊँचे चढ़ते हुए मूल्य समाज को हितकर होते हैं और न गिरते हुए मूल्यों से ही समाज को लाभ होता है। समाज के हित के लिए तो यह आवश्यक है कि जहाँ तक हो सके मूल्य-स्तर स्थाई बना रहे जिससे कृषि, व्यापार और उद्योग में प्रगति की आशा बनी रहे। अतः प्रत्येक देश के मुद्राधिकारियों का यह कर्त्तव्य है कि वे इन दोनों रोगों से बचे रहें और मध्यम मार्ग का अवलम्बन करें। आदर्श मुद्रा-प्रणाली में मुद्रा की मात्रा न तो आवश्यकता से अधिक होनी चाहिए और न कम ही होनी चाहिये।

(३) मुद्रा-अपस्फीति (Disinflation)

वर्तमान समय में विशेषतया गत महायुद्ध में ही यह शब्द प्रसिद्ध हो गया है। **मुद्रा-अपस्फीति वह मुद्रा-नीति है जो देश में मुद्रा-स्फीति को रोक कर उसके दोषों को दूर करने के लिये काम में लाई जाती है।** इस नीति को सरल शब्दों में 'मुद्रा-स्फीति सुधार' भी कह सकते हैं। गत महायुद्ध-काल में भारतवर्ष में मुद्रा-स्फीति ने बड़ा प्रचण्ड रूप धारण कर लिया था। अतः इसको रोकने के लिये भारत सरकार द्वारा अनेक उपाय काम में लाये गये जिनका वर्णन पीछे पृष्ठ ४६३ पर किया जा चुका है। ये सब उपाय मुद्रा-अपस्फीति नीति के अन्तर्गत ही आते हैं।

मुद्रा-अपस्फीति और मुद्रा-संकुचन में अन्तर (Difference between Disinflation and Deflation)—यह भ्रम होना स्वाभाविक ही है कि मुद्रा-अपस्फीति और मुद्रा संकुचन एक ही वस्तुएँ हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। मुद्रा अपस्फीति के अन्तर्गत मुद्रा स्फीति को कम करने के उपाय काम में लाये जाते हैं, परन्तु मुद्रा-संकुचन में वस्तुओं के मूल्यों को गिराने और मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ़ाने के उपाय काम में लाये जाते हैं। दोनों ही नीतियों में मुद्रा की मात्रा कम करनी पड़ती है, परन्तु मुद्रा-अपस्फीति के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा इतनी कम की जाती है कि वह व्यापार व उद्योग की आवश्यकताओं के समानुपात में आ जाय, मुद्रा-संकुचन

में मुद्रा की मात्रा इतनी कम कर दी जाती है कि व्यापार व उद्योग की आवश्यकताओं से भी कम हो जाती है जिससे देश में चारों ओर मंदी का वातावरण व्यापक हो जाता है। यद्यपि दोनों की एक सी विधि है, फिर भी दोनों नीतियों के उद्देश्य एवं परिणामों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।

(४) मुद्रा संस्फीति (Reflation)

आर्थिक विवेचन में प्राय इस शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। अतः हम इसका भी अर्थ समझ लेना चाहिए। मुद्रा सस्फीति वह मुद्रा-नीति है जिसके अन्तर्गत मुद्रा प्रसार द्वारा देश में स्थित मुद्रा-सकुचन को रोक कर उसके दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। काले नामक मुद्रा-शास्त्री के अनुसार "मंदी को दूर करने के लिये जान-बूझ कर जो मुद्रा-प्रसार किया जाता है उसे मुद्रा-सस्फीति कहते हैं।" इसे सरल शब्दों में 'मुद्रा सकुचन सुधार' भी कह सकते हैं। मुद्रा सस्फीति का उद्देश्य मंदी को दूर करके मूल्य-स्तर ऊँचा उठाना होता है। इसमें मूल्य-स्तर एक दम ऊँचा नहीं उठता बल्कि शनैः शनैः ऊँचा उठता रहता है। मंदी के कारण देश में बेकारी फैल जाती है उसे दूर करने के लिये मुद्रा-सस्फीति का अवलम्बन लिया जाता है।

मुद्रा-सस्फीति और मुद्रा-स्फीति में अन्तर (Difference between Reflation & Inflation) – इन दोनों परिस्थितियों में मुद्रा प्रसार किया जाता है, परन्तु दोनों के उद्देश्यों और परिणामों में पर्याप्त अन्तर है। मुद्रा सस्फीति का उद्देश्य मंदी को दूर करके मूल्य-स्तर को ऊँचा करना होता है जिससे बेकार लोगों को रोजगार मिल सके और जब यह उद्देश्य पूर्ण हो जाता है तो मुद्रा-प्रसार करना बन्द कर दिया जाता है। मुद्रा-स्फीति का उद्देश्य एक साथ मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करना होता है जिससे मूल्य-स्तर एक दम ऊँचा हो जाता है। मुद्रा सस्फीति का तब तक ही अवलम्बन लिया जाता है जब तक कि देश में पूर्ण रोजगार की अवस्था न हो जाय, परन्तु मुद्रा-स्फीति की कोई निश्चित सीमा नहीं होती। मुद्रा सस्फीति में मूल्य-स्तर एक दम ऊँचा नहीं होता परन्तु मुद्रा स्फीति में यह एक दम ऊँचा होने लगता है। मुद्रा सस्फीति का परिणाम क्रियात्मक होता है परन्तु मुद्रा-स्फीति का परिणाम विनाशात्मक होता है। मुद्रा सस्फीति राष्ट्र और समाज के हित के लिये होती है, परन्तु मुद्रा स्फीति सरकार की स्वार्थ सिद्धि के लिये होती है।

(५) मुद्रा की मूल्य वृद्धि (Appreciation of Money)

जब मुद्रा का मूल्य अर्थात् उसकी क्रय-शक्ति (Purchasing Power) बढ़ जाती है तो उसे मुद्रा की मूल्य-वृद्धि कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि पहले एक रुपया ४ सेर गेहूँ खरीदता हो और अब ५ सेर खरीदने लगे तो हम कहेंगे कि मुद्रा के मूल्य में वृद्धि हो गई। मुद्रा-सकुचन (Deflation) की स्थिति में मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है वस्तुओं के मूल्य गिर जाते हैं। अतः मुद्रा के मूल्य-वृद्धि के कारण एवं परिणाम वे ही हैं जो मुद्रा-सकुचन के शीर्षक में वर्णन किये जा चुके हैं।

(६) मुद्रा का मूल्य-ह्रास (Depreciation of Money)

जब मुद्रा का मूल्य अर्थात् उसकी क्रय-शक्ति घट जाती है तो उसे मुद्रा

का मूल्य ह्रास कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि पहले एक रुपया ४ सेर गेहूँ खरीदता हो और अब केवल ३ सेर ही खरीद सके तो हम कहेंगे कि मुद्रा का मूल्य-ह्रास हो गया। मुद्रा-स्फीति (Inflation) की स्थिति में मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं। अत मुद्रा के मूल्य ह्रास के कारण एव परिणाम वे ही हैं जो मुद्रा-स्फीति के शीर्षक में वर्णित हैं।

(७) अवमूल्यन (Devaluation)

परिचय—सितम्बर सन् १९४९ ई० में जब रुपये का मूल्य घटाया गया तब से अवमूल्यन शब्द की ध्वनि अधिक सुनाई देने लगी है।

अवमूल्यन का अर्थ—साधारणतया प्रामाणिक मुद्रा की स्वर्ण-समता घटाने को अवमूल्यन कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा क्षेत्र में देशी मुद्रा का विदेशी मुद्रा के अनुपात में मूल्य घटाने को अवमूल्यन कहते हैं। इसको अधिक स्पष्ट करते हुए यो कहा जा सकता है कि जब देशी मुद्रा की विनिमय दर विदेशी मुद्रा के अनुपात में अपेक्षाकृत कम कर दी जाय तो यह देशी मुद्रा का अवमूल्यन समझा जायगा। मान लीजिये भारतीय १ रु० अमरिका के ३० सेंट के बराबर था—अब उसका मूल्य ३० सेंट से घटाकर २१ सेंट कर दिया गया तो कहेंगे कि डॉलर के अनुपात में रुपये का अवमूल्यन कर दिया गया है।

अवमूल्यन के कारण (Causes)—(१) प्राय मुद्रा का अवमूल्यन देश की आन्तरिक परिस्थिति के कारण नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियों से बाध्य होकर किया जाता है। जब किसी देश का निर्यात-व्यापार उसके आन्तरिक मूल्य स्तर के ऊँचे हो जाने से कम हो जाता है तब निर्यात बढ़ाने के उद्देश्य से देश की मुद्रा का अन्य देशों की मुद्रा में अवमूल्यन कर दिया जाता है जिससे फलस्वरूप निर्यात बढ़ने लगता है।

(२) जब कभी किसी देश को आयात करने की आवश्यकता हो परन्तु आयात का मूल्य चुकाने के लिये विदेशी मुद्रा या सोना न हो और देश के मूल्य स्तर इतने ऊँचे हों कि विदेशों में निर्यात भी न किया जा सके, तो मुद्रा का अवमूल्यन करके निर्यात कर विदेशी मुद्रा कमाई जा सकती है।

साराश यह है कि किसी देश का निर्यात बढ़ाने के लिये अवमूल्यन एक सरल एव सस्ती विधि है।

अवमूल्यन का परिणाम—(१) अवमूल्यन करने वाले देश का निर्यात व्यापार बढ़ जाता है। आयात मँहगे हो जाते हैं जिससे आयात व्यापार में कमी होने लगती है। (२) आयात मँहगे होने से देश का मूल्य स्तर बढ़ने लगता है।

भारतीय रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of Indian Rupee)—भारत को डॉलर-क्षेत्र से अन्न और मशीनें आदि पूँजीगत माल (Capital Goods) के आयात की आवश्यकता थी परन्तु इनका मूल्य चुकाने के लिये भारत सरकार के पास न तो डालर थे और न सोना था। भारत के मूल्य-स्तर इतने ऊँचे थे कि डालर क्षेत्र के देश विशेषतया अमरिका हमारे बाजारों से माल नहीं खरीद पाते थे जिसके कारण हम डॉलर कमाने में असमर्थ थे। देश का मूल्य-स्तर नीचा करना कठिन था। अत भारत सरकार ने १८ सितम्बर १९४९ को स्टर्लिंग के साथ साथ रुपये का डालर के अनुपात में ३०·५% अवमूल्यन किया। अवमूल्यन के पूर्व एक रुपया लगभग ३० सेंट के बराबर था,

जो अवमूल्यन के पश्चात् लगभग २१ सेंट के बराबर रह गया। दूसरे शब्दों में अवमूल्यन के पश्चात् स्टर्लिंग के साथ रुपये की दर तो १ शि० ६ पैं० ही रही, किन्तु डॉलर में कम हो गई। पहले एक डॉलर ३ रुपये ५ आ० के बराबर था, अवमूल्यन के बाद यह ४ रु० १२ आ० के बराबर हो गया। भारतीय रुपये के साथ-साथ लगभग २४ अन्य देशों ने अपनी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन किया, क्योंकि सभी के सामने निर्यात वृद्धि की समस्या थी। अवमूल्यन के पश्चात् ही (अक्टूबर १९४९ से सितम्बर १९५०) निर्यात बढ़ जाने व आयात कम हो जाने से भारत के विदेशी व्यापार ६५.९ करोड़ रुपये की वृद्धि हो गई।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—एक धातु चलन का अर्थ स्पष्ट कीजिये। स्वर्ण चलन मान, स्वर्णधातु मान तथा स्वर्ण विनिमय मान के अन्तर को समझाइए। (उ० प्र० १९५०)

२—'बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन में बाहर कर देती है।' पूर्ण रूप से समझाकर लिखिए। (उ० प्र० १ ५७, ४७)

३—मुद्रा का अवमूल्यन किसे कहते हैं? भारत में मुद्रा के अवमूल्यन का विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ेगा? (म० भा० १९५७)

४—ग्रेशम नियम की व्याख्या कीजिये। इस नियम का क्षेत्र तथा मर्यादाएँ स्पष्टतः समझाइए। (उ० प्र० १९५४, ४३, अ० बो० १९५३)

५—मुद्रा मान से क्या तात्पर्य है? स्वर्ण मान, स्वर्ण धातु मान, स्वर्ण विनिमय मान और स्टर्लिंग विनिमय मान का अन्तर बताइए। (उ० प्र० १९४५)

६—वस्तुओं के मूल्य में निरन्तर ह्रास का समाज के विभिन्न वर्गों पर क्या प्रभाव पड़ता है? भारतीय उदाहरण दीजिए। (रा० बो० १९५०)

७—वस्तुओं के मूल्य ह्रास और मूल्य वृद्धि का क्या अभिप्राय है? भारत में समाज के विभिन्न वर्ग किस प्रकार प्रभावित होते हैं? (अ० बो० १९५५)

८—स्वर्ण विनिमय मान के मुख्य लक्षण क्या हैं? स्टर्लिङ्ग विनिमय मान से इसमें क्या भिन्नता है? (नागपुर १९५२)

९—निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए :

ग्रेशम नियम (उ० प्र० १९५०, ४९; रा० बो० १९५२, ५१, ४९, अ० बो० १९५१, ५०, ४२, म० भा० १९५२, ५१; नागपुर १९५७)

स्वर्ण धातु मान	(उ० प्र० १९५५)
स्वर्ण विनिमय मान	(सागर १९५०, ४९)
स्वर्ण चलन मान	(सागर १९५०)
मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-संकुचन	(रा० बो० १९५०)
मुद्रा-मूल्य वृद्धि और मुद्रा-मूल्य-ह्रास	(म० भा० १९५५)

इण्टर एग्रीकल्चर परीक्षा

१०—मुद्रा-मूल्य में परिवर्तन से आप क्या समझते हैं? ये कैसे होते हैं और इनके क्या प्रभाव होते हैं? (म० भा० १९५३)

अध्याय ५२

भारतीय चलन प्रणाली

(Indian Currency System)

भारतीय चलन प्रणाली दो भागों में बाँटी जा सकती है—(१) आन्तरिक चलन प्रणाली और, (२) वाह्य चलन प्रणाली।

(१) आन्तरिक चलन-प्रणाली

(Internal Currency System)

चलन अधिकारी (Currency Authority)—भारत में चलन प्रणाली के दो अधिकारी है. (१) भारत सरकार, तथा (२) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया। भारत सरकार धातु मुद्रा बनाती है और रिजर्व बैंक पत्र मुद्रा प्रचलित करता है। रिजर्व बैंक के अतिरिक्त अन्य किसी संस्था को यह अधिकार प्राप्त नहीं है। अत चलन अधिकारियों के अनुसार भारत की आन्तरिक चलन प्रणाली को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(अ) धातु मुद्रा, और (आ) पत्र-मुद्रा।

(अ) धातु मुद्रा (Metallic Money)—भारत में रुपया धातु का सबसे प्रमुख सिक्का है। यह देश की प्रधान मुद्रा है और सीमित विधि-ग्राह्य है, अत. इसे देश की प्रमाणिक मुद्रा कहा जा सकता है। किन्तु प्रामाणिक मुद्रा की भाँति इसका वास्तविक मूल्य इसके अंकित मूल्य के बराबर नहीं है बल्कि बहुत कम है और न इसकी स्वतन्त्र ढलाई होती है। इन बातों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि रुपये में सांकेतिक सिक्कों के गुण विद्यमान है। अत भारतीय रुपया न तो पूर्ण रूप से प्रामाणिक सिक्का है और न सांकेतिक सिक्का ही है। इसीलिए इसे सांकेतिक प्रामाणिक (Token Standard) सिक्का कहते हैं। रुपये की ढलाई तो सांकेतिक सिक्के की भाँति होती है, परन्तु काम यह प्रामाणिक सिक्के का करता है।

हमारे देश में सबसे प्रथम ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने चाँदी का १८० ग्रेन का रुपया चलाया था। यह ११/१२ शुद्ध था। इस रुपये की स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई थी, परन्तु १८९३ में स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई बन्द कर दी गई। किन्तु रुपया असीमित विधि-ग्राह्य अवश्य रहा। द्वितीय महायुद्ध-काल में रुपये की शुद्धता ११/१२ से कम करके १/१२ कर दी गई। सन् १९४० में सरकार ने गिलट का रुपया (Nickel Rupee) चालू किया। रुपये के अतिरिक्त अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी, अधन्ना, पैसा, पाई आदि धातु के सिक्के होते है। इनमें से अठन्नी को छोड़कर शेष सब सिक्के सीमित विधिग्राह्य हैं। यद्यपि अठन्नियाँ असीमित विधिग्राह्य हैं, परन्तु वे प्रामाणिक

मुद्रा में सम्मिलित नहीं हैं भारत में समस्त सिक्के सांकेतिक हैं। उनकी ढलाई से सरकार को लाभ होता है।

पत्र मुद्रा (Paper Money)—सन् १६४० के पूर्व देश में ५, १० १००, १,००० और १०,००० रुपये के नोट प्रचलित थे। युद्ध काल में चांदी के मूल्य में वृद्धि हो जाने पर १ रु० और २ रु० के नोट चलाये गये। जनवरी १६४६ में १०० रु० से ऊपर के समस्त नोट विमुद्रित (अचलित) घोषित कर दिये गये। अब अब २, ५ १० और १०० रुपये के नोट प्रचलित है जो रिजर्व बैंक द्वारा निर्गमित किये जाते है। ये नोट निकल अथवा कागज के रुपया में परिवर्तनीय है। हमारे देश में एक रु० का अपरिवर्तनीय नोट भी प्रचलित है जो भारत सरकार द्वारा चलाया जाता है। १ रु० के नोट देखने में तो नोट है पर कानून की दृष्टि से ये कागज पर छपे सिक्के कहे जा सकते है।

स्वर्णमान-कोष और पत्र चलार्थ कोष (Gold Standard Reserve & Paper Currency Reserve)—सन् १६३५ के पूर्व जबकि रिजर्व बैंक की स्थापना नहीं हुई थी भारतवर्ष में कागजी नोट (पत्र मुद्रा) भारत सरकार द्वारा निर्गमित होते थे। उस समय कागजी नोटों के पीछे सोने चांदी सिक्के और प्रतिभूतियों (Securities) द्वारा निर्मित एक रिजर्व या कोष रखा जाता था जिसे पत्र चलार्थ कोष या कागजी करन्सी रिजर्व (Paper Currency Reserve) कहते थे। यह कोष सन् १८६२ में स्थापित कर दिया गया था। इसके प्रयोग के बदलने के साथ साथ इसका रूप भी बराबर बदलता गया। पहले तो इसका एकमात्र ध्येय नोटों का भुगतान करना था। सन् १८६८ के स्वर्ण नोट विधान में इसका स्वर्ण चाँदी के क्रय के प्रयोग में भी आने लगा। सन् १६०५ से लन्दन में स्थित स्वर्ण तथा साख पत्र विनिमय दर स्थिर रखने के लिये भी काम में आने लगे। रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद से यह कोष नोटों के भुगतान करने और विनिमय दर की स्थिरता रखने के काम में आने लगा।

स्वर्णमान-कोष (Gold Standard Reserve)—स्वर्णमान कोष की स्थापना सन् १६०० में हुई। फाउलर कमेटी की सिफारिश के अनुसार धातु के सिक्के बनाने के लाभ को सचय करने के लिए जिस कोष की स्थापना हुई वह स्वर्णमान कोष कहलाने लगा। इसके तीन मुख्य उद्देश्य थे—(१) विनिमय-दर मजबूत करना (२) विपरीत व्यापारिक विषमता का भुगतान, और (३) गृह-व्यय का भुगतान।

पत्र चलार्थ कोष और स्वर्णमान रिजर्व सोने और चांदी के भागों में विभाजित थे। सोने वाला भाग लन्दन में सेक्रेटरी आफ स्टेट के पास रहता था और चांदी वाला भाग भारत सरकार के पास।

इन कोषों को रुपये का विनिमय अनुपात १ शि० ६ पें० के बराबर स्थिर रखने के काम में लाया जाता था। हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिश के अनुसार रिजर्व बैंक के संस्थापन के बाद दोनों कोष मिला दिये गये और सारा सोना रिजर्व बैंक को दे दिया गया।

भारतवर्ष में पत्र मुद्रा के निर्गम (Issue) की पुरानी रीति—सन् १८६१ के पूर्व करैन्सी नोट मद्रास, बम्बई और कलकत्ते के प्रसीडैन्सी बैंक जारी किया करते

थे। जारी किये जा सकने वाले नोटों की अधिकतम सीमा निश्चित थी और ३३% का एक धातु का रिजर्व (Metallic Reserve) रखा जाता था।

सन् १८६१ ई० में पत्र मुद्रा जारी करने का कार्य भारत सरकार ने स्वयं अपने अधिकार में ले लिया। प्रतिभूतियों (securities) के आधार पर ४ करोड़ रुपये तक के नोट जारी किये जा सकते थे, परन्तु उसके पश्चात् शत-प्रतिशत धातु का रिजर्व रखना पड़ता था। सन् १८६३ ई० में यह सीमा १४ करोड़ कर दी गई और सन् १९१४ में यह सीमा २० करोड़ रुपए तक बढ़ा दी गई। प्रथम महायुद्ध-काल में एक रुपये और ढाई रुपये के नोट बिना किसी धातु का रिजर्व रखे जारी किये गये और उपर्युक्त सीमा २० करोड़ से १२० करोड़ रुपए कर दी गई।

बेबिंगटन स्मिथ कमेटी ने यह सिफारिश की कि सब नोटों के पीछे ४०% का रिजर्व होना चाहिये और प्रतिभूतियों के आधार पर जारी होने वाले नोट १२० करोड़ रुपया से अधिक नहीं होने चाहिये। उक्त कमेटी का यह सुझाव था कि जिस समय व्यापार में वृद्धि हो जाय, उस समय निर्यात बिलों के आधार पर नोट जारी कर देना चाहिये। भारत सरकार द्वारा यह सिफारिश स्वीकार कर ली गई। इस सम्बन्ध में जो कुछ भी सुधार किया गया वह केवल इतना ही था कि धातु का रिजर्व ४०% के स्थान में ५०% कर दिया गया।

भारत में पत्र-मुद्रा के निर्गम (Issue) की वर्तमान प्रणाली :—सन् १९३५ से पूर्व भारत सरकार स्वयं कागजी नोट जारी करती थी, परन्तु रिजर्व बैंक के स्थापित हो जाने के पश्चात् यह कार्य उसके सुपुर्द कर दिया गया। अब रिजर्व बैंक का निगम विभाग (Issue Department) नोट जारी करता है। निगम विभाग बैंकिंग विभाग से बिल्कुल पृथक् है और उसका दायित्व केवल जारी होने वाले नोटों तक ही सीमित है। निर्गम-विभाग की सम्पत्ति और लेनदारी (Assets) निगमित अर्थात् जारी किये गये नोटों के कुल मूल्य के बराबर होने चाहिये। निगमित अर्थात् जारी नोटों के पीछे जो सम्पत्ति और लेनदारी होती है वह निम्न प्रकार है :—[1]

(१) सम्पत्ति की कुल राशि का कम से कम ४०% भाग सोने के सिक्कों, सोने की धातु अथवा स्टर्लिङ्ग सिक्योरिटियों के रूप में होना चाहिये। परन्तु यह प्रतिबन्ध है कि सोने के सिक्कों और सोने की धातु का मूल्य किसी भी समय ४० करोड़ रुपये से कम नहीं होगा।

(२) शेष सम्पत्ति रुपये के सिक्कों, भारत सरकार की रुपये की सिक्योरिटियों और कुछ नियमित प्रकार के बिलों और प्रामिसरी नोटों के रूप में होगी।

(३) सोने के सिक्कों पर धातु की कुल राशि का कम-से-कम १७/२० भाग भारत में रहना चाहिये।

नोट निर्गम की वर्तमान प्रणाली की विशेषतायें

१ नोट जारी करने की वर्तमान प्रणाली अधिक वैज्ञानिक और लोचदार है। इसकी सबसे प्रमुख विशेषता आनुपातिक रिजर्व प्रणाली (Proportional Reserve System) है—समस्त नोटों के पीछे ४०% सोने का रिजर्व होना चाहिये।

1—Section 33—The Reserve Bank of India Act, 1934

२. यह अनुपात आवश्यकता पडने पर घटाया भी जा सकता है। यह ४०% रिजर्व ऐसा नहीं है कि कभी कम ही न किया जा सके। यदि रिजर्व बैंक को अधिक नोट चलाने की आवश्यकता प्रतीत हो, परन्तु इसके पास ४०% रिजर्व रखने के साधन न हों, तो यह निर्गमित नोटों के कुल मूल्य के ४०% से कम किये जाने वाले भाग पर राष्ट्रपति को कर (Tax) देकर घटाया जा सकता है।[1]

नोट-निर्गम की नई और पुरानी प्रणालियों की तुलना—(१) नई प्रणाली के अन्तर्गत नोट जारी करने का एकाधिकार रिजर्व बैंक को, जो देश का केन्द्रीय बैंक है, सौंपा गया है। सब अर्थशास्त्री इस पर एक मत हैं कि केन्द्रीय बैंक द्वारा नोटों का जारी करना सरकार द्वारा जारी करने से कहीं उत्तम है। इसके कारण स्पष्ट हैं। (अ) प्रथम तो केन्द्रीय बैंक का व्यापारिक जगत से घनिष्ठ सम्पर्क होता है जबकि सरकार का नहीं। अतः सरकार की तुलना में केन्द्रीय बैंक को देश की आर्थिक एवं व्यापारिक आवश्यकताओं का अधिक ज्ञान होता है। (आ) दूसरे, सरकार द्वारा नोट जारी करने में सबसे बड़ा भय चलनाधिक्य (Over-Issue) का रहता है, क्योंकि अर्थनीति पर राजनीति हावी हो जाती है। अतः यही उचित है कि नोट-प्रकाशन का कार्य केन्द्रीय बैंक के जिम्मे हो।

(२) हमारी चलन प्रणाली अब पहले की अपेक्षा अधिक लोचदार (Elastic) हो गई है। पुरानी प्रणाली के अन्तर्गत कागजी चलन अधिक से अधिक १२० करोड़ रुपये तक बढ़ाया जा सकता था, परन्तु अब नई प्रणाली के अन्तर्गत उसके विस्तार की कोई बँधी हुई सीमा नहीं है। बैंक जब चाहे जब ४० रुपये के सोने के पीछे १०० रुपये के नोट जारी कर सकता है। इससे चलन में पर्याप्त लोच आ जाती है किन्तु यदि चलन की आवश्यकता इससे भी पूरी न हो और ४०% सोने का रिजर्व न हो, तो कुछ कर देकर, रिजर्व की मात्रा में आवश्यकतानुसार कमी की जा सकती है। और यह कमी घटते-घटते इतनी हो सकती है कि रिजर्व शून्य हो जाय।

निष्कर्ष—उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि नोट जारी करने की वर्तमान प्रणाली पुरानी प्रणाली की तुलना में निस्सन्देह, यदि आदर्श नहीं, तो श्रेष्ठ अवश्य है।

(२) बाह्य चलन-प्रणाली

(External Currency System)

भारतीय मुद्रा का मान और विनिमय-दर—इस शताब्दी के आरम्भ में

1—The Reserve Bank Act provides that in respect of period during which the holding of gold coins, gold bullion or sterling securities (i e, gold reserve) is reduced below 40%, the bank shall pay to the Governor General in Council a tax upon the amount by which such holding is reduced below 40% of the aggregate value of notes issued This tax shall be equal to the bank rate for the time being in force with an addition of 1% per annum when such holding exceeds 32% of the total amount of the assets and further 2% per annum in respect of every further decrease of 2% part of such decrease

लेकर अँग्रेजी शासन के अन्त तक हमारी मुद्रा स्वर्ण विनिमय मान और स्टर्लिङ्ग विनिमय मान के बीच झूलती रही। सन् १९३५ में जबकि रिजर्व बैंक स्थापित किया गया उस समय उसके ऊपर यह उत्तरदायित्व रखा गया कि रुपये की विनिमय दर १ शि० ६ पें० पर कायम रखेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह १ शि० ५४९/६४ पें० पर स्टर्लिङ्ग बेचेगा तथा १ शि० ६३/१६ पें० पर स्टर्लिङ्ग खरीदेगा। रिजर्व बैंक ने इस कार्य को ठीक प्रकार से किया। युद्ध-काल में रिजर्व बैंक यह कार्य अपने 'विनिमय नियन्त्रण विभाग' द्वारा कर सका। युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) का सदस्य बन गया और ८ अप्रैल १९४७ को केन्द्रीय धारा सभा के निर्णय के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के एक सदस्य की हैसियत से प्रथम बार रुपये का मूल्य स्वर्ण की मात्रा में निश्चित किया गया। इस प्रकार रुपये का विदेशी मूल्य सोने के द्वारा हर एक देश के साथ स्थापित हो गया है। यद्यपि नये मान के अनुसार भी अंग्रेजी मुद्रा में एक रुपये की विनिमय-दर १ शि० ६ पें० के ही बराबर है जो दर सन् १९२४ से चली आ रही है, परन्तु स्टर्लिङ्ग के साथ भारतीय रुपये का एकनिष्ठ सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया। अब रुपये का विनिमय मूल्य अन्य चलार्थों (Currencies) के साथ सीधा स्थिर कर दिया गया है। इस प्रकार रिजर्व बैंक के ऊपर अब रुपये की विनिमय-दर को कायम रखने का उत्तरदायित्व नहीं है। अब रुपये की दर भारत सरकार अन्तर्राष्ट्रीय कोष के आदेशानुसार रिजर्व बैंक द्वारा कन्ट्रोल करेगी। भारत के वर्तमान मान को हम अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान (International Gold Standard) कह सकते हैं।

भारतीय चलन प्रणाली के गुण व दोष

गुण—(१) *हमारी वर्तमान प्रणाली एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली है।* संसार के अधिकांश देशों की प्रणाली भी ऐसी ही है।

(२) हमारी आन्तरिक करेन्सी का रूप सुविधाजनक है। हमारे यहाँ धात्विक और कागजी दोनों प्रकार की करेन्सियाँ चालू हैं। हमारी धात्विक करेन्सी भी बहुत खर्चीली नहीं है। जो धातु प्रयोग में लाई जा रही हैं वह काफी सस्ती हैं।

(३) नोटों का चलन केन्द्रीय बैंक के हाथ में है और उसमें पर्याप्त लोच है।

दोष—(१) भारतीय चलन प्रणाली कृत्रिम है अतः इस पर लोगों का विश्वास नहीं है। इसलिये वे अपनी बचत जमीन, मकान, सोने और चाँदी में लगा रखते हैं; जिससे व्यापार आदि को पूँजी प्राप्त नहीं होती।

(२) करेन्सी का मूल्य बराबर गिरता रहा है। इसके फलस्वरूप भी लोगों का इस पर विश्वास नहीं है।

(३) *हमारी सम्पूर्ण करेन्सी सांकेतिक है और वास्तविक मूल्य हमें कभी भी प्राप्त* नहीं होता। स्वर्ण में उसका जो मूल्य रखा गया है, वह केवल नाम के लिये है। स्वर्ण तो हमें प्राप्त होना ही नहीं।

(४) हमारे नोटों के लिये जो कोष है वह अधिकांश स्टर्लिङ्ग में है। स्टर्लिङ्ग करेन्सी उतनी अच्छी नहीं रह गई जितनी अच्छी डॉलर करेन्सी है। हमें विदेशों से सामान प्राप्त नहीं होता है।

(५) हमारे नोट असीमित विधिग्राह्य हैं, किन्तु इन्हें सोने और चाँदी में बदला नहीं जा सकता।

(६) चाँदी के मूल्य मे निरन्तर वृद्धि होते रहने के कारण हमारी मुख्य मुद्रा रुपये मे भी निरन्तर मिलावट होती आ रही है और सम्भव है यह उस स्थिति तक होती रहेगी जब तक रुपया नोट के निकट तक नही पहुँच जाता।

(७) भारतीय मुद्रा-चलन प्रणाली अब भी पूर्णतया लोचदार नही है।

भारतीय चलन का इतिहास (History of Indian Currency)

भारतीय चलन की वर्तमान समस्याओ को भली-भाँति समझने के लिये इसका पिछला इतिहास जानना आवश्यक है। इसलिये नीचे भारतीय चलन का इतिहास सक्षेप मे दिया जाता है :—

(१) सन् १८०० से पूर्व—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पूर्व भारत मे हिन्दू और मुस्लिम शासको द्वारा चलाई हुई कई प्रकार की और लगभग ९९४ सोने और चाँदी की मुद्राएँ प्रचलित थी। इन मुद्राओ मे परस्पर विनिमय-दरे निश्चित नही थी। बाजार मे महाजन व सर्राफ विभिन्न मुद्राओं का सापेक्षिक मूल्य उन मुद्राओ म लगे स्वर्ण एव चाँदी की तौल तथा शुद्धता के अनुसार निश्चित करते थे। इस प्रकार की मौद्रिक व्यवस्था से अन्तर्देशीय तथा विदेशी व्यापार म बडी कठिनाई होती थी। इसलिये ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथो म राज्य की बागडोर आते ही समस्त भारत के लिये एक प्रामाणिक मुद्रा चलाने का निश्चय किया गया।

(२) सन् १८००—१८३५ : द्वि धातुमान के परिचालन का प्रयास (Attempted Bimetallism)—इस युग मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा चाँदी और सोने की मुद्राएँ जारी की गई। इनके वैधानिक अनुपात, शुद्धता एव माप सुनिश्चित थे। द्वि धातु मुद्रा मान के परिचालन के प्रयत्न मे कम्पनी को बहुत अधिक सफलता न मिल सकी क्योकि बाजार मे सोने और चाँदी के मूल्य स्थिर न थे। इसलिये कम्पनी ने क्रमशः एक धातु-मुद्रा-मान को अपनाने का निश्चय किया।

(३) १८३५—१८९३ : रजत-मान (Silver Standard)—सन् १८३५ मे भारतवर्ष मे पूर्ण रूप से रजत मान (Silver Monometallism) स्थापित कर दिया गया। कम्पनी ने १८० ग्रेन (११/१२ शुद्ध चाँदी) चाँदी के रुपये को समस्त ब्रिटिश भारत मे पूर्ण वैध घोषित कर दिया। एक हजार तोले से अधिक चाँदी के मुद्राकन के लिये टकसाल खोल दिये गये। मुद्राकन शुल्क दो प्रतिशत और एक प्रतिशत मुद्राकन-व्यय लिया जाता था। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि स्वर्ण मुद्रा पूर्णतया हट गई थी। सोने की मोहरे आदि जनता की इच्छापूर्ति के लिये टकसाल मे ढाली जाती थी और सन् १८४१ मे यह घोषित भी कर दिया गया कि सरकारी रकम के भुगतान के लिए स्वर्ण मुद्रा अपने अकित मूल्य पर सरकारी खजानो मे स्वीकार की जायेगी।

मैक्सिको और सयुक्तराज्य अमेरिका मे चाँदी की नई खानें खुल जाने के कारण सन् १८७३ के बाद से चाँदी का मूल्य निरन्तर घटने लगा, यहाँ तक कि जो रुपया सोने मे दो शिलिंग के बराबर होता था, एक शिलिंग के बराबर रह गया। इसके फलस्वरूप विदेशी वस्तुएँ विशेषतया अंग्रेजी वस्तुओ के दाम दुगने हो गये। इधर जो अंग्रेजी कर्मचारी भारत मे काम करते थे और घर को रुपया भेजते थे, उन्हे रुपयो के बदले मे आधे पौण्ड मिलने लगे। भारत सरकार को भी बहुत सा व्यय पौण्डो मे करना

पड़ता था, वह भी दुगुना हो गया था। इन सब कठिनाइयों से अंग्रेजी सेना में बड़ी बेचैनी फैली। इस कठिनाई का हल ढूँढ निकालने के लिये हरशल कमेटी नियुक्त की गई।

(४) १८९३–१८९८ रजत मान का अन्त (Breakdown of Silver Standard)—हरशल कमटी की सिफारिश के अनुसार सन् १८९३ मे जनता के लिये टकसाल बन्द कर दी गई अर्थात् जनता का रुपया ढलवाने का अधिकार छीन लिया गया। सरकार ने भी नये रुपये के सिक्के ढालना स्थगित कर दिया, जिसे हरशल कमेटी ने आदर्श बताया था। आगे क्या कदम उठाया जाय, इस पर राय देने के लिये भारत सरकार ने सन् १८९८ में फाउलर कमेटी (Fowler Committee) नियुक्त की।

(५) १८९८–१९१४ स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange)—फाउलर कमेटी ने भी यही सम्मति दी कि रुपये की विनिमय दर १ शि० ४ पे० पर स्थिर कर देनी चाहिये। इसके अतिरिक्त, उसने स्वर्ण मान स्थापित करने तथा ब्रिटेन के सोने के सिक्के सॉवरेन को विधिग्राह्य बना देने और उनकी स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई करने का सुझाव रखा। सरकार ने इन सिफारिशो को स्वीकार तो कर लिया, परन्तु उन्हे कार्य रूप में परिणित नहीं किया। सोने के सिक्के के निर्माण के लिये टकसाल स्थापित नहीं की गई। शनैः शनैः सरकार की नीति में इस प्रकार परिवर्तन हुआ कि इसने स्वर्ण विनिमय मान का रूप धारण कर लिया जिसे न तो हरशल कमेटी ने सोचा था और न फाउलर कमेटी ने। अब सरकार ने विनिमय दर को १ शि० ४ पें० पर ही रखने की कमर कस ली। कौंसिल बिल (Council Bills) और रिवर्स कौंसिल बिल (Reverse Council Bills) के क्रय विक्रय द्वारा इस दर को स्थिर रखा गया।

कौन्सिल और रिवर्स कौन्सिल बिलो का क्रय विक्रय—कौंसिल बिल (रुपये की हुँडियाँ) और रिवर्स कौंसिल बिल (स्टर्लिङ्ग हुँडियाँ) का क्रय विक्रय निम्न प्रकार होता था : यदि भारत से इङ्गलैंड को अधिक माल चला जाता और वहाँ से कम आता, तो इङ्गलैंड में कौन्सिल बिलो (रुपये की हुँडियो) की माँग बढ़ जाती और रुपये के मूल्य बढ़ने की सम्भावना होती। उस समय भारत मन्त्री १ शि० ४ पें० की दर से,जो व्यापारी चाहता है उसे हुँडी बेचना शुरू कर देते। ये हुँडियाँ कौन्सिल बिल कहलाती थीं। इङ्गलैंड का व्यापारी उसे खरीद कर भारतीय व्यापारी के पास भेज देता था। भारतीय व्यापारी उसे दिखाकर भारत सरकार से उतने ही रुपयो की राशि प्राप्त कर लेता था। इसी प्रकार यदि कभी भारत इङ्गलैंड से अधिक माल मँगाता और कम भेजता तो भारत मे स्टर्लिङ्ग की माँग बढ़ जाती। ऐसी स्थिति में स्टर्लिङ्ग का मूल्य बढ़ने की सम्भावना होती है। उसी समय भारत सरकार, जो भी व्यापारी चाहता उससे रुपये लेकर १ शि० ४ पें० की दर से भारत-मन्त्री के नाम हुँडी कर देती। इन्ही हुँडियों को रिवर्स कौन्सिल बिल कहा जाता है। भारतीय व्यापारी रिवर्स कौन्सिल बिल खरीद कर इङ्गलैंड में अपने माल भेजने वाले को देता था। वह उसे दिखा कर भारत-मन्त्री से पौंड में भुगतान प्राप्त कर लेता था। इस प्रकार रुपये की दर को १ शि० ४ पें० पर स्थिर रखने में और स्वर्ण मान के बजाय स्वर्ण-विनिमय मान स्थापित करने में भारत सरकार सफल हुई।

देशवासियों ने भारत सरकार की इस मुद्रा नीति की कड़ी आलोचना की जिसके फलस्वरूप सन् १९१३ मे चेम्बरलेन कमीशन (Chamberlain Commi-

ssion) की नियुक्ति की गई। कमीशन ने भारत के लिये स्वर्ण विनिमय-मान उपयुक्त बतलाया और इसी को ही जारी रखने की सिफारिश की।

(६) १९१४-१९१८ युद्ध काल तथा विनिमय दर मे हेर फेर (War time & Change in the Exchange rate)—चैम्बरलेन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित होने के कुछ ही दिना बाद प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। लोगो का सरकार मे विश्वास न रहा और उनम घबराहट फैल गई जिसके कारण लोगो ने डाकखानों से रुपया निकालना तथा करेन्सी नोटो के बदले मे सरकार से सोना मागना शुरू कर दिया। माग इतनी बढ़ गई कि सरकार को सोना देना बन्द करना पड़ा। कुछ समय के लिये स्थिति काबू मे आई, परन्तु १९१५ मे फिर भीषण हो उठी। युद्ध-काल मे भारत से इङ्गलैड व मित्र देशों को बहुत माल गया परन्तु आया बहुत कम। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार के लिए यहाँ पर बहुत-सा रुपया व्यय भी किया। जिसके कारण ब्रिटिश सरकार ऋणी हो गई। आरम्भ म माँग पूरी करने के लिये कौन्सिल बिल १ शि० ४ पे० की दर से बेचे गये, परन्तु शीघ्र ही उनकी मात्रा इतनी अधिक हो गई कि भारत सरकार द्वारा रुपयो मे उनका भुगतान करना कठिन हो गया। चादी के मूल्य मे इतनी वृद्धि हो गई कि रुपये को गलाना लाभप्रद हो गया। सरकार ने कौन्सिल बिलो को असीमित राशि म बेचना बन्द कर दिया और जो बेचे वह भी ऊँची दर पर, बिना रिजर्व रखे हुए एक रुपये और ढाई रुपये के नोट भी जारी कर दिये गये। इस प्रकार विनिमय की दर जो सन् १९१४ मे १ शि० ४ पे० थी, वह सन् १९१८ मे २ शि० ४ पे० पर पहुँच गई।

(७) १९१९-१९२५ . बैबिग्टन स्मिथ कमेटी और विनिमय दर २ शि० पर स्थिर करने का प्रयास (Babington Smith Committee & attempt to stabilise the Exchange rate at 2 Sh)—महायुद्ध के समाप्त हो जाने के पश्चात् भावी मुद्रा नीति के सम्बन्ध मे सम्मति देने के लिये सरकार ने बैबिग्टन स्मिथ कमेटी नियुक्त की। कमेटी ने पुन. स्वर्ण विनिमय दर अपनाने और विनिमय दर २ शि० कर देने की सिफारिश की। सरकार ने इसे स्वीकार किया। किन्तु कुछ ही समय पश्चात् की घटनाओं ने कमेटी के विचारो को पूर्णतया भ्रमात्मक प्रमाणित कर दिया, क्योकि चांदी का मूल्य गिर गया और व्यापार का अन्तर (Balance of Trade) भारत के प्रतिकूल हो गया अर्थात् भारत को पाना कम और देना अधिक हो गया। इसके फलस्वरूप स्टर्लिङ्ग की मांग बढ़ी और रुपये का मूल्य गिरने लगा। तब सरकार ने उसे २ शि० पर बनाये रखने की चेष्टा की परन्तु उसे सफलता नहीं मिली। विवश होकर सन् १९२२ मे सरकार ने रिवर्स कौन्सिल बिलो को बेचना स्थगित कर दिया और विनिमय दर को अपने हाल पर छोड दिया।

(८) १९२६—१९३१ हिल्टन यग कमीशन (Hilton Young Commission)—सन १९२४ मे विनिमय दर १ शि० ६ पे० के लगभग स्थिर हो गई, और सन् १९२५ मे भावी मुद्रा नीति के सम्बन्ध मे राय देने के लिये सरकार ने हिल्टन यग कमीशन (Hilton Young Commission) को नियुक्त किया जिसने स्वर्ण-धातु मान (Gold Bullion Standard) अपनाने और रुपये की विनिमय दर १ शि० ६ पें० निश्चित करने की सिफारिश की।

सरकार ने कमीशन की सिफारिशों को स्वीकार किया और उन्हे कार्यान्वित करने के लिय सन् १९२७ मे भारतीय चलन विधान (Indian Currency Act)

पास किया जिसके अनुसार रुपये की विनिमय-दर १ शि० ६ पें० या ८.४७ शुद्ध स्वर्ण के ग्रेन के बराबर निश्चित की गई। इस दर को स्थिर रखने के लिये सरकार ने २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोले के हिसाब से कम से कम ४० तोला या उससे ऊपर अमीमित मात्रा में स्वर्ण के पाट खरीदने की जिम्मेदारी ली। इसके अतिरिक्त, इसी दर पर सरकार ने जनता की विधिग्राह्य मुद्राओं के बदले ४०० औंस (१०६५ तोले) स्वर्ण या स्टर्लिंग बेचने की भी जिम्मेदारी ली। विधिग्राह्य मुद्राओं के बदले स्वर्ण एवं स्टर्लिंग प्राप्त करने का अधिकार होने के कारण इस प्रणाली में स्वर्ण धातु-मान (Gold Bullion Standard) और स्टर्लिंग-विनिमय मान (Sterling Exchange Standard) दोनों की विशेषताओं का समन्वय हो गया था। इस प्रकार जो मान स्थापित हुआ उसे न तो स्वर्ण धातु मान कहा जा सकता था और न स्वर्ण-विनिमय मान। यदि उसे अनिश्चित स्वर्ण मान कहें तो उपयुक्त होगा, क्योंकि स्थिति के अनुसार और सरकार की इच्छा के अनुकूल कभी तो वह स्वर्ण-धातु-मान का स्वरूप ग्रहण कर लेता था और कभी स्वर्ण विनिमय मान का।

(६) १९३१—१९४७ स्टर्लिंग विनिमय मान (Sterling Exchange Standard)—सन् १९३१ में इङ्गलैंड ने स्वर्ण-मान का परित्याग कर दिया जिसके कारण भारतीय रुपये को भी वैसा ही करना पड़ा। रुपये को १ शि० ६ पें० की दर पर स्टर्लिङ्ग से बाँध दिया गया। क्योंकि अब स्टर्लिंग सोने में परिवर्तनशील नहीं था, इसलिये भारतीय मान विशुद्ध स्टर्लिङ्ग मान हो गया। तब से लेकर सन् १९४७ तक भारत में यही मान रहा।

इस काल की महत्वपूर्ण घटनाएँ—इस काल में दो महत्त्वपूर्ण घटनायें हुई—(१) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की स्थापना (१९३५), और (२) द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५)।

१—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना (१९३५)—सन् १९३४ तक हमारे यहाँ भारत सरकार ही चलन सम्बन्धी समस्त कार्यों का सचालन करती थी। सन् १९३५ में हमारे देश में केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक की स्थापना हुई और उसे यह सारा भार सौंप दिया गया, जिससे चलन का पूरा प्रबन्ध अब रिजर्व बैंक के हाथ में आ गया। देश के समस्त अच्छे बैंक इससे सम्बद्ध हैं और सम्बन्धित या अनुसूचित (Scheduled) बैंक कहलाते हैं। इन्हें अपनी देनदारियों (Liabilities) का कुछ भाग इसके पास जमा रखना पड़ता है। इस प्रकार मुद्रा व्यवस्था के अतिरिक्त, सारी साख व्यवस्था पर रिजर्व बैंक का नियंत्रण है। स्वर्ण-मान रिजर्व (कोष) और कागजी चलन रिजर्व (कोष) दोनों इसी के सुपुर्द कर दिये गये हैं। रुपये का बाहरी मूल्य १ शि० ६ पें० के बराबर बनाये रखने का उत्तरदायित्व भी रिजर्व बैंक पर था।

२—द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५)—इस काल की दूसरी महत्वपूर्ण घटना द्वितीय महायुद्ध था जो सन् १९३९ में आरम्भ हुआ और सन् १९४५ में समाप्त हुआ। इस काल की कुछ उल्लेखनीय घटनायें निम्नलिखित हैं :—

(अ) रुपयों की माँग में वृद्धि—युद्ध छिड़ने पर जनता में बेचैनी उत्पन्न हुई और लोग नोटों को रुपयों में बदलाने के लिये आतुर हो उठे, जिसके कारण रुपयों की माँग बहुत बढ़ गई। बाद में व्यापार इतना बढ़ा कि यह माँग बढ़ती ही गई। अतः सरकार को इस समय १४६ करोड़ रुपये बनाकर जारी करने पड़े।

(आ) एक और दो रुपये के नोटों का चलनारम्भ—चाँदी के रुपयों की माँग इतनी बढ़ती गई कि उसे इससे पूरा करना असम्भव हो गया। अतः विवश होकर सरकार को एक और दो रुपये के नोट चलाने पड़े जो अभी भी प्रचलित हैं।

(इ) विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control)—युद्ध-काल में विषम परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने के कारण आयात और निर्यात पर सरकार द्वारा नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है। इसी लक्ष्य को लेकर भारत में गत युद्ध काल में विनिमय नियन्त्रण प्रारम्भ किया गया। भारत सरकार ने यह कानून बना दिया कि निर्यात करने से जिस व्यक्ति को पौण्ड, डॉलर आदि प्राप्त हों वह रिजर्व बैंक में जमा करे, और जिन विदेशों से माल खरीदने के लिये विदेशी करेन्सी की आवश्यकता हो, वह रिजर्व बैंक से विदेशी विनिमय खरीदे। इस पद्धति को विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control) कहते हैं। यह पद्धति आज दिन भी प्रचलित है और इससे देश को बहुत लाभ पहुँचा है।

(ई) बड़ी राशि के नोटों का विमुद्रीकरण (Demonitisation)—युद्ध-काल में चोरबाजारी, मुनाफाखोरी और घूसखोरी का बड़ा जोर रहा। इसमें सम्बद्ध लोगों ने इस प्रकार अवैध ढंग से बड़ा धन कमाया जो अधिकतर बड़े नोटों में संचित कर रखा गया। इस कमाई को खत्म करने के लिये १२ जनवरी, १९४६ को भारत सरकार ने एक विमुद्रीकरण ऑर्डिनेन्स जारी किया जिसके अनुसार १०० रुपये से ऊपर की राशि के नोटों का विमुद्रित कर दिया, अर्थात् ५०० रु०, १,००० रु० और १०,००० रु० के नोटों को अविधि ग्राह्य घोषित कर दिया। उन्हें भुना कर उनके बदले में दूसरा चलन लेने के लिये २६ फरवरी, १९४६ तक का समय दिया गया। भुनाने वाले व्यक्ति को रिजर्व बैंक को एक फॉर्म भर कर यह बताना पड़ता था कि ये नोट कब और कहाँ से मिले, इन्हें पास में क्यों रखा गया और बैंक में क्यों नहीं जमा किये गये, आदि।

(१०) १९४७ : अन्तर्राष्ट्रीय मान की स्थापना (Establishment of International Standard)—८ अप्रैल, १९४७ को भारतीय धारा सभा के निर्णय के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य की हैसियत से प्रथम बार भारत सरकार ने स्टर्लिङ्ग से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और भारतीय रुपये का मूल्य सोने में निश्चित किया गया। इस प्रकार भारत में 'अन्तर्राष्ट्रीय मान' की स्थापना हुई।

(११) १९४९ : रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of Rupee)—सन् १९४९ में करेन्सी सम्बन्धी एक और महत्वपूर्ण घटना हुई। १८ सितम्बर १९४९ को ब्रिटिश खजाने के चान्सलर सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने इङ्गलैंड की विषम परिस्थिति के दबाव के कारण यह घोषणा कर दी कि ब्रिटेन ने डॉलर की तुलना में पौण्ड का मूल्य ३०.५% घटा दिया। पौण्ड का मूल्य ४.०३ डॉलर से २.८० डालर कर दिया गया। उस समय भारत के सामने यह प्रश्न था कि वह स्टर्लिङ्ग के साथ रहे अथवा डॉलर के साथ। स्टर्लिङ्ग क्षेत्र से अधिक व्यापार होने के कारण भारत ने स्टर्लिङ्ग के साथ रहने का निश्चय किया। अवमूल्यन के बाद भी स्टर्लिंग के साथ रुपये की दर तो १ शि० ६ पें० ही रही, किन्तु डॉलर में कम हो गई। अवमूल्यन से पूर्व एक डॉलर ३ रु० ५ आ० के बराबर था। अब वह ४ रु० ११ आ० के बराबर हो गया है। पाकिस्तान के अतिरिक्त कॉमनवेल्थ के सब सदस्यों ने इसका अनुकरण किया।

(१२) १९४९-५० : भारत-पाकिस्तान मुद्रा गतिरोध (Indo-Pakistan Monetary Dead-lock)—भारत ने तो अपने रुपये का अवमूल्यन कर दिया; परन्तु पाकिस्तान ने ऐसा नहीं किया। जिसके फलस्वरूप १०० पाकिस्तानी रुपये १४४ भारतीय रुपया के बराबर हो गये। इससे भारतीय अर्थव्यवस्था को गहरा धक्का पहुँचा। भारत सरकार ने पाकिस्तानी रुपये की बढ़ी हुई दर को मानने से इन्कार कर दिया जिसके परिणाम स्वरूप सालह महीने तक यह मुद्रा गतिरोध चलता रहा और सारा व्यापार ठप्प हो गया। जूट का आयात स्थगित हो जाने से कलकत्ते की जूट मिल बन्द हो गई। विवश होकर भारत सरकार को पाकिस्तानी रुपये की नई दर स्वीकार करनी पड़ी और २६ फरवरी, १९५१ को दोनों देशों के मध्य एक व्यापारिक समझौता हो गया जिससे स्थिति में कुछ सुधार हो गया।

यदि पाकिस्तान की इस नीति पर आर्थिक दृष्टि से विचार किया जाय, तो यह नीति उचित नहीं है। पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का मूल्य मनोवैज्ञानिक भावनाओं तथा राजनैतिक अवस्थाओं के आधार पर बढ़ाया। भाग्यवश विश्व-स्थिति पाकिस्तान के अनुकूल ही रही जिससे वह अपनी विनिमय दर स्थिर रख सका। कोरिया के युद्ध के कारण पाकिस्तान का रुपया और भी दृढ़ हो गया और भारत को बाध्य होकर पाकिस्तान की विनिमय दर को स्वीकार करना पड़ा। मार्च १९५२ के बाद तो स्थिति और भी विकट हो गई। खुले बाजार में पाकिस्तानी मुद्रा का मूल्य भारतीय मुद्रा से भी कम हो गया अर्थात् ९२·१८ : १०० के लगभग आ गया।

वर्तमान चलन सम्बन्धी समस्याएँ

मुद्रा-स्फीति (Inflation)—मुद्रा-स्फीति गत महायुद्ध का सबसे बड़ा अभिशाप है। इसके मुख्य कारणों, प्रभावों आदि का विशद विवेचन गत अध्याय में किया जा चुका है। सन् १९४९ में कुल मुद्रा प्रसार १२०० करोड़ रुपये तक पहुँच गया था जबकि सन् १९३९ में यह केवल २०० करोड़ रुपये ही था, यही स्थिति अभी भी जारी है। अतः स्पष्ट है कि चलन में पहले की अपेक्षा पाँच गुनी वृद्धि हो गई। मुद्रा-स्फीति के कारण मुद्रा की क्रय शक्ति कम हो गई और वस्तुओं के भाव बढ़ गये जिससे मध्यम वर्ग एवं श्रमिक वर्ग को बहुत चोट पहुँची।

मूल्यों को घटाने के लिये भारत सरकार करन्सी की वृद्धि को रोकने का प्रयत्न कुछ काल से कर रही है। इसने अपने मुद्रा स्फीति विरोधी कार्यक्रम की घोषणा अक्टूबर १९४८ में की, परन्तु यह नीति प्रभावोत्पादक सिद्ध नहीं हुई। सन् १९५१-५२ में मुद्रा-प्रसार में कमी की गई और मूल्य भी गिरे। सरकार ने ऐसी नीति का अवलम्बन लिया जिससे देश की उत्पत्ति बढ़ी, निर्यात कम होकर आयात को प्रोत्साहन मिला, कर लगा कर मुद्रा चलन से खींची गई और कण्ट्रोल द्वारा मूल्यों को कम करने का प्रयत्न किया गया। सारांश यह है कि मुद्रा-स्फीति आज हमारी सबसे प्रमुख आर्थिक समस्या है जिसका हल निकालना नितान्त वांछनीय है।

स्टर्लिङ्ग पावना (Sterling Balances)—द्वितीय महायुद्ध से पूर्व भारतवर्ष ब्रिटेन का ऋणी था, परन्तु युद्ध ने इस स्थिति को उल्टा कर दिया। दूसरे शब्दों में युद्ध-काल में ब्रिटेन का सारा ऋण चुक गया और अब ब्रिटेन भारतवर्ष का ऋणी हो गया। पौंड पावने की महायुद्ध-काल में जो वृद्धि हुई वह हमारे देश के मुद्रा-इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने से पूर्व रिजर्व

बैंक के पास पत्र-मुद्रा के रिजर्व के रूप में केवल ६४ करोड़ रुपये के पौंड-पावने थे जो बढ़कर सन् १९४५-४६ में १७३३ रुपये के बराबर हो गये।

ब्रिटेन जितना भी माल लेता उसके बदले स्टर्लिङ्ग प्रतिज्ञा पत्र लिख देता जिन्हें स्टर्लिङ्ग सिक्योरिटी कहते हैं। भारत सरकार यह सिक्योरिटी रिजर्व बैंक को दे देती जो उसके आधार पर नये नोट जारी कर भारतीय व्यापारियों को भुगतान कर देता। वर्तमान-मुद्रा स्फीति का यह एक मुख्य कारण है। रिजर्व बैंक अधिनियम के अनुसार कुल नोटों का ४०% भाग स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियों या सिक्योरिटीज में रह सकता है परन्तु इसमें संशोधन कर दिया गया और यह प्रतिबन्ध हटा दिया गया। आज स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ पत्र मुद्रा के ९०% से भी अधिक है। इस प्रकार भारतीय पत्र-मुद्रा का आधार ही स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ बन गई।

पौंड पावनों के सञ्चय (Accumulate) होने का कारण —पौंड पावनों की युद्ध-काल में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। इसके कई कारण थे, (१) ब्रिटेन ने युद्ध-काल में भारतवर्ष से बहुत-सा माल खरीदा। इस माल के बदले उसने भारत को रुपये नहीं दिये और न सोना ही दिया बल्कि इंगलैंड की सरकार ने विभिन्न अवधियों के प्रतिज्ञा-पत्र दिये। (२) भारत ने मित्र राष्ट्रों की जनता तथा सेनाओं के लिए भी बहुत अधिक माल भेजा जिसके परिणाम स्वरूप भारत का व्यापार-सन्तुलन इन देशों के अनुकूल रहा। (३) इंगलैंड तथा भारत के मध्य होने वाले सन् १९३९ के आर्थिक समझौते के अन्तर्गत भी भारत सरकार ने सुरक्षा के लिये ब्रिटेन की सरकार के प्रति जो व्यय किया वह भी दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया। (४) युद्ध काल में ब्रिटिश भारत में रहने वाले समस्त व्यक्तियों का डॉलर तथा अन्य दुर्लभ मुद्राओं के रूप में जो धन जमा था वह भी ब्रिटिश साम्राज्य के डॉलर पूल' के लिये अनिवार्य रूप से ले लिया गया (५) अमेरिका को निर्यात तथा अमेरिका की सेना पर भारत में होने वाले व्यय के बदले में भारत को जो डॉलर प्राप्त हुए वे भी 'डालर पूल' में एकत्रित कर दिये गये। इस प्रकार भारतवर्ष को जो इङ्गलैंड अथवा विदेशों में प्राप्त करना था उन सबके बदले स्टर्लिङ्ग प्रतिभूतियाँ दी गईं।

पौंड पावने का भुगतान और उसका उपयोग :—युद्ध समाप्त होने पर इस देश में इस बात की चर्चा हुई कि पौंड-पावने का उपयोग किस प्रकार किया जावे। भारत के भिन्न भिन्न लोगों ने भिन्न भिन्न सुझाव रखे। (१) किसी ने कहा कि इनके बदले में इंगलैंड से मशीनें मँगाई जाय। (२) किसी ने कहा कि इनको अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पास धरोहर के रूप में रख कर कोष से ऋण लिया जाये। (३) किसी की यह राय रही कि यदि इंगलैंड इस समय हमारी मशीनरी की माँग को पूरा न कर सके तो इस ऋण का कुछ भाग डॉलर आदि अन्य दुर्लभ मुद्राओं में परिणत कर दे जिससे भारत संसार के अन्य सस्ते बाजारों से यह माल मँगा सके। (४) इस ऋण का कुछ भाग ब्रिटेन वालों की जो व्यापारिक पूँजी भारत में लगी हुई है उसे, उचित दामों पर खरीदने के काम में लाया जा सकता है। (५) यह रकम स्टर्लिङ्ग पेन्शनों, पारिवारिक पेन्शनों तथा युद्ध-सामग्री के खरीदने के काम में ली जा सकती है। (६) भारतीय युद्धोत्तर पुनर्निर्माण तथा उद्योग धन्धों के यन्त्रीकरण करने तथा भारतीयों को विदेशों में विशेष शिक्षा दिलाने के हेतु इसका उपयोग किया जा सकता है।

पौंड-पावने सम्बन्धी समझौते
(Sterling Balances Agreements)

युद्ध समाप्त होने के बाद अगस्त १९४७ में भारत और ब्रिटिश सरकार के

बीच एक मध्यकालीन समझौता (Interim Agreement) हुआ। इस समझौते के अनुसार पौंड पावने की राशि १७४७ करोड़ रुपये निश्चित की गई और इसमें से लगभग १११ करोड़ रुपये की राशि सन् १६४८ तक भारत को अपनी इच्छानुसार व्यय करने की स्वतन्त्रता दी गई। परन्तु भारत इस राशि में से केवल ४ करोड़ रुपये की राशि जून १६४८ तक खर्च कर पाया। जुलाई १६४८ में एक नया समझौता हुआ जिसके अनुसार भारत को उसके गत वर्ष के बचे हुए १०७ करोड़ रुपये के अतिरिक्त सन् १६५१ के जून तक १०६ करोड़ रुपये अपनी इच्छानुसार व्यय करने की स्वतन्त्रता दी गई। इसी वर्ष पौंड पावने में से भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार को लगभग ३५७ करोड़ रुपये युद्ध सामग्री के खरीदने तथा ब्रिटिश अफसरों की पेंशन चुकाने के लिये दे दिये। जुलाई १६४६ के नये समझौते के अनुसार भारत सन् १६५१ के जून तक १०६ करोड़ रुपये के स्थान पर १३३ करोड़ रुपये तक पौंड-पावने में खर्च कर सकेगा। इसी समझौते में यह भी निश्चय किया गया कि भारत १६४८-४६ के लिये भी लगभग १०८ करोड़ रुपये खर्च कर सकेगा। फरवरी १६५२ में इस सम्बन्ध में सबसे अन्तिम समझौता हुआ। यह समझौता ३० जून, १६५७ तक के लिये किया गया। इस समझौते के अनुसार १६५७ तक हमारे पास केवल ३१ करोड़ पौंड-पावने बच रहेंगे। यह बड़े खेद की बात है कि हमने इस पौंड-पावने की अधिकांश राशि विदेशों से अन्न तथा अन्य उपभोग की वस्तुएँ खरीदने में खर्च कर दी। आशा है अगले ६ वर्षों में प्राप्त होने वाली पौंड पावने की राशि देश की उत्पादन-शक्ति को बढ़ाने तथा आर्थिक उन्नति करने में लगाई जावेगी। अब भारत सरकार ने अपनी अन्तिम जमा-पूँजी को दूसरी योजना की सफलता के लिये काम में लाना प्रारम्भ कर दिया है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—भारत की वर्तमान मुद्रा प्रणाली का वर्णन संक्षेप में कीजिये।

(अ० बो० १६५४)

२—पत्र चलार्थ संचिति (Paper Currency Reserve) की विभिन्न पद्धतियाँ समझाइये। भारत के लिये कौन सी पद्धति उपयुक्त है और क्यों ?

(नागपुर १६५५)

३—सन् १६१६ से सन् १६३६ तक भारत की मुद्रा प्रणाली का संक्षिप्त इतिहास लिखिये। (दिल्ली हा० स० १६४८)

४—वर्तमान भारतीय मुद्रा प्रणाली पर नोट लिखिए। (अ० बो० १६५६)

५—भारत की वर्तमान प्रणाली का संक्षिप्त विवरण लिखिए।

(दिल्ली हा० से० १६४७)

अध्याय ५३

साख एवं साख-पत्र

(Credit & Credit Instruments)

परिचय (Introduction) – अब तक हमने मुद्रा व करेन्सी का अध्ययन किया है और देखा है कि इनसे व्यापार व उद्योग में क्या सहायता मिलती है। परन्तु बहुधा व्यापार में हम नकद दाम नहीं देते, वरन् भविष्य में देने का वचन देते हैं। हम देखते हैं कि उपभोक्ता फुटकर व्यापारी से, फुटकर व्यापारी थोक व्यापारी से, थोक व्यापारी उत्पादकों या निर्माताओं से, उत्पादक या निर्माता बैंक से और बैंक जनता से साख पर उधार लेता है। अतः यह स्पष्ट है कि आधुनिक व्यापार व उद्योग साख रूपी आधार पर स्थिर है। दूसरे शब्दों में, आधुनिक युग 'साख का युग' है और वर्त्तमान आर्थिक व्यवस्था बहुत कुछ साख पर निर्भर है। उत्पत्ति, उपभोग, विनिमय तथा वितरण सभी में साख की आवश्यकता होती है। पूँजीवाद-संगठन में बिना साख प्रयोग के खेत शून्य पड़े रहेंगे, कल कारखाने बन्द हो जायेंगे, विनिमय कार्य अत्यन्त सकुचित हो जायगा और वितरण में अनेकों कठिनाइयाँ उपस्थित हो जायेंगी।

साख शब्द के विविध अर्थ—साख शब्द बहुत से अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है, जैसे : साधारण अर्थ में, वही-खाते सम्बन्धी अर्थ में, व्यापारिक अर्थ में और अर्थशास्त्रीय अर्थ में।

(१) साख का साधारण अर्थ—साधारण भाषा में साख शब्द 'विश्वास' या 'प्रशंसा' के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। साख का अङ्गरेजी पर्यायवाची शब्द 'क्रेडिट' (Credit) है और किसी प्रशंसनीय कार्य के लिये 'क्रेडिटेबुल' (Creditable) शब्द प्रयुक्त किया जाता है।

(२) साख का वही-खाता सम्बन्धी अर्थ—लेखपाल (Accountant) साख के अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'क्रेडिट' (Credit) को खाते के दाहिनी ओर के लिये प्रयुक्त करता है।

(३) साख का व्यापारिक अर्थ—व्यापारिक अर्थ में साख शब्द किसी व्यापारी या व्यापारिक-भवन की आर्थिक स्थिति एवं प्रतिष्ठा का सूचक है। व्यापारिक योग्यता, ईमानदारी, अच्छी आर्थिक स्थिति आदि उत्तम व्यापारिक साख की कुछ आधारभूत बातें हैं। प्राय अच्छी साख वाले व्यापारी को बड़ी रकम आसानी से उधार मिल सकती है, परन्तु संदेहपूर्ण साख वाले व्यापारी को उधार आसानी से नहीं मिल सकती। इसलिए एक नये व्यापारी को उधार माल बेचने के पहले उसकी साख सम्बन्धी पूछताछ की जाती है। साख का व्यापारिक अर्थ उसके अर्थशास्त्रीय अर्थ से बहुत मिलता जुलता है।

(४) साख का अर्थशास्त्रीय अर्थ—साख शब्द का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द क्रेडिट (Credit) है जिसकी उत्पत्ति लेटिन (Latin) शब्द 'क्रेडो' (Credo) से हुई है। क्रेडो का अर्थ है 'मैं विश्वास करता हूँ।' परन्तु अर्थशास्त्र में साख शब्द इस अर्थ में नहीं लिया जाता। अर्थशास्त्र में इस शब्द का अर्थ 'उधार' है, अर्थात् जिस समय रुपया का भुगतान लेना चाहिए उस समय न लेकर किसी भविष्य के समय में लिया जाय। अधिक स्पष्ट करते हुए, साख मनुष्य की उस शक्ति को कहते हैं जिसके बल पर वह दूसरों से कुछ समय के लिये आर्थिक वस्तुएँ या धन उधार ले सकता है। अर्थात् ऋण लेने वाली शक्ति या गुण को अर्थशास्त्र में 'साख' कहते हैं।

साख की विभिन्न परिभाषाएँ (Definitions)—साख के अर्थशास्त्रीय अर्थ को भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों ने भिन्न भिन्न प्रकार परिभाषित किया है। जैसे :—

(१) मैक्लियड (Macleod) ने लिखा है कि साख भविष्य में भुगतान पाने का वर्तमान अधिकार है।

(२) वालरस (Walras) ने साख को पूँजी का उधार देना कहा है।

(३) जेवन्स (Jevons) के अनुसार साख भुगतान कुछ विलम्ब के पश्चात् करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

(४) टकर (Tucker) नामक अर्थशास्त्री ने साख की यह परिभाषा की है : "किसी एक व्यक्ति की मूल्यवान वस्तु का किसी अन्य व्यक्ति के पास इस विश्वास के साथ हस्तान्तरित होना कि वह भविष्य में इस मूल्य का वापिस चुका सकेगा, साख है।"

(५) प्रो० सेलिगमैन (Seligman) ने साख की परिभाषा इस प्रकार दी है : "साख एक ऐसा विनिमय अथवा सौदा होता है जिसके अन्तर्गत भौतिक वस्तुएँ, पूँजी अथवा केवल वस्तुओं के प्रयोग का अधिकार अस्थायी रूप से हस्तान्तरित कर दिया जाता है। साख की विशेषता अन्य पक्षों की वस्तुओं, बहुधा रुपये को प्रयोग करने का अधिकार होता है।"

(६) प्रो० जीद (Gide) का कथन है कि विनिमय में आप समय का तत्त्व और मिला दीजिए, बस वह साख हो जायेगा।

सारांश यह है कि किसी भुगतान को भविष्य की किसी तिथि के लिये स्थगित करने का नाम ही साख है, अर्थात् विलम्बित विनिमय (Protracted Exchange) को ही साख कहते हैं।

साख के तत्त्व (Essentials of Credit)—साख निम्नलिखित तीन तत्त्वों पर आधारित है—
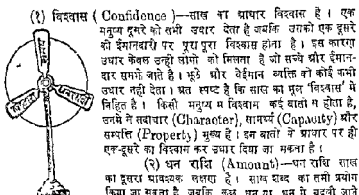
(१) विश्वास (Confidence)—साख का आधार विश्वास है। एक मनुष्य दूसरे को तभी उधार देता है जबकि उसको एक दूसरे की ईमानदारी पर पूरा पूरा विश्वास होता है। इस कारण उधार केवल उन्हीं लोगों को मिलता है जो सच्चे और ईमानदार समझे जाते है। झूठे और बेईमान व्यक्ति को कोई कभी उधार नहीं देता। अत स्पष्ट है कि साख का मूल 'विश्वास' में निहित है। किसी मनुष्य म विश्वास कई बातो म होता है, उनमें से सदाचार (Character), सामर्थ्य (Capacity) और सम्पत्ति (Property) मुख्य हैं। इन बातों के आधार पर ही एक-दूसरे का विश्वास कर उधार दिया जा सकता है।

(२) धन राशि (Amount)—धन राशि साख का दूसरा आवश्यक लक्षण है। साख शब्द का तभी प्रयोग किया जा सकता है जबकि कुछ धन या धन से बदली जाने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं का भुगतान उस समय न लेकर भविष्य मे लिया जाता है। यदि धन-राशि का लेना-देना न हो, तो साख का प्रश्न ही नहीं उठता।

(३) समय (Time)—किसी भी साख-सौदे में समय का होना बहुत ही आवश्यक है। यदि कोई मनुष्य किसी धन को उसी समय लता है जब उसको लना चाहिये, तो वह उधार नहीं होता वरन् नकद सौदा होता है। परन्तु यदि वह मनुष्य धन को उस समय न लेकर भविष्य में लेने का वचन देता है तभी वह सौदा उधार कहलाता है। प्रो० जीड ने ठीक ही कहा है "विनिमय में आप समय का तत्व और मिला दीजिये, बस वह साख हो जायेगा" (Introduce the element of time into exchange and it becomes credit.)

उदाहरण—एक व्यापारी एक व्यक्ति को एक महीने के लिये दो हजार रुपये का माल उधार देने को तैयार है, उससे अधिक नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि उस व्यक्ति की साख व्यापारी की दृष्टि में दो हजार रुपये है, और वह उसे एक महीने से अधिक के लिये नहीं देना चाहता। इससे साख के तीनों आवश्यक तत्व स्पष्ट हो जाते हैं—प्रथम मूल तत्व विश्वास जो व्यक्ति-विशेष मे व्यापारी रखता है, दूसरा धन राशि जो दो हजार निश्चित है और तीसरा समय जो इस उदाहरण में एक महीना निश्चित है।

साख का महत्व (Importance)—मैकलियड (Macleod) के कथनानुसार यन्त्र के लिये जितना आवश्यक इजन है, गणित शास्त्र के लिये जितना आवश्यक कलन (Calculas) है, उतना ही आवश्यक व्यापार व उद्योग के लिये साख है। व्यापार और उद्योग धन्धों के लिये साख का बहुत महत्व है। वस्तुत आधुनिक व्यापार और उद्योग धन्धे साख के प्रयोग पर ही आश्रित हैं। निर्माता पूँजी, कच्चा माल तथा अन्य वस्तुएँ साख पर लेता है। थोक व्यापारी निर्माता से माल साख पर खरीदता है। थोक व्यापारी फुटकर व्यापारी को साख पर माल बेचता है। स्वय फुटकर व्यापारी उपभोक्ताओं को वस्तुएँ साख पर देते हैं। इस प्रकार एक किनारे से दूसरे किनारे तक सारी अर्थ-व्यवस्था साख के एक सूत्र मे बँधी हुई है। साख के कारण ही आज की विशाल उत्पादन-व्यवस्था, श्रम विभाजन, मशीन का प्रयोग आदि बातें सम्भव है। बड़े-बड़े उद्योगों तथा व्यापार में जितने अधिक धन की आवश्यकता

होती है उसको लगाना बहुधा एक मनुष्य की शक्ति के बाहर होता है और यदि उसकी शक्ति में भी हो तो वह अपना इतना धन एक स्थान पर लगाकर जोखिम उठाना पसन्द नहीं करेगा। इसी कारण बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ स्थापित होने लगीं जो जनता के सैकड़ों-हजारों लोगों का थोड़ा थोड़ा धन इकट्ठा करके अपना कार्य चलाती हैं। साख के प्रचार से बैंक आदि साख-संस्थाओं की उत्पत्ति हुई और इन संस्थाओं के स्थापित होने के पश्चात् साख की और भी उन्नति हुई। साख की उन्नति के साथ-साथ व्यापार तथा उद्योग धन्धों की उन्नति हुई। वर्तमान युग में तो साख की महत्ता इतनी बढ़ गई है कि कोई भी व्यापार तथा उद्योग धन्धा साख की सहायता के बिना नहीं चल सकता।

संक्षेप में, साख के बिना उत्पादन-कार्य शिथिल तथा जीर्ण-शीर्ण हो जायगा और मनुष्य की अनेक आवश्यकताएँ असन्तुष्ट रह जायेंगी, क्योंकि किसान बिना उधार लिये खेती नहीं कर सकता, कारखानों के स्वामी अपना दैनिक-कार्य नहीं चला सकेंगे तथा व्यापारी व्यापार नहीं कर सकते। केवल मुद्रा के प्रयोग से सभी कार्य सुचारु रूप से नहीं नहीं चल सकते। आजकल जितना विनिमय-कार्य उधार अर्थात् साख द्वारा होता है उतना मुद्रा के प्रयोग से नहीं। वर्तमान आर्थिक जीवन के प्रत्येक पहलू पर साख का साम्राज्य है। क्या उत्पादन, क्या उपभोग, क्या विनिमय, क्या वितरण—सभी क्षेत्रों में साख का प्रभुत्व है। साख-संस्थाएँ और साख-पत्र हमारे आर्थिक ढाँचे का अभिन्न अंग हो गए हैं।

साख के लाभ (Advantages of Cradit)

(१) धातु-मुद्रा की बचत—साख पत्रों की सहायता से बिना नकद रुपये के लेन-देन किया जा सकता है जिससे मूल्यवान् धातु घिसने से बच जाती है। इस प्रकार धातु और श्रम सिक्का बनाने के काम से बचाकर अन्य कार्यों में लगाया जा सकता है।

(२) साख-पत्र सस्ते एवं सुविधाजनक विनिमय साधन हैं—धातु-मुद्रा की तुलना में साख पत्र विनिमय के अत्यन्त सस्ते और सुविधाजनक साधन हैं। पाँच मिनट में हजारों रुपये का चैक बनाकर दे सकते हैं, पर इतनी ही बड़ी राशि के सिक्के गिने या परखे जायें तो घण्टों लग जायेंगे।

(३) भुगतान की सुविधा—साख पत्र द्वारा रुपये एक स्थान से दूसरे स्थान को बहुत कम खर्च पर आसानी से भेजे जा सकते हैं। यदि आपको दिल्ली से बम्बई बीस हजार रुपये भेजना हो और आप उन्हें धातु अथवा पत्र-मुद्रा में भेजें, तो उसमें बहुत समय और श्रम लगेगा तथा काफी खर्च पड़ेगा, परन्तु यदि वही राशि चैक ड्राफ्ट, चैक अथवा हुण्डी से भेजी जाये तो समय, श्रम और व्यय की बचत होगी।

(४) पूँजी का संचय—बैंकों का आधार साख है। अतः बैंक अथवा अन्य व्यापारी अपनी साख के कारण ही आकर्षक ब्याज देकर लोगों की बचत को एकत्रित कर लेते हैं। इस प्रकार साख जनता को मितव्ययिता द्वारा धन-संचय के लिए प्रोत्साहित करने में सहायक सिद्ध होती है।

(५) उत्पादन को प्रोत्साहन—बहुत से व्यक्ति थोड़ा-थोड़ा रुपया बचाते हैं। वे उन्हें स्वयं व्यवसाय में न लगा, बैंकों या साहूकारों के पास जमा करा देते हैं और बैंक व साहूकार उस रुपये को उत्पादकों और निर्माताओं को उधार देते हैं। इससे उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है।

(६) व्यापार की उन्नति एवं विकास में सहायक—साख पत्रों के प्रयोग एवं प्रसार से व्यापार में उन्नति होती है। देश के भीतरी तथा बाहरी व्यापार में साख पत्रों (चैक, हुण्डी तथा बिल आफ एक्सचेंज) के द्वारा सुगमतापूर्वक [illegible] सकता है।

(७) मूल्यों की घटा बढ़ी पर नियन्त्रण—साख पर उचित नियन्त्रण [illegible] देश में मूल्य स्थिरता स्थापित की जा सकती है। उदाहरणार्थ तेजी में ब्याज की दर को बढ़ा साख की वृद्धि को रोक मूल्यों के बढ़ने से रोका जा सकता है। इसके विपरीत मन्दी में ब्याज की दर को घटा साख की वृद्धि कर बहुत कुछ मूल्य वृद्धि में सहायता की जा सकती है।

(८) राष्ट्रीय संकट में सहायक—युद्ध तथा अन्य किसी राष्ट्रीय संकट के समय सरकार अपनी साख के द्वारा जनता से ऋण लेकर विषम स्थिति का सामना कर सकती है।

(९) राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में सहायक—साख का उपयोग केवल संकट निवारण में ही नहीं वरन् देश के आर्थिक पुनर्निर्माण में भी [illegible] है। अनेक देशों में आर्थिक पुनर्निर्माण में सरकारों ने साख की सहायता ली है।

(१०) व्यक्तिगत संकट में सहायक—यदि कोई व्यक्ति [illegible] के अभाव में तत्काल भुगतान करने में असमर्थ है अथवा किसी आकस्मिक कठिनाई में फँस गया है तो वह अपनी साख पर रुपया उधार लेकर अपनी कठिनाई को दूर कर सकता है।

(११) बैंक से रोकड़ साख (Cash Credit)—साख द्वारा बैंक [illegible] रोकड़ कोष पर उससे अधिक उधार दे सकता है। इस प्रकार [illegible] हजार रुपये की संचित नकद [illegible] पर दस हजार रुपये तक दे सकता है।

साख के भय (Dangers of Credit)—साख इतने लाभों से परिपूर्ण होते हुए भी भय मुक्त नहीं कही जा सकती। [illegible] भयों का उल्लेख नीचे किया जाता है —

(१) अत्यधिक प्रसार का भय—साख का [illegible] सबसे बड़ा भय इसका अत्यधिक प्रसार है। यह सत्य है कि बैंक जितना साख प्रसार करता है उतना ही उसे अधिक ब्याज का लाभ होता है। व्यापारिक अभिवृद्धि (Boom) के समय जबकि रुपये की अधिक माँग होती है [illegible] साख प्रसार का अधिक प्रलोभन हो जाता है जिसके कारण वे आवश्यकता से अधिक साख का प्रसार कर बैठते हैं। इसके परिणाम स्वरूप बैंक आर्थिक संकट में ग्रस्त होकर नष्ट हो जाते हैं।

(२) सट्टेबाज एवं अयोग्य व्यक्तियों द्वारा सन्देहपूर्ण तथा लाभहीन व्यापार की स्थापना—साख की सहायता से रुपया उधार लेकर अनेक सट्टेबाज और अयोग्य व्यक्ति सन्देहपूर्ण तथा लाभहीन व्यापार की स्थापना कर बैठते हैं और [illegible] असफल होने पर वे अपने आप को बर्बाद कर देते हैं तथा साथ ही [illegible] को भी ले डूबते हैं। साख द्वारा बहुत से व्यापारी अपनी वास्तविक कमजोरी छिपा [illegible] भी सफल रहते हैं।

(३) एकाधिकार को प्रोत्साहन—साख द्वारा एकाधिकार [illegible] संगठनों की स्थापना को प्रोत्साहन मिलता है। कुछ व्यक्तियों को साख [illegible]

मिल जाता है कि वे किसी वस्तु के उत्पादन पर अपना एकाधिकार स्थापित कर बाजार में अपना प्रभुत्व जमा लेते है, क्योंकि छोटे व्यापारी उनके सामने ठहर नहीं पाते। एकाधिकार-अवस्था में शोषण आदि अनेक अन्यायपूर्ण बातों का होना स्वाभाविक है।

(४) उपभोक्ताओं को फिजूल-खर्ची के लिये प्रोत्साहन—जब किसी व्यक्ति को आसानी से रुपया उधार मिलने लग जाता है, तो वह सीमा से बाहर खर्च करना प्रारम्भ कर देता है, जिससे ऋण ग्रस्त हो जाता है। भारतवर्ष में ग्रामीण-ऋण (Rural Indebtedness) की उत्पत्ति एवं वृद्धि अधिकतर उपभोग के लिये उधार लिये गये धन के कारण ही हुई है।

(५) धोखेबाजी बेईमानी को प्रोत्साहन—साख की आवश्यकता से अधिक वृद्धि होने पर लोग धोखेबाज और बेईमान हो जाते हैं। साख की सहायता से दिवालिये भी कुछ दिनों तक काम चला सकते हैं और कोई अच्छे व्यापारियों को डुबो देते हैं।

(६) अत्यधिक व्यापार प्रसार एवं अति उत्पादन (Over-production) को प्रोत्साहन—सुलभ साख द्वारा व्यापार में अत्यधिक प्रसार हो जाता है तथा अति-उत्पादन के दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं।

निष्कर्ष—साख की हानियों की तुलना में उससे प्राप्त लाभ कहीं अधिक हैं। परन्तु साख का वास्तविक उपयोग तभी है जबकि उसका नियमित एवं उचित उपयोग किया जाय। साख नौकर की भाँति अच्छा काम कर सकती है, पर स्वामी होने पर डुबो देती है। अतः साख का उचित नियन्त्रण करने के लिये प्रायः सभी देशों में केन्द्रीय बैंक स्थापित किये जाते हैं जो देश की भलाई के लिए साख का नियन्त्रण करते हैं।

क्या साख पूँजी है? (Is Credit Capital ?)—साख पूँजी है या नहीं, इस विषय में अर्थशास्त्रियों में मतभेद है। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि साख पूँजी है। इस मत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मैकलियड[1] (Macleod) के अनुसार मुद्रा और साख दोनों पूँजी हैं। साख की क्रिया के कारण माखपत्रों को जन्म मिलता है और भविष्य में धन के उत्पादन में सहायक होने के कारण साख पूँजी है।

साधारणतया अर्थशास्त्रियों का मत इसके विरुद्ध है। उनका कहना है कि साख धन नहीं है, और जब धन नहीं है, तो उसके पूँजी होने का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है। भूमि और श्रम की भाँति साख उत्पत्ति का कोई स्वतन्त्र साधन नहीं है बल्कि विनिमय तथा श्रम विभाजन की भाँति उत्पादन का केवल ढंग-मात्र ही है जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से पूँजी उधार लेकर उस उत्पत्ति के कार्य में लगाता है। इस प्रकार साख द्वारा पूँजी का हस्तान्तरण हो जाता है। परन्तु हस्तान्तरण उत्पादन नहीं है। जिस प्रकार विनिमय द्वारा वस्तुएँ उत्पादन नहीं हो सकतीं, उसी प्रकार साख द्वारा पूँजी उत्पन्न नहीं हो सकती। रिकार्डो (Recardo) ने लिखा है कि 'साख पूँजी को जन्म नहीं देती, यह केवल इस बात को निश्चित करती है कि पूँजी किस के द्वारा उपयोग में लाई जायगी।" इसी प्रकार मिल (Mill) ने कहा है कि "साख केवल

1. Macleod : *Elements of Banking*, Ch IV & V

दूसरे व्यक्ति की पूँजी का उपयोग करने की आज्ञा मात्र है। इसमे उत्पत्ति के साधनो मे वृद्धि नही की जा सकती, उनका केवल हस्तान्तरण हो सकता है।'

आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार यद्यपि साख साधारणतया पूँजी नही है, परन्तु कुछ अवस्थाओ म साख द्वारा अवश्य पूँजी का निर्माण होता है। जैसे—(अ) जब साख के कारण चलने से धातु मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है तथा उत्पादन के लिये अधिक पूँजी उपलब्ध हो जाता है तब साख पूँजी कही जा सकती है। (आ) बिना साख के बहुत से लोगो द्वारा बचाया गया थोडा-थोडा धन उत्पादन म नही आ पाता। बिना साख के बहुत म कुशल व्यापारी एव उद्योगपति इतने बड उद्योग धन्धे स्थापित नही कर सकते थे। बैंक साख की व्यवस्था करता है और देश के बेकार पड हुए धन को एकत्रित कर उन लोगो के हाथ मे पहुँचाता है जो इसे उत्पादन कार्य मे भली भाँति लगा सकते हैं। इस प्रकार साख के कारण पूँजी इकट्ठा करने मे सहायता मिलती है तथा इसके द्वारा उत्पादन को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। अत ऐसी अवस्था म साख पूँजी की जन्मदात्री कही जा सकती है। (इ) बैंक आदि साख सस्थाएँ जितना धन उधार लती है उससे अधिक मात्रा मे धन उधार देती है। जितना अधिक उधार दिया जाता है उसी सीमा तक वे साख से नई पूँजी बनाती है।

साख व्यवस्था (Credit Mechanism)—साख का सर्वोत्तम उपयोग उसकी कुशल व्यवस्था या सगठन पर निर्भर है। अत साख व्यवस्था के विभिन्न अगो का अध्ययन वाछनीय है। साख व्यवस्था के मुख्य दो अग है—(१) साख पत्र जो उधार के सौदे के लिखित प्रमाण होते हैं, जैसे—चैक, बिल ऑफ एक्सचेंज, प्रॉमिसरी नोट आदि, (२) साख सस्थाएँ अर्थात् बैंक जो रुपया जमा करते है और उधार देते है।

साख-पत्र और उसका अर्थ (Credit Instrument & its Meaning)—साख द्वारा क्रय-विक्रय म मूल्य का भुगतान भविष्य म होता है जिसके लिये आश्वासन पत्र अथवा प्रतिज्ञा पत्र दिये जाते हैं। इनम निश्चित तिथि पर या माँग पर भुगतान करने का आश्वासन लिखा रहता है। ऐसे लिखित आश्वासन या प्रतिज्ञा पत्रो को ही साख पत्र कहते है। अत ऐसे पत्रो को जिनमे साख द्वारा बिक्री का प्रमाण रहता है तथा जिनमे भविष्य मे राशि भुगतान के लिये लिखित आश्वासन होते है साख-पत्र कहलाते है। चैक, बिल ऑफ एक्सचेज, प्रामिसरी नोट, व हुण्डी प्रमुख साख-पत्र है।

साख-पत्रो की आवश्यकता एव महत्व—छोटे मोटे भुगतानो मे तो बिना साक्षी के ही उधार माल मिल जाता है, परन्तु साख के बड व्यवहारो मे प्रमाण तथा साक्षी की आवश्यकता पडती है, जिसम विश्वास दृढ हो जाय और उधार की राशि कानून द्वारा वसूल की जा सके। इसलिये साख प्रथा का प्रयोग किया जाता है और साख पत्र साख के आवश्यक सूचक है।

विनिमय माध्यम (Medium of Exchange) की दृष्टि म भी इनका बडा महत्व है। इनके द्वारा व्यापारिक सौदे बडी सुगमता से तय हो जाते है। एक ही साख पत्र द्वारा अनेक भुगतानो को सम्पन्न किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, क ने ग से माल खरीदा और उस राशि के बदले म एक तीन महीने की अवधि का बिल ऑफ एक्सचेंज दिया। ख ने ग से माल खरीदा और उसे वही बिल दे दिया, ग न घ से

मान खरीदा और वही बिल उसे दे दिया। आगे भी इसी प्रकार बिल का पराक्रमण (Negotiation) होता रहेगा जब तक कि इसकी तीन महीने की अवधि समाप्त न हो जायेगी।

पत्र मुद्रा तथा धातु मुद्रा द्वारा भुगतान करने में बार-बार गिनने तथा परखने की आवश्यकता होती है परन्तु साख पत्रों के प्रयोग से यह असुविधा दूर हो जाती है। अतः आधुनिक व्यापार-व्यवस्था में साख पत्रों का बड़ा महत्त्व है।

साख पत्र और मुद्रा (धातु मुद्रा एव पत्र मुद्रा) में अन्तर

(१) मुद्रा (चाहे धातु मुद्रा हो या पत्र मुद्रा) विधिग्राह्य (Legal Tender) होती है अर्थात् इससे ऋणदाता को ऋण के भुगतान में इसे स्वीकार करने के लिये बाध्य कर सकता है। परन्तु साख पत्रों को ऋण के भुगतान में स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनको स्वीकार करना ऋणदाता की इच्छा पर निर्भर है।

(२) मुद्रा विनिमय का सर्वमान्य साधन है, परन्तु साख पत्र उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों या संस्था की साख, ख्याति अथवा प्रसिद्धि के बल पर ही चलते है।

(३) करैन्सी नोट एक निश्चित मूल्य के होते है, जैसे—एक रुपया, दो रुपये, पाँच रुपये, दस रुपये और सौ रुपये। ये फुटकर आने पाइयों के नहीं होते। इसी प्रकार सिक्के भी, चाहे वे प्रामाणिक हो अथवा सांकेतिक, निश्चित मूल्य के होते हैं। परन्तु साख पत्र किसी भी मूल्य के हो सकते है।

(४) साख-पत्र मुद्रा भुगतान के लिखित वायदे होते हैं जो स्वभाव में ही मुद्रा से भिन्न होते है। वे वास्तविक अर्थ में मुद्रा की श्रेणी में नहीं आ सकते, उन्हें संकीर्ण अर्थ में मुद्रा का स्थानापन्न (Substitutes) कहा जा सकता है।

साख-पत्रों के भेद—साख पत्र कई प्रकार के होते हैं जिनमें से चैक, बिल ऑफ एक्सचेंज, प्रॉमिसरी नोट मुख्य हैं। इनका विवेचन क्रम से नीचे किया जाता है।

चैक (Cheque)

परिभाषा (Definition)—चैक एक शर्तरहित लिखित आज्ञा है जिसमें वह व्यक्ति जिसका रुपया बैंक में जमा होता है बैंक को आज्ञा देता है कि उसमें अंकित राशि का भुगतान माँग पर चैक में उल्लिखित व्यक्ति को, अथवा उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को अथवा चैक वाहक को कर दिया जाय। अन्य शब्दों में, यह किसी बैंक-विशेष पर लिखा गया दर्शनी बिल या हुण्डी है।

चैक के प्रयोग की आवश्यकता—किसी आधुनिक बैंक में रुपया कई खातों में जमा कराया जा सकता है, उनमें से चालू खाता (Current Account) एक है। जब कोई व्यक्ति किसी बैंक के चालू खाते में अपना रुपया जमा कराता है, तब बैंक उसे एक चैक पुस्तिका (Cheque Book) देता है जिसमें बहुत से खाली चैक के छपे हुए फार्म होते हैं। बैंक के नियमानुसार चालू खाते में से रुपया चैक द्वारा ही निकाला जा सकता है। इसलिये जब कभी वह स्वयं रुपया निकालना चाहता है अथवा किसी अन्य व्यक्ति को भुगतान करना चाहता है, उसे यह चैक भर कर देना पड़ता है। जब नियमानुकूल भरा हुआ चैक बैंक की खिड़की (Counter) पर प्रस्तुत किया जाता है, तो बैंक उसमें उल्लिखित राशि का भुगतान कर देता है।

यद्यपि बैंक से रुपया किसी साधारण कागज पर आदेश लिखकर निकाला जा सकता है परन्तु बैंक अपनी सुविधा तथा समता के लिये और जालसाजी व कूट कर्म से बचने के लिये छपे हुए चैकों की पुस्तक अपने ग्राहक को दे देता है। ग्राहक छपे हुए चैक के खाली स्थानों मे आवश्यक बात भर कर तुरन्त चैक जारी कर सकता है।

चैक के आवश्यक गुण (Lssentials of a Cheque)

१ चैक का आदेश शर्तरहित (Unconditional) होना चाहिये।
२ चैक का आदेश लिखित होना चाहिये मौखिक नही।
३ चैक किसी बैंक विशेष के नाम लिखा होना चाहिये।
४ चैक मे अमुक निश्चित राशि देने का होना चाहिये।
५ चैक की राशि मागने पर मिल जानी चाहिये।

६ चैक पर बैंक मे रुपया जमा कराने वाले अर्थात् बैंक के ग्राहक के हस्ताक्षर होने चाहिये।

७ चैक की राशि इसमे उल्लिखित व्यक्ति को या उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्तियो को अथवा इसके वाहक को मिल जानी चाहिये।

चैक का स्वरूप (Form of a Cheque)—विभिन्न बैंकों के चैकों के फार्म भिन्न भिन्न होते हैं परन्तु प्रत्येक एक ही रंग रूप व आकार के चैक छपवाता है। चैक दो भागों मे विभाजित रहता है। बाईं ओर के भाग मे प्रतिलिपि (Counterfoil) रहती है और दाईं ओर के भाग मे मुख्य चैक (Cheque Proper) का खाली प्रपत्र अर्थात् फार्म रहता है।

चैक का स्वरूप

(प्रतिलिपि)	(मुख्य चैक)
	संख्या आगरा १९६
संख्या	
तिथि	स्टेट बैंक आफ इण्डिया आगरा ब्रांच
खाता	श्री अथवा
	वाहक / आदेश को रुपये
कारण	दीजिये।
राशि	
रु०	रु०
हस्ताक्षर	हस्ताक्षर

(Specimen of a Cheque)

(Counterfoil)	(Cheque Proper)
No. Co. 25735	No Co. 25735 Dated Jaipur, June 15, 1961.
Dated June 15, 1961	
	The Rajasthan Bank Ltd., Jaipur Branch
In favour of Shri *Gulab Chand Agarwal* in full settlement of his account	Pay to *Shri Gulab Chand Agarwal* or bearer/order Rupees *one thousand fifty five, and nineteen NayaPaisa only*
Rs 1 055/19 nP.	
T. C. Verma	Rs 1,055/10 *Tara Chand Verwa*

चैक के पक्ष (Parties to a Cheque)—चैक के तीन पक्ष होते हैं—

(१) चैक लेखक [आहर्ता] (Drawer)—चैक लिखने या जारी करने वाला व्यक्ति चैक-लेखक कहलाता है। यह वह व्यक्ति होता है जिसका रुपया बैंक में जमा होता है। इस बैंक का अमानतदार (Depositor) या ग्राहक (Customer) भी कह सकते हैं।

(२) देनदार बैंक [आहार्यी] (Drawee)—यह बैंक होता है जिसके नाम चैक जारी किया जाता है। इसे भुगतान करने वाला बैंक भी कहते हैं।

(३) लेनदार [आदाता] (Payee)—यह वह व्यक्ति होता है जिसके पक्ष में चैक लिखा या जारी किया जाता है। कभी-कभी चैक लेखक (Darwer) लेनदार (Payee) के स्थान पर 'स्वयं' (Self) लिख देता है। ऐसी दशा में चैक-लेखक ही लेनदार होता है।

चैक के प्रकार (Kinds of Cheques)

(१) वाहक या धनीजोग चैक (Bearer Cheque)—वह चैक है जिसका भुगतान चैक वाहक (Bearer) को किया जाता है, अर्थात् जो भी व्यक्ति चैक बैंक में प्रस्तुत करता है उसी को चैक का भुगतान कर दिया जाता है। ऊपर दिये हुए चैकों के उदाहरण में यदि 'ऑर्डर' (Order) शब्द काट दिया जाय तो वह वाहक या धनीजोग (Bearer) चैक हो जायगा। जो भी व्यक्ति इसे बैंक की खिड़की पर प्रस्तुत करता है, वह उसी का चैक का रुपया अदा कर सकता है। यदि चैक का भुगतान गलत व्यक्ति को हो जाय, तो इसकी जिम्मेदारी बैंक की नहीं होती है। अतः इसे सुरक्षित नहीं कहा जा सकता।

वाहक या धनीजोग चैक का हस्तान्तरण (Transfer)—वाहक या धनीजोग चैक का हस्तान्तरण केवल सुपुर्दगी मात्र (*by a mere delivery*) से हो सकता है, उस पर बेचान लेख या पृष्ठांकन (Endorsement) लिखने की कोई आवश्यकता नहीं होती। साधारणतया बैंक चैक का भुगतान उन बाहर व्यक्ति से उसके

पीछे हस्ताक्षर करा लेता है, अन्यथा उसे भुगतान के बदले में एक नियमानुकूल रसीद बैंक को देनी पड़ेगा।

(२) ऑर्डर, नामजोग या शाहजोग चैक (Order Cheque)—वह चैक है जिसका भुगतान चैक में उल्लिखित व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार अन्य व्यक्ति को किया जाता है। उपर्युक्त चैकों के उदाहरणों में यदि 'वाहक' या 'बियरर' (bearer) शब्द काट दें तो यह ऑर्डर या नामजोग, अथवा शाहजोग (Order) चैक हो जायगा।

ऑर्डर चैक का हस्तान्तरण (Transfer)—ऑर्डर चैक को हस्तान्तरित करने के लिये यह आवश्यक है कि जिस व्यक्ति के नाम में चैक है वह उसका बेचान करे, अर्थात् चैक की पीठ पर लेनदार या आदाता (Payee) उस व्यक्ति के नाम बेचान करे जिसको वह चैक हस्तान्तरित करना चाहता है। इस प्रकार चैक पर बेचान लेख लिख कर फिर उसको सुपुर्दगी उस व्यक्ति को दे जिसको वह हस्तान्तरित करना चाहता है। ऑर्डर चैक, वाहक या धनीजोग चैक की अपेक्षा अधिक सुरक्षित होता है। ऐसे चैक का भुगतान करने वाले बैंक का यह कानूनी कर्तव्य है कि वह इस बात की जाँच-पड़ताल करे कि बेचान लेख ठीक है और रुपये पाने वाला सही व्यक्ति है। यदि कोई चैक किसी व्यक्ति विशेष के पक्ष में लिखा गया है और उसके आगे वाहक (bearer) या ऑर्डर (order) कुछ भी नहीं लिखा गया है, तो उसे 'ऑर्डर चैक' ही माना जाता है।

बेचान या पृष्ठांकन (Endorsement)—चैक को हस्तान्तरित करने के उद्देश्य से बेचान-लेख लिखकर हस्ताक्षर करने की क्रिया को बेचान या पृष्ठांकन कहते हैं। बेचान करने वाला व्यक्ति बेचानकर्त्ता या पृष्ठांकक (Endorser) कहलाता है। जिस व्यक्ति के पक्ष में बेचान किया जाता है उसे बेचानपात्र या पृष्ठांकिति (Endorser) कहते हैं।

(३) रेखांकित चैक (Crossed Cheque)—जब चैक के मुख पर दो तिरछी समान्तर रेखाएँ (Transversal Parallel Lines) खींच दी जाती हैं, तब वह रेखांकित चैक (Crossed Cheque) कहलाता है। कभी कभी इन रेखाओं के बीच में "& Co", "A/c Payee only" आदि शब्द लिख दिये जाते हैं और कभी कुछ भी नहीं लिखा जाता है।

रेखांकित चैक की भुगतान विधि—रेखांकित चैक का भुगतान सीधे किसी व्यक्ति को बैंक की खिड़की (Counter) पर नहीं किया जा सकता है। देनदार बैंक रेखांकित चैक का भुगतान किसी बैंक को ही देगा। अतः ऐसे चैक का भुगतान प्राप्त करने के लिये उसे अपने बैंक में जमा करा देना चाहिये। वह बैंक उसकी राशि देनदार-बैंक से वसूल कर उस व्यक्ति के खाते में जमा कर देगा। ऐसे चैक बहुत सुरक्षित होते हैं, क्योंकि इनके अन्य व्यक्ति को भुगतान होने की सम्भावना नहीं होती।

रेखांकित चैक के प्रकार—रेखांकित चैक दो प्रकार का होता है—एक साधारण रेखांकित और दूसरा विशेष रेखांकित।

साधारण रेखांकित चैक (Generally Crossed Cheque)—वह चैक है जिसमें केवल दो तिरछी समान्तर रेखाएँ खींच दी जाती है और कभी-कभी "& Co" आदि शब्द भी लिख दिये जाते हैं। इस प्रकार के चैक का भुगतान किसी

व्यक्ति को बैंक की खिडकी पर न मिल कर किसी बैंक के द्वारा मिलेगा। इसलिये इसे अपने बैंक में जमा कर उसके द्वारा देनदार-बैंक से राशि प्राप्त की जाती है।

विशेष रेखांकित चैक (Specially Crossed Cheque)—वह चैक है जिसमे तिरछी समान्तर रेखाओं के बीच में किसी विशिष्ट बैंक का नाम लिख दिया जाता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि देनदार बैंक ऐसे चैक की राशि का भुगतान किसी भी बैंक को न करके उसी बैंक को करेगा जिसका नाम दो समान्तर रेखाओं के बीच में लिखा हुआ है।

चैक को रेखांकित करने का उद्देश्य (Object of Crossing a cheque)—किसी चैक को रेखांकित करने का उद्देश्य यह होता है कि उसका भुगतान यथेष्ट व्यक्ति को प्राप्त हो। रेखांकित चैक का भुगतान किसी बैंक द्वारा मिलने के कारण यह अधिक सुरक्षित होता है। *साधारण डाक द्वारा भेजे जाने वाले चैकों को* अवश्य रेखांकित करना चाहिये।

(४) खुला या अरेखांकित चैक (Open Cheque)—वह चैक है जिस पर किसी प्रकार का रेखांकन (Crossing) न हो। ऐसे चैकों के चुराए जाने व खोने का अधिक भय रहता है।

(५) कूट-चैक (Forged Cheque)—वह चैक है जिस पर चैक लेखक (Drawer) या बेचान करने वाले (Endorser) के बनावटी हस्ताक्षर होते है।

(६) काल तिरोहित चैक (Stale Cheque)—जो चैक छः मास से अधिक पुराना हो जाता है, उसे काल-तिरोहित या पुराना चैक कहते है। बैंक इस प्रकार के चैक का भुगतान बिना चैक-लेखक से पूछे नहीं करेगा।

(७) फटा या विकृत चैक (Mutilated Cheque)—वह चैक है जो अकस्मात या मुडने से फट गया है। बैंक ऐसे चैक का भुगतान करने से इन्कार कर देता है। इसका भुगतान प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि पहले चैक चिपका लिया जाय और फिर "अकस्मात फट गया" या "Accidently Torn" शब्द लिखकर अपने हस्ताक्षर कर दे, तो बैंक उसकी राशि दे सकता है।

(८) प्रमाणित या चिन्हित चैक (Marked Cheque)—वह चैक है जिस पर बैंकर अपने हस्ताक्षर कर देता है और यह प्रमाणित कर देता है कि ठीक समय पर चैक के उपस्थित किये जाने पर उसका भुगतान कर दिया जायगा।

चैक के प्रयोग से लाभ (Advantages)

१. चैक रुपया देन-लेने का एक अति सरल साधन है। इससे सिक्कों के गिनने की कठिनाई दूर हो जाती है तथा नकली सिक्कों (Counterfeit Coins) से धोखा खाने का भय नहीं रहता। २. चैक के उपयोग से सोना चाँदी जैसी बहुमूल्य धातुओं की बचत होती है। ३. चैक द्वारा रुपया शीघ्र व कम खर्च में स्थानान्तरित किया जा सकता है। ४ चैक रुपये के भुगतान का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। ५ चैक के उपयोग से चोरी आदि बातों की आशंका नहीं रहती है। ६. चैक के प्रयोग से रुपया बचाने की आदत पैदा हो जाती है। ७. चैक के प्रयोग से व्यापारियों के आदर और मान में वृद्धि होती है। ८ चैक द्वारा भुगतान करने में कार्यालय में रोकड-राशि रखने की आवश्यकता नहीं रहती। अतः भुगतान-सम्बन्धी बहुत सारा काम कम हो जाता है। ९ चैक के प्रयोग से कृत्रिम मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है।

१०. चैक का बेमान करके रुपये का लेन-देन सुगमता से हो सकता है। ११. चैक प्रणाली द्वारा व्यापार एवं वाणिज्य की असाधारण उन्नति होती है।

चैक और बैंक नोट में अन्तर

चैक	बैंक (करेंसी) नोट
(१) यह विधिग्राह्य नहीं होता है।	(१) यह विधिग्राह्य होते हैं।
(२) यह वाहक या आर्डर हो सकता है।	(२) यह सदैव वाहक (bearer) होता है।
(३) यह निश्चित राशि के भुगतान का आदेश होता है।	(३) यह निश्चित राशि के भुगतान की प्रतिज्ञा होती है।
(४) इसे बैंक में रुपया जमा कराने वाला लिखता या बनाता है।	(४) इसे केन्द्रीय सरकार अथवा रिजर्व बैंक बनाता है।
(५) यह रेखांकित किया जा सकता है।	(५) इसका रेखांकन नहीं किया जा सकता है।
(६) यह कितनी भी बड़ी राशि का हो सकता है तथा इसमे आने-पाई भी प्रयुक्त किये जा सकते है।	(६) बैंक नोट केवल निश्चित राशि के ही होते है तथा इनमें आने पाई का प्रयोग नहीं होता है।
(७) इसका जीवन छोटा होता है, क्योंकि इनका विश्वास सीमित होता है।	(७) इनका जीवन बहुत बड़ा होता है, क्योंकि ये सब व्यक्तियों के विश्वास-पात्र होते हैं।

बिल ऑफ एक्सचेन्ज या विनिमय-पत्र
(Bill of Exchange—B/E)

परिभाषा (Definition)—बिल ऑफ एक्सचेन्ज या विनिमय-पत्र एक लिखित शर्तरहित आदेश-पत्र है जिसमें ऋणदाता ऋणी को उसमें उल्लिखित राशि स्वयं को, या उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को अथवा बिलधारी को मांग पर अथवा किसी निश्चित अवधि के पश्चात् देने की आज्ञा देता है। ऐसे बिल प्राय. उधार बेचे हुए माल के लिये लिखे जाते हैं।

बिल या विनिमय-पत्र की विशेषताएँ (Characteristics)—(१) यह एक शर्तरहित आदेश पत्र है। (२) यह आदेश लिखित होना है, मौखिक नहीं। (३) यह कानूनी रूप में लिखा होना चाहिये। (४) राशि लेने वाला तथा देने वाला निश्चित होना चाहिये। (५) बिल-लेखक अर्थात् ऋणदाता के हस्ताक्षर होने चाहिये तथा देनदार ऋणी की स्वीकृति होनी चाहिये। (६) राशि का भुगतान मांग पर अथवा एक निश्चित अवधि के पश्चात् होना चाहिये। (७) इसमें एक निश्चित राशि का भुगतान करने का आदेश होना चाहिये। (८) यह किसी विशेष व्यक्ति के पक्ष में लिखा जाता है, परन्तु इसका भुगतान उस व्यक्ति के आदेश से कोई अन्य व्यक्ति भी ले सकता है।

बिल के पक्ष—(Parties to a B/E)—बिल ऑफ एक्सचेंज के तीन पक्ष होते हैं :—(१) लेखक (Drawer)—वह व्यक्ति है जो बिल लिखता या बनाता है।

यह ऋणदाता (Creditor) अथवा माल का विक्रेता होता है । (२) देनदार (Drawee)—वह व्यक्ति है जिस पर बिल लिखा या बनाया जाता है। यह ऋणी (Debtor) या माल का क्रेता होता है। (३) लेनदार (Payee)—वह व्यक्ति है जिसके पक्ष में बिल लिखा या बनाया जाता है। यह ऋणदाता या भी ऋणदाता (Creditor's Creditor) होता है।

बिलों के प्रकार (Kinds of Bills of Exchange)

(अ) अवधि के अनुसार—बिल दो प्रकार के होते हैं—(१) माँग या दर्शनी बिल (Demand or Sight Bill)—वे बिल होते हैं जिनका भुगतान जिस समय पर भी बिल प्रस्तुत किये जायें उसी समय करना पड़ता है। (२) मुद्दती बिल (Time or Usance bill)—वे होते हैं जिनका भुगतान एक निश्चित अवधि के पश्चात् होता है।

यदि बिल मुद्दती है, तो उल्लिखित अवधि में तीन अनुग्रह दिवस (Days of Grace) जोड़ देना चाहिये तब दातव्य तिथि (Due date) ज्ञात की जा सकती है। दर्शनी या माँग बिलों में अनुग्रह दिवस नहीं गिने जाते हैं। मुद्दती बिलों पर मूल्यानुसार रेवन्यू टिकट लगाना आवश्यक है, परन्तु दर्शनी या माँग बिलों पर टिकट लगाना आवश्यक नहीं है।

बिल ऑफ एक्सचेंज प्रायः मुद्दती ही होते हैं। एच० विदर्स ने लिखा है कि "समय के तत्व के ही कारण यह चैक से भिन्न है। चैक में समय जोड़ दीजिये, वह बिल ऑफ एक्सचेंज हो जायगा।"

(आ) स्थान के अनुसार—भुगतान-स्थान के अनुसार भी हम बिलों को दो श्रेणियों में कर सकते हैं—(१) देशी बिल, (२) विदेशी बिल।

देशी बिल (Inland B/E)—वे हैं जिनका चलन एवं भुगतान एक ही देश में हो। उदाहरणार्थ, यदि कोई बिल भारतवर्ष में लिखा जाय और वहीं उसका भुगतान किया जाय, तो वह देशी बिल होगा।

(१) देशी बिलों के उदाहरण

(क) माँग या दर्शनी बिल (Demand or Sight Bill)

AJMER

RS 1,000/-/-   June 16, 1960

On demand pay to Shri Ram Dhan Acharya or order the sum of rupees one thousand only, for value received.

Rameshwar Lal Gupta

To
Shri Ram Swarup Agarwal,
Naya Bazar, Ajmer.

(ख) मुद्दती बिल (Time or Usance Bill)

टिकट

कानपुर,

रु० १,००० १७ जून १९६० ई०

उपर्युक्त तिथि के तीन मास पश्चात् हमे अथवा हमारे आदेशानुसार एक हजार रुपया जिसका मूल्य प्राप्त हो चुका है, दीजिये।

सेवा मे—

रामसुख रामलाल

सर्व श्री रामस्वरूप रामेश्वरलाल
क्लॉथ मार्केट, इन्दौर।

(२) विदेशी बिल (Foreign B/E)—यदि बिल एक देश मे लिखे जायें और दूसरे मे उनका भुगतान किया जाय, तो वे विदेशी बिल कहलायेंगे। उदाहरणार्थ, यदि कोई बिल भारतवर्ष मे लिखा जाय और इङ्गलैंड मे उसका भुगतान किया जाय, तो वह विदेशी बिल होगा।

विदेशी बिल का उदाहरण

Rs. 15,000/-/-

LONDON,

Stamp

18 th. June, 1960

Ninety days after sight of this First of Exchange (second & third of the same tenor and date being unpaid) pay to the order of Messrs. Ramlal & Co., the sum of rupees fifteen thousond, for value received.

To

Alexander & Co.

Messrs Seksaria & Sons,
Kalbadevi Road,
BOMBAY.

स्वीकृति (Acceptance)—जब बिल लेखक (Drawer) द्वारा बिल लिख कर तैयार कर लिया जाता है, तब वह देनदार (Drawee) के पास स्वीकृति Acceptance) के लिये प्रस्तुत किया जाता है। वह उसे स्वीकार करने के लिये उसके मुख पर "स्वीकार किया" या "Accepted)" शब्द लिख देता है। स्वीकृति के पहले बिल केवल प्रारूप (Draft) होता है। स्वीकृति के पश्चात् बिल पक्का रुक्का हो जाता है और दोनो पक्षो पर लागू हो जाता है। स्वीकृति का अर्थ यह है कि देनदार (Drawee) जो बिल के स्वीकार करने के बाद स्वीकर्त्ता (Acceptor) भी कहलाता

है बिल-लेखक द्वारा लिखे गये बिल का दायित्व स्वीकार करता है। दर्शनी मांग बिलों म स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती है।

बिल का पूर्व प्रापण या बिल भुनाना (Discounting a Bill of Exchange)—बैंक द्वारा मुद्दती बिल का तात्कालिक मूल्य (Present worth) अर्थात् अवधि समाप्त होने के पूर्व ही बट्टा-कम (Less discount) बिल की राशि प्राप्त करने को बिल का पूर्व-प्रापण या भुनाना कहते हैं।

बिल के पूर्व प्रापण या भुनाने की विधि—वैसे बिल की राशि बिल की अवधि समाप्त होने पर ही देनदार अथवा स्वीकर्त्ता से प्राप्त की जा सकती है। यदि बिलधारी को अवधि से पूर्व ही राशि की आवश्यकता हो, तो वह किसी बैंक द्वारा उसे भुना सकता है। बैंक बिल की राशि मे से बिना बीती अवधि का ब्याज बट्टे (Discount) के रूप म काट कर शेष राशि बिल भुनाने वाले को दे देता है। इस प्रकार का व्यवहार करने के पूर्व बैंक बिल के पक्षों की साख सम्बन्धी जांच पड़ताल कर लेता है।

बिलों के प्रयोग से लाभ (Advantages)

(१) ऋणी को ऋण-भुगतान के लिये एक निश्चित अवधि मिल जाती है। इस बीच मे वह माल बेच कर भुगतान की व्यवस्था कर सकता है।

(२) ऋण-भुगतान का यह बहुत ही सुरक्षित एवं सुविधाजनक साधन है। इनके उपयोग से रुपया स्थानान्तरित करने मे न्यूनतम कठिनता तथा व्यय होता है।

(३) बिल मे भुगतान करने की निश्चित तिथि होती है। अत बिलों का प्रयोग व्यापारियों में नियत समय पर रुपया देने की अति आवश्यक आदत डालता है।

(४) ऋणी, ऋण-भुगतान की एक निश्चित अवधि मिल जाने के कारण, ऋण-दाता या साहूकार के बार-बार राशि-भुगतान के तकाजों से मुक्त हो जाता है।

(५) बिल एक कानूनी कागज है और यदि यह अस्वीकृत कर दिया जाय तो इसका भुगतान न्यायालय द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

(६) ऋणदाता या साहूकार को यदि रोकड़-राशि की तुरन्त आवश्यकता हो, तो वह इन बिलों को भुनाकर रोकड़ राशि प्राप्त कर सकता है।

(७) यदि किसी समय किसी व्यापारी के पास नकद रुपया न हो और उसके ऋणदाता उससे तुरन्त ही रुपया माग रहे हो, तो वह अपने बिलों का बेचान उनके पक्ष म कर सकता है।

(८) बिलों के प्रयोग मे क्रय विक्रय बहुत अधिक मात्रा मे हो जाता है और रोकड़-राशि के प्रयोग मे बचत होती है।

(९) राशि-भुगतान के पश्चात् ऋण के लिये यह ऋणी-भुगतान का एक अकाट्य प्रमाण हो जाता है।

(१०) बिल के प्रयोग से व्यापारियों मे ईमानदारी तथा स्वाभिमान की मात्रा अधिक हो जाती है।

प्रॉमिसरी नोट या प्रतिज्ञा-पत्र

(Promissory Note—P/N)

परिभाषा (Definition)—प्रॉमिसरी नोट वह लिखित शर्तरहित प्रतिज्ञा-पत्र है जिसके द्वारा उसका लेखक या बनाने वाला (Maker) किसी

व्यक्ति विशेष को, या उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को, या वाहक की माँग पर, अथवा किसी निश्चित अवधि के पश्चात् एक निश्चित राशि चुकाने का वचन देता है।

प्रॉमिसरी नोट के पक्ष (Parties)—प्रॉमिसरी नोट के केवल दो पक्ष होते हैं—(१) लेखक या बनाने वाला (Maker)—यह ऋणी होता है जो प्रतिज्ञा पत्र लिखकर राशि देने का वचन देता है। (२) लेनदार (Payee)—यह ऋणदाता या साहूकार होता है जिसके पक्ष में प्रामिसरी नोट लिखा जाता है तथा जिसको उस पत्र का रुपया मिलता है।

प्रामिसरी नोट या प्रतिज्ञा-पत्र के प्रकार
(Kinds of Promissory Note)

(१) दर्शनी या माँग प्रॉमिसरी नोट (Sight or Demand P/N)—वह प्रतिज्ञा-पत्र है जिसमें माग करते ही अथवा दिखाते ही तुरन्त राशि भुगतान करनी पड़ती है।

(२) मुद्दती प्रॉमिसरी नोट (Time P/N)—वह है जिसमें राशि भुगतान की प्रतिज्ञा किसी निश्चित अवधि के पश्चात् करने की होती है।

मुद्दती प्रॉमिसरी नोट के उदाहरण

वाराणसी,
टिकट
१,००० रु०
जून १४, १९६०
मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि उपर्युक्त तिथि के तीन मास पश्चात् श्री नरनारायण को एक हजार रुपये जिनका मूल्य प्राप्त हो चुका है, दूँगा।
हरनारायण

(३) एकल प्रॉमिसरी नोट (Single P/N)—वह है जिसमें एक ही व्यक्ति राशि भुगतान की प्रतिज्ञा करता है। इसका उदाहरण ऊपर दिया गया है।

(४) संयुक्त प्रॉमिसरी नोट (Joint P/N)—वह है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति संयुक्त रूप से राशि-भुगतान की प्रतिज्ञा करते है।

उत्तरदायित्व—यदि संयुक्त प्रतिज्ञा-पत्र का अनादरण (Dishonour) हो जाय, तो पत्रधारी सब पत्र लिखने वालों पर राशि-प्राप्ति के लिये संयुक्त रूप से अभियोग चला सकता है, न कि अलग-अलग।

संयुक्त प्रो-नोट का उदाहरण

Stamp	Rs. 1,000/—	Delhi, June 14, 1960

Three months after date we promise to pay Shri Gyan Chandra Gupta, the sum of rupees one thousand only, value received.

Ram Chandra, Harish Chandra

(५) संयुक्त एवं पृथक प्रॉमिसरी नोट (Joint & Several P/N)—वह है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति संयुक्त रूप में तथा अलग-अलग राशि-भुगतान की प्रतिज्ञा करते हैं।

उत्तरदायित्व—ऐसे प्रतिज्ञा-पत्र के अनादरण हो जाने पर पत्रधारी चाहे तो सब पत्र लिखने वालों के विरुद्ध संयुक्त रूप में अभियोग चलाये या उनमें से किसी एक या कुछ के ऊपर ही चलाये। अलग-अलग चलाने पर भी कोई पत्र लिखने वाला अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकता।

बैंक नोट और करैंसी नोट—जो नोट किसी देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा जारी किये जाते हैं वे बैंक नोट कहलाते हैं, और जो नोट सरकार द्वारा जारी किये जाते है वे करैंसी नोट कहलाते हैं। ये नोट पत्र-मुद्रा में सम्मिलित हैं। भारतवर्ष में बैंक नोट और करैंसी नोट में भारत सरकार तथा रिजर्व बैंक की यह प्रतिज्ञा होती है कि नोट-वाहक को एक निश्चित रुपये की राशि माँगने पर भुगतान कर दी जायगी। इसलिये ये भी माँग या दर्शनी प्रॉमिसरी नोट ही होते हैं।

प्रॉमिसरी नोट और बैंक या करैंसी नोट में अन्तर

प्रॉमिसरी नोट	बैंक या करैंसी नोट
(१) यह किसी व्यक्ति द्वारा प्रतिज्ञा होती है।	(१) यह देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिज्ञा होती है।
(२) ये लिखे जाते हैं तथा इन पर टिकट लगाये जाते हैं।	(२) ये छपे हुए होते हैं तथा इन पर टिकट अनावश्यक है।
(३) ये कई प्रकार के होते हैं—दर्शनी, मुद्दती आदि।	(३) ये सदैव दर्शनी होते हैं।
(४) ये विधिग्राह्य नहीं होते हैं, अर्थात कोई भी व्यक्ति इनको लेने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता है।	(४) ये विधिग्राह्य होते हैं। इन्हें भुगतान में स्वीकार करने के लिये बाध्य किया जा सकता है।
(५) मुद्दती प्रो-नोट बेचान व सुपुर्दगी द्वारा हस्तान्तरित किये जाते हैं।	(५) ये सब दर्शनी होते हैं, इसलिये ये सुपुर्दगी-मात्र से हस्तान्तरित किये जाते हैं।

(६) ये किसी भी राशि के लिये लिखे जा सकते हैं। इनमें रुपया के अतिरिक्त आने पाई भी होते हैं।	(६) ये किसी निश्चित राशियों के होते हैं। इनमें आने पाई नहीं होते हैं।
(७) ये वाहक अथवा ऑर्डर होते हैं।	(७) ये सदैव वाहक होते है।

चेक, बिल ऑफ एक्सचेंज और प्रॉमिसरी नोट में अन्तर

चेक (Cheque)	बिल (B/E)	प्रो नोट (P/N)
(१) यह सदैव बैंक पर लिखा जाता है।	(१) यह किसी व्यक्ति-विशेष, फर्म या कम्पनी पर लिखा जाता है।	(१) यह किसी व्यक्ति विशेष, फर्म या कम्पनी की प्रतिज्ञा लिखी जाती है।
(२) यह बैंक के अमानतदार या ग्राहक द्वारा लिखा जाता है।	(२) यह ऋणदाता या साहूकार द्वारा ऋणी पर लिखा जाता है।	(२) यह ऋणी द्वारा ऋणदाता या साहूकार के प्रति प्रतिज्ञा होती है।
(३) यह राशि-भुगतान का आदेश होता है।	(३) यह राशि-भुगतान का आदेश होता है।	(३) यह राशि-भुगतान की प्रतिज्ञा होती है।
(४) इसमें तीन पक्ष होते हैं—लेखक, देनदार-बैंक और लेनदार।	(४) इसमें तीन पक्ष होते हैं—लेखक, देनदार और लेनदार।	(४) इसमें दो पक्ष होते हैं—बनाने वाला या देनदार और लेनदार।
(५) इसमें स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती है।	(५) इसमें देनदार की स्वीकृति की आवश्यकता होती है।	(५) इसमें स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि ऋणी स्वयं प्रतिज्ञा करता है।
(६) ये सदैव मांग या दर्शनी होते हैं।	(६) ये दर्शनी और मुद्दती दोनों ही होते हैं।	(६) ये दर्शनी और मुद्दती दोनों ही होते हैं।
(७) ये देश के भीतरी चलन के काम आते हैं।	(७) ये देशी और विदेशी दोनों प्रकार के होते हैं।	(७) यह भी देशी और विदेशी दोनों प्रकार के होते हैं।
(८) इसकी एक ही प्रति बनाई जाती है।	(८) विदेशी बिल प्रायः तीन प्रतियों में बनाया जाता है।	(८) विदेशी प्रो-नोट की केवल एक ही प्रति बनाई जाती है।
(९) इसे रेखांकित कर सकते हैं।	(९) इसे रेखांकित नहीं कर सकते।	(९) इसे रेखांकित नहीं कर सकते।

(१०) इसका हस्तान्तरण केवल सुपुर्दगी-मात्र से ही हो सकता है।	(१०) दर्शनी बिलों का तो हस्तान्तरण केवल सुपुर्दगी मात्र से ही होता है, परन्तु मुद्दती बिलों का हस्तान्तरण बेचान-लेख तथा सुपुर्दगी दोनों से ही होता है।	(१०) इनका हस्तान्तरण भी बिलों की भाँति होता है।
(११) चैकों पर टिकट की कोई आवश्यकता नहीं होती है।	(११) माँग या दर्शनी बिलों के अतिरिक्त सब प्रकार के बिलों पर मूल्यानुसार टिकट लगाना कानूनी आवश्यकता है।	(११) माँग या दर्शनी तथा मुद्दती सभी प्रकार के प्रो-नोटों पर टिकट लगाना कानूनी आवश्यकता है।
(१२) इसमें गलती होने पर बैंक भुगतान नहीं देता।	(१२) इसमें गलती होने पर भी यदि देनदार ने स्वीकार कर लिया है तो देनदार को भुगतान देने के लिये बाध्य किया जा सकता है।	(१२) इसमें भी गलती होने पर देनदार को बाध्य किया जा सकता है।
(१३) यदि चैक के प्रस्तुत करने में विलम्ब हो जाय, तो इससे लेखक और बेचान-कर्त्ता अपने दायित्व से मुक्त नहीं होते। हाँ, यदि बैंक फेल हो जाय तो बात दूसरी है।	(१३) बिल यदि ठीक तिथि पर प्रस्तुत न किया जावे, तो अन्य सब सम्बन्धित व्यक्ति अपने दायित्व से मुक्त हो जाते हैं।	(१३) इसमें भी देनदार अपने दायित्व से मुक्त नहीं होता है।
(१४) चैक अनादरण पर अनादरण सूचना देना आवश्यक नहीं है और न निकराई सिकराई ही आवश्यक है।	(१४) बिल अनादरण पर सम्बन्धित व्यक्तियों को अनादरण सूचना (Notice of Dishonour) देना आवश्यक है तथा उसकी निकराई-सिकराई भी करानी होती है।	(१४) प्रो-नोट में अनादरण सूचना तथा निकराई - सिकराई आवश्यक नहीं है।

हुण्डी (Hundi)

हुण्डी शब्द का अर्थ एवं परिभाषा—हुण्डी शब्द संस्कृत 'हुण्ड' से बना जिसका अर्थ 'संग्रह' करना है। हुण्डी सामान्यतया एक शर्त रहित लिखित आदेश पत्र है जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को आदेश देता है कि वह रुपये की एक निश्चित राशि उल्लिखित व्यक्ति को माँगने पर अथवा एक निश्चित अवधि के पश्चात् भुगतान कर दे।

हुण्डी का महत्व—भारतवर्ष में हुण्डी बहुत ही प्राचीन काल से प्रचलित है। आज भी हमारे देश के अन्तर्देशीय व्यापार में इसका बड़ा महत्व है। एक स्थान से दूसरे स्थान को राशि भेजने का यह बड़ा अच्छा साधन है। इसके द्वारा रुपया उधार भी लिया जा सकता है। जिस व्यापारी को रुपयों की आवश्यकता होती है वह अपने एजेन्ट या मित्र व्यापारी पर एक हुण्डी लिख सकता है और उसे किसी बैंक में बट्टा देकर भुना सकता है।

बिल और हुण्डी में भेद—वैसे तो हुण्डी और बिल में कोई विशेष अन्तर नहीं है। हुण्डी बिल का रूपान्तर मात्र है, अर्थात् हुण्डी एक प्रकार से देशी बिल ऑफ एक्सचेंज है। परन्तु इन दोनों में जो भेद है उनकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती है।

१—बिल प्रायः अंग्रेजी में लिखा जाता है और उसकी भाषा एक प्रकार से अपरिवर्तनशील है। परन्तु हुण्डी भारत की सभी भाषाओं में लिखी जाती है, और इसमें स्थानानुसार परिवर्तन भी होता रहता है।

२—बिल एक शर्त-रहित आदेश है; परन्तु हुण्डी का आदेश शर्त-सहित भी हो सकता है, जैसे : जोखमी हुण्डी।

३—बिल में लेखक (Drawer) का नाम नीचे दाईं ओर लिखा जाता है, परन्तु हुण्डी में लेखक का नाम बीच में दिया जाता है।

४—बिल पत्र की भाँति नहीं लिखा जाता है बल्कि इसमें केवल तथ्य ही होते हैं। हुण्डी पत्र के रूप में लिखी जाती है, अतः इसमें अभिवादन आदि भी प्रयुक्त किये जाते हैं।

५—बिल के देनदार (Drawee) का नाम नीचे बाईं ओर लिखा जाता है। परन्तु हुण्डी में यह बीच में लिखा जाता है।

६—बिल में राशि दो बार अङ्कों और अक्षरों में लिखी जाती है जिससे राशि-परिवर्तन सुगमता से न हो सके। हुण्डी में राशि पाँच बार से कम नहीं लिखी जाती, अतः राशि-परिवर्तन अत्यन्त कठिन हो जाता है।

७—बिल की स्वीकृति, देनदार द्वारा आवश्यक है और यह बिल के मुख पर दी जाती है। हुण्डी में स्वीकृति आवश्यक नहीं है, केवल देनदार अपनी बही में इसका ब्यौरा लिख लेता है।

८—बिल देशी और विदेशी दोनों प्रकार का होता है, परन्तु हुण्डी केवल देशी ही होती है।

९—बिल में तीन अनुग्रह दिवस या रियायती दिन (Days of Grace) मिलते हैं, परन्तु हुण्डी में रियायती दिनों में न्यूनाधिकता होना सम्भव है।

१०—बिल प्रनादरण में लिकराई सिकराई का होना आवश्यक है। हुण्डी में इसकी कोई आवश्यकता नहीं है।

हुण्डी के पक्ष (Parties)—हुण्डी में प्रायः तीन पक्ष होते हैं—(१) लेखीवाला या लेखक (Drawer) वह व्यक्ति है जो हुण्डी लिखता है और उस पर अपने हस्ताक्षर करता है। (२) ऊपर वाला या देनदार (Drawee)—वह व्यक्ति है जिस पर हुण्डी लिखी जाती है। यह ऋणी होता है जिस हुण्डी की राशि देनी होती है। (३) रखवाला या आदाता (Payee)—वह व्यक्ति है जिसके पक्ष में हुण्डी लिखी जाती है। इसे हुण्डी की राशि प्राप्त होती है।

हुण्डियों के भेद (Kinds of Hundis)—हुण्डियाँ मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं—दर्शनी और मुद्दती या मिती। (१) दर्शनी हुण्डी—वह है जिसका भुगतान माँग पर करना पड़ता है। यह Sight या Demand बिल की भाँति है। इस प्रकार की हुण्डियों से मुख्यतः राशि स्थानान्तरण का प्रयोजन सिद्ध होता है।

(२) मुद्दती या मिती हुण्डी—वह है जिसका भुगतान किसी निश्चित अवधि के पश्चात् किया जाता है। इसमें उल्लिखित अवधि में रियायती दिन (Days of Grace) जो मिलाए जाते हैं जोड़ने के पश्चात् भुगतान किया जाता है। हुण्डियाँ ११ दिन से लेकर १२ महीना तक की अवधि (मुद्दत) के लिए लिखी जाती है। अवधि व्यापार की प्रथा तथा स्थानानुसार परिवर्तनशील है।

मुद्दती या मिती हुण्डी का उदाहरण

॥ श्रीरामजी ॥

सिद्ध श्री बम्बई शुभस्थान भाई श्री रामलाल रामगुप्त जोग लिखी अमृतसर से अमरचन्द रमशचन्द का जै गोपाल बचना। अपरंच हुण्डी कीनी एक आपके ऊपर रु० २०००) अक्षरे दो हजार रुपया के नीमे रुपया एक हजार के दूने पूरे यहाँ रखा श्री भाई पंजाब बैंक लि० के पास मिती बैशाख सुदी ९ से दिन ६१ (इकसठ) पीछे नाम शाह जोग हुण्डी चलन कलदार देना। मिती बैशाख सुदी ९ संवत् २०१७।

हुण्डी की व्याख्या (Explanation)—यह मुद्दती शाहजोग हुण्डी का उदाहरण है। इसमें अमरचन्द रमशचन्द लेखीवाला या लेखक है रामलाल रामगुप्त ऊपरवाला या देनदार है और पंजाब बैंक लि० रखवाला या आदाता है। हुण्डी की राशि दो हजार रुपया है और अवधि (मुद्दत) ६१ दिन की है।

हुण्डियों के अन्य प्रकार

(१) धनी जोग हुण्डी—वह है जो किसी धनी या हुण्डी धारक को देय होती है। भुगतान दस वाले को कोई निम्मेदारी नहीं होती है। यह वाहक या बेयरर चैक की भाँति होता है। (२) शाह जोग हुण्डी—वह हुण्डी है जिसका भुगतान शाह अर्थात् सम्मानित व्यक्ति को देय होता है। यह रेखांकित चैक के समान है। अतः इसका भुगतान करने वाले व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह इस बात की ठीक-ठीक जाँच करले कि प्रस्तुत करने

वाला व्यक्ति भुगतान प्राप्त करने का अधिकारी है या नहीं। (३) फरमान जोग हुण्डी—वह हुण्डी है जो लेनदार या उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्ति को देय होती है। इसका प्रादुर्भाव यवन काल में हुआ और इसका प्रचार कहीं कहीं अब भी दृष्टिगोचर होता है। 'फरमान' शब्द आदेश का द्योतक है। यह ऑर्डर चैक की भाँति है। अत: भुगतान करने वाले व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि भुगतान करने के पहले बेचान लेख को भली-भाँति जाँच कर ले; अन्यथा वह उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं रह सकता (४) देखनहार हुण्डी—वह हुण्डी है जिसका भुगतान हुण्डीवाहक (Bearer) को देय होता है। अतः ऐसी हुण्डी के भुगतानार्थ देनदार को विशेष छानबीन करने की आवश्यकता नहीं होती। प्रस्तुत करने वाले को भुगतान दे दिया जाता है।

हुण्डियों के प्रयोग से लाभ—हुण्डियों के प्रयोग से लाभ लगभग वे ही हैं जो बिल ऑफ एक्सचेंज के अन्तर्गत वर्णित है।

बैंक ड्राफ्ट (Draft)

परिभाषा (Definition)—बैंक ड्राफ्ट वह चैक है जिसमें एक बैंक अपनी शाखा या एजेन्ट बैंक या अन्य बैंक को लिखित आदेश देता है कि वह उल्लिखित व्यक्ति को या उसके आदेशानुसार अन्य किसी व्यक्ति को माँगने पर एक निश्चित राशि का भुगतान कर दे।

यह एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजने का अनुपम साधन है। जब कोई व्यक्ति किसी दूरस्थ व्यक्ति को रुपया भेजना चाहता है, तो वह भेजी जाने वाली राशि और थोड़ा सा कमीशन बैंक में जमा कर बैंक-ड्राफ्ट खरीद कर भेज देगा। इसके द्वारा राशि भेजने में बहुत कम खर्च पड़ता है। यदि राशि शीघ्रता से भेजना हो, तो तार का व्यय देकर तार द्वारा बैंक-ड्राफ्ट (Telegraphic Transfer—T/T) भेज सकता है। बैंक-ड्राफ्ट अन्तर्देशीय और विदेशीय दोनों प्रकार के होते हैं।

अन्तर्देशीय बैंक ड्राफ्ट का उदाहरण

STATE BANK OF INDIA

No. 2785 B/D AJMER

Rs. 2,000/- 16th. June, 1960

On demand pay to *Shri Suraj Bhan Agarwal* or order Rupees *two thousand only*, value received.

For State Bank of India,
A. R. Contractor
Agent.

To
The State Bank of India,
AGRA

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—हुण्डी और चैंक पर नोट लिखिये।

२—साख पत्र की परिभाषा दीजिये और उसके मुख्य कार्य बताइये। विनिमय बिल और करैन्सी नोट मे अन्तर बताइये।

३—मुद्रा और साख पत्रो का अन्तर बताइये। आधुनिक वाणिज्य और उद्योगो से क्या लाभ होता है ?

४—साख पत्र (Credit Instruments) की परिभाषा दीजिये। चैंक (Cheque) तथा करैन्सी नोट (Currency Note) मे क्या अन्तर है ?

५—साख से आप क्या समझते हैं ? भारत मे उद्योग और व्यापार को साख ने क्या सहायता पहुंचाई।

६—चैंक किसे कहते है ? इसे रेखांकित करने का क्या उद्देश्य है ? (रा० बो० १९५४)

७—साख किसे कहते है ? साख-मुद्रा के लाभ हानि की विवेचना कीजिये। (रा० बो० १९५२)

८—हुण्डी पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (अ० बो० १९५४, ५०, ४९)

९—निम्नलिखित पर नोट लिखिये :—
आडर, चैंक वेयरर और क्रॉस हुए चैंक। (म० भा० १९५४)
(रा० बो० १९६०, म० भा० १९५३)

१०—विनिमय साख पत्रों के नाम बताइए। उनमे से किसी एक की परिभाषा दीजिए और इसकी कार्य-प्रणाली तथा महत्व को बताइए। (सागर १९५८)

११—चैंक और विनिमय बिल मे क्या भेद है ? चैंक के रेखांकित करने का क्या उद्देश्य होता है ? इसके लाभ बताइए। (सागर, १९५५)

१२—'साख' शब्द की व्याख्या कीजिये। साख द्वारा समाज की क्या क्या सेवाएँ होती हैं ? (सागर १९५६)

१३—निम्नलिखित प्रत्यय-पत्रो के कार्य तथा उनकी उपयोगिता के सम्बन्ध मे विवरण दीजिए—(अ) विनिमय पत्र, (आ) धनादेश। (नागपुर १९५८)

१४—धनादेश क्या होता है ? धनादेश के विविध प्रकारों को स्पष्टतया समझाइए। देश की मौद्रिक पद्धति मे धनादेश का महत्व दीजिए। (नागपुर १९५७)

१५—निम्नलिखित पर नोट लिखिए :—
साख-पत्र
हुण्डी और चैंक
प्रतिज्ञा अर्थ-पत्र (प्रॉमिसरी नोट)
बिल ऑफ-एक्सचेंज (विनिमय पत्र) (नागपुर १९५७, सागर १९५६)
बैंक ड्राफ्ट
बिल ऑफ एक्सचेंज (म० भा० १९५६)
चैंक और बिल ऑफ एक्सचेंज (नागपुर १९५६)

अध्याय ५४

बैंक और बैंकिंग प्रणाली

(Bank & Banking System)

बैंक की परिभाषा (Definition)—बैंक वह संस्था है जो मुद्रा (Money) और साख (Credit) का लेन-देन करती है, जहाँ रुपया जमा किया जा सकता है तथा ऋण लिया जा सकता है, और जहाँ धन-सम्बन्धी अनेक व्यवहार होते है। बैंक में वे व्यक्ति राशि जमा कराते है जिनके पास आवश्यकता से अधिक पूँजी होती है और जो उसे सलाभ व्यापार में नहीं लगा सकते। बैंक उन लोगों को राशि उधार देता है जिनके पास आवश्यक निधि नहीं है, परन्तु जो उस निधि को लाभप्रद व्यापार या व्यवसाय में लगा सकते है। यह सब बैंक का कार्य साख (Credit) के अन्तर्गत आता है, इसलिये बैंकों को साख संस्थाएं (Credit Institutions) कहते हैं। मुद्रा और साख के उपयोग में व्यापार करने की क्रिया को बैंकिंग (Banking) कहते है।

स्पष्टत: बैंक आधुनिक ढंग से लेन-देन करने वाली संस्था है। जिस प्रकार एक व्यापारी वस्तुओं का लेन देन करता है, ठीक उसी प्रकार बैंक मुद्रा और साख के उपयोग का लेन देन करता है। वे सर्वसाधारण से कम ब्याज पर रुपया लेते है और उससे ऊँची दर पर उसे उधार देते हैं। इस प्रकार का लेन देन ही वास्तव में इनका मुख्य धंधा है और इसी से उनको अधिकांश लाभ प्राप्त होता है।

बैंकों का महत्त्व (Importance)—बैंक आधुनिक व्यापार का 'जीवन' है। आज के संसार में बिना सुव्यवस्थित बैंकों के कोई भी देश व्यापारिक एवं औद्योगिक उन्नति नहीं कर सकता। ये वाणिज्य व्यापार व उद्योग की बहुत सेवा करते हैं। जनता के रुपये को बचाने और लगाने का एक लोकप्रिय साधन निर्माण करके ये जनता को अधिकाधिक रुपया बचाने में प्रोत्साहन देते हैं। बैंक भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की बचाई हुई छोटी से-छोटी राशियों को एकत्रित करके समाज की आर्थिक दशा को पुष्ट बनाते हैं। एकत्रित राशि में से वे व्यापारियों, उद्योगपतियों तथा कृषकों को रुपया उधार देते हैं जिसे वे विभिन्न उत्पादन कार्यों में लगाते हैं। बैंक एक प्रकार से मध्यस्थ का काम करते हैं जो लोगों की छोटी छोटी बचत की रकमों को इकट्ठा करके बड़े-बड़े कुशल और चतुर व्यापारियों, व्यवसायियों तथा औद्योगिक योग्यता रखने वालों को बहुत बड़ी रकम के रूप में देते हैं जिससे देश के धनोत्पादन में वृद्धि तथा आर्थिक उन्नति होती है। यदि बैंक न होते तो राष्ट्र की अधिकतर योग्यता व पूँजी व्यर्थ रहती जो कि एक बड़ी राष्ट्रीय हानि होती। इस प्रकार बैंक उत्पत्ति में सहायक सिद्ध होकर औद्योगिक उन्नति के मुख्य साधन बन गये हैं।

बैंक द्वारा निर्माताओं तथा उत्पादकों को उचित समय पर रुपया मिल जाता है और इससे देश की उत्पादन शक्ति में असाधारण वृद्धि होती है। सच तो यह है कि आधुनिक व्यापार साख पर निर्भर है। बैंक वस्तु-निर्माता (Manufacturer) को उधार देता है, निर्माता थोक व्यापारी (Wholesaler) को उधार देता है, थोक व्यापारी फुटकर व्यापारी (Retailer) को और फुटकर व्यापारी उपभोक्ता (Consumer) को उधार देता है। बैंकों द्वारा ही मुद्रा व साख की उपयोगिता का लेन देन होता है, इसलिए यह सारी व्यवस्था बिना बैंकों के सम्भव नहीं हो सकती।

साराश यह है कि बैंकों का आधुनिक आर्थिक जगत में इतना महत्त्व है कि इन्हें आर्थिक जीवन का स्नायु-केन्द्र (Nerve Centre) कह कर पुकारा गया है, वास्तव में, इन्हीं की उन्नति पर देश की व्यापारिक एवं औद्योगिक उन्नति निर्भर है।

आधुनिक बैंक के कार्य एवं सेवाएं (Functions & Services of a Modern Bank)—अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से बैंक के कार्यों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है - (१) प्रारम्भिक कार्य, (२) सामान्य उपयोगिता के कार्य और (३) एजेन्सी कार्य।

(१) प्रारम्भिक कार्य (Primary Functions)—बैंक के दो प्रारम्भिक कार्य होते हैं—(अ) रुपया उधार लेना, और (आ) रुपया उधार देना।

(अ) रुपया उधार लेना (Borrowing of Money)—जनता से रुपया जमा लेना आधुनिक बैंकों का मुख्य कार्य है। जिन व्यक्तियों के पास रुपया है और जो उसे सुरक्षित रखना चाहते हैं तथा साथ-ही-साथ कुछ ब्याज भी कमाना चाहते हैं, वे बैंक में अपना रुपया जमा कर देते हैं। इस प्रकार लोगों की बचत की बेकार पड़ी हुई छोटी व मोटी राशियाँ बैंक द्वारा एकत्रित हो जाती हैं। इसी जमा के आधार पर बैंक व्यापारियों तथा उद्योगपतियों को ऋण देकर उत्पादन में योगदान देते हैं। बैंक में रुपया कई खातों में जमा कराया जा सकता है, उनमें से मुख्य ये हैं—चालू खाता, स्थायी-जमा खाता; और बचत बैंक खाता।

(१) चालू खाता (Current Account)—वह खाता है जिसमें से रुपया बिना किसी पूर्व सूचना के चैक द्वारा किसी भी समय कितनी भी बार निकाला जा सकता है। साधारणतया इस पर कुछ ब्याज नहीं दिया जाता है। परन्तु यदि एक निश्चित राशि सदैव जमा रखी जाय, तो उस पर थोड़ा-सा ब्याज मिल जाता है। यह खाता विशेषतया व्यापारियों के लिये बड़ा उपयोगी है।

(२) स्थायी जमा खाता (Fixed Deposit Account)—वह खाता है जिसमें रुपया एक निश्चित अवधि के लिये जमा कराया जाता है और उस अवधि से पूर्व रुपया नहीं निकाला जा सकता। ऐसे खाते पर अच्छा ब्याज दिया जाता है।

(३) बचत बैंक खाता (Savings Bank Account)—वह खाता है जिसमें से राशि निकालने पर प्रतिबन्ध होता है, अर्थात् राशि सप्ताह में एक या दो बार ही निकाली जा सकती है। छोटी आय वाले व्यक्तियों में मितव्ययता को प्रोत्साहन देने के लिये इस खाते में जमा रकम पर ब्याज भी दिया जाता है। यह खाता डाकघर के बचत खाते की भाँति होता है।

(आ) रुपया उधार देना (Lending of Money)—बैंक जमा के आधार पर ही उधार देने का सामर्थ्य प्राप्त करता है। अतः बैंक अनेक व्यक्तियों की छोटी-छोटी राशियाँ एकत्रित कर अपने पास एक बृहत् निधि बना लेता है जिसमें से उन व्यक्तियों को जिनमें व्यापार और व्यवसाय चलाने की योग्यता तो है, परन्तु, जिनके पास पूँजी का अभाव है, बैंक ब्याज पर रुपया उधार देता है। इस प्रकार बैंक बचत करने वालों और उत्पादकों या निर्माताओं के बीच मध्यस्थ का कार्य करके उत्पादन यन्त्र को सञ्चालित करने में सहयोग प्रदान करता है। वैसे रुपया उधार देने की बहुत-सी रीतियाँ है, परन्तु बिल भुनना या डिस्काउण्ट करना, तथा चालू खाते पर अधिविकर्ष (Overdraft) देना तथा रोकड़ साख (Cash Credit) आदि मुख्य है। मुद्दती बिलों या हुण्डियों की राशि बट्टा काट कर दातव्य तिथि के पूर्व देना, बिल भुनना या डिस्काउन्ट करना कहलाता है। चालू खाते में से जमा की गई राशि से अधिक निकालने देना अधिविकर्ष या ओवरड्राफ्ट कहलाता है। थोड़ी राशि जमा करा कर इससे कहीं अधिक राशि उधार देना रोकड़ साख कहलाती है। बैंक जिन लोगों को रुपया देता है उनसे उस ऋण के बदले कुछ धरोहर भी लेती है। यह धरोहर बहुधा ऐसी होती है जो बाजार में शीघ्रातिशीघ्र बिक सके; जैसे : अच्छी कम्पनियों के शेयर आदि। बैंक अचल सम्पत्ति (Immovable Property) को धरोहर के रूप में नहीं लेती, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर आसानी से नहीं बेची जा सकती है।

(२) सामान्य उपयोगिता के कार्य (General Utility Functions)—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त बैंक जन-साधारण के लिये भी बहुत से कार्य करता है जिनका वर्णन नीचे किया जाता है :—

(अ) नोट जारी करना—यह कार्य आजकल केवल केन्द्रीय बैंक ही करता है। भारतवर्ष में नोट जारी करने का अधिकार रिजर्व बैंक को है जो देश का केन्द्रीय बैंक है।

(आ) चलन की पूर्ति—बैंकों द्वारा ही पत्र-मुद्रा के अतिरिक्त अन्य प्रकार की मुद्रा भी चलन में आती है, जो देश के चलन की पूर्ति करने में सहायक होती है।

(इ) साख-पत्रों को जारी करना—चैक, बैंक ड्राफ्ट आदि साख-पत्र बैंकों द्वारा ही जारी किये जाते है। इनके द्वारा राशि एक स्थान से दूसरे स्थान को सुगमता से तथा कम खर्चे में भेजी जा सकती है।

(ई) विदेशी विनिमय—बैंक एक देश के चलन का दूसरे देश के चलन से विनिमय करने में सहायता देते है। इन्हीं के द्वारा विदेशी व्यापार का लेन-देन होता है।

(उ) बहुमूल्य वस्तुओं की सुरक्षा—बैंकों में बहुमूल्य वस्तुएँ, जैसे जेवर, दस्तावेज आदि सुरक्षित रखे जा सकते है। रखने वालों को आग व चोरी का भय नहीं रहता। बैंक इस सेवा के लिये उनसे कुछ शुल्क लेता है।

(३) एजेन्सी कार्य (Agency Functions)—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त बैंक अपने ग्राहकों के लिये निम्नलिखित एजेन्सी कार्य भी करते है —

(अ) बैंक अपने ग्राहकों के लिये सिक्योरिटीज (प्रतिभूतियाँ) और शेयर (अंश) आदि खरीदते और बेचते है। (आ) बैंक अपने ग्राहकों के लिये लाभांश (Dividend) और ब्याज आदि वसूल करते हैं तथा उनके प्रति बीमा का प्रीमियम, आय कर, चन्दा, किराया आदि का भुगतान करते हैं। (इ) बैंक अपने ग्राहकों के लिये बैंक ड्राफ्ट और साख पत्र (Letters of Credit) आदि जारी करते हैं। (ई) नई कम्पनियों की पूँजी एकत्रित करने में सहायता देते हैं। (उ) निकास गृह (Clearing House) का कार्य करते हैं। (ऊ) वे अपने ग्राहकों के चैक, बिल, हुण्डी आदि की राशि वसूल करते हैं। (ए) वे अपने ग्राहकों को अन्य व्यापारियों की आर्थिक स्थिति के बारे में सूचना देते हैं तथा दूसरों के पूछने पर अपने ग्राहकों की आर्थिक स्थिति के बारे में लिखते है। (ऐ) वे ट्रस्टीज (Trustees), अटॉर्नी (Attorney) तथा एक्जीक्यूटर्स (Executors) आदि की भाँति भी अपने ग्राहकों के लिये काम करते हैं।

क्या भारतवर्ष में ग्रामीण महाजन या साहूकार यथार्थ अर्थ में बैंकर है? यद्यपि ग्रामीण महाजन बैंक की ही भाँति अनेक कार्य सम्पन्न करता है और आधुनिक समय में अपना विशेष स्थान रखता है, परन्तु फिर भी यथार्थ अर्थ में आधुनिक बैंकर नहीं कहा जा सकता। इसके कई कारण हैं जो नीचे दिये जाते हैं :

(१) प्रथम तो यह है कि महाजन या साहूकार लोग गाँवों में ही प्रायः किसानों तथा कारीगरों को रुपया उधार देते हैं, बड़े बड़े व्यापारियों और उद्योगपतियों को नहीं।

(२) वे आधुनिक बैंकों की भाँति दूसरों का रुपया जमा नहीं करते हैं, बल्कि अपनी ही पूँजी से काम चलाते हैं।

(३) उनकी हिसाब-किताब की रीति बहुत ही पुरानी है। वे आधुनिक ढंग से हिसाब नहीं रख सकते। बहुत-से तो हिसाब रखते ही नहीं हैं। वे केवल याद ही रखते है या रही तौर पर नष्ट कर देते है, हुण्डी का प्रयोग भी बहुत सीमित है।

(४) उनकी ब्याज की दरें बहुत ऊँची होती हैं।

(५) रुपयों के लेन देन के साथ वे अन्य कार्य भी करते है।

(६) बहुत-से तो इस कार्य में चरित्र को समझते ही नहीं, बल्कि छल कपट से गरीब किसानों से रुपया इकट्ठा करने का प्रयत्न ही करते रहते हैं।

(७) वे अपने ग्राहकों की वे सेवाएँ नहीं करते जोकि एक आधुनिक बैंक करता है। अतः हम उन्हें तब तक आधुनिक बैंकर नहीं कह सकते जब तक कि वे अपनी कार्य प्रणाली आधुनिक बैंकों की भाँति नहीं कर लेते।

बैंक जमा से अधिक ऋण देते हैं—यह बात कि बैंक जमा से अधिक ऋण देते हैं कैसे विचित्र प्रतीत होती है, परन्तु यह असत्य नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है : जब कोई व्यक्ति बैंक में रुपया जमा करता है, तो उसे रोकड़-राशि ले जाकर जमा करना पड़ता है। इसे रोकड़ जमा (Cash Deposit) कहते हैं। किन्तु जब बैंक किसी को रुपया उधार देता है, तो वह उसे नकद न देकर वह राशि उसके चालू खाते में जमा कर देता है और उसे उस राशि तक चैक काटने का अधिकार दे देता है। इसे साख जमा (Credit Deposit) कहते हैं। इस प्रकार 'उधार जमा बन जाती है'

(Loans make deposit)। बैंक इस बात को अनुभव से जानते है कि जमा किया हुआ रुपया सारा का-सारा किसी एक समय नही निकाला जाता। किसी भी समय जितना रुपया वापस माँगा जाता है, वह कुल जमा की हुई राशि का १०-११% से अधिक नही होता। इस प्रकार बैंक १०० रुपये जमा के पीछे १०००-११०० रुपय उधार देने मे समर्थ होते हैं।

बैंक की आर्थिक स्थिति मालूम करना—किसी बैंक की आर्थिक स्थिति ज्ञात करने के लिये उसके दो मुख्य हिसाब पत्रों का अध्ययन करना आवश्यक होता है—एक तो लाभ-हानि लेखा, और दूसरा चिट्ठा या स्थिति-विवरण।

(१) **लाभ हानि लेखा**—(Profit & Loss Account)—यह व्यापार के वर्ष भर के लाभ-हानि का हिसाब होता है। इसमे आय और व्यय के आँकड़े समाविष्ट होते हैं और यह विशुद्ध लाभ या हानि (Net Profit or Loss) बताता है। इस लेखे के बाईं ओर व्यय की मदे और दाईं ओर आय की मदे होती हैं। नीचे यह उदाहरण द्वारा समझाया गया है :

आजाद हिन्द बैंक लि० का लाभ-हानि लेखा
३१ दिसम्बर १९६० ई०

विवरण (व्यय)	राशि (रु०)	विवरण (आय)	राशि (रु०)
जमा-राशि पर ब्याज	१,००,०००	शेष	१३,०००
वेतन व भत्ते	५०,०००	ब्याज और बट्टा	१,२०,०००
प्रॉविडेण्ट फण्ड	२,०००	कमीशन और दलाली	५५,०००
डाइरेक्टरों की फीस व भत्ते	१,०००	किराया-भाड़ा	२७,५००
डाक व तार-व्यय	३,५००	अन्य आय	६,५००
स्टेशनरी और छपाई	५,०००		
ऑडीटर की फीस	८००		
भाड़ा, बीमा, बिजली, कर आदि	१३,०००		
मरम्मत व घिसाई	११,०००		
अन्य व्यय	३,०००		
विशुद्ध लाभ	३५,७००		
योग ...	२,२५,०००	योग ...	२,२५,०००

व्याख्या—उपर्युक्त लाभ-हानि लेखा मे स्पष्ट है कि इस वर्ष मे बैंक को ३५,७०० रु० का विशुद्ध लाभ रहा है जो चिट्ठे मे ले जाया गया है।

चिट्ठा या स्थिति-विवरण (Balance Sheet)—यह एक व्यापार की वार्षिक लेनी-देनी का ब्यौरा होता है। लेनी के आकडों मे जो दाईं ओर होते है, बैंक की सम्पत्ति (Assets) तथा वे राशियाँ दिखाई जाती है जो बैंक को दूसरो से प्राप्त होती है। देनी के आँकड़ा मे जो बाईं ओर होते है बैंक की देनदारियाँ (Liabilities) तथा व राशियाँ दिखलाई जाती है जो बैंक द्वारा दूसरो को देनी होती है। चिट्ठा या स्थिति-विवरण के ध्यानपूर्वक अध्ययन से व्यापारिक सस्था की वास्तविक आर्थिक-स्थिति का ठीक ठीक अनुमान लगाया जा सकता है। नीचे चिट्ठे का उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देता है।

आजाद हिन्द बैंक लि० का चिट्ठा (Balance Sheet)

३१ दिसम्बर, १९६० ई०

देनदारियाँ (Liabilities)	राशि (रु०)	सम्पत्ति (Assets)	राशि रुपया
अधिकृत पूँजी . (Authorised Capital) ५०,००० शेयर्स, १० रु० प्रति शेयर	५,००,०००	हस्तस्थ एव बैंकस्थ रोकड	३,००,०००
निर्गमित पूँजी . (Issued Capital) २५,००० शेयर्स १० रु० प्रति शेयर	२,५०,०००	माँग व अल्प सूचना का रुपया	१,००,०००
प्रार्थित पूँजी (Subscribed Capital) २०,००० शेयर्स १० रु० प्रति शेयर	२,००,०००	प्रतिभूतियो मे विनियोग (Investment in Securities)	१०,००,०००
प्रदत्त पूँजी : (Paid-up Capital) १९,९०० शेयर्स १० रु० प्रति शेयर	१,९९,०००	ऋण और उधार	१,०३,०००
रिजर्व फण्ड	१,५१,०००	भुनाये गये बिल (Discounted Bills)	१,१०,३००
जमा तथा अन्य खाते	१३,००,०००	बैंक भवन (घिसाई निकाल कर)	७५,०००
देय बिल (B/P Bills)	१०,३००	फर्नीचर आदि (घिसाई निकाल कर)	१०,०००
अन्य दायित्व	५,०००	स्टेशनरी स्टॉक मे	२,७००
लाभ हानि खाता	३५,७००		
योग	१७,०१,०००	योग	१७,०१,०००

व्याख्या—देनदारियाँ (Liabilities) (१) पूँजी—पूँजी कई प्रकार की होती है : अधिक पूँजी (Authorised Capital) वह अधिकतम राशि होती है जिसे बैंक या कम्पनी को उसके स्मारक (Memorandum) द्वारा इकट्ठा करने का अधिकार होता है। उपर्युक्त चिट्ठे मे यह राशि ५,००,००० रु० है। सामान्यतया सारी अधिकृत पूँजी निर्गमित नही की जाती—केवल उसका एक भाग ही निर्गमित किया

जाता है जिसे निर्गमित पूँजी (Issued Capital) कहते हैं। उपयुक्त चिट्ठे में निर्गमित पूँजी २,५०,००० रु० है। जितनी पूँजी खरीदने के लिये जनता से प्रार्थना पत्र आते हैं उसे प्रार्थित पूँजी (Subscribed Capital) कहते हैं। इस चिट्ठे में यह २,००,००० रु० है। प्रति शेयर जितनी पूँजी मांगी जाती है वह माँगी गई पूँजी (Called up Capital) कहलाती है। इस चिट्ठे में १० रु० प्रति शेयर के हिसाब से २०,००० शेयर्स पर पूँजी माँगी गई है परन्तु केवल १९,९०० शेयर होल्डरों ने ही १० रु० प्रति शेयर के हिसाब से दिया है। इसलिये १,९९,००० रु० प्रदत्त पूँजी (Paid up Capital) हुई। (२) रिजर्व फण्ड (Reserve Fund)—लाभ का कुछ भाग न बाँट कर इस कोष में संचित रख दिया जाता है ताकि संकट-काल में काम आ सके। (३) जमा तथा अन्य खातों का रुपया—यह वह रुपया है जिसे ग्राहकों ने विविध खातों में जमा किया है। (४) देय बिल (B/P Bills)—बैंक अपने ग्राहकों के बिलों की स्वीकृति देते हैं जिससे वे आसानी से भुनाये जा सकें। इसकी देनदारी बैंक की है। (५) अन्य दायित्व—इस शीर्षक के अन्तर्गत विविध देनदारियों की राशि जो ऊपर के मदों में उल्लिखित नहीं है दिखाई गई है।

सम्पत्ति (Assets)—(१) हस्तस्थ एवं बैंकस्थ रोकड़ (Cash in hand & at Bank)—जो राशि ग्राहकों के भुगतानार्थ बैंक में रहती है वह हस्तस्थ रोकड़ कहलाती है। इसके अतिरिक्त बैंक जो राशि किसी बड़े बैंक या केन्द्रीय बैंक में रखता है वह बैंकस्थ राशि कहलाती है। (२) माँग व अल्प सूचना का रुपया (Money at Call and Short notice)—यह वह रुपया है जो बैंक इस शर्त पर उधार देता है कि वह माँगने पर या कुछ दिनों की ही सूचना देने पर उसे लौटा दिया जायगा। (३) प्रतिभूतियों में विनियोग (Investment in Securities)—इस शीर्षक के अन्तर्गत वह राशि दिखाई गई है जो बैंक ने साख पत्रों के खरीदने में लगाई है तथा जिस पर बैंक को ब्याज मिलता है। (४) ऋण और उधार (Loans)—यह वह रुपया है जिसे बैंक थोड़े समय के लिये व्यापारियों को तथा उद्योग धन्धे वालों को उधार देता है। (५) भुनाये गये बिल (Discounted Bills)—वे विनिमय बिल होते हैं जिन्हें बैंक ने खरीद लिया है। इनका रुपया बैंक को अपने ग्राहकों से प्राप्त होता है। (६) बैंक भवन (Bank Buildings) तथा (७) फर्नीचर आदि (Furniture & Fittings etc.)—ये राशियाँ घिसाई (Depreciation) काट कर बताई गई हैं। (८) स्टेशनरी स्टाक में—इसका अर्थ यह है कि ४,७०० रु० की स्टेशनरी इस वर्ष के अन्त तक स्टाक में बच रही है। यह भी बैंक की सम्पत्ति है।

भारतीय व्यवस्था के अङ्ग—(Constituents of Indian Money Market) भारतीय मुद्रा बाजार तथा बैंकिंग व्यवस्था के मुख्य अङ्ग निम्नलिखित हैं :—

(१) देशी बेंकर या महाजन, सर्राफ, साहूकार आदि (Indigenous Bankers) ।

(२) व्यापारिक बेंक (Commercial Banks)

(३) विनिमय बेंक (Exchange Banks)

(४) स्टेट बेंक ऑफ इण्डिया (State Bank of India)

(५) रिजर्व बेंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India)

(६) अन्य बेंकिंग संस्थाएँ—(अ) सहकारी बेंक (Co-operative Banks) (आ) भूमि बन्धक बेंक (Land Mortgage Banks), (इ) औद्योगिक बेंक (Industrial Banks), (ई) डाकघर के बचत बेंक (Postal Savings Banks) आदि

(१) देशी बेंकर (Indigenous Bankers)

परिचय—भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही रुपये के लेन-देन का कार्य चला आ रहा है। वैदिक युग में भारतवर्ष की देशी प्रथा की बेंकिंग प्रणाली सुचारु रूप से चलती थी। मनु की 'मनुस्मृति' तथा चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' में रुपये उधार देने व लेने तथा एक देश की मुद्राओं को दूसरे देश की मुद्राओं में परिवर्तित करने का उल्लेख मिलता है। इस्लामी शासन के समय इस प्रथा को कुछ ठेस लगी थी, किन्तु फिर भी सेठों का बेंकिंग कार्य उन्नति पर था। राणा प्रताप के इतिहास में भामाशाह का नाम देशी बेंकरों की नामावली में सदा अमर रहेगा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में सेठ अमीचन्द, जगत सेठ आदि नाम इस बात के प्रमाण हैं कि देश में बेंकिंग कार्य उन्नति पर था। इससे यह पता चलता है कि प्राचीन भारत में बेंकिंग कार्य बड़ी उन्नत दशा में था।

देशी बेंकरों के विविध नाम—देशी बेंकर देश के विभिन्न भागों में विभिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। उत्तर प्रदेश और राजस्थान में ये महाजन, बनिया, कोठी वाले, सेठ-साहूकार तथा बोहरे आदि के नाम से पुकारे जाते हैं। बम्बई में मारवाड़ी, मुल्तानी व सर्राफ कहलाते हैं। पंजाब के खत्री और अरोरा भी यही काम करते हैं। बंगाल में ये सेठ, बनिया व निधि के नाम से प्रसिद्ध हैं। मद्रास में इन्हें चेट्टी और गुजरात व सिंध में इन्हें देहरी तथा मुल्तानी कहते हैं। शहरों में ये प्रायः सर्राफ कहलाते हैं और ग्रामों में महाजन, सेठ, साहूकार। पहले गाँवों और कस्बों में पठान और काबुली भी यह धन्धा करते हुए दृष्टिगोचर होते थे परन्तु आजकल ऐसा देखने में नहीं आता।

देशी बेंकर तथा साहूकार व महाजन आदि का अन्तर
(Difference between Indigenous Banker & Money Lender)

(१) देशी बेंकर प्रायः रुपया भी जमा करते हैं तथा हुण्डियों का लेन-देन भी करते हैं, परन्तु साहूकार इस प्रकार का बेंकिंग-कार्य बहुत कम करते हैं।

(२) देशी बेंकर व्यापार व उद्योग को अर्थ-सहायता देते हैं, परन्तु महाजन व साहूकार लोग विशेषतया देहातों व कस्बों में उपभोग के लिये ऋण देते हैं।

(३) देशी बेंकर ऋण देते समय इस बात का अधिक ध्यान रखते हैं कि ऋण किस कार्य के लिये लिया जा रहा है, किन्तु महाजन इस बात की पूछ-ताछ बहुत कम करते हैं।

(४) देशी बेंकर महाजनों व साहूकारों की अपेक्षा ब्याज भी कम लेते हैं।

देशी बैंकरों के कार्य (Functions)—(१) देशी बैंकरों का मुख्य कार्य रुपया उधार देना है। वे जेवर व जमीन गिरवी रख कर, प्रॉमिसरी नोट तथा कभी-कभी मौखिक वायदों पर रुपया उधार देते हैं। गाँवों में निर्धन किसानों और छोटे-छोटे कारीगरों को जमानत के अभाव में उनकी वैयक्तिक साख पर भी वे रुपया उधार देते हैं। प्रायः इन्हें अधिक जोखिम उठानी पड़ती है, इसलिये इनकी ब्याज-दर भी ऊँची होती है। (२) वे हुण्डियों के क्रय-विक्रय का काम करते हैं तथा हुण्डियों के साख पर अन्य बैंकों से भी उधार लेते हैं। ये लोग हुण्डियों द्वारा देश के भीतरी व्यापार को सहायता प्रदान करते हैं। (३) वे आन्तरिक व्यापार को अर्थ-सहायता देते हैं। देशी बैंकर खेती की वस्तुओं के व्यापार में बहुत अर्थ-सहायता देते हैं। वे कच्चे आढ़तिया का काम करते हैं तथा किसानों को ऋण इस शर्त पर देते हैं कि वे अपनी समस्त उपज उन्हीं के द्वारा बेचेंगे। (४) रुपये के लेन-देन के अतिरिक्त वे व्यापारी भी करते हैं। वे माल खरीदते और बेचते हैं। इसलिये बैंक सम्बन्धी कार्यों के साथ-साथ व्यापार करना भी इनका कार्य है। (५) उनमें से कुछ रुपये भी जमा करते हैं और उस पर थोड़ा ब्याज भी देते हैं, किन्तु अधिकांश ऐसा नहीं करते। (६) वे लोग सट्टा भी खेलते हैं। वे लोग सोने चाँदी, कपास, अनाज और कम्पनियों के शेयरों को बेचने का सट्टा भी करते हैं।

देशी महाजनों व साहूकारों को यद्यपि हम बैंकर कह कर पुकारते हैं, परन्तु वे पूर्णरूप से बैंकर नहीं कहे जा सकते। एक बैंकर का कार्य रुपया उधार लेना व देना दोनों हैं, जबकि भारतीय साहूकार व महाजन प्रायः रुपया उधार ही देते हैं उधार लेते नहीं। अस्तु, बैंकर के बजाय ऋणदाता (Money Lenders) या अर्थ-प्रबन्धक कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा।

देशी बैंकरों और आधुनिक बैंकों में भेद
(Difference between Indigenous Bankers & Modern Banks)

देशी बैंकर	आधुनिक बैंक
(१) देशी बैंकरों की फर्मों का संगठन प्रायः पारिवारिक व्यवसाय के सिद्धान्त पर आधारित होता है।	(१) आधुनिक बैंक निश्चित पूँजी वाली कम्पनियों के सिद्धान्त पर संगठित किये जाते हैं।
(२) इनमें से बहुत थोड़े बैंकर दूसरों का रुपया जमा करते हैं। वे अपनी ही पूँजी से काम करते हैं।	(२) रुपया जमा करना इनका मुख्य कार्य होता है। अपनी पूँजी से यह रुपया कई गुना अधिक होता है।
(३) इनमें से जो कोई भी रुपया जमा करते हैं वे रुपया जमा करने की रसीद नहीं देते, बल्कि अपने बहीखातों में उसका जमा-खर्च कर लेते हैं।	(३) ये बिना रसीद के किसी प्रकार का रुपया जमा नहीं करते।

(४) इनमें से रुपया रोकड़ राशि के रूप में निकाला जाता है।	(४) इनमें से रुपया चैक द्वारा निकाला जाता है।
(५) ये रुपया उधार प्राय: उत्पादक तथा अनुत्पादक दोनों प्रकार के कार्यों के लिये देते हैं।	(५) इनके द्वारा ऋण केवल उत्पादक कार्यों के लिये ही दिया जाता है।
(६) देशी बैंकर प्राय: बैंकिंग के साथ-साथ व्यापार और सट्टा भी करते हैं।	(६) आधुनिक बैंक बैंकिंग के साथ और कोई दूसरा व्यापार नहीं करते।
(७) देशी बैंकरों की रजिस्ट्री किसी *कानून के अन्तर्गत नहीं होती और* न उनके कार्य कानून द्वारा नियन्त्रित होते हैं।	(७) संयुक्त पूँजी वाले बैंकों की *रजिस्ट्री पहले कम्पनी कानून के* अन्तर्गत होती थी, परन्तु सन् १९४९ में अलग बैंकिंग कानून पास हो जाने के बाद उसके अन्तर्गत बैंकों की रजिस्ट्री होती है।
(८) देशी बैंकर अधिकांश रुपया बिना उपयुक्त जमानत के उधार देते हैं। अत: उनको बहुत जोखिम उठानी पड़ती है।	(८) आधुनिक बैंक उचित जमानत पर ही ऋण देते हैं। अत: इन्हें बहुत कम जोखिम उठानी पड़ती है।
(९) इनका अधिकतर कार्य-क्षेत्र गाँवों और कस्बों में होता है।	(९) इनका कार्य-क्षेत्र बड़े-बड़े नगरों और औद्योगिक केन्द्रों में होता है।
(१०) इनकी संख्या बहुत अधिक है और ये देश के कोने-कोने में व्याप्त होते हैं।	(१०) ये संख्या में इतने अधिक नहीं हैं और इनका प्रसार भी अधिक नहीं है।
(११) इनको पत्र-मुद्रा जारी करने का कोई अधिकार नहीं होता है।	(११) प्रत्येक देश में वहाँ के केन्द्रीय बैंक को पत्र मुद्रा जारी करने का अधिकार होता है।
(१२) इनकी शाखाएँ नहीं होती। यदि हुई तो थोड़ी संख्या में होती है।	(१२) इनकी शाखाएँ बहुत अधिक होती हैं।
(१३) देशी बैंकर अपने हिसाब-किताब की न तो नियमित रूप से जाँच (Audit) करवाते हैं और न उसका प्रकाशन ही करते हैं।	(१३) संयुक्त पूँजी वाले आधुनिक बैंकों को अपने हिसाब किताब की जाँच किसी रजिस्टर्ड ऑडीटर से करानी पड़ती है तथा उसका प्रकाशन उन्हें अनिवार्य रूप से करना पड़ता है।
(१४) इनकी ब्याज दर ऊँची होती है।	(१४) इनकी ब्याज दर निश्चित और कम होती है।

(१५) ये मकान आदि अचल सम्पत्ति को गिरवी रखकर दीर्घकाल के लिये रुपया उधार देते हैं।	(१५) ये अधिकतर तरल सम्पत्ति अर्थात् ऐसी सम्पत्ति जिसका पूरा रुपया तुरन्त प्राप्त किया जा सके गिरवी रखकर अल्पकाल के लिये रुपया उधार देते हैं।
(१६) ये विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध (Finance) नहीं करते और न विदेशी बिलों को डिस्काउन्ट करते हैं।	(१६) आधुनिक व्यापारिक बैंक विदेशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्धन करते हैं तथा विदेशी बिलों को डिस्काउन्ट भी करते हैं।
(१७) ये छोटे किसान, छोटे शिल्पकारों तथा साधारण व्यापारियों को ऋण देते हैं।	(१७) ये बड़ी-बड़ी कम्पनियों और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये अर्थ-प्रबन्ध करते हैं।
(१८) देशी बैंकरों का कार्य सीधा-सादा पुराने ढंग से होता है जिसको प्रत्येक व्यक्ति सरलता से समझ सकता है। आवश्यकतानुसार एक या दो मुनीम इस कार्य के लिये रख लिये जाते हैं जिससे कार्य-संचालन में बड़ी मितव्ययता होती है।	(१८) आधुनिक बैंकों का कार्यालय बड़ा होता है जिसमें अनेक कर्मचारी काम करते हैं। इनके कार्य को समझने के लिये विशेष ज्ञान तथा अनुभव की आवश्यकता होती है। इनका कार्य खर्चीला होता है।
(१९) देशी बैंकरों के कार्यालय में आधुनिक फर्नीचर का अभाव होता है तथा प्रायः गद्दे तकिये ही काम में लाये जाते हैं। उनके काम करने के घण्टे निश्चित नहीं होते। ये दिन-रात किसी भी समय ऋण दे देते हैं।	(१९) आधुनिक बैंकों के कार्यालय आधुनिक फर्नीचर से सुसज्जित होते हैं। इनके काम करने के घंटे निश्चित होते हैं।
(२०) ये देश के केन्द्रीय बैंक अर्थात् रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की देख-रेख में काम नहीं करते बल्कि ये अपने कार्य-संचालन में स्वतन्त्र हैं। रिजर्व बैंक उन्हें कोई लाभ प्रदान नहीं करता है।	(२०) आधुनिक बैंकों को रिजर्व बैंक से सम्बन्ध स्थापित कर उसकी देख-रेख में काम करना पड़ता है। जिससे उन्हें उससे कतिपय लाभ भी प्राप्त होते हैं।

देशी बैंकरों तथा साहूकारों का महत्त्व (गुण)—देशी बैंकर तथा साहूकार या महाजन भारतीय आर्थिक संगठन के आधार हैं। इनकी संख्या लगभग ३ लाख है जो देश में सर्वत्र स्थित हैं। ये देश के कुल व्यापार के एक बहुत बड़े भाग को आर्थिक सहायता पहुँचाते हैं। व्यापार के अतिरिक्त खेती तथा छोटे-छोटे उद्योगों को भी उनके द्वारा पर्याप्त सहायता मिलती है। गाँवों में बैंक न होने के कारण खेती तथा छोटे-छोटे उद्योगों की आर्थिक सहायता केवल एकमात्र साधन महाजन लोग

हैं। यदि आज उनको गाँवों में से हटा दिया जाये, तो खेती और उद्योग-धन्धे बिल्कुल चौपट हो जायें। ग्रामीण साहूकार और देशी बैंकर ग्रामीण आर्थिक संगठन के परमावश्यक अंग हैं। वे किसान को संकट-काल में, जन्म, मृत्यु, विवाह आदि अवसरों पर, बैल तथा खेती के उपकरण खरीदने के लिए बिना पर्याप्त साख व जमानत के पूँजी का प्रबन्ध करते हैं, उसकी फसल की बिक्री करते हैं, और उसके लिये आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करते हैं। इस प्रकार ग्रामीण महाजन भारतीय कृषक का मित्र, सलाहकार तथा पथ-प्रदर्शक होता है। यही नहीं, कस्बों और नगरों में देशी बैंकर छोटे छोटे शिल्पकारों तथा कुटीर धन्धों को पूँजी देते हैं, उनको कच्चा माल बेचते हैं और उनके तैयार माल की बिक्री करते हैं। उनमें से बहुत से जमा भी करते हैं, हुण्डियाँ भी सिकारते हैं और व्यापार के लिये भी पूँजी उधार देते हैं। ग्रामीण ऋण की रकम १२०० करोड़ रुपया के लगभग है और उनको आर्थिक सहायता देने वाली सहकारी साख समितियों की कुल पूँजी ३३ करोड़ रुपए है, तो ऐसी परिस्थिति में ग्रामीण साहूकार के लोप की बात सोचना असंगति सिद्ध होती है।

इनके अतिरिक्त देशी बैंकरों की कार्य-प्रणाली इतनी सरल तथा बोधगम्य है कि अपढ़ व्यक्ति भी उसे सुगमता से समझ लेते हैं। उनका व्यवसाय भी घरेलू होता है और वे अपर्याप्त जमानत पर या बिना जमानत के भी ऋण दे देते हैं। आवश्यकता पड़ने पर ऋण किसी भी समय दिया जा सकता है। आधुनिक बैंकों की भाँति अधिक कागजी कार्यवाही नहीं की जाती। अतः ग्रामीण जनता के लिये इनकी उपयोगिता अत्यधिक है और ये ही उसके अर्थ-प्रबन्धन के एकमात्र साधन हैं। ग्राम बैंकिंग जाँच कमेटी १९५० (Rural Banking Enquiry Committee) ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि देशी बैंकर तथा महाजन गाँव में साख प्रदान करने में एक बहुत महत्वपूर्ण भाग रखते हैं।

उनके दोष—देशी बैंकरों तथा साहूकारों का इतना महत्व होते हुए भी उनके दोषों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। (१) देशी बैंकर एवं साहूकार अपनी सेवाओं के लिये जो मूल्य वसूल करते हैं वह अत्यधिक और असह्य है। २४%, ३६%, ४८% वार्षिक तो ब्याज की साधारण दर है। ३००%, ४००% वार्षिक ब्याज भी वसूल किया जाता है। (२) वे लिखा-पढ़ी में भी बेईमानी कर लेते हैं। १०० रु० देकर २०० रु० का रुक्का लिखवाना तो साधारण कार्य है। प्रायः ऋणी का दिया हुआ रुपया उसके खाते में जमा नहीं किया जाता और उसके ऊपर नालिश करके अनुचित और अन्याय-पूर्ण वसूली की जाती है। ऋण देते समय प्रायः एक मास का ब्याज और इकन्नी और दुअन्नी कसर की रकम तो मूल में से काट ली जाती है। ऋणिया के अंगूठा लगवाकर अधिक रकम लिख लेना, खाता खुलाई, नजराना, बेगार लेना आदि बुराइयों के कारण वे बड़े बदनाम हैं। इस प्रकार महाजन किसानों का बुरी तरह शोषण करते हैं। किसानों को अधिक ऋण देकर वे उन्हें आजन्म दास बना लेते हैं। ऋण मिलने का अन्य साधनों के अभाव में किसान हार मानकर वहीं जाता है। कुछ स्थानों में सहकारी बैंक भी खुल गये हैं, परन्तु वहाँ पर इतनी अधिक लिखा पढ़ी होती है और रुपया मिलने में इतनी कठिनाई होती है कि किसान को गाँव के महाजन से ही रुपया उधार लेना अच्छा जान पड़ता है। (३) उपभोग करने के लिये भी वे रुपया उधार देते हैं जिससे लोगों में मितव्ययता नहीं हो पाती। (४) रुपये उधार देने तथा जमा करने के अतिरिक्त वे व्यापार भी करते हैं और लेन-देन की पूँजी तथा व्यापार की रकम को पृथक नहीं

रखते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि व्यापार में अचानक परिवर्तन से वे संकट-ग्रस्त हो जाते हैं। (५) वे अपना हिसाब न तो भली-भाँति लिखते हैं और न ही प्रामाणिक ऑडीटर से उसकी जाँच कराते हैं। व अपना चिट्ठा (Balance Sheet) प्रकाशित नहीं करते हैं, अतएव उनकी वास्तविक आर्थिक स्थिति का पता नहीं लगता है। इससे उनको केन्द्रीय बैंक भी सहायता नहीं दे सकता तथा उनकी हुण्डियाँ, चैक आदि भुनाने में बड़ी कठिनाई होती है। उनकी आर्थिक स्थिति से अपरिचित होने के कारण जनता उनके पास रुपया जमा करने में भी संकोच करती है।

देशी बैंकरों तथा साहूकारों के सुधार के सुझाव—देशी बैंकिंग तथा साहूकारी प्रथा में बहुत से दोष हैं। फिर भी बिना किसी दूसरी व्यवस्था के इनका अन्त कर देने से भारतीय कृषि तथा कुटीर उद्योगों को बड़ी आर्थिक हानि पहुँचेगी। इसलिये इनकी कार्यप्रणाली में सुधार करना ही लाभदायक सिद्ध होगा। यह निम्नलिखित सुझावों द्वारा किया जा सकता है।—

(१) देशी बैंकरों तथा महाजनों व साहूकारों को जमा पर रुपये प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहन मिलना चाहिए, जिससे उनकी पूँजी में वृद्धि हो और लोगों में संचय-शीलता की आदत पड़े।

(२) उन्हें समझाकर तथा कानून द्वारा उचित ब्याज दर लेने के लिये बाध्य किया जाय। सहकारी साख समितियों की संख्या में वृद्धि करने से ब्याज की दर घट सकेगी। कई राज्यों में ऐसे कानून पास हो चुके हैं जो प्रत्यक्षतः इन दरों का नियन्त्रण करते हैं।

(३) देशी बैंकरों तथा महाजनों को समुचित ढङ्ग से नियमित हिसाब रखने के लिये बाध्य किया जाय और प्रामाणिक ऑडीटरों से उनकी जाँच कराई जाय।

(४) उन्हें व्यापारिक कारोबार को महाजनी कार्यों से अलग करने के लिये बाध्य किया जाय।

(५) उन्हें बिल तथा हुंडियाँ सकारने के कार्य में प्रोत्साहित किया जाय और सट्टेबाजी तथा विभिन्न व्यापार करने से रोका जाय।

(६) देशी बैंकरों को अपना चिट्ठा और लाभ हानि लेखा प्रकाशित करने के लिये प्रोत्साहन दिया जाय जिससे जनता का विश्वास बढ़े और लोग अपना धन उनके पास जमा कर सकें।

(७) उनका रिजर्व बैंक से सम्बन्ध होना चाहिए। जिन स्थानों में बैंकिंग सेवाएँ उपलब्ध नहीं हैं, वहाँ इन्हें रिजर्व बैंक के एजेन्ट का कार्य सौंपना चाहिए।

(८) रिजर्व बैंक की स्वीकृत तालिका में उनका नाम होना चाहिए जिससे सदस्य या अनुसूचित बैंकों (Scheduled Banks) की भाँति उन्हें भी सदस्य बैंक समझा जायें तथा हुँडियों की पुनर्कटौती व अन्य बैंकिंग सुविधाएँ दी जायें। इसके लिये उन्हें कुछ शर्तों का पालन करना पड़ता है तथा रिजर्व बैंक के पास एक न्यूनतम निश्चित राशि जमा करानी पड़ती है।

(९) समस्त व्यापारिक बैंक जिनमें स्टेट बैंक भी सम्मिलित है, इनकी हुँडियों को स्वतन्त्रतापूर्वक भुनावें।

(१०) रिजर्व बैंक व स्टेट बैंक को चाहिए कि उन्हें मुद्रा भेजने की वे समस्त सुविधाएँ दी जायें जो अन्य बैंकों को दी जाती हैं।

(११) देशी बैंकरों को चाहिए कि वे अपने आपको संयुक्त पूँजी वाले बैंकों या सहकारी बैंकों में संगठित कर लें जिससे वे हुण्डी का लेन-देन कर सकें और आवश्यकता पड़ने पर रिजर्व बैंक से भी सहायता प्राप्त कर सकें।

(१२) जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिये उन्हें आधुनिक ढंग से कार्य करना चाहिए। सरकार को भी चाहिए कि उन्हें प्रोत्साहन दें।

(१३) इनमें से अनुज्ञापन-बद्ध (Licensed) बैंकरों के एक वर्ग का निर्माण होना चाहिए।

(१४) बैंकों का एक अखिल भारतीय ऐसोसियेशन होना चाहिए जिसमें स्वीकृत देशी बैंकरों को भी सदस्य बनाया जाय।

(१५) जर्मनी के बैंकों के कोमण्डिट (Commandit) सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए। इस प्रणाली के अन्तर्गत जो अंशधारी बैंक के व्यवस्थापक होते हैं, उनका दायित्व असीमित होना चाहिए।

रिजर्व बैंक व देशी बैंकर—केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिये रिजर्व बैंक ने सन् १९३७ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसका ध्येय देशी बैंकरों को रिजर्व बैंक से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित करने का था। देशी बैंकरों ने इन सुझावों का साधारणतया स्वागत नहीं किया। बहुत कम ऐसे थे जो निर्धारित फार्मों के अनुसार अपने खाते तैयार करें तथा अपनी आय को बैंकिंग कार्य तक ही सीमित रखें, यद्यपि वे इस बात पर राजी थे कि वे सट्टेबाजी का व्यापार नहीं करेंगे। व्यावहारिक रूप से सभी बैंकर जमा व खातों के प्रकाशन की शर्तों पर सहमत नहीं हुए। सबसे प्रमुख कठिनाई यह थी कि वे बैंकिंग कार्यों के अतिरिक्त अन्य व्यापार को छोड़ना नहीं चाहते थे। इसके अतिरिक्त, मुल्तानी, गुजराती व मारवाड़ी सर्राफों ने, जो कि उस समय अधिकतर हुंडियों का व्यवसाय करते थे, इस विषय में कोई ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उन्हें इम्पीरियल बैंक तथा अन्य व्यापारिक बैंकों से पर्याप्त सहायता मिल जाती थी।

रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् भी देशी बैंकरों को रिजर्व बैंक से सम्बन्धित करने के प्रयत्न किये गये। जुलाई सन् १९५१ में देश के समस्त देशी बैंकरों को संगठित करने व शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से अखिल भारतीय सर्राफ सम्मेलन किया गया। रिजर्व बैंक भी ग्रामीण साख-व्यवस्था की पूर्ण जाँच कर रहा है।

(२) व्यापारिक बैंक (Commercial Banks)

परिचय—भारतवर्ष में अधिकांश आधुनिक बैंक व्यापारिक बैंक हैं। ये सभी संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों (Joint Stock Companies) के सिद्धान्तों पर स्थापित होते हैं। इनका रजिस्ट्रेशन पहले ज्वाइंट स्टॉक कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत होता था, परन्तु १६ मार्च सन् १९४९ में जबकि पृथक् बैंकिंग एक्ट पास हो गया, बैंकिंग ऐक्ट के अन्तर्गत होने लगा। आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का प्रारम्भ १८ वीं शताब्दी में एजेन्सी हाउसेज (Agency Houses) से हुआ। परन्तु भारतवर्ष में आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का वास्तविक प्रारम्भ सन् १८८१ ई० में ही समझना चाहिये जबकि अवध कॉमर्शियल बैंक (Oudh Commercial Bank) की स्थापना हुई। सन् १९०५ में विदेशी आन्दोलन

से भारतीय बैंकों को बड़ा प्रोत्साहन मिला और अनेकों बैंक स्थापित हुए। सन् १९३३ तक इस प्रकार के बैंकों का संकट काल प्रारम्भ हो गया था। प्रथम महायुद्ध के कारण बैंकों की संख्या में पुनः वृद्धि हुई, परन्तु युद्ध समाप्त होते ही फिर बैंकों का बन्द होना प्रारम्भ हो गया। सन् १९२९ के आर्थिक संकट के कारण अनेकों बैंकों ने काम स्थगित कर दिया। सन् १९३१ से १९३६ के बीच लगभग २४० बैंक बन्द हो गये। सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध के छिड़ जाने से बैंकों की स्थिति में सुधार हुआ और कई नये बैंक भी खुले।

गत वर्षों में बैंकों के असफल (फेल) होने के कारण—(१) कानून की शिथिलता, जनता की अज्ञानता, और प्रबन्ध की दुर्व्यवस्था, (२) अनुभवी एवं ईमानदार कर्मचारियों का अभाव, (३) हिसाब-किताब में गोलमाल, (४) सट्टेबाजी (५) दीर्घ कालीन ऋणों में पूँजी को फँसाना, (६) पूँजी की कमी, (७) अपर्याप्त सुरक्षित कोष, (८) प्रतिकूल जनमत, (९) केन्द्रीय बैंक की आर्थिक सहायता का अभाव, (१०) विदेशी बैंकों की प्रतिस्पर्धा।

सफलतापूर्वक कार्य करने वाले कुछ आधुनिक व्यापारिक बैंक—आज कल निम्नांकित बड़े बैंक भारत में सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं—(१) स्टेट बैंक, (२) सैन्ट्रल बैंक लि०, (३) पंजाब नेशनल बैंक, (४) इलाहाबाद बैंक, (५) बड़ौदा बैंक, (६) बैंक ऑफ इण्डिया, (७) मैसूर बैंक, (८) युनाइटेड कॉमर्शियल बैंक, (९) बैंक ऑफ जयपुर आदि। इलाहाबाद बैंक का प्रबन्ध विदेशियों के हाथ में है, क्योंकि पी० एण्ड ओ० बैंकिंग कॉरपोरेशन ने इसे खरीद लिया, और शेष सब बैंक स्वदेशी हैं। सन् १९२२ में सदस्य एवं असदस्य बैंकों की संख्या ५१७ और उनकी शाखाएँ ३,९०० थीं।

अधिक व्यापारिक अथवा संयुक्त पूँजी वाले बैंकों की आवश्यकता—आधुनिक बैंकों का देश में अभी इतना प्रचार नहीं हुआ जितना होना चाहिये। देश की जनसंख्या तथा क्षेत्रफल की दृष्टि से इन बैंकों की संख्या बहुत कम है। भारत में लगभग ढाई लाख मनुष्यों के पीछे एक बैंक है जबकि इङ्गलैंड में चार हजार मनुष्यों के पीछे एक है। इसके अतिरिक्त, ये बैंक शहरों तथा व्यापारिक केन्द्रों में ही अधिकतर स्थित हैं, ग्रामीण क्षेत्र अभी व्यापारिक बैंकों की सेवाओं से वंचित हैं। अतः देश के व्यापार और उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन देने के लिये यह आवश्यक है कि बैंकों का विस्तार अधिकाधिक किया जाय।

व्यापारिक बैंकों के कार्य—इनके मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—(१) आधुनिक बैंक स्थायी जमा खाते (Fixed Deposit A/cs), चालू खाते (Current A/cs), बचत खाते (Savings Bank A/cs), तथा घरेलू बचत खाते (Home Safe A/cs) में जनता का रुपया जमा करते हैं। (२) वे व्यापारियों, उद्योगपतियों आदि को थोड़े समय के लिये आसानी से बिक जाने वाली जमानत, जैसे—शेयर्स, सोना, चाँदी, जेवर आदि के आधार पर या देशी बिल, हुण्डी की जमानत पर रुपया उधार देते हैं। उद्योगों की कार्यशील पूँजी (Working Capital) का प्रबन्ध भी करते हैं। वे अपनी अल्पकालीन जमा की गई पूँजी को दीर्घकालीन ऋण में नहीं फँसाते, क्योंकि वे अपने धन को अधिकतर तरल (Liquid) अर्थात् नकदी में शीघ्र परिवर्तनीय

अवस्था में रखते हैं ताकि वे माँगने पर अपने ऋणदाताओं को तत्काल रुपया दे सकें। साधारणतया वे कृषि की आर्थिक सहायता के लिये रुपया नहीं देते। (३) वे देश के भीतरी व्यापार के लिए अर्थ-प्रबन्धन करते हैं। वे व्यापारिक बिल तथा हुण्डियाँ भुनाते हैं। (४) वे यात्रा के लिए साख-पत्र आदि जारी करते हैं। (५) वे एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजते हैं, तथा अपने ग्राहकों की आय वसूल करते हैं, तथा उनका व्यय चुकाते हैं। (६) वे अपने ग्राहकों के चैक, हुण्डी बिल आदि का रुपया इकट्ठा करते हैं। (७) वे अपने ग्राहकों की ओर से कमीशन पर शेयर्स या अन्य सिक्योरिटियाँ खरीदते और बेचते हैं। (८ वे अपने ग्राहकों के जेवर, दस्तावेज तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को अत्यन्त सुरक्षित रखते हैं। (९) वे अपने ग्राहकों को अन्य व्यापारियों की आर्थिक दशा का ज्ञान प्राप्त कराने में सहायता देते हैं तथा अपने ग्राहकों की आर्थिक दशा का ज्ञान भी दूसरों को कराते हैं। (१०) वे ट्रस्टीज (Trustees), अटर्नी (Attorney) तथा एक्जीक्यूटर्स (Executors) आदि की भाँति भी अपने ग्राहकों के लिये कार्य करते हैं।

व्यापारिक बेंकों की कमियाँ और इनको दूर करने के उपाय—भारतीय व्यापारिक बैंकों के संगठन और कार्य प्रणाली में अनेक त्रुटियाँ हैं, जिनका दूर होना परमावश्यक है (१) बहुत से बैंकों की प्रदत्त पूँजी बहुत थोड़ी होती है। इनके धन संचालक लोग अपने व्यक्तिगत व्यवसायों में लगा देते हैं, और ग्राहकों को बैंक की वास्तविक स्थिति से अन्धकार में रखते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि इनमें से बहुत से बैंक फेल हो जाते हैं। (२) हमारे देश में व्यक्तिगत साख पर बैंक उधार नहीं देते हैं। ऊँची साख वाले व्यक्तियों को व्यक्तिगत साख पर अवश्य उधार मिलना चाहिये। इस कार्य को अधिक विस्तृत करने के लिए भारत में इङ्गलैंड की सियेड्स (Syed's), तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की डन्स (Dun's) और ब्रैड स्ट्रीट (Brad Street) जैसी व्यापारियों की आर्थिक स्थिति की सूचना देने वाली संस्थाओं की स्थापना होनी चाहिए। (३) भारत में स्थित आधुनिक बैंक भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल सङ्गठित नहीं हैं बल्कि वे विदेशी बैंकों की नकलमात्र हैं। अतः यह आवश्यक है कि बैंकों का संगठन भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल हो जिससे अधिक लाभ पहुँच सके। (४) भारतीय बैंकों का बिल डिस्काउन्ट की ओर कम ध्यान है। इस उदासीनता के कारण भारत में बिल-बाजार विकसित नहीं है। अतः इन बैंकों द्वारा अधिकाधिक बिल डिस्काउन्टिंग की सुविधा दी जानी चाहिए जिससे बिल अधिक लोकप्रिय बन सकें। (५) भारतीय बैंकों के प्रबन्धक संचालक तथा अन्य अधिकारीगण प्रायः योग्य, अनुभवी, ईमानदार तथा बुद्धिमान नहीं हैं जिससे बैंकों में जनता का विश्वास कम है। इसलिये जनता का बैंकों में दृढ़ विश्वास कायम रखने के लिये योग्य, कुशल एवं ईमानदार संचालन की आवश्यकता है। (६) प्रथम महायुद्ध के पूर्व तथा उपरान्त के वर्षों में अनेक भारतीय बैंक फेल हुए, जिसके कारण जनता का बैंकों के प्रति विश्वास हट गया। द्वितीय महायुद्ध तथा युद्धोत्तर काल में बैंकों की संस्थाओं तथा उनकी जमाओं में वृद्धि हुई, उससे जनता का विश्वास फिर से बैंकों में जम गया मालूम होता है। (७) ये बैंक अधिकतर नगरों तथा बड़े कस्बों में ही स्थित हैं, ग्रामीण क्षेत्र इनसे वंचित है। इसलिये देश के प्रत्येक कोने में इनका प्रसार होना आवश्यक है। भारतीय ग्रामीण बैंकिंग जाँच कमेटी १९३० की सिफारिशों के अनुसार इन्हें ग्रामीण जनता में भी बैंकिंग पद्धति के प्रति जागृति पैदा करनी चाहिये ताकि ग्रामों में बेकार पड़ी हुई एक विशाल धन-राशि राष्ट्र के नव निर्माण में काम आ सके। इम्पू रिजर्व बैंक के कृषि-साख

विभाग की सहायता से ग्रामों में नई-नई शाखाएँ स्थापित करनी चाहिये। (८) बैंकों में आपस में प्रतियोगिता है, जिसके कारण वे लाभ का एक बड़ा भाग लाभांश अर्थात् डिविडेण्ड के रूप में बाँट देते हैं। बैंकों की प्रतियोगिता को कम करने के लिये केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी तथा विदेशी विशेषज्ञों ने यह सुझाव दिया कि इस देश में 'एक अखिल भारतीय बैंक संघ' होना चाहिये जोकि प्रतियोगिता को कम करने का प्रयत्न करे। (९) भारत में अचल सम्पत्ति के कुछ ऐसे नियम बने हुए हैं जिनके कारण व्यापारिक बैंक उनमें अपना रुपया नहीं लगा सकते। अतः भारत सरकार को हिन्दू तथा मुसलमानों के पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकार-सम्बन्धी कानून की जटिलता को दूर करना चाहिये तथा अचल सम्पत्ति के हस्तान्तरण सम्बन्धी नियमों में सुधार करना चाहिये ताकि बैंक इनके आधार पर ऋण दे सकें। (१०) भारत के बैंकों की विशेष प्रगति न होने का एक मुख्य कारण यह भी है कि ये बैंक अपना समस्त कार्य अँग्रेजी भाषा में करते हैं। उनके चैक, बिल, साख-पत्र, रसीदें तथा हिसाब अँग्रेजी भाषा में होते हैं, जिन्हें साधारण भारतीय समझ नहीं पाते हैं। अतः इन्हें अँग्रेजी के स्थान पर अधिकतर हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में कार्य करना चाहिये। (११) इनका संचालन-व्यय बहुत अधिक होता है, क्योंकि यह स्टेट बैंक जैसा बढ़िया फर्नीचर तथा अन्य सामान रखते हैं। अतः इन्हें अपने कार्य में बहुत मितव्ययता से काम लेना चाहिये। (१२) लोगों में बैंकिंग-आदतें नहीं हैं। बहुत कम लोग चैक का उपयोग करते हैं। लोगों में रुपया जोड़कर जमीन के भीतर गाड़ने की या जेवर में लगाने की बड़ी प्रवृत्ति है। अतः बैंकों को चाहिये कि वे अपनी सेवाओं को अधिक आकर्षित बना कर तथा लोगों को अधिक सुविधाएँ देकर उनमें बैंकिंग आदतें पैदा करें। (१३) भारतीय बैंकों को स्टेट बैंक से प्रतियोगिता करनी पड़ती है। इनकी तुलना में स्टेट बैंक की स्थिति कहीं अधिक शक्तिशाली है, क्योंकि इसमें सरकारी एवं अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं की रकमें बिना ब्याज के जमा रहती हैं। अतः सरकारी एवं अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं को चाहिये कि वे व्यापारिक बैंकों को भी अपनावें। (१४) भारतीय नये बैंकों को निकास गृह (Clearing House) के सदस्य बनने में बड़ी कठिनाई होती है, क्योंकि इन निकास-गृहों पर विदेशी बैंकों का बहुत प्रभाव है और वे इन नये बैंकों को उसका सदस्य बनने में बहुत अड़चन डालते हैं। परन्तु रिजर्व बैंक के संरक्षण में यह कठिनाई भी अब धीरे-धीरे दूर हो जावेगी। (१५) सरकार को चाहिये कि वे व्यापारिक बैंकों के साथ भी उसी प्रकार की नर्म नीति का व्यवहार करें जिस प्रकार कि वे सहकारी बैंकों के साथ करती है। (१६) विदेशी विनिमय बैंकों की प्रतिद्वन्द्विता भी आधुनिक व्यापारिक बैंकों की उन्नति में रुकावट है। इनका कार्य बन्दरगाहों तक ही सीमित होना चाहिये और इनके द्वारा किये जाने वाले भीतरी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। जनता में इस बात का प्रचार किया जाये कि वह भारतीय बैंकों को अपनाये। (१७) भारत का अधिकतर व्यापार विदेशियों के हाथ में रहने के कारण भारतीय व्यापारिक बैंकों को अधिक कार्य नहीं मिलता था, क्योंकि लोग विदेशी बैंकों से अपना सम्बन्ध रखते थे, जिससे उन्हें विदेशी बैंकों, बीमा कम्पनियों, दलालों तथा जहाजी कम्पनियों से विशेष सुविधायें मिलती थीं। अब हमारी राष्ट्रीय सरकार को ये सब बातें देखनी चाहिये। (१८) अच्छे माल गोदामों के अभाव में बैंकों को माल के ऊपर ऋण देने में कठिनाई होती है। अतः माल गोदामों की सुविधाओं के विकास के लिये एक वेयरहाउसिंग विकास मण्डल (Warehousing Development Board) स्थापित किया जाय जिसमें केन्द्रीय सरकार, राज्य

सरकार व रिजर्व बैंक पूँजी लगावें। भारत में बिल बाजार की स्थापना व विकास के लिए यह आवश्यक है।

रिजर्व बैंक तथा व्यापारिक बैंकों का सम्बन्ध—इन बैंकों का सम्बन्ध रिजर्व बैंक ऐक्ट १९३४ तथा भारतीय बैंकिंग ऐक्ट १९४९ द्वारा निर्धारित होता है। इनके अनुसार व्यापारिक बैंक को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है। प्रथम श्रेणी में व सगरत सदस्य तथा असदस्य बैंक (Scheduled & Non-Scheduled Banks) है जिनकी प्रदत्त पूँजी (Paid-up Capital) तथा सचिति कोष (Reserve fund) पाँच लाख रुपये से अधिक है। द्वितीय श्रेणी में वे समस्त असदस्य बैंक हैं जिनकी प्रदत्त पूँजी तथा सचिति कोष एक लाख रुपये से अधिक और पाच लाख रुपये में कम है। तृतीय श्रेणी उन बैंकों की है जिनकी प्रदत्त पूँजी तथा सचिति कोष पचास हजार से अधिक तथा एक लाख रुपये से कम है। चतुर्थ श्रेणी में वे बैंक आते हैं जिनकी प्रदत्त पूँजी तथा सचिति कोष पचास हजार से कम है। सन् १९३६ के बाद ५० हजार से कम पूँजी वाले बैंकों का रजिस्ट्रेशन नहीं होता। प्रत्येक सदस्य बैंक को अपनी माँग देनदारियों (Demand Liabilities) का ५% तथा मुद्दती देनदारियों (Time Liabilities) का २% रिजर्व बैंक में जमा करना पड़ता है तथा उसे प्रति सप्ताह रिजर्व बैंक के पास अपना चिट्ठा (Balance Sheet) भेजना पड़ता है और उसके न भेजने पर वह दण्ड का भागी होता है। इन कार्यों के बदले में रिजर्व बैंक अपने सदस्य-बैंकों को सकट के समय उधार देता है, उनका रुपया निःशुल्क या कम व्यय पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजता है उनके बिलों की पुनः कटौती करता है, उनको परामर्श देता है तथा उन्हें अन्य सुविधाएँ भी देता है। असदस्य बैंकों को भी रिजर्व बैंक कुछ अवस्थाओं में सुविधाएँ देता है।

परन्तु सन् १९४९ के नये बैंकिंग विधान के अनुसार रिजर्व बैंक को भारत के सब बैंकों का हर प्रकार का नियन्त्रण करने का अधिकार मिल गया है। अब रिजर्व बैंक के अनुज्ञा-पत्र (License) के बिना कोई भी बैंक बैंकिंग-कार्य नहीं कर सकता। उसकी अनुमति बिना कोई भी बैंक नई शाखा नहीं खोल सकता। इस ऐक्ट द्वारा रिजर्व बैंक को इन बैंकों का निरीक्षण, एकीकरण तथा विलीनीकरण करने तथा करवाने का पूरा-पूरा अधिकार दे दिया गया है। रिजर्व बैंक समस्त बैंकों को आर्थिक सकट के समय सलाह तथा सहायता भी दे सकेगा। इस प्रकार रिजर्व बैंक अब देश के समस्त बैंकों का निरीक्षक, प्रबन्धक, नियन्त्रणकर्त्ता तथा सरक्षक हो गया है।

विनिमय बैंक (Exchange Banks)

परिचय—भारतवर्ष में अंग्रेजी राज्य की स्थापना से ही विदेशी विनिमय बैंकों का प्रादुर्भाव हुआ। विदेशी विनिमय बैंक वास्तव में व्यापारिक बैंक हैं जिनके प्रधान कार्यालय विदेशों में हैं तथा उनकी शाखाएँ भारत में विद्यमान हैं। ये शाखाएँ अधिकतर भारतीय बन्दरगाहों तथा उन मुख्य व्यापारिक केन्द्रों में स्थापित हैं जहाँ से आयात निर्यात का व्यापार अधिक होता है। इन विदेशी विनिमय बैंकों का मुख्य कार्य विदेशी व्यापार में आर्थिक सहायता तथा विनिमय की सुविधा प्रदान करना है, परन्तु वर्तमान काल में इन बैंकों ने अपनी शाखाएँ देश के आन्तरिक भागों में भी स्थापित करली हैं और अन्य व्यापारिक बैंकों की भाँति साधारण बैंकिंग-कार्य भी करते हैं। इस प्रकार ये भारतीय व्यापारिक बैंकों से बहुत अधिक प्रतिस्पर्द्धा करते हैं और उनकी

उन्नति और विस्तार में बाधा डालते हैं। यह देश का दुर्भाग्य है कि देश में कार्य करने वाले सभी विनिमय बैंक विदेशी हैं। जो दो-एक देशी विनिमय बैंक स्थापित किये गये वे विदेशी विनिमय बैंकों की प्रबल स्पर्द्धा और कठोर व्यवहार के कारण शैशव अवस्था में ही बैठ गये।

भारत में प्रमुख विनिमय बैंक—वर्तमान समय में भारत में अनेकों विदेशी विनिमय बैंक हैं, जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :—

(१) भारत, आस्ट्रेलिया तथा चीन का चार्टर्ड बैंक, (२) ईस्टर्न बैंक लि०, (३) हाँगकाँग तथा शंघाई बैंक कॉरपोरेशन, (४) भारत का मर्केन्टाइल बैंक, (५) भारत का नेशनल बैंक लि०, (६) टॉमस कुक एण्ड सन्स, (७) लॉयड्स बैंक लि०, (८) ग्रिण्डले एण्ड कम्पनी लि०, (९) नेदरलैंड ट्रेडिंग सोसाइटी, (१०) नीदरलैंड का इण्डिया कॉमर्शियल बैंक लि०, (११) न्यूयॉर्क का नेशनल सिटी बैंक, (१२) अमेरिकन एक्सप्रेस बैंक, (१३) बैंको नेशनल अल्ट्रामेरिनो, (१४) पेरिस बैंक, (१५) चीन का बैंक। आज-कल देश में १५ विनिमय बैंक कार्य कर रहे हैं, जिनकी ८० से अधिक शाखायें हैं।

विनिमय बैंकों के कार्य—इनके मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं :—

(१) विदेशी व्यापार को आर्थिक सहायता देना—जिस प्रकार व्यापारिक बैंक देश के आन्तरिक व्यापार के अल्पकालीन ऋण की व्यवस्था करते हैं, उसी प्रकार विनिमय बैंक विदेशी व्यापार के लिये अल्पकालीन ऋण की व्यवस्था करते हैं। ये बैंक भारतीय निर्माताओं द्वारा जारी किये गये निर्यात बिल खरीदते, उनको डिस्काउन्ट करते, तथा विदेश में भारतीय व्यापारी जो माल खरीदते है—उनमें उन पर जारी किये हुये बिलों का निश्चित समय पर रुपया वसूल करते हैं। इस प्रकार ये देश के विदेशी व्यापार अर्थात् आयात निर्यात व्यापार में सहायता पहुँचाते हैं।

(२) आन्तरिक व्यापार में आर्थिक सहायता देना—विदेशी विनिमय बैंक केवल विदेशी व्यापार को ही आर्थिक सहायता नहीं पहुँचाते हैं, बल्कि आन्तरिक व्यापार को भी आर्थिक सहायता पहुँचाते हैं। इस कार्य को सुचारु रूप से करने के लिये इन बैंकों ने देश के आन्तरिक भागों में अपनी शाखायें स्थापित कर ली हैं तथा कुछ भारतीय बैंकों को अपने अधिकार में कर लिया है।

(३) सोने-चाँदी का क्रय-विक्रय करना—आयात-निर्यात को आर्थिक सहायता पहुँचाने के अतिरिक्त वे सोना चाँदी खरीदते और बेचते हैं तथा उनका आयात व निर्यात भी करते हैं। गत महायुद्ध में इनका यह कार्य सीमित हो गया, क्योंकि यह कार्य रिजर्व बैंक को दे दिया गया।

(४) विदेशी विनिमय बिलों, बैंक ड्राफ्ट, तथा तार द्वारा राशि भेजना—विदेशी विनिमय बैंक विदेशी विनिमय बिलों, बैंक ड्राफ्ट तथा तार द्वारा विदेशों में धन भेजने का भी प्रबन्ध करते हैं।

(५) विनिमय बिलों का क्रय-विक्रय करना—विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में लिखे गये विनिमय बिलों का क्रय विक्रय करना भी इनका एक कार्य है। जब इनके पास इस प्रकार के बिलों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है तब ये उनको रिजर्व बैंक को बेच देते हैं।

(६) अन्य साधारण बैंकिंग कार्य करना—इन सब कामों के अतिरिक्त विदेशी विनिमय बैंक जनता से जमा के रूप में उधार लेते हैं, व्यापारियों को ऋण देते है, एजेन्सी कार्य करते है; तथा एक स्थान से दूसरे को रुपया भेजते हैं।

भारतीय बैंकिंग प्रणाली में विनिमय बैंकों का स्थान—विनिमय बैंक भारत में दीर्घकाल से कार्य कर रहे है। भारतीय बैंकिंग प्रणाली में विनिमय बैंकों ने प्रभावशाली स्थान ग्रहण कर रखा है। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता कि सन् १९५२ में इनकी जमा १७६ करोड रुपये थी जोकि कुल बैंक में जमा किये हुए धन को १८% थी तथा इनका लाभ ३·१६ करोड रुपये था जोकि कुल भारतीय बैंकों द्वारा कमाये हुए लाभ का लगभग ५० प्रतिशत था। भारत का कुल विदेशी व्यापार लगभग ६०० करोड रुपये के मूल्य का होता है। इस व्यापार का ८५% विदेशी विनिमय बैंकों के हाथ में है, केवल १५% भारतीय व्यापारिक बैंकों के हाथ में हैं। इस प्रकार इन विनिमय बैंकों का विदेशी व्यापार में एकाधिकार ही नहीं बल्कि व्यापारिक बैंक क्षेत्र में भी ये बैंक भारतीय संयुक्त पूंजी वाले बैंकों के बड़े से बड़े प्रतियोगी बने हुए है। इसका मुख्य कारण यह है कि इनके आर्थिक साधन बहुत प्रबल हैं तथा इनके सुप्रबन्ध की कुशलता इनकी उन्नति का दूसरा कारण है। इसके अतिरिक्त, भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार अभारतीय संस्थाओं के हाथ में है, अतः वे न केवल अपना ही कार्य इन बैंकों को सौंपने का प्रयत्न नहीं करते, बल्कि अन्य व्यापारियों को भी इनके लिये प्रोत्साहन देते हैं।

विदेशी विनिमय बैंकों के दोष—यद्यपि इनके द्वारा भारत के विदेशी व्यापार को बहुत आर्थिक सहायता मिली है, परन्तु फिर भी इनके दोषों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। विदेशी विनिमय बैंकों के मुख्य दोष निम्नलिखित हैं।

(१) विदेशी विनिमय बैंक राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध कार्य करते हैं तथा भारतीय विनिमय बैंकों को अपनी कड़ी स्पर्द्धा के कारण पनपने ही नहीं देते। (२) विदेशी विनिमय बैंक देशी व्यापार में भी भारतीय व्यापारिक बैंकों से स्पर्द्धा करते है और उनके व्यवसाय में हानि पहुँचाते है। (३) ये भारतवासियों से जमा के रूप में धन एकत्रित कर उससे विदेशियों को अधिक सहायता पहुँचाते हैं तथा भारतीय पूंजी को विदेशी उद्योग व सिक्योरिटीज (प्रतिभूतियों) में लगाने के भी दोषी हैं। (४) ये बैंक अपनी अच्छी आर्थिक स्थिति तथा कुशल प्रबन्ध के कारण कम ब्याज पर जमा प्राप्त कर लेते हैं इसलिये भारतीय बैंकों को भी बाध्य होकर अपनी ब्याज दर बढानी पड़ती है। (५) विदेशी विनिमय बैंक विदेशी व्यापारियों को अच्छी स्थिति वाले भारतीय व्यापारियों के लिये सतोषप्रद सूचना नहीं देते जबकि बहुत खराब आर्थिक स्थिति वाले विदेशियों के लिये भारतीय व्यापारियों को अच्छी सूचना दे देते हैं। (६) भारतीय व्यापारियों के जिनों को ये तभी डिस्काउन्ट करते हैं जबकि वे अपने माल का विदेशी बीमा कम्पनियों से बीमा करावें तथा विदेशी जहाजी कम्पनियों द्वारा अपने माल को भेजें। इससे हमारी बीमा और जहाजी कम्पनियाँ पनप नहीं पाती। (७) भारतीय व्यापारियों को उचित सुविधाएं नहीं देकर अपनी पक्षपातपूर्ण नीति का परिचय देते है। (८) ये भारतवासियों को ऊँची नौकरियों से वंचित रखते हैं। (९) दूसरे देश की मुद्राओं के लिये बैंक भारतवासियों से अनुचित एवं बहुत अधिक दर लेते है। (१०) भारतीय आयात-कर्त्ताओं को फर्म को बाध्य होकर भुगतान वाले बिलों (D. P.

Bills) की शर्त पर व्यापार करना पड़ता है। (११) साख-पत्र प्राप्त करने के लिये प्रथम श्रेणी के भारतीय आयात-कर्त्ताओं की फर्म को भी वस्तुओं के मूल्य का १० से १५ प्रतिशत तक विदेशी विनिमय बैंकों के पास जमा कराना पड़ता है जबकि यूरोपियन फर्मों को ऐसा करने की आवश्यकता नहीं है।

भारतीय बैंकिंग कम्पनीज एक्ट १९४९ और विनिमय बैंक—पहले विदेशी विनिमय बैंकों पर भारतीय कानून लागू नहीं होते थे। वे रिजर्व बैंक के नियन्त्रण के बाहर थे, किन्तु अब सन् १९४९ के भारतीय कम्पनीज अधिनियम के अनुसार इन बैंकों को भी अनुज्ञा पत्र (License) प्राप्त करना होगा तथा रिजर्व बैंक को सामान्य विवरण (Returns) और रिपोर्ट भेजनी पड़ेगी। इसलिये अब रिजर्व बैंक विदेशी विनिमय बैंकों के भारतीय बैंकों के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार पर नियन्त्रण रख सकेगा।

भारतीय विनिमय बैंक—यह हर्ष का विषय है कि कुछ भारतीय बैंकों ने विदेशी विनिमय व्यापार करने व विदेशों में अपनी शाखाएँ खोलने में बहुत रुचि दिखलाई है। सन् १९५१ के अन्त में २५ सदस्य व १२ असदस्य ऐसे भारतीय बैंक थे जिन्होंने ८ विदेशों में क्रमशः १११ व १६ कार्यालय स्थापित किये। सदस्य बैंकों के ७६ कार्यालय पाकिस्तान में, १२ मलाया में, ८ ब्रह्मा में, ३-३ लंका व फ्रेंच इण्डिया में तथा २-२ जापान, थाइलैंड व ब्रिटेन में थे। असदस्य बैंकों के कार्यालय केवल पाकिस्तान तक ही सीमित थे। केन्द्रीय बैंक के बाद सबसे अधिक विदेशी कार्यालय (३०) इम्पीरियल बैंक के ही थे। अप्रैल सन् १९५२ के अन्त में भारतीय बैंकों की विदेशी शाखाओं की कुल देनदारी १०१ करोड़ रुपए थी, जिसमें से ७५ प्रतिशत जमा की राशि है। इस प्रकार भारतीय संयुक्त पूँजी वाले बैंक विदेशी व्यापार में अधिक से अधिक भाग ले रहे हैं।

स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया

(State Bank of India)

परिचय—भारतीय बैंकिंग इतिहास में स्टेट बैंक एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। सबसे पहले इसकी स्थापना भारत सरकार ने सन् १९२० में बम्बई बंगाल और मद्रास के तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों का एकीकरण करके इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट सन् १९२१ के अन्तर्गत इम्पीरियल बैंक के रूप में की। इसके बाद सन् १९५५ में भारत सरकार ने इसका राष्ट्रीयकरण किया जिसके फलस्वरूप 'स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट १९५५' पास हुआ और इसकी स्थापना १ जुलाई सन् १९५५ को की गई।

उद्देश्य—(१) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया का मुख्य उद्देश्य कृषि सम्बन्धी वित्त सुविधाओं को प्रदान करने का है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये स्टेट बैंक देश भर में ४०० नई शाखाएँ आगामी ५ वर्षों में खोलेगा। १ जुलाई सन् १९५५ से बैंक ने २० नई शाखाएँ खोली हैं। रिजर्व बैंक और स्टेट बैंक की सलाह से केन्द्रीय सरकार ने १०० नये केन्द्र इस कार्य के लिये चुन लिये हैं। ये नई शाखायें विशेषतया ग्रामीण क्षेत्रों में खोली जावेंगी ताकि कृषकों को अधिक-से-अधिक वित्तीय सहायता मिल सके।

(४) इसके अतिरिक्त स्टेट बैंक व्यापार और व्यवसाय को साख सुविधा भी प्रदान करेगा। यह आवश्यकता अथवा संकट के समय व्यापारिक बैंकों को वित्तीय सहायता देगा।

( ) स्टेट बैंक की स्थापना का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में साख सम्बन्धी सुविधाएँ देना भी है ताकि गांवों के किसान अपना अनाज उन गोदामों में स्टोर कर सकें और धीरे धीरे मांग के अनुसार बेच सकें जिससे उनको उसका अच्छा मूल्य मिल सके।

(८) इसकी स्थापना का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में छोटे पैमाने पर चलने वाले गृह उद्योग धंधों की आर्थिक सहायता देना भी है।

पूंजी (Capital)—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया की अधिकृत पूंजी (Authorized Capital) २० करोड़ रुपया है जो सौ-सौ रुपये के २० लाख पूर्ण प्रदत्त (Fully Paid up) अंशों में विभाजित है। इसकी निर्गमित पूंजी (Issued Capital) ५ करोड़ ६२ लाख ५० हजार थी जो १०० १०० रुपये के ५,६२,५०० अंशों में विभाजित थी। यह पूंजी रिज़र्व बैंक के नाम में निर्गमित की गई थी। रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया था कि वह इम्पीरियल बैंक के अंशधारियों को समस्त निर्गमित पूंजी का अधिक से अधिक ४५% भाग क्षतिपूर्ति के रूप में दे और शेष भाग अर्थात् ५५% अपने पास रखे। स्टेट बैंक को अधिकार है कि वह केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति बिना अपनी पूंजी को १२½ करोड़ रुपये तक बढ़ा सकता है। इससे अधिक पूंजी की वृद्धि बिना केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति के नहीं की जा सकती।

प्रबन्ध (Management)—स्टेट बैंक के प्रबन्ध के लिए एक केन्द्रीय बोर्ड की स्थापना की गई है जिसमें कुल २० संचालक हैं। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के अतिरिक्त दो प्रबन्ध संचालक हैं जिनमें एक संचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा और दूसरा संचालक रिज़र्व बैंक द्वारा नियुक्त किया गया है। शेष १४ संचालकों में से ६ संचालक सरकार से ४ संचालक अंशधारियों में और २ संचालक सरकार से लिए गए हैं।

कार्य (Functions)—स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया के मुख्य कार्य निम्न लिखित हैं —

(१) स्टेट बैंक उन स्थानों में जहाँ रिज़र्व बैंक की शाखाएं नहीं हैं रिज़र्व बैंक के एजेण्ट का काम करता है।

( ) यह स्टॉक शेयर तथा अन्य प्रतिभूतियों (Securities) की जमानत पर ऋण, एडवांस (अग्रिम राशि), तथा नकद साख देता है।

( ) विनिमय साध्य प्रपत्रों अर्थात् बिल आदि को लिखना, स्वीकार करना, बेचना और इनका विक्रय करना।

(४) सोना, चाँदी तथा सोने चाँदी के सिक्कों का क्रय विक्रय करना।

(५) सब प्रकार के बांड, प्रमाणपत्र, अधिकार पत्र और अन्य मूल्यवान वस्तुएँ सुरक्षित रखना।

(६) रजिस्टर्ड सहकारी समितियों के एजेन्ट के रूप में काम करना।

(७) अपने कार्यालयों, शाखाओं और एजन्सियों द्वारा भुगतान किये जाने वाले माँग ड्राफ्ट (Demand Draft), तार भुगतान (Telegraphic Transfers) और अन्य प्रकार के राशि भेजने के पत्र खरीदना और साख पत्र (Letters of Credit) लिखना तथा उन्हें जारी करना।

(८) ऋण के बदले में प्राप्त हुई अथवा डूबी हुई चल व अचल सपत्ति को बेच कर राशि प्राप्त करना।

(९) यह किसी ट्रस्ट की प्रतिभूतियों में, नगरपालिका जिला बोर्ड या स्थानीय सस्थाओं के ऋण पत्रों मे, भारत स्थित निगमों के अशों और ऋण पत्रों मे रुपया लगाना और ऐसे अशों व ऋण पत्रों का अभिगोपन (Underwriting) करना।

(१०) जनता से राशि जमा करना।

(११) स्वय का व्यापार करना तथा अपनी सपत्ति के आधार पर ऋण लेना।

(१२) कमीशन लेकर एजेंट के रूप में काम करना।

(१३) कोर्ट आफ वार्ड्स को उनकी सम्पत्ति की जमानत पर ऋण देना।

(१४) १५ मास की अवधि तक के कृषि बिलों का क्रय करना।

(१५) रिजर्व बैंक की स्वीकृति लेकर दूसरे बैंकों के अश खरीदना।

(१६) विदेशी बिल (Bills of Exchange) और साख पत्र (Letters of Credit) का लिखना केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति लेकर अथवा उसके आदेशानुसार स्टेट बैंक द्वारा किसी बैंकिंग कम्पनी का व्यवसाय अपने अधिकार मे लेना।

(१७) किसी कम्पनी अथवा सहकारी समिति की समाप्ति (Liquidation) के समय उनकी सपत्ति और प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देना।

स्टेट बैंक के निषिद्ध (Prohibited) कार्य—स्टेट बैंक आफ इण्डिया निम्नलिखित कार्य नहीं कर सकता —

(१) स्टेट बैंक साधारणतया ६ मास से अधिक अवधि के लिये ऋण और पेशगी (एडवास) नहीं दे सकता।

(२) अपने ही अशों अर्थात् शेयरों व स्टॉक की जमानत पर ऋण और पेशगी नहीं दे सकता।

(३) किसी विशेष व्यक्ति या फर्म को एक समय में कुल मिला कर निर्धारित राशि से अधिक ऋण नहीं दे सकता।

(४) अचल सपत्ति व उसके अधिकार पत्र की जमानत पर ऋण और एडवास नहीं दे सकता।

(५) बैंक को मौसमी कृषि कार्यों के लिये १५ मास की अवधि के लिये प्रलेखों को और अन्य कार्यों के लिये ६ मास से अधिक की अवधि के लिये प्रलेखों को भेजान करने और उनको जमानत पर ऋण व एडवास देने का अधिकार नहीं है।

(६) स्टेट बैंक को किसी विशेष व्यक्ति या फर्म के ऐसे विनिमय साध्य प्रलेखों को भेजान करने, खरीदने या उसकी जमानत पर ऋण व एडवांस देने का अधिकार नहीं है जिनके प्रति कम से कम दो विभिन्न व्यक्तियों या फर्मों का अलग अलग उत्तर दायित्व नहीं है।

(७) स्टेट बैंक को अपने व्यवसाय को चलाने के लिये तथा अपने अधिकारियों और कर्मचारियों के निवास के लिये आवश्यक भवन तथा ऋणों के डूब जाने के बदले में प्राप्त हुई सम्पत्ति को छोड़ कर अन्य किसी अचल सम्पत्ति को रखने, खरीदने या उसमें अपना कोई भाग रखने का अधिकार नहीं है।

स्टेट बैंक के कार्य पर एक आलोचनात्मक दृष्टि—सबसे पहला कार्य इम्पीरियल बैंक के अंशधारियों की क्षतिपूर्ति करने का था। इस क्षेत्र में प्रगति सतोषजनक है। ३१ दिसम्बर १६५५ तक ६५६० अंशधारियों ने १८'६५ करोड़ रुपये की क्षतिपूर्ति के लिये आवेदन पत्र दिये थे जिनमें से ६४६१ अंशधारियों को १८'३६ करोड़ रुपये का भुगतान भी कर दिया गया है। आगामी ५ वर्षों में ४०० शाखाएँ खोलने की योजना भी बन चुकी है और सन् १६५५ के अन्त तक २० स्थानों पर यह शाखाएँ खोली भी जा चुकी है। इतना होने पर भी अभी विदेशी शाखाएँ नहीं खुल पाई हैं जिसके कारण इम्पीरियल बैंक की विदेशी शाखाएँ अभी बन्द नहीं की जा सकी हैं। आशा है यह कठिनाई भी धीरे-धीरे दूर हो जावेगी। विशेष प्रशिक्षण के लिये बैंक द्वारा कुछ नियुक्तियाँ भी की जा रही हैं।

बैंक के कुछ आलोचकों का कहना है कि इसके ऊपर व्यापारिक एवं कृषि सम्बन्धी दोनों ही कार्यों का भार सौंप कर इसके उत्तरदायित्व को अनावश्यक रूप से बढ़ा दिया गया है जिससे यह आशंका है कि बैंक किसी भी कार्य को ठीक प्रकार नहीं चला सकेगा। इन आलोचकों का यह भी मत है कि कृषि सम्बन्धी साख की आवश्यकता को पूरा करने के लिये एक अलग अखिल भारतवर्षीय कृषि बैंक (All India Agricultural Bank) की स्थापना की जानी चाहिए।[1] कुछ लोगों का यह भी मत है कि बैंक का सचालन कार्य प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली पर नहीं रखा गया है, क्योंकि ५५% अंशधारियों को २०% सचालकों (Directors) को चुनने का अधिकार दिया गया है जो सर्वथा अनुचित है, यह केवल भविष्य ही बता सकेगा।

स्टेट बैंक का भविष्य—जहाँ तक बैंक के भविष्य का सम्बन्ध है अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु फिर भी अब तक जो कुछ प्रगति हुई है उसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि स्टेट बैंक का भविष्य उज्ज्वल है। इस बैंक से कृषि, व्यापार और उद्योग सभी क्षेत्रों को लाभ पहुँचेगा।

(५) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India)

परिचय—भारत में एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता बहुत समय पहले से अनुभव की जा रही थी, किन्तु भारत सरकार ने इस ओर कभी ध्यान नहीं दिया। सन् १६१३ में जब चेम्बरलेन कमीशन बिठाया गया उस समय श्री कीन्स ने भारत सरकार का ध्यान एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की ओर आकर्षित किया। सन् १६१४-१८ में अर्थात् प्रथम महायुद्ध काल में भी केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता का अनुभव हुआ। सन् १६२१ में बेल्जियम के ब्रूसेल्स नगर के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन ने भी सुझाव दिया कि जिन देशों में केन्द्रीय बैंक नहीं है वहाँ शीघ्र ही केन्द्रीय बैंक स्थापित किया जाना चाहिये। अतएव सन् १६२१ में इम्पीरियल बैंक की स्थापना हुई। किन्तु इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक के सभी कार्य नहीं कर सकता था, इसलिये एक स्वतन्त्र और सही अर्थ में केन्द्रीय बैंक की स्थापना की आवश्यकता हुई।

१—गॅडगिल समिति रिपोर्ट १६४५।

सन् १६२५-२६ में हिल्टन यंग कमीशन ने एक स्वतन्त्र शेयरहोल्डर्स के केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (Central Banking Enquiry Committee) ने भी हिल्टन-यंग कमीशन के विचारों का समर्थन किया। आखिर सन् १६३४ में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट पास हुआ, जिसके फलस्वरूप १ अप्रैल १६३५ को रिजर्व बैंक की स्थापना हुई।

स्वामित्व एवं पूँजी—सन् १६३४ के रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक एक अंशधारियों अर्थात् शेयरहोल्डर्स के बैंक के रूप में स्थापित किया गया था। इसकी अधिकृत पूँजी ५ करोड़ रुपया थी जो सौ-सौ रुपये के शेयरों, अर्थात् अंशों में विभाजित थी। केवल २ २०,००० रु० के अंश केन्द्रीय सरकार ने खरीदे थे और शेष बैंक के पाँचों केन्द्रों के निवासियों को निम्न अनुपात में बेच दिये गये थे-- कलकत्ता १४५ लाख, बम्बई १४० लाख, दिल्ली ११५ लाख, मद्रास ७० लाख, और रंगून ३० लाख। प्रारम्भ में किसी भी व्यक्ति को पाँच शेयरों से अधिक शेयर नहीं दिये गये थे, किन्तु सन् १६४० में ऐक्ट में संशोधन कर यह निश्चय कर दिया गया कि कोई व्यक्ति अकेला या साझे में बीस हजार रुपये से अधिक के शेयर अपने नाम में नहीं रख सकेगा। प्रत्येक अंशधारी का पाँच अंशों के पीछे एक मत देने का अधिकार था और कोई भी अंशधारी दस मत से अधिक नहीं दे सकता था।

रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् १ जनवरी १६४६ से रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है और इसके विधान में आवश्यक संशोधन भी कर दिये गये हैं। भारत सरकार ने रिजर्व बैंक के समस्त शेयर या अंश शेयरहोल्डर्स को १०० रु० के एक शेयर के बदले में ११८ रु० १० आ० के हिसाब से देकर खरीद लिये हैं। दी गई रकम में ३% तो सरकारी बॉंड दिये गये हैं और शेष रकम का नकद रुपयों में भुगतान कर दिया गया है। अब रिजर्व बैंक पूर्णतया एक राष्ट्रीय बैंक बन गया है।

प्रबन्ध—रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् इसका प्रबन्ध १४ सदस्यों का एक बोर्ड करता है जिसके संचालक अथवा डाइरेक्टर सरकार द्वारा निम्न प्रकार मनोनीत होते हैं —

(१) १ गवर्नर और २ डिप्टी गवर्नर जो केन्द्रीय सरकार द्वारा पाँच वर्ष के लिये नियुक्त किये जाते हैं तथा जिनका वेतन केन्द्रीय सरकार की सलाह से केन्द्रीय बोर्ड निश्चित करता है।

(२) चार स्थानीय बोर्डों से सरकार द्वारा मनोनीत एक-एक डाइरेक्टर।

(३) केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त ६ अन्य डाइरेक्टर। इनमें से प्रत्येक दो बारी बारी से एक, दो, तीन वर्ष के पश्चात् पृथक होते जाते हैं।

(४) केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त १ सरकारी विशेषज्ञ।

स्थानीय हितों की रक्षा के लिये केन्द्रीय बोर्ड के अतिरिक्त चार स्थानीय बोर्ड (Local Boards) स्थापित किये गये हैं—उत्तरी क्षेत्र का बोर्ड दिल्ली, पश्चिमी क्षेत्र का बोर्ड बम्बई, पूर्वी क्षेत्र का बोर्ड कलकत्ता, तथा दक्षिणी क्षेत्र का बोर्ड मद्रास। प्रत्येक बोर्ड में सरकार द्वारा नियुक्त तीन सदस्य होते हैं। ये स्थानीय बोर्ड आवश्यक विषयों पर केन्द्रीय बोर्ड को सलाह देते हैं तथा उसके आदेशानुसार कार्य करते हैं।

केन्द्रीय बोर्ड की बैठक बुलाना गवर्नर के अधिकार में है। परन्तु कोई भी तीन सचालक मिलकर भी गवर्नर से बैठक बुलाने के लिए प्रार्थना कर सकते हैं। वर्ष-भर में ६ बैठकें बुलाना अनिवार्य है, किन्तु तीन महीनों में एक बैठक अवश्य होनी चाहिए।

रिजर्व बैंक के मुख्य कार्यालय तथा विभाग

रिजर्व बैंक के मुख्य कार्यालय—रिजर्व बैंक के मुख्य कार्यालय बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास, तथा कानपुर में हैं। इसकी एक शाखा लन्दन में भी है जो अप्रैल सन् १९३६ में खोली गई थी। केन्द्रीय सरकार की आज्ञा से रिजर्व बैंक अन्य किसी स्थान पर भी अपनी शाखा खोल सकता है। जहाँ पर रिजर्व बैंक की शाखाएँ नहीं हैं वहाँ पर रिजर्व बैंक ने स्टेट बैंक को अपना एक-मात्र एजेण्ट नियुक्त कर दिया है। द्वितीय महायुद्ध काल में जापान द्वारा बर्मा पर अधिकार होने पर रगून का कार्यालय बन्द कर दिया गया।

रिजर्व बैंक के मुख्य विभाग—रिजर्व बैंक के मुख्य विभाग निम्नलिखित हैं —

१—नोट निर्गम विभाग (Issue Department)—इस विभाग का मुख्य कार्य पत्र मुद्रा, अर्थात् कागजी नोट जारी करना है। इस विभाग की शाखाएँ बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास आदि स्थानों पर हैं। प्रत्येक शाखा दो विभागों में विभाजित है। प्रथम विभाग का कार्य नोट निकालने तथा उनका विनिमय करने का है और दूसरे विभाग का कार्य रजिस्ट्रेशन करने, नोटों को जाँचने तथा रद्द करने, हिसाब रखने तथा आन्तरिक अंकेक्षण (Audit) करना है।

२—बैंकिंग विभाग (Banking Department)—बैंक का यह विभाग अन्य बैंकों को अनुज्ञा-पत्र (License) देने, उनके रोकड़ कोष रखने उनको आर्थिक सहायता तथा परामर्श देने, उनका निरीक्षण करने, उनकी राशियों को स्थानान्तरण करने का कार्य, तथा सरकारी लेन देनों का उचित प्रबन्ध करना है। इस विभाग की शाखाएँ बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली, कानपुर आदि स्थानों पर हैं। प्रत्येक शाखा का प्रबन्ध एक मैनेजर के अधीन होता है तथा वह पाँच विभागों में विभाजित होती है—राशि का हस्तान्तरण, जमा खाते, प्रतिभूतियाँ, सरकारी जमा तथा सरकारी ऋण।

३—विनिमय नियन्त्रण विभाग (Exchange Control Department)—इस विभाग की स्थापना विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण करने तथा विनिमय दर को स्थायी रखने के उद्देश्य से द्वितीय महायुद्ध काल में की गई थी। अब समस्त विदेशी विनिमय कार्य इस विभाग द्वारा विदेशी विनिमय नियन्त्रण ऐक्ट १९४७ के अन्तर्गत नियन्त्रित होता है।

४—बैंकिंग विकास विभाग (Department of Banking Development)—इस विभाग की स्थापना अक्टूबर १९५० में हुई। इसका मुख्य उद्देश्य गाँवों तथा कस्बों में बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार करना तथा ग्रामीण अर्थ समस्याओं का अध्ययन तथा हल निकालने का है। ग्रामीण बैंकिंग अनुसन्धान कमेटी की सिफारिशों को कार्यान्वित करना भी इसका मुख्य कार्य है।

५—बैंकिग क्रियाओं का विभाग (Department of Banking Operations)—इस विभाग की स्थापना सन् १९४९ मे भारतीय बैंकिंग कम्पनीज ऐक्ट १९४९ के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को अन्य बैंकों के नियन्त्रण तथा निरीक्षण के अधिकारों को उचित ढग से काम मे लाने के लिये हुई। अत इस विभाग का मुख्य कार्य भारतीय बैंकिग पद्धति का उचित नियन्त्रण कर उसे सुदृढ और सुसगठित बनाना है।

६—अन्वेषण तथा समक विभाग (Department of Research & Statistics) मुद्रा व बैंकिंग आदि क्षेत्रों की खोज करना तथा मुद्रा बाजार, बैंकिंग ब्याज दरें, उत्पादन, लाभाश आदि से सम्बन्धित आंकडों का सकलन कर प्रकाशित करना इस विभाग का मुख्य कार्य है।

७—कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department)—कृषि-साख विभाग का चलाना बैंक का वैधानिक कर्त्तव्य है। इस विभाग के मुख्य कार्य निम्नलिखित है :—

(अ कृषि साख सम्बन्धी खोज के लिये विशेषज्ञो की नियुक्ति करना तथा उनके द्वारा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों तथा सरकारी विभाग को आवश्यक परामर्श देना।

(ब) कृषि साख से सम्बन्धित बैंकों के कार्यों का नियन्त्रण करना और उन्हें आवश्यक आर्थिक सहायता प्रदान करना।

(स) कृषि-साख मे आवश्यक सुधार करने के सुझाव प्रस्तुत करना।

(द) रिजर्व बैंक की कृषि साख सम्बन्धी नीति का निर्धारण करना।

इस क्षेत्र मे बैंक का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण नही हुआ है।

रिजर्व बैंक के कार्य (Functions)—रिजर्व बैंक के कार्यों को हम दो भागो मे बाँट सकते हैं—(अ) केन्द्रीय बैंक के कार्य, और (आ) साधारण बैंक के कार्य।

(अ) केन्द्रीय बैंक के कार्य—अन्य समस्त केन्द्रीय बैंकों की भाँति रिजर्व बैंक भी निम्नलिखित केन्द्रीय बैंकिग कार्य सम्पन्न करता है :—

१ पत्र मुद्रा जारी करना—कागजी नोट जारी करने का एकाधिकार रिजर्व बैंक को प्राप्त है। यह काय बैंक अपने निर्गम विभाग (Issue Department) द्वारा सम्पन्न करता है। कुल नोट चलन का ४०% सोने के सिक्को, स्वर्ण पाट तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतियो मे रखना आवश्यक है और किसी भी समय २१ रु० ३ आ० ८ पाई प्रति तोले के भाव से ४० करोड रुपये से कम का सोना नहीं होना चाहिए। इस कोष का शेष ६०% रुपयो, सरकारी प्रतिभूतियो, स्वीकृत व्यापारिक बिलो, हुण्डियों या प्रतिज्ञा पत्रो मे होना चाहिये।

२ बैंको के बैंक का कार्य करना—रिजर्व बैंक का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य देश के बैंकों का नियन्त्रण, पथ प्रदर्शन तथा सगठन करना है। यह नियन्त्रण रिजर्व बैंक अपने सदस्य बैंकों की चालू जमा का कम से कम ५% और स्थायी जमा का २% नकद कोष के रूप मे अपने पास रख कर करता है। सन् १९४९ की बैंकिंग एक्ट के अतगत तो अब अन्य बैंको के लिये भी नकद कोष अपने पास या रिजर्व बैंक के पास रखना अनिवार्य कर दिया है। रिजर्व बैंक इस केन्द्रित धन-राशि को इन्हीं बैंको की आर्थिक

संकट काल में अन्तिम ऋण-दाता के रूप में सहायता करने के काम में लाता है। रिजर्व बैंक खुल बाजार की क्रिया (Open Market Operations) तथा बैंक दर (Bank Rate) के द्वारा अन्य बैंकों पर नियन्त्रण रखता है।

३. सरकारी बैंकर का कार्य करना—रिजर्व बैंक केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के बैंकर का भी काम करता है। यह विभिन्न सरकारों तथा सरकारी संस्थाओं से रुपया लेता और जमा करता है तथा उनके प्रति रुपये का भुगतान करता है। यह उनके लिये विदेशी विनिमय, राशि-स्थानान्तरण तथा सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करता है तथा उनके आवश्यक बैंकिंग कार्य करता है। सरकार को अर्थ-नीति, मुद्रा नीति तथा विनियोग नीति के निश्चित करने में भी आवश्यक सलाह देता है।

४. विदेशी विनिमय का नियन्त्रण करना—रिजर्व बैंक को रुपये के बाह्य मूल्य को स्थिर रखना पड़ता है। ऐसा करने के लिये वह विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय भी करता है। रिजर्व बैंक एक्ट के १९४७ के एक संशोधन द्वारा रुपये और स्टर्लिङ्ग का वैधानिक सम्बन्ध तोड़ दिया गया है। अतः अब इसको न केवल स्टर्लिङ्ग का ही क्रय विक्रय करना पड़ता है बल्कि अन्य उन सब देशों की मुद्रा का भी क्रय-विक्रय करना पड़ता है जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य हैं। यह क्रय विक्रय उन दरों पर किया जाता है जो केन्द्रीय सरकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की शर्तों को ध्यान में रखकर निश्चित कर देती है।

५. निकास-गृह का कार्य करना—रिजर्व बैंक एक केन्द्रीय बैंक के रूप में अन्य बैंकों के निकास-गृह अर्थात् समाशोधन या ऋणमार्जन गृह का भी कार्य करता है।

(आ) साधारण बैंक के कार्य—रिजर्व बैंक निम्नलिखित साधारण बैंक के कार्य भी सम्पन्न करता है :—

१. सरकारों, बैंकों, संस्थाओं तथा व्यक्तियों से बिना ब्याज के रुपया जमा करना। २. भारत में भुगतान होने वाले ९० दिन के मुद्दती बिलों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों का क्रय-विक्रय तथा पुनर्कटौती करना जिन पर दो अच्छे हस्ताक्षर हों और इनमें से एक हस्ताक्षर सदस्य बैंक अथवा प्रान्तीय सहकारी बैंक का हो। ३. भारत की केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों को अधिक-से-अधिक ९० दिन की अवधि के लिये ऋण देना। ४. भारत की केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों की किसी अवधि की प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय करना। ५. भारत से बाहर अन्य किसी देश की १० वर्षों के भीतर परिपक्व होने वाली प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करना। ६. खेती सम्बन्धी ९ महीने के मुद्दती बिलों का क्रय विक्रय तथा पुनर्कटौती करना। ७. अपनी शाखाओं की दर्शनी ड्राफ्ट बेचना। ८. सदस्य बैंकों को कम-से-कम दो लाख रुपया के बराबर विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय करना। ९. अधिक से अधिक ३० दिन के लिये सदस्य बैंकों अथवा किसी विदेशी केन्द्रीय बैंक से ऋण लेना। १०. केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों के ऋण-पत्र बेचना। ११. सोने के सिक्कों और सोने का क्रय-विक्रय करना। १२. द्रव्य प्रतिभूतियों, जेवर तथा अन्य मूल्यवान वस्तुओं को सुरक्षित रखना। १३. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के सदस्य-राष्ट्रों के किसी भी बैंक के साथ खाता खोलना तथा उसके एजेन्ट का काम करना। १४. बैंकिंग सम्बन्धी आंकड़ों का संकलन कर प्रकाशित करना, आदि।

रिजर्व बैंक के निषिद्ध (Prohibited) कार्य— रिजर्व बैंक निम्नलिखित कार्य नहीं कर सकता है :—

(१) रिजर्व बैंक कोई व्यवसायिक तथा व्यापारिक कार्य नहीं कर सकता है। (२) वह अचल सम्पत्ति को रहन रखकर उस पर ऋण नहीं दे सकता है और न वह अचल सम्पत्ति को अपने निजी काम के अतिरिक्त खरीद भी सकता है। (३) वह अपने शेयर या अन्य किसी बैंक या कम्पनी के शेयर नहीं खरीद सकता है और न उन शेयरों की जमानत पर ऋण ही दे सकता है (४) वह बिना प्रतिभूतियों के आधार पर कोई ऋण नहीं दे सकता है। (५) वह जमा होने वाले रुपये पर ब्याज भी नहीं दे सकता है। (६) वह ऐसे बिलों को नहीं लिख सकता है और न उन्हें स्वीकार ही कर सकता है जिनका माँगने पर भुगतान न हो।

रिजर्व बैंक तथा स्टेट बैंक का सम्बन्ध—जिन स्थानों पर रिजर्व बैंक की शाखाएँ नहीं हैं वहाँ स्टेट बैंक इसका प्रतिनिधित्व करता है। स्टेट बैंक को इस कार्य के लिये वार्षिक निश्चित कमीशन मिलता है।

रिजर्व बैंक तथा सदस्य एवं असदस्य बैंक—देश के बैंकों में सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने बैंकों को दो श्रेणियों में विभाजित कर दिया है—(१) सदस्य बैंक और (२) असदस्य बैंक। सदस्य (Scheduled) बैंक वे बैंक हैं जो रिजर्व बैंक एक्ट की दूसरी सारणी (Schedule) में सम्मिलित होते हैं तथा जिनका नाम केन्द्रीय सरकार द्वारा गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है। कोई भी बैंक जो भारत में बैंकिंग कार्य करता है और जिसकी परिदत्त पूँजी और संचित कोष ५ लाख रुपये से अधिक है तथा जिसका रजिस्ट्रेशन भारतीय कम्पनीज या बैंकिंग एक्ट अथवा किसी विदेशी विधान के अनुसार हुआ है, सदस्य बैंक बन सकता है। प्रत्येक सदस्य बैंक को अपनी माँग जमा का ५% तथा मुद्दती जमा का २% रिजर्व बैंक के पास जमा रखना पड़ता है। प्रत्येक सदस्य बैंक को प्रति मास केन्द्रीय सरकार तथा रिजर्व बैंक को एक साप्ताहिक विवरण (Weekly Return) भेजना पड़ता है।

असदस्य बैंक—जिन बैंकों के नाम रिजर्व बैंक एक्ट की दूसरी सारणी में सम्मिलित नहीं होते हैं वे असदस्य (Non Scheduled) बैंक कहलाते हैं। रिजर्व बैंक असदस्य बैंकों से भी जमा व मासिक विवरण आदि द्वारा सम्पर्क रखता है।

रिजर्व बैंक तथा देशी बैंकर—रिजर्व बैंक देशी बैंकरों को आधुनिक बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत लाने के लिये प्रयत्नशील है। इसने सबसे पहले सन् १९३७ में देशी बैंकरों को नियमबद्ध करने के लिये एक योजना बनाई, परन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। इसके बाद सन् १९४१ में इस प्रकार की एक नवीन योजना बनाई गई परन्तु वह भी देशी बैंकरों के विरोध के कारण कार्य रूप में परिणत नहीं की जा सकी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये रिजर्व बैंक ने सन् १९५१ में बम्बई में हुई देशी बैंकरों की सभा में भी भाग लिया था।

रिजर्व तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष एवं पुनर्निर्माण व विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय बैंक—भारतवर्ष प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) तथा पुनर्निर्माण व विकास के लिये बैंक (International Bank for Reconstruction & Development) का सदस्य है। रुपये का मूल्य ८४०५१२ (स्वर्ण) ग्रेन के बराबर निर्धारित किया था जो

सितम्बर १९४९ मे ३०.५% डॉलर के रूप मे कम कर दिया गया। भारत का मुद्रा-कोष मे प्रमुख स्थान है। अप्रैल १९४९ से भारत ने कोष से डॉलर खरीदने का अधिकार छोड दिया है। अब भी भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का ६८ मिलियन डॉलर का ऋणी है।

पुर्नानिर्माण तथा विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय बैंक—इस बैंक का मुख्य ध्येय अन्तर्राष्ट्रीय साख कार्य मे सहयोग देना है। इसकी पूंजी मे सब सदस्यों का भाग है। इसकी कार्यकारिणी मे ऋणदाता व ऋणी दोनों ही राष्ट्र प्रतिनिधित्व कर सकते है। भारत को आर्थिक विकास के लिए अब तक कुल ६२ ५ मिलियन डॉलर का ऋण मिल चुका है।

रिजर्व बैंक के कार्य का आलोचनात्मक अध्ययन—रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व बैंक-दर (Bank Rate) ७% से ९% थी। उसमे स्थिरता का लवलेश भी न था। परन्तु रिजर्व बैंक ने लगभग १५ वर्ष तक बैंक दर घटाकर ३% ही स्थिर रखा। केवल १५ नवम्बर १९५१ मे यह बढाकर ३½% कर दी गई है। बैंक दर कम करने के कारण ब्याज की दरें भी गिर गई। उनमे विभिन्नता बहुत अंशों मे दूर हो गई। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् भारतीय मुद्रा-बाजार की मौसमी कमी समाप्त हो गई। यद्यपि बैंक का मुद्रा-बाजार पर नियन्त्रण पूर्णतया नही हुआ है परन्तु फिर भी इसकी साख-नीति बहुत अंशों तक सफल रही है। बैंक मुद्रा-बाजार के विभिन्न अगों मे सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न मे भी कुछ अशों तक सफल रहा है।

बैंक ने कृषि-साख सम्बन्धी एव सहकारी आन्दोलन की समस्याओं का भली-भांति अध्ययन किया है और कृषि की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु सहकारी बैंकों को ऋण सम्बन्धी सुविधायें दी हैं। इसने कृषि साख सम्बन्धी आवश्यकताओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक अखिल भारतीय साख जाँच की व्यवस्था की है।

बैंक ने सरकारी बैंक के कार्य भी काफी योग्यता से किये हैं और भारतीय मुद्रा-बाजार से सरकार के लिये ऋण प्राप्त करने मे बहुत सफल रहा। युद्ध-जन्य स्टर्लिङ्ग आदि महत्वपूर्ण समस्याओं को बैंक ने बडी योग्यता से हल किया है। बैंकरों के बैंक के रूप मे भी इसने अच्छा कार्य किया है। इसी के प्रयत्नों से ही अनेक बैंकिंग सम्बन्धी विधान पास हुये जिसमे देश मे बैंकिंग सम्बन्धी विकास को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। देश की आर्थिक समस्याओं पर समय-समय पर रिपोर्ट प्रकाशित की गई हैं और जिनमे आवश्यक सुधार दिये गये है।

इतना होते हुए भी बैंक कई बातों मे असफल रहा। उदाहरणार्थ, देशी बैंकरों से बैंक अपना सम्बन्ध स्थापित नही कर सका और हुण्डी या बिल बाजार का विकास नही कर सका। युद्ध काल मे बैंक मुद्रा-स्फीति और मूल्य-वृद्धि को रोकने मे भी असमर्थ रहा।

(६) अन्य बैंकिङ्ग संस्थाएँ

(अ) सहकारी बैंक (Co-operative Banks)—सहकारिता वह सङ्गठन है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति स्वेच्छा से सगठित होकर सर्वहित के लिए सम्मिलित कार्य करते हैं। सहकारिता मे स्पर्द्धा का स्थान सहयोग ले लेता है। भारतवर्ष मे सन् १९०४ और सन् १९१२ के सहकारिता कानून के अनुसार देश मे सहकारी समितियों की

स्थापना हुई। जो समितियाँ जमा करने और ऋण देने का कार्य करती हैं वे सहकारी बैंक अथवा साख समितियाँ कहलाती हैं। सहकारी साख समितियाँ या सहकारी बैंक तीन भागों में विभाजित किये जा सकते हैं—(१) प्रारम्भिक सहकारी साख समितियाँ, (२) केन्द्रीय सहकारी बैंक, और (३) प्रान्तीय सहकारी बैंक।

(१) प्रारम्भिक साख समितियाँ (Primary Co-operative Credit Societies)—ये देश के कोने-कोने में स्थित हैं और निर्धन किसानों तथा कारीगरों को ऋण देती हैं। ये केवल सदस्यों को ही ऋण देती हैं। ग्रामीण साख समितियों के सदस्यों का उत्तरदायित्व असीमित होता है। परन्तु नगर साख समितियों का उत्तरदायित्व प्रायः सीमित होता है। इनको पूँजी जमा और प्रवेश फीस आदि के रूप में एकत्रित की जाती है।

(२) सहकारी केन्द्रीय बैंक (Central Co-operative Banks)—प्रत्येक जिले में एक केन्द्रीय बैंक होता है जो अपने जिले के प्रारम्भिक सहकारी समितियों का संगठन तथा नियन्त्रण करता है तथा उन्हें आर्थिक सहायता भी देता है। ये शेयर बेच कर तथा लोगों की जमा स्वीकार कर अपनी पूँजी का संगठन करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर ये अपने राज्य के बैंक से जो इन सबके ऊपर होता है, ऋण लेते हैं।

(३) राज्य सहकारी बैंक (State Co-operative Banks)—राज्य में एक राज्य सहकारी बैंक होता है जिससे उस राज्य के समस्त केन्द्रीय बैंक सम्बन्धित होते हैं। राज्य सहकारी बैंक अपने राज्य के समस्त केन्द्रीय बैंकों का नियन्त्रण करते हैं तथा उनको आर्थिक सहायता देते हैं। राज्य सहकारी बैंकों की देख-रेख के लिये एक अखिल भारतीय राज्य सहकारी बैंक संघ नामक संस्था भी है।

भारत में सहकारी बैंकों की अवस्था तथा प्रगति सन्तोषजनक नहीं है। उनकी दोषपूर्ण कार्य-प्रणाली, ग्रामीण जनता की अशिक्षा, सहकारिता सिद्धान्तों की अज्ञानता, तथा उनकी ऋण-ग्रस्तता और योग्य व ईमानदार कार्य-कर्ताओं का अभाव आदि इस असन्तोषजनक अवस्था के कुछ मुख्य कारण हैं। अतः उपर्युक्त दोषों को दूर करते हुए सहकारी बैंकों का पुनर्संङ्गठन नितान्त आवश्यक है।

(आ) भूमि बन्धक बैंक (Land Mortgage Banks)—वे संस्थाएँ हैं जो भूमि को बन्धक अर्थात् गिरवी रखकर दीर्घकाल के लिये कृषकों को ऋण देती है। साख सहकारी समितियाँ कृषकों की अल्प तथा मध्यकालीन ऋण की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, परन्तु दीर्घकालीन ऋण के लिये भूमि-बन्धक बैंकों की ही सेवाओं का उपयोग करना पड़ता है।

ऋण का उद्देश्य—भूमि-बन्धक बैंकों द्वारा ऋण किसानों को प्राय निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये दिया जाता है—(१) पुराने ऋण चुकाने के लिये, (२) भूमि खरीदने के लिये, (३) सिंचाई के लिये कुँआ बनवाने तथा मूल्यवान यन्त्रादि खरीदने के लिये, (४) भूमि में स्थायी सुधार करने तथा चकबन्दी करने के लिये, (५) किसानों की भूमि व मकान गिरवी से छुड़वाने के लिए।

भूमि बन्धक बैंकों के भेद—यद्यपि सभी भूमि बन्धक बैंक सहकारी भूमि बन्धक बैंक कहलाते हैं, फिर भी ये तीन प्रकार के होते हैं—(१) सहकारी भूमि-बन्धक बैंक, (२) व्यापारिक भूमि बन्धक बैंक, और (३) अर्द्ध-सहकारी (Quasi-Co-operative)

बैंक। सहकारी भूमि-बन्धक बैंक सहकारी सिद्धान्त अर्थात् पारस्परिक सहयोग की भावना से चलते हैं। लाभ कमाने के उद्देश्य से इनकी स्थापना नहीं की जाती है। व्यापारिक भूमि-बन्धक बैंक व्यापारिक बैंकों की भाँति लाभ कमाने के उद्देश्य से स्थापित किये जाते है। अर्द्ध-सहकारी भूमि-बन्धक बैंकों में व्यापारिक बैंक तथा सहकारी बैंकिंग के सिद्धान्तों का सामजस्य रहता है।

पूँजी—शेयरों, जमा तथा ऋण पत्रों (Debentures) आदि के द्वारा इनकी पूँजी प्राप्त होती है। प्राय. इनके कुछ ऋण-पत्र राज्य-सरकारें खरीदती हैं अथवा उन पर निश्चित ब्याज की गारंटी होती है।

ऋण का आदान प्रदान—किसान को या तो गिरवी रखी भूमि के मूल्य का आधा अथवा गिरवी रखी भूमि के लगान का ३० गुना तक ऋण दिया जा सकता है। ऋण के भुगतान करने का समय १६ वर्षों से ३० वर्षों तक होता है। ऋण ब्याज सहित प्राय वार्षिक सुविधाजनक किस्तों में चुकाया जाता है। ब्याज की दर लगभग ८% या ६% होती है।

भारतवर्ष में भूमि-बन्धक बैंक—भारतवर्ष में पहिला भूमि बन्धक बैंक सन् १९२० में पंजाब में स्थापित हुआ पर वहाँ असफल रहा। फिर मद्रास में सन् १९२६ में भूमि बन्धक बैंकों की स्थापना प्रारम्भ हुई। सन् १९२९ में बम्बई राज्य में एक ऐसा बैंक खोला गया। इसके पश्चात् मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश आदि राज्यों में भी भूमि बन्धक बैंक स्थापित होने लगे। सन् १९५७-५८ में भारतवर्ष में १९ केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक तथा ५८३ प्रारम्भिक बन्धक बैंक थे जिनमें क्रमशः १,५१,४८३ और ३,३७,६८० सदस्य थे। इन्होंने क्रमश. ४६२ लाख रु० और २५२ लाख रु० का ऋण दिया था।

निष्कर्ष—देश के विस्तार को देखते हुए अब तक बहुत कम भूमि-बन्धक बैंकों की स्थापना हुई है। कृषकों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करने का एकमात्र साधन होने के कारण यह आवश्यक है कि भूमि बन्धक बैंकों का देश के कोने-कोने में प्रसार किया जाय।

(इ) औद्योगिक बैंक (Industrial Bank)—उद्योगों के विकास तथा उन्नति के लिये औद्योगिक बैंकों की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार व्यापारिक बैंक चालू पूँजी (Working Capital) का प्रबन्ध करते हैं उसी प्रकार औद्योगिक बैंक उद्योगों की स्थायी पूँजी (Fixed or Block Capital) का प्रबन्ध करते है।

पूँजी—औद्योगिक बैंक लम्बे समय के लिये ऋण देते हैं, अतएव वे अच्छा ब्याज देकर स्थायी जमा खाते में रुपया जमा करते हैं। इसके अतिरिक्त स्वदेशी बैंकरों से भी ऋण लेते हैं। उद्योगों के अर्थ-प्रबन्धक का कार्य भारतवर्ष में मैनेजिंग एजेण्टों द्वारा भी होता है।

कार्य—(१) उद्योगों के लिये स्थायी अथवा अचल पूँजी के लिये अर्थ प्रबन्धन करना, (२) औद्योगिक कम्पनियों के अंशों (Shares) का अभिगोपन (Underwriting) करना तथा स्वयं उनके अंश खरीदना, और (३) उनको औद्योगिक परामर्श देना।

भारत में औद्योगिक बैंक—भारतवर्ष में औद्योगिक बैंक खोलने के अनेक प्रयत्न किये गये परन्तु इन प्रयत्नों को सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। स्वदेशी आन्दोलन

के समय बहुत से बैंक भारत में खोले गये, परन्तु वे सब कुप्रबन्ध तथा संचालकों की सट्टेबाजी तथा बेईमानी के कारण डूब गये। इनमें पिपुल्स बैंक, अमृतसर बैंक, मैसूर औद्योगिक बैंक, कलकत्ता औद्योगिक बैंक आदि थे। प्रथम महायुद्ध-काल में सन् १९१७ में टाटा औद्योगिक बैंक स्थापित हुआ, परन्तु युद्धकालीन तेजी (Boom) समाप्त होने के बाद विश्व-व्यापी मन्दी (Depression) का शिकार बन गया और अन्त में इसे सेण्ट्रल बैंक ऑफ इंडिया में मिला दिया गया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् कुछ प्रांतों में उद्योग-धन्धों के लिये दीर्घकालीन ऋण की व्यवस्था के लिये विभिन्न संस्थाओं की स्थापना की गई है। उत्तर प्रदेश, बम्बई और मद्रास में भी औद्योगिक बैंकों की स्थापना की जा रही है।

औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल (Industrial Finance Corporation)—भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् हमारी राष्ट्रीय सरकार ने भी देश के उद्योग-धन्धों की दीर्घकालीन तथा मध्यकालीन समस्याओं को हल करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर जुलाई सन् १९४८ में औद्योगिक अर्थ-प्रमण्डल की स्थापना की है। इसकी अधिकृत पूंजी १० करोड़ रुपये है जिसमें से ५ करोड़ रुपये की पूंजी प्राप्त हो चुकी है। इसके अंशधारियों (Shareholders) को भारत सरकार ने अंशों की राशि और ब्याज का आश्वासन दिया है। कार्पोरेशन अर्थात् प्रमण्डल के पाँच-पाँच हजार रुपये के दस हजार अंश अर्थात् शेयर केन्द्रीय सरकार, रिजर्व बैंक, बीमा कम्पनियों और सहकारी बैंकों ने खरीदे हैं। इसका प्रबन्ध १२ संचालकों अर्थात् डाइरेक्टरों के हाथ में है जिनमें से ६ सरकार द्वारा मनोनीत और ६ अंशधारियों द्वारा निर्वाचित हैं। प्रमण्डल की पूंजी और संचित-कोष के मूल्य का पाँच गुना रुपया उधार ले सकता है। यह जमा कम-से-कम पाँच वर्ष के लिये करता है। जो औद्योगिक संस्थाएँ इससे उधार लेंगी उन्हें अपनी लाभ दर को सीमित करना होगा।

अर्थ-प्रमण्डल के कार्य—(१) अर्थ-प्रमण्डल अधिक-से-अधिक २५ वर्ष तक संयुक्त पूंजी वाली औद्योगिक कम्पनियों तथा सहकारी बैंकों को ऋण दे सकता है। (२) उनके द्वारा लिये गये दीर्घकालीन ऋणों की गारण्टी करना जो अधिक-से-अधिक २५ वर्ष की अवधि के लिये पूंजी-बाजार में प्राप्त किये गये हैं (३) उनके द्वारा जारी किये गये शेयरों, स्टॉकों, डिबेन्चरों (ऋण-पत्रों) आदि का अभिगोपन करना। (४) उनके ऋण-पत्रों को खरीदना जिनका भुगतान २५ वर्ष के भीतर-भीतर होने वाला है। (५) केन्द्रीय सरकार की अनुमति से भारतीय उद्योगों को विदेशों से अथवा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण दिलवाना, आदि।

अर्थ-प्रमण्डल द्वारा दिया गया ऋण—प्रथम वर्ष में (१९४८-४९) अर्थ-प्रमण्डल ने उद्योगों को ३ करोड़ ४२ लाख २५ हजार रुपये की तथा दूसरे वर्ष में (१९४९-५०) ३ करोड़ ७७ लाख रुपये की आर्थिक सहायता की। यह सहायता ऋण के रूप में दी गई है। जिन उद्योगों को आर्थिक सहायता मिली है वे इस प्रकार हैं—सूती तथा ऊनी वस्त्र उद्योग, तेल-मिलें, लोहा तथा इस्पात के उद्योग धातु-उद्योग, एल्यूमिनियम, इंजीनियरिंग, चीनी उद्योग, खानें, रेयन (कृत्रिम रेशम) उद्योग रसायन उद्योग, सीमेंट उद्योग, चीनी मिट्टी तथा काँच के उद्योग आदि।

निष्कर्ष—भारत के आर्थिक विकास के लिये देश में उद्योगों की उन्नति होना आवश्यक है। उद्योगों की उन्नति का एकमात्र साधन औद्योगिक बैंकों की स्थापना

है। जर्मनी के उद्योग-धन्धे ऐसे बैंकों की सहायता ही से इतनी अधिक उन्नति कर सके थे। दुर्भाग्य से भारतवर्ष में औद्योगिक बैंकों की संख्या अत्यल्प है। अतः देश की आवश्यकता के अनुसार औद्योगिक बैंकों का खुलना नितान्त आवश्यक है।

(ई) डाकघर के सचय बैंक (Postal Savings Banks)—जन-साधारण म मितव्ययता (Economy) तथा सचय (Saving) की भावना बढ़ाने के उद्देश्य से इन बैंकों की स्थापना की गई है। जनता से राशि जमा करना, उसे निकालने की सुविधा देना, नेशनल सेविंग्स सर्टीफिकेट बेचना, जीवन बीमा-सम्बन्धी व्यवहार करना, आदि कार्य डाकघरों के सचय बैंक द्वारा किये जाते है। डाकघरों के सचय बैंकों में किसी भी व्यक्ति के खाते मे अधिक से अधिक १५,००० रु० जमा किये जा सकते हैं। पर्दानशीन महिलाएँ अपना रुपया अपने प्रतिनिधि के द्वारा जमा कर सकती है तथा निकाल सकती है। नाबालिग अर्थात् अवयस्क (Minor) के नाम पर भी सरक्षक अभिभावक (Guardian) के द्वारा खाता खोला जा सकता है और जिसमें अधिक से अधिक १५,००० रु० जमा किये व निकाले जा सकते हैं। अकेले व्यक्ति के खाते मे जमा कराये गये १०,००० रु० तथा सयुक्त नाम के खाते म जमा २०,००० रुपये पर ब्याज प्रतिवर्ष २½% मिलता है और इससे आगे की राशि पर प्रति वर्ष २ प्रतिशत। सेविंग्ज बैंक का काम करने वाले सभी डाकघरों से सप्ताह में दो बार मे अधिक-से-अधिक १,००० रुपये निकाले जा सकते हैं। सन् १९५८ से देश के समस्त हेड एव सब डाकघरों म खाते रखने वालो को चैक से राशि निकालने व जमा कराने की सुविधा प्रदान कर दी गई।

देश मे डाकघरों के अतिरिक्त व्यापारिक बैंक भी अधिकतर सचय बैंक का कार्य करते हैं और उनके नियमादि भी लगभग डाकघर के सचय बैंकों की भाँति ही होते हैं। कुछ व्यापारिक बैंक सचय बैंक खाते मे से चैक द्वारा रुपया निकालने की सुविधा भी देते हैं।

बैंक निकास गृह (Bank Clearing House)—बैंक निकास गृह वह सस्था है जिसमे किसी एक स्थान के बैंकों के पारस्परिक लेन-देन का निपटारा किया जाता है। जिस सिद्धान्त पर इसमे काम होता है वह बहुत ही सादा है। प्रत्येक बैंक इसमे वे चैक और बिल ले जाते है जिनका उसे अन्य बैंकों से भुगतान मिलना है। इनके बदले म उसे वे सब चैक और बिल मिलते हैं जिनका भुगतान उसे करना होता है। अन्त लेन-देन का समायोजन कर शेष (Balance) ज्ञात कर लिया जाता है और उसका निपटारा केन्द्रीय बैंक अथवा अन्य किसी अधिकृत बड़े बैंक के चैक से कर दिया जाता है। इस प्रकार प्रति दिन बैंकों मे हजारों लाखों के आपसी भुगतान बिना रुपये के लेन देन के ही हो जाते है।

लाभ—(१) इस व्यवस्था से श्रम और समय की बचत होती है, क्योंकि बैंकों को रकम की वसूली के लिये प्रत्येक बैंकों म अपना आदमी भेजने की आवश्यकता नही होती। (२) बैंकों को अधिक नकद कोष नहीं रखना पड़ता है। (३) इससे साख का सृजन होता है। (४) सुविधाजनक भुगतान-व्यवस्था से व्यापार म उन्नति होती है। (५) बैंक के लाभों म वृद्धि होती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—व्यापारिक बैंक के प्रधान कार्य क्या है ? भारत में मिश्रित पूंजी वाले अन्य कौन से बैंक कार्य कर रहे हैं ? सक्षेप मे उनके प्रधान कार्य भी लिखिए।
(उ० प्र० १९५८, ५२)

२—आधुनिक बैंक के साधारण कार्यों का वर्णन कीजिये। भारत की स्वदेशी साहूकारी प्रणाली किस प्रकार भिन्न है ? उदाहरण से अपना उत्तर स्पष्ट कीजिये।
(उ० प्र० १९५७, ४६, ४३)

३—भारतीय रिजर्व बैंक के महत्वपूर्ण कार्यों का विवरण दीजिये।
(उ० प्र० १९५५)

४—भारत की देशी महाजनी प्रथा का सक्षेप म वर्णन कीजिए और इसकी आधुनिक बैंको से तुलना कीजिए।
(रा० बो० १९६०)

५—बैंक की परिभाषा क्या है ? बैंक की विभिन्न किस्में बतलाइये और जिस प्रकार के कार्यों मे वे विशिष्टता प्राप्त करते हैं, उनका सक्षिप्त वर्णन कीजिए।
(रा० बो० १९५७)

६—भारतीय रिजर्व बैंक का विधान तथा कार्य सक्षेप म वर्णन कीजिए।
(अ० बो० १९६०)

७—बैंक उत्पत्ति म किस प्रकार सहायक होते हैं ? भारतीय देशी बैंकरों के कार्य और महत्व स्पष्ट कीजिये।
(रा० बो० १९५०, अ० बो० १९५१)

८—बैंक उद्योग और व्यापार की किस प्रकार सहायता देते है ? क्या हमें कृषि, व्यापार व उद्योग को सहायता पहुँचाने के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के बैंको की आवश्यकता होती है ? क्यों ?
(अ० बो० १९५५, ५२, ४६)

९—रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया के मुख्य कार्य क्या-क्या है ? इसके लिये व्यापार पर क्यों और क्या नियन्त्रण लगे है ?
(म० भा० १९५४)

१०—व्यापारिक बैंक से क्या अभिप्राय है ? यह किस प्रकार उधार देता है ?
(सागर १९५१)

११—भारत मे सयुक्त पूंजी वाले बैंकों और देशी बैंकों की तुलना कीजिए। इनमें कौनसा अधिक उपयोगी है ?
(दिल्ली हा० से० १९५०)

१२—निम्नलिखित पर टिप्पणियां लिखिये —

भूमि बन्धक बैंक	(उ० प्र० १९४८, ४२, ४०, दिल्ली हा० से० १९५१)
विनिमय बैंक	(रा० बो० १९५६, ५२, ४६, नागपुर १९५३)
बैंक निकास गृह	(अ० बो० १९५०)
सयुक्त पूंजी वाले बैंक	(अ० बो० १९४३, ४१, म० भा० १९५२)
रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया	(रा० बो० १९५१, ५०, अ० बो० १९५४)
स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया	(अ० बो० १९५६)

अध्याय ५५

ग्राम्य ऋण ग्रस्तता
(Rural Indebtedness)

असंख्य लोग ऋण में जन्म लेते हैं, ऋण में जीवन व्यतीत करते हैं और मरते समय अपने ऋण का भार अपनी भविष्य की सन्तान पर छोड़ जाते हैं।[1]

—भारतीय कृषि राजकीय आयोग की रिपोर्ट

परिचय—यद्यपि प्रकृति ने भारतवर्ष में कृषि की उन्नति के सभी साधन पर्याप्त मात्रा में प्रदान किये हैं परन्तु फिर भी यहाँ की कृषि अवनत दशा में है और भारतीय कृषक इतने निर्धन हैं कि उन्हें भरपेट भोजन भी नहीं मिल पाता। इस शोचनीय दशा का मुख्य कारण कृषकों की भारी ऋण ग्रस्तता है। किसान सिर से पैर तक ऋण में इतना डूबा रहता है कि उसे शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करना भी दुर्लभ हो जाता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि भारतीय कृषक ऋण में पैदा होते हैं, ऋण में जीवन व्यतीत करते हैं तथा ऋण में ही मर जाते हैं। वास्तव में देखा जाय तो किसान महाजन के चंगुल में फँसा हुआ है और सदा ऋण के बन्धन में जकड़ी हुई है।[2] जो पैदावार खेत में होती है उसका अधिकांश भाग लगान चुकाने में चला जाता है। किसान के पास खाने को भी नहीं बचता। फिर भी महाजन का ऋण बढ़ता ही रहता है क्योंकि किसान से फसल के समय पूरा ब्याज भी नहीं चुकता। इस प्रकार किसान महाजन का आजन्म आर्थिक दास हो बना रहता है। केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी के अनुसार भारतीय कृषक की वार्षिक आय ८२ रु० है और उसका औसत ऋण आय से २५ गुना अधिक है। कृषि की उन्नति करने तथा कृषक को आर्थिक उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने के लिये यह आवश्यक है कि किसानों के ऋण का भार कम किया जाय और उन्हें शीघ्रातिशीघ्र ऋणमुक्त कराया जाय।

ग्रामीणों की अर्थ-सम्बन्धी आवश्यकताएँ—अन्य उद्योग धन्धों की भाँति कृषि व्यवसाय के चलाने के लिये भी पूँजी या धन की आवश्यकता होती है। भारतीय कृषक निर्धन होने के कारण अपनी समस्त कृषि सम्बन्धी आवश्यकताओं की

1— Innumerable people are born in debt live in debt and die in debt passing on their burden to those who follow them

Indian Agricultural Royal Commission Report

2— The Country in the grip of the Mahajan It is the bonds debts that shackle agriculture

—H Wolff *Cooperation in India* p 3

पूर्ति प्रायः ऋण लेकर ही करते हैं। अस्तु, भारतीय किसानों के ऋण निम्नांकित भागों में विभक्त किये जा सकते हैं :—

(१) अल्पकालीन ऋण—भारतीय किसान अपनी अल्पकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जो थोड़े समय के लिये ऋण लेता है उसे 'अल्पकालीन ऋण' कहते हैं। उदाहरणार्थ, खाद, बीज आदि खरीदने के लिये और लगान व श्रमिकों को वेतन चुकाने तथा फसल काटने आदि का खर्चा चुकाने के लिये अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता होती है। इसकी अवधि अधिक से अधिक ६—१० महीने होती है तथा यह प्रायः फसल के उपरान्त ही चुका दिया जाता है। अतः ब्याज की दर उचित होनी चाहिये।

(२) मध्यकालीन ऋण—पशु व कृषि के औजार खरीदने तथा साधारण-तया भूमि में सुधार करने के लिये होने वाले व्ययों के लिये जो ऋण लिया जाता है वह 'मध्यकालीन ऋण' कहलाता है। इसकी अवधि एक वर्ष से लेकर पाँच वर्ष तक होती है।

(३) दीर्घकालीन ऋण—जो ऋण कुँये खुदवाने, भूमि में स्थायी सुधार करने, पुराने ऋण चुकाने, भूमि खरीदने आदि कार्यों के लिये लिया जाता है वह 'दीर्घकालीन ऋण' कहलाता है। इसकी अवधि ५ से २० वर्ष तक की होती है।

विभिन्न ऋण आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन—भारत में ग्रामीणों को ऋण देने के लिये महाजन या साहूकार, देशी बैंकर, सरकार, सहकारी साख समितियाँ, भूमि-बन्धक बैंक, व्यापारिक बैंक, रिजर्व बैंक आदि सम्मिलित हैं। भारतीय किसान अपनी आवश्यकताओं का अधिकतम भाग गाँव के महाजन या साहूकार से ऋण लेकर पूरा करता है। सरकार द्वारा उसे तकावी के रूप में ऋण मिलता है। सहकारी साख समितियों द्वारा भी ग्रामीणों को ऋण की सुविधाएँ प्राप्त हैं। रिजर्व बैंक भी किसानों को ऋण देता है परन्तु यह अपर्याप्त है। इनसे कृषक भी केवल अल्प तथा मध्यकालीन ऋणों की ही आवश्यकताओं की ही पूर्ति हो सकती है, परन्तु दीर्घकालीन ऋण के लिये कोई उपयुक्त व्यवस्था नहीं है। अतः भूमि बन्धक बैंकों के विकास एवं प्रसार से दीर्घ-कालीन ऋण की समस्या बहुत कुछ हल की जा सकती है।

ग्राम्य ऋण का रूप (Nature of Rural Indebtedness)—किसान को अपने उत्पादक (Productive) तथा अनुत्पादक (Unproductive) कार्यों के लिये ऋण लेना पड़ता है। किसान अपने उत्पादक-कार्यों के लिये बहुत ही थोड़ा ऋण लेता है। अनुमान लगाया गया है कि सम्पूर्ण ऋण का ३०% उत्पादक ऋण है, शेष ७०% अनुत्पादक ऋण है जो किसान द्वारा प्रायः विवाह, मृत्यु-भोज, श्राद्ध आदि सामाजिक कार्यों के लिए लिया जाता है। डार्लिङ्ग (Darling) का अनुमान था कि पंजाब के ऋण में से केवल ५% भूमि सुधार के लिये व्यय किया गया था और अन्य स्थानों के विषय में भी यही अनुमान था।

उत्पादक कार्यों के लिये तो उन्हें ऋण बैंकों आदि से मिल जाता है परन्तु अनुत्पादक-कार्यों के लिये उन्हें महाजनों, साहूकारों और साहूनियों आदि का सहारा लेना पड़ता है। ये लोग कभी-कभी १००% से ४००% तक ब्याज लेते हैं। इस प्रकार से मूलधन तो थोड़ा ही होता है परन्तु ब्याज मूलधन से कई गुना आगे बढ़ जाता है, और वे कई पीढ़ियों तक इस ऋण के बोझ को ढोते रहते हैं।

ग्राम्य ऋण का अनुमान—भारतवर्ष में ग्राम्य ऋण की मात्रा का अनुमान कई बार लगाया जा चुका है। परन्तु यह सब अनुमान मात्र ही है वास्तविक आँकड़े कभी भी प्राप्त नहीं हो सके हैं।

(१) सर्व प्रथम सन् १८७५ ई० में (Deccan Riots Commission) ने ग्राम्य ऋण की समस्या पर भारत सरकार का ध्यान आकर्षित किया था।

(२) सन् १८८० व १९०१ में दुर्भिक्ष आयोग (Famine Commission) ने बताया कि लगभग एक तिहाई से अधिक किसान ऋण के लोहे रूपी शिकंजे में जकड़े हुए हैं।

(३) सन् १८९५ में सर फ्रेडरिक निकल्सन (Sir F Nicolson) ने अनुमान लगाया कि मद्रास प्रान्त में ग्राम्य ऋण की मात्रा ४५ करोड़ रुपये के लगभग था।

(४) सन् १९११ में सर एडवर्ड मकलगन (Sir E Maclagan) ने सम्पूर्ण ब्रिटिश इण्डिया में ग्राम्य ऋण का अनुमान ३०० करोड़ के लगभग बताया।

(५) सन् १९२४ में सर एम० एल० डार्लिङ्ग (Sir M L Darling) ने ग्राम्य ऋण की मात्रा ६०० करोड़ रुपये बतलाई।

(६) सन् १९३० में भारतीय केन्द्रीय जाँच कमेटी (Central Banking Enquiry Committee) की रिपोर्ट के अनुसार यह लगभग ९०० करोड़ रुपये था।

(७) सन् १९३४ में श्री स्वामीनाथन ने मद्रास का ऋण २०० करोड़ रुपये के लगभग आँका था।

(८) सन् १९३५ में डाक्टर राधाकमल मुकर्जी के मतानुसार यह १२०० करोड़ रुपया था।

(९) सन् १९३७ में रिजर्व बैंक के कृषि साख विभाग ने खोजबीन करके निश्चय किया कि ग्रामीण ऋण १८०० करोड़ रुपये के लगभग था।

(१०) सन् १९३८ में मनम (E V S Mainam) के अनुसार यह १८०० करोड़ रुपये के लगभग था।[1]

(११) सन् १९४१ में डाक्टर पी० जे० टामस (Dr P J Thomas) के मतानुसार ग्राम्य ऋण की मात्रा ६००० करोड़ रुपया थी।

(१२) सन् १९४५ में कृषि ऋण ग्रस्तता उपसमिति ने अनुमान लगाया था कि ग्रामीण ऋण लगभग ८२५ करोड़ रुपया के रह गया है।

(१३) द्वितीय महायुद्ध के बाद यह ऋण धीरे धीरे पहले से कम हो गया और यह अनुमान लगाया जाता है कि ऋण की मात्रा आजकल लगभग ५०० करोड़ रुपये ही है।

इन अन्वेषणों के आधार पर कहा जा सकता है कि ग्रामीण ऋण पहले से निश्चय ही कम हो गया है। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के कुछ समय पश्चात् अन्य वस्तुओं के साथ साथ कृषि उपज के भी भाव बढ़ गये। बढ़े हुए भाव महायुद्ध के समाप्त होने तक ही नहीं रहे बल्कि युद्धोत्तर काल में भी यही परिस्थिति है। इससे कृषकों को अपनी उपज का अच्छा मूल्य मिलने लगा और वे अपने पुराने ऋण के कुछ भाग को चुकाने में समर्थ हो सके हैं। कुछ विद्वानों की यह भी धारणा है कि सहकारिता आन्दोलन के कारण ऋण का भार कुछ कम हो गया है। भारतवर्ष में सहे

१— Essentials of Rural Development Paper Contributed to the world Cooperators Conference 1938 P 23

कारिता आन्दोलन की प्रगति आशातीत नहीं है, इसलिये ऋण के भार से कम होने का सारा यश इनको नहीं मिल सकता।

ग्राम्य ऋण के कारण (Causes of Rural Indebtedness)—भारतवर्ष में ग्राम्य ऋण के मुख्य कारण निम्नलिखित है :—

१. पैतृक-ऋण—भारतीय ग्राम्य-ऋण की यह विशेषता है कि पिता का ऋण उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों पर चला जाता है। जनता की यह धारणा है कि यदि कोई मनुष्य ऋणी अवस्था में मरता है तो उसकी आत्मा को शान्ति नहीं मिलती, अस्तु, मृतक पुरुष की सन्तान अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझती है कि पैतृक ऋण अवश्य चुकाया जाय। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक पिता अपने पुत्र के ऊपर ऋण का भार छोड जाता है इसीलिये कहा जाता है कि "भारतीय किसान ऋण में पैदा होता है, ऋण म ही जीवन व्यतीत करता है तथा ऋण में ही मरता है और ऋण का भार अपनी सन्तान पर छोड जाता है।"

२ भूमि पर जन-संख्या का दबाव—आजकल जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ती जा रही है। किसानों का एक मात्र साधन खेती करना होने के फलस्वरूप अत्यधिक परिवार खेती की आय से ही अपना भरण पोषण करते हैं। ज्यों ज्यों जन संख्या में वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों भूमि पर अधिक दबाव पडता जाता है अर्थात् किसान की आय कम होने से परिवार का खर्चा नहीं चल पाता और निर्धन किसान को विवश होकर ऋण लेना पड़ता है।

३. खेती का उप विभाजन एवं अपखण्डन—छोटे-छोटे एव छिटके हुए खेत होने के कारण किसान आधुनिक किसान के ढग प्रयोग में नहीं ला सकता। परिणाम यह होता है कि किसान की आय बहुत कम हो जाती है जिससे परिवार का भरण-पोषण करना कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था में विवश होकर महाजन से ऋण लेना आवश्यक हो जाता है।

४. खेती की अनिश्चितता—भारतवर्ष में खेती का काम जुए का खेल है। कभी वर्षा कम होती है जिससे अकाल पड जाता है, कभी अधिक वर्षा के कारण बाढ आ जाती है जिससे फसल नष्ट हो जाती हैं, कभी फसल में कीड़े लग जाते है और कभी टिड्डियाँ खेती साफ कर देती है। किसान को अपने जीवन निर्वाह के लिये ऋण लेने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं रहता।

५. खेती की कम उपज—भारतीय कृषक के पास पर्याप्त भूमि नहीं है। जो कुछ भूमि है वह छोटे-छोटे और बिखरे हुए खेतो में है। अस्तु, गहरी खेती नहीं हो सकती और उपज कम होती है। कम उपज होने के कारण किसान की सब आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकती और उसे विवश होकर ऋण लेना पडता है।

६. पशुओं की मृत्यु—अकाल तथा बीमारी के कारण खेती के पशुओं की अकाल मृत्यु होने से किसान की आर्थिक स्थिति और भी कमजोर हो जाती है और उसे बैल आदि खरीदने के लिये ऋण लेने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

७. पुराने ढग के कृषि-यन्त्रादि—भारतवर्ष मे जैसे प्राचीन एव घने-बसे हुये देश मे पुराने औजारों से गहरी खेती सलाभ नहीं की जा सकती। बिना सलाभ खेती के किसान की आर्थिक स्थिति में सुधार नहीं हो सकता।

८ अच्छे और उत्तम श्रेणी के बीज—खेती की उपज में वृद्धि करने के लिये अच्छे और उत्तम बीजों का प्रयोग आवश्यक है। खेती की उपज कम होने पर किसान की आर्थिक स्थिति में सुधार होना स्वाभाविक है।

९ किसानों का दुर्बल स्वास्थ्य—खेती के समय किसान प्रायः मलेरिया आदि बीमारियों में ग्रस्त रहते हैं जिसके कारण उनका स्वास्थ्य दुर्बल हो जाता है और उनकी कार्य क्षमता में ह्रास होने से किसान पूरा कार्य नहीं कर सकता जिससे आय में और कमी हो जाती है।

१० सहायक उद्योग धन्धों का अभाव—किसान लोग वर्ष भर में ६ या ७ महीने बेकार रहते हैं इस अवकाश के समय में वह कुछ काम करके अपनी आय बढ़ा सकते हैं किन्तु घरेलू उद्योग धन्धों के कारण उनकी आय कम रहती है और कठिनाई के समय उन्हें ऋण लेना पड़ता है।

११ ग्राम्य साख संगठन का अभाव—आजकल साख सहकारी समितियों की इतनी कमी है कि किसान को विवश होकर महाजन के पास जाना पड़ता है। महाजन किसान को एक बार चंगुल में लिये बाद कठिनाई ही कठिनाई में निकलने देता है।

१२ ब्याज की ऊँची दर—किसान को जब ऋण लेना पड़ता है वह आगा पीछा नहीं देखता और वह अधिक से अधिक ब्याज देने को तैयार हो जाता है। चालाक महाजन किसान की निर्धनता तथा विवशता का पूरा लाभ उठाता है और ऊँची ब्याज की दर पर ऋण देता है।

१३ मुकदमेबाजी—भूमि तथा ऋण के कारण प्रायः कृषक मुकदमेबाजी में फँस जाते हैं। कभी कभी पारस्परिक कलह के कारण भी फौजदारी हो जाती है और वे लोग कचहरी पहुँच जाते हैं। मुकदमेबाजी में उन्हें बहुत खर्चा करना पड़ता है। इस खर्च को वे ऋण लेकर पूरा करते हैं।

१४ किसान की फिजूलखर्ची—वैसे तो किसान बहुत ही मितव्ययी होता है और अपने नंगे व अर्द्ध भूखा रह कर ही समय निकाल देता है परन्तु विवाह, मृत्यु भोज आदि सामाजिक समारोह के अवसरों पर वह सम्मान तथा सामाजिक प्रतिष्ठा बनाये रखने के हेतु अपने परिश्रम से कमाये हुए धन को उदारता से लुटाने के लिये तैयार हो जाता है। वह इन अवसरों पर अपने सामर्थ्य से बाहर खर्च कर देता है जिसके कारण उसे ऋणी होना पड़ता है।

१५ सरकार की लगान नीति—भारत में कृषि की अवस्था देखते हुए (गत महायुद्ध से पूर्व) लगान अधिक है और सख्ती से वसूल किया जाता है। फसल खराब हो जाने पर उसे निश्चित सरकारी लगान चुकाने के लिये ऋण लेना पड़ता है। ऐसा अनुमान किया गया है कि पाँच वर्ष में एक फसल अच्छी होती है २ फसल साधारण होती हैं और १ खराब होती है। अच्छी फसल होने पर उसे इतना ही मिलता है जितना उसे जीवित रहने के लिये आवश्यक है और फसल खराब होने पर दूसरों का कृपापात्र रहना पड़ता है।[1]

१६ कृषकों की परिवर्तित अवस्था—ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापित होने पर यातायात व व्यापार में वृद्धि हुई जिसके कारण भूमि का मूल्य बढ़ गया। भूमि का

मूल्य बढ़ जाने से किसान भी अपनी भूमि को धरोहर के रूप में रखकर अधिक ऋण लेने में समर्थ हो गये। आजकल सब वस्तुओं के भावों में वृद्धि हो जाने से भूमि का मूल्य भी बढ़ा हुआ है। इस कारण से किसान को अधिक ऋण मिल जाता है।

१७ महाजन और उसके ढंग – महाजनों के झूँठे हिसाब तथा मक्कारियों के कारण भी किसान ऋण-ग्रस्तता के कुचक्र से नहीं छूट पाते। महाजन १०० रु० ऋण देकर २०० रु० का रुक्का लिखवा लेता है कभी कभी कोरे रुक्के पर ही निशानी अँगूठा बनवा लेता है, बहुधा किसान के दिये हुए रुपये हिसाब म जमा नहीं करता। बही खाते मे झूठी रकम नाम लिख देता है। इस प्रकार किसान ऋण के चक्र से नहीं निकल पाता।

१८ अशिक्षा—अधिकांश किसान अशिक्षित होते हैं। अत वे शीघ्र ही महाजन के धोखे म आ जाते है और उसकी राय के अनुसार मुकदमेबाजी तथा सामाजिक रीति रिवाजों पर फिजूलखर्ची कर बैठते हैं जिससे ऋण लेने की आवश्यकता सदैव बनी रहती है।

१९ ऋण मिलने की सुगमता—महाजन से किसान ऋण किसी भी समय बिना कागजी कार्यवाही के तुरन्त प्राप्त कर सकता है जबकि सहकारी साख समितियों से बड़ी कठिनाई व काफी समय के बाद प्राप्त किया जा सकता है। यह सुविधा उसे सदैव महाजन का ऋणी बनाये रखने को प्रोत्साहन देती है।

ऋण ग्रस्तता के दुष्परिणाम (Evils of Indebtedness)—ऋण ग्रस्तता का किसान पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है (१) वह सदैव इस चिन्ता में डूबा रहता है कि ऋण को कम चुकाये। इस कारण धीरे धीरे उसका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और उसकी कार्य कुशलता नष्ट हो जाती है। (२) उसको इस बात की कोई रुचि नहीं रहती कि वह अपनी उत्पत्ति बढ़ाये क्योंकि वह जानता है कि वह जो भी उत्पन्न करेगा वह उसके पास नहीं रहेगा। अपने परिश्रम का फल न चखने के कारण वह निराशावादी हो जाता है। (३) ऋणी होने के कारण किसान अपनी फसल को उचित स्थान, समय और मूल्य पर नहीं बेच सकता। उसको अपनी फसल गाव के महाजन को सस्ते दामों पर बेचनी पड़ती है। इस प्रकार भूमि का बहुत-सा भाग महाजनों के हाथ में चला जाता है और किसान भूमि रहित मजदूर बन जाता है। सन् १९२१–३२ के बीच इस प्रकार के भूमि रहित मजदूरों की संख्या २९१ प्रति हजार से बढ़कर ४०७ प्रति हजार हो गई थी। (४) ऋण के दबाव के कारण किसान को महाजन के कई काम नि:शुल्क करने पड़ते है। वह अपने को उसके सामने बहुत छोटा समझता है। एक प्रकार से किसान महाजन का दास बना रहता है और इस कारण उसका नैतिक पतन हो जाता है। (५) ऋण ग्रस्तता के कारण किसान सदैव निर्धन रहता है और उसके रहन-सहन में कोई उन्नति नहीं हो सकती।

ग्राम्य ऋण-ग्रस्तता की समस्या का निराकरण (Solution of the Problem of Rural indebtedness)—ग्राम्य ऋण ग्रस्तता की समस्या का विवेचन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(अ) पुराने या पूर्वकाल के ऋण की समस्या और (ब) नये या भावी ऋण की समस्या।

१— In good years the Cultivator has nothing to hope for except bare subsistence and in bad years he falls on public charity

—*Famine Commission 1901*

(अ) पुराने या भूतकाल के ऋण की समस्या का निराकरण

१ भूमि-बन्धक बैंक (Land Mortgage Banks)—कृषकों का अधिकांश ऋण पुराना तथा पैतृक है। पुत्र अपने पिता के लिए हुए ऋण को चुकाना अपना परम कर्त्तव्य समझता है और उसका यह विश्वास होता है कि यदि वह उनका ऋण नहीं चुकायगा तो वे नरकगामी होंगे। ऋण चक्रवृद्धि ब्याज में इतना बढ़ जाता है कि उसके लिये ऋण का भुगतान करना बहुत कठिन हो जाता है। अतः ऋण पिता से पुत्र को हस्तान्तरित होता रहता है। इस दिशा में सहकारिता के आधार पर स्थापित भूमि-बन्धक बैंक बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। ये बैंक भूमि गिरवी रखकर एक लम्बे समय के लिए ऋण देते हैं जिससे पुराने एवं पैतृक ऋण चुकाने में सुविधा मिल जाती है। परन्तु इन बैंकों से केवल वे ही लोग लाभ उठा सकते हैं जिनके पास गिरवी रखने को भूमि होती है, अन्य नहीं।

२ सरकारी कानून—भिन्न भिन्न प्रान्तीय सरकारों ने ग्रामीण ऋण को घटाने के लिए समय समय पर कई कानून पास किये। सबसे पहले ग्रामीण ऋण की भीषणता का ध्यान सन् १८७५ ई० में दक्षिण के बलवे कमीशन ने आकर्षित किया क्योंकि उसमें कई स्थानों पर किसानों ने महाजनों को मार डाला और उनके बहीखाते जला डाले। उक्त कमीशन ने महाजनों का सूद की ऊँची दर लेना बलवे का कारण बताया था।

(क) ग्रामीण ऋण का भार कम करने के लिये कई कानून पास किये गये। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में सन् १८७९ में (Agriculturist Relief Act) पास किया गया जिसके अनुसार कोई भी किसान ऋण न देने पर जेल नहीं भेजा जा सकता तथा कोई भी साहूकार अधिक ब्याज की दर नहीं लगा सकता आदि। इसी प्रकार कौसीद ऋण कानून (Usurious Loans Act) पास किया गया। इस कानून के अनुसार सरकार द्वारा अधिक-से-अधिक ब्याज की दर निश्चित कर दी जाती है। सरकार ब्याज की दर को घटा भी सकती है। यह कानून पश्चिमी बंगाल, आसाम, मध्य प्रदेश, पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश, मद्रास, बिहार आदि में कुछ संशोधन के साथ पास किया गया। पंजाब के भूमि-हस्तान्तरण ऐक्ट (Punjab Land Alienation Act) के अनुसार पंजाब में किसानों की भूमि अकृषकों के पास सन् १९०० से नहीं जा सकती तथा सन् १९३८ से वह कृषक-महाजनों के पास भी नहीं जा सकती है।

(ख) किसानों को कम ब्याज पर ऋण मिलने की सुविधा देने के लिये सरकार द्वारा निम्नलिखित कानून पास किये गये।

(१) तकावी ऋण के कानून १८७१-७६-७९ में (Taqavi Act in 1871-76-79)

(२) भूमि सुधार के लिए ऋण देने के लिए कानून १८८३ (Land Improvement Loans Act 1883)

(३) किसानों को ऋण देने का कानून १८८४ (Agriculturist Loans Act 1884)

इनमे से पहले दो कानूनो के अन्तर्गत भूमि के स्थायी सुधारो के लिए सरकार सस्ती ब्याज दर पर कई वर्षो के लिए ऋण देती है तथा दूसरे कानून के अनुसार उत्पादन कार्यो के लिए थोड़े समय के लिए कम ब्याज पर ऋण दिया जाता है।

(४) सरकार ने सन् १९०४ म सहकारी समितियो का कानून भी पास किया जिसके अन्तर्गत कृषक को दीर्घकालीन अर्थात् पुराने ऋण को चुकाने तथा भूमि पर स्थायी सुधार करने के हेतु भूमि-बन्धक बैंक खोले गये हैं तथा कृषक की अल्पकालीन आवश्यकता पूर्ण करने के लिये सहकारी साख समितियाँ कार्य कर रही हैं।

(ग) महाजन की ऋण देने की दूषित कार्य प्रणाली को रोकने के लिये निम्न कानून पास किये गये।

(१) पजाब का हिसाबो को नियमित रूप म रखने का कानून १९३० (Punjab Regulation of Accounts Act 1930)

(२) बम्बई का साहूकार सम्बन्धी कानून १९३८ (Bombay Money lenders Act 1938)।

(३) उत्तर प्रदेश का साहूकार सम्बन्धी कानून १९३४ (U P Money lenders Act 1934)

इन प्रान्तो के अतिरिक्त बगाल, मध्य प्रदेश, आसम, मद्रास, बिहार व उडीसा मे भी कानून पास किय गये है। इन कानूनो के अन्तर्गत साहूकारो या महाजनो को रजिस्ट्री कराना व लाइसेन्स (अनुज्ञा पत्र) लेना, नियत ब्याज और निर्धारित विधि से हिसाब-किताब रखने के लिए बाध्य किया जाता है।

(घ) राज्य-सरकारो ने ऋण समझौता कानून (Debt Conciliation Acts भी पास किये है। इस सम्बन्ध मे C P. Debt Conciliation Act 1933 Punjab Relief of Indebtedness Act 1934, Bengal Agricultural Debtors Act 1935, Assam Debt Conciliation Act 1935 Debt Reconciliation Act Madras 1936 पास हो चुके हैं। कई स्थानो मे मेल मिलाप समितियाँ (Conciliation Boards) भी स्थापित किये गये हैं।

(ङ) कई प्रान्तो मे कानून के द्वारा किसानो के ऋण मे अनिवार्य रूप से कमी करने की व्यवस्था की गई है। इस सम्बन्ध मे Madras Agriculturist Relief Act 1938, C. P. & Berar Relief of Indebtedness Act 1939, Bombay Agricultural Debtors Relief Act 1939, U P. Agriculturist Debt Redemption Act 1939 पास किये गये हैं। इनके अन्तर्गत न्यायालयो को यह अधिकार दिया गया है कि व ऋणदाता को मूल के दुगने स अधिक राशि नही दिलवायेंगे अर्थात् दमदुपट (Damdupat) नियम लागू किया जावेगा। इनके अतिरिक्त ब्याज की राशि म कमी करने तथा ब्याज की दर के निर्धारण के भी अधिकार दिये गये हैं।

(च) कानून जाब्ता दीवानी (Civil Procedure Code) मे सुधार—इस कानून म सशोधन किया गया है जिसके अनुसार किसान के औजार, मवेशी व पशुओ की कुर्की तथा बिक्री नही हो सकती और किसान ऋणी को कैद नही किया जाता और उसको किस्तो द्वारा ऋण चुकाने की सुविधा प्रदान की जाती है।

३ ऋण चुकाने की अवधि में वृद्धि करने का कानून (Moratorium Laws)—ऋण चुकाने की अवधि में वृद्धि करने के उद्देश्य से सबप्रथम सन् १९३४ में उत्तर प्रदेश में U P Temporary Regulation of Execution Act पास किया गया। तदन्तर मध्य प्रदेश तथा बम्बई प्रान्तों में भी इस प्रकार के कानून पास किये गये। इन कानूनों के अन्तर्गत डिक्रियों की इजराय (Execution) को स्थगित कराने का अधिकार किसानों को प्राप्त हो गया।

(आ) नये या भावी ऋण की समस्या

१ ऋण लेने वाले पर नियन्त्रण—प्राय देखा जाता है कि किसान अनुत्पादक कार्यों के लिए अर्थात् विवाह आदि उत्सवों पर आवश्यक धन उधार ले लेता है। अत निम्न साधनों द्वारा वह ऐसा करने से रोका जा सकता है।

(क) शिक्षा एवं प्रचार—ग्रामीणों के लिए कम से कम प्राइमरी शिक्षा का प्रबन्ध अवश्य होना चाहिए। प्रचार (Propaganda) द्वारा कृषकों के अनुत्पादक ऋण में भारी कमी की जा सकती है।

(ख) लगान वापस करना—खराब फसल वाले वर्षों में लगान माफ कर दिया जाय।

(ग) डाकघर सचय बैंक की स्थापना—गाँव में डाकघर सचय बैंक स्थापित किये जावें जो गाँवों में मितव्ययता का प्रचार करें।

(घ) सुव्यवस्थित रहन-सहन का प्रचार—ग्रामीण समाज में सुव्यवस्थित रहन सहन का प्रचार किया जाय।

(२) ऋणदाता पर नियन्त्रण—ऋणदाता का नियन्त्रण भी उतना ही आवश्यक है जितना कि ऋण लेने वाले का। साहूकारी कार्य के लिए लाइसेन्स प्राप्त करना आवश्यक करने के अतिरिक्त साहूकार के हिसाब-किताब तथा उसकी ब्याज दर पर भी नियन्त्रण करना आवश्यक है। कई राज्यों में साहूकारों के नियन्त्रणार्थ कानून भी पास कर दिये गये हैं।

३ अन्य नियन्त्रण—ऋणदाता द्वारा ऋणी का शोषण तथा उसको दुःख पहुँचाने का प्रयत्न दण्डनीय समझा जाना चाहिए। मध्य प्रदेश बम्बई बगाल तथा उत्तर प्रदेश आदि में ऐसे कानून बना दिये गये हैं कि यदि कोई महाजन ऋणी का शोषण करने या उसको कष्ट पहुँचाने की चेष्टा करेगा तो उसे उचित दण्ड दिया जायगा।

योजना और ग्रामीण ऋण—ग्रामीण सहकारी ऋण आन्दोलन द्वारा इस प्रकार उल्लेखनीय प्रगति की गयी है कि उसका २०० करोड रु० का जो निर्धारित लक्ष्य है वह द्वितीय पचवर्षीय योजना काल के अन्त से पूर्व ही प्राप्त कर लिया जायगा।

१९५०–५१ की तुलना में गाँवों में प्रस्तावित मध्यम व अल्पकालीन ऋणों में लगभग ५०० प्रतिशत की वृद्धि हो भी चुकी है। १९५८-५९ के लिये जो लक्ष्य निर्धारित किया गया है उसे बढ़ा करके १४० करोड रु० कर दिया जायगा। १९५७-५८ में सहकारियों द्वारा ऋणों की सख्या १०० करोड़ तक हो जायेगी।

निष्कर्ष—ग्राम्य ऋण समस्या को हल करने के लिये समय समय पर बहुत-से प्रयत्न किय गये हैं पर अभी आशातीत सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है। नाना प्रकार के नियन्त्रणों के लगाये जाने के कारण गाँव के महाजनों ने कृषकों को ऋण देना बन्द सा कर दिया है और उधर सहकारी साख समितियों का अभाव है। भारत सरकार ने किसानों की इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये ग्रामीण बैंकिंग जाँच समिति गैडगिल कमीशन और कृषि सुधार-समिति नियुक्त की थी। इन समितियों का विचार था कि भूमि बंधक बैंकों और सहकारी समितियों के द्वारा ही किसानों के दीर्घकालीन मध्यकालीन और अल्पकालीन ऋणों का प्रबन्ध कराया जाना चाहिए। गैडगिल कमीशन ने कृषि साख कॉर्पोरेशन (Agricultural Credit Corporation) स्थापित करने का सुझाव भी रखा था। बम्बई सरकार ने कृषि साख संगठन के लिये नानावटी समिति की नियुक्ति की। सहकारी साख समितियाँ यदि कृषक की फसल की बिक्री का कार्य भी अपने हाथ में ले लें तो कृषक की आर्थिक स्थिति कुछ सुधर सकती है तथा ऋण की मात्रा में भी कमी हो सकती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—भारतवर्ष में किसानों के ऋण की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के वर्तमान साधनों का विवेचन कीजिये। उनमें उन्नति के लिये आप क्या सुझाव दे सकते हैं?

२—भारत में ऋण ग्रस्तता के क्या कारण हैं? सहकारी साख-समितियों ने इस समस्या का कहाँ तक हल किया है? (रा० बो० १९४९, अ० बो० १९५२, ४९)

३—ऋणदाताओं का नाश हो' क्या आप इस विचार से सहमत हैं? कारण सहित उत्तर दीजिए। (रा० बो० १९५७)

४—भारतीय कृषकों की दरिद्रता के क्या कारण हैं? दरिद्रता निवारणार्थ सुझाव दीजिए। (नागपुर १९५५, सागर १९५७)

५—भारत में ऋण ग्रस्तता के कारणों का वर्णन कीजिये और उनके हल करने के उपाय बताइये। (सागर १९५१)

६—भारत के ग्रामीण ऋण भार से आप क्या समझते हैं? उसके व्यापार पर क्या नियन्त्रण लगे हैं? क्या आप समझते हैं कि किसानों ने गत दस वर्षों में अपना ऋण भार घटा लिया है? (म० भा० १९५४)

अध्याय ५६

सहकारिता आन्दोलन

(Cooperative Movement)

"यदि सहकारिता असफल होती है, तो ग्रामीण भारत की सर्वोच्च आशा भी असफल हो जावेगी।"[1]

—भारतीय कृषि राजकीय आयोग

परिचय (Introduction)—सहकारिता न पूँजीवाद है और न साम्यवाद है। यह इन दोनों के मध्य एक ऐसा प्रयत्न है जिसमे पूँजीवाद के सब दुर्गुण दूर करते हुए समाजवाद के सब गुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है। इसलिये आज कई राष्ट्रों का तो सहकारिता मूल-मंत्र हो गया है। यह निर्बलों का बल है, असहायों का सहायक है, और निर्धनों का धन है। इसे अधिक स्पष्ट करते हुए यों कहा जा सकता है कि सहकारिता आन्दोलन निर्धन तथा असहाय व्यक्तियों के लिये होता है। इसमें वे सब लोग जो आर्थिक दृष्टि से कमजोर हों अथवा जिनको पूँजी-पतियों द्वारा लूटे जाने की आशंका हो एक साथ मिल जाता है और कुछ धन एकत्रित करते हैं। इस धन से तथा संगठन के बल पर ऋण द्वारा प्राप्त किये हुए और धन से वे अपनी आर्थिक, नैतिक तथा सामाजिक उन्नति करने का प्रयत्न करते हैं, और इस प्रकार अपनी योग्यतानुसार अपना पूर्ण विकास करते है। हॉलैण्ड, बेल्जियम स्विट्जरलेंड, जापान और जर्मनी तथा चीन ने जो महान् उन्नति की है वह सहकारित, आन्दोलन के फलस्वरूप ही सुव्यवस्थित रूप मे सम्भव हो सकी है। निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि सहकारिता आज राष्ट्रों की रीढ़ है।

सहकारिता का अर्थ एव परिभाषा—सहकारिता आन्दोलन का मुख्य सिद्धान्त पारस्परिक सहयोग तथा सद्भावना है। अत. सहकारिता वह सगठन है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति स्वेच्छा से सगठित होकर सर्वहित के लिये सम्मिलित कार्य करते हैं। सहकारिता मे स्पर्द्धा का स्थान सहयोग ले लेता है। अन्य शब्दों म, अपनी सामान्य **आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समान स्तर पर मिलकर काम करने वाले व्यक्तियों के ऐच्छिक सगठन को ही सहकारिता कहते हैं।** सह-कारिता का शाब्दिक अर्थ आपस मे मिल-जुलकर काम करना है, किन्तु अर्थशास्त्र मे इसका आशय उस सगठन से होता है जिसमे पारस्परिक सहयोग ऐच्छिक है, सदस्यों का दर्जा बराबरी का है और उनका उद्देश्य किसी आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति करना

---

[1] "If Cooperation fails, there will fail the best hope of rural India" —*Report of Royal Commission on Agriculture.*

का मुख्य उद्देश्य मध्यजनों (Middleman) का लोप करना और स्पर्द्धा की इतिश्री करना है।

अर्थवेत्ता सेलिगमेन (Seligman) के अनुसार सहकारिता का विशिष्ट अर्थ वितरण व उत्पादन में स्पर्द्धा का अभाव तथा समस्त प्रकार के मध्यजनों के लोप से है।"[1] दूसरे, विद्वान स्टिकलैंड (Stickland) कहते हैं कि व्यक्तियों का प्रत्येक समूह जो सयुक्त प्रयत्न द्वारा सर्वहित के लिए एक दूसरे से मिलता है, सहयोग देते हुए कहलाता है।

सहकारिता की विशेषतायें (Characteristics)—सहकारिता की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं —

(१) सहयोग ऐच्छिक (Voluntary) होता है। (२) सदस्यों का दर्जा बराबरी का होता है। (३) इसका उद्देश्य किसी आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति करना होता है। (४) आर्थिक विकास के साथ साथ इसमें नैतिक विकास पर भी उतना ही महत्व दिया जाता है। (५) इसमें मितव्ययता, सहयोग, और सहृदयता आदि गुणों को पर्याप्त महत्व दिया जाता है। (६) यह सगठन जनतन्त्रात्मक होता है, क्योंकि प्रत्येक सदस्य को इसके व्यवस्थापन में समान अधिकार होता है। (७) सहकारिता में शिक्षा सम्बन्धी प्रभाव को अधिक महत्व दिया जाता है।

सहकारिता का प्रादुर्भाव—सहकारिता आन्दोलन का जन्म आधुनिक अर्थ में से सबसे पहले पश्चिम में हुआ। १९ वीं शताब्दी के मध्य भाग में जर्मनी के दो समाज-सेवक व्यक्ति रैफिजन (Raiffeisen) और शुल्ज डेलिज (Schulze Delitzsch) इस आन्दोलन के नेता थे। उस समय जर्मनी के किसान और कारीगर साहूकारों के शिकार थे और उनकी दशा निर्धनता के कारण दयनीय थी। इस अवस्था को देखकर ये नेतागढ बड़े दुखी हुए और उन्होंने सहकारी समितियाँ खोलकर उनकी अवस्था में सुधार करने की चेष्टा की। रेफिजन महोदय ने छोटे छोटे किसानों की सहायता के लिये ग्रामीण सहकारी साख समितियाँ स्थापित की और शुल्ज डेलिज ने छोटे छोटे व्यवसायियों और कारीगरों की सहायता के लिये सहकारी-साख समितियाँ खोलीं। ससार में सहकारिता की सबसे अधिक उन्नति जर्मनी और डेनमार्क में हुई है। भारतवर्ष में सहकारिता का सिद्धान्त तो बहुत प्राचीन काल से ही चलता रहा है। प्राचीन काल में ग्राम पचायतें और निधियाँ इसके प्रमाण हैं किंतु अर्वाचीन अर्थ में इस आन्दोलन का सूत्रपात २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही हुआ। हमारे देश में भी सहकारी साख-समितियों का निर्माण रेफिजन और शुल्ज डेलिज के सिद्धान्तों पर ही हुआ है, अत हमें इन दोनों की विशेषताओं को जान लेना चाहिये।

रेफिजन समितियाँ (Raiffeisen Societies)—श्री रेफिजन ने ग्रामीण क्षेत्रों में कृषकों को साहूकारों के पंजे से मुक्त करने के लिये ग्राम्य सहकारी साख समितियों को जन्म दिया। इन समितियों की निम्नलिखित विशेषताएं हैं —

1—' Co operation in its technical sence, means abandonment of Competition in distribution and production and the elimination of middlemen of all kinds " —*Seligman*

(१) इन समितियों का कार्य क्षेत्र सीमित होता है। (२) कार्य-क्षेत्र सीमित होने से सदस्यों में पारस्परिक जानकारी एवं व्यक्तिगत सम्पर्क होता है। (३) अंश या शेयर नहीं होते और पूँजी बहुत कम होती है। (४) उत्तरदायित्व असीमित होता है। (५) ऋण केवल उत्पादन कार्यों के लिये ही व्यक्तिगत साख पर दिया जाता है। यह छोटी-छोटी किश्तों में कई वर्षों में वापस लिया जाता है। (६) ऋण असदस्यों को नहीं दिया जाता। (७) लाभ बाँटा नहीं जाता बल्कि एक रिजर्व कोष में जमा किया जाता है तथा उसे सार्वजनिक हित के लिये व्यय किया जाता है। (८) प्रबन्ध निःशुल्क होता है, केवल मन्त्री (सेक्रेटरी) को वेतन दिया जाता है। (९) इस संस्था का प्रबन्ध लोक-तन्त्रात्मक होता है और प्रबन्धकों का चुनाव सभी सदस्य मिलकर करते हैं। (१०) इस प्रकार की समितियों का उद्देश्य आर्थिक लाभ ही नहीं है बल्कि सदस्यों की नैतिक एवं चारित्रिक उन्नति करना भी इनका उद्देश्य है। (११) प्रतिवर्ष एक साधारण सभा होती है जिसमें पदाधिकारियों का चुनाव किया जाता है तथा ऋण सम्बन्धी बातें निश्चित की जाती हैं। (१२) ये संस्थाएँ गाँवों के लिए विशेष उपयुक्त हैं।

शुल्ज डेलिज समितियाँ (Schulze Delitzsch)—यह शुल्ज डेलिज द्वारा शहर में रहने वाले छोटे छोटे कारीगरों और व्यवसाइयों की सहायतार्थ शहरी साख समितियों का जन्म मिला। इन समितियों की निम्नलिखित विशेषतायें हैं —

(१) इनका कार्य-क्षेत्र विस्तृत होता है। (२) इनका कार्य-क्षेत्र विस्तृत होने से व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव होता है। (३) इन संस्थाओं के अंश या शेयर होते हैं और पूँजी भी होती है। (४) उत्तरदायित्व सीमित और असीमित दोनों प्रकार का होता है। (५) ऋण असदस्यों को भी दिया जा सकता है। (६) लाभ का कुछ भाग रिजर्व कोष में जमा कर शेष लाभ अंशधारियों को बाँट दिया जाता है। (७) ये संस्थायें थोड़े समय के लिये उधार देती हैं। (८) प्रबन्धकों को अपने कार्य के लिये वेतन दिया जाता है। (९) ये संस्थाएँ रेफिजन समितियों की भाँति नैतिक उन्नति पर उतना बल नहीं देती। इनका कार्य व्यापारिक दृष्टि से चलता है। (१०) ऋण उत्पादन तथा उप-भोग दोनों के लिये उत्तम प्रतिभूतियों के आधार पर दिया जाता है। (११) ये संस्थायें प्रायः छोटे-छोटे शिल्पकारों तथा व्यवसायियों को ऋण देने के लिये खोली जाती हैं। (१२) ये नगरों व शहरों के लिए विशेष उपयुक्त हैं।

भारतवर्ष में सहकारिता आन्दोलन
(Co-operative Movement in India)

प्रारम्भिक प्रयत्न—भारत में ग्रामीण ऋण समस्या को सुलझाने तथा भारतीय कृषि को उन्नत करने के उद्देश्य से प्रेरित सर विलियम वैडरबर्न (Sir william wedderburn) तथा जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे ने भारत में सहकारिता आन्दो-लन का प्रथम सुझाव सन् १८८२ में प्रस्तुत किया था। इन्होंने कृषि-बैंकों (Agricultural Banks) की योजना यद्यपि लार्ड रिपन की सरकार ने स्वीकार कर ली थी परन्तु वह भारत मन्त्री द्वारा अव्यावहारिकता कर अस्वीकार कर दी गई। सन् १८९२ ई० में मद्रास के एक उच्च राज्याधिकारी सर फ्रेडरिक निकलसन (Sir Frederick Nicholson) ने जर्मनी व डेनमार्क आदि देशों की स्थिति का अध्ययन करने के पश्चात् जर्मनी के रेफिजन बैंकों के सिद्धान्तों के आधार पर भारतवर्ष में सहकारी साख समितियों की स्थापना का सुझाव दिया। उसी समय संयुक्त प्रान्तीय सिविल सर्विस के सदस्य श्री ड्यूपरनैक्स (Dupernex) ने इस विषय पर अपनी

"दी पीपुल्स बैंक फॉर नदर्न इण्डिया" नाम की पुस्तक प्रकाशित की जिसमें निकलसन की सिफारिशों का समर्थन किया गया। सन् १९०१ ई० में दुर्भिक्ष जाँच कमेटी ने भी रैफिज़न बैंकों की स्थापना का पूर्णतया समर्थन किया। उसी वर्ष लार्ड कर्जन की सरकार ने अर्थ-सचिव सर एडवर्ड लॉ की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की और इस समिति की सिफारिशों के आधार पर सन् १९०४ में सहकारी साख समितियों का प्रथम कानून पास किया गया।

सहकारी साख समितियों का कानून १९०४ (Co-operative Credit Societies Act 1904)—इस कानून के द्वारा भारत में सहकारिता आन्दोलन की नींव डाली गई। इस कानून के अन्तर्गत केवल सहकारी-साख समितियों की ही स्थापना की व्यवस्था की गई और अन्य प्रकार की सहकारिता स्थगित कर दी गई। इस कानून की धाराओं के अनुसार अठारह वर्ष से अधिक आयु के कोई दस व्यक्ति, जो एक ही गाँव या नगर के हों, समिति की स्थापना के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकते थे। यदि समिति के ४/५ सदस्य किसान हों, तो समिति ग्रामीण सहकारी साख समिति कहलाती थी। ग्रामीण समितियों के सदस्यों के असीमित दायित्व का नियम रखा गया और कुल लाभ एक रिजर्व कोष में जमा होना था। शहरी समितियों में दायित्व का प्रश्न सदस्यों की इच्छा पर छोड़ दिया गया और कुल लाभ का चतुर्थांश रिजर्व कोष में जमा करना पड़ता था। समितियाँ आवश्यक पूँजी, प्रवेश शुल्क, अंशों (शेयरों) के मूल्य सदस्यों की जमा, और बाहरी ऋण द्वारा एकत्र करती थीं और इसे केवल सदस्यों को ही उत्पादन कार्य के लिए ऋण में देती थीं। समितियों के प्रबन्धकों को वेतन नहीं दिया जाता था, परन्तु शहरी समितियों के प्रबन्धकों को वेतन देने की भी व्यवस्था की गई थी। सारांश यह है कि ग्रामीण समितियाँ रैफिज़न सिद्धान्त पर और शहरी समितियाँ शुल्ज डेलिज सिद्धान्त पर बनाई जाती थीं।

प्रत्येक प्रान्त में सहकारिता आन्दोलन की देख-भाल करने के लिए एक रजिस्ट्रार (Registrar) नियुक्त कर दिया गया। उसे समितियों के निरीक्षण, हिसाब की अनिवार्य जाँच, और आवश्यकता पड़ने पर किसी समिति को भंग करने के अधिकार दिये गये। इस आन्दोलन को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से इस कानून के अन्तर्गत रजिस्टर्ड समितियों को सरकार की ओर से कुछ रियायतें और विशेषाधिकार दिये गये, जैसे—उन्हें आय कर (Income tax), स्टाम्प, तथा रजिस्ट्री शुल्क नहीं देना पड़ता था। उन्हें अन्य ऋणदाताओं पर प्रधानता प्राप्त थी और नई समिति को प्रथम तीन वर्षों के लिए सरकार की ओर से २,००० रु० तक ब्याज-रहित ऋण प्रदान किया जाता था, यदि समिति इतना ही धन स्वयं एकत्रित कर लेती थी।

इस कानून के अन्तर्गत सहकारी-साख-समितियों की प्रगति—इस एक्ट के पास होने से सहकारी-साख-समितियों की संख्या बढ़ने लगी। सन् १९०५ में समितियों की संख्या ४१ थी, वह सन् १९११ में ८,१७७ हो गई और उनकी कार्यशील पूँजी (Working Capital) ३३५,७४,१६२ रुपये हो गई। सदस्यों की संख्या भी सन् १९११ में ४,०३,३१८ हो गई।

इस कानून के दोष—सन् १९०४ के कानून के बनने के पश्चात् सहकारी आन्दोलन की बड़ी उन्नति हुई। परन्तु इस कानून में निम्नलिखित दोष थे।—

(१) इस कानून के अन्तर्गत साख समितियों के अतिरिक्त अन्य प्रकार की समितियों के निर्माण की कोई व्यवस्था नहीं थी। (२) ग्रामीण तथा शहरी समितियों

का जो वर्गीकरण किया गया वह दोषपूर्ण पथा असुविधाजनक था। (३) समितियों के संघों तथा केन्द्रीय बैंकों के निर्माण की भी कोई व्यवस्था नहीं थी। पंजाब तथा मद्रास आदि प्रान्तों में जहाँ शेयर पूँजी का अधिक महत्व था असीमित दायित्व तथा लाभांश (Dividend) देने के ऊपर रोक लगा देने के कारण बहुत ही असुविधा हुई। इन दोषों को दूर करने के लिये सन् १९१२ में एक नया कानून बनाया गया।

महकारी समितियों का कानून १९१२ (Co-operative Societies Act 1912)—सन् १९१२ में केन्द्रीय सरकार ने दूसरा कानून पास किया जिसके अन्तर्गत (१) उपभोक्ता, सिंचाई, पशु, चकबन्दी, विक्रय आदि अशाख (Non Credit) *सहकारी समितियों की स्थापना को सरकार ने मान्यता दी।* (२) ग्रामीण और शहरी समितियों के स्थान में सीमित दायित्व और असीमित दायित्व वाली समितियों का नया वर्गीकरण किया गया। (३) इसके अनुसार बैंकिंग संघ, केन्द्रीय सहकारी बैंक; और प्रान्तीय सहकारी बैंक आदि की स्थापना की व्यवस्था की गई। इस कानून में सभी समितियों का इस बात की आज्ञा दी गई कि वे अपने लाभ का चौथाई भाग रिजर्व कोष में जमा करने के पश्चात् लाभ का १०% दान, विद्या आदि कार्य के लिये व्यय कर सकती थीं।

इसके अन्तर्गत सहकारी समितियों की प्रगति—इस कानून के पास हो जाने से इस देश में सहकारिता के आन्दोलन को बहुत प्रोत्साहन मिला। इसके पश्चात समितियों की संख्या, उनके सदस्यों की संख्या ; तथा उनकी कार्यशील पूँजी में बहुत वृद्धि हुई। पर यह वृद्धि सब प्रान्तों में एक-सी न थी। रैयतवारी प्रान्तों में; जैसे—*बम्बई, मद्रास आदि में, इस आन्दोलन ने बहुत उन्नति की।* पर जमींदारी प्रान्तों में अभी तक यह आन्दोलन बहुत कम लोगों तक पहुँचा है।

मैकलेगन कमेटी १९१४—सन् १९१४ में सर एडवर्ड मैकलेगन (Sir Edward Maclagan) की अध्यक्षता में एक कमेटी (जो बाद में मैकलेगन कमेटी के नाम से प्रसिद्ध हुई) नियुक्त की गई, जिसने अपनी रिपोर्ट सन् १९१५ में प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में सहकारिता- आन्दोलन के दोषों पर प्रकाश डाला गया और आन्दोलन को अधिक सफल बनाने के लिये अनेक सुझाव दिये गये। इस कमेटी के सुझावों के अनुसार आन्दोलन का पुनर्संगठन किया गया और जो समितियाँ सहकारी आदर्श तक नहीं पहुँची थीं उनका अन्त कर दिया गया।

भारत सरकार कानून १९१९ (Government of India Act 1919)—सन् १९१९ में 'माटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों' (Montague Chelmsford Reforms) के अनुसार भारत सरकार का एक संशोधित कानून पास किया गया जिसके अन्तर्गत सहकारिता एक प्रान्तीय विषय बना दिया गया और इसका प्रबन्ध प्रान्तों के मन्त्रियों को सौंप दिया गया। इसके पश्चात् प्रान्तीय सरकारों ने आवश्यकतानुसार अपने नये कानून पास करके इस आन्दोलन की उन्नति की। बम्बई में सबसे पहले इस प्रकार का कानून सन् १९२५ में पास किया गया। बम्बई के पश्चात् मद्रास बिहार तथा उड़ीसा के प्रान्तों ने भी अपने-अपने कानून पास किये। कुछ प्रान्तों ने जाँच कमेटियाँ नियुक्त की जैसे—उत्तर प्रदेश में 'ओकडन कमेटी' और मद्रास में 'टाउनसेण्ड कमेटी' आदि। इन कमेटियों के सुझावों के फलस्वरूप सहकारी समितियों में बहुत से

सुधार हुए और उनकी दशा पहले से काफी सुधर गई। प्रसाख समितियों पर अब पर्याप्त बल दिया जाने लगा।

कृषि कमीशन १९२६ और भारतीय बैंकिंग जांच समिति १९३१ के सुझाव—सन् १९२६ ई० में कृषि कमीशन और सन् १९३१ में भारतीय बैंकिंग जाँच कमेटी ने महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये और उनकी सिफारिशों के अनुसार समितियों की जाँच पड़ताल कड़ी होने लगी है। भूमि बंधक बैंकों को प्रोत्साहन मिला और पुराने ऋण की वृद्धि को रोकने के प्रयत्न किये गये।

सन् १९२९-३५ की महान् आर्थिक मंदी—सन् १९२९-३५ की महान् आर्थिक मंदी के समय सहकारिता आन्दोलन को काफी धक्का लगा। उत्पादन स्रोतों के सूख जाने से सम्पत्तियाँ नष्ट हो गई, वसूलियों की गति अत्यधिक धीमी पड़ गई और अवधि पार किये प्राप्यों की राशि की वेगपूर्ण उच्च-गति के कारण अनेक केन्द्रीय आर्थिक संगठन नष्ट प्रायः सीमा तक पहुच गये थे। तब भारत सरकार ने सहकारी सम्मेलन सन् १९३४ में सबसे पहले बुलाया, और फिर बाद में कई बार ऐसे सम्मेलन बुलाये गये जिनमें समितियों के विस्तार के बजाय उनके पुनर्सङ्गठन पर विशेष बल दिया गया।

युद्ध और युद्धोत्तर काल—युद्ध और युद्धोत्तर के वर्षों में सहकारिता आन्दोलन को सभी दशाओं में पर्याप्त प्रगति का अवसर मिला। इस काल में इस आन्दोलन को खाद्य-उत्पादन एवं वितरण, भवन निर्माण, भूमि-उपनिवेशन और बस्तियां बसाने, लघु एवं कुटीर व्यवसायों को संगठित करने तथा ग्रामों की पुनर्वास योजनाएँ बनाने आदि का अवसर मिला, जिससे आन्दोलन को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला।

सहकारी योजना समिति १९४६ (Co-operative Planning Committee)—सन् १९४६ में सहकारी योजना समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की जिसमें आन्दोलन के भावी विकास के मार्ग प्रदर्शन का दिग्दर्शन कराया गया।

स्वतन्त्रा-प्राप्ति (१९४७) के बाद—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सहकारिता आन्दोलन में नयोजन एवं पुनर्सङ्गठन की वृत्ति जाग्रत हुई। भूमि की चकबन्दी तथा ग्राम-सुधार के लिये नवीन समितियाँ शीघ्रता से बनने लगी। इन वर्षों में बहुप्रयोजन समितियों (Multipurpose Societies) का रजिस्ट्रेशन होने लगा। उत्तर प्रदेश, पंजाब, मैसूर, बम्बई और मद्रास आदि राज्यों में इस आन्दोलन को प्रगति पहले की अपेक्षा अधिक दृष्टिगोचर होने लगी सहकारी समितियों की स्थिति निम्न आंकड़ों में स्पष्ट हो जाती है :—

	१९५१-५२	१९५७-५८
सहकारी समितियों की कुल संख्या	१,८५,६५०	२,५७,०२७
सदस्यों की संख्या	१,३७,९१,६८७	२,१४,३५ १५०
कार्यशील पूँजी (करोड़ रु० में)	३०६·३४	६९६ ४९
कृषि साख समितियाँ	१,१५ ४६२	१,६६,५४३

द्वितीय पचवर्षीय योजना (१९५६-६१)—दूसरी पचवर्षीय योजना म सहकारिता के विकास क लिय ४७ करोड रुपये का आयोजन किया गया है। योजना काल म सहकारी संस्थाए २२५ करोड रुपये उधार दगी। कृषि उत्पादन की बिक्री की सुविधा के लिय ५,८५० गोदाम स्थापित किय जायँगे।

भारतवर्ष म सहकारी समितियो का वर्तमान ढाचा (Structure)

भारतवर्ष म सहकारी समितियो का ढाचा निम्न प्रकार है —
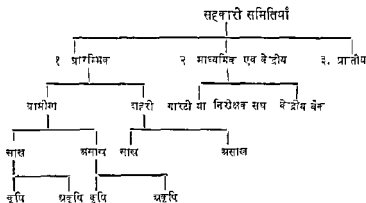
सहकारी समितियो का विभाजन—सहकारी समितियो का विभाजन हम निम्न प्रकार कर सकते है —

१. प्रारम्भिक सहकारी समितियाँ
२. माध्यमिक एव केन्द्रीय सहकारी बैंक
३. प्रान्तीय या राज्य सहकारी बैंक

१. प्रारम्भिक सहकारी समितियाँ (Primary Co operative Societies)—प्रारम्भिक सहकारी समितियो को दो भागो म विभाजित कर सकते है—ग्रामीण और शहरी। इनम म प्रत्येक को साख और असाख भागो म बाट सकते है और फिर इन्ह कृषि और अकृषि समितियो म वर्गीकृत कर सकते है।

प्रारम्भिक कृषि (ग्रामीण) सहकारी साख समितियाँ (Primary Agricultural (Rural) Co-operative Credit Societies)—ये समितियाँ हमारे देश की कुल समितियो की ७३% है। सहकारी आन्दोलन इन्ही पर आधारित है। ये प्राय जर्मनी की रैफिजन प्रणाली के अनुसार स्थापित गई हैं। ये प्राय गावो म ही होती है, इसलिये इन्ह ग्रामीण सहकारी समितियाँ भी कहते हैं। इन समितियो की विशेषताए (Characteristics), इनका सगठन (Organisation) तथा कार्यशीलता (Working) निम्नलिखित है —

(१) आकार एवं सदस्यता (Size & Membership)—एक ही गाँव अथवा जाति के कोई १० व्यक्ति जो अठारह वर्ष से अधिक आयु के हों समिति खोल सकते हैं। सदस्यों की संख्या १०० से अधिक नहीं हो सकती। सीमित आकार के होने से सदस्यों में पारस्परिक जानकारी हो सकती है।

(२) रजिस्ट्रेशन (Registration)—प्रारम्भिक कृषि साख समिति कम-से कम १० या उससे अधिक (अधिक-से-अधिक १००) व्यक्तियों द्वारा सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार को रजिस्ट्री के लिए आवेदन-पत्र देकर बनाई जा सकती है।

(३) कार्य क्षेत्र (Area of Operation)—रैफिजन सिद्धान्त के अनुसार एक गाँव एक समिति का नियम है, अर्थात् इसका कार्य क्षेत्र उस गाँव तक ही सीमित होता है जहाँ वह खोली जाती है, जिससे लोग एक दूसरे से भली-भाँति परिचित हो सकें।

(४) दायित्व (Liability)—प्रारम्भिक कृषि साख समितियों के सदस्यों का दायित्व असीमित (Unlimited) होता है, अर्थात् यदि किसी समिति की सम्पत्ति उसका ऋण चुकाने के लिये अपर्याप्त हो, तो इसकी कमी प्रत्येक सदस्य से अलग अलग राशि प्राप्त करके की जाती है और सदस्यों की सम्पूर्ण सम्पत्ति भी इस में लाई जाती है। असीमित दायित्व रखने का मुख्य कारण लोगों में विश्वास का विस्तार करना, सहयोग की भावना बढ़ाना, और बाह्य ऋणदाताओं में समिति के प्रति विश्वास उत्पन्न करना है।

(५) प्रबन्ध (Management)—इन समितियों का प्रबन्ध प्रजातन्त्रात्मक एवं अवैतनिक होता है। इनका प्रबन्ध दो समितियों द्वारा होता है—साधारण सभा (General Committee), तथा कार्यकारिणी सभा (Executive (Committee) द्वारा। साधारण सभा का निर्माण समिति के समस्त सदस्य द्वारा होता है। साधारण सभा द्वारा चुने गये कुछ सदस्य (५ से ६) समिति की कार्यकारिणी का निर्माण करते हैं। साधारण सभा का कार्य कार्यकर्त्ताओं का चुनना, सेक्रेटरी की नियुक्ति करना, बजट पास करना, रजिस्ट्रार और आय-व्यय निरीक्षकों (ऑडीटरों) की रिपोर्ट पर विचार करना, सभासदों और समिति के ऋण की सीमा बाँधना, और समिति के उपनियमों में संशोधन करना है। कार्यकारिणी सभा का कार्य साधारण सभा के आदेशों का पालन करना, सभासदों की प्रार्थना पर ऋण देना, उनसे ऋण वसूल करना, तथा ऋण के लिये राशि का प्रबन्ध करना और समितियों के कार्यों पर नियन्त्रण रखना है।

(६) कार्यशील पूँजी (Working Capital)—समिति की कार्यशील पूँजी सदस्यों के प्रवेश शुल्क, अंशों (यदि हों), लोगों की जमा से प्राप्त की जाती है। अंशों का निर्गमन केवल पंजाब, उत्तर प्रदेश और मद्रास में ही होता है। सरकार, अन्य समितियों और केन्द्रीय व राज्य सहकारी बैंकों द्वारा ऋण प्राप्त करना समिति के पूँजी प्राप्त करने के बाह्य साधन हैं। समितियों के ऋणों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता कि उनको ऋण अधिकतर बाह्य साधनों से ही प्राप्त होता है।

(७) ऋण का उद्देश्य (Object of Loan)—ऋण साधारणतया उत्पादन-कार्यों और पुराने ऋण चुकाने के लिये दिया जाता है। सैद्धान्तिक दृष्टि से उपभोग और अनुत्पादक कार्यों, जैसे—विवाह और अन्य सामाजिक तथा धार्मिक

उत्सवों के लिए नहीं देना चाहिए, परन्तु व्यवहार में ऐसा भी ऋण दिया जाता है अन्यथा किसान के साहूकार के चंगुल में फँस जाने का भय रहता है।

(८) ऋण-भुगतान (Repayment of Loan)—ऋण का भुगतान सुविधाजनक किस्तों के रूप में होता है। भुगतान ऐसे समय पर मांगा जाता है जब किसान के पास धन की रुपया होता है।

(९) जमानत (Security)—इन समितियों के सदस्यों का असीमित दायित्व होने के कारण ऋण केवल व्यक्तिगत जमानत पर ही दे दिया जाता है। सदस्य की सचाई तथा चरित्र ऋण प्राप्ति के लिये अधिक महत्व रखते हैं। परन्तु व्यवहार में ऋण लेने वालों से दो सहयोगी सदस्यों की जमानत के अतिरिक्त चल व अचल सम्पत्ति भी जमानत के रूप में मांगी जाती है।

(१०) ब्याज की दर (Rate of Interest)—इन समितियों की ब्याज की दर महाजन की दरों से कम होती है। परन्तु यह दर अधिक नीची नहीं होनी चाहिए अन्यथा गांव वाले आवश्यकता से अधिक ऋण लेने के लिए प्रेरित होंगे।

(११) निरीक्षण एवं जाँच (Supervision & Audit of Accounts)—इन समितियों के काम का निरीक्षण और हिसाब किताब की जाँच सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार के द्वारा होती है जो इस कार्य के लिये निरीक्षक (Inspector) और हिसाब परीक्षक (Auditor) नियुक्त करता है। निरीक्षण कार्य निरीक्षक संघ (Inspecting Union) और केन्द्रीय बैंकों द्वारा भी होता है।

(१२) लाभ विभाजन (Distribution of Profits)—जिन समितियों में अंश नहीं होते उनका सारा लाभ रिजर्व कोष में जमा कर दिया जाता है। अंश वाली समितियों में लाभ का कम से कम चौथाई भाग रिजर्व कोष में जमा कर दिया जाता है, शेष का १०% शिक्षा तथा अन्य दान व परोपकार के कार्यों में व्यय किया जाता है, और शेष एक सीमा तक अंशधारियों को लाभांश (Dividend) के रूप में बाँट दिया जाता है।

(१३) पंचायत (Arbitration)—समिति और सदस्यों का पारस्परिक झगड़ा पंचायत द्वारा तय किया जाता है। इन झगड़ों के लिए न्यायालय में नहीं जाना पड़ता है जिससे समय, शक्ति तथा व्यय में बचत होती है।

(१४) समिति का भंग होना (Dissolution)—रजिस्ट्रार द्वारा कोई भी समिति जो ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर रही हो तथा जिसके कार्य से रजिस्ट्रार असन्तुष्ट हो, भंग की जा सकती है।

(१५) कतिपय सुविधाएँ एवं रियायतें (Some Facilities & Concessions)—समितियों को कतिपय सुविधाएँ एवं रियायतें भी मिली हुई हैं, जैसे—आयकर रजिस्ट्री शुल्क और मुद्रांक कर (Stamp Duty) की छूट आदि। समितियों के अंशों की कुर्की नहीं हो सकती। अन्य उधार लेने वालों में इन्हें प्राथमिकता का अधिकार प्राप्त है।

(१६) वर्तमान स्थिति (Present Position)—सन् १९४० के पूर्व इन समितियों की स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी। इनके ऋण का बहुत सा भाग वसूल नहीं होने पाता था और ऋणों में भी भारी कमी हो गई थी। परन्तु द्वितीय विश्व

महायुद्ध के आरम्भ हो जाने तथा खेतो की उपज का मूल्य बढ जाने से किसानों की आर्थिक स्थिति म सुधार हुआ और इनका ऋण वसूल हो गया। सन् १९५८ के जून के अन्त मे इन समितियो की संख्या १,६६,५४३ था और १,०२,२१,२४६ सदस्य थे। इनकी कार्यशील पूंजी १३३.७५ करोड रु० थी। बम्बई, मद्रास और पंजाब म इन समितियो की विशेष उन्नति हुई।

प्रारम्भिक कृषि (ग्रामीण) सहकारी साख समितियो को आवश्यकता के कारण—इन समितियो की प्रगति सन्तोषजनक नही है, यद्यपि इन पर विशेष ध्यान दिया गया है। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित है

(१) **अपर्याप्त पूंजी**—समितियो के पास अपर्याप्त पूंजी होने के कारण इनकी साख-सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति नही हो पाती जिससे किसान को गाँव के महाजन पर आश्रित रहना पडता है।

(२) **ऋण अनुत्पादक कार्यों मे खर्च किया जाता है**—इन समितियो द्वारा अपने सदस्यो को दिया गया ऋण अधिकाश म अनुत्पादक कार्यों म लगा दिया जाता है जिससे ऋण की वसूली नही होने पाती।

(३) **गाँव के साहूकार या महाजन का प्रभुत्व**—सहकारी आन्दोलन के पश्चात् भी गाँव के महाजन का पूर्ववत् ही प्रभाव एव प्रभुत्व है।

(४) **अशिक्षा**—इन समितियो के सदस्य पढे लिखे नही होने के कारण सहकारिता के सिद्धान्तो को नही समझते।

(५) **समितियो का दोषपूर्ण सचालन, निरीक्षण एव अकेक्षण**—इन समितियो के सचालन, निरीक्षण एव अकेक्षण (Audit) आदि म अनेक दोष पाये जाते है जिनके कारण य सफलतापूर्वक कार्य नही कर सका है।

कृषि (ग्रामीण) सहकारी असाख समितिया (Agricultural [Rural] Co operative Non credit Societies)—गाँव मे कुछ सहकारी समितियां ऋण देने का काम नही करती बल्कि कृषि सम्बन्धी अनेक कार्य सहकारी सिद्धान्तो पर करती हैं, जैसे—बीज, सिचाई, औजार, खाद, कृषि-पदार्थो की बिक्री, खेतों की चकबन्दी आदि की समितियां। इन समितियों की उन्नति साख समितियो की अपेक्षा बहुत कम हुई है। सन् १९५४-५५ के अन्त म देश मे ३०,१९७ प्रारम्भिक कृषि असाख समितियां थी। इनके सदस्यो की संख्या २४,९४,५०८ थी तथा इनकी चालू पूंजी २०.७२ करोड रु० थी।

प्रारम्भिक अकृषि (शहरी) सहकारी साख समितियां (Primary Non-Agricultural [Urban] Co-operative Credit Societies)—ऋण की समस्या केवल गांवो मे ही नही है बल्कि शहरो और कस्बो मे भी पाई जाती है। शहर और कस्बो के निर्धन कारीगर, मजदूर, तथा छोटे छोटे दूकानदारो को भी ऋण की आवश्यकता रहती है जिनको साख-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये इन समितियो का निर्माण होता है। ये शहरो म स्थित छोटे छोटे दूकानदारों, व्यापारियो, कारीगरो, तथा कारखाने वालो को जो कृषक नही हैं, ऋण देती है। इसलिए इन्हे 'अकृषि (शहरी) सहकारी साख समितियाँ' कहते है। इनका निर्माण अधिकतर शुल्ज डेलिज (Schulze Delitzch) के सिद्धान्तो के अनुसार होता है।

विशेषताएँ (Characteristics)—अकृषि (शहरी) साख समितियो की विशेषताएँ निम्नलिखित है :—

(१) संस्थापन (Formation)—ये गुल्ज प्लिज के सिद्धांत पर बनाई जाती हैं। नगर के निर्धन कारीगर, मजदूर तथा छोटे दुकानदार आदि मिल कर इनका निर्माण करते हैं जो इनको ऋण देती हैं।

(२) पूँजी (Capital)—इनकी समस्त पूँजी अंशों (Shares) में विभाजित होती है जो प्रत्येक सदस्य को खरीदने पड़ते हैं। प्रत्येक अंशधारी को एक वोट देने का अधिकार होता है। सदस्यों की जमा तथा रिजर्व कोष भी इनकी कार्यशील पूँजी को बढ़ाते हैं।

(३) दायित्व (Liability)—इन समितियों के सदस्यों का दायित्व सीमित होता है।

(४) प्रबन्ध (Management)—साधारण सभा नीति निर्धारित करती है तथा कार्यकारिणी सभा या संचालक (Directors) की प्रबन्ध समिति का प्रबन्ध करता है। समिति के प्रबन्धकों को काम करने के लिए वेतन दिया जाता है।

(५) ऋण नीति तथा कार्य (Loan Policy)—ये समितियाँ अपने सदस्यों में मितव्ययता का प्रचार करती हैं तथा उन्हें आवश्यकतानुसार अल्प समय के लिए ऋण देती हैं। ये यह भी प्रयत्न करती हैं कि सदस्य रुपया जमा भी करावें। बम्बई और बंगाल में ये समितियाँ चालू जमा और संचय जमा भी लेती हैं और हुण्डी भुनाने का काम भी करती हैं।

(६) लाभ वितरण (Distribution of Profits)—वार्षिक लाभ २५% रिजर्व अर्थात् रक्षित कोष में जमा कर शेष सदस्यों में बाँट दिया जाता है।

(७) निरीक्षण एवं जाँच (Supervision and Audit of Accounts)—इन समितियों का निरीक्षण एवं हिसाब किताब की जाँच कृषि साख समितियों की भाँति रजिस्ट्रार द्वारा होती है।

(८) वर्तमान स्थिति (Present Position)—ये समितियाँ कृषि साख समितियों की अपेक्षा अधिक सफल हुई हैं क्योंकि इनके सदस्य शिक्षित होते हैं और नियमों का पूर्णतया पालन करते हैं। ये समितियाँ स्वावलम्बी तथा सुदृढ़ होती हैं। इनके पास अंश तथा जमा की पर्याप्त पूँजी होती है और इनको केन्द्रीय या प्रान्तीय सहकारी बैंकों से ऋण लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार की समितियों ने बम्बई, मद्रास, बंगाल और पंजाब में विशेष उन्नति की है। जून १९५५ के अन्त में इनकी संख्या ९,३४८ तथा इनके सदस्यों की संख्या २८,४७,९४४ थी। इनकी चालू पूँजी ७८.३९ करोड़ रु० थी।

प्रारम्भिक शहरी सहकारी अप्रसाख समितियाँ (Primary Co-operative Non-credit Societies)—शहरी अप्रसाख समितियाँ ने साख समितियों की अपेक्षा अधिक उन्नति की है। ये समितियाँ कई प्रकार की होती हैं—जैसे बीमा (Insurance), भवन निर्माण (Housing), उपभोक्ता भंडार (Consumer's Store) आदि। इन सबमें उपभोक्ता भण्डार सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। जून १९५५ के अन्त में इन समितियों की संख्या २४,२९६ थी, उनके सदस्यों की संख्या ३१,५०,२३३ थी और कार्यशील पूँजी ५२.५५ करोड़ रुपए थी।

२. माध्यमिक समितियाँ एवं केन्द्रीय सहकारी बैंक (Secondary Societies and Central Co-operative Banks)

(अ) ये समितियां प्रारम्भिक समितियो को सगठित करने, उनकी देखभाल करने और आर्थिक सहायता देने के लिए बनाई जाती है। ये समितियां मुख्यत तीन प्रकार की होती है—(१) गारन्टी सघ (Guarantee) जैसे बम्बई मे। (२) निरीक्षक सघ (Inspecting Union) जैसे मद्रास और बम्बई मे। (३) साहूकार सघ, जैसे पजाब मे।

एक निश्चित क्षेत्र मे विभिन्न समितियो के सम्मिलन से सघ का निर्माण होता है। इसका प्रबन्ध सदस्य समितियो की प्रतिनिधि कमेटी द्वारा होता है। गारन्टी सघ सदस्य समितियों को केन्द्रीय बैंको द्वारा दिये जाने वाले ऋणो की गारन्टी करता है। निरीक्षक संघ प्रारम्भिक समितियों की देख-रेख करता है और साहूकार सघ ऋण देता है। ये सघ प्रारम्भिक समितियों के बीच शृंखला का भी काम करते हैं।

(आ) केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Cooperative Banks)—इन बैंको का सगठन सन् १९१२ के कानून के पश्चात् आरम्भ हुआ। ये बैंक प्रारम्भिक समितियों को धन देने और उनके सतुलन केन्द्रो का कार्य करते हैं। समितियों को आर्थिक योगदान के अतिरिक्त ये बैंक जमा स्वीकार करना बिना की राशि सग्रह करना, चैकों को भुनाना आदि कार्य भी करते हैं।

केन्द्रीय बैंक मिश्रित (Mixed) या शुद्ध (Pure) हो सकते है। मिश्रित केन्द्रीय बैंको की सदस्यता व्यक्तियां और समितियां दोनो के लिए खुली है किन्तु शुद्ध ढग के बैंक की सदस्य केवल समितियां ही हो सकती है। शुद्ध ढग के बैंक पजाब और बगाल मे है। सहकारी केन्द्रीय बैंक प्राय. जिले भर मे एक ही होता है, इसलिए इसे जिला बैंक भी कहते है।

केन्द्रीय बैंको की विशेषताएं (Characteristics)

(१) क्षेत्र (Area)—इनका क्षेत्र एक या एक से अधिक ताल्लुका, तहसील या जिला होता है। दक्षिण तथा पश्चिमी भारत मे केन्द्रीय बैंक का क्षेत्र एक जिला होता है, परन्तु उत्तर भारत मे अधिकतर एक तहसील मे एक केन्द्रीय बैंक होता है।

(२) प्रबन्ध (Management)—केन्द्रीय बैंक के अशधारियों की सभा को साधारण सभा भी कहते है। सभा के प्रत्येक सदस्य को केवल एक मत देने का अधिकार होता है। इसी सभा द्वारा बैंक के सचालकों का निर्वाचन होता है। मिश्रित केन्द्रीय बैंकों मे समितियों और व्यक्तियो के सचालको की सख्या अधिक होती है। सचालक बोर्ड बैंक का प्रबन्ध करता है। जब सचालकों की सख्या अधिक होती है तो यह बोर्ड एक कार्यकारिणी समिति चुन लेता है जो बैंक का सारा कार्य चलाती है। बैंक का प्रतिदिन का प्रबन्ध सचालक अथवा चेयरमैन व अवैतनिक मत्री की सहायता से होता है। सचालकों को कोई प्रतिफल नही मिलता और वे अधिकतर समितियो के प्रतिनिधि होते है। उत्तर प्रदेश मे चेयरमैन सरकारी कर्मचारी होता है।

(३) पूँजी (Capital)—केन्द्रीय बैंको की पूँजी अशो (Shares), रिजर्व कोष जमा तथा ऋण के द्वारा प्राप्त होती है। सरकारी सघों (Unions) मे केवल समितियाँ ही अश खरीद सकती हैं, किन्तु केन्द्रीय मिश्रित बैंको मे समितियाँ तथा अन्य सदस्य व्यक्ति भी अश खरीद सकते है। साधारणतया अशधारियो का दायित्व अश के मूल्य तक ही सीमित रहता है, परन्तु कुछ प्रान्तो मे अशधारियो का दायित्व चार गुने से दस गुने तक होता है। २५% रिजर्व कोष मे जमा किया जाता

है। यह भी कार्यशील पूँजी का काम करता है। बैंक असदस्यों से जमा भी स्वीकार करते है जो उनको सबसे अधिक कार्यशील पूँजी होती है। ये बैंक मुख्यतः मुद्दती और सचय जमा पर ही रुपया लेते है। चालू जमा मे अधिक जोखिम होने के कारण चालू जमा बैंक बहुत कम लते है। आवश्यकता पड़ने पर, ये राज्यीय सहकारी बैंको से भी ऋण लेते है। कभी-कभी ये रिजर्व, स्टेट तथा अन्य बैंकों से भी ऋण लेते है।

(४) ऋण नीति तथा कार्य (Loan Policy)—केन्द्रीय बैंक अधिकतर सहकारी साख समितियो और अमाख समितियों को ही ऋण देते है। असीमित दायित्व वाली समितियो को ऋण प्रोनोट अथवा बाँड पर दिया जाता है, परन्तु अन्य सहकारी समितियो से उसके अतिरिक्त कुछ सम्पत्ति भी गिरवी माँगी जाती है। ये बैंक प्रारम्भिक सहकारी साख समितियो से ७% ब्याज लेते हैं और जमा पर ५% ब्याज देते हैं। जो रुपया केन्द्रीय बैंको के पास आवश्यकता से अधिक होता है, उसे प्रान्तीय सहकारी बैंको मे जमा कर दिया जाता है या ट्रस्टी-प्रतिभूतियों मे लगा दिया जाता है।

(५) लाभ वितरण (Distribution of Profits)—केन्द्रीय बैंक के वार्षिक लाभ का २५% रिजर्व कोष मे जमा कर दिया जाता है। लाभ का कुछ भाग बट्टे खाते, भवन, लाभ-हानि सतुलन के लिये विविध कोषो मे जमा करके शेष का ६ से १० प्रतिशत तक अशधारियो को लाभांश के रूप मे बाँट दिया जाता है।

(६) निरीक्षण तथा अकेक्षण (Supervision & Audit) – केन्द्रीय बैंको का निरीक्षण रजिस्ट्रार तथा उसके अधीन अन्य कर्मचारियों द्वारा होता है। प्रान्तीय सहकारी बैंक भी केन्द्रीय बैंको का निरीक्षण करते है। इन बैंकों के आय-व्यय की जाँच रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त अकेक्षक (Auditor) करते है और इनकी आर्थिक स्थिति के विषय मे रजिस्ट्रार को रिपोर्ट देते हैं।

(७) वर्तमान स्थिति (Present Position)—भारतवर्ष म सन् १९५७-५८ मे ४१८ बैंकिंग सघ तथा केन्द्रीय सहकारी बैंक थे जिनके लगभग ३,२२,८१६ सदस्य थे और कार्यशील पूँजी १४७ करोड रुपये थी।

३. राज्यीय सहकारी बैंक या शीर्ष बैंक (State Co-operative Bank or Apex Banks)—मैकलेगन कमेटी १९१५ की रिपोर्ट के अनुसार इन बैंको की स्थापना हुई। आजकल लगभग सभी राज्यो म ऐसे बैंक है जिनमे बम्बई, मद्रास और पजाब के बैंक विशेष उल्लेखनीय हैं।

विशेषताएँ (Characteristics)

(१) सगठन (Organisation)—इन बैंको का सगठन सब जगह एक-सा नहीं है। पजाब और बङ्गाल मे सहकारी समितियाँ और सहकारी केन्द्रीय बैंक उनके सदस्य और अशधारी होते हैं। दूसरे प्रान्तों मे अन्य व्यक्ति भी इनके अशधारी होते है।

(२) प्रबन्ध (Management)—इन बैंकों के कार्य-सचालन के लिए व्यापारिक बुद्धि तथा बैंकिंग योग्यता चाहिए। अतः इनके डाइरेक्टर अशधारियों के अतिरिक्त बाहरी व्यक्तियों मे से भी चुने जाते हैं। सहकारी विभाग का रजिस्ट्रार लगभग सभी राज्यो मे इन बैंकों का या तो स्वयं नियुक्त (Self-appointed) डाइरेक्टर

अर्थात् सचालक होता है अथवा यह कुछ डाइरेक्टरों या सचालकों को मनोनीत (Nominate) करता है।

पूँजी (Capital)—इन बैंकों की कार्यशीलता पूँजी अशो, जमा और रिजर्व कोष मे प्राप्त होती है। कभी-कभी ये बैंक कुछ समय के लिये नकद साख या अधिविकर्ष (Overdraft) के रूप म स्टेट व व्यापारिक बैंकों तथा सहकारी केन्द्रीय बैंकों के द्वारा प्रारम्भिक सहकारी साख समितियों व अन्य राज्यकीय बैंकों से ऋण भी ले लेते है। ये बैंक चालू, बचत और मुद्दती तीनों प्रकार की जमाएँ प्राप्त करते है। मुद्रा-बाजार के अनुसार ही वे अपने ब्याज की दर निर्धारित करते हैं।

(४) ऋण नीति एव कार्य (Loan Policy)—ये बैंक प्राय २० से ५०% तक अपनी कार्यशील पूँजी राज्य-प्रतिभूतियों (Govt. Securities) म लगाते है तथा कुछ धन व्यापारिक बैंक व अन्य राज्यकीय बैंकों मे जमा करा देते है तथा शेष को अपने सदस्यों को उधार दे देते है। प्रारम्भिक समितियों को ऋण केन्द्रीय सहकारी बैंकों के द्वारा दिया जाता है। ये बैंक क्रय-विक्रय सघ व औद्योगिक सहकारी समितियों को भी ऋण देते हैं। ये तीन, प्रकार की जमा लेने के अतिरिक्त वे सभी कार्य करते है जो एक व्यापारिक बैंक करता है। जिन बैंकों मे केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंक नहीं हैं वहाँ वे भूमि बन्धक बैंक के ऋण-पत्र (Debentures) बेचते है और उन्हे दीर्घकाल के लिए ऋण देते हैं।

(५) लाभांश-वितरण (Dividend)—सन् १९४६ की सहकारी अनुसधान कमेटी ने कम-से-कम ३% लाभांश प्रथम पाँच वर्ष तक इसके अशधारियों को देने की सिफारिश की है।

(६) निरीक्षण एव अकेक्षण (Supervision & Audit)– ये बैंक कहीं-कहीं केन्द्रीय सहकारी बैंकों पर नियन्त्रण भी करते हैं। यह वाछनीय नहीं है, यद्यपि प्रान्तीय सहकारी बैंक द्वार इनका निरीक्षण आवश्यक है। इसके हिसाब-किताब की जाँच रजिस्ट्रार को करनी चाहिए, परन्तु साधारणतया रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त अकेक्षक इनके हिसाबों की जाँच करते हैं। इन बैंकों को हर तिमाही एक आर्थिक स्थिति का लेखा रजिस्ट्रार द्वारा प्रान्तीय सरकार को भेजना पड़ता है जो उन पर अपना मत प्रकट करते है।

(७) वर्तमान स्थिति (Present Position)—राज्यीय सहकारी बैंक सम्बद्ध बैंकों तथा बैंकिंग सस्थाओं के लिये सतुलन केन्द्रों का काम करते हैं। सन् १९५७-५८ मे देश मे ऐसे २१ बैंक थे। जिनके सदस्य ३३,४४० तथा जिनकी चालू पूँजी ७९.५४ करोड रु० की थी।

राज्यीय सहकारी बैंक और रिजर्व बैंक—रिजर्व बैंक राज्यीय सहकारी बैंकों व उनसे सम्बन्धित केन्द्रीय बैंकों को राज्य प्रतिभूतियों की जमानत पर नकद साख (Cash Credit) देता है। रिजर्व बैंक कुछ बैंकों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया भेजने की भी सुविधा देता है, और इस कार्य के लिये उसने केन्द्रीय बैंकों को राज्यीय बैंकों की शाखा मान लिया है। रिजर्व बैंक का कृषि विभाग इन पर नियन्त्रण रखता है। यद्यपि राज्यीय बैंकों को रिजर्व बैंक से अभी सब सुविधाएँ नहीं मिली है,

फिर भी अब एक अखिल भारतीय सहकारी या सर्वोपरि बैंक की आवश्यकता नहीं रही है।

अखिल भारतीय राज्यीय सहकारी बैंक—इस संघ का प्रादुर्भाव सन् १६२६ में हुआ था। इसका मुख्य कार्य प्रत्येक सदस्य की पूँजी के बाहुल्य तथा कमी के आँकड़े जमा कर उनको अन्य सदस्यों को सूचित करना है जिससे प्रत्येक सदस्य एक दूसरे की आर्थिक स्थिति से परिचित हो जाय और लेन देन करने में सुविधा हो। यह सदस्य बैंकों को आर्थिक परामर्श भी देता है और उनकी सहायता भी करता है। राज्यीय बैंकों को समय समय पर बुलाकर सहकारी आन्दोलन की महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार करना भी इसका कार्य है। यह राज्यीय बैंकों, रिजर्व बैंक और सरकार का ध्यान इन्हीं सम्मेलनों द्वारा आकर्षित करता है।

भारतवर्ष में सहकारिता से लाभ (Advantages of Cooperation in India)—यद्यपि सहकारी आन्दोलन की हमारे देश में पूरी उन्नति नहीं हुई है और उसमें अनेक दोष हैं, परन्तु फिर भी इस आन्दोलन से देश को बहुत लाभ हुए हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(१) आर्थिक लाभ (Economic Advantages)—सहकारी साख समितियाँ किसानों और कारीगरों को कम ब्याज पर ऋण देती हैं और वे उनमें बचत की भावना को प्रोत्साहित करती हैं। कई गाँवों में महाजन का प्रभुत्व एवं प्रभाव समाप्त हो गया है और उसने ब्याज की दर कम करदी है जिससे जनसाधारण को लाभ पहुँचा है। सहकारी समितियों ने ऋण कम करने में भी सहायता दी है। उन्होंने अनुत्पादक संचय (Hoarding) को रोका है और ये नियन्त्रित साख प्रदान करती हैं। अमाख समितियों से भी जनता को बहुत लाभ पहुँचा है। सहकारी विक्रय समितियों द्वारा किसान अपना माल अच्छे दामों पर बेच सकता है। उपभोक्ता समितियों के द्वारा उसे अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ सस्ते भावों पर मिल जाती हैं। सहकारिता कुटीर उद्योगों के विकास का एक अनुपम साधन है। मद्रास में बुनकर सहकारिता सफल औद्योगिक सहयोग का बहुत ही उत्तम उदाहरण है।

(२) नैतिक लाभ (Moral Advantages)—आर्थिक लाभों के अतिरिक्त सहकारिता ने सदस्यों का नैतिक स्तर भी ऊँचा उठा दिया है। केवल अच्छे चरित्र वाला व्यक्ति ही इन समितियों का सदस्य बन सकता है। सदस्यों के झगड़े पंचायत द्वारा सुलझाये जाते हैं जिससे मुकदमेबाजी कम होती है। सदस्य एक दूसरे पर नियन्त्रण रखते हैं जिससे फिजूलखर्ची कम होती है। एम० एल० डार्लिङ्ग ने ठीक ही कहा है कि 'समितियों के सदस्यों में सहकारिता की भावना उत्पन्न होने से फिजूलखर्ची, मुकदमेबाजी, मदिरा पान आदि आदतों के स्थान पर आत्म विश्वास, सचाई, सद्भावना, अल्पव्ययता तथा पारस्परिक सहयोग आदि उत्तम बातें आ जाती हैं।' इन समितियों द्वारा सच्ची नागरिकता का पाठ सिखाया जाता है।

(३) शिक्षात्मक लाभ (Educative Advantages)—सहकारिता से समितियों के सदस्यों की बुद्धि और ज्ञान शक्ति का विकास हो जाता है। वे पढ़ना, लिखना, हिसाब रखना आदि अनेक बातें सीखते हैं जिनसे वे अच्छे नागरिक बन जाते हैं। प्रत्येक सदस्य को समिति की बैठकों में भाग लेना पड़ता है और यदि वह किसी जिम्मेदार पद पर नियुक्त हुआ, तो उसे समिति के सब कार्यों का अध्ययन करना पड़ता है जिससे उसके ज्ञान में वृद्धि होती है।

(४) सामाजिक लाभ (Social Advantages)—सहकारिता आन्दोलन से सामाजिक लाभ भी बहुत होते हैं। असीमित दायित्व के सिद्धान्त से पारस्परिक नियंत्रण आवश्यक हो जाता है और फिजूलखर्ची के विरुद्ध लोकमत तैयार हो जाता है। विवाह आदि धार्मिक एवं सामाजिक अवसरों पर फिजूलखर्ची कम हो जाती है। समितियों द्वारा गांवों में कुओं की मरम्मत, सफाई, गन्दे पानी की नालियों में सुधार, सड़क साफ करवाने, गाँव के गड्ढे भरवाने, चिकित्सा आदि जन हित एवं परोपकारी कार्य किये जाते हैं। उदाहरण के लिए, रहन-सहन सुधार (Better Living Societies) द्वारा गाँव वालें स्वच्छ रहना, मकानों को हवादार बनाना, विवाह त्यौहार आदि अवसरों पर फिजूलखर्ची नहीं करना आदि बातें सीखते हैं।

(५) शासन-सम्बन्धी लाभ (Administrative Advantages)—सहकारी समितियों को सफलता प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली के सिद्धान्तों का पाठ सिखाती है। समिति का प्रत्येक सदस्य अपने मताधिकार का सदुपयोग करना सीखता है। समितियों के कार्य में निरन्तर भाग लेते रहने से सदस्यगण नियमित रूप से काम करने के अभ्यस्त हो जाते हैं।

भारतीय सहकारिता के कुछ दोष (Defects of Indian Cooperation)—भारतवर्ष में सहकारी आन्दोलन को प्रारम्भ हुए पचास वर्ष हो गये हैं, परन्तु फिर भी आशातीत उन्नति दृष्टिगोचर नहीं होती है। इसकी निम्नलिखित कमियाँ इस दशा का मुख्य कारण हैं :—

(१) अत्यधिक सरकारी नियन्त्रण—इस आन्दोलन का पहला दोष यह है कि इसके ऊपर अत्यधिक सरकारी नियन्त्रण (Official Control) अभी तक भी इतना अधिक है कि सहकारी समिति के सदस्य इनको 'सरकारी बैंक' समझते हैं। इससे सहकारिता का भाव पैदा नहीं होता और वह अपना उत्तरदायित्व नहीं समझते।

(२) सहकारिता के सिद्धान्तों की अनभिज्ञता—बहुत-से सदस्य सहकारिता के सिद्धान्तों को नहीं समझते जो बहुत आवश्यक है।

(३) निरक्षरता—अधिकांश जनता निरक्षर तथा पुराने विचारों की है, इसलिये उन्हें सहकारिता के सिद्धान्तों में कोई विश्वास नहीं होता है।

(४) बैंक-सम्बन्धी कार्यों की अनभिज्ञता—बहुत-से सरकारी और असरकारी कर्मचारी जो सहकारी आन्दोलन में संलग्न हैं, बैंक सम्बन्धी कार्यों से अपरिचित हैं जिससे बैंकों का ठीक-ठाक प्रबन्ध नहीं कर सकते।

(५) दोषपूर्ण प्रबन्ध—इन समितियों का प्रबन्ध दोषपूर्ण है। प्रबन्धकों को उचित प्रशिक्षण (Training) नहीं मिलता। प्रायः प्रबन्धक अपने मित्रों व सम्बन्धियों को ही ऋण देते हैं और वसूली न होने पर उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जाती। इस पक्षपात-पूर्ण व्यवहार के कारण समितियों के अन्य सदस्यों को, जिनका प्रबन्धकों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, आवश्यक कार्यों के लिए ऋण नहीं मिल पाता।

(६) प्रबन्ध का कुछ ही शक्तिवान व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रीयकरण—बहुत सी समितियों का प्रबन्ध थोड़े से शक्तिवान व्यक्तियों के हाथ में चला गया है जो छोटे-छोटे उत्पादकों के हित की रक्षा नहीं करते। बहुत-से केन्द्रीय बैंक भी अपनी समितियों के साथ व्यवहार में पक्षपात करते हैं।

(७) प्रबन्धकों की स्वार्थपरायणता—प्रबन्धकों की स्वार्थपरायणता के कारण सहकारी अर्थ-व्यवस्था अपर्याप्त, विलम्बकारी तथा लोचहीन है। बहुत से सदस्यों को ऋण लेने में असुविधाओं का सामना करना पड़ता है और फिर भी उन्हें आवश्यकतानुसार ऋण नहीं मिलता। इस कारण समितियों के होते हुए भी साहूकार का पूर्ण प्रभुत्व एवं प्रभाव रहता है और कृषक सदैव महाजन के चंगुल में फँसा रहता है।

(८) दोषपूर्ण निरीक्षण एवं अंकेक्षण—सहकारी समितियों का निरीक्षण एवं अंकेक्षण ठीक प्रकार नहीं होता है जिससे बेईमान प्रबन्धकों द्वारा गबन की आशंका बनी रहती है। कई राज्यों में समितियों का निरीक्षण तथा अंकेक्षण भिन्न-भिन्न एजेंसियों द्वारा होता है जिसमें धन तथा समय का दुरुपयोग होता है। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमेटी के मतानुसार जर्मनी तथा आस्ट्रिया की भाँति का निरीक्षण, अंकेक्षण आदि केवल जिला संघ द्वारा ही कुशलतापूर्वक किया जा सकता है।

(९) असाख समितियों की उपेक्षा—देश में जो कुछ भी सहकारिता की प्रगति हुई है वह साख समितियों की दिशा में हुई है। असाख समितियों की ओर कम ध्यान दिया गया है। सहकारिता की पूर्ण सफलता इसके सर्वाङ्गीण विकास पर निर्भर है। अत: साख व असाख तथा कृषि व अकृषि समितियों का विकास एक साथ होना आवश्यक है।

(१०) ऊँची ब्याज दर—ऋण प्रायः तीन संस्थाओं द्वारा प्राप्त होता है राज्यीय सहकारी बैंक केन्द्रीय सहकारी बैंकों को ऋण देते हैं, केन्द्रीय सहकारी बैंक प्रारम्भिक सहकारी साख समितियों को और साख समितियाँ सदस्यों को ऋण देती हैं। इसमें व्यय बढ़ जाता है जिसके फलस्वरूप ब्याज की दर में भी वृद्धि हो जाती है।

(११) अत्यधिक पुराने ऋणों की विद्यमानता—अत्यधिक पुराने ऋणों की विद्यमानता आन्दोलन का एक प्रमुख दोष है। जो सदस्य अपने पुराने ऋणों को छिपा लेते हैं उन्हें भी अनुत्पादक उद्देश्यों के लिये बड़े-बड़े ऋण दे दिये जाते हैं। इस प्रकार समय पर ऋणों को चुकाया नहीं जाता जिसके कारण अवधिगत ऋणों (Overdues) में पर्याप्त वृद्धि हो गई है।

(१२) कृषकों की केवल आंशिक माँग की पूर्ति—समितियों से किसान की छोटी सी माँग पूरी होती है, शेष के लिये उसे गाँव के महाजन या साहूकार पर निर्भर रहना पड़ता है।

(१३) अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ऋणों में प्राय: भेद नहीं किया जाता—प्रारम्भिक साख समितियों ने अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ऋणों में अन्तर स्पष्ट रूप से नहीं समझा है। अनेक समितियाँ दीर्घकालीन ऋण देती हैं जिसमें इनका धन लम्बे समय तक फँस जाता है। अन्य सदस्य ऋण बड़ी कठिनाई से ले पाते हैं।

(१४) ऋण देने की मात्रा निश्चित नहीं है—सदस्यों को ऋण देने की मात्रा निश्चित नहीं है। वे इकट्ठा धन लेकर निरर्थक व्यय कर देते हैं।

(१५) शिक्षित समुदाय एवं धनी लोगों की उदासीनता—शिक्षित समुदाय एवं धनी लोग इस ओर उदासीन रहते हैं, क्योंकि उनके स्वयं के लिए समिति की आवश्यकता नहीं होती और यदि वे सदस्य बन भी जाते हैं तो अनुचित लाभ उठाते हैं।

(१६) **अवैतनिक कार्यकर्त्ताओं की लापरवाही**—काम करने वाले वेतन न मिलने के कारण लापरवाही से काम करते हैं।

(१७) **ऊपरी दिखावा**—सहकारी कर्मचारी अपना कार्य दिखाने के लिये समितियों की संख्या बढ़ा कर दिखाते हैं। ठोस कार्य नहीं करते। प्रायः यह देखा गया है कि बहुत सी समितियां स्थापित होने के बाद एक वर्ष में ही भंग हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त, समितियों के पदाधिकारी अपने हिसाब किताब में इस ढंग से हेर फेर कर देते हैं कि अवधिगत ऋण अधिक प्रतीत नहीं होते।

(१८) **कार्यशील पूंजी की अपर्याप्तता**—समितियों के पास कुल कार्यशील पूंजी का बहुत कम भाग स्वयं की पूंजी होती है। इसका कारण यह है कि समिति के सदस्यों में धन बचाकर रखने की आदत नहीं होती। ये समितियाँ अंश पूंजी द्वारा अपनी पूंजी एकत्रित भी नहीं करना चाहती। इसी कारण उनको बाहर से ऋण लेना पड़ता है। ऋण पर लिये हुये धन को ऋण के रूप में देने के कारण समितियाँ अधिक ब्याज लेती हैं। इसलिये समितियों के सदस्य समितियों से ऋण लेने में कोई विशेष लाभ नहीं समझते।

दोषों को दूर करने के सुझाव (Suggestions)

(१) सरकारी नियन्त्रण को सहकारी आन्दोलन पर से कम करना चाहिये। सहकारी विभाग का कार्य केवल शिक्षा देना, निरीक्षण तथा अंकेक्षण करना होता है और सारा आन्तरिक कार्य सहकारी संस्थाओं पर छोड़ देना चाहिये जिससे जनता का विश्वास बढ़े।

(२) प्रारम्भिक सहकारी साख समितियों को केवल अल्पकालीन तथा मध्य-कालीन ऋण ही देने चाहिये।

(३) ऋण केवल उत्पादन कार्यों के लिये देना चाहिये।

(४) साख समितियों को सदस्यों के ऋण वापिस करने की क्षमता को भी देखना चाहिये। यह भी देखना चाहिये कि उनके सदस्य अपनी आय से अधिक व्यय न करें।

(५) साख समितियों के हिसाब किताब आदि की जाँच भली प्रकार होनी चाहिये जिससे जनता का विश्वास बढ़े।

(६) समिति के सदस्यों, सहकारी कर्मचारियों तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों को सहकारिता के सिद्धान्त एवं कार्य प्रणाली के विषय में शिक्षा देने का पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिये।

(७) ऋण की मात्रा निश्चित कर देनी चाहिये।

(८) साख समितियों को सुदृढ़ रिजर्व कोष बनाना चाहिये ताकि वे भविष्य की अनिश्चितताओं से बच सकें।

(९) निरीक्षण और अंकेक्षण के लिये जिला संघ बनाने चाहिये जिनमें कुछ सहकारी अनुभवी कर्मचारी नियुक्त किये जायें।

(१०) बेईमान सदस्यों और पदाधिकारियों को समितियों से निकाल देना चाहिये और सदस्यों को आपस में समान समझना चाहिये।

(११) ब्याज की दर कम करने के लिये समितियों को शहरों तथा गाँवों में सस्ती दर पर ऋण लेना चाहिये। मन्द-व्यापार के दिनों में क्रियाशील व्यापार के दिनों के लिये सस्ते ब्याज पर धन एकत्रित करना चाहिये।

(१२) राजकीय व केन्द्रीय बैंकों का प्रबन्ध अनुभवी और बैंकिंग योग्यता वाले व्यक्तियों द्वारा होना चाहिए।

(१३) साख-समितियों तथा रिजर्व बैंक के कृषि-विभाग में पूरा सहयोग होना चाहिए।

(१४) खेती की उपज के सग्रहार्थ गोदाम बनाने के लिए समितिया तथा केन्द्रीय बैंकों को रियायती दर पर ऋण द देना चाहिए।

(१५) सरकार को इन समितियों को आय कर, रजिस्ट्रेशन फीस, मुद्राक-कर, अतिरिक्त-कर (Super tax) तथा न्यायालय शुल्क (Court-fee) से मुक्त कर देना चाहिए ताकि उनके व्यय कम हो जायें और वे ब्याज की दर कम कर दें।

(१६) साहूकारों के कार्यों के विरुद्ध विशेष कानून बनाये जाने चाहिए।

(१७) केन्द्रीय सहकारी बैंकों का नियन्त्रण एक कमेटी द्वारा होना चाहिए जो इन समितियों द्वारा बनाई गई हो।

(१८) समितियों का विस्तार बड़ा न होना चाहिए। यदि सदस्यों की संख्या समिति में अधिक होगी तो उसका प्रबन्ध ढीला हो जायगा। इसके विपरीत यदि सदस्यों की संख्या बहुत कम है, तो प्रबन्ध कठिन हो जायगा।

(१९) सहकारी साख समितियों को पूर्ण सफलता प्राप्त होने के लिए गाँव वालों का शिक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है।

(२०) 'गाडगिल आयोग' (Gadgil Commission) ने राजकीय कृषि साख निगम (State Agricultural Credit Corporation) की स्थापना की सिफारिश की है जो प्रादेशिक आवश्यकता को पूर्ण करेगा। परन्तु जहाँ राज्यीय सहकारी बैंक हैं, वहाँ इसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। 'नानावटी कमेटी' ने भी इस निगम का समर्थन नहीं किया।

(२१) भारत सरकार ने सन् १९४८ में एक ग्रामीण बैंकिंग जाँच कमेटी नियुक्ति की जिसने सितम्बर सन् १९४९ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। कमेटी ने सहकारी समितियों के लिए निम्न सुझाव दिये हैं : (अ) सरकार को सहकारी संस्थाओं पर विशेष ध्यान रखना चाहिए और उन्हें सहायता देनी चाहिए। (आ) अल्प और मध्यकालीन ऋण देने के लिए राज्यीय बैंकों की संख्या बढ़ा कर उनको अधिक दृढ़ बनाना चाहिए। जहाँ ऐसा सम्भव न हो सके वहाँ राजकीय कृषि साख प्रमण्डल स्थापित किये जाने चाहिए। (इ) दीर्घकालीन ऋण केवल भूमि-बंधक बैंकों द्वारा दिये जाने चाहिए। जहाँ ये नहीं हैं उनकी स्थापना होनी चाहिए। (ई) इन समितियों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर मुद्रा भेजने की सुविधाएँ भी प्रदान करनी चाहिए। (उ) जमींदारों व राजाओं आदि से जिनकी बचत बढ़ रही है समितियों को जमा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(२२) एक-उद्देशीय समितियों (Single-purpose Societies) के स्थान पर बहुउद्देशीय समितियों (Multi-purpose Societies) की स्थापना होनी चाहिए।

बहुउद्देशीय समितियों की स्थापना से विभिन्न प्रकार की अनेक समितियों (जैसे साख समिति विक्रय समिति गृह निर्माण समिति उपभोक्ता समिति आदि) स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

भारतीय सहकारी आन्दोलन की सफलताएँ (Achievements)—सहकारिता आन्दोलन ने भारत में जो सिद्धियाँ प्राप्त की हैं वे इस प्रकार हैं —

(१) इस आन्दोलन के कारण कई ग्राम क्षेत्रों में महाजनों ने अपनी ब्याज की दर गिरा दी है।

(२) इसके कारण जनता में मितव्ययता का प्रचार हुआ है।

(३) इसके कारण अनावश्यक ऋण लेने की प्रवृत्ति कम हो गई है।

(४) इसके कारण किसानों का नैतिक स्तर ऊँचा हो गया है।

(५) सहकारी भण्डारों से मध्यवर्ग को इस मँहगाई के समय बड़ा लाभ पहुँचा है।

(६) इसके कारण शहरी पूँजीपतियों और कार्यकर्त्ताओं के दिलों में गाँवों के प्रति रुचि उत्पन्न हो गई है।

उपसंहार—भारत में सहकारिता आन्दोलन को प्रारम्भ हुए लगभग ५० वर्ष हो गये परन्तु फिर भी इसकी प्रगति संतोषजनक नहीं है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् आन्दोलन में कुछ परिवर्तन हुआ जिसके कारण इसका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होने लगा है। द्वितीय महायुद्ध-काल में तथा इसके उपरान्त कृषि उपजों के मूल्य में वृद्धि होने के कारण किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ जिसके कारण समितियों तथा केन्द्रीय बैंकों का बकाया ऋण वसूल होने लगा। अब भी भारतवर्ष में सहकारिता के लिए सभी दिशाओं में पर्याप्त क्षेत्र है। अब तक भारत में साख ने ही कृषक के जीवन के एक अंग को छुआ है। अब हमें बहुउद्देशीय समितियाँ (Multipurpose Societies) आरम्भ करके अन्य क्षेत्रों में भी सहकारिता से लाभ उठाना चाहिए। भारतवर्ष ग्रामों का देश है और सहकारिता को ग्राम सुधार के सभी अंगों के लिए मुख्य लक्ष्य बना लेना चाहिए।

भारतवर्ष में असाख सहकारिता

(Non Credit Cooperation in India)

भारतवर्ष में सन् १९०४ में सहकारिता का प्रारम्भ किसानों को महाजन के चंगुल से बचाने और उनको कम ब्याज पर रुपया उधार देने के उद्देश्य से हुआ था किन्तु कम ब्याज पर रुपया उधार मिलने से ही तो किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार नहीं हो सकता। सहकारी साख आन्दोलन तो तभी सफल हो सकता है जब खेती उन्नत अवस्था में हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि खेतों की चकबन्दी हो अच्छे बीज खेती के वैज्ञानिक ढंग अच्छी खाद सिंचाई के समुचित साधन किसानों को उपलब्ध हों। अतः असाख सहकारिता की आवश्यकता के परिणाम स्वरूप सन् १९१२ में सहकारी समितियों का नया कानून पास हुआ जिसमें असाख समितियों के रजिस्ट्रेशन की आज्ञा दी गई। इसके अन्तर्गत अनेक प्रकार की असाख समितियों की स्थापना हुई जिनमें से कुछ का वर्णन नीचे किया जाता है —

सहकारी मार्केटिंग (विपणन) (Cooperative Marketing)—यूरोप व अमेरिका आदि देशों में सहकारी मार्केटिंग ने बड़ी उन्नति की है। यह

अनुमान लगाया जाता है कि खेतो की उपज का लगभग २५% भाग सहकारी समितियों द्वारा बेचा जाता है। यूरोप मे मार्केटिंग सहकारिता की उन्नति का श्रेय डेनमार्क को है जहाँ यह आन्दोलन पूर्ण सफल सिद्ध हुआ है। जब कुछ व्यक्ति सहकारिता के सिद्धान्त पर आपस में मिलकर अपनी पैदावार को बेचते हैं तो इसे सहकारी मार्केटिंग कहते हैं। उत्तर प्रदेश मे गन्ना तथा घी बेचने वाली समितियाँ, बम्बई मे रुई बेचने वाली समितियाँ, मद्रास मे धान की विक्रय समितियाँ सहकारी मार्केटिंग के कुछ उदाहरण हैं।

सहकारी मार्केटिंग (हाट) समिति के मुख्य कार्य—एक सहकारी मार्केटिंग समिति के निम्नांकित मुख्य कार्य होते हैं :—

(१) समिति के सदस्यों की पैदावार को सीधा उनसे खरीदना, (२) सदस्यो के माल पर कुछ प्रतिशत पेशगी देना, (३) उपयुक्त गोदाम की व्यवस्था कर सदस्यो के माल को संग्रह कर उसका ग्रेडेशन आदि करना, (४) सदस्यों के माल को कमीशन के आधार पर बेचना।

सहकारी मार्केटिंग के लाभ (Abvantages)—सहकारी विक्रय-समितियो के अनेक लाभ हैं जैसे अधिक बिक्री, स्थिर उत्पादन, उत्पादकों की सौदा करने की शक्ति में वृद्धि, खर्चा घट जाना, उपज का ऊँचा मूल्य प्राप्त होना, उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं का अध्ययन करना, उत्पादकों को सहकारी मार्केटिंग तथा सामूहिक प्रयत्नों के लिये शिक्षित करना आदि।

भारतवर्ष में सहकारी मार्केटिंग की प्रगति—बम्बई मे Cotton Sales Societies ने बड़ी उन्नति की है। सूरत की Cotton Sales Societies ने हाल मे ही अपना संघ स्थापित कर कपास लोढने के अपने ही कारखाने स्थापित कर लिये हैं। कलकत्ते मे कई Paddy Societies कुशलता पूर्वक कार्य कर रही हैं परन्तु बंगाल की जूट समितियों ने अभी आशातीत उन्नति नहीं की है। पंजाब मे कई सहकारी कमीशन दूकानें हैं जो उत्पादकों की उपज को अपने गोदामों में संग्रह कर अच्छे मूल्य पर बेचने का प्रयत्न करती हैं। मद्रास में भी इसी आधार पर कई विक्रय समितियाँ बनी हुई हैं परन्तु उनको अभी अधिक सफलता नहीं मिली है। उत्तर प्रदेश और बिहार की गन्ना विक्रय समितियाँ सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं।

उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं की सहकारिता—सहकारिता से लाभ उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं दोनों को ही पहुँचता है। उत्पादकों ने अपनी क्रय, विक्रय, चकबन्दी, सिंचाई, पशु, बीमा आदि की समितियाँ सहकारी सिद्धान्तों पर संगठित कर लाभ उठाया है, और उपभोक्ताओं ने अपने सहकारी भंडार संगठित कर लाभ उठाया है। नीचे दोनों प्रकार के सहकारी संगठनों का विवेचन किया जाता है —

सहकारी विक्रय समितियाँ (Cooperative Sales Societies)

परिचय—किसान अशिक्षित तथा ऋणी हैं, अत. वे बाजार-भावों से अनभिज्ञ रहते हैं और बहुधा फसल के बेचने में उचित मूल्य नहीं पाते। गाँव के बनिये से लेकर शहर के बड़े-बड़े व्यापारी तक सभी किसान की अज्ञानता तथा निर्धनता का अनुचित लाभ उठाते हैं। इस बुराई को दूर करने के लिये सहकारी विक्रय समितियाँ स्थापित की गई हैं।

समितियों का निर्माण—तीन चार गाँवों को मिलाकर एक समिति स्थापित की जाती है। केवल वे लोग ही इन समितियों के सदस्य हो सकते हैं जो स्वयं उत्पादक हों।

पूँजी एवं दायित्व—पूँजी अंशों में बँटी होती है। प्रत्येक सदस्य को एक अंश या शेयर खरीदना पड़ता है। उत्तरदायित्व सीमित रहता है।

कार्यप्रणाली—सदस्यों के लिये यह अनिवार्य होता है कि वे समिति के द्वारा ही अपनी उपज बेचें। फसल के समय उपज समिति एकत्रित कर लेती है और बाजार-भाव के आधार पर किसानों को अपना काम चलाने के लिये ६० प्रतिशत मूल्य पेशगी (Advance) दे दिया जाता है। उपज समितियों के गोदाम में रख ली जाती है। समिति के अधिकारी बाजार से सम्पर्क रखते हैं और उचित मूल्य मिलने पर बिक्री करते हैं। समितियों को बड़े दूकानदारों से प्रतियोगिता करनी पड़ती है इसलिये बहुत-सी समितियाँ संघ स्थापित कर लेती हैं जिससे उन्हें बड़े दूकानदारों से प्रतियोगिता करने में कठिनाई नहीं होती।

लाभ विभाजन—लाभ बाँटने के पूर्व २५ प्रतिशत लाभ रिजर्व कोष में रख दिया जाता है।

राज्यानुसार विक्रय समितियों की प्रगति—इस प्रकार की समितियाँ अनेक प्रान्तों में स्थापित हो गई हैं। इनके स्थापित करने में बम्बई प्रान्त सबसे आगे रहा है। कपास की बिक्री के लिये प्रान्त भर में ११० समितियाँ कार्य कर रही हैं। सन् १९४१-४२ में इन समितियों ने १ करोड़ ३० लाख रुपये का कपास बेचा था। मद्रास प्रान्त में इस प्रकार की समितियाँ उपज के ऊपर ऋण देती हैं और उपज इकट्ठी करके बेचती हैं। कुल १८५ समितियाँ कार्य कर रही है और सन् १९४१-४२ में ७५ लाख की पैदावार इन समितियों के द्वारा बिकी थी। उत्तर प्रदेश में इस प्रकार की बहुत सी समितियाँ स्थापित की गई हैं जिनमें से गन्ने की सहकारी समितियाँ उल्लेखनीय है। जितना गन्ना कारखाने लेते है उसका ७० प्रतिशत गन्ना इन समितियों द्वारा दिया जाता है। उत्तर प्रदेश में ९०० से अधिक गन्ना बेचने की, तथा ७०० से अधिक समितियाँ घी बेचने की है। इन समितियों के काम को उचित रीति से चलाने के लिये प्रान्तीय विक्रय समितियाँ स्थापित की गई है। कई शहरों में आजकल बहुधा दूध की विक्रय समितियाँ स्थापित की जाती है। उत्तर प्रदेश में २५ से अधिक दूध विक्रय समितियाँ है जिनमें से १७ तो अकेले लखनऊ में ही है।

सहकारी विक्रय समितियों के मन्द-गति के कारण—विक्रय समितियाँ अभी तक पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सकी है, क्योंकि उन्हें (१) धन की कठिनाई रहती है, (२) व्यापारी अनुचित प्रतियोगिता करके समितियों को भंग करने का प्रयत्न करते है, (३) उपज संग्रहार्थ गोदामों की कठिनाई होती है, (४) सदस्यों में सहकारिता के भाव का अभाव रहता है, (५) अशिक्षा के कारण कुशल-प्रबन्धकों का अभाव रहता है।

सहकारी क्रय समितियाँ (Cooperative Purchase Societies)

परिचय—क्रय समितियाँ अपने सदस्यों के लिये सस्ते भावों पर उनकी आवश्यकताओं की सभी वस्तुएँ खरीदती हैं, जैसे—किसान के लिये खेती के औजार, खाद, बीज आदि। ये समितियाँ अपने सदस्यों से पूछकर उनकी आवश्यकताओं की वस्तुओं

की सूची बना लेती है और थोक व्यापारी या सीधे कारखाने से थोक भाव पर खरीद लेती हैं। इस प्रकार सदस्यों को अच्छी वस्तुएँ उचित मूल्य पर मिल जाती हैं।

पूँजी एवं दायित्व—इन समितियों की स्थापना सीमित उत्तरदायित्व के आधार पर होती है और सदस्यों को अंश खरीदने पड़ते हैं। अंशों पर लाभांश भी बाँटा जाता है। प्रबन्ध समिति का प्रबन्ध एक प्रबन्धकारणी कार्यसमिति के द्वारा होता है, जिसका निर्वाचन सदस्यों की वार्षिक साधारण सभा में होता है।

भारतवर्ष में सहकारी क्रय समितियाँ—भारत में शुद्ध क्रय समितियाँ बहुत कम है। अधिकतर विक्रय समितियाँ क्रय विक्रय दोनों ही कार्य करती हैं। क्रय समितियाँ अधिक सफल नहीं हुई हैं, क्योंकि सदस्य समितियों के काम में रुचि नहीं रखते और ये केवल वस्तुएँ क्रय ही करती हैं जिससे यह कार्य शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। इसलिये जो समितियाँ क्रय विक्रय दोनों ही कार्य कर रही हैं वे ही अधिक सफल हुई हैं।

सहकारी चकबन्दी समितियाँ

(Cooperative Societies for Consolidation of Holdings)

परिचय—भारतवर्ष में खेती की हीन-दशा का एक कारण खेत का छोटा तथा दूर दूर छिटका होना है। इस बुराई को दूर करने के लिये चकबन्दी समितियों का निर्माण हुआ।

प्रबन्ध एवं कार्यप्रणाली—चकबन्दी समितियाँ स्थापित करने के लिये किसानों को खेती के बिखरे होने की बुराइयाँ समझाई जाती हैं और उन्हें इस बात पर सहमत किया जाता है कि वे अपने खेत बदल लें। जब वे राजी हो जाते हैं तब उन किसानों को सदस्य बनाकर सहकारी चकबन्दी समिति की स्थापना की जाती है और एक कार्यकारिणी समिति चुन ली जाती है। कार्यकारिणी समिति सहकारी विभाग के कर्मचारियों के सहयोग से प्रत्येक खेत का भूमि की उपजाऊ शक्ति के आधार पर वर्गीकरण करती है, और प्रत्येक खेत का मूल्य निश्चित कर दिया जाता है। बराबर मूल्य वाले खेतों के चक तैयार कर लिये जाते हैं और प्रत्येक किसान को खेतों के कुल मूल्य के बराबर खेत एक चक में दे दिया जाता है; और नये बँटवारे की रजिस्ट्री हो जाती है।

भारतवर्ष में चकबन्दी समितियों की प्रगति—सहकारी चकबन्दी समितियाँ पंजाब में बहुत स्थापित हुई हैं, तथा उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। पंजाब में इस प्रकार की लगभग दो हजार समितियाँ बनी हैं, तथा उनसे प्रतिवर्ष दो लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी होती है। अन्य प्रान्तों में भी इस प्रकार की समितियाँ बनी हैं। उत्तर प्रदेश के मेरठ, सहारनपुर, बिजनौर, बुलन्दशहर, रायबरेली आदि १४ जिलों में यह कार्य चल रहा है। कानून द्वारा चकबन्दी अनिवार्य कर दी जाने से इसमें शीघ्र सफलता मिल सकती है।

सहकारी सिंचाई समितियाँ (Cooperative Irrigation Societies)

परिचय—भारतवर्ष जैसे कृषि प्रधान देश के लिये सिंचाई की कितनी आवश्यकता है, सर्व विदित है। परन्तु हमारे यहाँ पर्याप्त साधन नहीं हैं। अतः सिंचाई की सुविधाओं के लिये सदैव सरकार पर आश्रित रहना पड़ता है। इस समस्या को भी सहकारिता प्रणाली के आधार पर हल करने का प्रयत्न किया गया है।

पूँजी एव कार्य-प्रणाली—पहले समिति स्थापित की जाती है। इस समिति के सदस्य को अपनी भूमि के अनुपात मे समिति के अशो को खरीदना पड़ता है। साथ ही-साथ समिति केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा केन्द्रीय सरकार से ऋण लेकर सिचाई के साधन बनवाती है ; और सदस्यो से पानी के बदले मे जो धन प्राप्त होता है उससे ऋण चुकाती है। ये समितियाँ सिचाई का उचित प्रबन्ध करती हैं।

भारतवर्ष मे सिचाई समितियाँ—इस प्रकार की समितियाँ सबसे पहले बगाल मे प्रारम्भ की गई थीं। सिंचाई समितियो ने बगाल और बिहार म बडी उन्नति की है। अकेले बिहार मे इनकी सख्या लगभग १००० है। इन समितियो मे चार लाख रुपया लगा हुआ है, और सदस्यो की संख्या लगभग २०,००० है। कुछ कार्य उत्तर-प्रदेश मे भी हुआ है।

रहन सहन सुधार समितियाँ (Better Living Societies)

उद्देश्य—रहन सहन सुधार समितियो का मुख्य उद्देश्य गाँवो मे प्रचलित कुरीतियाँ, जैसे—विवाह, जन्म, मृत्यु आदि अवसरों पर अपव्यय करना, तथा गाँव वालो के रहन-सहन को ऊँचा करना है।

मुख्य कार्य—इन समितियो के मुख्य कार्य निम्नलिखित है (अ) रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना है (आ) अपव्यय बन्द करना, (इ) मकानों मे रोशनी, सफाई का प्रबन्ध करना, (ई) कुँओं की मरम्मत करना, (उ) गाँवों को सड़को को बनवाना अथवा सुधार करना, (ऊ) खाद के गड्ढे बनवाना (ए) सुशिक्षित दाइयो का गाँव मे रखना, (ए) जेवर पर अधिक व्यय न करने के लिए गाँव वालो को समझाना है।

सगठन एव प्रबन्ध—इन समितियो के सदस्यों को अश अथवा शेयर नही खरीदने पडते है, और न समिति की कोई अश पूँजी (Share Capital) ही होती है। प्रत्येक सदस्य को, जो समिति के नियमो और सिद्धान्तों को मानने के लिये तैयार होता है, प्रवेश-शुल्क देना पडता है। समित के सदस्यो से कोई चन्दा नही लिया जाता है। सदस्य मिलकर कुछ नियम बनाते है, जिनका पालन प्रत्येक सदस्य को करना आवश्यक है। जो सदस्य इन नियमो की अवहेलना करता है उसे दण्ड देना पडता है। समिति का साधारण सभा एक वर्ष के लिये योजना बनाती है और उसे कार्यान्वित करती है। प्रतिवर्ष नई योजना बनाई जाती है : किन्तु गत वर्ष का कार्य-क्रम चालू रहता है।

भारत मे इनकी प्रगति—सर्व प्रथम पजाब म इनकी स्थापना हुई किन्तु उत्तर-प्रदेश ने इनके सगठन मे बड़ी प्रगति दिखाई है। पजाब मे केवल १,६०० समितियाँ हैं, और उत्तर प्रदेश मे लगभग ६,००० है। उत्तर प्रदेश मे इन समितियो का सगठन ग्राम सुधार विभाग के प्रयत्नो से हुआ है।

सहकारी गृह निर्माण समितियाँ (Cooperative Housing Societies)

सहकारी गृह निर्माण समितियाँ अपने सदस्यो के लिये मकान बनाती है, और मकान बनवाकर किराये पर उठा देती है। ये समितियां आधा अथवा चौथाई रुपया अपना लगाती है, और शेष रुपया मकान की जमानत पर उधार ले लेती है। ये समितियाँ भारतवर्ष मे मद्रास, अहमदाबाद, बम्बई, दिल्ली, अलीगढ आदि नगरो मे पाई जाती हैं। इन समितियो की सख्या दिन प्रति-दिन बढ़ती जा रही है।

उपभोक्ता सहकारी भण्डार (Consumer's Cooperative Stores)

परिचय—उपभोग के क्षेत्र मे सहकारिता उतनी ही आवश्यक है जितनी उत्पत्ति या साख के क्षेत्र मे। वस्तुएँ खरीदने मे गाँव तथा शहर दोनों के निवासी घाटे मे रहते हैं, क्योंकि वस्तुओं का मूल्य अधिक देना पड़ता है ; और शुद्ध वस्तुएँ नहीं मिलती। कृषकों और श्रमिकों की तो बड़ी ठगाई होती है। वस्तुओं का मूल्य इसलिये अधिक हो जाता है कि उत्पादक और उपभोक्ता के बीच मे अनेक मध्य-पुरुष रहते हैं, और प्रत्येक अपना अपना लाभ वसूल करता है। यही नहीं, यदि मध्यजन इतने लाभ मे सन्तुष्ट नहीं होते तो निकृष्ट वस्तुओं का सम्मिश्रण भी कर देते हैं। इन्हीं सब बुराइयों को दूर कर करने के लिये उपभोक्ताओं के सहकारी भण्डारों का निर्माण हुआ है।

उद्देश्य—सहकारी भण्डार का उद्देश्य मध्य-पुरुषों के लाभ को रोकना तथा शुद्ध वस्तुएँ उचित मूल्य पर उपभोक्ताओं को बेचना है।

सहकारी भण्डारों का जन्म—इन सहकारी भण्डारों का जन्म सर्व प्रथम इङ्गलैंड में हुआ। सन् १८४४ मे रॉकडेल (Rochdale) नामक स्थान पर फ्लानैल बुनने वाले २८ बुनकरों (Weavers) ने २८ पौंड की पूँजी से सुविख्यात रॉकडेल सहकारी भण्डार स्थापित किया। उन्होंने केवल पाँच आवश्यक वस्तुओं का ही बेचना प्रारम्भ किया। सभी सदस्य अपनी आवश्यकता के अनुसार वहीं से खरीदते थे। धीरे-धीरे वह भण्डार बहुत सफल हुआ, और अभी तक वह उपभोक्ता सहकारिता आन्दोलन के कार्यकर्त्ताओं को प्रोत्साहन दे रहा है। रॉकडेल भंडार की सफलता के कारण इङ्गलैंड मे श्रमिकों के अनेक सहकारी भंडार खुले।

भारतवर्ष में सहकारी भण्डारों का संगठन एवं प्रबन्ध—भारतवर्ष मे भी अनेक उपभोक्ता-सहकारी-भण्डार खुले हैं। इन भंडारों का संगठन शुल्ज डेलिज समितियों के सिद्धान्तों पर हुआ है। मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—(१) प्रत्येक सदस्य का उत्तरदायित्व सीमित (Limited) होता है। (२) सहकारी भंडार के अंश या शेयर होते हैं ; और प्रत्येक सदस्य को कम से-कम एक शेयर खरीदना पड़ता है। अधिक शेयर भी खरीद जा सकते हैं, परन्तु प्रत्येक सदस्य केवल एक ही वोट देने का अधिकारी होता है। (३) भंडार की कार्यशील पूँजी अंशों के विक्रय से ही प्राप्त होती है। (४) सदस्यों का अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ भंडार मे बिकने वाली वस्तुओं में से खरीदनी पड़ती हैं। (५) भण्डार साधारणतया नकद बिक्री करता है, और बाजार-भाव पर या उससे कम भाव पर शुद्ध वस्तुओं की बिक्री करता है। (६) एक चौथाई लाभ रिजर्व कोष मे जमा किया जाता है ; और शेष सदस्यों मे क्रय के अनुपात से बाँट दिया जाता है। (७) साधारण सभा के वार्षिक अधिवेशन में, जिसमें लगभग सभी सदस्य रहते हैं, सहकारी भण्डार की नीति, वार्षिक हिसाब किताब का लेखा, तथा उसकी जाँच, लाभ वितरण के सिद्धान्तों का निर्णय किया जाता है। (८) साधारण सभा के वार्षिक अधिवेशन में दिन प्रति-दिन के कार्य-सञ्चालन के लिये एक प्रबन्धकारिणी समिति का निर्वाचन हो जाता है, जो भण्डार के वैतनिक कर्मचारियों के कार्य का निरीक्षण करती है।

भारतवर्ष मे उपभोक्ता-सहकारी भंडारों की प्रगति—भारतवर्ष मे उपभोक्ता सहकारी भंडारों की संख्या बहुत कम है। सन् १९४९-५० के आंकड़ों के अनुसार

हमारे देश में इस प्रकार के केवल ८,९४६ भंडार थे। ये केवल नगरों में ही स्थापित हुये हैं। स्कूलों और कॉलेजों में विद्यार्थियों तथा अध्यापकों की आवश्यकता की वस्तुएँ बेचने के लिये अनेकों भंडार खुले हैं। रेलवे तथा डाकघर के कर्मचारियों के लिये भी सहकारी भंडार खुले हैं, और इनको पर्याप्त सफलता भी मिली है। मद्रास ट्रिपलीकेन भंडार (Madras Triplicane Store) ने तो आश्चर्यजनक उन्नति की है। यह भंडार सन् १९०४ में प्रारम्भ हुआ था और अब इसके पास निजी भवन भी है। इसकी अंश-पूँजी १ लाख रुपये से अधिक है, इसका रिजर्व कोष २ लाख रुपये के लगभग है, और इसकी शाखायें नगर के भिन्न भिन्न भागों में कार्य कर रही है। इसे लगभग १२ लाख रुपये वार्षिक का लाभ होता है। मद्रास, मैसूर तथा उत्तर प्रदेश में कुछ भंडार सफल हुए है। किन्तु इन भंडारों की सफलता के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि सहकारी उपभोक्ता भण्डार भारतवर्ष में सफल हुए हैं।

भारतवर्ष में सहकारी उपभोक्ता भंडारों की असफलता के कारण—(१) सहकारी भंडारों के पास पूँजी की कमी रहती है। अंशों की बिक्री से इतनी पूँजी एकत्रित नहीं हो पाती कि थोक-क्रय किया जा सके। (२) सीमित दायित्व होने से केन्द्रीय बैंकों से ऋण भी नहीं मिल सकता। (३) सहकारी भंडार मध्यम वर्ग के मनुष्यों में सफल हो सकते है परन्तु मजदूरों में नहीं। मजदूर महाजनों के ऋणी रहते हैं, इसलिये वे न तो सहकारी भंडारों के सदस्य हो पाते हैं और न वहां से आवश्यकता की वस्तुएँ ही खरीद सकते है। अधिकांश मजदूर सामान उधार खरीदते है। उपभोक्ता भंडार सामान उधार नहीं बेच सकते। (४) सहकारी भण्डारों को व्यापार-कुशल कार्यकर्त्ता नहीं मिलते, जिससे वे व्यापार-कुशल बनियों से प्रतियोगिता करने में असफल रहते हैं (५) सदस्य सहकारी भण्डारों के आधार-भूत सिद्धान्तों को नहीं जानते। अत वे यह प्रयत्न करते हैं कि वस्तुएँ बाजार-भाव से कम मूल्य पर मिलें। बाजार भाव से कम मूल्य पर बेचने से थोड़े समय के लिये तो भण्डार का काम अच्छा चलता है, परन्तु बाजार-भाव गिरने पर भण्डार को घाटा हो जाता है, और सदस्यों का भण्डार में से विश्वास उठ जाता है। (६) बहुत-से भंडार उधार बिक्री करते है, जिसके कारण वे समाप्त हो जाते है। (७) प्रबन्ध कारिणी के सदस्य प्रबन्ध-कार्य में दिलचस्पी नहीं लेते और वैतनिक कर्मचारी नियन्त्रण की शिथिलता के कारण मनमाना कार्य करते हैं। (८) प्रबन्धकारिणी के सदस्य ईमानदार न हुए तो वे मैनेजर के द्वारा अनुचित लाभ उठाते हैं, या मैनेजर ईमानदार न हुआ तो वह अच्छे माल में खराब माल मिलाकर अनुचित लाभ उठावेगा। (९) प्राय. कार्यालय की सजावट, कर्मचारियों के वेतन आदि पर आवश्यकता से अधिक व्यय कर दिया जाता है। (१०) युद्ध आदि असाधारण परिस्थिति में बेईमान कार्यकर्त्ताओं तथा प्रबन्धकों द्वारा 'ब्लैक मार्केट' किया जाता है। (११) श्रमिकों की निरक्षरता उन्हें इनसे लाभ उठाने में बाधक होती है।

सहकारिता का पुनर्संङ्गठन (Reorganization of Cooperation)

भारतवर्ष में सहकारिता आन्दोलन को आशातीत सफलता नहीं मिली है। अस्तु इसका पुनर्संङ्गठन होना आवश्यक है। अधिकांश अर्थशास्त्रियों का मत है कि एक-उद्देश्य समिति (single-purpose society) द्वारा, अर्थात् ऋण देने-मात्र से ही किसानों की समस्त समस्यायें हल नहीं की जा सकती। इसलिये विभिन्न जाँच कमेटियों तथा रिजर्व बैंक ने यह सुझाव रखा है कि एक-उद्देशीय समितियों के स्थान में बहु

उद्देशीय-समितियाँ (Multi-purpose Societies) स्थापित की जायँ, जिससे ऋण के अतिरिक्त अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी सहकारिता के सिद्धान्त पर हो सके।

बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ
(Multi-purpose Cooperative Societies)

बहुउद्देशीय सहकारी समितियों का अर्थ—सहकारी सिद्धान्तों के आधार पर सदस्यों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली समितियों को बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि एक समिति ऋण देने के अतिरिक्त किसान को खाद, बीज, औजार, उपज बेचने आदि का भी कार्य करती है, तो यह बहु उद्देशीय समिति कहलाती है। इस व्यवस्था के अभाव में ये सब काम बजाय एक समिति के अनेक अलग-अलग समितियों द्वारा सम्पन्न किया जायगा जो भारतीय कृषक के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है।

बहुउद्देशीय समितियों की आवश्यकता—(१) केवल ऋण की समस्या सुलझाने से ही कृषक की सब समस्यायें हल नहीं हो जातीं। खाद, बीज व खेती के उपकरण प्राप्त करना, चकबन्दी करना, उपज बेचना आदि प्रश्न भी उसके सामने हैं। यदि सहकारी समिति इन समस्याओं को भी हल करे, तो कृषक को सहकारिता से अधिक लाभ हो सकता है। (२) किसान के पास इतना धन एवं समय नहीं है कि कई समितियों का सदस्य बन सके। (३) गाँवों में शिक्षित एवं कुशल कार्यकर्त्ताओं का अभाव होने से अनेक समितियों का चलना कठिन हो जाता है।

अतः एक ही समिति द्वारा अनेक प्रयोजन सिद्ध करना भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल है।

बहुउद्देशीय समितियों के कार्य—ये समितियाँ किसानों को ऋण देने के अतिरिक्त उनको उत्तम खाद, बीज व कृषि-उपकरण देती हैं। ये समितियाँ उपज की बिक्री, किसानों को आवश्यकता की वस्तुएं उचित मूल्य पर बेचना, रहन-सहन में सुधार करना, ग्रामीण झगड़ों का फैसला करके मुकदमेबाजी कम करना, खेती की चकबन्दी कराना, गाँव की सफाई तथा औषधालयों का आयोजन करना, प्रौढ़-शिक्षा का प्रबन्ध, कुरीतियाँ-निवारण आदि अनेकों कार्य करती हैं।

लाभ (Advantages)—(१) सदस्यों की सभी आवश्यकताएँ पूरी होने के कारण वे समिति के कार्य में पूरी दिलचस्पी लेते हैं। (२) इनका प्रबन्ध कुशल एवं कम खर्चीला होता है। (३) अधिक कार्य होने के कारण सुयोग्य वैतनिक कर्मचारी नियुक्त किये जा सकते हैं। (४) अधिक सदस्य तथा अधिक पूँजी होने के कारण इन्हें केन्द्रीय बैंकों से सरलता से ऋण मिल सकता है। (५) ये ग्राम-सुधार का कार्य सफलता पूर्वक कर सकती हैं। (६) इन समितियों द्वारा किसानों में आपस में अच्छा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, जो मिल-जुलकर काम करने में सार्थक सिद्ध होता है। (७) ये किसान की सब समस्याओं के लिये रामबाण औषधि का कार्य करती हैं।

दोष (Defects)—(१) अनेकों कार्य करने के कारण यदि किसी एक कार्य में हानि हो जाय, जैसे—बीज-वितरण में या ऋण देने के काम में, तो उसका प्रभाव समिति के अन्य कार्यों पर पड़ता है। (२) समिति का कार्य इतना विस्तृत हो जाता है कि उसे कुशलतापूर्वक सँभालना कठिन हो जाता है। (३) एक ही समिति में बहुत से

कार्यों का हिसाब रखना सम्भवतः कठिन हो जाता है। (४) सम्भवतः कुछ होशियार सदस्य मिलकर समिति को अपने अधिकार मे कर लें, तो इस प्रकार को सहकारिता का उद्देश्य समाप्त हो जायगा।

निष्कर्ष—यद्यपि ये कठिनाइयाँ वास्तविक हैं, फिर भी इस प्रकार की समितियाँ स्थापित करना हमारे लिये कल्याणकारी सिद्ध होगा। अन्य देशो मे किसानो के लिये इस प्रकार की समितियाँ स्थापित की गई है तथा उनसे किसानों को बहुत ही लाभ हुआ है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ ग्रामीण आर्थिक तथा सामाजिक सगठन का केन्द्र होगी और ग्रामीण जनता में स्वावलम्बन तथा आशावाद के भावों का सचार कर सकेंगी तथा गाँवो की सर्वाङ्गीण उन्नति करने मे सफल होगी।

भारतवर्ष में बहुउद्देशीय समितियों की प्रगति—यद्यपि भारतवर्ष मे बहुउद्देशीय समितियाँ प्रयोगात्मक अवस्था मे है, परन्तु फिर भी इनमे से बहुत सी समितियो ने बडी सफलता प्राप्त की है। इस प्रकार की समितियो की उन्नति मद्रास, उत्तर प्रदेश, बगाल, मध्य प्रदेश, बम्बई, मैसूर आदि राज्यों मे विशेष उल्लेखनीय है। सन् १९४७-४८ मे भारतवर्ष मे १८,१६२ बहुउद्देशीय समितियाँ थी, जिनमे ५,७७,३८६ सदस्य थे, ७९ २८ लाख रुपयो को कार्यशील पूँजी थी और उस वर्ष उन्होने १९७.२४ लाख रुपये का ऋण दिया था। उत्तर-प्रदेश की सरकार ने ग्राम उन्नयन बोर्ड की सरक्षता मे इस प्रकार की समितियाँ स्थापित करने की योजना बनाई है जिसके अन्तर्गत अनेको बहुउद्देशीय समितियाँ स्थापित हो गई है। अब तक २,००० से अधिक बहुउद्देशीय समितियाँ उत्तर प्रदेश मे स्थापित हो चुकी है।

सहकारिता और योजना—ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण समिति की सिफारिशो के अनुसार द्वितीय योजना काल मे १०,४०० बडी सहकारी समितियो, १,८०० प्राथमिक मार्केटिंग (हाट) समितियो, ३५ सहकारी चीनी कारखानों, ४८ सहकारी कपास ओटाई मिलों तथा ११८ अन्य सहकारी समितियो के सगठन के लिए व्यवस्था की गई है। योजना मे केन्द्रीय तथा राज्यीय गोदाम निगमों द्वारा :५० गोदामो के निर्माण और मार्केटिंग समितियो के लिए १५०० गोदामो तथा बडी प्राथमिक कृषि ऋण समितियो के लिए ४,००० गोदामो के निर्माण की व्यवस्था की गई है। योजना काल मे १५० करोड रु० दीर्घकालीन ऋण, ५० करोड रु० मध्यकालीन ऋण और २५ करोड रु० अल्पकालीन ऋण देने की व्यवस्था की गई है। जब कि प्रथम योजना मे केवल ३७ करोड रु० के ऋण की ही व्यवस्था की गई थी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—भारत मे सहकारिता आन्दोलन पर एक छोटा निबन्ध लिखिए।

२—सहकारी साख समितियों पर टिप्पणी लिखिये।

३—भारत मे ग्रामीण सहकारी समितियाँ किन सिद्धान्तो पर आधारित हैं? सदस्यो के संयुक्त और अकेले दायित्व के सिद्धान्त के लाभ बताइये।

४—भारत मे सहकारी आन्दोलन के लाभों का वर्णन कीजिए और इसकी मर्यादाएँ समझाइए। (रा० बो० १९६०)

५—सक्षेप मे एक ग्रामीण सहकारी साख समिति की कार्य-प्रणाली का वर्णन कीजिये। (रा० बो० १९५७)

६—बहुउद्देशीय सहकारी समिति पर टिप्पणी लिखिये।
(रा० बो० १९५५; अ० बो० १९५१, म० भा० १९५१)

७—'रिफिमन सहकारी समिति' के सिद्धान्त स्पष्ट कीजिये। भारतीय सहकारी समितियाँ इनका कहाँ तक पालन करती हैं ? (रा० बो० १९५३)

८—हमारे गाँवों में सहकारिता आन्दोलन की उन्नति के लिए एक योजना निर्माण कीजिए। (अ० बो० १९६०)

९—भारत में सहकारिता आन्दोलन ने क्या सफलताएँ प्राप्त की हैं ? देश में सहकारी आन्दोलन की धीमी प्रगति के कारणों पर प्रकाश डालिये। (रा० बो० १९५९)

१०—भारत में ग्राम सहकारी साख-समितियाँ किन-किन सिद्धान्तों के अनुसार स्थापित होती हैं ? इनके सदस्यों की सम्मिलित और व्यक्तिगत जिम्मेदारी के सिद्धान्तों के लाभों को समझाइये। (अ० बो० १९५७)

११—सहकारी स्टोर पर नोट लिखिये।
(अ० बो० १९५४, ५१, ४०, म० भा० १९५४)

१२—सहकारी आन्दोलन की धीमी प्रगति के कारणों पर विचार कर और सुधार के सुझाव दीजिये। (म० भा० १९५५, अ० बो० १९४८)

१३—उपभोक्ता सहकारी स्टोर से क्या अधिक लाभ हैं ? इनकी असफलता के कारण समझाइये। (म० भा० १९५३)

१४—प्रारम्भिक ग्रामीण सहकारी साख समिति की कार्य विधि का वर्णन करिये।
(रा० बो० १९५८, अ० बो० १९५६, सागर १९५१)

१५—भारत में सहकारिता आन्दोलन के विकास का संक्षिप्त वर्णन कीजिये और इसके दोषों का उल्लेख कीजिए। (दिल्ली हा० सै० १९५०, ४७)

१६—भारतीय ग्राम्य-सहकारिता संगठन का वर्णन कीजिए। उससे प्राप्त लाभ संक्षेप में समझाइये। (नागपुर १९५५)

इण्टर एग्रीकल्चर परीक्षाएँ

१७—"भारतीय कृषि की समस्याओं को सुलझाने के लिए सहकारिता का महत्व" विषय पर लेख लिखिये।

१८—भारत में ग्रामीण क्षेत्र में सहकारी समितियाँ स्थापित करने के लाभों का वर्णन कीजिये। (अ० बो० १९५२)

अध्याय ५७

यातायात
(Transport)

"यदि कृषि और उद्योग राष्ट्ररूपी प्राणी का शरीर और हड्डियाँ है, तो यातायात उनके जीवन-जन्तु है।"

यातायात की परिभाषा—मनुष्यों और वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने को यातायात कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार यातायात में वे सब साधन एवं सुविधाएँ सम्मिलित हैं जिनके द्वारा वस्तुएँ तथा मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजे जाते हैं। पदार्थों तथा प्राणियों के स्थान परिवर्तनकारी सम्पूर्ण साधनों का अध्ययन यातायात होता है।

यातायात का महत्व (Importance of Transport)—मानव सभ्यता के विकास में यातायात के साधनों का विशेष महत्व रहा है। यदि कृषि और उद्योग-धन्धे किसी देश के आर्थिक जीवन के शरीर और हड्डियाँ मानी जायें तो यातायात को उस आर्थिक ढाँचे की स्नायु-प्रणाली मानना चाहिए। व्यापार, कृषि और उद्योगों की उन्नति इसी की सहायता से सम्भव हो सकी है। बड़े-बड़े दूर के स्थान अब थोड़े-से समय में ही पार किये जा सकते हैं। शासन व्यवस्था, देश-रक्षा और समाज की दृष्टि से भी यातायात का एक बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। यातायात के साधनों का देश के उद्योग-धन्धों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। ये कच्चा माल उत्पन्न होने के स्थान से कल-कारखानों तक और पक्का माल देश के कोने कोने में और विदेशों के बाजारों को भेजने में सहायता देते है। सस्ते, शीघ्र और उत्तम यातायात के साधनों की सहायता से ही देश में उद्योग-धन्धों की उन्नति हो सकती है। जहाँ यातायात के अच्छे साधन नहीं होते वहाँ उद्योग धन्धों का केन्द्रीयकरण हो जाता है, जिससे देश, समाज तथा उद्योग-धन्धों को हानि पहुँचती है। यातायात के साधनों की उन्नति के परिणामस्वरूप सारा संसार एक बाजार के रूप में परिणत हो गया है। वास्तव में, यातायात व सम्वाद के साधनों ने वसुधैव कुटुम्बकम् (समस्त विश्व एक कुटुम्ब ही है) को पूर्णतया चरितार्थ कर दिया है।

यातायात से लाभ (Advantages of Transport)

[अ] कृषि पर प्रभाव (Effects on Agriculture)—यातायात के साधनों की उन्नति ने कृषि को निम्न प्रकार प्रभावित किया है :—

(१) कृषि का व्यापारीकरण (Commercialisation of Agriculture)—यातायात के साधनों ने कृषि को जीवन यापन व्यवसाय के स्थान पर एक व्यापारिक व्यवसाय बना दिया है। किसान लोग अब खेती में वे ही वस्तुएँ उत्पन्न नहीं करते जिनका वे स्वयं उपभोग करते है, वरन् दूरस्थ बाजार में बेचने के लिये भी

कृषि पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार के कृषि-पदार्थों का व्यापार विस्तृत हो गया है।

(२) शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं (Perishable) की उत्पत्ति में वृद्धि—शीघ्रगामी यातायात के साधनों के कारण किसान लोग शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुएँ फल, दूध, भाजी आदि पर्याप्त मात्रा में उगाने लगे हैं, क्योंकि उपज इनके द्वारा दूरस्थ नगरों में जा सकती है।

(३) कृषकों की शिक्षा—यातायात के साधनों में उन्नति होने से किसान व समस्त ग्रामीण जनता का एक स्थान से दूसरे स्थान को सुगमता से आना जाना होने लगा है जिससे उन्हें कृषि सम्बन्धी मेले, प्रदर्शनियां आदि देखने का अवसर मिलने लगा है, तथा शहरी मनुष्यों के अधिकाधिक सम्पर्क में आने से उनकी ज्ञान-वृद्धि होने लगी है। उनमें रूढ़िवादिता, जाति पांति का भेद व अन्य सामाजिक कुरीतियाँ अब शनैः शनैः कम हो रही हैं। उनका दृष्टिकोण विस्तृत होता जा रहा है।

(४) ग्रामीण श्रमिकों की गतिशीलता में वृद्धि—यातायात के साधनों से ग्रामीण श्रमिक अब शहरों के कारखानों आदि में काम करने के लिये आने लगे हैं। अपना गाँव छोड़कर दूसरे स्थानों में जाने की हिचकिचाहट अब दूर हो गई है।

(५) कृषि प्रणालियों में उन्नति—यातायात के साधनों के कारण कृषि-प्रणालियों में उन्नति होती है। किसान दूर दूर के स्थानों से हल, ट्रैक्टर, तथा श्रम बचाने की अन्य मशीनों को प्राप्त कर सकता है। उसके लिए नये खेती के औजारों, बीजों, और खादों के उपयोग की शिक्षा ग्रहण करना सम्भव हो जाता है। कृषि विभाग के अधिकारी एवं कर्मचारी अब उन तक पहुँच सकते हैं और उन पशुओं व पौधों तथा कीटाणुओं की बीमारियों का उपचार सिखा सकते हैं। सहकारी बिक्री जो कि कृषक की आर्थिक स्थिति सुधारने में सहायक है बिना यातायात के साधनों के सम्भव नहीं हो सकती।

(६) कृषि वस्तुओं के बाजार में विस्तार—यातायात के साधनों के कारण अब कृषि वस्तुयें दूर के स्थानों में ले जाकर बेचना सम्भव हो गया है, जिसके परिणाम स्वरूप उनकी उत्पत्ति बड़े परिमाण में होने लगी है।

(७) कृषि-उत्पादन के मूल्य में स्थिरता—यातायात के साधनों द्वारा कृषि-उपज एक स्थान से दूसरे स्थान को शीघ्रता से पहुँचाई जा सकती है। इसलिए इनके भावों में अधिक उतार चढ़ाव नहीं होने पाता।

(८) कृषक के रहन सहन के स्तर तथा उसकी आर्थिक स्थिति पर प्रभाव—यातायात के साधनों द्वारा कृषक अपनी उपज दूर के स्थानों को भेज सकते हैं, जिसके कारण उन्हें अच्छा मूल्य मिल जाता है। इससे इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हो रहा है। इन साधनों द्वारा अब कृषक अपने दैनिक जीवन में अनेक ऐसी वस्तुओं का प्रयोग करने लग गया है जिनका प्रयोग आजकल सभ्य समाज कर रहा है।

[आ] उद्योग धंधों पर प्रभाव (Effects on Industries)—(१) यातायात के साधनों से देश के उद्योग धंधों के विकास में पर्याप्त सहायता मिली है। शीघ्रगामी साधनों के कारण दूर-दूर से कच्चा माल औद्योगिक केन्द्रों तक

सरलता से लाया जाता है; और तैयार किया हुआ माल भी आसानी से सुदूर स्थानों को भेजा जा सकता है।

(२) बड़े परिमाण के उत्पादन को प्रोत्साहन—बड़े परिमाण का उत्पादन भी यातायात के कारण ही सफल हो सका है।

(३) केन्द्रीयकरण के दोषों को दूर करने में सहायक—अब मानव समाज अत्यधिक केन्द्रीयकरण की हानियों से अवगत हो गया है, अत यही साधन विकेन्द्रीयकरण में भी सहायक हो रहा है।

[इ] व्यापार पर प्रभाव (Effect on Trade) व्यापार वृद्धि में सहायक—व्यापार की वृद्धि यातायात के साधनों पर ही निर्भर होती है। इनके कारण ही आज स्थानीय व्यापार बढ़ते-बढ़ते अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में परिणत हो गया है। अत यह कहा जा सकता है कि व्यापार और यातायात के साधनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

[ई] वनों पर प्रभाव (Effect on Forests)—वनों का उचित प्रयोग—वनों का उचित प्रयोग यातायात के साधनों से ही सम्भव हो सका है। फर्नीचर, कागज आदि अनेक वन-सम्बन्धी उद्योगों का विकास यातायात के साधनों के कारण ही हुआ है। आज यातायात के साधनों द्वारा दूर-दूर के वनों की लकड़ी व अन्य वस्तुएँ देश के कोने-कोने में पहुँचाई जा रही हैं।

[उ] सामाजिक प्रभाव (Social Effects —(१) समाज की उन्नति—सभ्यता का प्रचार, ज्ञान की वृद्धि, विचार, अनुभव, और कला का विनिमय, अन्धकार का दूर होना आदि कार्य यातायात के ही कारण सम्भव हो सके हैं।

(२) धार्मिक यात्रा, शिक्षा प्रचार, पारस्परिक प्रेम, और सद्भावना का प्रसार—धार्मिक यात्रा, शिक्षा प्रचार, पारस्परिक प्रेम व सद्भावना आदि बातों के प्रसार का श्रेय यातायात के साधनों को ही है।

(३) पिछड़े हुए भू-भाग के मानव-समाज को सभ्य बनाने में सहायक—आधुनिक साधनों ने वर्तमान काल में मानव-समाज को, विशेषकर पिछड़े भू-भाग को सभ्य बनाने में अधिक सहयोग दिया है। इन साधनों के कारण समाज सुधारक-व्यक्ति सुगमता से दूर-दूर मनुष्यों को उपदेश देकर तथा उनसे सम्पर्क स्थापित करके उन्हें सभ्य बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

[ऊ] शासन-प्रबन्ध पर प्रभाव (Effects on Administration) (१) शासन-प्रबन्ध पर नियंत्रण—उत्तम यातायात के साधनों से शासन प्रबन्ध में शिथिलता नहीं रहती। सरकारी अधिकारी प्रत्येक स्थान पर सुगमता से निरीक्षण के लिये पहुँच जाते हैं, जिससे शासन-प्रबन्ध में भाग लेने वाले कर्मचारी सतर्कतापूर्वक अपने कर्तव्य एवं दायित्व का पालन करते रहते हैं।

(२) रक्षा-व्यय में मितव्ययता—सुव्यवस्थित तथा शीघ्रगामी यातायात के साधनों से रक्षा व्यय भी कम हो जाता है। पुलिस तथा सेना केन्द्रीय स्थान पर रखी जा सकती है और वहाँ से प्रत्येक समय यातायात के साधनों द्वारा संकट ग्रस्त स्थान को भेजी जा सकती है। इनके अभाव में स्थान-स्थान पर सेना व पुलिस रखना पड़े जिससे रक्षा-व्यय बहुत बढ़ जाय।

(३) युद्ध काल में यातायात के साधनों का महत्व—युद्ध-काल में आक्रमण या प्रतिरक्षा के लिये उत्तम यातायात के साधन नितान्त आवश्यक हैं। हमारी प्रतिरक्षा का बल हमारी सेनाओं का सकट ग्रस्त क्षेत्रों में शीघ्रता से पहुँच जाने पर है।

(४) दुर्भिक्ष, बाढ, भूकम्प आदि सकटों में—सहायक शीघ्रगामी यातायात के साधनों के द्वारा देश के विभिन्न भागों को दुर्भिक्ष, बाढ, भूकम्प आदि सकटों में अधिकाधिक सहायता पहुँचाई जा सकती है।

यातायात के साधन (Means of Transport)—यातायात के साधन समय, देश, जलवायु, तथा आर्थिक व वैज्ञानिक विकास के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है। इन्हें हम मुख्यतया तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) स्थल यातायात, (२) जल-यातायात और (३) वायु यातायात।
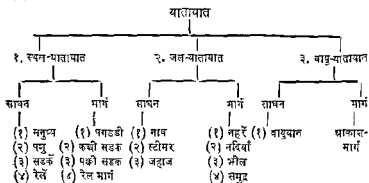
१. स्थल-यातायात (Land Transport)—स्थल मार्गों में निम्नलिखित साधन बोझा ढोने के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं :—

(१) मनुष्य—जब माल अधिक भारी नहीं होता है और अधिक दूर नहीं ले जाना होता है, तथा यातायात के अन्य साधन उपलब्ध नहीं होते हैं, तब माल ढोने के लिये मनुष्य का उपयोग किया जाता है। मनुष्य द्वारा यातयात के राजनैतिक सामाजिक, आर्थिक दशा, जनसख्या का घनत्व, भूमि की प्राकृतिक बनावट जलवायु आदि अनेक कारण है। यद्यपि मनुष्य का उपयोग बोझा ढोने में बहुत कम हो गया है, परन्तु आज भी कुछ पहाड़ी प्रदेशों या उष्णीय वनों में जहाँ सडकें बनाना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है, वहाँ मनुष्य ही बोझा ढोने के काम में लाया जाता है। इसी कारण अफ्रीका के वनों में हब्शी-कुली ही हाथी-दाँत, रबड, नारियल आदि ढोते हैं, तथा तिब्बत, चीन व चिली के पर्वतीय ढालों पर, जहाँ पशु काम नहीं कर सकते, मनुष्यों द्वारा ही बोझा ढोया जा सकता है। इन स्थानों में लोग साधारणतया २०० पौंड उठाकर १२० मील की दूरी ७,००० फीट की औसत ऊँचाई पर २० दिन में पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार मध्य अफ्रीका तथा मध्य अमेजन के बेसिन में विषैले कीडों के कारण पशु द्वारा यातायात में बाधा पडने के परिणामस्वरूप भारी बोझा कुली ही ढोते हैं। सामान्यतया पिछडे हुए देशों में ही मनुष्य को बोझा ढोने का काम

लिया जाता है। यह अनुमान लगाया जाता है कि मनुष्य द्वारा १५० मील बोझा ढुलवाने का व्यय रेल द्वारा ८,००० मील के भाड़े से तिगुना बैठता है।

मनुष्य-यातायात के गुण—(१) मनुष्य द्वारा यातायात में किसी विशेष मार्ग या सड़क बनवाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। (२) थोड़े बोझ तथा थोड़ी दूरी के लिये मनुष्य ही अन्य साधनों से श्रेयस्कर है। (३) मनुष्य द्वारा सामान व माल मकान के भीतर तक ढोया जा सकता है।

दोष—(१) मनुष्य-यातायात द्वारा माल ढोने में अधिक श्रम और समय नष्ट होता है। (२) मनुष्य के द्वारा अन्य साधनों की अपेक्षा बहुत ही कम बोझा ढोया जा सकता है। (३) मनुष्य का पशुवत प्रयोग होता है।

(२) पशु—यद्यपि बोझा ढोने तथा सवारी के साधन के रूप में पशुओं का स्थान बहुत निम्न है, परन्तु फिर भी जहाँ तक सड़कें, पशुओं की बहुतायत है और प्राकृतिक परिस्थितियाँ, सड़कें, अथवा रेलमार्ग बनाने के अनुकूल नहीं हैं, वहाँ यातायात के लिये पशुओं का ही उपयोग किया जाता है।

यातायात के साधनों के रूप में पशुओं का उपयोग किसी देश के पिछड़ेपन का द्योतक है, परन्तु यह जानकर आश्चर्य होगा कि औद्योगिक सभ्यता वाले पाश्चात्य देशों में अभी भी पशुओं का बहुत महत्व है। शीतोष्ण प्रदेशों में घोड़ा आवागमन का एक समान्य साधन है, परन्तु इसके विपरीत उष्ण-कटिबन्ध तथा शीतोष्ण-कटिबन्ध के गर्म भागों में बैल ही प्रमुख साधन है। रेगिस्तान में ऊँट बोझा ढोने का काम करता है और दिन भर में ३० मील से भी अधिक दूर बोझा ले जा सकता है। भारत, ब्रह्मा अफ्रीका के कुछ भागों में हाथी बोझा ढोते हैं। एशिया के उष्ण कटिबन्धीय जंगलों के वनों में हाथी बड़ा काम करता है। अपने भारी डील-डौल तथा शक्ति के कारण यह साधारणतया १००० पौण्ड तक वजन खींच सकता है। भूमध्य सागर के समीप के यूरप के देशों में, जहाँ घास की कमी है तथा पथरीली और पहाड़ी जमीन है, वहाँ गधे और खच्चर का ही उपयोग किया जाता है। ऊँचे पर्वतों तथा दर्रों को पार करने के लिये तिब्बत में याक, हिमालय में भेड़ें, एण्डीज पर्वतों में लामा और रॉकी पर्वत पर विकूना पशु तथा टर्की में बकरों का उपयोग किया जाता है। उत्तर के अधिक ठण्डे और बर्फीले प्रदेशों में वहाँ की परिस्थिति में पले हुए रेन्डियर और कहीं-कहीं कुत्ते बोझा ढोने के कार्य में प्रयुक्त किये जाते हैं। इस प्रकार वर्तमान काल में उत्तमोत्तम यान्त्रिक यातायात के साधनों के होते हुए भी विश्व के कई भागों में पशुओं का अब भी पर्याप्त महत्त्व है।

भारत में पशु-यातायात—भारतवर्ष में माल ढोने के लिए पशु ही अधिक काम में लाये जाते हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि सम्पूर्ण भारत में १७ लाख घोड़े, १५ लाख गधे, १० लाख बैल, ५ लाख ऊँट, १७ हजार खच्चर, तथा कुछ बकरे व हाथी यातायात के साधनों के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। बैल तो भारतीय कृषि के एकमात्र साधन हैं।

पशु-यातायात के लाभ—(१) आधुनिक यातायात के साधनों का पूरक—जिन स्थानों में अन्य साधन काम में नहीं लाये जा सकते, वहाँ पशु यातायात ही प्रयुक्त किया जा सकता है। (२) मार्ग निर्माण व्यय न्यूनतम—पशुओं के चलने के लिए किसी प्रकार की सड़क आदि बनाने की आवश्यकता नहीं होगी।

(३) राष्ट्रीय आय में योग—खाद, चमड़ा, हड्डी आदि के रूप में राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। (४) न्यूनतम लागत व्यय—पशु मार्ग में स्वयं वृक्षों के पत्ते आदि खाकर अपना निर्वाह कर लेते हैं। (५) आय पूरक—अधिकांश पशु यातायात का साधन बनकर मनुष्य के मुख्य धन्धे से होने वाली आय को बढ़ाते है। उदाहरणार्थ बैल कृषि का सारा काम करने के पश्चात् बेकार समय में सामान ढोकर, अथवा यात्रियों को ले जाकर अपने स्वामी की आय बढ़ाता है।

दोष—(१) पशु यातायात धीमे गामी है। (२) सापेक्ष रूप से कम बोझा ढो सकता है। (३) पशु के वृद्ध अस्वस्थ अथवा मृत्यु हो जाने पर उसके स्वामी को पूँजीगत हानि उठानी पड़ती है। (४) अधिक दूरी के लिए पशु यातायात अधिक खर्चीला हो जाता है। (५) पशुओं की बोझा ढोने की शक्ति भिन्न-भिन्न होती है।

(३) सड़कें—"सड़कें देश के शरीर की नाड़ियाँ हैं जिनके द्वारा प्रत्येक प्रकार की उन्नति दौड़ती है।" —बेन्हम

संक्षिप्त इतिहास—प्राचीन समय में भारत में उस समय की परिस्थितियों के अनुसार अच्छी सड़कें थीं। हिन्दू राजा कुँए धर्मशाला, सड़कें आदि बनवाना अपना कर्त्तव्य समझते थे। मोहन जोदड़ो तथा हड़प्पा आदि प्राचीन शहरों की खुदाई के पश्चात् यह सिद्ध हो गया है कि भारतीय आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व सड़क निर्माण कला में प्रवीण थे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में विभिन्न प्रकार के राज्य मार्गों का वर्णन किया है। इसके पश्चात् मुस्लिम शासन-काल में भी सड़क-निर्माण के कार्य में सन्तोषजनक प्रगति रही। मुगल काल में देश में ५४ बड़ी-बड़ी लम्बी सड़कें थीं। अँग्रेजी काल में सड़कों की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। लार्ड विलियम वैंटिक तथा लार्ड डलहौजी ने अपने शासन काल में सड़कें बनाने की नीति को अपनाया जिसके फलस्वरूप अनेक सड़कों का निर्माण हुआ। तत्पश्चात् लार्ड मैयो और लॉर्ड रिपन की प्रगतिशील स्थानीय-स्वराज्य-नीति के अन्तर्गत सड़कों के निर्माण को प्रोत्साहन मिला।

भारतवर्ष में सड़कों की वर्तमान स्थिति—भारतवर्ष में चार बड़ी-बड़ी सड़कें हैं जो कि देश के एक कोने से दूसरे कोने तक गई हैं और जिनमें अनेक दूसरी सड़कें आकर मिली हैं। ये सड़कें निम्नलिखित हैं—(१) खैबर से कलकत्ता तक ग्राण्ड ट्रंक रोड (२) दिल्ली से बम्बई तक (३) मद्रास से कलकत्ता तक और (४) मद्रास से बम्बई तक। सन् १९४३ में एक दस वर्षीय नागपुर योजना बनाई गई जिसके अनुसार देश की सड़कें चार भागों में विभाजित की गई हैं—(१) राष्ट्रीय राजपथ (National Highways)—इसके अन्तर्गत वे सड़कें आती हैं जो आर्थिक तथा सैनिक दृष्टि से विभिन्न राज्यों की राजधानियों केन्द्रीय, औद्योगिक एवं व्यापारिक नगरों और मुख्य-मुख्य बन्दरगाहों को एक दूसरे से मिलाती है। (२) राज्यीय राज मार्ग (State Highways)—इस वर्ग में वे सड़कें आती हैं जो प्रत्येक राज्य में व्यापार एवं उद्योग की दृष्टि से उस प्रदेश की मुख्य सड़कें समझी जाती हैं। (३) जिले की सड़कें (District Roads)—इनका कार्य जिले के मुख्य नगरों को मिलाना तथा जिले के एक सिरे से दूसरे सिरे तक यातायात की सुविधा प्रदान करना है। ये राज्यीय सड़कों से मिल जाती हैं। (४) गाँव की सड़कें (Village Roads)—ये सड़कें ग्रामीण क्षेत्र में थोड़ी-थोड़ी दूर की होती हैं जो गाँवों को आपस में एक

दूसरे से मिलती हैं। इनका सम्बन्ध निकटवर्ती राज्यों की सडकों तथा जिले की सडकों से होता है।
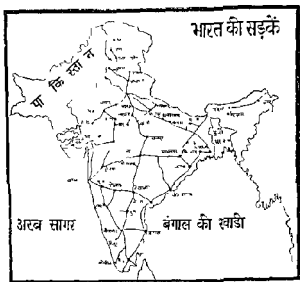
संसार में सडकों की कुल लम्बाई १७,२१,००० मील है जिनमें से लगभग एक तिहाई सडकें संयुक्त-राज्य-अमेरिका में है। इसके बाद रूस, जापान, कनाडा, आस्ट्रेलिया, फ्रांस, ब्रिटेन और जर्मनी का स्थान आता है। संयुक्त-राज्य-अमेरिका में सबसे अधिक मोटरें चलती है। वहाँ पर संसार की ७५% से भी अधिक मोटरें चलती है। साधारणतया वहाँ पर चार व्यक्तियों पर एक मोटर का औसत पडता हैं। भारतवर्ष में सडकों की कुल लम्बाई २,४६,००० मील है जिसमें ७०,००० मील लम्बी पक्की सडकें और १,७६,००० मील लम्बी कच्ची सडकें हैं। इन कच्ची सडकों में से केवल १,२६,००० मील की ही सडकें मोटर चलने योग्य है। इससे स्पष्ट है कि भारत में सडकें देश के विस्तार तथा जनसंख्या को देखते हुए बहुत कम हैं।

भारत में अधिक सडकों की आवश्यकता—भारत के विस्तार तथा जनसंख्या की दृष्टि से यहाँ सडकें बहुत कम है। यहाँ पर २,०१७ निवासियों के बीच एक मोटर गाडी का औसत पडता है। भारत एक कृषि-प्रधान देश है, जहाँ गाँव रेलवे से दूर-दूर स्थित है। अतः यहाँ यातायात के लिये सडकों की बडी आवश्यकता है। कृषि की उन्नति बहुत-कुछ यातायात के साधनों पर ही निर्भर है। साग-सब्जी तथा अन्य व्यापारिक फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिये, कृषि-उपज को कम व्यय पर मंडियों तक ले जाने के लिये, गाँवों के उद्योग धन्धों के पुनरुत्थान के लिये, भूमि-रहित श्रमिकों को जीवन-यापन के लिए शहरों में जाने की सुविधा प्रस्तुत करने आदि बातों के लिये वर्तमान सडकों का सुधार तथा अधिक सडकों का निर्माण परमावश्यक है।

सड़कों का अर्थ-प्रबन्धन (Finance)—सड़क-निर्माण के लिए पूँजी विभिन्न स्रोतों से प्राप्त की जाती है, जो संक्षेप में निम्नलिखित है —

(१) पेट्रोल-कर—यह कर केन्द्रीय सरकार एकत्र करती है परन्तु वह एक निश्चित योजना के अनुसार इसमें होने वाली आय को विभिन्न राज्यों में सड़क निर्माण कार्य के लिए बाँट देती है।

(२) मोटर कर—मोटरों पर राज्यीय सरकारों द्वारा कर लगाया जाता है और इसमें होने वाली आय को राज्य अपने सड़क निर्माण पर व्यय करता है।

(३) स्थानीय कर—शहरों में प्रयुक्त किये जाने वाले यातायात के साधनों पर म्युनिसिपैल्टी आदि संस्थायें कर लगा देती हैं और इस प्रकार प्राप्त आय को सड़कों के निर्माण पर व्यय किया जाता है।

(४) जिला बोर्ड की आय का भाग—स्थानीय संस्थाएँ, विशेषकर जिला बोर्ड या ग्राम-पंचायतें, अपनी साधारण आय का कुछ भाग सड़क निर्माण में लगाती हैं।

(५) ऋण—केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारें स्थानीय संस्थाओं को सड़क निर्माण के लिए कम ब्याज पर ऋण देती हैं।

सड़कों से लाभ (Advantages)—(१) साधारण दूर वाले स्थानों के लिए मोटर यातायात द्वारा सामान शीघ्र और सरलता से पहुँच सकता है। मोटरों या लॉरियों द्वारा माल किसी भी स्थान पर पहुँचाया जा सकता है परन्तु रेल द्वारा माल किसी निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचाया जा सकता है। (३) मोटरों द्वारा सामान भेजने में उसकी टूट फूट का कोई भय नहीं रहता क्योंकि मार्ग में सामान को उठाने धरने की आवश्यकता नहीं होती। (४) सड़कों द्वारा माल ढोने में समय का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। आवश्यकतानुसार सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जा सकता है। (५) सड़कों द्वारा यात्रा करने में बड़ी सुविधा मिलती है, क्योंकि आवश्यकतानुसार कहीं पर रुका जा सकता है। (६) सड़कों द्वारा माल रेलों तक अथवा सीधा मंडियों तक पहुंचाया जा सकता है जिससे उपज का अच्छा मूल्य मिल जाता है। (७) सड़क-यातायात के द्वारा नाशवान् अर्थात् शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुएँ समीपवर्ती शहरों में सुगमता से पहुँचाई जा सकती हैं जिससे इन वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। (८) सड़क यातायात से घरेलू उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन मिलता है। (९) सड़कों की सुविधा उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण में सहायक सिद्ध होती है। इनके द्वारा पर्याप्त दूरी पर रहने वाले श्रमिक भी कारखाने पहुँच जाते हैं। (१०) सड़क-यातायात से सम्पर्क बढ़ता है, जिससे ग्रामीणों के चरित्र विकास पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। (११) सड़क यातायात रेल-यातायात की अपेक्षा सस्ता है, क्योंकि इसमें रेलों की भांति स्टेशन, सिगनल, साइडिंग आदि बनाने की आवश्यकता नहीं होती है। (१२) सड़क-यातायात में इतनी पूँजी नहीं लगाना पड़ती है जितनी कि रेलों में लगती है। (१३) सड़कों के द्वारा रेलों को यात्री एवं माल मिलता है।

सड़क-यातायात के दोष—(१) भारतवर्ष में लगभग ३०% सड़कें रेलों के समानान्तर हैं और लगभग आधी रेलवे लाइन्स सड़कों के समानान्तर चलती हैं। इस प्रकार की सड़कों का बनाना देश के लिए हानिकारक है। रेल और सड़क परस्पर सहायक होनी चाहिए, न कि प्रतिस्पर्धी। (२) सड़कें देश की आवश्यकता में बहुत

कम हैं। (३) अनेक गाँव पक्की सडकों से दूर पड़ते है। वहाँ की कच्ची सड़कें वर्षा-ऋतु में खराब हो जाती है और उनमें पानी भर जाता है। (४) कई सड़कों पर पुलिया आदि न होने से वर्षा-ऋतु में आवागमन बन्द हो जाता है। (५) जिन सड़कों पर गाड़ियाँ चलती हैं उन पर गड्ढे तथा गडार-सी पड़ जाती है, जिससे सड़कों की दशा बिगड़ जाती है।

योजना और सड़कें—प्रथम पंचवर्षीय योजना में सड़कों के लिए २७ करोड़ रुपया रखा गया था जबकि दूसरी योजना में ५५ करोड़ रु० का आयोजन किया गया है। भारत सरकार ने पहली योजना के प्रारम्भ में 'केन्द्रीय सड़क अनुसंधान संस्था' (Central Road Research Institute) की स्थापना की। दूसरी योजना काल में प्रथम योजना के काम को पूरा करने के अतिरिक्त ६०० मील टूटी हुई सड़क को पूरा किया जायेगा। ६० पुल बनाए जायेंगे, १७०० मील सड़क का सुधार किया जायगा, ३७५० मील लम्बी सड़क चौड़ी की जायगी, १५०० मील नई सड़क बनाई जायेगी।

(४) रेल – "रेल राष्ट्र का महानतम सार्वजनिक सेवा-व्यवसाय है और भावी आर्थिक निर्माण की रेलें आधार शिलाएँ हैं।" —योजना आयोग

संक्षिप्त इतिहास—रेलें देश के आन्तरिक यातायात का सबसे महत्वपूर्ण साधन हैं। संसार में कुल रेलों की लम्बाई ७,५०,००० मील है। भारतवर्ष में रेलों का प्रादुर्भाव वास्तविक रूप में सन् १८५३ में हुआ, जबकि लॉर्ड डलहौजी ने रेलें बनवाने का सर्व प्रथम प्रयास किया था। प्रारम्भ में रेलों का निर्माण मुख्यतः सैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया गया था, परन्तु अब रेलों का निर्माण मुख्यतया व्यापारिक उद्देश्य से होता है। सबसे पहले रेलों का निर्माण गारन्टी-प्रथा के अन्तर्गत प्रारम्भ हुआ जिसके अनुसार रेलों का निर्माण-कार्य भारत सरकार ने अंग्रेजी कम्पनियों को दिया और उन्हें उनकी विनियोगित पूँजी पर ५% ब्याज की गारण्टी दी। इसमें लाभ न होने के कारण सरकार को बहुत क्षति पहुँची। अतः सन् १८६९ में सरकार ने इसको अपने हाथों में लिया, किन्तु पूँजी के अभाव का अनुभव करते हुए रेलों का निर्माण कार्य पुनः सन् १८८९ में प्राइवेट कम्पनियों को सौंप दिया गया। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही अर्थात् सन् १९०० से रेलों से लाभ पहुँचने लगा। सन् १९२१ में सरकार ने 'एकवर्थ कमेटी' की नियुक्ति की, जिसके सुझावों के फलस्वरूप रेलों की उत्तरोत्तर उन्नति हुई, और रेलों का प्रबन्ध विदेशी कम्पनियों से हटाकर स्वयं सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। शनैः शनैः सरकार ने लगभग सब ही रेलों का प्रबन्ध और नियन्त्रण अपने हाथ में ले लिया है।

भारतीय रेलों की वर्तमान स्थिति—सन् १९५८-५९ में भारतीय रेलों की कुल लम्बाई ३४,९०८ मील थी और इनमें १३९२·८९ करोड़ रु० की पूँजी लगी थी। हमारे देश के क्षेत्रफल और जन-संख्या की दृष्टि से ये रेलें पर्याप्त नहीं हैं। यहाँ प्रत्येक १००० मील के अन्तर्गत २५ मील की लम्बाई में रेलें हैं। संसार में सबसे अधिक रेलों का जाल बेल्जियम में है। वहाँ प्रति १०० वर्ग मील में ४० मील रेल का जाल है, उसके पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका तथा जर्मनी में, जहाँ कि प्रति १०० वर्ग मील में २० मील है। इन देशों की तुलना में भारतवर्ष की दशा बड़ी शोचनीय है—यहाँ केवल प्रति

१०० वर्ग मील मे ३ मील के लगभग रेलो का जाल है। ४९% रेलें गंगा तथा सिन्ध के मैदान मे है तथा ५१% रेले अन्य भागो मे हैं।

गेज (Gauge) के आधार पर भारतीय रेलों के मार्ग का वर्गीकरण

बड़ी लाइन (Broad Gauge)	....१६,६११.४ मील
छोटी लाइन (Meter Gauge)	....१५,५६०.८ ,,
संकीर्ण तथा हल्की लाइन (Narrow & Light Line)....	२,७३६.१ ,,
योग	....३४,६०८.३ ,,

भारतीय रेलो की तुलनात्मक स्थिति

देश	प्रति १०० वर्ग मील पर रेल-मार्ग (मीलों में)	प्रत्येक १,००,००० जन-संख्या पर रेल-मार्ग (मीलो मे)
संयुक्त राज्य अमेरिका	७.५	१६७
ग्रेट ब्रिटेन	२.३	४३
कनाडा	१.२	४११
अर्जेन्टाइना	२.१	१७५
फ्रांस	१.६	६६
जर्मनी	०.५	५६
सोवियत रूस	०.२	२६
चीन	०.२	१.३
भारतवर्ष	२.८	६.४

रेलो से लाभ (Advantages of Railways)

आर्थिक लाभ (Economic Advantages)—रेलो मे अनेक आर्थिक लाभ हैं जो निम्नलिखित हैं :—

(१) *कृषि-सम्बन्धी लाभ*—(क) *कृषि का व्यापारीकरण*—रेलो के पहले कृषक अधिकतर खाद्य-पदार्थों की ही खेती करते थे, पर आजकल वे ऐसी फसलें उगाते हैं जिन्हे वे बाजार मे बेच सकें, जैसे—गन्ना, तम्बाकू, सरसो आदि। (ख) कृषि उपज का विस्तृत बाजार—रेलो के यातायात ने कृषि-उपज को दूर स्थानों मे बिकना सम्भव कर दिया है। इसलिये इनका बाजार आजकल विस्तृत हो गया (ग) शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं का उत्पादन—रेलो के शीघ्रगामी साधन होने के कारण शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं का उत्पादन होने लगा है; तथा इनका देश के एक कोने से दूसरे कोने मे भेज

जाना सम्भव हो गया है। जैसे—बम्बई में मछली, क्वेटा व चमन में फल आदि। (ख) श्रम की गतिशीलता—रेलों द्वारा श्रमिक एक स्थान से दूसरे स्थान को ऊँचा वेतन पाने के लिये जा सकते हैं। (ङ) कृषक की आर्थिक स्थिति में सुधार—रेल यातायात के कारण अब किसान अपनी उपज को उपयुक्त मंडियों में भेजकर अच्छा मूल्य प्राप्त कर सकता है, जिससे उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार होना स्वाभाविक है। (च) कृषक के जीवन स्तर में सुधार—किसान की आर्थिक स्थिति में सुधार होने तथा शहर वालों से सम्पर्क होने से उसका जीवन-स्तर पहले की अपेक्षा ऊँचा हो गया है। (छ) शिक्षा—अपनी उत्पत्ति को बढ़ाने के लिये ग्रामीणों को शिक्षा की आवश्यकता पड़ी, अतः रेलों के द्वारा शिक्षा को प्रोत्साहन मिला है। (ज) ग्रामीण उद्योग धन्धों की उन्नति—रेल द्वारा कच्चा माल प्राप्त किया जा सकता है तथा बना हुआ माल दूरस्थ स्थानों को भेजा जा सकता है। इससे ग्रामीण उद्योगों को प्रोत्साहन मिला है। (झ) अकाल और भुखमरी को रोकने में सहायक—रेलों के द्वारा अकाल और भुखमरी को रोकने में बहुत सहायता मिलती है। अकाल ग्रस्त क्षेत्रों में रेलों के द्वारा अन्य क्षेत्रों से शीघ्र ही अन्न पहुँचा दिया जाता है। सन् १६४३ में बंगाल के अकाल के समय यातायात के विशेष साधन उपलब्ध न होने के कारण पर्याप्त मात्रा में अन्न नहीं पहुँच सका।

(२) वन-सम्बन्धी लाभ—रेलों से वन-सम्बन्धी उद्योगों को भी प्रोत्साहन मिला है। स्वयं रेलों के लिये स्लीपर तथा डिब्बों के बनाने के लिये लकड़ी आवश्यक है। रेल यातायात के कारण सस्ते मूल्य पर जलाने की लकड़ी घर-बैठे मिल जाती है।

(३) उद्योग धन्धों की उन्नति—रेलों ने नये-नये उद्योग धन्धों की स्थापना की है। उनके लिये कच्चा माल पहुँचाने तथा पक्का माल वितरित करने की व्यवस्था की है।

(४) व्यापार में लाभ—रेलों से देश के भीतरी और बाहरी व्यापार में बहुत सहायता प्राप्त होती है। इससे वस्तुओं के मूल्यों में भी देश के विभिन्न भागों में समता बनी रहती है।

(५) बड़े परिमाण के उत्पादन को प्रोत्साहन—रेलों द्वारा देश-देशान्तर में माल पहुँचाया जाता है, जिससे उत्पादन बड़े परिमाण में होने लगा है। बड़े परिमाण के उत्पादन का लाभ केवल उत्पादकों को ही नहीं हुआ है, बल्कि उपभोक्ताओं को भी हुआ है। बड़े परिमाण के उत्पादन से कम लागत पर वस्तुएँ तैयार होने से उपभोक्ताओं को भी वे सस्ती मिलती हैं।

(६) खनिज पदार्थ सम्बन्धी लाभ—खनिज पदार्थ सम्बन्धी उद्योग का विकास बहुत-कुछ रेलों पर निर्भर है। कोयला, लोहा, मैंगनीज, तेल, पैट्रोल आदि सभी रेलों की सहायता से कारखानों तक पहुँचाये जा सकते हैं। इससे खनिज-व्यवसाय को प्रोत्साहन मिलता है; तथा देश के औद्योगिक विकास में सहायता मिलती है।

(७) रेल-उद्योग से लाभ—रेल स्वयं एक प्रकार का उद्योग है, जिसमें हजारों-लाखों व्यक्ति अपनी आजीविका कमाते हैं। इसमें अधिक परिमाण में लोहा, लकड़ी आदि अनेक कच्चे माल की प्रति वर्ष खपत होती है। भारतवर्ष में चितरंजन रेल का बड़ा कारखाना है जहाँ रेलों के एन्जिन बड़ी संख्या में बनाये जाते हैं, जिससे अब विदेशों में जाने वाला कई करोड़ रुपया बचाया जा सकेगा।

(८) रेलो द्वारा दूर की सूचना कम समय व सस्ते मूल्य पर भेजने का लाभ—रेलो द्वारा हम अपना सन्देश एव सूचना दूर-दूर कम समय मे, तथा सस्ते मूल्य पर भेजकर लाभ उठा सकते है।

(९) श्रम की गतिशीलता—रेलो ने श्रम की गतिशीलता को बढा दिया है। रेलो के द्वारा श्रमिक अधिक वेतन वाले स्थान मे पहुँचकर अपनी आर्थिक स्थिति को सुधार सकते है। इस आर्थिक उद्देश्य के अतिरिक्त मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर किसी दुर्घटना या आपत्ति-काल म भी शीघ्र पहुँच सकता है।

(१०) रेलो की स्थापना से जनसख्या का समान वितरण—रेलो की स्थापना म निर्जन स्थान भी अबाद हो गये है, तथा जन-सख्या का समान वितरण होने लगा है।

(११) रेलो से सरकार को लाभ—सरकार को रेलो से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार से लाभ होता है। इस व्यवसाय से प्राप्त-लाभ सरकारी कोष मे जाता है। रेलवे से सरकार के राजस्व कोष को सन् १९५९-६० मे १४·७५ करोड रुपये प्राप्त हुए। यह सरकार का प्रत्यक्ष लाभ हुआ। रेलो से उत्पादन-वृद्धि होती है और आयात-निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है, जिसके फलस्वरूप सरकार को अप्रत्यक्ष लाभ होता है।

२. सामाजिक लाभ (Social Advantages)—(१) रेलों द्वारा देश मे फैली हुई सामाजिक बुराइयाँ दूर होती जा रही है, जैसे—छुआछूत, रूढियाँ, धार्मिक कट्टरता, जाति-पाँति का भेद भाव, प्रान्तीयता की भावनाएँ आदि। (२) रेलो द्वारा मनुष्य-मनुष्य म, गाँवो और शहरो मे, तथा देश देशो म पारस्परिक सम्पर्क स्थापित हो गया है। (३) रेलो ने मनुष्य म देशाटन करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करदी है, जिससे वह प्रदर्शनी, मेल महत्वपूर्ण सम्मलनो, देश-विदेश की यात्रा आदि स लाभ उठा सकता है। (४) रेलो द्वारा समाज-सुधारक अपने प्रचरार्थ स्थान-स्थान पर पहुँच सकते हैं। (५) रेलो ने सारे ससार को एक कुटुम्ब के समान बना दिया है। रेलो के द्वारा हम अपने विचारो को ससार के प्रत्येक कोने म पहुचा सकते हैं, तथा समाज के रूप को और भी दृढ बना सकते हैं। (७) कृषि की नई-नई योजनाओ तथा विपत्ति मे रक्षा की योजनाओ को कार्यान्वित करने के लिय रेलो स बडी सहायता मिली है।

३ राजनैतिक लाभ (Political Advantages)—रेलो द्वारा देश की एकता को बल मिला है। (२) केन्द्र मे एक सुव्यवस्थित और शक्तिशाली सरकार की स्थापना हो सकी है। (३) देश की सुरक्षा और शान्ति स्थापना म रेलो न बहुत सहायता प्रदान की है। (४) आन्तरिक विद्रोहो और बाहरी आक्रमणो को रोकने के लिए रेलो द्वारा सेना शीघ्रातिशीघ्र भेजी जा सकती है। (५) रेलो की सुविधाओ के ही कारण सरकार ने देश के आर्थिक जीवन को सुदृढ बनाने का सफल प्रयत्न किया है। (६) रेलो से सरकार को बडी आय होती है, और इस प्रकार से सरकार देश की और अधिक उन्नति करने मे सफल होती है। (७) देशवासियो को भी रेलो से लाभ पहुँचता है, क्योकि वे अधिक कर देने से बच जाते है। यदि सरकार को रेलो से अधिक आय न हो, तो उसे देशवासियो से उतना अधिक धन वसूल और करना पडे।

रेलों से हानियाँ (Disadvantages of Railways)—रेलों से कुछ हानिया भी हैं, परन्तु इनसे लाभ इतने अधिक हैं कि हानिया का कुछ भी अस्तित्व नहीं रह जाता। रेलों से होने वाली मुख्य हानियाँ निम्नलिखित हैं।

(१) घरेलू उद्योग धंधे नष्ट हो गये—रेलों की स्थापना और प्रसार के कारण मशीनों द्वारा निर्मित सस्ती वस्तुएँ विदेशों से आने लगी, जिसके परिणाम स्वरूप घरेलू उद्योग धन्धे नष्ट हो गये और शिल्पकार बेकार हो गये।

(२) भूमि पर दबाव—घरेलू उद्योग धन्धे नष्ट हो जाने से अधिकांश लोग खेती की ओर झुक गये और भूमि के छोटे छोटे टुकड़े हो गये। इसके अतिरिक्त एकड़ो भूमि रेलों ने ले ली। यदि इसके द्वारा उत्पादन होता तो देश को कितना लाभ होता।

(३) वनों का कट जाना—रेलों के बनने से कई जंगल अधाधुन्ध काट दिये गये जिससे बहुत सी भूमि वर्षा के पानी से कटकर बह गई। वनों के कट जाने से कई स्थानों में वर्षा पहले की अपेक्षा कम होने लग गई है।

(४) रेलो के पुलों से नदियों के स्वाभाविक प्रवाह में बाधा—रेलों के पुलों से नदियों के स्वाभाविक प्रवाह में बाधा पहुँचने से अनेक स्थानों में पर्याप्त जल इकट्ठा हो जाने से मलेरिया हो जाता है जिससे वहाँ के लोगों के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(५) रेल की पक्षपात-पूर्ण नीति—ब्रिटिश राज्य में भारतीय रेलों की किराया नीति इस प्रकार की रही कि देश से कच्चे माल का निर्यात अधिक होता था और बाहर से पक्का माल अधिक आता था, जिसके फलस्वरूप देश अब तक कृषि प्रधान ही रहा।

(६) बड़े बड़े नगरों की स्थापना और उनकी सामाजिक बुराइयाँ—रेलों के प्रसार से बड़े बड़े नगरों की स्थापना हुई और उनमें अत्यधिक आबादी हो गई, जिसके परिणामस्वरूप अनेक सामाजिक बुराइयाँ उत्पन्न हो गई।

(७) रेलों में लगी हुई विदेशी पूँजी से हानियाँ—विदेशी पूँजी से देश की राजनैतिक हानि हुई। विदेशियों का पर्याप्त प्रभुत्व रहा।

(८) रेल-दुर्घटनाओं से क्षति—रेल दुर्घटनाओं से प्रतिवर्ष जान व माल की पर्याप्त हानि होती है।

(९) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बहुत कम महत्त्व—रेलों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बहुत कम महत्व है। इनका महत्व आन्तरिक यातायात तक ही सीमित है।

रेल-रोड प्रतिस्पर्द्धा (Rail Road Competition)—यातायात के विभिन्न साधनों का कार्य-क्षेत्र पृथक पृथक होता है। इसलिये जब एक साधन अपने क्षेत्र को लाँघकर दूसरे साधन के क्षेत्र में जाने का प्रयत्न करता है तभी दोनों के मध्य प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो जाती है। वास्तव में देखा जाय तो रेल और रोड (सड़क) दोनों का क्षेत्र अलग अलग है और बजाय एक दूसरे का विरोध करने के यातायात के ये दोनों साधन

परस्पर सहायक बन सकते हैं। रेल प्रत्येक स्थान मे नही जा सकती, परन्तु मोटर बसें और ट्रकें प्रत्येक छोटे से छोटे स्थान मे भी जा सकती हैं। जहाँ रेलें नही हैं वहाँ से रेलो के स्टेशन तक माल पहुँचाने का कार्य मोटरो द्वारा हो सकता है। इस प्रकार इन दोनो मे पारस्परिक प्रेम और सहयोग रह सकता है।

जहाँ दूरी कम है वहाँ रेलो का बनाना और उनके द्वारा माल ले जाना अधिक खर्चीला पडता है। रेल की लाइन बनाने का व्यय, स्टेशन, प्लेटफार्म, डिब्बे, इ जिन, सिगनल, कल-पुर्जे, कर्मचारियो आदि का इतना अधिक खर्चा पडता है कि रेलो की अपेक्षा सडके बनवाना अधिक सस्ता पडता है। इसके अतिरिक्त थोडी दूरी के लिए मोटरें सबसे अच्छा साधन है क्योकि वे किसी भी स्थान पर ठहर कर माल चढा और उतार सकती हैं, तथा व्यापारी जब चाहे, समय असमय अपना माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर कम खर्च मे भेज सकते है। मोटरें किसी भी मार्ग पर, जहाँ इन्हे माल और यात्री मिलते हैं, सुगमता से जा सकती है, जबकि रेल अपने निश्चित मार्ग अर्थात् पटरियो पर ही जा सकती है। मोटरो द्वारा माल ले जाने मे चढाई-उतराई सम्बन्धी व्यय भी कम लगता है, तथा माल आदि के चोरी जाने का भी भय कम रहता है। इसके विपरीत, अधिक दूर की यात्रा के लिए मोटर बसें, लारियाँ आदि सडक-यातायात के साधन अधिक मँहगे एव असुविधाजनक सिद्ध होते हैं। रेलो के निर्माण मे इतनी अधिक पूँजी लगती है कि इनके द्वारा कम दूरी की यात्रा अधिक मँहगी पडती है, परन्तु इनमे 'क्रमागत घटन वाली लागत का नियम' लागू होने के कारण इनके द्वारा दूर की यात्रा मोटरो की अपेक्षा सस्ती पडती है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रेल और रोड दोनो का क्षेत्र भिन्न भिन्न है, और यदि दोनो का विस्तार अपने अपने क्षेत्र में ही हो, तो उनमे प्रतियोगिता का भय न रहे। परन्तु यह देखा जाता है कि रेलें और मोटरें एक दूसरे के समान्तर चलती हैं और परस्पर स्पर्द्धा करती हैं। इससे दोनो को ही हानि होती है। हाल ही मे सरकार ने स्वयं अपनी ही मोटरें कहीं कहीं चालू करदी हैं, अर्थात् मोटर-यातायात का राष्ट्रीयकरण हो गया है। परन्तु अभी बहुत कम स्थानो मे ऐसा हो सका है। अभी तक रेल और मोटरों म स्पर्द्धा चला आ रहा है। इस प्रतिस्पर्द्धा स राष्ट्र को ही हानि होती है। अतः राष्ट्र के हित की दृष्टि म इसका समन्वय वाँछनीय है।

रेल-रोड प्रतिस्पर्द्धा का समन्वय—सन् १९३० के पश्चात् भारतीय रेलो को मोटर-यातायात से अधिक हानि होने लगी, जिसके परिणामस्वरूप भारत सरकार ने सन् १९३३ म मिचेल किर्कनेस समिति (Mitchel Kirkness Committee) की नियुक्ति की। इस समिति ने बताया कि प्रतिवर्ष रेल मोटर द्वारा होने वाली केवल यात्रियो की प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप रेलो को २ करोड रुपये की हानि हो रही है। इस समिति की सिफारिशो के फलस्वरूप भारत सरकार ने सन् १९३३ के रेलवे ऐक्ट को देश-भर मे लागू किया, जिसके अन्तर्गत रेलो को अपनी बस सर्विस चलाने का अधिकार दिया, और रेल तथा सडक यातायात मे समन्वय स्थापित करने के लिये सन् १९३५ ई० मे एक 'केन्द्रीय यातायात परिषद्' (Central Transport Advisory Council) की स्थापना की गई। इस परिषद् ने रेल-रोड समन्वय के लिये एक रूपरेखा तैयार की, जिसके अनुसार मिचेल किर्कनेस

समिति द्वारा सिफारिश किये गये 'क्षेत्र-प्रणाली' (Homing System) को शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित करने का आदेश दिया गया, तथा मोटर बसों को तीसरे व्यक्ति की सुरक्षा के लिये बीमा करना आवश्यक समझा गया। नियमित रूप से ड्राइवरो की डाक्टरी जाँच किया जाना भी आवश्यक माना गया। ग्रामीण क्षेत्रों मे चलने वाली मोटरो को एकाधिकार दिया ; तथा सहायक सड़कों का निर्माण रेलों के पूरक के रूप मे करना निश्चय किया।

इतना सब होने पर भी रेल-रोड स्पर्द्धा कम नही हुई, वरन् वह बढती ही गई। इससे रेलो को निरन्तर आर्थिक हानि हो रही थी। भारत सरकार ने सन् १९३६ मे पुनः एक समिति बेजवुड कमेटी (Wedgewood Committee) के नाम से रेल-मोटर की प्रतिस्पर्द्धा की जाँच करने के लिये बिठाई। इस कमेटी ने बताया कि रेलो को इससे होने वाली आर्थिक हानि सन् १९३३ मे २ करोड रुपये, सन् १९३५ मे ३ करोड रुपये; और सन् १९३७ मे ४½ करोड रुपये हुई। इस समिति ने सन् १९३७ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमे रेलों और मोटरों की अनुचित स्पर्द्धा को कम करने के लिए कई सिफारिशें की गई थी। कमेटी की इन सिफारिशो के अनुसार सन् १९३९ मे मोटर गाडी कानून (Motor Vehicle Act) बनाया गया जिसके अन्तर्गत मोटरों पर प्रति-घण्टा चाल चलाने के लिये अनुज्ञा-पत्र (License), यात्रियों की निश्चित सख्या आदि बातो की रोकथाम लगाई गई। इस कानून के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य मे प्रादेशिक यातायात अधिकारी (Regional Transport Authorities) नियुक्त किये गये है, जो मोटर गाडियों का नियन्त्रण करते है। सन् १९४३ मे प्रत्येक मोटर का बीमा करना भी अनिवार्य कर दिया गया है।

द्वितीय महायुद्ध काल मे रेल-मोटर प्रतिस्पर्द्धा एकदम कम हो गई क्योंकि अधिकाश सवारी और सामान ले जाने वाली गाडियों को सरकार ने युद्ध-कार्य के लिये हस्तगत कर लिया था। निजी मोटर गाडियाँ भी पेट्रोल की कमी और मोटरो के पुर्जे न मिलने के कारण कम चलने लगी। इसलिये रेल-मोटर प्रतिस्पर्द्धा एक प्रकार से रुक ही गई। युद्ध के पश्चात सन् १९४८ मे एक सड़क यातायात कॉरपोरेशन कानून (Road Transport Corporation Act) पास किया गया, जिसके अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारो को इस बात का अधिकार दे दिया गया कि वे चाहे तो अपने यातायात कॉरपोरेशन स्थापित कर सकती है अथवा ऐसी कम्पनियाँ स्थापित कर सकती हैं जिसमे प्रान्तीय सरकार, रेल तथा सड़कों पर बस चलाने वाले साझेदार हों। तभी से उत्तर प्रदेश, बम्बई तथा दिल्ली राज्यों की सरकारों ने मोटर यातायात का राष्ट्रीयकरण कर लिया है।

भारतीय रेलों का पुनर्वर्गीकरण

(Regrouping of Indian Railways)

पुनर्वर्गीकरण की आवश्यकता—भारतीय रेलों का पुन वर्गीकरण भारत की रेलो के इतिहास म एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह रेल व्यवस्था भौगोलिक आधार पर आवश्यक भी थी और इस प्रश्न पर गत २५ वर्षों से विचार किया जा रहा था। १५ अगस्त १९४७ को देश के विभाजन का भारतीय रेलों पर बहुत प्रभाव पडा। उत्तर-पश्चिमी रेल और बगाल आसाम रेल के बँट जाने के कारण कुछ रेलें ऐसी रह गई थी जिनके पास न अपने कारखाने (Workshop) थे और न आर्थिक दृष्टि से वे सम्पन्न ही थी। १ अप्रैल १९५० तक देशी राज्यो का भारत के साथ विलय पूरा हो चुका था। अत भारत सरकार ने सामूहीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया और सबसे प्रथम अप्रैल १९५१ म दक्षिणी रलवे जान (Zone) का निर्माण कर दिया और नवीन पद्धति से कार्य होने लगा। नवम्बर १९५१ म केन्द्रीय एव पश्चिमी तथा अप्रैल १९५२ मे उत्तरी पूर्वी और पूर्वी जोन्स के निर्माण के साथ भारतीय रेलो के वर्गीकरण का कार्य समाप्त हो गया।

पुनर्वर्गीकरण—३७ रेलवे प्रणालियों को जो अगस्त १९४९ के पूर्व भारत मे विद्यमान थी, आठ क्षेत्रो म बाट दिया गया है। ये क्षेत्र निम्न तालिका मे दिखाये गये हैं :—

क्षेत्र	चालू होन की तिथि	रेल क्षेत्र के अन्तर्गत लाइनें	मुख्यालय	३१ मार्च १९५९ को लाइनो की लम्बाई (मीलो म)
दक्षिण	१४ अप्रैल, १९५१	मद्रास एव दक्षिणी मरहठा, दक्षिणी भारत और मैसूर रल	मद्रास	ब० ला० १८६६·१ म० ला० ४२०६·८ छो० ला० ९५·७ ६१६८·६
मध्य	५ नवम्बर, १९५१	ग्रेट इण्डियन पेनिनसुलर, निजाम स्टेट, सिंधिया और धौलपुर रेल	बम्बई	ब० ला० ३८२०·७ म० ला० ८२३·१ छो० ला० ७२५·० ५३६८·८

क्षेत्र	चालू होने की तिथि	रेल क्षेत्र के अन्तर्गत लाइन	मुख्यालय	३१ मार्च १९५९ को लाइनों की लम्बाई (मीलों में)
पश्चिम	५ नवम्बर, १९५१	बम्बई, बडोदा एवं सैन्ट्रल इण्डिया, सौराष्ट्र, कच्छ, राजस्थान और जयपुर रेल	बम्बई	ब० ला० १७६६·९ म० ला० ३७२२·८ छो० ला० ७५९·७ ६२४९·४
उत्तर	४ अप्रैल, १९५२	पूर्वी पंजाब, जोधपुर और बीकानेर रेल और ईस्ट इण्डियन रेल के तीन ऊपर डिवीजन	दिल्ली	ब० ला० ४१९६·४ म० ला० २०५०·१ छो० ला० १६१·८ ६४०७·३
उत्तर-पूर्व	१४ अप्रैल, १९५२	अवध एवं तिरहुत, असम रेल और पुरानी बम्बई बडोदा एवं सैन्ट्रल इण्डियन रेल का फतेहगढ जिला	गोरखपुर	म० ला० ३०७८·८ ३०७८·८
उत्तर-पूर्व सीमान्त	१५ जनवरी, १९५८		पाण्डू	ब० ला० २·२ म० ला० १६७९·२ छो० ला० ५२·० १७३३·४
पूर्व	१ अगस्त, १९५५	ईस्ट इण्डिया रेल (तीन ऊपर डिवीजनों को छोडकर)	कलकत्ता	ब० ला० २३०७·३ म० ला० ——— छो० ला० १७·१ २३२४·४
दक्षिण-पूर्व	१ अगस्त, १९५५	बंगाल—नागपुर रेल	कलकत्ता	ब० ला० २६५१·८ म० ला० ——— छो० ला० ९२४·८ ३५७६·६

नोट :—ब० ला० = बड़ी लाइन (५ $\frac{1}{2}$'), म० ला० = मध्यम लाइन (३' – ३ $\frac{3}{8}$") तथा छो० ला० = छोटी लाइन (२' – ६" तथा २')

रेलो के पुनर्वर्गीकरण से लाभ (Advantages of Regrouping of Railways)—(१) अधिकाश बडी रेलो को एक-दूसरे से मिला देने से दिन-प्रतिदिन के खर्चे मे बहुत बचत हो जायगी। पृथक्-पृथक् रेलो के बीच मे बहुत सा पत्र व्यवहार बन्द हो जाने से व्यय कम हो जायगा और कार्यक्रम सरल हो जायगा; तथा कार्य पहले की अपेक्षा शीघ्र होने लगेगा। कई रेलो का एक ही क्षेत्र मे एकीकरण होने से कार्य-कुशलता मे उन्नति तथा शासन प्रबन्ध म सुधार होने की सभावना है। (३) व्यापारी एवं व्यवसायी वर्ग को भी लाभ होगा, क्योकि अब उन्हे पृथक पृथक रेल कम्पनियो के अधिकारियो से सम्बन्ध रखने के बजाय अब केवल एक क्षत्र के किसी अधिकारी से ही सम्बन्ध रखना पडेगा। (४) पूँजीगत व्यय म भी कमी होन की सभावना है, क्योकि एक बडे पैमाने पर सामूहीकरण होने मे एन्जिन, डिब्बा आदि का अधिकतम उपयोग हो सकेगा। (५) कारखाना का वैज्ञानीकरण हो जान से तथा सामान के खरीदने म केन्द्रीय-करण हो जाने से पर्याप्त लाभ की सभावना है।

रेलो के पुनर्वर्गीकरण से हानियाँ (Disadvantages of Regrouping of Railways)—(१) रेलवे कर्मचारियो की कार्य कुशलता मे कमी होने की सम्भावना है, क्योकि कर्मचारियो के तबादले अब दूर-दूर अपरिचित स्थानो मे होने लगेंगे, जिससे उनकी असुविधाएँ बहुत बढ जायँगी। (२) प्रत्येक क्षेत्र के अन्तर्गत लगभग साढे पाँच हजार मील लम्बे रेल-मार्ग का प्रबन्ध करने मे न तो कार्य-कुशलता ही रहेगी और न व्यय मे ही किसी प्रकार की कमी होगी। (३) जितनी मितव्ययता

होगी, उससे व्यय कहीं अधिक होगा, क्योंकि प्रत्येक क्षेत्र में नये-नये हैड क्वार्टर, कारखाने कर्मचारियों के लिये बंगले एवं क्वार्टर्स आदि बनवाने में पर्याप्त खर्चा करना पड़ेगा। (४) रेलवे स्टोर रौलिंग स्टाक तथा अन्य आवश्यकीय सामान खरीदने में भी रेलवे को कोई विशेष बचत नहीं होगी। इसीलिये कुंजरू कमेटी ने पुनः वर्गीकरण की इस योजना को पांच वर्षों के लिए स्थगित करने का विचार प्रस्तुत किया था।

वैसे तो प्रत्येक समस्या के ऊपर पक्ष तथा विपक्ष दोनों ओर से बहुत कुछ कहा जा सकता है परन्तु भारतीय रेलों के पुनर्वर्गीकरण से लाभ ही अधिक प्रतीत होते हैं। इसलिए वर्तमान समय में क्षेत्रीय आधार पर रेलों का पुनः वर्गीकरण भारत के हित में ही होगा।

रेल और योजना—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में रेल के विकास के लिये कुल ११२५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। सन् १९६०-६१ तक ८४० मील लाइन बनाई जायगी ८००० मील लाइन का नवीनीकरण होगा १६०७ मील लाइन दोहरी की जायगी १२६३ मील लाइन पर डीजल इंजन से गाड़ी चलाई जायेंगी २६५ मील छोटी लाइन को बड़ी लाइन में परिवर्तन किया जायगा और ८२६ मील लाइन का विद्युतीकरण किया जायगा। ५ वर्ष के अन्दर भारतीय रेलों द्वारा २२५८ इंजन १०७२४७ माल के डिब्बे और ११३६४ सवारी डिब्बे प्राप्त किये जायेंगे। ६ नये रेलवे कारखाने और एक छोटी लाइन के सवारी डिब्बे बनाने वाली फैक्ट्री स्थापित की जायगी। चितरंजन लोकोमोटिव का विस्तार किया जायगा।

२ जल यातायात

(Water Transport)

एक देश जोकि प्राचीन विश्व के महाद्वीपों में भुजाओं की भांति जुड़ा है जिसका समुद्र तट ४००० मील लम्बा है और अनेक प्रकार की वस्तुओं के निर्माण की खान है जिन्हें अन्यत्र नहीं पैदा किया जा सकता है प्रकृति द्वारा एक नाविक देश होने के लिये ही बना है।

संक्षिप्त इतिहास—संसार के आर्थिक इतिहास में जल यातायात का बड़ा महत्व है। भारतवर्ष में जल मार्ग द्वारा यातायात प्राचीन काल से ही होता चला आ रहा है। युक्ति कल्पतरु नामक प्राचीन संस्कृत पुस्तक समुद्र और नदी में चलने योग्य नावों की निर्माण कला का उल्लेख मिलता है। सांची के स्तूप के पूर्वी द्वार पर जो खुदाई हो रही है उस पर एक नाव लगी हुई बनाई गई है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि भारत में ईसा की शताब्दी के पूर्व नौकाओं द्वारा यात्रा होती रही है। यूनानी यात्री मैगस्थनीज तथा एरेन की भारत यात्रा द्वारा जो उन्होंने दो हजार वर्ष पूर्व की थी यह ज्ञात होता है कि गंगा अपनी १७ सहायक नदियों और सिंधु अपनी १३ सहायक नदियों के साथ बहुत दूर तक नाव्य (Navigavle) थी। मैगस्थनीज ने *तो यहां तक कहा है कि ५८ नदियाँ भारत में नाव चलाने योग्य हैं।* शिलालेखों और अन्य प्राप्त वर्णनों के अनुसार यह ज्ञात होता है कि गंगा के १४ शताब्दी के पश्चात् भी भारत की नदियों और नहरों द्वारा यात्रा की जाती रही है।

यह बात निर्विवाद सत्य है कि बहुत प्राचीनकाल से ही भारतीय जहाजों द्वारा समुद्री व्यापार होता था। सिकन्दर की फौज जब भारतवर्ष से लौटने लगी तो २००० भारतीय जहाजों के बेड़े का उन्होंने अपनी समुद्री यात्रा के लिये उपयोग किया था।

अकबर के समय में सुव्यवस्थित नौ-विभाग था, जिसका अध्यक्ष 'मीर बहरी' कहलाता था। उस समय बंगाल, काश्मीर और लाहौर में विभिन्न प्रकार के जहाजों और नौकाओं का निर्माण किया जाता था। तत्कालीन विदेशी यात्रियों ने भारत की जहाजी कला की बड़ी प्रशंसा की है। बावरी (१६६६-७० ई०), फ्रायर (१६७४ ई०) आदि लेखकों ने भारतीय विशाल जहाजों को देखकर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया। फ्रायर ने सूरत में ऐसे बड़े जहाज देखे जैसे उसने यूरप में कहीं नहीं देखे थे। इसी प्रकार कुस्तुनतुनिया का राजा अपने लिए ढाका और हुगली में जहाज तैयार करवाता था।[1] सिन्ध में हर समय ४०,००० नावें और जहाज भाड़े पर उपलब्ध हो सकते थे। गोलकुण्डा के राजा के पास एक मजबूत जहाजी बेड़ा था। राजा और उसके सरदारों के लिये अच्छे हाथी लाने के लिए कई जहाज अराकान, तनासरिम : और लंका को जाते थे। किसी किसी जहाज में तो २५ बड़े हाथी बैठ जाते थे।[2] लिंडसे नामक अंग्रेज लेखक ने भारत की जहाजी शक्ति की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "सन् १७८६ ई० में भारतीय व्यापारियों के पास इतने अधिक जहाज थे कि जितने ईस्ट इण्डिया कम्पनी, डचों, फ्रांसीसियों और अमेरिका वालों के पास कुल मिला कर होंगे।"

१६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से जहाजों के निर्माण में लकड़ी का स्थान लोह ने ले लिया और अब पुराने ढँग के जहाजों के स्थान में भाप से चलने वाले जहाजों की माँग अधिक बढ़ गई थी। अतः भारत में बनने वाले पुराने आकार प्रकार के जहाज अब उपयोगी नहीं हो सकते थे। यह परिस्थिति भारतीय नौ उद्योग के लिये घातक सिद्ध हुई परन्तु इसके विनाश का मूल कारण विदेशी शासकों की प्रतिकूल नीति थी। यदि वे चाहते तो यहाँ भी नवीन ढंग के जहाज अन्य देशों की अपेक्षा अच्छे बन सकते थे, क्योंकि यहाँ उपयुक्त सामग्री तथा अनुभव उपलब्ध था। परन्तु उन्होंने ऐसा करना अपने हित के विरुद्ध समझा। इसके अतिरिक्त, भारत में रेल निर्माण भी देशी नावों से होने वाले व्यापार के लिये घातक सिद्ध हुआ।

जल-यातायात के सापेक्षिक गुण व दोष

गुण—जल यातायात अन्य यातायात के साधनों की अपेक्षा सस्ता पड़ता है, क्योंकि इस पर कोई विशेष व्यय नहीं करना पड़ता है। इसके लिये रेल की पटरी या पक्की सड़क, जैसे किसी विशेष मार्ग बनाने या उसकी मरम्मत की व्यवस्था करने की आवश्यकता नहीं होती। रेल-यातायात में लाइनें बनाने के अतिरिक्त स्टेशन प्लेटफार्म, सिगनल आदि बनाने और उनकी मरम्मत व प्रबन्ध आदि की व्यवस्था करने में पर्याप्त पूँजी की आवश्यकता होती है जबकि जल यातायात में बन्दरगाह, डाकस जेटी आदि बनाने में बहुत ही कम व्यय करना पड़ता है। यदि जल-यातायात नदी, झील या समुद्र द्वारा होता है, तो मार्ग निर्माण में कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ता है, क्योंकि जल-मार्ग प्राकृतिक बना होता है। केवल नाव स्टीमर व जहाज बनाने में ही व्यय करना पड़ता है जो रेल यातायात की तुलना में बहुत ही कम है। यदि यह यातायात नहरों के द्वारा होता है, तो नहरों का निर्माण करना पड़ता है, परन्तु ये नहरें मुख्यतः सिंचाई के लिये बनाई जाती हैं, इसलिये जल-यातायात में मार्ग के रूप में प्रयुक्त करने में अलग से व्यय

१—*Economic History of India*—R K Mukerjee
२—*Indian Shipping*—R K Mukerjee p p 245 52

करने की आवश्यकता नहीं होती। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये तो समुद्री यातायात एक मुख्य साधन है।

जल-यातायात के द्वारा भारी एवं विस्तार वाली वस्तुओं का लाना और ले जाना सुगम और सस्ता है, जैसे कोयले, स्लीपर, तख्ते आदि। जंगलों में पेड़ों के बड़े-बड़े तने काटकर नदियों में बहा दिये जाते हैं, वे बहकर स्वयं ही निश्चित स्थान पर पहुँच जाते हैं। टूटने वाली या हिलने से खराब हो जाने वाली वस्तुओं के लिये जल-यातायात बहुत ही उपयुक्त होता है। आन्तरिक जल-मार्ग से एक बड़ा भारी लाभ यह है कि विदेशों से आने वाले जहाज देश के भीतरी भागों में सीधे आ सकते हैं। उनका माल बन्दरगाहों पर उतारकर रेलगाड़ियों पर लादने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जिन प्रदेशों में रेलों और सड़कों का अभाव है वहाँ जल-मार्ग उनकी पूर्ति करते हैं। भारी, कम मूल्य वाली और टिकाऊ वस्तुओं के लिये जल-मार्ग बहुत ही सस्ता साधन है। बहुत सी नदियाँ तथा नहरें अन्य यातायात के साधनों के पूरक का कार्य करती हैं।

दोष—जल यातायात मन्द-गति का व अनिश्चित होता है। यही इसका दोष है। भारतवर्ष में कुछ नदियों में तो वर्षा-ऋतु में बाढ़ आ जाती है और अधिकांश ग्रीष्म-ऋतु में बिल्कुल सूख जाती है जिससे वे यातायात-योग्य नहीं रहतीं।

भारतीय जल-यातायात के भेद—भारतीय जल-यातायात को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) भीतरी जल-यातायात और (२) समुद्री यातायात।

(१) भीतरी जल-यातायात (Inland Water Transport)—(अ) नदियाँ, और (आ) नहरें भीतरी जल-यातायात के मुख्य साधन हैं।

(अ) नदी यातायात (River Transport)—नदियाँ देश के आन्तरिक व्यापार का सर्वोत्तम यातायात साधन है। नाव चलाने योग्य नदियाँ गहरी तथा उद्गम स्थान पर बर्फ युक्त होनी चाहिये। जिन नदियों का वेग तेज होता है अथवा जिन नदियों में बहुत-से प्रपात होते हैं, वे यातायात के लिये सर्वथा अयोग्य होती हैं। नदियों में लगातार जल-प्रवाह का होना भी आवश्यक है। इसलिये वे नदियाँ जिनमें प्रायः बाढ़ आती है अथवा जो वर्ष के कुछ महीने सूखी पड़ी रहती हैं, यातायात के लिये अयोग्य होती हैं। जो नदियाँ उपजाऊ और घनी आबादी वाले प्रदेशों में से होकर बहती हुई वर्ष में खुले सागरों में गिरती हैं वे भी यातायात की दृष्टि से बड़ा महत्व रखती हैं।

दूसरे देशों की भाँति भारतवर्ष की नदियों में यातायात की प्राकृतिक सुविधाएँ नहीं हैं, फिर भी दक्षिण की नदियों की अपेक्षा उत्तरी भारत की नदियों में यातायात की अधिक सुविधाएँ हैं। हिमालय पर्वत से निकलने वाली नदियों में वर्ष भर पर्याप्त पानी रहता है, क्योंकि ग्रीष्म-ऋतु में हिमालय पर्वत से बर्फ पिघल कर उनमें पानी आता रहता है। ये नदियाँ देश के एक उपजाऊ और सम्पन्न भाग में से होकर बहती हैं, जो गंगा-सिन्धु का मैदान कहलाता है। अतः उत्तरी भारत की नदियों में वर्ष-भर यातायात हो सकता है। परन्तु दक्षिणी भारत की नदियों में केवल वर्षा-ऋतु में ही पानी रहता है, इसलिये यातायात असम्भव हो जाता है।

भारत में वर्ष-भर बहने वाली नदियों में स्टीमर और बड़ी-बड़ी देशी नावें चलती हैं। जल-यातायात की दृष्टि से बंगाल, आसाम, मद्रास और बिहार महत्वपूर्ण हैं।

भारत में जल मार्गों की लम्बाई उत्तर प्रदेश में ७४५ मील, बिहार में ७१५ मील, पश्चिमी बंगाल में ७७७ मील, आसाम में ६२० मील, उड़ीसा में २८७, और मद्रास में १७०० मील है। दक्षिणी भारत में गोदावरी, कृष्णा, नर्मदा, तथा ताप्ती नदियों के निचले भागों में ही नावें चल सकती हैं, इनका शेष भाग पठारी है। गंगा नदी में ५०० मील ऊपर कानपुर तक स्टीमर चला करते है। छोटी-छोटी नावें तो हरिद्वार तक जा सकती हैं। परन्तु रेलों के निर्माण से गंगा नदी द्वारा यातायात का महत्त्व कम हो गया है। यमुना नदी में प्रयाग से राजापुर तक वर्ष भर नावें चलती है। ब्रह्मपुत्र नदी में मुहाने से डिब्रूगढ़ तक ८०० मील नावें चलती हैं। परन्तु इसमें निरन्तर नये नये द्वीप बनते रहने के कारण नावें चलाने में कुछ असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, वर्षा-ऋतु में पानी की तेजी के कारण नावों के उलट जाने का डर रहता है। हुगली नदी में भी नादियां तक जहाज पहुच सकते हैं। छोटी-छोटी नहरें बड़ी-बड़ी नदियों को जोड़ती है। अधिकांश जूट चाय और चावल नावों से ही बड़े बड़े शहरों में पहुँचाया जाता है।

(आ) नहर यातायात (Canal Transport)—भारत में यातायात के योग्य नहरें बहुत कम है, यद्यपि थोड़ा बहुत यातायात गंगा नहर आदि कुछ नहरों द्वारा होता है जोकि सिंचाई के लिये बनाई गई हैं। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत सरकार के प्रधान इंजीनियर सर आर्थर कॉटन (Sir Arthur Cotton) ने एक पार्लियामेंट की कमेटी के सम्मुख अपना मत इस प्रकार प्रकट किया था, "मेरा कहना है कि भारत के लिए जल मार्ग अधिक उपयोगी सिद्ध होंगे। रेलों पर जितना व्यय हुआ है, उससे आठवें भाग में नहरें बनाई जा सकती है जो माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर बहुत कम खर्चे में ले जा सकती हैं। इन नहरों से सिंचाई भी होगी और वे व्यापारिक जल मार्ग का काम भी देगी। सर कॉटन ने नहरें बनाने की पूरी योजना बनाई थी जिसमे ३ करोड़ रुपया व्यय होने का अनुमान लगाया था। परन्तु ब्रिटिश पूँजीपतियों ने, जिनकी रेलों में पूँजी लगी थी इस योजना का घोर विरोध किया जिससे इस पर कोई ध्यान नही दिया गया। सिंचाई के लिये निर्मित नहरें यातायात के योग्य नहीं होती, क्योंकि वे प्राय उथली होती हैं और कम आबाद भागों में होकर बहती हैं। औद्योगिक कमीशन और राष्ट्रीय योजना समिति ने रेलों और नहरों द्वारा यातायात विस्तार के लिए कई सिफारिशें की परन्तु अभी तक कुछ भी नही हुआ। सिवाय इसके कि सन् १९३० के Inland Steam Vessels Act द्वारा भीतरी जल-यातायात के लिए अधिकतम और न्यूनतम किराये की दर नियत कर दी गई। अब अपनी राष्ट्रीय सरकार को इस ओर शीघ्र ध्यान देना चाहिए।

भारत में आन्तरिक जल यातायात के विकासार्थ योजना—भारत एक विशाल देश है और इसमें नौका तक नदियां इस प्रकार बहती है कि वह यातायात के काम में लाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त, नहरों के निर्माण द्वारा जल-यातायात का अधिक विकास किया जा सकता है। केन्द्रीय जलशक्ति, सिंचाई और नौका सचालन आयोग (Central Waterways, Irrigation and Navigation Commission) ने देश के भीतरी जल मार्गों की उन्नति करने के लिए एक विशाल योजना बनाई है। इस योजना के अन्तर्गत बंगाल में दामोदर घाटी योजना के पूरा हो जाने पर रानीगंज की निचली कोयले की खान हुगली नदी से नहर द्वारा मिलाई जायेंगी। इसी प्रकार से उत्तरीय बंगाल के जलमार्ग तथा पूर्वीय बंगाल और कलकत्ता के बीच के

जलमार्गों का पुनरुद्धार किया जायगा। आसाम में कुछ नदियाँ जल यातायात के योग्य बनाई जायँगी। बिहार में गंडक, कोसी तथा सोना नदियों को भी यथा सम्भव यातायात के योग्य बनाने का प्रयत्न किया जायगा। बेतवा व चंबल नदियों के बाढ़ के पानी को रोक कर और उसे यमुना नदी में डालकर यमुना को भी अधिक यातायात के योग्य बनाया जायगा। उड़ीसा की नहरों को मद्रास की नहरों से सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया जायगा। हीराकुड बाँध के पूर्ण होने पर महानदी में भी तीन सौ मील तक जल यातायात की सुविधा हो सकेगी। पूना में एक नदी यातायात अनुसंधानशाला (River Research Institute) की स्थापना भी की गई है।

फरवरी १९५० में भारतीय आन्तरिक जल-मार्गों के विकास के लिए एशिया और पूर्वी देशों के आर्थिक आयोग (Economic Commission for Asia and far East) के विशेषज्ञ श्री ओटो पोपर (Otto Popper) की सेवाएँ इस विषय में जाँच-पड़ताल करने और भारत सरकार को सम्मति देने के लिए ली गई थी। श्री पोपर ने इस बात पर बल दिया कि "यदि व्यवस्थित रूप से भीतरी जल मार्गों का उपयोग किया जाय, तो ये रेलों के प्रतिस्पर्द्धी न होकर रेलों के पूरक होंगे।" उनका कहना था कि न केवल वर्तमान जल मार्गों को ही सुधारने की आवश्यकता है बल्कि देश के विभिन्न भागों में नये जल मार्गों का निर्माण होना भी आवश्यक है। उनकी यह सलाह है कि (अ) देशी नावों को सहकारिता के आधार पर संगठित करना चाहिये। (आ) गंगा के उत्तरी भाग में नावों के ठहरने के स्थान (River Ports) और सामान उतारने चढ़ाने की मशीनों (Cranes) आदि यांत्रिक साधनों के अभाव की पूर्ति करना आवश्यक है। (३) नदी को स्थान छोड़ने से रोकने के लिए नदी के किनारों पर झाड़ियाँ लगाने की आवश्यकता पर जोर दिया। (४) देशी नावों के स्थान में आधुनिक नावों का चलन हो।

आन्तरिक जल मार्ग और योजना—देश का आन्तरिक जल-मार्ग ५,००० मील से अधिक लम्बा है। गंगा, ब्रह्मपुत्र और उनकी सहायक नदियों पर होने वाले जल-यातायात के विकास में समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने १९५२ में 'गंगा ब्रह्मपुत्र जल यातायात मंडल' स्थापित किया। आन्तरिक जल-यातायात के विकास के लिये द्वितीय योजना में ३ करोड़ रु० निर्धारित किये गये हैं।

(१) समुद्री यातायात (Sea Transport)—समुद्री यातायात अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का मुख्य साधन है। समुद्री-मार्ग विभिन्न देशों को मिलाते हैं और विदेशी व्यापार का विकास करते हैं। भारतवर्ष में लगभग ४००० मील लम्बा समुद्री किनारा है। लगभग ६ अरब रुपये साल का व्यापार विदेशों से समुद्र के द्वारा होता है, परन्तु यह खेद की बात है कि भारत के पास संसार के प्रगतिशील देशों की अपेक्षा सबसे कम जहाज हैं। अर्थात् भारत के पास लगभग १०० जहाज हैं जबकि संयुक्त राज्य अमरिका के पास ३,४९२, इंगलैंड के पास ३,१०२, फ्रांस के पास ५१६, इटली और जापान में से प्रत्येक के पास ४२३ हैं। अब अपनी राष्ट्रीय सरकार इस ओर विशेष ध्यान दे रही है।

भारत में नौ-उद्योग के पुनर्जन्म का श्रेय सिन्धिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी (Scindia Steam Navigation Co.) को है जिसने सबसे प्रथम इस

दशा में पथ प्रदर्शन किया। सिंधिया कम्पनी द्वारा अपने विशाखापट्टम कारखाने में निर्मित जल-ऊषा नामक पहला भारतीय जहाज जिसकी लागत ६८ लाख रुपये है तथा वजन ८००० टन है, १४ मार्च १६४८ को पंडित जवाहरलाल नेहरू के कर-कमलों द्वारा जलावतरण कराया गया। इसके पश्चात् लगभग इसी परिमाण के जल प्रभा, जल पालक, जल पद्म आदि कई जहाज तैयार किये जा चुके हैं। सिंधिया कम्पनी की योजना है कि वह प्रति वर्ष ८–६ हजार टन वाले तथा ४५० फीट लम्बाई तक के जहाज तैयार करे।

जहाजी नीति समिति (Shipping Policy Committee) की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार ने एक बड़ी व्यापारिक योजना बनाई है, जिसमें तीन राष्ट्रीय निगमों (Shipping Corporations) की स्थापना की व्यवस्था है। प्रत्येक निगम के जिम्मे नियत क्षेत्र में व्यापार सचालन का कार्य रहेगा। इनमें से पूर्वी जहाजी निगम (Eastern Shipping Corporation) की व्यवस्था सिंधिया कम्पनी को ७६ . २४ के अनुपातिक आधार पर सौंपी जा चुकी है। अन्य दो निगम इण्डिया स्टीम नैवीगेशन कम्पनी (India Steam Navigation Co) और भारत लाइन्स लिमिटेड (Bharat Lines Ltd.) होंगे। इनके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार को समुद्री यातायात की समस्याओं पर सुझाव देने के लिए एक जहाजी बोर्ड (Shipping Board) भी स्थापित कर दिया गया है। जनवरी १६५१ में एक 'तटीय जहाजी सम्मेलन' (Coastal Shipping Conference) के निर्णय के अनुसार विदेशी व्यापार सम्बन्धी सरकारी समझौतों में यह धारा रखी जाय कि ५०% माल भारतीय जहाजों में लाया लेजाया जायगा। इसके फलस्वरूप समुद्र तटीय यातायात केवल जहाजों के लिये सुरक्षित हो गया है। भारतीय जहाजों को अब ३० लाख टन बोझा प्रति वर्ष ढोने को मिलेगा जिसके लिये भारत को कम से कम ३,७५,००० टन शक्ति वाले जहाजों की आवश्यकता होगी जबकि वर्तमान समय में हमारे पास केवल २ लाख टन शक्ति के ही जहाज हैं। अत. हमें १,७५,००० टन शक्ति वाले जहाजों की और आवश्यकता होगी।

भारतवर्ष के समुद्री-मार्ग (Ocean Routes)—भारत के मुख्य समुद्री मार्ग निम्न पाँच प्रधान बन्दरगाहों से आरम्भ होते हैं—बम्बई, कलकत्ता, कोचीन, मद्रास और विजगापट्टम। भारत हिन्द महासागर के सिरे पर स्थित है जिसमें होकर पूर्व से पश्चिम को व्यापारिक मार्ग निकलते हैं। यहाँ से पूर्व और दक्षिण पूर्व को समुद्री मार्ग चीन, जापान, पूर्वी द्वीपसमूह और आस्ट्रेलिया को, दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम में संयुक्त राज्य अमेरिका, यूरप तथा अफ्रीका और दक्षिण में लंका को जाते हैं। इस प्रकार भारत पश्चिमी कला-कौशल-प्रधान देशों को पूर्वी कृषि-प्रधान देशों से मिलाने के लिये एक कड़ी का काम करता है।

समुद्री-यातायात और योजना—प्रथम योजना में समुद्री यातायात अर्थात् जहाजरानी के लिये व्यवस्था की गई थी जो बाद में बढ़ाकर २६ ३ करोड़ रु० कर दी गई थी। योजना काल में लगभग १८ करोड़ रु० के वास्तविक व्यय का अनुमान लगाया गया था। द्वितीय योजना में जहाजरानी के विकास के लिए ४५ करोड़ रु० निर्धारित किये गये हैं। छोटे बन्दरगाहों के विकास के लिए द्वितीय योजना में ५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है जबकि प्रथम योजना में २·४१ करोड़ रु० की ही व्यवस्था की गई थी।

३. वायु यातायात (Air Transport)

संक्षिप्त इतिहास—भारत के प्राचीन ग्रंथों में आकाश यात्रा तथा वायुयानों का उल्लेख मिलता है। पुष्पक विमान के विषय में प्राय: सभी जानते हैं। इससे प्रकट होता है कि प्राचीन भारत के निवासी वायुयान तथा आकाश-यात्रा से परिचित थे। यद्यपि गुब्बारों द्वारा उड़ने का प्रयास सन् १७०८ से ही किया जाने लगा किन्तु वास्तविक रूप से वायुयानों का प्रयोग २० वीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही आरम्भ हुआ।

भारतवर्ष में आकाश यात्रा सन् १९११ से ही प्रारम्भ हुई जबकि कुछ स्थानों पर वायुयानों के उड़ान की प्रदर्शनी की गई थी। सन् १९१९ में भारत ने अन्य तीस देशों के साथ वायु-यातायात को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय समझौते पर पेरिस में हस्ताक्षर किये। वायु-यातायात के विकास की योजना बनाने के लिए सन् १९२६ में 'भारतीय वायु बोर्ड' (Indian Air Board) स्थापित किया गया। इस बोर्ड की सिफारिश के अनुसार सन् १९२७ में 'नागरिक उड्डयन विभाग' (Civil Aviation Department) की स्थापना की गई और सन् १९२८ में दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई और करांची में उड़ाकू क्लब (Flying Clubs) खोले गये। सन् १९२९ में इम्पीरियल एअरवेज (Imperial Airways) की सेवा द्वारा भारत को लन्दन से जोड़ दिया गया। सन् १९३० में टाटा एअरवेज लिमिटेड (Tata Airways Ltd.) स्थापित हुई और इससे इलाहाबाद, कलकत्ता तथा कोलम्बो और बाद में करांची और मद्रास में अन्तर्देशीय वायु सेवाओं की स्थापना की गई। इस समय से भारत सरकार ने वायु-यातायात के विकास में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ किया। सन् १९३३ में इण्डियन नेशनल एअरवेज लि० (Indian National Airways Ltd.) स्थापित हुई जिससे करांची, जैकोबाबाद मुल्तान तथा लाहौर की वायु-सेवा की स्थापना हुई। सन् १९३६ में एअर-सर्विस ऑफ इण्डिया (Air Service of India) स्थापित हुई जिसने बम्बई, भावनगर, राजकोट, जामनगर, पोरबन्दर की वायु-सेवा चालू की। इन देशी कम्पनियों के अतिरिक्त कुछ विदेशी वायुयान कम्पनियाँ भी भारत में काम कर रही थी। इनमें ब्रिटिश ओवरसीज एअर कॉर्पोरेशन (B.O.A.C.), डच एअर लाइन, के० एल० एम० (K.L.M.) एअर फ्रांस और जर्मन एअर सर्विस मुख्य थीं। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व लगभग १५६ वायुयान भारत में थे और वायु-मार्ग ६५०० मील था जो अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम था।

द्वितीय महायुद्ध और उसके पश्चात्—सितम्बर १९३९ में महायुद्ध के छिड़ जाने से विदेशी वायुयानों में एकदम कमी हो गई। देशी वायुयानों का भी प्रयोग मुख्यतया युद्ध कार्यों के लिए होने लगा। सन् १९४१ के अन्त तक १७ नये वायु-मार्ग चालू कर दिये गये। इस काल में वायु-यातायात के विकास को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। भारतीय नवयुवकों को वायुयान चलाने की शिक्षा देने के लिये कई उड्डयन क्लब खोले गये तथा कुछ को इङ्गलैंड भी भेजा गया। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व वायुयान निर्माण करने के लिये कोई कारखाना नहीं था, केवल वायुयानों की मरम्मत की ही व्यवस्था थी। अत: श्री वालचन्द हीराचन्द ने मैसूर सरकार के साथ दो हिन्दुस्तान एअरक्राफ्ट कम्पनी (The Hindustan Aircraft Co.) बंगलौर में सन् १९४० में स्थापित की। सन् १९४१ में भारत सरकार ने भी इस कम्पनी में अपना भाग प्राप्त कर लिया। सन् १९४१ में इस कम्पनी द्वारा निर्मित पहला भारतीय

वायुयान प्रस्तुत किया गया और दूसरा एक महीने बाद । सन् १९४९ मे इस कारखाने का पुनर्संङ्गठन किया गया। आजकल इस कारखाने में रेलगाडी के डिब्बे भी बनते हैं।

सन् १९४४ मे भारत सरकार ने नागरिक उड्डयन के विकास आदि विषयों के लिये सर मोहम्मद उस्मान के सभापतित्व मे एक समिति की स्थापना की। इस समिति की सिफारिशों को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया और अपनी वायु यातायात सम्बन्धी नीति सन् १९४६ मे घोषित कर दी जिसके अनुसार अभ्यान्तरिक वायु यातायात का विकास सीमित संख्या की निजी व्यापारिक संस्थाओं द्वारा करवाने की सरकार ने इच्छा प्रकट की। इन कम्पनियों पर नियन्त्रण रखने के लिए 'वायु यातायात लाइसेन्स बोर्ड' भी सन् १९४६ मे स्थापित किया गया।

बाह्य विकास के कार्य-क्रम मे पहला महत्वपूर्ण कदम सन् १९४७ मे भारत और यू० के० के मध्य वायु सेवा स्थापित करने मे उठाया गया। एक नई कम्पनी 'एअर इण्डिया इण्टरनेशनल लिमिटेड' टाटा के सहयोग मे स्थापित की गई। दूसरी वायु-सेवा २६ मई १९४८ से 'भारत एअरवेज लिमिटेड' द्वारा चालू की गई। यह कलकत्ता से बैंकाक होती हुई हांगकांग जाती थी। तीसरी बाह्य वायु-सेवा बम्बई अदन नैरोबी के मध्य २१ जनवरी १९५० को 'एअर इण्डिया इण्टरनेशनल लि०' द्वारा चालू की गई। चौथी बाह्य सेवा दिल्ली और काबुल के मध्य चालू की गई।
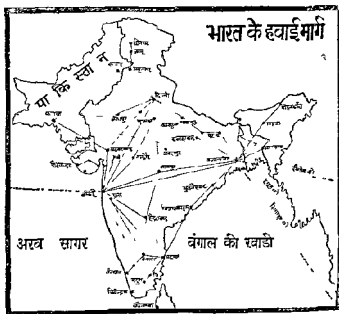
३० जनवरी १९४९ से बम्बई-नागपुर-कलकत्ता और मद्रास-नागपुर-दिल्ली के लिए सेवाएँ डाक को वायुयानों द्वारा रात्रि में ले जाने के लिये चालू की गई। सन् १९४९ में

राजाध्यक्ष के सभापतित्व में एक कमेटी नियुक्त की जिसने कम्पनियों के लाभ पर नियन्त्रण रखने, भारत सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता सन् १९५२ के अन्त तक जारी रखने, राष्ट्रीयकरण को स्थगित रखने या उसके अभाव में वैधानिक कॉरपोरेशन द्वारा संचालन करवाने आदि के कई सुझाव दिये।

वर्तमान स्थिति—सन् १९५३ के प्रारम्भ में भारतवर्ष में निम्नलिखित ९ वायुयान कम्पनियाँ थीं :—(१) एअर इण्डिया, बम्बई, (२) इण्डियन नेशनल एअरवेज, नई दिल्ली, (३) एअर सर्विसेज ऑफ इण्डिया, बम्बई, (४) डेकन एअरवेज, बेगमपेट, (५) एअरवेज (इण्डिया) कलकत्ता, (६) भारत एअरवेज, कलकत्ता (७) एअर इण्डिया इण्टरनेशनल, बम्बई, (८) हिमालय एविएशन, कलकत्ता और (९) कलिंगा एअर लाइन्स, कलकत्ता। इनके अतिरिक्त बी० ओ० ए० सी०, के० एल० एम०, टी० डब्लू० ए० तथा पान अमेरिकन आदि अन्तर्राष्ट्रीय महत्व की वायु यातायात की कम्पनियां द्वारा वायु यातायात को व्यवस्था भारत में हो गई है।

भारतीय कम्पनियों की अधिकृत पूंजी २१ करोड ४० लाख रुपया थी। वायुमार्गों की कुल लम्बाई २८,००० मील से कुछ अधिक है। दिसम्बर १९५३ तक भारतीय हवाई विभाग के नियन्त्रण में कुल ७८ हवाई अड्डे आ गये थे।

हवाई उडान की शिक्षा की व्यवस्था—नागरिकों को हवाई उडान में शिक्षा देने के लिए कुल मिलाकर १२ उड्डयन क्लब हैं जिनको भारत सरकार द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। वे क्रमश: ये हैं—दिल्ली बम्बई, मद्रास, बैरकपुर, पटना, भुवनेश्वर लखनऊ, जालधर, नागपुर, आसाम, हैदराबाद, बगलौर। सन् १९४८ के १ दिसम्बर को पूना में भारतीय ग्लाइडिंग एसोसियेशन (Indian Gliding Association) की स्थापना की गई है जिसका कार्य Gliding को प्रोत्साहन देना है। इसे भारत सरकार द्वारा आर्थिक सहायता मिलती है।

एअरोनॉटिकल कम्यूनिकेशन (Aeronautical Communication) अर्थात् वायु यातायात सम्बन्धी सम्वाद के इस समय ५८ अड्डे स्टेशन हैं। इलाहाबाद में सन् १९४८ में नागरिक उड्डयन प्रशिक्षण केन्द्र (Civil Aviation Training Centre) है, जिसमें चार विभागों की शिक्षा दी जाती है—उडान, एरोड्रोम, इन्जीनियरिंग और कम्यूनिकेशन, सहारनपुर में भी एक प्रशिक्षण केन्द्र है जहाँ वायुयान चालकों और रेडियो विशेषज्ञों को उपयुक्त शिक्षा दी जाती है। सरकार ने अधिक से अधिक व्यक्तियों को शिक्षा देने के हेतु एक योजना बनाई है जिसके अनुसार तीन वर्षों में ३००० चालकों को प्रशिक्षित किया जायगा। इसमें ७५ लाख रुपए पूंजीगत व्यय और २५ लाख रेकरिंग (स्थायी) व्यय होगा। बंगलौर में पोस्ट ग्रेजूएट को शिक्षा दी जाती है। अनुसन्धान की व्यवस्था सफदरजंग हवाई अड्डे दिल्ली में की गई है।

वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Air Transport)—वायु यातायात के राष्ट्रीयकरण के उद्देश्य से सन् १९५३ में 'वायु यातायात निगम अधिनियम' (The Air Corporation Act) पास किया गया, जिसके अनुसार १ अगस्त १९५३ से वायु यातायात का राष्ट्रीयकरण कर दिया है। इस अधिनियम के अन्तर्गत दो निगम (Corporations)—एक आन्तरिक वायु सेवाओं को चलाने के लिये (Indian Airlines Corporation) और दूसरा बाह्य वायु सेवाओं को चलाने के लिये (Air India International Corporation)

स्थापित कर दिये गये। प्रत्येक कॉरपोरेशन के लिये कम से कम ५ और अधिक से अधिक ६ सदस्य केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत किये जायेंगे। वर्तमान वायु यातायात सलग्न कम्पनियों के ले लेने का अधिकार और वायु यातायात का एकाधिकार इस कॉर्पोरेशन को दे दिया गया। इन दोनो निगमों को सलाह देने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा एक एक 'परामर्शदातृ संसद' (Advisory Council) नियुक्त कर दी गई है।

वायु यातायात समझौते— सन् १९५८ में भारत सरकार और सोवियत रूस, लेबनान गणराज्य तथा इटली गणराज्य की सरकारों के बीच वायु यातायात के समझौते हुए। अफगानिस्तान, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, ईराक, जापान, आईलैण्ड, नीदरलैण्ड, पाकिस्तान, फ्रांस, फिलीपीन ब्रिटेन, मिश्र, श्रीलंका, स्विट्जरलैण्ड तथा स्वीडन के साथ वायु-यातायात के समझौते पहले से ही हुए हैं।

वायु यातायात और योजना—द्वितीय योजना काल में ८ नये हवाई अड्डे स्थापित किये जायेंगे। योजना में हवाई यातायात के लिये ३९ १३ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है - २४·६ करोड़ रु० इंडियन एयरलाइन्स के लिये और शेष एयर इंडिया इन्टरनेशनल के लिये हैं।

सम्वाद-वाहन के साधन—सरकारी डाक व तार विभाग का नागरिक जीवन में बड़ा महत्त्व है। सबसे प्रथम डाक प्रणाली सन् १७६६ में लॉर्ड क्लाइव ने प्रारम्भ की थी परन्तु वह सरकारी कार्यालयों के ही उपयोग में आ सकती थी। वारेन हैस्टिंग्स के शासन-काल में यह डाक प्रणाली जनता को भी उपलब्ध होने लग गई थी। १५ अगस्त १९४७ में भारत में २२,१३६ डाकघर थे, परन्तु १९५८-५९ में इनकी सख्या ६४,९९३ हो गई जिनमें ३ ३ लाख व्यक्ति सलग्न थे। द्वितीय योजना में २,००० की जनसख्या के प्रत्येक ग्राम-समूह के लिये एक डाकघर होगा। भारत में सबसे पहले तार सेवा (कलकत्ता-आगरा के बीच) नवम्बर १८५३ में आरम्भ हुई थी। वर्तमान समय में देश में ६,८१३ तारघर हैं जहाँ प्रति वर्ष ३·४३ करोड़ अन्तर्देशीय तथा विदेशी तार प्राप्त किये अथवा भेजे जाते हैं। १९५८-५९ में देश में ३,७८,००० टेलीफोन थे।

भारत में रेडियो—भारतीय रेडियो द्वारा सात विदेशी भाषाओं में वार्ता प्रसारित होती है जिससे राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक मैत्री बढ़ती है तथा सांस्कृतिक चेतना को बल मिलता है। अप्रैल सन् १९५२ में ६,०३,११० रेडियो के लाइसेंस थे। भारत में इस समय २३ स्थानों से बेतार का तार भेजा जा सकता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—भारत में रेलों के (अ) कृषि (ब) घरेलू उद्योगों और (स) बड़े-बड़े उद्योगों पर क्या प्रभाव हुए हैं ? स्पष्टतः व्याख्या कीजिए। (उ० प्र० १९५०)

२—भारत में यातायात व सम्वाद के क्या-क्या साधन हैं ? यदि आप से इनमें से एक के विकास के लिए कहा जावे तो आप किसका विकास करना चाहेंगे ? कारण भी बताइए। (उ० प्र० १९४७, ३३)

३—भारत में वायु-यातायात पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (उ० प्र० १९४५)

४—भारत में रेलों और सड़कों के विस्तार से होने वाले सापेक्षिक हानि लाभों पर विचार कीजिए। (पटना १९५२)

५—भारत मे रेलों के विकास के आर्थिक परिणाम समझाइए।
(रा० बो० १९६०, ५८)

६—भारत मे यातायात के साधनों (विशेषतया रेलों) के विकास का कृषि और ग्राम्य जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है ?
(रा० बो० १९५३)

७—भारत मे रेलों के विकास के क्या आर्थिक एवं सामाजिक प्रभाव हुए हैं ?
(रा० बो० १९५२)

८—रेलों के निर्माण द्वारा भारत के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों पर विस्तार से विचार कीजिए।
(अ० बो० १९५५, ४८, ४६, ४२, ४०)

९—भारत मे रेलो के आर्थिक प्रभाव व्यक्त कीजिए।
(म० भा० १९५४, सागर १९५०, पंजाब १९४८)

१०—मानव समाज के लिए यातायात के साधन क्या आवश्यक है ? भारत के लिए श्रेष्ठ यातायात व्यवस्था का क्या महत्व है ?
(नागपुर १९५२)

११—भारत मे सडक यातायात की महत्ता बताइए। क्या आप रेल-रोड समन्वय के पक्ष मे हैं ? कारण भी लिखिए।
(दिल्ली हा० से० १९४८)

अध्याय ५६

भारत का व्यापार

(Trade of India)

"भारत एक विशाल देश है जिसकी सुप्त सम्पत्ति का उपभोग करके देश को विदेशी व्यापार पर निर्भर होने से बचाया जा सकता है।" — नायडू

परिचय (Introduction) – प्रत्येक देश का व्यापार साधारणतया दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) आन्तरिक, भीतरी या देशी व्यापार और (२) बाह्य या विदेशी व्यापार। आन्तरिक या देशी व्यापार (Inland or Home Trade) वह व्यापार है जिसमें वस्तुओं का आवागमन देश के भीतर ही सीमित रहता है। जैसे बम्बई और दिल्ली का व्यापार आदि। बाह्य या विदेशी व्यापार वह व्यापार है जिसके अन्तर्गत वस्तुओं का आवागमन विभिन्न देशों के मध्य में होता रहता है, जैसे इंगलैंड और भारत के मध्य का व्यापार आदि। आन्तरिक या देशी व्यापार को हम राष्ट्रीय व्यापार और बाह्य या विदेशी व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी कह सकते है। राष्ट्रीय व्यापार में स्थानीय, प्रदेशीय और अन्तप्रदेशीय व्यापार सम्मिलित होता है। शीघ्र नष्ट होने वाली तथा कम मूल्य की भारी वस्तुएं जैसे शाक, भाजी, दूध, ईंट आदि का व्यापार थोडी दूर तक ही सीमित रहता है, अतः इस प्रकार के व्यापार को स्थानीय व्यापार कहते हैं। कुछ वस्तुओं का व्यापार पास-पड़ोस के जिलों में, पर एक ही प्रदेश के भीतर होता है, इसे प्रदेशीय व्यापार कहते है। कुछ वस्तुओं का व्यापार विभिन्न प्रदेशों के मध्य पर देश की सीमा के भीतर ही होता है, इसे अन्तप्रदेशीय व्यापार कहते हैं।

भारतीय व्यापार (Indian Trade)—भारतीय व्यापार को मुख्यत. तीन भागों में बांट सकते हैं—(१) आन्तरिक व्यापार, (२) तटीय व्यापार और (३) विदेशी व्यापार।

(१) आन्तरिक व्यापार (Internal Trade)—भारत का आन्तरिक व्यापार बहुत महत्वपूर्ण है। यह अनुमान लगाया जाता है कि भारत का आन्तरिक व्यापार प्रति वर्ष ७००० से ८००० करोड रुपए तक का होता है और विदेशी व्यापार ६०० करोड रुपए तक का होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय आन्तरिक व्यापार विदेशी व्यापार से लगभग पन्द्रह गुना अधिक है। ग्रेट ब्रिटेन बेलजियम और जापान जैसे छोटे-छोटे देशों में तो आन्तरिक व्यापार, बहुत कम होता है, उनका अधिकांश व्यापार विदेशी व्यापार होता है।

भारतवर्ष एक बहुत विशाल देश है जहाँ एक भाग दूसरे से अत्यधिक दूरी पर है। इसलिए एक स्थान की प्राकृतिक दशा, जलवायु एवं पैदावार दूसरे स्थान की उपज से बिल्कुल भिन्न है। मनुष्यों को सभ्यता, रहन-सहन, खान-पान तथा वस्त्रादि में भी भिन्नता

है। इस विभिन्नता के कारण लोगों की भिन्न-भिन्न प्रकार की आवश्यकताएँ होती है। इन विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति देश के विभिन्न भागों में उत्पादित वस्तुओं द्वारा ही की जा सकती है। इस आत्म निर्भरता के कारण देश के आन्तरिक भागों में विस्तृत व्यापार होता है। देश विशाल है, प्राकृतिक सुविधाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, उत्पत्ति अधिक और विभिन्न प्रकार की होती है; जनसंख्या वृहद् है, इसलिये आन्तरिक बाजार ही इतना विस्तृत है कि हमें विदेशी बाजारों पर अधिक निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु दुर्भाग्यवश भारत के आन्तरिक व्यापार की उन्नति की ओर हमारे विदेशी शासकों ने कोई ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उनका हित विदेशी व्यापार की उन्नति में था न कि आन्तरिक व्यापार में। प्रो० नायडू का कहना है कि भारत एक विशाल देश है जिसकी सुख-सम्पत्ति का उपभोग करके देश को विदेशी व्यापार पर निर्भर होने से बचाया जा सकता है। प्रो० सेन का कहना है कि देश में ही इतना विस्तृत बाजार है कि उसकी पूर्ति के प्रयत्न किये जायें, तो विदेशी व्यापार पर हम कम निर्भर रह सकेंगे।* अस्तु भारत के आन्तरिक व्यापार को बढ़ाने की आवश्यकता है।

(२) तटीय व्यापार (Coastal Trade) – तटीय व्यापार भारत के लिये एक प्रकार की प्राकृतिक देन है। भारत की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि वह हिन्द महासागर के व्यापारिक मार्गों का मुख्य केन्द्र है। भारतवर्ष का समुद्र तट ४००० मील से अधिक लम्बा है परन्तु इस पर स्थित बन्दरगाह बहुत अच्छे नहीं है। भारत का तटीय व्यापार प्रायः अंग्रेजी जहाजी कम्पनियों के हाथ रहा है यद्यपि कुछ भारतीय जहाजी कम्पनियाँ देश का २५% व्यापार अपने हाथ में रखती है। श्री हाजी तथा दूसरे लोगों ने भारत सरकार पर बहुत जोर डाला कि भारत का तटीय व्यापार भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित कर दिया जाय किन्तु तत्कालीन अंग्रेजी सरकार ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत के पास केवल १½ लाख टन के जहाज थे, जो विश्व के व्यापारिक जहाजों का केवल २% था। स्वतन्त्र हो जाने के बाद से ही राष्ट्रीय सरकार जहाजी बेड़े में वृद्धि करने में प्रयत्नशील है। सन् १९५१ के तटीय जहाजी सम्मेलन के निर्णयानुसार अब तटीय व्यापार अधिकतर भारतीय जहाजों द्वारा सम्पन्न होने लगा है।

भारतवर्ष का तटीय व्यापार भी बहुत बड़े महत्व का है। लगभग ७० लाख टन चावल, तिलहन, कोयला, नमक तथा लकड़ी आदि तटीय मार्ग द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जाता है। भारत का अन्तर्राज्यीय तटीय व्यापार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, बम्बई, मद्रास आदि प्रदेशों में होता है क्योंकि ये ही राज्य समुद्र के किनारे है और इन्हीं राज्यों में बन्दरगाह पाये जाते है। भारत का कुछ तटीय व्यापार ब्रह्मा से भी होता है। भारत ब्रह्मा को सूती कपड़े, गेहूँ, जूट के बोरे, दालें, मसाले, तम्बाकू, लोहे का सामान, चाय, तिलहन, शक्कर आदि भेजता है। इसके बदले में ब्रह्मा से चावल, मिट्टी का तेल, मोमबत्ती, लकड़ियाँ, चना व दालें भारत को आती है। ये सारी वस्तुएँ तटीय मार्ग द्वारा ही आती-जाती हैं। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, कोचीन, तूतीकोरन तथा विजगापट्टम भारत के वे मुख्य बन्दरगाह है जो भारतीय तटीय व्यापार में एक विशेष स्थान रखते हैं।

*Sen *Economic Reconstruction of India*, p. 364.

भारत का विदेशी व्यापार (Foreign Trade of India) - भारत का विदेशी व्यापार अत्यन्त प्राचीनकाल से ही होता आया है। इसके व्यापारिक सम्बन्ध न केवल एशिया के देशों से ही थे, परन्तु उस समय की ज्ञातव्य दुनियाँ के सभी देशों से थे जिसमें पूर्व और पश्चिम के सभी उन्नत देश सम्मिलित थे। सन् ३००० ई० पू० में भारत और बेबीलोन में व्यापारिक सम्बन्ध था। सन् ई० १—२००० तक की पुरानी मिश्र की कब्रों में जो शव हैं वे भारत का बहुत बढ़िया मलमल लिपटे हुये पाये गये हैं। भारतीय लोहे और इस्पात का भी निर्यात फारस, अरब तथा इंगलैंड का होता था। रोम में भारत के तैयार माल की बहुत खपत थी। १३ वीं शताब्दी के आरम्भ में दक्षिणी भारत से मसालों (इलायची, लौंग, कालीमिर्च, जावित्री) और कपूर का निर्यात पश्चिमी देशों को बड़ी मात्रा में होता था। इसके अतिरिक्त भारत के मोती, अनेक प्रकार के वस्त्र, सिंध के बढ़िया फर्श और गलीचे, हाथी-दाँत और उससे बनी वस्तुएँ, गेंडे के चमड़े व उससे निर्मित वस्तुएँ, जूते, नारियल, कस्तूरी, नील, काला नमक, अनेक प्रकार की औषधियाँ तथा मेवे ईराक, ईरान, मिश्र और अरब को भेजे जाते थे। इनके बदले में अरब से घोड़े लोहा सोना, चाँदी खिजूर; मिश्र से पन्ने की अंगूठियाँ, हीरा, मूँगे और मिश्री, मदिरा तथा ईरान से ऊनी वस्त्र, केवड़ा, गुलाब-जल और मिट्टी का तेल आता था।

१६ वीं और १७ वीं शताब्दी में भारत में सूरत, कालीकट, मच्छलीपट्टम, सतगाँव, चिटगाँव आदि निर्यात के मुख्य केन्द्र थे। इन स्थानों से छींट, मूल्यवान सूती वस्त्र, कपास, चावल, शक्कर, नील और काली मिर्च आदि का विदेशों को बड़े रूप में निर्यात होता था। सूती कपड़ पूर्व में हिंदचीन, थाईलैंड, मलक्का जापान, बोर्नियो, सुमात्रा, जावा आदि को जाते थे। पश्चिम में ये वस्त्र ईरान, अफगानिस्तान, दक्षिणी और पूर्वी अफ्रीका, मिश्र तथा पश्चिमी अरब को जाते थे। टैवर्नियर लिखते हैं कि टर्की, पोलैंड आदि में दक्षिणी भारत के छपे हुए कपड़ों की माँग बहुत थी। फरेरी* लिखते हैं कि "सारे संसार का सोना-चाँदी घूम-फिरकर अन्त में भारत में पहुँचता है।" इङ्गलैंड की औद्योगिक क्रान्ति एवं भारत में विदेशी राज्य की स्थापना से भारत की सम्पूर्ण परिस्थिति बदल गई। ब्रिटिश सरकार की नीति भारत के बने हुए पक्के माल को न भेजकर कच्चे माल को भेजने की थी। इसके साथ-ही-साथ भारत में हाथ से बना हुआ माल, इङ्गलैंड आदि देशों के मशीन से बने हुए सस्ते माल के सामने न टिक सका। स्वेज नहर के खुल जाने से पाश्चात्य औद्योगिक देशों का पक्का माल भारत में खूब आने लगा तथा यहाँ से कच्चा माल जाने लगा। इस प्रकार शनैः शनैः भारतीय गृह-उद्योग सब नष्ट हो गये और भारत केवल कच्चा माल निर्यात करने वाला देश ही गया। सन् १६२६ में विश्व-व्यापी मंदी आरम्भ हो गई जिसके परिणाम-स्वरूप भारत के कृषि-पदार्थों के भाव गिरे और भारत के विदेशी व्यापार को क्षति पहुँची। विश्वव्यापी मंदी का प्रभाव १६३२-३३ तक रहा। सन् १६३३ ३४ में हमारे व्यापार में कुछ प्रगति हुई। निर्यात १३६·०७ करोड से १५०·२३ करोड रुपये को पहुँच गया और आयात में १७ करोड रुपये की कमी हो गई। सन् १६३६ में द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ हो जाने से भारतीय कच्चे माल की विदेशों में माँग बढ़ी जिसके परिणाम स्वरूप हमारा निर्यात बढ़ गया। जहाँ सन् १६३८-३६ में केवल १६३ करोड

---

*All the silver and gold which circulates throughout the world at last centres here (in India)" —*Europe Bleedeth to enrich Asia*

रुपये का माल निर्यात किया गया वहाँ सन् १९३९-४० में २०४ करोड रुपये का माल निर्यात हुआ। इसी प्रकार जहाँ सन् १९३८-३९ में १५२ करोड रुपये के माल का आयात हुआ वहाँ १९३९-४० में यह मात्रा १६५ करोड रुपये तक पहुँच गई। सन् १९४४-४५ में आयात २०४ करोड रुपये का, निर्यात २१० करोड रुपये का तथा कुल विदेशी व्यापार ४१४ करोड रुपये का हुआ। सन् १९४७ में देश-विभाजन के कारण विदेशी व्यापार के रूप में परिवर्तन हुआ अर्थात् जूट और बढ़िया कपास के लिये भारत पाकिस्तान पर निर्भर हो गया। सन् १९५८-५९ में हमारा कुल विदेशी व्यापार १४३६ करोड रुपये का था जिसमें आयात लगभग ८५६ करोड रु० और निर्यात ५८० करोड रु० का था।

भारतीय विदेशी व्यापार की विशेषताएँ (Characteristics of Foreign Trade of India)—भारतवर्ष के विदेशी व्यापार की विशेषताएँ या लक्षण निम्नलिखित है :—

१. भारत का वर्तमान निर्यात कच्चे और पक्के दोनों प्रकार के माल का होता है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत केवल कच्चा माल ही विदेशों को भेजता था; परन्तु आजकल देश की औद्योगिक उन्नति के कारण पक्के माल का निर्यात भी काफी बढ़ गया है।

२. भारत का आयात अब कच्चे और पक्के माल के रूप में होता है। कृषि और उद्योगों के विकासार्थ आजकल कच्चा और पक्का दोनों प्रकार का माल आयात किया जाता है। गत युद्ध के पूर्व अधिकतर पक्का माल ही आयात किया जाता था। देश के औद्योगीकरण तथा देश विभाजन के फलस्वरूप यह परिवर्तन हो गया है।

३. अधिकांश भारत का विदेशी व्यापार समुद्री-मार्ग द्वारा ही होता है—भारतवर्ष का विदेशी व्यापार समुद्री-मार्ग द्वारा व्यापार की तुलना में बहुत ही कम होता है। स्थली सीमा पर स्थित देश जैसे ब्रह्मा, अफगानिस्तान, तिब्बत आदि निर्धन और पिछड़े हुए हैं, अतः उनसे हमारा व्यापार बहुत ही कम होता है। हमारा विदेशी व्यापार अधिकतर समुद्री मार्ग द्वारा पूर्व और पश्चिम के प्रगतिशील देशों से है।

४. खाद्य-पदार्थों का आयात पहले की अपेक्षा पर्याप्त मात्रा में बढ़ गया है। पहले भारत चावल और गेहूँ निर्यात करता था परन्तु अब चावल और गेहूँ बाहर से मँगवाता है। अन्न की कमी के कारण विदेशों को हमें दाम भी पूरे देने पड़ते हैं।

५. भारतीय विदेशी व्यापार अधिकतर विदेशों के हाथों में है। भारतीय आयात और निर्यात में संलग्न अधिकांश कम्पनियाँ विदेशी हैं। जहाजी और बीमा कम्पनियाँ तथा विनिमय बैंक भी विदेशी हैं। अतः भारत के विदेशी व्यापार से होने वाला अधिकांश लाभ भी उन्हीं को प्राप्त होता है। अब भारत सरकार इस व्यापार को भारतीयकरण करने के साधनों को जुटाने के लिए प्रयत्नशील है।

६. साधारणतया भारत का निर्यात आयात से अधिक होता है—सन् १९४५-४६ तक हमारा आयात, मूल्य की दृष्टि से, निर्यात की अपेक्षा अधिक ही रहा है। अन्य शब्दों में, व्यापार का अन्तर (Balance of Trade) हमारे अनुकूल

(Favourable) ही रहा है। परन्तु खाद्य पदार्थों के भारी आयात आदि कारणों से अब प्रतिकूल (Unfavourable) हो गया है। हमारा पौंड-पावना (Sterling Balances) का बहुत-सा ऋण जो इङ्गलैंड को हमें देना था, आज प्रतिकूल व्यापार अन्तर के कारण ही समाप्त हो रहा है।

७. भारत का समुद्र-मार्गी विदेशी व्यापार अधिकतर भारत के कुछ ही बन्दरगाहों द्वारा होता है। भारत का समुद्री-मार्ग द्वारा होने वाला ६० प्रतिशत व्यापार बम्बई, कलकत्ता और मद्रास बन्दरगाहों द्वारा ही होता है।

८. अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष का विदेशी व्यापार युनाइटेड किङ्गडम से अधिक होता है। आज भी आयात और निर्यात दोनों में ही युनाइटेड किङ्गडम का स्थान प्रथम आता है। इसका हमारे कुल विदेशी व्यापार में लगभग २७% भाग है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व यह लगभग ३०% था। हमारे विदेशी व्यापार का १६% भाग अमेरिका से होता है।

९. भारतवर्ष ऋणी देश से साहूकार देश बन गया है। गत युद्ध काल में इंगलैंड को भारत ने करोड़ों रुपये का सामान दिया जिसका मूल्य इंगलैंड की सरकार नहीं दे सकी और वे पौंड पावने के रूप में इकट्ठे हो गये। इस प्रकार भारत एक ऋणी देश से साहूकार-देश हो गया।

१०. निर्यात पर वर्षा और जलवायु का प्रभाव कम हो गया है। पहले भारत का निर्यात कृषि-सम्बन्धी वस्तुओं का था, परन्तु अब तैयार माल का भी है। अस्तु निर्यात पर वर्षा और जलवायु का पहले जितना प्रभाव नहीं रहा।

११ भारत का विदेशी व्यापार कामनवेल्थ के बाहर के देशों के साथ बढ़ रहा है। भारत का आयात निर्यात कामनवेल्थ के बाहर के देशों के साथ बढ़ रहा है और इंगलैंड, जापान और जर्मनी आदि देशों के साथ घट रहा है।

१२. हमारे निर्यात की वस्तुओं की सूची में थोड़ी-सी वस्तुएं हैं, जैसे जूट का सामान, कपास, चाय, चमड़ा, धातु और खनिज पदार्थ, परन्तु आयात की सूची में बहुत वस्तुयें हैं।

१३. भारतवर्ष का प्रति व्यक्ति पीछे विदेशी व्यापार इंगलैंड, अमेरिका आदि अन्य देशों की अपेक्षा कम है। भारतवर्ष आर्थिक दृष्टि से अधिक सम्पन्न नहीं होने के कारण यहाँ के प्रति व्यक्ति का विदेशी व्यापार अन्य देशों की तुलना में कम है।

१४. हमारे निर्यात की मुख्य वस्तुयें—जूट का तैयार माल, चाय और सूती कपड़ा तथा आयात की मुख्य वस्तुयें—मशीन, अनाज, रुई, जूट का कच्चा माल, तेल आदि है।

१५. हमारे देश में उपभोग की वस्तुओं के आयात का स्थान औद्योगीकरण की वस्तुयें ले रही हैं। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व हम केवल अपने उपभोग की वस्तुओं का ही आयात करते थे, किन्तु अब देश के औद्योगीकरण के फलस्वरूप मशीनें, औजार, रसायन, कच्चा माल आदि भी मँगवाते हैं।

भारतीय विदेशी व्यापार की वस्तुयें (बनावट) (Composition of Foreign Trade of India) –हमारे निर्यात आयात की मुख्य वस्तुयें निम्नलिखित हैं :—

भारतीय विदेशी व्यापार १९५५-५६

(समुद्री, स्थली व वायु-मार्गों द्वारा) (करोड़ रुपयों में)

निर्यात (Exports)		आयात (Imports)	
जूट की बनी वस्तुयें	११८'४	खाद्यान्न दाल व आटा	१७'५
चाय	१०९'२	खनिज तेल आदि	८०'२
		कपास और रद्दी रूई	५७'७
		जूट-कच्चा	१९'३
लोहा व इस्पात तथा अन्य वस्तुयें	२१'६	रासायनिक पदार्थ व औषधियाँ	३७'०
वनस्पति जन्य तेल	३९'३	बिजली का सामान तथा यन्त्र	१५'५
कपास और रद्दी रूई	३९'४	मशीनरी (लोकोमोटिव सहित)	१२०'२
कमायी हुई खालें व चमड़ा	३०'५	लोहा व इस्पात का सामान	६६'५
सूत तथा सूती वस्त्र	६३'५	मोटर गाड़ियाँ	५९'०
अन्य वस्तुएँ	१७५'३	अन्य वस्तुयें	२२४'३
योग ······	५९७'७	योग ··· ···· ···	६८८'७

भारत के निर्यात की मुख्य वस्तुएँ

(१) जूट का माल (Jute Goods)—भारतवर्ष के निर्यात में जूट का प्रथम स्थान है। देश विभाजन के पूर्व जूट के पक्के माल के साथ-साथ जूट का कच्चा माल भी निर्यात किया जाता था। कच्चे जूट पर भारत का एकाधिकार था, क्योंकि संसार का ६०% जूट अखण्ड भारत में पैदा होता था। हमारे कच्चे जूट के मुख्य ग्राहक ब्रिटेन (स्काटलैंड की डंडी मिल), संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, ब्राजील, अर्जेन्टाइना, इटली, बेलजियम, जर्मनी और स्पेन थे। देश-विभाजन के परिणाम स्वरूप भारत के सारे जूट-उत्पादन-क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये जिसके कारण भारत स्वयं कच्चे माल के लिये पाकिस्तान पर निर्भर हो गया। अब मिलों की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए कई राज्यों में जूट की उपज बढ़ाई जा रही है।

भारत में कुल ११२ जूट की मिलें हैं जिनमें से ६७% कलकत्ता और शेष मद्रास, उत्तर प्रदेश आदि में हैं। इन मिलों में जूट के बोरे (Gunny Bags), टाट (Hessians), मोटे कालीन और फर्शपोश, गलीचे तथा रस्से (Cordage) और तिरपाल (Turpuline) आदि बनाये जाते हैं। इन मिलों में १९५५-५६ में १०,२७,२०० टन सामान तैयार किया गया जो सारा-का-सारा विदेशों को भेज दिया गया तथा कुछ पहले स्टाक से भी भेजा गया। भारतीय जूट के सामान के मुख्य खरीदार संयुक्त राज्य अमेरिका (४३%) इङ्गलैंड (१८%), अर्जेन्टाइना (१८%) तथा आस्ट्रेलिया (१८%) हैं। भारत से टाट और बोरे मिश्र, दक्षिणी अमेरिका (ब्राजील और अर्जेन्टाइना), दक्षिणी और पश्चिमी अफ्रीका, जावा, कनाडा, क्यूबा, आस्ट्रेलिया, जर्मनी, इंडोचीन तथा जापान को जाते हैं। जूट के फर्श तथा कुछ बोरे तुर्किस्तान को भी जाते हैं।

वर्तमान समय में जूट के निर्यात पर कई बातों का प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। जैसे अमेरिका में गेहूँ भरने के नये वैज्ञानिक ढंग निकाल लिये गये हैं जिससे वहाँ अब भारत के बोरों की माँग कम हो गई है। इसके अतिरिक्त, कई देशों में जूट की स्थानापन्न वस्तुओं से काम चलाया जाता है। उदाहरण के लिए, न्यूजीलैंड में टिनैक्स (Tenax) नामक रेशे के बोरों में ऊन भरा जाता है। रूस और अर्जेन्टाइना में अलसी के रेशे बोरे बनाने में प्रयुक्त किये जाते हैं। कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका और आस्ट्रेलिया में कागज और कपड़े के बोरे काम में लिये जाने लगे हैं। पूर्वी अफ्रीका में Sisal, मैक्सिको में Herequin, कोलम्बिया में Fique, ब्राजील में कैरोआ (Caroa), स्पेन में एस्पार्टो घास (Esparto Grass) इटली में जूलीटल (Julital) और जावा में रोसैला (Rosella) नामक विभिन्न प्रकार के रेशेदार पदार्थों से बोरे बनाये जाते हैं। परन्तु अभी भारतीय जूट के समान कोई भी पदार्थ लाभदायक सिद्ध नहीं हुआ है।

(२) चाय (Tea)—हमारे देश की निर्यात-सूची में चाय का दूसरा स्थान है। चीन के सिवाय भारत चाय संसार में सबसे अधिक पैदा करता है। भारत में चाय की उत्पत्ति का ५५% आसाम में, २३% पश्चिमी बंगाल में, १७% दक्षिणी भारत में और ३०% उत्तर प्रदेश, बिहार व पूर्वी पंजाब में होता है। भारतवर्ष गर्म देश होने के कारण यहाँ चाय की खपत कम होती है। इसलिए भारतीय चाय की कुल उपज का तीन-चौथाई भाग विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है। भारत की चाय का निर्यात ७०% इङ्गलैंड को, १२% संयुक्त राज्य अमेरिका को, ७% कनाडा को, ५% आस्ट्रेलिया और ४% मध्य पूर्व के देशों को होता है। रूस, ईरान, अरब आदि भारत की चाय के अन्य ग्राहक हैं। ७५% चाय कलकत्ता बन्दरगाह से और २५% चाय मद्रास बंदरगाह से निर्यात की जाती है। सन् १९५८ में १३६·५ करोड़ रुपये की चाय का निर्यात किया गया।

(३) सूत और सूती वस्त्र (Yarn & Cotton Goods)—भारत में सूती कपड़ों की मिलें मुख्यतः बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, मध्य प्रदेश तथा मध्य भारत में हैं। बम्बई व गुजरात राज्य बम्बई और अहमदाबाद नगरों की मिलों में सारे देश के उत्पादन का ३/४ सूत और ३/४ कपड़ा उत्पन्न करते हैं। भारतीय मिलों का सूत मोटा होता है। इसमें अधिकांश सूत ३० नम्बर से कम का होता है। ४० नम्बर से ऊपर का सूत तो बहुत कम बनाया जाता है, क्योंकि भारत में उत्तम और लम्बे रेशे वाली रुई का उपयोग कम किया जाता है तथा जलवायु भी शुष्क है। यद्यपि अच्छे कपड़ों के लिए भारत अब भी विदेशों पर निर्भर है। परन्तु फिर भी देश में तैयार किया हुआ कपड़ा हिन्द महासागर के किनारे वाले देशों—ईरान, ईराक, अरब, पूर्वी अफ्रीका, दक्षिणी अफ्रीका, मिश्र, सूडान, टर्की, चीन, स्ट्रेट्स सैटलमेंट, हिन्द-एशिया, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, लंका आदि देशों को निर्यात किया जाता है। द्वितीय महायुद्ध-काल में जब इङ्गलैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान से इन देशों को कपड़ा मिलना असम्भव हो गया था तभी से भारत ने इन देशों की कपड़े की पूर्ति करना आरम्भ की। इस प्रकार सन् १९३८-३९ में जहाँ २४ करोड़ रुपये के मूल्य का सूती कपड़ा विदेशों को निर्यात किया गया वहाँ सन् १९४९-५० में १८ करोड़ और सन् १९५०-५१ में ११२ करोड़ रुपये का कपड़ा निर्यात हुआ। सन् १९५८ में लगभग ४६·४६ करोड़ रुपये का सूती कपड़ा निर्यात किया गया।

(४) रूई—कच्ची और रद्दी (Raw & Waste Cotton)—भारत में मुख्यतया दो प्रकार की कपास उत्पन्न की जाती है—लम्बे रेशे वाली (Long-staple cotton) जो गुजरात, काठियावाड़ के कुछ भाग, दक्षिणी बम्बई और मद्रास के कुछ भागों में उत्पन्न की जाती है; छोटे रेशे वाली (Short-staple cotton) जो उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बरार, मध्य भारत और राजस्थान में पैदा की जाती है। सारे भारत में २३% लम्बे रेशे वाली, ४०% मध्यम रेशे वाली और १७% छोटे रेशे वाली रूई पैदा की जाती है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारतवर्ष से २४ करोड़ रुपये की रूई जापान, ब्रिटेन, जर्मनी, इटली और बेलजियम आदि देशों को निर्यात की जाती थी। परन्तु युद्ध काल से निर्यात की जाने वाली मात्रा में बहुत कमी हो गई है, क्योंकि देश में ही सूती कपड़ा के कारखानों की वृद्धि हो जाने से कपास की खपत उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। सन् १९४७ में देश विभाजन के परिणाम-स्वरूप लम्बी रेशे वाली कपास के प्रमुख उत्पादन-क्षेत्र पाकिस्तान में चले जाने से भारतवर्ष को उत्तम श्रेणी की कपास विशेषतः मिश्र, सूडान, केनिया, संयुक्त राज्य अमेरिका और पाकिस्तान से आयात करनी पड़ती है। थोड़ी-बहुत मोटे रेशे वाली कपास का निर्यात इङ्गलैंड, अमेरिका, इटली और जापान को होता है। सन् १९५८ में २१·२ करोड़ रुपये की रूई—कच्ची और रद्दी निर्यात की गई।

(५) तेल और तिलहन (Oil & Oilseeds)—तेल-बीज पैदा करने वाले देशों में भारत का प्रमुख स्थान है। भारत में केवल मोंगफली, जैतून और ताड़ के सिवाय सभी प्रकार के तेल बीज पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न किये जाते हैं। भारत में तिलहन की उत्पत्ति के मुख्य क्षेत्र ये हैं—अलसी मध्य प्रदेश में; मूंगफली मद्रास, बम्बई और हैदराबाद। राई उत्तर प्रदेश और पूर्वी पंजाब में; तथा तिल राजस्थान और सारे दक्षिणी भारत में। पहले तेल बीजों का निर्यात अधिक मात्रा में किया जाता था परन्तु अब देश में ही तेल निकालने के कारण केवल खली ही अधिक मात्रा में निर्यात की जाने लगी है। सन् १९५६ में १७·५ करोड़ रुपये का तेल एवं तिलहन निर्यात किये गये थे। भारत से मूंगफली का निर्यात फ्रांस, बेलजियम, आस्ट्रिया, फ्रांस, हंगरी, जर्मनी, इटली और इंगलैंड को होता है। अलसी इटली, फ्रांस, हॉलैंड, बेलजियम और इङ्गलैंड को भेजी जाती है। भारत से तिल का तेल इङ्गलैंड, मारीशस, अरब, लंका, फीजि मिश्र, जर्मनी, बेलजियम और इटली को भेजा जाता है। रेंडी और रेंडी का तेल फ्रांस संयुक्त राज्य अमेरिका, इटली, जर्मनी, स्पेन, कनाडा और बेलजियम को निर्यात किया जाता है।

(६) चमड़ा—कच्चा और कमाया हुआ (Hide & Skins—Raw and Tanned)—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत से पर्याप्त मात्रा में कच्चा चमड़ा विदेशों को निर्यात किया जाता था परन्तु युद्ध-काल में जहाज आदि के उपलब्ध न होने की कठिनाई के कारण यह मात्रा कम हो गई। इसके अतिरिक्त, भारत में ही चमड़ा कमाने के कारखानों की स्थापना हो चुकी है, इसलिए कमाया हुआ चमड़ा ही अधिक मात्रा में निर्यात किया जाने लगा है। भारत के चमड़े की अधिक मांग इंगलैंड, अमेरिका, जर्मनी और फ्रांस में है। सन् १९५८ में कमाया हुआ चमड़ा लगभग १८·६३ करोड़ रुपये का और कच्चा चमड़ा लगभग ७·१७ करोड़ रुपए का निर्यात किया गया था।

(७) तम्बाकू (Tobacco)—संसार में तम्बाकू पैदा करने वाले देशों में भारत का दूसरा स्थान है। भारतवर्ष में तम्बाकू मुख्यत बिहार, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, मद्रास, मैसूर और बम्बई राज्यों में उत्पन्न की जाती है। तम्बाकू की उपज का भारत में ५० प्रतिशत बीडी सूँघनी सिगरेट तथा चुरट के रूप में खप जाता है। शेष तम्बाकू कलकत्ता, मद्रास तथा बम्बई बन्दरगाहों से इङ्गलैंड, अदन, जापान, बेलजियम और नीदरलैंड को निर्यात की जाती है। सन् १९५८ में भारत से लगभग १४ ७ करोड़ रुपय की तम्बाकू निर्यात की गई थी।

(८) खनिज पदार्थ (Minerals)—संसार में सबसे अधिक अभ्रक (Mica) भारत में होता है। सारे संसार का आधा अभ्रक यहीं पर निकलता है। इसी प्रकार मैंगनीज जो लोह और इस्पात बनाने के काम में आता है, यहाँ पर अधिक पाया जाता है। इसमें रूस के बाद भारत का दूसरा स्थान है। अधिकांश अभ्रक और मैंगनीज दूसरे देशों को निर्यात किया जाता है जिनमें अमरिका, इंगलैंड, कनाडा, जर्मनी और जापान मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त, कच्चा लोहा तथा अन्य औद्योगिक धातुएँ भारत से विदेशों को निर्यात की जाती हैं।

निर्यात की अन्य वस्तुएँ—इनके अतिरिक्त, भारत से लाख, तरकारी व मछली ऊन तथा ऊनी माल, रबड़ का सामान, गोंद, लाख, कहवा, मसाले, शक्कर आदि निर्यात की कुछ अन्य वस्तुएँ हैं।

भारत सरकार की निर्यात-सम्बन्धी नीति—(Export Policy of the Government of India)—भारत सरकार निर्यात में वृद्धि के लिए चिन्तित थी। अत उसने सन् १९४९ में 'गोरवाला निर्यात प्रोत्साहन समिति' (Gorwala Export Promotion Committee) की नियुक्त की और उसकी सिफारिशों को कार्यान्वित किया गया। सरकार ने निर्यात नियन्त्रण-नीति के विषय में सम्मति देने के लिये एक 'परामर्शदात्री परिषद्' (Advisory Council) की भी स्थापना की। प्रत्येक ६ मास बाद निर्यात नीति का सिंहावलोकन किया जाता है और प्रचलित अवस्थाओं एवं वस्तुओं के अनुसार वस्तुओं के निर्यात पर रोक लगाई जाती है या प्रोत्साहन दिया जाता है। सरकार दुर्लभ करेंसी क्षेत्र (Hard Currency Area) को अधिकतम माल निर्यात करने का प्रयत्न कर रही है ताकि देश के लिये आवश्यक वस्तुओं का आयात सुविधा-पूर्वक हो सके। अदला बदली के आधार पर सरकार द्वारा समय समय पर व्यापारिक समझौते भी किये जाते हैं।

भारत के आयात की मुख्य वस्तुएँ

(१) खाद्यान्न (Food grains)—द्वितीय महायुद्ध से पूर्व भारत विदेशों को खाद्यान्न का निर्यात करता था और ब्रिटेन, फ्रान्स, जर्मनी, जापान, लंका, ईरान, मलाया आदि खाद्यान्न के ग्राहक थे परन्तु द्वितीय महायुद्ध-काल में और उसके पश्चात् अब तक भारतवर्ष विदेशों से खाद्यान्न मँगाता रहा है। देश विभाजन के पश्चात् तो भारत को खाद्यान्न अधिक मात्रा में मँगाना आवश्यक हो गया है। सन् १९५१ ५२ में ४७ ६ लाख टन खाद्यान्न (लगभग २३० करोड़ रुपये का) आयात किया गया। देश में खाद्य-पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि करने की कई योजनायें बनाई गई और इसके परिणाम-स्वरूप सन् १९५२-५३ में १५६ करोड़ रुपये का ही खाद्यान्न तथा आटा आयात किया गया। आशा है कि भविष्य में इसमें भी कम आयात करना पड़ेगा।

खाद्यान्न का आयात अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, वर्मा, अर्जेन्टाइना आदि देशों से किया जाता है। सन् १९५८ में १०३'२ करोड़ रु० का खाद्यान्न ही आयात किया गया।

(२) मशीनें (Machinery)—भारत को कृषि-प्रधान देश होने के कारण मशीनों, कल-पुर्जों आदि के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। देश के औद्योगीकरण के फलस्वरूप अधिक मात्रा में मशीनों का आयात करना आवश्यक है, परन्तु अर्थाभाव के कारण और मशीनों के दाम बहुत ऊँचे होने के कारण पर्याप्त मात्रा में आयात नहीं किया जा सका है। मशीनों का आयात मुख्यतः अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम, जापान आदि देशों से होता है। अधिक-से-अधिक ट्रैक्टर संयुक्त राज्य अमेरिका से आते हैं। सन् १९४७-४८ में ५९ करोड़ रुपए की मशीनों का आयात किया गया। तब से मशीनों के आयात में निरन्तर वृद्धि हो रही है और सन् १९५१-५२ में १०४ करोड़ रुपयों की मशीनों का आयात किया गया। परन्तु सन् १९५२-५३ में इनका आयात ८६ करोड़ रुपयों का ही किया जा सका। सन् १९५८ में १४० करोड़ रु० की मशीनों का आयात किया गया।

(३) रुई (Cotton)—देश विभाजन के परिणाम-स्वरूप भारत में रुई पैदा करने वाले कुछ क्षेत्र पाकिस्तान को चले गये तथा भारत में लम्बे रेशे की रुई का भी काफी अभाव है। इसलिए भारत को विदेशों से रुई मँगानी पड़ती है। रुई विशेषतः मिश्र, केनिया सूडान, पाकिस्तान, और संयुक्त राज्य अमेरिका से आयात की जाती है। सन् १९५२-५३ में लगभग ७६३ करोड़ रुपये की रुई आयात की गई और सन् १९५६ में ५३६ करोड़ रु० की रुई आयात की गई।

सूती कपड़े—ब्रिटेन, जापान, चीन, स्विट्जरलैंड, हॉलैंड, फ्रांस, इटली और जर्मनी से आते हैं किन्तु हमारे मुख्य विक्रेता ब्रिटेन और जापान हैं।

(४) मोटर गाड़ियाँ आदि (Motor Cars etc)—गत महायुद्ध के पश्चात् आयात सूची में मोटर-गाड़ियों का ऊँचा स्थान है। मोटर गाड़ियाँ, साइकिलें आदि भारत में मुख्यतः ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, इटली और जर्मनी से आती हैं। सन् १९५६ में १७'४२ करोड़ का आयात हुआ।

(५) पैट्रोल (Petrol)—भारत में खनिज तेल की बहुत कमी है। मिट्टी का तेल तथा पैट्रोल का आयात बर्मा, चीन, बोर्नियो, सुमात्रा, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ईरान से किया जाता है। सन् १९५८ में १५'५४ करोड़ रुपये के मूल्य का पैट्रोल विदेशों से मँगाया गया था।

(६) रासायनिक पदार्थ एवं दवाइयाँ (Chemicals and Medicines) ये पदार्थ ब्रिटेन, जापान, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका आदि से आयात किए जाते हैं। सन् १९५६ में इनका आयात ४१ करोड़ रु० का हुआ।

(७) लोहा, इस्पात तथा उनकी बनी वस्तुएँ —हमारे यहाँ लोहे का सामान मुख्यतः ब्रिटेन, अमेरिका, बेल्जियम, फ्रांस और जापान से आता है। सन् १९५८ में लोहा, इस्पात तथा उनकी बनी वस्तुएँ ६७ ८ करोड़ रुपये की आयात की गई थीं।

(८) कागज (Paper)—भारत में कागज ब्रिटेन, नार्वे, स्वीडन, संयुक्त राज्य अमेरिका और जर्मनी से आयात किया जाता है। सन् १९५८ में ८ करोड़ रुपए का कागज आयात किया गया।

अन्य आयात की वस्तुएं—अन्य वस्तुएं जो भारत में आयात की जाती है वे है—यत्र-उपकरणादि, बिजली का समान, रग, मशीनो का तेल, कृत्रिम रेशम, विसायतसान का समान, ऊन और ऊनी माल, फल व तरकारियाँ, रबर का सामान, धातुएँ, कटलरी एव हार्डवेयर आदि।

दृश्य (Visible) एव अदृश्य (Invisible) आयात निर्यात—दृश्य आयात-निर्यात वे है जिनके आँकडे (Statistics) आयात-निर्यात कर-विभाग के लेखों (Customs Returns) या अन्य प्रकाशित पत्रों में उपलब्ध हैं। परन्तु कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं जो प्रकाशित लेखो तथा आँकडो मे सम्मिलित नही होती है, उनके आयात निर्यात को अदृश्य आयात-निर्यात कहते हैं। भारत के दृश्य आयात निर्यात की सूची ऊपर दी जा चुकी है। अब यहाँ भारत के अदृश्य आयात निर्यात का विवेचन किया जाता है।

भारतवर्ष के अदृश्य आयात

(Invisible Imports of India)

१. भारत जब विदेशों से ऋण लेता है, तो वह विदेशी ऋण के उपयोग का अदृश्य आयात करता है।

२. विदेशों से ऋण लेते समय भारत को प्रतिभूतियाँ (Securities) जमा करानी पड़ती है जोकि ऋण के भुगतान के समय वापिस हो जाती है। तब भारत अदृश्य प्रतिभूतियों का आयात करता है।

३. भारतीय यात्री जो विदेशों को जाते हैं और वहाँ जो रुपया व्यय करते हैं और उसके बदले मे जो सेवाएं वे प्राप्त करते हैं, वे भारत के अदृश्य आयात मे सम्मिलित हैं।

४. भारतीय विद्यार्थियों के अध्ययन के लिये जो धन भेजा जाता है तथा जिसके बदले मे जो सेवाएँ प्राप्त होती हैं, वे भारत का अदृश्य आयात हैं।

५. विदेशी जहाजी, बैंक तथा बीमा कम्पनियाँ जो अपनी सेवाएँ भारत के लिए प्रस्तुत करती हैं, वे भी भारत को अदृश्य आयात है।

६. भारत विदेशी साहस को आयात करता है तथा उसे विदेशी साहसियो को पारितोषक के रूप मे कुछ देना पडता है। अतः साहसियों द्वारा प्रस्तुत सेवाओं का अदृश्य आयात होता है।

७. भारत सरकार को पेन्शन के रूप में अथवा विदेशो से जो माल क्रय किया जाता है, उसके लिये या सोना चाँदी के लिए 'होम चार्जेज' देने पडते हैं—ये भी अदृश्य आयात होते है।

भारत के अदृश्य निर्यात

(Invisible Exports of India)

१. जब विदेशी ऋण का भुगतान किया जाता है, तो प्रतिभूतियों का निर्यात करते हैं।

२. विदेशी यात्रियो द्वारा भारत मे प्रस्तुत सेवाओं के बदले मे व्यय करना भारत का अदृश्य निर्यात है।

३. विदेशियो द्वारा भारत मे स्थित मिशन आदि संस्थाओं के सहायतार्थ भेजा गया धन भारत का अदृश्य निर्यात है।

भारत के विदेशी व्यापार की दिशा (Direction of India's Foreign Trade)—व्यापार की दिशा से हमारा अर्थ यह होता है कि भारत का वैदेशिक व्यापार किन किन देशों से होता है तथा उन देशो से भारत क्या खरीदता है अथवा बदले मे क्या देता है।

निम्न तालिका मे भारत को समुद्र व वायुमार्गीय विदेशी व्यापार की दिशा बताई गई है :—

सन् १९५८

देश	आयात (लाख रुपयों में)	निर्यात (लाख रुपयों में)
ब्रिटेन	१६८,५३	१६५,२४
सयुक्त-राज्य अमेरिका	१६१,४६	९२,५६
आस्ट्रेलिया	१५,३२	२१,३७
कनाडा	६८४	१४ ५४
फ्रांस	१६,९६	७,०६
इटली	२५,५७	५,५०
जर्मनी (पश्चिम)	९३,९५	१४,७०
नीदरलैंड	९,८२	६,७२
सोवियट रूस	२१,७१	१३,३१
अर्जेन्टाइना	७	९,२५
बर्मा	४५,५४	७,४८
पाकिस्तान	६,२८	७ १२
लका	१०,४५	१९,७५
जापान	३९,६६	२५,७७
मिश्र	६,२४	८,६३

व्यापार का अन्तर या सन्तुलन (Balance of Trade)—विदेशों से आयात किये हुए माल तथा देश से निर्यात किये हुए माल के अन्तर को व्यापार का अन्तर या व्यापार-सतुलन कहते है। दूसरे शब्दो मे, दृश्य आयात और दृश्य निर्यात का अन्तर व्यापार का अन्तर कहलाता है। यदि देश का निर्यात उसके आयात से अधिक है, तो उसे अनुकूल व्यापार का अन्तर (Favourable Balance of Trade)

कहेंगे, और यदि निर्यात से आयात अधिक है, तो उसे प्रतिकूल व्यापार का अन्तर (Unfavourable Balance of Trade) कहेंगे। द्वितीय महायुद्ध काल से पूर्व भारत का व्यापार का अन्तर सामान्यतया अनुकूल रहता था, परन्तु आजकल यह प्रतिकूल ही रहता है, क्योंकि भारत को बडी मात्रा में खाद्यान्न आयात करना पडता है। केवल सन् १९५०–५१ में यह अनुकूल हो गया था। नीचे की तालिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है —

(करोड रुपया में)

वर्ष	आयात	निर्यात	व्यापार का अन्तर
१९४९–५०	५९४'३२	४८५'३३	– १०८ ९९
१९५०–५१	५६५'४६	५८६'८८	+ २१'४२
१९५१–५२	८६२ ८४	७१५'५६	– १४७'२८
१९५२–५३	६३२'९५	५५६'७८	– ७६'१७
१९५४–५५	६८६ २६	५९३ ५४	– ९२'७२
१९५८–५८	९२७ १९	६३७'४३	– २८९ ७६
१९५८–५९	८५६'१८	५८०'३०	– २७५'८८

भुगतान का अन्तर (Balance of Payment)—दृश्य एवं अदृश्य आयात निर्यात का हिसाब लगाने के पश्चात् जो व्यापार का अन्तर निकलता है, उसे भुगतान का अन्तर या खाते का अन्तर (Balance of Accounts) कहते हैं। यदि देश को भुगतान के समय कुछ मिलता है, तो इसे अनुकूल भुगतान या खाते का अन्तर कहेंगे और यदि देश को कुछ देना होता है, तो इसे प्रतिकूल भुगतान या खाते का अन्तर कहेंगे। इस प्रतिकूल भुगतान या खाते के अन्तर को ऋणदाता का अन्तर (Balance of Indebtedness) भी कहते है, क्योंकि देश ने जो विदेशों से उधार माल खरीदा उसका अब मूल्य चुकाना है।

खाते के अन्तर का निपटारा—यदि खाते का अन्तर किसी देश के अनुकूल होता है, तो वह सोना मँगा कर या ऋण देकर निबटारा या भुगतान कर लेता है। इसके विपरीत, यदि खाते का अन्तर प्रतिकूल हुआ, तो सोने का निर्यात करके या विदेशों से ऋण लेकर उसका निबटारा या भुगतान कर दिया जाता है।

व्यापारिक समझौते—अप्रैल १९५७ के बाद से अब तक १२ देशों के साथ हुए व्यापारिक समझौता को नवीकृत किया गया और अफगानिस्तान, चेकोस्लोवाकिया, जापान, यूनान तथा श्री लंका के साथ नये समझौतों पर हस्ताक्षर किये गये। इथोपिया, जापान तथा यूनान के साथ व्यापारिक समझौते पहली बार हुए। भारत तथा २६ देशों के बीच व्यापारिक समझौते पहले से ही हो रखे हैं।

सरकार की व्यापार नीति—निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन देने के हेतु सरकार विभिन्न वस्तुओं के लिये ८ निर्यात प्रोत्साहन परिषद् स्थापित कर चुकी है। 'सूती वस्त्र प्रोत्साहन परिषद्' की ओर से एक प्रतिनिधि मण्डल विक्रय सम्बन्धी परिस्थि-

तियों के अध्ययन के लिये विदेश की यात्रा पर गया। इस परिषद ने सूती वस्त्र के निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए दक्षिण पश्चिम एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में अपनी शाखायें भी खोल दी हैं। भारत अन्तर्राष्ट्रीय मेला में भी भाग लेता आ रहा है।

राज्य व्यापार निगम (State Trading Corporation)—मई १९५६ में १ करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी से एक सरकारी सगठन के रूप में राज्य व्यापार निगम की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य, विदेशों के साथ होने वाले भारत के व्यापार की कमियों को पूरा करके व्यापार को सगठित करना है। स्थापित होने के बाद से ही यह निगम नियन्त्रित अर्थ-व्यवस्था वाले देशों के साथ भारत के निर्यात व्यापार में विस्तार करने का प्रयास कर रहा है जिससे भारत के पौण्ड-पावने पर कुछ भी प्रभाव डाले बिना इन देशों से इस्पात, सीमेंट तथा औद्योगिक उपकरण आदि प्राप्त किये जा सकें। सीमेंट, सोडाभस्म, कास्टिक सोडा, कच्चा रेशम, उर्वरक तथा जिप्सम जैसी वस्तुयें सस्ते मूल्य पर पहले से ही खरीद चुका है। निगम ने जिन वस्तुओं के निर्यात के सम्बन्ध में व्यवस्था की है, उनमें कच्चे खनिज पदार्थ, जूते तथा दस्तकारी की वस्तुयें आदि हैं।

योजना और विदेशी व्यापार—द्वितीय पचवर्षीय योजना में निर्यात बढ़ाने पर बल दिया गया है और सन् १९६०–६१ तक इसके लिये निम्न लक्ष्य निर्धारित किये हैं :—

जूट का सामान ९ लाख टन, स्टील २ से ३ लाख टन, मैंगनीज १ लाख टन, नमक ३ लाख टन, वनस्पति २० से २५ हजार टन, स्टार्च १० हजार टन, कोक ३० हजार टन, टिटेनियम एक हजार से बारह सौ टन, सूती कपड़ा एक हजार से ग्यारह सौ मिलियन गज, रेशम १० मिलियन गज, बाइसिकलें डेढ़ लाख और इजीनियरिंग का सामान ३ से ५ करोड़ रु० के मूल्य का।

विदेशी व्यापार से लाभ (Advantages of Foreign Trade)—(१) विदेशी व्यापार से प्रत्येक देश को वे वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं जिनका वह स्वय उत्पादन नहीं कर सकता। यदि विदेशी या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होता, तो यूरोप के समस्त देश चाय बिना तड़पते। यदि बर्मा चावल देना बन्द करदे, तो भारत बिना चावल के रह जाय। (२) विदेशी व्यापार से देश के प्राकृतिक साधनों एव शक्तियों का यथेष्ट विकास और उपयोग सम्भव होता है। (३) विदेशी व्यापार का मुख्य आधार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन है। अत श्रम विभाजन से जो लाभ होते हैं, वे भी सब उपलब्ध हो जाते हैं। (४) विदेशी व्यापार प्रत्येक देश को अपनी योग्यतानुसार उत्पादन करने का अवसर प्रदान करता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक देश केवल उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनके लिये उस देश में सब साधन हैं तथा जो वहाँ कम लागत पर उत्पादित की जा सकती है। (५) विदेशी व्यापार से राष्ट्रों के मध्य विनिमय होता है उससे उनको उपयोगिता का लाभ होता है। (६) विदेशी व्यापार से बड़े परिमाण के उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है जिससे कम लागत पर वस्तुओं का उत्पादन सम्भव हो जाता है। इसके परिणाम-स्वरूप उपभोक्ताओं को सस्ते मूल्य पर वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं। (७) विदेशी व्यापार से लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा उठता है, क्योंकि नई-नई वस्तुयें उपभोग करने के लिये मिलती हैं। नई-नई वस्तुओं की माँग बढ़ने से विदेशी व्यापार में वृद्धि होती है। (८) विदेशी व्यापार की उन्नति से बाजारों और मडियों का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है जिससे बड़े परिमाण के उत्पादन को यथेष्ट प्रोत्साहन मिलता है।

(९) विदेशी व्यापार के कारण किसी वस्तु की न्यूनता का शीघ्र अनुभव नहीं होता तथा देश की दुर्भिक्षों से रक्षा भी की जा सकती है। (१०) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उत्पादन में विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन प्रदान करता है। विशेषज्ञ देश कुछ ही वस्तुओं का उत्पादन कर उनको निर्यात करेगा जिसमें उस देश की उत्पादन शक्ति में वृद्धि होगी और वहाँ औद्योगिक उन्नति होगी। (११) विदेशी व्यापार एकाधिकार-उत्पादन पर एक रोक है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों में स्थिरता रहती है। (१२) विदेशी व्यापार में वृद्धि करने के लिए देश के आन्तरिक भागों में यातायात के साधनों की उन्नति को प्रोत्साहन मिलता है जिससे देश के आन्तरिक भागों में वस्तुओं के मूल्य में स्थिरता रहती है। (१३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्रत्येक देश एक-दूसरे के सम्पर्क में आ जाता है। अतः परस्पर विचार-विनिमय के कारण उनकी आर्थिक, नैतिक एवं सामाजिक उन्नति सम्भव हो जाती है। (१४) विदेशी व्यापार से प्रत्येक देश को लाभ पहुँचता है (यदि वे सब समानता के आधार पर व्यापार करते हैं) और परस्पर प्रेम बढ़ता है। देशों का पारस्परिक प्रेम युद्ध की सम्भावना को प्रभावहीन कर देता है तथा विश्व में शान्ति स्थापित रखने में सहायता प्रदान करता है। इस प्रकार विदेशी व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का आधार है।

विदेशी व्यापार की हानियाँ (Disadvantages)—विदेशी व्यापार के अन्तर्गत बाजार बहुत विस्तृत हो जाता है जिससे कभी कभी माँग का सही अनुमान नहीं लगता और उत्पादन माँग से अधिक हो जाता है। अत्यधिक उत्पादन से देश और उत्पादक दोनों को ही हानि उठानी पड़ती है। (२) विदेशी सामान को देश में बड़ी मात्रा में आयात करने से गृह उद्योग धन्धों की उन्नति में धक्का पहुँचता है। (३) हानिकारक वस्तुओं के आयात से जो देश को हानि पहुँच सकती है उसका अनुमान भली भाँति लगाया जा सकता है। (४) उत्पादन अधिक होने रहने से देश के प्राकृतिक साधनों के शीघ्र ही समाप्त हो जाने का भय रहता है, जैसे कोयला, लोहा आदि की खान (५) निर्यात से आयात अधिक होने पर प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन हो जाता है जो देश को हानिकारक सिद्ध होता है। (६) विदेशी व्यापार से तब ही लाभ हो सकता है जबकि दोनों व्यापार करने वाले देश समानता के आधार पर व्यापार करते हैं, अन्यथा एक को लाभ और दूसरे को हानि होगी। (७) उन देशों में जो कृषि प्रधान हैं, विदेशों से खाद्यान्न अधिक आ जाने से उत्पत्ति ह्रास-नियम पर जो प्रभाव पड़ता है, वह देश के लिये हानिकारक सिद्ध होता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भारत के विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताएँ (Special Features) क्या हैं? भारत के निर्यात तथा आयात की मुख्य वस्तुएँ बतलाइए।

२—भारत के आयात और निर्यात की मुख्य वस्तुओं का उल्लेख कीजिए। पिछले दस वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार में क्या-क्या मुख्य परिवर्तन हुए हैं?

३—भारत में आयात और निर्यात का विवरण दीजिए। पिछले कुछ वर्षों में भारत का निर्यात इतना कम क्यों हो गया है?

४—भारतीय विदेशी व्यापार के मुख्य आयात और निर्यात पदार्थ क्या है ? इनमे प्रत्येक के सापेक्ष का विवेचन कीजिये।

५—भारत के आयात-निर्यात व्यापार की प्रधान विशेषताएँ क्या है ? आजकल विदेशो से खाद्य पदार्थ और वस्त्र मँगाने मे भारत को क्या कठिनाइयाँ है ?

६—व्यापाराधिक्य (Balance of Trede) और ऋणाधिक्य (Balnce Indebtedness) मे भेद स्पष्ट कीजिए। भारत के निर्यात तथा आयात के प्रमुख मद कौन-से हैं ? (नागपुर १६५८)

७—वैदेशिक व्यापार के आर्थिक लाभ स्पष्टतया समझाइए। क्या आपकी राय मे किसी देश के लिए वैदेशिक व्यापार हमेशा लाभदायी हुआ करता है ? (नागपुर १६५७)

८—'भुगतान का अन्तर' से क्या तात्पर्य है ? स्पष्ट कीजिए। (नागपुर १६४६)

६—भारत के विदेशी व्यापार के प्रधान लक्षण क्या हैं ? द्वितीय महायुद्ध के बाद इनमे क्या परिवर्तन हुए हैं ? (सागर १६५६, ५१)

१०—'व्यापार-सन्तुलन' से क्या तात्पर्य है ? क्या विदेशी व्यापार से किसी देश को लाभ होते हैं ? (सागर १६४६)

११—विदेशी आयात किए हुए माल का दाम कोई व्यापारी किस प्रकार अदा करता है ? (पटना १६५२)

१२—'व्यापार का अन्तर' और 'भुगतान का अन्तर' मे क्या भेद है ? स्पष्ट कीजिये। (पजाब १६४६)

१३—टिप्पणियाँ लिखिए :—

भारत का अन्तर्देशीय व्यापार	(रा० बो० १६६०)
व्यापाराधिक्य	(नागपुर १६५७)
ऋणाधिक्य (Balance of Indebtedness)	(नागपुर १६५६)
अनुकूल और प्रतिकूल व्यापार का सन्तुलन	(सागर १६५७)

१४—भारत के मुख्य आयात और निर्यातो का उल्लेख कीजिए। भारत का भीतरी व्यापार अथवा विदेशी व्यापार अधिक महत्वपूर्ण है ? (दिल्ली हा० से० १६४६)

१५—भारत के भीतरी व्यापार की व्यवस्था का वर्णन कीजिए। (दिल्ली हा० से० १६४७)

वितरण

(DISTRIBUTION)

"अर्थशास्त्रीय वितरण यह बताता है कि समाज द्वारा उत्पादित धन उत्पत्ति के साधनो अथवा साधनो के स्वामियो मे उन्होंने उत्पादन मे सक्रिय भाग लिया है, किस प्रकार बांटा जाता है"

—सर सिडनी चैपमैन

अध्याय ५६

वितरण की समस्या

(Problem of Distribution)

वितरण शब्द का अर्थ—वितरण शब्द का भिन्न भिन्न प्रयोगों में भिन्न-भिन्न अर्थ होता है। साधारण बोल चाल की भाषा में वितरण शब्द का अर्थ 'बंटन' या 'बंटवारा' से होता है। व्यापारिक भाषा में वितरण शब्द से आशय वस्तुओं के विक्रय से है। थोक तथा फुटकर विक्रेता, यातायात व सम्वाद के साधन आदि माल के वितरण अर्थात् वस्तुओं को निर्माताओं या उत्पादकों से उपभोक्ताओं तक पहुँचाने में बड़े सहायक हैं। इसलिये इन्हें वितरण के साधन (Distributive Agencies) कहते हैं। अर्थशास्त्रीय अर्थ में 'संयुक्त रूप से उत्पादित धन को उत्पादन करने वाले समस्त साधनों में बाँटने की क्रिया को वितरण कहते हैं।"

प्रो० चैपमैन ने लिखा है कि 'वितरण का विषय उत्पादन के साधनों के मध्य उनके द्वारा ही उत्पन्न की गई सम्पत्ति को बांटना है, क्योंकि इसमें उनका प्रमुख हाथ रहता है।" प्रो० सैलिगमैन के अनुसार "उत्पन्न की हुई सम्पत्ति को उत्पादन के विभिन्न साधनों में बाँटने की क्रिया का ही नाम वितरण है।"[1] अतः वितरण द्वारा प्राप्त सम्पत्ति प्रत्येक साधन के लिए पारिश्रमिक (Earnings) है न कि आय (Income)।

वितरण—अर्थशास्त्र के विभाग के रूप में (Distribution—as a department of Economics)—उपभोग, उत्पादन और विनिमय की भाँति वितरण भी अर्थशास्त्र का एक विभाग है। 'इसके अन्तर्गत हम उन सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं जिनके अनुसार किसी विषम औद्योगिक संगठन की संयुक्त उत्पत्ति उन व्यक्तियों में बाँटी जाती है जो उसके प्राप्त करने में सहायक होते हैं।"[2]

आधुनिक समय में उत्पत्ति संयुक्त रूप में की जाती है। भूमि, श्रम, पूँजी, संगठन और साहस उत्पादन के पाँच साधन हैं। ये सब मिलकर अपने संयुक्त प्रयत्नों द्वारा धन का उत्पादन करते हैं। उत्पत्ति इन सब की ही सम्पत्ति है,अस्तु, इन सब में उत्पत्ति का न्यायपूर्ण बँटवारा ही 'वितरण' कहलाता है।

अब प्रश्न यह प्रस्तुत होता है कि यह वितरण किस प्रकार किया जाय, अर्थात्

1—All wealth that is created in society finds its way to the final disposition of the individual through certain channels or sources of income This process is called distribution —*Seligman*

2—Wicksteed *The Commonsense of Political Economy* P 359

कैसे उत्पत्ति के साधनों का पारिश्रमिक निर्धारित किया जाय। इसका सीधा उत्तर यह है कि जिसने जितना काम किया उसको उसी अनुपात से उत्पत्ति का भाग मिलना चाहिये। इस प्रश्न को सरल करना कि किस साधन ने कितना कार्य किया अत्यन्त कठिन है। पूँजीपति कहता है कि मैंने अधिक महत्व का कार्य किया है, श्रमिक कहता है कि सारा श्रेय मुझको ही है और साहसी कहता है कि यदि मैं साहस न करता, तो उत्पादन होता ही नहीं। इस प्रकार सब ही साधन अपने अपने कार्य को ही महत्व देते हैं। वास्तव में देखा जाय तो महत्व तो सब ही का है, आवश्यकता सब ही की है और सबके संयुक्त प्रयत्नों से ही उत्पादन होता है। परन्तु प्रश्न यह है कि इनमें से प्रत्येक के महत्व का निर्णय कैसे किया जाय। दूसरे शब्दों में, आधुनिक समय में धन का वितरण किन सिद्धान्तों पर निर्भर है तथा कौन से सिद्धान्त उचित और न्यायपूर्ण हैं आदि वितरण-सम्बन्धी अनेक बातों का अध्ययन अर्थशास्त्र के वितरण विभाग में किया जाता है। अतः वितरण उन सिद्धान्तों का विवेचनात्मक, आलोचनात्मक तथा रचनात्मक अध्ययन है जिनके अनुसार उत्पत्ति के विभिन्न साधकों में धन का वितरण किया जाता है।[1]

वितरण—एक आर्थिक क्रिया के रूप में (Distribution—as an Economic act)—जब संयुक्त प्रयत्नों द्वारा उत्पादित धन को उत्पादन में भाग लेने वाले विविध साधनों में किसी रीति के अनुसार बाँटा जाता है, तो वितरण एक आर्थिक क्रिया सम्पन्न करते हुए कहा जाता है। इस प्रकार वितरण एक आर्थिक क्रिया भी है।

वितरण की समस्या का प्रादुर्भाव (Origin of the Problem of Distribution)—प्राचीन समय में उत्पादन-प्रणाली बहुत ही सरल थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने उपभोग की सभी वस्तुएँ स्वयं ही तैयार करता था। उत्पादन कार्य में जिन साधनों की आवश्यकता होती थी वह अपने आप ही जुटाता था। उस समय श्रम का विभाजन बहुत कम हुआ था, इसलिए लोग स्वयं उत्पादन कर स्वयं उसका मूल्य पा जाते थे। गाँव का रहने वाला चमार जूता अपने आप या अपने कुटुम्ब के सदस्यों की सहायता से बनाता था और उसे स्वयं बेचकर मूल्य भी अपने पास रखता था। किसी के हाथ बँटवारा नहीं करना पड़ता था। इसलिए वितरण की समस्या का प्रश्न ही नहीं उठता था। परन्तु जैसे जैसे समाज की उन्नति हुई वैसे-वैसे श्रम विभाजन तथा उत्पादन का परिमाण भी विस्तृत होता गया जिससे उत्पादन-प्रणाली भी जटिल होती गई। औद्योगिक क्रान्ति ने तो हमारी उत्पादन प्रणाली में आधारभूत परिवर्तन कर दिया। अब उत्पादन सामूहिक रूप में, बड़े परिमाण तथा जटिल श्रम-विभाजन में होने लगा जिसके कारण वितरण की समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित हो गई। आज की उत्पादन प्रणाली में जूते का एक जोड़ा एक मनुष्य द्वारा नहीं बनाया जाता है बल्कि उसके उत्पादन में भू-स्वामी, श्रमिक, पूँजीपति, संगठनकर्त्ता

1—Distribution may, therefore, be described as the descriptive, critical and constructive study of the principles according to which wealth is distributed amongst the different Agents of Production

An Outline of the Principles of Economics—*James*, Ch XIII.

तथा साहसी सभी मिलकर सयुक्त रूप मे काम करते हैं। यह स्वाभाविक है कि जो वस्तु कई मनुष्यो के श्रम एव योग से बनी हो उसके मूल्य का वितरण करना कठिन हो जाता है। इसलिए वर्तमान आर्थिक समाज मे न्यायोचित वितरण की समस्या हमारे सम्मुख है।

वितरण मे सघर्ष (Conflict in Distribution)—आधुनिक सयुक्त उत्पादन प्रणाली मे प्रत्येक उत्पादन साधन अपने कार्य एव योग को दूसरे से अधिक महत्वपूर्ण समझता है। भूमिपतियो (Landlords) का दावा है कि उन्हे उत्पत्ति का बडा भाग मिलना चाहिए, क्योकि वे उत्पादन के लिये प्राकृतिक साधनो को प्रदान करते हैं जिनके बिना उत्पादन सम्भव नही है। श्रमिक (Labourers) का दावा है कि उन्हे उत्पादन का अधिक से अधिक भाग मिलना चाहिये, क्योकि वे कच्चे माल को पक्के माल का रूप देते है तथा उत्पादन-प्रणाली के चालक हैं। पूँजीपतियो (Capitalists) का कहना है कि वे पूँजी देकर बड़े परिमाण के उत्पादन को सम्भव बनाते हैं, अत वे सबसे बडे भाग के अधिकारी हैं। प्रबन्धकों या सगठनकर्त्ताओ (Organisers) के अनुसार उत्पत्ति की कार्यक्षमता उन्ही के श्रम पर आश्रित है, इसलिए उन्हे उच्चतम पुरस्कार मिलना चाहिये। इसी प्रकार साहसियो (Enterprisers or Entrepreneurs) का दावा है कि उत्पादन की सारी जोखिम वे झेलते है, अत उन्हे उत्पादन का बडा भाग मिलना चाहिये। इस प्रकार उत्पादन साधको के स्वार्थों मे प्रबल सघर्ष है। इसी कारण वितरण अर्थशास्त्र का सबसे विवाद-ग्रस्त विषय बन गया है।

अर्थशास्त्र मे वितरण के अध्ययन का महत्व (Importance of Study of Distribution in Economics)—वितरण अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। इसका अध्ययन बहुत आवश्यक है और साथ ही-साथ मनोरजक एव रुचिकर भी है। हम सब किसी न-किसी रूप मे धनोत्पत्ति मे हाथ बटाते है। इसलिये हम मे इस बात को जानने की उत्कठा होती है कि कुल उत्पत्ति मे हमारा भाग कैसे निर्धारित होता है।

वितरण प्रणाली का समाज के आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पडता है। देश की आर्थिक उन्नति और समृद्धि बहुत अश तक वितरण पर निर्भर है। जितना न्यायपूर्ण और उचित वितरण का आधार होगा उतना ही अधिक वह समाज सुखी और उन्नतिशील होगा। यदि वितरण प्रणाली दूषित है, तो आर्थिक जीवन का कार्य सुचारु रूप से नही चल सकता। परन्तु *दुर्भाग्यवश आज बहुत से देशो मे धन वितरण का ढग अत्यन्त* ही दूषित है जिसके कारण वहाँ की जनता को अनेक जटिल आर्थिक और सामाजिक सकटो का सामना करना पड रहा है। भारतवर्ष मे भी धन का वितरण इसी प्रकार दूषित है। यहाँ राष्ट्रीय आय का एक तिहाई भाग से भी अधिक केवल एक प्रतिशत लोगों के पास केन्द्रित है जिसके कारण देश मे निर्धनता ने व्यापक रूप धारण कर रखा है। देश की आर्थिक दशा सुधारने के लिये वर्तमान वितरण प्रणाली को बदल कर उसे एक नया रूप देना नितान्त आवश्यक है। इसलिये *अर्थशास्त्र मे वितरण विभाग का* अध्ययन बहुत महत्व रखता है।

वितरण की समस्या (Problem of Distribution)—वर्तमान समय मे वितरण-सम्बन्धी समस्याएँ बहुत गम्भीर एव जटिल हैं, इसलिये उनको कई भागो मे

विभक्त कर उनका अध्ययन करना सुविधाजनक होगा। वितरण की समस्या मुख्यतः निम्नलिखित तीन भागों में बाँटी जा सकती है :—

१. वितरण किस वस्तु का किया जाता है ?

२. वितरण में भाग लेने के कौन अधिकारी होते हैं ?

३. वितरण कैसे होता है और उत्पादन में भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति का पुरस्कार किस प्रकार निर्धारित होता है ?

१. वितरण किस वस्तु का किया जाता है ? (What is to be distributed ?)—सबसे पहले प्रश्न प्रस्तुत होता है कि वितरण किस वस्तु का किया जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर एक साधारण व्यक्ति की भांति यों दिया जा सकता है कि उस सम्पत्ति या धन का वितरण किया जाता है जिसका उत्पादन संयुक्त रूप से किया गया है। परन्तु यह उत्तर पूर्णतया ठीक नहीं है, क्योंकि जो सम्पत्ति मिलकर उत्पन्न की जाती है वह सारी की सारी उत्पादन के साधकों में वितरित नहीं की जा सकती। इसका कुछ भाग हमें उस पूँजी की क्षतिपूर्ति के लिये रखना पड़ेगा जिसका कि उत्पादन में उपभोग किया गया है। ऐसी पूँजी चल या अस्थिर पूँजी (Circulating Capital) हो सकती है जिसका अस्तित्व एक बार के प्रयोग में ही समाप्त हो जाता है, अथवा अचल या स्थिर पूँजी (Fixed Capital) हो सकती है जिसकी क्षति धीरे धीरे होती है। हमें सरकार एवं म्युनिसिपल आदि अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं को कर (Taxes) भी देने पड़ते हैं। इन सबके देने के पश्चात् जो धन शेष बचता है वही उत्पत्ति के विविध साधनों में वितरित किया जाता है। अधिक स्पष्ट करते हुए यों कहा जा सकता है कि सामूहिक रूप में उत्पादित धन निम्नलिखित मदों की राशियाँ घटाने के पश्चात् वितरण योग्य होता है —

(अ) चल या अस्थिर पूँजी का प्रतिस्थापन (Replacement of Circulating Capital)—उत्पादन क्रिया में चल पूँजी का उपयोग होता है जिससे उसका अस्तित्व एक बार के प्रयोग में ही समाप्त हो जाता है। अतः उत्पादन जारी रखने के लिए उसका प्रतिस्थापन अर्थात् उसकी पुनः पूर्ति आवश्यक हो जाती है। उदाहरणार्थ, कपड़े की मिल में रुई समाप्त हो जाने पर पुनः उसका खरीदा जाना आवश्यक है अन्यथा मिल बन्द हो जाने की आशंका रहती है। इसी प्रकार फर्नीचर उद्योग में लकड़ी का स्टॉक समाप्त होने ही उसकी पुनः पूर्ति आवश्यक हो जाती है। अस्तु, उत्पादित धन में चल सम्पत्ति के प्रतिस्थापन के लिए एक पर्याप्त राशि घटा देनी चाहिए, और जो शेष बचे उसी का हम वितरण कर सकते हैं।

(आ) अचल या स्थिर पूँजी की घिसाई तथा प्रतिस्थापन (Depreciation and Replacement of Fixed Assets)—उत्पादन क्रिया में अचल या स्थिर पूँजी का प्रयोग होता है— जैसे मशीन, औजार, भवन आदि। यह अचल या स्थिर सम्पत्ति चल या अस्थिर पूँजी की भाँति एक बार के प्रयोग में ही समाप्त नहीं हो जाती, बल्कि कई वर्षों तक इसका निरन्तर प्रयोग होता रहता है जिससे इसके मूल्य में शनैः शनैः ह्रास (Depreciation) होता जाता है और अन्त में अमुक अवधि के पश्चात् वह बेकार हो जाती है और उसके स्थान में नई मशीन का प्रतिस्थापन आवश्यक हो जाता है। इसलिए संयुक्त रूप में उत्पादित धन का वितरण करने के पूर्व उसमें से प्रति वर्ष कुछ राशि निकाल कर घिसाई या प्रतिस्थापन कोष

(Depreciation or Replacement Fund) में जमा कर देना चाहिये जिससे समय पर बेकार या पुरानी (Obsolete) मशीन के बदले में नई मशीन के खरीदने के लिये राशि उपलब्ध हो सके। इसे उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझिये : यदि एक मशीन का मूल्य १०,००० रु० है और वह १० वर्ष तक काम दे सकती है तो हमें संयुक्त कमाई में से प्रति वर्ष १००० रु० घिसाई या प्रतिस्थापन कोष में डाल देना चाहिये जिससे १० वर्ष पश्चात् नई मशीन खरीद कर पुरानी या बेकार मशीन के स्थान में प्रतिस्थापित की जा सके।

(इ) कर (Taxes)—व्यवसाइयों को बहुत से कर सरकार को तथा अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं को देने पड़ते हैं। इसलिये संयुक्त प्रयत्नों द्वारा उत्पादित धन को वितरण करने के पूर्व 'कर' की राशि को घटा देना चाहिये।

इनके अतिरिक्त बीमा-व्यय (Insurance Charges) आदि भी वितरण के पहले सामूहिक उत्पादित-धन में घटा देना चाहिये।

कुल उत्पत्ति (Gross Product) और वास्तविक उत्पत्ति (Net Product)—उत्पादन के साधनों द्वारा सामूहिक रूप में उत्पादित समस्त धन को कुल उत्पत्ति (Gross Product) कहते हैं। कुल उत्पत्ति में चल या अस्थिर पूँजी की प्रतिस्थापना, अचल या स्थिर पूँजी की घिसाई एवं प्रतिस्थापना और कर आदि निकालने के बाद जो अवशेष रहता है उसे वास्तविक उत्पत्ति (Net Product) कहते हैं।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—मान लीजिये किसी व्यवसाय में किसी वर्ष की कुल उत्पत्ति (Gross Product) १०,००० रु० की हुई। इसमें से २००० रु० चल या स्थिर पूँजी के प्रतिस्थापन के लिये, ५०० रु० अचल या स्थिर पूँजी की घिसाई एवं प्रतिस्थापना के लिये और ५०० रु० कर आदि के लिये निकाल दिये गये, तो उस वर्ष की वास्तविक उत्पत्ति (Net Product) ७००० रु० की हुई। १०,००० रु०—(२००० रु०+५०० रु०+५०० रु०)=७००० रु०।

राष्ट्रीय आय (National Income या राष्ट्रीय लाभांश (National Dividend)—उपर्युक्त उदाहरण में एक व्यक्ति के व्यवसाय की उत्पत्ति बतलाई गई है। इसी प्रकार यदि सारे देश के व्यवसाइयों की वास्तविक आय निकालकर उनका योग किया जाय, तो उस योग को समस्त देश की 'वास्तविक आय' कहेंगे। अन्य शब्दों में, यदि हम किसी देश के समस्त उत्पादकों की, किसी दिये हुये समय में, उत्पन्न की गई वास्तविक उत्पत्ति को जोड़ दें, तो वह जोड़ उस देश की राष्ट्रीय आय
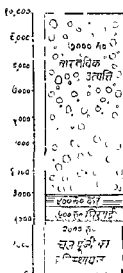
(National Income) होगी। यह देश के निवासियों में उत्पत्ति के विभिन्न साधकों के रूप में वितरित की जाती है, इसलिए इसे राष्ट्रीय लाभांश (National Dividend) भी कहते हैं।

पीगू की परिभाषा—प्रो० पीगू (Pigou) के अनुसार 'राष्ट्रीय आय से अभिप्राय देश की उस आय से है जिसमें विदेशों से प्राप्त होने वाली आय भी सम्मिलित है जोकि मुद्रा द्वारा नापी जा सकती है। प्रो० स्टैम्प ने भी कुछ इसी प्रकार के शब्दों में राष्ट्रीय आय की परिभाषा की है। इस प्रकार की परिभाषा के अन्तर्गत केवल उन्हीं वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्य सम्मिलित किया जाता है जिनका मुद्रा द्वारा विनिमय होता है। यदि कुछ सेवायें ऐसी हों जिनका मुद्रा द्वारा विनिमय न किया जाता हो, तो इस परिभाषा के अनुसार वह राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं की जायेंगी। राष्ट्रीय आय की इस प्रकार से परिभाषा करना कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है। इस बात को स्वयं प्रो० पीगू ने भी माना है। उनका कहना है कि यदि एक मनुष्य किसी नौकरानी को अपना भोजन बनाने के लिए रखता है और उसको ५० रु० मासिक वेतन देता है, तो उसका वेतन राष्ट्रीय आय का अंग बन जायगा। परन्तु कुछ समय पश्चात् यदि वह व्यक्ति उस नौकरानी से अपना विवाह कर ले और विवाह के पश्चात् भी वह स्त्री उसके लिये पहले के समान ही काम करती रहे, तो उसकी सेवा राष्ट्रीय आय में सम्मिलित न की जायेगी, क्योंकि उसको अब कुछ देना न पड़ेगा। इस प्रकार यदि सब व्यक्ति अपनी नौकरानियों से विवाह कर लें, तो राष्ट्रीय आय बहुत कम हो जायेगी। देखने में तो यह बात बड़ी विचित्र-सी लगती है, परन्तु राष्ट्रीय आय की इसी परिभाषा को सब लोगों ने माना है।

मार्शल और फिशर की परिभाषाएँ—प्रो० मार्शल के शब्दों में, 'किसी देश का श्रम और पूँजी, उसके प्राकृतिक साधनों पर क्रियाशील होकर प्रति वर्ष भौतिक तथा अभौतिक पदार्थों का, जिनमें सब प्रकार की सेवाएँ सम्मिलित होती हैं, एक निश्चित योग (Net Aggregate) उत्पन्न करते हैं। देश की यही सच्ची वास्तविक आय या राष्ट्रीय लाभांश है।'[1] वास्तविक आय मालूम करने के लिए कुल आय में से घिसावट आदि निकाल देना चाहिए। दूसरी ओर फिशर के अनुसार वास्तविक राष्ट्रीय आय वर्ष में उत्पादित धन का वह भाग है जिसका प्रत्यक्ष रूप में उस वर्ष में उपयोग होता है। उदाहरण द्वारा दोनों परिभाषाओं का अन्तर इस प्रकार समझाया जा सकता है। मान लीजिए वर्ष भर में एक मशीन तैयार की गई है। मार्शल के अनुसार मशीन के कुल मूल्य में से उसको बनाने वाली मशीन की घिसावट को घटाकर जो शेष बचता है उसे राष्ट्रीय आय में सम्मिलित करना चाहिए। परन्तु फिशर के अनुसार राष्ट्रीय आय के अन्तर्गत मशीन का मूल्य नहीं वरन् केवल मशीन का वह भाग जिसका वास्तव में उस वर्ष में उपभोग किया जाय उसे राष्ट्रीय आय में सम्मिलित करना

1—'The labour and capital of a country acting on its natural resources produce annually a certain net aggregate of commodities, material and immaterial, including services of all kinds. This is the true annual income or revenue of the country or national dividend.'

Marshal *Principles of Economics* 1930, P. 523

चाहिए। यदि देखा जाय तो फिशर की परिभाषा अधिक तर्क-संगत है परन्तु इसके स्वीकार करने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। इसका कारण है कि वर्ष भर में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं की सूची बनाना तो सरल है, परन्तु वर्ष में उपभोग की गई वस्तुओं की सूची बनाना बड़ा कठिन है। यही कारण है कि मार्शल की परिभाषा में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से कुछ दोष होते हुए भी प्रो० मार्शल की परिभाषा व्यावहारिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त मानी जाती है।

राष्ट्रीय आय को नापने के ढङ्ग—राष्ट्रीय आय तीन प्रकार से नापी जा सकती है—

(१) उत्पत्ति की गणना (Census of Production)—इसके अनुसार कुल उत्पत्ति का मूल्य जोड़ करके उसमें से घिसावट की राशि घटा दी जाय।

(२) सब व्यक्तियों की आय का योग करना—इसमें सभी व्यक्तियों की आय जोड़ दी जाती है चाहे वह आय-कर (Income-Tax) देते हों या नहीं।

(३) पेशेवार गणना (Occupational Census)—इस ढङ्ग के अनुसार देश में जितने धंधे हों उनकी गणना कर ली जाय जिससे उनमें काम करने वालों की आय का पता चल सके। इस प्रकार के योग से जो संख्या आयेगी वह राष्ट्रीय आय के बराबर होगी।

राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाते समय आन्तरिक अनुत्पादक ऋण (Internal Unproductive Debt.), दान की आय, वृद्धावस्था की पेंशन तथा धोखेबाजी से प्राप्त की गई आय को नहीं जोड़ना चाहिये। राष्ट्रीय आय या लाभांश वह राशि है जो निरन्तर एकत्रित होती रहती है तथा व्यय होती रहती है। अन्य शब्दों में राष्ट्रीय लाभांश बहते हुए जलाशय की भांति है जो भूमि, श्रम, पूँजी, संगठन और साहस द्वारा निरन्तर भरता रहता है और लगान, मजदूरी, ब्याज, वेतन और लाभ के रूप में निरन्तर खाली होता रहता है तथा इसका एक भाग पूँजी की प्रतिस्थापना, घिसाई और करों के रूप में निकल जाता है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय आय या लाभांश उत्पत्ति के साधनों की सेवाओं का फल है और साथ ही साथ वह इन साधनों के पारिश्रमिक का कोष भी है।[2] परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वर्ष भर राष्ट्रीय आय को जमा किया जाता है और उसके बाद उसका वितरण किया जाता है। राष्ट्रीय आय का उत्पादन और उसका वितरण साथ-साथ चलता रहता है। यह जलधारा के समान है जिसमें एक ओर से जल भरता रहता है और दूसरी ओर से खाली होता रहता है।[3] इसे निम्नांकित चित्र से और भी स्पष्ट हो जाता है :

1—"National dividend is a stream, out of which all the factors of production are paid "

2—"The national dividend is at once the aggregate net product of, and the sole source of payment for all the agents of production "

3—Crew : *Economics for Commercial Students*, p 81.
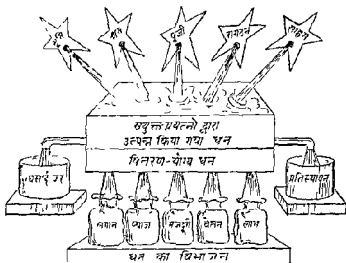
राष्ट्रीय लाभांश का उद्गम तथा वितरण

(Origin & Distribution of National Dividend)

२. वितरण में भाग लेने के कौन अधिकारी हैं? (Who are entitled to Share ?)—अब दूसरा प्रश्न यह है कि वितरण में भाग लेने के कौन अधिकारी हैं, अर्थात् राष्ट्रीय आय का वितरण किनके बीच होता है? इस प्रश्न के उत्तर में सरलता से यों कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय आय या लाभांश उन्हीं व्यक्तियों के मध्य बाँटा जा सकता है जिन्होंने उसके उत्पादन में सहयोग दिया है। धनोत्पादन के प्रत्येक कार्य में भूमि, श्रम, पूँजी, संगठन और साहस का सहयोग होता है तभी वस्तुओं का उत्पादन हो सकता है और राष्ट्रीय आय या लाभांश प्राप्त हो सकता है। अतः राष्ट्रीय लाभांश इन्हीं पाँचों साधनों के स्वामियों में वितरित किया जाता है। इन साधनों के प्रतिफल को भिन्न भिन्न नामों से पुकारा जाता है। भूमि प्रदान करने वाले के भाग में जो आता है उसे लगान (Rent) कहते हैं। श्रम की सेवाओं के उपलक्ष में जो कुछ दिया जाता है वह मजदूरी या भृति (Wages) कही जाती है। पूँजी के प्रतिफल स्वरूप जो पूँजीपतियों को प्राप्त होता है वह ब्याज (Interest) कहलाता है। संगठनकर्ता या प्रबन्धक का प्रतिफल वेतन (Salary) कहलाता है और साहसी अपनी जोखिम के प्रतिफल स्वरूप लाभ (Profit) का अधिकारी होता है।

३. वितरण की रीति (Method of Distribution)—इसके अन्तर्गत हम दो बातों का विवेचन करते हैं—(अ) वितरण कैसे होता है? (आ) उत्पादन के प्रत्येक साधन का भाग कैसे निर्धारित होता है?

(अ) वितरण कैसे होता है ?—वितरण किस प्रकार किया जाता है, इस विषय पर पुराने और नये अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर है ? पुराने अर्थशास्त्री एडम स्मिथ (Adam Smith) ने लिखा है कि "कुल उत्पत्ति देश के विभिन्न वर्गों में स्वाभाविक रूप से वितरित हो जाती है।"[1] जान स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) ने यह बताया कि "यह उत्पत्ति स्वाभाविक क्रिया के द्वारा अपने आप वितरित हो जाती है।"[2] ये कथन सर्वथा अस्पष्ट हैं और वितरण की वास्तविक कार्य प्रणाली पर कोई प्रकाश नहीं डालते।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों का दृष्टिकोण इससे बिल्कुल भिन्न है। उनके अनुसार आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था में साहसी (Enterpriser) वितरणकर्त्ता (Distributor) का कार्य करता है। उत्पादन प्रारम्भ करने से पूर्व वह इस बात का हिसाब लगा लेता है कि उसकी कितनी उत्पत्ति किस मूल्य पर बिक सकेगी। इसमें उसे कुल उत्पत्ति (Gross Produce) की आय का अनुमान हो जाता है। कुल उत्पत्ति की राशि में से पूँजी के प्रतिस्थापन, घिसाई और करों की राशि निकाल कर वह वास्तविक उत्पत्ति (Net Produce) की आय का अनुमान लगा लेता है। इसके पश्चात् वह उत्पादन के विविध साधनों की सेवाओं के पुरस्कार को निश्चित करता है। भूमि के उपयोग के लिए भू स्वामियों से, श्रम के लिए श्रमिकों से, पूँजी के लिए पूँजीपतियों से तथा संगठन के लिए संगठनकर्त्ता या प्रबन्धक से बात-चीत करता है। वह प्रत्येक उत्पत्ति के साधक का पुरस्कार निश्चय करते समय इस बात का ध्यान रखता है कि उसे जोखिम झेलने के उपलक्ष में पर्याप्त पुरस्कार बच रहे। इस अनुमान के आधार पर वह उत्पादन आरम्भ करता है। जैसे जैसे माल तैयार होता जाता है वैसे वैसे ही बिकता जाता है। समय समय पर ब्याज, भाड़ा, मजदूरी और वेतन चुकाए जाते हैं। वर्ष के अन्त में वास्तविक उत्पत्ति में से ब्याज, भाड़ा, मजदूरी और वेतन चुकाने के पश्चात् जो भाग बचता है वह साहसी का उसके पुरस्कार के उपलक्ष में मिल जाता है। यदि वास्तविक उत्पत्ति की आय इन व्ययों के भुगतान से कम हुई, तो साहसी को हानि उठानी पड़ती है।

(आ) उत्पादन में भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति (साधन) का पुरस्कार किस प्रकार निर्धारित होता है ?—इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें उत्पादन के प्रत्येक साधन को एक वस्तु की भाँति समझना चाहिए। जिस प्रकार बाज़ार में किसी वस्तु का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति की पारस्परिक क्रिया द्वारा निर्धारित होता है, ठीक उसी प्रकार उत्पत्ति के प्रत्येक साधक का पुरस्कार भी निर्धारित होता है। साहसी जो वितरणकर्त्ता होता है साधारण वस्तु के क्रय की भाँति उत्पत्ति के साधकों की सेवाएँ खरीदता है। अस्तु जिस प्रकार साधारण वस्तु का क्रेता जो अधिकतम मूल्य दे सकता है, वह उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) पर निर्भर होता है ठीक उसी प्रकार साहसी उत्पत्ति के साधक

1—"Total Produce is naturally distributed among the different ranks of people."

2—"This produce distributes itself by spontaneous action."

से उसकी सेवा का उपयोग क्रय करते समय जो वह उसका अधिकतम मूल्य दे सकता है वह उसकी सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity) पर निर्भर होता है। इसलिये उत्पत्ति के साधन की सीमान्त उत्पादकता साहसी द्वारा दिये जाने वाले मूल्य की अधिकतम सीमा (Maximum Limit) निर्धारित करती है। इसी प्रकार उत्पादन के साधन के स्वामी अपने-अपने साधन द्वारा प्रस्तुत सेवा का विक्रय करते हैं और उनकी स्थिति साधारण वस्तु के विक्रेता के समान होती है। अतः उत्पत्ति के साधक जो न्यूनतम मूल्य अपने साधन की सेवा के बदले में ले सकते हैं वह उनकी लागत (Expenses of Production) पर निर्भर होता है। इसलिये उत्पत्ति के प्रत्येक साधन के स्वामी की लागत प्रत्येक साधक द्वारा लिये जाने वाले मूल्य की न्यूनतम सीमा (Minimum Limit) निर्धारित करती है। बस इन्हीं दोनों सीमाओं के मध्य में माँग और पूर्ति की सापेक्षिक आवश्यकता और दोनों पक्षों का सौदा करने तथा भाव ताव करने की कुशलता द्वारा मूल्य एक स्थान पर स्थिर हो जाता है। यहाँ केवल उत्पत्ति के साधकों के पुरस्कार के निर्धारण के साधारण सिद्धान्त का ही विवेचन किया गया है। अगले अध्यायों में उत्पादन के प्रत्येक साधक का पुरस्कार कैसे निर्धारित होता है, इसकी विस्तृत विवेचना यथास्थान पर की जायेगी।

वितरण की समस्याएँ केवल विनिमय की समस्या की विशिष्ट दशाएँ हैं।[1] इस कथन की सत्यता प्रकट करते हुए यों कहा जा सकता है कि वितरण और विनिमय दोनों की समस्याएँ समान हैं; वितरण की समस्याएँ विनिमय की समस्या का केवल विशिष्ट रूप मात्र हैं। (१) जिस प्रकार विनिमय में हम विनिमय सम्बन्धी अनेक समस्याओं का अध्ययन करते हैं—जैसे वस्तुओं का विनिमय क्या होता है, वस्तुएँ किस दर और रीति से विनिमय की जाती हैं, आदि। यदि हम वितरण की ओर भी दृष्टि डालें, तो वही बात पावेंगे। इसमें वस्तुओं के विनिमय के स्थान में विविध उत्पत्ति के साधकों की सेवाओं का विनिमय होता है। (२) जिस प्रकार विनिमय में मुद्रा के बदले में वस्तुओं के क्रेता उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार वितरण में साहसी उत्पत्ति के विविध साधकों की सेवाओं को मुद्रा के बदले में खरीदने के लिये अपने भाव को प्रस्तुत करता है। (३) जिस प्रकार विनिमय में वस्तुओं के विक्रेता अपनी वस्तुएँ मुद्रा के बदले में बेचने के लिये प्रस्तुत करते हैं, ठीक उसी प्रकार वितरण में भू-स्वामी, श्रमिक, पूँजीपति तथा संगठनकर्त्ता या प्रबन्धक अपनी-अपनी सेवाएँ मुद्रा के रूप में पुरस्कार पाने के लिये बचने को प्रस्तुत करते हैं। (४) जिस प्रकार विनिमय में किसी वस्तु का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति की पारस्परिक क्रिया (Interaction) द्वारा निर्धारित होता है, ठीक उसी प्रकार उत्पत्ति के प्रत्येक साधक की सेवा का पुरस्कार भी उसकी माँग और पूर्ति की पारस्परिक क्रिया द्वारा निर्धारित होता है। (५) विनिमय में वस्तुओं के क्रेताओं की एक अधिकतम सीमा होती है जो वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता द्वारा स्थिर होती है और जिससे अधिक वे उनका मूल्य देने के लिये तैयार नहीं होते हैं, इसी प्रकार वितरण में साहसी की भी अधिकतम सीमा होती है जो प्रत्येक उत्पत्ति के साधक की सीमान्त उत्पादकता द्वारा स्थिर

1—The problems of distribution are only special cases of the problem of exchange."

की जाती है और उससे अधिक वह उसका पुरस्कार देने को तैयार नहीं होता है। (६) विनिमय में वस्तु विक्रेता की एक न्यूनतम सीमा होती है जो उसके उत्पादन-व्यय (लागत) द्वारा निश्चित होती है और वह इससे कम मूल्य स्वीकार नहीं करता है। इसी प्रकार वितरण में प्रत्येक साधक की लागत के अनुसार उसकी सेवा का न्यूनतम पुरस्कार निश्चित होता है जिससे कम वह अपने पुरस्कार की राशि स्वीकार नहीं करता है। (७) जिस प्रकार विनिमय में वस्तु का मूल्य निर्धारण उसकी माँग और पूर्ति के सन्तुलन द्वारा होता है उसी प्रकार वितरण में भी उत्पत्ति के प्रत्येक साधन की सेवाओं का मूल्य (पुरस्कार) उनकी माँग और पूर्ति के सन्तुलन से निर्धारित होता है। इस प्रकार विनिमय और वितरण की समस्याएँ बहुत कुछ समान है। (८) जिस प्रकार साधारण वस्तु के मूल्य तय होने में उपभोक्ता और विक्रेता के मध्य सौदे एवं भाव ताव (Higgling and Bargaining) की निरन्तर बातचीत चलती रहती है, उसी प्रकार साहसी और उत्पत्ति के साधकों के बीच भी ऐसा होता रहता है।

दोनों की समस्याओं में भेद —(१) विनिमय में समस्त वस्तुएँ निर्जीव होती है जबकि वितरण में श्रम आदि वस्तुएँ जीवधारी श्रमिक का ही अंग होती है। इस प्रकार वितरण की समस्या के विवेचन में मानवीय तत्त्व (Human Element) का अधिक महत्त्व है। परन्तु विनिमय की समस्या में इस प्रकार का कोई विचार नहीं किया जाता है (२) विनिमय के अन्तर्गत वस्तुओं के मूल्य निर्धारण सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया जाता है जबकि वितरण में उत्पत्ति के विविध साधनों के पुरस्कार सम्बन्धी विषयों पर विचार किया जाता है। (३) उत्पत्ति के साधनों का लागत व्यय ज्ञात करना इतना सुगम नहीं है जितना कि वस्तुओं के उत्पादन-व्यय का है। (४) विनिमय में वस्तुओं की पूर्ति (Supply) में न्यूनाधिकता सुगमता से हो सकती है, परन्तु उत्पत्ति के साधनों की घटा-बढ़ी या तो सम्भव ही नहीं होती और यदि होती है तो धीरे-धीरे होती है। उदाहरणार्थ भूमि का उपलब्ध-क्षेत्र सीमित होता है, इसमें न्यूनाधिकता नहीं है। इसी प्रकार श्रम आदि अन्य साधकों की पूर्ति में वृद्धि बहुत धीरे धीरे होती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—वितरण की समस्या क्या है? किसका वितरण होता है और किन सिद्धान्तों के अनुसार होता है? (नागपुर १६५१)

२—राष्ट्रीय लाभांश और वास्तविक उत्पत्ति (Net Product) पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

३—'वितरण की समस्याएँ विनिमय की समस्या की विशिष्ट दशाएँ है।' इस कथन पर विचार कीजिये। (अ० बो० १६४६)

४—राष्ट्रीय आय की परिभाषा लिखिये और बताइये कि वह किस प्रकार उत्पन्न होती है और वितरित होती है? (पटना १६५०)

५—आप 'वितरण' के अन्तर्गत क्या पढ़ते है? राष्ट्रीय लाभांश की महत्ता स्पष्ट कीजिये और वितरण के 'सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त (Marginal Productivity Theory) पर टिप्पणी लिखिये। (रा० बो० १६४६)

६—कुल और वास्तविक उत्पत्ति पर टिप्पणी लिखिये। (आ० बो० १९५० ; म० भा० १९५४)

७—वितरण की मुख्य समस्याएँ क्या है ? प्रत्येक की व्याख्या कीजिये। (म० भा० १९५४)

८—राष्ट्रीय लाभांश से क्या तात्पर्य है ? यह किन मे बांटा जाता है ? वितरण का सिद्धान्त क्या है ? (सागर १९५१)

९—वितरण का अर्थ समझाइये और इसकी विभिन्न समस्याओं का उल्लेख कीजिये। (दिल्ली हा० से० १९५०)

१०—'राष्ट्रीय आय' का उत्पत्ति के विभिन्न साधनो मे वितरण किस प्रकार होता है ?

११—निम्नलिखित पर नोट लिखिये — (बिहार १९५७)

राष्ट्रीय लाभांश (पंजाब १९५३, ४८)

संयुक्त उत्पत्ति (बिहार १९५४)

१२—'वितरण' की समस्याओं का विवेचन संक्षेप मे कीजिये और समझाइये कि वितरण किस प्रकार होता है ? (आ० बो० १९५६)

इण्टर एग्रीकलचर परीक्षा

१३—वितरण मे आप क्या अध्ययन करते है ? वितरण किसका होता है और किस किस प्रकार होता है ? (आ० बो० १९५७)

अध्याय ६०

लगान
(Rent)

लगान शब्द का अर्थ (Meaning)—जिस प्रकार किसी वस्तु के प्रयोग के लिये कुछ धन-राशि देने को किराया कहते है उसी प्रकार भूमि के प्रयोग के लिये धन-राशि देने को लगान कहते है। उदाहरणार्थ मकान, मशीन, मोटर, बाईसिकिल आदि अन्यान्य वस्तुओं के प्रयोग के लिये धन राशि देने को किराया या भाड़ा कहते है। इसी प्रकार एक भूस्वामी या जमींदार कुछ वर्षों के लिए एक निश्चित राशि के बदले में अपनी भूमि किसी किसान को खेती करने के लिये दे देता है, तो इस निश्चित राशि को भूमि का लगान कहते है। साधारण भाषा मे किराया, भाड़ा और लगान ये शब्द प्राय एक दूसरे के पर्यायवाची समझे जाते है।

किराये शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है। इसमे मकान बनाने मे लगी हुई पूँजी का ब्याज, मकान की घिसाई, मरम्मत देख भाल तथा बीमा आदि का व्यय भी सम्मिलित होता है। ईसी प्रकार एक कृषक जो लगान देता है वह केवल भूमि के प्रयोग के लिये ही नही देता है वरन् वह भूमि पर बने हुए कुएँ, मकान तथा अन्य प्रकार की उन्नति के लिये भी देता है। इस लगान को कुल लगान (Gross Rent) कहते है। परन्तु जो लगान केवल भूमि के प्रयोग के लिये ही दिया जाता है उसे **वास्तविक या शुद्ध लगान** (Net Rent) कहते है। यही वास्तविक या शुद्ध लगान आर्थिक लगान (Economic Rent) कहलाता है।

लगान का अर्थशास्त्रीय अर्थ—अर्थशास्त्र मे लगान का अर्थ सीमित है। भूमि अथवा प्रकृति-दत्त अन्य वस्तुओ के प्रयोग से होने वाली आय को 'लगान' कहते हैं। यह आवश्यक नही है कि लगान किसी को दिया जावे। यदि भूमिपति स्वय अपनी भूमि का उपयोग करता है, तो वह भी लगान प्राप्त करता है। अत धनोत्पादन मे भूमि के उपयोग के लिये जो पुरस्कार दिया जाता है, उसे आर्थिक लगान कहते है। प्रो० मार्शल के शब्दो मे भूमि तथा अन्य प्रकृति-दत्त साधनो के स्वामित्व से प्राप्त आय को साधारणतया लगान कहते है।[1] प्रो० टॉमस के अनुसार साहसी द्वारा भूमि के उपयोग के लिये दिये जाने वाले पुरस्कार

1—"The income derived from the ownership of land and other free gifts of nature is commonly called Rent"

Marshall · *Economics of Industry*, p 52

के भुगतान को लगान कहते है।[1] प्रो० कारवार ने कहा है कि किसी भूमि के टुकड़े का लगान उतना ही होगा जितना उस भूमि के टुकड़े की उपज अन्य न्यूनतम उपजाऊ खेत की उपज से अधिक होगी।[2] वास्तव में, लगान भूमि की उपज शक्ति मे अन्तर होने के कारण उत्पन्न होता है। जो लगान कृषक भूमिपति (जमींदार) को देता है उसमें वास्तविक या शुद्ध लगान के अतिरिक्त भूमिपति की लगी हुई पूँजी का ब्याज तथा लगान वसूल करने का पारिश्रमिक भी सम्मिलित रहता है। अस्तु, कुल लगान और वास्तविक या शुद्ध लगान में भिन्नता करने के लिये वास्तविक या शुद्ध लगान को अर्थशास्त्र में आर्थिक लगान (Economic Rent) कहते है।

भूमि की विशेषताएं (Peculiarities of Land)—लगान की उत्पत्ति और भूमि की विशेषताओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत भूमि के लगान के कारणों का अध्ययन करने के पूर्व भूमि की कुछ विशेषताओं को जान लेना भी आवश्यक है।

१ भूमि प्रकृति-दत्त प्रसाद है (Land is a free-gift of Nature) भूमि प्रकृति दत्त वस्तु है, मनुष्य ने इसे बनाने में कोई प्रयत्न नहीं किया। अत इसका मूल्य नहीं होना चाहिये। परन्तु जन संख्या के बढ़ने और भूमि सीमित होने के कारण इसकी माँग इतनी अधिक हो गई कि भूमिपति अपनी भूमि के उपयोग का मूल्य अर्थात लगान लेने लग गये है।

२. भूमि का सीमित मात्रा मे होना—(Land is limited in quantity)—भूमि प्रकृति-दत्त होने के अतिरिक्त सीमित मात्रा में है। मनुष्य अपने प्रयत्नो से इसकी माँग बढाने पर अन्य साधनों की भाँति इसे बढा नहीं सकता। जितनी ईश्वर ने दी है उसी से काम चलाना होगा।

३. भूमि स्थिति मे स्थिर है (Land is fixed in situation)—भूमि स्थिति की दृष्टि से स्थिर है। भूमि का एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना सम्भव नहीं है। यदि जगल की भूमि शहर के समीप लाई जा सके तो उसका मूल्य बढ जायगा, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है।

४. भूमि उपजाऊपन और स्थिति मे भिन्नता रखती है (Land differs in fertility and situation)—कोई भूमि कम उपजाऊ और कोई भूमि अधिक। इसका परिणाम यह है कि भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमि पर बराबर व्यय करने से उपज कम या अधिक होती है।

५. भूमि की उपज मे उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है। (Production from land is Subject to the Law of Diminishing Returns)—भूमि पर अधिकाधिक श्रम और पूँजी की मात्रा म वृद्धि करने से अन्त

1—Thomas · *Elements of Economics* 243

2—"The rent of any given piece of land is what it will produce over and above what could be produced on the poorest land in cultivation by the same amount of labour and capital" —*Carver*

में उत्पत्ति की एक ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है कि जिसके पश्चात् लगी हुई पूँजी और श्रम के अनुपात में उत्पत्ति कम होती जाती है। इससे वस्तु की लागत बढ़ जाती है।

रिकार्डो का लगान-सिद्धान्त

(Ricardian Theory of Rent)

परिचय (Introduction)—लगान-सिद्धान्त से रिकार्डो का घनिष्ठ सम्बन्ध है। डेविड रिकार्डो (David Ricardo) एक प्रतिष्ठित (Classical) अंग्रेज अर्थशास्त्री हो चुके है, जिन्होंने सबसे प्रथम १८ वी शताब्दी के अन्त में लगान सिद्धान्त वैज्ञानिक ढंग में प्रस्तुत किया था। अतः यह सिद्धान्त अब तक उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। यह आधुनिक लगान-सिद्धान्त का आधार माना जाता है क्योंकि मार्शल आदि अन्य आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इसमें ही कुछ हेर-फेर कर पुनः प्रतिपादित कर दिया है।

रिकार्डो के लगान-सिद्धान्त की परिभाषा—रिकार्डो ने लगान की परिभाषा इस प्रकार की है : लगान भूमि की उपज का वह भाग है जो भूमिपति को भूमि की मौलिक और अविनाशी शक्तियों के उपयोग के लिये दिया जाता है।[1]

रिकार्डो के लगान-सिद्धान्त का स्पष्टीकरण—संसार की सभी भूमि यदि एक सी उपजाऊ होती तो कदाचित लगान का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु भिन्न-भिन्न भूमियों की उर्वरा (उपजाऊ) शक्ति असमान है। कोई भूमि अधिक उपजाऊ है और कोई कम। अतः यह स्वाभाविक ही है कि जो भूमि अधिक उपजाऊ है उस पर श्रम और पूँजी लगाने से जितनी उपज प्राप्त होती है उतनी समान श्रम और पूँजी लगाने पर भी कम उपजाऊ वाली भूमि से प्राप्त नहीं हो सकती। इस प्रकार अधिक उपजाऊ भूमि को कम उपजाऊ भूमि पर एक भिन्नक लाभ (Differential Advantage) प्राप्त होता है जो आर्थिक लगान कहलाता है। रिकार्डो का सिद्धान्त इसी तथ्य पर आधारित है।

लगान का सिद्धान्त और विस्तृत खेती

(Theory of Rent & Extensive Cultivation)

उदाहरण—रिकार्डो अपने लगान के सिद्धान्त को एक उदाहरण द्वारा समझाता है। वह कहता है कि यदि एक नये खोजे हुये देश पर कुछ लोग जाकर बसें, तो सबसे पहले वे उन खेतों को जोतेंगे जो अ श्रेणी के अर्थात् सबसे अधिक उपजाऊ होंगे। प्रारम्भ मे इस प्रकार के थोड़े से खेत जोते जायगे। परन्तु जन-संख्या के बढ़ने पर इसी प्रकार के अन्य खेत जोते जायेंगे। इस प्रकार अ श्रेणी के सब खेत समाप्त हो जायेंगे। देश नया है और भूमि अधिक पड़ी है, इसलिये कोई भी खेत अपनी इच्छानुसार जोता जा सकता है। उसे लगान देने की आवश्यकता न होगी। जब तक अ

1—"Rent is that portion of the produce of the earth which is paid to the landlord for the use of the original and indestructible powers of the soil."
—*Ricardo.*

श्रेणी के खेत जोते जायगे तब तक लगान का प्रश्न ही नहीं उठता। जन संख्या के बढने तथा सभ्यता के विकास होने पर जब खाद्य सामग्री की मांग बढ़ती तब खेत जोतने वालों को ब श्रेणी के अर्थात् पहले से कम उपजाऊ खेत जोतने पडेंगे। वे चाहे अ श्रेणी के खेतों पर गहरी खेती (Intensive Cultivation) कर सकते हैं अथवा उसी पूँजी व श्रम से ब श्रेणी के खेतों पर खेती कर सकते हैं। दोनों दशाओं में परिणाम एक सा ही रहेगा। मान लीजिये वे ब श्रेणी के खेतों को जोतते है तो उसी पूँजी व श्रम से इन पर अ श्रेणी के खेतों की अपेक्षा कम उपज मिलेगी। अन्य शब्दों में, ब श्रेणी के खेतों का उत्पादन-व्यय अ श्रेणी के खेतों के उत्पादन व्यय से अधिक होगा। इस प्रकार अ श्रेणी के खेतों को ब श्रेणी की अपेक्षा एक भिन्नक लाभ (Differential Advantage) मिलेगा जिसको रिकार्डो ने आर्थिक लगान (Economic Rent) कह कर पुकारा है। उदाहरणार्थ यदि अ श्रेणी के खेत पर पूँजी और श्रम की एक निश्चित मात्रा लगाने पर ४० मन गेहूं प्राप्त होता और ब श्रेणी के खेत पर उसी पूँजी और श्रम से ३५ मन गेहूं प्राप्त होता है तो ५ मन (४०-३५) अ श्रेणी के खेत का आर्थिक लगान हुआ।

यदि जन संख्या और अधिक बढती है और उसके साथ-साथ खाद्यान्न की मांग भी बढती है तो ब श्रेणी के खेतों के समाप्त होने पर स श्रेणी के खेत जोते जाने लगेंगे। इन खेतों पर यदि अ और ब श्रेणी के खेतों के बराबर श्रम व पूँजी लगाई जाए तो इन दोनों प्रकार के खेतों से कम उपज प्राप्त होगी। मान लीजिये इस पर केवल २५ मन खाद्यान्न मिलता है जिसका मूल्य केवल उत्पादन व्यय के बराबर ही है। यह बात स्पष्ट है कि जब तक बाजार में २५ मन अन्न का मूल्य लगाई हुई पूंजी और श्रम के बराबर न मिलेगा तब तक ये खेत नहीं जोते जायगे। खेती जारी रखने के लिये कम से-कम उपज के मूल्य से उत्पादन व्यय तो अवश्य ही मिल जाना चाहिये। अस्तु स श्रेणी के खेतों को जोतने पर अ श्रेणी के खेतों पर १५ मन (४० २५) और ब श्रेणी के खेतों पर १० मन (३५-२५) लगान आयेगा। स श्रेणी के खेतों पर कोई लगान न होगा। इसलिये इस प्रकार के खेत को लगान रहित (No rent) अथवा सीमान्त भूमि (Marginal Land) कहा जायेगा। जन संख्या के और अधिक बढ जाने पर द श्रेणी के खेत (स श्रेणी से कम उपजाऊ) जोते जायगे। इन खेतों पर पूँजी और श्रम की पूर्ववत् मात्रा लगाने से केवल १० मन ही अन्न मिलता है जिसका मूल्य इसके उत्पादन व्यय के बराबर है। अब द श्रेणी के खेतों को जोतने से अ ब स श्रेणियों के खेतों पर लगान निम्न प्रकार होगा —

अ पर ३० मन = (४०-१०)
ब पर २५ मन = (३५-१०)
स पर १५ मन = (२५-१०)
द पर कुछ नहीं = (१०-१०)

अत यह स्पष्ट हो जाता है कि सीमान्त या लगानहीन भूमि कोई निश्चित नहीं है वरन् परिवर्तित होती रहती है।

यह नीचे के चित्र से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। प्रस्तुत चित्र में अ ब अ अर्थात् प्रथम श्रेणी की भूमि है ब स द अर्थात् द्वितीय श्रेणी की भूमि है

स द स अर्थात् तृतीय श्रेणी की और द ड द अर्थात् चतुर्थ श्रेणी की भूमि है। पूँजी और श्रम की समान मात्रा का उपयोग करने में जो उपज मिलती है वह चित्र में आयतों द्वारा प्रकट की गई है। द भूमि को जो द ड आयात से बताई गई है, लगानहीन (No rent) भूमि है, अर्थात् यह कोई लगान नहीं देती। अन्य सब श्रेणियों की भूमि आर्थिक लगान देती हैं जो उनके क्रमशः आयातों में रेखांकित भागों में दिखाया गया है।
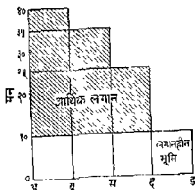
विभिन्न श्रेणी के भू-भाग—आर्थिक लगान

लगान का सिद्धान्त और गहरी खेती
(Theory of Rent and Intensive Cultivation)

अभी तक रिकार्डो का लगान-सिद्धान्त विस्तृत खेती (Extensive Cultivation)के सम्बन्ध में समझाया गया है। अब यहाँ पर यह बतलाया जायगा कि किस प्रकार यह लगान सिद्धान्त गहरी खेती की अवस्था में लागू होता है। यहाँ पर यह सिद्धान्त इसलिये लागू होता है क्योंकि भूमि पर उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है। गहरी खेती की अवस्था में खेती एक ही भूमि के टुकड़े पर अधिकाधिक श्रम और पूँजी की मात्रा से की जाती है। ज्यों ज्यों श्रम और पूँजी की मात्रा (Dose) में वृद्धि की जाती है, त्यों त्यों श्रम और पूँजी की प्रत्येक अगली मात्रा से होने वाली उपज क्रमशः घटती जाती है और अन्त में एक ऐसी अवस्था आती है जबकि अन्तिम मात्रा की लागत उस उपज के मूल्य के बराबर होती है जो इस मात्रा द्वारा उत्पन्न होती है। ऐसी मात्रा लगानहीन (No rent) या सीमान्त मात्रा (Marginal Dose) कहलाती है। लगानहीन या सीमान्त मात्रा श्रम और पूँजी की वह मात्रा है जिसकी उत्पत्ति का मूल्य उसकी लागत के समान होता है। श्रम और पूँजी की प्रत्येक प्रारम्भिक मात्रा के द्वारा जो उपज मिलती है वह सीमान्त अर्थात् अन्तिम मात्रा की उपज से अधिक होने के कारण उसमें उपज की बचत (Surplus) सम्भव हो जाती है। अतः प्रत्येक मात्रा की उपज और सीमान्त मात्रा की उपज के अन्तर को प्रत्येक दशा में उसका आर्थिक लगान कहेंगे।

उदाहरण—ऊपर विस्तृत खेती के सम्बन्ध में दिये हुए चित्र से ही गहरी खेती में लागू होने वाले लगान के सिद्धान्त को भली प्रकार समझा जा सकता है। गहरी खेती की अवस्था में एक ही भूमि पर अधिकाधिक श्रम और पूँजी की मात्रा से बार बार खेती की जाती है। मान लीजिये पहली मात्रा के प्रयोग से ४० मन अन्न उत्पन्न होता है। यदि उसी खेत पर दूसरी मात्रा का प्रयोग और किया जाय, तो उसकी उपज ३५ मन होती है। इसी प्रकार तीसरी मात्रा की उपज २५ मन तथा चौथी

अर्थात् अन्तिम मात्रा की उपज १० मन होती है। पहली मात्रा का आर्थिक लगान ३० मन = (४० – १०), दूसरी मात्रा का २५ मन = (३५ – १०), तीसरी का १५ — (२५ – १०), और चौथी मात्रा का शून्य = (१० – १०) लगान है। अत: यह स्पष्ट है कि चौथी मात्रा लगानहीन मात्रा है।

रिकार्डो के लगान सिद्धान्त के निष्कर्ष—(१) रिकार्डो के लगान-सिद्धान्त का आधार सीमान्त या लगानहीन भूमि है। सीमान्त भूमि (Marginal Land) वह भूमि है जिसकी लागत और उपज का मूल्य बराबर है और जो उत्पत्ति की सीमा पर है, अर्थात् उत्पादक को ऐसी अवस्था में यह सोचना पड़ता है कि उस पर खेती की जाय या नहीं। इस भूमि पर कृषक को कोई बचत नहीं होती, अत इसमे लगान भी प्राप्त नहीं हो सकता। इस कारण इसे लगानहीन भूमि भी कहते हैं।

(२) बाजार मे वस्तु का मूल्य भी सीमान्त भूमि के लागत-व्यय के बराबर होता है। इसीलिये उस पर कृषि सम्भव होती है।

(३) सीमान्त भूमि के अनुसार ही लगान निर्धारित होता है। इसके आधार पर ही अधि-सीमान्त (Super-marginal) भूमि का लगान आँका जाता है। जैसे ऊपर के उदाहरण एव चित्र मे अ व स भूमियों का लगान आँका गया है।

(४) सीमान्त भूमि की अवस्था स्थिर (Fixed) नहीं है। खेती की वस्तुओं के मूल्य के परिवर्तन के साथ-ही-साथ सीमान्त भूमि भी बदलती रहती है। उपज का बाजार मूल्य बढ़ जाने पर जो भूमि अब तक सीमान्त थी वह अधि-सीमान्त हो जाती है और अव-सीमान्त (Sub-marginal) भूमि सीमान्त (Marginal) हो जाती है। इसके विपरीत, यदि उपज का मूल्य गिर जाय, तो सीमान्त भूमि की खेती स्थगित हो जायगी और जो भूमि अब तक अधि-सीमान्त थी वह अब सीमान्त हो जायगी।

(५) भूमि मे उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) लागू होता है, इसलिये निम्न श्रेणियों की भूमि पर खेती करनी पडती है। अन्यथा एक ही भूमि की उपज से सारे ससार की आवश्यकता पूरी की जा सकती है।

(६) लगान उन लोगों की उत्पत्ति के अनुसार निर्धारित होता है जो सबसे अधिक प्रतिकूल परिस्थितियों मे खेती करते हैं। लगान के कारण अन्न का भाव तेज नहीं होता, बल्कि अन्न का भाव तेज होने के कारण लगान दिया जाता है।

(७) गहरी खेती मे सीमान्त भूमि के स्थान पर श्रम और पूंजी की सीमान्त मात्रा (Marginal Dose) होती है। सीमान्त मात्रा श्रम व पूंजी की वह मात्रा है जिसकी उत्पत्ति मे लागत और मूल्य बराबर होते हैं। अन्य शब्दों में,

जितनी लागत से किसान का केवल गुजर हो सके, उसे सीमान्त मात्रा कहते हैं। गहरी खेती की उपज का मूल्य इस सीमान्त मात्रा की लागत से निश्चित होता है।

(८) रिकार्डो ने पूर्ण एवं स्वतन्त्र प्रतियोगिता (Perfect and Free Competition) मान कर ही अपना लगान का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। यह प्रतियोगिता भू स्वामी (जमींदार) और कृषक के मध्य होती है। भू स्वामी चाहे तो भूमि लगान पर दे या न दे और दे तो जितना चाहे लगान ले ले। उधर कृषक की इच्छा की बात है कि भूमि लगान पर ले या न ले और यदि लगान अधिक हो तो वह खेती न करके दूसरा कोई धन्धा कर ले। इस प्रतियोगिता के कारण ही वस्तु का मूल्य सीमान्त भूमि की लागत के बराबर होगा और अन्य भू-भागों पर लागत से ऊपर बचत होगी। उन भू-भागों का लगान भी इस बचत के बराबर होगा। जहाँ ऐसी परिस्थिति नहीं है वहाँ रिकार्डो का लगान सिद्धान्त लागू नहीं होता है।

(९) रिकार्डो ने अपना लगान सिद्धान्त विस्तृत खेती के आधार पर प्रतिपादित किया था, परन्तु यह गहरी खेती पर भी लागू हो सकता है। दोनों दशाओं में लगान प्राप्त होता है।

(१०) लगान भूमि के उपयोग के प्रतिफल में दिया जाता है। भूमि के विशिष्ट गुणों के कारण कृषक भूमि का उपयोग करता है और इसके लिये उसे भू-स्वामी को लगान देना पड़ता है। इसी प्रकार भू स्वामी उसका उपयोग स्वयं करे या दूसरे को करने दे। जब उसका उपयोग दूसरे को करने देता है, तब वह उसके बदले में लगान वसूल करता है। भूमि के सीमित मात्रा में होने के कारण भी लगान वसूल किया जाता है, यद्यपि भू स्वामी को भूमि को उत्पन्न करने में कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ता है, क्योंकि भूमि एक प्रकृतिदत्त वस्तु है जो समाज को निःशुल्क मिलती है।

रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Ricardian Theory of Rent)—रिकार्डो के लगान-सिद्धान्त की आलोचना निम्न प्रकार की गई है :—

(१) रिकार्डो के अनुसार "लगान भूमि की मौलिक (Original) तथा अविनाशी (*Indestructible*) शक्तियों के उपयोग के कारण ही दिया जाता है।" यह कथन भ्रमात्मक है। भूमि की वे शक्तियाँ जिनके लिये लगान दिया जाता है, वे सदैव ही मौलिक नहीं रहती हैं कभी-कभी वे प्राप्त भी की जाती है। इसके अतिरिक्त, भूमि की उर्वरा शक्ति निरन्तर प्रयोग से समाप्त हो जाती है तथा पुनः सिंचाई, खाद आदि साधनों द्वारा ही उत्पन्न की जा सकती है। परन्तु यह आक्षेप निर्मूल है क्योंकि भूमि की स्थिति, जलवायु, तापक्रम, वर्षा, धूप आदि कुछ ऐसे गुण हैं जो प्राकृतिक हैं तथा शीघ्र नष्ट होने वाले नहीं हैं।

(२) रिकार्डो का यह ऐतिहासिक क्रम (Historical Order) कि सबसे पहले सर्वोत्तम भूमि पर खेती की जाती है मिथ्या प्रतीत होता है। यह आवश्यक नहीं है कि सबसे पहले सर्वोत्तम भूमि को ही जोता जाय वास्तव में देखा जाय तो पहले लोग सुलभ एवं साधारण भूमि को ही जोतते हैं और फिर बढ़िया भूमि

को। कहा जाता है कि अमेरिका में कम उपजाऊ भूमि की खेती सबसे पहले की जाती है। कैरे (Carey) और रॉशर (Roscher) का मत है कि सर्वप्रथम खेती उन्हीं खेतों पर होती है जो सरलता से उपलब्ध होते हैं—चाहे वे कैसे ही हों, इसलिये रिकार्डो को खेती का क्रम भ्रमोत्पादक है। किन्तु यह कोई विशेष आक्षेप नहीं है क्योंकि रिकार्डो इस बात को कोई विशेष महत्त्व नहीं देता। वॉकर (Walker) ने इस आलोचना का सही उत्तर दिया है कि सर्वोत्तम खेत से तात्पर्य उन्हीं खेतों से है जो स्थिति और उर्वरा शक्ति के विचार से सर्वोत्तम होते हैं अतः यह आलोचना विवेकहीन है।

(३) रिकार्डो का सिद्धान्त पूर्ण एवं स्वतन्त्र प्रतियोगिता पर आधारित है। परन्तु वास्तविक जीवन में पूर्ण एवं स्वतन्त्र प्रतियोगिता होती ही नहीं। इसलिए इस सिद्धान्त का आधार निर्मूल है। वास्तविक जीवन में लगान केवल स्पर्धा से ही निर्धारित नहीं होता वरन् रीति रिवाज, कानून आदि बातों का भी प्रभाव पड़ता है। यह आलोचना किसी सीमा तक सत्य है, परन्तु अर्थशास्त्र के अन्य सिद्धान्तों की भाँति यह सिद्धान्त भी कल्पनाओं पर अवलम्बित है और एक प्रवृत्ति (Tendency) मात्र है।

(४) रिकार्डो की सीमान्त या लगानहीन भूमि की कल्पना निराधार बताई जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि लगानहीन भूमि सदा बनी ही रहे। जो देश घने बसे हुए हैं वहाँ निकृष्ट भूमि का भी लगान देना पड़ता है। यदि हम एक ही वस्तु को उत्पन्न करने वाले खेतों को अपने ही देश तक सीमित न रख और उस वस्तु की पूर्ति करने वाले विदेशी खेतों को भी अपने बाजार में सम्मिलित कर लें, तो निश्चय ही कहीं-न कहीं लगानहीन भूमि मिल जावेगी। बस इसी के आधार पर लगान निश्चित हो जाता है। इस प्रकार रिकार्डो के लगान-सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है।

(५) कुछ अर्थशास्त्रियों का यह कहना है कि रिकार्डो का यह कहना कि लगान का मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, गलत है। उनका कहना है कि कुछ दशाओं में लगान मूल्य में सम्मिलित होता है जैसा कि आस्ट्रेलिया में एकाधिकार लगान के कारण मूल्य में वृद्धि हो गई है। परन्तु एकाधिकार लगान बहुत ही कम अवस्थाओं में लागू होता है। इस कारण उस पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है।

(६) इस सिद्धान्त की वास्तविक आलोचना यह है कि लगान भूमि की विभिन्न उर्वराशक्ति के कारण नहीं होता वरन् भूमि की स्वल्पता के कारण होता है। लगान का आधुनिक सिद्धान्त इसी बात पर आधारित है।

निष्कर्ष—रिकार्डो के सिद्धान्त के मूल अंश अभी तक सही हैं और सामान्यतः लागू होते हैं। पूर्ण प्रतियोगिता के आधार पर रिकार्डो का सिद्धान्त बिल्कुल ठीक है। जहाँ यह सिद्धान्त लागू नहीं होता, वहाँ प्रायः आर्थिक लगान (Economic Rent) का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ प्रसंविदा लगान (Contract Rent) होता है। पुराने देशों में जन-संख्या की वृद्धि होने के कारण जब अधिक भूमि की माँग होती है, तब कम

उपजाऊ भूमि पर खेती प्रारम्भ हो जाती है तो रिकार्डो का लगान सिद्धान्त लागू हो जाता है। नये देशों में जहाँ भूमि की मात्रा बहुत अधिक है और जनसंख्या कम है वहाँ पर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता।

भारतवर्ष और रिकार्डो का लगान सिद्धान्त—भारतवर्ष एक प्राचीन देश है यहाँ जनसंख्या की अधिकता के कारण भूमि की माँग अत्यधिक है। अतः समस्त भूमि *जनसंख्या की खाद्य पदार्थों की माँग* की पूर्ति करने के लिए कम उपजाऊ भूमि पर भी खेती की जाती है जिसमें भूमि पर कुछ बचत हो जाती है। अतः भारतवर्ष में रिकार्डो का लगान सिद्धान्त लागू है।

दूसरा और यह भी कहा जा सकता है कि भारतवर्ष में रिकार्डो का सिद्धान्त लागू नहीं होता है। भारतवर्ष में जनसंख्या की अधिकता के कारण तथा अन्य व्यवसायों के न मिलने के कारण समस्त अच्छी और बुरी भूमि पर खेती की जाती है और उस पर लगान वसूल किया जाता है अर्थात् यहाँ पर कोई लगानहीन भूमि नहीं है इसके अतिरिक्त रिकार्डो का लगान सिद्धान्त पूर्ण एवं स्वतन्त्र स्पर्द्धा पर आधारित है। परन्तु भारतवर्ष में स्वतन्त्र स्पर्द्धा का अभाव होने के कारण जो लगान लिया जाता है वह आर्थिक लगान (Economic Rent) से अधिक होता है। अतः यह स्पष्ट है कि रिकार्डो का लगान सिद्धान्त भारतवर्ष में लागू नहीं होता।

लगान के भेद (Kinds of Rent)—आर्थिक दृष्टि से लगान दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) आर्थिक लगान और (२) प्रसंविदा लगान।

(१) आर्थिक लगान (Economic Rent)—भूमि के टुकड़े उर्वरा शक्ति या स्थिति अथवा दोनों में ही परस्पर भिन्नता रखते हैं। कोई भूमि अधिक उपजाऊ होती है तथा उसकी स्थिति भी अच्छी होती है और कोई भूमि कम उपजाऊ होती है तथा उसकी स्थिति भी इतनी अच्छी नहीं होती है। जब इस प्रकार के भू-भागों पर खेती की जाती है तब किसी विशिष्ट समय पर अंततः कोई और जोता जाने वाला भू-भाग ऐसा अवश्य होता है जो जोते जाने वाले समस्त भू-भागों में सबसे कम उपजाऊ होता है या जिसकी स्थिति सबसे निकृष्ट होती है अथवा जिसमें ये दोनों ही अवगुण होते हैं। ऐसी भूमि को लगानहीन भूमि (No-rent Land) या सीमान्त भूमि (Marginal Land) कहते हैं क्योंकि उसकी उत्पत्ति का मूल्य उस पर लगाई हुई लागत के बराबर ही होता है। अन्य भू-भागों में जो सीमान्त भूमि की अपेक्षा अधिक उत्तम हैं अर्थात् अधि-सीमान्त (Super-marginal) हैं उनमें श्रम और पूँजी से जो उत्पादन होता है वह सीमान्त या लगानहीन भूमि की अपेक्षा अधिक होता है। अस्तु प्रत्येक अधि-सीमान्त भू-भाग पर कुछ बचत या आधिक्य उपज (Surplus) अथवा भिन्नक लाभ (Differential gain) होता है जो आर्थिक लगान (Economic Rent) कहलाता है। उदाहरणार्थ मान लीजिए किसी गाँव में अ, ब, स, द नामक चार खेत जोते गये हैं। इनमें से द खेत लगानहीन या सीमान्त खेत है और इसकी उपज १०० मन अन्न है। यदि श्रम व पूँजी आदि की समान मात्रा प्रयुक्त की जाय तो अ खेत पर ५०० मन अन्न, ब खेत पर ४०० मन और स खेत पर ३०० मन अन्न उत्पन्न होता है। ये तीनों अधि-सीमान्त खेत हुए। अतः अ खेत पर ४०० मन = (५०० − १००) लगान, ब खेत पर ३०० मन (४०० − १००) और स खेत पर २०० मन = (३०० − १००) लगान हुआ। द खेत पर बचत नहीं

होने से कोई लगान नहीं मिलता है। इसलिये इसे लगानहीन या सीमान्त भूमि कहते हैं और शेष अ व स क्षेत्रों को अधि सीमान्त भू भाग कहते हैं।

अस्तु आर्थिक लगान इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है आर्थिक लगान भू स्वामी को प्राप्त होने वाली वह अतिरिक्त उपज (Surplus) या भिन्नक लाभ (Differential gain) है जो लगानहीन भूमि (No-rent Land) की अपेक्षा उसकी भूमि की उर्वराशक्ति या स्थिति या दोनों की श्रेष्ठता के कारण उसे प्राप्त होता है।[1]

आर्थिक लगान की उत्पत्ति के कारण (Causes of Economic Rent)—आर्थिक लगान निम्नलिखित कारणों से उत्पन्न होता है —

(१) भूमि की दुर्लभता (Scarcity)

(२) भूमि की उर्वराशक्ति (Fertility) तथा स्थिति (situation) में अन्तर होना, और

(३) उत्पत्ति-ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) का लागू होना।

लगान की उत्पत्ति का मुख्य कारण भूमि की दुर्लभता अर्थात् सीमित मात्रा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि भूमि असीमित मात्रा में उपलब्ध हो, तो लगान होगा ही नहीं। उस अवस्था में भूमि की उर्वराशक्ति तथा स्थिति में अन्तर होने के कारण लगान उत्पन्न होगा, क्योंकि समान लागत लगाने से उत्तम खेतों पर अधिक उपज होगी और निकृष्ट खेतों पर कम उपज होगी। यदि सभी भूमि एक सी हो तो भी आर्थिक लगान उत्पन्न होगा क्योंकि उपज की माँग में वृद्धि होने से गहरी खेती की जायगी और उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होगा जिसके कारण लगान उत्पन्न होगा। उत्पत्ति ह्रास नियम के अनुसार क्रमागत इकाइयों की उत्पत्ति कम होती जायगी और प्रारम्भ की इकाइयों पर अतिरिक्त लाभ अर्थात् लगान प्राप्त होगा।

आर्थिक लगान का निर्धारण (Determination of Economic Rent)—आर्थिक लगान के निर्धारण के प्रश्न पर विचार निम्न प्रकार किया जायगा

(क) विस्तृत खेती (Extensive Cultivation) में आर्थिक लगान का निर्धारण—उत्पत्ति की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति करने के लिये तथा उत्पत्ति ह्रास-नियम के लागू होने के कारण जब कई प्रकार के भू भागों पर जो उर्वराशक्ति या स्थिति अथवा दोनों में ही एक दूसरे से भिन्न हैं खेती की जाती है तब किसी विशिष्ट समय कोई-न-कोई जोता जाने वाला भू भाग ऐसा अवश्य होगा जो जोते जाने वाले अन्य भू भागों की तुलना में कम उपजाऊ होगा या जिसकी स्थिति सबसे निकृष्ट होगी अथवा जिसमें ये दोनों ही बातें होंगी। ऐसी भूमि को सीमान्त या लगानहीन कहते हैं क्योंकि उसकी उपज का मूल्य केवल उस पर लगाई हुई लागत के बराबर हो जाता है। जोते

1—Economic rent may be defined as 'the surplus or differential gain accruing to the owner of the land by virtue of its relative advantages of fertility or location or both over the no rent land

जाने वाले प्रत्येक अधि-सीमान्त खेत पर सीमान्त खेत की अपेक्षा कुछ न-कुछ बचत या भिन्नक लाभ होता है जो 'आर्थिक लगान' कहलाता है। यह आर्थिक लाभ भू-स्वामी को उसकी भूमि की उर्वराशक्ति या स्थिति या दोनों के सापेक्षिक लाभों के कारण उसे प्राप्त होता है। इसे एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझिये मान लीजिये अ ब स द चार भू भागों पर समान श्रम व पूँजी आदि की मात्रा से खेती की जाती है। अ पर ५०० मन अन्न पैदा होता है, ब पर ४०० मन, स पर ३०० मन और द पर १०० मन अन्न पैदा होता है। द सीमान्त या लगानहीन भू भाग है, क्योंकि उसकी उपज से जो मूल्य प्राप्त होता है वह केवल उसकी लागत के ही बराबर है। अ ब स भू भाग अधि-सीमान्त खत हैं क्योंकि इनकी उपज के मूल्य में लागत के ऊपर कुछ बचत रहती है। अब सीमान्त या लगानहीन खेत की उपज इनमें से यदि घटा दी जाय, तो प्रत्येक का लगान आ जावेगा। इस उदाहरण में अ का ४०० मन (५००–१००), ब का ३०० मन (४००–१००) और स का २०० मन (३००–१००) हुआ। द पर कोई लगान नहीं मिलता है (१००–१००), क्योंकि उपज का मूल्य तथा लागत बराबर ही रहते हैं। यदि उपज के मूल्य में वृद्धि हो जाय, तो इससे भी निकृष्ट (Inferior) भूमि पर खेती की जाने लगेगी। इसको अनु-सीमान्त (Submarginal) भूमि कहते हैं। अनु-सीमान्त भूमि के जोते जाने पर द भूमि पर भी बचत हो जाने के कारण लगान आने लगेगा।

सारांश यह है कि विस्तृत खेती की अवस्था में सीमान्त या लगानहीन भूमि द्वारा लगान निर्धारित होता है।

(ख) गहरी में (Intensive Cultivation) आर्थिक लगान का निर्धारण—यदि किसी देश में अधिक भूमि अप्राप्य हो, तो बढ़ती हुई जन संख्या की मांग की पूर्ति करने के लिये सीमित भूमि पर ही अधिकाधिक लागत लगा कर खेती करनी होगी। ज्यों-ज्यों श्रम और पूँजी की मात्रा में वृद्धि की जायगी, त्यों त्यों उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने के कारण प्रत्येक अगली मात्रा से होने वाली उत्पत्ति क्रमशः घटती जायगी और अन्त में ऐसी अवस्था आ जायगी जब कि लागत अन्तिम मात्रा से जो उत्पत्ति होगी उसका मूल्य केवल लागत-व्यय के बराबर होगा। ऐसी मात्रा को 'सीमान्त या लगानहीन मात्रा' कहेंगे। अतः श्रम व पूँजी की जो सीमान्त मात्रा भूमि पर लगाई जायेगी उससे पूर्व की मात्राओं पर लागत से अधिक उत्पत्ति होगी और प्रत्येक दशा में कुछ बचत या भिन्नक लाभ होगा जो 'आर्थिक लगान' कहलायेगा। उपर्युक्त उदाहरण में मान लीजिये सीमान्त मात्रा द्वारा उत्पत्ति १०० मन होती है और इससे पूर्व की लागत की मात्राओं से क्रमशः ५०० मन, ४०० और ३०० मन उपज होती है, तो लागत की पहली मात्रा से ४०० मन (५००–१००), दूसरी से ३०० मन (४००–१००) और तीसरी से २०० मन (३००–१००) आर्थिक लगान मिलता है। चौथी अर्थात् सीमान्त मात्रा से कोई लगान प्राप्त नहीं होता है (१००–१०० = ०)। इसीलिये इसे 'लगानहीन मात्रा' भी कहते हैं।

सारांश यह है कि गहरी खेती की अवस्था में लागत की सीमान्त या लगान-हीन मात्रा द्वारा आर्थिक लगान निर्धारित होता है।

(२) प्रसंविदा लगान (Contract Rent)—जो लगान किसान भू-स्वामी को उसकी भूमि के प्रयोग के उपलक्ष में वास्तव में देता है, उसे

प्रसंविदा लगान कहते हैं। इसे इकरारी लगान भी कहते हैं क्योंकि यह किसान और भू स्वामी के मध्य पारस्परिक समझौते या इकरारनामे के अनुसार निश्चित होता है। यह एक प्रकार से भूमि के प्रयोग का मूल्य है। प्रसंविदा लगान परिस्थितियों के अनुसार आर्थिक लगान के बराबर इससे कम या अधिक हो सकता है। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में प्रसंविदा लगान आर्थिक लगान के बराबर होता है। जब भूमि की माँग अत्यधिक होती है और किसानों में भूमि को प्राप्त करने के लिए कड़ी स्पर्द्धा होती है तथा कृषि के अतिरिक्त अन्य कोई व्यवसाय नहीं होता है तब भू स्वामी किसानों से आर्थिक लगान से अधिक प्रसंविदा लगान वसूल कर लेते हैं। जब प्रसंविदा लगान आर्थिक लगान से अत्यधिक होता है तब इसे अत्यधिक लगान (Rack Rent) कहते हैं। इसके विपरीत जहाँ कृषि व्यवसाय करने वाले बहुत थोड़े हों और बड़े बड़े जमींदारों के पास इतनी भूमि हो कि वे स्वयं उस पर खेती न कर सकें वहाँ जमींदार अपनी जमीन या भूमि का उपयोग करने के लिये किसानों से आर्थिक लगान से भी कम लगान ले लेते हैं। नये नये देशों में प्राय ऐसा ही होता है। परन्तु भारतवर्ष जैसे प्राचीन देश में जहाँ जन-संख्या का अत्यधिक भार है और कृषि के अतिरिक्त जीविकोपार्जन के लिये व्यवसायों का अभाव है, भू स्वामी आर्थिक लगान से अधिक लगान लेते हैं। जब प्रसंविदा लगान आर्थिक लगान से अधिक रहता है तब कृषकों की दशा बिगड़ जाती है और वे प्रायः ऋणी हो जाते हैं।

आर्थिक लगान एवं प्रसंविदा लगान में अन्तर

(Difference between Economic Rent & Contract Rent)

(१) आर्थिक लगान एक सैद्धान्तिक कल्पना है जबकि प्रसंविदा लगान एक व्यावहारिक तथ्य है। (२) आर्थिक लगान एक ग्रस्त एवं गम्भीर धारणा है जबकि प्रसंविदा लगान एक प्रत्यक्ष एवं वस्तु यथार्थ है। (३) यह संयोग की बात है कि अकस्मात ये एक दूसरे के निकट आ जाय या बराबर हो जाय अन्यथा कभी एक ऊपर है तो कभी दूसरा। (४) तेजी काल में प्रसंविदा लगान आर्थिक लगान से पीछे रह जाता है और मंदी काल में प्रसंविदा लगान आर्थिक लगान से बहुत आगे बढ़ जाता है।

प्रसंविदा लगान का निर्धारण (Determination of Contract Rent)— जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति की पारस्परिक क्रिया द्वारा निर्धारित होता है उसी प्रकार प्रसंविदा लगान भी जो कि भूमि के प्रयोग का मूल्य है माँग और पूर्ति की शक्तियों की पारस्परिक क्रिया द्वारा निर्धारित होता है। अब हम यह देखेंगे कि किस प्रकार माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा प्रसंविदा लगान निर्धारित होता है।

भूमि के उपयोग की माँग—भूमि की माँग उन व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत की जाती है जिनके पास स्वयं या तो कोई भूमि नहीं होती है बल्कि दूसरों की भूमि किराये या लगान पर लेकर जोतना चाहते हैं। ऐसे लोग किसान या आसामी (Tenants) कहलाते हैं। अतः कृषक भू-स्वामी से भूमि लेते समय यह विचार कर लेता है कि वह उस भूमि पर खेती कर इतनी पैदावार कर लेगा कि कुल उत्पत्ति में से उत्पादन व्यय निकाल कर जो कुछ बचेगा उसमें से कुछ भाग भू-स्वामी को भूमि

के प्रयोग के उपलक्ष में दे देगा। यह बचत ही आर्थिक लगान है। जो लगान कृषक भू-स्वामी को उसकी भूमि के प्रयोग के लिये दे सकता है वह इस बचत से अधिक न होगा। अतः यह बचत (Surplus) उसकी अधिकतम सीमा (Maximum Limit) निर्धारित करती है। वह इस सीमा से अधिक देना स्वीकार नहीं करेगा। यह कृषक की अधिकतम सीमा भूमि की उर्वराशक्ति आदि बातों के साथ बदलती रहती है। यदि भूमि अच्छी हुई तो यह बचत अधिक होगी और फलतः उसकी अधिकतम सीमा भी अधिक होगी। यदि भूमि खराब है, तो यह बचत कम होगी जिससे परिणाम-स्वरूप अधिकतम सीमा भी कम होगी। अन्य शब्दों में यों कहा जा सकता है कि कृषक की अधिकतम सीमा मिट्टी के स्वभाव, भूमि की स्थिति, बाजार या मंडी की निकटता, माल की बिक्री की सुविधाओं और उपज के मूल्य के साथ साथ बदलती रहती है।

भूमि के उपयोग की पूर्ति—भूमि के उपयोग की पूर्ति भू-स्वामियों द्वारा की जाती है। भू-स्वामी या तो भूमि का उपयोग स्वयं करता है या उसे किराये पर दे देता है; यदि वह किराये पर देता है, तो किराये पर देते समय इस बात का हिसाब लगा लेता है कि यदि वह स्वयं उस भूमि पर खेती करे तो कुल लागत काट कर उसे कितनी बचत होगी। कम-से-कम इतनी ही बचत वह किरायेदार से लगान के रूप में लेना चाहेगा। यदि इससे कम मिलेगा तो उसमें स्वयं खेती करेगा या उसे अन्य किसी कार्य में लेगा। इस प्रकार लगान की न्यूनतम सीमा (Minimum Limit) निश्चित हो जाती है। जो लगान भू-स्वामी अपनी भूमि के प्रयोग के बदले में किसान या काश्तकारों से लेना चाहेगा वह इस सीमा से कम नहीं होगा।

भूमि के प्रयोग की माँग और पूर्ति का सन्तुलन (Equilibrium of Demand and Supply of use of Land)—प्रसंविदा लगान भूमि के प्रयोग की माँग और पूर्ति के सन्तुलन बिन्दु पर निर्धारित होता है। माँग द्वारा लगान की अधिकतम सीमा और पूर्ति द्वारा उसकी न्यूनतम सीमा निश्चित हो जाती है। अतः मोटे तौर पर प्रसंविदा लगान इन दोनों सीमाओं के मध्य होगा। परन्तु ठीक लगान क्या होगा यह मुख्यतः दो बातों पर निर्भर होता है—(अ) भू-स्वामियों और किसानों की सापेक्षिक आवश्यकता (Relative Urgency) और (आ) उनकी भाव-ताव करने (Higgling and Bargaining) की शक्ति। यदि पूर्ति की अपेक्षा माँग की तीव्रता अधिक है तो कृषकों में पारस्परिक प्रतियोगिता होगी और लगान कृषक की अधिकतम सीमा तक पहुँच जायगा, अर्थात् भू-स्वामी कृषक से आर्थिक लगान की सम्पूर्ण राशि वसूल करने में सफल हो जायगा। इसके विपरीत, यदि माँग की अपेक्षा पूर्ति की तीव्रता अधिक है, अर्थात् कृषकों को भूमि की माँग कम है तथा भू-स्वामी भूमि को कृषकों को देने के लिये बहुत उत्सुक है, तो प्रसंविदा लगान भू-स्वामी की न्यूनतम सीमा तक पहुँच जायगा और कृषकों को आर्थिक लगान का कुछ ही अंश भू-स्वामियों को देना पड़ेगा जिससे कृषकों को लाभ होने लगेगा। इस प्रकार ठीक लगान इन दोनों सीमाओं के बीच उस बिन्दु पर स्थिर हो जाता है जहाँ पर कृषक और भू-स्वामी के मध्य समन्वय या समझौता अथवा आपस में इकरार हो जाता है। इसीलिये तो इसे प्रसंविदा या इकरारी लगान कहते हैं।

साधारणतया नये देशों में भूमि की मात्रा अधिक होने और जन संख्या के कम होने के कारण खेत जोतने वालों की भूमि की माँग कम होती है। साथ ही साथ

भू-स्वामियों से अधिकाधिक भूमि पर खेती करवाने की उत्सुकता के कारण उनमें आपस में प्रतियोगिता होती है जिसके फलस्वरूप प्रसंविदा लगान कम होता है। किन्तु प्राचीन देशों में जहाँ जन-संख्या अत्यधिक होने के कारण खाद्यान्न आदि की पैदावार के लिये भूमि की माँग उसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक हो जाती है जिसके फलस्वरूप कृषकों में ही आपस में प्रतियोगिता होने लगती है। इसके परिणाम स्वरूप जो लगान कृषकों को देना पड़ता है या तो वह आर्थिक लगान के बराबर होता है या उससे अधिक होता है। यदि कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों का अभाव है, तो प्रसंविदा-लगान और भी अधिक देना पड़ेगा। इसे 'अत्यधिक लगान वसूल करना' (Rack-renting) कहते हैं जो भारतवर्ष में एक साधारण बात है।

भारतवर्ष में प्रसंविदा लगान का निर्धारण (Determination of Contract Rent in India)—भारत में प्रसंविदा लगान माँग और पूर्ति की पारस्परिक क्रिया और प्रतिक्रिया द्वारा निर्धारित होता है, परन्तु रीति रिवाज, स्पर्द्धा वैकल्पिक धन्धों का अभाव और कानून आदि बातों का बहुत प्रभाव पड़ता है।

रीति-रिवाज (Custom)—पुराने समय में भारत में जन संख्या का दबाव अधिक नहीं था, इसलिये जोतने के लिये भूमि सुगमता से बड़ी मात्रा में उपलब्ध हो जाती थी। किसानों और भू स्वामियों में पारस्परिक सम्बन्ध बहुत अच्छा था। उनमें एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति तथा भ्रातृभाव की भावनाएँ थीं। वे मार-पीट, चोरी, डकैती आदि सकट काल में एक-दूसरे की सहायता करते थे। भूमि का लगान बहुत कम था और वह भी परम्परा के आधार पर निर्धारित होता था। यह प्रायः अनाज के रूप में होता था। इस प्रकार उस समय जो लगान लिया व दिया जाता था उसका एक रिवाज सा बन गया था। इसी रिवाज के अनुसार भूमि का लगान पीढ़ी दर-पीढ़ी दिया जाता था। अतः हम कह सकते हैं कि प्राचीन भारत में भूमि का लगान रीति-रिवाज से निर्धारित होता था।

स्पर्द्धा (Competition)—भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापित होने के पश्चात् देश में शान्ति एवं सुरक्षा बढ़ी। इस शान्ति-स्थापना से देश में आर्थिक उन्नति हुई जिसके परिणाम स्वरूप भूमि की माँग बढ़ी। साथ ही से जन-संख्या में भी अत्यधिक वृद्धि हो गई जिसके कारण भूमि की माँग और भी बढ़ गई। अब भूमि को प्राप्त करने के लिए मनुष्यों में आपस में प्रतियोगिता होने लगी। भू-स्वामियों ने इस बदलती हुई परिस्थिति का लाभ उठाना प्रारम्भ कर दिया। रीति-रिवाज के आधार पर लगान-निर्धारण लुप्त सा हो गया और इसका स्थान स्पर्द्धा ने ले लिया। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से व्यक्तिवाद भावना का प्रचार हुआ जिसके कारण भी स्पर्द्धा तीव्र हो गई और रीति-रिवाज द्वारा लगान-निर्धारण की प्रथा समाप्त हो गई। अतः अब भूमि का लगान स्पर्द्धा द्वारा निर्धारित होने लगा।

वैकल्पिक धन्धों का अभाव (Absence of Alternative Occupations)—अंग्रेजों की कुटिल नीति द्वारा भारत के सब घरेलू उद्योग धन्धे नष्ट हो गये जिसके कारण भूमि पर दबाव और अधिक बढ़ गया। अब किसानों के पास सिवाय

खेती करने के कोई अन्य उदर पूर्ति का साधन नहीं रहा। अतः कृषकों में भूमि प्राप्त करने के लिये स्पर्द्धा अधिक तीव्र हो गई जिसके कारण उन्हें आर्थिक लगान से भी अधिक लगान देना प्रारम्भ करना पड़ा। इस प्रकार वैकल्पिक धन्धों के अभाव का भी लगान-निर्धारण में बहुत प्रभाव पड़ने लगा।

लगान सम्बन्धी कानून (Tenancy Legislation)—अत्यधिक स्पर्द्धा के कारण अत्यधिक लगान देने में किसानों की दशा बिगड़ने लगी और भू स्वामी बहुत शक्तिशाली हो गये। जब-कभी किसान भूमि में सुधार करके उत्पादन में कोई वृद्धि करता तब ही भू स्वामी उस पर लगान बढ़ाकर उस उत्पादन का बहुत सा भाग स्वयं हड़प कर जाता। इस कारण किसानों को कृषि-सुधार में अधिक रुचि न रही। अन्त में इस शोचनीय दशा को देखकर सरकार को लगान-सम्बन्धी कानून बनाने पड़े। अब इन्हीं कानूनों के आधार पर भूमि का लगान निश्चित किया जाता है।

सारांश यह है कि वर्तमान समय में भी रीति रिवाज, स्पर्द्धा, वैकल्पिक धन्धों का अभाव तथा लगान सम्बन्धी कानून प्रसंविदा-लगान के निर्धारण में प्रभाव डालते हैं। अब जमींदारी प्रथा के अन्त किये जाने पर कुछ परिवर्तन हो रहा है।

लगान और मूल्य (Rent and Price)

लगान और उपज के मूल्य का पारस्परिक सम्बन्ध एक जटिल समस्या है। साधारण विचार धारा के अनुसार वस्तुओं के अधिक मूल्य का कारण अधिक लगान है। उदाहरणार्थ, यदि एक दुकानदार अपना माल अधिक मूल्य पर बेचता है, तो वह इसका यह कारण बताता है कि उसको लगान अर्थात् दुकान का किराया अधिक देना पड़ता है। किन्तु अर्थशास्त्रीय विचार-धारा इससे बिल्कुल भिन्न है। रिकार्डो के अनुसार भूमि के लगान और उसकी पैदावार के मूल्य में कोई सम्बन्ध नहीं होता है। रिकार्डो ने लिखा है कि अनाज का मूल्य इसलिये अधिक नहीं है कि लगान चुकाया जाता है, बल्कि लगान इसलिये चुकाया जाता है कि अनाज का मूल्य अधिक है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि कृषि की उत्पत्ति के मूल्य पर लगान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

लगान मूल्य को निर्धारित नहीं करता है (Rent does not determine the price or enter the cost of production)—यह पहले बतलाया जा चुका है कि किसी भूमि का आर्थिक लगान उस भूमि और सीमान्त भूमि के अन्तर के बराबर होता है। सीमान्त भूमि की उत्पत्ति का मूल्य उस पर खेती करने के लागत-व्यय के बराबर होता है, अर्थात् सीमान्त भूमि की उत्पत्ति पर जो लागत आती है वह उस उत्पत्ति का मूल्य होता है। अधिक स्पष्ट करते हुए यों कहा जा सकता है कि बाजार में प्राप्त होने वाला मूल्य कम से कम सीमान्त भूमि की उत्पत्ति के उत्पादन व्यय के बराबर तो अवश्य होना ही चाहिए अन्यथा उस पर खेती जारी रखना सम्भव नहीं हो सकता। यदि मूल्य उत्पादन-व्यय से अधिक हो, तो अनु-सीमान्त (Sub marginal) भूमि पर भी खेती की जाने लगेगी और वर्तमान सीमान्त भूमि अधि सीमान्त (Super maginal) भूमि हो जायगी। इसके विपरीत, यदि मूल्य

1—Corn is not high because rent is high, but rent is high because corn is high." —*Ricardo*

उत्पादन व्यय से कम हो, तो वर्तमान सीमान्त भूमि पर खेती करने से हानि होगी और उस पर खेती स्थगित कर दी जायगी और वह अनुसीमान्त भूमि हो जायगी। अतः यह स्पष्ट है कि कृषि उत्पत्ति का मूल्य सीमान्त भूमि की उत्पत्ति के उत्पादन-व्यय के बराबर होता है। मूल्य इससे अधिक या कम नहीं हो सकता।

साथ ही, हम यह भी जानते हैं कि सीमान्त-भूमि लगानहीन भूमि होती है, अर्थात् इस पर कोई लगान नहीं मिलता है। चूँकि बाजार में कृषि-उत्पत्ति का मूल्य सीमान्त भूमि के उत्पादन व्यय के (जिसमें कि लगान का कोई अंश सम्मिलित नहीं होता है) बराबर होता है, तो यह सहज कहा जा सकता है कि लगान का मूल्य-निर्धारण से कोई सम्बन्ध नहीं होता है, अर्थात् लागत में यह सम्मिलित नहीं होता है।

लगान की छूट एवं उसकी न्यूनाधिकता का मूल्य पर प्रभाव (Effect of Rent Remission and Increase or Decrease of Rent on price)—उपर्युक्त तर्क-वितर्क से हम भली प्रकार समझ सकते हैं कि लगान मूल्य निर्धारित नहीं करता अर्थात् लगान मूल्य का कोई अंश नहीं होता वरन् लगान स्वयं मूल्य पर आश्रित होता है। इसलिए, यदि लगान कम भी कर दिया जाय, तो इससे मूल्य में कमी नहीं होगी। यदि भू-स्वामी लगान लेना बन्द कर दें तब भी कृषि-उत्पत्ति का मूल्य वही रहेगा। इसी प्रकार यदि लगान कई गुना बढ़ा दिया जाय, तो भी मूल्य में वृद्धि नहीं होगी। अतः यह बिल्कुल स्पष्ट है कि लगान मूल्य का कोई अंश नहीं है। वास्तव में भूमि की उत्पत्ति का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति के पारस्परिक प्रभाव द्वारा निर्धारित होता है न कि लगान की दर से। यही कारण है कि लगान को उत्पादकों की बचत (Surplus) कहा जाता है।

अपवाद (Exception) लगान कुछ अवस्थाओं में मूल्य को अवश्य निर्धारित करता है (Rent does determine price or enter the cost of production under certain conditions)—साधारणतया लगान सीमान्त-उत्पादन-व्यय का अंग नहीं होने के कारण कृषि-उत्पत्ति के मूल्य-निर्धारण में कोई प्रभाव नहीं डालता। परन्तु कुछ अवस्थाएँ ऐसी हैं जिनमें लगान सीमान्त-उत्पादन-व्यय का अंग होता है और इसलिये वह मूल्य पर प्रभाव डालता है। वे दशाएँ जिनमें लगान मूल्य को निर्धारित करता है, निम्नलिखित हैं :—

१. सरकार या भूस्वामियों का भूमि पर एकाधिकार (Monopoly of a State or a body of Landlords on land)—यदि भूमि पर सरकार या भूस्वामियों के किसी संघ का भूमि पर एकाधिकार हो, तो वह सीमान्त-भूमि पर भी किराया वसूल कर सकता है। ऐसी अवस्था में लगान सीमान्त-उत्पादन-व्यय का अङ्ग हो जायगा और मूल्य को प्रभावित करेगा। भारतवर्ष में भारत सरकार का समस्त भूमि पर एकाधिकार है और वह सीमान्त अर्थात् लगानहीन भूमि पर भी लगान वसूल करती है। इसलिये यह कह सकते हैं कि भारतवर्ष में लगान कृषि उत्पत्ति के मूल्य को निर्धारित करता है।

लगे। परिणामत: अमेरिका में भूमि की माँग बढ़ गई और अनु-सीमान्त भूमि सीमान्त तथा सीमान्त भूमि अधि-सीमान्त होने लगी और लगान में बराबर वृद्धि होने लगी।

(आ) यातायात के साधनों में उन्नति होने से यदि किसी देश में सस्ते खाद्य-पदार्थों का आयात बढ़ जाय, तो वहाँ इन पदार्थों का मूल्य घट जायगा जिसके फलस्वरूप लगान में भी कमी होने लगेगी। मूल्य में कमी होने के कारण घटिया अर्थात् अनु-सीमान्त भूमि पर खेती स्थगित कर दी जायगी जिसके परिणाम-स्वरूप सीमान्त और अधि-सीमान्त भूमि की उत्पत्ति में अन्तर कम हो जायगा और इसलिए आयात करने वाले देश में लगान कम हो जायगा। ऊपर के उदाहरण में जब इङ्गलैंड में अमेरिका के सस्ते खाद्य-पदार्थों का आयात बढ़ गया, तब वहाँ अनु-सीमान्त भूमि पर खेती स्थगित कर दी गई तथा बहुत-सी अधि-सीमान्त भूमि सीमान्त हो गई और लगान बराबर गिरता गया।

(२) **कृषि की उन्नति का प्रभाव (Effect of Agricultural Improvements)**—कृषि की उन्नति होने से उत्पादन अधिक होगा। उत्पादन अधिक होने से, यदि माँग वही रहे, मूल्य गिरेगा। मूल्य गिरने से सीमान्त भूमि पर कृषि कार्य बन्द हो जायगा, अर्थात् वह अनु-सीमान्त भूमि हो जायगी। अब सीमान्त एवं अन्य प्रकार की भूमियों की उत्पत्ति का अन्तर कम हो जायगा, क्योंकि अब सीमान्त भूमि पूर्ववत् सीमान्त भूमि की अपेक्षा अच्छी होगी। उत्पत्ति का अन्तर कम होने के कारण लगान भी कम हो जायगा। यदि यह कृषि की उन्नति केवल अच्छी भूमि तक ही सीमित हो तब तो लगान में वृद्धि होगी, क्योंकि अब सीमान्त और अधि-सीमान्त भूमि की उत्पत्ति का अन्तर पहले की अपेक्षा अधिक हो जायगा। परन्तु यदि उन्नति घटिया भूमि से सम्बन्धित होगी, तो सीमान्त व अधि-सीमान्त भूमि की उत्पत्ति का अन्तर कम हो जाने के कारण लगान में कमी होगी।

यदि कृषि उन्नति लगभग सभी प्रकार की भूमियों (बढ़िया, घटिया एवं साधारण) पर हो जाय और यदि कृषि में उत्पत्ति ह्रास-नियम को शीघ्र लागू होने से रोकते जायें, तो अधिक घटिया भूमि को जोतने की प्रवृत्ति स्थगित हो जायगी और बढ़िया एवं घटिया भूमियों की उत्पत्ति में अधिक अन्तर होने की प्रवृत्ति भी रुक जायगी। इसका परिणाम यह होगा कि समस्त भूमियों की उत्पत्ति में वृद्धि होगी जिसके कारण उत्पादित वस्तुओं की पूर्ति बढ़ जायगी। यदि माँग पूर्ववत् ही है तो बढ़ी हुई पूर्ति से मूल्य गिरने लगेगा जिसके कारण लगान भी कम होने लगेगा। यदि पूर्ति के साथ-साथ माँग में भी वृद्धि होने लगे, तो लगान कम होने की प्रवृत्ति में रुकावट उत्पन्न हो जाती है।

कृषि में उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने का लगान पर प्रभाव—वास्तव में देखा जाय तो कृषि में उत्पत्ति-ह्रास नियम के लागू होने के कारण ही लगान उत्पन्न होता है। अतः इस प्रवृत्ति के लागू होने की अवस्था में लगान बढ़ता है। यदि अन्य बातें पूर्ववत् रहें, तो उत्पत्ति-ह्रास-नियम को रोकने वाली बातें—जैसे कृषि कला व रीतियों में उन्नति आदि लगान को घटाती है।

(३) **जनसंख्या की वृद्धि का प्रभाव (Effect of Increase in Population)**—जनसंख्या में वृद्धि होने के कारण कृषि-पदार्थों की माँग बढ़ेगी

जिसकी पूर्ति विस्तृत एवं गहरी खेती द्वारा की जावेगी, अर्थात् या तो घटिया यानी अनुसीमान्त भूमि पर खेती की जावेगी अथवा उसी भूमि पर पूँजी व श्रम की अधिकाधिक मात्राएँ लगाकर खेती करनी पड़ेगी। ऐसी अवस्था में अधि सीमान्त भूमि (Super-marginal Land) या अधि सीमान्त मात्रा (Super-marginal Dose) की अतिरिक्त उपज या बचत अधिक हो जायगी जिसके फलस्वरूप लगान बढ़ जायगा। इसके अतिरिक्त, जनसंख्या में वृद्धि होने से भूमि की माँग अनेक अकृषि कार्यों के लिए भी बढ़ जायगी, जैसे भवन एवं उद्योगशाला निर्माण आदि। इस कारण भी भूमि का लगान बढ़ जायगा।

(४) सभ्यता के विकास का प्रभाव (Effect of Progress in Civilization)—सभ्यता की उन्नति का प्रभाव भी लगान पर उसी प्रकार पड़ता है जिस प्रकार कि जन-संख्या की वृद्धि का पड़ता है। इसे अधिक स्पष्ट करते हुए यों कहा जा सकता है कि सभ्यता के विकास से लगान में वृद्धि होती है, क्योंकि लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो जाने से अधिक वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है जिनकी पूर्ति के लिये अधिक भूमि की माँग बढ़ जाती है। कृषि के अतिरिक्त बाग-बगीचों, खेल के मैदान आदि बनाने के लिए भी भूमि की आवश्यकता होगी। अस्तु, इस कारण भी भूमि का लगान बढ़ जायगा।

लगान के कुछ अन्य स्वरूप

(Other Kinds of Rent)

१. इमारती भूमि का लगान (Rent of Building Sites)—इमारती भूमि का लगान भी उसी सिद्धान्त से निश्चित होता है जिस सिद्धान्त से कृषि-भूमि का। अन्तर केवल इतना ही है कि कृषि भूमि के लगान निर्धारण में उसकी उर्वरा शक्ति तथा स्थिति दोनों का ही प्रभाव पड़ता है, परन्तु इमारती भूमि पर केवल उसकी स्थिति का ही प्रभाव पड़ता है। इसलिये इमारती भूमि के लगान को स्थिति लगान (Situational Rent) कहते हैं। रहने की इमारतों के लिये स्वास्थ्यप्रद जलवायु, प्राकृतिक सौन्दर्यता, स्वच्छता, सुरक्षता, आवागमन व बाजार की सुविधाओं युक्त स्थिति अच्छी समझी जाती है। व्यापार के लिये ऐसा स्थान जहाँ बहुत सी अन्य दुकानें हों, बहुत से ग्राहक आते जाते हों तथा माल के यातायात की सुविधाएँ हों, अच्छा समझा जाता है। अस्तु, जो भूमि बस्ती के मध्य अथवा बाजार आदि में स्थित होती है उसका लगान बहुत अधिक होता है, परन्तु जो भूमि बस्ती या बाजार से बहुत दूर स्थित होती है उसका लगान बहुत ही कम होता है, जैसे दिल्ली के चाँदनी चौक में स्थित भूमि का लगान शाहदरा के पास वाली भूमि से बहुत अधिक होगा। इस प्रकार चाँदनी चौक की भूमि अपनी अच्छी स्थिति के कारण शाहदरा के निकटवर्ती भूमि के ऊपर भिन्नक लाभ (Differential Advantage) प्राप्त करती है। इस स्थिति के कारण उत्पन्न हुआ किराये का अन्तर ही 'इमारती भूमि का लगान' कहलाता है।

अतः यह स्पष्ट है कि एक ही समय में विभिन्न भू-भाग (Plots of Land) विभिन्न स्थिति में बने हुए होते हैं। उनमें से एक भू भाग ऐसा होता है जो भवन-निर्माण के लिए अनुपयुक्त होता है और उस पर कोई लगान प्राप्त नहीं होता है। ऐसा

भू-भाग सीमान्त या लगानहीन होगा और अन्य भू-भाग जिनकी स्थिति भवन निर्माण की दृष्टि से अच्छी होती है, अधि-सीमान्त भू-भाग कहलायेंगे। अधि-सीमान्त भूमि का स्थिति-सम्बन्धी अतिरिक्त या भिन्नक लाभ ही उसका लगान होगा।

इमारती भूमि का लगान बढ़ता-घटता भी रहता है। यदि किसी भूमि के पास से सड़क निकल जाये या सरकारी कार्यालय अन्य स्थान से उठ कर आ जाये, तो उस भूमि का लगान अवश्य बढ़ जाता है। किसी के पास से सब प्रकार की सुविधाओं को हटा लेने से उसका लगान कम हो जाता है।

२. खानों का लगान (Rent of Mines and Quarries)—खानों का लगान भी उसी प्रकार निर्धारित होता है जिस प्रकार कृषि भूमि का। कृषि भूमि और खान के लगान में थोड़ा सा अन्तर अवश्य है और वह यह है कि कृषि-भूमि निरन्तर काम में आ सकती है परन्तु खान की कच्ची धातु कुछ समय के पश्चात ही समाप्त हो जाती है। इस कारण खान के स्वामी न केवल इसलिये ही लगान लेते हैं कि उनकी खान कच्ची धातु से परिपूर्ण है वरन् इसलिये भी लगान लेते हैं कि उनकी खान से कच्ची धातु निकाली जाती है।

खान के लगान में दो प्रकार की राशि सम्मिलित होती है—(अ) अधिकार शुल्क या नजराना (Royalty) वह राशि है जो पट्टेदार खान में से खनिज-पदार्थ निकालने के उपलक्ष में खान के स्वामी को देता है। कृषि भूमि की उर्वरा-शक्ति के लिए इस प्रकार की कोई राशि नहीं देनी पड़ती है, क्योंकि भूमि की उर्वरा-शक्ति पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो जाती। यदि भूमि का उपयोग सावधानी से किया जाय तो इसकी उर्वरा-शक्ति कायम रह सकती है। (आ) वास्तविक लगान (Rent Proper) वह अतिरिक्त बचत या लाभ है जो खान खोदने तथा स्थिति सम्बन्धी सुविधाओं के कारण सीमान्त खान के ऊपर अधि सीमान्त खान को प्राप्त होता है। इस दृष्टि से कृषि-भूमि के लगान और खान के वास्तविक लगान में पर्याप्त समता है।

खनिज पदार्थ की माँग बढ़ने से या तो घटिया खानें खोद कर (Extensively) खनिज पदार्थ निकाला जाता है या अच्छी खानों पर ही अधिकाधिक श्रम और पूँजी की मात्रा लगा कर (Intensively) खनिज पदार्थ निकाला जाता है। इस कार्य में खनिज पदार्थ निकालने के सुधरे हुए एवं अधिक मूल्यवान ढगों का प्रयोग किया जाता है। किसी विशिष्ट समय एक ऐसी खान अवश्य होगी जिसका खोदना कठिन होगा या जिसकी स्थिति खराब होगी। इसे सीमान्त या लगानहीन खान कहेंगे। अन्य खानें अधि-सीमान्त होंगी। इसी प्रकार गहरी खुदाई (Intensive Mining) में सीमान्त या लगानहीन श्रम व पूँजी की मात्रा अवश्य होगी। अतः सीमान्त या लगानहीन खान और अधि-सीमान्त खान के लाभ के अन्तर या भिन्नक लाभ (Differential Advantage) को 'खान का लगान' कहते हैं।

३. मत्स्य क्षेत्र का लगान (Rent of Fisheries)—मत्स्य क्षेत्रों (मछली पकड़ने के स्थानों) का लगान भी कृषि-भूमि के लगान की भाँति ही निर्धारित होता है। कृषि-भूमि एवं मत्स्य क्षेत्र के लगान में पूर्ण समानता है। कुछ अर्थशास्त्र के विद्वानों का मत है कि जिस प्रकार कृषि-भूमि का सावधानतापूर्वक प्रयोग उसकी उर्वरा-शक्ति को कायम रखकर कृषि-कार्य को निरन्तर चलने योग्य बना देता है, ठीक उसी प्रकार यदि मत्स्य क्षेत्रों का सावधानी से प्रयोग किया जाय तो मछलियों की पूर्ति स्थायी बनी रहेगी और मछली पकड़ने का कार्य निरन्तर चलता रहेगा। कुछ मत्स्य क्षेत्रों में

मछलियाँ बहुत अधिक तथा किनारे पर पाई जाती हैं जिससे उन्हें सुगमता तथा कम व्यय से पकड़ा जा सकता है। परन्तु कई मत्स्य क्षेत्रों में मछलियाँ कम संख्या में तथा किनारे से हट कर दूर पाई जाती हैं जिससे उन्हें पकड़ने में कठिनाई होती है तथा व्यय भी अधिक लगता है। अतः यह स्पष्ट है कि किसी विशिष्ट समय में कोई एक मत्स्य क्षेत्र ऐसा होगा जहाँ मछली पकड़ने का व्यय और पकड़ में प्राप्त आय बराबर होगी और अन्य ऐसे क्षेत्र होंगे जिनमें मछली के पकड़ने में आय लागत से कहीं अधिक होगी। पहला क्षेत्र सीमान्त या लगानहीन होगा और दूसरी श्रेणी के समस्त मत्स्य क्षेत्र अधि-सीमान्त होंगे। अस्तु, बुरे व अच्छे अर्थात् सीमान्त तथा अधि सीमान्त मत्स्य क्षेत्रों के लाभ के अन्तर यानी भिन्नक लाभ (Differential Advantage) को 'मत्स्य क्षेत्रों का लगान' कहते हैं।

४. आभास या अर्द्ध लगान (Quasi-Rent)—आभास या अर्द्ध-लगान की धारणा का प्रचार सबसे पहले प्रो० मार्शल ने किया था। मार्शल ने बतलाया कि जिस प्रकार भूमि पर लगान प्राप्त होता है उसी प्रकार उत्पत्ति के अन्य साधनों पर भी लगान प्राप्त हो सकता है। भूमि के लगान तथा अन्य उत्पत्ति के साधनों पर प्राप्त होने वाले लगान में केवल इतना ही अन्तर है कि भूमि की पूर्ति सीमित एवं निश्चित होती है और वह घटाई-बढ़ाई नहीं जा सकती, किन्तु अन्य उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति कुछ समय के लिये तो निश्चित हो सकती है परन्तु वह सदा के लिये निश्चित नहीं हो सकती। इसे अधिक स्पष्ट करते हुए यो कहा जा सकता है कि अन्य उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति को मांग के बढ़ने पर बढ़ाया जा सकता है और मांग के घटने पर घटाया जा सकता है। इस कारण भूमि से प्राप्त होने वाली अतिरिक्त उत्पत्ति या बचत (Surplus) और अन्य साधनों से प्राप्त होने वाली अतिरिक्त उत्पत्ति या बचत में भेद करना आवश्यक है। चूँकि भूमि की अतिरिक्त उत्पत्ति या बचत का नाम 'लगान' है, इसलिये अन्य साधनों की अतिरिक्त उत्पत्ति या बचत का नाम 'आभास या अर्द्ध-लगान' रखा गया है। अन्य उत्पत्ति के साधनों का अतिरिक्त लाभ भी भूमि के लगान के तुल्य होता है, इसलिये इसे आभास या अर्द्ध लगान कहा गया है। प्रो० मार्शल के शब्दों में आभास या अर्द्ध-लगान वह भिन्नक लाभ (Differential Advantage) है जो उत्पत्ति का साधन जिसकी पूर्ति धीरे-धीरे बढ़ाई-घटाई जा सकती है, अपने ही जैसे अन्य उत्पत्ति के साधन के ऊपर प्राप्त करता है। उत्पत्ति के इन साधनों में मशीन, कारखाना (फैक्ट्री), व्यापारिक-योग्यता, शिल्पकार की दक्षता व अन्य मनुष्य-कृत साधन सम्मिलित हैं। उदाहरणार्थ, युद्धकाल में जबकि देश में अधिक मशीनें बनाना या बाहर से मँगाना सम्भव नहीं होता है, तब मौजूदा कारखाने ही अत्यधिक लाभ कमाते हैं, क्योंकि वस्तुओं की मांग अत्यधिक बढ़ जाती है और पूर्ति में कोई वृद्धि नहीं हो पाती। युद्ध-समाप्ति के साथ ही यह विषम परिस्थिति भी समाप्त हो जाती है और शनैः शनैः पूर्ति बढ़ाने की सुविधा मिलती जाती है जिसके कारण अल्पकालीन लाभ भी कम होते हुए लुप्त हो जाते हैं। इन अल्पकालीन लाभों को जोकि किसी उत्पत्ति के साधन की अस्थायी न्यूनता के कारण उसके स्वामी को प्राप्त होते हैं, आभास या अर्द्ध-लगान कहते हैं।

आभास या अर्द्ध-लगान के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में थोड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों के अनुसार जिस समय में उत्पत्ति के साधन की पूर्ति नहीं बढ़ाई जा सकती

उस काल की सारी आय आभास या अर्द्ध-लगान कहलायेगी। इसके विपरीत फ्लक्स (Flux) आदि विद्वानों का कहना है कि सामान्य आय से जितनी अधिक आय इस काल में प्राप्त होती है केवल वही आय आभास या अर्द्ध-लगान है। यह दूसरी धारणा कुछ अधिक ठीक प्रतीत होती है।

आभास या अर्द्ध-लगान के निर्धारण में समय का महत्व—आभास लगान के निर्धारण में समय का बड़ा महत्व है। आभास या अर्द्ध-लगान अल्पकाल के लिये ही प्राप्त हो सकता है। दीर्घकाल में यह घट जाता है या बिल्कुल समाप्त हो जाता है अथवा हानि में परिवर्तित हो जाता है। यदि पुराने उत्पत्ति के साधनों के स्थान पर नये साधनों का प्रयोग होने लगे तो आभास लगान बिल्कुल समाप्त हो जायगा।

आभास या अर्द्ध-लगान की धारणा का व्यावहारिक महत्व—आभास या अर्द्ध-लगान की धारणा व्यावहारिक दृष्टि से बड़ा महत्व रखती है, क्योंकि यह जीवन के बहुत से क्षेत्रों पर लागू होती है। एक उत्पादक या निर्माता किसी व्यापारिक भेद (Trade Secret) के कारण कुछ समय तक बहुत सा लाभ उठा सकता है। भेद के खुलते ही वह लाभ समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार एक उत्तम खिलाड़ी, एक दक्ष इंजीनियर, एक पटु गायक जब तक उनके पर्याप्त प्रतिद्वन्द्वी उत्पन्न नहीं होते, आभास या अर्द्ध-लगान प्राप्त कर सकते हैं।

लगान और आभास या अर्द्ध-लगान की समता या विषमता—(१) भूमि एवं अन्य निःशुल्क प्राकृतिक प्रसादों की आय को लगान कहते हैं और मनुष्य कृत यन्त्र व उपकरणादि की आय को आभास लगान कहते हैं। (२) लगान स्थायी वस्तु है परन्तु आभास या अर्द्ध-लगान अस्थायी वस्तु है। (३) अल्पकाल में भूमि के समान अन्य उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति भी निश्चित होती है और वह भूमि के समान बढ़ाई नहीं जा सकती। दीर्घकाल में भूमि की पूर्ति तो फिर भी निश्चित रहती है, परन्तु अन्य साधनों की पूर्ति मनुष्य द्वारा बढ़ाई जा सकती है। (४) अल्पकाल में आभास या अर्द्ध-लगान और मूल्य का वही सम्बन्ध होता है जो सम्बन्ध लगान और मूल्य का स्थायी रूप से होता है। (५) लगान मूल्य का अंश नहीं होता। परन्तु दीर्घकाल में आभास लगान या तो लुप्त हो जाता है या मूल्य का अंश बन जाता है। (६) अल्पकाल में लगान की भाँति आभास लगान भी अनावश्यक लाभ है, क्योंकि वस्तु की लागत में कोई वृद्धि हुए बिना ही किसी साधन का मूल्य बढ़ जाता है।' परन्तु दीर्घकाल में आभास लगान का ही अन्त हो जाता है, यह वास्तविक बचत नहीं रहता।

५. लगान में अनुपार्जित वृद्धि (Unearned Increment)—भू-स्वामी द्वारा भूमि में सुधार कर देने से भूमि का मूल्य बढ़ जाना तो स्वाभाविक है। परन्तु कभी कभी ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनके कारण भूमि का मूल्य स्वतः ही बढ़ जाता है और बिना प्रयास किये ही भू-स्वामी को लाभ होने लगता है। इन सामाजिक परिस्थितियों के कारण बिना भू-स्वामी के प्रयास के भूमि के मूल्य में वृद्धि होने को अनुपार्जित वृद्धि (Unearned Increment) कहते हैं। इस प्रकार की मूल्य में वृद्धि कई कारणों से होती है—जैसे किसी बंजर भूमि पर कारखाना स्थापित हो जाय, किसी भू-भाग के आस-पास कोई नगर बस जाय या वह किसी शहर से यातायात के साधनों द्वारा मिला दिया जाय

अथवा वहाँ रेल का स्टेशन बन जाय, आदि। उदाहरणार्थ पहले दिल्ली में हजारों एकड़ भूमि व्यर्थ पड़ी थी किन्तु अब वहाँ नई दिल्ली, करौल बाग व कमला नगर आदि बन जाने से उसकी माँग बहुत बढ़ गई है और फलतः उसका मूल्य बढ़ गया है। इस उन्नति का कारण नये स्थानों का निर्माण है तथा इसमें भू-स्वामियों का कोई प्रयत्न नहीं है। इसलिये ऐसी लगान वृद्धि 'अनुपार्जित-वृद्धि' कही जाती है।

अनुपार्जित वृद्धि सामाजिक कारणों का परिणाम होता है। इसमें भू स्वामी को कोई प्रयत्न नहीं करने पड़ते है। अतः बहुत से अर्थशास्त्रियों विशेषतया समाजवादियों (Socialists) का मत है कि इस पर भू-स्वामियों का व्यक्तिगत रूप से कोई अधिकार नहीं होना चाहिये, बल्कि सरकार के माध्यम द्वारा उसे जनहित कार्यों में व्यय करना चाहिये। अस्तु, सरकार या तो सारी भूमि का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) कर अपनी ही बनाले अथवा इस वृद्धि को कर (Tax) के रूप में ले ले।

६. योग्यता का लगान (Rent of Ability)—प्रत्येक व्यवसाय अथवा धन्धे में कुछ व्यक्ति तो बड़े योग्य एवं कुशाग्र बुद्धि वाले होते हैं जिन्हें अधि सीमान्त योग्यता वाले व्यक्ति कहा जा सकता है और कुछ अपेक्षाकृत कम योग्य होते हैं जिन्हें सीमान्त योग्यता वाले व्यक्ति कहा जा सकता है। अधि-सीमान्त योग्यता वाले व्यक्ति सीमान्त योग्यता वाले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक कार्य करते है तथा अधिक कमाते है। अतः अधि-सीमान्त योग्यता वाले व्यक्तियों की आय में सीमान्त योग्यता वाले व्यक्तियों की आय की अपेक्षा कुछ बचत रहती है जिसे 'योग्यता का लगान' कहते हैं। अर्थशास्त्र में इसे लाभ (Profit) कहते है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—आर्थिक लगान किस प्रकार निर्धारित होता है, समझाइए। कृषि-विधि में सुधार हो जाने से खेतों के लगान पर क्या प्रभाव पड़ता है?

२—लगान का क्या अर्थ है? यह किस प्रकार निर्धारित होता है?

(रा० बो० १९६०)

३—आर्थिक लगान (Economic Rent) और ठेके के लगान (Contract Rent) का अन्तर स्पष्ट कीजिये। आर्थिक लगान किस प्रकार निर्धारित होता है?

४—रिकार्डो का लगान सिद्धान्त समझाइये। भारत में लगान पर निम्न कारणों का क्या प्रभाव पड़ता है:

(क) रीति-रिवाज और प्रतियोगिता, (ख) कृषि की संशोधित प्रणाली, (ग) यातायात के अच्छे साधन।

५—लगान के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये। यह भारतीय दशाओं में किन शर्तों के साथ लागू होता है?

६—"लगान उस उत्पत्ति व्यय का अंग नहीं होता जो मूल्य को प्रभावित करता है।" इस कथन की सत्यता को प्रमाणित कीजिये।

७—कृषि भूमि पर लगान का उदय किस प्रकार होता है? लगान पर कृषि प्रणाली में सुधार का क्या प्रभाव पड़ता है?

८—रिकार्डो के लगान सिद्धान्त का वर्णन कीजिये और इसकी आलोचना भी करिये। (रा० बो० १९५२, म० बो० १९५७, दिल्ली हा० स० १९५०, ४०)

९—आर्थिक लगान और ठेके के लगान में भेद दर्शाइये। 'लगान एक वृहत् जाति का मुख्य वर्ग है।' इस कथन की व्याख्या कीजिये। (रा० बो० १९५१)

१०—आर्थिक लगान और ठेके के लगान में अन्तर स्पष्ट कीजिये। पूर्ण प्रतियोगिता में ये किस प्रकार निर्धारित होते हैं? (रा० बो० १९४९)

११—'अनाज के दाम इसलिये अधिक नहीं होते कि लगान लिया जाता है वरन् लगान इसलिये लिया जाता है कि अनाज के दाम अधिक होते हैं।'—रिकार्डो के इस कथन का स्पष्टीकरण कीजिये। (म० बो० १९५६)

१२—कृषि भूमि पर लगान किस प्रकार उदय होता? लगान पर निम्नलिखित का क्या प्रभाव पड़ता है —

(क) यातायात के साधनों में विकास, (ख) जनसंख्या में वृद्धि।
(म० बो १९५१, म० भा० १९५१)

१३—(अ) कृषि के साधनों में सुधार और (ब) यातायात के साधनों में उन्नति का खेती व लगान पर प्रभाव बतलाइये। भारतीय उदाहरण देकर समझाइये।
(म० भा० १९५७)

१४—एक उदाहरण देकर समझाइये कि गहरी खेती पर आर्थिक लगान किस प्रकार उदय होता है? आर्थिक लगान के मुख्य लक्षण बताइये। (नागपुर १९५०, ४८)

१५—आर्थिक लगान किस प्रकार निर्धारित होता है? लगान उत्पादन व्यय का अंग नहीं है, समझाइये। (सागर १९४९)

१६—आर्थिक लगान की परिभाषा लिखिये। गहरी खेती में आर्थिक लगान किस प्रकार निर्धारित होता है? (सागर १९४८)

१७—क्या निम्न अवस्थाओं में भी लगान का उदय होगा —
(अ) भूमि के सब टुकड़े उर्वरता और स्थिति में समान हैं।
(आ) भूमिपति स्वयं भूमि को जोतता है।
(इ) यदि भूमि पर मामान्य उपज के घटने का नियम लागू न हो।
(पंजाब १९३६)

इण्टर एग्रीकल्चर परीक्षा

१८—आर्थिक लगान की परिभाषा लिखिये। यह किस प्रकार उत्पन्न होता है? इसकी नाप किस प्रकार की जाती है? वे क्या शक्तियाँ हैं जिनसे लगान में वृद्धि होती है?

अध्याय ६१

भारत में भू-धारण-पद्धति एवं मालगुजारी प्रथा

(Land Tenure and Land Revenue System in India)

भू-धारण-पद्धति एवं मालगुजारी प्रथा की आवश्यकता—भारत में भू-धारण पद्धति एवं मालगुजारी प्रथा का विशेष महत्त्व है। भू-धारण-पद्धति (भूमि-पद्धति) का प्रभाव राज्य पर पडता है। राज्य देश की भूमि की व्याख्या करने के हेतु उस भूमि को या किसी निश्चित भूमि के भागों को किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह को सौंप देता है। परन्तु इस अधिकार प्राप्ति के उपलक्ष में व्यक्ति या व्यक्ति-समूह राज्य को लगान देता है। भूमि पर अधिकार-प्राप्ति को भू धारण पद्धति और उसके बदले में लगान देने को मालगुजारी प्रथा कहते हैं। इनका प्रभाव कृषि के उत्पादन पर भी पडता है। यदि किसी कृषक की अपनी ही भूमि हो या भूमि पर सदा के लिये अपना ही अधिकार हो तथा राज्य को अधिक लगान नहीं देना पडता हो, तो वह बहुत लगन और उत्साह के साथ कृषि करेगा जिसके फलस्वरूप कृषि में उपज अधिक होगी। अन्य कृषक जिनकी भूमि अपनी स्वयं की नहीं होती है या जिनको भूमि पर पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं होता है वे लगन और उत्साह से कृषि नहीं करते जिसके परिणाम स्वरूप उत्पादन कम होता है। इस प्रकार भू-धारण-पद्धति तथा मालगुजारी प्रथा देशवासियों के जीवन-स्तर को भी प्रभावित करती है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार राष्ट्रोन्नति के लिये सुव्यवस्थित शासन प्रबन्ध आवश्यक है, उसी प्रकार कृषि की उन्नति के लिये भूमि की उचित व्यवस्था भी परमावश्यक है। अस्तु, कृषि की उन्नति और विकास के लिये तथा समाज में शान्ति और सन्तोष स्थापित करने के लिये न्याययुक्त भू-धारण पद्धति एवं मालगुजारी प्रथा की परम आवश्यकता है।

भारत में भूमि से सम्बन्धित पक्ष—भारत में भूमि का वास्तविक स्वामी राज्य अथवा सरकार है क्योंकि भारत की समस्त भूमि एक प्रकार से उसी की ही है। इसलिये यह सबसे बडा जमींदार या सर्वोच्च भू-स्वामी (Supreme Landlord) कहा जा सकता है। कभी-कभी राज्य सरकार भूमि के निश्चित भागों को कुछ व्यक्तियों में वितरण कर उन्हें उन भूमियों में स्वामित्व या अधिकार दे देती है और वे इसके उपलक्ष में सरकार को मालगुजारी देते रहते हैं। इस प्रकार प्राप्त भूमि पर वे स्वयं कृषि करें अथवा कृषकों को लगान पर उठा दें, यह उनकी इच्छा पर निर्भर है। इन व्यक्तियों को जमींदार (Zamindar) या भू-स्वामी

Landlord) कहते हैं। जब खेत जोतने वाले कृषि के लिए भूमि सीधी सरकार से लगान के आधार पर लेते हैं और उनके व सरकार के मध्य कोई अन्य भू-स्वामी नहीं होता है, तो ऐसे व्यक्ति जिनका भूमि से सम्बन्ध होता है, कृषक (Cultivator or Tenant) या लगानदार (Rent-payer) कहलाते हैं।

भू धारण-पद्धति एवं मालगुजारी प्रथा का अर्थ एवं परिभाषा—अंग्रेजी शब्द 'Land Tenure' का अर्थ 'भू धारण' से है। Land का अर्थ 'भूमि' और 'Tenure' का अर्थ 'धारण' है। Tenure शब्द यूनानी भाषा के 'tenco' शब्द से बना है जिसका अर्थ 'To hold' अर्थात् धारण करना' है। अस्तु, भू धारण-पद्धति से उन नियमों तथा शर्तों से आशय है जिनके आधार पर एक पक्ष दूसरे से कृषि के लिये भूमि प्राप्त करता है। अन्य शब्दों में, भू-धारण पद्धति से हमारा उन अधिकारों तथा दायित्वों से आशय है जिनके आधार पर जमींदार, लगान इकट्ठा करने के लिये या खेती करने के लिये कृषक-आसामियों को देने के लिये, सरकार से जो देश में समस्त उपलब्ध भूमि की सैद्धान्तिक रूप में वास्तविक स्वामी है, प्राप्त करता है, जबकि साधारणतया भू धारण पद्धति से तात्पर्य होता है, उन शर्तों का जिनके आधार पर कृषक जोतने के लिये भूमि प्राप्त करता है।[1]

मालगुजारी प्रथा (Land Revenue System)—वह प्रथा है जिसके अन्तर्गत नियमानुसार सरकार जमींदार से उसकी भूमि पर अधिकार देने के उपलक्ष में मालगुजारी वसूल करती है। जमींदार या भू स्वामी कृषक और सरकार को मिलाने वाला व्यक्ति है जो कृषक से लगान वसूल करके सरकार को मालगुजारी देता है और इस प्रकार कृषक और सरकार के मध्य सम्बन्ध स्थापित रखता है।

मालगुजारी (Land Revenue)—जो राशि सरकार जमींदार से वसूल करती है उसे मालगुजारी कहा जाता है। यह राशि उस लगान का एक भाग होता है जो जमींदार कृषक से वसूल करता है।

लगान (Rent)—जो राशि जमींदार या भू-स्वामी कृषक से भूमि जोतने के लिये देने के उपलक्ष में वसूल करता है, उसे लगान कहते हैं। इस लगान का अर्थ प्रसंविदा लगान से है। वसूल किये हुए लगान का लगभग ४० या ५०

1—"By Land Tenure we mean the rights and liabilities under which the landlord for the collection of revenue or for the letting of his land to the tenant cultivators holds his land form the Government which is in theory the real Proprietor of all the land available in the country while ordinarily Land Tenure means the trems or conditions on which the cultivator cultivates the holding."

Sharma and Nirwan —*First Approach to Economics*, p 318.

प्रतिशत भाग जमीदार को मालगुजारी के रूप मे सरकार या राज्य को देना पड़ता है।

भू-धारण पद्धति एव मालगुजारी प्रथा का वर्गीकरण—भारतवर्ष मे भू-धारण एव मालगुजारी प्रथा दो भागो मे बाँटी जा सकती है—(अ) स्वामित्व प्रथा और (आ) जुताई प्रथा।

(अ) स्वामित्व प्रथा (Proprietory Tenures)—वे नियम या शर्ते जिनके आधार पर जमीदार या कृषक सरकार से भूमि मे स्वामित्व का अधिकार प्राप्त करता है, स्वामित्व प्रथा का निर्माण करती है। जमीदारी महलवारी और रैयतवारी प्रथाएँ स्वामित्व प्रथा के कुछ उदाहरण है।

(आ) जुताई प्रथा (Cultivating Tenures)—वे नियम या शर्ते जिनके आधार पर कृषक जमीदार से (अथवा सरकार से जहाँ रैयतवारी प्रथा प्रचलित है) जोतने के लिए भूमि प्राप्त करता है, जुताई प्रथा कहलाती है। उत्तर प्रदेश के सन् १६३६ के भू धारण एव मालगुजारी कानून अर्थात् काश्तकारी कानून (Tenancy Act) के अनुसार स्थायी-मध्यस्थ किसान, स्थिर लगान देने वाले किसान, पूर्व स्वामित्व वाले किसान, मौरूसी किसान, गैर-मौरूसी आदि किसान, जुताई प्रथा के कुछ उदाहरण है।

(अ) स्वामित्व-प्रथा (Proprietory Tenures)—भारत मे स्वामित्व प्रथा के अन्तर्गत प्रचलित भू-धारण एव मालगुजारी प्रथाएँ—भारत मे अनेक प्रकार की भू धारण एव मालगुजारी प्रथाएँ प्रचलित है जिनमे से मुख्य निम्नलिखित है —

१. जमीदारी प्रथा (Zamindari System)—इस प्रथा के अन्तर्गत राज्य या सरकार की ओर से जमीदार को भूमि के स्वामित्व का अधिकार होता है जिसके उपलक्ष मे वह सरकार को निश्चित मालगुजारी देता है। इस प्रकार सरकार से प्राप्त भूमि का स्वामी जमीदार होता है और उस क्षेत्र या सम्पूर्ण गाँव की सरकारी मालगुजारी का भुगतान करने का उत्तरदायित्व जमीदार का ही होता है। प्राय जमीदार स्वय खेती नही करता बल्कि वह भूमि को लगान पर उठा कर किसानो से लगान वसूल करता है। इस लगान का लगभग ५० प्रतिशत भाग जमीदार को सरकार के खजाने मे मालगुजारी के रूप मे जमा करना पड़ता है और शेष उसकी जेब मे चला जाता है। इस प्रथा मे किसान और सरकार के मध्य कोई सीधा सम्बन्ध नही होता। यह प्रथा बगाल, बिहार, उड़ीसा, मद्रास के उत्तरी पूर्वी जिलो मे तथा उत्तर प्रदेश मे वाराणसी कमिश्नरी मे प्रचलित है। इनके अतिरिक्त पजाब मध्य प्रदेश और आसाम के कुछ भागो मे भी यह प्रथा पाई जाती है। अवध के ताल्लुकेदार भी जमीदार ही माने जाते है और बड़े बड़े इलाको की मालगुजारी देते है। इनमे से कई प्रान्तो मे तो जमीदारी उन्मूलन की योजनाएँ बन चुकी है।

जमीदारी प्रथा मे मालगुजारी निर्धारित करने के ढग—जमीदारी प्रथा मे मालगुजारी निर्धारित करने के मुख्यत दो ढग है—(क) स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement) और (ख) अस्थायी बन्दोबस्त (Temporary Settlement)। स्थायी बन्दोबस्त अर्थात् स्थायी भूमि व्यवस्था मे जमीदारो से ली जाने वाली मालगुजारी सदा के लिए निश्चित कर दी गई है और उस बढ़ाया

या घटाया नहीं जा सकता। यह ढंग बंगाल, बिहार, मद्रास के उत्तरी पूर्वी भाग तथा उत्तर प्रदेश में बाराणसी कमिश्नरी में प्रचलित है। इसके विपरीत अस्थायी बन्दोबस्त अर्थात् अस्थायी भूमि व्यवस्था में मालगुजारी को घटाने बढ़ाने का अधिकार सरकार को होता है और निश्चित अवधि के पश्चात् (प्रायः १०, २०, ३०, ४० वर्षों के पश्चात्) जाँच पड़ताल करके भूमि की उर्वरा शक्ति के आधार पर मालगुजारी की राशि में परिवर्तन कर दिया जाता है। बंगाल के कुछ भाग में और उत्तर प्रदेश के अवध के ताल्लुकदारों में अस्थायी बन्दोबस्त है।

जमींदारी प्रथा के गुण (Merit)—(१) भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अधिकाधिक मालगुजारी प्राप्त करने के उद्देश्य से इसे अपनाया था और उनका यह उद्देश्य निस्सन्देह पूर्ण हुआ। उनका उस समय कृषि के विकास या भूमि की उन्नति से कोई सम्बन्ध नहीं था। (२) इस प्रथा से दूसरा लाभ यह हुआ कि इसके अपनाने से एक ऐसे वर्ग को जन्म मिला जो सर्वदा कम्पनी के शासन को स्थायी बनाने के लिये प्रयत्न करते रहे। इस प्रकार इस प्रथा से राजनैतिक दृष्टि से लाभ था।

दोष (Demerits)—(१) जमींदार बिना परिश्रम के धन प्राप्त करते हैं और उसका उपयोग अपने व्यक्तिगत सुख के लिए करते हैं समाज हित के लिए नहीं। निठल्ले जमींदार किसानों की गाढ़ी कमाई से बड़े बड़े मौज उड़ाते हैं।

(२) जमींदार वर्ग देश हित के लिये समाज का नेतृत्व ग्रहण करने में असमर्थ रहे हैं। अधिकतर जमींदार ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समर्थक व सहायक और राष्ट्रीय आन्दोलन के शत्रु थे।

(३) जमींदार किसानों का नाना प्रकार से शोषण करते हैं। वे गैर मौरूसी किसानों से मनमाना लगान वसूल करते हैं और समय समय पर उनको बेदखल करने की धमकी देते रहते हैं।

(४) जमींदार त्यौहार तथा विवाह आदि के अवसरों पर किसानों से नजराना (भेंट) व अनेक अन्य लाग लेते हैं।

(५) जब कोई कृषक अपने खेतों की स्थायी उन्नति के लिये चकबन्दी या अन्य कार्य करना चाहते हैं तब जमींदार उसकी स्वीकृति नहीं देते हैं। अधिकांश जमींदार वर्ग सुधार विरोधी प्रकृति का होता है।

(६) जमींदारी प्रथा ने भारतीय कृषि और कृषक को नष्ट कर दिया है। इसने भारतीय कृषकों के आर्थिक जीवन के विकास को रोका है तथा भारतीय कृषि को ठेस पहुँचाई है।

(७) जमींदार प्रायः विलासप्रिय वर्ग रहे हैं। अधिकतर जमींदार शहरों में रहते हैं और अपनी जमींदारी का प्रबन्ध अपने कर्मचारियों पर छोड़ देते हैं जो

कृषकों से अनेक प्रकार की बेगार कराते हैं और अधिकाधिक लगान-प्राप्ति के लिये उन पर अत्याचार करते हैं।

(८) प्रायः कृषक जमींदारों के अत्याचारों के शिकार होते हैं जिससे उन्हें मुकदमेबाजी में फँसना पड़ता है। अतः जमींदारी प्रथा में कृषकों और जमींदारों में मुकदमेबाजी बढ़ती है।

(९) जमींदार प्रायः आर्थिक लगान से भी अधिक लगान वसूल करते हैं जिससे किसानों की आर्थिक दशा बिगड़ जाती है।

(१०) जमींदारी प्रथा के कारण साधारण कृषक का व्यक्तित्व दबा रहता है, वह अपने को नीचा तथा हेय समझता है और उसमें स्वाभिमान की भावना नष्ट हो जाती है।

२. महालवारी या संयुक्त ग्राम्य-प्रथा (Mahalwari or Joint Village System)—इस प्रथा के अन्तर्गत गाँव की भूमि का एक जमींदार-स्वामी नहीं होता जो उस गाँव की मालगुजारी देने का उत्तरदायित्व रखे, बल्कि सारे गाँव की भूमि के सह-भागी (Co-sharer) आपस में मिल कर व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप में सरकार को मालगुजारी देने का उत्तरदायित्व लेते हैं। प्रायः गाँव के प्रतिष्ठित व्यक्ति के साथ जिसे लम्बरदार या मालगुजार कहते हैं सरकार समझौता या इकरार कर लेती है जिसके अनुसार मालगुजारी के भुगतान का प्रथम उत्तरदायित्व उस पर होता है। महाल का पटवारी लम्बरदार को रबी और खरीफ की फसलों के आधार पर वसूल किये जाने वाले सरकारी लगान के ब्यौरे का चिट्ठा बना कर दे देता है। वह इस चिट्ठे के आधार पर प्रत्येक कृषक से लगान वसूल करता है और इस प्रकार वसूल हुई कुल राशि को सरकारी खजाने में जमा कर देता है अथवा मनीआर्डर द्वारा भेज देता है। लम्बरदार को इस कार्य के लिये समस्त वसूल की गई राशि पर निश्चित कमीशन दिया जाता है। मध्य प्रदेश में उसे 'मालगुजार' कहते हैं। इस प्रथा में अस्थायी बन्दोबस्त (Temporary Settlement) होता है जो बीस या तीस साल के लिये किया जाता है। बन्दोबस्त के समय महाल (एक या अनेक गाँवों-युक्त एस्टेट का नाम महाल है) की भूमि का लगान-सम्बन्धी मूल्य (Rental Value) निर्धारित किया जाता है और उसके आधार पर ५०% से अधिक मालगुजारी निर्धारित नहीं की जाती है। यह प्रथा पंजाब, मध्य प्रदेश और समस्त उत्तर प्रदेश (अवध को छोड़ कर) में प्रचलित है।

गुण (Merits)—(१) सरकार को मालगुजारी समय पर मिल जाती है।

(२) मालगुजारी का भुगतान सुरक्षित हो जाता है, क्योंकि गाँव के भू-स्वामियों या कृषकों का सरकार को मालगुजारी के भुगतान के लिये व्यक्तिगत एवं समष्टिगत उत्तरदायित्व होता है।

(३) लगान अत्यधिक नहीं होता। महाल का पटवारी रबी और खरीफ की फसलों के आधार पर वसूल किये जाने वाले लगान का ब्यौरे-वार चिट्ठा बनाता है जिसके अनुसार लम्बरदार गाँव के प्रत्येक किसान से लगान वसूल करता है।

(४) भूमि एवं कृषि में उन्नति की जा सकती है।

दोष (Demerits)—(१) इस प्रथा के अन्तर्गत लगान-वसूली के लिये नियत किये गये लम्बरदार को जमींदारों की ही भांति अत्याचार करने का अवसर तो नहीं मिल पाता, परन्तु बन्दोबस्त के समय इन्हीं को किसानों की मालगुजारी निर्धारण में पक्षपात करते देखा गया है।

(२) इस प्रथा के अन्तर्गत अस्थायी बन्दोबस्त होने के कारण बन्दोबस्त के समय मालगुजारी बढ़ने का भय रहता है।

३. रैयतवारी प्रथा (Ryotwari System)—इस प्रथा के अन्तर्गत सरकार तथा रैयत (Ryot) अर्थात् कृषकों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष यानी सीधा होता है। सरकार और कृषक के बीच जमींदार या लम्बरदार जैसा कोई मध्यस्थ नहीं होता। प्रत्येक कृषक स्वतः ही बन्दोबस्त द्वारा निर्धारित मालगुजारी नियत समय पर सरकारी खजाने में जमा करने के लिये उत्तरदायी होता है। सब प्रकार की भूमि (जोती हुई या बेकार पड़ी हुई) का अन्तिम स्वामी सरकार होती है। कृषक भूमि का अधिकार सरकार से प्राप्त करता है। कृषक को अपनी भूमि को जोतने, हस्तान्तरित करने और छोड़ने के अधिकार प्राप्त होते हैं। कृषक का भूमि पर उस समय तक पूरा-पूरा अधिकार रहता है जब तक वह सरकारी मालगुजारी बराबर देता रहता है। इस प्रथा में सरकारी आय 'कर' के रूप में न होकर 'लगान' के रूप में होती है। इस प्रथा में अस्थायी बन्दोबस्त होता है, अर्थात् १० से ३० वर्षों के लिये मालगुजारी निश्चित कर दी जाती है। इस अवधि के पश्चात् सरकारी कर्मचारी प्रत्येक गांव में जाते हैं और भू-मापन (Land Survey) के पश्चात् फसलों के आधार पर भूमि की उर्वरा-शक्ति का अनुमान लगा कर उसका वर्गीकरण करते हैं। इस प्रकार अगले १० से ३० वर्षों के लिए मालगुजारी पुनः निश्चित कर दी जाती है। प्रायः उपज का ५० प्रतिशत अर्थात् आधा भाग लगान के रूप में ले लिया जाता है। यह प्रथा बम्बई, उत्तरी मद्रास, बरार, आसाम और मध्य प्रदेश में पाई जाती है।

गुण—(Merits)—(१) रैयतवारी प्रथा में कृषक भूमि का स्वामी होता है और जब तक वह सरकार को मालगुजारी देता रहता है तब तक उसे बेदखली (Ejectment) का तनिक भी भय नहीं होता है।

(२) इस प्रथा में कृषक दिल लगाकर खेती करता है और उसमें सुधार करने के प्रयत्न करता है। फलतः कृषि का विकास होता है और उत्पादन में वृद्धि होती है।

(३) यह प्रथा जहाँ तक कृषकों का सम्बन्ध है बहुत सुविधाजनक और उपयोगी है। यदि एक कृषक भूमि को जोतना उचित नहीं समझता है या भूमि का लगान अधिक होने के कारण उसका जोतना आर्थिक दृष्टि से लाभकारी नहीं समझता है तो वह उस भूमि को बड़ी सुगमता से छोड़ सकता है।

(४) रैयतवारी प्रथा में कृषक की स्थिति एक छोटे-मोटे जमींदार की भांति

होती है जिसका सरकार से सीधा सम्पर्क होता है और कोई बीच में मध्यस्थ नहीं होता है।

दोष (Demerits)—(१) रैयतवारी प्रथा में सरकार किसी प्रकार भी किसी अनुपस्थित भू-स्वामी से कम नहीं है। सरकार सर्वदा अपना स्वार्थ लगान-वसूली या उसकी वृद्धि में रखती है।

(२) भूमि पर सुधार करने का उत्तरदायित्व सरकार पर न होकर कृषक पर होता है और भारत में सरकार को मालगुज़ारी देने के पश्चात उनके पास जीवन-निर्वाह के लिये भी आय नहीं बचती। परिणामतः वह भूमि पर सुधार नहीं कर पाता है।

(३) निस्सन्देह रैयतवारी में कृषक और सरकार के बीच मध्यस्थ नहीं होता है। परन्तु देखा गया है कि कृषक अपनी भूमि अन्य किसानों को दे देते हैं और वह उनसे लगान लेते हैं जिससे रैयतवारी प्रथा की उपयोगिता कम हो गई है क्योंकि उससे ज़मींदारी की भाँति अनेक दोष उत्पन्न हो गये हैं।

(४) इस प्रथा का एक दोष यह भी है कि किसान भूमि सुधार के लिये किये गये व्यय एवं श्रम का पूरा उपयोग नहीं कर पाता क्योंकि बन्दोबस्त के समय मालगुज़ारी बढ़ जाने से इस बढ़े हुए उत्पादन का बहुत कुछ भाग लगान के रूप में बढ़ा दिया जाता है।

उपर्युक्त विभिन्न भू-धारण एवं मालगुज़ारी प्रथाओं का वर्गीकरण सन् १९५०—५१ ई० में निम्न प्रकार था —

	भू-धारण एवं मालगुज़ारी प्रथा का नाम	क्षेत्रफल (लाख एकड़ में)	कुल भूमि का प्रतिशत भाग
१.	ज़मींदारी (स्थायी बन्दोबस्त)	१२००	२१%
२.	ज़मींदारी तथा महालवारी (अस्थायी बन्दोबस्त)	१९९०	३९%
३.	रैयतवारी	१८३०	३६%

बन्दोबस्त या भूमि व्यवस्था (Settlement)—भूमि के उन वर्गीकरण या विभाजन को जिसके द्वारा (क) सरकार को मिलने वाली मालगुज़ारी की राशि, (ख) सरकार को मालगुज़ारी देने के लिये उत्तरदायी व्यक्तियों, और (ग) भूमि में व्यक्तिगत अधिकारों को निश्चय किया जाता है, उस बन्दोबस्त या भूमि व्यवस्था कहते हैं। बन्दोबस्त में सभी प्रकार के कृषकों के व्यक्तिगत अधिकारों का स्पष्टीकरण हो जाता है, लगान-भुगतान के उत्तरदायी पक्ष का पता लग जाता है तथा लगान की निश्चित राशि जानी जा सकती है। बन्दोबस्त सरकार द्वारा किया जाता है।

बन्दोबस्त के भेद (Kinds of Settlement)—भारतवर्ष में दो प्रकार का बन्दोबस्त प्रचलित है :—

१. स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement), और २. अस्थायी बन्दोबस्त (Temporary Settlement)।

१. स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement)—वह भूमि-व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत प्रति वर्ष वसूल की जाने वाली मालगुजारी सदा के लिये निश्चित कर दी जाती है। इस व्यवस्था में जमींदार को भूमि का स्वामी मान लिया जाता है और उसे निश्चित मालगुजारी सरकार को देनी पड़ती है। जब तक वह निश्चित मालगुजारी देता जाता है, तब तक भूमि उससे नहीं छीनी जा सकती। जमींदार सरकार के बनाये हुये नियमों का पालन करते हुये मन-चाहा लगान किसानों से वसूल कर सकता है। स्थायी बन्दोबस्त सन् १७९३ ई० में लॉर्ड कॉर्नवालिस (Lord Cornwallis) ने सबसे पहले बंगाल में जारी किया था। इसके पश्चात् यह प्रथा भारत के अन्य भागों में जारी की गई और यह आजकल बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तरी मद्रास, आसाम, वाराणसी कमिश्नरी और अजमेर-राज्य में पाई जाती है।

स्थायी बन्दोबस्त का संक्षिप्त इतिहास—सन् १७६५ से १७९३ तक बंगाल में मालगुजारी इकट्ठा करने का काम कुछ ठेकेदारों को दिया जाता था। मालगुजारी इकट्ठा करने के ठेके नीलाम होते थे और बोली लगती थी। ठेकेदार किसानों से मनमाना लगान वसूल करते थे और सरकार को भी अनिश्चित राशि मालगुजारी के रूप में मिलती थी। अस्तु, विवश होकर सन् १७९३ ई० में लॉर्ड कॉर्नवालिस को स्थायी बन्दोबस्त का सहारा लेना पड़ा। मालगुजारी इकट्ठा करने वाले कारिन्दे जमींदार मान लिए गये और भूमि की मालगुजारी सदा के लिये निश्चित कर दी गई। सम्भव है कि उस समय की परिस्थिति के अनुसार यह व्यवस्था उचित हो सकती थी, परन्तु समय बीतने के साथ इस व्यवस्था के दोष प्रकट होने लगे जिनके कारण अब इस प्रथा का अन्त होना प्रारम्भ हो गया है।

स्थायी बन्दोबस्त के गुण (Merits)—इस बन्दोबस्त में निम्नांकित गुण पाये जाते हैं।

१. मालगुजारी की निश्चितता—इस व्यवस्था में सरकार को मालगुजारी की निश्चित राशि प्राप्त हो जाती है। इसमें मालगुजारी सम्बन्धी अनिश्चितता नहीं रही।

२. बन्दोबस्त एवं लगान-वसूली पर कम व्यय—इस प्रकार के बन्दोबस्त में सरकार बार बार बन्दोबस्त करने के झंझट और व्यय से बच जाती है तथा उसे लगान वसूल करने में कोई कठिनाई तथा व्यय नहीं होता। उन्हें नियत समय पर जमींदारों द्वारा मालगुजारी की राशि प्राप्त होती रहती है।

३. भूमि के उत्पादन में वृद्धि—इस बन्दोबस्त में लगान के बढ़ने का भय नहीं रहता। अतः उत्साही जमींदार भूमि की उत्पादन-शक्ति बढ़ाने के लिये आवश्यक प्रयत्न और व्यय करने के लिये प्रोत्साहित होते हैं जिससे वे भूमि को अधिक लगान पर उठा सकें। इसके लिये जमींदारों का शिक्षित, परिश्रमी और योग्य होना आवश्यक है।

४. राजनैतिक लाभ—इस भूमि-व्यवस्था से जमींदारी-प्रथा को प्रोत्साहन

मिला। जमींदार सरकार के भक्त बन गये और इन्होंने ब्रिटिश सरकार की अन्त तक बड़ी सहायता की।

५. जमींदार ग्राम्य निवासियों का स्वाभाविक नेता हो गया—स्थायी बन्दोबस्त के परिणामस्वरूप जमींदार के रूप में ग्राम के निवासियों का स्वाभाविक नेता प्राप्त हो गया। स्थायी बन्दोबस्त के प्रशंसकों के अनुसार जमींदारों ने किसानों की दशा सुधारने के लिए बहुत से स्कूल तथा अस्पताल आदि खुलवाये जिससे रैयत की दशा में सुधार हुआ। साथ ही साथ स्थायी बन्दोबस्त से कृषि में सुधार भी हुआ।

स्थायी बन्दोबस्त के दोष (Demerits)—श्री एफ० एन० डी० फ्लाउड की अध्यक्षता में नियुक्त बंगाल मालगुजारी कमीशन सन् १६४० ने स्थायी बन्दोबस्त की निम्नांकित दोषों के कारण समाप्त करने की सिफारिश की थी —

१. सरकार को आर्थिक हानि—कृषि की उत्पादन शक्ति में वृद्धि, कृषि के विस्तार एवं जन संख्या के बढ़ने से होने वाली भूमि के मूल्य-वृद्धि से सरकार को कुछ भी नहीं मिल पाता। बन्दोबस्त स्थायी होने के कारण सारा लाभ जमींदार को मिल जाता है। इसके अतिरिक्त जमींदारों की भूमि में पाए जाने वाले खनिज पदार्थ, मछली आदि के व्यापार से होने वाले लाभ को स्वयं हड़पने का अधिकार रहता है और सरकार को किसानों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं हो पाता। उक्त कमीशन ने अनुमान लगाया था कि मालगुजारी को सदा के लिए निश्चित कर देने के कारण बंगाल सरकार को २ करोड़ से ८ करोड़ रुपए की क्षति होती है।

२. औद्योगिक उन्नति में बाधा—स्थायी बन्दोबस्त प्रारम्भ करते समय सरकार को यह आशा थी कि जमींदार अपनी बढ़ी हुई आय को उद्योग धन्धों में लगायेंगे, परन्तु उन्होंने इस राशि को कृषि एवं उद्योग धन्धों में न लगाकर आमोद प्रमोद आभूषण आदि में व्यय करना आरम्भ कर दिया था।

३. कृषि की उन्नति में उदासीनता—स्थायी बन्दोबस्त करते समय यह भी आशा थी कि जमींदारों द्वारा कृषि की उन्नति होगी और किसानों की बिगड़ी हुई दशा में सुधार होगा परन्तु यह दुराशा मात्र सिद्ध हुई। अधिकांश जमींदारों ने भूमि एवं कृषि की उन्नति की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। वे केवल विलासिता का ही जीवन व्यतीत करते रहे।

४. सरकार और किसान के मध्य प्रत्यक्ष सम्पर्क का अभाव—सरकार तथा किसानों के मध्य जमींदार एक दलाल की भाँति रहता है। अतः सरकार और किसान में कोई सीधा सम्पर्क नहीं होता जिससे सरकार किसानों की वास्तविक दशा से अनभिज्ञ रहती है।

५. भूमि सम्बन्धी रेकार्डों का अभाव—इस व्यवस्था में भूमि सम्बन्धी रेकार्ड नहीं रखे जाते हैं, इसलिए भूमि एवं कृषि सम्बन्धी प्रगति का ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता तथा किसानों के अधिकारों का ज्ञान भी नहीं हो पाता है।

कमीशन द्वारा बताये गये उक्त दोषों के अतिरिक्त स्थायी बन्दोबस्त के कुछ अन्य दोष निम्नलिखित हैं —

६. कृषकों का शोषण—जमींदार कृषकों का नाना प्रकार से शोषण करते हैं। वे कृषकों से मनमाना लगान वसूल करते हैं तथा उनसे बेगार करवाते हैं। त्यौहार

व विवाह आदि अवसरों पर किसानों को नजराना आदि देने के लिये विवश करते हैं। वे शहरों में विलासिता का जीवन व्यतीत करते है और गाँवों मे उनके कारिन्दे और गुमाश्ते किसानों को लूटते हैं तथा उन पर अत्याचार करते है।

७. मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन—इस भूमि व्यवस्था की त्रुटियाँ जमींदारों और किसानों के मध्य बढ़ी हुई मुकदमेबाजी का मूल कारण है। जमींदार किसानों को सदा बेदखल करने की घात लगाये रहते हैं।

८. सकट-काल में लगान की छूट आदि सुविधा का अभाव—अस्थायी बन्दोबस्त में अकाल या बाढ़ के समय फसल नष्ट हो जाने पर सरकार द्वारा मालगुजारी या लगान कम कर दिया जाता है अथवा माफ कर दिया जाता है, परन्तु स्थायी बंदोबस्त में इस प्रकार की सुविधा का पूर्णतया अभाव होता है।

९. जन हित एवं सामाजिक कार्यों का अभाव—अधिकांश जमींदार अपने लाभ के लिये ही अधिक इच्छुक थे और इस कारण इन्होंने जनता की भलाई के लिए पाठशालाएँ, औषधालय आदि नहीं खुलवाये।

१०. जमींदारी प्रथा के राजनैतिक लाभ की प्रभाव शून्यता—जमींदारी प्रथा का राजनैतिक दृष्टि से जो लाभ था उसका अब कोई महत्व नहीं रहा। प्रजातन्त्र मे वर्गों के समर्थन और उनकी राजभक्ति की आवश्यकता नहीं होती अपितु, जन-साधारण के समर्थन और देश भक्ति की आवश्यकता होती है।

अस्थायी बन्दोबस्त (Temporary Settlement)—वह भूमि-व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष वसूल की जाने वाली मालगुजारी एक निश्चित अवधि के लिए ही निर्धारित की जाती है। इस अवधि के समाप्त होने पर पुन. बन्दोबस्त किया जाता है। प्रत्येक नये बन्दोबस्त के समय भूमि की बढ़ी हुई उत्पादन शक्ति के अनुसार लगान में वृद्धि कर दी जाती है। भिन्न भिन्न प्रान्तों में बन्दोबस्त की अवधि पृथक् पृथक् है। जैसे पंजाब और उत्तर प्रदेश में ४० वर्ष, मद्रास में ३० वर्ष, मध्य प्रदेश में २०-३० वर्ष पश्चात् बन्दोबस्त किया जाता है। बगाल को छोड़कर सभी प्रान्तों में अस्थायी बन्दोबस्त पाया जाता है। यह बन्दोबस्त तीन प्रकार का होता है—जमींदारी-प्रथा, महालवारी प्रथा और रैयतवारी प्रथा।

अस्थायी बान्दोबस्त के गुण (Merits)

(१) स्थायी बन्दोबस्त के दोषों का निराकरण—इसमें वे सभी दोष नहीं पाये जाते है जो स्थायी बन्दोबस्त में पाये जाते है। इनका वर्णन पहले किया जा चुका है।

(२) भूमि के मूल्य की वृद्धि का मालगुजारी पर प्रभाव—इस प्रथा मे एक निश्चित अवधि के पश्चात् पुन लगान निर्धारित किया जाता है। इससे प्रत्येक बन्दोबस्त के समय भूमि के मूल्य में की गई वृद्धि के अनुसार मालगुजारी भी बढ़ाई जा सकती है। इस बढ़ी हुई आय को सरकार समाज-कल्याण के कार्यों पर व्यय कर देता है।

(३) किसानों द्वारा भूमि-सुधार के लाभों का उपभोग—बन्दोबस्त के समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि किसानों द्वारा लगाये हुए श्रम और पूँजी से जो उत्पादन वृद्धि हुई है उसका लाभ उन्हें भी मिल सके।

(४) सरकार के कृषि-भूमि के ज्ञान में वृद्धि—इस व्यवस्था के अन्तर्गत किसानों की कृषि भूमि का आवश्यक लेखा—खतौनी, खसरा आदि गाँवों में किया जाता है। इसके अतिरिक्त जोत की भूमि का क्षेत्रफल एवं उसकी अनुमानित पैदावार का भी विवरण रखना पड़ता है। पटवारी इस कार्य को गाँव के मुखिया और लम्बरदार की सहायता से किया करते हैं। इससे सरकार को न केवल बन्दोबस्त करने में सुविधा होती है वरन् किसानों को भी बन्दोबस्त के समय भूमि नापने या पड़त छोड़ कर लगान में कमी कराने में सफलता नहीं मिल पाती।

(५) जमींदार कृषकों का अहित नहीं कर सकते—इस प्रथा में जमींदार कृषकों का अहित नहीं कर पाते हैं क्योंकि जमींदारों की आय अधिक होने पर सरकार भी मालगुजारी बढ़ा देती है।

(६) संकट काल में मालगुजारी की कमी या छूट - अकाल या बाढ़ के समय सरकार मालगुजारी में आवश्यक कमी या छूट भी कर देती है जिससे कृषकों को कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

(७) परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार मालगुजारी की राशि में हेर फेर—*अस्थायी बन्दोबस्त का एक लाभ यह भी है कि परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार* सरकार मालगुजारी की राशि में हेर फेर कर सकती है।

अस्थायी बन्दोबस्त के दोष (Demerits)

(१) बार-बार बन्दोबस्त करने की झंझट व खर्चा—अस्थायी बन्दोबस्त की समय समय पर करने की झंझट एवं व्यय इसका एक मुख्य दोष है।

(२) स्थायी बन्दोबस्त से होने वाले समस्त लाभों का अभाव—इसमें स्थायी बन्दोबस्त से होने वाले समस्त लाभों की कमी रहती है। कृषकों को सदैव ही यह भय बना रहता है कि उनका लगान कहीं बढ़ न जाय। अतः खेती को उन्नत करने के लिये वे विशेष प्रयत्नशील नहीं रहते हैं।

(३) मालगुजारी की अनिश्चितता—अस्थायी बन्दोबस्त में मालगुजारी निश्चित नहीं होती और समय समय पर बदलती रहती है।

(४) बन्दोबस्त के समय मालगुजारी में अनुचित वृद्धि—किसी प्रान्त में बन्दोबस्त ३० वर्षों बाद होता है तो किसी में २० वर्षों बाद और किसी में १० वर्षों बाद। यदि बन्दोबस्त ऐसे वर्ष पड़ गया जब फसल अच्छी हुई है तो कृषकों पर मालगुजारी बहुत बढ़ा दी जाती है और अगले बन्दोबस्त के समय तक उन्हें उतनी ही मालगुजारी देनी पड़ती है, चाहे पैदावार कम हो या अधिक।

(५) बन्दोबस्त-विभाग में भ्रष्टाचार—इस प्रथा का सबसे बड़ा दोष यह है कि बन्दोबस्त अधिकारी बन्दोबस्त के समय लगान वृद्धि का भय दिखा कर कृषकों को सताते थे, उनसे घूस ले लिया करते थे तथा उन्हें अपने श्रम और व्यय द्वारा बढ़ाई गई उत्पादन शक्ति का लाभ नहीं मिलने देते थे। परन्तु आजकल इन दोषों को बहुत कुछ अंशों में दूर कर दिया गया है। इसी से यह प्रथा सर्वप्रिय बन गई है।

[स] जुताई-प्रथा (Cultivating Tenures)—अब तक हमने भारत में स्वामित्व प्रथा के अन्तर्गत प्रचलित भू धारण मालगुजारी पद्धतियों का विवेचन

किया है। अब हम जुताई प्रथा के अन्तर्गत प्रचलित कृषको के भूमि-सम्बन्धी अधिकारो का अध्ययन करेंगे। भारत मे कृषि प्रान्तीय विषय है अर्थात् इसका संचालन एव नियन्त्रण प्रान्तीय शासन व्यवस्था के अन्तर्गत आता है। अत विभिन्न प्रान्तों के विभिन्न समय पर पास किये गये भू-धारण एव मालगुजारी कानून अर्थात् काश्तकारी कानून (Tenancy Acts) कृषको के कानूनी अधिकारो की व्यवस्था करते है। यहाँ सब प्रान्तो के काश्तकारी कानूनो के अन्तर्गत वर्णित कृषकों के अधिकारो का विवेचन करना सम्भव नही है। अत पाठक-गण इस विषय की जानकारी आगे 'उत्तर प्रदेश की मालगुजारी प्रथा' के विवरण मे कर लेवें।

उत्तर प्रदेश मे भू-धारण एव मालगुजारी प्रथा

(Land Tenures in U P.)

सन् १९५२ के पूर्व तक की दशा: स्वामित्व वाली मालगुजारी प्रथाएँ (Proprietory Tenures)

स्वामित्व वाली मालगुजारी प्रथाओं के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश म दो प्रकार की भू धारण एव मालगुजारी प्रथाएँ प्रचलित हैं—(१) जमींदारी प्रथा तथा (२) महालवारी या संयुक्त ग्राम्य प्रथा। उत्तर प्रदेश मे रैयतवारी प्रथा नही है।

(१) जमींदारी प्रथा (Zamindari System)—उत्तर प्रदेश म जमींदारी प्रथा वाराणसी डिवीजन और अवध म प्रचलित है। वाराणसी डिवीजन मे स्थायी बन्दोबस्त है और अवध के ताल्लुकेदारों के साथ अस्थायी बन्दोबस्त है।

अंग्रेजो को देश के विभिन्न प्रान्तो म प्रचलित मालगुजारी प्रथाओ का उस समय ज्ञान न था और वे बंगाल वाला स्थायी बन्दोबस्त ही अन्य प्रान्तो मे स्थापित करना चाहते थे। इसलिये सन् १७९५ ई० म उन्होने बनारस डिवीजन का लगान वसूल करने के लिये कुछ व्यक्तियो को नियुक्त कर उनको भूमि मे स्वामित्व का अधिकार दे दिया और साथ ही मे उनकी मालगुजारी सदा के लिये निश्चित कर दी अर्थात् उनके साथ स्थायी बन्दोबस्त कर दिया। अब मे ही उत्तर प्रदेश मे केवल वाराणसी डिवीजन म ही जमींदारी प्रथा स्थायी बन्दोबस्त के रूप मे प्रचलित है।

अवध म सरकार ने मालगुजारी भुगतान के लिये ताल्लुकेदारो म अल्पकालीन या अस्थायी समझौते किये। अस्तु, अवध मे मालगुजारी-भुगतान का उत्तरदायित्व ताल्लुकेदारो पर होता है जो कृषको से लगान वसूल करने का व्यय और कुछ भाग अपने लिये वसूल की गई राशि म से काट कर शेष सरकार को मालगुजारी के रूप म दे देते हैं। इन ताल्लुकेदारो का जमींदारो की भाँति भूमि पर कुछ भी अधिकार नहीं होता है। उनका कार्य तो केवल किसानो से लगान वसूल करना ही है। ताल्लुकेदारो के साथ अस्थायी बन्दोबस्त प्रायः ३० वर्ष के लिये ही किया जाता है।

(२) महालवारी या संयुक्त ग्राम्य प्रथा (Mahalwari or Joint Village System)—वाराणसी-डिवीजन और अवध को छोड कर शेष उत्तर प्रदेश मे महालवारी या संयुक्त ग्राम्य प्रथा प्रचलित है। इस प्रथा के अन्तर्गत गाँव की भूमि के सह भागी आपस मे मिल कर सरकारी मालगुजारी के भुगतान का व्यक्तिगत एव सामूहिक रूप मे उत्तरदायित्व स्वीकार करते हैं। व्यवहार म गाँवो वालो का प्रतिनिधि जिसे लम्बरदार या मालगुजार कहते हैं, सरकार से समझौता करता है। महाल का

लम्बरदार अपने महाल के किसानों से लगान वसूल करके उसमें से कुछ प्रतिशत काट कर मालगुजारी सरकारी खजाने में जमा कर देता है। इस प्रकार लगान और मालगुजारी का अन्तर उसकी आय है। इस प्रथा में अस्थायी बन्दोबस्त होता है जो प्राय २० या ३० साल के लिये होता है।

जुताई की मालगुजारी प्रथाएँ (Cultivating Tenures)—उत्तर प्रदेश के सन् १९३६ के काश्तकारी कानून (Tenancy Act) के अनुसार निम्न प्रकार के कृषक माने गये हैं —

(१) स्थायी मध्यस्थ किसान (Permanent Tenure Holders —ये वे किसान हैं जो स्थायी बन्दोबस्त के समय से ही स्थायी बन्दोबस्त वाले जिलों में स्थायी पट्टे के अन्तर्गत उसी लगान पर खेती करते चले आये हैं और जो जमींदार व वास्तविक किसान के बीच में मध्यस्थ होते हैं। इनके अधिकार पीढ़ी दर पीढ़ी चलते हैं और उनका हस्तान्तरण हो सकता है। ये अपनी जायदाद बेच सकते हैं या उसे गिरवी रख सकते हैं। इस प्रकार के कृषक वाराणसी, बलिया, गाजीपुर, गोरखपुर और आजमगढ़ के जिलों में पाये जाते हैं।

(२) स्थायी मालगुजारी देने वाले किसान (Fixed rate Tenants)—ये स्थायी मध्यस्थ किसानों से मिलते जुलते ही हैं क्योंकि इनकी मालगुजारी भी सदा के लिये निश्चित होती है और इनको भूमि हस्तान्तरित करने का अधिकार होता है। परन्तु भेद यह है कि ये जमींदार और किसान के बीच मध्यस्थ न होकर स्वयं कृषक होते हैं।

(३) पूर्व स्वामित्व वाले किसान (Ex Proprietory Tenants)—ये वे कृषक हैं जो पहले भूमि के वास्तविक स्वामी थे किन्तु अब उनका भूमि का स्वामित्व हाथ से निकल जाने से कानून द्वारा उन्हें सीर पर खेती करने का अधिकार प्राप्त हो गया है। इनका अधिकार पैतृक होता है और इन्हें कम लगान देना पड़ता है।

(४) अवध के विशेषाधिकार वाले किसान—सन् १८८६ के अवध लगान ऐक्ट के पास होने से पूर्व से ही कुछ किसानों के भूमि में जो ही अधिकार चले आ रहे हैं जो वहाँ के मौरूसी किसानों के हैं। इन्हें कुछ विशेष दशाओं में भूमि मिली थी जो उन्हीं दशाओं में अभी तक उनके अधिकार में चली आ रही है।

(५) मौरूसी किसान (Occupancy Tenants)—जो किसान बारह वर्ष तक निरंतर एक ही भूमि को जोतता रहे वह मौरूसी किसान हो जाता है। लगान देते रहने पर इसे बेदखल नहीं कराया जा सकता। इसका लगान बैदाव व गोदाम के समय ही घटाया बढ़ाया जा सकता है।

(६) पैतृक किसान (Hereditary Tenants)—ये वे कानूनी किसान (Statutory Tenants) हैं जो उ० प्र० काश्तकारी कानून सन् १९४० के अन्तर्गत पैतृक किसान बना दिये गए हैं। पैतृक किसान मौरूसी किसानों से भिन्न हैं क्योंकि ये दोनों अलग अलग दर से लगान देते हैं।

(७) गैर मौरूसी किसान—ये साधारणतया जमींदारों की सीर या खुद काश्त भूमि जोतते हैं। इनका लगान जमींदार की सुविधानुसार घटाया बढ़ाया जा

सकता है और इन्हें सुगमता से बेदखल किया जा सकता है। इन किसानों की आर्थिक दशा शोचनीय है।

(८) शिकमी-दर शिकमी किसान (Sub tenants)—ये वे किसान हैं जिनके पास अपनी निज की भूमि नहीं होती है बल्कि दूसरे किसानों की भूमि बटाई या निश्चित लगान पर जोतते हैं। यह लगान घटाया-बढ़ाया जा सकता है और इन्हें आसानी से बेदखल भी किया जा सकता है। इन किसानों की दशा अत्यन्त दयनीय है।

वर्तमान भू धारण एव मालगुजारी प्रथा

सन् १९५० के उत्तर प्रदेशीय जमींदारी उन्मूलन कानून के अनुसार १ जुलाई १९५२ को उत्तर प्रदेश के २० लाख जमींदार अधिकार च्युत कर दिये गये। फलत: अब उक्त कानून के अन्तर्गत निम्न प्रकार के किसान पाये जाते हैं :—

१. भूमिधर (Bhumidhar) – उक्त कानून के लागू होने के ठीक पूर्व के जमींदार आदि जो सरकार और किसान के बीच म मध्यस्थ थे, जिनके पास बाग, खुद काश्त व सीर की भूमि थी तथा जिन्होंने वार्षिक लगान का दस गुना रुपया 'जमींदारी उन्मूलन कोष' में जमा करा दिया है, वे भूमिधर होंगे। इनका भूमि पर स्थायी, वंश-परम्परागत तथा हस्तान्तर करने का अधिकार होगा। ये भूमि से हटाये नहीं जा सकते। अभी तक जो लगान ये देते हैं उसका आधा लगान ही इन्हें देना पड़ेगा और ४० वर्ष तक यह बदला नहीं जायगा। ये अपनी भूमि का इच्छानुसार प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु ये अपनी भूमि किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं बेच सकते जिसके पास पहले की ३० एकड़ या उससे अधिक भूमि हो।

२. सीरदार (Sirdar)—इस कानून के लागू होने के ठीक पहले जिन किसानों को मौरूसी अधिकार प्राप्त थे जिन्होंने भूमिधर पद प्राप्त नहीं किया है, वे सब सीरदार बना दिये गये हैं। इनका भूमि पर स्थायी वंश-परम्परागत अधिकार होगा पर वे भूमि को न तो बेच सकेंगे न बन्धक पर ही रख सकेंगे। ये भूमि को खेती फल उत्पन्न करने तथा पशु पालने के अतिरिक्त किसी अन्य काम म नहीं ला सकते। सीरदारों को अब जमींदारों को लगान देने की आवश्यकता नहीं, अब वे सीधे सरकार को लगान देंगे। कोई भी सीरदार यदि लगान का दस गुना सरकार को दे देगा तो वह भूमिधर बनने का अधिकारी हो जायगा।

३. आसामी (Asami)—इस कानून के लागू होने के ठीक पूर्व वे किसान जो किसी बाग के शिकमी काश्तकार थे, जो स्थायी भूमि को जोतते थे, जो किसी भूमिधर या सीरदार की भूमि पट्टे पर जोतते थे तथा किसी सीरदार ने उनके पास भूमि रहन रखी थी, आसामी कहलायेंगे। आसामी किसानों का अधिकार मौरूसी होता है परन्तु यह स्थायी नहीं होता है।

४. अधिवासी (Adhivasi)—इस कानून के लागू होने के ठीक पहले जो व्यक्ति किसी भाग की भूमि के अतिरिक्त किसी अन्य भूमि का शिकमी काश्तकार था या जो सीर-काश्तकार था, वह अधिवासी बन गया। इनको पाँच वर्ष तक भूमि अपने पास रखने का अधिकार प्राप्त है। कानून लागू होने के पाँच वर्ष के भीतर अपने लगान का पन्द्रह गुना देने पर ये किसान भूमिधर बन सकते हैं।

जमींदारी प्रथा का जन्म एवं विकास तथा उन्मूलन

जमींदारी प्रथा का जन्म एवं विकास—भारतीय इतिहास का अध्ययन यह बताता है कि जमींदारी प्रथा का प्रादुर्भाव मुगल राज्य-काल में ही हुआ। मुगल साम्राज्य के अन्तिम सम्राट शाह आलम से सन् १७६५ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अर्थात् मालगुजारी वसूल करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। कम्पनी ने मालगुजारी वसूल करने का काम कुछ ठेकेदारों को दे दिया। ये ठेके नीलाम होते थे और बोली लगती थी। ठेकेदार किसानों से मनमाना लगान वसूल करते थे और सरकार को भी अनिश्चित रकम मालगुजारी के रूप में मिलती थी। सन् १७९३ ई० में जब लार्ड कार्नवालिस भारत में गवर्नर-जनरल बन कर आया तो उसने लगान वसूल करने वाले ठेकेदारों (Revenue farmers) को भूमि का स्वामी मान लिया और इनसे वसूल की जाने वाली मालगुजारी की राशि सदा के लिये निर्धारित कर दी और साथ ही उसे अपरिवर्तनीय भी घोषित कर दिया। इस प्रथा को स्थाई बन्दोबस्त कहा जाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि जमींदारी प्रथा को वैधानिकता प्राप्त हो गई और इङ्गलैंड की भू-पद्धति के अनुसार भारतवर्ष में भू-स्वामियों का एक प्रभावशाली वर्ग उत्पन्न हो गया और कृषकों के सिर पर सदा के लिये जमींदार वर्ग लाद दिया गया।

जमींदारी प्रथा के दोष—इसी अध्याय में पीछे इनका विश्लेषण किया जा चुका है। अतः पाठक-गण उन्हें यथा-स्थान पर देख लेवें।

जमींदारी प्रथा का उन्मूलन—जमींदारों के अत्याचारों ने जमींदारी के इन दोषों को और भी तीव्र बना दिया और इसलिये इस प्रथा का घोर विरोध किया जाने लगा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी जमींदारी उन्मूलन को अपने कार्यक्रम में स्थान दिया। सन् १९३८ ई० में बंगाल सरकार ने मालगुजारी तथा स्थायी बन्दोबस्त की जाँच के लिये श्री एफ० एल० सी० फ्लाउड की अध्यक्षता में कमीशन नियुक्त किया। कमीशन के बहुमत की यह राय थी कि जमींदारी प्रथा के दोषों को दूर करने का एकमात्र उपाय उसका उन्मूलन है। कमीशन ने यह भी राय प्रकट की कि जमींदारों को मुआवजा भी दिया जाय। कमीशन के सदस्यों में मतभेद होने के कारण मुआवजे की दर निर्धारित नहीं की जा सकी, परन्तु यह अवश्य स्पष्ट कर दिया गया कि मुआवजा नकद रुपयों में या ऋणाधारी बॉण्डों में दिया जाना चाहिए। यह रिपोर्ट फ्लाउड कमीशन ने सन् १९४० ई० में प्रस्तुत की और तभी से उन प्रान्तीय सरकारों के जिनमें जमींदारी प्रथा प्रचलित है, जमींदारी उन्मूलन के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है।

जमींदारी उन्मूलन में कठिनाइयाँ—जमींदारी उन्मूलन का सिद्धान्त राज्य सरकारों द्वारा स्वीकार किया जाने पर भी इस दशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। इसमें पहली कठिनाई यह है कि मुआवजे के लिये एक बहुत बड़ी राशि की आवश्यकता होती है। मुआवजा देने के लिये लगभग ३४० करोड़ रुपये की धन-राशि की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया है। प्रान्तीय सरकारों के लिये इतनी बड़ी राशि को प्राप्त करना एक बड़ा कठिन कार्य है। दूसरी कठिनाई जमींदारों ने उत्पन्न की। उन्होंने इसका घोर विरोध किया और उन्मूलन कानूनों के पास होने में अनेक बाधाएँ उपस्थित कीं। स्वीकृत उन्मूलन कानूनों को रद्द कराने के लिये उन्होंने सर्वोच्च

न्यायालय (Supreme Court) में अपील की, परन्तु वहाँ भी इन्हें असफलता ही मिली।

जमींदारी उन्मूलन कानून—भिन्न भिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न जमींदारी उन्मूलन कानून पास किये गये हैं जिनका संक्षेप में वर्णन किया जाता है —

उत्तर प्रदेश—जमींदारी उन्मूलन बिल जो सन् १९५० में प्रस्तुत किया गया था उसे उत्तर प्रदेश की विधान सभा ने १० जनवरी सन् १९५१ ई० को पास कर दिया और २४ जनवरी सन् १९५१ को भारत के राष्ट्रपति ने अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। यह विधान १ जुलाई सन् १९५२ ई० से समस्त उत्तर प्रदेश में लागू कर दिया गया है।

कानून की विशेषताएँ—इस कानून की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं

(अ) इस कानून के अनुसार जमींदार को दो से बीस गुना रुपया देकर अधिकार च्युत कर दिया जायगा। सबसे बड़े जमींदारों को उनकी वार्षिक आय की दुगनी राशि तथा सबसे छोटों को बीस गुनी राशि मुआवजे के रूप में दे दी जायेगी।

(आ) जमींदारी उन्मूलन कोष की स्थापना—जमींदारों को मुआवजे के रूप में देने के लिये लगभग १७४ करोड़ रुपये का अनुमान लगाया गया। इस बड़ी राशि को इकट्ठा करना एक बड़ा कठिन काम है। इस कठिनाई को हल करने के लिए कृषकों के लिये यह आकर्षण रखा गया है कि जो कृषक अपने वार्षिक लगान की दस गुनी राशि एक साथ इस कोष में जमा कर देगा उसे भूमिधर अर्थात् भूस्वामी के अधिकार प्राप्त हो जायेंगे। इस कोष में अभी तक ३५ करोड़ रुपया ही जमा हो सका है। अब वार्षिक लगान का ग्यारह गुनी राशि जमा कराने पर भूमिधर के अधिकार प्राप्त हो सकते हैं।

(इ) विभिन्न प्रकार के कृषकों के अधिकार—इस कानून के अन्तर्गत चार प्रकार के कृषक माने गये हैं—भूमिधर, सीरदार, आसामी और अधिवासी। इनका विस्तृत विवरण पहले दिया जा चुका है।

(ई) कुछ स्थानों का समाजीकरण—सरकार निम्नलिखित स्थानों को कभी भी ग्राम्य समाज के अधिकार में ला सकती है—(१) किसी खेत या बाग को छोड़ कर अन्य सभी भूमि (२) गाँव की सीमाओं के भीतर स्थित सभी जंगल (३) खेतों, बाग या आबादी के पेड़ों के अतिरिक्त सभी पेड़ (४) सार्वजनिक कुएँ (५) मत्स्य क्षेत्र (६) हाट बाजार (७) तालाब, पोखर, व्यक्तिगत मार्ग, जल व्यवस्था और आबादी के स्थान।

(उ) सहकारी कृषि की व्यवस्था—इस कानून के अन्तर्गत साधारणतया ३० एकड़ से अधिक बड़े खेत न होंगे जिससे कि जमींदारी प्रथा पुनः स्थापित न हो सके। सहकारी कृषि (Cooperative Farming) को प्रोत्साहन देने के लिये यह छूट रख दी गई कि कोई दस भूमिधर या सीरदार जिनके पास ५० एकड़ या उससे अधिक भूमि हो अपनी भूमि को एक सहकारी खेत में परिणत कर सकते हैं और उसे सहकारिता विभाग के रजिस्ट्रार के पास रजिस्टर करा सकते हैं। इसके फलस्वरूप आधुनिक तथा वैज्ञानिक ढंगों से खेती हो सकेगी। भविष्य में अनार्थिक खेतों (Uneconomic Holding) की वृद्धि को रोकने के लिये प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। भविष्य में खेत ६¼ एकड़ से कम के नहीं होने चाहिये।

(ज) अन्य महत्त्वपूर्ण बातें—(१) जमींदारी समाप्त होने पर उन सब जमींदारों को जो १० हजार रुपये वार्षिक तक मालगुजारी देते हैं पुनर्निवास सहायता (Rehabilitation Grants) भी मिलेगी। जो जमींदार २५० रुपया वार्षिक या इससे कम मालगुजारी देते हैं। उन्हें वार्षिक आय की बीस गुनी पुनर्निवास सहायता दी जायगी। जैसे जैसे आय अधिक होगी यह सहायता भी कम होती जायगी। (२) जिस दिन से जमींदारियाँ समाप्त होंगी उसी दिन से मुआवजा (क्षति पूर्ति) व पुनर्निवास सहायता की राशि पर २½ के हिसाब से जमींदारों को ब्याज दिया जायगा। जमींदारों को मुआवजा २५, १०, ५००, १०००, ५००० और १०,००० रुपया के बाण्डों में दिया जायगा जो बेचे नहीं जा सकेंगे। इन बाण्डों की अवधि ४० वर्ष की होगी और इनका रुपया किश्तों में चुकाया जायगा। (३) जमींदारों को मुआवजा देते समय सभी सरकारी कर काट लिए जायगे। (४) जमींदारी समाप्त होने की तारीख से किसी भी समय किसानों को बेदखल करने के लिए यदि कोई जमींदार प्रार्थना पत्र देगा तो न्यायालय उस पर कोई विचार नहीं करेगा। (५) जो किसान समय पर लगान न देगा तो उसकी गिरफ्तारी की जा सकेगी और उसकी अचल सम्पत्ति नीलाम कर रकम वसूल की जा सकेगी।

कानून की समालोचना (Criticism)—इसके समर्थकों का कहना है कि यह कानून जमींदारी प्रथा को शान्तिपूर्वक समाप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है। इसके विपरीत समाजवादियों (Socialists) का कहना है कि जमींदारों को मुआवजा देने का सिद्धान्त बुनियादी तौर पर गलत है। इससे निम्न स्तर के किसानों को कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि भूमिधरों के विरुद्ध उनको भू धारण अधिकार प्राप्त होना बहुत कठिन होगा। इस प्रकार यह व्यवस्था बड़ी जमींदारी प्रथा को समाप्त कर छोटी जमींदारी प्रथा की स्थापना करती है। बिना भूमि के राष्ट्रीयकरण के सिद्धान्त को अपनाये भारतीय कृषि में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन होना सम्भव नहीं। परन्तु इसका इस कानून में पूर्णतया अभाव है। निष्कर्ष रूप में कानून के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि इसके निर्माताओं ने देश काल के अनुसार जो मध्य मार्ग का अवलम्बन लिया है वह उचित ही प्रतीत होता है।

बंगाल—सन् १९४७ ई० में बंगाल की विधान सभा ने दी बंगाल लैंड एक्वाजीशन तथा टिनेंसी एक्ट पास किया। इस कानून के अन्तर्गत बंगाल सभी भागों प्रदेशों के भू स्वामियों के अधिकारों को खत्म करने की व्यवस्था है। किसानों का केवल एक वर्ग ही रहेगा और उन्हें मौरूसी अधिकार प्राप्त होंगे। जोत का अधिकतम क्षेत्रफल ६० बीघा या परिवार के प्रति सदस्य के पीछे ५ बीघा के हिसाब से हो सकेगा।

मद्रास—मद्रास में दो प्रकार की भू धारण एवं मालगुजारी प्रथा प्रचलित है—जमींदारी और रैयतवारी। जमींदारी क्षेत्र के विषय में दो कानून एक तो किराया कम करने के लिये और दूसरा भू सम्पत्तियों का अन्त करने और रैयतवारी प्रथा स्थापित करने के लिये पास किये गये। दूसरे कानून के अनुसार सरकार का अधिकार २८०० जमींदारी प्रथा वाली सम्पत्तियों तथा ३५०० इनाम वाली रियासतों पर हो गया। इन सबका क्षेत्रफल १४ लाख एकड़ है। क्षति पूर्ति अर्थात् मुआवजा में लगभग १२½ करोड़ रुपया देना पड़ा। जो किसान भूमि को ५ वर्षों से जोतते आये हैं उन्हें भूमिधर अधिकार उस भूमि में दे दिये गये हैं।

बम्बई—बम्बई सरकार ने भागदारी और नखुदारी प्रथाओं का अन्त करने के लिये सन् १९४९ में कानून पास किया जिसके अन्तर्गत (अ) एक प्रकार के सुरक्षित किसानों का वर्ग बन गया है, (आ) किसानों को बेदखल करने पर कई प्रतिबन्ध लगा दिये गये है, (इ) सहकारी-कृषि को प्रोत्साहन देने के लिए कई प्रकार की सुविधाओं की व्यवस्था की गई है, आदि।

मध्य प्रदेश—मध्य प्रदेश में मालगुजारी प्रथा का अन्त करने के लिये सन् १९५० में एक कानून पास किया गया। क्षति-पूर्ति के रूप में वार्षिक शुद्ध आय की दस गुनी राशि दी जायगी और छोटे मालगुजारों को पुनर्संस्थापन सहायता भी दी जायगी।

मध्य भारत—जमींदारी प्रथा का अन्त करने के लिये मध्यभारत सरकार ने सन् १९५१ ई० में एक कानून पास किया। मुआवजे के रूप में उनकी वार्षिक आय की ८ से २० गुनी राशि दी जायगी। जिन जमींदारों की आय ३५०० रु० से कम है, उन्हें पुनर्संस्थापन सहायता भी दी जायगी। यह राशि १५ किश्तों में चुकाई जायेगी।

राजस्थान—सन् १९५२ में भूमि सुधार एवं जागीर पुन: प्राप्ति कानून (Land Reforms and Resumption of Jagirs Act) पास किया गया, जिसके अन्तर्गत उन जागीरदारों की जागीरें ले ली जायेंगी जिनकी जागीर की वार्षिक आय ५००० रु० से अधिक है। ऐसे जागीरदारों की संख्या ९८८ है तथा जिनका क्षेत्र-फल पाँच करोड़ बीस लाख एकड़ है। इससे राजस्थान सरकार को लगभग १ करोड़ रुपये की आय में वृद्धि हो जायेगी।

जमींदारी उन्मूलन से लाभ (Advantages)—जमींदारी उन्मूलन से निम्न लिखित लाभ होंगे :—

(१) भूमि किसानों की हो जायेगी जिससे किसान भूमि की उत्पादन-शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे। (२) जमींदार जो सरकार और किसान के बीच में निरर्थक का मध्यस्थ था हटा दिया गया है और अब उसके द्वारा किसानों का शोषण बन्द हो जायगा। (३) अधिकरों का लगान आधा रह जायगा। (४) अब किसानों की लागें एवं बेगारें बन्द हो जायेंगी। (५) इससे सहकारी-कृषि को प्रोत्साहन मिलगा और भूमि-अपखण्डन की प्रवृत्ति भी रुक जायेगी। (६) राज्य की आय में वृद्धि होगी। (७) जमीं-दारों को जो मुआवजे अर्थात् क्षति-पूर्ति की रकम मिलगी उससे उद्योग-धन्धे खोल जा सकेंगे। (८) जमींदारों की अपेक्षा लगान वसूली में कमी या माफी करने में सरकार बहुत अधिक उदार होती है।

जमींदारी उन्मूलन से हानियाँ (Disadvantages)—जमींदारी उन्मूलन के विरोधी दल द्वारा निम्नलिखित हानियाँ बताई जाती हैं :—

(१) जमींदारों को आर्थिक हानि पहुँचेगी। (२) जमींदारी उन्मूलन से सहस्रों जमींदार, मालगुजारी तथा उनके कारिन्दे आदि सब बेकार हो जायग जिससे बेकारी की समस्या भयंकर रूप धारण कर लेगी। पर इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि *जब कभी भी परिवर्तन होता है उससे कुछ न कुछ हानियाँ अवश्य होती हैं।* जमींदारी उन्मूलन से बहुत थोड़े व्यक्तियों को हानि पहुँचेगी पर लाभ उससे कहीं अधिक व्यक्तियों का होगा। बेकारी भी सामयिक होगी क्योंकि लगान वसूली तथा अन्य कार्यों के लिये राज्य सरकारों को कर्मचारियों की आवश्यकता होगी जिससे बहुत से

व्यक्तियों को नौकरियाँ मिल जायेंगी। जमींदारों को मुआवजे को रकम मिलेगी जिससे वे अन्य लाभदायक कार्य कर सकते हैं।

(३) जमींदारों की ओर से यह भी कहा जाता है कि जमींदारी उन्मूलन से किसानों को अन्य कई बातों की हानि होगी। इस समय किसान जमींदार से रुपया उधार लेते हैं, यह सुविधा फिर उपलब्ध नहीं हो सकेगी। इसके अतिरिक्त जमींदार लगान वसूली में इतनी शक्ति का प्रयोग नहीं करते जितना कि सरकार लगान वसूली में करती है। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि ऋण प्राप्त करने के अन्य बहुत से साधन उपलब्ध हो सकते हैं। जमींदारों की अपेक्षा लगान वसूली में कमी या माफी करने में सरकार बहुत उदार होती है।

आदर्श भू-धारण एवं मालगुजारी प्रथा के लक्षण (Essentials of an Ideal Land Tenure)—आदर्श भू-धारण एवं मालगुजारी प्रथा में निम्नलिखित गुण होने चाहिये :—

१ उचित लगान (Fair Rent)—लगान उचित होना चाहिये। भूमि की उत्पादन शक्ति के अनुसार निश्चित लगान ही उचित माना जाता है। लगान या मालगुजारी देने के पश्चात् कृषकों के पास इतना धन बच जाना चाहिये कि वे भरपेट भोजन कर सकें। अस्तु, पैदावार का ३०-४० प्रतिशत ही लगान या मालगुजारी के रूप में लेना चाहिए। अत्यधिक लगान भूमि की उन्नति में बाधक सिद्ध होता है।

२. भू-धारण अधिकार की स्थिरता (Fixity of Tenure)—कृषकों के भूमि में अधिकार स्थायी, पैतृक एवं हस्तान्तरण योग्य होने चाहियें। कृषकों को भूमि से बेदखली का भय नहीं होना चाहिये। यदि ऐसा रहेगा, तो किसान की रुचि भूमि-उन्नति में न रहेगी।

३. लगान वसूली का ढङ्ग (Method of Rent-Collection)—लगान-वसूली का ढङ्ग सरल एवं सुगम होना चाहिये जिससे कृषकों को कोई कठिनाई न उठानी पड़े। वसूल करने वाले का व्यवहार कृषकों के साथ अच्छा और सहानुभूति-पूर्ण होना चाहिए। लगान-वसूली में अधिक व्यय भी नहीं होना चाहिये।

४. लगान से राज्य को निश्चित आय की प्राप्ति तथा रैयत की खुशहाली (Definite Revenue to Govt. and Prosperity to People)—लगान-प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिये कि राज्य को प्रति वर्ष निश्चित आय प्राप्त होती रहे और रैयत खुशहाल रहे।

५. भूमि का हस्तान्तरण सम्भव हो सके (Transfer of Land may be possible)—भू धारण एवं मालगुजारी प्रथा ऐसी होना चाहिए कि जिसके अन्तर्गत भूमि सुगमता से हस्तान्तरित की जा सके, अन्यथा यह सदैव अकुशल कृषकों से जोती जावेगी।

६. पैदावार वृद्धि पर विशेष रियायत—यदि कोई कृषक अपने प्रयत्न से भूमि की उत्पत्ति में वृद्धि करे, तो मालगुजारी प्रथा में ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि उस पर मालगुजारी बढ़ाई न जाय और इन प्रयत्नों के उपलक्ष में उसे कुछ विशेष रियायतें मिलनी चाहिये।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—उत्तर प्रदेश में जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् भूमि व्यवस्था का क्या रूप हुआ है ?

२—मालगुजारी प्रथा की आदर्श प्रणाली का उल्लेख करिये। वर्तमान मालगुजारी अर्थात् भूमिधारी प्रथा कहाँ तक आदर्श प्रणाली है ?

३—भारत में मालगुजारी के स्थाई बन्दोबस्त के गुण-दोष बताइये। क्या आपकी राय में इसकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है ? (रा० बो० १९५३)

४—भूमि की आसामी प्रथा की आदर्श प्रणाली के नियमों का उल्लेख कीजिये। भूमिधारी प्रथा कहाँ तक इस आदर्श प्रणाली के अनुकूल है ? (अ० बो० १९५७)

५—भारत में जमींदारी उन्मूलन के पक्ष और विपक्ष में तर्क दीजिये। (अ० बो० १९५४)

६—रैयतवारी प्रथा के गुण-दोष बताइये। (अ० बो० १९४६)

७—स्थाई और अस्थाई बन्दोबस्त पर नोट लिखिये। (अ० बो० १९५०, ४४, ४२)

८—जमींदारी और रैयतवारी प्रथा के गुण व दोषों की व्याख्या कीजिये। (म० भा० १९५३)

९—भारत के विभिन्न भागों में प्रचलित मालगुजारी प्रथाओं का उल्लेख करिये। (पंजाब १९४८)

१०—जमींदारी उन्मूलन से भारत की कृषि पर क्या प्रभाव होंगे ? (दिल्ली हा० सै० १९४९)

११—नोट लिखिये :—
जमींदारी प्रणाली का उन्मूलन (रा० बो० १९५१)

इण्टर एग्रीकल्चर परीक्षाएं

१२—जमींदारी प्रथा के क्या दोष हैं ? इनको दूर करने के लिये सुझाव दीजिये। (अ० बो० १९५२)

अध्याय ६२

मजदूरी (भृति)
(Wages)

मजदूरी (भृति) का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Wages)—मजदूरी (भृति) मजदूर या श्रमिक द्वारा किये गये श्रम का एक प्रकार से मूल्य है। प्रत्येक उत्पादन कार्य में उत्पत्ति के विविध साधनों का सहयोग आवश्यक होता है। उत्पत्ति के साधनों में एक साधन 'श्रम' भी है। अस्तु, उत्पादन-कार्य में लगे हुए श्रमिकों को उनके श्रम के प्रतिफल में जो पुरस्कार दिया जाता है उसे मजदूरी या 'भृति' कहते हैं। प्रो० जीड के अनुसार मजदूरी वह पुरस्कार है जो किसी व्यक्ति को उसके श्रम के प्रतिफल में दिया जाता है जिसे साहसी (Entrepreneur) अपने उत्पादन कार्य में लगाता है। अन्य शब्दों में, मजदूरी या भृति राष्ट्रीय आय (National Dividend) का वह भाग है जो श्रमिकों को उनके श्रम के प्रतिफल में दिया जाता है।

मजदूरी और वेतन में अन्तर—साधारण बोल चाल में मजदूरी केवल उसी पुरस्कार या पारिश्रमिक को कहते हैं जो हाथ-पैर की शारीरिक मजदूरी करने वाले को मिलता है, दिमागी अथवा प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य करने वालों के पुरस्कार को वेतन (Salary and Pay) कहते हैं। परन्तु अर्थशास्त्र में ऐसा कोई अन्तर नहीं है। सब प्रकार के श्रम के प्रतिफल में मिलने वाली धन-राशि को 'मजदूरी' (Wages) कहते हैं। चाहे श्रम शारीरिक हो, चाहे मानसिक, चाहे उच्चकोटि का हो, चाहे अशिक्षित श्रमिक का, चाहे उससे भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति हो, चाहे अभौतिक वस्तुओं अथवा सेवाओं की उत्पत्ति हो—प्रत्येक प्रकार के श्रम के लिए दिये गये पुरस्कार को अर्थशास्त्र में मजदूरी (भृति) कहते हैं। उदाहरणार्थ, राज्यपाल या उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का वेतन भी उसी प्रकार मजदूरी है जिस प्रकार कि किसी कारखाने में काम करने वाले श्रमिक का पारिश्रमिक है। अस्तु, अर्थशास्त्र की दृष्टि से इन दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों ही मजदूरी के अन्तर्गत आते हैं।

प्रायः मजदूरी और वेतन में सामाजिक पद एवं प्रतिष्ठा की दृष्टि से अन्तर किया जाता है। वेतन अधिक होता है और मजदूरी कम। वेतन मासिक अथवा वार्षिक होता है जबकि मजदूरी दैनिक साप्ताहिक अथवा पाक्षिक होता है। श्रमिक का स्तर समाज में कुछ छोटा प्रतीत होता है जबकि वेतन पाने वाले का बड़ा समझा जाता है। मजदूरी शब्द का प्रयोग अकुशल श्रमिकों के सम्बन्ध में किया जाता है जो समाज के निम्न-स्तर में सम्मिलित होते हैं जबकि वेतन शब्द का प्रयोग अध्यापकों, वकीलों,

प्रयुक्त्ता प्रा सरकारी अधिकारियों के सम्बन्ध में किया जाता है जो समाज के उच्च स्तर म सम्मिलित होते हैं। अत यह स्पष्ट है कि वेतन शब्द केवल सामाजिक प्रतिष्ठा का द्योतक है अन्यथा दोनो मे कोई अन्तर नही है।

मजदूरी की समस्या का महत्त्व (Importance of Problem of Wages)—वर्तमान औद्योगिक काल मे उत्पत्ति के मुख्य पाच साधनो का बडा महत्त्व है। इन्ही के संयुक्त प्रयत्नो द्वारा आज की उत्पादन व्यवस्था स्थिर है। उत्पत्ति के समस्त साधनो म श्रम' एक ऐसा साधन है जिसम मानवीय तत्व (Human Elements) विद्यमान हैं अर्थात् इस पर आर्थिक सामाजिक राजनैतिक और धार्मिक आदि सब ही बातो का पर्याप्त प्रभाव पडता है। इसलिये इसके पारिश्रमिक अर्थात् मजदूरी के उचित निर्धारण की समस्या वास्तव म वितरण की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है जिसके समाधान पर करोडा श्रमिको का भविष्य और सुख तथा समाज की शान्ति और समृद्धि निर्भर है। परन्तु हम देखते हैं कि आज का श्रमिक वर्तमान आर्थिक सगठन म अत्यन्त असन्तुष्ट है। अस्तु जब कभी उसे अवसर मिलता है वह रुष्ट होकर मचल जाता है। यही कारण है कि सरकार और अर्थशास्त्री आज इस समस्या के समाधान पर विचार निमग्न है।

श्रम की विशेषताएं (Peculiarities of Labour)—श्रम के मूल्य (मजदूरी) का निर्धारण एक जड वस्तु के मूल्य निर्धारण से सर्वथा भिन्न है क्योकि श्रम मे कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो अन्य वस्तुओ म नही पाई जाती है। अत मजदूरी निर्धारण के सिद्धान्त के अध्ययन से पूर्व इनको जानना आवश्यक है। ये विशेषताएँ निम्न लिखित है —

१. श्रम नाशवान है (Labour is perishable)—श्रम की सबसे बडी विशेषता यह है कि यह नष्ट होने वाली वस्तु है और इसलिय दूसरी वस्तुओ की भाँति इसका सचय सम्भव नही है। इसका तात्पर्य यह है कि श्रमिक का जितना समय व्यर्थ चला जाता है अर्थात वह जितने समय के लिए बेकार रहता है वह सदा के लिए नष्ट हो जाता है क्योकि बीता हुआ समय पुन प्राप्त नही हो सकता। अन्य वस्तुओ का मूल्य यदि उत्पादन व्यय (लागत) से कम होता है तो साधारणतया विक्रेता उन्हे बेचते नही हैं क्योकि वे उसे दूसरे दिन पूरे मूल्य पर बेचने की आशा रखते हैं। परन्तु यदि श्रमिको को उनके जीवन स्तर द्वारा निर्धारित लागत से कम मूल्य ही दिया जाय और वे अपने श्रम को उस दिन न बेचें तो उस दिन का श्रम नष्ट हो जायगा और उन्हे हानि उठानी पडेगी। इसलिए इस हानि से बचने के लिये किसी भी मूल्य पर वे अपने श्रम को बेचने के लिए तैयार हो जाते हैं। उद्योगपति यह जानते है कि श्रमिक बेकार बैठ रहने की अपेक्षा कम मजदूरी पर काम करना अच्छा समझते हैं। इस कारण उद्योगपतियो का यही प्रयास रहता है कि श्रमिको को कम से कम मजदूरी दी जाय। अत श्रम की इस विशेषता का उनकी मजदूरी के निर्धारण पर बडा प्रभाव पडता है।

२ श्रमिक अपना श्रम बेचता है न कि अपने आपको (The Labour sells his labour but not himself) श्रमिक अन्य पदार्थों की भांति खरीदे और बेचे नही जाते हैं। पुस्तक पेंसिल मशीन और औजार आदि का मूल्य देने के पश्चात् क्रेता इन्हे ले जाते हैं और अपनी इच्छानुसार इनका प्रयोग करते

है। इन वस्तुओं के वही मालिक हो जाते है। परन्तु श्रम में यह बात नहीं है। श्रमिक अपना श्रम बेचता है न कि अपने आपको। श्रमिक एक निश्चित समय तक मजदूरी करने के पश्चात् पुन स्वतन्त्र हो जाता है और अपनी इच्छानुसार काम करता है। प्राचीन समय म जबकि कही कही दास प्रथा (Slavery) प्रचलित थी, दास बेचे व खरीदे जाते थे। परन्तु अब इस प्रथा का अन्त हो गया है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि श्रमिक अपना श्रम बेचने के पश्चात् भी अपना स्वामी बना रहता है।

३ श्रम श्रमिक से पृथक नही किया जा सकता (Labour cannot be separated from the labour)—श्रम के सम्बन्ध म एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसे श्रमिक अपने स अलग नहीं कर सकता, अर्थात् जहा उसके श्रम की आवश्यकता होती है तो उसे स्वय को ही जाना पडता है। अत उसके काम करने के स्थान का वातावरण उसके लिये अत्यन्त महत्त्व रखता है। पूँजीपति अपनी पूँजी को तथा भू स्वामी अपनी भूमि को अपने से अलग कर सकता है, परन्तु श्रमिक अपने श्रम को अपने से अलग नही कर सकता।

४. श्रम का पूर्ति धीरे धीरे घटती-बढती है (The Supply of labour increases or decreases very slowly)—अन्य वस्तुओ की भांति श्रम की पूर्ति मे शीघ्र घटा-बढी नहीं हो सकती। यदि किसी समय किसी प्रकार के श्रमिकों की मांग अधिक हो जाय, तो उनकी पूर्ति तुरन्त ही नहीं बढ सकती, क्योंकि प्रथम तो यह देश की जन-सख्या पर निर्भर होती है जिसके बढने मे पर्याप्त समय लगता है और द्वितीय श्रमिकों को अपना काम सीखने में कुछ न कुछ समय तो अवश्य ही लगता है। अन्य स्थानो को आने म अनेक कठिनाइयाँ होती है। इसी प्रकार श्रम की पूर्ति म कमी भी धीरे धीरे हो सकती है, क्योकि जो श्रमिक यह कार्य कर रहे है वह अपना कार्य तुरन्त ही नही छोड सकते। हाँ, यह बात अवश्य है कि भविष्य मे श्रमिक इस काय को कम सीखेंगे।

५. श्रमिक की सौदा करने की शक्ति स्वामी की अपेक्षा कम होती है (The bargaining capacity of labourers is weaker than that of Employers'—श्रमिक म सौदा करने की शक्ति स्वामी की अपेक्षा कम होती है। इसके निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) श्रम नाशवान—श्रम शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तु होने के कारण श्रमिक कम मजदूरी पर ही काम करना स्वीकार कर लेते हैं।

(२) श्रमिक की निर्धनता—श्रमिक निर्धन होने के कारण कुछ दिनो भी बैठ कर खा नही सकते। एक वस्तु का विक्रेता जब तक बाजार मे उसकी वस्तु के अच्छे दाम न लगें उसे रोक सकता है पर श्रम का विक्रेता ऐसा नहीं कर सकता, क्योकि वह निर्धन है। भूखे रहने की अपेक्षा वे कम मजदूरी पर काम कर लेते है।

(३) गतिशीलता का अभाव—श्रम मे गतिशीलता की भारी कमी है जिससे कही पर श्रमिकों की पूर्ति घट जाती है और कहीं बढ जाती है।

(४) श्रम की पूर्ति सुगमता से घटाई-बढाई नही जा सकती—अत. पूर्ति का प्रभाव मजदूरी पर कम पडता है और माँग का अधिक।

(५) श्रमिकों मे सगठन का अभाव—श्रमिकों मे सगठन का अभाव होता है जिससे उनकी सौदा या भाव-ताव करने की शक्ति निर्बल रहती है।

(६) श्रमिकों की अनभिज्ञता—श्रमिकों को इतना ज्ञान नहीं होता है कि उसके श्रम का मूल्य किस स्थान में अधिक है और किस स्थान में कम है। अतः उसे जितना भी मिलता है उसे स्वीकार कर लेता है।

(७) रीति रिवाज—भारतवर्ष में कहीं कहीं परम्परागत रीति रिवाज के अनुसार ही मजदूरी मिलती है चाहे वह कितनी ही थोड़ी हो। महतरों की मजदूरी अब भी दो-चार आने मासिक ही चली आ रही है।

(८) जन संख्या की वृद्धि—जन संख्या की वृद्धि से श्रम की पूर्ति बढ़ जाती है और पूर्ति बढ़ जाने से श्रमिकों में स्पर्द्धा होने लगती है। अतः उन्हें कम मजदूरी पर ही सन्तोष करना पड़ता है।

अतः इन बातों से यह स्पष्ट होता है कि श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति मालिकों की अपेक्षा कम होती है। हाँ, वर्तमान युग में श्रमिक मजदूर-संघ आदि द्वारा संगठित होकर वे अपने अधिकार लेने का प्रयत्न करने लगे हैं।

मजदूरी (भृति) का निर्धारण
(Determination of Wages)

मजदूरी के पुराने सिद्धान्त—पुराने अर्थशास्त्रियों ने मजदूरी के निर्धारण को समझने के लिए समय-समय पर कई सिद्धान्त प्रस्तुत किये, जैसे मजदूरी का जीवन-निर्वाह सिद्धान्त (Subsistence Theory of Wages), मजदूरी-कोष सिद्धान्त (Wages Fund Theory), शेषाधिकार सिद्धान्त (Residual Claimant Theory) आदि, परन्तु ये सब सिद्धान्त मजदूरी निर्धारण के तत्व को समझाने में असमर्थ सिद्ध हुए, क्योंकि ये अपूर्ण एवं एक पक्षीय थे। अन्त में मजदूरी निर्धारण का आधुनिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया जिसके अनुसार यह बताया गया कि मजदूरी का निर्धारण माँग और पूर्ति का दोनों ही शक्तियों द्वारा होता है। यह किसी एक शक्ति का काम नहीं है।

मजदूरी निर्धारण का आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of Weges)—आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी श्रम की माँग और उसकी पूर्ति पर निर्भर होती है। जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य माँग और पूर्ति की दो शक्तियों की अन्तक्रिया द्वारा निर्धारित होता है, ठीक उसी प्रकार श्रम का मूल्य अर्थात् श्रमिकों की मजदूरी भी माँग और पूर्ति के नियमानुसार ही निश्चित होती है।[1] श्रम की कुछ निजी विशेषताएँ अवश्य हैं जिनके कारण मजदूरी-निर्धारण में तनिक-सा अन्तर उपस्थित हो जाता है। अब मजदूरी निर्धारण का सिद्धान्त नीचे स्पष्ट किया जाता है :—

श्रम की माँग (Demand for Labour)—श्रम की माँग उद्योगपतियों द्वारा प्रस्तुत की जाती है जो श्रमिकों को उत्पादन क्रिया में काम करने के लिए नौकर रखते हैं। श्रमिकों का उत्पादन क्रिया में काम करने की शक्ति उसकी उत्पादकता (Productivity) कहलाती है। इस उत्पादन शक्ति को मुद्रा में नापा जा सकता है। एक उद्योगपति तब तक श्रमिकों को बढ़ाता जाता है जब तक वह यह समझता रहता है कि उनके बढ़ने से उत्पादन बढ़ रहा है। जिस प्रकार किसी भी वस्तु की ज्यों ज्यों मात्रा बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसकी उपयोगिता घटती जाती है ठीक उसी प्रकार ज्यों ज्यों श्रमिकों की संख्या बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उपयोगिता ह्रास-नियम (Law of

[1]—"The explanation of price by supply and Demand also holds good for labour ..."— Batson, *Political Economic*, p 27

Diminishing Utility) के अनुसार अतिरिक्त श्रमिकों की उत्पादन शक्ति में भी ह्रास होता जाता है। अन्त में एक ऐसी अवस्था आ जाती है जबकि अन्तिम श्रमिक द्वारा उत्पन्न की गई वस्तु का मूल्य उसको मिलने वाली मजदूरी के बराबर हो जाता है। ऐसे श्रमिक के प्रति उद्योगपति उदासीन सा रहता है, चाहे वह रहे या चला जाय क्योंकि उसके रहने से कोई विशेष लाभ नहीं होता और न उसके चले जाने से कोई विशेष हानि ही होती है ऐसे श्रमिक के बाद फिर अन्य श्रमिक नो रखा ही नहीं जायगा, अतः इसे अन्तिम या सीमान्त श्रमिक (Final or Marginal Labourer) कहते हैं और ऐसे श्रमिक की उत्पादन शक्ति सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity) कहलाती है। जब एक ही काम करने के लिये कोई श्रमिक एक सी कुशलता अर्थात् समान उत्पादन शक्ति वाले रखे जाते हैं तो कोई कारण ऐसा नहीं हो सकता कि उन्हें अलग-अलग मजदूरी मिले। और फिर ऐसा करने से उद्योगपति को भी हानि होगी। जब हम किसी उत्पादन कार्य के लिए बहुत से श्रमिकों पर एक साथ विचार करते हैं तो यही समझते हैं कि प्रत्येक श्रमिक एक सी कार्य-कुशलता ही रखता है। चाहे जिसको हम सीमान्त मान सकते हैं और उन्हें हम आगे-पीछे कर सकते हैं। अस्तु सब श्रमिकों को समान मजदूरी मिलेगी अर्थात् सीमान्त श्रमिक को मिलने वाली मजदूरी ही सब श्रमिकों को मिलेगी। क्योंकि सीमान्त उत्पादन-शक्ति के बराबर ही सीमान्त श्रमिक को मजदूरी मिलती है इसलिये यह स्पष्ट है कि सीमान्त उत्पादन शक्ति या उत्पादकता ही श्रमिकों का माग मूल्य (Demand Price) है। अस्तु, श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता मजदूरी की अधिकतम सीमा (Maximum Limit) निर्धारित करती है जिससे अधिक मजदूरी उद्योग पति कभी भी देने केलिये तैयार नहीं होता है।

श्रम की पूर्ति (Supply of Labour)—श्रम की पूर्ति श्रमिकों द्वारा होती है। जिस प्रकार साधारण वस्तु के मूल्य निर्धारण में वस्तु की लागत व्यय उसकी न्यूनतम सीमा निर्धारित करता है उसी प्रकार श्रमिक का अल्पतम जीवन स्तर मजदूरी की न्यूनतम सीमा निश्चित करता है।[1] प्रत्येक श्रमिक अल्पतम रहन सहन का अभ्यासी होता है, अर्थात् जीवनार्थ आवश्यक, सुख एवं विलास वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उसे अवश्य मिलना चाहिये अन्यथा उसे बहुत कष्ट होगा। इसे हम सीमान्त जीवन स्तर (Marginal Standard of Living) कह सकते है। अतः उसे उतनी मजदूरी तो अवश्य मिलनी चाहिए जिससे कि वह उस स्तर पर रह सके अर्थात् मजदूरी कम से कम श्रमिक के जीवन स्तर के लागत व्यय के बराबर होनी चाहिये। जीवन स्तर के लागत व्यय से कम मजदूरी श्रमिक स्वीकार नहीं करेगा। यदि उसे इससे कम मजदूरी दी जायगी, तो वह विवाह में विलम्ब करेगा या आजीवन अविवाहित रह जायगा या ऊँची मजदूरी वाले धन्धा या स्थानों में जाकर, या अपनी अधिक कार्यक्षमता उत्पन्न कर, या आपस में संगठित होकर उद्योगपतियों से संघर्ष करके अथवा अन्य किसी प्रकार से मजदूरी को जीवन स्तर के लागत व्यय के बराबर लाने का प्रयत्न करेगा। अतः

1—'The standard of life in the case of labour replaces the expenses of production in the case of ordinary commodities

Thomas, *Elements of Economics*, p 277.

सीमान्त जीवन-स्तर श्रमिकों का पूर्ति मूल्य (Supply Price) है। अस्तु, श्रमिक के जीवन-स्तर का लागत-व्यय मजदूरी की न्यूनतम सीमा (Minimum Limit) निर्धारित करता है जिससे कम मजदूरी श्रमिक कभी भी स्वीकार नहीं करता है।

मांग और पूर्ति की अन्तर्क्रिया (Inter action of Demand and Supply)—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि श्रमिकों की उत्पादकता मजदूरी की अधिकतम सीमा है जिससे अधिक मजदूरी कभी नहीं हो सकती और श्रमिकों के रहन-सहन के स्तर का व्यय मजदूरी की न्यूनतम सीमा है जिससे कम मजदूरी कभी नहीं हो सकती। इन्हीं दोनों सीमाओं के बीच में मजदूरी झूलती रहती है और अन्त में उद्योगपति (मालिक) और श्रमिक की सापेक्षिक आवश्यकता तथा उनकी भाव-ताव (Bargaining) करने की शक्ति द्वारा ठीक निर्धारित हो जाती है। अधिक स्पष्ट करते हुए यों कहा जा सकता है कि इन दोनों सीमाओं के बीच में मजदूरी उस स्थान पर निर्धारित होती है जहाँ उद्योगपति तथा श्रमिकों की प्रतिस्पर्द्धा की शक्ति बराबर हो जाती है अर्थात् जहाँ पर माँग और पूर्ति में सन्तुलन हो जाता है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—माँग और पूर्ति की तालिका बनाकर हम एक सन्तुलन मजदूरी (Equilibrium Wage) का पता चला सकते हैं। मान लीजिये विभिन्न मजदूरी पर श्रमिकों की माँग और पूर्ति निम्न प्रकार हैं :—

माँग (श्रमिकों की संख्या)	मजदूरी (रुपया)	पूर्ति (श्रमिकों की संख्या)
८००	२०	१००
६००	२५	३००
४००	३०	४००
३००	३५	६००
१००	४०	८००

ऊपर की तालिका में जब मजदूरी ३० रुपया है तो माँग और पूर्ति दोनों बराबर है। अतः श्रमिकों की मजदूरी ३० रुपये पर निश्चित होगी। यही सन्तुलन मजदूरी है। मजदूरी इससे अधिक होने पर अधिक श्रमिक आ जायेंगे। पूर्ति बढ़ने के कारण मजदूरी गिर कर अन्त में सन्तुलन मजदूरी के बराबर हो जायगी। मजदूरी के इससे कम हो जाने पर मजदूरों की संख्या कम हो जायगी, जिसके कारण उत्पादकों को मजदूरी बढ़ानी पड़ेगी और अन्त में वह सन्तुलन मजदूरी के बराबर हो जायगी। इस प्रकार मजदूरी सन्तुलन-मजदूरी से न तो कम हो सकती है और न अधिक।

श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति का मजदूरी निर्धारण पर प्रभाव—यह तो पहले बताया जा चुका है कि श्रम एक नाशवान् वस्तु होने आदि कारणों से श्रमिकों की सौदा या भाव-ताव करने की शक्ति (Bargaining Capacity) उद्योगपतियों या मालिकों की अपेक्षा कम होती है। इसलिये उन्हें केवल न्यूनतम अर्थात् जीवन-निर्वाह मात्र के लिये ही मजदूरी मिल पाती है। यदि वे अपना संगठन कर लें

तो मजदूर संघो (Trade Unions) द्वारा वे अल्पतम जीवन-स्तर की अपेक्षा अधिक मजदूरी पा सकते है।

मजदूरी, कार्य क्षमता और जीवन स्तर

(Wages, Efficiency and Standard of Living)

मजदूरी, कार्य-क्षमता और जीवन-स्तर मे पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये तीनों एक दूसरे को प्रभावित करते है।

मजदूरी का प्रभाव कार्यक्षमता और जीवन-स्तर पर—जितनी अधिक मजदूरी होगी उतना ही श्रमिकों का जीवन-स्तर ऊँचा होगा, अर्थात् उन्हे अधिक पौष्टिक भोजन मिलेगा, रहने का उत्तम स्थान मिलेगा, शिक्षा, स्वास्थ्य और मनोरंजन की सुविधाएँ मिलेगी जिसके परिणाम स्वरूप उनकी कार्यक्षमता मे वृद्धि होगी।

कार्यक्षमता का मजदूरी और जीवन-स्तर पर प्रभाव—श्रमिक जितने अधिक कार्य कुशल होंगे उतना ही अधिक वे उत्पादन कर पावेंगे और उतनी ही अधिक उनकी मजदूरी होगी। जब उनकी मजदूरी बढ़ेगी, तो उनका जीवन स्तर भी बढ़ेगा। इस प्रकार कार्यक्षमता, मजदूरी और जीवन स्तर का सीधा सम्बन्ध है।

जीवन स्तर का कार्यक्षमता और मजदूरी पर प्रभाव—श्रमिकों के जीवन-स्तर के ऊँचे होने से उनकी आवश्यकताएँ बढ़ेगी और वे अधिक उत्तम वस्तुओं का उपभोग करेंगे। परिणाम यह होगा कि उनका स्वास्थ्य सुधरेगा जिससे उनकी उत्पादन-शक्ति मे वृद्धि होगी। इस वृद्धि से उत्पादन बढ़ेगा जिसके कारण उन्हें अधिक पारिश्रमिक प्राप्त होगा।

मजदूरी, कार्यक्षमता और जीवन-स्तर का पारस्परिक प्रभाव—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मजदूरी, कार्यक्षमता और जीवन स्तर मे पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। मजदूरी अधिक होने पर जीवन-स्तर अर्थात् रहन सहन का स्तर ऊँचा हो जाता है जिससे कार्यक्षमता बढ़ जाती है और कार्यक्षमता बढ़ने पर मजदूरी भी बढ़ जाती है। मजदूरी बढ़ने पर जीवन-स्तर और भी ऊँचा हो जाता है जिससे कार्य कुशलता मे और भी वृद्धि हो जाती है और परिणामत मजदूरी पहले से भी अधिक बढ़ जाती है। इस प्रकार यह चक्र निरन्तर गतिशील रहता है। चाहे मजदूरी बढ़ जाय, चाहे कार्यक्षमता मे वृद्धि हो जाय, अथवा रहन सहन का स्तर ऊँचा हो जाय—इनमे से कोई भी कार्य हो जाय, तो पुन यह पारस्परिक प्रभाव का चक्र चल जाता है और निरन्तर चलता रहता है। यह साथ मे दिये गये चित्र मे पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।
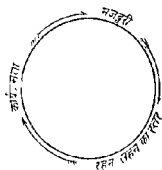
मजदूरी, कार्यक्षमता और जीवन-स्तर का सम्बन्ध

मजदूरी और सामाजिक प्रथाएँ (Wages and Social Customs)—मजदूरी सामाजिक प्रथाओं द्वारा भी प्रभावित होती है। भारतवर्ष में गाँवों में अभी तक अनेक कामों में मजदूरी सामाजिक रीति-रिवाजों द्वारा निर्धारित होती है। उदाहरणार्थ, बढ़ई, लुहार, नाई, धोबी, चमार, आदि को फसल के समय कुछ अनाज दे दिया जाता है जिसके बदले में वे वर्ष भर अपनी सेवाएँ करते रहते हैं। इसी प्रकार जन्म, विवाह, मृत्यु आदि अवसरों पर नाई, धोबी, कुम्हार आदि को जो दिया जाता है वह भी परम्परागत रीति-रिवाजों के अनुसार ही दिया जाता है, चाहे उनका परिश्रम अधिक हो या कम। सामाजिक प्रथाओं द्वारा मजदूरी निर्धारण से श्रमिक अकर्मण्य एवं निरुत्साह हो जाते हैं जिससे वे अपनी कार्य-कुशलता नहीं बढ़ा सकते। वे जानते हैं कि उन्हें वही बँधा हुआ पैसा मिलेगा चाहे वे अधिक काम करें या कम, अच्छा काम करें या बुरा। इन सामाजिक प्रथाओं में जाति-पाँति का भेद, संयुक्त परिवार प्रथा, बाल-विवाह और पर्दा प्रथा मुख्य हैं। इनका प्रभाव मजदूरी पर निम्न प्रकार है :—

मजदूरी पर जाति-प्रथा का प्रभाव (Effect of Caste System on Wages)—जाति भेद-भाव के कारण श्रमिक एक स्थान से दूसरे स्थान पर सुगमता से नहीं जा सकता या एक व्यवसाय को छोड़ कर दूसरे व्यवसाय में नहीं जा सकता। इसका परिणाम यह होता है कि श्रमिकों की माँग और पूर्ति में बहुत कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। ऊँची जाति के मनुष्य कोई भी ऐसा काम करना नहीं चाहते जिसे नीची जाति के लोग करते हैं, यद्यपि उससे अधिक आय ही क्यों न होती हो। इस प्रकार जाति-प्रथा ने समाज को ऐसे टुकड़ों में बाँट दिया है जिससे एक टुकड़े वाले व्यक्ति को दूसरे टुकड़े के व्यक्तियों के धन्धे को करने का अवसर नहीं मिलता ताकि वह इच्छानुसार व्यवसाय में लग सके। परिणाम यह होता है कि उसी टुकड़े के व्यक्तियों को काम खूब करना पड़ता है और उसके बदले में बहुत थोड़ा पारिश्रमिक दिया जाता है।

मजदूरी पर संयुक्त-परिवार-प्रथा का प्रभाव (Effect of Joint Family System on Wages)—संयुक्त परिवार प्रथा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति परिवार की सम्पत्ति में बराबर का भाग ले सकता है। इस प्रथा के अन्तर्गत लोग अकर्मण्य एवं आलसी हो जाते हैं, क्योंकि परिवार के कुछ लोग तो कमाते हैं और कुछ बड़े आनन्द से बिना किसी परिश्रम के परिवार की सम्पत्ति में मजा उड़ाते हैं। इस प्रकार श्रमिकों की पूर्ति में कमी पड़ जाती है जिससे मजदूरी में वृद्धि सम्भव हो सकती है। यदि सब मनुष्य परिश्रम करने लगें, तो श्रमिकों की संख्या बढ़ जावे और मजदूरी कम हो जाये। कभी ऐसा भी होता है कि परिवार में आर्थिक कठिनाइयों से कुछ व्यक्ति उस स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान पर चले जाते हैं और वहाँ पर परिश्रम से दूसरे धन्धों में अच्छी कमाई करते हैं जिससे उनका और उनके परिवार का निर्वाह हो जाता है। इस प्रकार श्रमिकों के पारिश्रमिक पर प्रभाव पड़ता है।

बाल-विवाह-प्रथा (Early Marriage System)—धार्मिक अन्ध-विश्वास तथा अन्य प्रचलित रूढ़ियों के कारण बाल-विवाह हो जाने से जन-संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है जिससे मजदूरी का गिर जाना स्वाभाविक है। अधिकांश बच्चे निर्बल पैदा होते हैं जो जीवन-पर्यन्त बीमार-से रहते हैं। इस प्रकार उनकी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों में ह्रास हो जाता है जिससे उनकी कार्यक्षमता कम हो जाती

मजदूरी से तात्पर्य श्रमिक के धन्धे के वास्तविक लाभों से है, अर्थात् अपनी सेवाओं के प्रतिफल में श्रमिक को जो जीवनार्थ आवश्यक सुख तथा विलास वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं उन्हें वास्तविक मजदूरी कहते हैं।[1] अत यह स्पष्ट है कि वास्तविक मजदूरी में नकद मजदूरी द्वारा खरीदी हुई वस्तुओं के अतिरिक्त श्रमिकों को अपने स्वामी से जितनी भी सुविधाएँ एवं रियायतें प्राप्त होती हैं वे सब ही सम्मिलित होती हैं। उदाहरण के लिये घरेलू नौकर को नकद रुपयों के अतिरिक्त रहने के लिये मुफ्त मकान, वस्त्र, इनाम आदि, मिलों में काम करने वाले श्रमिकों को निःशुल्क चिकित्सा, शिक्षा, खेलकूद, वाचनालय आदि की सुविधाएँ, रेल के श्रमिकों को फ्री यात्रा पास, निःशुल्क चिकित्सा, रहने के लिये क्वार्टर्स, सस्ता राशन आदि वास्तविक मजदूरी के कुछ उदाहरण हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि नकद या रोकड मजदूरी रुपये नये पैसे में व्यक्त की जाती है और वास्तविक मजदूरी वस्तुओं तथा सेवाओं में।

नकद या रोकड मजदूरी और वास्तविक मजदूरी का सापेक्षिक महत्व—नकद या रोकड मजदूरी का महत्त्व उतना नहीं होता जितना कि वास्तविक मजदूरी का। दो विभिन्न व्यक्तियों की नकद मजदूरी बराबर होने पर भी उनकी वास्तविक मजदूरियाँ भिन्न भिन्न हो सकती हैं। एक ग्रामीण श्रमिक को आठ आने रोज मिलते हैं तथा एक शहरी श्रमिक को एक रुपया रोज मिलता है। परन्तु ग्रामीण श्रमिक शहरी श्रमिक की अपेक्षा आठ आने के बदले में अधिक वस्तुओं का उपभोग कर सकता है। इसका कारण यह है कि गाँव में शहरों की अपेक्षा खाद्य पदार्थ घी, दूध आदि शुद्ध तथा कम मूल्य में प्राप्त हो सकते हैं। गाँव में मकान का कोई विशेष किराया नहीं होता है जबकि शहरों में मकान मिलने कठिन हैं और यदि मिलते हैं तो बहुत अधिक किराये पर। अत एक श्रमिक के लिये यह महत्त्व की बात नहीं है कि उसे कितना रुपया मिल रहा है, उसके लिये यह महत्त्व की बात है कि रुपया से कितनी वस्तुएँ तथा सुविधाएँ प्राप्त कर सकता है और नकद रुपया के अतिरिक्त भी उसे क्या-क्या सुविधाएँ प्राप्त हैं। आदम स्मिथ (Adam Smith) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है "श्रमिक धनी या निर्धन, उन्हें उचित पुरस्कार मिलता है या अनुचित, वास्तविक मजदूरी के अनुपात से कहा जा सकता है न कि नाममात्र मजदूरी से।"[2] अस्तु अर्थशास्त्र में नकद या रोकड मजदूरी और वास्तविक मजदूरी का भेद बहुत महत्त्व रखता है।

1—'Real Wages refer to the 'net advantages' of the worker's occupation, i e the amount of necessaries comforts and luxuries of life which the worker can command in return of his services

—Dr S E Thomas *Elements of Economics*, P 262.

2—"The labourers are rich or poor, well or ill—rewarded, in proportion to the real wages, not the Nominal wages of his labour —*Adam Smith*

पड़ती। अस्तु, वास्तविक मजदूरी का अनुमान लगाते समय शिक्षा-काल एवं उसका व्यय अवश्य ध्यान में रखना चाहिये।

(४) व्यापारिक व्यय (Trade Expenses)—कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जिनके संचालन में कुछ व्यय करना पड़ता है। उदाहरण के लिये, एक वकील को कानून की पुस्तकें खरीदनी पड़ती हैं तथा कई पत्रिकाएँ मँगानी पड़ती हैं। एक डाक्टर को अपना कार्य करने के लिये विभिन्न औषधियाँ तथा नये-नये औजार खरीदने पड़ते हैं। इसी प्रकार एक प्रोफेसर को भी अपनी ज्ञान वृद्धि के लिये पुस्तकें व पत्रिकाएँ आदि खरीदने में पर्याप्त व्यय करना पड़ता है। वास्तविक मजदूरी का अनुमान लगाते समय इस प्रकार के व्यापारिक व्यय नकद मजदूरी में से घटाने पड़ते हैं।

(५) व्यवसाय का स्वभाव (Nature of Employment)—कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जो बहुत कठोर, अरुचिकर, अस्वास्थ्यकर या खतरनाक होते हैं। उदाहरण के लिये, खान के भीतर काम करने अथवा भट्टी में कोयला झोंकने वाले श्रमिक का काम बहुत कठोर एवं थकाने वाला होता है। गोला बारूद के कारखाने में कार्य संलग्न श्रमिक का जीवन सदैव खतरे में रहता है। मैला उठाने वाले और जल्लाद का काम अत्यन्त अरुचिकर है। परन्तु कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जो रुचिकर होते हैं। तथा जिनमें श्रमिक को पर्याप्त सुख मिलता है। जैसे चित्रकार व अध्यापक का कार्य। अतः काम की कठोरता तथा अरुचि वास्तविक मजदूरी को घटा देती है और रुचिकरता तथा सुखदायकता वास्तविक मजदूरी को बढ़ा देता है।

(६) काम करने का समय तथा अवकाश (Working Hours & Holidays)—काम करने के घण्टे तथा समय समय पर मिलने वाली छुट्टियाँ भी वास्तविक मजदूरी को प्रभावित करती हैं। एक कॉलिज के प्रोफेसर की तुलना में जिसे मुश्किल से नित्य तीन घण्टा कार्य करना पड़ता है तथा जिसे वर्ष में लगभग छः महीने की छुट्टियाँ मिल जाती हैं, एक बैंक मैनेजर की वास्तविक आय जिसे लगभग उसके बराबर ही वेतन मिलता है पर आठ घण्टे नित्य काम करना पड़ता है और वर्ष भर में एक महीने की ही छुट्टियाँ मिलती हैं, कम ही कही जायगी।

(७) कार्य का स्थायित्व (Regularity of Employment)—कुछ कार्य अस्थायी (Temporary) एवं मौसमी (Seasonal) होते हैं, जैसे बढ़ई अथवा कृषक का कार्य जिसमें श्रमिकों को पर्याप्त समय तक बेकार बैठे रहना पड़ता है। इसी प्रकार चीनी का कारखाना भी वर्ष में लगभग पाँच महीने ही चलता है। काम के अस्थायी होने से वास्तविक मजदूरी कम हो जाती है।

(८) अतिरिक्त आय (Extra Earning)—कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जिनमें अतिरिक्त आय कमाने की पर्याप्त सुविधा होती है जबकि अन्य व्यवसायों में ऐसी सुविधा का पूर्णतया अभाव होता है। उदाहरणार्थ, अध्यापक परीक्षक होकर या पुस्तक लिखकर अथवा प्राइवेट ट्यूशन करके, डाक्टर प्राइवेट प्रैक्टिस द्वारा तथा बैंक का क्लर्क अवकाश के समय में बीमा कम्पनी के एजेण्ट का कार्य कर अपनी आय में वृद्धि कर सकता है। इस प्रकार की अतिरिक्त आय कमाने की सुविधाएँ वास्तविक मजदूरी में वृद्धि कर देती हैं।

(९) आश्रितों को काम मिलने की सुविधा (Employment of Dependents)—कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जिनमें श्रमिक से आश्रितों अर्थात्

बच्चे और स्त्री आदि को नौकरी दिलाने की पर्याप्त सुविधा होती है। उदाहरणार्थ, जिस शहर में कई उद्योग केन्द्रित होते हैं वहाँ श्रमिक स्वयं काम करता ही है और अपने कुटुम्ब के सदस्यों को भी काम दिला देता है। इस प्रकार की सुविधा वास्तविक मजदूरी को बढ़ाती है।

(१०) भावी उन्नति की आशा (Prospects of Success)—जिन व्यवसायों में भावी उन्नति की आशा अधिक होती है उनमें लोग कम नकद मजदूरी पर भी काम करते हैं। उदाहरण के लिये एक शिक्षित व्यक्ति अस्पताल में डाक्टरी आवश्यकता इसलिए स्वीकार कर लेता है कि उसे निकट भविष्य में डाक्टर बन कर अधिक वेतन की आशा होती है। इसी प्रकार प्रायः लोग सरकारी नौकरी करना पसन्द करते हैं क्योंकि इसमें भावी उन्नति की सम्भावना बहुत होती है। अन्य बातें समान रहने पर उस कार्य में वास्तविक मजदूरी अधिक मानी जायगी जहाँ उन्नति की आशा हो।

(११) स्वच्छता एवं मनोरंजन का वातावरण (Cleanliness & Happy Atmosphere)—इन सब बातों के अतिरिक्त व्यवसाय का साफ-सुथरा होना, उसमें मनोरंजन होते रहना आदि कारण भी वास्तविक मजदूरी बढ़ा देते हैं।

श्रम की नकद और वास्तविक लागत (Money and Real Cost of Labour)—जिस प्रकार मजदूरी के दो भेद होते हैं ठीक उसी प्रकार श्रम की लागत के भी दो भेद किये जा सकते हैं—(१) नकद या नाममात्र लागत और (२) वास्तविक लागत।

(१) नकद या नाम मात्र लागत (Money or Nominal Cost)—किसी श्रमिक को काम करने के बदले में जो नकद रुपया उसे मजदूरी के रूप में दिया जाता है उसे नकद या नाम मात्र लागत कहते हैं। उदाहरणार्थ किसी श्रमिक को २५ रु० मासिक पारिश्रमिक के रूप में दिया जाता है तो २५ रु० उसकी नकद लागत है।

(२) वास्तविक लागत (Real Cost)—प्रति इकाई मजदूरी उसकी वास्तविक लागत कहलाती है। उदाहरणार्थ यदि किसी श्रमिक को २५ रु० दिये जाते हैं और वह १०० इकाई वस्तु उत्पन्न करता है तो उसकी वास्तविक लागत $\frac{२५}{१००}$=$\frac{१}{४}$ रुपया या ४ आने प्रति इकाई हुई। उद्योगपति श्रमिकों को उनकी वास्तविक लागत के आधार पर ही काम पर लगाते हैं उनकी नकद लागत पर विचार नहीं करते। जिस श्रमिक की वास्तविक लागत कम होती है वह सस्ता पड़ता है और उद्योगपति उसे ही काम पर लगाता है। उदाहरणार्थ २५ रु० पाने वाला श्रमिक यदि ५० इकाई वस्तु उत्पन्न करे और ३५ रु० पाने वाला श्रमिक १०० इकाई वस्तु उत्पन्न करे तो दूसरे श्रमिक की नकद लागत अधिक होने पर भी उसकी वास्तविक लागत कम है और इस कारण वह सस्ता है।

(१) ऊँची मजदूरी सस्ती होती है (High Wages are Cheap Wages)—सारे श्रमिकों में एक सी कार्यक्षमता नहीं होती है। कुछ श्रमिक अधिक कुशल होते हैं और कुछ कम। जो श्रमिक अधिक कुशल होते हैं उन्हें मजदूरी भी अधिक मिलती है। यह धारणा कि ऊँची मजदूरी महगी सिद्ध होती है, गलत है। श्रमिक महगा है या सस्ता इसका अनुमान उसकी उत्पादन शक्ति या कार्य कुशलता

से ही लगाया जा सकता है। यदि एक श्रमिक दिये हुए समय में दूसरे श्रमिक से पाँच गुना काम अधिक करता है और दूसरे की अपेक्षा मजदूरी केवल उसे तिगुनी ही मिलती है तो वह निस्सन्देह सस्ता श्रमिक है, क्योंकि उसी काम को दूसरे मजदूर से करवाने में उद्योगपति को ७५% अधिक व्यय करना पड़ता है। उद्योगपति का यह निर्णय वस्तु के उत्पादन की प्रति इकाई लागत पर आधारित होता है। यदि किसी दक्ष श्रमिक को काम पर लगाने से उसे बढ़ी हुई मजदूरी देने के अनुपात में अधिक उत्पादन प्राप्त होता है, तो वह ऊँची मजदूरी पर कुशल श्रमिक को काम पर लगाना पसन्द करेगा। इस प्रकार मजदूरी वृद्धि के अनुपात में अधिक उत्पादन प्राप्त होने के कारण ऊँची मजदूरी पर रखा गया श्रमिक सस्ता सिद्ध होता है।

(२) ऊँची मजदूरी पाने वाला श्रमिक सन्तुष्ट रहता है। अतः वह अपना काम दिल लगाकर करता है और अन्य स्थान के थोड़े-से लालच से इसे छोड़ कर नहीं जाता। कुशल श्रमिक का स्थायी रूप से ठहर कर काम करना उद्योगपति के लिये लाभप्रद सिद्ध होता है।

(३) ऊँची मजदूरी पर काम करने वाले कुशल एवं सन्तुष्ट श्रमिक मशीन तथा औजारों का उपयोग बड़ी सावधानी से करते हैं जिससे उनके घिसने तथा नष्ट होने की हानि अधिक नहीं होती।

(४) ऊँची मजदूरी पाने वाला श्रमिक कम या अपर्याप्त मजदूरी पाने वाले श्रमिक की अपेक्षा अधिक ईमानदार होता है जिसके कारण उद्योगपति को निरीक्षण कार्य (Supervision Work) पर कम व्यय करना पड़ता है।

इन्हीं कारणों से अमेरिका आदि औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों में उद्योगपति अपने अनुभव से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि श्रमिकों को भूखे रहने के बजाय उन्हें अच्छी मजदूरी दी जाय तथा सन्तुष्ट रखा जाय, क्योंकि खुश मजदूर काम अधिक करता है।[1] परन्तु भारतीय उद्योगपति अभी तक यही सोचते हैं कि श्रमिक जितना सस्ता हो उतना ही अच्छा। इस कारण वे सस्ते से-सस्ता मजदूर ढूँढते थे। परन्तु वे अब समझने लग गये हैं कि मँहगा मजदूर ही सस्ता पड़ता है, क्योंकि उसकी उत्पादन शक्ति अधिक होती है।

ऊँची मजदूरी होने की दशाएँ (Conditions favouring High Wages)

ऊँची मजदूरी निम्नलिखित दशाओं में सम्भव हो सकती है :—

१. कार्य-कुशलता—उत्पादन-शक्ति जितनी अधिक होगी उतनी ही मजदूरी अधिक होगी। श्रमिक की उत्पादन शक्ति निम्नांकित बातों पर निर्भर होती है : (अ) श्रमिक की कार्य-क्षमता, (आ) श्रमिक की बुद्धि और स्वास्थ्य, (इ) देश में प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता तथा (ई) उनका सदुपयोग।

1—यह एक फारसी (persian) में कहावत है : 'खुश मजदूर कार बेश मी कुनद'।

२ पूंजी की बड़ी मात्रा—बड़ी मात्रा में पूंजी उपलब्ध होने पर ही देश का आर्थिक एवं औद्योगिक विकास हो सकता है।

३ मशीनों तथा अन्य वैज्ञानिक उपायों का आविष्कार—इन सबसे बड़े परिमाण का उत्पादन सम्भव होकर औद्योगिक उन्नति होती है।

४ बैंकिंग सुविधायें—बिना उचित बैंकिंग सुविधाओं के औद्योगिक उन्नति इस युग में सम्भव नहीं है।

५ श्रमिकों का संगठन—श्रमिकों का जितना अधिक संगठन होगा मजदूरी उतनी ही अधिक हो सकेगी।

सस्ती मजदूरी महंगी होती है (Low Wages are Dear Wages) —जिस प्रकार यह ठीक है कि ऊंची मजदूरी सस्ती होती है उसी प्रकार इसका बिल्कुल उल्टा भी सत्य है, यह भी ठीक है कि सस्ती मजदूरी महंगी होती है। इसके कारण बिल्कुल स्पष्ट हैं। सस्ते श्रमिक की कार्यक्षमता कम होने से मजदूरी के अनुपात में कम उत्पादन होता है जिसके कारण वस्तु का लागत व्यय बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त अपर्याप्त मजदूरी पाने वाला श्रमिक सन्तुष्ट नहीं रहता, इसलिये वह सदा काम छोड़कर जाने की भावना रखता है जिससे वह मन लगा कर काम नहीं कर पाता। असन्तुष्ट एवं अकुशल श्रमिक मशीन तथा औजारों का उपयोग भी उचित सावधानी से नहीं करता जिसके कारण उनके घिसने तथा खराब होने आदि से हानि अधिक होती है। कम या अपर्याप्त मजदूरी पाने वाले श्रमिक असन्तुष्ट होते हैं अतः उनकी ईमानदारी पर पूर्णतया विश्वास नहीं किया जा सकता। इसलिए उनके कार्य पर अधिक नियन्त्रण की आवश्यकता पड़ती है जिसके कारण निरीक्षण व्यय में वृद्धि होकर लागत व्यय बढ़ जाता है। इन कारणों से यह कहा जा सकता है कि सस्ती मजदूरी महंगी होती है।

अधिक समय तक काम करना लाभप्रद नहीं है (Long Hours are Unprofitable)—मनुष्य मशीन की भाँति लगातार काम नहीं कर सकता, क्योंकि कुछ घण्टों के निरन्तर श्रम के पश्चात् वह थक जाता है जिसके कारण उसकी कार्यकुशलता कम होकर उत्पादन शक्ति में ह्रास हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन कम होने लगता है जिसके कारण लागत व्यय में वृद्धि होने लगती है। इसलिये यह आवश्यक है कि श्रमिकों को दो-तीन घण्टे काम करने के पश्चात् थोड़ा आराम दिया जाय जिससे वे अपनी खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त कर सकें। पहले तक उद्योगपति यह समझते थे कि श्रमिकों से अधिक से अधिक समय तक काम लेना लाभदायक है। परन्तु अनुभव से वे अब इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि काम के बीच में श्रमिकों को कुछ आराम मिलना चाहिये तथा कार्यकाल लम्बा नहीं होना चाहिये जिससे श्रमिकों की कार्यक्षमता बनी रहे और उत्पादन में कमी न आने पाये। अतः यह स्पष्ट है कि अधिक समय तक काम करना महंगा पड़ता है।

विभिन्न व्यवसायों में मजदूरी की भिन्नता के कारण (Causes in Wages in different occupations)—निस्सन्देह श्रमिकों की मजदूरी श्रम की माग और पूर्ति की पारस्परिक प्रतियोगिता द्वारा निर्धारित होती है। परन्तु प्राय देखा गया है कि विभिन्न व्यवसायों या धन्धो में श्रमिकों की मजदूरी एक सी नहीं होती। किसी व्यवसाय में उनको अधिक मजदूरी मिलती है तो किसी व्यवसाय में कम। इस विभिन्नता के कई कारण है जो नीचे दिये जाते हैं :—

१. कार्य का स्वभाव (Nature of Occupations)—कुछ व्यवसाय या धन्धे रुचिकर (Agreeable) होते है, जिनमे श्रमिक प्रसन्नता से कार्य करने को तत्पर होते है जैसे शिक्षक, वकील, डाक्टर, इंजीनियर, बैंक मैनेजर आदि का काम, और कुछ अरुचिकर (Disagreeable) होते हैं जिनमे मनुष्य काम करना पसन्द नहीं करते, जैसे, भंगी, चमार, कसाई, जल्लाद, आदि का काम। इसी प्रकार कुछ कार्य ऐसे होते है जिनमे काम अधिक करना पड़ता है और कुछ में कम, जैसे शिक्षक को एक क्लर्क की अपेक्षा कम काम करना पड़ता है। कुछ काम सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से अच्छे समझे जाते हैं—जैसे अध्यापक, डाक्टर, वकील, समाचार-पत्रों के सम्पादकों का काम आदि। कुछ काम श्रमिक का जीवन कम कर देते है, जैसे वायुयान उड़ाना या काँच को फुला कर वस्तुएँ बनाना आदि। कुछ काम ऐसे होते हैं जिनको करने से श्रमिक की कार्य शक्ति शीघ्र ही क्षीण हो जाती है, जैसे रिक्शा चलाना आदि। कुछ कार्यों में श्रमिक का जीवन सदा खतरे में रहता है, जैसे गोला बारूद के कारखाने में काम करने वाले श्रमिक का, बिजली में काम करने वाले व्यक्ति का। इस प्रकार श्रमिक को विभिन्न प्रकार के कार्य करने को मिलते है। इसलिए ऐसे व्यवसाय या धन्धे जिनमे श्रमिक को अपेक्षाकृत कम परिश्रम करना पड़ता है तथा अधिक जोखिम नहीं उठानी पड़ती है, जो रुचिकर एवं प्रिय होते तथा जिनमे अवकाश अधिक मिलता है और जिनके करने में समाज में सम्मान एवं प्रतिष्ठा होती है, उनमे नकद मजदूरी कम होती है क्योंकि इनको करने वाले लोग उत्सुक रहते हैं।

२. अन्य सुविधाएँ (Incidental Advantages)—कुछ व्यवसाय ऐसे होते है जिनमे निश्चित मजदूरी के अतिरिक्त कई सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं, जैसे मुफ्त मकान या कम किराये पर अच्छा मकान, यात्रा करने के लिये फ्री पास, निःशुल्क शिक्षा, चिकित्सा एवं वस्त्र सस्ते खाद्य पदार्थ, ईंधन आदि। अतः जिन व्यवसायों में इस प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध होती है वहाँ नकद मजदूरी कम दी जाती है।

३. काम का स्थायित्व (Regularity of Employment)—जो कार्य स्थायी रूप से निरन्तर चलते रहते हैं उनमें मजदूरी कम होती है, क्योंकि श्रमिक को बेकार नहीं रहना पड़ता और जो काम अस्थायी या मौसमी होते हैं (जैसे चीनी का व्यवसाय आदि) उनमें श्रमिकों को अधिक मजदूरी देनी पड़ती है। इसलिये कार्य स्थायी है या अस्थायी इस पर भी मजदूरी में भिन्नता पाई जाती है।

४. शिक्षा का समय तथा व्यय (Period & Cost of Training)—बहुत से व्यवसाय ऐसे होते हैं जिनके अध्ययन एवं प्रशिक्षण में पर्याप्त समय और धन लगता है, जैसे इंजीनियरिंग, डाक्टरी आदि। अतः, जिस काम को सीखने में समय और धन अधिक लगता है उसमें पारिश्रमिक अधिक होता है।

५ अतिरिक्त आय की सम्भावना (Possibility of Extra Earnings)—जिन व्यवसायों में अतिरिक्त आय की आशा होती है उनमें नकद मजदूरी कम होती है। जैसे अध्यापक, डाक्टर आदि का कार्य। कई उद्योगों में श्रमिकों को परितोषण अथवा बोनस (Bonus) मिलने के कारण नकद मजदूरी कम मिलती है।

६ व्यापारिक व्यय (Trade Expense)—मजदूरी की भिन्नता का एक यह भी कारण है कि एक व्यवसाय का व्यापारिक व्यय अधिक होता है और दूसरे का कम। उदाहरण के लिये वकील को अपना कार्य संचालन के लिये औजार, डाक्टर को औषधियाँ तथा औजार, वकील को कानून की पुस्तकें तथा रिपोर्ट खरीदनी पड़ती हैं।

७ काम करने का समय (Working Hours)—भिन्न भिन्न व्यवसायों में भिन्न भिन्न काम करने का समय होता है, इसलिये उनकी मजदूरियों में भी भिन्नता पाना स्वाभाविक है। अतः जिन व्यवसायों में कम घण्टे काम करना पड़ता है वहाँ मजदूरी कम होती है।

८ श्रम की गतिशीलता (Mobility of Labour)—उस अवस्था में जबकि श्रमिक एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने में स्वतन्त्र हों, मजदूरी समानता को प्राप्त होती है। परन्तु जहाँ पर सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक विचार तथा मतभिन्नता व भिन्नता हो वहाँ श्रम की गतिशीलता नहीं होती। अतः ऐसी परिस्थिति में जहाँ श्रमिकों का अभाव है वहाँ मजदूरी अधिक होगी और जहाँ श्रमिक पर्याप्त मात्रा में होते हैं वहाँ मजदूरी कम होती है।

९ ईमानदारी, योग्यता एवं कार्य-कुशलता (Honesty, Ability and Efficiency)—जिस कार्य में ईमानदार, परिश्रमी, योग्य तथा कार्य-कुशल व्यक्तियों की आवश्यकता होती है उसमें मजदूरी भी अधिक होती है। इसी प्रकार यदि किसी कार्य में विश्वसनीय व्यक्ति की आवश्यकता होती है तब भी पारिश्रमिक अधिक मिलता है। यही कारण है कि बैंक मैनेजर, प्रयोगशालाओं के संचालकों, कॉलेज के आचार्य आदि को अच्छा वेतन मिलता है।

१० जीवन-स्तर (Standard of Living)—विभिन्न व्यवसायों में श्रमिकों के विभिन्न जीवन स्तर के कारण भी मजदूरी में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। भारतीय श्रमिकों का जीवन-स्तर ब्रिटिश श्रमिकों की अपेक्षा बहुत गिरा हुआ है। इसलिये एक भारतीय श्रमिक कम मजदूरी पर ही राजी हो जाता है जबकि ब्रिटिश श्रमिक अधिक मजदूरी माँगता है। अतः यह स्पष्ट है कि जिस देश में श्रमिकों का जीवन स्तर ऊँचा होता है वहाँ अन्य देशों की अपेक्षा मजदूरी अधिक होती है।

११ उत्तरदायित्व तथा मूल्यवान् वस्तुओं से सम्बन्ध (Responsibility and Dealings in Valuable Goods)—मैनेजरों का पारिश्रमिक अधिक होता है क्योंकि उनका उत्तरदायित्व अधिक होता है। इसी प्रकार जौहरी तथा स्वर्णकार का वेतन मूल्यवान् वस्तुओं का कार्य करने के कारण अन्य कारीगरों की अपेक्षा अधिक होता है।

१२. स्थानीय परिस्थितियाँ (Local Conditions)—कुछ स्थान ऐसे होते है जहाँ वस्तुओं के मूल्य अधिक होते हैं और कुछ स्थानों पर कम। अस्तु, जहाँ वस्तुएँ महँगी होगी वहाँ प्राय. मजदूरी भी अधिक होगी और जहाँ वस्तुएँ सस्ती होगी वहा मजदूरी भी कम होगी।

१३. भावी उन्नति एव सफलता की आशा (Future Prospects and Success)—यदि कार्य म अच्छे लाभ तथा सफलता की आशा निहित है, तो उसके लिये श्रमिकों म प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न होगी और मजदूरी गिर जायगी। परन्तु यदि कार्य में असफलता की सभावना है तो उसके लिये कम श्रमिक राजी होंगे जिससे मजदूरी की दर म वृद्धि हो जायगी।

स्त्रियो की कम मजदूरी के कारण
(Causes of Low Wages of Women)

प्राय पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को कम मजदूरी मिलती है। इसके निम्न-लिखित कारण हैं .—

१. स्त्रियों की शारीरिक शक्ति पुरुषों की अपेक्षा कम होती है—स्त्रियों की शरीरिक शक्ति कम होने के कारण अधिक परिश्रम वाला कार्य नही कर सकती। साथ ही वे लगातार और अधिक समय तक काम नही कर सकतीं। इस कारण उनकी उत्पादन-शक्ति कम होती है जिसके कारण उनको मजदूरी भी कम मिलती है।

२. स्त्रियो के लिये कुछ ही धधे सीमित है—सामाजिक या कानूनी प्रतिबन्धों के कारण स्त्रियाँ सब उद्योगों में काम नहीं कर पातीं। उनके लिये कुछ ही धन्धे खुले हुए हैं। अत: इन थोड़े से उद्योगों म उनकी पूर्ति अधिक हो जाने के कारण उनकी मजदूरी कम हो जाती है।

३. स्त्रियों के काम मे स्थायित्व का अभाव—स्त्रियों को विवाह के पश्चात् काम करने में कठिनाई पड़ती है। विवाह के पश्चात् उनके गृहस्थ जीवन के दायित्व इतने अधिक बढ जाते हैं कि व काम नही कर पाती। इस कारण उद्योगपति उन्हें काम पर रखना पसन्द नहीं करते जिसके कारण भी उन्हें मजदूरी कम मिलती है।

४. शिक्षा तथा ट्रेनिंग का अभाव – विवाह आदि बातों के कारण स्त्रियाँ स्थायी रूप से काम करने म असमर्थ हो जाती है। इसलिये वे समय एव धन लगाकर कोई व्यावसायिक ट्रेनिंग व शिक्षा प्राप्त करने के लिये तैयार नही होतीं। शिक्षा एवं समुचित ट्रेनिंग के अभाव में उनकी कार्यक्षमता नहीं बढती जिसके कारण उनकी मजदूरी भी कम रहती है।

५. अधिक मजदूरी प्राप्त करने की प्रेरणा का अभाव—स्त्रियों की आवश्यकताएँ पुरुषों की अपेक्षा कम होती है, अत. उन्हें कम द्रव्य की आवश्यकता होती है। वे अधिकाश अपने जीवन निर्वाह के लिये ही श्रम करती हैं जबकि पुरुष के ऊपर समस्त परिवार के पालन-पोषण का भार होता है।

६. स्त्रियों में शासन एवं प्रबन्ध कार्य की योग्यता का अभाव—शासन एवं प्रबन्ध सम्बन्धी नौकरियाँ ऊँची वेतन वाली होती हैं। परन्तु स्त्रियों में प्रायः इस योग्यता का अभाव देखा जाता है। इसलिये उन्हें कम वेतन वाले कामों से ही संतोष करना पड़ता है।

७. स्त्रियों में संगठन का अभाव—स्त्रियों की सौदा या भाव-ताव करने की शक्ति पुरुषों से भी कम है। इनमें संगठन का पूर्ण अभाव है। इसलिए उन्हें कम मजदूरी पर ही काम करने के लिये बाध्य होना पड़ता है। शिक्षा की कमी तथा उनके स्थायी श्रमिक न होने के कारण स्त्रियाँ अपना संगठन नहीं कर पातीं।

८. स्त्रियों को अच्छा पारिश्रमिक दिलाने वाले कुछ व्यवसाय—कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जिनमें स्त्रियों की माँग अधिक है और पूर्ति कम। उदाहरण के लिए, कन्या पाठशालाओं में केवल स्त्री अध्यापिकाओं की ही आवश्यकता पड़ती है और वे कम संख्या में मिलती हैं, इसलिए उन्हें वहाँ अच्छा वेतन मिलता है। इसी प्रकार स्त्रियों के दवाखानों और दाईखाना में सुशिक्षित नर्सों और दाइयों की माँग पूर्ति की अपेक्षा अधिक होने पर उन्हें अच्छा वेतन मिल जाता है। टाइपिंग के काम में भी उनकी कार्य-कुशलता के कारण उनकी माँग देखी जाती है जिससे उनको वेतन अच्छा मिल जाता है।

मजदूरी-भुगतान के ढंग (Methods of Wage-Payment)

प्रायः मजदूरी दो प्रकार से दी जाती है—(१) समयानुसार मजदूरी, और (२) कार्यानुसार मजदूरी।

(१) समयानुसार मजदूरी (Time Wages)—समयानुसार मजदूरी वह मजदूरी-भुगतान का ढंग है जिसमें मजदूरी एक निश्चित समय के पश्चात् दी जाती है। यह समय साधारणतया एक दिन, एक सप्ताह, एक पक्ष अथवा एक महीना होता है। इस प्रकार के मजदूरी-भुगतान के ढंग में इस बात का कोई ध्यान नहीं रखा जाता कि श्रमिक ने कितना कार्य किया है वरन् श्रमिक को एक निश्चित कार्य सौंप दिया जाता है और वह कार्य को अपनी योग्यतानुसार करता रहता है। मजदूरी देते समय श्रमिक से कोई यह नहीं पूछेगा कि उसने कुल कितनी उत्पत्ति की है वरन् केवल यह बात देखी जायगी कि श्रमिक ने पूरे समय तक कार्य किया या नहीं। यदि वह कुछ दिनों काम पर स्वयं इच्छा से नहीं आता तो उतने दिनों की मजदूरी काट कर उसको दे दी जाती है।

समयानुसार मजदूरी के लाभ (Advantages of Time Wages) समयानुसार मजदूरी के निम्नलिखित लाभ हैं :—

१. काम की स्थिरता (Regularity of Employment)—जिन श्रमिकों को समयानुसार मजदूरी दी जाती है उनको यह डर नहीं रहता कि काम होने पर उनको बेरोजगार होना पड़ेगा।

२. शारीरिक शक्ति की रक्षा (Protection of the physique of labourers)—इस प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिक निश्चित समय से अधिक कार्य नहीं करता। अतः उसका स्वास्थ्य अच्छा रहता है।

३. बीमारी आदि अवस्थाओं में नियमित मजदूरी का मिलना (Certainty of Wages in Illness etc.)—समयानुसार मजदूरी देने का यह लाभ होता है कि यदि श्रमिक बीमार पड़ जाय तो भी उसको मजदूरी मिल सकती है। इस प्रकार बीमारी के कारण श्रमिक को अधिक कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता।

४. हुनर व बारीक कारीगरी के काम के लिए उपयोगी (Useful for Delicacy and Perfection of Workmanship)—जिस काम में हुनर व बारीक कारीगरी की आवश्यकता होती है वहां इस प्रणाली का उपयोग लाभदायक सिद्ध होता है। ऐसे कामों के लिये कार्यानुसार मजदूरी मिलने पर काम जल्दी जल्दी किया जाता है जिसमें वह अच्छा नहीं बन पाता।

५. जिन व्यवसायों में काम मापने की कठिनाई होती है उनके लिए उपयोगी (Useful for those occupations in which measurement of work is difficult)—बहुत से ऐसे काम हैं जिनमें काम का मापना कठिन होता है—जैसे, शिक्षक, प्रबन्धक आदि के काम। इन कामों के लिए समयानुसार मजदूरी भुगतान-प्रणाली उपयोगी सिद्ध होती है।

समयानुसार मजदूरी की हानियाँ (Disadvantages of Time Wages)—समयानुसार मजदूरी से निम्नलिखित हानियाँ हैं :—

१. उत्पादन में ह्रास और लागत व्यय में वृद्धि (Decrease in Production and Increase in Cost of Production)—मजदूरी के इस ढंग का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें श्रमिक सुस्ती से काम करते हैं। उन्हें उत्पादन के बढ़ने और घटने में कोई दिलचस्पी नहीं रहती। इस कारण उत्पादन कम होता है और लागत व्यय में वृद्धि हो जाती है।

२. कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन का अभाव (Lack of incentive to increase efficiency)—इसके अन्तर्गत निश्चित पुरस्कार का आश्वासन होने के कारण श्रमिकों को अधिक और उत्तम कार्य करने का प्रोत्साहन नहीं मिलता तथा परिश्रमी और कामचोर श्रमिक को समान ही पारिश्रमिक मिलता है।

३. निरीक्षण-व्यय में वृद्धि (Increase in Supervision Cost)—इसमें एक निश्चित पारिश्रमिक का आश्वासन होने के कारण श्रमिकों के कार्य में शिथिलता आ जाती है। अतः उनके ऊपर देख भाल करने के लिए निरीक्षक रखने पड़ते हैं जिसके कारण खर्चा बढ़ जाता है।

४. कुशल तथा कम-कुशल श्रमिकों में अन्तर करने की कठिनाई (Difficulty in Distinguishing between Efficient and Less Efficient Labourers)—इस प्रणाली के अन्तर्गत कुशल तथा कम कुशल श्रमिकों में अन्तर करना कठिन हो जाता है। कुशल श्रमिकों को अपनी कुशलता से कम अनुपात में मजदूरी मिलती है और कम कुशल श्रमिकों को अधिक अनुपात में।

(२) कार्यानुसार मजदूरी (Piece Wages)—कार्यानुसार मजदूरी वह मजदूरी भुगतान का ढंग है जिसमें मजदूरी श्रमिकों के कार्य के परिमाण

४ काम शीघ्र समाप्त होने पर बेकारी का बढ़ना (Increase in Unemployment when the Work is finiseed)—जब श्रमिक काम को शीघ्र समाप्त कर लेता है तो उसे बेकारी का मुँह देखना पड़ता है। समयानुसार मजदूर में वह धीरे धीरे काम करता है इसलिये कार्य बहुत समय तक चलता रहता है।

५ औजार शीघ्रता के कारण अधिक टूटते हैं (More Wastage of Tools)—यद्यपि श्रमिक का यह प्रयत्न रहता है कि औजार (उपकरण) न तोड़ें तो भी काम शीघ्रता में करने के कारण औजारों में टूट फूट होना स्वाभाविक है।

६ श्रमिकों में ईर्ष्या और प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो जाती है (A spirit of jealousy and competition is created among labourers)—इस रीति के अनुसार काम करने वाले श्रमिकों में पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष तथा प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो जाती है। योग्य और अयोग्य श्रमिकों के साथ साथ काम करने पर जब योग्य श्रमिकों को अधिक मजदूरी मिलती है तो अयोग्य श्रमिकों में इसके कारण ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है।

समयानुसार एवं कार्यानुसार मजदूरी भुगतान की प्रणालियों का क्षेत्र (Scope of Time and Piece Systems of Wage payment)—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मजदूरी भुगतान की कोई भी प्रणाली पूर्ण एवं निर्दोष नहीं है। दोनों ही प्रणालियाँ विशिष्ट क्षेत्रों में अपना महत्व रखती हैं। जिन व्यवसायों में व्यक्तिगत कार्य के परिमाण को आसानी से नापा जा सकता है उनमें कार्यानुसार मजदूरी भुगतान का ढंग ठीक रहता है। जैसे विविध प्रकार के कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों के कार्य। परन्तु जिन व्यवसायों में व्यक्तिगत कार्य का परिमाण नापना कठिन होता है उनमें समयानुसार मजदूरी भुगतान का ढंग अपनाया जाता है। जैसे अध्यापक इंजीनियर शासक प्रबंधक आदि के कार्य। इसके अतिरिक्त समयानुसार मजदूरी भुगतान की रीति का उपयोग उन कार्यों में भी किया जाता है जिनमें वस्तु की किस्म (Quality) का पूरा ध्यान रखा जाता है तथा हुनर व बारीक कारीगरी की आवश्यकता होती है। जैसे बढ़िया किस्म के गलीचे बनाने का काम, नाव दुशाले तथा बेल-बूटे बनाने का काम आदि।

निष्कर्ष (Conclusion)—यदि हम दोनों प्रकार की मजदूरी भुगतान प्रणालियों की तुलना करें तो दोनों में ही गुण दोष पाये जाते हैं। इसलिये अब मजदूरी की एक नई प्रणाली निकाली गई जिसमें इन दोनों प्रणालियों मिला दी गई हैं। इस नई प्रणाली को मजदूरी भुगतान की प्रगतिशील पद्धति (Progressive System of Wage payment) या प्रीमियम अधिलाभांश पद्धति (Premium Bonus System) कहते हैं। इसमें समयानुसार तो मजदूरी दी जाती है परन्तु यदि श्रमिक योग्य है और वह अधिक कार्य कर सकता है तो उसको उस अधिक काम की भी मजदूरी दी जाती है।

निर्वाह मजदूरी (Living Wage)—फ्रांस के कृषि-अर्थशास्त्रियों (French Physiocrats) के मजदूरी के जीवन-निर्वाह के सिद्धान्त (Subsistance Theory of Wages) के अनुसार मजदूरी इतनी ही हो सकती है जितनी कि श्रमिक को अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण करने के लिये आवश्यक है, वह न उससे अधिक हो सकती है और न कम। इस जीवन-निर्वाह के सिद्धान्त को १९वीं शताब्दी के मध्य के पश्चात् छोड़ दिया गया और उसके स्थान पर जीवन-स्तर के सिद्धान्त (Standard of Living Theory) पर जोर दिया जाने लगा। इस सिद्धान्त में बताया गया कि मजदूरी श्रमिक के जीवन-निर्वाह की सीमा द्वारा निश्चित न होकर उसके जीवन-स्तर द्वारा निश्चित होती है। यदि श्रमिक को उसके जीवन-स्तर से कम मजदूरी दी जायगी, तो वह काम न करेगा। इस मजदूरी को निर्वाह-मजदूरी (Living Wage) कह कर पुकारा गया। अस्तु, निर्वाह मजदूरी वह पारिश्रमिक है जो श्रमिक के जीवन-स्तर द्वारा जिसका कि वह अभ्यासी है, निर्धारित होता है। इस सिद्धान्त को भी पहले के समान छोड़ना पड़ा, क्योंकि यह भी केवल पूर्ति की ओर ही ध्यान देता है और माँग की उपेक्षा करता है।

न्यूनतम मजदूरी (Minimum Wages)—श्रमिकों की उद्योगपतियों की तुलना में सौदा या भाव-ताव करने की शक्ति बहुत कम होती है। अतः उद्योगपतियों द्वारा श्रमिकों का शोषण होना स्वाभाविक है। उद्योगपति श्रमिकों को इतनी कम मजदूरी देते हैं कि वह उनके जीवन-निर्वाह के लिये अपर्याप्त होती है। अतः अब इस बात को अच्छी तरह स्वीकार कर लिया गया है कि सामाजिक न्याय के हित में श्रमिकों की मजदूरी पर्याप्त होनी चाहिये जिससे श्रमिक स्वास्थ्य और साधारण खुशहाली के दृष्टिकोण से उचित और अच्छे रहन-सहन के स्तर से अपना जीवन-निर्वाह कर सकें। श्रम का पसीना बहाना अब अनुचित समझा जाता है। इसलिये एक ओर मजदूर संघ (Trade Unions) श्रमिकों को संगठित कर अच्छी मजदूरी दिलाने में प्रयत्नशील हैं तो दूसरी ओर सरकार कानून द्वारा "न्यूनतम मजदूरी" निर्धारित कर उद्योगपतियों को अच्छी मजदूरी देने के लिये बाध्य कर रही है। श्रमिकों की पूर्ति चाहे कितनी ही क्यों न बढ़ जाय, परन्तु कानून द्वारा निश्चित न्यूनतम मजदूरी तो उद्योगपतियों को अवश्य देनी ही पड़ेगी। अस्तु, न्यूनतम मजदूरी वह कानून द्वारा निश्चित पारिश्रमिक है जिसके द्वारा श्रमिक साधारणतया अच्छे रहन-सहन के स्तर से अपना जीवन निर्वाह कर सकें।

भारतवर्ष में सबसे पहले सन् १९३१ में राजकीय श्रम-आयोग ने भारत सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था, परन्तु देश-विभाजन के पूर्व तक सरकार ने कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया। सन् १९४८ में न्यूनतम मजदूरी विधान (Minimum Wage Act) पास करके कुछ उद्योग-धन्धों में जिनमें श्रमिकों की दशा अत्यन्त दयनीय थी, न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने का प्रयास किया गया। सन् १९५० में इस विधान में संशोधन किये गये जिनके फलस्वरूप सभी प्रकार के उद्योग-धंधों में न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने की अवधि तीन वर्ष कर दी गई। कृषि में न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने से पूर्व यह आवश्यक समझा गया कि देश के विभिन्न भागों के गाँवों में श्रमिकों की स्थिति जाँच ली जाय। इसी भावना से प्रेरित होकर सन् १९४९ में यह कार्य प्रारम्भ किया

गया, किन्तु सन् १९५१ तक यह कार्य पूर्ण न हो सकने के कारण सरकार ने कृषि में न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने की अवधि मार्च १९५३ तक बढ़ा दी।

उचित मजदूरी (Fair Wage)—देश की आर्थिक उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि श्रमिकों को इतनी मजदूरी अवश्य प्राप्त हो जिससे उनकी कम-से-कम आवश्यकताएँ पूर्ण होने के अतिरिक्त उनके रहन सहन का स्तर भी ऊँचा उठ सके। इसके अभाव में श्रमिकों में असन्तोष की भावना उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। सरकार ने इस सम्बन्ध में एक समिति भी नियुक्त की जिसकी सिफारिशों के आधार पर केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने सन् १९५० में एक विधेयक तैयार किया। इस विधेयक के अनुसार उचित मजदूरी की मात्रा न्यूनतम मजदूरी से अधिक किन्तु जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक मजदूरी से कम मानी गई है। उचित मजदूरी द्वारा अब यह सम्भव हो सकेगा कि श्रमिकों को भोजन के अतिरिक्त कुछ सुख वस्तुएँ भी उपलब्ध हो जायँ। उचित मजदूरी का निर्धारण एक बोर्ड द्वारा होगा जो इसे निश्चित करते समय देश की वार्षिक आय, अन्य उद्योग धन्धों में प्रचलित मजदूरी दर, उद्योग की भुगतान-शक्ति, श्रमिकों की कार्य-कुशलता, श्रम की थकावट, श्रमिकों के पारस्परिक उत्तरदायित्व तथा उनके अनुभवों को ध्यान में रखेगा।

श्रमिक संघ

(Trade Unions)

आवश्यकता (Necessity)—श्रमिकों का सौदा या भाव ताव करने की शक्ति कम होती है। अतः वे उद्योगपतियों से प्रतियोगिता करने में निर्बल सिद्ध होते हैं। इस निर्बलता को दूर करने के लिये श्रमिक अपने आपको संगठित करते हैं। इन संगठनों को ही 'श्रमिक संघ' या 'मजदूर सभाएँ' आदि नामों से पुकारते हैं।

परिभाषा (Definition)—साधारणतया श्रमिक संघ से उस संस्था का तात्पर्य है जो श्रमिकों के हितों तथा उनके अधिकारों के संघर्ष की रक्षा करता है। सिडनी वैब (Sydney Webb) तथा बेट्रिस वैब (Beatries Webb) के शब्दों में श्रमिक संघ श्रमिकों की वह स्थायी संस्था है जिसका उद्देश्य उनकी नौकरी-सम्बन्धी दशाओं को स्थिर रखना या उनमें सुधार करना है।[1] क्ले (Clay) के अनुसार श्रमिक संघ वह संस्था है जिसका उद्देश्य सौदा या भाव-ताव करने के मामले में श्रम के विक्रेता को श्रम के क्रेता के बराबर शक्ति देना है।[2]

1—Sydney Webb and Beatries Webb define a trade union as "a continuous association of wage earners for the purpose of maintaining or improving the conditions of their employment."

2—"The Trade Union is an organization designed to put up the seller of labour on an equality with the buyer as regards bargaining strength" —*Clay*

श्रमिक संघों के कार्य (Functions of a Trade Union)—श्रमिक संघ के निम्नलिखित मुख्य कार्य होते हैं —

(१) **श्रमिकों को सगठित कर उनकी मजदूरी बढवाना**—विभिन्न स्थानो से आने वाले श्रमिकों को एक सूत्र में बाँध कर सगठित करना श्रमिक सघ का मुख्य कार्य है। श्रमिक सघ सामूहिक रूप मे श्रमिकों की माँगे प्रस्तुत करते है और उद्योगपतियो पर दबाव डाल कर उनकी मजदूरी बढवाते है।

(२ **एकता स्थापित करना तथा भ्रातृ भाव की वृद्धि करना**—श्रमिक सघ श्रमिकों को सगठित कर, उनम भ्रातृ भाव का सचार करते हैं तथा उनमे एकता स्थापित करने का प्रयत्न करते है।

(३) **प्राप्त सुविधाओं तथा अधिकारो की रक्षा करना**—श्रमिक सघ श्रमिको को उनके अधिकारो का उचित ज्ञान करा देते है। जब कभी किसी श्रमिक के साथ उसका स्वामी दुर्व्यवहार करता है, तो सघ उसका पक्ष लेकर उचित अधिकारो के लिये सघर्ष करते हैं।

(४) **श्रमिको की शिक्षा स्वास्थ्य आदि बातों की व्यवस्था कर उनकी कार्य क्षमता में वृद्धि करना**—सघ श्रमिकों की शिक्षा व स्वास्थ्य सम्बन्धी बातो की ओर भी पूर्ण ध्यान देते है, क्योकि इनकी समुचित व्यवस्था श्रमिक की कार्य क्षमता बढाने मे सहायक सिद्ध होती है। सघ इस बात को भी देखते रहते है कि श्रमिको को रहने के लिए उचित स्थान प्राप्त हों।

(५) **बीमारी, बेकारी या अन्य आपत्ति-काल मे अपने सदस्यो की सहायता करना**—बीमारी के समय श्रमिक सघ अपने सदस्यो की सहायता करते है तथा बेकार हो जाने पर उनके भरण पोषण का प्रबन्ध करते हैं।

(६) **श्रमिकों का जीवन स्तर ऊँचा करना**—श्रमिक सघ अपने सदस्यो को स्वस्थ एव शिक्षित बनाकर उनकी कार्य क्षमता को बढाने का प्रयत्न करते हैं जिसके परिणाम-स्वरूप उनकी मजदूरी में वृद्धि होती है। इन सबके कारण उनके रहन-सहन के स्तर मे सुधार होता है।

(७) **श्रमिकों की गतिशीलता को प्रोत्साहन देना**—श्रमिको को विभिन्न स्थानो की परिस्थितियों से परिचित करा कर उनको गतिशील बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

श्रमिक सघ और मजदूरी (Trade Union and Wages)—सघ मजदूरी मे अधिकाधिक वृद्धि करवाने का प्रयत्न करते है। यह प्रयत्न तभी सफल हो सकता है जबकि उनके सदस्य अधिकाश श्रमिक ही होते है। परन्तु यदि उद्योगपति कहीं बाहर से श्रमिको को लाने मे सफल हो जाता है तो मजदूरी का बढना इस बात पर भी निर्भर होता है कि श्रमिक सघो के पास बेकारी के समय म श्रमिको का भरण-पोषण करने के लिए कितना कोष है। यदि यह कोष अपर्याप्त है तो हडताल अधिक समय तक न चल सकेगी और मजदूरी न बढ सकेगी। श्रमिक सघ श्रमिको की सौदा या भाव ताव करने की शक्ति को बढाकर भी मजदूरी में वृद्धि करवा सकते है या उन्हे शिक्षा आदि देकर उनकी कार्यक्षमता मे वृद्धि कर मजदूरी बढवा सकते हैं। परन्तु ये मजदूरी श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity) से अधिक

नहीं बढवा सकते और यदि वे इससे अधिक मजदूरी बढवाने में सफल भी हो गये तो इसके कारण बहुत से कारखाने बंद हो जायगे या ऐसे यत्रादि का आविष्कार किया जायेगा जिन पर काम करने के लिए कम से कम श्रमिकों की आवश्यकता पड़े। इन दोनों परिस्थितियों में बेकारी बढ जायेगी और कुछ समय पश्चात मजदूरी घट जायेगी। अन्त श्रमिक सघ भी मजदूरों को श्रमिक की उत्पादकता से अधिक स्थायी रूप से नहीं दिला सकते।

भारत में श्रमिक सघ आन्दोलन

(Trade Union Movement in India)

श्रमिक सघ आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास—भारतवर्ष में सबसे पहले सन् १८६० में श्री लोखण्डे ने बम्बई में 'बम्बई मिल मजदूर-सघ' नामक संस्था स्थापित की और श्रमिकों की मागो का प्रचार करने के लिए 'दीनबन्धु' नामक साप्ताहिक समाचार पत्र भी निकाला। सन् १६०५ में छापाखाना यूनियन कलकत्ते में डाक यूनियन बम्बई में और सन् १६१० में कामगर हितवर्द्धक सभा बम्बई में स्थापित हुई। परन्तु अधिकतर श्रमिक सगठन का वास्तविक प्रारम्भ इस देश में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ही हुआ। सन् १६१८ से श्रमिक सगठन ने बडा जोर पकडा। मद्रास में श्री बी० पी० वाडिया तथा पजाब में लाला लाजपतराय के नेतृत्व में श्रमिक सघो की स्थापना हुई। कलकत्ता और बम्बई में श्रमिक सगठन सुदृढ हुआ। सन् १६२० में महात्मा गाधी ने अहमदाबाद के सूती कपडा के कारखाने का प्रसिद्ध श्रमिक सघ स्थापित किया। इसी वर्ष अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना हुई जिसका प्रथम अधिवेशन लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में उसी वर्ष बम्बई में सम्पन्न हुआ और श्रमिकों का अखिल भारतीय सगठन बन गया। सन् १६२३ के पश्चात् श्रमिक सगठन कुछ शिथिल पड गया। उस समय के श्रमिक सघ केवल हडताल समितियां (Strike Committees) ही थी जो सघर्ष समाप्त हो जाने पर स्वय व भी समाप्त हो जाती थी। सन् १६२६ में भारत सरकार ने इण्डियन ट्रेड यूनियन एक्ट (Indian trade union Act) पास किया जो श्रमिक आन्दोलन को सुदृढ और उन्नत करने की दिशा में पहला महत्त्वपूर्ण कदम था। इस कानून ने रजिस्टर्ड श्रमिक सघो को अनेक सुविधाएं प्रदान की। इसके अनुसार यदि कोई श्रमिक सघ या उसका अधिकारी औद्योगिक सघर्ष को प्रोत्साहित करे तो उसे दण्डित नहीं किया जा सकता। इससे पूर्व उन पर षडयन्त्र का काला कानून लागू होता था। इस प्रकार इस कानून से श्रमिक आन्दोलन को बडा प्रोत्साहन मिला। परन्तु सन् १६२६ में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस में फूट पड गई और वह दो भागो में विभक्त हो गई— ट्रेड यूनियन काग्रेस जिस पर साम्यवादी दलों के नेताओं का जोर था और नेशनल ट्रेड यूनियन फेडरेशन जिस पर नरमदली नेताओं का प्रभाव था। सन् १६३८ में श्री वी० वी० गिरि के प्रयत्नों के फलस्वरूप इन दोनों में मेल हो गया। परन्तु युद्ध काल में पुन फूट हो गई। सन् १६३६ में श्री एम० एन० राय ने एक अलग इण्डियन लेबर फेडरेशन स्थापित कर दी। सन् १६४७ में काग्रेस के अनुयायियों ने श्री गुलजारीलाल नन्दा के नेतृत्व में एक पृथक श्रमिक सघ स्थापित किया और इसका नाम भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन काग्रेस (Indian National Trade Union Congress) रखा।

सन् १६४७ में भारतीय ट्रेड यूनियन एक्ट १६२६ में महत्त्वपूर्ण सशोधन किये गये। प्रथम मुख्य सशोधन तो यह था कि श्रम न्यायालय (Labour court) के आदेश

पर नियोजकों (Employers) को अनिवार्य रूप से ट्रेड यूनियन को मान्यता देनी होगी। जो श्रमिक संघ मान्य होते है उन्हें श्रमिकों की नियुक्ति, काम की परिस्थिति और शर्तों आदि श्रमिकों के सम्बन्ध के सब मामलों में पूछ-ताछ और निर्णय करने का अधिकार होता है। उन्हें मिल या कारखाने के भीतर अपने नोटिस आदि लगाने का भी अधिकार होता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात जो सन १९४७ के संशोधन के अनुसार हुई है वह यह है कि मान्य श्रमिक संघों और मिल मालिकों के लिए कुछ बातों के करने को अनुचित घोषित कर दिया गया। ट्रेड यूनियन एक्ट में संशोधन करने के उद्देश्य से सन् १९५० में एक ट्रेड यूनियन बिल भारतीय संसद में प्रस्तुत किया गया। इस बिल में श्रमिक संघों को अनिवार्य रूप से नियोजकों द्वारा मान्यता दिलाये जाने का प्रस्ताव मुख्य संशोधन था परन्तु इस बिल की धाराओं की तीव्र आलोचना की गई। इसलिये सरकार ने इसे पास कराने के उद्देश्य को त्याग दिया।

श्रमिक संघ आन्दोलन की वर्तमान अवस्था—सन् १९५७-५८ में भारत में लगभग ६,८२२ रजिस्टर्ड श्रमिक संघ थे और इनके सदस्यों की संख्या २९,७२,८८३ थी। इस समय श्रमिकों के चार बड़े अखिल भारतीय संघ है जिन पर चार प्रमुख राजनैतिक दलों का प्रभुत्व है। इनके नाम ये है—भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (Indian National Trade Union Congress), अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (All-India Trade Union Congress), हिन्द मजदूर सभा (Hind Mazdoor Sabha) और संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस (United Trade Union Congress)। भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (I. N. T. U. C.) आज भारत में श्रमिकों की सबसे बड़ी अखिल भारतीय संस्था है। इस पर कांग्रेस पार्टी का अधिकार है। दूसरी बड़ी संस्था अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस है जिस पर साम्यवादियों का पूर्ण प्रभुत्व है। तीसरी बड़ी संस्था हिन्द मजदूर सभा है जिस पर समाजवादियों का पूर्ण प्रभाव है। संयुक्त ट्रेड यूनियन कांग्रेस इस प्रकार की चौथी संस्था है। भारत अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I. L. O.) का सदस्य होने के कारण भारतीय श्रमिक आन्दोलन को पर्याप्त बल मिला और उसने हमारे देश के आन्दोलन का अन्य देशों से सम्पर्क स्थापित कर दिया।

श्रमिक-संघ आन्दोलन की प्रगति पर दृष्टिपात—गत वर्षों में श्रमिक आन्दोलन ने भारत में उल्लेखनीय उन्नति की है और आज लगभग प्रत्येक धन्धे में श्रमिक संगठित हैं। यही नहीं कि औद्योगिक केन्द्रों में ही श्रमिक सभाएँ संगठित हुई हों, परन्तु छोटे छोटे कस्बों में भी जहाँ एक दो कारखाने है श्रमिक संघ स्थापित हो चुके हैं। मोटर बस ड्राइवर, पॉवर हाउस तथा तांगा और रिक्शावालों, दुकानों पर काम करने वालों, चपरासियों, डाकघर, रेल, बैंक व दफ्तरों के कर्मचारियों तक के संघ स्थापित हो चुके हैं। अस्तु, श्रमिकों में संगठित होने की पूर्ण जागृति हो चुकी है।

इतना होते हुए भी भारतीय श्रम आन्दोलन अभी इतना उन्नत नहीं हो सका है जितना पश्चिमी देशों में। भारत में श्रमिक संघों के सदस्यों की संख्या औद्योगिक श्रमिकों की सम्पूर्ण संख्या का केवल एक अंश मात्र है। अधिकतर भारतीय श्रमिकों के अशिक्षित होने के कारण उनके नेता प्राय बाहरी होते है जैसे वकील राजनैतिक कार्यकर्ता आदि। हड़ताल को जारी रखने के लिये उनके पास पर्याप्त कोषों का अभाव है। बहुत थोड़े श्रमिक संघ ऐसे है जिनके पास बेकारी, बीमारी और वृद्धावस्था के लाभ है। एक ही केन्द्र में स्थापित एक ही प्रकार के उद्योगों में कई श्रमिक संघ बने हुए है। श्रमिक संघों

श्रमिक संघों के केन्द्रीय संघ भी बहुत से हैं। इस प्रकार भारतीय श्रमिक-संघ-आन्दोलन की प्रगति अधिक सन्तोषजनक नहीं रही।

भारतवर्ष में श्रमिक-संघ आन्दोलन की कठिनाइयाँ (Difficulties of Trade Union Movement in India)—भारत में श्रमिक-संघ-आन्दोलन को निम्नलिखित कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है :—

१. भारतीय श्रमिक की पर्यटनशीलता (Migratory Character of Indian Labour)—अधिकांश श्रमिक गाँवों के होते हैं जो फसल में अवकाश मिलने पर शहरों में आ जाते हैं, परन्तु फसल के समय पुनः काम छोड़कर गाँव को चले जाते हैं। केवल यही नहीं, दो-चार वर्ष काम कर कुछ रुपया जोड़कर फिर गाँव में जा बसते हैं। अतः श्रमिकों की पर्यटनशीलता और अस्थायी निवास उनके संगठन में बाधक सिद्ध होता है।

२. भारतीय श्रम की भिन्नता (Heterogeneous Character of Indian Labour)—हमारे औद्योगिक केन्द्रों में विभिन्न प्रान्तों, जातियों तथा धर्मों के श्रमिक काम करते हैं जिनके रहन-सहन के ढंग तथा रीति-रिवाज अलग-अलग होते हैं। अतः उनमें जाति द्वेष, प्रान्तीयता, भाषा भेद और छूत-छात पाया जाता है जिसके कारण उनमें एकता स्थापित नहीं की जा सकती।

३. शिक्षा का अभाव (Lack of Education)—अधिकांश श्रमिक अशिक्षित होते हैं जिसके कारण संगठन के महत्व एवं लाभों को नहीं समझने पाते। श्रमिकों की अज्ञानता संगठन के विकास में बाधक सिद्ध होती है।

४. अनुशासन का अभाव (Lack of Discipline)—किसी संगठन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिये अनुशासन अत्यावश्यक है। परन्तु भारतीय श्रमिकों में अनुशासन की कमी है। उन्हें किसी नियम में बँधना और उसके अनुसार आचरण करना बहुत बुरा मालूम होता है।

५. निर्धनता (Poverty)—भारतीय श्रमिक की असाधारण निर्धनता श्रमिक-संघों के विकास में बाधक सिद्ध होती है। अधिकांश श्रमिकों के लिये नाममात्र चंदा भी भार स्वरूप होता है। इसलिये वे ऐसी संस्थाओं की सदस्यता से प्रायः जी चुराते हैं।

६. श्रमिक नेताओं की कमी (Dearth of Labour Leaders)—श्रमिक प्रायः शिक्षित नहीं होते इसलिये उनमें उनके स्वयं के नेता नहीं हो पाते। अन्य लोग अपने स्वार्थ को लेकर नेता बन जाते हैं और स्वार्थ सिद्ध होते ही पृथक् हो जाते हैं। अस्तु, भारतीय श्रमिक आन्दोलन को सुदृढ़ बनाने के लिये योग्य, सच्चे तथा ईमानदार व्यक्तियों के नेतृत्व की आवश्यकता है।

७. औद्योगिक केन्द्रों का दूर दूर तथा बिखरे हुये होना (Distant & Scattered Industrial Centres)—भारत में औद्योगिक केन्द्र बहुत दूर-दूर और बिखरे हुये हैं। इस कारण भी श्रमिक आन्दोलन अधिक सफल नहीं हो पाता। यदि श्रमिक बस्तियाँ आस-पास हों और औद्योगिक केन्द्र किसी क्षेत्र विशेष में हों तो श्रमिक आन्दोलन अधिक बलवान् हो सकता है।

८. विभिन्न राजनैतिक दलों की वैमनस्यता का अखाड़ा (Instrument to Various Political Parties)—आज श्रमिक वर्ग अनेक राजनैतिक दलों का शिकार बना हुआ है। प्रत्येक कार्यकर्त्ता श्रमिकों का उपयोग अपने दल विशेष के लिए करना चाहता है। इन राजनैतिक दलों में आपस में बड़ा वैमनस्य है। अतः नेता लोग आपसी झगड़ों में पड़े रहते हैं और श्रमिकों की भलाई की ओर अधिक ध्यान नहीं देते।

९. श्रमिक-संघों का निर्माण प्रायः हड़ताल के उद्देश्य से होता है, अन्य उद्देश्यों की उपेक्षा की जाती है (Trade unions are generally formed for strike purposes, other aims are neglected)—भारतवर्ष में श्रमिक आन्दोलन की एक बड़ी कमी यह है कि श्रमिक संघों का निर्माण प्रायः हड़ताल करवाने के उद्देश्य से ही होता है; अन्य उद्देश्यों की उपेक्षा की जाती है। हड़ताल सफल हुई तो संघ स्थायी हो जाता है और यदि असफल हुई तो शिथिल हो जाता है अथवा नष्ट हो जाता है।

१०. मिल मालिकों का विरोध (Opposition of Employers)—*मिल मालिकों का विरोध भी आन्दोलन को सफल बनाने में एक बाधा है। मालिक* कई प्रकार से इन संघों का विरोध करते हैं और उनको सौदा करने की शक्ति अधिक होने के कारण वे सफल भी हो जाते हैं। श्रमिकों के निरीक्षक (Supervisors) भी इन संघों का विरोध करते हैं, क्योंकि श्रमिकों के असंगठित रहने पर ही उनका प्रभुत्व कायम रह सकता है।

निष्कर्ष—इन बाधाओं के होते हुए भी भारत में श्रमिक आन्दोलन का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है। शनैः शनैः यह आन्दोलन जोर पकड़ता जा रहा है जिसके कारण बाधाएँ भी कम होती जा रही हैं। अब आवश्यकता इस बात की है कि हम दृढ़ता, लगन और सचाई से इस ओर आगे बढ़ते जावें।

भारतवर्ष में मजदूरी

(Wages in India)

अन्य देशों की तुलना में भारत के श्रमिकों को कम मजदूरी मिलती है। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) औद्योगिक उन्नति की कमी—भारत में औद्योगिक उन्नति बहुत कम हुई है जिसके फलस्वरूप यहाँ पर कारखाने बहुत कम हैं। इस कारण श्रमिकों की माँग भी कम है। कृषि में उत्पत्ति कम होने के कारण कृषक श्रमिकों को अधिक पारिश्रमिक नहीं दे सकता।

(२) जन-संख्या की अधिकता—भारत में जन-संख्या बहुत बढ़ रही है जिसके कारण काम करने वालों की संख्या बहुत अधिक है। श्रम की पूर्ति माँग से अधिक होने के कारण मजदूरी की दर गिरना स्वाभाविक है।

(३) कार्यक्षमता में कमी—भारतीय श्रमिक निर्धन एवं अशिक्षित हैं, इस कारण उनका जीवन-स्तर नीचा है। इससे उनकी कार्य-क्षमता बहुत कम है। कार्य क्षमता कम होने के कारण वे अधिक उत्पादन नहीं कर पाते और उनकी मजदूरी अधिक नहीं बढ़ पाती।

(४) अधिक उत्पादन-व्यय—भारतीय श्रमिक की कार्य-कुशलता कम होने के कारण उसके द्वारा होने वाला उत्पादन भी कम होता है जिससे प्रति इकाई उत्पादन-व्यय में वृद्धि हो जाती है। इसलिये बढ़ी हुई लागत की दशा में अधिक मजदूरी मिलना सम्भव नहीं है।

(५) श्रम की गतिशीलता में कमी—भारत में श्रम की गतिशीलता कम होने के कारण भी यहाँ श्रमिकों की मजदूरी कम है।

गाँवों में शहरों की अपेक्षा कम मजदूरी—यदि हम भारत के गाँवों और शहरों में मिलने वाली मजदूरियों की तुलना करें तो ज्ञात होगा कि गाँवों में शहरों की अपेक्षा मजदूरी कम है। इसके कई कारण हैं—(१) गाँवों में खाद्यान्न, ईंधन आदि शहरों की अपेक्षा सस्ते हैं। (२) गाँवों में मकान किराया भी सस्ता होता है। (३) गाँवों में मजदूरी प्रायः रीति रिवाजों द्वारा निर्धारित होती है जब कि शहरों में मजदूरी अधिकतर प्रतियोगिता द्वारा निर्धारित होती है। इसलिये गाँवों में मजदूरी का कम होना स्वाभाविक है। (४) कृषि में उत्पत्ति कम होने के कारण अधिक मजदूरी नहीं मिल सकती। (५) गाँवों में वास्तविक मजदूरी अधिक होने से नकद मजदूरी कम होती है। (६) गाँवों में श्रमिक इतने संगठित नहीं हैं जितने कि शहरों में। इसलिये वे अधिक मजदूरी पाने के लिए संघर्ष नहीं कर सकते। यातायात व संवाद के साधनों की उन्नति के प्रभाव के कारण शनैः शनैः गाँवों और शहरों का सम्पर्क बढ़ता जा रहा है जिससे गाँवों में श्रमिकों को कम मजदूरी दिलाने वाले कारण शून्य होते जा रहे हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—मजदूरी का अर्थ समझाइये। वह कैसे निर्धारित होती है? जीवन स्तर का मजदूरी पर क्या प्रभाव पड़ता है?

२—असली और नकद मजदूरी में क्या भेद है? बनारस की अपेक्षा कानपुर में मजदूरी की दर क्या अधिक है। असली मजदूरी व कम मजदूरी जानने के लिये किन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है?

३—श्रम की गतिशीलता का क्या तात्पर्य है? भारत में श्रम की गतिशीलता पर सामाजिक प्रथाओं का कहाँ तक प्रभाव पड़ता है? सुधार के सुझाव दीजिये।

४—भारत में एक कृषक मजदूर किसी बड़े नगर में एक रुपया प्रतिदिन मजदूरी की अपेक्षा गाँव में आठ आना प्रतिदिन मजदूरी लेना अधिक पसन्द करता है। क्या आप इसका कारण समझा सकते हैं? (रा० बो० १९५६)

५—जीवन-स्तर का मजदूरी पर क्या प्रभाव पड़ता है? क्या आप अपने जीवन-स्तर में वृद्धि करके अधिक मजदूरी प्राप्त कर सकते हैं? (रा० बो० १९५४)

६—असली और नकद मजदूरी में अन्तर स्पष्ट कीजिये। भारत में विभिन्न उद्योगों में मजदूरी में भिन्नता क्यों है? (रा० बो० १९५२)

७—न्यूनतम और उचित मजदूरी पर टिप्पणी लिखिये। (अ० बो० १९५३)

८—समयानुसार और कार्यानुसार मजदूरी पर टिप्पणी लिखिये।

(अ० बो० १९४८, ४०)

९—"श्रम एक नाशवान् वस्तु है।" श्रम की विशेषताएँ समझाइये और यह बतलाइये कि इनका मजदूरी निर्धारण करने मे क्या प्रभाव पड़ता है ? (म० भा० १९५७)

१०—श्रम की गतिशीलता का क्या अभिप्राय है ? इसके विभिन्न प्रकार क्या क्या है ? क्या भारत मे श्रम की गतिशीलता मे कुछ बाधाएँ है ? यदि है, तो उन्हे स्पष्ट कीजिये। (म० भा० १९५४)

११—श्रम की सीमान्त उत्पादकता मे श्रम का माँग मूल्य किस प्रकार नियत होता है ? (नागपुर १९५०)

१२—'श्रम की गतिशीलता' किसे कहते है ? इसके विभिन्न प्रकार क्या है ? यह किन बातो से प्रभावित होती है ? (सागर १९५०)

१३—नकद और असली मजदूरी का अन्तर स्पष्ट कीजिये। असली मजदूरी निर्धारित करने वाले तत्वो का उल्लेख कीजिये। (पटना १९४९)

१४—स्वतन्त्र प्रतियोगिता मे मजदूरी किस प्रकार निर्धारित होती है ? (पजाब १९५१)

१५—नोट लिखिये :—
असल तथा नकद मजदूरी (रा० बो० १९६०)

१६—नकद और असली मजदूरी मे भेद स्पष्ट कीजिए। असली मजदूरी निर्धारण मे किन बातो को ध्यान में रखेंगे। (रा० बो० १९६०)

१७—श्रमिक सघ का मजदूरी पर क्या प्रभाव है ? (रा० बो० १९५८)

इण्टर एग्रीकल्चर परीक्षाएँ

१८—नकद और असली मजदूरी मे क्या भेद है ? मजदूरी पर जीवन-स्तर और रीति-रिवाजो का क्या प्रभाव पड़ता है ?

———

अध्याय ६३

ब्याज
(Interest)

ब्याज का अर्थ (Meaning of Interest)—ब्याज शब्द के साधारण भाषा के अर्थ और अर्थशास्त्रीय अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। साधारण भाषा में हम ब्याज उस राशि को कहते हैं जो उधार लेने वाला उधार देने वाले को उसके धन का उपभोग करने के बदले में देता है। अर्थशास्त्र में भी ब्याज का यही अर्थ है। उत्पादन के पाँच साधनों में से पूँजी एक साधन है। एक साहसी (Entrepreneur) अपने उत्पादन में से इन पाँचों साधनों में उनका उचित भाग वितरण करता है। अतः वह भाग जो पूँजी की सेवा के बदले पूँजीपति को दिया जाता है, ब्याज (Interest) कहलाता है। अन्य शब्दों में, ब्याज राष्ट्रीय आय का वह भाग है जो पूँजीपति को उसकी पूँजी के लिये दिया जाता है। प्रायः पूँजी और ब्याज रुपय के रूप में दिये व लिये जाते हैं। ब्याज प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है और इसकी गणना वार्षिक आधार पर की जाती है।

ब्याज की परिभाषाएं (Definitions)—कारवर (Carver) के अनुसार ब्याज वह आय है जो पूँजीपति को दी जाती है।[1]

प्रो० सेलिगमैन (Seligman) के शब्दों में ब्याज पूँजी उधार देने का प्रतिफल है।[2]

एल० ली मेसूरीयर (L. Le Mesurier)—ब्याज को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—ब्याज वह पुरस्कार है जो पूँजी को मिलता है।[3]

ब्याज पर दो दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है—

(१) ऋण लेने वाले के दृष्टिकोण से (From Borrower's point

1—"Interest may be defined as the income which goes to the owner of capital"

—Carver *Principles of Political Economy*, p. 418.

2—"Interest is the return from the fund of capital."

—Seligman *Principles of Economics*.

3—"Interest is the reward paid to capital"

—L Le Mesurier *Commonsense Economics*, p. 65.

of view)—उधार ली हुई पूँजी उत्पादन में सहायक होती है, क्योंकि पूँजी में उत्पादन शक्ति है। अर्थशास्त्रज्ञ हैनरी क्रे (Henry Cray) का कहना है कि ब्याज पूँजी के प्रयोग के लिये दिया जाता है क्योंकि पूँजी में उत्पादन शक्ति होती है, इसलिये ऋण लेने वाला इसको उधार लेकर इसकी सहायता से अधिक उत्पत्ति करता है और वह इसमें से कुछ भाग पूँजीपति को उसकी पूँजी के उपयोग के बदले में दे देता है।[1] (२) ऋणदाता के दृष्टिकोण से (From Lender's point of view)—पूँजी को इकट्ठी करने तथा ऋण के रूप में देने के लिए यह आवश्यक है कि ऋणदाता उसका तात्कालिक उपभोग न करे। ऐसा करने में वह कुछ त्याग करता है जिसके लिये उसे कुछ पुरस्कार मिलता है। इस आत्म-त्याग या संयम (Abstinence) के पुरस्कार को ही ब्याज के नाम से सम्बोधित करते हैं। इङ्गलैंड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) का कहना है कि पूँजीपति पूँजी उधार देते समय आत्म-त्याग या संयम करते हैं। जब पूँजीपति पूँजी संचय करते हैं तो वे धन का प्रयोग नहीं करते। इस कारण उन्हें कष्ट होता है। इसी कष्ट का प्रतिफल ब्याज है। मिल के शब्दों में ब्याज आत्म-त्याग या संयम का प्रतिफल है।[2]

कई अर्थशास्त्री मिल के इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि धनी व्यक्तियों की आय उनके व्यय की अपेक्षा इतनी अधिक होती है कि उन्हें रुपया बचाने में कष्ट या त्याग नहीं करना पड़ता है किन्तु रुपया स्वतः ही बचता रहता है। प्रो० मार्शल (Marshall) ने स्वयं कहा है कि पूँजी के सबसे बड़े संचयी बहुत धनी लोग होते हैं जिनमें से कुछ विलासिता में रहते हैं और सचमुच वे उस अर्थ में 'संयम' नहीं करते जिसमें यह 'आत्म-त्याग' का पर्यायवाची है।[3]

यह उचित है कि बहुत धनी लोग पूँजी संचय करते समय कुछ भी त्याग या संयम नहीं करते। परन्तु पूँजी उधार देते समय सभी पूँजीपतियों को प्रतीक्षा अवश्य करनी होती है। अधिक स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि जब पूँजीपति पूँजी उधार देते हैं तो यह स्वाभाविक है कि वे उसका उपयोग उस समय नहीं कर सकते बल्कि इसके लिये पूँजी के लौटने तक उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इससे उन्हें कष्ट

1—'Interest is paid on the use of the capital because the capital is productive it enables its owner to produce more than he could without it and out of this additional product interest is paid.
—Henry Cray

2—"Interest is the remuneration for mere abstinence."
—J. S. Mill: *Principles of Political Economy*, vol. I, p. 596

3—"The greatest accumulators of wealth are very rich some of whom live in luxury, and certainly do not practice abstinence in the sense of the term in which it is convertible with abstemious."
—A. Marshall: *Economics of Industry*, p. 136

होता है और व्याज इस कष्ट का पुरस्कार है। डॉ० रिचार्ड्स (Richards) के अनुसार व्याज प्राथमिक रूप से प्रतीक्षा का पुरस्कार है।[1] प्रो० मार्शल (Marshall) ने लिखा है कि "भविष्य के उपयोग के लिये वर्तमान के उपयोग के त्याग को अर्थशास्त्री 'सयम' कहते हैं। यह शब्द भ्रमात्मक है, इसलिये इसका प्रयोग सलाभ छोड़ा जा सकता है। वे कहते है कि धन-सचय आनन्द को स्थगित करने या उसकी प्रतीक्षा करने का परिणाम है।"[2]

अत हम व्याज को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं . व्याज पूँजी का वह पुरस्कार है जो ऋण लेने वाला पूँजी के उत्पादन-शक्ति के बदले मे ऋणदाता को उसके आत्म-त्याग या सयम के उपलक्ष मे देता है।

व्याज की समस्या

(The Problem of Interest)

अध्ययन की दृष्टि से व्याज की समस्या को मुख्यतः तीन भागों मे बाँटा जा सकता है —

१. क्या नैतिक दृष्टि से व्याज दिया जाना चाहिए ?
२. व्याज क्या दिया या लिया जाता है :—
३. व्याज की दर कैसे निर्धारित होती है ?

१. क्या नैतिक दृष्टि से व्याज दिया जाना चाहिए ? (Should interest be paid on the moral and ethical grounds)

व्याज का देना नैतिक है या अनैतिक, यह अर्थशास्त्र का विवेचनीय विषय नही है। परन्तु अन्य नैतिक समस्याओं की भाँति इस समस्या का भी आर्थिक दृष्टि से महत्व है। अत यहा इसका विवेचन करना अनुपयुक्त न होगा।

प्राचीन एव मध्य काल मे व्याज की निन्दा (Condemnation of Interest in ancient and mediaeval Times)—प्राचीन एव मध्यकाल मे पाश्चात्य देशो म व्याज का लेना और देना निन्दित कार्य समझा जाता था। हजरत मूसा, प्लेटो और अरस्तू आदि ने व्याज की कठोर शब्दो म निन्दा की है। रोमन्स मे केटो ने और ईसा धर्म के गुरु पोप ने व्याज का लेना व देना निषेध कर दिया था। प्लेटो (Plato) सूद खोरी (Usury) को घृणित कार्य समझते थे, और यूनान के

1—'Interest, however, is primarily a reward for waiting

Dr R D Richards · *Groundwork of Economics*, p 115

2—'The sacrifice of present for the sake of future has been called 'abstinence' by economists since however, the term is liable *to be misund rstood we may with advantage, avoid* its use and say that the accumulation of wealth is generally the result of postponement of enjoyment or of a 'waiting' for it "

A, Marshall *Principles of Economics*, pp 232 3.

प्रसिद्ध दार्शनिक (philosopher) अरस्तू (aristotle) ने पूँजी को बन्ध्या कह कर परिभाषित किया।[1] ईसाई धर्म की भाँति इस्लाम धर्म में भी ब्याज लेना बुरा बताया गया है। इस प्रकार प्राचीन एवं मध्य काल में पाश्चात्य देशों में ब्याज के प्रति ये भावनायें प्रचलित थीं। इसके मुख्यतया निम्नलिखित कारण थे :—

(१) उस समय यूरोप आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था। जो भी आर्थिक उन्नति हुई वह १५ वीं शताब्दी के बाद में होना प्रारम्भ हुआ। अतः जो जिसके पास पूँजी होती थी वह उसी से ही काम चलाता था। यदि किसी समय किसी को आवश्यकता होती तो वह अपने इष्ट मित्रों से ही बिना ब्याज के ले लिया करता था। आर्थिक दृष्टि से पूँजी की कोई माँग नहीं थी।

(२) उस समय जो ऋण लिया जाता था वह उपभोग के लिये ही लिया जाता था। उपभोगों के लिये लिया गया ऋण कठिनता से लौटाया जाता था। इसलिए इस प्रकार के लेन-देनों से लोग बरबाद हो जाते थे। इस कारण ब्याज लेना अनुचित समझा जाता था।

(३) उस समय संकट काल में ही कोई किसी से पूँजी माँगता था। ऐसे समय में ब्याज लेना अनुचित समझा जाता था। मानवता के नाते ऐसे समय पर वैसे ही यथाशक्ति सहायता करनी चाहिये। यदि ब्याज लेने दिया जाय, तो ऋण-दाता अत्यधिक ब्याज लेकर ही रहे। इस कारण उस समय ब्याज लेना उचित नहीं समझा जाता था।

(४) यूरोप के अधिकांश ऋण-दाता यहूदी (Jews) थे जो ऋण लेने वालों से प्रायः निर्दयता का व्यवहार करते थे। इसके अतिरिक्त, यहूदी ईसाई नहीं थे इसलिये ईसाइयों द्वारा उनका यह कार्य घृणा की दृष्टि से देखा जाता था।

परन्तु भारतवर्ष में ब्याज के सम्बन्ध में उस समय ऐसी विचार-धारायें प्रचलित नहीं थीं। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में ब्याज लेने की निन्दा नहीं की गई है। मनुस्मृति में ब्याज लेने का समर्थन मिलता है। कौटिल्य ने भी इस विषय पर पूर्ण विवेचन किया है। इसने ब्याज लेने की निन्दा नहीं की बल्कि अत्यधिक ब्याज-दर लेने से रोकने के लिये राजा द्वारा नियन्त्रण करने की सलाह दी है। अतः यह स्पष्ट है कि उस समय भारत औद्योगिक एवं व्यापारिक दृष्टि से यूरोप आदि पाश्चात्य देशों की अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत था। इसलिये पूँजी की उत्पादकता (Productivity) का महत्व हमारे देश में भली-भाँति समझा जाता था। 'रुपया, रुपया पैदा कर सकता है', इसके प्रति उस समय भी यहाँ आर्थिक धारणा थी।

ब्याज का आधुनिक औचित्य (Modern Justification of Interest)—शनैः शनैः संसार के देश आर्थिक उन्नति की ओर अग्रसर हुए। मशीनों का आविष्कार हुआ, उत्पादन बड़े परिमाण में होने लगा, यातायात व संवाद के साधनों में वृद्धि हुई, उद्योग-धन्धे बढ़ने लगे, बाजारों की सीमाएँ विस्तृत होने लगीं और व्यापार बढ़ने लगा। ऐसी अवस्था में लोग पूँजी का महत्व समझने लगे जिसके फलस्वरूप पूँजी की माँग होने लगी। उत्पादकों ने यह अनुभव किया कि पूँजी से उन्हें उत्पादन में बड़ी सहायता मिलती है और ऋणदाता अपनी पूँजी देकर अपने तात्कालिक उपभोग का परित्याग करता है। ऐसी दशा में ब्याज का देना उचित ही है। जब

1—"Money is barren, it cannot breed money."—*Aristotle*.

ऋण लेने वाला दूसरे के द्रव्य से कुछ पैदा करता है तब क्या यह उचित नहीं है कि वह उसमें से कुछ भाग ऋणदाता को भी दे दे। अब उत्पादन के लिये ऋण लेना और उस पर ब्याज देना न तो कष्टकर हो रहा और न अनार्थिक ही वरन् उसने ऋण लेने वाले की आय को बढ़ाया और उत्पादन में वृद्धि की इस प्रकार ब्याज की अनैतिकता की युक्ति निर्बल हो चुकी है।

२. ब्याज क्यों दिया या लिया जाता है ?

(Why is Interest paid or charged ?)

ब्याज क्यों दिया जाता है ? उत्पादक या ऋण लेने वाला ब्याज इसलिये देता है कि पूँजी के प्रयोग से उसका उत्पादन बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ, जब एक दर्जी अपने हाथ से कपड़ा सीता है तो उसकी आय केवल १ रु० प्रतिदिन ही होती है। और जब वह मशीन का प्रयोग करता है तो वह पहले की अपेक्षा अधिक कपड़े सी सकता है जिससे उसकी आय २ रु० प्रतिदिन हो जाती है। अतः यह स्पष्ट है कि पूँजी अपनी उत्पादकता के कारण उत्पत्ति को बढ़ाने में सहायक होती है। इसलिये उत्पादक अपनी बढ़ी हुई आय में से कुछ भाग ब्याज के रूप में ऋणदाता को उसकी पूँजी का उपयोग करने के बदले में दे देता है। इस प्रकार उत्पादक या ऋण लेने वाले के द्वारा *ब्याज देने का कारण स्पष्ट हो जाता है।*

ब्याज क्यों लिया जाता है ? पूँजीपति या ऋणदाता ब्याज इसलिये लेता है कि उसे पूँजी संचय करने में संयम या आत्म-त्याग करना पड़ता है। इसको अधिक स्पष्ट करते हुए यों कहा जा सकता है कि वह कुछ राशि अपनी वर्तमान आवश्यकताओं पर व्यय न करके उसे भविष्य में व्यय करने के लिए संचय करता है। ऐसा करने में उसे अपनी इच्छाओं को दबाना पड़ता है तथा प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इसी प्रतीक्षा में ही उसका त्याग सन्निहित है। अत. इस त्याग के लिये उसको पारितोषिक को चाहना स्वाभाविक ही है। अस्तु, पूँजीपति या ऋणदाता अपने त्याग या संयम के कारण ही ऋण लेने वाले से ब्याज लेता है।

३. ब्याज की दर कैसे निर्धारित होती ?

(How is the rate of interest determined ?)

अर्थात्

ब्याज निर्धारण का सिद्धान्त

ब्याज-निर्धारण के पुराने सिद्धान्त

ब्याज निर्धारण के सम्बन्ध में समय समय पर अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये, जैसे उत्पादकता सिद्धान्त संयम का सिद्धान्त, आस्ट्रियन या बट्टे का सिद्धान्त समय अधिनियम सिद्धान्त आदि, परन्तु वे अपूर्ण, अवैज्ञानिक एवं एक-पक्षीय होने के कारण छोड़ दिये गये। अन्त में, ब्याज का माँग और पूर्ति का आधुनिक सिद्धान्त नव-क्लासिकल अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित किया गया जो आज का सर्व मान्य *सिद्धान्त माना जाता है।*

ब्याज का आधुनिक सिद्धान्त
(Modern Theory of Interest)

आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार ब्याज मांग और पूर्ति की दो शक्तियों के पारस्परिक प्रभाव द्वारा निर्धारित होता है। जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य उसकी मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है उसी प्रकार ब्याज की दर उस बिन्दु पर निश्चित होती है जहां पर पूंजी की मांग और पूर्ति में सतुलन (Equilibrium) स्थापित हो जाता है, अर्थात् जहां पर मांग और पूर्ति दोनों ही बराबर हो जाते हैं।

पूंजी की मांग (Demand for Capital)—पूंजी उत्पादक (Productive) है, अत इसकी मांग होती है। पूंजी की मांग प्राय उद्योगपतियों व्यापारियों, कृषकों तथा अन्य विनियोगकों (Investors) द्वारा होती है जो उसे उत्पादन कार्यों में लगा कर उसके द्वारा लाभ अर्जन की आशा करते हैं। पूंजी की मांग सरकार द्वारा भी होती है। इसके अतिरिक्त उपभोग के लिए भी पूंजी की मांग होती है। ये सब मिलकर 'पूंजी की कुल मांग (Aggregate Demand for Capital) बनाते हैं। प्रत्येक उद्योगपति पूंजी तभी तक उपयोग करेगा जब तक उसके द्वारा उसे लाभ होता रहेगा। जब उद्योगपति पूंजी की कई इकाइयां उत्पादन में लगाता है तो यह देखा गया है कि उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार कुछ समय पश्चात् प्रत्येक अगली इकाई के द्वारा होने वाला उत्पादन गिरता जाता है और अन्त में एक ऐसी अवस्था आ जाती है जबकि पूंजी को अतिरिक्त इकाई लगाने से जो अतिरिक्त उत्पादन होता है वह पूंजी के बदले में दिये जाने वाले ब्याज के बराबर हो जाता है। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होते ही उद्योगपति पूंजी की अधिक इकाइयों को उद्योग में लगाना बन्द कर देगा क्योंकि उसे उत्पादन कम मिलेगा और ब्याज अधिक देना पड़ेगा। अस्तु उद्योगपति सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity) अर्थात् पूंजी की अन्तिम इकाई की उत्पादकता (Productivity of Final Unit) से अधिक ब्याज नहीं देगा। इस अन्तिम इकाई को सीमान्त इकाई (Marginal unit) भी कहते हैं क्योंकि इसकी उत्पादकता केवल दिये जाने वाले ब्याज के बराबर ही होती है, इसलिये इसके प्रयुक्त करने के विषय में उत्पादक उदासीन ही रहता है, अर्थात् वह इसे प्रयुक्त करे या न करे। इस प्रकार यह प्रयोग की सीमा पर होने के कारण सीमान्त इकाई कही जाती है। अत पूंजी की सीमान्त उत्पादकता ब्याज की अधिकतम सीमा (Maximum Limit) निश्चित करती है जिससे अधिक ब्याज देने को उत्पादक कभी तत्पर नहीं होगा।

पूंजी की पूर्ति (Supply of Capital)—पूंजी की पूर्ति पूंजीपतियों द्वारा की जाती है जिन्हें पूंजी सचय करने में अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्थगित करने में त्याग एवं सयम करना पड़ता है। प्रोफेसर मार्शल के शब्दों में पूंजीपतियों को पूंजी इकट्ठी करने में भविष्य के लिये वर्तमान का त्याग करना पड़ता है तथा पूंजी के प्रयोग के लिये प्रतीक्षा करनी पड़ती है।[1] अत यह स्पष्ट है कि पूंजी

1— 'The supply of capital is controlled by the fact that in order to accumulate it, men must act prospectively, they must 'wait' and 'save' they must sacrifice the present to the future "

—A Marshall *Principles of Economics*, p 81.

के वर्तमान प्रयोग को त्यागने और भविष्य में प्रयोग के लिये प्रतीक्षा करने में पूँजीपतियों को कष्ट होता है। इस कष्ट या त्याग को पूँजी की लागत (Cost) कहा जा सकता है। अस्तु, यह कष्ट या त्याग ब्याज की न्यूनतम सीमा (Minimum-Limit) निश्चय करता है जिससे कम ब्याज लेने को वे कभी भी तैयार नहीं होंगे।

माँग और पूर्ति का सन्तुलन (Equilibrium of Demand & Supply)—पूँजी की सीमान्त उत्पादकता द्वारा ब्याज की अधिकतम सीमा निर्धारित होती है, और पूँजी उधार देने में जो कष्ट होता है उसकी माग ब्याज की न्यूनतम सीमा निर्धारित करती है। इन्हीं दोनों सीमाओं के बीच में ब्याज की ठीक दर माँग और पूर्ति की सापेक्षिक आवश्यकता तथा ऋण लेने वालों और देने वालों की सौदा या भावताव करने की शक्ति द्वारा उस बिन्दु पर निर्धारित होगी जहाँ पर पूँजी की माँग और पूर्ति में सतुलन स्थापित हो जायेगा, अर्थात् जहाँ पर माँग और पूर्ति बराबर हो जायेगी।

उदाहरण (Illustration)—इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये किसी बाजार में ब्याज की विभिन्न दरों पर पूँजी की माँग और पूर्ति निम्न प्रकार है :—

ब्याज की दर	पूँजी की माँग (लाख रुपयों में)	पूँजी की पूर्ति (लाख रुपयों में)
१%	१०	१
२%	८	४
३%	५	५
४%	४	७
६%	३	८
८%	२	९
१०%	१	१०

उदाहरण का स्पष्टीकरण—उपर्युक्त उदाहरण में ब्याज की विभिन्न दरों पर पूँजी की माग और पूर्ति दिखाई गई है। बाजार में प्रचलित ब्याज दर वह होगी जिस पर माँग और पूर्ति की मात्राएँ समान होंगी। प्रस्तुत उदाहरण में यह ब्याज की दर ३ प्रतिशत है जहाँ पर माँग और पूर्ति की राशियाँ बराबर हैं, अर्थात् ५ लाख रुपये की ही माँग है और उतने ही रुपयों की पूर्ति है। यदि ब्याज दर ३% से अधिक होगी तो धन की पूर्ति अधिक होगी और ऋण देने वाले आपस में प्रतियोगिता द्वारा दर को कम कर देंगे। इसके विपरीत, यदि ब्याज की दर ३% से कम हो जाती है तो ब्याज पर रुपये लेने वाले आपस में प्रतियोगिता करेंगे जिससे ब्याज की दर बढ़ जायेगी। अतः ब्याज की दर ३% ही हो जायगी।

रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शन (Diagrammatic Representation)—

प्रस्तुत रेखाचित्र में अ ब रेखा पर पूँजी की मात्रा और मे अ म रेखा पर ब्याज की दर दिखाई गई है। मा मांग की वक्र रेखा है और पू पूर्ति की वक्र रेखा है। ये रेखाएँ एक दूसरे को च बिन्दु पर काटती है जिसके फलस्वरूप च छ ब्याज की दर हुई और माग व पूर्ति दोनों ही अ छ के बराबर हुई। यदि ब्याज की दर क घ हुई तो माग अ घ होगी और पूर्ति अ ग जितनी बड़ी होगी।
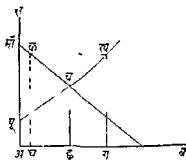
माग और पूर्ति के सन्तुलन द्वारा मूल्य निर्धारण

ब्याज और सूदखोरी (Interest and Usury) —पूँजी उधार देने के उपलक्ष म उचित पुरस्कार प्राप्त करना ब्याज कहलाता है, और अत्यधिक ब्याज दर प्राप्त करना 'सूदखोरी' कहलाती है। ब्याज साधारणतया उचित समझा जाता है, परन्तु सूदखोरी को सभी बुरा समझते है। डाक्टर ए० एस० गौड के अनुसार "सूदखोरी शब्द ब्याज से भिन्न होता है और इसका संकेत उस ब्याज की ओर है जिसकी दर उन दर से अधिक होती है जिसे विधान उचित मानता है।"[1] सूदखोरी (Usury) और अत्यधिक लगान वसूली (Rack renting) में बड़ी समानता है। जिस प्रकार उचित ब्याज से बहुत अधिक ब्याज वसूल करने को सूदखोरी कहते है ठीक उसी प्रकार उचित लगान से कही अधिक लगान वसूल करने को 'अत्यधिक लगान वसूली' कहते है ये दोनों ही नैतिक दृष्टि से निकृष्ट और सामाजिक दृष्टि से घृणित समझे जाते हैं।

ब्याज के भेद (Kinds of Interest)—ब्याज दो प्रकार के होते हैं—(१) वास्तविक ब्याज और (२) कुल ब्याज।

(१) वास्तविक ब्याज (Net Interest)—जो ब्याज केवल पूँजी के प्रयोग के लिये ही दिया जाता है उसको वास्तविक ब्याज कहते है। वास्तविक ब्याज म केवल पूँजीपति का पुरस्कार ही सन्निहित होता है इसमें किसी अन्य कार्य का पुरस्कार जैसे जोखिम का पुरस्कार असुविधा एव प्रबन्ध के पुरस्कार सम्मिलित नहीं होते। ब्रिटिश सरकार की प्रतिभूतियों (Consols) पर मिलने वाला ब्याज वास्तविक ब्याज होता है क्योंकि इसमे पूँजी को न तो कोई जोखिम ही उठानी पड़ती है और न उसका कोई प्रबन्ध ही करना पड़ता है। चैपमैन (Chapman) के शब्दों मे "शुद्ध ब्याज पूँजी उधार देने का पुरस्कार है। जिसम ऋणदाता को कोई भी जोखिम, असुविधा (सिवाय उसके जो सचय मे होती है) आदि नहीं होती

1—"The term 'usury' is contra distinguished from interest proper, signifies interest at a rate higher than that limited by law as legally eligible.

—Dr A S Gaur *The History and Law of Interest*, p 135

है।[1] वास्तविक ब्याज (Net Interest) को कुछ विद्वान शुद्ध ब्याज (Pure Interest) या आर्थिक ब्याज (Economic Interest) भी कहते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि वास्तविक या शुद्ध ब्याज में केवल पूँजीपति के त्याग का ही पुरस्कार सम्मिलित होता है।

(२) कुल ब्याज (Gross Interest)—वह ब्याज है जिसमें वास्तविक ब्याज के अतिरिक्त जोखिम, असुविधा, प्रबन्ध आदि सेवाओं के पुरस्कार भी सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार पूँजीपति द्वारा प्रस्तुत सभी वस्तुओं के उपलक्ष में जो राशि मिलती है उसे कुल ब्याज कहते हैं। चैपमैन (Chapman) के शब्दों में कुल ब्याज में पूँजी उधार देने का पुरस्कार, क्षति पूर्ति के जोखिमों का पुरस्कार चाहे वे (अ) व्यक्तिगत जोखिम हों या (आ) व्यापारिक जोखिमें, विनियोग की असुविधाओं का पुरस्कार और विनियोगों सम्बन्धी कार्य एवं चिंता का पुरस्कार सम्मिलित होते हैं।[2] कुल ब्याज में जिन बातों का समावेश होता है उनका विस्तृत विवरण नीचे दिया जाता है —

(अ) वास्तविक ब्याज (Net Interest)—केवल पूँजी के प्रयोग के लिये जो धन राशि दी जाती है वह कुल ब्याज का एक अंग होती है।

(आ) जोखिम का पुरस्कार (Remuneration for Risk)—ऋण पर दी गई पूँजी के साथ जो उसके वापस न मिलने की जोखिम लगी रहती है उसके लिये ऋणदाता कुछ न कुछ पुरस्कार चाहता है। यह पुरस्कार वास्तविक ब्याज में जोड़ दिया जाता है। प्रो० मार्शल (Marshall) के अनुसार यह जोखिम दो प्रकार की होती है—

कुल ब्याज के अंग

(१) व्यापारिक जोखिम (Business Risk)—वह जोखिम है जो व्यापार से सम्बन्धित होती है। कुछ व्यापार ऐसे होते हैं जिनमें जोखिम अधिक होती है जैसे सट्टेबाजी, खान खुदाई का काम आदि, और कुछ व्यापार या व्यवसाय साधारण तथा सुरक्षित होते हैं, जैसे वस्त्रादि का व्यापार। अतः जोखिमी व्यापार या व्यवसाय के लिये उधार दी गई पूँजी की ब्याज दर कम जोखिमी या रिस्क

1— Net interest is paymnt for the loan of capital when no risk no in onvenience (apart from that involved in saving) and no work is entailed on the lender

—Chapman *Outline of Political Economy*, p 279

2— Gross interest includes payment for the loan of capital payment to cover risks of loss which may be (a) personal risks or (b) business risks payment for the inconveniences of the investment and payment for the work and worry involved in watching investments, calling them in and investing

— Chapman *Outline of Political Economy* p 279 80

जोखिम वाले व्यापार या व्यवसाय की अपेक्षा अधिक होती है, क्योंकि इसमें अनुपातिक जोखिम का पुरस्कार सम्मिलित होता है।

(२) व्यक्तिगत जोखिम (Personal Risk)—वह जोखिम है जो ऋण लेने वाले के व्यक्तिगत चरित्र अथवा योग्यता के दोषों या कमियों से उत्पन्न होती है। कुछ ऋण लेने वाले व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति खराब हो जाने से वे रुपया चुकाने में असमर्थ हो जाते हैं, यद्यपि उनकी इच्छा ऋण चुकाने की अवश्य होती है। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनकी ऋण चुकाने की सामर्थ्य तो होती है परन्तु बेईमानी कर बैठते हैं और ऋण नहीं चुकाते। इस व्यक्तिगत जोखिम के कारण भी ब्याज अधिक लिया जाता है।

इस प्रकार पूँजी उधार देते समय पूँजीपति को व्यापारिक एवं व्यक्तिगत जोखिम उठानी पड़ती है और इसके बदले में जो पुरस्कार मिलता है वह कुल ब्याज में मिला रहता है।

(इ) असुविधाओं का पुरस्कार (Rumuneration for Inconvenience)—ऋणदाता को ऋण देने में काफी असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। सम्भव है ऋणी रुपया समय पर न लौटाये या ऐसे समय पर लौटाये जब उसे ऋणदाता किसी अन्य कार्य में न लगा सके। यह भी हो सकता है कि ऋणी एक साथ सब रुपया न लौटा कर थोड़ा थोड़ा करके लौटाये जिससे ऋणदाता की सुविधा हो सकती है। कभी कभी तो ऋणदाता को ऋणी के पीछे बहुत समय तक घूमना पड़ता है तब जाकर ऋण वसूल होता है। कभी ऋणदाता को ऋण वसूल करने के लिये न्यायालय की शरण लेनी पड़ती है। इन सब असुविधाओं के कारण ऋणदाता ब्याज अधिक लेता है।

(ई) ऋण-व्यवस्था का पुरस्कार (Remuneration for Management)—ऋणदाता को लेन-देन का हिसाब रखने के लिये बही-खाते, मुनीम गुमाश्ते तथा रुपया वसूल करने के लिये कारिन्दे रखने पड़ते हैं। इन व्ययों को भी ऋणी से अधिक ब्याज के रूप में वसूल किया जाता है।

अत: यह स्पष्ट है कि कुल ब्याज में वास्तविक ब्याज के अतिरिक्त ऋण-सम्बन्धी जोखिम, असुविधाओं तथा व्यवस्था के पुरस्कार भी सम्मिलित होते हैं।

आर्थिक उन्नति का ब्याज पर प्रभाव

(Effects of economic progress on Interest)

आर्थिक उन्नति का अर्थ—आर्थिक उन्नति से औद्योगिक (Technical) उन्नति का अर्थ है। यन्त्रीकरण (Mechanization), बड़े परिमाण में उत्पादन, जीवन-स्तर में वृद्धि आदि बातें देश-काल की आर्थिक उन्नति की सूचक हैं।

आर्थिक उन्नति का ब्याज-दर पर प्रभाव—ब्याज की दर मांग और पूर्ति पर निर्भर होती है। इसलिये ब्याज की दर इस बात पर निर्भर होगी कि पूँजी की मांग आर्थिक उन्नति के कारण बढ़ेगी या घटेगी। साथ-ही-साथ वह इस बात पर भी निर्भर होगी कि आर्थिक उन्नति के कारण पूँजी सचय की क्या गति रहेगी। प्रो० टॉजिग (Taussig) के शब्दों में ब्याज की दर सचय तथा उन्नति की दौड़ पर निर्भर होगी।

आर्थिक उन्नति का पूँजी की माँग पर प्रभाव—जब देश की आर्थिक उन्नति होती है तो पूँजी की माँग बहुत बढ़ जाती है। इसके कई कारण हैं—(१) देश में औद्योगीकरण के फलस्वरूप नये नये उद्योग धंधे खुलते हैं जिनके सञ्चालन के लिये पूँजी की आवश्यकता होती है और परिणामतः पूँजी की माँग बढ़ जाती है। (२) देश में यातायात के साधनों के विकास के लिये भी बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। (३) आर्थिक विकास के साथ साथ व्यापार में भी वृद्धि होती है जिसके कारण पूँजी की माँग बढ़ जाती है। (४) आधुनिक सरकार भी जन साधारण के हितार्थ औद्योगिक कृषि, जल विद्युत, सिंचाई सम्बन्धी अनेक योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये बड़ी मात्रा में पूँजी की माँग प्रस्तुत करने लग गई है। (५) युद्ध, प्राकृतिक संकट आदि द्वारा बहुत सी पूँजी नष्ट हो जाती है जिसके पुनर्स्थापन के लिये नई पूँजी की माँग बढ़ जाती है। इस प्रकार देश के आर्थिक विकास के साथ साथ पूँजी की माँग बढ़ती जाती है। इसलिये यह सहज कहा जा सकता है कि पूँजी की माँग बढ़ने से ब्याज की दर में वृद्धि होना स्वाभाविक है। परन्तु यह एकपक्षीय निर्णय ठीक नहीं कहा जा सकता जब तक कि हम आर्थिक विकास का पूँजी की पूर्ति पर पूर्णतया विचार न कर लें।

आर्थिक उन्नति का पूँजी की पूर्ति पर प्रभाव—आर्थिक उन्नति के साथ साथ सभ्यता एवं समाज का विकास भी होता है जिसके कारण पूँजी संचय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। पूँजी संचय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन निम्नलिखित कारणों से मिलता है—(१) जैसे जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है वैसे ही वैसे मनुष्य की दूरदर्शिता बढ़ती जाती है और वह कुछ न कुछ बचाने का प्रयत्न करता है। कीन्स (Keynes) के शब्दों में मनुष्य का तरलता अधिमान (Liquidity preference) कम हो जाता है। (२) सामाजिक उन्नति के कारण उत्पादन शक्ति भी बढ़ती है जिसके फलस्वरूप समाज के लोगों की आय बढ़ती है। आय बढ़ने पर पूँजी के अधिक संचय की सम्भावना हो जाती है। (३) सभ्यता के विकास के कारण जन संख्या उस गति से नहीं बढ़ पाती जिस गति से उत्पादन में वृद्धि होती है। इससे कम लोगों के लिये कम उत्पादन करने की आवश्यकता पड़ती है जिसके कारण पूँजी की माँग में भी कमी हो जाती है। (४) जैसे जैसे समाज के पास धन की वृद्धि होती जाती है वैसे ही वैसे मनुष्य खर्च कम करता है और बचत अधिक करता है। इन सब बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूँजी की पूर्ति इसकी माँग की अपेक्षा अधिक तीव्र गति प्राप्त कर लेती है।

निष्कर्ष—अभी हमने आर्थिक उन्नति का प्रभाव पूँजी की माँग और उसकी पूर्ति पर पृथक-पृथक देखा। अब हम निष्कर्ष रूप में यह कह सकते हैं कि समाज की आर्थिक उन्नति के साथ साथ पूँजी की मात्रा माँग से कहीं अधिक बढ़ जाती है जिसके परिणाम स्वरूप ब्याज की दर घट जाती है। इसी कारण पाश्चात्य उन्नत देशों में भारत की अपेक्षा ब्याज की दर कम है।

शून्य ब्याज की दर की सम्भावना

(Possibility of a zero rate of Interest)

मिल (Mill) के अनुसार जैसे जैसे समाज आर्थिक उन्नति की ओर अग्रसर होता जायगा वैसे ही वैसे पूँजी अधिक इकट्ठी होती जायगी और ब्याज की दर निरन्तर गिरती जायगी। व्यवहार में मिल का यह विचार ठीक भी निकला क्योंकि हम देखते हैं

कि ब्याज की दर बहुत गिर गई है। इस गिरती हुई ब्याज की दर को देख कर प्रो० फिशर आदि कुछ अर्थशास्त्री उस अवस्था की कल्पना कर बैठे है जबकि ब्याज गिरते गिरते शून्य हो सकता है। प्रो० शुम्पीटर की सम्मति में भी स्थिर (Static) समाज में ब्याज की दर शून्य हो सकती है।

सिद्धान्त में ब्याज की दर शून्य हो सकती है। यदि सब लोग बचत करें तो इससे पूँजी बढ़ेगी परन्तु हो सकता है कि मनुष्य की आवश्यकता उस गति से न बढ़े जिस गति से पूँजी बढ़ती है। ऐसा होने पर उत्पादकगण पूँजी की माग तब भी न करें जबकि उनको पूँजी नि शुल्क मिले अर्थात् ब्याज की दर शून्य हो जाय। यदि यही स्थिति कुछ समय तक चलती रहेगी तो एक दिन ऐसा आ सकता है जबकि बचत की रक्षा करने के लिए बचत करने वाले को कुछ देना पड़े अर्थात् ब्याज की दर नकारात्मक (Negative) हो जाय। परन्तु समाज तो सतत् प्रगतिशील (Dynamic) है इस बात का इतिहास साक्षी है। अस्तु ऐसी परिस्थिति जिसमे ब्याज दर शून्य हो जाय आने की कोई सम्भावना नही है। इसके निम्नलिखित कारण है —

(१) ब्याज एक पुरस्कार है जो पूँजीपति को उसके कष्ट एव त्याग के उपलक्ष मे दिया जाता है। अस्तु जब तक पूँजी के सचय मे कष्ट होगा पूँजीपति को कुछ न कुछ पुरस्कार अवश्य देना ही पड़ेगा। ऐसी परिस्थिति की कल्पना करना जिसमे पूँजी के सचय मे कष्ट न हो सम्भव नही है। अत ब्याज की दर कभी भी शून्य नही हो सकती।

(२) पूँजी उत्पादक है और ब्याज की दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है यदि ब्याज दर शून्य हो जाय तो इसका तात्पर्य यह होगा कि पूँजी की उत्पादकता शून्य हो जायगी। ऐसी परिस्थिति की कल्पना जिसमे पूँजी के लगाने से उत्पादन बढे ही नही असम्भव है। अत ब्याज की दर कदापि शून्य नही हो सकती।

(३) ऐसी अवस्था की कल्पना निराधार है जबकि हमारी समस्त आवश्यकताएँ पूर्णतया सन्तुष्ट हो जायँ और हम उत्पादन के लिए पूँजी की आवश्यकता बिल्कुल पड़े ही नही किन्तु हम जानते हैं कि मानवीय आवश्यकताएँ असीमित है। ज्यो ही एक आवश्यकता सन्तुष्ट होती है वैसे ही दूसरी आवश्यकता आ खड़ी होती है। जब तक ऐसा होता रहेगा तब तक पूँजी के विनियोग करने के साधन भी अनेक मिलते रहेंगे। इसलिए ब्याज की दर शून्य या नकारात्मक होना सम्भव नही है।

(४) ब्याज की दर तभी शून्य हो सकती है जबकि समाज के लोग अपनी आय का एक बड़ा भाग बचावें परन्तु समाज मे सब प्रकार के लोग है कोई अधिक बचाने की इच्छा रखता है तो कोई कम। इस प्रकार बहुत अधिक पूँजी इकट्ठा होने की सम्भावना नही है।

(५) समाज मे औद्योगिक उन्नति (Technical Progress) की सम्भावना समाप्त नही हुई है। जब उत्पत्ति के नये नये ढगो का पता लगता चला जाता है तब तक पूँजी की माँग भी होती रहेगी और यदि यह भी मान लिया जाय कि उत्पादन कार्य के लिये पूँजी की कोई माँग न होगी तो भी सामाजिक कार्यों के लिए तो पूँजी की माँग बनी रहेगी।

(६) बैंकिंग व्यवस्था के विकास के साथ लोगो की बचत जो कि बैंको के न होने के कारण प्राय बेकार पड़ी रहती है उद्योगपतियो को सुगमता से उपलब्ध हो जाती है। यही नही बैंक उस जमा के आधार पर दस ग्यारह गुना मुद्रा की सृष्टि कर पूँजी की पूर्ति को असाधारण रूप से बढ़ा सकते है।

सारांश यह है कि जब तक समाज प्रगतिशील अवस्था में रहेगा, धन सचय करने में कष्ट का अनुभव होगा, ऋण देने में जोखिम तथा असुविधाओं का सामना करना पड़ेगा और ऋण के प्रबन्ध की आवश्यकता होगी, कुछ-न-कुछ ब्याज रहेगा ही, यद्यपि उसकी दर अवश्य बदलती रहेगी। अस्तु, ब्याज दर शून्य हो जाने की कल्पना निराधार प्रतीत होती है।

ब्याज की दर में भिन्नता के कारण

(Causes of difference in the Rate of Interest)

साधारणतया वास्तविक ब्याज (Net Interest) की दर सभी जगह लगभग एक सी होती है, क्योंकि पूँजी की माँग और पूर्ति की स्पर्द्धा (Competition) इसे एक ही स्तर पर ले आती है, परन्तु वास्तविक जीवन में देखा जाता है कि भिन्न-भिन्न स्थानों, व्यक्तियों और समयों पर ब्याज की दर भिन्न-भिन्न वसूल की जाती है, अर्थात् कुल ब्याज (Gross Interest) की दर में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। इस कुल ब्याज की भिन्नता के निम्नलिखित मुख्य कारण हैं :—

(१) व्यावसायिक जोखिम की भिन्नता—कुछ व्यवसाय या उद्योग अधिक जोखिमी होते हैं और कुछ कम। अत. अधिक जोखिमी व्यवसायों के सचालन के लिये कम जोखिमी व्यवसायों की अपेक्षा पूँजी प्राप्त करने में अधिक ब्याज दर देनी पड़ती है।

(२) व्यक्तिगत जोखिम की भिन्नता—कुछ व्यक्ति अपनी सचाई और साख के लिये विश्वसनीय होते हैं। इसलिए एसे व्यक्तियों को कम ब्याज पर रुपया उधार मिल जाता है। इसके विपरीत, जिन व्यक्तियों की सचाई व साख संदिग्ध होती है अथवा जिनका लेन देन ठीक नहीं होता है उन्हें या तो ऋण मिलता ही नहीं है या यदि मिलता है तो बहुत ऊँची दर पर मिलता है।

(३) आर्थिक स्थिति—कुल ब्याज की दर रुपया उधार लेने वाले की आर्थिक स्थिति पर भी निर्भर होती है। जिन व्यक्तियों के पास पर्याप्त सम्पत्ति होती है उन्हें प्राय कम ब्याज दर पर रुपया उधार मिल जाता है, परन्तु कमजोर आर्थिक स्थिति वाले को अधिक ब्याज-दर देनी पड़ती है।

(४) प्रबन्ध की असुविधाओं की भिन्नता—पूँजी के उधार देने, उसके वसूल, जमा-खर्च और व्यवस्था करने में अधिक असुविधाएँ होंगी, उतनी ही ब्याज की दर में भिन्नता पाई जायगी। उदाहरणार्थ, कम पूँजी वाले या निर्धन व्यक्तियों को रुपया उधार देने में बहुत अधिक असुविधाएँ होती हैं। उनमें रुपया बहुत धीरे-धीरे वसूल होता है। तकाजे के लिए समय-समय पर आदमी भेजना पड़ता है। उनसे थोड़ी थोड़ी राशि वसूल होने के कारण बार-बार जमा खर्च करना पड़ता है। इसके विपरीत, धनी एवं अच्छी साख वाले व्यक्ति निश्चित समय पर निश्चित राशि बिना माँग वापस कर देते हैं। अत जिन लोगों को रुपया उधार देने में असुविधाएँ अधिक होती हैं उनसे प्राय अधिक ब्याज की दर वसूल की जाती है। यही कारण है कि गाँव का महाजन किसानों से अधिक ब्याज-दर वसूल करता है।

(५) ऋण की अवधि की भिन्नता—ऋण जितनी लम्बी अवधि के लिए लिया जाता है उसमें उतनी ही अधिक जोखिम होती है। इसलिए दीर्घकालीन ऋण पर अधिक ब्याज-दर देनी पड़ती है और अल्पकालीन ऋण पर कम।

(६) **समय की भिन्नता**—प्रायः वर्ष के भिन्न-भिन्न समयों पर भिन्न भिन्न ब्याज की दर प्रचलित होती है। भारतवर्ष में खरीफ व रबी की फसलों के तैयार होने के समय ब्याज-दर ऊँची रहती है। यही समय विवाह आदि होने का भी होता है जिससे पूँजी की माँग बढ़ जाती है और फलतः ब्याज-दर में वृद्धि हो जाती है। वर्षा ऋतु में व्यापार की मन्द-गति के कारण पूँजी की माँग कम हो जाती है जिससे फलस्वरूप ब्याज-दर गिर जाती है।

(७) **ऋण की जमानत**—उचित जमानत पर दिये गये ऋण की ब्याज-दर बिना जमानत दिये गये ऋण की अपेक्षा कम होती है। प्रायः मकान, भूमि, सोने-चाँदी के आभूषण आदि की जमानत पर ऋण कम ब्याज दर पर मिल जाता है, परन्तु व्यक्तिगत जमानत (Personal Security) पर ऋण अधिक ब्याज पर मिलता है। भारतीय कृषकों और श्रमिकों के पास जमानत के लिये कुछ नहीं होता है, इसलिये महाजन उनको ऊँची ब्याज दर पर रुपया उधार देते हैं।

(८) **अनुत्पादक कार्य के लिये ऋण**—प्रायः उपभोग, विवाह आदि अनुत्पादक कार्यों के लिये जो ऋण लिया जाता है, उस पर ऊँचा ब्याज लिया जाता है क्योंकि इस प्रकार के ऋण आसानी से नहीं लौटाये जा सकते।

(९) **बैंकिंग व्यवस्था का अभाव**—जहाँ बैंकों का अभाव होता है वहाँ ऋण प्रायः महाजनों या साहूकारों से ही लिया जाता है जो ऊँची ब्याज दर पर रुपया उधार देते हैं। जहाँ बैंकों की उचित व्यवस्था होती है वहाँ ऋण कम ब्याज दर पर उपलब्ध हो जाता है।

(१०) **प्रतियोगिता का अभाव**—ऋणदाताओं और ऋण लेने वालों में पूर्ण एवं स्वतन्त्र प्रतियोगिता के अभाव के कारण भी ब्याज की दरों में भिन्नता रहती है। प्रतियोगिता के अभाव में महाजन किसानों से अत्यधिक ब्याज वसूल करते हैं।

(११) **पूँजी की गतिशीलता का अभाव** (Lack of Mobility of Capital)—जब पूँजी पूर्ण रूप से गतिशील होती है तब देश भर में प्रत्येक स्थान और व्यवसाय में ब्याज की दर लगभग एक सी रहती है। परन्तु भारत में पूँजी इतनी गतिशील नहीं है जिसके कारण देश में ब्याज की दर अनेक हैं।

भारत में ब्याज की दर

(Rate of Interest in India)

भारत में ब्याज की दर की विशेषताएँ—(Characteristics of the Rate of Interest in India)—भारत में ब्याज की दर की तीन मुख्य विशेषताएँ—(१) ऊँची ब्याज दर, (२) ब्याज में स्थानीय भिन्नता और (३) ब्याज में मौसमी भिन्नता।

(१) भारत में ऊँची ब्याज दर के कारण (Causes of High Rate of Interest in India)—भारत में अन्य उन्नत देशों की अपेक्षा ब्याज की दर बहुत ऊँची है। इसके निम्नलिखित मुख्य कारण हैं :—

१. **पूँजी की अधिक माँग** (Huge Demand for Capital)—भारत में प्राकृतिक साधनों का अभी यथेष्ट विकास नहीं हुआ है। परन्तु अब इनका विकास

आरम्भ हो गया है, अतः पूँजी की माँग बहुत अधिक बढ़ गई है जिसके कारण ब्याज-दर भी ऊँची हो गई है।

२. पूँजी की कमी (Scarcity of Capital)—भारत में पूँजी का अभाव है। निर्धनता के कारण भारतवासियों में पूँजी के बचाने की योग्यता एवं इच्छा बहुत कम है। अधिकांश देशवासियों की आय इतनी कम है कि वे अपना जीवन निर्वाह भी कठिनता से कर पाते हैं। ऐसी दशा में उनसे बचत की आशा रखना दुराशा मात्र है। इस प्रकार पूँजी की माँग की अपेक्षा उसकी पूर्ति की कमी होने के कारण ब्याज-दर ऊँची रहती है।

३. अधिक जोखिम (Great Risk)—भारत में अधिकांश व्यक्ति निर्धन हैं। इसलिये उनको ऋण देना बड़ा जोखिम का काम है। उनको ऋण देने में इसलिये भी जोखिम है कि उनके पास जमानत के लिये कुछ भी नहीं होता, व व्यक्तिगत जमानत पर ही रुपया उधार माँगते हैं। यही नहीं वे प्रायः उपभोग के लिये रुपया उधार माँगते हैं जिसके कारण उन्हें ऋण देने में बड़ी जोखिम रहती है। इस जोखिम के कारण ही ब्याज की दर ऊँची रहती है।

४. प्रबन्ध की असुविधा (Inconvenience of Management)—भारत में अधिकांश व्यक्ति निर्धन हैं। अतः उनसे रुपया वसूल करने में बड़ी असुविधा होती है। ऋण वसूली के लिये बार बार तकाजे करने पड़ते हैं। थोड़ा थोड़ा रुपया लौटाने के कारण बार बार लिखा-पढ़ी करनी पड़ती है। अतः, इस असुविधा का पुरस्कार ऊँची ब्याज की दर के रूप में वसूल किया जाता है।

५. बैंकिंग व्यवस्था का अभाव (Lack of Banking Organization)—भारतवर्ष में बैंकों की संख्या बहुत कम है। अधिकांश बैंक शहरों में ही स्थित हैं, गाँवों में इनका सर्वथा अभाव है। इसका परिणाम यह है कि लोगों को सुगमता से रुपया उधार नहीं मिल पाता। गाँवों में तो इस क्षेत्र में महाजनों का एक प्रकार से एकाधिकार है, इसलिये वे मनमाना ब्याज वसूल करते हैं।

६. सूदखोरी (Usury)—भारतवर्ष गाँवों का देश है। यहाँ की अधिकांश ग्रामीण जनता निर्धन है। इनके पास ऋण के लिये जमानत के रूप में देने को कुछ भी नहीं होता। इसलिये गाँव के महाजन बहुत ऊँची ब्याज-दर वसूल करते हैं। गाँवों में इनका प्रभुत्व एवं प्रभाव इतना अधिक होता है कि अन्य ऋण देने वाली संस्थाएँ इनकी प्रतियोगिता में ठहर नहीं सकती। इसलिये इनकी सूदखोरी की प्रथा अब तक भी भारतवर्ष में जीवित है।

७. उपभोग के लिए ऋण (Loans for Consumption Purposes)—उत्पादक कार्यों के लिये ली गई पूँजी तो आसानी से लौटाई जा सकती है। इसलिये ऐसे ऋण उचित ब्याज पर मिल सकते हैं। हमारे अधिकांश ग्रामवासी ऋण प्रायः उपभोग, विवाह, मृत्यु भोज आदि अनुत्पादक कार्यों के लिये लेते हैं जिसके कारण वे उसे लौटाने में असमर्थ रहते हैं। अतः इस जोखिम के लिये ऋणदाता अत्यधिक ब्याज वसूल करता है।

(२) ब्याज की दर में स्थानीय भिन्नता (Local Variations in the Rate of Interest)—स्थानानुसार ब्याज की दर में भिन्नता भारत में प्रचलित

ब्याज-दर की दूसरी विशेषता है। भारत मे स्थान स्थान पर ब्याज-दर भिन्न भिन्न होती है। यह अन्तर शहरों और गाँवों म विशेष रूप मे पाया जाता है। इसका कारण यह है कि भारतवर्ष में मुद्रा के दो बाजार है—शहरी और देहाती। शहरी मुद्रा बाजार तो कुछ सुसगठित है, इसलिये शहरों म ब्याज की दर कम और लगभग एक-सी होती है। परन्तु देहाती या ग्रामीण मुद्रा-बाजार सगठित नहीं हैं। गाँवों मे बैंको का सर्वथा अभाव है। हाँ कहीं-कहीं सहकारी साख समितियाँ रुपयों का उत्पादक कार्यों के लिये लेन देन अवश्य कर रही है। ग्रामवासियों की ऋण सम्बन्धी आवश्यकताएँ इनसे पूर्ण न होने के कारण उन्हें विवश होकर गाव के महाजन के पास जाना पडता है। गाँव के महाजन ग्रामीणों की इस विवशता का लाभ उठाते हैं और उनसे अत्यधिक ब्याज वसूल करते हैं।

(३) ब्याज की दर मे मौसमी भिन्नता (Seasonal Variations in the Rate of Interest)—भारत मे कृषि लोगों का प्रमुख व्यवसाय है। यहाँ रबी खरीफ की दो मुख्य फसल होती है जो क्रमश. अप्रैल मई और अक्टूबर नवम्बर म काटी जाती है। इन फसलों के समय कृषि पैदावार को गाँवो से कस्बों और शहरों की मण्डियों मे ले जाया जाता है जहाँ उसका क्रय-विक्रय होता है। इस क्रय-विक्रय के कारण पूँजी की माँग बहुत बढ जाती है जिसके फलस्वरूप ब्याज दर म वृद्धि हो जाती है। इन्हीं मौसमों म प्राय: विवाह शादी भी अधिक होते है, इस कारण भी पूँजी की माग बढ कर ब्याज की दर मे वृद्धि हो जाती है। यही नहीं, किसानो को इसी समय जमींदारों या सरकार को लगान देना पडता है। आय न होने पर वे उधार लेकर लगान चुकाते हैं। इसलिये भी पूँजी की माँग बढ जाती है और ब्याज-दर म वृद्धि हो जाती है। इनके अतिरिक्त, वर्ष के इन्हीं महीनों म व्यापार भी अधिक होता है और इस कारण व्यापारी लोग रुपया उधार लेकर दुकानों मे माल अधिक रखते हैं। वर्ष के शेष महीनों म पूँजी की माँग घट जाती है जिससे ब्याज की दर गिर जाती है। इस प्रकार भारत म ब्याज की दर मे मौसमी भिन्नता पाई जाती है।

भारतीय गाँवों मे बहुत ऊँची ब्याज-दर प्रचलित होने के कारण (Causes of the prevalence of very high rate of interest in Indian villages)—भारतवर्ष मे गाँव म बहुत ऊँची ब्याज की दर वसूल की जाती है। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित है।

(१) ग्रामीणों की निर्धनता—भारतीय गाँवो मे ब्याज की ऊँची दर का मूल कारण वह निपट कगाली है जिसमे कि भारतीय ग्रामीणों को अपना जीवन गुजारना पडता है। वे इतने निर्धन होते हैं और उनका मुख्य व्यवसाय कृषि इतनी कम आय का होता है कि वे अपना कार्य बिना ऋण लिये नहीं चला सकते। अत उनके लिय साहूकारों के फदे मे फँसने के अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नहीं होता है। इसलिये विवश होकर ऊँची ब्याज-दर पर साहूकारों से ऋण लेकर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना पडता है।

(२) ग्रामीणों के ऋण मे अत्यधिक जोखिम का होना—ग्रामीणों को ऋण देना बडा जोखिम है। प्रथम तो वे निर्धन होते है। द्वितीय, उनके पास जमानत के लिये कुछ नहीं होता, वे व्यक्तिगत साख पर ही रुपया उधार लेते है। तृतीय, वे उपभोग के लिये ही ऋण लेते है जिसके कारण उसके चुकाने मे कठिनाई होती है।

इन कारणों से ग्रामीणों को ऋण देना बड़ा जोखिमी होता है। अस्तु, साहूकारों द्वारा बहुत अधिक ब्याज वसूल किया जाता है।

(३) प्रबन्ध की असुविधा—भारतीय ग्रामीण निर्धन होते हैं। उनकी आय इतनी अल्प एवं अनिश्चित होती है कि वे वचनानुसार ऋण नहीं लौटा सकते। इसके अतिरिक्त, वे एक साथ पूरी ऋण-राशि नहीं लौटा सकते बल्कि सुविधानुसार थोड़ा थोड़ा रुपया लौटाते हैं जिसमे साहूकार को जमा-खर्च करने में बड़ी असुविधा होती है। इसलिये वह इस असुविधा का पुरस्कार ऊँची ब्याज दर के रूप में वसूल करने का प्रयत्न करता है।

(४) गाँवों में रुपये के लेन-देन में महाजन का एकाधिकार—गाँवों में किसानों के लिये महाजन से ऋण लेने के अतिरिक्त अन्य कोई सुविधाजनक साधन नहीं है। अत. महाजन अधिक-से-अधिक ब्याज लेने का प्रयत्न करते हैं। सहकारी-साख समितियाँ अभी पर्याप्त उन्नतिशील नहीं हो सकी हैं।

(५) अनुत्पादन कार्यों के ऋण—भारतीय ग्रामीण प्रायः ऋण उपभोग, विवाह शादी आदि अनुत्पादक कार्यों के लिये लेते हैं वे रीति-रिवाजों का पालन करने में बहुत रुपया खर्च कर देते हैं। मुकदमे बाजी के लिये भी वे ऋण लेते हैं। इस प्रकार के अनुत्पादक कार्यों के लिये ऋण देने में ऋणदाता को काफी जोखिम उठानी पड़ती है। अतः ब्याज की दर ऊँची उठ जाती है।

(६) पूँजी की माँग में वृद्धि—भारतीय ग्रामीण अपने विविध कार्यों के लिये रुपया उधार माँगते रहते हैं। इसलिये पूँजी की माँग ग्राम्य क्षेत्रों में सदैव बनी रहती है। जिसके कारण ब्याज दर भी ऊँची रहती है।

(७) पूँजी की पूर्ति में कमी—गाँव के साहूकारों की पूँजी भी ग्रामीणों की व्यापक माँगों को पूरा करने के लिये कम पड़ती है। वे प्राय अपनी स्वय की पूँजी को ही उधार देते हैं, दूसरों का रुपया जमा नहीं रखते। उनका मुद्रा बाजार से कोई सम्बन्ध नहीं होता अतः ऋण लेने वालों की पारस्परिक प्रतियोगिता से ब्याज दर में वृद्धि हो जाती है।

(८) जमानत का अभाव—ग्रामीणों की अच्छी साख भी नहीं होती है। न तो वे ऋण के लिये कोई जमानत ही दे सकते हैं और न ही अदृष्ट परिस्थितियों के कारण वे ऋण को समय पर चुकाने में समर्थ होते हैं वे भुगतान को टालते रहते हैं। इस मनोवृत्ति से साहूकार अपनी पूँजी को सकट-ग्रस्त देखते है और इसलिये उनसे ऊँची ब्याज-दर वसूल करते हैं।

(९) ग्रामीणों की अशिक्षा, अज्ञानता व रूढ़िवादिता—भारतीय ग्रामीण अशिक्षित, पुरानी चाल के और अज्ञानी होते है, इसलिये वे गाँव के महाजनों के सहज शिकार हो जाते है। महाजन लोग इस अज्ञानता का अनुचित लाभ उठाते हैं। आवश्यकता के समय उनसे जितना सम्भव होता है उतना ही पैसा खींचने का प्रयत्न करते हैं। इसके अतिरिक्त, सहयोग की कमी के कारण वे महाजनों की विभिन्न अनुचित कार्यवाहियों का विरोध करने में असमर्थ होते हैं।

(१०) अल्प आय, फसल की असुरक्षिता और ग्रामोद्योगों का ह्रास—भूमि पर जन-सख्या के अत्यधिक दबाव के कारण ग्रामीणों की आय बहुत कम हो गई है। भारतीय-कृषि-व्यवसाय वर्षा का जुआ बना हुआ है और समय समय

पर टिड्डी आदि कीड़ों से फसल नष्ट होने का भय रहता है। अस्तु, फसल की असुरक्षिता सदा बनी रहती है। ग्रामोद्योग के नष्ट होने से कृषि के सिवाय ग्रामीणों के लिए आय का अन्य कोई साधन नहीं रहा है। इसलिये वे निरन्तर ऋण लेते रहते हैं जिससे पूँजी की मांग व्यापक रूप से रहती है। यही पूँजी की मांग ब्याज की दर को ऊँचा उठाये रखती है।

(११) दुर्भिक्ष और रोगों के कारण हानि—समय-समय पर दुर्भिक्ष पड़ते रहते हैं जिससे जान व माल की क्षति होती रहती है। दुर्भिक्ष के समय चारा नहीं मिलने से पशुओं की भी काफी क्षति होती है। इसके अतिरिक्त, रोगों से भी पशुओं की पर्याप्त हानि उठानी पड़ती है। इस क्षति को पूरा करने के लिये ग्रामीणों को निरन्तर ऋण लेना पड़ता है जिससे ब्याज-दर ऊँची रहती है।

(१२) मालगुजारी या लगान का भार—लगान या मालगुजारी भारी होती है और भारतीय कृषक उसको बिना ऋण लिये देने में अपने-आपको असमर्थ पाता है। इसलिये उसे समय पर जमा कराने के लिये ऊँची ब्याज दर पर गाँव के साहूकार से ऋण लेना पड़ता है।

(१३) बैंक व्यवस्था का अभाव—भारतवर्ष में बहुत कम बैंक पाये जाते हैं। गाँवों में तो इनका सर्वथा अभाव ही है। इसलिये ग्रामीणों को विवश होकर महाजनों के चंगुल में फँसा रहना पड़ता है।

ब्याज-दर नीचे करने के उपाय
(Remedies for lowering the rate of Interest)

(१) सबसे पहला काम जो किया जाना चाहिये वह यह है कि ग्रामीणों को शिक्षित किया जाय जिससे कि फिजूलखर्ची, मुकदमबाजी और आलस्य से बचें।

(२) मालगुजारी वसूल करने की रीतियों में सुधार होने चाहिये।

(३) ग्रामोद्योगों का प्रसार होना चाहिये जिससे उनकी आय में वृद्धि हो सके।

(४) खेती के ढंगों में सुधार किये जायँ और सिंचाई, बीज और खाद के लिये अधिकाधिक सुविधाएँ दी जायँ।

(५) कम ब्याज पर अल्पकालीन ऋण के लिये सहकारी-साख समितियों का और दीर्घकालीन ऋण के लिये सहकारी भूमि बन्धक बैंकों का प्रसार होना चाहिये।

(६) गाँव के साहूकारों को रुपया जमा करने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये जिससे पूँजी का अभाव न रहे।

(७) कानून द्वारा ब्याज की दर नीचे गिराना चाहिये तथा साहूकारों का नियन्त्रण होना चाहिये।

(८) गाँव के महाजनों को सहकारी-समितियों के नियन्त्रण में लाना चाहिये। ये समितियाँ रैफीसन आदर्श पर चलाई जानी चाहिये। इससे पूँजी की पूर्ति में वृद्धि होगी और ब्याज दर गिर जायगी।

(९) धन बचाकर भूमि में गाड़ कर रखने की प्रथा को तथा गहने आदि बनाने की प्रथा को कम करना चाहिये जिससे बचा हुआ धन पूँजी के रूप में प्रयुक्त किया जा सके।

(१०) ग्रामीणों में सामाजिक तथा धार्मिक रूढ़ियों के कारण जो अपव्यय की आदत पड़ गई है, उसे कम करना चाहिये।

किस प्रकार सहकारी-साख समितियाँ गाँव के महाजनों की अपेक्षा कम ब्याज पर कृषकों को रुपया उधार दे सकती हैं? ग्रामीण सहकारी-साख समितियाँ कृषकों को कम ब्याज-दर पर रुपया उधार दे सकती हैं, क्योंकि (१) उनका लक्ष्य लाभ कमाना नहीं है बल्कि ग्रामीण जनता की सहायता करना है। इसके विपरीत, गाँव के महाजन का मुख्य लक्ष्य लाभ कमाना और कृषकों का शोषण करना है। (२) सहकारी साख समितियों को धन प्रान्तीय या केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा जमा-राशि (Deposit Money) से कम ब्याज पर प्राप्त होता है। (३) सरकार इन्हें कम ब्याज पर रुपया उधार देती है, इसलिये ये ग्रामीणों को कम ब्याज पर ही रुपया उधार देने में सफल हो सकती हैं। (४) सहकारी समितियों में काम करने वाले व्यक्ति बहुधा बिना वेतन काम करते हैं जिससे इनका संचालन कम व्यय पर सम्भव है, परन्तु गाँव का महाजन अपना जीवन ब्याज पर ही चलाता है तथा धन कमाता है। (५) सहकारी समितियाँ अपने सदस्यों पर प्रभाव रखती हैं और उनमें बचत के भाव उत्पन्न करती हैं। (६) ये कृषकों की उत्पादन-शक्ति बढ़ाने में सहायता करती हैं ताकि वे अपने ऋण को चुकाने में समर्थ हो सकें।

ब्याज-दर और पूँजी सचय में सम्बन्ध (Relation between Rate of Interest & Accumulation of Capital)—ब्याज दर एक प्रकार से पूँजी का मूल्य होता है। सचित पूँजी ही पूँजी की पूर्ति होती है। अतएव ब्याज दर तथा सचित-पूँजी का सम्बन्ध वही है जो किसी वस्तु के मूल्य और उसकी पूर्ति का होता है। अन्य शब्दों में, इन दोनों का सम्बन्ध पूर्ति के नियम पर आधारित रहेगा जिसके अनुसार यदि किसी वस्तु का मूल्य घटता है तो उसकी पूर्ति भी कम हो जाती है अथवा इसे यों भी कह सकते हैं कि पूर्ति बढ़ने पर मूल्य कम हो जाता है और पूर्ति घटने पर मूल्य बढ़ जाता है।

ठीक इसी नियम के अनुसार यदि ब्याज दर अधिक हो जाय तो पूँजी की पूर्ति बढ़ जायगी, क्योंकि अधिक ब्याज-दर से आय बढ़ेगी जिससे पूँजी सचय प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा। इसके विपरीत, यदि ब्याज दर कम हो जाय तो लोग धन बचाना भी कम कर देंगे जिससे पूँजी की पूर्ति में कमी हो जायेगी।

यदि पूर्ति के दृष्टिकोण से देखा जाय तो यदि पूँजी की पूर्ति कम हो जाय और उसकी माँग उतनी ही बनी रहे तो पूँजी चाहने वाले आपस में स्पर्धा करके ब्याज दर को बढ़ा देंगे तथा इसके विपरीत, यदि पूँजी की पूर्ति बढ़ जाय और माँग उतनी ही बनी रहे तो पूँजी विनियोगकों में पूँजी लगाने के लिये स्पर्धा हो जायगी और इस स्पर्धा में ब्याज-दर कम हो जायगा। अतः ब्याज दर और पूँजी सचय का पारस्परिक सम्बन्ध सारांश रूप में निम्न प्रकार है —

ब्याज-दर के दृष्टिकोण से

१—ब्याज दर के बढ़ने से पूँजी की पूर्ति बढ़ती है।

२—ब्याज दर के घटने से पूँजी की पूर्ति घटती है।

पूँजी की पूर्ति के दृष्टिकोण से

३—पूँजी की पूर्ति कम होने से ब्याज दर अधिक हो जाती है।

४—पूँजी की पूर्ति अधिक होने से ब्याज-दर कम हो जाती है।

भारत सरकार को एक कृषक, एक व्यापारी या एक संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी आदि की अपेक्षा कम ब्याज-दर पर ऋण प्राप्त होने के कारण—(१) भारत सरकार की साख एक कृषक, एक व्यापारी या एक संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी से कहीं अधिक सुदृढ़ है। इसलिये इनकी अपेक्षा उसे कम ब्याज-दर पर रुपया उधार मिल जाता है। ऋण लेने वाले की साख का ब्याज दर पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जितनी अधिक उत्तम साख होगी उतनी ही कम ब्याज-दर होगी। एक व्यक्तिगत ऋणी दिवाला निकाल सकता है तथा कम्पनी समाप्त हो सकती है परन्तु देश की सरकार स्थायी होती है और लोगों को उसकी साख और स्थायित्व में पूर्ण विश्वास होता है। सरकार जो रुपया वापिस करती है उसके पीछे केवल एक ही व्यक्ति का हाथ नहीं रहता है बल्कि सम्पूर्ण देश का हाथ रहता है। इसलिये लोग सरकारी सुरक्षा को सबसे अच्छा मानते हैं।

(२) भारत सरकार के ऋण की ब्याज-दर बैंक दर (Bank Rate) की भाँति वास्तविक ब्याज का प्रतीक है। इसमें जोखिम, असुविधा प्रबन्ध आदि के पुरस्कार सम्मिलित नहीं होते जैसे कि एक कृषक, एक व्यापारी या एक कम्पनी के ऋण की ब्याज दर में होते हैं। एक कृषक को ऋण देने में इन सब से अधिक जोखिम होती है, इसलिये इसे सबसे अधिक ब्याज दर देनी पड़ती है।

(३) इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है। लोग सरकार को उधार देने में अधिक गौरव समझते हैं। साधारण लोगों को उधार देना इतना महत्वपूर्ण नहीं समझा जाता। यही कारण है कि सरकार को कम-से-कम ब्याज की दर पर भी अधिक-से-अधिक रुपया उधार मिल जाता है।

अल्पकालीन और दीर्घकालीन ब्याज-दर (Short-period and Long-period Rate of Interest) साधारणतया ऋण की अवधि जितनी ही अधिक होगी, ब्याज की दर भी उतनी ही अधिक होगी। इसका कारण स्पष्ट है। दीर्घकालीन ऋण में ऋण-राशि एक लम्बे समय तक फँसी रहती है, इसलिये इसमें अल्पकालीन ऋण की अपेक्षा जोखिम रहती है। अस्तु, दीर्घकालीन ऋण की ब्याज-दर अल्पकालीन ऋण की अपेक्षा अधिक होती है। यही कारण है कि याचना राशि (Call Money) को जिसे बैंक किसी भी दिन वापस माँग सकता है, सामान्यतया ब्याज-दर बहुत कम यहाँ तक कि कई बार १% से भी कम हो जाती है। यदि ऋणदाताओं को भावी परिस्थितियों के प्रति पूर्ण विश्वास हो, तो दीर्घकालीन ऋण की ब्याज-दर भले ही कम हो सकती है।

अल्पकालीन और दीर्घकालीन ब्याज-दरों में पारस्परिक भिन्नता होते हुये भी इनमें घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। साधारणतया अल्पकालीन ब्याज-दर जब ऊँची होती है, तब दीर्घकालीन ब्याज-दर भी उसका अनुसरण करती है। वास्तव में, अल्पकालीन ब्याज-दर ही दीर्घकालीन ब्याज-दर की गतिविधि निर्धारित करती है। इसलिये यदि हम दीर्घकालीन ब्याज-दर घटाना चाहें तो हमें पहले अल्पकालीन ब्याज दर को कम करने का प्रयत्न करना होगा।

लगान, आभास लगान और ब्याज मे सम्बन्ध (Relation between Rent Quasi-Rent and Interest)—लगान भूमि पर मिलने वाला पुरस्कार है और ब्याज पूँजी पर मिलने वाला पुरस्कार है। मशीनो म लगी हुई पूँजी पर मिलने वाले लाभ को आभास या अर्द्ध लगान (Quasi-Rent) कहते हैं। भूमि की भाति मशीनो को हम तुरन्त घटा-बढा नहीं सकते। इस दृष्टि से यह लगान हुआ। परन्तु कालान्तर म हम इसे पूँजी की माँग के अनुसार घटा बढा सकते है। इस दृष्टि से यह ब्याज हुआ। इसलिये प्रो० मार्शल ने इसे आभास या अर्द्ध लगान कह कर पुकारा है। प्रो० मार्शल के अनुसार लगान, आभास लगान और ब्याज एक ही जाति के विभिन्न भेद है।[1]

लगान और ब्याज मे समानता (Similarity between Rent & Interest)—लगान और ब्याज म निम्नलिखित बातो म समानता पाई जाती है —

(१) पूँजी मनुष्य कृत होती है। भूमि के ऊपर भी मनुष्य को उपज प्राप्त करने के पूर्व बहुत-सा कार्य करना पडता है।

(२) भूमि की पूर्ति निश्चित होती है, अत उसम न्यूनाधिकता सम्भव नही है। अल्पकाल म पूँजी की पूर्ति भी बहुत कुछ निश्चित होती है।

(३) भूमि के समान पूँजी पर भी क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है।

(४) लगान की दर (प्रसविदा लगान दर) जिस प्रकार भूमि की माग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है, उसी प्रकार ब्याज की दर भी पूँजी की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है।

(५) भूमि के अन्दर अपनी स्वय न नष्ट होने वाली शक्तियाँ नहीं हैं। इसकी उर्वरा शक्ति को इसी प्रकार बढाना पडता है जिस प्रकार कि पूँजी आदि की पूर्ति को बढाना पडता है।

इन्ही सब बातो के कारण भूमि से प्राप्त होने वाले लगान तथा पूँजी से प्राप्त होने वाले ब्याज में कोई अन्तर नहीं करना चाहिए। किसी भू भाग का मूल्य लगान द्वारा उसी प्रकार निकाला जाता है जिस प्रकार कि किसी पूँजीगत वस्तु का मूल्य उससे प्राप्त होने वाली आय से निश्चित किया जाता है।

लगान और पूँजी उपर्युक्त बातो में समानता रखते हुए भी कई बातो म ये एक दूसरे से भिन्नता रखते हैं।

लगान और ब्याज मे भिन्नता
(Difference between Rent & Interest)

लगान (Rent)	ब्याज (Interest)
१ यह भूमि पर मिलता है।	१ यह पूँजी पर मिलता है।
२. भूमि प्रकृति की देन है तथा इस आवश्यकतानुसार घटा बढा नहीं सकते।	२. पूँजी मनुष्य के परिश्रम का फल है और इसे आवश्यकतानुसार घटा बढा सकते हैं।

[1]—'Rent, Quasi Rent and Interest are species of the same genusr
—*A Marshall.*

३ यह सामाजिक उन्नति और जनसंख्या की वृद्धि के साथ बढ़ता है।	३. यह सामाजिक उन्नति और जनसंख्या की वृद्धि के अनुसार घटता है।
४. भूमि की उर्वराशक्ति और स्थिति के अनुसार लगान में बड़ी भिन्नता पाई जाती है।	४ ब्याज की सर्वत्र एकसमा होने की प्रवृत्ति होती है। केवल कुल ब्याज में ही भिन्नता पाई जाती है।
५. लगान निर्धारण में लगान हीन भूमि होती है।	५. ब्याज निर्धारण में कोई ब्याज हीन पूँजी नहीं होती है।
६ उपज के मूल्य का लगान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि यह लगान हीन भूमि द्वारा निर्धारित होता है जिसमें कोई लगान सम्मिलित नहीं होता है।	६ उत्पादित वस्तुओं के मूल्य पर ब्याज का गहरा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि ब्याज हीन पूँजी कोई नहीं होती है। पूँजी की सीमान्त उत्पादकता में ब्याज सम्मिलित होता है।
७ लगान बढ़ाने से भूमि नहीं बढ़ सकती।	७ ब्याज की वृद्धि से पूँजी बढ़ती है।

समाजवादी राज्य में ब्याज (Interest in a Socialist State)—एक समाजवादी राज्य में जहाँ उत्पत्ति के समस्त साधनों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है, ब्याज नहीं होगा। जब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति रहेगी ब्याज पर रुपया उधार लेना और देना चलता रहेगा। अतः केवल पूँजीवाद के उन्मूलन से ही ब्याज दर का लोप नहीं हो सकता। ब्याज की समाप्ति के लिये व्यक्तिगत या निजी सम्पत्ति का अन्त होना आवश्यक है।

यद्यपि समाजवादियों ने ब्याज की घोर निन्दा की है परन्तु समाजवादी राज्य में भी ब्याज होता है। जब समाजवादी राज्य के व्यापार एवं उद्योगों की आय उसकी समस्त योजनाओं का अर्थ प्रबन्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं होती है तो उसे मुद्रा बाजार से ऋण लेना पड़ता है जिसके लिये ब्याज देना पड़ता है। पूँजी की पर्याप्त पूर्ति उपलब्ध होने के लिये ब्याज का प्रलोभन अभीष्ट है। इसके अतिरिक्त पूँजी कहाँ लगाई जाय यह पूँजी की आय पर जो ब्याज के रूप में होती है निर्भर होती है। जिस विनियोग में आय अधिक होगी उसमें ही पूँजी अधिक लगाई जायगी। अतः समाजवादी राज्य में भी ब्याज का अस्तित्व पाया जाता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—कुल सूद और वास्तविक सूद में क्या अन्तर है? भारतीय कृषक द्वारा दी जाने वाली सूद की दर क्यों इतनी ऊँची है?

२—ब्याज की परिभाषा लिखिये। यह कैसे निर्धारित होता है? विभिन्न ऋण लेने वालों के लिये ब्याज दर भिन्न होती है?

३—ब्याज कैसे निर्धारित होती है ? ग्रामों में ब्याज की दर अधिक होने के क्या कारण हैं ?

४—पूँजी की गतिशीलता का क्या अर्थ है ? भारत में पूँजी की गतिशीलता में क्या बाधाएँ आती है ? इन्हें दूर करने के उपाय भी बताइये।

५—ब्याज किसे कहते हैं ? यह समझाइये कि ब्याज की दर कैसे निर्धारित होती है ? (रा० बो० १९५७)

६—कुल और विशुद्ध ब्याज पर नोट लिखिये।
(सागर १९५१, ५० ; अ० बो० १९४३)

७—"एक व्यापारी ६ प्रतिशत पर रुपया उधार लेता है, जबकि एक किसान को १२ प्रतिशत ब्याज दर देनी होती है, किन्तु श्रमिक को २० प्रतिशत पर भी रुपया उधार नहीं मिलता।" ब्याज-दर में इतनी भिन्नता के क्या कारण है ?
(म० भा० १९५३)

८—भारतीय गावों में महाजन ऊँची ब्याज-दर क्यों लेते हैं ? ब्याज-दर कैसे घटाई जा सकती है ? (सागर १९५२)

९—राष्ट्रीय पूँजी और ब्याज-दर का सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये। (नागपुर १९५१)

१०—कुल और विशुद्ध ब्याज का अन्तर समझाइये। यदि ब्याज दर शून्य हो जावे तो क्या बचाने की प्रवृत्ति पूर्णतः समाप्त हो जावेगी ? (पटना १९४९)

११—कुल और विशुद्ध ब्याज का अन्तर बताइये। क्या ब्याज की अदायगी उचित है ? (दिल्ली हा० से० १९५०)

इण्टर एग्रीकल्चर परीक्षाएँ

१२—ग्रामीण क्षेत्रों में ब्याज दर कैसे निर्धारित होती है ? जब ब्याज-दर बहुत ऊँची होती है, तो उनके क्या कारण होते हैं ?

१३—टिप्पणी लिखिये :—

कुल और विशुद्ध ब्याज

———

अध्याय ६४

लाभ
(Profit)

लाभ का अर्थ (Meaning of Profit)—आधुनिक उत्पादन-क्रिया उत्पत्ति के विविध साधनों द्वारा सामूहिक रूप में सम्पन्न की जाती है और प्रत्येक साधन अपने विशिष्ट कार्य के लिये पुरस्कार पाता है। आधुनिक विशाल उत्पादन-व्यवस्था में हानि-लाभ की जोखिम (Risk) उठाना एक महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता है। जो उत्पत्ति का साधन इस महान् कार्य को सम्पन्न करने का साहस करता है वह साहसी (Enterpriser or Entrepreneur) कहलाता है और जो पुरस्कार उसे इस जोखिम के उठाने के बदले में मिलता है उसे लाभ (Profit) कहते हैं। अस्तु, लाभ साहस का पुरस्कार है। साहसी को उत्पादन-कार्य करने में जो बचत होती है, उसे लाभ कहते हैं। जिस प्रकार भूमि के लिये भू स्वामी लगान, श्रम के लिये श्रमिक मजदूरी, पूँजी के लिये पूँजीपति ब्याज और संगठन कर्त्ता वेतन पाते हैं, उसी प्रकार साहस के लिये साहसी को लाभ प्राप्त होता है।

साधारण बोलचाल की भाषा में किसी व्यवसाय की आय में से उसके सारे व्ययों को निकालने के पश्चात् जो कुछ मालिक के लिये बचता है, वह लाभ कहलाता है। इस प्रकार साधारण बोलचाल में लाभ एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। *परन्तु अर्थशास्त्रीय अर्थ में राष्ट्रीय आय में से साहसी को प्राप्त होने वाला लाभ कहलाता है।* अतः साधारण बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त होने वाले लाभ को कुल लाभ और अर्थशास्त्र में प्रयुक्त होने वाले लाभ को वास्तविक या शुद्ध लाभ कहते हैं।

लाभ की परिभाषा (Definition of Profit)—लाभ साहसी के उस पुरस्कार को कहते हैं जो उसे उत्पादन-क्रिया में जोखिम उठाने के बदले में प्राप्त होता है। इसे यों भी परिभाषित कर सकते हैं : **राष्ट्रीय आय या लाभांश का वह भाग जो साहसियों को दिया जाता है, लाभ कहलाता है।**[1] प्रो० टॉमस (Thomas) के अनुसार **लाभ साहसी का पुरस्कार है।**[2]

लाभ एक अवशिष्ट भाग है (*Profit is a Residuum*)—साहसी उत्पादन कार्य का संचालन करता है। वह कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व ही उत्पादन की

1—Profit may be defined as "the share of the national dividend accruing to the entrepreneur is known as profit."

2—"Profit is the reward of the entrepreneur."

S. E. Thomas : *Elements of Economics*, p. 289.

माना लागत, भविष्य की बिक्री आदि सारी बातों का अनुमान करके उत्पत्ति के चारों साधनों (भूमि, श्रम, पूँजी और संगठन) से प्रसंविदे (Contracts) करता है और फिर इन प्रसंविदों के अनुसार उन साधनों को उनका भाग उत्पादन में से देता है। शेष जो बचता है वह उसका लाभ होता है। इसी कारण लाभ को एक अवशिष्ट भाग कहते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय के प्रथम—चार दावेदार (Claimants) अर्थात् भू-स्वामी, श्रमिक, पूँजीपति और संगठनकर्त्ता—प्रसंविदा (इकरार) द्वारा निश्चित एवं बँधी हुई आय के अधिकारी होते हैं, परन्तु साहसी स्वयं एक प्रसंविदा रहित (गैर इकरारी) आय का भागी होता है। इस प्रकार यदि प्रथम चार उत्पत्ति के साधनों को उनके प्रसंविदा के अनुसार निश्चित राशि चुकाने के पश्चात् कुछ शेष नहीं बचता है, तो साहसी को हानि उठाना पड़ती है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि साहसी की अन्य उत्पत्ति के साधनों की भाँति कोई निश्चित आय नहीं होती है।

लाभ एक अतिरिक्त आय है (Profit is a Surplus Income)—एक साहसी या उद्योगपति की अतिरिक्त आय को लाभ कहते हैं। उदाहरणार्थ, मान लीजिये एक उद्योगपति ने बीस हजार रुपये लगाकर कोई व्यवसाय किया और एक वर्ष के पश्चात् उसके पास चौबीस हजार रुपये अर्थात् चार हजार रुपये बढ़ गये। यह चार हजार रुपये की अतिरिक्त आय उसका लाभ कहलायगी।

लाभ साहस का पुरस्कार (Profit is the reward for enterprise)—आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था में जोखिम उठाने को आय उत्पत्ति का एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है। प्रत्येक कारखाने में किसी वस्तु की उत्पत्ति उस वस्तु की अनुमानित माँग के आधार पर की जाती है। यह अनुमान सदा यथार्थ सिद्ध हो ऐसा निश्चित नहीं रहता। अतः यह स्पष्ट है कि यदि उत्पादित वस्तु की अनुमानित माँग गलत निकल जाने के कारण उसकी पूर्ण रूप में खपत न हो सके तो साहसी को हानि उठानी पड़ेगी। इसके विपरीत यदि उत्पादित-वस्तु तैयार होते ही ऊँचे मूल्य पर बिक जाय, तो साहसी को निश्चित रूप में लाभ होगा। यह लाभ जोखिम उठाने का पुरस्कार है और साहसी जोखिम उठाने के नाते इसका पूर्ण अधिकारी भी है। वह व्यवसाय के प्रारम्भ में ही उत्पत्ति के अन्य साधनों के पुरस्कार तथा अन्यान्य व्ययों का दायित्व अपने ऊपर ले लेता है तथा इस सम्बन्ध में उत्पादित वस्तु के बिकने के पूर्व ही पर्याप्त धन खर्च कर देता है। ऐसी परिस्थिति में यदि उसे लाभ न मिले तो एक भारी दुराशा और एक महान् अन्याय हो सकता है। परन्तु इसका कुछ उपचार नहीं हो सकता। जोखिम उठाना जिसमें हानि-लाभ दोनों ही सम्भावनाओं का समावेश है, साहसी का एक विशिष्ट कार्य है। यही उसके पुरस्कार का मूल आधार है।

लाभ की उत्पत्ति के कारण (Causes of existence of Profit)—वर्तमान युग में औद्योगिक व्यवस्था इस प्रकार की है कि साहसी या उद्योगपति को किसी वस्तु का उत्पादन प्रारम्भ करने के पूर्व ही उस वस्तु की माँग या खपत का अनुमान लगाना पड़ता है जिसमें बड़ा जोखिम है। साहसी यह अनुमान लगाता है कि अमुक वस्तु के उत्पादन में कितना व्यय होगा और उससे कितनी आय होगी तथा अन्त में कितनी बचत हो सकेगी। इस प्रकार केवल अनुमान के आधार पर ही उत्पत्ति की जाती है। परन्तु भविष्य की गति सदा अनिश्चित रहती है। सम्भव है कि

व्यवसाय के असफल हो जाने, फैशन में परिवर्तन हो जाने या माँग का गलत अनुमान निकल जाने अथवा यथासाध्य पूँजी न मिलने या पूँजी का दुरुपयोग हो जाने से वह आर्थिक एवं औद्योगिक संकट में पड़ जावे। यह भी सम्भव हो सकता है कि देश में राजनैतिक उथल-पुथल मच जाय, श्रमिक हड़ताल करदें अथवा भूकम्प, बाढ़, दुर्भिक्ष व अग्निकाण्ड आदि दैवी प्रकोपों के कारण उत्पत्ति का क्रम ही मंद हो जाय। ऐसी परिस्थितियों से साहसी को आपत्तियों का सामना करना पड़ेगा। उत्पादन के अन्य साधनों को पुरस्कार सामान्यतया उत्पादन से पहले ही मिल जाता है। साहसी को तो इनाम के तौर पर वह मिलेगा जो कुछ उत्पादन के साधनों को देने के पश्चात् बच रहेगा। उसके लिए कितना बचेगा, यह उसकी योग्यता पर निर्भर है। इन सब दायित्वों को निभाने के लिये बुद्धिमान एवं चतुर व्यक्ति चाहिये और ऐसी प्रतिभा वाला व्यक्ति तभी मिल सकता है जबकि उसे इन सब जोखिमों को झेलने के लिये पर्याप्त पुरस्कार द्वारा प्रेरणा मिल सके। अस्तु, आधुनिक औद्योगिक पद्धति में लाभ के अस्तित्व की अनिवार्यता सिद्ध होती है। अल्पकाल में भले ही उसे हानि की सम्भावना दिखाई पड़े, परन्तु दीर्घकाल में उसे निरन्तर रूप से लाभ मिलना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो साहस की पूर्ति (supply) नहीं हो सकती।

(२) आजकल की औद्योगिक एवं आर्थिक पद्धति से व्यवहारिक ज्ञान, अनुभव, प्रबन्ध कुशलता, उत्तरदायित्व और औद्योगिक यंत्र के नियन्त्रण और निरीक्षण आदि कार्यों में साहसी की ओर से उत्पादन में बड़ा सहयोग मिलता है जिसके लिये उसे आवश्यक पुरस्कार मिलना चाहिये।

लाभ के भेद (Kinds of Profit)—लाभ दो प्रकार का होता है—(१) वास्तविक लाभ, और (२) कुल लाभ।

(१) वास्तविक लाभ (Real or Net Profit)—साहसी को उत्पादन-क्रिया में जोखिम उठाने के उपलक्ष में जो पुरस्कार मिलता है, उसे वास्तविक लाभ कहते हैं। इसमें अन्य किसी प्रकार के पुरस्कार सम्मिलित नहीं होते हैं, इसलिये इसे शुद्ध लाभ (Net Profit) भी कहते हैं। अर्थशास्त्रीय अर्थ में इसे आर्थिक लाभ (Economic Profit) भी कहते हैं। वास्तविक या शुद्ध लाभ दो प्रधान कार्यों का पुरस्कार होता है—

(अ) जोखिम उठाने का पुरस्कार (Reward for Risk-taking)—आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था में जोखिम उठाना उत्पत्ति का एक आवश्यक अंग माना जाता है, क्योंकि इस व्यवस्था में उत्पत्ति उपभोग के अनुमान के आधार पर की जाती है। इसलिये यदि साहसी का अनुमान सही नहीं निकलता है तो उसे हानि उठानी पड़ती है, और यदि सही निकलता है तो उसे लाभ होता है। उत्पत्ति के अन्य साधनों का पुरस्कार प्रायः निश्चित होता है और वह उत्पादन में पहले ही मिल जाता है। परन्तु साहसी को तो अन्त में जो कुछ उत्पत्ति में साधनों को बाँटने के पश्चात् बच रहता है, मिलता है। उसके लिये कितना बचेगा, यह अनिश्चित होता है। अस्तु, जो पुरस्कार साहसी को जोखिम उठाने के बदले में मिलता है वह उसका वास्तविक या शुद्ध लाभ कहलाता है। इस सम्बन्ध में हेनरी क्ले (Henry Clay) के शब्द उल्लेखनीय हैं। यह बात कि व्यापार के स्वामी ही मुख्य जोखिम को झेलते हैं हमें तब

स्पष्ट होती है जबकि हम यह स्मरण रखें कि वे वस्तु के तैयार होने के पूर्व ही बहुधा वस्तु के मूल्य का पता लगने के पहले ही, श्रम, पूंजी और भूमि को पुरस्कार दे देते है, और यदि निर्मित वस्तु की माग न रहे और वह बिक न पावे तो उसके उत्पादन में मजदूरी, ब्याज और लगान के रूप में व्यय की गई राशि वे पुन प्राप्त नही कर सकते ।[1]

(आ) सौदा या भाव-ताव करने की चतुरता का पुरस्कार (Reward of bargaining skill)—साहसी उत्पत्ति के विविध साधनों को जुटाकर उत्पादन प्रारम्भ करता है। वह प्रत्येक में प्रसंविदा करते समय इस बात का प्रयत्न करता है कि उसे कम से कम पुरस्कार देना पड़े। वह उसकी सौदा या भाव ताव करने की योग्यता एवं चतुरता पर निर्भर है कि वह कितने दामों में भूमि ले, कितनी कम मजदूरी पर श्रमिकों को रखे, कितने कम ब्याज पर पूंजी इकट्ठी करे और कितने कम वेतन पर कुशल संगठनकर्त्ता या प्रबंधक को रखे। भाव ताव करने की जितनी अधिक योग्यता साहसी में होगी उतना अधिक उसे लाभ होगा। कारवर (Carver) के शब्दों में एक व्यापारी आवश्यक रूप से विशिष्ट अर्थ में साहसी कहलाता है। साहसी वह है जो जोखिम का दायित्व स्वीकार करता है। इस जोखिम उठाने के विशिष्ट कार्य का पुरस्कार उत्तम सौदा या भाव ताव करने की चतुरता के परिणामों सहित उस व्यापारी की एक विशिष्ट आय का निर्माण करता है जो सिवाय जोखिम उठाने वाले के किसी दूसरे को कदापि प्राप्त नही होती है।[2]

सारांश यह है कि जोखिम उठाने और भाव-ताव करने की चतुरता के उपलक्ष में जो पुरस्कार साहसी को प्राप्त होता है वह उसका वास्तविक लाभ कहलाता है।

1— That it is the owners of business who take the chief risks is clear when we remember that they have paid for the labour, capital and land before the commodity is finished often before its price can be found and if the Commodity when made is not wanted and cannot be sold they cannot recover wages interest and rent expended in the production of it

—Henry Clay *Economics for General Reader* p 337

2— The businessman is essentially an enterprise an enterprenenur as he is sometime called Both terms signify one who undertakes or assume risks It is *the reward of the special function* which together with the result of superior bargaining constitutes the peculiar income of the businessman such an income as is never earned by anyone except a businessman who undertakes risk

—Carver *Distribution of Wealth* pp 296 297

वास्तविक लाभ पर विभिन्न विद्वानों की विचार धाराएँ—अमेरिकन अर्थशास्त्रियों ने वास्तविक लाभ को जोखिम उठाने और भाव ताव-करने की योग्यता का पुरस्कार बताया है। पुराने अर्थशास्त्री वास्तविक लाभ में उस पूँजी का ब्याज भी सम्मिलित करते थे जो साहसी स्वयं लगाता है। उस समय के अनुसार यह विचार-धारा समयचित, ठीक हो सकती थी, क्योंकि उस समय उद्योग धन्धे इतने नहीं थे जिससे साहसी ही सम्पूर्ण पूँजी लगाता था। परन्तु अब परिस्थिति बदल गई है। आधुनिक औद्योगिक विशाल व्यवस्था में ये दोनों कार्य एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाना सम्भव नहीं है, इसलिये ये कार्य दो विभिन्न व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। अमेरिकन अर्थशास्त्री वॉकर ने सबसे पहले पूँजीपति और साहसी के कार्यों में अन्तर किया था जो आज सबको मान्य है।

मार्शल और उनके अन्य अनुयायी अंगरेजी अर्थशास्त्री वास्तविक लाभ में संगठनकर्त्ता का पुरस्कार भी सम्मिलित करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार साहसी संगठन कर्ता का भी काम करता है। परन्तु यह विचारधारा आजकल मान्य नहीं है। आजकल हम क्या देखते हैं कि एक संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी का संगठन-कार्य वेतन भोगी प्रबन्धक करते हैं न कि अंशधारी जो उसके वास्तविक स्वामी हैं। अस्तु, यह आवश्यक है कि हम संगठन और साहस को दो पृथक्-पृथक् उत्पत्ति के साधन मानें।

(२) कुल लाभ (Gross Profit)—कुल लाभ वह लाभ है जिसमें वास्तविक लाभ अर्थात् जोखिम उठाने और भाव-ताव करने की योग्यता के पुरस्कार के अतिरिक्त साहसी द्वारा सम्पन्न अन्य सेवाओं के पुरस्कार भी सम्मिलित होते हैं। कुल लाभ में जो-जो सेवाएँ सम्मिलित होती हैं उनका वर्णन नीचे किया जाता है:—

कुल लाभ के अंग (Constituents of Gross Porfit)—कुल लाभ के निम्नलिखित अंग होते हैं :—

(१) स्वयं साहसी द्वारा प्रदत्त उत्पत्ति के साधनों का पुरस्कार (Reward of the factors of production supplied by the Entrepreneur himself)—कई बार और विशेष कर अविकसित औद्योगिक एवं आर्थिक अवस्था में साहसी जोखिम उठाने के अतिरिक्त उत्पत्ति के अन्य साधन भी अपने पास से लगा देता है जिनसे उनका पुरस्कार बाहर के व्यक्तियों को न देकर स्वयं ले लेता है। साहसी अपने प्रदत्त साधनों का पुरस्कार अलग से पहले नहीं लेता बल्कि बाद में एक साथ लेता है और इस प्रकार वह कुल लाभ में सम्मिलित हो जाता है। ये पुरस्कार निम्नलिखित हो सकते हैं :—

(क) भूमि का लगान —यदि साहसी ने उत्पादन में अपनी निजि भूमि का उपयोग किया है, तो उसका पुरस्कार अर्थात् लगान कुल लाभ में से घटा देना चाहिये। (ख) श्रम की मजदूरी—कभी-कभी साहसी स्वयं एक श्रमिक की भाँति अपने कारखाने में काम करता है, तो उसका पुरस्कार अर्थात् मजदूरी कुल लाभ में से घटा देना चाहिये। साहसी किस प्रकार एक श्रमिक की भाँति अपने कारखाने में काम कर सकता है यह भारतीय कुटीर-उद्योग के कार्य से भली-भाँति जाना जा सकता है। (ग) पूँजी पर ब्याज—प्रायः साहसी दूसरों से पूँजी इकट्ठी करने के

लिये विश्वास पैदा करना चाहता है, इसलिये थोड़ी बहुत पूँजी अपने पास से भी लगाता है। इस लगाई हुई निजी पूँजी का ब्याज उसके कुल लाभ का अंश होता है। अतः वास्तविक लाभ मालूम करने के लिये इस ब्याज को भी कुल लाभ में से कम कर देना चाहिये। (घ) संगठन के लिए वेतन—यदि साहसी संगठन या प्रबन्ध कार्य भी करता है, तो इस कार्य का पुरस्कार अर्थात् वेतन वास्तविक लाभ मालूम करने के लिये कुल लाभ में से घटा देना चाहिये।

(२) सुरक्षा व्यय (Maintenance Charges)—सुरक्षा व्यय में मुख्यतः दो प्रकार के व्यय सम्मिलित होते हैं—(क) घिसाई कोष (Depreciation Fund) प्रत्येक उत्पादन यन्त्र एक निश्चित अवधि तक ही भली प्रकार कार्य कर सकता है। उसके पश्चात् वह बेकार हो जाता है जिसके कारण उसका प्रतिस्थापन (Replacement) आवश्यक हो जाता है। इसके लिये एक कोष स्थापित किया जाता है जिसे घिसाई कोष (Depreciation Fund) कहते हैं। इसमें प्रति वर्ष कुछ राशि जमा करदी जाती है जिससे अभीष्ट समय पर प्रतिस्थापन के लिये राशि उपलब्ध हो जाती है। उदाहरणार्थ, मान लीजिये एक यन्त्र का अनुमानित कार्यकाल १० वर्ष है, और उसका मूल्य बीस हजार रुपया है। तो घिसावट कोष में $\frac{२०,०००}{१०}$ = २००० रुपया प्रति वर्ष जमा किया जायगा। जिससे यन्त्र निरर्थक हो जाने पर इसके प्रतिस्थापन के लिये अभीष्ट राशि सुगमता से उपलब्ध हो सके। अतः वास्तविक लाभ ज्ञात करने के लिये घिसाई व्यय की राशि को कुल लाभ में से घटा देना चहिए। (ख) बीमा व्यय (Insurance Charges)—अनेक आकस्मिक दुघटनाओं जैसे आग, चोरी आदि से बचने के लिये सतर्क एवं दूरदर्शी साहसी या उद्योगपति आजकल प्रायः बीमा कराते हैं। बीमा के लिये प्रति वर्ष जो प्रीमियम दिया जाता है वह कुल लाभ का अंश है। अतः वास्तविक लाभ मालूम करने के लिये कुल लाभ में से बीमा-व्यय घटा देना चाहिये।

(३) अव्यक्तिगत लाभ (Extra Personal Gains)— अव्यक्तिगत लाभ दो प्रकार के होते है—(क) एकाधिकार लाभ (Monopoly Gains)—कभी कभी साहसी को वस्तु की पूर्ति पर एकाधिकार प्राप्त हो जाता है। बाजार में वह अकेला ही विक्रेता होता है जिसके कारण वह अपनी वस्तु के लिये अधिक मूल्य वसूल करने में सफल हो जाता है। यह अतिरिक्त लाभ जोखिम का पुरस्कार न होकर उसकी विशिष्ट स्थिति का पुरस्कार होता है। अतः इसकी वास्तविक लाभ में गणना न कर कुल लाभ में करनी चाहिए। (ख) आकस्मिक लाभ (Chance Gains —कभी कभी परिस्थिति के आकस्मिक अनुकूल परिवर्तन से साहसी को अनायास ही लाभ प्राप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ, गत महायुद्ध में वस्तुओं के भाव बहुत बढ़ गये थे जिससे उन व्यापारियों को जिनके पास वस्तुओं का स्टॉक था बड़ा लाभ हुआ। इसी प्रकार बिहार के भूकम्प के समय चीनी के बहुत से कारखाने नष्ट हो गये थे जिससे चीनी के अन्य कारखानों को अत्यधिक अनायास लाभ हुआ। इस प्रकार का अतिरिक्त लाभ कुल लाभ का अंश है न कि वास्तविक लाभ का।

अतः वास्तविक लाभ ज्ञात करने के लिये कुल लाभ में से एकाधिकार लाभ एवं आकस्मिक लाभ घटा देना चाहिए।

(४) वास्तविक लाभ (Net or Pure Profit)—यदि कुल लाभ में से साहसी द्वारा प्रदत्त साधनों का पुरस्कार, संरक्षण व्यय एवं अव्यक्तिगत लाभों को घटा दिया जाय, तो बचा हुआ वास्तविक या शुद्ध लाभ होगा। अतः वास्तविक लाभ भी कुल लाभ का अंश होता है। वास्तविक लाभ मुख्यतः दो प्रधान कार्यों का पुरस्कार होता है—(क) जोखिम उठाने का पुरस्कार (Reward for Risk taking function)—साहसी भावी मूल्य और माँग की मात्रा का अनुमान लगाकर उत्पादन प्रारम्भ करता है। यदि उसका अनुमान गलत होता है तो उसे हानि उठानी पड़ती है। यही जोखिम वह झेलता है। अतः इसका पुरस्कार वास्तविक लाभ कहलाता है। (ख) भाव-ताव करने की चतुरता का पुरस्कार (Reward for Bargaining skill)—उत्पादन के विभिन्न साधकों से प्रसंविदा करते समय साहसी यह प्रयत्न करता है कि वह उनकी सेवायें सस्ती से सस्ती खरीदे। यदि वह सौदा या भाव ताव करने में चतुर है तो उसे अधिक लाभ बचेगा। इस प्रकार प्राप्त पुरस्कार वास्तविक लाभ का अंश होता है।

अतः जोखिम उठाने और भाव-ताव करने की चतुरता के पुरस्कार वास्तविक लाभ के अंतर्गत आते हैं। स्वयं वास्तविक लाभ कुल लाभ का अंश होता है।

कुल लाभ का रेखाचित्रण—कुल लाभ को हम एक रेखाचित्र द्वारा निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं —
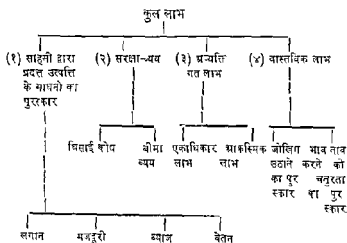
लाभ का निर्धारण

(Determination of Profit)

लाभ—निर्धारण के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में बड़ा मतभेद है जिसके कारण लाभ-निर्धारण के बहुत से सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये, जैसे लाभ का लगान सिद्धान्त, लाभ का मजदूरी सिद्धान्त, लाभ का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त आदि; परन्तु ये लाभ-निर्धारण के विषय को उचित प्रकार से नहीं समझा सकने के कारण त्याग दिये गये।

लाभ निर्धारण का प्रचलित सिद्धान्त (Current Theory of Profit)—लाभ साहसी के जोखिम उठाने का पुरस्कार है। कुछ साहसी अधिक चतुर और योग्य होते हैं और कुछ कम। जो साहसी अधिक चतुर और योग्य होते हैं वे जोखिम बड़ी सुगमता से झेलते हैं। उनमें इतनी बुद्धि और योग्यता होती है कि वे भविष्य में होने वाले परिवर्तनों का ठीक ठीक अनुमान लगा लेते हैं जिससे उन्हें हानि की कम सम्भावना होती है। इसके विपरीत, अयोग्य साहसियों का भावी अनुमान ठीक नहीं निकलने से उन्हें हानि की आशंका रहती है। प्रो० वाकर के अनुसार जिस प्रकार भूमि के विभिन्न टुकड़ों की उर्वरा-शक्ति में भिन्नता के कारण लगान उत्पन्न होता है, इसी प्रकार सब साहसियों में समान योग्यता नहीं होने के कारण उनको लाभ प्राप्त होता है। कुछ साहसी तो बड़े चतुर होते हैं और उन्हें बहुत अधिक लाभ प्राप्त होता है है। इसके विपरीत कुछ साहसी ऐसे होते हैं जिनको केवल इतना ही लाभ होता है जिससे कि वे व्यापार में बने रहें, अर्थात् जिनकी आय उनके व्यय (जिसमें सामान्य लाभ सम्मिलित होता है) के बराबर ही होती है। ऐसे निकृष्ट व्यापारियों को सीमान्त साहसी (Marginal Entrepreneurs) और इनसे अधिक योग्यता एवं दक्षता वाले उत्कृष्ट व्यापारियों को अधि-सीमान्त साहसी (Super-marginal Entrepreneurs) कह सकते हैं। प्रो० वॉकर ने लाभ की लगान से तुलना करते हुये यह बताया कि उत्कृष्ट भूमि की भाँति उत्कृष्ट साहसी भी लगान कमाते हैं, और जैसे कि लगानहीन या सीमान्त भूमि होती है वैसे ही लाभहीन या सीमान्त साहसी भी होता है जिसे केवल व्यवस्था का पारिश्रमिक ही मिलता है। जैसे-जैसे साहसी की योग्यता, दूरदर्शिता और साहस अधिक होता जाता है, वैसे-ही वैसे लाभ के रूप में उसका पुरस्कार भी बढ़ता जाता है। अन्य शब्दों में, सीमान्त साहसी की अपेक्षा जो साहसी जितना ही अधिक योग्य एवं दक्ष होगा, उसको उतना ही अधिक लाभ प्राप्त होगा।

सामान्य लाभ (Normal Profit)—प्रत्येक व्यवसाय में कम-से-कम इतना लाभ तो अवश्य होना ही चाहिये जिससे कोई भी व्यक्ति जोखिम उठाने का साहस कर सके अन्यथा कोई भी व्यक्ति यह दायित्व स्वीकार नहीं करेगा। अल्पकाल में वह हानि सह सकता है परन्तु दीर्घकाल में तो उसे जोखिम झेलने और साहस करने की चतुरता का पुरस्कार अवश्य मिलना ही चाहिये। अस्तु, ऐसे कम-से-कम लाभ को जो साहसी को जोखिम झेलने के लिये प्रोत्साहित कर सके, सामान्य लाभ (Normal Profit) कहते हैं। सामान्य लाभ में उत्पादन-व्यय (Expenses of Production) भी सम्मिलित होता है। सामान्य लाभ का लाभ-

निर्धारण में बड़ा महत्व है, क्योंकि सीमान्त साहसी की आय (सामान्य लाभ के बराबर ही होती है।

श्रीमती रोबिन्सन (Mrs Robbinson) के अनुसार सामान्य लाभ वह है जिसके प्राप्त होने पर न तो कोई नई फर्म उत्पादन क्षेत्र में प्रवेश करती है और न कोई पुरानी फर्म अपना उत्पादन ही बन्द करती है। इससे कम लाभ प्राप्त होने पर कुछ फर्में उत्पादन बन्द कर देती हैं तथा इससे अधिक लाभ प्राप्त होने पर नई फर्मों को उत्पादन करने का प्रोत्साहन मिलता है जिससे उत्पादकों की संख्या बढ़ जाती है प्रो० मार्शल के अनुसार सामान्य लाभ प्रतिनिधि फर्म (Representative firm) का लाभ है। इस प्रतिनिधि फर्म का आकार न घटता है और न बढ़ता है बल्कि सन्तुलन रहता है।

सामान्य लाभ का निर्धारण—यह साहस की माँग और उसकी पूर्ति पर निर्भर होता है। *यदि माँग पूर्ति से अधिक हुई, तो सामान्य लाभ की दर ऊँची होगी* और विपरीत अवस्था में परिणाम विपरीत होगा। किसी विशिष्ट समय सामान्य लाभ की दर वह सन्तुलन बिन्दु (Equilibrium Point) होता है जिस पर कि साहस की माँग और पूर्ति परस्पर बराबर होती है।

सामान्य लाभ की भिन्नता के कारण—सामान्य लाभ किसी व्यवसाय में कम और किसी में अधिक होता है। इसके निम्नलिखित कारण हैं —(१) उद्योग-धन्धों की जोखिम की न्यूनाधिकता। (२) उद्योग धन्धों की व्यवस्था और उसकी कठिनाइयाँ। (३) उद्योग धन्धे की व्यवस्था तथा उनके प्रबन्ध के लिये भिन्न योग्यता की आवश्यकता।

अतिरिक्त लाभ (Surplus profit)—**सामान्य लाभ से ऊपर होने वाले लाभ को अतिरिक्त लाभ कहते हैं।** आर्थिक विकास के फलस्वरूप अधिक साहसी उत्पादन क्षेत्र में प्रवेश करते हैं जिसमें अतिरिक्त लाभ की मात्रा कम होती जाती है।

लाभ योग्यता का लगान है (Profit is Rent of Ability)—प्रो० *वॉकर ने लाभ को योग्यता का लगान कहा है। उन्होंने यह बताया कि जिस प्रकार* भूमि के विभिन्न भागों की उर्वरा शक्ति में भिन्नता के कारण लगान उत्पन्न होता है, इसी प्रकार साहसियों की योग्यता में भिन्नता के कारण लाभ प्राप्त होता है। बहुत से साहसी तो बड़े चतुर होते हैं और बहुत अधिक लाभ कमाते हैं। ऐसे साहसियों को अधि-सीमान्त साहसी कहा जा सकता है। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी कम होते हैं जिनको केवल उनके *व्यय मिलता है लाभ मिलता है। ऐसे साहसियों* को सीमान्त साहसी कहा जा सकता है। इन दोनों सीमाओं के बीच के साहसियों की योग्यता में भिन्नता पाई जाती है जिसके अनुसार उन्हें लाभ प्राप्त होता है। वॉकर के अनुसार जिस प्रकार लगानहीन भूमि लगान निश्चित करती है उसी प्रकार लाभ भी उस साहसी द्वारा निश्चित होता है जिसको कोई लाभ प्राप्त नहीं होता। उसको केवल प्रबन्ध का वेतन-मात्र ही मिलता है। ऐसे साहसी से जितना भी अधिक योग्य कोई अन्य साहसी होगा उसको उतना ही अधिक लाभ प्राप्त होगा। इस समानता के कारण लाभ योग्यता का लगान कहा जाता है।

लाभ और मूल्य (Profit and Price)—जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य प्रतिनिधि फर्म के लागत-व्यय के अनुसार निर्धारित होता है, उसी प्रकार वस्तु के लागत-व्यय में सामान्य लाभ (Normal Profit) अवश्य सम्मिलित होता है। यदि कोई साहसी विशेष रूप से दक्ष है अथवा उसे एकाधिकार जैसी अन्य सुविधाएँ प्राप्त हैं, तो उसको इस सामान्य लाभ से अधिक लाभ होगा। इसके विपरीत, जो साहसी सीमान्त साहसी से भी कम योग्य होते हैं, उन्हें घाटा होता है और वे धन्धे को छोड़ बैठते हैं, अतः यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु के मूल्य में केवल प्रतिनिधि फर्म का सामान्य लाभ ही सम्मिलित होता है, अधिक नहीं।

लाभों की भिन्नता के कारण (Causes of Variation in Profits)—लाभों की भिन्नता का मुख्य कारण साहसियों की योग्यता की भिन्नता है। औद्योगिक या व्यावसायिक योग्यता प्रायः मनुष्य में ईश्वरदत्त गुण होता है, परन्तु यह उचित शिक्षा एवं अनुभव पर भी निर्भर होती है। प्रायः यह देखा गया है कि कोई साहसी तो सौदा या भाव-ताव करने में दक्ष होते हैं और कोई प्रबन्ध कार्य में निपुण पाये जाते हैं। कुछ साहसियों में मनुष्यों को परखने और कच्चे माल को पहचानने की अद्भुत क्षमता होती है तो दूसरों में इसका अभाव पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, लाभ की भिन्नता के अन्य कारण भी हो सकते हैं, जैसे किसी साहसी के पास उद्योग की अर्थ-व्यवस्था के लिए पर्याप्त पूँजी होती है तो दूसरे के पास इसका अभाव होता है। किसी साहसी को कुछ ऐसे व्यावसायिक भेदों की जानकारी हो सकती है जिसका ज्ञान सम्भवतः उसके प्रतिद्वन्दी को न हो। ऐसी परिस्थिति में विशेषज्ञ साहसी विशेष लाभ प्राप्त कर सकेगा। परन्तु सभ्यता के विकास और प्रतियोगिता के कारण ऐसे विशिष्ट लाभ कम होते जा रहे हैं।

लाभ की गणना (Calculation of Profit)—प्रो० मार्शल के अनुसार लाभ की गणना दो प्रकार से की जा सकती है—(१) वार्षिक लाभ, और (२) विक्रय-राशि पर लाभ।

(१) **वार्षिक लाभ (Annual Profit)**—किसी व्यवसाय में लगी हुई कुल पूँजी पर जो वर्ष भर में लाभ होता है उसका कुल पूँजी पर प्रतिशत निकाला जाता है। इसे वार्षिक लाभ की दर कहते हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यवसाय में २०,००० रु० की पूँजी लगी हुई है और उसमें वर्ष भर में २,००० रु० का लाभ हुआ है, तो उसके वार्षिक लाभ की दर $\frac{२००० \times १००}{२००००} = १०\%$ हुई है।

(२) **विक्रय राशि पर लाभ (Profit on Turn-over)**—जब तैयार किये हुये माल की बिक्री लगी हुई पूँजी के बराबर हो जाती है तो हम उसे पूँजी का एक फेर (Turn over) कहेंगे। वर्ष भर में यदि कुल बिक्री पूँजी से चार गुनी हो जाय, तो हम कहेंगे कि पूँजी के चार फेर हुये। जब लाभ को वर्ष भर की कुल बिक्री की राशि के प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है, तब उसे विक्रय-राशि पर लाभ कहते हैं। ऊपर के उदाहरण में २०,००० रु० की पूँजी पर १०% वार्षिक लाभ होता है। यदि वर्ष में मान लीजिये पूँजी के ऐसे चार फेर हुये अर्थात् कुल बिक्री ८०,००० रु० की हुई तो बिक्री की राशि पर लाभ की दर २½% हुई। यदि पूँजी के फेर दो ही हुये अर्थात् वर्ष भर में बिक्री की राशि केवल ४०,००० रु० की हुई, तो कुल बिक्री पर लाभ की दर ५% होगी।

कम लाभ और अधिक बिक्री (Small Profit and Quick Return)—इसका आशय उस नीति से है जिसके अनुसार व्यापारी थोड़ा लाभ लेकर अधिक बिक्री करना चाहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह वस्तुओं को कम मूल्य पर बेचता है जिससे कुल बिक्री में वृद्धि होकर कुल लाभ बढ़ जाता है। इसके विपरीत, यदि वह वस्तुएँ अधिक मूल्य पर बेचता है तो कुल बिक्री में ह्रास होकर कुल लाभ घट जाता है। अस्तु जिन व्यवसायों में पूँजी का फेर (Turnover) अधिक होता है वहाँ फेर में लाभ की दर कम होती है। परन्तु कम लाभ होने पर भी माल को बेच कर पुनः वस्तुएँ खरीद कर इससे और लाभ प्राप्त कर लिया जाता है जिससे कुल लाभ बढ़ जाता है। जैसे थोक व्यापार में यह प्रवृत्ति देखी जाती है। किन्तु जहाँ माल इतनी शीघ्रता से नहीं बिकता और व्यवसाय में लगी हुई रकम बहुत समय पश्चात् मिलती है वहाँ फेर पर प्रतिशत लाभ अधिक होता है। फुटकर व्यापार में प्रायः पूँजी का फेर इतना अधिक नहीं होता है इसलिये इसमें अधिक लाभ लेकर ही वस्तुएँ बेची जाती हैं। इसी प्रकार मोटर कार, रेडियो आदि वस्तुओं की बिक्री कम होने से पूँजी का फेर भी बहुत कम होता है जिससे इन वस्तुओं के व्यापार में लाभ की प्रतिशत दर बहुत ऊँची होती है। इसलिये ये वस्तुएँ प्रायः ऊँचे मूल्य पर ही बिकती हैं।

सामाजिक उन्नति और लाभ

(Social Progress and Profit)

समाज की अप्रगतिशील अवस्था में शिक्षित योग्य एवं अनुभवी साहसियों की कमी होने के कारण थोड़े-से इने गिने साहसी ही अत्यधिक लाभ कमाते हैं। परन्तु ज्यों ज्यों समाज उन्नति करता जाता है त्यों त्यों शिक्षित, योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जाती है। समाज की प्रगतिशील अवस्था में नये-नये आविष्कार होने लगते हैं और बड़ी बड़ी मशीनों का प्रयोग बढ़ने लगता है जिसके कारण समाज के अधिक लोगों को व्यावसायिक ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त होने लगता है। ऐसी दशा में व्यावसायिक एवं औद्योगिक योग्यता एवं दक्षता कुछ थोड़े से व्यक्तियों की सम्पत्ति न रहकर सब की वस्तु हो जाती है। इस प्रकार के परिवर्तन होने पर अनेक साहसी या उद्योगपति व्यवसाय क्षेत्र में उतर आते हैं जिससे उनमें पारस्परिक प्रतियोगिता बढ़ जाती है। इसके फल स्वरूप आकस्मिक एवं असाधारण लाभ कमाने के अवसर कम हो जाते हैं और लाभ की दर घट जाती है। यद्यपि सभ्यता के विकास के कारण मनुष्य की नई-नई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नये नये उद्योग धन्धे खुलने लगते हैं जिससे साहस की माँग भी बराबर बढ़ती जाती है परन्तु फिर भी साहस की माँग की वृद्धि उसकी पूर्ति की अपेक्षा कम रहती है जिससे लाभ घट जाता है। फिर भी लाभ घटते घटते शून्य के बराबर नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में लाभ उठाने के लिये कोई भी तैयार न हो सकेगा। अतः यह स्पष्ट है कि सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति के साथ लाभ की प्रवृत्ति कम होने की है।

अत्यधिक लाभ-प्राप्ति (Profiteering)—जब किसी विशिष्ट परिस्थिति में किसी उद्योग या व्यवसाय में साहसी या उद्योगपति द्वारा बहुत अधिक लाभ प्राप्त किये जाते हैं तो यह अत्यधिक लाभ प्राप्ति कही जाती है। उदाहरण के लिए, युद्ध काल में जबकि वस्तुओं के उत्पादन में कमी होकर इनकी पूर्ति माँग की अपेक्षा कम हो जाती है, तो उद्योगपतियों तथा व्यापारियों द्वारा उन पर अत्यधिक लाभ प्राप्त किया जाता है।

जिससे उपभोक्ताओं का शोषण होता है। गत महायुद्ध-काल में भारतीय रेलों ने अत्यधिक लाभ प्राप्त किये। अत्यधिक लाभ प्राप्ति अनुचित होती है, इसलिये सरकार द्वारा समय-समय पर इसका नियन्त्रण होता रहता है। अत्यधिक लाभ-प्राप्ति उद्योग एवं व्यापार की उन्नति में बाधक सिद्ध होती है।

समाजवाद और लाभ (Socialism and Profit)—लाभ के विरुद्ध सबसे प्रथम आवाज उठाने वाले समाजवादी थे। प्रसिद्ध समाजवादी प्रूधो ने लाभ को वैधानिक डकैती (Legalised Robbery) कह कर पुकारा है। समाजवादियों का कहना है कि श्रम ही उत्पत्ति का एक-मात्र साधन है और सारी सम्पत्ति श्रमिकों को ही मिलनी चाहिये। उनके मतानुसार ब्याज और लाभ दोनों ही श्रम के शोषण के परिणाम हैं। पूँजीपति और साहसी समाज के लिये कुछ भी नहीं करते हैं। अतः कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के अनुसार ब्याज और लाभ का सर्वथा उन्मूलन वाञ्छनीय है।

अब प्रश्न यह प्रस्तुत होता है कि क्या वास्तव में समाजवाद में लाभ जैसी कोई वस्तु नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यों कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत आय के रूप में समाजवाद में लाभ का अवश्य अन्त हो गया है, परन्तु आय व्यय के अन्तर के रूप में लाभ का समाजवाद में भी अस्तित्व है। अन्तर यही है कि लाभ बजाय किसी व्यक्ति-विशेष को मिलने के समाज को मिलता है और वह सामाजिक कल्याण के लिये व्यय कर दिया जाता है। यह बात सोवियट रूस के उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। रूस में उत्पादन के प्रमुख साधनों पर राज्य का एकाधिकार है। साधारणतया विभिन्न उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं पर जो लागत व्यय पड़ती है, सोवियट सरकार उससे कहीं अधिक मूल्य वसूल करती है। इस प्रकार राज्य-उद्योगों में लाभ होता पाया जाता है। यह लाभ अंशतः औद्योगिक विकास के लिये और अंशतः जन-हित कार्यों के लिये व्यय कर दिया जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि समाजवादी राज्य में भी लाभ का अस्तित्व पाया जाता है परन्तु वह किसी व्यक्ति विशेष की सम्पत्ति न होकर समाज की होती है।

लाभ का औचित्य (*Justification of Profit*)—आधुनिक उत्पादन प्रणाली में साहसी का महत्वपूर्ण कार्य होता है। साहसी ही उत्पादन की सारी व्यवस्था करता है। वह भूमि, श्रम और पूँजी को एकत्र करके उत्पादन का संगठन करता है। वह व्यवसाय अथवा उद्योग की नींव डालता है और उत्पादन-कार्य प्रारम्भ करता है। वह भविष्य की मांग का अनुमान करके उसकी पूर्ति के लिये उत्पादन करता है, परन्तु भविष्य सदा अनिश्चित रहता है। अतः यह सम्भव है कि उसका भावी मांग का अनुमान सही न निकले अथवा निर्मित वस्तु का फैशन बदल जाय या उसकी पूरक कोई अन्य वस्तु निकल आये। इस प्रकार की अनेक जोखिमें हो सकती हैं जिनके कारण उसको हानि उठाना पड़े। साहसी इन सब जोखिमों को झेलता हुआ व्यापार में अग्रसर होता है। अस्तु, उसे इन जोखिमों के बदले लाभ के रूप में पुरस्कार अवश्य मिलना चाहिये अन्यथा वह व्यवसाय में कदापि प्रवृत्त न होगा। अतः यह स्पष्ट है कि आर्थिक एवं औद्योगिक विकास की दृष्टि से लाभ का अस्तित्व नितान्त आवश्यक है। प्रो० निकल्सन (Nicholson) के शब्दों में साहस सर्वोत्तम रूप में, असाधारण जोखिम तथा असाधारण योग्यता का सम्मिश्रण है। इसी प्रकार के साहस के कारण इतनी

अधिक आर्थिक उन्नति हुई है।[1] इसलिये साहस का पुरस्कार 'लाभ' आर्थिक उन्नति का आधार है।

लाभ क्या निन्दनीय है ? लाभ साहसी का पुरस्कार है और समाज के हित की दृष्टि से यह आवश्यक है। परन्तु अनुचित एवं अत्यधिक लाभ अवश्य निन्दनीय है। इससे समाज में आर्थिक असमानता उत्पन्न हो जाती है जिसे दूर करने के लिए सरकार अपनी कर-नीति तथा श्रमिकों की न्यूनतम मजदूरी निर्धारण आदि उपायों द्वारा सदा प्रयत्नशील रहती है।

लाभ और अन्य उत्पत्ति के साधनों के पुरस्कारों में भेद (Difference between Profit & Rewards of other Factors of Production)

लाभ (Profit)	लगान (Rent)
१. लाभ साहसियों की योग्यता की भिन्नता के कारण उत्पन्न होता है।	१. लगान भूमि की उर्वरा शक्ति की भिन्नता के कारण उत्पन्न होता है।
२. यह मनुष्य द्वारा उत्पन्न किये गये भेद के कारण प्राप्त होता है।	२. यह प्रकृति द्वारा उत्पन्न किये गये भेद के कारण प्राप्त होता है।
३. आर्थिक उन्नति के साथ इसकी प्रवृत्ति घटने की है।	३. आर्थिक उन्नति के साथ इसकी प्रवृत्ति बढ़ने की है।
४. लाभ नकारात्मक हो सकता है, अर्थात् हानि हो सकती है।	४. लगान कभी नकारात्मक नहीं हो सकता।

लाभ और लगान में समानता—(१) जिस प्रकार भूमि की उवरा शक्ति या स्थिति अथवा दोनों की भिन्नता से लगान में न्यूनाधिकता हो जाती है, उसी प्रकार साहसी की जोखिम झेलने, भाव-ताव करने की क्षमता आदि की भिन्नता से वास्तविक लाभ में भी भिन्नता हो जाती है। (२) जिस प्रकार भूमि की कई श्रेणियां होती हैं उसी प्रकार साहसी भी कई प्रकार के हो सकते हैं। (३) जिस प्रकार सीमान्त या लगानहीन भूमि होती है और उसके द्वारा लगान निर्धारित होता है उसी प्रकार सीमान्त साहसी होता है और उसके सामान्य लाभ के अनुसार लाभ निर्धारित होता है। (४) जिस प्रकार लगान एक प्रकार की अतिरिक्त (Surplus) आय है, ठीक उसी प्रकार लाभ एक अतिरिक्त आय है।

लाभ (Profit)	मजदूरी (Wages)
१. साहसियों को जोखिम उठानी पड़ता है। इसलिये लाभ जोखिम का पुरस्कार है।	१. श्रमिकों के काम में जोखिम नहीं रहता या बहुत कम रहता है।
२. लाभ अधिकतर अवसर तथा भाग्य पर निर्भर होता है।	२. मजदूरी तो श्रम करने से ही प्राप्त होती है।

1—'Enterprise, in the highest form, is a combination of exceptional ability with exceptional risk. It is enterprise of this kind that has played the great part in economic progress —*Nicholson*

३. लाभ पूर्णतया अनिश्चित होता है। सम्भव है साहसी को कभी हानि भी हो जाय।	३. मजदूरी निश्चित तथा नियमित होती है। श्रमिक को हानि की आशंका नहीं रहती है।
४. लाभ की दरों में बड़ा अन्तर पाया जाता है।	४. मजदूरी की दरों में इतना अन्तर नहीं होता है।
५. मूल्य-परिवर्तन के साथ लाभ में परिवर्तन होते हैं।	५. मूल्य-परिवर्तन से मजदूरी में इतने शीघ्र परिवर्तन नहीं होते हैं।
६ लाभ का निर्धारण सामान्य लाभ द्वारा होता है।	६ मजदूरी का निर्धारण उसकी माँग और पूर्ति द्वारा होता है।

लाभ और मजदूरी में समानता—प्रो० टॉजिग के अनुसार लाभ भी साहसी की योग्यता की मजदूरी है, क्योंकि उनकी सम्मति में साहसी का कार्य मानसिक मजदूरी है।

लाभ (Profit)	ब्याज (Interest)
१. लाभ साहसी को मिलता है।	१. ब्याज पूँजीपति को मिलता है।
२ लाभ जोखिम उठाने का पुरस्कार है।	२. ब्याज आत्म-त्याग या संयम तथा प्रतीक्षा करने का पुरस्कार है।
३. लाभ बचत के रूप में प्राप्त होता है।	३. ब्याज अगाऊ दिया जाता है।
४. लाभ अनिश्चित होता है—कभी कम और कभी ज्यादा तथा कभी हानि और कभी लाभ।	४ ब्याज-दर प्राय निश्चित होती है।
५. लाभ सामान्य लाभ के अनुसार निर्धारित होता है।	५ ब्याज दर माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है।

लाभ और ब्याज में समानता—समाज की प्रगति के साथ लाभ और ब्याज में घटने की प्रवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त, जब वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है, तब दोनों लाभ और ब्याज में वृद्धि होने की प्रवृत्ति देखी जाती है।

भारतवर्ष में लाभ
(Profits in India)

भारतवर्ष आर्थिक उन्नति की दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। यहाँ के उद्योग धंधे अवनत दशा में हैं। यहाँ योग्य एवं अनुभवी साहसियों का भी अभाव है। अस्तु भारतवर्ष में लगभग सब उद्योग धंधों में लाभ कम मात्रा में प्राप्त होते हैं। अब हम नीचे कुछ मुख्य उद्योग धन्धों के लाभ प्राप्ति पर विवेचन करेंगे।

कृषि में लाभ (Profits in Agriculture)—भारत के एक कृषि प्रधान देश है, परन्तु यहाँ कृषि अवनत दशा में है। घरेलू धंधों के नष्ट होने से जन संख्या का भूमि पर अधिक दबाव है। यहाँ के कृषकों के पास खेती के लिये बहुत कम भूमि है और जो कुछ भी है वह छोटे छोटे टुकड़ों के रूप में यत्र-तत्र स्थित है जिसमें लाभप्रद खेती नहीं की जा सकती। भारतीय कृषक निर्धन होते हैं जिससे न तो अच्छे औजार

प्रयुक्त कर सकते हैं और न अच्छा बीज ही। सिंचाई की सुविधाओं के अभाव में भारतीय कृषि 'वर्षा का जुआ' बनी हुई है। इन कारणों से कृषि में उत्पादन कम होता है और कृषकों को लाभ के स्थान पर प्रायः हानि उठानी पड़ती है। परन्तु युद्ध-कालीन एवं युद्धोत्तर परिस्थितियों के कारण कृषि उपजों का मूल्य बढ़ जाने से कृषकों का कुछ लाभ बढ़ गया है।

कुटीर उद्योग-धन्धों में लाभ (Profits in Cottage Industries)—भारत का औद्योगिक अतीत जगत-विख्यात था। यहाँ का बना हुआ माल यूरोप आदि देशों में बिकता था। औद्योगिक क्रान्ति, विदेशी प्रतियोगिता तथा भारत में अंग्रेजों की प्रतिकूल नीति के कारण भारतीय घरेलू उद्योग-धन्धे शनैः शनैः नष्ट हो गये। जो शिल्पकार इन धन्धों को चलाते हैं उनकी दशा शोचनीय है। वे निर्धन हैं, अतः अर्थ प्रबन्धन के लिए उन्हें महाजनों पर निर्भर रहना पड़ता है जो उनसे अत्यधिक ब्याज दर वसूल करते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें कच्चा माल ऊँचे दर पर खरीदना पड़ता है तथा निर्मित माल का अच्छा मूल्य नहीं मिलता। इस प्रकार शिल्पकारों का बहुत कम बचता है। महात्मा गाँधी ने गृह उद्योगों को उन्नत करने के लिए ध्यान आकर्षित किया था तथा अब कांग्रेस सरकार भी इनकी ओर यथोचित ध्यान दे रही है। अतः इनका भविष्य आशाप्रद प्रतीत होता है।

बृहद् उद्योग-धन्धों में लाभ (Profits in Large-Scale Industries)—भारतवर्ष में बृहद् उद्योगों की संख्या बहुत कम है। परन्तु जो कुछ भी है वे अच्छा लाभ कमाते हैं। इसके कई कारण हैं —(१) साहसियों को सस्ता माँग की अपेक्षा कम है। (२) जो भी साहसी हैं वे योग्य एवं कुशल हैं, जैसे बिड़ला डालमियाँ, सिंहानियाँ, मुनर्जी आदि। (३) साहसियों के पास उद्योगों में लगाने के लिए पर्याप्त धन राशि है। अस्तु, इन्हें वास्तविक लाभ पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं।

व्यापारियों को लाभ (Profits to Traders)—व्यापारियों को कभी अच्छा लाभ हो जाता है और कभी कम। वैसे भारतीय व्यापारी अपनी योग्यता एवं कार्य क्षमता के कारण अच्छा लाभ कमा लेते हैं।

भारतवर्ष में साहस-क्षेत्र का विस्तार (Extension of the field of Enterprise in India)—आधुनिक भारत में साहस क्षेत्र में कुछ विस्तार अवश्य हुआ है, परन्तु देश के क्षेत्रफल, जनसंख्या एवं साधनों की दृष्टि से यह बहुत कम है यद्यपि कल-कारखानों तथा श्रमिकों की संख्या बढ़ती जा रही है, परन्तु फिर भी जनसंख्या का केवल १० प्रतिशत भाग ही आधुनिक उद्योग-धन्धों में संलग्न है, और इन उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुएँ देश की सम्पूर्ण माँग का केवल थोड़ा-सा भाग ही पूर्ण कर सकती हैं। अतः यह स्पष्ट है कि अब भी भारत में साहस के विस्तार के लिए पर्याप्त क्षेत्र है।

भारतवर्ष में साहस का क्षेत्र (Scope for Enterprise in India)—भारत के आर्थिक एवं औद्योगिक उन्नति के लिये लगभग सभी क्षेत्रों में साहसियों की आवश्यकता है। जिन उद्योग धन्धों में अब भी साहस के विस्तार के लिए पर्याप्त क्षेत्र है, वे निम्नलिखित हैं :—

कृषि उद्योग—कृषि की वर्तमान अवनत दशा को देखकर कुछ लोगों की यह धारणा हो गई है कि कृषि में अब उन्नति नहीं हो सकती, परन्तु यह धारणा निराधार एवं भ्रमपूर्ण है। हमारे देश में अभी तक अशिक्षित कृषकों के द्वारा प्राचीन पद्धति के औजारों की सहायता से खेती होती रही है, किन्तु विज्ञान ने कृषि-क्षेत्र में आश्चर्यजनक

परिवर्तन कर दिया है। अतः आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति द्वारा भारतीय कृषि उद्योग को उन्नत किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त हमारे देश में बहुत-सी बंजर एवं दलदली भूमि पड़ी हुई है जो कृषि-योग्य बनाई जा सकती है। अत. कृषि उद्योग में साहस के लिये अब भी पर्याप्त क्षेत्र है।

वन सम्बन्धी उद्योग—भारतवर्ष में वनों का उपयोग ठीक प्रकार नहीं होता। इनसे प्राप्त होने वाली अनेक महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ हैं—जैसे लकड़ी, घास, बाँस, रबड़, लाख, गोंद, जड़ी-बूटियाँ आदि। देश के आर्थिक विकास के लिए इनका औद्योगिक उपयोग वाञ्छनीय है। अत. वन सम्बन्धी उद्योग-धन्धों के विकासार्थ साहसियों की सेवाओं के लिए पर्याप्त क्षेत्र है।

घरेलू उद्योग-धन्धे—वृहत् उद्योगों के साथ साथ घरेलू उद्योग-धन्धों का विकास भी वाँछनीय है। भारतवर्ष में घरेलू उद्योग धन्धों के विकास के लिये साहस का विस्तृत क्षेत्र है। अमरिका, जर्मनी, जापान आदि औद्योगिक उन्नत देशों में बड़े और छोटे उद्योग परस्पर एक दूसरे के सहायक होते हैं। मोटर उद्योग कम्पनी ने भारत सरकार को परामर्श दिया है कि मोटर के छोटे छोटे पुर्जे कुटीर उद्योगों द्वारा बनवाये जायें। नदी-घाटी योजनाओं द्वारा भारत के लाखों गाँवों में जल-विद्युत-शक्ति पहुँचाई जायगी। इससे कुटीर उद्योगों को बड़े पैमाने पर चलाने में सहायता मिलेगी जिससे शिक्षित, बेकार नवयुवकों को स्वावलम्बी बनने का अवसर प्राप्त होगा।

वृहद् उद्योग धन्धे—भारतवर्ष में वृहद् उद्योग-धन्धों के विकास के लिये भी प्रायः सभी सामग्रियाँ उपस्थित हैं। वर्तमान उद्योगों का उत्पादन माँग की अपेक्षा कम है। कई उद्योग धन्धे अभी शैशव अवस्था में ही हैं तथा कई नए उद्योग-धन्धों की स्थापना वाञ्छनीय है। इस प्रकार वृहद् उद्योग धन्धों में भी साहस के लिये पर्याप्त क्षेत्र है। इस बात की पुष्टि निम्नलिखित उद्योगों के अध्ययन से हो जाती है।

सूती-वस्त्र-उद्योग—सूती-वस्त्र-उद्योग पूर्णतया भारतीय उद्योग है, क्योंकि इसका अर्थ प्रबन्धन आदि भारतवासियों के हाथों में ही है। देश में जितने कपड़े की माँग है उतना कपड़ा अभी तैयार नहीं होता है और हमें विदेशों से मँगाना पड़ता है। देशवासियों के जीवन-स्तर के बढ़ने पर यह माँग और भी बढ़ जायगी। इसलिये इस उद्योग में साहस का बहुत अधिक क्षेत्र है।

जूट उद्योग—भारतीय जूट उद्योग का अर्थ-प्रबन्धन अब तक विदेशियों के हाथ में था, परन्तु अब भारतीय इस ओर बढ़ रहे हैं। अब तक यह देश केवल कच्चे जूट के आधे भाग की ही वस्तुएँ तैयार करने में समर्थ है। भारत सरकार इस उद्योग को कच्चे माल के लिये स्वावलम्बी बनाने के लिये पूर्ण प्रयत्नशील है। अत भविष्य में इस उद्योग की उन्नति की बड़ी आशा है।

लोहा और इस्पात—देश की आवश्यकता के अनुसार अभी लोहा तथा इस्पात का सामान हमारे देश में नहीं बनता है। अधिकतर हमें विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। यह उद्योग एक प्रकार से आधारभूत उद्योग है जिस पर अन्य उद्योगों की उन्नति आश्रित है। अस्तु, इसकी उन्नति के लिये साहसियों की बड़ी आवश्यकता है।

कागज उद्योग—कागज की माँग पूरी करने के लिये भारतवर्ष विदेशों पर निर्भर है। समाचार पत्रों के लिये कागज तो हमारे देश में बहुत कम तैयार होता है।

देश मे शिक्षा के बढ़ते हुये प्रसार को देखने हुये इसमें अत्यधिक साहस का क्षेत्र दृष्टि-गोचर होता है।

रासायनिक उद्योग—यह उद्योग आधार-भूत माना जाता है, क्योंकि देश के अन्य उद्योगों की उन्नति इस उद्योग की उन्नति पर निर्भर है। हमारे देश का यह उद्योग अवनत दशा मे है और हमें अपनी आवश्यकताओं के लिये विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। अस्तु, इस उद्योग के विकासार्थ साहस का बहुत भारी क्षेत्र है।

चमड़े का उद्योग—भारतीय चमड़ा-उद्योग उन्नतिशील अवस्था में नहीं है इसलिये अधिकांश कच्चा माल विदेशों को निर्यात किया जाता है जिससे देश को अधिक लाभ नहीं होता है। अतः यह स्पष्ट है कि इस उद्योग मे साहस के लिये विस्तृत क्षेत्र है।

अन्य उद्योग—रेशमी वस्त्र, चीनी, काच, दियासलाई, सीमेन्ट, रेडियो, बाइ-सिकिल, बिजली का सामान आदि वस्तुओं के निर्माण उद्योगों के लिये साहसियों के लिये भारत में बड़ा भारी क्षेत्र है।

यातायात सम्बन्धी उद्योग—भारतवर्ष मे हवाई जहाज, समुद्री जहाज, रेलें, मोटरें आदि का निर्माण देश की आवश्यकताओं से बहुत कम है। अत देश के आर्थिक विकास के लिये यातायात सम्बन्धी सभी उद्योगों की उन्नति अभीष्ट है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—टिप्पणियाँ लिखिये :—

सामान्य लाभ अथवा अतिरिक्त लाभ

कुल लाभ और वास्तविक लाभ (अ० बो० १९६०)

वास्तविक लाभ (रा० बो० १९५६)

२—लगान और लाभ में अन्तर बताइये। इन दोनों मे जो समानताएँ है उन्हें समझाइये।

३—'लाभ साहस का पुरस्कार है।' स्पष्ट कीजिये। लाभ से मजदूरी और ब्याज का अन्तर बताइये।

४—कुल लाभ की व्याख्या कीजिए। लाभ जिन सेवाओं का पुरस्कार है, उन्हें बताइये। (अ० बो० १९५२)

५—'लाभ को साहस का पुरस्कार कहा जाता है।' आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं? लाभ को कभी कभी योग्यता का लगान क्यों कहा जाता है? (म० भा० १९५४)

६—लाभ का निर्धारण किस प्रकार होता है? कुल लाभ और वास्तविक लाभ का अन्तर बताइये। (म० भा० १९५३)

७—कुल लाभ और वास्तविक लाभ की परिभाषाएँ लिखिये और इनका अन्तर स्पष्ट कीजिये। (नागपुर १९५०)

८—वास्तविक लाभ की व्याख्या करिये। यह किस प्रकार निर्धारित होता है ?
(सागर १९५०)

९—लाभ किस प्रकार निर्धारित होता है ? क्या यह कहना सत्य है कि लाभ का प्रभाव मूल्य पर नहीं होता ? (दिल्ली हा० से० १९५०)

इण्टर एग्रीकल्चर परीक्षाएं

१०—लाभ का क्या अर्थ है ? साहसी क्या काम करता है ? क्या लाभ एक अवशेष है ?

११—नोट लिखिये :—

कुल लाभ और वास्तविक लाभ (अ० बो० १९६०)

लाभ के तत्व (रा० बो० १९६०)

राजस्व

(PUBLIC FINANCE)
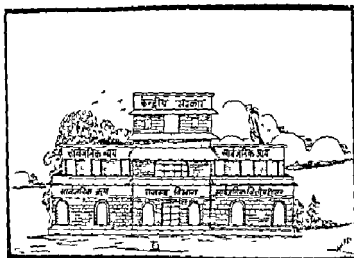
"राजस्व केवल अंकगणित ही नही है ; राजस्व एक
महान् नोति है। बिना सुदृढ राजस्व के सुदृढ
शासन संभव नही है, बिना सुदृढ शासन
के सुदृढ राजस्व सभव नही है।"

—विल्सन

अध्याय ६५

राजस्व और कर

(Public Finance and Taxation)

राजस्व का अर्थ (Meaning of Public Finance) – 'राजस्व' शब्द राजन्+स्व के योग से बना है जिसका अर्थ होता है 'राज का धन।' अतः राजस्व अर्थशास्त्र का वह विभाग है जिसमे राज्य की आय व्यय का अध्ययन किया जाता है। अन्य शब्दो मे, राजस्व वह विज्ञान है जो यह बताता है कि राज्य सरकार आय कैसे प्राप्त करती है और उसे कैसे व्यय करती है।

प्रत्येक सभ्य समाज मे राज्य सगठन की व्यवस्था होती है। राज्य का मुख्य कार्य देश की बाहरी शत्रुओं से रक्षा करना और देश मे शान्ति और सुव्यवस्था रखते हुए जनता की सुख-वृद्धि मे सहायक होना है। इस कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिये राज्य को सेना, पुलिस, सरकारी कर्मचारी आदि रखने होते है। राज्य जनता की नैतिक और आर्थिक उन्नति के लिये भी अनेक कार्य करता है जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, मुद्रा, टकसाल की व्यवस्था आदि। कई व्यावसायिक कार्य जिन्हे नागरिक व्यक्तिगत रूप से नहीं कर सकते, राज्य की ओर से किये जाते हैं, जैसे देश मे रेल, डाक व तार का प्रबन्ध करना, सिंचाई के लिये नहर निकालना, वनो और खानो आदि राष्ट्रीय सम्पत्तियों की रक्षा करना इत्यादि। इन विविध कार्यों को सम्पन्न करने के लिये धन की आवश्यकता पडती है और राज्य का व्यय चलाने के लिये आय की व्यवस्था करनी होती है। राज्य द्वारा धन की उत्पत्ति एव उपभोग से सम्बन्धित समस्त कार्यों का उल्लेख 'राजस्व' मे होता है। अतः राजस्व वह विज्ञान है जिसमे राज्य की आय व्यय और तत्सम्बन्धी बातो पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया जाता है। राज्य या सरकार से यहां तात्पर्य केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारो के अतिरिक्त स्थानीय सस्थाएं जैसे नगरपालिकाएं (Municipalities) और जिला परिषदें (District Boards) आदि से भी है।

राजस्व की परिभाषाएं (Definitions)—विभिन्न विद्वानो ने राजस्व की भिन्न भिन्न परिभाषाएं दी हैं जिनमे से मुख्य निम्नलिखित है —

१. सर सिडनी चैपमैन (Sir Sydney Chapman) के अनुसार "राजस्व अर्थशास्त्र का वह विभाग है जिसमे यह अध्ययन किया जाता है कि सरकारें किस प्रकार से आय प्राप्त करती हैं और किस प्रकार उसका प्रबन्ध करती हैं।'

1—"Public Finance is that part of Political Economy which discusses ways in which governments obtain revenues and manage them

—Sir Sydney Chapman *Outline of Political Economy*, p 395.

२. प्रो० फिंडले शिराज (Prof Findlay Shirras) के शब्दों में "राजस्व वह विज्ञान है जो यह बताता है कि सरकार आय कैसे प्राप्त करती है और उसे कैसे व्यय करती है।"[1]

३. प्रो० बैस्टेबल (Prof. Bastable) के अनुसार "राजस्व राष्ट्र के राजकीय अधिकारियों के आय व्यय, उनके पारस्परिक सम्पर्क तथा आर्थिक प्रशासन व नियन्त्रण से सम्बन्ध रखता है।"[2]

४. डाक्टर डाल्टन (Dr. Hugh Dalton) के शब्दों में "राजस्व सरकारी संस्थाओं के आय और व्यय तथा उनके पारस्परिक सामञ्जस्य से सम्बन्ध रखता है।"[3]

५. प्रो० एम० सेन (Prof. M. Sen) के अनुसार "राजस्व अर्थशास्त्र की वह शाखा है जो सरकार के आय और व्यय तथा उनके प्रशासन का विवेचन करती है।"[4]

६. प्रो० एडम्स (Prof. Adams) के शब्दों में "राजस्व सरकारी आय-व्यय का अनुसन्धान-मात्र है।"

७. श्रीमती हीक्स् (Mrs. Hicks) के अनुसार "राजस्व का मुख्य तथ्य उन साधनों और सिद्धान्तों का परीक्षण और विवेचन करना है, जिनके द्वारा सरकारी संस्थाएँ आवश्यकताओं की सामूहिक रूप में सन्तुष्ट करने का प्रबन्ध करती हैं तथा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक धन प्राप्त करती हैं।"

८. आर्मिटेज स्मिथ (Armitage Smith) के शब्दों में "सरकार आय और व्यय के स्वभाव व सिद्धान्तों को ही राजस्व कहा जाता है।"

९. प्रो० प्लेहन (Prof. Plehn) के अनुसार "राजस्व वह विज्ञान है जो राजनीतिज्ञ की उन क्रियाओं का विवेचन करता है जिनके द्वारा वह राज्य

1—"Public Finance is the science which is concerned with the manner in which authorities obtain their income and spend it"

—Findlay Shirras *The Science of Public Finance*, Vol. 1

2—"Public Finance deals with expenditure and income of public authorities of the state and their mutual relation as also with financial administration and control" —*Prof Bastable*

3—"Public Finance deals with the income and expenditure of public authorities and with the manner in which the one is adjusted to the other" —Dr Hugh Dalton *Public Finance*

4—"Public Finance is that branch of Economics which deals with the revenues and expenditures of government and the administration of such revenues and expenditures

—*Outline of Economics* by M Sen Part II (Edition 1930) p 344

के स्वाभाविक कार्यों की सिद्धि के लिए भौतिक साधनों की प्राप्ति और प्रयोग करता है।"[1]

राजस्व का महत्व (Importance)—प्राचीन समय में राजस्व का अधिक महत्व नहीं था, क्योंकि सरकार के बहुत थोड़े से कार्य थे, जैसे देश को बाहरी आक्रमणों से बचाना आदि। इनके लिए सरकार को जनता से कर लेने की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ती थी। परन्तु आज कल सरकार के कार्यों और दायित्वों में वृद्धि हो गई है। आज की सरकार का कर्तव्य है कि वह देश से अशिक्षा और बेकारी दूर करके शान्ति की व्यवस्था करे, देश के उद्योग धन्धों की उन्नति करे और अन्न व वस्त्र की असुविधाओं से देश को मुक्त करे। इन तथा इस प्रकार के अन्य कार्यों को करने के लिए सरकार को धन की आवश्यकता होती है यह धन सरकार कर द्वारा प्राप्त करती है। अतः वर्तमान समय में राजस्व का महत्व बढ़ गया है। इसके अतिरिक्त, देश की समृद्धि बहुत कुछ सरकार की कर नीति पर भी निर्भर होती है। यदि सरकार की कर नीति अच्छी न हो तो देश का उत्पादन घट जायगा और व्यवसाय में उन्नति न हो सकेगी। फलतः बेकारी बढ़ती जायगी। इसके विपरीत, यदि सरकार की कर-नीति अच्छी है, तो उत्पादन में वृद्धि होगी और देश का सर्वतोमुखी विकास हो सकेगा। इन सब बातों का अध्ययन करने के लिए राजस्व के महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

राजस्व के विभाग (Divisions of Public Finance)—राजस्व के अध्ययन को निम्नलिखित मुख्य चार भागों में विभाजित किया जाता है :—

(१) सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure)
(२) सार्वजनिक आय (Public Revenue)
(३) सार्वजनिक ऋण (Public Debt)
(४) वित्त सम्बन्धी शासन (Financial Administration)

(१) सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure)—राजस्व के इस भाग में सरकारी व्यय का वर्गीकरण तथा उसके सिद्धान्तों का विवेचन किया जाता है जिनके अनुसार सरकार द्वारा भिन्न भिन्न मदों पर होने वाली राशियों का परिमाण निश्चय किया जाता है।

(२) सार्वजनिक आय(Public Revenue)—राजस्व के इस भाग में राज्य के आवश्यक व्यय के लिए धन प्राप्त करने के साधनों, प्रणालियों तथा कर लगाने के सिद्धान्तों का विवेचन किया जाता है।

(३) सार्वजनिक ऋण (Public Debt)—राजस्व के इस भाग में सरकार द्वारा ऋण लेने व चुकाने के साधनों व सिद्धान्तों का विवेचन किया जाता है।

(४) वित्त सम्बन्धी शासन (Financial Administration)—राजस्व के इस भाग में इस बात का विचार किया जाता है कि आय व्ययक अर्थात् बजट किस प्रकार तैयार करके प्रस्तुत किया जाता है, किस प्रकार यह जनता के प्रतिनिधियों द्वारा स्वीकृत किया जाता है तथा आय व्यय का हिसाब किस प्रकार रखा जाता है और इसका अंकेक्षण (Audit) किस प्रकार होता है।

1—"The science which deals with the activity of the statesman in obtaining and applying the material means necessary for fulfilling the proper functions of the State" —*Plehn*

सार्वजनिक और व्यक्तिगत व्ययों की तुलना

(Public and Private Expenditures Compared)

(१) आय व्यय का सम्बन्ध—किसी व्यक्ति का व्यय उसकी आय द्वारा निश्चित किया जाता है, जबकि सरकार पहले अपने व्यय का अनुमान लगाती है और उसके पश्चात् उतना ही धन प्राप्त करने के उपाय एवं मार्ग निकालती है। इस प्रकार व्यक्ति उतने ही पाँव पसारता है जितनी लम्बी उसकी चादर है। परन्तु सरकार पहले चादर की लम्बाई-चौड़ाई निश्चित करती है और तत्पश्चात् उसके लिए आवश्यक कपड़े का प्रबन्ध करती है।

(२) बचत के दृष्टिकोण में अन्तर—व्यक्ति अपनी आय में से कुछ बचाना बुद्धिमानी एवं दूरदर्शिता समझता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति यह प्रयत्न करता है कि जहाँ तक सम्भव हो आय से कम व्यय हो ताकि कुछ राशि भविष्य के लिए बचाई जा सके। परन्तु सरकारी बजट में बचत (Surplus) होना राजस्व के सिद्धान्त के विपरीत समझा जाता है, क्योंकि इसका अर्थ यह हो जाता है कि देशवासियों को बेकार कर-भार से लाद कर धन एकत्रित किया गया है। इसके अतिरिक्त, राजकीय बजट में बचत होने से सरकारी अधिकारी गण व्ययों में असावधानी कर बैठते हैं। इसलिये राजस्व का आदर्श यह है बजट में थोड़ी सी कमी (Deficit) रहे जिससे सरकारी अधिकारी गण व्यय करने में सावधानी बरतें।

(३) व्ययों की अनिवार्यता में अन्तर—सार्वजनिक व्यय अनिवार्य होता है जबकि एक व्यक्ति का व्यय बहुत कुछ उसकी इच्छा पर निर्भर होता है। उदाहरणार्थ, बाहरी आक्रमण के समय तथा अन्य संकट काल में देश की रक्षा के लिये सरकार को अवश्यक ही व्यय करना पड़ता है।

(४) साधनों का अन्तर—सरकार और व्यक्ति के साधनों में अन्तर होता है। संकट-काल में सरकारें अपने आपस, देश-विदेशों से ऋण ले सकती हैं, परन्तु व्यक्ति केवल अन्य व्यक्तियों से ही उधार ले सकता है। इसके अतिरिक्त, सरकार मुद्रा प्रसार (Inflation) द्वारा भी आय की कमी को पूरा कर सकती है, परन्तु व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता।

(५) अवधि का अन्तर—सरकार का बजट एक वर्ष के लिये होता है। परन्तु व्यक्ति के लिये इसका कोई महत्व नहीं होता है, क्योंकि उसे किसी निश्चित अवधि के भीतर अपना बजट सन्तुलित करने की आवश्यकता नहीं होती है। वह आय और व्यय करता रहता है।

(६) उद्देश्यों में अन्तर—व्यक्ति की अर्थ-व्यवस्था में अधिकतम व्यक्तिगत सन्तुष्टि एवं लाभ का उद्देश्य रहता है। परन्तु सार्वजनिक व्यय का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि उससे अधिकतम सामाजिक लाभ (Maximum Social Advantage) हो और उसका उत्पादन, व्यापार, व्यवसाय और राष्ट्रीय आय, वितरण उपभोग आदि पर उत्तम प्रभाव पड़े।

(७) लोच में अन्तर—किसी भी व्यक्ति के लिये आय व्यय में एक विशेष सीमा से अधिक परिवर्तन करना सम्भव नहीं होता है। परन्तु सरकारी आय-व्यय में बड़ी सरलता से महत्वपूर्ण परिवर्तन किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिये, यदि एक साम्यवादी दल के हाथ में सत्ता आ जाये तो वह निश्चय रूप से सरकारी आय-व्यय

दोनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर सकता है। परन्तु व्यक्तिगत अर्थ-व्यवस्था में इस प्रकार की लोच का अभाव है।

(८) अधिकारों में अन्तर—व्यक्ति अपनी आय प्राप्त करने के लिये किसी भी प्रकार के विशेष अधिकारों का उपयोग नहीं कर सकता। परन्तु इसके विपरीत सरकार आय में वृद्धि करने के हेतु व्यक्तियों की सम्पत्ति का अपहरण कर सकती है, नये कर लगा सकती है, बलपूर्वक जनता से ऋण ले सकती है और व्यक्तियों की अनुपार्जित आय पर अधिकार कर सकती है।

(९) सीमान्त उपयोगिताओं का समीकरण—सम सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति साधारणतया अपनी आय को प्रत्येक वस्तु पर इस प्रकार व्यय करना चाहता है कि उसे धन की प्रत्येक अन्तिम इकाई से समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह सतर्कता पूर्वक विभिन्न वस्तुओं के क्रय की उपयोगिता पर पूर्ण विचार कर लेता है। परन्तु जब सरकार धन को व्यय करती है तब उसके लिये इस प्रकार सतर्कतापूर्वक विचार करना सम्भव नहीं है। विभिन्न राजनैतिक दलों के दबाव या अन्य कारणों वश सरकार को कभी कभी अनुपयोगी उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भी धन व्यय करना पड़ता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सरकारी व्यय सदैव ही अविवेकपूर्ण होते हैं।

(१०) गोपनीयता में अन्तर—प्रत्येक व्यक्ति अपनी अर्थ-व्यवस्था को गुप्त रखने का प्रयत्न करता है, जबकि सार्वजनिक अर्थ-प्रबन्ध का आधार प्रचार है। सरकार अपने बजट प्रति वर्ष प्रकाशित करती है और उनका प्रचार करती है।

राजस्व का लक्ष्य एवं सिद्धान्त (Aim and Principle of Finance)—डाक्टर डाल्टन के अनुसार राजस्व का सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य व सिद्धान्त अधिकतम सामाजिक लाभ (Maximum Social Advantage) प्रदान करना है। अधिकतम सामाजिक लाभ के सिद्धान्त के अनुसार राज्य की आय और व्यय का सामञ्जस्य इस प्रकार किया जाना चाहिये जिससे समाज को अधिक-से अधिक लाभ और सुविधा प्राप्त हो सके। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपनी एक निश्चित राशि से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिये सम-सीमान्त-उपयोगिता के सिद्धान्त (Law of Equi-marginal Utility) के अनुसार कार्य करता है और वह यह प्रयत्न करता है कि उसे प्रत्येक वस्तु पर व्यय किये जाने वाले धन की अन्तिम इकाई से समान उपयोगिता प्राप्त हो उसी प्रकार सरकार को भी इसी सिद्धान्त के अनुसार कार्य करके अपने व्यय से अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त करना चाहिये।

अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि 'कर' लेते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जिनके पास अधिक धन है उन पर कर भार अधिक पड़े और धन-राशि व्यय करते समय यह देखना चाहिए कि निर्धनों को अधिक लाभ पहुँचे।

सार्वजनिक आय के साधन (Sources of Public Revenue)—सार्वजनिक आय के मुख्य साधन निम्नलिखित हैं :—

(१) सार्वजनिक सम्पत्ति (Public Domain)—सरकार के स्वामित्व में भूमि, वन, खानें आदि होती हैं और वह इनसे आय प्राप्त करती है।

(२) अर्थ दण्ड या जुर्माना (Fines)—सरकार दोषियों को दण्डित करती है जिससे उसको आय होती है।

(३) भेंट (Gifts)—कभी-कभी कुछ व्यक्ति अपनी इच्छा से सरकार को कुछ धन राशि भेंट करते हैं। यह भी सरकार की आय का एक साधन है।

(४) फीस या शुल्क (Fees)—सरकार कुछ विशेष सेवाओं के लिये शुल्क भी वसूल करती है जिससे उसको आय होती है जैसे शिक्षा शुल्क, लाइसेंस फीस, रजिस्टरेशन फीस, कोर्ट फीस आदि। प्रो० सेलिगमैन के अनुसार फीस सरकार के उन सार्वजनिक व्ययों को भुगतान करने के लिये ली जाती है जो सार्वजनिक हित के लिये किये जाते हैं किन्तु जो साथ ही साथ फीस देने वालों को भी कुछ विशेष लाभ पहुँचाते हैं। फीस सेवा की लागत से अधिक नहीं होती है क्योंकि इस प्रकार की सेवा में सार्वजनिक हित की भावना रहती है।

(५) मूल्य (Price)—आधुनिक सरकार कुछ व्यवसाय भी करती है जैसे डाक, तार, रेल आदि। इन व्यवसायों के द्वारा सरकार जनता को माल या सेवा बेचती है और जो मूल्य आता है वह सरकार की आय होती है।

(६) दरें (Rates)—दरें विशेषकर स्थानीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिये म्युनिसपैलिटियों तथा जिला बोर्डों द्वारा लगाई जाती हैं। वे साधारणतया नागरिकों की अचल सम्पत्ति पर लगाई जाती हैं। परन्तु ये दरें बिना किसी विशेष सुधार या लाभ के भी लगाई जा सकती हैं। दरों में स्थानानुसार भिन्नता पाई जाती है। कुछ विद्वानों के अनुसार मूल्य और दरों में कोई विशेष महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है।

(७) विशेष कर निर्धारण (Special Assessment)—प्रो० सेलिगमैन के अनुसार विशेष कर निर्धारण विशेष लाभ के अनुपात में लिया गया एक अनिवार्य योग दान (Compulsory Contribution) है जो सार्वजनिक हित के लिये की गई सम्पत्ति के विशेष सुधार की लागत को चुकाने के लिये लिया जाता है।[1] उदाहरण के लिये पार्क, सड़क, बिजली, नालियों आदि के सुधार से आस पास के मकानों का मूल्य बढ़ जाता है। सिंचाई के लिये नहरों, कुओं आदि के सुधार से भूमि का मूल्य बढ़ जाता है। मकानों तथा भूमि में मूल्य-वृद्धि उनके स्वामियों के प्रयास के फलस्वरूप नहीं वरन् अनर्जित लाभ (Unearned Increment) है। मकानों और भूमि के स्वामियों के विकास या सुधार की लागत का कुछ भाग विशेष कर निर्धारण के रूप में वसूल किया जाता है जिससे सरकार को आय होती है। प्रो० सेलिगमैन ने विशेष कर निर्धारण की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैं :—(अ) इस विशेष लाभ को नापा जा सकता है। (इ) यह विशेष कर निर्धारण प्रगतिशील नहीं किन्तु प्राप्त लाभ के समानुपाती होता है। (ई) यह विशेष कर स्थानीय सुधार के लिये लगाया जाता है। (उ) यह समाज के स्थायी ढाँचे को बनाने और सुधार करने के लिये लगाया जाता है।

1— A Compulsory contribution levied in proportion to the special benefit derived to defray the cost of specific improvement to property undertaken in the public interest —*Seligman*

८. कर (Taxes)—कर सरकारी आय का सबसे बड़ा साधन है। कुछ विशेष लाभ हो या नहीं, लोगों को कर तो देने ही पड़ते हैं। प्रशास्त्री प्लेहन (Plehn) के शब्दों में "कर धन के रूप में दिया गया सामान्य अनिवार्य दान-योग (Compulsory Contribution) है जो राज्य के निवासियों पर सामान्य लाभ (Common Benifit) पहुँचाने के लिए, किये गये व्यय की पूर्ति के लिए जनता से लिया जाता है।"[1]

प्रो० सेलिगमैन (Seligman) के अनुसार 'कर व्यक्ति द्वारा सरकार को दिया हुआ वह अनिवार्य योगदान है जिसे करदाता के विशेष लाभ का ध्यान नहीं रखते हुए, सरकार सबके कल्याण के लिये व्यय करती है।'[2]

एन्टानियो डी विटि डी मार्को (Antonio de Viti Marco) ने भी "कर को जनता की आय का वह भाग बताया है जिसे सरकार जन-साधारण की सेवा करने के लिए लेती है।"[3]

कर की विशेषताएं (Characteristics)—कर की निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं :—

(१) यह जनता का अनिवार्य योगदान है।

(२) जन-कल्याण ही कर का मुख्य उद्देश्य है न कि किसी व्यक्ति विशेष की सेवा करना।

(३) कर से राज्य का मुख्य उद्देश्य आय प्राप्त करना होता है।

(४) प्रो० टॉजिग (Taussig) के अनुसार "सार्वजनिक अधिकारी और कर-दाता के मध्य प्रत्यक्ष 'जैसे को तैसा' (quid pro quo) तत्व का अभाव ही कर तथा सरकारी अन्य आयों में अन्तर पैदा करता है।"[4]

इस प्रकार कर में कुछ अनिवार्यता रहती है तथा इसका उद्देश्य जन-साधारण की सेवा है। सबसे मुख्य बात यह है कि कर में कर-दाता के लाभ और त्याग में कोई प्रत्यक्ष अथवा समान सम्बन्ध नहीं होता है।

मूल्य, फीस और कर में अन्तर (Difference between Price, Fee & Tax)—मूल्य उस धन राशि को कहते हैं जो कोई व्यक्ति सरकार को किसी वस्तु या सेवा के बदले में देता है। मूल्य और फीस में मुख्य अन्तर यह है कि फीस में विशेष लाभ के साथ साथ सार्वजनिक हित भी प्रमुख रहता है जबकि मूल्य व्यापारिक

1—*Introduction to Public Finance* —*Plehn*, p. 59.

2—"A tax is a compulsory contribution from the person to the Government to defray the expenses incurred in the common interest of all, without reference to special benefits conferred." —*Seligman*

3—'The tax is a share of the income of the citizens which the state appropriates in order to procure for itself the means necessary for the production of general public services.'

—*Antonio de Viti de Marco*, p. 111

4—"The essence of a tax as distinguished from other charges by the Government is the absence of a direct quid pro quo between the tax-payer and the public authority."

—T. W. Taussig, *Principles of Economics*, p. 46.

टन की सेवा के बदले में लिया जाता है, जैसे सरकारी रेलों द्वारा यात्रा करने की लागत, टिकट और लिफाफे आदि खरीदने का मूल्य। मूल्य कर से भी भिन्न होता है। कर सामान्य लाभ (Common Benefit) के लिए दिया जाता है, जबकि मूल्य और फीस ही विशेष लाभो के लिए दिये जाते हैं। कर अनिवार्य होता है, परन्तु मूल्य और फीस वैकल्पिक होते हैं। प्रो० सेलिगमैन ने इस अन्तर को इस प्रकार प्रतिपादित किया है। "प्रमुख सार्वजनिक उद्देश्य सहित विशिष्ट लाभ का अस्तित्व फीस का आवश्यक गुण है। सार्वजनिक उद्देश्य का अभाव भुगतान को मूल्य बना देता है विशिष्ट लाभ का अभाव उसे कर बना देता है।[1]

कर के सिद्धान्त (Canons of Taxation)—करों से ही सरकार की मुख्य आय होती है। अत. कर के सिद्धान्तों का ज्ञान लेना आवश्यक है। आधुनिक *अर्थशास्त्र के जन्मदाता एडम स्मिथ (Adam Smith) ने सबसे पहले कर के सिद्धान्त* प्रतिपादित किये थे जो अब तक भी मान्य समझे जाते है। आवश्यकतानुसार बाद के विद्वानों ने कुछ नये सिद्धान्त और जोड़ दिये हैं। ये सब निम्नलिखित है —

एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित कर के सिद्धान्त (*Adam Smith's* Canons of Taxation)[2]

१ समानता या न्याय का सिद्धान्त (Canon of Equality or Equity)—प्रो० एडम स्मिथ के अनुसार "प्रत्येक राज्य की प्रजा को यथा सम्भव अपनी योग्यताओं (Abilities) के अनुसार सरकार की सहायता के लिए धन देना चाहिये अर्थात् *उस आय के अनुपात में जो राज्य द्वारा दी गई सुरक्षा के अन्तर्गत प्राप्त* होती है।"[3] प्रो० एडम स्मिथ का कहना है कि कर इस प्रकार लगाना चाहिये कि जो व्यक्ति धनी हैं उन्हें अधिक कर देना पड़े और जो निर्धन है उन्हें बहुत कम कर देना पड़े, अर्थात् कर लोगों की कर देने की क्षमता या योग्यता के अनुपात में लेना चाहिये। इसे न्याय का सिद्धान्त (Principle of Equity) भी कहते हैं। इस सिद्धान्त *के अनुसार सरकार को करदाताओं से इतना कर वसूल करना चाहिए* कि प्रत्येक करदाता सरकार के लिये समान त्याग या बलिदान करे। समान बलिदान या त्याग की दृष्टि से जब धनी लोगों से उनकी आय के अनुपात से अधिक कर वसूल किया जाता है और निर्धनों से अनुपात में कम, तो ऐसे कर को प्रगतिशील कर (Progressive Tax) कहते है। यही कर आजकल सर्वमान्य समझा जाता है।

1—"The essential characteristic of a fee is the existence of a special measured benefit together with a predominant public purpose *The absence of a public purpose makes the payment a* price, absence of special benefit makes it a tax " —*Seligman*

2—Adam Smith *Wealth of Nations* Bk II, chapter 2, Section 2

3—"The subjects of every state ought to contribute towards *the support of the Government as nearly as possible in proportion to* their respective abilities i e, in proportion to the revenue which they respectively enjoy under the protection of the state

—*Adam Smith*.

इसे उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझिये यदि १०० रु० मासिक आय वाले व्यक्ति से ३ पाई प्रति रुपया कर लेते हैं तो १,००० रु० मासिक आय वाले से एक आना या अधिक प्रति रुपया कर लेना चाहिये। भारतवर्ष में आय कर (Income Tax) इसी सिद्धान्त के अनुसार लगता है।

२ निश्चितता का सिद्धान्त (Canon of Certainty)—प्रो० एडम स्मिथ के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को जो भी कर देना है वह निश्चित होना चाहिये। और किसी की इच्छा पर निर्भर नहीं होना चाहिये। भुगतान का समय भुगतान की रीति कर की मात्रा आदि करदाता तथा अन्य व्यक्तियों के लिये स्पष्ट होनी चाहिये। [1] कर की निश्चितता करदाता तथा वित्त मन्त्री दोनों के लिये ही आय व्यय के बजट को सन्तुलित करने में सहायक सिद्ध हो सकती है। राज्य के इच्छानुसार कर नीति में शीघ्र परिवर्तन अनिश्चितता उत्पन्न करती है जिससे भ्रष्टाचार घूसखोरी भेंट आदि को प्रोत्साहन मिलता है। प्रो० एडम स्मिथ ने लिखा था कि कर के मामले में किसी व्यक्ति को जो राशि देनी है उसकी निश्चितता इतने महत्व की बात है कि मुझे विश्वास है कि समस्त देशों के अनुभव के अनुसार असमानता की काफी बड़ी मात्रा इतनी भयानक नहीं है जितनी कि अनिश्चितता की बहुत थोड़ी मात्रा है। [2] प्रसीडेन्ट हैडले (Hadley) के मतानुसार समानता के समस्त प्रयत्न करों के निश्चित होने के बिना भ्रमात्मक सिद्ध होते हैं। अस्तु करों की निश्चितता करदाता तथा सरकार दोनों के लिये ही परमावश्यक है। इसीलिये यह कहा है कि पुराना कर अच्छा कर है और नया कर बुरा कर है। (An old tax is a good tax and a new tax is a bad tax)

३ सुविधा का सिद्धान्त (Canon of Convenience)—प्रो० एडम स्मिथ के अनुसार 'प्रत्येक कर ऐसे समय और ऐसी रीति से लगाना चाहिये जिससे कर दाता को उसके देने में अधिक सुविधा मिल सके। [3] उदाहरणार्थ लगान या मालगुजारी फसल के समय लेना उचित है। उपभोक्ताओं पर लगाये जाने वाले अप्रत्यक्ष कर (Indirect Taxes) भी सुविधाजनक होते हैं क्योंकि वे वस्तुओं के मूल्य के साथ ही वसूल कर लिये जाते हैं। कर अधिकारी तथा करदाता को कर के लेने व देने में अनावश्यक कष्ट नहीं होना चाहिये।

1—The tax which each individual is bound to pay ought to be certain and not arbitrary The time of payment the quantity to be paid ought all to be clear to the contributor and to every other person —Adam Smith *Wealth of Nations* Vol II

2—Adam smith wrote the certainty of what individual ought to pay is in taxation a matter of so great importance that a very considerable degree of inequality it appears I believe from the experience of all nations is not near so great an evil as a very small degree of uncertainty

—Adam Smith *Wealth of Nations*, Vol II

3—Every tax ought to be levied at the time or in the manner in which it is most likely to be convenient for the contributor to pay it —Adam Smith *Wealth of Nations* Vol II

४. मितव्ययता का सिद्धान्त (Canon of Economy) प्रो० एडम स्मिथ के अनुसार प्रत्येक कर को इस प्रकार लगाना चाहिये कि जनता की जेबों से जितना सभव हो उतना कम लिया जाय और इसका अधिकांश भाग राज्य कोष में जमा हो जाय।[1] उदाहरणार्थ, यदि १०० रुपये कर के रूप में वसूल करने में ३० या ४० खर्च हो जायँ, तो ऐसा कर मितव्ययी नहीं कहा जायगा। इस प्रकार का कर नहीं लगाना चाहिये क्योंकि इससे जनता को कष्ट होगा और सरकार को अधिक आय भी नहीं होगी। अर्थशास्त्री हाब्सन, विक्स्टीड, वाग्नर और जोन्स उसी कर-व्यवस्था को उत्तम मानते हैं जिसमें वसूली व्यय कम हो। अस्तु, कर वसूल करने में न्यूनतम व्यय होना चाहिये।

कर के कुछ सिद्धान्त—एडम स्मिथ के उपर्युक्त कर-सिद्धान्तों के अतिरिक्त आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने कुछ और नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जिनका विवेचन नीचे किया जाता है

५. उत्पादकता का सिद्धान्त (Canon of Productivity)—राजस्व शास्त्री बेस्टबल (Bastable) ने उत्पादकता का कर-सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार कर-व्यवस्था अधिकतम उत्पादक होनी चाहिये। करों से प्राप्त होने वाली आय कम से कम इतनी अवश्य हो कि उससे सरकार को अपनी व्यवस्था सुचारु रूप से चलाने में कोई कठिनाई नहीं हो और अर्थ सकट से सरकार मुक्त रहे। परन्तु जहाँ कर नीति का उत्पादक होना आवश्यक है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि कर इतने भारी न हों कि देश के उत्पादन पर उनका घातक मानव प्रभाव पड़े। जहाँ तक सभव हो करों की सख्या इतनी अधिक न हो कि जनता को अनावश्यक कष्ट सहना पड़े और उत्पादन पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़े। सक्षेप में, इस सिद्धान्त के अनुसार एक कर जिससे अधिक आय होती है, वह उन बहुत से करों से अच्छा है जिनमें से प्रत्येक से बहुत थोड़ी आय होती है। इसे पर्याप्तता का सिद्धान्त (Canon of Sufficiency) भी कहते हैं।

६. लोच का सिद्धान्त (Canon of Elasticity)—सरकार की कर-नीति ऐसी होनी चाहिये कि देश की समृद्धि के साथ कर से होने वाली आय स्वतः ही बढ़ जाय। साथ ही किसी असाधारण परिस्थितिवश कर की आय बढ़ाने की आवश्यकता भी पड़ जाय, तो केवल कर की दर बढ़ाने मात्र से ही काम चल जाय। अधिक कर वसूल करने का व्यय न बढ़ाना पड़े। अतः यह स्पष्ट है कि लोच के सिद्धान्त में उत्पादकता तथा मितव्ययता के सिद्धान्तों का भी सम्मिश्रण है। भारतीय आय-कर, रेल, तार, डाक आदि की नीतियाँ लोचदार हैं।

७. कोमलता का सिद्धान्त (Canon of Flexibility)—इस सिद्धान्त के अनुसार कर पद्धति में कोई कठोरता नहीं होनी चाहिये। कोमलता के बिना कर-व्यवस्था में लोच नहीं रह सकती। कठोर कर-नीति में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन नहीं किया जा सकता। बगाल का स्थायी बन्दोबस्त कठोरता का

1—"Every tax ought to be so contrived as both to take out and keep out of the pockets of the people as little as possible, over and above what it brings into the public treasury of the state."

— *Adam Smith.*

एक उदाहरण है। कोमलता का अभाव ही बंगाल के आर्थिक संकटों का एक मुख्य कारण है।

८. सरलता का सिद्धान्त (Canon of simplicity)—आर्मिटेज स्मिथ (Armitage Smith) के अनुसार "कर-पद्धति सरल, सीधी और सर्व-साधारण के समझ में आने योग्य होनी चाहिये।" जटिल कर नीति से भ्रष्टाचार पनपता है, मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है तथा नागरिकों का नैतिक-स्तर गिरता है। भ्रष्टाचार के विरुद्ध यह सिद्धान्त एक सतर्क चौकीदार या संतरी का कार्य करता रहता है। भारतवर्ष की आय-कर प्रणाली सरल नहीं है।

९. विभिन्नता का सिद्धान्त (Canon of Diversity)– इस सिद्धान्त के अनुसार कर भिन्न-भिन्न प्रकार के होने चाहिये ताकि राज्य को किसी विशेष कर पर आश्रित न रहना पड़े। करों की संख्या अधिक होने से उसका भार अपेक्षाकृत कम मालूम पड़ता है। इसलिये कर विभिन्न प्रकार के होने चाहिये जिससे कि सब नागरिकों से थोड़ा-बहुत रुपया प्राप्त हो सके। साथ-ही-साथ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि करों की संख्या इतनी अधिक नहीं होनी चाहिये कि उन्हें वसूल करने में अधिक व्यय करना पड़े।

१०. औचित्य का सिद्धान्त (Canon of Expediency)—इस सिद्धान्त के अनुसार वे कर ही लगाये जाने चाहिये जो वाञ्छनीय हों और जिनके देने में जनता आनाकानी न करे। इसलिये राज्य द्वारा जब कभी कोई नया कर लगाया जावे तब सावधानी बरती जावे ताकि जनता का कम-से-कम विरोध हो।

११. एक-सा एकरूप होने का सिद्धान्त (Canon of Uniformity)—निटी (Nitty) और कोनार्ड (Conard) नामक अर्थशास्त्रियों ने एक और सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार एकरूप (Uniform) होने चाहिये। परन्तु इसके दो अर्थ हो सकते हैं। क्या करों का भार प्रत्येक कर-दाता पर एक सा पड़ना चाहिये? यदि हाँ, तो उससे समान त्याग की ध्वनि निकलती है जो कर नीति में आवश्यक है। कुछ अर्थशास्त्री इसका अर्थ करों कि दरों की समानता से लेते हैं जो त्रुटिपूर्ण है। उदाहरण के लिये, आय-कर की दर तथा विक्रय-कर की दरों को समान करने से अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जायेंगी।

कर के प्रकार (Kinds of Taxes)—कर दो प्रकार के होते हैं :—

(१) प्रत्यक्ष कर, और (२) अप्रत्यक्ष कर।

(१) प्रत्यक्ष कर (Direct Tax) प्रत्यक्ष कर वह कर है जिसका भार उसी व्यक्ति पर पड़े जिससे वह लिया जाता है। प्रो॰ जे॰ एस॰ मिल (J. S.

Mill)—के अनुसार "प्रत्यक्ष कर उन्हीं व्यक्तियों से लिया जाता है जिनसे उसे लेने का सरकार का उद्देश्य है।"[1] इसे अधिक स्पष्ट करते हुए यों कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष कर एक ऐसा कर है कि जिसका भार किसी अन्य व्यक्ति पर टाला नहीं जा सकता, अर्थात्, जिस व्यक्ति पर वह लगता है उसी को वह कर देना पड़ता है। हैडले (Hadley) के शब्दों में "जिन करों का विवर्तन या चालन (Shifting) नहीं होता वे प्रत्यक्ष कर हैं, जिनका चालन विधि पूर्वक हो सके तथा व्यापारिक प्रतियोगिता द्वारा जिन्हें दूसरों पर टाला जा सकता है अप्रत्यक्ष परोक्ष कर कहलाते हैं।"[2] उदाहरण के लिए, आय-कर (Income-tax) एक प्रत्यक्ष कर है, क्योंकि आय-कर देने वाला अपना भार नहीं टाल सकता है।

(२) अप्रत्यक्ष या परोक्ष कर (Indirect Tax)—अप्रत्यक्ष या परोक्ष कर वह कर है जिसका भार कर देने वाला अन्य व्यक्ति पर टाल सकता है। प्रो० जे० एस० मिल के अनुसार "अप्रत्यक्ष कर ऐसे व्यक्ति से इस आशा

1—"Direct tax is demanded from the very person who, it is intended or desired, should pay it" and indirect tax "demanded from one person in the expectation and intention that he should indemnify himself at the expense of another "

—J S mill, *Principles of Political Economy*, eg III, Book V

2—Hadely, *Economics*, pp 459 61

से लिया जाता है कि वह दूसरे व्यक्तियों से वसूल कर अपनी हानि की पूर्ति कर लेगा।" बेस्टबल (Bastable) के शब्दों में 'प्रत्यक्ष कर स्थायी और बार-बार आने वाले समयों पर लगाये जाते हैं। विशेष अवस्थाओं में और कभी-कभी ही परोक्ष कर लगाये जाते हैं।'[1] बिक्री-कर (Sales-Tax) इसी श्रेणी का कर है। यद्यपि विक्रेता को ही वह कर देना पड़ता है, परन्तु बढ़े हुए मूल्यों में वह उपभोक्ताओं से ही कर को वसूल कर लेता है।

प्रत्यक्ष करों से लाभ (Advantages of Direct Taxes)—प्रत्यक्ष करों में निम्नलिखित लाभ हैं :—

(१) राजनैतिक जाग्रति—प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली में प्रत्यक्ष कर नागरिकता की भावना उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। करदाता समझता है कि वह सरकार को कुछ दे रहा है तथा राजकीय कार्यों में उसका भी भाग एवं उत्तरदायित्व है। अतः वह राजनैतिक कार्यों में अधिक रुचि दिखाने लगता है।

(२) न्यायपूर्णता—प्रत्यक्ष कर न्यायपूर्ण होते हैं, क्योंकि कर प्रत्येक व्यक्ति की सामर्थ्य के अनुसार ही लगाया जाता है।

(३) प्रगतिशीलता—प्रत्यक्ष कर प्रगतिशील (Progressive) होते हैं तथा उनके भार को धीमन्तों पर आसानी से डाला जा सकता है और निर्धन जनता कर के भार से मुक्त रखी जा सकती है।

(४) मितव्ययता—सरकार तथा कर-दाता के मध्य कोई मध्यस्थ न होने से कर कम लागत में वसूल हो सकता है। अतः ये कर मितव्ययी होते हैं।

(५) उत्पादनशीलता—प्रत्यक्ष कर बड़े उत्पादक होते हैं। भारतवर्ष में आय-कर और मृत्यु-कर दो प्रमुख कर हैं जिनसे भारत सरकार को बड़ी आय होती है।

(६) लोच—प्रत्यक्ष कर बड़े लोचदार होते हैं। आवश्यकतानुसार उन्हें घटाया-बढ़ाया जा सकता है।

(७) निश्चितता—इन करों से प्राप्त होने वाली आय निश्चित रहती है। अतः सरकार अपने बजट में उसकी गणना निश्चित रूप से कर सकती है। करदाता को भी यह ज्ञान रहता है कि उसे कब, कहाँ और कितना देना है।

प्रत्यक्ष करों में हानियाँ (Disadvantages of Direct Taxes)

(१) असुविधा—प्रत्यक्ष करों में करदाता को असुविधा भी होती है, क्योंकि उसे बहुत-से फार्म भरकर सरकार को देने पड़ते हैं और आय-व्यय का पूरा लेखा ब्यौरे-वार रखना पड़ता है। कर की पूरी राशि का एक दम प्रबन्ध करना पड़ता है और उसके देने में करदाता को कष्ट होता है।

(२) स्वेच्छाचारिता पूर्ण—प्रत्यक्ष करों का निर्धारण स्वेच्छा से होता है। अतः देश के किसी वर्ग के साथ अन्याय हो सकता है।

1—"These taxes are direct which are levied on permanent and recurring occasions, while charges on occasional and particular events are placed under the catagory of indirect taxation

—Bastable *Public Finance.*

(३) ईमानदारी पर कर—कुछ विशेषज्ञ ऐसे करो को सचाई या ईमानदारी पर कर (Tax on Honesty) कहते है, क्योंकि करदाता को उनमें बेईमानी का प्रलोभन रहता है। झूँठा बही-खाता देकर कम कर दिया जा सकता है। फिर कर-अधिकारियो के भ्रष्ट होने की आशका बनी रहती है। उन्हे घूस देकर उनके सहयोग से करदाता झूँठे बही-खाते सरलता से बना सकता है।

(४) कर से बचने की चेष्टा—कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से कर देने को तैयार नही होता। यदि देना भी पड तो न्यूनतम कर देना पडे। इसलिये वह गलत हिसाब बना कर तथा अन्य प्रकार से कर से बचने का प्रयत्न करता है।

(५) लोकप्रियता का अभाव—प्रत्यक्ष कर लोकप्रिय नही होते है, क्योंकि कर सीधे दिये जाने मे करदाताओ को बुरा लगता है। परन्तु अप्रत्यक्ष कर मे कर देते समय यह पता नही लगता कि कब कर दिया गया।

(६) अल्प आय वालो से कर वसूल करने मे कठिनाई—थोडी आय वालो पर प्रत्यक्ष कर लगाया ही नही जा सकता है, विशेष कर दैनिक मजदूरी पर काम करने वाले श्रमिको तथा घरेलू नौकरो पर प्रत्यक्ष कर लगाना अत्यन्त कठिन है। साथ ही इस प्रकार से कर इकट्ठा करने का व्यय ही बहुत अधिक होता है।

(७) धन सचय भावना मे ह्रास होने की सम्भावना—यदि कर की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि कर दी जाय तो जनता मे धन की बचत करने की भावना कम हो जाती है।

अप्रत्यक्ष या परोक्ष करो के लाभ

(Advantages of Indirect Taxes)

(१) सुविधापूर्ण—अप्रत्यक्ष कर बडे सुविधाजनक होते हैं। ये प्राय वस्तुओ के मूल्य मे लिपटे होते है।[1] इसलिये करदाता को बिना ज्ञात हुए इनका भुगतान होता रहता है। इसके अतिरिक्त, ये एक मुश्त न देकर धीरे धीरे वस्तुओ के क्रय के साथ दिये जाते है जिससे जनता को यह पता भी नहीं चलता कि उनमे कर लिया जा रहा है।

(२) लोचदार—आवश्यकतानुसार इनमे घटा-बढी की जा सकती है।

(३) निर्धनो से भी कर वसूली सभव—प्रत्यक्ष कर केवल धनी लोग ही देते हैं। परन्तु अप्रत्यक्ष कर निर्धन व्यक्ति भी देते हैं।

(४) मितव्ययी—इन्हे वसूल करने मे विशेष व्यय नहीं होता है।

(५) ये टाले नही जा सकते—ये कर वस्तुओ के मूल्य मे सम्मिलित होते हैं, इसलिये वस्तुओं को खरीदते तथा उनका उपभोग करते समय उन्हे अवश्य देना ही पडता है।

(६) लोकप्रियता—अप्रत्यक्ष कर बडे लोकप्रिय होते है, क्योंकि ये इस प्रकार वसूल किये जाते हैं कि करदाता को तनिक भी कष्ट नही होता है।

1—"Indirect taxes are wrapped up in the price"

(७) सामाजिक लाभ—इन करों से एक सामाजिक लाभ भी होता है। सरकार जिन हानिकारक वस्तुओं का उपभोग कम या नहीं कराना चाहती (जैसे अफीम, शराब आदि) तो उन पर कर लगाकर उनका मूल्य बढ़ा सकती है। लाभदायक वस्तुओं को कर-मुक्त रखकर उनका उपभोग बढ़ा सकती है।

(८) समानता—विलास वस्तुओं पर भारी कर लगा कर, करों का भार धनियों पर डाला जा सकता है।

(९) आय का विस्तृत क्षेत्र—परोक्ष करों की सहायता से कर व्यवस्था का क्षेत्र बहुत विस्तृत किया जा सकता है। सरकार को आय के अनेक साधन मिल सकते हैं।

अप्रत्यक्ष या परोक्ष करों से हानियाँ
(Disadvantages of Indirect Taxes)

(१) नागरिकता की भावना का अभाव—अप्रत्यक्ष करों द्वारा करदाता में नागरिकता की भावना उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि करदाता वस्तुओं के क्रय करते समय यह अनुभव ही नहीं करता कि वह कर द्वारा बढ़े हुए मूल्यों के रूप में सरकार को भी धन दे रहा है।

(२) प्रतिगामी कर—ये कर प्रतिगामी (Regressive) होते हैं। इनका भार धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर अधिक पड़ता है। उदाहरण के लिए, नमक कर धनिकों और निर्धनों सबको बराबर देना पड़ता है।

(३) अनिश्चितता—अप्रत्यक्ष कर अनिश्चित होते हैं। वस्तुओं के उपभोग की मात्रा का ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन होता है। अतः सरकार द्वारा कर की आय का सही अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता है।

(४) उद्योग धंधों पर प्रतिकूल प्रभाव—जिन वस्तुओं पर कर अधिक लगा दिये जाते हैं उनके उद्योग-धन्धों के नष्ट होने की सम्भावना रहती है। विशेष रूप से कच्चे माल पर लगाया गया अधिक कर उसके लिए बहुत घातक सिद्ध होता है।

(५) सरकारी आय में ह्रास होना सम्भव—विलास-वस्तुओं पर कर लगाने से उनका मूल्य बढ़ जायगा तथा उनकी मांग घट जायगी जिससे सरकार की आय भी कम हो जायगी।

(६) मितव्ययता का अभाव—यद्यपि इन करों में दूकानदार अवैतनिक कर-अधिकारी (Unpaid Tax-Collector) का कार्य करता है, परन्तु फिर भी इनकी कर वसूली व्यय अधिक होता है। साधारणतया सरकार और अन्तिम उपभोक्ता के मध्य कई मध्यस्थ आ जाते हैं। वे कर की मात्रा को मिला कर वास्तविक मूल्य को बहुत ऊंचा कर देते हैं।

(७) लोच का अभाव—बहुत से कर लोचदार नहीं होते, क्योंकि आय बढ़ नहीं पाती।

(८) छल-कपट एवं चोर बाजारी को प्रोत्साहन—इन करों की दर अधिक होने से लोगों में माल छिपाकर मगाने और माल को चोर-बाजार में बेचने की प्रवृत्ति पैदा होती है जो सामाजिक और नैतिक दृष्टि से अत्यन्त हानिकारक है।

प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों का तुलनात्मक निष्कर्ष—प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष करों के गुण दोषों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कोई एक प्रकार के कर पर पूर्णतया विश्वास नहीं किया जा सकता। इन दोनों प्रकार के करों का उपयुक्त सामंजस्य ही उत्तम राजस्व माना जाता है। जिस प्रकार मनुष्य के चलने में दोनों पैरों की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार कर प्रणाली में इन दोनों प्रकार के करों का समावेश होना चाहिए। इङ्गलैंड के प्रसिद्ध प्रधान मन्त्री ग्लैडस्टन ने एक समय कहा था कि प्रत्यक्ष कर और अप्रत्यक्ष कर दो सुन्दर बहिनों की भांति हैं और एक चतुर राजस्व सचिव को दोनों का आदर करना चाहिए।

एक वित्त मन्त्री को कर लगाते समय यह देखना चाहिये कि देश के सभी वर्गों पर कर का कुछ न कुछ भार पड़े। किसी एक साधन से आय प्राप्ति करने के लिए किसी एक वर्ग को अधिक कर-भार से लादना उचित नहीं है। इसलिये कर के जितने विभिन्न साधन हों उतना ही अच्छा। कर प्रणाली को प्रगतिशील (Progressive) रखने के *लिए यह आवश्यक है कि सरकारी आय का अधिक भाग प्रत्यक्ष करों से प्राप्त हो, परन्तु* अप्रत्यक्ष करके द्वारा धनिकों के साथ-साथ निधनों को भी अपने सामर्थ्य के अनुसार राजकीय व्यय में कुछ न कुछ हाथ बटाने का अवसर देना चाहिये।

भारतवर्ष में कर-प्रणाली—सिद्धान्तत प्रत्यक्ष कर ही अधिक अच्छे हैं। यही कारण है कि आज समुन्नत देशों में प्रत्यक्ष कर ही अधिक लगाये जाते हैं। परन्तु भारत वर्ष में कर-प्रणाली ठीक प्रकार से सन्तुलित नहीं है। यह अप्रत्यक्ष या परोक्ष करों पर अधिक अवलम्बित है। अप्रत्यक्ष कर निधनों को अधिक भार स्वरूप सिद्ध होते हैं। इस समय हमारे देश में आयात निर्यात कर (Customs & Duties), उत्पत्ति कर (Excise Duties), बिक्री कर आदि प्रमुख परोक्ष कर के साधन हैं और केवल आय कर (Income tax) ही महत्वपूर्ण प्रत्यक्ष कर का साधन है। हाल ही में सम्पत्ति कर (Estate Duty) के लग जाने से प्रत्यक्ष कर के साधनों में कुछ वृद्धि हो गई है।

कर सघात और कर भार (Impact and Incidence of Tax)—कर सघात (Impact of Tax) उस व्यक्ति पर होता है जो प्रारम्भ में उसे देता है और कर भार (Incidence of Tax) उस व्यक्ति पर होता है जो अन्त में उसे सहन करता है। प्रत्यक्ष करों (Direct Taxes) में कर-सघात और कर-भार एक ही व्यक्ति पर रहता है। उदाहरण के लिये, जो व्यक्ति आय कर (Income-tax) देता है उसे इसका सघात (Impact) और भार (Incidence) दोनों ही सहन करने पड़ते हैं, क्योंकि उसे यह अपनी जेब से देना पड़ता है। परन्तु अप्रत्यक्ष करों (Indirect Taxes) में कर-सघात एक व्यक्ति पर और कर भार किसी अन्य व्यक्ति पर होता है। उदाहरण के लिये, यदि सूती वस्त्र पर उत्पादन कर (Excise Duty) लगा दिया जाय, तो प्रारम्भ में उसका भुगतान वस्त्र निर्माता सहन करता है और इस प्रकार इसका सघात (Impact) निर्माता पर ही पड़ता है। परन्तु वह इस कर को वस्त्र के मूल्य में जोड़ देता है जो अनेक हस्तान्तरणों के पश्चात् वस्त्र उपभोक्ताओं को सहन

करना पड़ता है। अतएव इसका भार (Incidence) वस्तु के उपभोक्ताओं पर पड़ता है।

एक उत्तम कर-प्रणाली की विशेषताएँ (Characteristics of a Good Tax System)—एक उत्तम कर-प्रणाली में निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिए :-

(१) कर-निर्धारण के समस्त सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए—एक उत्तम कर प्रणाली कर के समस्त सिद्धान्तों पर आधारित होनी चाहिए। कर-प्रणाली न्याय, निश्चितता, मितव्ययता, सुविधा, उत्पादकता, लोच, सरलता विभिन्नता, औचित्य आदि सिद्धान्तों से परिपूर्ण होनी चाहिये।

(२) न्यूनतम त्याग के सिद्धान्त से परिपूर्ण होनी चाहिये—एक उत्तम कर-प्रणाली को न्यूनतम त्याग के सिद्धान्त (Principle of Minimum Sacrifice) के अनुसार समाज पर कम भार होना चाहिये।

(३) उत्पादन और वितरण पर अनुकूल प्रभाव पड़ना चाहिये—एक उत्तम कर-प्रणाली वह प्रणाली है जिसका देश के उत्पादन और वितरण पर अनुकूल प्रभाव पड़ना चाहिए और यह हर प्रकार से मितव्ययता पूर्ण होनी चाहिये।

(४) सरल, उचित और लोचपूर्ण होनी चाहिये—एक उत्तम कर प्रणाली सरल, प्रायिक रूप से उचित और लोचपूर्ण होनी चाहिये जिससे कि उसमें नई आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके।

(५) कर-प्रणाली इकहरी की अपेक्षा बहुरूपी होनी चाहिये—एक उत्तम कर-प्रणाली इकहरी कर पद्धति (Single Tax System) की अपेक्षा बहुरूपी कर-पद्धति (Multiple Tax System) पर आधारित होनी चाहिये। वास्तव में, एक उत्तम कर प्रणाली का यथा सम्भव विस्तृत आधार होना चाहिये।

(६) प्रशासन की दृष्टि से सरल, योग्य तथा भ्रष्टाचार से मुक्त होनी चाहिये—एक उत्तम कर प्रणाली प्रशासन के दृष्टिकोण से सरल, योग्य तथा भ्रष्टाचार से मुक्त होनी चाहिये। यह भली प्रकार नियन्त्रित होनी चाहिए ताकि इस पर बेईमान व धोखेबाज व्यक्तियों का कोई प्रभाव न पड़ सके।

(७) प्रगतिशील होनी चाहिये—एक उत्तम कर प्रणाली को प्रगतिशील होना चाहिये। इसे व्यक्ति, समाज और सरकार के दृष्टिकोण का ध्यान रखते हुये निर्धारित किया जाना चाहिये।

(८) सद्भावनापूर्ण होनी चाहिये—एक उत्तम कर-प्रणाली पूर्ण रूप से सद्भावनापूर्ण होनी चाहिये। यह एक वास्तविक पद्धति होनी चाहिये न कि भिन्न भिन्न करों का संग्रह-मात्र। प्रत्येक कर समस्त कर-प्रणाली में ठीक ठीक जम जाना चाहिये *जिससे कि वह मिली-जुली सम्पूर्ण प्रणाली का एक अंग हो जाय। इसके द्वारा अधिकतम* सामाजिक लाभ का सिद्धान्त भली प्रकार पूर्ण होना चाहिये।

भारतीय कर-प्रणाली (Indian Tax-System)—एक उत्तम कर प्रणाली के गुणों के अध्ययन के पश्चात् यह जानना आवश्यक है कि भारतीय कर प्रणाली में वे गुण किस सीमा तक पाये जाते हैं। शासन की दृष्टि से भारतीय कर-प्रणाली सुन्दर है। धोखा देने की इसमें अधिक सम्भावना नहीं। कर प्रणाली

उत्पादक, सरल, सुविधाजनक, मितव्ययी, कोमल तथा बहुरूपी है। देश का प्रत्येक नागरिक राज्य को कुछ-न-कुछ देता ही है। कृषक लगान देता है तथा उत्पादन-कर तथा शराब-कर में श्रमिक भी हाथ बटाता है। परोक्ष करों को उचित स्थान प्राप्त है। भारतीय कर प्रणाली की लोच हम इसी से ज्ञात होती है कि हमने किस सफलता के साथ परतन्त्र तथा निर्धन होते हुए भी गत महायुद्ध का व्यय सहन किया है। परन्तु इतना होते हुए भी यह कोई आदर्श कर-प्रणाली नहीं कही जा सकती है, क्योंकि इसमें अनेक दोष पाये जाते है।

भारतीय कर-प्रणाली के दोष (Defects of Indian Tax System)–भारतीय कर प्रणाली में निम्नलिखित दोष पाये जाते है :—

(१) वैज्ञानिक ढंग से आयोजित नहीं है—भारतीय कर-प्रणाली अस्त-व्यस्त है तथा वैज्ञानिक ढंग से आयोजित नहीं है। कर-भार तथा कर का उत्पादन व वितरण पर पड़ने वाले प्रभावों पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

(२) सतुलन का अभाव है—भारतीय कर-प्रणाली संतुलित नहीं है। देश में परोक्ष करों की भरमार है। यहाँ केवल आय-कर ही मुख्य प्रत्यक्ष कर का साधन है।

(३) मितव्ययतापूर्ण नहीं है—भारतीय कर-पद्धति मितव्ययतापूर्ण नहीं है, क्योंकि यह भारतीय उद्योग और वितरण पर उचित प्रभाव नहीं डाल रही है। इसके अतिरिक्त प्रशासन सम्बन्धी अत्यधिक व्यय होता है। सुरक्षा पर इतना अधिक व्यय होता है कि राष्ट्र निर्माण कार्यों के लिये बहुत कम बच रहता है।

(४) न्यायपूर्ण नहीं है—यह कर पद्धति न्यायपूर्ण नहीं है क्योंकि लगान, चुङ्गी, आबकारी और यहाँ तक कि रेलवे किराया कुल मिलाकर निर्धनों द्वारा धनिकों की अपेक्षा अधिक दिया जाता है।

(५) प्रगतिशील नहीं है—भारतीय कर-प्रणाली प्रगतिशील भी नहीं है। भारत में आय-कर ही एक ऐसा कर है जो धनिकों द्वारा अधिक दिया जाता है किन्तु इसकी प्रगति भी इतनी ढालू नहीं है जितनी कि होनी चाहिए।

(६) अनिश्चितापूर्ण है—भारतीय कर प्रणाली अनिश्चिततापूर्ण है। इसलिये भारतीय बजट 'मानसून का जुआ' माना गया है।

(७) अनुदार तथा अर्जित और अनार्जित आय में विशेष भेद करने वाली नहीं है—भारतीय कर-प्रणाली अति अनुदार तथा अर्जित और अनार्जित आय में विशेष भेद करने वाली नहीं है।

(८) करों के आय के साधन अपर्याप्त एवं लोचहीन है—हमारे करों द्वारा आय के साधन बहुत कम हैं तथा उनमें लोच का अभाव है। केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों की आय बहुत कम है।

(९) करों की दरों में समानता का अभाव है—देश में करों की दरें सब जगह एक-सी नहीं पाई जाती हैं तथा कर-प्रणाली में उपयुक्त सामंजस्य का भी अभाव है। उदाहरण के लिये, बिक्री कर (Sales Tax) भिन्न भिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न दरों से वसूल किया जाता है। कई राज्यों में कृषि आय-कर से मुक्त है।

(१०) केन्द्रीय, राज्य तथा स्थानीय करों की आय का विभाजन दोष पूर्ण है—सबसे अधिक आय वाले कर के साधन केन्द्रीय सरकार को दिये गये हैं, राज्य सरकारों को कम और स्थानीय सरकारों को बहुत ही कम आय के साधन प्राप्त है।

सुधार के लिये सुझाव (Suggestions for Reform)—(१) हमारी कर-प्रणाली का पुनर्निर्माण एवं पुनर्संगठन आवश्यक है। कर-भार के प्रभावों का पूर्ण रूप से परोक्षण होना चाहिये। (२) प्रत्यक्ष करों का अधिक अवलम्बन लेना चाहिये। (३) भूमि-लगान, जल-शुल्क (Water Charge) जीवनार्थ आवश्यक-वस्तुओं (Necessaries of Life) आदि पर कर घटा कर और ऊँची आय पर कर की दरें बढ़ा कर भारतीय कर-प्रणाली को प्रतिगामी (Regressive) होने के दोष से बचाया जा सकता है। (४) देश के सब राज्यों में केन्द्रीय सरकार के निर्देशानुसार एक-सी (Uniform) कर-दरें होनी चाहिये। (५) सर्वजनिक व्ययों में भी घोर परिवर्तन आवश्यक है। सुरक्षा (Defence) तथा प्रशासन (Administration) सम्बन्धी व्ययों में भारी कमी की जाय और सामाजिक सेवाओं व राष्ट्र-निर्माण सम्बन्धी कार्यों में अधिक व्यय किया जाय। (६) करों का भार योग्यता तथा बलिदान के आधार पर वितरित करना चाहिये। वर्तमान कर-प्रणाली को अधिक मितव्ययी, लोचपूर्ण तथा न्यायपूर्ण बनाना चाहिये।

अनुपातिक प्रगतिशील और प्रतिगामी कर-प्रणालियाँ (Proportional, Progressive & Regressive Tax System)—अनुपातिक कर-प्रणाली के अन्तर्गत कर आय के अनुपात से निर्धारित होता है, अर्थात् अनुपातिक कर वह है जिसमें आय का चाहे जो भी आकार हो वही दर व प्रतिशत लिया जाता है। उदाहरणार्थ २,००० रु० वार्षिक आय वाले व्यक्ति पर ५% के हिसाब से १०० रुपया कर लगाया जाता है, तो २०,००० रुपये की आय पर वह १,००० रु० होगा।

प्रगतिशील कर-प्रणाली—इस प्रणाली के अन्तर्गत कर की दर आय के साथ-साथ बढ़ती है। प्रगतिशील कर का सिद्धान्त यह है कि जितनी अधिक आय हो उतना ही अधिक कर होता है और उसकी दरें भी आय की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ती है। एक निर्धन व्यक्ति के लिये एक रुपये का मूल्य एक धनिक की तुलना में कहीं अधिक है, उदाहरणार्थ, यदि २००० रु० वार्षिक आय पर ५% से १०० रु० और २०,००० रु० पर १०% से २,००० रु० कर हों, अर्थात् अनुपात से अधिक हों, तो उसे प्रगतिशील कर कहा जायेगा। आजकल प्रगतिशील कर प्रणाली के औचित्य को सभी स्वीकार करते है। आधुनिक राजस्व शास्त्रियों के अनुसार प्रगतिशील कर-प्रणाली द्वारा ही समानता या योग्यता के सिद्धान्त की रक्षा की जा सकती है। प्रो० मार्शल ने विनरणात्मक दृष्टि से इसकी पुष्टि की है और कीन्स ने प्रगतिशील कर-प्रणाली को पूर्ण रोजगार नीति का अभिन्न अंग माना है। निस्सन्देह प्रगतिशील कर-प्रणाली को विभिन्न वर्गों की आय को समानता की ओर ले जाने का उत्तम साधन बनाया जा सकता है।

प्रतिगामी कर-प्रणाली—जब कर आय के अनुपात से कम अनुपात पर लगाया जाता है, तो उसे प्रतिगामी कर कहते हैं। अन्य शब्दों में, जब कर का भार धनवानों की अपेक्षा निर्धनों पर अधिक पड़ता है, तो वह प्रतिगामी कर कहलाता है। यह प्रगतिशील कर का बिल्कुल उल्टा है। उदाहरणार्थ, यदि २,००० रु० वार्षिक आय

पर ५% से १०० रु० कर है और २०,००० रु० आय पर ३% से ६०० रु० कर लिया जाय, तो उसे प्रतिगामी कर कहेंगे। कोई भी सभ्य एवं विवेकशील सरकार ऐसा कर नहीं लगाती जिसमें आय के बढ़ने के साथ कर घटता जाता हो। यह अनुचित होगा। परन्तु वस्तुओं पर लगने वाले ऐसे बहुत-से कर हैं जिनका भार मुख्यतः निर्धनों पर ही पड़ता है। भारतीय नमक-कर भी प्रतिगामी कर माना जाता था, क्योंकि उसका भार धनवानों की अपेक्षा निर्धनों पर ही अधिक था। वास्तव में इस कर का धनवानों को तनिक भी अनुभव नहीं होता।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इन्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

२—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों का अन्तर स्पष्ट कीजिये और प्रत्येक के लाभ तथा हानियाँ बताइये। (रा० बो० १९६०, ५७)

३—कर किसे कहते हैं ? शुल्क (Fees) और मूल्य (Price) से इसका अन्तर स्पष्ट कीजिये। अच्छे कर के गुणों का वर्णन करिये। (रा० बो० १९५३)

४—एक अच्छी कर प्रणाली की क्या विशेषताएं हैं ? भारतीय कर-प्रणाली की व्याख्या करिये। (रा० बो० १९४९)

५—कर क्या है ? प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों में अन्तर स्पष्ट करिये। उदाहरण भी दीजिये। (अ० बो० १९५२)

६—एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित कर सिद्धान्तों का उल्लेख करिये। (सागर १९४८, नागपुर १९५१, अ० बो० १९५६, ५१, ४३)

७—प्रत्यक्ष और परोक्ष करों का आशय समझाइये और इनके सापेक्षिक लाभ हानियों का वर्णन करिये। भारत सरकार ने कौन कौन प्रत्यक्ष और परोक्ष कर लगा रखे हैं ? (अ० बो० १९४९ ४७ ४५ ४१)

८—कर सघात और कर भार का अन्तर स्पष्ट करिये। उत्तर में तीन भारतीय उदाहरण दीजिये।

९—कर की परिभाषा लिखिये और कर के मुख्य लक्षणों का वर्णन करिये।

१०—प्रत्यक्ष और परोक्ष करों का अन्तर बताइये। इसमें किसको प्राथमिकता दी जानी चाहिये और क्यों ? भारतीय कर प्रणाली के विभिन्न करों को उपर्युक्त दो श्रेणियों में वर्गीकृत कीजिये। (म० भा० १९५७)

११—करारोपण के 'सामर्थ्य सिद्धान्त' (Canon of Ability) को समझाइये। भारत में इसका पालन किन करों में होता है ? (सागर १९५२, म० भा० १९५३)

१२—कर की परिभाषा लिखिये और कर के सिद्धान्तों का वर्णन करिये।

इन्टर एग्रीकल्चर परीक्षा

१३—कर लगाने के सिद्धान्त क्या हैं ? बिक्री कर लगाना कहाँ तक उचित है ?

अध्याय ६६

भारत में केन्द्रीय राजस्व

(Central Finance in India)

भारतीय राजस्व की विशेषताएं (Characteristics of Indian Finance)—भारतीय राजस्व निम्नलिखित बातों से प्रभावित होता है —

१ कृषि उद्योग की प्रधानता—भारत के अधिकांश निवासी ग्रामीण हैं और अपने उपभोग की अधिकांश वस्तुएं स्वयं ही उत्पन्न करते हैं। उन्हें केवल लोहा, नमक, दियासलाई, मिट्टी के तेल आदि के लिये दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। अत सरकार उन्हीं वस्तुओं पर कर लगा सकती है जो वहाँ जाती हैं।

२ कृषि निर्भरता—भारतवर्ष की अधिकांश जनता कृषि पर निर्भर है और कृषि स्वयं अनिश्चित वर्षा पर निर्भर होती है। अत भारतीय कृषि 'वर्षा का जुआ' बना हुआ है। इस अनिश्चितता के कारण केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के बजट भी अनिश्चित रहते हैं। अनावृष्टि के कारण मालगुजारी की आय छूट के कारण कम हो जाती है किसानों को तकावी ऋण देना पड़ता है तथा अकाल पीड़ितों की सहायता का प्रबन्ध करना पड़ता है। केन्द्रीय वित्त मन्त्री को भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है क्योंकि आयात करों और उत्पादन करों की आय घट जाती है। रेलों की आय भी कम हो जाती है।

३ निर्धनता—भारतवर्ष एक निर्धन देश होने के कारण यहाँ के निवासियों की कर देने की शक्ति बहुत कम है जिससे सरकार को पर्याप्त आय प्राप्त नहीं होती है। इस प्रकार भारत सरकार की आय के साधन सीमित होने से वह स्वास्थ्य, शिक्षा तथा अन्य जनोपयोगी कार्यों पर अधिक व्यय नहीं कर सकती।

४. केन्द्रीय सरकार पर अत्यधिक निर्भरता—भारतीय जनता प्राचीन काल से ही केन्द्रीय सरकार की मुखापेक्षी रही है। वह सभी कार्यों के लिये आशा केन्द्रीय सरकार से ही करती है। अत भारत में केन्द्रीय राजस्व अधिक महत्वपूर्ण बना हुआ है। इस कारण भारतवर्ष में स्थानीय राजस्व का समुचित विकास नहीं हुआ है।

५ भारतीय बजट पर सेना व्यय का अत्यधिक प्रभाव—केन्द्रीय सरकार की आय का एक काफी बड़ा भाग सेना पर खर्च किया जाता है जिसके कारण राष्ट्र निर्माण सम्बन्धी कार्यों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता।

केन्द्र और राज्यों का राजस्व सम्बन्ध—२६ नवम्बर १९४९ को स्वतन्त्र भारत का नया संविधान स्वीकृत हुआ और २६ जनवरी १९५० से वह भारतीय गणराज्य में लागू हुआ। नये संविधान में अपनायी गई वित्त व्यवस्था साधारणतया सन १९३५ के विधान में दी हुई व्यवस्था पर ही आधारित है। भारतवर्ष एक संघीय राज्य है।

केन्द्र के अतिरिक्त अ ब स द श्रेणियों के कई राज्य कुछ बातों में पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। केन्द्र तथा राज्यों के मध्य कुछ आर्थिक सम्बन्ध स्थापित हैं। इस सम्बन्ध का आधार केन्द्र और राज्य की सरकारों के कार्य विभाजन पर निर्भर है। जो कार्य केन्द्र को करने हैं उनके व्यय का उत्तरदायित्व भी केन्द्र पर ही आता है और उनकी आय भी उसी को मिलती है। इसी प्रकार जो कार्य राज्य के करने के हैं उनसे सम्बन्धित व्यय तथा आय का उत्तरदायित्व राज्यों पर है। इसके अतिरिक्त, भारतीय संविधान में इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि केन्द्र और राज्य दोनों को आय के पर्याप्त साधन प्राप्त हों। विशेष परिस्थितियों में केन्द्र द्वारा राज्य को आर्थिक सहायता देने का भी विधान किया गया है। राज्यों की राजस्व व्यवस्था पर केन्द्र को आवश्यक नियन्त्रण रखने का भी अधिकार प्राप्त है।

भारतीय राजस्व के प्रकार—भारतीय राजस्व मुख्यतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) केन्द्रीय राजस्व, (२) राज्यों का राजस्व, और (३) स्थानीय राजस्व।

(१) केन्द्रीय राजस्व (Central Finance)—केन्द्रीय सरकार के आय व्यय को केन्द्रीय राजस्व कहते हैं। इसके अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार के आय के साधनों और व्यय की मदों का अध्ययन किया जाता है।

(२) राज्यों का राजस्व—इसके अन्तर्गत राज्य सरकारों की आय के साधनों और उनके व्यय के मदों का अध्ययन किया जाता है।

(३) स्थानीय राजस्व (Local Finance)—इसके अन्तर्गत स्थानीय शासन संस्थाओं जैसे नगरपालिका, जिला परिषद् तथा ग्राम पंचायतों के आय-व्ययों का अध्ययन किया जाता है।

केन्द्रीय सरकार के आय के मुख्य साधन (Main Sources of Revenue of the Central Government)—नये संविधान के अनुसार भारतवर्ष में केन्द्रीय सरकार की आय के मुख्य साधन निम्नलिखित हैं :—

१. आयात-निर्यात कर (Customs & Duties)—यह एक परोक्ष कर (Indirect Tax) है जो देश के बाहर जाने वाली तथा देश के भीतर आने वाली वस्तुओं पर लगाये जाते हैं। इन्हें क्रमशः निर्यात कर (Export Duties) और आयात कर (Import Duties) भी कहते हैं।

आयात निर्यात कर का मुख्य उद्देश्य सरकार के राजस्व की पूर्ति करना है। परन्तु आयात-कर देश के उद्योग-धन्धों को संरक्षण (Protection) देने के लिए भी लगाये जाते हैं। सन् १९१४ से पूर्व हमारे यहाँ आयात करों का मुख्य उद्देश्य राजस्व ही था, परन्तु प्रथम महायुद्ध के पश्चात् देश में भारतीय उद्योग धन्धों के संरक्षण के लिए प्रबल आन्दोलन हुआ जिसके परिणामस्वरूप सरकार को कई वस्तुओं को संरक्षण प्रदान करना पड़ा। सरकार द्वारा नियुक्त प्रशुल्क मण्डल (Tariff Board) समय समय पर इस सम्बन्ध में सरकार को सिफारिश करता रहता है।

आयात-निर्यात कर दो प्रकार से लगाये जाते हैं—मूल्यानुसार और परिमाणानुसार। (१) मूल्यानुसार कर (Ad Valorem) मूल्य के प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है। (२) परिमाणानुसार कर (Specific Duty) संख्या, वाक्

या विस्तार के अनुसार लगाया जाता है। भारतवर्ष में अधिकांश आयात-निर्यात कर मूल्यानुसार ही लगाया जाता है।

आयात-निर्यात कर संघीय सरकार की आय का मुख्य साधन है। इससे कुल आय का लगभग ४०% प्राप्त होता है। द्वितीय महायुद्ध से कुछ पूर्व अर्थात् सन् १९३८-३९ और सन् १९३९-४० में आयात-निर्यात कर से आय क्रमशः ४०·५१ और ४३·९४ करोड़ रुपये की थी। महायुद्ध काल में तथा उसके उपरान्त इन करों की दरों में पर्याप्त वृद्धि कर दी गई और अनेक नई वस्तुओं पर यह कर लगा दिये गये हैं जिनसे इस कर द्वारा भारत सरकार की आय बढ़ गई है। यह वृद्धि निम्नांकित सारणी से स्पष्ट हो जाती है :—

वर्ष	आय (करोड़ रु०)	वर्ष	आय (करोड़ रु०)
१९४६-४७	८९·२	१९५५-५६	१६५·००
१९४८-४९	१२६·२	१९५८-५९	१३६·००
१९५०-५१	१५७·२	१९५९-६०	१६० ००
१९५३-५४	१७०·०	१९६०-६१	१६०·००

गुण (Merits)—(१) आयात-निर्यात कर संघीय सरकार की आय के मुख्य साधन है। (२) ये सुविधाजनक होते है। (३) इनमे लोच होती है। (४) ये उत्पादक भी है। (५) राजनैतिक भावना को जाग्रत करने के लिए ये कर निर्धनों से भी वसूल किये जा सकते है। (६) यह कर सरलता से नहीं टाले जा सकते।

दोष (Demerits)—(१) आयात-निर्यात करों का भार निर्धनों पर अधिक पड़ता है। (२) ये कर अनिश्चित होते है जिससे उनके द्वारा होने वाली आय का ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। (३) ये कर मितव्ययतापूर्ण नहीं होते है क्योंकि सरकार और अन्तिम कर-दाता के बीच में कई मध्यस्थ होते है जिससे वस्तु का मूल्य कर की मात्रा से अधिक बढ़ जाता है। ये कर दाताओं में नागरिक भावना जाग्रत करने में अधिक सफल नहीं होते है क्योंकि कर दाताओं को यह ज्ञान नहीं होता है कि वे सरकारी कोष में कर के रूप में कुछ दे रहे हैं।

केन्द्रीय उत्पादन कर (Central Excise Duties)—देश में उत्पन्न की जाने वाली वस्तुओं पर जो कर लगाया जाता है, उसे उत्पादन कर कहते है। उत्पादन-कर केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारें दोनों ही लगाती है। राज्य सरकारें तो केवल देशी शराब, भांग, गांजा आदि जैसी नशीली वस्तुओं के उत्पादन तथा बिक्री पर यह कर लगाती है और शेष समस्त वस्तुओं पर केन्द्रीय सरकार कर लगाती है। इस समय में हमारे देश में केन्द्रीय सरकार द्वारा शक्कर, दियासलाई, मोटर, स्प्रिट, मिट्टी का तेल, फौलाद, ट्यूब-टायर, तम्बाकू, वनस्पति घी, कहवा, चाय, कोयला, सायकिल, सुपाड़ी, सूती वस्त्र कागज आदि पर उत्पादन-कर लगाया जाता है। उत्पादन-कर से भी केन्द्रीय सरकार की आय में पर्याप्त वृद्धि हुई है। जहाँ सन् १९३७-३८ में उत्पादन कर से लगभग ६ करोड़ रुपये की आय थी, वहाँ सन् १९५४-५५ में १०८·२२ करोड़ रुपये प्राप्त किये गये और सन् १९६०-६१ में ३९१·४१ करोड़ रुपये की

आया हुआ है। निम्न तालिका द्वारा उत्पादन कर से होने वाली आय तुलनात्मक दृष्टि से देखी जा सकती है —

वर्ष	आय (करोड रुपयों में)	वर्ष	आय (करोड रुपयों में)
१९३९-४०	६·१३	१९५६-५७	१४५·४५
१९४६-४७	४३·००	१९५८-५९	३०१·१५
१९५०-५१	७१·४०	१९५९-६०	३५०·८२
१९५५-५६	१४०·००	१९६०-६१	३६१·४१

केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा उत्पादन-कर लगाने की समस्या— जिस वस्तु का बाजार राष्ट्रीय है उस पर उत्पादन-कर केन्द्रीय सरकार लगाये तथा जिस वस्तु का बाजार प्रादेशिक है उस पर उत्पादन कर प्रादेशिक या राज्य सरकार लगाये तब तो यह ठीक है कि यह कर दोनों सरकारों द्वारा लगाया जाना चाहिये परन्तु अब राज्य सरकारों का उत्तरदायित्व दिनों दिन बढ रहा है, उन्हें अधिक खर्च की आवश्यकता है। इसलिये यदि सब प्रकार के उत्पादन-कर लगाने का अधिकार राज्य सरकारों को दे दिया जाय, तो बहुत ही अच्छा है। इसके अतिरिक्त, कारखानों से उत्पन्न बहुत सी समस्याओं का हल राज्य-सरकारों को ही करना पडता है जिसके लिये राज्यसरकारों को बहुत-सा रुपया व्यय करना पडता है। अस्तु, इन कारखानों में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं पर जो उत्पादन कर लगाया जाय उसकी आय भी राज्य सरकारों को ही मिलनी चाहिये। एक बात और भी है कि नशीली वस्तुओं पर आजकल प्रतिबन्ध लगाया जा रहा है जिससे इनका उपभोग तथा उत्पादन धीरे-धीरे कम हो जायगा। फलतः उत्पादन कर भी कम हो जायगा जिससे राज्य सरकारों को घाटा पडने लगेगा। अतः इसको पूरा करने के लिये यह कर राज्य सरकारों को सौंप दिया जाय।

स्वदेशी उद्योगों के संरक्षण से भारी आयात कर की आवश्यकता पडी जिसके फलस्वरूप आयात गिरे और सरकार की आय कम होने लगी। इस कमी को पूरा करने के लिये उत्पादन-कर लगाये गये जैसे तम्बाकू, सिगरेट, रूई तथा वस्त्र, शक्कर, दियासलाई, टायर, चाय, कोयला, मोटर स्प्रिट, वनस्पति उपज, इस्पात की वस्तुएं, साबुन, सुपारी, कागज आदि। करदोपरा जाँच आयोग के मतानुसार मिट्टी के तेल, चीनी, दियासलाई, चाय तथा कपडे पर तो करों की दर बढाई जाये तथा साथ-साथ सिलाई की मशीन, तेल, ऊनी वस्त्र, बिस्कुट, बिजली के बल्ब पर नीची दरों से उत्पादन कर लगाना उपयुक्त है।

उत्पादन-कर के गुण—यह कर परोक्ष कर (Indirect Tax) है। इसके निम्नलिखित लाभ हैं :—

(१) यह कर सुविधाजनक है, क्योंकि इसके वस्तुओं के साथ मिले रहने से कर-दाता को इसका ज्ञान भी नहीं होता। (२) नागरिक भावना को जाग्रत करने के लिये यह निर्धनों से भी वसूल किया जा सकता है। (३) यह लोचदार भी होता है,

क्योंकि यह जीवनार्थ आवश्यक वस्तुओं पर लगाये जाते हैं। (४) इसे सरलता से टाला नहीं जा सकता।

दोष—(१) विलास वस्तुओं के अतिरिक्त यह जीवनार्थ आवश्यक वस्तुओं पर भी लगाया जाता है, इसलिये इसका भार अधिकतम निर्धनों पर पड़ता है। (२) यह मितव्ययतापूर्ण नहीं होता है, क्योंकि सरकार और अन्तिम करदाता के बीच में कई मध्यस्थ आ जाते हैं और वे वस्तु के मूल्य को कर की मात्रा से अधिक बढ़ा देते हैं। (३) यह कर अनिश्चित भी होता है, क्योंकि इसके द्वारा होने वाली आय का ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। (४) यह औद्योगिक विकास में अवरोधक सिद्ध होता है।

सन् १९५२ के वित्त आयोग (Finance Commission) ने हाल ही में यह प्रस्तावित किया है कि तम्बाकू दियासलाई और वनस्पति उत्पत्ति के संघीय उत्पादन कर की शुद्ध आय का ४०% भाग राज्यों को उनकी जन-संख्या के अनुपात में बाँट देना चाहिये।

आय कर (Income Tax)—भारत सरकार की आय का मुख्य साधन आय कर है। यह कर भारतवर्ष में सबसे प्रथम सन १८६० ई० में सन् १८५७ के गदर द्वारा हुई आर्थिक हानि को पूरा करने के लिये लगाया गया था, परन्तु सन् १८६५ में यह स्थगित कर दिया गया इसके स्थान में सन् १८८६ में धन्धों और व्यापारों पर कर लगाया गया जो उसी वर्ष में पुनः आय कर में परिवर्तित कर दिया गया। इस प्रकार आय कर एक स्थायी आय का साधन सन १८८६ से ही प्रारम्भ हुआ। कोष की आवश्यकतानुसार समय-समय पर आय कर की दरों में परिवर्तन होता रहा है। सन् १९१६ में प्रथम बार प्रगतिशीलता के सिद्धान्त (Principle of Progression) का समावेश किया गया था। सन् १९२२ में एक विस्तृत आय कर विधान पास किया गया और उसमें समय समय पर परिवर्तन किये गये। सन १९३९ में पाट प्रणाली (Slab System) को अपनाया गया।

आजकल यह कर सन् १९२२ के आय कर विधान के अन्तर्गत लगाया जाता है। आय कर संग्रह करने का उत्तरदायित्व भारत सरकार के ऊपर है, परन्तु खर्चा काटने के पश्चात् जो शुद्ध आय रहती है उसका ५५% भाग राज्य सरकारों में निम्न प्रकार वितरित कर दिया जाता है —

राज्य	आय कर	मृत्यु कर
आसाम	२'४४	३ ४६
बिहार	९'९४	१० ५७
बम्बई	१५ ९७	१२'१७
मध्य प्रदेश	६ ७२	७ ४६
मद्रास	८'४०	७ ५६
मैसूर	५'१४	६ ५२
उड़ीसा	३ ७३	४ ४६
पश्चिमी बगाल	१० ०८	७'५९
आंध्र प्रदेश	८'१२	९ ३८
केरल	३ ६४	३ ८४

राजस्थान	....	४·०९	४·७१
उत्तर प्रदेश	....	१६·३६	१५·६४
जम्मू काश्मीर	...	१·१३	१·७५
		१००·००	१००·००

आयकर उन्ही व्यक्तियो पर लगाया जाता है जिनकी वार्षिक आय ३००० रु० से अधिक हो। संयुक्त हिन्दू परिवार (Joiut Hiudu Family) पर आय-कर तभी लग सकता है जब उसकी आय ६००० रु० से अधिक हो। वर्तमान आय-कर की दरें निम्नलिखित हैं —

कुल आय के	३००० रु० पर	..	कुछ नहीं
आय के अगले	२००० रु० पर	.	३ प्रतिशत
आय के अगले	२५०० रु० पर	...	६ ,,
आय के अगले	२५०० रु० पर	....	९ ,,
आय के अगले	२५०० रु० पर	...	११ ,,
आय के अगले	२५०० रु० पर	.	१४ ,,
आय के अगले	५००० रु० पर	..	१८ ,,

अब अर्जित आय (Earned Incomc) नहीं होती है उसके स्थान पर बच्चो का लाभ (Childrens' Benefit) मिलता है। एक बच्चे पर ३०० रु० और दो पर ६०० रु० और यदि अधिक भी हो तो ६०० रु० ही कुल आय में और शुमार हो जायेंगे। उदाहरणार्थ, यदि व्यक्ति के ४ बच्चे हैं तो उसकी पहले ३६०० रु० की आय पर कुछ भी आय कर नहीं लगेगा और बाद की आमदनी पर ऊपर दी हुई प्रणाली के अनुसार कर लगेगा। इसी प्रकार जीवन बीमा किश्त के लिये दी गई राशि पर भी कर की छूट (Rebate) दी जाती है, परन्तु ऐसी कुल राशि आय के चौथे भाग से अधिक नहीं हो। बीमा किश्तों पर अधिकतम ६,००० रु० तक छूट मिल सकती है। जिन व्यक्तियों की आय २०,००० रु० से अधिक होती है उनको आय-कर के अलावा अतिरिक्त-कर (Super-Tax) भी देना पड़ता है जो सम्पूर्ण केन्द्रीय सरकार द्वारा रख लिया जाता है। युद्धकाल में आय कर के अतिरिक्त अधिक लाभ कर (Excess Profit Tax) लागू किया गया था, परन्तु अब यह कर स्थगित कर गया है।

वर्ष		आय (करोड़ रु० में)	वर्ष	आय (करोड़ रु० में)
१९४६-४७	...	८७·५	१९५८-५९	१६२·५०
१९५३-५४	...	९५·७४	१९५९-६०	१५२·५०
१९५६-५७	....	१५१·७४	१९६०-६१	१३५·००

आय कर के गुण—(१) आय-कर सबसे अच्छा प्रत्यक्ष-कर (Direct Tax) है। (२) यह करदाता की सामर्थ्य के अनुसार लगाया जाता है। (३) इसका भार धनिक व्यक्तियों पर पड़ता है। (४) यह न्यायपूर्ण है, क्योंकि जिस व्यक्ति के ऊपर अन्तिम भार पड़ता है उसका ठीक ठीक निर्णय किया जा सकता है। (५) यह

लोचदार है, क्योंकि आय के घटने-बढ़ने के साथ साथ यह भी घटाया-बढ़ाया जा सकता है। (६) यह कर निश्चित है। (७) यह कर मितव्ययतापूर्ण भी है, क्योंकि कर-संग्रह का व्यय कम पड़ता है। (८) इससे नागरिक भावना जाग्रत होती है।

दोष—(१) कुछ अंश तक यह कर असुविधाजनक होता है, क्योंकि कर-दाता को हिसाब-किताब रखने और फार्म भरने आदि में पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। (२) यह ईमानदारी पर लगाया गया कर है। करदाता झूठा हिसाब-किताब रख कर इससे बच सकता है। (३) यह गृहस्थी के सदस्यों की संख्या पर कोई ध्यान नहीं देता। इससे अधिक व्यक्ति वाले परिवार पर इसका भार अधिक पड़ता है। (४) यह उपार्जित और अनुपार्जित वृद्धि में पर्याप्त अन्तर नहीं करता। (५) कृषि-आय पर केन्द्रीय आय कर नहीं लगता। कृषि-आय के कर मुक्त रहने का कोई न्यायपूर्ण कारण नहीं है।

निगम या कम्पनी कर (Corporation Tax)—वह कर होता है जो सीमित दायित्व वाली संयुक्त पूँजी की कम्पनियों पर इसलिये लगाया जाता है कि इन कम्पनियों को कानून से विशेष सुविधाएँ मिली हुई होती है जिनके कारण वे अधिक पूँजी एकत्रित कर सकती हैं। सब कम्पनियों को समान सुविधाएँ होने से समान कर देना होता है। इस कारण यह अनुपातिक-कर (Proportional Tax) है। भारत में सब कम्पनियों को यह कर देना होता है और कोई न्यूनतम सीमा कर देने की नहीं है। कम्पनियों के कुल शुद्ध लाभ पर यह कर लगता है। कम्पनियों पर लगने वाला एक प्रकार से अतिरिक्त लाभ (Super-Tax) ही कॉरपोरेशन कर है। अतिरिक्त कर की भांति कॉरपोरेशन कर भी राज्यों में वितरित नहीं किया जाता है बल्कि सम्पूर्ण राशि केन्द्रीय सरकार द्वारा ही रख ली जाती है। इस समय इससे केन्द्रीय सरकार को लगभग १३५ करोड़ रुपयों की वार्षिक आय होती है। कॉरपोरेशन-कर द्वारा केन्द्रीय सरकार की विगत वर्षों की आय निम्न प्रकार है :—

वर्ष		आय (करोड़ रु० में)	वर्ष		आय (करोड़ रु० में)
१९५१-५२	....	३२·७३	१९५८-५९	...	५६·००
१९५३-५४	...	३८·४०	१९५९-६०	..	७८·००
१९५६-५७	...	५१·१८	१९६०-६१	.	१३५·००

अफीम कर (Opium Duty)—अफीम के उत्पादन तथा वितरण दोनों ही पर भारत सरकार का एकाधिकार है। पोस्त को लाइसेंस (अनुज्ञा पत्र) लेकर ही बोया जा सकता है और उसका लाइसेन्स लेने वाले को अपना सम्पूर्ण उत्पादन सरकार के हाथ बेचना पड़ता है। इसको सरकारी कारखानों में बनाया जाता है। सरकार को इसके लाभ पर एकाधिकार से आय होती है। पहले भारतवर्ष से करोड़ों रुपये की अफीम चीन को जाती थी और इससे बड़ी आय होती थी। अब चीनी लोगों ने अफीम खाना बन्द कर दिया है केवल औषधियों के लिये थोड़ी अफीम विदेशों को भेजी जाती है। अतः इस स्रोत से आय बहुत कम होती है। सन् १९५३-५४ में १·९६ करोड़ और सन् १९५७-५८ में ३·२८ करोड़ रुपयों की आय हुई। सन् १९६०-६१ में इस मद में ५·९१ करोड़ रुपयों की आय का अनुमान लगाया गया है।

सम्पदा शुल्क (Estate Duty)—वह कर है जो किसी मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति (चल और अचल) के मूल्य पर कानून द्वारा निश्चित सीमा से अधिक राशि होने पर लगाया जाता है। इसे उत्तराधिकार (Inheritence) भी कहते हैं। मृत्यु-कर भारतीय संसद द्वारा सन् १९५३ में स्वीकृत किया गया तथा १५ अक्टूबर १९५३ से लागू किया गया। इसका उद्देश्य आर्थिक विषमता दूर करना है। मृत्यु कर मनुष्य की समस्त चल और अचल सम्पत्ति पर निम्न प्रकार लगाया गया है :—

प्रथम ५०,००० रु० पर कुछ नहीं	
५०,००० रु० से १ लाख रु०	.... ५%
१ लाख रु० से १½ लाख रु०	.... ७½%
१½ लाख रु० से २ लाख रु०	.... १०%
२ लाख रु० से ३ लाख रु०	....१२½%
३ लाख रु० से ५ लाख रु०	.... १५%
५ लाख रु० से १० लाख रु०	.... २०%
१० लाख रु० से २० लाख रु०	.... २५%
२० लाख रु० से ३० लाख रु०	.... ३०%
३० लाख रु० से ५० लाख रु०	.... ३५%
५० लाख रु० से ऊपर....	.... ४०%

वर्ष		आय (लाख रु०)
१९५५–५६	....	१८१
१९५८–५९	....	२५०
१९५९–६०	....	२८५
१९६०–६१	....	३००

धन कर (Wealth Tax)—वह कर है जो किसी मनुष्य की सम्पूर्ण सम्पत्ति (चल या अचल) पर कानून द्वारा निश्चित सीमा से अधिक राशि होने पर लगाया जाता है। सम्पत्ति कर भारतीय संसद द्वारा सन् १९५७ में स्वीकृत किया गया तथा १ अप्रैल १९५७ से लागू किया गया। सम्पत्ति-कर मनुष्य की समस्त चल और अचल सम्पत्तियों पर निम्न प्रकार लगाया गया है :—

प्रथम २ लाख रु०	....	कुछ नहीं
२ लाख से १० लाख तक	...	½ प्रतिशत
१० लाख से २० लाख तक	....	१ प्रतिशत
२० लाख से अधिक पर	....	१½ प्रतिशत

सन् १९५९–६० में इस कर से १२ करोड़ रु० की आय हुई और सन् १९६०–६१ में ७० करोड़ रु० की आय का अनुमान लगाया गया है।

उपहार-कर (Gift Tax)—वह कर है जो किसी मनुष्य पर, यदि वह १०,००० रु० से अधिक किसी व्यक्ति को दान के रूप में देता है, तो सरकार उस पर निश्चित की गई प्रणाली के अनुसार टैक्स लगाती है। दान-कर भारतीय संसद द्वारा सन् १९५८ में स्वीकृत किया गया तथा १ अप्रैल १९५८ से लागू किया गया। सन् १९५८–५९ में इस कर से ३ करोड़ रु० की आय का अनुमान लगाया गया है।

व्यय-कर (Expenditure Tax)—यदि कोई व्यक्ति अपनी आय मे से ६०,००० रु० प्रतिवर्ष से अधिक खर्च करता है तो सरकार इस सीमा से अधिक राशि खर्च करने पर निश्चित दरो से टैक्स लगाती है। व्यय कर भी १ अप्रैल १९५८ से शुरू हो गया है। इस कर से सन् १९६०-६१ मे ६० लाख रु० का अनुमान लगाया गया है।

नमक-कर (Salt Tax)—यह एक बहुत पुराना परोक्ष कर है जो भारतवर्ष मे अंग्रेजो के पहले से ही चला आ रहा है। इस कर से भारतवासी बड़े असन्तुष्ट थे। इसलिए स्वर्गीय महात्मा गांधी ने सन् १९३१ मे नमक कर तोड़ने का आन्दोलन चलाया। इस कारण जब भारतीय नेताओ ने भारत की बागडोर सँभाली तो १ अप्रैल १९४७ से इस कर को हटा दिया और अब नमक बनाने के लिए न किसी लाइसेंस की आवश्यकता है और न कर ही देना आवश्यक है।

नमक कर के पक्ष की तर्कें—(१) नमक कर से केन्द्रीय सरकार को प्रति वर्ष लगभग ९ करोड़ रुपये की आय हो जाती थी। (२) यह एक परोक्ष कर है और करदाता इसे अनुभव नहीं करते। (३) इसका कर भार बहुत ही कम है अर्थात् यह प्रति मनुष्य प्रति मास १ पैसा यानी ३ आने प्रति वर्ष पड़ता है जो कुछ भी भार नहीं है। (४) प्रत्येक नागरिक को कुछ न कुछ कर सरकार को देना ही चाहिये। इस दृष्टि से भारत जैसे निर्धन देश में निर्धनो से भी कर वसूल करने के लिए नमक कर ही सर्वोत्तम साधन है। (५) यह एक पुराना कर है। पुराना कर एक अच्छा कर समझा जाता है, क्योकि लोग इसके आदी हो जाते हैं और वह उन्हे अखरता नही है।

नमक कर के विपक्ष की तर्कें—(१) नमक का प्रयोग स्वास्थ्यप्रद जीवन के लिये आवश्यक होने से इस पर कर लगाना सैद्धान्तिक दृष्टि से अवांछनीय है। (२) यह प्रतिगामी कर (Regressive Tax) है, क्योकि इसका भार धनवानो की अपेक्षा निर्धनों पर अधिक पड़ता है। (३) यह न्यायपूर्ण नहीं है। निर्धन नमक का उपभोग अधिक मात्रा मे करते हैं, इसलिये उन्हे यह कर अधिक मात्रा मे देना पड़ता है। (४) इस कर के प्रति जन साधारण का विरोध रहता है।

निष्कर्ष—नमक कर का देश के स्वतन्त्रता संग्राम से अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। स्वर्गीय राष्ट्रपिता का नमक कर विरोधी आन्दोलन भारतवर्ष की स्वाधीनता मे अपना गौरवपूर्ण स्थान रखता है। अत नमक कर को पुन लगा देना महात्मा गांधीजी की आत्मा को कष्ट पहुँचाना होगा।

बिना कर के आय के साधन (Sources of Non tax Revenue)

सरकारी व्यवसाय (State Enterprizes)—भारत सरकार के व्यापारिक विभागो मे रेल, डाक व तार, चल मुद्रा और टकसाल मुख्य हैं।

रेलें (Railways)—सन् १९०० तक भारतीय रेलें घाटे मे चलती रही थी। इसके पश्चात् रेलो ने लाभ कमाना प्रारम्भ किया और वे केन्द्रीय सरकार की आय का मुख्य साधन बन गई। सन् १९३१ तक रेलो ने कुल ४२ करोड़ रुपये सरकार को दिये। १५ अगस्त सन् १९४७ के पश्चात् ७ मास तक रेलो का किसी प्रकार का कोई लाभ न हुआ किन्तु २.७५ करोड़ रुपये का घाटा हुआ जो रेलवे के सुरक्षित कोष में से

पूरा किया गया। सन् १९५९-६० में ५·७५ करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार को रेल विभाग में अंशदान प्राप्त हुआ। सन् १९६०-६१ में ५·६४ करोड़ रु० की आय का अनुमान लगाया गया है।

डाक व तार (Post & Telegraph)—यह आय का अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन नहीं है। ये विभाग मुख्यतया जन-कल्याण के लिये ही चलाये जाते हैं। सन् १९५३-५४ तथा सन् १९५७-५८ में इन विभागों से होने वाली आय क्रमशः २·४० और १·२३ करोड़ रुपये थी। सन् १९६०-६१ में ४७ लाख रु० की आय का अनुमान लगाया गया है।

चल मुद्रा और टकसाल (Currency & Mint)—मुद्रा और टकसाल भी सरकार की आय का एक प्रमुख साधन है। भारत में सांकेतिक सिक्कों का ही चलन है जिसमें सरकार को लाभ होता है। रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने से अब उसकी कुल आय भारत सरकार को ही मिलती है। राष्ट्रीयकरण के पूर्व भी इसमें अंशधारियों में एक निश्चित दर से लाभ विभाजित किया जाता था और उससे अधिक लाभ भारत सरकार को ही मिलता था। सन् १९३८-३९ में केन्द्रीय सरकार को २० लाख रुपये रिजर्व बैंक से लाभ के रूप में मिले। सन् १९४८-४९ में यह बढ़ कर ६·८ करोड़ रुपये हो गये। सन् १९५३-५४ और सन् १९५४-५५ में इस मद की आय क्रमशः १५·७४ और २०·७५ करोड़ रुपये थी। सन् १९५८-५९ में ३६·६२ करोड़ रुपयों की आय हुई और सन् १९६०-६१ में ५७·२२ करोड़ रु० की आय का अनुमान लगाया गया है।

ऋण व्यवस्था (Debt Services)—केन्द्रीय सरकार राज्य एवं औद्योगिक संस्थाओं को ऋण भी देती है। ऋण पर प्राप्त ब्याज बजट में ऋण-व्यवस्था के मद में दिखाया जाता है। सन् १९५८-५९ में ब्याज से ८·३६ करोड़ रुपयों की आय हुई और १९६०-६१ में १५·११ करोड़ रु० की आय का अनुमान लगाया गया है।

अन्य साधन (Other Sources)—नगर-निर्माण और विविध सार्वजनिक विकास कार्य (Civil Works & Miscellaneous Public Improvements)—इससे सन् १९५३-५४ में २·२६ करोड़ रुपये और सन् १९५७-५८ में २·७८ करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे। सन् १९५८-५९ में २·७८ करोड़ रुपये की आय अनुमानित की गई है। विविध (Miscellaneous) में सन् १९५८-५९ में २६·२१ करोड़ रुपये प्राप्त हुए और सन् १९६० ६१ में ३६·७३ करोड़ रु० प्राप्त होने का अनुमान लगाया गया है।

केन्द्रीय सरकार के व्यय

(Expenditure of the Central Government)

रक्षा व्यय (Defence Expenditure)—भारत सरकार के कुल व्यय का एक बड़ा भाग रक्षा पर व्यय होता है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व रक्षा-व्यय ५५ करोड़ के लगभग था। युद्ध काल में यह बहुत अधिक बढ़ गया। युद्धोपरान्त काल में भी यह काफी अधिक रहा है। निम्न तालिका में रक्षा-व्यय तुलनात्मक दृष्टि से देखा जा सकता है :—

वर्ष	व्यय (करोड रुपयो मे)	वर्ष	व्यय (करोड रुपयो मे)
१९४४ ४५	३९७'१०		
१९४७ ४८	१८९'२१	१९५८ ५९	२६६ ८७
१९५० ५१	१६४'१३	१९५९-६०	२४३'७०
१९५६-५७	१९२'१५	१९६०-६१	२७२ २६(बजट अनुमान)

प्रस्तुत तालिका से यह स्पष्ट है कि केन्द्रीय सरकार वर्तमान मे लगभग २०० करोड रुपया अर्थात् ५०% के लगभग प्रति वर्ष रक्षा पर व्यय करती है। इस वृद्धि के कई कारण है—(१) पुरानी रियासतो का रक्षा-व्यय भी केन्द्रीय सरकार के पास आ गया है। (२) काश्मीर के झगड के कारण भी व्यय बहुत हो रहा है। (३) सैनिक शिक्षा के प्रसार से भी व्यय बढ रहा है। (४) समुद्री एव वायुयान तथा अन्य सैनिक सामान के क्रय के कारण भी इस मद पर व्यय बढ रहा है। (५) भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध ठीक नही होने तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षत्र मे युद्ध की आशका बनी रहने के कारण भी रक्षा व्यय मे वृद्धि होना पाया जाता है। अस्तु, निकट भविष्य मे देश का रक्षा-व्यय कम होने की आशा नही की जा सकती।

राजस्व के प्रत्यक्ष व्यय (Direct Demands on Revenue)—कर वसूल करने के लिये सरकार को कर्मचारियो के वेतन आदि मे व्यय करना पडता है। सन् १९३८ ३९ मे यह व्यय ४'२४ करोड रुपये था। सन् १९५३ ५४ मे २९'८३ करोड और सन् १९५७-५८ मे ६२'६७ करोड रुपये इस मद पर खर्च किये गये। सन् १९५८-५९ मे बजट-अनुमान ६४ ४५ करोड रुपये का है।

ऋण-व्यवस्था (Debt Services)—केन्द्रीय सरकार ने जो ऋण ले रखा है उसका ब्याज उसे चुकाना पडता है और उसके भुगतान के लिये कुछ रुपया अलग कोष मे जिसको (Sinking fund कहते है) रखना पडता है। सन् १९३८ ३९ मे यह व्यय १४ १२ करोड रुपये था। सन् १९५३-५४ मे ४०'८२ करोड और सन् १९६० ६१ मे १०७'३३ करोड रुपये व्यय होने का अनुमान लगाया है।

नगर प्रशासन (Civil Administration)—नगर प्रशासन व्यय मे सामान्य शासन, विदेशो से सम्बन्ध न्याय, पुलिस, शिक्षा स्वास्थ्य आदि के सभी व्यय सम्मिलित होते है। युद्ध एव युद्धोपरान्त काल मे कर्मचारियो की सख्या एव उनके वेतन मे वृद्धि होने के कारण इस व्यय मे पर्याप्त वृद्धि हो गई थी। स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् इस व्यय मे और अधिक वृद्धि होने के मुख्य कारण ये है कि विदेशो मे अनेक दूतावास (Embassies) स्थापित किये गये तथा भारत मे ससद के सदस्यो, मत्रियो और अन्य अधिकारियो की सख्या बढ गई।

व्यय के इस मद मे से शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों पर बहुत कम खर्च किया जाता है। अत आवश्यकता इस बात की है कि शासन-सचालन पर होने वाले व्यय को घटाकर राष्ट्र-निर्माण कार्यों पर अधिक व्यय किया जाय। इस सम्बन्ध मे भारत सरकार ने सन् १९४७ मे बचत-समिति (Economy Committee) नियुक्त

को, जिसने अपनी रिपोर्ट मे व्यय मे कमी करने की आवश्यकता पर जोर दिया था। परन्तु, उक्त समिति की सिफारिशों को अभी तक कार्यान्वित नही किया गया। इस मद पर सन् १९५३-५४ मे ६४ १६ करोड रुपये और सन् १९५८ ५९ मे १९९ ७२ करोड रुपये व्यय किये गये। सन् १९६० ६१ मे २६७-७६ करोड रुपये व्यय करने का अनुमान लगाया गया है।

चल मुद्रा और टकसाल (Currency and Mint)—इस मद मे मुद्रा चलन व टकसाल आदि का व्यय तथा विनिमय-दर गिर जाने मे जो हानि होती है, सम्मिलित हैं। सन् १९५३ ५४ म २ ६० करोड और सन् १९५८ ५९ मे ९ १४ करोड रुपये व्यय किये गय। सन् १९६०-६१ मे १०·२७ करोड रुपया व्यय किये जाने का अनुमान है।

नगर निर्माण और विविध सार्वजनिक विकास-कार्य (Civil Works and Miscellaneous Public Improvements)—जो राशि शिक्षा, चिकित्सा, स्वास्थ्य, कृषि, उद्योग, राजकीय कार्यालय, सरकारी इमारतें, प्रकाश गृह व सडकें आदि के बनवाने मे खर्च की जाती है, वह इस मद के अन्तगत आती है। इन्हें राष्ट्र निर्माण-व्यय (Nation Building Expenditure) भी कहते हैं। सन् १९५३-५४ मे १३ ८५ करोड और सन् १९८५ ५९ में १८ ३२ करोड रुपये व्यय किये गय। सन् १९६०-६१ मे २०·३२ करोड रुपये के व्यय का अनुमान लगाया गया है।

केन्द्रीय और राज्य सरकारो के बीच अशदान और समायोजन (Contribution and Adjustments between Central and State Governments)—केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारो को अनेक कार्यो जैसे शिक्षा, सडकें, स्वास्थ्य आदि के हेतु अनुदान देती हैं। राज्यो को अनुदानो को केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्दिष्ट विशेष तथा स्वीकृत कार्यों के लिये व्यय करना पडता है। इस सम्बन्ध मे सन् १९५३-५४ मे २५·९१ करोड रुपये और सन् १९८५ ५९ मे ४६ ९५ करोड रुपये व्यय किये गये। सन् १९६० ६१ के बजट अनुमान के अनुसार ५१·८१ करोड रुपये व्यय किये जायेंगे।

असाधारण मदे (Extraordinary Items)—इन मदो मे सन् १९५३-५४ मे ११ ७८ करोड रुपये और सन् १९५८-५९ म १५·२१ करोड रुपये व्यय किये गये। सन् १९६० ६१ मे ३३·७५ करोड रुपयों का अनुमान लगाया गया है।

केन्द्रीय सरकार का बजट

(Budget of the Central Government)

केन्द्रीय सरकार द्वारा निकाले गये आय-व्यय विवरण को केन्द्रीय सरकार का बजट कहते हैं। इसमें केन्द्रीय सरकार की आय तथा व्यय की सभी मदों का ब्यौरा होता है। द्वितीय महायुद्ध के समय म बजट मे घाटे की कोई सम्भावना नही थी, किन्तु युद्धोपरान्त युद्ध के पूर्व की भाँति बजट म पुन घाटा होने लगा जो १९४९-५० तक चलता रहा। सन् १९४९ ५० मे बजट म ४८ लाख रुपये की बचत बतायी गई, किन्तु वास्तव मे ३ ७४ करोड रुपये का घाटा रहा। १९५०-५१ और १९५१-५२ में घाटा नही हुआ। सन् १९५३-५४ मे ८·५ करोड की बचत हुई, परन्तु सन् १९५६-
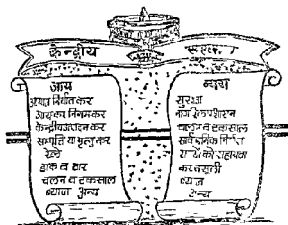
५७ मे कोई बचत नही हुई। अनुमानित बजट के अनुसार सन् १९६० ६१ मे ६०'३७ करोड रुपये का घाटा है।

भारत सरकार का राजस्व तथा व्यय

(केन्द्रीय बजट)

(लाख रुपयों मे)

राजस्व	बजट १९५९-६०	संशोधित १९५९-६०	बजट १९६०-६१
सीमा शुल्क	१३२,७७	१६०,००	१६०,०० +२,५०
केन्द्रीय उत्पादन शुल्क	३२४,३२	३५०,८२	३५८,९१ +२१,०३
निगमकर	५८,७५	७८,००	१३५,००
निगम कर के अतिरिक्त आय पर कर	८७,६३	७२,६८	५२,९४
मृत सम्पत्ति शुल्क	१४	९	१०
सम्पत्ति कर	१३,००	१२,००	७,००
रेल किराया कर	११	(–) ५१	११
व्यय कर	१,००	८०	९०
दान कर	१,२०	८०	८०
अफीम	३,९२	४,२६	५,६९
ब्याज	१०,७५	८,२७	१५,७१
असैनिक प्रशासन	३५,८०	४७,५४	५३,१९

मुद्रा और टकसाल	५५,६०	५५,८७	५७,२२
असैनिक निर्माण कार्य	३,००	३,१३	३,०४
राजस्व के अन्य स्रोत	४१,९३	३५,००	३६,७३
डाक और तार—सामान्य राजस्व मे वास्तविक अशदान	४,२०	४,१६	४७
रेलें—सामान्य राजस्व में वास्तविक अशदान	५,६८	५,७४	५,६४
जोड़—राजस्व	७८०,१०	८३८,६६	८६६,४५) +२३,५३)

केन्द्रीय बजट एक दृष्टि मे (१९६०–६१)

आय—९१९'९८ करोड़ रु०   व्यय—९८०,३५ करोड़ रु०
घाटा—६० ३७ करोड़ रु०

(लाख रुपयों मे)

व्यय	बजट १९५९–६०	संशोधित १९५९–६०	बजट १९६०–६१
राजस्व से प्रत्यक्ष व्यय	१०१,६५	१०३,७४	१०७,३३
सिंचाई	१६	१४	१७
ऋण-व्यवस्था	५७,८८	६५,१४	७४,१९
असैनिक प्रशासन	२२२,७३	२३३,३५	२६७,७६
मुद्रा और टकसाल	९,८३	९,८६	१०,२७
असैनिक निर्माण और विविध सार्वजनिक सुधार कार्य	१९,३५	१८ ९४	२०,३२
पेंशनें	९,६३	१०,००	१०,११
विविध—			
विस्थापितों पर व्यय	१९,६९	२५,१७	२०,२८
अन्य व्यय	७१,३०	७३,०२	१११,७०
राज्यों को अनुदान आदि	४६,०२	४८,९८	५१,८१
असाधारण मदें	३५,२६	२२,२१	३३,७५
रक्षा सेवाएँ (वास्तविक)	२४२,६८	२४३,७०	२७२,२६
जोड़—व्यय	८३९,१८	८५४,०५	९८०,३५
	(—)५९,०८	(—)१५,३९	(—)६०,३७

नये करों से २३'५३ करोड़ रु० की आय—दूसरी पचवर्षीय योजना समाप्ति पर है और तीसरी पचवर्षीय योजना प्रारम्भ होने का समय निकट आ गया। उधर उत्तरी सीमा पर चीन ने जो असाधारण परिस्थिति उत्पन्न कर दी है, उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि बजट में घाटा हो और नये कर लगाये जायें। तथापि केवल २३'५३ करोड़ रु० के नये कर लगाये गये हैं सो

सम्भावना से अधिक नहीं है। अधिकांश कर अप्रत्यक्ष कर हैं और वे उद्योग पर लगाये गये हैं। लोहा, टीन व अलुमुनियम की चादरें, गाड़ियों के इन्जन, बिजली मोटरों पर लगे कर से जनता को विशेष हानि नहीं होगी। साइकिल के पुर्जों, जूतों और बिजली के बल्बों तथा पखों पर भी कुछ कर लगे है, इनका प्रभाव मध्यम वर्ग पर पड़ेगा। यद्यपि मध्यम वर्ग पहले से ही पीड़ित वर्ग है, परन्तु फिर भी यह बोझ असह्य नहीं है और न प्रतिदिन पड़ने वाला बोझ है। इनामी बोंडों की घोषणा एक नई चीज है जो जुआ होते हुए भी जनता की जेब से पैसा खींचने और इस तरह मुद्रा सकोच में शायद एक अश तक सहायक हो सके।

इस बजट में जिस प्रकार आय को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया है, उसी प्रकार बढ़े हुए व्यय को कोई कदम नहीं उठाया गया है। प्रायः प्रत्येक मद पर व्यय बहुत बढ़ गया है और इन कारणों से यदि पिछले वर्ष संशोधित बजट के अनुसार घाटा १५ ३६ करोड़ था तो इस वर्ष घाटा ६०·३७ करोड़ अनुमानित किया गया है। वस्तुतः सरकार को चाहिये कि वह प्रत्येक मत्रालय में होने वाले अनाप-शनाप व्ययों की जाँच पड़ताल करे। सास्कृतिक कार्यों पर होने वाला अधिकाश व्यय आसानी से स्थगित किया जा सकता है। विभिन्न मत्रालयों के प्रकाशनों में भी व्यय कम हो सकता है। यदि समस्त देश में मन्त्रियों से उद्घाटन समारोह और भाषणों के चित्र व ब्लाक बंद हो जायें और कागज की किस्म साधारण कर दी जाय तो एक विपुल राशि बच सकती है।

केन्द्रीय सरकार के बजट सम्बन्धी कुछ सुझाव—(१) हिन्दू-संयुक्त-परिवारों के लिये ६००० रुपये वार्षिक आय पर कर की छूट बहुत कम है। परिवार की प्रत्येक शाखा से पृथक्-पृथक् कर लिया जाना चाहिये। (२) आय-कर से बचने के लिये बहुत-सी आय छिपाकर लोग सरकार को धोखा देते हैं। इसको बन्द करने से अप्रत्यक्ष करों में छूट हो सकती है। (३) अन्य देशों की भाँति भारत में भी शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि जन-हित कार्यों पर विशेष व्यय करना चाहिये। (४) जीवनार्थ आवश्यक वस्तुओं पर कर बहुत कम होना चाहिये। (५) बचत समिति की सिफारिश के अनुसार नमक कर पुनः लगाने से सरकार को ६-१० करोड़ की आय सुगमता से हो सकती है, क्योंकि छूट होने पर भी नमक सस्ता नहीं हो सका। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् नमक को कर-मुक्त रखना, कोई कारण नहीं रह गया है। (६) राष्ट्र की उन्नति के लिये मितव्ययता अपेक्षित है। बिना किसी विशेष प्रयोजन के सरकारी कार्यालयों तथा सचिवालय में कर्मचारियों की वृद्धि नहीं होनी चाहिये।

योजना और भारतीय राजस्व—द्वितीय पंचवर्षीय योजना के ४८०० करोड़ रुपये के कुल व्यय में से केन्द्रीय सरकार २,५५६ करोड़ रुपये खर्च करेगी और राज्य सरकारें २·२४१ करोड़ रुपये खर्च करेगी।

द्वितीय-पंचवर्षीय योजना का खर्च निम्नलिखित साधनों द्वारा पूरा किया जायगा : पुराने करों से ३५० करोड़ रुपये, नये करों से ४५० करोड़ रुपये, सार्वजनिक ऋण १,२०० करोड़ रुपये, बजट के अन्य साधनों से ४०० करोड़ रुपये, रेलवे अशदान से १५० करोड़ रुपये, प्रॉविडेन्ट फण्ड से २५० करोड़ रुपये, विदेशी सहायता से ८०० करोड़ रुपये, घाटे के अर्थ प्रबन्धन से १,२०० करोड़ रुपये, योग ४४०० करोड़ रुपये—शेष ४०० करोड़ रुपये अन्य देशी साधनों से प्राप्त किये जायेंगे।

१,२०० करोड़ रुपये के घाटे में से २०० करोड़ पौंड पावना से प्राप्त हो जायेंगे ; परन्तु फिर भी १ ००० करोड़ रुपये का मुद्रा प्रसार करना पड़ेगा।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इण्टर आर्ट्स परीक्षाएं

१—भारत सरकार के आय-व्यय के मुख्य साधन क्या है ? पंचवर्षीय योजना के लिये आवश्यक धन कैसे प्राप्त किया जा रहा है ?

२—भारत के केन्द्रीय सरकार के आय स्रोतों और व्यय की मदो का उल्लेख करिये।

३—निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिये :—

सम्पत्ति (wealth) तथा व्यय कर (रा० बो० १९५८)
आयकर, (म० भा० १९५४), उत्पादन शुल्क, बिक्री कर (अ० बो० १९५८)
भारतीय यूनियन-सरकार की आय-व्यय की महत्त्वपूर्ण मदें। (अ० बो० १९६०)

४—केन्द्रीय सरकार की मुख्य आय के साधनों तथा व्यय की मदों का विवेचन कीजिये। (रा० बो० १९५८, ५२, ५०)

५—भारतीय यूनियन सरकार की आय-व्यय की महत्त्वपूर्ण मदें कौन-कौन-सी है ? (अ० बो० १९५७)

६—भारत सरकार की आय के स्रोत कौन-कौन से हैं ? प्रत्येक स्रोत का संक्षेप में विवेचन कीजिये। (अ० बो० १९५६, पू०)

७—उत्पादन-कर के लागू रखने के पक्ष और विपक्ष मे युक्तियाँ दीजिये। (अ० बो० १९५१,४८)

८—क्या आप नमक कर को दुबारा लागू करना चाहेंगे। यदि हाँ, तो क्यो ? (अ० बो० १९५१)

९—केन्द्रीय सरकार की आय का वर्गीकरण 'टैक्स-आय' और 'गैर-टैक्स आय में कीजिये। (अ० बो० १९४०)

१०—भारत सरकार के मुख्य स्रोतों और व्यय-मदों का उल्लेख करिये और उनके सापेक्षिक महत्व का वर्णन कीजिये। (रा० बो० १९५१, म० भा० १९५२)

११—भारत सरकार और भारतीय राज्य सरकारों की आय-व्यय की मदों का संक्षेप मे वर्णन कीजिये। (दिल्ली हा० सै० १९५५)

अध्याय ६७

भारत में राज्यों का राजस्व

(State Finance in India)

प्रारम्भिक—भारतीय संविधान २६ जनवरी, १९५० से सम्पूर्ण देश पर लागू कर दिया गया। इसके अन्तर्गत भारतीय प्रान्तों व राज्यों का वर्गीकरण मुख्यत. क ख और ग भागों में कर दिया गया था। क भाग में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के प्रान्त सम्मिलित थे और ख भाग में देशी रियासतें व ग भाग में चीफ कमिश्नरी प्रान्त और कुछ नये प्रान्त सम्मिलित थे। राज्य पुनर्संगठन अधिनियम १९५६ के अनुसार भारतीय संघ में अब १४ राज्य तथा ६ क्षेत्र है। इन राज्य सरकारों की आय व्यय की निम्नलिखित मद है।

राज्य सरकारों की आय की मुख्य मदे—

आय-कर तथा केन्द्र से सहायता—कुल आय कर का खर्चा काटने के पश्चात् ५५%भाग राज्यों को मिलता है। इस मिलने वाले भाग को प्रत्येक ५ वर्ष पश्चात् वित्त-आयोग निर्धारित किया करेगा। जूट निर्यात कर की सम्पूर्ण आय संविधान के अनुसार केन्द्रीय सरकार को जाती है। परन्तु इसके बदले मे केन्द्रीय सरकार पश्चिमी बंगाल, बिहार, आसाम, उडीसा को एक निश्चित राशि सहायतार्थ अनुदान में देता है। विकास योजनाओं को सफल बनाने के लिए राज्य सरकारों को केन्द्र से एक निश्चित राशि प्राप्त होती है। समय समय पर केन्द्र राज्य-सरकारों को ऋण तो देता ही रहता है।
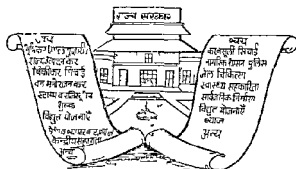
मालगुजारी (Land Revenue)—यह अत्यन्त प्राचीन कर है और राज्यों की आय का एक महत्वपूर्ण साधन है। राज्य सरकारों का केवल यही प्रत्यक्ष-

कर (Direct Tax) है और इससे उनको कुल आय का काफी बडा भाग मिलता है। पश्चिमी बगाल जैसे राज्यों म स्थायी बन्दोबस्त के कारण मालगुजारी की आय मे वृद्धि नही हो पाई है, परन्तु अस्थायी बन्दोबस्त वाले सभी राज्यों मे इसकी आय मे कुछ वृद्धि अवश्य हुई है, यद्यपि वह बहुत कम है। कर की दृष्टि से मालगुजारी मे कई दोष पाये जाते है—(१) इसम लोच का अभाव है, क्योंकि इसकी आय म अधिक परिवर्तन नही होता। (२) यह असुविधाजनक है, क्योंकि इसको वसूल करने म कठोरता से काम लिया जाता है और फसल के नष्ट हो जाने पर ता किसानों को सर्वस्व गिरवी रखकर मालगुजारी चुकानी पडती है। यद्यपि उन्हे छूट अवश्य दे दी जाती है परन्तु उससे कोई विशेष सहायता नही होती। (३) धनी एव निर्धन सभी को ही समान दर पर मालगुजारी देनी पडती है जिसम निर्धना को धनवानों की अपेक्षा अधिक बलिदान करना पडता है। (४) आर्थिक प्रगति के कारण भूमि के मूल्य मे वृद्धि होने से सरकार को विशेष लाभ नहीं होता। (५) इसमे मितव्ययता का भी अभाव है, क्योंकि भारतवर्ष मे मालगुजारी की जाच ससार भर मे अधिक जटिल एव खर्चीली होती है। (६) इसकी वसूली का आधार सब राज्यो म एकसा नहीं है, क्योंकि कही पर यह उत्पत्ति के आधार पर वसूल की जाती है तो कही पर उत्पत्ति के मूल्य के आधार पर। (७) जमींदारी उन्मूलन के कारण भूमिधरो का लगान आधा हो जाने से मालगुजारी की आय मे कमी होने की सम्भावना है।

उत्तर प्रदेश मे मालगुजारी राज्य की आय का एक मुख्य स्रोत है। सन् १९६०-६१ में इस मद से २१ २८ करोड रुपये प्राप्त होन का अनुमान है। जमींदारी उन्मूलन के कारण ज्यों ज्यों भूमिधरो की संख्या म वृद्धि होती जायगी इस मद स प्राप्त-आय भी घटती जायगी। उत्तर-प्रदेश के अतिरिक्त मध्य प्रदेश, बिहार, आसाम आदि राज्यो मे भी यह आय का मुख्य साधन है। राजस्थान म इस मद से १९६०-६१ मे ८५ करोड रु० और बिहार में ११·८३ करोड रु० होन का अनुमान है।

कृषि आय पर कर (Agricultural Income tax)—साधारणतया आय पर कर केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाया जाता है परन्तु कृषि से होने वाली आय पर राज्य-सरकारें कर लगाती हैं। सन् १९३७ म जब प्रान्तीय स्वायत्त शासन की देश मे स्थापना हुई, कृषि आय कर राज्यों द्वारा लगाया जाने लगा। सबसे प्रथम बिहार न यह कर सन् १९३८-३९ में लगाया। तत्पश्चात् आसाम, बगाल, उडीसा और उत्तर-प्रदेश मे यह कर लगाया गया। क राज्यों में से इन पाँच राज्यों में ही कर लगाया जाता है। ख राज्यो मे आध्र और केरल में यह सन् १९७० ७१ तक था। केवल उसी भूमि की आय पर यह कर लगता था जो लगान देती है। कृषि-आय कर का एक न्यूनतम भाग कर से मुक्त रहता है। क राज्यों की इस कर म कुल आय ३ करोड रुपये वार्षिक के लगभग है। जमींदारी प्रथा के उन्मूलन स इस मद स आय और भी कम हो गई है।

राज्य-उत्पादन-कर (State Excise Duty)—भारत सरकार की भाँति राज्य सरकार को भी कुछ वस्तुओं क उत्पादन पर कर लगान का अधिकार है। शराब, अफीम, गाँजा आदि नशीली वस्तुओ के उत्पादन पर राज्य सरकारें उत्पादन कर लगाती है। कुछ राज्यो म तो इस मद से सरकार को पर्याप्त आय प्राप्त होती है जैसे उत्तर-प्रदेश, बिहार आदि। मादक वस्तुओ का उपभोग सब प्रकार म हानिकारक होने के कारण लगभग प्रत्येक राज्य म मद्य निषेध (Prohibition)

नीति अपनाई जा रही है जिससे इस मद से होने वाली आय घटती जा रही है। उत्पादन-कर से होने वाली राज्य सरकारों की कुछ विगत वर्षों की आय निम्न प्रकार है —

उत्तर प्रदेश में उत्पादन-कर से राज्य सरकार को अच्छी आय होती है। सन १९५८ ५९ में ५ ४९ करोड रुपये और सन १९६० ६१ में ५ ६६ करोड रुपये और राजस्थान में ३ ६ करोड रु० प्राप्त होने की आशा है। मद्य निषेध नीति के अनुसार उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी कई जिलों में नशेबन्दी कर दी है जिससे इसके द्वारा होने वाली आय में कमी हो गई है। इस नीति से मद्रास राज्य की १८ करोड रुपये और बम्बई राज्य की ९ करोड रुपये वार्षिक आय कम हो गई है।

मद्य निषेध नीति का आलोचनात्मक विश्लेषण—मद्य निषेध-नीति आजकल विवादास्पद विषय बना हुआ है। जो लोग इसके विरुद्ध हैं उनके अनुसार मद्य निषेध नीति द्वारा राज्य सरकारों को आय के एक बड़े स्रोत से हाथ धो बैठना पड़ता जिसकी पूर्ति अन्य साधनों से होना सुगम नहीं है। इसके अतिरिक्त इस नीति को सफल बनाने के लिए अधिक पुलिस और अधिकारियों व कर्मचारियों को रखना पड़ रहा है जिससे आय कम हो रही है और व्यय बढ़ रहा है। साथ ही-साथ लोगों में शराब पीने की आदत भी कम नहीं हुई है क्योंकि प्रतिबन्धों के कारण अब भी लोग चोरी छिपे से पीते हैं।

इस नीति के समर्थकों के अनुसार उपर्युक्त तर्क अनुचित हैं मद्यपान से जनता का शारीरिक एवं नैतिक पतन होता है इसलिए जनता का अधिकतम कल्याण मद्य निषेध-नीति को अपनाने में ही सन्निहित है। मद्य निषेध से होने वाली आय की क्षति अन्य नये कर लगा कर पूरी की जा सकती है। इस नीति से निर्धन श्रमिक अपनी कमाई का अपव्यय करने से बच सकेंगे। अतः मद्य निषेध-नीति को शीघ्रता एवं कठोरता के साथ लागू करना चाहिए।

बिक्री कर (Sales Tax)—द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् राज्यों की आय का बिक्री कर एक महत्वपूर्ण साधन हो गया है। भारतवर्ष में बिक्री कर प्रान्तीय कर है और देश के भीतर बेची जाने वाली वस्तु या सेवाओं पर लगाया जाता है। भारत में सब प्रथम यह कर सन् १९३९ में मद्रास में लगाया गया था। तब से अब तक अन्य से राज्यों ने इस कर को आय के एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में अपना लिया है। यह कर पंजाब और बंगाल में सन् १९४१ में बम्बई में सन् १९४२ में बिहार में सन १९४३ में उड़ीसा आसाम और मध्य प्रदेश में सन १९४७ में उत्तर प्रदेश में सन् १९४८ में और दिल्ली में सन् १९५१ में लागू किया गया। विभिन्न राज्यों में बिक्री कर के ढंग एवं दर भिन्न भिन्न हैं। इस कर से राज्य सरकारों की विगत वर्षों की आय निम्न प्रकार है।

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	आय	वर्ष	आय
१९४६–४७	१२ ५	१९५२–५३	४५ ५
१९४८–४९	३३ ०	१९५८–५९	६५ १
१९५० ५१	५१ ३		

विक्री कर का स्वरूप (Nature of Sales-Tax)—विक्री कर, जैसा कि नाम से विदित है, वस्तुओं एवं सेवाओं की बिक्री पर लगाया जाता है। अतएव यह आयात निर्यात-कर की भाँति परोक्ष कर है। यह कर सरकार उस व्यक्ति से वसूल करती है जोकि वस्तु बेचता है न कि उस व्यक्ति से जो उसे खरीदता है। अतएव यह क्रय कर नहीं है। परन्तु विक्रेता इस कर को वस्तुओं के दाम बढ़ा कर क्रेताओं से वसूल कर लेते हैं। इसलिए यह कहने को बिक्री-कर है पर वास्तव में यह क्रय-कर है। बिक्री-कर अप्रत्यक्ष या परोक्ष कर होने के नाते इसका सघात (Impact) विक्रेता पर होता है और भार (Incidence) उपभोक्ताओं पर पड़ता है।

न्यूनतम छूट सीमा (Minimum Limit)—भारतवर्ष में यह न्यूनतम-छूट सीमा १/००० रु० से ३०,००० रु० वार्षिक बिक्री के बीच में विभिन्न राज्यों में पाई जाती है तथा इस पर बिक्री-कर नहीं लगाया जाता है। इसी प्रकार कई वस्तुएँ जैसे खाद्यान्न, आटा, दाल, ईंधन, मसाला, मिट्टी का तेल, पुस्तक खादी, साग आदि भी बिक्री कर से मुक्त हैं।

बिक्री कर के भेद (Type of Sales Tax)

(१) बिक्री कर या टर्न ओवर कर (Sales-Tax) or Turnover Tax)—जब कर केवल वस्तुओं की बिक्री पर ही लगाया जाता है तो यह बिक्री कर कहलाता है। परन्तु जब कर वस्तुओं और सेवाओं, दोनों की बिक्री पर लगाया जाता है तब टर्न ओवर कर कहलाता है। भारतवर्ष में केवल बिक्री कर ही पाया जाता है।

(२) आंशिक या पूर्ण बिक्री-कर (Selected Commodities or Comperhensive Sales Tax)—जब बिक्री कर चुनी हुई वस्तुओं जैसे मोटर स्प्रिट, ल्युब्रीकेटिंग आदि पर लगाया जाता है, तब आंशिक बिक्री-कर कहलाता है। परन्तु जब कर सब वस्तुओं पर लगाया जाता है तब पूर्ण बिक्री कर कहलाता है। मद्रास, उत्तर-प्रदेश तथा बंगाल राज्यों में पूर्ण बिक्री कर लगाया जाता है।

(३) थोक या फुटकर कर (Wholesale or Retail Sales Tax)—जब बिक्री कर उत्पादकों या थोक विक्रेताओं पर लगाया जाता है तो उसे थोक बिक्री कर कहते हैं। परन्तु जब बिक्री कर केवल फुटकर विक्रेताओं पर लगाया जाता है तो वह फुटकर बिक्री कर कहलाता है।

(४) एक मुखी या बहु मुखी बिक्री-कर (Single Point or Multiple Sales Tax)—जब बिक्री-कर केवल एक ही बार थोक बिक्री या फुटकर बिक्री पर लगाया जाता है तब उसे एक मुखी बिक्री-कर कहते हैं। परन्तु जब बिक्री कर कई बार अर्थात् जितनी बार बिक्री हो उतनी ही बार लगाया जाता है तो उसे बहुमुखी बिक्री-कर कहते हैं। दोनों प्रकार का बिक्री कर हमारे राज्यों में पाया जाता है।

बिक्री कर के गुण—(१) बिक्री-कर राज्य-सरकारों की आय का एक महत्वपूर्ण साधन है जिसका स्थान कोई अन्य कर नहीं ले सकता है। (२) बिक्री-कर परोक्ष-कर है, इसलिये करदाताओं को इसका भार भी दुखदायक प्रतीत नहीं होता है। (३) इसका संग्रह करना भी सुगम है।

बिक्री-कर के दोष—(१) यह प्रगतिशील (Progressive) नहीं है, क्योंकि प्रत्येक विक्रेता और प्रत्येक उपभोक्ता को यह कर समान दर से देना पड़ता

है। (२) यह कर परिवार को कर देने की योग्यता पर विचार नहीं करता है। जितना परिवार बडा होता है उसकी कर देने की योग्यता कम रहती है, यदि उसकी आय उतनी ही रहती है। अतः जितना परिवार बडा होता है उतनी ही खरीद भी अधिक होती है इसलिए उसे बिक्री कर भी अधिक देना पडता है। (३) बिक्री-कर के कारण बडे-बडे कारखानों का एकीकरण हो जाता है जिसका अभिप्राय कर को टालना होता है। (४) कर की शासन सम्बन्धी कठिनाइयाँ अत्यधिक है और लोग इसमे चोरी बहुत करते है। (५) यह असुविधाजनक है क्योंकि छोटे-छोटे दूकानदारों को थोडी-थोडी बिक्री का हिसाब रखना पडता है। (६) इसका भार निर्धन-उपभोक्ताओ पर अपेक्षाकृत अधिक पडता है।

उत्तर-प्रदेश में बिक्री-कर—उत्तर-प्रदेश मे बिक्री कर सन् १९४८ मे चालू किया गया था। उत्तर प्रदेश मे १५,००० रु० वार्षिक आय मे कम पर बिक्री कर नहीं लगता है। सन् १९६०-६१ मे उत्तर-प्रदेश मे बिक्री-कर से लगभग ७.६८ करोड रु० की आय और राजस्थान मे ३.४० करोड रु० की आय का अनुमान लगाया गया है।

सिंचाई (Irrigation)—कुछ राज्यो मे जहाँ उत्तम नहर प्रणाली है, सिंचाई राज्य की आय का एक अच्छा साधन है। किसानों को नहरों का पानी प्रयुक्त करने के लिए सरकार को कुछ कर देना पडता है। उत्तर-प्रदेश मे सन् १९६०-६१ मे लगभग ११.९८ करोड रुपये और राजस्थान मे ७.२५ लाख रु० इस मद से प्राप्त होने का अनुमान है।

वन (Forests)—वन राज्य-सरकारो की सम्पत्ति है। अत. वन की लकडी तथा अन्य वन-पदार्थ जैसे लाख, चपडो, गोंद आदि बेचकर जो आय प्राप्त होती है वह राज्य-सरकार को ही मिलती है। उत्तर प्रदेश मे वनो से सन् १९६०-६१ मे ५.६ करोड रुपये और राजस्थान मे ८२ लाख रु० प्राप्त होने की आशा है। वनो का विकास करके राज्यो की आय बढाई जा सकती है।

मनोरंजन कर (Entertainment Tax)—मनोरंजन कर सर्वप्रथम सन् १९२२ मे बंगाल मे लगाया गया था, तत्पश्चात् बम्बई मे सन् १९२३ मे लगाया गया, प्रान्तीय स्वायत्त शासन प्राप्त होने के पश्चात् यह कर अन्य प्रान्तो मे भी लगाया गया। आजकल यह समस्त का भाग के राज्यो मे लगा हुआ है। यह कर मनोरजन-शुल्क के साथ ही व्यक्तियो से वसूल कर लिया जाता है। कर की दर भिन्न भिन्न राज्यों मे भिन्न-भिन्न है और टिकट के मूल्य के हिसाब से लगाई जाती है। सन् १९५१-५२ मे इस कर से बम्बई को १५५ लाख, उत्तर-प्रदेश का ६८ लाख, मध्य-प्रदेश को ३२ लाख, उडीसा को ३ लाख रु० की आय हुई थी।

स्टाम्प और रजिस्ट्रेशन (Stamp and Registration)—स्टाम्प की आय कई मदो से प्राप्त होती है। कई व्यापारिक लेन-देन मे कानून के अनुसार टिकट लगाने पडते है। न्यायालय मे दावा करने पर कोर्ट-फीस देनी पडती है जो स्टाम्प के रूप मे दी जाती है। न्यायालय व कुछ अन्य सरकारी कार्यालयो मे कुछ प्रार्थना-पत्रो पर भी टिकट लगाने पडते है। स्टाम्प जुडिशियल (Judicial) और नॉन-जुडिशियल दो प्रकार के होते है। नॉन-जुडिशियल स्टाम्पो मे इकरारनामे व अन्य दस्तावेज लिखे जाते है। इन सबका उद्देश्य लाभ कमाना नही होता है बल्कि उनके बदले सेवाएँ प्रस्तुत

करना होता है। सन् १९६०-६१ में स्टाम्प शुल्क एवं रजिस्ट्रेशन से राज्य सरकारों को लगभग ३०.६३ करोड़ रुपये की आय होने का अनुमान है।

रजिस्ट्री (Registration)—भारतीय रजिस्ट्रेशन कानून के अन्तर्गत कुछ प्रकार के दस्तावेजों की रजिस्ट्री अनिवार्य रूप में करानी पड़ती है अन्यथा न्यायालय में वे मान्य नहीं समझे जाते। इस कारण ऐसे दस्तावेजों अर्थात् प्रलेखों की रजिस्ट्री करानी पड़ती है जिनके लिये राज्य सरकारें फीस लेती हैं। इन रजिस्ट्रियों की प्रतिलिपि देने के लिए भी फीस ली जाती है। सन् १९६०-६१ में उत्तर प्रदेश में ८४ लाख और राजस्थान में १२½ लाख रु० का अनुमान लगाया गया है।

अन्य प्रकार के कर—राज्य सरकारें मोटर-गाड़ियों पर कर तथा मोटरों, मोटर साइकिलों, लारी और बोझा ले जाने वाली लारियों पर कर लगाती हैं। सन् १९६०-६१ में बिहार में इस कर से आय १.३२ करोड़ रुपये, उत्तर प्रदेश में ८.६ करोड़ रु० और राजस्थान में ६० लाख रु० होने का अनुमान है।

बिजली शुल्क, जुआ-कर, रोजगार व पेशों पर व्यापार-कर आदि कुछ अन्य राज्य-सरकारों की आय के साधन हैं।

राज्य सरकारों के व्यय की मुख्य मदें

राजस्व से प्रत्यक्ष व्यय (Direct Demand on Revenue)—यह वह व्यय है जो कर वसूली के लिए करना पड़ता है। समस्त अ राज्यों का इस मद पर व्यय लगभग २५ करोड़ रुपये है जो कुल व्यय का ८% के लगभग आता है। उत्तर प्रदेश में इस मद पर सन् १९५१-५२ में ५.४७ करोड़ और सन् १९५४-५५ में ८.२ करोड़ रुपये और सन् १९५९-६० में १२ करोड़ रुपये व्यय किये गये। यह व्यय अधिक है, अस्तु इसमें कमी करने का प्रयत्न होना चाहिए। राजस्थान में सन् १९५९-६० में इस मद पर ३.५९ करोड़ रुपये व्यय किये गये।

सिंचाई (Irrigation)—*नहरों के निर्माण तथा सिंचाई व्यवस्था के* संचालन तथा निरीक्षण पर राज्य सरकारों को व्यय करना पड़ता है। इस सम्बन्ध में लिये गए ऋणों का जो ब्याज दिया जाता है वह भी इसी के अन्तर्गत आता है। सन् १९६०-६१ में उत्तर-प्रदेश में ५.५ करोड़, बिहार में ७८ लाख और मध्य प्रदेश में ७८.५६ लाख रुपये और राजस्थान में ७८.२० लाख रुपये व्यय किये जाने का अनुमान है।

सामान्य प्रशासन (General Administration)—इस मद का व्यय दो भागों में बांटा जा सकता है। (क) शान्ति व सुरक्षा एवं साधारण शासन व्यय, पुलिस, जेल, न्याय आदि का व्यय शान्ति व सुरक्षा व्यय के अन्तर्गत आता है और राज्य-पाल, मन्त्रियों, धारासभाओं, सरकारी कर्मचारियों आदि का व्यय साधारण शासन के अन्तर्गत आता है। (ख) राष्ट्र निर्माण कार्यों पर व्यय—इसके अन्तर्गत शिक्षा, चिकित्सा, कृषि, उद्योग, यातायात, सहकारिता आदि के विकास के व्यय सम्मिलित हैं। उत्तर प्रदेश में सन् १९६०-६१ में इस मद पर ७.२ और राजस्थान में २.६ करोड़ रुपये व्यय किये जाने का अनुमान है।

ऋण सेवाएँ (Debt Services)—राज्य सरकारें अपनी विकास-योजनाओं आदि के लिए भारत सरकार से तथा जनता से ऋण लेती हैं जिनका ब्याज चुकाना

पड़ता है। सन् १९५१–५२ मे उत्तरप्रदेश मे इसकी राशि १ करोड, बिहार मे १५ लाख और मध्यप्रदेश मे ८६ लाख रुपये थी। सन् १९६०–६१ मे उत्तर-प्रदेश मे यह राशि लगभग १५·३६ करोड रु० और राजस्थान मे ४·३ करोड रुपये व्यय होने का अनुमान है।

उत्तर प्रदेश सरकार का बजट

(१९६०–६१)

राजस्वगत प्राप्तियाँ	लाख रु०	राजस्वगत व्यय	लाख रु०
केन्द्रीय उत्पादन शुल्क	१२४०·७०	राजस्व पर प्रत्यक्ष माग	१२४१·८५
निगम कर–भिन्न आय कर	९२७·५६	सिंचाई, नौकानयन आदि	५६५·४७
सम्पदा शुल्क	३७ ५५	ऋण सेवाएँ	१५३६ १९
रेल किराया कर	२३७ ५०	सामान्य प्रशासन	७२९·५२
लगान (शुद्ध)	२१२७·६६	न्याय प्रशासन	१८२·५६
राज्यीय उत्पादन शुल्क	५६६·०९	जेल	१५६·८१
टिकट	३८० ००	पुलिस	९८६·०१
वन	५६२·२१	वैज्ञानिक विभाग	१४·६१
पजीयन	८३·९९	शिक्षा	१७२७·२८
मोटर गाडी कर	२५९·५३	चिकित्सा	४६५·३६
बिक्री कर	७६८·६०	सावजनिक स्वास्थ्य	२२६·४१
अन्य कर तथा शुल्क	८०५·६६	कृषि तथा ग्राम विकास	८०६ ८८
सिंचाई, नौकानयन आदि (शुद्ध)	१९७·८५	पशुपालन	१९५·८५
		सहकारिता	२०४·४६
ऋण सेवाएँ	४४२·८४		
असैनिक प्रशासन	२२५१·९२	उद्योग	५८२ ४७
असैनिक कार्य आदि	२१९·७६	विविध विभाग	६४४·०१
विविध शुद्ध	६६३·७३	असैनिक कार्य आदि	५८०·२३
सामुदायिक योजनाएँ आदि	४३९·२८	विद्युत योजनाएँ	१३५·२५
असाधारण	५,७७·१९	विविध	१२९९·४०
		असाधारण (सामुदायिक योजना आदि कार्य सहित)	११०९·६१
योग	१,३०८९·६८	योग	१३३ २३·२३

राज्यो के राजस्व के दोष (Defects of State Finance)—(१) राज्यो के आय के साधन अपर्याप्त, लोचहीन एव स्थिर है जो आवश्यकतानुसार घटाये-बढाये नही जा सकते। (२) राज्य-कर प्रतिगामी (Progressive) है। राज्य-करो का भार मध्यवर्ग तथा निर्धन व्यक्तियो पर अधिक पडता है। बिक्री कर भी अधिकतर निर्धनो को ही देना पडता है। (३) राज्य-कर-प्रणाली मे समानता Uniformity) का अभाव है। (४) राज्य-सरकारो की अर्थ-नीति रूढिवादितापूर्ण

२—उत्तर प्रदेश सरकार के आय और व्यय के मुख्य साधन क्या है ? सक्षिप्त व्याख्या कीजिये ।

३—उत्तर प्रदेश सरकार के आय व्यय की मुख्य मद क्या क्या है ? राज्य के बढते हुए व्यय के लिए धन प्राप्ति के सम्बन्ध म क्या सुझाव है ?

४—मनोरजन कर के गुण दोषो पर टिप्पणी लिखिये ।

५—भारत की राज्य सरकारो के आय और व्यय के मुख्य साधन क्या क्या है ? प्रत्येक पर सक्षिप्त नोट लिखिये । (रा० बो० १९५१)

६—राजस्थान सरकार के आय के प्रमुख साधन क्या है ? प्रत्येक पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए । (रा० बो० १९६०)

७—भारत की राज्य सरकारो के आय के मुख्य स्रोतो और व्ययो की मुख्य मदो का उल्लेख करिये और प्रत्येक पर सक्षिप्त नोट लिखिये ।
(अ० बो० १९५१ ४८ ४७ ४२)

८—केन्द्र तथा राज्यो म उत्पादन कर के लागू रहने के पक्ष तथा विपक्ष म युक्तियाँ दीजिये । (अ० बो० १९५१ ४८)

९—मध्य भारत सरकार के व्यय के मुख्य मदो पर टिप्पणी लिखिये ।
(म० भा० १९५३)

१०—सार्वजनिक हित की वे कौनसी मद है जिन पर राज्य की आय खर्च की जाती है ? ऐसे व्यय का क्या सामाजिक महत्व है ? (पटना १९५२)

११—पजाब सरकार के आय व्यय के मुख्य स्रोत कौन कौन स है ? (पजाब १९५५)

१२—निम्नलिखित करो के विषय म बतलाइए कि कौन से भारत शासन और कौन से प्रादेशिक शासन के लगाये हुए ह—(अ) आय कर (आ) सम्पत्ति-कर (इ) कृषि आय कर (ई) लगान (उ) सामा शुल्क और बिक्री कर । इनम से कौन से प्रत्यक्ष कर और कौन से परोक्ष कर ह ? (नागपुर १९५६)

१३—भारत सरकार और राज्य सरकारो के आय व्यय के मुख्य स्रोत कौन कौन से हैं ? (दिल्ली हा० से० १९५५ ५४)

अध्याय ६८

भारत में स्थानीय राजस्व

(Local Finance in India)

प्रारम्भिक—स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाएँ भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही चली आ रही है। ग्राम पूर्णतया स्वतन्त्र थे और उनका समस्त प्रबन्ध ग्राम पंचायतों द्वारा होता था। आधुनिक अर्थ में सर्व प्रथम स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं का सूत्रपात ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में हुआ। सन् १६८७ ई० में मद्रास शहर के लिए एक म्यूनिसिपल बोर्ड तत्पश्चात् क्रमशः अन्य कई बड़े शहरों में मनोनीत सदस्यों की स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाएँ स्थापित की गईं। सन १८७३ ई० में प्रथम बार लार्ड मेयो ने स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के लिए निर्वाचन प्रणाली आरम्भ की। सन् १८८२ ई० लार्ड रिपन ने स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं को कुछ नये अधिकार दिये। सन् १९१९ के भारतीय विधान के अन्तर्गत स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं का समस्त नियन्त्रण प्रान्तीय सरकारों के हाथों में पहुँच गया। सन् १९३५ के विधान के अन्तर्गत प्रान्तों को जो स्वतन्त्रता प्राप्त हुई उसके परिणामस्वरूप स्थानीय-स्वायत्त शासन संस्थाओं को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला। स्वतन्त्र भारत के विधान ने ग्राम पंचायत स्थापित करने का अधिकार राज्य सरकारों को दिया है। ये ग्राम पंचायतें स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं की भाँति गाँवों की सभी बातों का प्रबन्ध कर सकेंगी।

स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं का वर्गीकरण (Classification of Local Self Government Bodies)—शहरों के लिए नगरपालिका (Municipality) ग्राम्य-क्षेत्रों के लिए जिला बोर्ड (District Board), और प्रत्येक गाँव के लिए ग्राम्य पंचायत (Village Panchayat) है। कलकत्ता, मद्रास, बम्बई दिल्ली और अहमदाबाद में म्यूनिसिपैल्टियों (नगरपालिकाओं) के स्थान में कॉरपोरेशन (Corporation)—निगम) है। इनके अतिरिक्त बन्दरगाहों का प्रबंध करने के लिए पोर्ट ट्रस्ट (Port Trust—पत्तन प्रन्यास), नगर की उन्नति के लिए इम्प्रवमेंट ट्रस्ट (Improvement Trust—सुधार प्रन्यास) तथा छोटे छोटे कस्बों के लिए नोटिफाइड एरिया (Notified Area—अधिसूचित-क्षेत्र) नामक स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाएँ स्थापित की गई हैं। इनमें से प्रत्येक संस्था के कार्य, उत्तरदायित्व तथा आय के साधन एक दूसरे से भिन्न है।

नगरपालिकाएँ (Municipalities)—सन् १९४६-४७ में भारत में ३ निगम और ६२८ नगरपालिकाएँ थीं। इनकी कुल आय क्रमशः १२३५ लाख और १५१८ लाख रु० थी तथा इनके द्वारा लगाये गये करों का भार प्रति व्यक्ति क्रमशः १८ रु० ११ आ० १० पा० था। उत्तर प्रदेश में यह कर-भार प्रति व्यक्ति ६ रु०

१ ग्रा० ४ पा० और उड़ीसा मे २ रु० ६ ग्रा० ६ पा० था। सन् १९५२-५३ मे क राज्यों म ७७१, ख राज्यों म ५०५ और ग राज्यों मे ३२ नगरपालिकाएँ थीं। सन् १९५६ के ग्रन्त मे १२ निगम, १४५३ नगरपालिकाएँ, ३८३ छोटा नगर समितियाँ और ८२ अधिसूचित क्षेत्र थे।

नगरपालिकाओं के कार्य—(Functions of Municipalities)— नगरपालिकाएँ दो प्रकार के कार्य करती है—(१) अनिवार्य और (२) वैकल्पिक। अनिवार्य कार्यों (Compulsory Functions) के अन्तर्गत सफाई, लोक-स्वास्थ्य, रोशनी, पानी, सड़क, शिक्षा—प्रारम्भिक एव माध्यमिक—की व्यवस्था आती है। वैकल्पिक कार्यों (Optional Functions) के अन्तर्गत खेल-कूद के मैदान, म्यूजियम बाग बगीचे, पुस्तकालय, मेले, जन्म मरण का लेखा और प्रदर्शनियों आदि की व्यवस्था आती है।

नगरपालिकाओं की आय की आवश्यकता—नगरपालिकाओं को अपने निर्धारित कार्य सम्पन्न करने के हेतु धन की आवश्यकता होती है। यह धन विभिन्न प्रकार के कर लगाकर वसूल किया जाता है। प्रत्येक राज्य म नगरपालिका-विधान होता है जिसके द्वारा नगरपालिकाएँ सचालित होती है।

नगरपालिकाओं की आय के साधन (Sources of the Income of Municipalities)—साधारणतया नगरपालिकाओं के आय के साधन निम्न-लिखित हैं —

१. **चुंगी (Octroi Duty)—**यह नगरपालिकाओं की आय का मुख्य साधन है। जो वस्तुएँ बाहर से रेल, सड़क या नदी द्वारा नगर की सीमा के भीतर आती हैं उन पर यह कर लगाया जाता है। साधारणत: यह कर वस्तुओं के मूल्य के अनुसार लगाया जाता है। जो वस्तुएँ नगर से बाहर भजी जाती है, उन पर यह कर नहीं लगाया जाता है, परन्तु यदि उनके आने पर चुंगी चुकाई गई है तो भजने पर उसकी वापसी (Refund) हो जाती है। सन् १९४६-४७ में उत्तर प्रदेश की नगरपालिकाओं को इस मद से १.७३ करोड रुपये की आय हुई थी जो कुल कर द्वारा आय का ६२.९% था। इसी प्रकार उसी वर्ष मे मध्य-प्रदेश मे नगरपालिकाओं को अपनी कुल आय का ६६.३% और पजाब मे ५४.६% प्राप्त हुआ था।

चुंगी कर के गुण—(१) यह पुराना कर है, इसलिये लोग इसके आदी हो गये हैं। अत:, यह उनको भारस्वरूप प्रतीत नहीं होता है। (२) यह उत्पादन कर है। *ज्यों ज्यों नगरों की उन्नति होती है, इसकी आय भी बढ़ती जाती है।* यह कर थोड़ी-थोड़ी मात्रा मे यथा समय दिया जाता है। इसलिये लोगों को विशेष कष्ट नहीं होता है। (४) *यह निर्धनों से भी कर वसूल करने का अच्छा साधन है।*

दोष—इसके वसूल करने मे व्यय अधिक होता है। (२) इसकी वसूली का कार्य अल्प-वेतन भोगी कर्मचारियों के द्वारा कराया जाता है। इसलिये प्राय इसकी वसूली मे चोरी, घूसखोरी, कठोरतापूर्ण व्यवहार आदि भ्रष्टाचार पाये जाते है। (३) यह कर व्यापार की उन्नति मे बाधक सिद्ध होता है। (४) जीवनार्थ आवश्यक वस्तुओं पर यह कर लगने से निर्धनों पर इसका अधिक भार पड़ता है। (५) कर-भार (Incidence) अनिश्चित होता है तथा साधारणतया टाला जाता है। (६) इस कर की आय अनिश्चित होती है। (७) इस कर के वापसी की रीतियाँ बड़ी जटिल एव असुविधाजनक होती हैं।

इस कर के दोषपूर्ण होने हुए भी नगरपालिकाएं इसी कर को अपनाये हुए हैं, क्योंकि इसके स्थान की पूर्ति करने वाला कोई अन्य साधन नहीं है।

चुंगी के स्थानापन्न कर—संयुक्त-प्रदेश की नगरपालिका-कर समिति (१६०८ ई) ने यह सिफारिश की थी कि चुंगी की असुविधा को दूर करने के लिये सीमा कर और मार्ग शुल्क (राहदारी महसूल) लगाया जाय। सरकार ने यह सिफारिश स्वीकार कर ली और कुछ नगरपालिकाओं ने इसे अपना भी लिया।

सीमा कर (Terminal Tax)—यह कर नगरपालिका की सीमा के भीतर रेल द्वारा आने वाली वस्तुओं पर लगाया जाता है। अधिकतर यह रेलवे द्वारा महसूल या टिकट के रूप में वसूल किया जाता है जो बाद में नगरपालिकाओं को मिल जाता है। इस वसूली के लिये रेलवे को कुछ प्रतिशत (४ रु० या ५ रु०%) कमीशन मिलता है।

चुंगी और सीमा कर की तुलना—(१) चुंगी माल के मूल्य पर लगाई जाती है परन्तु सीमा कर माल के परिमाण पर लगाया जाता है जिससे उसके मूल्य आँकने की असुविधा दूर हो जाती है। (२) सीमा-कर का भार चुंगी की अपेक्षा कम होता है। (३) पुन: निर्यात करने में सीमा-कर में वापसी नहीं मिलती है। (४) सीमा-कर रेलों द्वारा ही अधिकतर वसूल होता है।

मार्ग शुल्क या राहदारी महसूल (Toll-Tax)—जब कर केवल रेल द्वारा लाई हुई वस्तुओं पर ही लगाया जाता है, तो व्यापारी माल सड़क और नदियों से लाते हैं। इस कारण इन मार्गों से आने वाले माल पर भी कर लगाना आवश्यक हो जाता है। जो कर सड़क और नदियों द्वारा लाये हुये माल पर लगाया जाता है, उसे मार्ग शुल्क या राहदारी महसूल (Terminal Toll) कहते हैं यह कर नगरपालिकाओं के अधिकारियों द्वारा वसूल किया जाता है।

२. मकान, भूमि और सम्पत्ति-कर (Taxes on Houses, Land and Property) नगरपालिका के क्षेत्र में जितने मकान, दुकान आदि होते हैं उन सब पर तथा भूमि पर यह सम्पत्ति-कर लगाती है। इससे उसे अच्छी आय प्राप्त हो जाती है। यह कर मकान या भूमि के वार्षिक मूल्य पर लगाया जाता है। वार्षिक मूल्य किराये की आय के बराबर मान लिया जाता है और उस पर अधिकतम ७½% की दर से यह कर वसूल किया जाता है। यह कर सम्पत्ति के स्वामियों से वसूल किया जाता है परन्तु कर-भार अन्त में किरायेदारों पर पड़ता है। सन् १९४६-४७ में उत्तर-प्रदेश में नगरपालिकाओं की अपनी कुल आय का लगभग ६% और मध्य प्रदेश में ८% इस मद से प्राप्त हुआ था।

३. यात्री कर (Pilgrim-Tax)—नये विधानानुसार यह कर केवल केन्द्रीय सरकार ही लगा सकती है। परन्तु जो स्थानीय संस्थाएं विधान के पूर्व यह कर लगाती थीं उनको इसके लगाने की आज्ञा प्रदान कर दी गई है। यह कर रेलों से आने वाले तीर्थ-यात्रियों पर लगाया जाता है। यह रेल के टिकट में सम्मिलित कर दिया जाता है और स्थानीय शासन-संस्थाएं इसे रेलवे से वसूल कर लेती हैं। उत्तर-प्रदेश में यह कर मथुरा, वृन्दावन, प्रयाग, वाराणसी, आगरा आदि स्थानों में लगाया जाता है। अजमेर में आने वाले यात्रियों पर भी यह कर लगाया जाता है।

४. रोजगार, पेशे व व्यापार कर (Taxes on Trades, Profession, Arts and Callings) यह बहुत कम स्थानों पर लगाया जाता है

और जहाँ लगाया भी जाता है वहाँ लाइसेन्स फीस के रूप में वसूल किया जाता है। उत्तर-प्रदेश में धोबी-घाट के प्रयोग पर धोबियों से एक वार्षिक शुल्क लिया जाता है।

५. व्यक्तियों पर कर या हैसियत कर (Taxes on Persons or Haisiyat Tax)—यह कर आय पर नहीं लगाया जाता परन्तु कर दाताओं की सामाजिक स्थिति या कुटुम्ब के परिमाण पर लगाया जाता है और उनके स्वामियों से वसूल किया जाता है।

६. पशुओं और वाहनों पर कर (Tax on Animals and Vehicles)—नगरपालिकाएँ कुत्ता, घोड़ा, पशुओं बैलगाड़ियों साइकिलों, तांगों इक्कों, रिक्शाओं, मोटर लारियों नावों आदि पर कर लगाती हैं जिससे उन्हें कुछ आय हो जाती है।

सफाई-कर (Conservancy Tax)—कई स्थानों में यह कर नगरपालिका द्वारा प्रस्तुत सफाई सम्बन्धी सेवाओं के उपलक्ष में मकान मालिकों से वसूल किया जाता है।

८. बाजार-कर (Bazar Tax)—कुछ नगरपालिकाओं द्वारा बाजार कर लगाया जाता है। यह कर उन दूकानदारों से वसूल किया जाता है जो नगरपालिका द्वारा बनाये बाजारों में दूकानें खोलते हैं।

९. जल, बिजली आदि का शुल्क (Rates for Water Electricity etc)—नगरपालिकाएँ जल, बिजली आदि की पूर्ति के बदले जो मूल्य वसूल करती हैं वह शुल्क कहलाता है। इस मद से भी उन्हें पर्याप्त आय होती है।

१० विवाह कर (Marriage Tax)—यह कर केवल बम्बई में लगाया जाता है। प्रत्येक स्थानीय शासन संस्था को विवाह को रजिस्ट्री पर भी फीस लेनी चाहिये जिसकी दर १ रु० हो सकती है। इसमें विवाहों की प्रामाणिक सूची भी तैयार हो जायेगी।

११. उन्नति कर (Betterment Tax)—नगरपालिकाओं को पड़त भूमि पर बाजार व नई बस्तियाँ बसानी चाहिये जिससे उन भूमियों के मूल्य में वृद्धि हो और उनके स्वामियों से उन्नति कर वसूल किया जाय।

१२. आर्थिक दण्ड या जुर्माना (Fines)—नगरपालिकाएँ उनके नियमों को तोड़ने वालों से जुर्माना वसूल करती हैं। भटकते हुए पशुओं (Stray Cattle) को काँजी हौज में बन्द कर दिया जाता है और जुर्माना लेकर ही उनके स्वामियों को वापस किया जाता है।

१३ भूमि, भवन आदि का किराया (Rent of Land, Buildings etc)—नगरपालिकाएँ कुछ भूमि, भवन व अन्य सम्पत्ति की स्वामिनी होती हैं। उनके किराये से इन्हें आय प्राप्त होती है।

१४. व्यापारिक कार्यों से आय (Income from Municipal Enterprises)—नगरपालिकाओं को इनके द्वारा किये जाने वाले व्यापारिक कार्यों से भी आय होती है। उदाहरण के लिये, जल व बिजली की पूर्ति की व्यवस्था करने से उससे होने वाली आय, नगरपालिका द्वारा निर्मित कसाईखानों के किराये से होने वाली

आय और नगरपालिका द्वारा की गई यातायात की व्यवस्था से होने वाली आय इस श्रेणी में आती है।

१५ राज्य सरकार से आर्थिक सहायता (Grant in Aid from State Govt.)—कर तथा महसूल के अतिरिक्त नगरपालिकाओं को राज्य सरकार से भी सहायता दो प्रकार की प्राप्त होती है —(अ) वार्षिक और (ब) आकस्मिक। राज्य सरकार अपने अधीन स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को वार्षिक कुछ न कुछ सहायता शिक्षा सार्वजनिक स्वास्थ्य चिकित्सा सड़कों आदि के लिये देती हैं। इस प्रकार की सहायता कभी कभी कुछ विशेष कार्यों के लिए अकस्मात ही दे दी जाती है जैसे वाटर वर्क्स, अस्पताल आदि के भवन निर्माण के लिए।

१६ राज सरकार से ऋण (Loan from State Govt.)—आर्थिक सहायता के अतिरिक्त आवश्यकता पड़ जाने पर राज्य सरकारें स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को बिना ब्याज ऋण भी देती है।

नगरपालिकाओं का व्यय

(Expenditure of the Municipalities)

नगरपालिका के व्यय की मुख्य मद निम्नलिखित है —

अनिवार्य कार्यों पर व्यय

१. सार्वजनिक सुरक्षा—(क) आग से बचाव की व्यवस्था करना, (ख) प्रकाश की व्यवस्था करना (ग) हानि पहुँचाने वाले जानवरों से रक्षा का प्रबन्ध करना।

२ जन साधारण का स्वास्थ्य तथा चिकित्सा—(क) गली मोहल्लों तथा नालियों की सफाई सार्वजनिक टट्टियाँ बनवाना तथा उनकी सफाई और कूड़ा करकट को नगर से बाहर फिकवाने पर व्यय करना (ख) शुद्ध जल की व्यवस्था करना (ग) गंदे पानी के निकास का प्रबन्ध (घ) अस्पताल और टीका लगाने का व्यय (ङ) पशु चिकित्सा का प्रबन्ध करना तथा (च) खाद्य एवं पेय पदार्थों में मिलावट को रोकने की व्यवस्था करना।

३ सार्वजनिक शिक्षा—प्रारम्भिक शिक्षा पर व्यय करना।

४ जन साधारण की सुविधा—(क) सड़क धर्मशाला और विश्राम-गृह की व्यवस्था करना (ख) सड़कों पर वृक्ष लगवाना चौराहों पर फुलवाड़ी लगवाना,
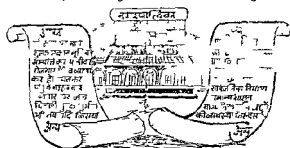
टहलने तथा घूमने के लिए पार्कों तथा व्यायामशालाओं का प्रबन्ध करना, (ग) पुस्तकालय तथा वाचनालय खुलवाना, म्यूजियम आदि स्थापित करना।

५. विविध कार्यों पर व्यय—बाजार, मेले, प्रदर्शनी आदि की व्यवस्था करना।

जिला बोर्ड (District Boards)

सन् १९४६–४७ में भारत में १७६ जिला बोर्ड थे जिनकी आय १,५५५ लाख रुपये थी तथा इनके द्वारा कर-भार प्रति व्यक्ति पर ४ आ० १ पा० था। सन् १९५२–५३ में क राज्यों में १४६, ख राज्यों में ३३ और ग राज्यों में ४ जिला बोर्ड थे। सन् १९५६ में ३०१ जिला बोर्ड थे।

जिला बोर्डों के मुख्य कार्य (Chief Functions of District Boards)—जिला बोर्डों के मुख्य कार्य ग्राम्य क्षेत्रों में प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करना, सड़कें बनवाना, ग्रामीणों के लिए चिकित्सालय खोलना, चेचक तथा हैजे की रोक थाम के लिए टीके लगाने की व्यवस्था करना, मेला और प्रदर्शनियों का आयोजन करना, पशुओं की नस्ल सुधारना तथा सांड-गृह स्थापित करना है। नदियों पर पुल बँधवाना तथा नाव से यात्रियों को पार लगाना, भूले-भटके पशुओं के लिए पशु-निरोधालय स्थापित करना, पुस्तकालय खोलना तथा वाचनालय स्थापित करना आदि कुछ अन्य कार्य हैं।

जिला बोर्डों के आय के साधन
(Sources of the Income of District Boards)

१. स्थानीय भूमि कर (Land Cess)—यह जिला बोर्डों की आय का मुख्य साधन है। स्थायी बन्दोबस्त वाले राज्यों में भूमि के क्षेत्रफल के अनुसार और अस्थायी बन्दोबस्त वाले राज्यों में वार्षिक आय पर यह कर लगाया जाता है। उत्तर-प्रदेश में मई सन् १९४८ से प्रत्येक जिला बोर्ड के लिए यह अनिवार्य है कि वह माल-गुजारी पर ३ आना प्रति रुपया की दर से स्थानीय भूमि-कर लगाये। इस कर की वसूली मालगुजारी के साथ साथ राज्यों के सरकारी कर्मचारी करते हैं और फिर वह जिला बोर्डों को दे दी जाती है। सन् १९५२-५३ में उत्तर प्रदेश के जिला बोर्डों को इस कर से ६२·१ लाख, बिहार में ८५·१ लाख, उड़ीसा में ५·५ लाख और मध्य-प्रदेश में ३७·६ लाख रुपये की आय थी।

२. हैसियत या सम्पत्ति कर (Haisiyat or Property Tax)—यह कर मकान तथा अन्य सम्पत्ति के मूल्य पर तथा व्यापार उद्योग-धन्धों से होने वाली आय पर लगाया जाता है। उत्तर-प्रदेश में ४६ में से २७ जिला बोर्डों को यह कर लगाने का अधिकार है। कर की दर कुल आय पर ४ पाई प्रति रुपया से अधिक नहीं हो सकती। इन २७ जिला बोर्डों को इस कर से आय १६ लाख रुपये है। यह कर प्रत्येक जिला बोर्ड द्वारा लगाया जाना चाहिए यह व्यापार या उद्योग से होने वाली आय पर ही लगाया जाता है। कृषि-आय पर भी जो इससे अब तक मुक्त है, यह कर लगना चाहिए।

३. घाट, पुल, सड़क आदि पर कर—जिला बोर्ड घाट, पुल, सड़क, तालाब आदि के प्रयोग पर कर लगा कर अपनी आय करते हैं।

४. किराया—जिला बोर्डों को अपनी इमारतों तथा अन्य सम्पत्तियों से किराये की आय होती है। डाक बंगलों में ठहरने वालों से किराया भी लिया जाता है।

५. लाइसेंस शुल्क—कुछ पेशों तथा व्यापार के लिए जिला बोर्ड लाइसेंस देते हैं, जिनके लिए लाइसन्स शुल्क वसूल किया जाता है। उदाहरणार्थ, कसाइयों, वनस्पति घी की दूकानों, आटे की चक्की व अन्य कारखानों के लिए लाइसेन्स अनिवार्य कर यह शुल्क वसूल किया जाता है।

६. आर्थिक दण्ड या जुर्माना—जिला बोर्डों के नियम भंग करने पर ये संस्थाएँ जुर्माना वसूल करती हैं जिससे इन्हें आय होती है। उदाहरण के लिए, भटकते हुए पशुओं को कांजी हौज (Cattle Pond) में बन्द कर दिया जाता है और जुर्माना लेकर उनके स्वामियों को वापिस किया जाता है।

७. स्कूलों तथा अस्पतालों के लिए शुल्क—इस मद से भी जिला बोर्डों को कुछ आय होती है।

८. बाजार, दूकानों तथा मेलों व प्रदर्शनियों पर कर—इन सब पर भी शुल्क लगाया जाता है।

९. पशुओं के पानी पीने के स्थानों पर महसूल—यह कर लगा कर भी आय की जाती है।

१०. कृषि के औजारों तथा बीज विक्रय से आय प्राप्त की जाती है।

११ राज्य सरकार से आर्थिक सहायता—जिला बोर्डों की आय का एक सबसे बड़ा भाग राज्य सरकारों की आर्थिक सहायता होती है। इनकी अपनी आय का लगभग ५०% भाग सरकारी सहायता से प्राप्त होता है। सन् १९४६-४७ में कुल ३१४ लाख की आय में से १५३ लाख रुपये सरकारी सहायता से प्राप्त हुए थे। शिक्षा एवं स्वास्थ्य व चिकित्सा के लिए तो सरकार जिला बोर्डों को ८०% सहायता देती है।

जिला बोर्डों की व्यय की मदें
(Items of the Expenditure of District Boards)

जिला बोर्ड निम्नलिखित मदों पर व्यय करते हैं

१. शिक्षा—जिला बोर्डों की आय का सबसे बड़ा भाग शिक्षा पर व्यय होता है। इनका यह कार्य प्रारम्भिक शिक्षा तक ही सीमित रहता है।

२ स्वास्थ्य एवं चिकित्सा—जिला बोर्डों के व्यय की दूसरी मद स्वास्थ्य एवं चिकित्सा है। इसमें अन्य स्वास्थ्य सम्बन्धी व्ययों के अतिरिक्त चेचक व हैजे की रोक-थाम के लिए टीका लगाने की व्यवस्था करने का व्यय भी सम्मिलित होता है।

३. सड़कों, पुलों आदि के निर्माण एवं मरम्मत पर व्यय करना।

४. पशुशालायें तथा पशु चिकित्सालय पर व्यय करना।

५. इमारतें, पशुओं की चरही आदि बनवाना।

६. पुस्तकालय खोलने तथा वाचनालय स्थापित करना।

७. मेले व प्रदर्शनियों की व्यवस्था करना।

८. पशुओं की नस्ल सुधारने की व्यवस्था करना तथा साँड-गृह स्थापित करना।

९. कृषि और बागवानी पर व्यय करना।

१०. भूमि को कृषि-योग्य (Reclamation of Soil) बनाने के लिए व्यवस्था करना।

ग्राम-पंचायतें (Village Panchayats)

ब्रिटिश-शासन-काल में ग्राम-पंचायतों की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया, इसलिये उनका विनाश होने लगा। परन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत के संविधान में ग्राम-पंचायतों को प्रोत्साहन मिला। अधिकांश राज्यों में ग्राम-पंचायतों के निर्माण के लिए विधान पास किये जा चुके हैं। उत्तर-प्रदेश इस कार्य में सबसे अग्रगण्य रहा है। उत्तर प्रदेश ग्राम पंचायत-एक्ट १९४९ में इन्हें विस्तृत अधिकार और कर्तव्य प्रदान किये हैं। उत्तर प्रदेश में इनके निरीक्षण तथा नियन्त्रण के लिए एक वृहत् संगठन है। ३१ मार्च १९५८ में १,६४,३२८ ग्राम-पंचायतें थी।

ग्राम-पंचायतों के मुख्य कार्य—पीने तथा नहाने के लिये पानी की सफाई, रोशनी, जन-स्वास्थ्य-रक्षा, सड़क-निर्माण, प्रारम्भिक शिक्षा, चिकित्सा, खेल-कूद के मैदान आदि की व्यवस्था करना, कुएँ बनवाना तथा उनकी मरम्मत कराना आदि कुछ इनके अनिवार्य कार्य है। पुस्तकालय, मेलों, औषधालयों, जन्म मृत्यु का लेखा रखना, वृक्षारोपण आदि की व्यवस्था करना इनके कुछ वैकल्पिक कार्य है।

ग्राम-पंचायतों की आय के साधन—भारत में ग्राम-पंचायतों के आय के साधन भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न भिन्न है।

बम्बई राज्य में—ग्राम-पंचायतें मकान पर, यात्रियों पर, मेलों पर; माल की बिक्री पर, गाँव में माल आने पर, विवाहों और भोजों पर, दूकानों तथा होटलों पर, तेल से चलने वाले इंजिनों पर कर लगाती है। इनके अतिरिक्त, उन्हें मुकदमों का 'घंटवारा' करने की फीस, गाँव के कूड़ा-करकट को नीलाम करने आदि के अतिरिक्त राज्य की सरकार से भी कुछ आर्थिक सहायता प्राप्त होती हैं।

मद्रास राज्य में—ग्राम पंचायतें मकानों, दूकानों तथा गाड़ियों पर कर लगाने के अतिरिक्त सम्पत्ति के हस्तान्तरण, कृषि-भूमि, पशु, पैठ, बाजार आदि पर भी कर लगाती है।

मध्य प्रदेश में—ग्राम पंचायतें मकान कर के अतिरिक्त माल के बेचने वालों, दलालों, आढ़तियों और तोलाओं से शुल्क लेती है तथा ग्रामवासियों से गांव की सफाई, रोशनी और पानी का प्रबन्ध करने के लिए भी सरचार्ज लगाती है।

उत्तर-प्रदेश में ग्राम-पंचायतों के आय के साधन

१. कृषि-भूमि पर कर—गाँव के कृषक कृषि-योग्य भूमि का जितना लगान सरकार को देते है, उस पर एक आना प्रति रुपये के हिसाब से ग्राम-पंचायत भूमि पर कर वसूल करती है।

२. व्यापार तथा धंधों पर कर—ग्राम-पंचायतें गाँव के दूकानदारों, व्यापारियों, व्यवसायियों पर कर लगाती है। परन्तु यह कर एक निश्चित राशि से अधिक नहीं हो सकता। जैसे तोलाओं व पल्लेदारों पर ३ रु० प्रति वर्ष, किराये पर

गाड़िया के चलाने वालों पर ३ रु० प्रति वर्ष का कर राज्य सरकार की ओर से निर्धारित किया गया है, आदि।

३. मकान कर—जो व्यक्ति भूमि-कर या व्यापारिक-कर या आय-कर नहीं देते है, उन पर ग्राम-पंचायत मकान-कर लगा सकती है। परन्तु मकान-कर मकान के उचित वार्षिक मूल्य के ५ प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकता। निर्धन व्यक्ति इस कर से मुक्त किये जा सकते है। सरकारी इमारतों पर यह कर नहीं लगता।

४. अन्य साधन—उपर्युक्त करों के अतिरिक्त, झगड़ों का निबटारा करने की फीस तथा जुर्माना, सार्वजनिक स्थान का किराया और ऐसे स्थानों पर खड़ी घास या वृक्षों के विक्रय से आय, गांव का कूड़ा-करकट, मुर्गियों की बिक्री तथा मृत पशुओं की बिक्री आदि से भी आय प्राप्त होती है।

ग्राम पंचायतों के व्यय की मदें—ग्राम-पंचायतें प्रायः निम्नांकित मदों पर व्यय करती है —

(१) शिक्षा, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा, (२) गाँव की सफाई एवं रोशनी का प्रबन्ध, (३) कुएँ खुदवाना तथा उनकी मरम्मत करवाना, (४) रास्ता को ठीक करवाना, (५) गाँव की डाकू तथा चोरों से रक्षा करना, (६) गाव के धार्मिक स्थानों की रक्षा करना, (७) जन्म-मरण और विवाहों का लेखा रखना तथा (८) खेती-बाड़ी तथा उद्योग धन्धों की उन्नति में सहायता प्रदान करना।

स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं की दोषपूर्ण आर्थिक अवस्था—भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं की आर्थिक दशा बड़ी शोचनीय है, क्योंकि इनके आय के साधन बहुत कम और सीमित हैं। इनकी कम आय के कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) भारतवर्ष में आय के सभी मुख्य साधन केन्द्रीय सरकार तथा राज्य-सरकारों को प्राप्त हैं। केवल छोटे मोटे नाम मात्र के साधन स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं को सौंपे गये हैं।

(२) नागरिकों की निर्धनता तथा उनमें कर देने की अत्यन्त कम शक्ति, धनिकों की कर देने में आनाकानी तथा नगरपिताओं में साहस के अभाव के कारण स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं को उतना कर प्राप्त नहीं होता जितना होना चाहिए।

(३) निर्वाचित सदस्य अधिक कर लगा कर जनता में बदनाम नहीं होना चाहते।

(४) दोषपूर्ण निरीक्षण तथा पक्षपात शासन व्यवस्था के फलस्वरूप अनेक व्यक्ति कर देने से बच जाते हैं जबकि कुछ लोगों को अपनी शक्ति से भी अधिक कर देना पड़ता है।

(५) भारत के लोग पिछड़े हैं। वे इन स्वायत्त संस्थाओं का महत्त्व नहीं जानते। इसलिए जब भी ये संस्थाएँ आय में वृद्धि करने के हेतु नये कर लगाती हैं तो वे उसका विरोध करते है।

(६) स्थानीय स्वायत्त संस्थाएँ अपनी शक्ति से बाहर जाकर शिक्षा तथा स्वास्थ्य की बड़ी बड़ी योजनाओं को अपने हाथ में ले लेती हैं और इससे उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं।

(७) स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं का प्रबन्ध अधिकतर अयोग्य, अशिक्षित तथा स्वार्थी लोगों के हाथ में है जिससे गबन, गोलमाल तथा अपव्यय के दृष्टान्त इन संस्थाओं में नित्य देखने को मिलते हैं।

स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं की आर्थिक स्थिति म सुधार के सुझाव (Suggestions for Improvements)—भारत सरकार ने स्थानीय संस्थाओं की दशा जानने और उनकी उन्नति के सुझावों की सिफारिश करने के लिये सन् १९४९ में श्री पी० के० बट्टन, रिटायर्ड अकाउन्टैन्ट जनरल की अध्यक्षता म एक स्थानीय राजस्व समिति की नियुक्ति की। समिति ने सन् १९५१ म एक विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की और निम्नलिखित सिफारिशें कीं —

१. स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं को वर्तमान कर लगाने की शक्ति म वृद्धि की जाय।

२. राज्य सरकारें कुछ करों की आय को सम्पूर्ण रूप से उन्हें दे दें। उदाहरणार्थ, माल तथा यात्रियों पर लगा सीमा कर, मकान कर, चुंगी कर, बिजली कर, विज्ञापन कर, बैल व घोड़ा गाड़ी कर, पशु व नाव कर, पेशों व व्यापारियों पर लगा कर तथा मनोरंजन कर राज्य सरकारों से हटा कर स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं को मिलना चाहिये।

३. जिन स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं को कर लगाने का अधिकार नहीं है उन्हें यह कर शीघ्र लगाने का अधिकार दे देना चाहिये।

४. सम्पत्ति कर को विशेष रूप से अनिवार्य कर दिया जाय और चुंगी-कर के लिये एक आदर्श सूची नियत की जावे।

५. अभी तक किसी एक पेशे पर अधिक से अधिक २५० रु० तक प्रति वर्ष आय कर लग सकता है, इस सीमा को बढ़ा कर १,००० रु० प्रति वर्ष कर दिया जावे। जो स्थानीय संस्थाएँ पेशों पर कर नहीं लगाती हैं, उन्हें इसकी व्यवस्था करनी चाहिये।

६. कसाईखानों तथा तहबाजारी से फीस ली जाती है वह अपर्याप्त है और उसमें वृद्धि की आवश्यकता है।

७ होटलों में ठहरने वालों पर कर लगाने की व्यवस्था की जावे।

८. सरकारी सम्पत्ति पर स्थानीय संस्थाओं को कर लगाने की छूट मिलनी चाहिये।

९. राज्य सरकारों से स्थानीय संस्थाओं को अधिक आर्थिक सहायता मिलनी चाहिये।

१० उच्च शिक्षा पर स्थानीय संस्थाओं को कोई व्यय नहीं करना चाहिये।

११. चिकित्सा और जन स्वास्थ्य के लिये चेचक तथा हैजे के टीके, संक्रामक रोगों की रोकथाम तथा चिकित्सालयों का व्यय राज्य सरकारों को करना चाहिये।

१२. सड़क बनवाने तथा यातायात के अन्य साधन जुटाने के लिये राज्य सरकारें स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं को आर्थिक सहायता प्रदान करें।

१३. ग्राम्य क्षेत्रों म बैलगाड़ियों तथा नगरों म रिक्शाओं पर कर लगाया जावे।

१४. सैनिक गाड़ियाँ स्थानीय सड़कों को जो हानि पहुँचाती हैं उसके लिए स्थानीय संस्थाओं को क्षति पूर्ति मिलनी चाहिए।

१५. यदि किसी स्थानीय संस्था को ऋण की आवश्यकता है, तो उसका प्रबन्ध राज्य सरकारें करें क्योंकि राज्य सरकारों को कम ब्याज पर ऋण प्राप्त हो जाता है।

१६ स्थानीय स्वायत्त संस्थाएँ अपने प्रतिवर्ष के बजट में से कुछ बचत कर उसे संचित रखें और केवल संकट काल में ही राज्य सरकार की अनुमति से खर्च किया जावे।

१७. *स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के हिसाब किताब की पूर्ण जाँच राज्य सरकार* के अंकेक्षकों (Auditors) द्वारा होनी चाहियें।

ग्रामपंचायतों के सुधार के सुझाव

(१) ग्राम पंचायतें अनिवार्य रूप से मकान कर, सम्पत्ति कर या चूल्हा कर लगायें और गाँव की सफाई के लिये शुल्क लगायें।

(२) पंचायती क्षेत्र में जो मालगुजारी सरकार को प्राप्त हो उसका १५% पंचायतों को मिलना चाहिये।

(३) अचल सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर लगाना भी अत्यन्त आवश्यक है।

(४) पंचायत के कर्मचारियों के वेतन का ७५% राज्य सरकारों को देना चाहिये।

(५) गाँव की डाकू तथा चोरों से रक्षा करने पर जो व्यय पंचायतों को करना पड़ता है वह सारा का सारा राज्य सरकारों द्वारा सहन किया जावे।

(६) सहकारी कृषि, दुग्धशालाएँ तथा कसाईखाने चलाने का अधिकार भी पंचायतों को दिया जावे।

(७) ग्रामवासियों पर लगे समस्त सरकारी कर ग्राम पंचायतों द्वारा संग्रह कराये जाकर उन्हें उचित पारिश्रमिक दिया जावे।

(८) शिक्षा तथा चिकित्सा का समस्त व्यय राज्य सरकार सहन करे।

(९) पंचायतों का प्रबन्ध शिक्षित, योग्य, ईमानदार तथा जातीय पक्षपात रहित व्यक्तियों के हाथ में हो।

(१०) पंच गाँव की भलाई पर ध्यान न देकर अपने पेट पालने पर ध्यान दे रहे हैं। अस्तु आर्थिक स्थिति में सुधार करने के लिए पंचों की इस मनोवृत्ति में सुधार करना आवश्यक है।

लोकतन्त्र का विकेन्द्रीकरण (Democratic Centralisation)—हमारे संविधान में स्वीकार किया गया है कि शक्ति का स्रोत स्वयं जनता है। इससे बढ़ कर संविधान और लोकतन्त्र के प्रति क्या निष्ठा हो सकती है कि प्रशासन के संचालन का काम सचमुच जनता को सौंप दिया जाय। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये इस कार्य का श्री गणेश सबसे पहले गत अक्टूबर मास में राजस्थान में हुआ। साथ ही मध्य प्रदेश व मद्रास राज्यों में भी इस ओर सक्रिय कदम उठाये जा रहे हैं।

उद्देश्य—(१) लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का मूल उद्देश्य प्रत्येक नागरिक को प्रशासन में भाग लेने का अवसर प्रदान करना है। (२) लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण योजना ने एक ऐसे समाज की रचना करना है जहां ग्रामीण यह अनुभव करें कि गांव और गांव की सब वस्तुएँ उनकी ही हैं और उनका विकास और विस्तार करना उन्हीं की जिम्मेवारी है। (३) इसका उद्देश्य ग्रामीण जनता में ही ऐसे ग्रामीण नेताओं को बनाना है जो अपने साथ ग्रामीण समुदाय का पूर्ण सहयोग प्राप्त कर अत्यन्त उत्साह, उमंग और जोश के साथ विकास योजनाओं को सफल बना सकें।

सगठन—ग्राम-पंचायतें लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की पहली कड़ी हैं। ये गांव सभाओं द्वारा चुनी जाती हैं। जिनमें गांव के सभी वयस्क व्यक्ति होते हैं।

कार्य—ग्राम पंचायतें ग्रामीणों के लिए नागरिक तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्था करती हैं। चिकित्सा, प्रसूतिका एवं बाल कल्याण सम्बन्धी सुविधाएँ, सार्वजनिक चरागाह, गांव की सड़कों, गलियों, तालाब और कुओं को ठीक हालत में कायम रखना, सफाई और पानी के बहाव आदि की व्यवस्था करना, ग्राम्य पंचायतों के कुछ अन्य कार्य हैं। कुछ स्थानों की पंचायतें प्राथमिक शिक्षा, गांव के भूमि-रेकार्ड तथा भूमि लगान की भी व्यवस्था करती है।

इनके अतिरिक्त गांवों में न्याय पंचायतें भी होती हैं जिनमें ग्राम्य पंचायतों में चुने हुए सदस्य ही होते हैं। न्याय पंचायतों को फौजदारी तथा अन्य स्थानीय कानूनों के अंतर्गत छोटे-छोटे जुर्मों के निपटाने के अधिकार होते हैं। २०० रु० तक के दिवानी दावों के फैसलों का भी अधिकार होता है। इनकी कार्य-प्रणाली सूक्ष्म होती है तथा वकीलों को लाने की इजाजत नहीं है।

वित्त—इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए मकानों, भूमि, मेल और त्यौहारों माल की बिक्री आदि पर कर लगाते हैं तथा कई वस्तुओं पर चुंगी लगा कर फंड इकट्ठा करते हैं।

पंचायत समितियाँ—प्रत्येक राज्य विकास की दृष्टि से कुछ खंडों अर्थात ब्लॉक्स में विभाजित होता है और प्रत्येक खंड के स्तर पर एक पंचायत समिति होती है जिसमें समस्त पंचायतों के सरपंच और खंड की समस्त तहसील पंचायतों के सरपंच सदस्य होते हैं। अधिनियम के अनुसार एक कृषि निपुण, दो महिलाएँ, अनुसूचित जातियों का एक व्यक्ति भी सम्मिलित किये जाने की व्यवस्था है। साथ-ही खंड की सहकारी संस्थाओं की प्रबंध समितियों के सदस्यों में से एक व्यक्ति और ऐसे दो व्यक्ति जिनका प्रशासन, सार्वजनिक जीवन अथवा ग्राम विकास सम्बन्धी अनुभव पंचायत समिति के लिए लाभकारी सिद्ध हो सहयत किए जायेंगे। सहयोगी सदस्यों के रूप में राज्य विधान सभा का सदस्य भी होगा, उसे बैठक में भाग लेने का अधिकार होगा, पर मत देने का नहीं।

कार्य—पंचायत समितियों के निम्न कार्य होते हैं :—(१) सामुदायिक विकास—नियोजन, अधिक उत्पादन, ग्राम संस्थाओं का सगठन तथा ग्रामीणों स्वावलंबन की प्रवृत्ति उत्पन्न करना (२) कृषि-सम्बन्धी कार्य—परिवार तथा ग्राम खंड के लिए योजनाएँ बनाना, धन तथा जल साधनों का प्रयोग, वैज्ञानिक ढंगों का प्रसार, २५,००० रु० से कम लागत वाले सिंचन कार्यों का निर्माण तथा राज्य आयोजना में बताई गई नीति से व्यापारिक फसलों का विकास करना। (३) पशु-पालन—कृत्रिम गर्भाधान केन्द्रों की स्थापना, छूत की बीमारी को रोकना, पशु-औषधालयों की तथा दुग्ध शालाओं की स्थापना

करना। (४) स्वास्थ्य तथा सफाई—पीने-योग्य पानी की व्यवस्था करना, औषधालयों एवं प्रसूति केन्द्रों का निरीक्षण करना आदि। (५) शिक्षा—प्राथमिक शालाओं को बुनियादी पद्धति में परिवर्तन करना, माध्यमिक स्तरों तक छात्र वृत्तियों तथा आर्थिक सहायताएँ देना। (६) समाज सेवा एवं समाज शिक्षा—सूचना, सामुदायिक और विनोद केन्द्रों की स्थापना आदि (७) सहकारिता—सहकारी समिति की स्थापना में सहयोग देना तथा सहकारी आन्दोलन को बलशाली बनाना। (८) कुटीर उद्योग—कुटीर उद्योगों एवं छोटे पैमाने के उद्योगों का विकास करना। (९) पिछड़े वर्ग के लिए कार्य—पिछड़े वर्ग के लाभ के लिए सरकार द्वारा सहायता प्राप्त छात्रावासों का प्रबन्ध करना, समाज कल्याण जैसे सगठन को मजबूत बनाना।

जिला परिषद—प्रत्येक जिला स्तर पर एक जिला परिषद होता है। जिला परिषद में जिले की समस्त पचायत समितियों के प्रधान, उस जिले में रहने वाला राज्य सभा का सभासद और लोकसभा का सदस्य, जिले से निर्वाचित विधान सभा का सदस्य आदि सदस्य होते हैं। इनके अतिरिक्त, दो महिलाएँ, अनुसूचित तथा अनुसूचित जन जाति का तथा ग्राम विकास सम्बन्धी अनुभवी व्यक्ति जिला परिषद के सदस्य बनाये जाने की व्यवस्था है। विकास अधिकारी पदेन सदस्य होता है, परन्तु मत देने का अधिकार नहीं होता है।

कार्य—(१) जिला परिषद पचायत समितियों के बजट की जाँच करेगी (२) जिले के लिए राज्य सरकार द्वारा तदर्थ अनुदानों का उनमें वितरण करेगी। (३) पचायतों तथा पचायत समितियों के कार्य का समन्वय करेगी (४) पचायतों तथा पचायत समितियों की सडकों का वर्गीकरण, उनके सभी सरपचों, प्रधानों, पचों, सदस्यों आदि के कैम्प, सम्मेलन आयोजित करेगी। पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विकास-कार्यों के बारे में राज्य सरकार को सलाह देगी।

पचायत समितियों तथा जिला परिषदों के सगठन एवं कार्यों का उपर्युक्त विवेचन राजस्थान पचायत समिति तथा जिला परिषद अधिनियम १९५९ के आधार पर किया गया है।

प्रश्न

१—उत्तर प्रदेश की नगरपालिका सभा के आय तथा व्यय के मुख्य साधन क्या हैं? प्रत्येक पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

२—उत्तर प्रदेश में जिला बोर्डों के आय-व्यय के प्रधान साधन बताइये।

३—उत्तर प्रदेश की म्युनिसिपैलिटियों की आय के मदों परसक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

४—नगरपालिका की आय के प्रधान स्रोत क्या है? प्रत्येक पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये?

५—जिला बोर्ड की आय के मुख्य स्रोत बताइये और उन पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। इसकी आय पर द्वितीय महायुद्ध का क्या प्रभाव पड़ा है?

६—चुँगी पर सक्षिप्त नोट लिखिये।   (अ० बो० १९४४)

७—भारत में स्थानीय संस्थाओं की आय-व्यय की मदों पर टिप्पणी लिखिये और इनके राजस्व में सुधार दीजिये।   (रा० बो० १९५९)

आर्थिक नियोजन
(ECONOMIC PLANNING)

सोवियत रूस की पंचवर्षीय योजनाओं की सफलताओं के उपरान्त नियोजन आर्थिक दोषों के लिए रामबाण औषधि समझी जाने लगी है। यहाँ तक कि पूँजीपति और व्यापारी-वर्ग जो नियोजन के शत्रु और स्वतन्त्र व्यापार के पुजारी माने जाते हैं, वे भी नियोजन के पक्के अनुयायी बन गये हैं।'

—वाडिया एवं जोशी

अध्याय ६६

भारत की पंचवर्षीय योजनाएँ
(Five year Plans of India)

नियोजना का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Planning—एल० लॉविन (L. Lorwin) के अनुसार "नियोजन वह आर्थिक सगठन है जिसमे एक निश्चित अवधि के भीतर जनता की आवश्यकताओ का अधिकतम पूर्ति के उद्देश्य से समस्त उपलब्ध साधनो के उपयोग के लिए सभी व्यक्ति तथा स्फुट यत्र, व्यवसाय तथा उद्योग सम्पूर्ण इकाई के समन्वित अङ्ग समझे जाते हैं।"[1] अस्तु आर्थिक क्षेत्र मे नियोजन का अर्थ यह है कि आर्थिक साधनो का ऐसा समन्वित नियन्त्रण हो जिसमे विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उनका अधिकतम उपयोग हो सके। भारतीय राष्ट्रीय योजना समिति १९३७ (Indian National Planning Committee, 1937) ने जनतन्त्रात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत योजना की परिभाषा इस प्रकार की है—'नियोजन वह नि स्वार्थ विशेषज्ञों के द्वारा निश्चित सामाजिक हितो के अनुसार एक अपूर्व औद्योगिक सम वय है। इस योजना पर केवल अर्थशास्त्र एव जीवन स्तर के उन्नयन की दृष्टि से ही विचार नही करना है वरन् उनमे सास्कृतिक एव आध्यात्मिक हित और जीवन के मानवीय पक्ष का भी सन्निवेश होना चाहिए।'[2]

डिकिनसन नियोजन को इस प्रकार परिभाषित करते हैं• 'आर्थिक नियोजन का अर्थ मुख्य आर्थिक निर्णयों पर पहुँचना है अर्थात् कितना और किस प्रकार उत्पादन किया जाय और निर्णयात्मक सत्ता के विचारपूर्वक निश्चयो द्वारा किसको वितरण किया जाय जो सपूर्ण आर्थिक प्रणाली के विस्तृत सर्वेक्षण पर आधारित हो।'[3]

उपर्युक्त विविध परिभाषाओ से यह स्पष्ट है कि आर्थिक नियोजन आर्थिक सगठन की एक प्रणाली है जिसके अन्तर्गत वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सस्थाओ की योजनाएँ एक सम्पूर्ण आर्थिक प्रणाली के विविध अग स्वरूप होती है। इसका उद्देश्य अधिकतम उत्पादन क्षमता एव सामाजिक कल्याण की वृद्धि कर राष्ट्र को अधिकतम सन्तुष्टि का होता है। इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था की प्रणाली मे कतिपय व्यक्तियो, वर्गो तथा सस्थाओ की असन्तुष्टी एव रोष का कोई ध्यान नही रखा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि उत्पादन मे वृद्धि कर उसका न्यायपूर्वक वितरण करना ही आर्थिक नियोजन का मुख्य उद्देश्य होता है।

---

1 "Planning is a system of Economic organization in which all individual and separate plants, enterprises and industries are treated as co ordinated units of a single whole for the purpose of utilising all available resources to achieve maximum satisfaction of the needs of the people within a given interval of time"

—*L Lorwin*

2 Report of the National Planning Committee on Manufacturing Industries, Page 21

आर्थिक नियोजन की आधारभूत बातें

(Essentials of Economic Planning)

आर्थिक नियोजन के लिए निम्नांकित सिद्धान्त आधारभूत माने जाते हैं —

१—विवेकपूर्ण निर्धारित निश्चित आर्थिक लक्ष्य (Conscious and deliberate economic aims i. e., targets)—निश्चित लक्ष्य आर्थिक नियोजन की आधारभूत आवश्यकता है, अतः बिना उसके वह निरर्थक समझी जाती है।

२—विविध आर्थिक क्रियाओं का सामंजस्य एवं संचालन हेतु एकल केन्द्रीय सत्ता का अस्तित्व (One Central planning authority Coordinating and directing various economic activities)—सम्पूर्ण प्रणाली के अन्तर्गत विविध आर्थिक क्रियाओं को समन्वय करने तथा उनके संचालन के लिए अविभाजित एक ही केन्द्रीय सत्ता का होना आवश्यक है। इस व्यवस्था के बिना नियोजन का संचालन सम्भव नहीं हो सकता।

३—सम्पूर्ण आर्थिक क्षेत्र में नियोजन का लागू होना (Planning must be spread throughout the entire economic field)—नियोजन सम्पूर्ण आर्थिक क्षेत्र के लिए होना चाहिए अर्थात् कोई भी पहलू इसके बाहर न हो तब ही नियोजन सफल हो सकता है अन्यथा समाज के एक अंग का विकास दूसरे अंग को जिस पर नियोजन लागू नहीं है, निरर्थक कर देगा।

४—सुव्यवस्थित ढंग से निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति हेतु क्रमानुसार सीमित उपलब्ध प्रसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग (Rational use of the limited available resources on a well organized system of priorities targets and objectives)—सीमित उपलब्ध समस्त प्रसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग होना आवश्यक है अन्यथा अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति के लक्ष्य में सफलता प्राप्त होना सम्भव नहीं हो सकता।

५—नियोजन संचालनार्थ संख्या शास्त्र प्रवीणों, वैज्ञानिकों तथा कला-कौशल विशिष्ट ज्ञान निपुण व्यक्तियों की बड़ी संख्या में कार्य संलग्न होना (The work of planning to be done by an army of statisticians, scientists and technicians)—आर्थिक नियोजन का कार्य तभी सुचारू रूप से चल सकता है जबकि इसमें उपयुक्त संख्या में सांख्यिकी शास्त्रियों, वैज्ञानिकों तथा कला-कौशल सम्बन्धी विशिष्ट ज्ञान वाले व्यक्ति कार्य संलग्न हों। इन लोगों ने इस विषय को एक विशिष्ट ज्ञान का विषय बना दिया है, अतः नियोजन की सफलता के के लिए इनका सहयोग आवश्यक है।

६—राष्ट्रीय अन्तर्क्षेत्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय योजनाओं में पारस्परिक सामंजस्य (Linking of national plans with inter-regional and

---

3 Economic planning is the making of major economic decisions what and how much is to be produced, and to whom it is to be allocated by the conscious decisions of a determinate authority, on the basis of a comprehensive survey of the economic survey of the economic system as a whole" —*Dickeunson, D H* Economics of socialism 1939, p 41.

interational plans)—राष्ट्रीय योजना का अन्तर्राज्य की योजनाओं से नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय योजनाओं से सामंजस्य एवं सम्पर्क होना चाहिए।

आधुनिक समय में योजना का महत्व—*आज का युग योजनाओं का युग है।* संसार की सभी राजनैतिक व्यवस्थाओं ने इसका महत्व भली प्रकार समझ लिया है। आर्थिक योजना का महत्व केवल देश के सुसंगठित उत्थान के लिए ही नहीं है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में अपना अस्तित्व कायम रखने अथवा आगे बढ़ने के लिए भी इसे ही आधारभूत बनाया जा रहा है। आधुनिक युग में आर्थिक योजना की विचार-धारा का प्रचार सबसे प्रथम रूस के द्वारा हुआ। रूस ने क्रम से कई आर्थिक योजनाएँ बनाई जो प्रायः सभी साम्यवाद के सिद्धान्तों पर स्थिर थीं। सारांश यह है कि रूस और चीन की भयानक उन्नति इसी आर्थिक योजना की देन है। भारत में भी द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् बॉम्बे प्लान, पिपुल्स प्लान, गांधी प्लान आदि योजनाएँ बनाई गईं, परन्तु भारत सरकार द्वारा पंचवर्षीय योजनाओं पर ही भारत की भावी आर्थिक उन्नति की आशा स्थिर की गई है।

भारतवर्ष में आर्थिक योजना की आवश्यकता—*द्वितीय महायुद्ध के पश्चात्* भारत का आर्थिक ढाँचा प्रायः छिन्न-भिन्न हो गया। भारत विभाजन ने देश की आर्थिक स्थिति को और भी गंभीर बना दिया है। इसके अतिरिक्त, दैवीय प्रकोपों ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव डाला। कहीं वर्षा के प्रभाव के कारण और कहीं बाढ़ों के कारण अपार हानि हुई। देश में खाद्यान्नों तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का बड़ा अभाव हो गया और हम अन्य देशों का सहारा लेना पड़ा। देश में बेरोजगारी और निर्धनता ने अपना घर कर लिया है। हमारे उद्योग धन्धे भी अभी बहुत पिछड़ी दशा में हैं। केवल २·२५ करोड़ व्यक्ति ही इन उद्योगों से उदर-पूर्ति कर पाते हैं। भारत की दो तिहाई जन-संख्या कृषि पर निर्भर है, परन्तु कृषि उद्योग अवनत दशा में है। हमारे यहाँ एक एकड़ भूमि से ६६० पौंड गेहूँ प्राप्त होता है। जबकि जापान में १,७१३ पौंड और मिश्र में १६१८ पौंड गेहूँ उत्पन्न किया जाता है। हमारा निम्न जीवन स्तर हमारी अर्थ व्यवस्था की असामर्थ्य का द्योतक है। हमारी राष्ट्रीय आय २५५ रु० प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष है जो उच्च जीवन-स्तर कायम रखने के लिए बिल्कुल अपर्याप्त है। इन सब कारणों से सरकार ने अनुभव किया कि खण्डित योजना निर्माण से इस जटिल समस्या का हल होना असम्भव था। अतः भारत सरकार ने भारत के समुचित और आर्थिक विकास के लिए सन् १९५० ई० में एक योजना आयोग (Planning Commission) की नियुक्ति की।

भारत सरकार की प्रथम पंचवर्षीय योजना—मार्च सन् १९५० में भारत सरकार ने अपने प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में योजना आयोग की नियुक्ति की जिसने ३२ मास के निरंतर परिश्रम के पश्चात् योजना का अन्तिम रूप ८ दिसम्बर १९५२ को भारतीय संसद के सम्मुख प्रस्तुत किया जो स्वीकार कर लिया गया। इस योजना को पूर्ण रूप से तैयार करने में २५ लाख रुपये व्यय हुए तथा २७५ कर्मचारी इसमें कार्य-संलग्न रहे। यह पंचवर्षीय योजना सन् १९५१-५२ से १९५५-५६ तक की अवधि के लिए थी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य—*स्वतन्त्र भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना का मुख्य उद्देश्य*—(१) भारतवासियों के रहन सहन के स्तर को ऊँचा उठाना,

और (२) उनके लिए अधिक सुखी और सम्पन्न जीवन के लिए उपयुक्त अवसर प्रदान करना है। योजना आयोग के शब्दों में पंचवर्षीय योजना देश के आर्थिक विकास की एक ऐसा मिली जुली मिश्रित आर्थिक व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत सरकार और जनता दोनों के पृथक् पृथक् कार्य क्षेत्र हैं और अलग-अलग उत्तरदायित्व हैं।

योजना का स्वरूप—इस योजना में सरकार द्वारा देश के विकास पर लगभग २०६६ करोड़ रुपया व्यय करने का आयोजन किया गया था जो विभिन्न मदों पर निम्न प्रकार था —

	१९५१-५६ में व्यय (करोड़ रुपयों में)	कुल व्यय का प्रतिशत
कृषि और सामूहिक विकास	३६०·४३	१७·४
सिंचाई और बिजली	५६१·४१	२७·२
यातायात और संवहन	४९७·१०	२४·०
उद्योग-धन्धे	१७४·०४	८·४
सामाजिक सेवाएँ	३३९·८१	१६·४
पुनर्वास	८५·००	४·१
विविध	५१·९९	२·५
योग	२०६८·७८	१००·०

व्यय विभाजन—केन्द्र और राज्य-सरकारों के मध्य कुल व्यय का बँटवारा मोटे तौर पर निम्न प्रकार था :—

	(करोड़ रुपयों में)
केन्द्रीय सरकार (रेलों सहित)	१,२४१
राज्य सरकारें : क भाग	६१०
ख भाग	१७३
ग भाग	३२
जम्मू व कश्मीर	१३
योग	२,०६९

प्रथम योजना का उद्देश्य भविष्य में द्रुततर विकास की ओर बढ़ना था। इस हेतु सार्वजनिक क्षेत्र के विकास कार्यक्रम के प्रस्तावित व्यय के लिए प्रारम्भ में २,०६९ करोड़ रुपये रखे गये जो बाद में बढ़ाकर २,३५६ करोड़ रुपय कर दिये गये।

प्रथम योजना-काल में सिंचाई तथा बिजली-उत्पादन के साथ साथ कृषि विकास को सबसे अधिक प्राथमिकता दी गई। परिवहन तथा संचार साधनों के विकास को भी प्राथमिकता मिली। इस योजना काल में औद्योगिक विकास निजी उद्योगपतियों की पहल तथा निजी साधनों पर छोड़ दिया गया था।

प्रथम योजना में वास्तविक व्यय—प्रथम योजना के पाँच वर्षों में सार्वजनिक क्षेत्र में लगभग १,९६० करोड़ रुपये का व्यय हुआ जो २,३५६ करोड़ रुपये के संशोधित लक्ष्य से १७% कम था। इसका विवरण नीचे दिया गया है :—

	(करोड़ रुपयों में)
१९५१–५२	२५९
१९५२–५३	२७३
१९५३–५४	३४०
१९५४–५५	४७६
१९५५–५६	६१२
	१,९६०

वित्तीय स्रोत—उपर्युक्त व्यय के वित्तीय स्रोत निम्नलिखित थे :—

	(करोड़ रुपयों में)
(१) राजस्व खाते से (रेलवे के योगदान सहित)	७४५
(२) जनता से लिया गया ऋण	२०३
(३) छोटी बचतें तथा अनिहित ऋण	३००
(४) अन्य विविध पूँजीगत प्राप्तियाँ	१००
(५) बाहरी सहायता	११७
(६) घाटे की अर्थ-व्यवस्था से	४१५
	१,९६०

प्रथम योजना के लक्ष्य तथा सफलताएँ

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन उद्देश्य बहुत कुछ प्राप्त कर लिये गये। घरेलू उत्पादन में वृद्धि हुई तथा अर्थ व्यवस्था काफी सुदृढ़ हो गई प्रथम योजना के अन्त में मूल्य-स्तर, योजना लागू होने से पूर्व के मूल्य-स्तर से १५% कम था।

प्रथम योजना काल में राष्ट्रीय आय सन् १९५५-५६ में बढ़कर लगभग १०,८०० करोड़ रुपये हो गई जो सन् १९५०–५१ में ९,११० करोड़ रुपये थी। इस प्रकार राष्ट्रीय आय में १७·५ प्रतिशत वृद्धि हुई। इसी काल में प्रति व्यक्ति आय भी २५३ रुपये से बढ़कर २८१ रुपये हो गई, जबकि प्रति व्यक्ति उपभोग में ९ प्रतिशत की ही वृद्धि हुई। राष्ट्रीय आय में विनियोग की दर में भी वृद्धि हुई।

प्रथम योजना के लक्ष्य तथा सफलताएं

	१९५०-५१	१९५५-५६ तक होने वाली वृद्धि (लक्ष्य)	१९५५-५६ (सफलताएँ)	१९५०-५१पर १९५५-५६में हुई वृद्धि
कृषि उत्पादन				
खाद्यान्न (लाख टन)	५४०	७६	६३५	+९५
कपास (लाख गाँठें)	२९·१	१२·९	४०·०	+१०·९
पटसन (लाख गाठ)	३२·८	२१·२	४१·६	+८·८
गन्ना गुड के रूप मे (लाख टन)	५६·२	६·८	५८·६	+२·४
तिलहन (लाख टन)	५१·०	३·६	५६·०	+५·०
बिजली (लाख किलोवाट)	२३	१३	४३	+२०
सिचाई (लाख एकड)	५१०	१९७	६७८	+१६·८
औद्योगिक उत्पादन				
तैयार इस्पात (लाख टन)	९·८	६·७	१२·७	+२·९
सीमेंट (लाख टन)	२६·९	२१·१	४५·९	+१९·०
अमोनियम सल्फेट (हजार टन)	४६·०	४०४·४	३९४·०	+३४८·०
रेल इंजिन (संख्या)	३	१७०	१७९	+१७६
पटसन से बनी वस्तुएं (हजार टन)	८९२	३०८	१,०५४	+१६२
मिल का बना वस्त्र (लाख गज)	३७,१८०	९,८२०	५१,६९०	+१४,५१०
साइकिल (हजारो में)	१०१	४२९	५१३	+४१२
जहाजरानी (लाख जीआरटो)	३·९	२·१	५·०	+१·१
राष्ट्रीय राजपथ (हजार मील)	१२·३	०·६	१२·९	+०·६

द्वितीय पंचवर्षीय योजना
(Second Five-year Plan)

"हमारी द्वितीय पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य ग्रामीण भारत का पुनर्निर्माण करना, औद्योगिक विकास के लिए आधार तैयार करना तथा हमारे देश के कमजोर और पिछड़े हुए वर्गों को अवसर प्रदान करना तथा देश के सभी भागों का सतुलित विकास करना है।" —जवाहरलाल नेहरू

परिचय—प्रथम पंचवर्षीय योजना की समाप्ति के पश्चात् अगले पाँच वर्षों के लिये दूसरी योजना का समारम्भ हुआ। यह योजना भारतीय संसद में १५ मई १९५५

में पास की गई। योजना की सफलता के लिए २० भारतीय अर्थशास्त्रियों का एक मण्डल स्थापित किया गया है ताकि सबका सहयोग प्राप्त हो और योजना के प्रत्येक पहलू पर भली प्रकार परामर्श किया जा सके।

उद्देश्य—(१) राष्ट्रीय आय में वृद्धि २५% कर जन-साधारण के जीवन-स्तर में वृद्धि करना। (२) विशेषकर मूलभूत तथा भारी उद्योगों के विकास के साथ द्रुत गति से देश का औद्योगीकरण करना। (३) रोजगार की अधिक सुविधाएँ देकर बेरोजगारी दूर करना। (४) आय और धन में पाई जाने वाली असमानता को कम करना ताकि समाजवादी समाज स्थापित किया जा सके।

योजना का आकार व स्वरूप—इस योजना पर कुल ७२०० करोड़ रु० खर्च होगा जिसमें से ४८०० करोड़ रु० सरकार तथा २४०० रु० निजी उद्योगपति खर्च करेंगे। इस प्रकार जहाँ प्रथम योजना में सरकार व उद्योगपतियों का भाग ५०, ५० प्रतिशत था, वहाँ दूसरी योजना में वह क्रमशः ६१ व ३९ प्रतिशत है।

योजना का समस्त व्यय और उसका आवटन

व्यय की मदें	पहली योजना सारा व्यय करोड़ रुपये में	प्रतिशत	दूसरी योजना सारा व्यय करोड़ रु० में	प्रतिशत
१. कृषि और सामुदायिक विकास	३७२	१६	५६५	१२
२. सिंचाई और बाढ़ों का नियंत्रण	३९५	१७	४५८	६
३. बिजली	२६६	११	४४०	६
४. उद्योग और खनिज	१७९	७	८९१	१९
५. परिवहन और संचार	५५६	२४	१,३८४	२९
६. समाज सेवा, मकान और पुनर्वास	५४७	२३	९४६	२०
७. विविध	४१	२	११६	२
योग	२,३५६	१००	४,८००	१००

४,८०० करोड़ रु० के कुल व्यय में से २,५५९ करोड़ रु० केन्द्रीय सरकार तथा २,२४१ करोड़ रु० राज्य सरकारें व्यय करेंगी। कुल व्यय में से ३,८०० करोड़ रु० का उपयोग विनियोग के लिए तथा १००० करोड़ रु० का उपयोग चालू विकास व्यय के लिये किया जायगा।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत उत्पादन तथा विकास के मुख्य लक्ष्य

मद	१९६०–६१ के लक्ष्य	१९५५–५६ पर १९६०–६१ की वृद्धि (प्रतिशत)
कृषि		
खाद्यान्न (लाख टन)	७५०	१५
कपास (लाख गांठ)	५५	३१
गन्ना (लाख टन)	७१	२२
तिलहन (लाख टन)	७०	२७
पटसन (लाख गांठ)	७,०००	९
राष्ट्रीय विस्तार खण्ड (संख्या)	३,८००	६६०
सामुदायिक विकास खण्ड (संख्या)	१,१२०	८०
सिंचाई तथा बिजली		
सींची गई भूमि (लाख एकड़)	८८०	३१
बिजली (लाख किलोवाट)	६९	१०३
खनिज		
कच्चा लोहा (लाख टन)	१२५	१२१
कोयला (लाख टन)	६००	५८
बड़े पैमाने के उद्योग		
तैयार स्पात (लाख टन)	४३	२३१
एल्युमिनियम (हजार टन)	२५०	२३३
मोटर गाड़ी (संख्या)	५७,०००	१२८
रेल इंजिन (संख्या)	४००	१२९
सीमेंट (लाख टन)	१३०	२०२
उर्वरक		
(क) नाइट्रोजन युक्त (अमोनियम सल्फेट) (हजार टन)	१,४५०	२८२
(ख) फास्फेट युक्त (सुपर फास्फेट) (हजार टन)	७२०	५००
सूती वस्त्र (लाख गज)	८५,०००	२४
चीनी (लाख टन)	२३	३५
कागज तथा गत्ता (हजार टन)	३५०	७५
परिवहन तथा संचार-साधन		
(क) रेलवे		
सवारी गाड़ी मील (लाख)	१,२४०	१५
ढोया गया सामान (लाख टन)	१,६२०	३५
(ख) सड़क		
राष्ट्रीय राजपथ (हजार मील)	१३ ८	७

पक्की सड़क (हजार मील)	१२५ ०	१७
(ग) डाकघर (हजारों में)	७४	३६
शिक्षा तथा स्वास्थ्य		
प्रारम्भिक बुनियादी स्कूल (लाख)	३'५०	१९
प्राथमिक, मिडिल तथा माध्यमिक स्कूलों के अध्यापक (लाख)	१३'४	३०
चिकित्सा सम्थान (हजार)	१'२६	२६

राष्ट्रीय आय—इस योजना के फलस्वरूप हमारी राष्ट्रीय आय जो १९५५-५६ में १०,८०० करोड़ रुपये थी वह बढ़ कर १९६०-६१ में १३,४८० करोड़ रुपये हो जायगी। इस प्रकार उसमें २५ प्रतिशत वृद्धि हो जायगी। इस प्रकार हमारी प्रति व्यक्ति आय २८१ रु० से बढ़कर ३३० रु० हो जायगी।

रोजगार—द्वितीय योजनाकाल में कृषि-भिन्न क्षेत्रों में ८० लाख व्यक्तियों को पूरे समय का रोजगार मिलने का अनुमान है। इसके अतिरिक्त, सिंचाई तथा भूमि-सुधार जैसी विकास योजनाओं से काफी हद तक नये रोजगारों का व्यवस्था करके बेरोजगारी कम की जायगी। द्वितीय योजनाकाल में कुल मिलाकर १ करोड़ व्यक्तियों के लिए रोजगारों की व्यवस्था करने का लक्ष्य रखा गया है ताकि सभी बेकार श्रमिकों को काम में लगाया जा सके।

वित्तीय साधन—द्वितीय योजना के सार्वजनिक क्षेत्र के व्यय के वित्तीय स्रोत निम्न प्रकार हैं:—

	(करोड़ रु०)	(करोड़ रु०)
(१) चालू राजस्व से बचत		८००
(क) करों की वर्तमान दरों से	३५०	
(ख) अतिरिक्त करों से	४५०	
(२) जनता से ऋण		
(क) बाजार ऋण	७००	१२००
(ख) अल्प बचत	५००	
(३) अन्य बजट सम्बन्धी स्रोतों से		४००
(क) रेलों का अंशदान	१५०	
(ख) प्रॉविडेंट फंड और अन्य जमा	२५०	
(४) विदेशी सहायता		८००
(५) घाटे की अर्थ-व्यवस्था		१,२००
(६) घरेलू साधनों में अतिरिक्त वृद्धि करके पूरा किया जाने वाला अन्तर		४००
		४,८००

निजी क्षेत्र मे विनियोग--निजी क्षेत्र मे २,४०० करोड रु० के विनियोग की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया है जो नीचे दिखाया गया है।

	(करोड रु०)
सगठित उद्योग तथा खानें	५७५
बागान, बिजली तथा परिवहन (रेलो को छोडकर)	१२५
निर्माण कार्य	१,०००
कृषि तथा ग्राम एव छोटे पैमाने के उद्योग	३००
स्टॉक	४००
	४,४००

योजना का पुनर्मूल्यन—दूसरी योजना को पूरा करने के वित्तीय साधनो की अपर्याप्तता ने स्थिति को गम्भीर बना दिया जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय विकास परिषद् (National Development Council) ने मई १९५८ के प्रथम सप्ताह में इसके सशोधन का प्रस्ताव पास किया। प्रस्ताव मे कहा गया कि योजना के 'क' भाग पर ४५०० करोड रु० खर्च होगा और ३०० करोड रु० 'ख' भाग पर उस हद तक खर्च किये जायेंगे जिस हद तक अतिरिक्त साधन उपलब्ध होंगे।

निम्नलिखित तालिका मे विभिन्न मदो पर किये जाने वाले व्यय का सशोधित आँकडो सहित स्पष्ट विवरण दिया गया है :—

सार्वजनिक क्षेत्र मे विभिन्न व्यय की मदें	मूल वितरण (करोड रु०) मे	सशोधित वितरण (करोड रु० मे)	४५०० करोड रु० की सीमा में वितरण (करोड रु० मे)
१. कृषि एव सामुदायिक विकास	५६८	५६८	५१०
२. सिचाई व बिजली	९१३	८६०	८२०
३. ग्रामीण तथा छोटे उद्योग	२००	२००	१६०
विशाल उद्योग तथा खनिज पदार्थ	६९०	८८०	७९०
५. परिवहन तथा संचार	१३८५	१,३४५	१३४०
६. सामाजिक सेवाएँ	९४५	८६३	८१०
७. विविध	९९	८४	७०
योग	४८००	४८००	४५००

द्वितीय पचवर्षीय योजना और राज्य सरकारों का योजना व्यय

राज्य	योजना व्यय (१९५६–६१) (करोड रु०)
(१) असम	५७·९४
(२) आन्ध्र प्रदेश	१७४ ७७
(३) उत्तर प्रदेश	२५३ १०
(४) उडीसा	९९·९७
(५) केरल	८७·००
(६) जम्मू तथा कश्मीर	३३·९२
(७) पजाब	१६२ ६८
(८) पश्चिमी बगाल	१५७ ६७
(९) बम्बई	३५० २२
(१०) बिहार	१९० ३२
(११) मद्रास	१५२ २६
(१२) मध्य प्रदेश	१९० ८९
(१३) मैसूर	१४५·१३
(१४) राजस्थान	१०५ २७

उत्तर प्रदेश—द्वितीय पचवर्षीय योजना (सन् १९५६–६१) के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश मे २५३ १० करोड रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है। इस राशि का विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है —

विकास की मदें	योजना मे व्यय व्यवस्था (१९५६–६१) (करोड रु०)
कृषि एव सहायक विषय	४ ·०४
सामुदायिक विकास योजनाएँ एव राष्ट्रीय विस्तार सेवा	२६ ६०
सिचाई	२५ ८०
शक्ति	५४ ६२
उद्योग	१६ ४३
यातायात	१७ ००
शिक्षा	२६ ५८
स्वास्थ्य	२४ २३
आवास	१०·४५
पिछडी जातियो का कल्याण	४ ७५
सामाजिक कल्याण	१ २५
श्रम कल्याण	१ ४२
विविध	२·९७
योग	२५३ १०

राजस्थान—द्वितीय पचवर्षीय योजना मे राजस्थान मे १०५·२७ करोड रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है। इस व्यय का विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है।

विकास की मदें	योजना म व्यय व्यवस्था (१९५६ ६१) (करोड रु०)
कृषि एव सहायक विषय	१२·७७
सामुदायिक विकास योजनाएँ एव राष्ट्रीय विस्तार सेवा	६ ७४
बहुउद्देशीय योजनाएँ	२४ ९७
सिंचाई	११·७४
शक्ति	८·६५
उद्योग	६·०४
यातायात	९·४२
शिक्षा	१०·५६
स्वास्थ्य	७·३९
आवास	२·६४
पिछडी जातियो का कल्याण	२ २८
सामाजिक कल्याण	० ४३
श्रम एव श्रम कल्याण	०·६२
विविध	१ ०१
	१०५·२७

द्वितीय पचवर्षीय योजना की सफलताएं

वस्तु	१९५०-५१	१९६०-६१ (सभावित)
मुख्य फसलो की पैदावार		
अन्न (लाख टन)	५२२	७५०
तिलहन (लाख टन)	५१	७२
गन्ना गुड (लाख टन)	५६	७२
कपास (लाख गाँठें)	२९	५४
पटसन (लाख गाठ)	३३	५५
उत्पादित वस्तुएँ		
तैयार इस्पात (लाख टन)	१०	२६
एल्युमीनियम (हजार टन)	३·७	१७
डीजेल इंजिन (हजार)	५·५	३३
बिजली के तार (ए० सी० सी० आर कण्डक्टरन) (टन)	१,६७४	१०,०००
नत्रजन युक्त उर्वरक (हजार टन)	९	२१०
गधक का तेजाब (हजार टन)	९९	४००

सीमेंट (लाख टन)	२७	८८
कोयला (लाख टन)	३२०	५३०
कच्चा लोहा (लाख टन)	३०	१२०
उपभोक्ता वस्तुएँ		
मिलों का सूती कपड़ा (लाख गज)	३७,२००	५०,०००
चीनी (लाख टन)	११	२२५
कागज और गत्ता (हजार टन)	११४	३२०
बाइसिकलें (हजार)	१०१	१,०५०
मोटर गाड़ियाँ (संख्या)	१६,५००	५३,५००

योजना के गुण—(१) द्वितीय पंचवर्षीय योजना भारतीय मस्तिष्क की सर्वोत्तम उपज है। (२) इसमें जनता को सम्मतियों तथा आलोचनाओं को पूर्ण अवसर प्रदान किया गया है। (३) योजना यथेष्ट लचीली भी है, क्योंकि प्रतिवर्ष इसका अध्ययन किया जायगा और आवश्यकतानुसार संशोधन भी किये जायेंगे। (४) सरकारी क्षेत्र का महत्व पूर्णतया न्यायोचित है, क्योंकि अब भारत की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का समाजवादी नमूने का समाज-निर्माण है। यही कारण है कि योजना को विरोधी दलों जैसे प्रजा समाजवादी और साम्यवादी दलों का पूर्ण सहयोग प्राप्त है। (५) दूसरी योजना में देश का औद्योगीकरण करने का लक्ष्य रखा गया है, इस विचार से कि लोगों को अधिक नौकरियाँ दिला कर मजदूरी और वेतन के रूप में अधिक धन प्राप्त करके, अधिक वस्तुओं और सेवाओं तथा अधिक व्यापारिक गतिविधि द्वारा जीवन स्तर को समग्र रूप से उठाया जाय। यह एक अच्छा उद्देश्य है।

योजना के दोष (आलोचना)—(१) योजना आयोग के प्रमुख सदस्य श्री कै० सी० नियोगी के अनुसार "भारत की दूसरी योजना अव्यावहारिक और आवश्यकता से अधिक महत्वाकांक्षी है। यह अच्छा होता कि लक्ष्य कुछ कम रखे जाते जिनके पूर्ण होने की आशा तो होती।" (२) दूसरी आलोचना यह है कि घाटे का बजट बनाकर योजना को कार्यान्वित करने का जो विचार है उससे देश में मुद्रा-स्फीति में और भी वृद्धि होगी जिसके परिणामस्वरूप कम आय वाले लोगों को और भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। (३) योजना में भारी उद्योगों पर अनुचित बल और उन्हें प्राथमिकता दी है। संसार के सभी प्रगतिशील और बहुत अधिक औद्योगिक देशों ने औद्योगीकरण का क्रम पहले पहल उपभोक्ताओं की आवश्यकताएँ पूरा करने के लिये कारखाने बना कर आरम्भ किया, और तदनन्तर दैनिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली वस्तुएँ बनाने के लिये मशीनें बनाईं। हमारी दूसरी योजना में इस प्राकृतिक और ऐतिहासिक परिपाटी को उलट दिया गया है और हमारी योजना सिर के बल खड़ी है। (४) योजना का वित्तीय आधार कमजोर है। ४५० करोड़ रुपये के नये कर, १२०० करोड़ रुपये की घाटे की अर्थ-व्यवस्था और ८०० करोड़ रुपये की विदेशी सहायता आँकी गई है। फिर भी ४०० करोड़ रुपये की कमी रह जाती है। यदि इसे पूरा करने के लिए फिर नये कर लगाये गये तो जनता में असन्तोष बढ़ने की आशंका है। (५) देश की यातायात की दशा बहुत खराब है। इस समस्या को रेल, सड़क, तटीय जहाजरानी तथा आन्तरिक जल मार्ग उन्नत करके, सुलझाया जा सकता है। परन्तु योजना में इसके महत्व को ठीक प्रकार नहीं समझा गया है। (६) प्रशासन के लिए योग्य तथा कुशल व्यक्तियों की कमी या, अध्ययन

नहीं किया गया है। प्रशासन, अनुसंधानकर्त्ताओं आदि की बात तो क्या, साधारण
ओवरसियरों डाक्टरों, नर्सों आदि की देश में भारी कमी है। इसका परिणाम यह
होगा कि योजना बीच में ही रुक जावेगी। (७) इस योजना में सरकारी क्षेत्र को
अनुचित महत्व प्रदान किया गया है और उसका विकास व्यय भी निजी क्षेत्र की अपेक्षा
दुगुने से भी अधिक है। यह भ्रमपूर्ण है, क्योंकि आज देश में प्रश्न आर्थिक उन्नति
का है, इसका नहीं कि उसे कौन करता है। इसके अतिरिक्त देश में सरकारी समाज-
वाद तथा एकाधिकार स्थापित हो जायगा और एकाधिकार के सारे दोष उत्पन्न हो
जावेंगे। (८) इस योजना में साझी खेती को जो महत्व दिया गया है वह उन लोगों
को पसन्द नहीं है जिन्होंने इस विषय का गहरा अध्ययन किया है। जहाँ कहीं भी
किसान से भूमि लेकर उसे सामूहिक अथवा साझे के खेतों के रूप में रखा गया है, वहाँ
पैदावार घटा है। सोवियत रूस और पूर्वी योरोपीय देशों में भी यही हुआ है। इसी
कारण युगोस्लाविया और पौलेंड की साम्यवादी सरकारों ने अपनी गलती का अनुभव
किया है और उन्होंने किसानों को साझी खेती को छोड़कर अपनी जमीन खुद जोतने की
छूट दे दी है। (९) सूती मिल उद्योग तथा हाथ करघा उद्योग के बीच में जो
समझौता किया गया है, वह नहीं चल सकेगा। इससे निर्यात करने में बाधा पड़
सकती है। (१०) कुटीर उद्योगों द्वारा राष्ट्रीय आय में उतनी वृद्धि न हो सकेगी।
जितनी कि योजना में बताई गई है। (११) योजना में उपभोग की वस्तुएँ उत्पन्न
करने के लिए फैक्टरी और गैरफैक्टरी उत्पत्ति का बंटवारा किया गया है, वह ठीक
नहीं है, क्योंकि गैरफैक्टरी उत्पत्ति पर अधिक भरोसा नहीं किया जा सकता।
(१२) योजना में निर्यात बढ़ाने के ऊपर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। सरकार
उद्योगों की प्रतियोगी शक्ति को बढ़ाने के लिए कोई विशेष ध्यान नहीं दे रही है।
(१३) योजना में बेकारी की परिसमाप्ति का तथा प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति के लिए काम देने
का पूर्ण आश्वासन नहीं दिया गया है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना

"मैं चाहता हूँ कि हम सब अपना सारा ध्यान तीसरी पंचवर्षीय योजना पर
लगा दें। आज यह सबसे बड़ा काम है, जो हमें करना है। इसके पूरे होने से हमारी
दूसरी समस्याओं के सुलझाने में भी मदद मिलेगी।" —जवाहरलाल नेहरू

परिचय—द्वितीय पंचवर्षीय योजना ३१ मार्च १९६१ को समाप्त हो गई और १ अप्रैल, १९६१ से तृतीय पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ हो गई। इसका कार्य काल सन् १९६५–६६ तक है। तीसरी योजना देश की अर्थ-व्यवस्था का विकास करने के प्रयत्न का एक महत्वपूर्ण चरण है। पहली दो योजनाओं में कृषि का विकास करने के लिए क्षेत्रीय संगठन और शासन यंत्र को मजबूत बनाया जा चुका है। औद्योगीकरण में तेज चाल से आगे बढ़ने के लिए, इस्पात उद्योग, खान, बिजली और परिवहन का विकास आधार का काम करता है। इसलिए यह आवश्यक है कि इनके विकास में अब तक जो गति आ चुकी है, उसे तीसरी योजना में तीव्र करके, चौथी योजना में और अधिक बढ़ा दिया जाय।

उद्देश्य—प्रथम दो योजनाओं के अनुभवों को ध्यान में रखते हुए तीसरी योजना निम्नांकित लक्ष्यों को सामने रख कर बनाई जा रही है :—

(१) तीसरी योजना की अवधि में राष्ट्रीय आय में ५ प्रतिशत वार्षिक वृद्धि हो और पूँजी-विनियोग का स्वरूप ऐसा हो कि वृद्धि का यह क्रम अगली योजनाओं में भी जारी रहे।

(२) खाद्यान्नों के मामले में देश स्वावलम्बी हो जाय और कृषि की उपज इतनी बढ़ जाय कि उससे उद्योगों और निर्यात दोनों की आवश्यकताएँ पूरी हो।

(३) इस्पात, ईंधन और बिजली सरीखे बुनियादी उद्योगों का विस्तार हो और यन्त्र सामग्री बनाने की क्षमता इतनी बढ़ जाय कि दस वर्षों के भीतर भावी औद्योगीकरण की समस्त आवश्यकताएँ स्वदेशी साधनों से ही पूरी हो सकें।

(४) देश की जन शक्ति का यथासम्भव पूरा उपयोग किया जाय और रोजगार के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि हो।

(५) आय और सम्पत्ति में विषमता घटे तथा आर्थिक क्षमता का अधिक ढंग से वितरण हो।

योजना की रूपरेखा—योजना में, सरकारी और निजी, दोनों क्षेत्रों के व्यय की चर्चा की गई है। तीसरी योजना में सब मिलाकर १०,२०० करोड़ रु० पूँजी-विनियोग करने का विचार है। इसमें से ६,२०० करोड़ रु० सरकारी क्षेत्र में और ४,००० करोड़ रु० निजी क्षेत्र में लगाए जायेंगे। योजना के अन्तर्गत सरकारी क्षेत्र में प्रस्तावित व्यय निम्न सारणी से स्पष्ट होता है :—

तीसरी योजना में सरकारी क्षेत्र में प्रस्तावित व्यय

क्रमांक	विकास की मदें	व्यय		प्रतिशत	
		द्वितीय योजना	तृतीय योजना	द्वितीय योजना	तृतीय योजना
१—	कृषि तथा छोटी सिंचाई योजनाएँ	३२०	६२५	६'६	८'६
२—	सामुदायिक विकास और सहकारिता	२१०	४००	४'६	५'५
३—	बडी और माध्यम सिंचाई योजनाएँ	४५०	६५०	९'८	९'०
४—	बिजली	४१०	६२५	८'९	९'०
५—	ग्राम और लघु उद्योग	१८०	२५०	३ ९	३'४
६—	उद्योग और खनिज	८८०	१५००	१९'१	२०'७
७—	परिवहन और संचार	१२९०	१४५०	२८'१	२०'०
८—	सामाजिक सेवाएँ	८६०	१२५०	१८'७	१७'२
९—	रुकावट न आने देने के लिए जमा माल	—	२००	—	२'८
	योग	४६००	७२५०	१००	१००

सार्वजनिक व निजी क्षेत्र में विभिन्न मदों पर तृतीय योजना के अन्तर्गत किये जाने वाले विनियोग के सम्बन्ध में तालिका निम्न प्रकार है :—

(करोड़ रुपये में)

क्रमांक	विकास मदें	सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग	निजी क्षेत्र में विनियोग	कुल विनियोग
१—	कृषि, छोटी सिंचाई तथा सामुदायिक विकास योजनाएँ	६७५	८००	१,४७५
२—	बड़ी और माध्यमिक सिंचाई योजनाएँ	६४०	—	६४०
३—	शक्ति (बिजली)	६२५	५०	६७५
४—	ग्राम और लघु उद्योग	१६०	२७५	४३५
५—	उद्योग और खनिज	१,५००	१,०००	२,५००
६—	परिवहन और संचार	१,४५०	२००	१,६५०
७—	सामाजिक सेवाएँ	६५०	१०७५	१,७२५
८—	जमा राशि	२००	६००	८००
	योग	६,२००	४,०००	१०,२००

प्रस्तावित व्यय के केन्द्र और राज्यों में विभाजन का रूप तब ज्ञात होगा जब राज्यों की योजनाओं पर उनके साथ विचार होगा। परन्तु अपनी योजनाएँ बनाने में राज्यों की सहायता करने के लिए यहाँ का व्यय का अस्थायी विभाजन प्रस्तुत किया जा रहा है :—

केन्द्र और राज्यों में व्यय का विभाजन

(करोड़ रु०)

क्रम संख्या	विकास-मदें	योग	केन्द्र	राज्य
१.	कृषि, छोटे सिंचाई-कार्य और सामुदायिक विकास	१,०२५	१७५	८५०
२.	बड़े और माध्यम सिंचाई-कार्य	६५०	५	६४५

३. बिजली	६२५	१२५	८००
४. ग्रामीण और छोटे उद्योग	२५०	१००	१५०
५. उद्योग और खानें	१,५००	१,४७०	३०
६. परिवहन और संचार	१,४५०	१,२२५	२२५
७. समाज सेवाएँ	१,२५०	३००	६५०
८ इन्वेण्टरियाँ	२००	२००	—
सर्व योग	७,२५०	३,६००	३,६५०

योजना के वित्तीय साधन—तीसरी योजना के सरकारी क्षेत्र में अब तक के अध्ययन के फलस्वरूप प्रस्तावित व्यय की वित्तीय व्यवस्था करने के सम्बन्ध में जो योजना तैयार की गई है, वह नीचे की तालिका से स्पष्ट हो जाती है :—

सरकारी क्षेत्र में वित्तीय साधन

(करोड़ रु०)

मदें	दूसरी योजना	तीसरी योजना
१. करों की वर्तमान दरों के आधार पर, राजस्व से बची हुई राशि	१००	३५०
२. वर्तमान आधार पर, रेलों से प्राप्त भाग	१५०	१५०
३ वर्तमान आधार पर अन्य सरकारी उद्योग व्यवसायों से होने वाली बचत	—	४४०
४. जनता से लिए हुए ऋण	८००	८५०
५. छोटी बचतें	३८०	५५०
६. प्राविडेण्ट फण्ड, खुशहाली कर, इस्पात समीकरण कोष और पूँजी खाते में जमा विविध रकमें	२१३	५१०
७. नए कर जिनमें सरकारी उद्योग व्यवसायों में अधिक बचत करने के लिए जाने वाले उपाय शामिल हैं	१०००	१,६५०
८. विदेशी सहायता के रूप में बजट में प्रदर्शित रकम	६८२	२,२००
९. घाटे की अर्थ व्यवस्था	१,१७५	५५०
योग	४,६००	७,२५०

निजी क्षेत्र में पूँजी का विनियोग—योजना के निजी क्षेत्र में पूँजी विनियोग का सम्बन्ध न केवल संगठित उद्योगों, खानों, बिजली और परिवहन से, बल्कि कृषि, ग्राम तथा लघु उद्योगों शहरी तथा ग्रामीण आवास आदि से भी है। उपलब्ध तथ्यों के आधार पर इस सारे क्षेत्र के लिए पूँजी-विनियोग की कोई सार्थक योजना प्रस्तुत कर सकना सम्भव नहीं है। हाँ, गत वर्षों की प्रवृत्तियों के साथ तुलना करके इस बात का

थोड़ा-बहुत निश्चय अवश्य किया जा सकता है कि इस क्षेत्र में जितनी पूँजी लगाने की बात कही गई है, वह कहाँ तक व्यवहारिक होगी। नीचे की तालिका में दिखलाया गया है कि दूसरी योजना के आरम्भ में लगाये गये अनुमानों और रिजर्व बैंक द्वारा हाल में किए गए अध्ययन के आधार पर संशोधित अनुमानों के साथ तुलना करने पर तीसरी योजना में निजी क्षेत्र की प्रमुख मदों में कितनी पूँजी विनियोग हो सकता है :—

योजना के निजी क्षेत्र का पूँजी-विनियोग

(करोड़ रु०)

	दूसरी योजना प्रारम्भिक अनुमान	दूसरी योजना संशोधित अनुमान	तीसरी योजना अनुमान
१ कृषि (सिंचाई सहित)	२७५	६७५	८५०
२. बिजली	४०	४०	५०
३. परिवहन	८५	१३५	२००
४. ग्रामीण और लघु उद्योग	१००	२२५	३२५
५. बड़े और मध्यम उद्योग तथा खनिज पदार्थ	५७५	७००	१,०५०
६. आवास और अन्य इमारती काम	९२५	१,०००	१,१२५
७. इन्वेण्टरियाँ	४००	५२५	६००
योग	२४००	३,३००	४,२००

विदेशी मुद्रा—तृतीय योजना में विदेशी मुद्रा का प्रश्न सबसे अधिक जटिल और महत्वपूर्ण है। यह अनुमान लगाया गया है कि तृतीय योजना में कुल मिलाकर ३,२०० करोड़ की विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होगी जो कि इस योजना का लगभग $\frac{1}{3}$ भाग है। इसका विवरण निम्न प्रकार है :—

पिछले ऋणों और ब्याज के भुगतान के लिए	५०० करोड़ रु०
मशीनें और अन्य भारी सामान क्रय करने के लिए	१,९०० ,, ,,
स्थायी सम्पत्ति की उत्पादन क्षमता में वृद्धि करने के हेतु सामान क्रय करने के लिए	२०० ,, ,,
खाद्यान्न क्रय करने के लिए	६०० ,, ,,
योग	३,२०० करोड़ रु०

तृतीय योजना की सफलता के आवश्यक तत्व—डा० वी० के० आर० वी० राव के मतानुसार तीसरी योजना की सफलता के लिए निम्न बातों की आवश्यकता है :—

(१) योजना की रूपरेखा पर सभी दलों की पूर्ण सहमति।
(२) सभी क्षेत्रों में सही एवं निःस्वार्थ नेतृत्व।
(३) योजना के उद्देश्यों का प्रचार।
(४) समाजवादी समाज की स्थापना की दिशा में सक्रिय कदम।

(५) योजना को कार्यान्वित करने के लिए सरकारी क्षेत्र की अपेक्षा जनता और गैर सरकारी क्षेत्र पर अधिक विश्वास।

निष्कर्ष—योजना एक राष्ट्रीय विकास का कार्यक्रम है नकि किसी दल विशेष का। इस महान् राष्ट्रीय प्रयास को सफल बनाने के लिए सभी दलों के सक्रिय सहयोग की नितान्त आवश्यकता है। डा० वी० के० आर० वी० राव के अनुसार "तृतीय योजना भारत को समाजवादी समाज की स्थापना की ओर ले जायेगी, जहाँ न्याय, समानता तथा व्यक्तिगत महत्ता होगी, जहाँ जनतन्त्रीय सहकारी एवं विकेन्द्रित व्यवस्था होगी, जहाँ निम्न आय के लोगों को उन्नति का अवसर मिलेगा, उत्पादन बढ़ेगा, कार्यक्षमता में वृद्धि होगी, पूँजी निर्माण पर्याप्त होगा, आर्थिक विकास की दर तथा विनियोग का स्वरूप ऐसा होगा कि सबल एवं स्वतः ही विकसित होने वाली अर्थ-व्यवस्था दृष्टिगोचर होने लगे।" इस प्रकार भारत में तृतीय योजना का भविष्य उज्जवल है।

सामुदायिक विकास योजनाएँ
(Community Development Projects)

"मेरा विश्वास है कि देश में महत्वपूर्ण उन्नति विशाल देहाती क्षेत्र में सामुदायिक विकास योजनाओं और राष्ट्रीय विस्तार सेवा के प्रादुर्भाव के रूप में हुई है। पहली बार हमने देहातों की समस्या को सही ढङ्ग से हल करने का प्रयत्न किया, गाँव वालों को अपनी समस्याएँ स्वयं हल करने के लिये प्रेरित करके। इस चीज ने उनमें जीवन का संचार किया, उनकी आँखें खुल गईं, उनके भुजदण्ड पहले से अधिक मजबूत हो गये और वे काम करने के लिए कटिबद्ध हो गये मानो उनमें नव-जीवन का संचार हो गया।"

—जवाहरलाल नेहरू

प्रारम्भिक—वर्तमान युग में राम राज्य अर्थात् ऐसे राज्य की स्थापना कराने के लिए, जिसमें देश धन धान्य से पूर्ण हो, अन्न और वस्त्र की प्रचुरता हो तथा जनता को सुख और शांति हो, सक्रिय कदम सबसे प्रथम राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने उठाया था। ब्रिटिश शासनकाल में समय समय पर गाँवों की दशा सुधारने के लिए कुछ प्रयत्न किये गये, परन्तु वे सब विफल रहे, क्योंकि प्रथम तो वे अव्यवस्थित थे और द्वितीय, उनमें इस बात पर जोर नहीं दिया कि गाँव की उन्नति मुख्यतः ग्रामीणों के अपने प्रयत्नों से ही होगी, सरकार केवल सहायता ही कर सकती है। भारत स्वतन्त्र हुआ और देश के सर्वतोमुखी विकास के लिये सन् १९५२ में प्रथम पचवर्षीय योजना प्रस्तुत की गई जिसके अनुसार आजकल कार्य चल रहा है। इस पचवर्षीय योजना में एक नई बात का समावेश किया गया है और वह है सामुदायिक योजना। समस्त देश में योजना का उद्घाटन २ अक्टूबर १९५२ को राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने एक भाषण प्रसारित करके किया। डा० राजेन्द्रप्रसाद ने अपने भाषण में योजना को बापू के स्वप्नों का मूर्त-रूप बनाते हुए कहा—"भारत बहुत करके गाँवों में ही बसता है ... महात्मा गाँधी इसीलिए गाँवों की उन्नति पर बहुत जोर दिया करते थे। यह शुभ विचार है कि आज उनके जन्म-दिन पर इस सामुदायिक उन्नति का प्रारम्भ किया जा रहा है"।

सामुदायिक योजना का अर्थ एवं परिभाषा—योजना आयोग के शब्दों में "सामुदायिक विकास योजना वह उपाय है और देहातों तक हमारे कार्यक्रम का विस्तार वह साधन है जिसके द्वारा पचवर्षीय योजना हमारे गाँवों के सामाजिक एवं

आर्थिक जीवन में परिवर्तन करना चाहती है।[1] भारतवर्ष के लिए संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के औद्योगिक सहयोग प्रशासक श्री लॉशबाउ (Loshbough) के शब्दों में, जो सामुदायिक योजनाओं के डिप्टी डाइरेक्टर है, "सामुदायिक योजना गहरे विकास की समस्या की एक सुव्यवस्थित एवं आयोजित पहुँच है।"[2] अमेरिका में किसी बस्ती या आबादी (Settlement) को समुदाय (Community) कहते हैं और उसके विकास कार्य को सामुदायिक विकास योजना (Community Development Project) कहते हैं। इस अमेरिकन प्रथा के अनुसार ही भारतवर्ष में भी यह नाम रखा गया है।

योजना का उद्देश्य—इस योजना का उद्देश्य यह है: "योजना के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्रों के पुरुषों, स्त्रियों व बच्चों के 'जीवित रहने के अधिकार' के स्थापन में एक मार्ग-प्रदर्शक व्यवस्था के रूप में सेवाएँ प्रदान करना, परन्तु कार्यक्रम की प्रारम्भिक अवस्थाओं में इस उद्देश्य की पूर्ति के मुख्य साधन खाद्य की ओर सर्वप्रथम ध्यान दिया जावेगा।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए निम्नलिखित बातों की पूर्ति के लिए ध्यान दिया जावेगा :—

(१) खेती और उससे सम्बन्धित कार्य —(अ) पड़त तथा बिना-जुती भूमि का कृषि के लिये प्रयोग करना, (आ) सिंचाई के लिये नहरों, नल-कूपों, तालाबों आदि की व्यवस्था करना, (इ) उत्तम खाद व बीज की व्यवस्था करना, (ई) कृषि के औजारों की व्यवस्था करना, (उ) उपज की बिक्री तथा सस्ती साख की व्यवस्था करना, (ऊ) पशु-पालन के लिये पशु प्रजनन-केन्द्रों (Breeding Centres) की व्यवस्था करना तथा उनकी बीमारियों को दूर करने का प्रबन्ध करना, (ए) भूमि के कटाव को रोकने की व्यवस्था करना, (ऐ) फलों व सब्जियों की खेती का विकास करना, (ओ) मछली व्यवसाय का विकास करना, (औ) मिट्टी के सम्बन्ध में गवेषणा की व्यवस्था करना, (अं) आधुनिक ढंग से खेती करने का प्रचार करना, तथा (अः) पेड़ पौधों की खेती और वृक्षारोपण की व्यवस्था करना।

(२) यातायात व सवाद के साधन :—(अ) सड़कों की व्यवस्था करना, (आ) यान्त्रिक सड़क-परिवहन सेवाओं को प्रोत्साहन देना, व (इ) पशु-परिवहन का विकास।

(३) शिक्षा :—(अ) प्रारम्भिक अवस्था में अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करना, (आ) मिडिल और हाई स्कूलों की व्यवस्था करना, (इ) सामाजिक शिक्षा तथा पुस्तकालय खुलवाने की व्यवस्था करना, तथा (ई) सिनेमा दिखाकर व भाषण दिलवाकर ग्रामीणों की बुद्धि का विकास करना।

(४) स्वास्थ्य :—(अ) सफाई और सार्वजनिक स्वास्थ्य की व्यवस्था करना (आ) बीमारों के लिये चिकित्सा की व्यवस्था करना, (इ) गर्भवती स्त्रियों की प्रसव

1. "Community Development is the method and Rural Extension the agency through which the Five year plan seeks to initiate a process of transformation of the Social and Economic life to villages"

First Five-year plan of the Government of India.

2 Community project is an organized, planned approach to the problem of intensive development." —*Loshbough.*

म पहल और उसके उपरान्त देख-भाल करना तथा (ई) दाइयो की सेवाएँ उपलब्ध करना।

(५) प्रशिक्षण ट्रेनिंग :—(अ) मौजूदा कारीगरो को अधिक कुशल बनाने के लिए प्रत्यास्मरण पाठ्यक्रम (Refresher Courses) की व्यवस्था करना, (आ) कृषकों का प्रशिक्षण, (इ) कृषि-विस्तार अधिकारियों (Extension Officers) के प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना, (ई) निरीक्षकों (Supervisors) के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना, (उ) कारीगरो के प्रशिक्षण की व्यवस्था, (ए) प्रबन्ध कार्य सम्भालने वाल कर्मचारियों की प्रशिक्षण-व्यवस्था (ऐ) स्वास्थ्य कर्मचारियों की प्रशिक्षण व्यवस्था तथा (ओ) योजना के कार्याधिकारियों की प्रशिक्षण की व्यवस्था करना।

(६) नियोजन (Employment)—(अ) मुख्य या सहायक धन्धो के रूप मे कुटीर-उद्योग व शिल्पो को प्रोत्साहन देना, (आ) अतिरिक्त व्यक्तियो को कार्य पर लगाने के लिए छोटे मोटे उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहन देना, (इ) आयोजित (Planned) वितरण, व्यापार, सहायक तथा कल्याणकारी सेवाओ द्वारा कार्य उपलब्ध करने की व्यवस्था करना

(७) आवास (Housing) – देहात मे अच्छे, नये और हवादार मकान बनाने के लिए अधिक उत्तम ढगो और डिजाइनो की व्यवस्था करना।

(८) सामाजिक कल्याण (Social Welfare) – (अ) स्थानीय प्रतिभा एव सस्कृति के अनुसार जन-समुदाय के मनोरजन की व्यवस्था करना, (आ) शिक्षा व मन बहलाव के लिए दिखा-सुना कर समझाने की व्यवस्था करना, (इ) स्थानीय तथा अन्य प्रकार के खेल-कूद का प्रबन्ध करना, (ई) मेला का प्रबन्ध, तथा (उ) सहकारिता तथा 'अपनी मदद आप' आन्दोलनों का सगठन करना।

योजना का सगठन :—योजना आयोग की सिफारिशो के अनुसार उन क्षेत्रो को सामुदायिक योजनाओ के अन्तर्गत पहले लाना है जिनमे पर्याप्त वर्षा या सिंचाई की सुविधाओं के कारण अधिक लाभ होने की आशा है। सम्पूर्ण देश मे लगभग ५०० सामुदायिक योजनाएँ स्थापित कराई जाने का योजना आयोग ने प्रस्ताव किया है। प्रथम अवस्था मे ५५ योजना-क्षेत्र चुने गये हैं और महात्मा गाँधी के जन्म दिवस, २ अक्तूबर १९५२ से इनमे कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। प्रत्येक सामुदायिक योजना के लिए जैसा कि इस समय लागू किया जा रहा है, ३०० गाँव हैं जिनमे कुल मिलाकर ४५० से ५०० वर्ग मील, १½ लाख एकड खेत तथा २ लाख जनसख्या आ जाती है। एक-एक योजना को ३ विकास टुकडियों (Development Blocks) में बाँटा गया है जिनमे एक-एक मे १०० गाँव और ६० से ७० हजार जन सख्या आती है। एक विकास टुकडो को पाँच गाँवो के हिस्सो म बाँटा गया है। एक हिस्से मे देहाती सतह पर काम करने वाले एक कार्यकर्त्ता का दायरा है। सन् १९५२ मे जो कायक्रम चालू किया गया, उसके दायरे म १½ करोड लोग आ गये।

योजना मे कार्य करने का ढग (Modus Operandi)—प्रत्यक योजना को पूरा करने मे ३ वर्ष लगेंगे तथा प्रत्येक योजना के पाँच भाग होंगे।

(१) प्रारम्भिक विचार (Conception)—इसमे योजना के लिए क्षेत्र का चुनाव तथा उसका आर्थिक मापन एव आयोजन किया जाता है। इस कार्य के लिए २ मास की अवधि निर्धारित है।

(२) प्रारम्भिक सामग्री जुटाना (Initiation)—कार्यकर्ताओं के लिए अस्थायी आवास बनवाना, कार्यक्षेत्र में सवाद के साधन स्थापित करना तथा अन्य आवश्यक सामग्री जुटाने के लिए ६ मास की अवधि निर्धारित है।

(३) कार्य सचालन (Operation)—योजना की सम्पूर्ण क्रियाओं के सचालन के लिए १८ मास रखे गये हैं।

(४) एकीकरण (Consolidation)—कार्य की समाप्ति के लिए ६ मास रखे गये हैं।

(५) अन्तिम कार्यवाही (Finalisation)—अन्तिम कार्यवाही के लिए ३ मास निर्धारित हैं।

योजना का प्रबन्ध—सामुदायिक योजनाओं का प्रबन्ध निम्न प्रकार से किया जाता है :—

सामुदायिक विकास का कार्यक्रम सामुदायिक विकास मन्त्रालय (Ministry of Community Development) द्वारा कार्यान्वित किया जाता है। इस सम्बन्ध में आधारभूत नीति के जो भी मामले होते हैं, वे एक केन्द्रीय समिति के सम्मुख प्रस्तुत किये जाते हैं।

१. केन्द्रीय स्तर पर नीति सम्बन्धी कार्यों में दिशा दर्शन कराने के लिए केन्द्रीय समिति (Central Committee) है। योजना आयोग के सदस्य इस समिति के सदस्य हैं और भारत के प्रधान मन्त्री इसके अध्यक्ष हैं। इस समिति की सहायता के लिए एक परामर्शदातृ समिति है जिसमें भारत सरकार के सम्बन्धित विभागों के सचिव हैं। योजनाओं का कार्य-सचालन करने के लिए प्रशासक (Administrator) है जो केन्द्रीय समिति का सचिव होता है। इस समय श्री एस० के० डे (S. K. Dey) प्रशासक का कार्य कर रहे हैं।

२. राज्य स्तर पर प्रत्येक राज्य में एक-एक 'राज्य-विकास समिति' है जिसके सदस्य राज्य के विकास-मन्त्री, कृषि और सिंचाई मन्त्री, वित्त मन्त्री हैं और राज्य का प्रधान मन्त्री अध्यक्ष होता है। कार्य-सचालन का मुख्य अधिकारी विकास आयुक्त होता है जिसकी सहायतार्थ एक परामर्शदातृ समिति होती है। विकास आयुक्त (Development Commissioner) राज्य विकास समिति का सचिव होता है।

३. जिला स्तर पर एक जिला विकास समिति है जिसके सदस्य विकास विभागों के प्रतिनिधि होते हैं और कलक्टर अध्यक्ष होता है। जिले का विकास अफसर इस समिति का सचिव होता है और उसे सहायक कलक्टर के अधिकार प्राप्त होते हैं।

४. योजना-स्तर पर सबके ऊपर कार्य-सचालन करने वाला योजना कार्याधिकारी (Project Executive Officer) है जो प्रामीण सामुदायिक कार्यक्रम के लिए उत्तरदायी होता है। इसके अतिरिक्त, एक योजना परामर्शदातृ समिति भी होती है। इस समिति में सदस्य ससद तथा राज्य विधान सभा के स्थानीय सदस्य, जिला बोर्ड के अध्यक्ष, प्रमुख सार्वजनिक नेता तथा किसानों के प्रतिनिधि होते हैं।

योजना की वित्त व्यवस्था—द्वितीय योजना काल में सामुदायिक विकास योजनाओं के लिए २०० करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है जबकि प्रथम योजना का

में इस कार्यक्रम पर कुल ६६·५ करोड़ रु० ही व्यय किये गये थे । देश के ग्रामीण क्षेत्रों में पूर्ण रूप से क्रान्ति ला देने के प्रयास में भारत को अमेरिकी सरकार तथा फोर्ड प्रतिष्ठान से सहायता मिलती रहती है । गत वर्षों में नकद सहायता के अतिरिक्त केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को विशेषज्ञों की सेवाएँ भी उपलब्ध हुई । फोर्ड प्रतिष्ठान हजारों योजना कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण के लिए भारत को प्रारम्भ से ही सहायता देता आ रहा है । इसके लिए ५ जनवरी, १९५२ को भारत संयुक्त राष्ट्र अमेरिका औद्योगिक सहयोग समझौता (Indo-U. S. Technical Corporation Agreement) हुआ था । मोटे तौर पर अनावर्तक (Non-recurring) खर्चों में केन्द्र ७५% और राज्य २५% तथा आवर्तक (Recurring) खर्चों में केन्द्र ५०% और राज्य ५०% खर्च उठाते हैं ।

सामुदायिक विकास योजनाओं के प्रकार (Types of the Community Development Projects)—सामुदायिक विकास योजनाओं के कार्यक्रम के अन्तर्गत निम्नलिखित मुख्य योजना के प्रकार हैं :—

१. आधारभूत ग्रामीण सामुदायिक विकास योजनाएँ (Basic Type Rural Community Development Projects)—प्रत्येक आधारभूत ग्रामीण सामुदायिक योजना पर तीन वर्षों में ६५ लाख रुपया व्यय हुए और इसमें ३०० गाँव तथा २ लाख की जन-संख्या है । हमारी अधिकांश योजनाएँ इस प्रकार की ही हैं ।

२. मिश्रित सामुदायिक विकास योजनाएँ (Composite Type Community Development Projects)—प्रत्येक मिश्रित योजना पर १११ लाख रुपया व्यय किया गया और इसमें गाँवों के लिए शहरी सुविधाएँ प्राप्त की जाती हैं ।

आलोचना (Criticism)—सामुदायिक योजनाओं की कड़ी आलोचनाएँ की गई । विनोबाभावे, आचार्य कृपलानी, प्रो० कुमारप्पा जैसे व्यक्ति भी इनसे सहमत नहीं हैं । मुख्य आलोचनायें निम्नलिखित हैं :—

(१) पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इस योजना और अन्य ग्राम-विकास योजनाओं का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है ।

(२) प्रत्येक योजना तीन वर्षों में पूर्ण की जायगी । योजना के समस्त उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए यह समय बहुत कम है ।

(३) इन योजनाओं को कार्यान्वित करने में अमेरिका की सहायता ली जा रही । अस्तु, देश के स्वाभिमान और स्वतन्त्र विकास में यह हानिकारक सिद्ध होगी ।

(४) विदेशी आर्थिक सहायता से हमारी विदेशी-नीति पर प्रतिकूल प्रभाव होगा ।

(५) विदेशी विशेषज्ञ हमारे ग्राम्य-जीवन से अनभिज्ञ होने के कारण गाँवों में सुधार करने में असफल रहेंगे ।

(६) सामुदायिक योजनाओं पर व्यय की जाने वाली राशि बहुत ही अधिक है । यदि सम्पूर्ण देश को ऐसी योजनाओं के अन्तर्गत लाया जाय, तो १,००० करोड़ रुपया सरकार को व्यय करना पड़ेगा । भारत के अल्प आर्थिक साधनों में से इतनी बड़ी राशि इन योजनाओं पर व्यय करना असम्भव-सा प्रतीत होता है ।

(७) राज्य-सरकारों के लिए भी इन योजनाओं के प्रति अपने हिस्से की राशि की व्यवस्था करना कठिन है ।

(८) इन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए सरकारी कर्मचारी ही नियुक्त किये गये हैं जो अपनी ऑफीसरी मनोवृत्ति के कारण जनता में अदम्य उत्साह और सहयोग की भावना को जाग्रत नहीं कर सकेंगे।

सामुदायिक योजनाओं का भविष्य (Future of Community Projects)—उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी सहज ही इसके विरुद्ध धारणा नहीं बनाई जा सकती, क्योंकि अभी कार्य प्रयोगात्मक अवस्था में ही है। वर्षों की रूढ़िवादिता और अकर्मण्यता की गहरी नींद से छुटकारा दिलाने के लिये समय और धैर्य की आवश्यकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये योजनाएँ अपने प्रकार की पहली योजनाएँ हैं जो प्रथम बार भारत में प्रस्तुत की गई हैं। अभी भी इनके द्वारा लाभ प्राप्ति की बहुत गुंजाइश है। आवश्यकता इस बात की है कि इन योजनाओं को सफल बनाने में सरकार को हार्दिक सहयोग दें और हम सब मिल कर काम करें। इस सम्बन्ध में सामुदायिक योजनाओं के प्रशासक ने ठीक ही कहा है—"समृद्धि के लिए कोई सुगम उपाय नहीं है। हम सबको कठिन परिश्रम करना होगा।"[1]

राष्ट्रीय विस्तार सेवा (National Extension Service)—'अधिक अन्न उपजाओ' जाँच समिति ने यह प्रस्ताव रखा था कि ऐसा बड़ा राष्ट्रीय संगठन बनाया जाये जिसके द्वारा प्रत्येक किसान तक पहुँचा जा सके एवं देहाती विकास का काम किया जा सके जो देहात के विकास में हाथ बटावे।

केन्द्रीय समिति ने अपनी १३ अप्रैल १९५३ की बैठक में यह निश्चय किया कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम को राष्ट्रीय विस्तार सेवा के कार्यक्रम से मिला दिया जाय जिससे दोनों के संयुक्त कार्यक्रम में १२,००० गाँव अर्थात् भारत की देहाती जनसंख्या का एक चौथाई भाग देहात सुधार के कार्यक्रम में लाया जा सके। तदनुसार २ अक्टूबर १९५३ को राष्ट्रीय विकास सेवा (National Extension Service) का उद्घाटन किया गया। पंचवर्षीय योजना काल में ७०० विकास-टुकड़ियों (Blocks) में गहरा विकास कार्यक्रम (Intensive Development Programme) और ५०० विकास टुकड़ियों में जिनमें से प्रत्येक विकास टुकड़ी (Block) में लगभग सौ सौ गाँव हैं, विस्तृत विकास कार्यक्रम (Extensive Development Programme) लागू किया जायगा। गहरे विकास के लिए सामुदायिक योजनाओं का कार्यक्रम और विस्तृत विकास के लिए राष्ट्रीय विस्तार सेवा का कार्यक्रम लागू किया जायगा। सामुदायिक योजनाओं के गहरे विकास के पूर्व राष्ट्रीय विस्तार सेवा का कार्यक्रम लागू करना गहरे विकास के लिए पृष्ठ भूमि तैयार करने में सहायक सिद्ध होगा।

पंचवर्षीय-योजना-काल में राष्ट्रीय विस्तार सेवा के लिए १२,००० ग्राम स्तर कार्यकर्त्ताओं (Village level Workers) की आवश्यकता है जिनमें से ४,५०० से अधिक तो अक्टूबर १९५४ के अन्त तक शिक्षा पा चुके थे। शिक्षा केन्द्रों में वृद्धि की जा रही है।

1 "There is no short cut to prosperity. All of us have to put in our best efforts. A much greater responsibility lies on the government officials and on those associated with the planning work. The greatest need of the country at the moment is increase of production and co-ordinated developments."

—*The National Administrator of Community Projects*

प्रगति—सामुदायिक विकास कार्यक्रम को एक उपाय के रूप में तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्यक्रम को एक साधन के रूप में अपनाया गया है जिनके माध्यम से गाँवों के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में क्रांति लाने का उद्देश्य रखा गया है। द्वितीय योजना काल के सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा कार्यक्रमों के लिए २०० करोड़ रु० की राशि निर्धारित की गई है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में जो लक्ष्य निर्धारित किये गये थे, वे प्राप्त कर लिये गये हैं। संशोधित-निश्चय के अनुसार अक्टूबर १९६० तक सारा देश इस कार्यक्रम के अन्तर्गत आ जाता है। १ अप्रैल १९५९ तक सामुदायिक विकास कार्यक्रम के क्षेत्र में लगभग १७·३ करोड़ व्यक्तियों से युक्त ३ ३९,५१० गाँव थे जिनमें २,५४८ विकास खण्ड थे।

भूदान यज्ञ (Bhoodan Yagya)—"न्याय और समानता के आधार पर टिके हुए समाज में भूमि पर सबका अधिकार होना चाहिए। इसलिए हम भूमि की भिक्षा नहीं माँग रहे हैं बल्कि उन गरीबों का हिस्सा माँग रहे हैं जो भूमि प्राप्त करने के अधिकारी हैं।"

विनोबा भावे

प्रारम्भिक—भूदान यज्ञ भूमि-वितरण समस्या को हल करने का गांधीवादी अहिंसात्मक ढंग है। पं० नेहरू के शब्दों में "आचार्य विनोबा भावे द्वारा चलाया गया भूदान आन्दोलन एक क्रांतिकारी आन्दोलन है जो अहिंसात्मक प्रणाली से देश की मुख्य समस्या को हल करने का मार्ग ढूँढना चाहता है।" जमींदारी उन्मूलन आदि भूमि-सुधार के कई उपाय निकाले गये हैं परन्तु उन सब में भूदान यज्ञ एक अनुपम उपाय है। जमींदारी उन्मूलन से केवल कृषकों का ही लाभ पहुँचता है, भूमिहीन व्यक्ति उससे वंचित रहते हैं। परन्तु भूदान यज्ञ भूमिहीन व्यक्तियों का एकमात्र सहारा है। इसके अतिरिक्त, भूदान यज्ञ आन्दोलन में जमींदारी उन्मूलन की भाँति भूमि बलपूर्वक या अनिवार्य रूप में नहीं ली जाती है और न भूस्वामियों को क्षतिपूर्ति या मुआवजा देना पड़ता है। अतएव यह कृषि सुधार का एक अहिंसात्मक ढंग है। योजना आयोग के अनुसार "भूमि दान देने का आन्दोलन जो कि आचार्य विनोबा भावे द्वारा चलाया गया है विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि इसके द्वारा भूमिहीन व्यक्ति को अवसर मिलता है जो उसे अन्यथा प्राप्त नहीं हो सकता है।"[1] गांधीवादी अर्थशास्त्री प्रो० एस० एन० अग्रवाल लिखते हैं कि "भूदान यज्ञ देश में महत्त्वपूर्ण भूमि सुधारों के लिए स्वास्थ्य एवं अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने के लिए गौरवता के साथ सफल हुआ है। इसने संसार को यह बता दिया है कि भूमि की समस्या शांतिमय ढंग से भी सप्रभाव हल की जा सकती है।[2] प्रजा समाजवादी दल के नेता श्री जे० पी० नारायण के शब्दों में "यह आन्दोलन देश में भूमि सुधारों की दशा में एक महान प्रयास है"[3]

1 The Planning Commission remarks "The movement for making gifts of land, which has been initiated by Acharya Vinoba Bhave, has special value for, it gives to the land less worker an opportunity not otherwise easily available to him"

2 Bhoodan Yagya has eminently succeeded is creating a healthy and favourable atmosphere for the introdution of far reaching land reforms in the country It has demonstrated to the World that the land problem could be effectively solved through peaceful methods" Writes the Gandhian economist prof S N Agarwal

3 In the words of Shri J P. Narain, the Praja Socialist Leader, "The movement is a giant stride in the direction of agrarian reforms in the country."

उद्देश्य—इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य बिना किसी खून खराबी के देश में सामाजिक और आर्थिक दुर्व्यवस्था को दूर करना है।

प्रारम्भ तथा प्रगति :—भूदान यज्ञ का प्रारम्भ आचार्य विनोबा भावे द्वारा १८ अप्रैल १९५१ को हैदराबाद राज्य के तिलगाना जिले के पोचमपल्ली गाँव में हुआ। घटना इस प्रकार है कि जब आचार्य भावे पोचमपल्ली गाँव में एक सदा की भाँति सध्या के पश्चात् अपने विचार प्रकट कर रहे थे, तब वहाँ के हरिजन निवासियों ने अपना दु:खड़ा बताते हुए ८० एकड़ भूमि की माँग की। संत ने उसी समय पूछा कि क्या कोई दाता है जो इस माँग को पूरी करेगा? कुछ समय की शांति के पश्चात् रामचन्द्रजी रैडी नामक एक विशाल हृदय जमींदार खड़ा हो गया और संत को १०० एकड़ भूमि अर्पण कर दी। आचार्य भावे ने तुरन्त उस भूमि को उन भूमिहीन हरिजनों को बाँट दिया जिन्होंने भूमि की माँग की थी। बस इस घटना से भूदान यज्ञ आन्दोलन को जन्म मिल गया।

आचार्य भावे के अहिंसात्मक आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि साठ दिन में १२,२१८ एकड़ भूमि उन्हें दान में प्राप्त हो गई। इस प्रकार भूदान यज्ञ की कल्पना देश और दुनियाँ के सामने आई जिसने सभी को आश्चर्य में डाल दिया। भारत के भूमिहीनों की शोचनीय दशा को देखकर आचार्य ने सन् १९५७ ई० तक ५ करोड़ एकड़ भूमि प्राप्त करने का महान् संकल्प किया। फिर क्या था देश में आन्दोलन की गति तीव्र हुई और भावे ने दान प्राप्त करने में तन-मन लगा दिया। सैकड़ों कार्यकर्त्ता जुट पड़े। १३ नवम्बर १९५१ को वे दिल्ली पहुँचे। इस बीच में उन्होंने १९,४३६ एकड़ भूमि प्राप्त कर ली।

दिल्ली में कुछ दिन ठहर कर उन्होंने उत्तर-प्रदेश की यात्रा आरम्भ की। एक जिले के बाद दूसरा जिला लाँघते हुए वे अप्रैल १९५२ में काशी पहुँचे। इस समय तक १,०२,३६१ एकड़ भूमि उन्हें प्राप्त हो चुकी थी। काशी से १८ मील दूरस्थ सेवापुरी आश्रम में देश भर के सर्वोदय विचारकों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें उन्होंने ५० लाख एकड़ भूमि अप्रैल १९५४ तक जमा करने का प्रण किया।

अब तक सन्त विनोबा अकेले ही पैदल यात्रा कर रहे थे, परन्तु सेवापुरी सम्मेलन के पश्चात् कुछ अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों ने भी इस कार्य को उठाया और वे भूमि प्राप्ति के हेतु घूमने लगे जिनमें सर्वश्री शंकरराव देव, सन्त तुकड़ोजी, जयप्रकाश नारायण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। देश भर में एक बड़ी संख्या में भूदान समितियाँ सगठित हो चुकी है। इस आन्दोलन को केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों से बड़ी सहायता मिल रही है। कानून द्वारा भूमि के दान को सुविधाजनक बनाकर इन्होंने इस आन्दोलन को प्रोत्साहन प्रदान किया है। इन्होंने यज्ञ में बहुत सी भूमि भी दान की है, जैसे मध्यभारत सरकार ने २ लाख एकड़ भूमि दान की है। सबसे बड़ा व्यक्तिगत दान बिहार में रांका के राजा ने किया जो १,०२,००१ एकड़ भूमि का है। अकेले बिहार प्रान्त से सम्पूर्ण दान का दो तिहाई भाग एकत्रित हुआ। यज्ञ में सम्पूर्ण एकत्रित भूमि में से अब तक केवल ५५,८८५ एकड़ भूमि का ही वितरण हुआ है। भूमिहीन व्यक्तियों को भूमि के अतिरिक्त कृषि, औजार, बैल, बीज आदि भी दिये जाते हैं जिससे कृषि कार्य शीघ्र प्रारम्भ किया जा सके।

धीरे धीरे भूमि-दान के पश्चात् लोगों का सम्पत्ति दान, श्रम दान, बुद्धि दान, ग्राम दान और यहाँ तक कि विनोबाजी ने जीवन दान तक के लिए तैयार किया। जयप्रकाश

वाद ने जीवनदान अपने लिये श्रेष्ठतम समझा। ग्रामदान का उद्देश्य अन्ततः गाँव के सहकारी प्रबन्ध से जिसकी कल्पना योजना में की गई है, सम्बन्धित है।

प्रगति—३० नवम्बर १९५९ तक भूदान में ४४,०६,६३६ एकड़ भूमि प्राप्त हुई तथा ८,४०,९०६ एकड़ भूमि का वितरण किया गया। ४,५६५ गाँव, गाँव-दान के अन्तर्गत प्राप्त हुए।

भूदान यज्ञ आन्दोलन के गुण—(१) भूदान आन्दोलन से भारत के ५ करोड़ भूमिहीनों की समस्या हल हो सकेगी। (२) इससे सम्पत्ति के वितरण की असमानता कम हो जायगी। (३) देश की बेकारी को दूर करने में उचित सहायता मिलेगी। (४) देश के गृह-उद्योगों को इस आन्दोलन से बल प्राप्त होगा। (५) देश में जो पड़त भूमि है, उसका पूर्ण उपयोग हो सकेगा। (६) भूमि पर अधिक उत्पादन किया जाने से देश की अन्न समस्या बहुत कुछ हल हो जायगी। (७) भूदान यज्ञ से सहकारिता को भी प्रोत्साहन मिलेगा। (८) देश में जमींदारी की समाप्ति में यह सहायक सिद्ध होगा। (९) रक्तहीन आर्थिक क्रान्ति के इतिहास में एक अनुपम उदाहरण होगा जिससे अन्य देशों को प्रेरणा मिलेगी। (१०) भूदान यज्ञ आन्दोलन में भूमि के बदले में मुआवजा नहीं देना पड़ता है, इसलिए यह सरकार को धन की दृष्टि से भार-स्वरूप नहीं होगा। (११) भूमि दान आन्दोलन वर्ग-संघर्ष के स्थान में वर्ग-समन्वय की भावना को प्रोत्साहन देकर राम-राज्य की गांधी-कल्पना को साकार रूप देगा। (१२) इससे ग्राम-पंचायतों को बल मिलेगा। (१३) भूमि सुधार का मार्ग खुल जायगा। (१४) सहकारी कृषि को प्रोत्साहन मिलेगा।

दोष—(१) दान शब्द से दीनता का आभास मिलता है। अस्तु, यह आन्दोलन अनुचित है। (२) भूमिदान और इसके पुनर्वितरण से भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े हो जायेंगे जोकि अनार्थिक जोत को प्रोत्साहन देने में सहायक होंगे। (३) भूमिदान में प्रायः खराब भूमि ही अधिक प्राप्त हो रही है जिससे यह प्रयास निष्फल है। (४) यह हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया पूँजीपतियों को बचाने का उपाय मात्र है। (५) आर्थिक दासता को प्रोत्साहन मिलेगा। (६) जब दान में प्राप्त सभी भूमि पर खेती की जाने-लगेगी, तो चरागाहों और वनों की कमी की समस्या खड़ी हो जायेगी। (७) दीनों से दान क्यों लिया जा रहा है? (८) भूमि-वितरण में विलम्ब। (९) जिन्हें भूमि दी जायगी वे महाजनों की मुट्ठी में फँस जायेंगे, क्योंकि वे खेती में लगाने के लिये रुपया उधार लेंगे।

निष्कर्ष—भूदान यज्ञ आन्दोलन की कुछ भी आलोचना हो, संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भूदान यज्ञ केवल भारतवर्ष में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण संसार में अभूतपूर्व क्रान्ति है। यदि हम अपने प्यारे देश भारत को अधिक उन्नत, अधिक समृद्ध और यहाँ के निवासियों को सुखी, शान्त, परिश्रमी और धनवान् देखना चाहते हैं, तो हमें इस भूदान यज्ञ आन्दोलन में सहयोग देना चाहिये।

सर्वोदय आन्दोलन (Sarvodaya Movement)—"सर्वोदय एक ऐसा आन्दोलन है जो मनुष्य को ऊँचा उठाता है। इसके द्वारा समाज के कल्याण के हेतु बहुत से कार्यक्रम शान्तिपूर्ण उपायों से हो सकेंगे। जनता में जाग्रति आयेगी और जनता को स्वराज का वास्तविक लाभ मिल सकेगा।" —*गुरुमुख निहालसिंह, राज्यपाल*

अर्थ—सर्वोदय का शाब्दिक अर्थ है संपूर्ण उदय। सर्वोदय संगठन के रूप में एक आन्दोलन है जिसमें समाज के सभी व्यक्तियों के कल्याण की भावना निहित है।

समाज के सभी व्यक्तियों छोटे बड़े कमजोर ताकतवर बुद्धिमान और जड़—सबका उदय होना इस आन्दोलन की आधार विचारधारा है।

उद्देश्य—सत्य और अहिंसा की नींव पर एक ऐसा समाज बनाने की कोशिश करना जिसमें जातपात न हो जिसमें किसी को शोषण करने का मौका न मिले और जिसमें समूह और व्यक्ति दोनों को सर्वांगीण विकास करने का पूरा अवसर मिले।

बुनियादी सिद्धान्त—इस संगठन के अन्तर्गत साधनों और साध्य की शुद्धि पर जोर दिया जाता है। साध्य और उसे प्राप्त करने के लिये अपनाये गये साधनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। साध्य के सही होने पर भी यदि साधन गलत हों तो वे साध्य को बिगाड़ देंगे। इसलिए इन दोनों की शुद्धि पर जोर दिया गया है।

कार्यक्रम—इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए निम्नांकित कार्यक्रम पर अमल किया जाय —

(१) साम्प्रदायिक एकता (अलग अलग धर्मों और सम्प्रदायों को मानने वालों में मेल) (२) अस्पृश्यता निवारण (३) जाति भेद निराकरण, (४) नशाबंदी (५) खादी और दूसरे ग्राम उद्योग (६) ग्राम सफाई (७) नई तालीम, (८) स्त्रियों व पुरुषों में बराबरी का हक और समाज में स्त्री पुरुष की बराबरी की प्रतिष्ठा (९) आरोग्य और स्वच्छता, (१०) देश की भाषाओं का विकास (११) प्रान्तीयता सम्बन्धी संकीर्णता का निवारण (१२) आर्थिक समानता (१३) किसानों की उन्नति (१४) मजदूर संगठन (१५) आदिम जातियों की सेवा (१६) विद्यार्थी संगठन (१७) कुष्ठ रोगियों की सेवा (१८) संकट निवारण और दुखियों की सेवा, (१९) गो सेवा, (२०) प्राकृतिक चिकित्सा (२१) इसी प्रकार के अन्य कार्य।

सर्वोदय सम्मेलन—सबका आपस में सम्पर्क बनाये रखने और विचारों के आदान प्रदान के लिए वार्षिक सम्मेलन आयोजित किये जाते हैं। सर्व-सेवा संघ—सर्वोदय समाज का काम करने और बढ़ाने के लिए सर्व सेवा संघ द्वारा एक उप समिति नियुक्त की गई है। इस समिति का काम समाज के सदस्यों का रजिस्टर रखना और आम तौर पर समाज और उसके सदस्यों के बीच सम्पर्क बनाए रखना है। खास तौर पर इसका काम सर्वोदय समाज की रचना से सम्बन्ध रखने वाले सम्मेलन के प्रस्ताव पर अमल करना है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

इन्टर आर्ट्स परीक्षाएँ

१—पहली पंचवर्षीय योजना में किन वस्तुओं के उत्पादन पर अधिक जोर दिया गया था? द्वितीय पंचवर्षीय योजना में किस प्रकार के उत्पादन पर जोर देना चाहिए?

२—टिप्पणी लिखिए—सामुदायिक योजनाएँ।

३—भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना के उद्देश्य क्या हैं? इसकी सफलता से राष्ट्रीय आय और रोजगार पर क्या प्रभाव पड़ेगा? (रा० बो० १९६०)

४—भारत की दूसरी पंचवर्षीय योजना की विशेषताओं का वर्णन कीजिए। (रा० बो० १९५६, म० बो० १९५९)

५—निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिये —

(क) आर्थिक योजना। (म० बो० १९६०)

(ख) भूदान आन्दोलन।

(ग) प्रथम पञ्चवर्षीय योजना की सफलताएँ।
(घ) द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना। (रा० बो० १९५८)
(ङ) सामूहिक विकास योजनाएँ। (रा० बो० १९५७)
(च) भूदान आंदोलन (रा० बो० १९५७)
(छ) पञ्चवर्षीय योजना की सफलताएँ।

६—देश की पञ्चवर्षीय योजनाओं म ग्राम उद्योग धन्धों का क्या महत्त्व है ?

७—भारत म आर्थिक आयोजन के क्या उद्देश्य हैं ? (म० भा० १९५७)

८—भारत की द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में ग्राम्य व कुटीर उद्योगों के विकास की क्या मुख्य रूप रेखा है ? (अ० बो० १९५७)

९—निम्नांकित पर नोट लिखिए — (नागपुर १९५९)
(अ) भारत में द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना का रोजगार पर प्रभाव।
(आ) सामुदायिक योजनाएँ।

(रा० बो० हा० से० १९६१)

—